श्रीहरिः

मार्क्सवाद और रामराज्य

श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज

श्रीहरिः

मार्क्सवाद और रामराज्य

लेखक—

श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज

क—

मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१४ प्रथम संस्करण ३०००
सं० २०१९ द्वितीय संस्करण ५०००

मूल्य ४.०० (चार रुपये)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

प्रस्तावना

अखिल भारतीय रामराज्यपरिषद्, हिंदूमहासभा, जनसंघ आदि राजनीतिक दलोंद्वारा १९५३ में 'जम्मू-काश्मीर-आन्दोलन' चलाया गया। उसी सम्बन्धमें श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज दिल्लीमें गिरफ्तार हुए और वहाँकी जेलमें नजरबंद कर दिये गये। वहाँ उन्होंने, जो भी कम्युनिस्ट साहित्य उपलब्ध हो सका, उसे अच्छी तरह पढ़ा और फिर संस्कृतमें उसपर एक लंबा लेख लिखना आरम्भ किया। वह लेख पूरा न हो पाया और वे जेलसे छोड़ दिये गये। अनेकों कार्योंमें व्यस्त होनेके कारण वह लेख अधूरा ही पड़ा रह गया।

बादमें यह विचार हुआ कि यदि संस्कृत लेखका हिंदी-अनुवाद कर दिया जाय और हिंदीमें उसे आगे बढ़ाया जाय तो उससे अधिक लोग लाभ उठा सकेंगे। बम्बईके उत्साही युवक विद्वान् श्रीवासुदेव व्यासने, जो श्रीमहाराजजीके अनन्य भक्त हैं, संस्कृतके लेखका बड़े परिश्रमसे हिंदीमें अनुवाद किया; किंतु निरन्तर यात्रापर रहनेके कारण वह लेख आगे न बढ़ सका। फरवरी १९५५ में प्रयाग कुम्भसे लौटनेपर काशीमें श्रीविश्वनाथ-मन्दिर-सत्याग्रहके सम्बन्धमें वे फिर गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें ज़िला जेलमें रखा गया। वहाँ उस लेखको आगे बढ़ानेका प्रयत्न फिर आरम्भ हुआ। कम्युनिस्ट साहित्यकी कई पुस्तकें जेलमें पहुँचायी गयीं। जेल अधिकारियोंने बहुत-सी सुविधाएँ दे रखी थीं। दिनभर दर्शनार्थियोंका ताँता लगा रहता था। जेलमें भी अधिक अवकाश न मिलता था, पर तब भी लेखमें कुछ प्रगति हुई। महीनेभर बाद प्रयाग उच्चन्यायालयने उनकी गिरफ्तारी अवैध बतलाते हुए उन्हें छोड़ देनेकी आज्ञा दी, पर साथ ही यह लिखा कि 'उत्तरप्रदेशीय सामाजिक अयोग्यता-निवारण कानून' के अन्तर्गत उनपर मुकदमा चलता रहे। जेलसे निकलते ही यात्रा-क्रम फिर चल पड़ा और लेखका कार्य रुक गया। उसी वर्ष श्रीचरणोंका चातुर्मास्य 'श्रीधर्मसंघ शिक्षामण्डल' दुर्गाकुण्ड, काशीमें हुआ। चातुर्मास्यमें यात्रा स्थगित होनेसे कुछ अवकाश मिलता है, अतः लेखन-कार्य कुछ आगे बढ़ा। उन्हीं दिनों 'सिद्धान्त'का जो पहले 'साप्ताहिक' था और तीन वर्षोंसे बंद था, 'पाक्षिक' रूपमें पुनः प्रकाशन आरम्भ हुआ। वह लेख उसीमें क्रमशः प्रकाशित होने

लगा। पर लेखका कलेवर धीरे-धीरे बढ़ने लगा। मूल विषयसे सम्बद्ध कितने ही विषय सामने आ गये और उनपर लेखनी चल पड़ी। चातुर्मास्य समाप्त होनेके कुछ ही दिनों बाद श्रीविश्वनाथ-मन्दिर-सत्याग्रह-सम्बन्धी मुकदमेमें उन्हें एक महीनेकी जेल हो गयी। जेलमें लेखका क्रम फिर चल पड़ा। जेलमें मिलने जानेवाले विद्वानोंसे बराबर इसी विषयपर चर्चा चलती रहती थी। थोड़े ही दिनोंमें यह अनुभव होने लगा कि विषय केवल मार्क्सवादके दर्शनतक ही सीमित नहीं रह सकता। उसमें तो समस्त पाश्चात्त्य दर्शनकी आलोचना और अपने मतका प्रतिपादन आ जाता है। इसपर एक स्वतन्त्र पुस्तक ही हो सकती है। इस दृष्टिसे अनेक विषयोंका समावेश होने लगा।

महीनेभरका कारावास पूरा होनेपर श्रीमहाराजजी यात्रापर फिर निकल पड़े। परंतु अब यात्रामें भी जहाँ कहीं कुछ अवकाश मिल गया, उन्होंने थोड़ा बहुत लिख डाला। सब सामग्री मिलाकर कई सौ पृष्ठ हो गये। कोई योजना बनाकर क्रमसे उन्होंने पुस्तक नहीं लिखी। जहाँ जिस विषयपर ध्यान चला गया, उसीपर कुछ-न-कुछ लिख डाला। कभी-कभी कोई ऐसी पुस्तक हाथमें पड़ जाती, जिसमें पूर्वपक्ष मिल गया तो उसीपर कुछ लिख डालते थे। इस तरह कई सौ पृष्ठ लिख डाले गये। यह सामग्री क्रमबद्ध करनेकी कठिन समस्या खड़ी हो गयी। श्रीमहाराजजीको इतना अवकाश नहीं रहा कि वे सब सामग्री पुनः पढ़कर उसे ठीक करते। पुस्तक समाप्त करनेकी दृष्टिसे ही १९५६ का चातुर्मास्य काशीमें ही किया गया। उन दिनों 'कल्याण' सम्पादन-विभागके श्रीजानकीनाथ शर्माने जो जेलमें भी श्रीचरणोंके साथ ही रहे, बड़े परिश्रमसे सब सामग्री क्रमबद्ध करनेका प्रयत्न किया। 'गीताप्रेस, गोरखपुर'ने पुस्तक छापनेकी इच्छा प्रकट की और पाण्डुलिपि उसे भेज दी गयी। पर इसका प्रूफ-संशोधन भी सहज कार्य न था। लेखोंके अंश काट-काटकर क्रमसे एक साथ जोड़े गये थे। प्रेस-कापी ठीक न होनेसे प्रूफ-संशोधनमें बड़ी अड़चनें पड़ीं। पर श्रीजानकीनाथजीने बड़ा परिश्रम किया। फिर भी प्रूफकी अनेक अशुद्धियाँ रह गयी हों तो कोई आश्चर्य नहीं। जिस प्रकार पुस्तक लिखी गयी, उसमें कहीं-कहीं क्रम कुछ टूट जाना या कहीं पुनरुक्ति हो जाना अनिवार्य था, पर तब भी लेखोंका ऐसा क्रम बना दिया गया कि पढ़नेसे विचारधारा कहीं टूटती नहीं।

पुस्तकमें पाश्चात्त्य मतकी आलोचनाके साथ अपने पक्षका प्रबल प्रतिपादन किया गया है। अपने यहाँकी प्राचीन शैली है कि पहले

पूर्वपक्ष चलता है फिर उत्तरपक्ष। इस पुस्तकमें भी उसीका अनुसरण किया गया है। फलतः यदि किसी विषयका एक स्थलपर विवेचन हो गया, तो फिर उसे उस परिच्छेदमें विस्तारपूर्वक नहीं उठाया गया है, जिसका वह मूल विषय है। पुस्तकके पढ़नेसे सबसे बड़ा लाभ यह है कि दोनों पक्षोंका समुचित ज्ञान हो जाता है। पर पढ़नेके लिये चाहिये धैर्य और जिज्ञासा। पुस्तकके कुछ पन्ने उलट देने या एकाध अध्याय पढ़ लेनेमात्रसे प्रतिपाद्य विषयका पूरा ज्ञान नहीं हो सकता।

पुस्तकके नामके सम्बन्धमें भी कुछ विचार चला। यद्यपि 'मार्क्सवाद' शब्द रखा गया है, पर उसके साथ समस्त पाश्चात्त्य दर्शनका आलोचन आ गया है। मार्क्सवादका बहुत कुछ सम्बन्ध राजनीतिसे है। उसके जोड़में 'रामराज्य' शब्द ही ऐसा है, जिसमें समस्त भारतीय राजनीतिका समावेश हो जाता है। दोनोंका ही आधार दर्शन है। इस दृष्टिसे सभी दार्शनिक विषय भी आ जाते हैं। दोनोंके मूल सिद्धान्त लेकर ही विचार उठाया गया है। पर इतनेसे ही उसका क्षेत्र इतना व्यापक हो गया कि जिसमें धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी प्रकारके विषयोंपर विचार चल पड़ा। इसीलिये किसी विषयपर कोई अध्याय पढ़ लेने मात्रसे उसका सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। सभी विषय एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। अतः पुस्तकको आदिसे अन्ततक पढ़ लेना आवश्यक है।

अभीतक कोई ऐसी पुस्तक उपलब्ध नहीं थी जिसमें प्राच्य और पाश्चात्त्य आधारभूत सिद्धान्तोंका इतना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया गया हो। इस अभावकी पूर्ति इस पुस्तकसे हो जाती है। यह बहुत आवश्यक है कि इस पुस्तकका अंग्रेजीमें अनुवाद निकाला जाय, जिससे विदेशी विद्वान् और ऐसे भारतीय विद्वान् भी, जो हिंदी नहीं जानते, लाभ उठा सकें। पुस्तकपर गम्भीर विचारकी आवश्यकता है। इसमें यह आग्रह नहीं कि अपना ही पक्ष माना जाय। श्रीस्वामीजी महाराजकी यह विशेषता है कि वे आलोचनाका सदा स्वागत करते हैं और विचार-विनिमयके लिये प्रस्तुत रहते हैं। अपने देशमें कम्युनिस्टोंकी संख्या कुछ कम नहीं, पर उनमेंसे कितने ऐसे हैं, जिन्होंने मार्क्सवादका अच्छी तरह अध्ययन किया है। केवल कम्युनिस्टोंसे ही नहीं, पाश्चात्त्यदर्शनके सभी विद्वानोंसे ही अनुरोध है कि वे एक बार यह पुस्तक पढ़कर विचार-विनिमयका मार्ग प्रशस्त करें।

यदि आदिसे अन्ततक किसीने यह पुस्तक सावधानी तथा धैर्यपूर्वक पढ़ी, तो उसे (आधुनिक वादोंसे प्रच्छन्न) सत्यका प्रकाश अवश्य मिलेगा। सत्यके अन्वेषक इस पुस्तकके लिये श्रीस्वामीजी महाराजके सदा ऋणी रहेंगे। अस्तु !

गीताप्रेसके संचालकोंने प्रेसमें कार्याधिक्य रहनेपर भी समय निकालकर जल्दीसे यह पुस्तक छापकर वस्तुतः बड़ा ही प्रशंसनीय कार्य किया है।

गङ्गातरङ्ग, नगवा,
काशी
महाशिवरात्रि २०१४ वि०

गङ्गाशङ्कर मिश्र

आमुख

नमोऽस्तु रामाय सलक्ष्मणाय देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुद्गणेभ्यः ॥

(वाल्मी० सुं० १३ । ६०)

आजकल संसारमें दर्शन तथा राजनीतिकी बड़ी चर्चा है, उसमें भी पाश्चात्त्योंके दर्शन तथा नीतिकी तो बहुत ज्यादा। भारतीय जनताका भी इन दिनों जड विज्ञानके प्रभावसे उधर कम आकर्षण नहीं है। अपनी बात तो हम भूल ही गये। बहुतोंका तो यह अनुमान है कि भारतमें पहले कोई राजनीति-शास्त्र था ही नहीं। ऐसी दशामें एक ऐसी पुस्तककी बड़ी आवश्यकता थी, जिसमें एक ही साथ पाश्चात्त्य दर्शन, राजनीतिके साथ भारतीय-दर्शनों तथा राजनीतिका तुलनात्मक अध्ययन हो और मूल्य भी कम हो। पाश्चात्त्योंके दर्शन एवं नीति आदि ग्रन्थ स्वतन्त्र हैं, साथ ही उनका मूल्य भी अत्यधिक है, जिससे कोई साधारण व्यक्ति उन सबोंको प्राप्त नहीं कर पाता। हमारे सौभाग्यसे परमाराध्य अनन्त श्रीस्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराजने बड़े अध्यवसायसे कृपापूर्वक यह पुस्तक लिख दी, जो आज पाठकों-के सामने है। इसमें पाश्चात्त्य दार्शनिकों एवं राजनीतिज्ञोंकी जीवनी, उनका समय, मत-निरूपण, फिर उनकी आलोचना तथा साथ ही अपने ऋषियोंके मतका तुलनात्मक अध्ययन एवं उनकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। विकासवादके अध्यायमें तो अद्भुत युक्ति तथा अगणित वैज्ञानिकोंके मत द्वारा ही विकासका खण्डन एवं ईश्वरादिका मण्डन है।

साम्यवाद (जिसकी आज सर्वाधिक चर्चा है) के आचार्य मार्क्सके नामपर तो यह पुस्तक ही है। उसके प्रत्येक अङ्गपर इसके पृथक्-पृथक् अध्याय हैं, जिनमें उनकी पोल खोलकर तर्कद्वारा ही उनकी धज्जी उड़ायी गयी है। साथ ही अपने गूढ़तम अकाट्य न्याय तथा वेद-वेदान्तके सिद्धान्तोंको भी विस्तारपूर्वक समझाया गया है। अन्तमें संक्षिप्त प्राचीन भारतीय निर्दोष शासन-प्रणाली भी दे दी गयी है।

शीघ्रताके कारण पुस्तकमें आये हुए व्यक्तियों तथा पारिभाषिक शब्दोंकी वर्णानुक्रम-सूची नहीं बन पायी। विषय-सूचीमें केवल थोड़ेसे नाम हैं। पाश्चात्त्योंका मत उद्धरणचिह्न (" " या ' ') में रखा गया है। इसके बाद तुरंत ही भारतीय मत रखा गया है। पाश्चात्त्य ग्रन्थोंका उल्लेख पृष्ठोंमें न हो सका, उसकी सूची अन्तमें दे दी गयी है। अपने ग्रन्थोंका उल्लेख यथास्थान पुस्तकके पृष्ठोंमें ही है।

इसी तरह इस एक ही पुस्तकमें इतनी अधिक सामग्री आ गयी है कि उसे दर्शन तथा राजनीतिका 'विश्वकोष' कहना भी अनुपयुक्त न होगा। डिमाई साइजके ८०० से भी अधिक पृष्ठोंमें (छोटे तथा घने अक्षरोंमें) सार-सार बातोंका संग्रह है। यह सब देखते हुए इसका मूल्य कम ही है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य एवं धर्मके साक्षात् विग्रह श्री-स्वामीजी महाराजकी कृपा तथा गीताप्रेसकी तत्परता देखकर ऐसा लगता है कि इस कार्यके भीतर परम मङ्गलमय परमात्माकी ही शुभ प्रेरणा है। इसके अनुशीलनमें जो मेरा समय लगा, वह भी भगवत्कृपाका ही परिणाम है। मेरा विश्वास है कि जो सज्जन इसे एक बार ध्यानसे पढ़ लेंगे, वे तामस अविवेकके क्लेशसे मुक्त होकर सात्त्विक ज्ञान तथा हृत्प्रसादको निश्चय प्राप्त करेंगे, दर्शन एवं राजनीतिका निर्मल ज्ञान तो उन्हें प्राप्त होगा ही।

द्वितीय संस्करणका निवेदन

पहला संस्करण छपनेके बाद तुरंत ही समाप्त हो गया। तबसे इसके दूसरे संस्करणकी माँग बराबर आती रही। पर एक बड़ी मशीनके टूट जाने तथा कुछ पुर्जोंके मार्गमें ही खो जानेसे दूसरी एक नयी मशीनके व्यर्थ पड़े रहनेसे प्रकाशनमें देर होती रही। अन्तमें ग्राहकोंके तीव्र आग्रहसे यह दूसरा संस्करण जैसे-तैसे तैयार किया गया है। इस बार बौद्धदर्शनके बहुतसे नये पृष्ठ जोड़े गये हैं, फिर भी मूल्य वही रखा गया है। इस पुस्तककी राहुलजीने एक छोटी-सी आलोचना लिखी थी। पर उसमें तत्त्वकी कोई बात न थी,

केवल बाहरी आक्षेप थे। पुस्तकके किसी अंशपर कुछ न लिखकर स्वामीजीके लेखन आदिपर ही संदेह किया गया था। अतः उसका उत्तर इसमें न देकर महाराजजीने उसे अलगसे ही प्रकाशित करना उचित समझा। वह धर्मसंघ, दुर्गाकुण्ड, काशीके पतेपर मिल सकती है।

'कल्याण' सम्पादन-विभाग
गीता-वाटिका, गोरखपुर

जानकीनाथ शर्मा

कुछ समाचार-पत्रोंकी सम्मतियाँ

'नवभारत टाइम्स' दिल्ली, बंबई [१४ दिसम्बर १९५८]— भौतिकवादकी प्रचण्ड आँधीने समस्त संसारकी चिन्तनधाराको झकझोर दिया है। आज संसारकी लगभग आधी आबादी मार्क्सवादसे प्रेरणा लेकर अपने-अपने ढंगपर आर्थिक उन्नयनके लिये प्रयत्नशील है। भारत भी इस हवासे अछूता नहीं है। पर यहाँकी दार्शनिक एक सांस्कृतिक परंपराओंको लाँघकर कोई भी वाद इस देशमें पनप नहीं सकता। ऐसा क्यों नहीं होगा और क्यों नहीं होना चाहिये, इसी वस्तुको स्पष्ट करनेके लिये स्वामी श्रीकरपात्रीजीकी यह रचना है। प्रस्तुत ग्रन्थमें न केवल मार्क्स, बल्कि तमाम पश्चिमी राजनीति-शास्त्रोंका गम्भीर विश्लेषणद्वारा खण्डन किया गया है। वस्तुतः यह एक अनुपम ग्रन्थ है।

युगधर्म—(नागपुर, जबलपुर) हर व्यक्तिके लिये पुस्तक संग्रहणीय है।...हिंदी इस रचनाके लिये चिर ऋणी रहेगी। भारतीय कम्युनिस्ट ही नहीं, सभी प्रगतिशील इस पुस्तकसे वह भाषा और विचार सीख सकते हैं जो आज भारतकी 'प्रगति'के नामवाली वास्तविक 'दुर्गति' के पाशसे मुक्त करनेके लिये परमावश्यक है।

'वेंकटेश्वर समाचार,' बंबई—विद्वान् लेखकका यह महान् प्रयास अभिनन्दनीय एवं प्रशंसनीय है। भारतके वर्त्तमान सभी राजनीतिक दलोंके कार्यकर्ताओं तथा पाश्चात्त्य दर्शनोंके प्रशंसकोंको यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये। पूज्य स्वामीजी महाराजका यह महान् प्रयास समाज और राष्ट्रके लिये परम कल्याणकारक है।

इसी प्रकार 'भारत, आर्यावर्त,' कान्ति (रामपुर मई १९५९) आदिने प्रशंसा की है।

❀ श्रीहरिः ❀

विषय-सूची

ख—

सहायक पुस्तकोंकी सूची

लेखक	पुस्तकका नाम	प्रकाशन-संस्था
१ मार्क्स—	कैपिटल (मराठी अनुवाद)	पीपुल्स-पब्लिशिंग्स हाउस —बम्बई ४
२ ,,	भारत-सम्बन्धी लेख	,, ,,
३ स्टालिन	लेनिनवाद	,, ,,
४ ,,	ऐतिहासिक भौतिकवाद	,, ,,
५ ,,	अराजकतावाद या समाजवाद	,, ,,
६ ,,	अक्टूबरकी क्रान्ति और कम्युनिस्टोंकी कार्यनीति	,,
७ ,,	मार्क्सवाद और जातियोंका प्रश्न (अनुवादक—ओमप्रकाश)	,,
८ ,,	लेनिनवादकी समस्याएँ	पी० प० हा० बंबई
९ ,,	मार्क्सवाद और भाषा-शास्त्र	,, ,,
१० ,,	कम्युनिस्टपार्टीका इतिहास (अनु०—रामविलास शर्मा)	,,
११ ,,	कम्युनिस्टपार्टीका घोषणापत्र ...	...,,
१२ फ्रेड्रिक एंजिल्स	समाजवाद काल्पनिक और वैज्ञानिक	...,,
१३ ,,	परिवार, व्यक्ति, सम्पत्ति और राजसत्ताकी उत्पत्ति	...,,
१४ ,,	कार्लमार्क्स और उनके सिद्धान्त (अनु०—रामबालक शर्मा)	,,
१५ ,,	मार्क्सवाद क्या है ? (अनु०—ओमप्रकाश)	,,
१६ ,,	समाजवाद और व्यक्ति (अनु०—नरेन्द्र)	,,
१७ भूपेन्द्रनाथ सान्याल—	मार्क्सका दर्शन	
१८ सत्यभक्त	कार्ल मार्क्स	
१९ यशपाल	मार्क्सवाद	
२० त्रिलोकीनाथ मिश्र—	यूनानका राजदर्शन	
२१ डाक्टर गणेशप्रसाद—	राजनीतिक विचारधाराएँ (प्रथम संस्करण)-	लौंग मैन्स प्रकाशन
२२ कन्हैयालाल वर्मा—	पाश्चात्त्य राज्यदर्शन-	नन्दकिशोर ब्रदर्स, वाराणसी
२३ स्पेंसर—	ज्ञेय मीमांसा (अनु०—कन्नूमल)	इण्डियनप्रेस
२४ रघुनन्दन शर्मा—	वैदिक सम्पत्ति	

श्रीहरिः

मार्क्सवाद और रामराज्य

प्रथम परिच्छेद

पाश्चात्त्य-दर्शन

मार्क्सवाद समझनेके लिये उसकी पृष्ठभूमिपर एक दृष्टि डालना बहुत आवश्यक है। मार्क्सवादमें दर्शन, राजनीति और अर्थशास्त्र तीनोंका ही समावेश है। किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, मत या वादका स्थायी आधार उसका दर्शन ही होता है। मार्क्सने भी अपनी विचारधाराका आधार दर्शन ही बनाया। भूत, वर्तमान और भविष्यको एक दूसरेसे पृथक् नहीं किया जा सकता। यूरोपमें प्राचीनकालसे जो विचारधाराएँ चलती रहीं, उन्हींके विवेचनसे मार्क्सने अपने नये सिद्धान्त स्थिर किये। अतः यह बहुत आवश्यक है कि उन विचारधाराओंको भी पहले समझ लिया जाय। आरम्भमें ही यह प्रश्न उठता है कि दर्शन क्या है? इसलिये पहले हम इसीपर विचार करेंगे।

दर्शनकी परिभाषा

यूनानी 'फ़िलासफ़स' शब्द ज्ञान और प्रेमके अर्थमें प्रयुक्त होता था। उसीके आधारपर अंग्रेजीका 'फिलासफी' शब्द प्रचलित हुआ। यद्यपि सविस्तर मीमांसा या विवेचना ही इसका अर्थ है, फिर भी विषय-विशेषके संक्षिप्त विचार-दर्शनके लिये भी 'फिलासफी' शब्द व्यवहृत होता है। आजकल तो दर्शनकी एक-एक शाखाके लिये भी 'फिलासफी' शब्दका प्रयोग होता है। कई आधुनिक पाश्चात्त्य विद्वान् विशेषकर कम्युनिस्ट, जीवनके दृष्टिकोणको ही दर्शन मानते हैं। उनके मतमें 'दर्शन' युगधाराका परिचायक होता है। युगसंघर्षसे ही उसका जन्म हुआ है। दर्शनका उसके निर्माताओंके जीवनकी घटनाओंसे भी सम्बन्ध होता है। अफलातून (प्लेटो) राजकुलमें शिक्षक था, इसलिये उसके दर्शनमें राजसम्बन्धका असाधारण प्रभाव है। हेराक्लिटिस दलितवर्गमें पैदा हुआ, इसलिये उसका दर्शन परिवर्तनप्रवर्तक हो गया; क्योंकि दलित करनेवाली दूसरी श्रेणीका परिवर्तन आवश्यक था। हेल्वूसियस मध्यम श्रेणीका प्रतिनिधि था और कार्लमार्क्स उदीयमान श्रमिकोंका; इसलिये उन-उनके अनुसार उनके दर्शन भी बने। असाधारण विप्लव कालमें मार्क्सका जन्म हुआ। फलतः उसका जीवन क्रान्तिकारी रहा और वैसा ही उसका दर्शन भी।

यद्यपि अंशतः यह ठीक है, तथापि यह स्वाभाविक स्थिति है। ऐसे विचारोंका 'दर्शन' नाम नहीं दिया जा सकता; क्योंकि इनमें भावनाओंका ही प्राधान्य है। पर भावनाएँ 'दर्शन' नहीं होतीं। भावनाके प्राबल्यसे तो कभी विधुर-परिभावित कान्ताका भी साक्षात्कार हो जाता है। परिस्थितिका प्रभाव विचारोंपर होनेसे उनकी यथार्थतामें संदेह होना स्वाभाविक ही है। स्पष्ट है कि पित्तरोगयुक्त रसनासे गुड़की मधुरताका ठीक अनुभव नहीं हो सकता। पित्तयुक्त नेत्रसे श्वेत शङ्ख भी पीत प्रतीत होता है। सर्पदंष्ट व्यक्ति कटु निम्बको भी मिष्ट समझता है। नीले-पीले उपनेत्रों (चश्मों) से वस्तु नीले-पीले रूपमें प्रतीत होती है। कामी संसारको कामिनीमय और ज्ञानी ब्रह्ममय देखता है। निम्बके कीटको मिश्रीकी मिष्टताके अनुभवमें पर्याप्त कठिनाई होती है। नमकके पर्वतपर रहनेवाली चींटी मिश्रीके पर्वतपर जाकर मिश्रीकी मिठासका तबतक अनुभव नहीं कर सकती, जबतक कि अपने मुँहसे नमकके कणोंको निकाल न दे। ठीक इसी तरह जबतक तपस्या, सदाचार, निःस्पृहता एवं योगाभ्यास आदिके सहारे राग-द्वेष, सम्पत्ति-विपत्ति, व्यक्तिगत परिस्थिति तथा वातावरणके प्रभावसे ऊँचा नहीं उठा जाता, तबतक सूक्ष्म विषयोंका यथार्थ ज्ञान कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

भारतीय दृष्टिसे पवित्र विचार अर्थात् धर्म-ब्रह्मादि पवित्र वस्तुसम्बन्ध कल्याणकारी पवित्र विवेचन मीमांसा है—'माने जिज्ञासायाम्'। और वस्तुतत्त्व परम सत्यका निर्दोष प्रमात्मक अनुभव करानेवाला विचार 'दर्शन' कहा जाता है— 'दृश्यते वस्तु याथात्म्यं अनेन इति दर्शनम्'। दूसरे शब्दोंमें प्रमाणद्वारा आत्मा नात्माका ज्ञान जिससे होता है उसका नाम 'दर्शनशास्त्र' है। प्रमाण अज्ञातज्ञापक होता है, अकृतकारक नहीं। ज्ञान कर्मके समान पुरुषके अधीन नहीं होता। कर्म करने, न करने, उलटा करनेमें पुरुष स्वतन्त्र है, किंतु ज्ञानके सम्बन्धमें यह बात नहीं कही जा सकती। प्रमाण-प्रमेयके परस्पर सम्बन्ध हो जानेपर इच्छा न रहनेपर भी दुर्गन्धादिका ज्ञान होता ही है। दर्शन प्रमाण-परतन्त्र होता है। प्रमाण अनुरोधक-विरोधक सभी प्रकारके होते हैं। उनमें प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम मुख्य हैं, प्रत्यक्षानुमानका भी आगमानुसरण आवश्यक है। इसके बिना कितने ही अनुमानाभास भी अनुभवके रूपमें सामने आते हैं। उदाहरणार्थ कोई नरशिरके कपालकी हड्डीको प्राण्यङ्ग समझकर शङ्खतुल्य पवित्र मान सकता है। पर यह अनुमानाभास है। अतएव पवित्र बुद्धिके मनुष्य 'नरशिरःकपालं शुचिः प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खवत्' इस अनुमानका तिरस्कारकर **'नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्'** इस आगमानुसार जुगुप्सित नरशिरकी अस्थिका स्पर्श हो जानेपर सचैलस्नान कर अपनेको पुनः शुद्ध करते हैं।

कुछ लोगोंका ऐसा भी मत है कि 'मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, यह

विश्व क्या है' आदिका चिन्तन तथा विवेचन 'दर्शन' है। इसी प्रकार कुछ विद्वान् प्रकृति तथा उसके व्यापारका अध्ययन एवं उसके भीतर एकता देखनेको दर्शन कहते हैं। पर इन मतोंमें भी आंशिक सत्यतामात्र है। सभी दर्शन सभी विषयोंमें आदरणीय भी नहीं हो सकते। जैसे अंधोंने हाथीके जितने अङ्ग जिस रूपमें अनुभव किये उसी ढंगसे उनका वर्णन किया। न इसे सम्पूर्ण मिथ्या ही कहा जा सकता है और न पूर्णतया सत्य ही। विशेषतया पाश्चात्त्य दर्शनोंके सम्बन्धमें तो अत्यन्त वैरूप्य है। भारतीय दर्शनोंमें यद्यपि इतना अधिक वैरूप्य नहीं है; क्योंकि उनके मूल अनादि-अपौरुषेय वेद, तदाधारित शास्त्र, योगज ऋतम्भरा प्रज्ञा तथा लौकिक प्रत्यक्षानुमान हैं तथापि यहाँ भी सभी विषयोंमें सभी ऋषियोंका समान आदर नहीं, अपितु जिस विषयमें जिस ऋषिने धारणा, ध्यान, समाधि आदिद्वारा तत्त्वानुभूति प्राप्त की, उसी विषयमें उसका सार्वभौम आदर है। जैसे शब्दके सम्बन्धमें पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि आदिका एवं वाक्य-विचार आदिमें जैमिनि, व्यास आदिका।

पाश्चात्त्य-दर्शनोंमें अधिकांशका जन्म कुतूहल-बुद्धि एवं ज्ञान-पिपासा-शान्तिकी दृष्टिसे ही हुआ है। अनेक पाश्चात्त्य-दर्शनोंका प्रादुर्भाव राजनैतिक उद्देश्यकी पूर्तिके लिये भी हुआ है; किंतु भारतीय दर्शनोंका अन्तिम उद्देश्य दुःख-निवृत्ति, मृत्यु-विजय तथा मोक्ष-प्राप्ति ही है, अवान्तर उद्देश्य अर्थ-काम-धर्मार्जन भी है।

वेदान्तमतमें ज्ञानस्वरूप आत्मा निर्विकार है। मन, अन्तःकरण आत्मासे भिन्न प्राकृतिक है। चित्त, अहंकार आदिके समान ही पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च-कर्मेन्द्रियाँ भी प्रकृतिके सूक्ष्म तत्त्वोंसे ही बनी हैं। स्थूल देहसे भिन्न पञ्चप्राणसहित उक्त मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं कर्म-ज्ञानेन्द्रियोंको मिलाकर सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर कहा जाता है। स्थूल देहके नष्ट होनेपर भी यह सूक्ष्म देह नष्ट नहीं होता। सृष्टिसे लेकर प्रलयकालतक यह सूक्ष्म देह रहता है। इसीके आधारपर व्यापक आत्माका गमनागमनादि बनता है। इससे भिन्न एक रजस्तमोलेशानुविद्ध अतएव अविशुद्ध सत्त्वप्रधान अविद्यारूपी कारण शरीर भी मान्य है, जिसका तत्त्व-साक्षात्कारसे ही बाध होता है। इस तरह वह अनादि, सान्त है। मूल प्रकृति भी अनादि, सान्त है। सम्पूर्ण प्रपञ्च पञ्चभूतात्मक है। उन भूतोंकी ग्राहक इन्द्रियाँ भी सूक्ष्म भूतोंका ही परिणाम हैं। भिन्न कारणोंमें स्वकार्यानुकूल शक्ति होती है। इसी तरह ब्रह्ममें भी सर्वप्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति होती है। इसीको मूल प्रकृति कहा जाता है। चेतन ईश्वर सर्वान्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापी होता है। कर्मोंके अनुसार जन्म-मरणके समान ही संसारका सृष्टि-प्रलय होता है। संसार-

का कर्मके साथ असाधारण सम्बन्ध है। मोक्ष या भगवत्प्राप्ति संसारका चरम लक्ष्य है। वस्तुतः इन सभी विषयोंका विवेचन 'दर्शन' में आ जाता है।

यूनानी-दर्शन

पाश्चात्त्य-दर्शन प्रायः मनतक ही पहुँचते हैं। आत्मवादी भी मन और आत्माका अभेद मानते हैं। इस सृष्टिके पहलेकी सृष्टियोंका विचार भी उन लोगोंने नहीं किया। 'मैटर' या भूतसमुदाय यद्यपि बहुत सूक्ष्म माना जाता है, तथापि वह सांख्यीय प्रकृतिसे भिन्न है। यही कारण है कि आत्माका विचार उनके लिये बहुत दूरकी बात हो गयी है। यूनानके दर्शन अति प्राचीन समझे जाते हैं, पर वहाँके प्राचीन दार्शनिकोंने जड़-चेतनका भेद ही नहीं माना। किस प्रथम द्रव्यसे संसारकी उत्पत्ति हुई, यही उनका विचारणीय विषय था। अन्नसे मनुष्यादि प्राणियोंकी, मिट्टीसे अन्नकी, जल जमते-जमते मिट्टीकी और गर्मीसे जलकी उत्पत्ति उन्होंने मानी है। जीव-शक्ति भी उसीमें मिली थी। फिर कुछ लोगोंने परमाणु, कुछने विद्युत्कण और कुछ लोगोंने बानबे तत्त्व माने। अन्तमें मैटर या अव्यक्त एक द्रव्यसे संसारकी उत्पत्ति मानी।

यूनानमें ईसवी सन्‌से ६०० वर्ष पूर्व थैलीज, एनैक्सीमैन्डर और एनैक्सिमैनीज़—ये तीन दार्शनिक हुए हैं। हिप्पो और डायोजिनीज़ भी इन्हींके अनुयायी थे। ये लोग चेतन-अचेतन-मिश्रित मूल कारण द्रव्य समझते थे। अतएव आत्मा या ईश्वर आदिके सम्बन्धमें इन लोगोंने कोई चर्चा नहीं की। यद्यपि सृष्टिके पहले अतिसूक्ष्म दृश्य एवं दृक् दोनों अविकल्पित होकर एकमेव-से थे—

'आसीज्ज्ञानमथो ह्यर्थ एकमेवाविकल्पितम्' (श्रीमद्भा० ११। २४। ३)

अर्थात् ज्ञान और अर्थ दोनों ही अविकल्पित होकर एक ही प्रतीत होते थे, तथापि यह अविकल्पकता, एकता, सूक्ष्मताके कारण प्रतीत होती है, अविवेकके कारण नहीं, किंतु थैलीज़ आदि तो जीव-शक्ति-मिश्रित ही मूल कारण मानते थे। थैलीज़ जलसे, एनैक्सीमैन्डर किसी अनियत द्रव्यसे और एनैक्सिमैनीज़ वायुसे ही विश्वकी सृष्टि मानता था। कहा जाता है कि थैलीज़ ज्योतिषी था। उसने ५८५ ई० में जो सूर्य-ग्रहण हुआ था, उसे पहले ही बतला रक्खा था। उसके मतानुसार 'जल ही दृढ़ता, द्रवता तथा वायुके रूपमें परिवर्त्तित होता है। जलसे वनस्पति तथा सभी जीवोंको जीवन मिलता है।' किसी दृष्टिसे यह मान्यता भारतीयोंमें भी थी। मनुने लिखा है कि परमेश्वरने पहले जल ही रचा और उसमें अपनी शक्तिका निक्षेप किया—

'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत।' (१।८)

जलमें निवासके कारण ही ईश्वरको 'नारायण' कहा जाता है।

अनेकात्मक प्रपञ्चका मूल एक वस्तु है, यह खोज भी महत्त्वकी ही है।

एनैक्सिमैन्डर ज्योतिष एवं भूगोलका विद्वान् था। उसने एक अपरिच्छिन्न परिमाणवाले द्रव्यसे ही विश्वकी उत्पत्ति और उसीमें संसारका लीन होना माना है। यदि यह द्रव्य परिमित होता तो सृष्टि होते-होते समाप्त हो जाती। अतः यह द्रव्य अपरिमित अतएव अनश्वर है। इसकी गति भी शाश्वत है। यह स्वयं विशेष पदार्थ नहीं है, किंतु सब विशेष पदार्थ इसीसे निकलते हैं। शीत-उष्णका भेद, पृथ्वी, जल, वायु आदि सब इसीसे निकले। यह स्वयं थैलीज़का सहवासी था और इसका शिष्य एनैक्सिमैनीज़ था। इसने (एनैक्सिमैनीज़) प्रथम द्रव्य वायुको माना है। वायुमें ही शीतलता तथा उष्णतासे घनीभाव और शैथिल्य ये दो गुण प्रकट होते हैं। वायुके शैत्यसे जल एवं उष्णतासे अग्नि प्रकट होती है। जैसे प्राणके आधारपर प्राणीका देह होता है, वैसे ही वायुके आधारपर संसार स्थित है। हिप्पो थैलीज़का ही अनुगामी था। वह आर्द्रतासे अग्नि और अग्नि तथा जलके संघर्षसे संसारका होना मानता था। ईडियस एवं डीयोजेनीज़ वायुको ही मूल कारण मानते थे; परंतु एनैक्सिगोरस अनेक तत्त्वोंका अस्तित्व मानता था। साथ ही वह ईश्वरकी इच्छासे ही इन तत्त्वोंके द्वारा सृष्टि स्वीकार करता था। पीथागोरसने संख्याको ही मूल माना है। वह ईश्वरको एक संख्या तथा अन्य अङ्कोंका उसीसे निकलना मानता था। एकसे बहुतोंकी उत्पत्ति होती है। बहुत सम्भव है कि यह 'एकोऽहं बहु स्याम्' (एक मैं अनेक होकर व्यक्त हो जाऊँ) इस श्रौतसिद्धान्तका ही रूपान्तर हो।

एनैक्सिमैण्डर (ई० पू० ६४० से ५५०) का कथन है कि 'जो कुछ भी जाना जाता है वह मूल नहीं है। मूल तत्त्व तो कोई और ही है, जिससे पृथ्वी-जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पाँच तत्त्वोंका जन्म होता है और जिसे 'असीम' नाम दिया जा सकता है। वही घन-विरलभावसे विश्वरूपमें परिणत और उपरत होता रहता है।' पीथागोरस (ई० पू० ५७०–५००) तो मूल तत्त्वके सूक्ष्म रूपको ही सब कुछ मानता है। इसके अनुसार 'रूपका एक प्रकार अनुपात है। जैसे पित्त, कफ और बातके उचित अनुपातसे स्वास्थ्य और विपरीत होनेपर अस्वास्थ्य होता है, वैसे ही अन्य विषयोंमें भी। इसलिये विश्वका मूल वस्तु नहीं, पर वस्तुका रूप ही है।' उधर परामेनीडीजके मतमें विश्व न कभी उत्पन्न हुआ, न नष्ट ही होगा।

भारतीय दर्शनोंके लिये यह सब कुछ नया नहीं है। मीमांसकोंने कहा है कि **'न कदाचिदनीदृशं जगत्।'** अर्थात् यह जगत् कभी भी ऐसा नहीं रहा, जैसा आज नहीं है, अर्थात् वह सदा ऐसा ही रहा। सारी गतियाँ बाणकी गतिके समान भ्रमात्मिका ही हैं। बाण किन्हीं विशिष्ट स्थानोंपर 'सत्' होते हुए भी 'असत्'

रहता है अर्थात् रहते हुए भी नहीं रहता। वह उस स्थानविशेषसे होकर जाता है, अतः 'सत्' है, परंतु क्षणभर भी नहीं ठहरता, अतः 'असत्' भी है। हेराक्लिटसने वस्तुओंका अनादित्व, अनेकत्व और क्षण-विपरिवर्तित्व माना है। प्राकृत घटनाचक्र जितने भी हैं, वे सब सर्वज्ञकी बुद्धिद्वारा प्रवर्तित हैं और विश्वका मूल भी। अनाक्सागोरस (ई० पू० ५००–४८८) और एम्पीडोक्लीज (ई० पू० ४६०–३७०) का कथन है कि 'वस्तुओंकी अनेकविधताका पर्यवसान परमाणुओंकी अनन्ततामें हो जाता है। सभी वस्तुओंके बीजभूत परमाणुओंके संयुक्त होनेपर ही विश्व उत्पन्न होता है। असत्से कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता, न सत्का विनाश ही हो सकता है। अणुओंका संयोग-वियोगात्मक ही परिवर्तन है। कोई भी वस्तु 'आकस्मिक' नहीं। सब वस्तुएँ कार्य्य-कारणसम्बद्ध ही हैं। अणु और शून्य इन दोके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अणु अनन्त हैं और उनकी अवस्थाएँ भी अनन्त हैं। नये अणु निःसीम प्रदेशोंमें अनवरत गिरते रहते हैं एवं पारस्परिक संघर्षोंसे ही भिन्न होते रहते हैं। उनके इन पारस्परिक संघर्षोंसे ही 'पार्श्वभ्रमि गतियाँ' (चारों ओर भँवर जैसी गतियाँ) उत्पन्न होती हैं, जिनसे असंख्य विश्वोंकी उत्पत्ति और विनाशकी परम्परा (शृङ्खला) चलती रहती है।' इनके मतमें 'अणुओंमें आन्तरिक (भीतरी) गति नहीं होती। क्रान्ति और संघर्षोंसे ही परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। सूक्ष्म अणुओंसे सारा शरीर व्याप्त है और उन्हींसे 'जीवन' और 'आत्मा' कही जानेवाली वस्तुओंकी उत्पत्ति होती है।'

डीमोक्रीटस (ई० पू० ४६०–३५७)के मतमें 'इन्द्रियोंसे ही ज्ञान उत्पन्न होता है। जो एक जगह सत्य है, वह दूसरी जगह असत्य भी हो सकता है।' इनके मतमें मानवानुभूतिका ही सर्वाधिक महत्त्व है, ऐसा सोफिस्टोंका कहना है। भौतिकवादियोंके मतमें 'धार्मिक प्रचारोंसे दर्शनोंमें बड़ा प्रतिरोध उत्पन्न हुआ। चूँकि यहाँ मानव-बुद्धि सीमित ही है, अतः उससे तत्त्वज्ञान दुर्लभ ही है। प्रत्येक मानवके लिये दुर्भेद्य अन्धकार स्वभावसिद्ध है, इसीलिये प्रकृति भी रहस्यभूता ही रह जाती है।'

वस्तुतस्तु भौतिकवादी धार्मिक पक्षको बड़े विकृत रूपमें व्यक्त करते हैं। जो दग्धा (जलानेवाला) है, वह दहन (जलाये जाने) का विषय नहीं हो सकता, उसी प्रकार जो ज्ञाता (जाननेवाला) है, वह ज्ञान (जानने) का विषय नहीं हो सकता—यह सिद्धान्त सर्वथा युक्तिसङ्गत ही है। ठीक वैसे ही, रूप जैसे श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा नहीं जाना जा सकता (केवल चक्षुरिन्द्रियके द्वारा ही जाना जा सकता है), वैसे ही शब्दस्पर्शादिगुणपञ्चकसे परेके पदार्थ इन्द्रियागोचर हैं—इन्द्रियोंद्वारा नहीं जाने जा सकते (अर्थात् प्रत्यक्षके क्षेत्रके बाहर हैं; केवल अनुमान या शब्द-प्रमाणके द्वारा ही जाने जा सकते हैं)। यह

सिद्धान्त भी ठीक ही है—इसमें भी कहीं कोई युक्तिविरुद्ध बात नहीं दिखलायी देती। प्रामाणिक अनुशासन (शास्त्र या आप्तवाक्य) को भी न माननेपर 'तर्कानवस्थान' दोष अनिवार्य्य होगा। अर्थात् तर्कके वस्तुयाथार्थ्यपर अवलम्बित न रहकर व्यक्तिगत बुद्धिपर अवलम्बित रहनेके कारण जब जिस पक्षका व्यक्ति अधिक बुद्धिमान् होगा, तब उसीका मत सिद्धान्तरूपमें मान लेना पड़ेगा और कब किस पक्षका व्यक्ति अधिक बुद्धिमान् होगा, इसकी कोई व्यवस्था नहीं; अतः कभी सत्यपक्ष सत्य रह सकता है और कभी असत्यपक्ष भी जीत सकता है और ऐसी स्थितिमें ज्ञान भी अस्थिर ही रहेगा—

'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥'

अर्थात् कुशल अनुमाता लोग बड़े प्रयत्नसे जिस अर्थको तर्कसिद्ध करते हैं, उसी अर्थको अन्य अनुमाता तार्किक अपने अनुमान—तर्कोंद्वारा अन्यथा ही सिद्ध कर देते हैं। इस तरह पूर्व अनुमित अर्थका खण्डन कर नवीन अर्थ प्रस्तुत और पुनः उसका खण्डन कर नवीन बात सिद्ध की जा सकती है। इसलिये तर्कमें अप्रतिष्ठितताका आरोप होता है। तथापि यह तर्कका अप्रतिष्ठितत्व दूषण नहीं भूषण ही है; क्योंकि तर्कोंके अप्रतिष्ठितत्वकी सिद्धि भी तर्कसे ही होगी। जैसे 'अयं तर्कः अप्रतिष्ठितः तर्कत्वात् तर्कान्तरवत्' यह भी एक तर्क ही है और यदि यह तर्क भी अप्रतिष्ठित है, तो इस अप्रतिष्ठित तर्कके द्वारा तर्कोंका अप्रतिष्ठितत्व भी किस प्रकार सिद्ध होगा? और यदि यह तर्क प्रतिष्ठित है, तो सब तर्क अप्रतिष्ठित हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह भी तर्क है, जिसको प्रतिष्ठित मान लिया गया। अतः कदाचित् तर्कोंका अप्रतिष्ठितत्व भूषण है, दूषण नहीं। अतः बड़ी सावधानीसे किसी तत्त्वके निर्णयके लिये कुछ तर्कोंका प्रयोग किया जाना चाहिये।

सुकरातका मत था कि 'सदाचारके अनुवर्तनसे ही सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है और वह ज्ञान प्रत्येक मनुष्यको उत्पन्न होनेवाले सामान्य ज्ञानसे भिन्न ही होता है। इष्ट घटनाओंद्वारा कार्य्यकारण-सम्बन्धसे सम्यग् ज्ञानकी उत्पत्ति सम्भव है। सम्यग् ज्ञान उत्कृष्ट गुण है। व्यापक विचारोंसे उसकी उत्पत्ति होती है।' कुछ लोगोंका यह जो मत है कि 'सारा-का-सारा ज्ञान संशयाक्रान्त ही होता है, कोई भी ज्ञान निश्चयात्मक नहीं होता' उसका निराकरण करते हुए उनका कहना है कि 'देवता नहीं चाहते कि इस विषयको लोग जानें। इसीलिये संशयाक्रान्ति होती है और सदाचार तथा देवानुग्रहसे सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्ति भी सम्भव ही है, असम्भव नहीं।' भौतिकवादियोंके मतमें सुकरातका दर्शन नीतिविषयक ही है। वैज्ञानिक अन्वेषणकी अपेक्षा उन्होंने आध्यात्मिक कल्पनाका ही अधिक आदर किया है। उनके मतमें केवल बाह्य इन्द्रियोंसे ही अनुभूति होती हो सो बात नहीं है, अपितु तत्त्वानुभूति तो अन्तरात्मासे ही उत्पन्न (प्रत्युद्भूत ही) होती है। न्याय, सदाचार और सुबुद्धि मनुष्योंके आन्तरिक गुण हैं।' उनके मतमें

जो त्रिकालाबाध्य है, एकरस है, वही सत्य है। उन्होंने अप्रामाणिकप्राय असम्बद्ध ज्ञानोंसे उपप्लुत मस्तिष्कको परिष्कृतकर उनमें सत्य ज्ञानके बीज बोये। उनका दर्शन शब्दार्थज्ञानविषयक ही है। बाह्य ज्ञानकी अपेक्षा आन्तरिक ज्ञानकी ही महत्ता उन्होंने अत्यधिक प्रख्यापित की है।

उनके शिष्य अफलातून विशिष्ट दार्शनिक हुए। उन्हींके प्रभावसे अनेक विद्वान् अपूर्ण संसारसे विरक्त हो गये और अनन्त सत्यमें अपना मन लगा दिया। भौतिकवादियोंकी दृष्टिसे लोग 'वस्तु' से अपना ध्यान हटाकर अमूर्त्त व्यापक सत्यके अन्वेषणमें लग गये। इन्द्रियव्यापारोंसे उपरत होकर उन्होंने विचारशक्तिसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थिर किये। उक्त विरोधाभासको ही तत्त्व मानकर यह मान लेना कि 'गति या परिवर्तन विरोधपूर्ण है, अतः उसकी व्याख्या नहीं हो सकती' मिथ्या ही है। इसलिये तत्त्व तो अपरिवर्तनीय ही रहा और वही सत्य भी है, वही नित्य भी है। परिवर्तन तो भ्रममात्र है।

भौतिकवादकी पद्धतिसे तो इस दर्शनमें अनुभव और प्रयोगकी उपेक्षा ही है। जो तत्त्व है, वह 'कृतबुद्धिग्राह्य' ही है अर्थात् परमेश्वरके अनुग्रहसे प्राप्त हुई किसी रहस्यमयी आत्मशक्तिद्वारा ही उसका ज्ञान (ग्रहण) हो सकता है।

अन्य यूनानियोंका यह मार्ग भी प्रादुर्भूत हुआ कि 'तर्कद्वारा भी तत्त्वान्वेषण हो सकता है।' अफलातूनके मतसे 'भौतिक वस्तुओंको सत्यपरिचायक समझना चाहिये। घटनाएँ असम्पूर्ण और भ्रामिका होती हैं। इसलिये घटनाओंके मूलमें कोई गम्भीर सत्य रहता है। वही 'वैज्ञानिक नियम' कहलाता है। सारी सृष्टि उसीके अनुसार है। उन्हीं नियमोंसे घटनाओंकी व्याख्या भी होती है। साथ ही मूलभूत वैज्ञानिक नियम जाने भी जा सकते हैं।' अफलातूनके मतमें विश्वका घटनाचक्र यन्त्र-सा नहीं है, अपितु जैसे वस्तुओंकी वृद्धिका मूल सूर्य है, वैसे ही सब घटनाचक्र किसी-न-किसी शुभके ही उद्देश्यसे प्रवृत्त होता है। इसका विषयानुरूप विवरण यह हो सकता है कि जितने अंशसे इन्द्रिय जगत्-सम्बद्ध है, उतने अंशसे उसकी सत्ता न्यून है। यदि कोई हिम (बर्फ) पर हाथ रखकर कवोष्ण जल (गुनगुने पानी) में हाथ डाले, तो उसे वह जल अनुष्णके समान लगता है और यदि अनुष्ण जलमें पहले हाथ डालकर गुनगुनेमें डाले, तो उसे वह शीतल-जैसा लगेगा, इस प्रकार वही जल उष्ण भी है और शीतल भी। हाथीकी दृष्टिसे चूहा 'लघु जन्तु' है' परंतु चींटीकी दृष्टिसे वही 'महान्' अनुभूत होने लगता है। इस प्रकार वही मूषक लघु भी है, वही महान् भी। दृष्टिभेदकी दृष्टिसे यही युक्ति अन्य भी अनेक स्थलोंपर प्रयुक्त हो सकती है। कोई भी इन्द्रियानुभूत वस्तु विपरीत गुणयुक्त विदित होने लग सकती है। अतः गुण निश्चित नहीं कहे जा सकते और जो अपरिवर्तनीय गुणयुक्त नहीं है, वह सत्य नहीं है, और न वह ज्ञान ही प्रमात्मक है। कोई चित्र

किसीको सुन्दर लगता है किसीको असुन्दर । जो वस्तु नित्य है, उसका गुण निश्चित होता है अथवा गुणाभाव निश्चित होता है ।' उन (अफलातून) के मतसे 'इन्द्रिय-सम्बद्ध जगत् जाना नहीं जा सकता । यदि पूछा जाय कि 'जो विज्ञान अनुभूत होता है वह किसका है ?' तो उनके मतसे उत्तर है—'रूपजगत्का अथवा धारणाओंका ।' इन्द्रियानुभूत (वस्तुओं) में गुणोंकी उपलब्धिका कारण रूप है । उसीसे उसमें सत्यत्व-का आभास होता है । रूपका ही सम्यग्ज्ञान होता है । रूपशब्दसे यहाँ शाश्वतिक रूप लेना चाहते हैं । सारांश यह कि अपूर्ण बाह्य जगत्की अपेक्षा नित्यसिद्ध पूर्णताका ही अन्वेषण करना चाहिये ।'

अरस्तूने बाह्य एवं आन्तर दोनोंकी व्याख्या की है । 'व्यापक विचारोंसे ही तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है' यह तो उन्हें भी मान्य ही है । वे रूपोंको वस्तुसे संश्लिष्ट ही मानते हैं, अत्यन्त पृथक् नहीं । अफलातूनकी रेखागणितमें अभिरुचि थी, इसलिये काल्पनिक वस्तुकी ओर उनका स्वाभाविक झुकाव रहा । अरस्तूकी जीवविज्ञानमें रुचि थी, इसलिये प्रकृतिके विकार, परिवर्द्धन आदि संस्कारोंकी प्रबलताके कारण अपरिवर्तनीय धारणा आदि सम्बन्धमें इनकी रुचि रही । उनके मतसे आकारमण्डित ही वस्तु विशिष्ट रूप ग्रहण करती है । विभिन्न वस्तुओंका वस्तु-तत्त्व और रूप पृथक्-पृथक् होता है । जैसे मूर्त्तिका वस्तुतत्त्व पाषाण है और शिल्पिकृत रूप ही रूप है । वनस्पति, पशु, मनुष्य आदिका शरीर-संघटन वस्तुतत्त्व है । रूप है; पचन-क्रिया, इन्द्रियानुभूति और बोध । रूपके बिना वस्तु कुछ नहीं है; क्योंकि धरणी, जल, अनल, अनिल आदि भी किसी मूल वस्तुके अवस्थाविशेष ही हैं । विश्वका गतिदायक परमेश्वर है, जो स्वयं गतिहीन है । उसकी सत्तामात्रसे विश्व पूर्णताकी ओर अभिमुख होकर विकासोन्मुखी है ।

जिस वस्तुमें जितने अधिक रूप हैं, उसका उतना ही अधिक महत्त्व है । आम्रका वस्तुभूत वृक्ष है और वृक्षका रूप आम्रफल है, परंतु वृक्ष भी वनका रूप है । उसकी दृष्टिसे वन वस्तु है । यहाँ एक ही पदार्थ किसीकी दृष्टिसे रूप है और किसीकी दृष्टिसे वस्तु ।

अरस्तूकी दृष्टिसे भी सभी वस्तुएँ बीजरूपसे स्थित हैं ही । साराका सारा वटवृक्ष बीजमें अवस्थित है । उपयुक्त सामग्रीसे उसके आवरणका अपनयन होनेपर उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है । विकासोन्मुख वस्तुओंमें विकासानुगुण (विकासोचित या विकासोपयुक्त) शक्तियोंकी कल्पना कर लेनी चाहिये । वृद्धिशील वस्तुओंकी प्रवृत्ति किसी उद्देश्यसे ही होती है । विश्व

कहाँसे और क्यों दृष्टिगोचर होता है इस प्रश्नका उत्तर वस्तु, रूप, सुप्तशक्ति एवं वास्तविकता इन चार बातोंसे होता है। बीज वृक्षका भौतिक हेतु है। दूसरा है नियम, जिससे आम्रवृक्षसे आम्रहीका वृक्ष होता है, पनस (कटहल) का नहीं। तीसरा—कर्ता, जिसकी प्रेरणासे क्रिया निर्वृत्त होती है। वास्तविकता चौथा हेतु है, जिसके उद्देश्यसे बीजकी प्रवृत्ति होती है। बीजके क्षेत्रमें यह आम्रफल है, चित्रकारके क्षेत्रमें सम्पूर्ण चित्र है। यह सारा यूनानी भाषामें 'टेलिओलौजी' सिद्धान्त कहलाता है। यान्त्रिक हेतु इससे भिन्न है। वह कार्य्यका पूर्ववर्ती तथा भावी (कार्य्य) का निर्णायक होता है। सामग्री सम्पूर्ण रहे तो कार्योत्पत्ति निःसंदिग्ध है। जैसे छोटे-छोटे यन्त्र महान् यन्त्रके चलानेवाले होते हैं। 'टेलिओलौजी' सिद्धान्त बतलाता है कि 'इस बातपर भी ध्यान देना चाहिये कि कारण न हो तो वस्तु क्या हो जाय और किस उद्देश्यसे उसकी प्रवृत्ति होने लगे। सर्वत्र सुकल्पित, सुसंघटित व्यवस्था ही ईश्वरके अस्तित्वको भी सिद्ध करती है।'

'अचेतन माया प्रकृति ही अन्य सभी चेतनोंका मूल है' यह भी उनका मत है—कि 'अन्तर्निहितशक्तिवाले भूत ही जीव, जन्तु, वनस्पति आदि रूपोंमें परिणत हो जाते हैं। जिस प्रकार जीर्ण-शीर्ण काष्ठ, सड़े-गले गोबर तथा गीले बालोंसे कीड़े, बिच्छू तथा जूँ आदि उत्पन्न हो जाते हैं।' पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। यद्यपि इस मतकी विस्तृत समालोचना आगे चलकर मार्क्सदर्शनकी समीक्षाके अवसरपर की जायगी, तथापि यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि गोबर, काष्ठ, लोम, केशादिकोंसे बिच्छू आदिके जड कलेवरकी ही उत्पत्ति होती है, न कि उनके चेतन आत्माकी। वह तो सदाके अनुसार अन्यत्रसे ही आता है, वहाँ उसकी अभिव्यञ्जनामात्र होती है। जैसे लोहा-लक्कड़, कोयला, पानी आदिपर स्वतः विद्यमान अग्निकी ही अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही विद्यमान चेतनकी ही तत्तत् शरीरोंमें अभिव्यक्ति होती है।

आधुनिकोंमें बहुतोंका मत यह है कि पहले वस्तुओंको देखनेके साधन यन्त्र ऐसे नहीं थे, इसलिये समष्टि दृष्टिसे विचार-परम्परा चल पड़ी। 'मानसिक विचारोंसे ही तत्त्वबोध हो सकता है, इस धारणाका भी मूल कारण यही है। अरस्तूने ज्ञानरश्मियुक्त आत्माओंके जन्मान्तर माने हैं। भौतिकवादियोंका कहना है कि यह उनका भ्रम ही था, क्योंकि जीवविज्ञानशास्त्रका निश्चित मत है कि संस्कार एवं अन्तर्बोध इन्द्रियजन्य अनुभवका ही परिणाम है। अरस्तूके मतसे पदार्थोंमें जीवनके बीजाणु सर्वदा ही रहते हैं। संसारमें विशिष्ट श्रेणियाँ विशिष्टगुणयुक्त होती हैं। यह विज्ञानकी विशिष्ट उन्नति है। संसारका स्वरूप बुद्धिप्रसूत है, नियन्त्रित है। इसलिये सभी वस्तुएँ नियमानुवर्त्ती (नियमबद्ध) ही हैं।

परिभाषाविज्ञानसे जीवों और जीवात्मक सभी वस्तुओंकी निरुक्ति-व्याख्या की जा सकती है ।' पाश्चात्योंकी दृष्टिसे अरस्तूने अपनेसे पहलेके सभी दार्शनिकोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट व्यवस्थाएँ निर्धारित की हैं । अन्य लोग उसमें भी कुछ कमी देखते हैं । वे कहते हैं कि वस्तुओंके गुण निर्धारित मान लेनेपर उनका विकास उपपन्न नहीं होगा, (क्योंकि) किसी एक रूपका रूपान्तरमें परिवर्त्तित हो जाना ही तो विकास है । स्टोइक, स्कैप्टिक, एपिकुरस आदि नीतिके प्रपञ्चमें पड़े । एपिकुरसके विषयमें रोमके महाकवि ल्युक्रैटियस कैरसने कहा है कि 'जब धर्मने मनुष्योंपर आसमानसे अपना खूँख्वार फौलादी पञ्जा फैलाया और मनुष्योंने धर्मके भारी हमलेके सामने घुटने टेक दिये, तब यूनानके एक महापुरुषने उसका उठकर सामना किया, जिसे देवताओंका क्रोध भी विमुख न कर सका ।'

सर्वाभ्युदय-निःश्रेयसहेतुभूत भगवान् धर्मके परम सुखकर स्वरूपको भी भ्रमवशात् इन लोगोंने उलटा ही समझा । ईश्वर ही संसारका मूल है । धर्म ही उसका तथा संसारके मूल परमपुरुषार्थका एकमात्र साधन है । अभ्युदय-निःश्रेयसार्थ बुद्धिमान् जन उसका सेवन करते हैं । अतः अरस्तू इत्यादिकोंका दर्शन बहुत कुछ भारतीय आस्तिक दर्शनोंसे मिलता है ।

उनके दर्शनका लक्ष्य सुखप्राप्तिके मार्गका ज्ञान ही है । सुख ही जीवनका लक्ष्य है । विश्वनियमोंको जान लेनेसे वह सुलभ हो जाता है और उनके न जाननेसे ही मनुष्य 'रहस्यभूत कारण' की कल्पना कर उससे डरता है । विमुक्ति ही सुख है, मृत्युसे अनुभवशक्ति नष्ट होती है, अतः वह उद्वेगका कारण नहीं । जब मृत्युसे अपनी या आत्माकी सत्ता ही उपलुप्त हो जाती है, तब उसके लिये चिन्ताका अवकाश ही कहाँ रह जाता है ?

ज्ञानसे प्रसूत होनेके कारण सुख अच्छा है । अज्ञानसे उत्पन्न होनेके कारण दुःख बुरा है । स्टोइकोंके मतसे गुण ही सुख है । एपिकुरसके मतसे सुखके लिये गुणकी आवश्यकता होती है । स्टोइकोंके मतसे गुणका उपयोग गुणहीके लिये है । गुणवृत्तिसे दुःख भी सम्भव है, फिर भी गुणवृत्ति ही सुख है । एपिकुरसके मतसे गुण सुखका साधनमात्र है । यदि वह सुखका साधन न हो तो गुण ही कैसा ? (यदि सुख साधनत्व न हो तो गुणत्व ही न रहे) । मनुष्य तबतक सुखी नहीं होता, जबतक महत्त्व, बुद्धि, न्यायशीलता आदि गुण उसमें नहीं आते । परंतु बुद्धिमत्त्व आदि गुण शाश्वत नहीं हैं, अपितु आपेक्षिक एवं परिवर्तनशील हैं ।

डीमोक्रीटसको प्रकृति-परमाण्वादि-सिद्धान्त भी स्वीकृत है । डीमोक्रीटसके मतानुसार 'परमाणु शून्यमें गिरते हैं ।' इस पक्षमें 'उन (परमाणुओं)के समान गतियोंसे ही

गिरनेसे जटिल गतियोंकी उत्पत्ति नहीं होती, अतः विश्वसृष्टि दुर्लभ ही हो जायगी' अतः एपिक्युरसने उनका वक्रगतिसे पतन माना है, जिससे विश्वसृष्टि उत्पन्न हो जाय। इस प्रकार वह सिद्ध करता है कि मनुष्य स्वतन्त्र इच्छावाला है किसी अन्यके द्वारा प्रयोज्य नहीं। शून्यसे शून्यकी ही उत्पत्ति हो सकती है, और किसी-की नहीं। अन्यथा किसीसे भी कुछ भी उत्पन्न हो जाय। जो है वह पिण्ड है, जो नहीं है वह शून्य है (अथवा जिसकी सत्ता है वह पिण्ड है, जिसकी सत्ता नहीं है, वह शून्य है)। अणु अविभक्त हैं, अपरिवर्तनीय हैं एवं गतिमान् हैं। परस्पर अभिमुख होनेसे उनका संयोग होता है। गतियाँ अनादि हैं। परिमाण और आकारके अतिरिक्त उनका कोई गुण नहीं है। उनके मतमें आत्मा भी अणुविशेष ही है। वस्तुओंसे पृथक् जीवन-क्रियाको प्रदर्शित करनेके लिये ही आत्माकी सृष्टि हुई (या की गयी) है। धर्मका बन्धन छुड़ाकर प्रकृतिका अध्ययन करना ही मुख्य 'दर्शन' है—ऐसा उन (डीमोक्रीटस) के मतानुयायियोंका कथन है, परंतु ऐसा है नहीं। अणु परिमाण उसे कहना चाहिये जिससे अन्य कोई अपकृष्ट परिमाण न हो—'यतः अपकृष्टपरिमाणं नास्ति तत् अणुपरिमाणम्'। सूक्ष्मताकी कल्पना करते-करते वाचस्पतिकी मति भी जहाँ परिश्रान्त हो जाय, उस अविभाज्य निरतिशय सूक्ष्म अवयवको परमाणु कहते हैं। स्वतन्त्र जड परमाणुओं-में प्रपञ्चारम्भ या विनाशानुकूल व्यापार स्वतः सम्भव नहीं; क्योंकि चेतनानधिष्ठित जड पदार्थोंमें विलक्षण व्यवस्थित अभीष्टकार्यकारित्व सम्भव नहीं। अतएव स्वतन्त्र रूपसे वक्र गति या सीधी गतिसे भी सृष्टि निर्माण सम्भव नहीं, अपितु अदृष्ट और ईश्वरसापेक्ष ही परमाणुओंसे कदाचित् सृष्टि और कदाचित् विनाश होता है।

मिस्रके 'अलेग्जैण्ड्रिया' नगरमें बहुत-से दार्शनिकोंका आविर्भाव हुआ। पाश्चात्त्य एवं पौरस्त्य दार्शनिक वहाँ एकत्र हुआ करते थे। वहाँ प्लाटिनसके प्रभावसे धर्म और दर्शनका सम्मिश्रण हुआ। वे मानते थे कि 'अनन्तप्रज्ञारूपिणी रहस्यपूर्ण सत्तासे ही सब वस्तुओंकी उत्पत्ति हुई है और वह सत्ता दुर्ज्ञेय है। उसकी प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तिको ही ईश्वर मानकर व्यवहार चलाया जा सकता है और वह अपने भीतर ही संकल्पसे विश्वात्माकी सृष्टि करता है। विश्वात्मा ही समष्टिजगत् एवं व्यक्तियोंकी आत्मा है। पार्थिव सम्बन्धसे अवनति होती है और उसके विच्छेदद्वारा पूर्ण सत्ताप्राप्ति ही उत्थान है।'

क्रासिस्कन, जान स्टोक्टस, एरिगेना (ई० ८१०—८७०), रोजिलिनस (१०५१-११२१) इत्यादि दार्शनिक अफलातूनके सिद्धान्तसे प्रभावित रहे और टोपिनिकन, एलबर्ट्स आदि अरस्तूके। एक्विनसकी दृष्टिसे निर्गुण पदार्थ-स्वरूप ही वस्तुएँ हैं। उन्हींसे प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है। उपलब्ध वस्तुएँ रूप ही हैं। जिन रूपोंसे वस्तुओंका ज्ञान होता है, उन्हींसे मूर्ति मूर्ति हो पाती है, अन्यथा

निराकार पिण्ड ही रहे। वस्तुहीके समान रूप भी सत्य है। वस्तुसे भी उच्चतर सत्य रूप है। मूर्तिका रूप कृत्रिम नहीं है न बाह्याकृति है, अपितु वस्तुका तत्त्व भी वही है, और बाह्य और आन्तर भी वही है। वस्तुका रूपान्तरण ही विकासवादका सिद्धान्त है। मनुष्य पशुका रूपान्तरण है और पशु अचेतन पदार्थका रूपान्तर। एक ही मूल वस्तुसे अनेक सत्योंका संघटन सम्भव है। जीवित, चिन्तनशील, अनुभवपूर्ण मनुष्य भी वैसा ही सत्य है।' ऐक्विनासके मतसे 'वस्तुतत्त्वका अनुभव तो बाह्य इन्द्रियोंसे होता है, परंतु रूपका बुद्धिसे ही होता है।'

स्कोट्स एरिजेनाके मतमें 'प्रकृतिमें विवेक तो पहलेहीसे था। यथासमय शासनशक्ति भी उत्पन्न हो जाती है तथा समय प्रकृतिके साथ उत्पन्न होनेवाला है। तथापि प्रारम्भकालमें शासनशक्ति नहीं थी। विवेकसे ही शासनशक्ति उत्पन्न होती है, न कि शासनशक्तिसे विवेक। विवेकहीन शासनशक्ति दुर्बल ही रहती है। विवेक तो शासनशक्तिसे निरपेक्ष भी अपने गुणोंसे ही सुरक्षित है।'

अन्य पाश्चात्त्य-दर्शन

रोजेनिलस आदि दार्शनिक धर्मविरोधी थे। रोजर बेकन इत्यादिने विचार-स्वातन्त्र्यमें धर्मको कुछ नहीं गिना। धर्मके विषयमें यूरोपमें उस समय सुधारकी भावना उद्भूत हुई। तथापि वे सुधारक भी संकुचित वृत्तिके थे। कैलविनने सुधारक होते हुए भी 'रक्तसंचालन'के तथ्यके आविष्कारमें लगे हुए सर्विटसको जीवित ही जलवा दिया था।

बेकनका कहना है कि 'सर्वत्र श्रेष्ठ उपाय खोजना चाहिये। वस्तुके सभी अंशोंका यथायोग्य अध्ययन करना चाहिये। जिसका प्रथम स्थान हो, उसका अध्ययन प्रारम्भमें तथा दुरूहसे पहले सरलका अध्ययन कर लेना चाहिये। यह सब प्रयोगके बिना सम्भव नहीं हो सकता। आप्तवाक्य, विवेक और प्रयोग—ज्ञानके ये तीन मार्ग हैं। कारणरहित आप्तवाक्य अकिंचित्कर है, कारणके बिना आप्तवाक्यका कोई अर्थ नहीं। आप्तवाक्यपर विचारकर प्रयोगसे प्रमाणित कर विवेकसे ज्ञान एवं प्रदर्शनका भेद जानना चाहिये। उसके मतमें पहले प्राकृतिक ज्ञानसे ही विज्ञानकी उन्नति सम्भव है। इन्द्रियाँ पहले प्रमाण हैं, मन बादमें।'

असलमें ऐसे स्थलोंमें प्रत्यक्षानुमान-मूलक जो आप्तवाक्य हैं, उनका प्रत्यक्षानुमानसे भिन्न शब्दप्रमाणसे व्यवहार नहीं किया जा सकता। ये वाक्य भी प्रत्यक्षानुमानमूलक होनेसे प्रत्यक्षानुमानके अन्तर्गत ही समझे जाते हैं। जैसे नैयायिकोंका प्रत्यक्षखण्ड, अनुमानखण्ड या बौद्धोंके आगमग्रन्थ होनेपर भी वे प्रत्यक्षानुमानके अन्तर्गत ही समझे जाते हैं। आप्तवाक्य या शास्त्रप्रमाणके रूपमें उनकी मान्यता नहीं होती। इसी तरह यहाँ बेकनका 'आप्तवाक्य' भी है, जिसे

वह प्रयोग और विवेककी कसौटीपर कसता है, पर वह शब्दप्रमाणमें मान्य नहीं हो सकता।

यों प्रत्यक्षानुमानकी शिक्षाके लिये अपेक्षित शिक्षकका जो मूल्य है, वही इनके मतानुसार आप्तोपदेशका मूल्य है। कुछ आधुनिक वेदप्रामाण्यवादी वेदोंका प्रामाण्य इसलिये मानते हैं कि वेदोक्त अर्थ प्रयोग और विवेककी कसौटीपर खरे उतरते हैं। परंतु वास्तविक वेदप्रामाण्यवादियोंका कहना है कि जिस प्रयोग और विवेकके आधारपर वेदोक्त अर्थका सौष्ठव एवं सत्यता सिद्ध की जाती है, उसी आधारपर वेदोक्त अर्थका परिज्ञान भी सम्पादित किया जा सकता है। फिर उसके लिये वेदप्रामाण्यकी कोई आवश्यकता नहीं ठहरती। जैसे नेत्रसे अवगतरूपके लिये दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती। अज्ञातज्ञापकता ही प्रमाणोंका मुख्य प्रामाण्य होता है। प्रयोग और विवेकसे जो वस्तु ज्ञात हो, उसका ज्ञापक वेदवाक्य ज्ञातज्ञापक होनेसे अनुवाद ही ठहरता है।

देकार्त्तेने भी बेकनका अनुवर्तन करते हुए 'धर्मबन्धनसे विनिर्मुक्त' ही दर्शनका प्रवर्तन किया। उसके मतसे 'ईश्वर भी बुद्धिसे अतीत [परे] नहीं है।' विश्वसृष्टिके लिये उसने यान्त्रिक सिद्धान्त स्वीकृत किया है। पृथ्वीकी गतिके दृष्टान्तसे वस्तुओं एवं उनकी गतियोंसे ही विश्वकी सृष्टि उसने सिद्ध की है। उसके मतमें 'विस्तार पदार्थोंका मुख्य गुण है, इसलिये जहाँ विस्तार हो, वहाँ भी पदार्थका अस्तित्व मान लेना चाहिये।' इसलिये रिक्त स्थान है ही नहीं। जो स्थान रिक्त समझा जाता है, वह कोणमुक्त कणोंसे भरा हुआ ही है और सभी गतिमान् पदार्थ पारस्परिक संघर्षसे 'कोणत्व' के मिट जानेपर वृत्ताकार और सूक्ष्म हो जाते हैं। उन्हींसे सूर्य तथा अन्य प्रकाशवान् वस्तुएँ होती हैं। कुछ विलक्षण प्रकारके उन्हीं कोणत्वहीन पदार्थोंसे आकाशकी भी उत्पत्ति होती है। तीसरे प्रकारके उन्हीं पदार्थोंसे, जो स्थिरप्राय होते हैं, पृथ्वी उत्पन्न होती है, जिसमें प्रकाशकी किरणोंका प्रवेश नहीं हो पाता। इनकी गतियाँ वृत्ताकार आवर्त-जैसी होती हैं। बड़ी वस्तुएँ भँवरके बीचमें रहती हैं, छोटी उनके चारों ओर। भँवरकी इस गतिसे ही नक्षत्र सूर्यके चारों ओर चक्कर काटते रहते हैं।'

पर चेतनानधिष्ठित किसी भी प्रकारके पदार्थोंसे व्यवस्थित सृष्टिका होना असंगत है, क्योंकि कुलालादिसे अधिष्ठित मृत्तिकादिसे ही घटादिकी उत्पत्ति होती है। सारथिसे अधिष्ठित रथादिकी व्यवस्थित प्रवृत्ति होती है। इसलिये ईश्वर आवश्यक है। देकार्त्तेको भी यह मानना पड़ा। वह ईश्वर बुद्ध्यतीत होते हुए भी बुद्धिगम्य हो सकता है। सृष्टिकर्तृत्वादिसे उसका अनुमान होता ही है। जहाँतक आकाशकी उत्पत्तिकी बात है, वहाँ आकाश यदि अवकाशात्मक, आवरणात्मक है, तो उसकी कल्पना निरर्थक है। क्योंकि निरवयव पदार्थकी उत्पत्तिमें कोई

प्रमाण नहीं है। शब्दसमवायिकारण आकाश निरवयव एवं व्यापक है। इसलिये नैयायिकों तथा वैशेषिकोंके मतानुसार आकाशकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। वेदान्त-मतानुसार यद्यपि आकाशकी उत्पत्ति होती है, तथापि वह आकाशसे भी सूक्ष्म एवं अमूर्त अहंतत्त्वका ही परिणाम है। परमाणु, अन्य भूतों या किन्हीं कणोंसे आकाशकी उत्पत्ति तो सर्वथा असंगत एवं निराधार है।

'ज्ञान कहाँसे प्राप्त होता है और किस प्रकारका होता है' यह दार्शनिकोंका मुख्य प्रश्न है। 'मनमें कुछ निश्चित सिद्धान्त सुस्थिर रहते ही हैं, बुद्धि उन्हींका अनुगमन करती है और पदार्थोंके सत्य-ज्ञानके विषयमें सत्य-ज्ञान उत्पन्न होते हैं—यही देकार्त्ते-का 'प्रज्ञावाद' है। 'जिस प्रकार गणितका सारा प्रपञ्च कुछ निश्चित सिद्धान्तोंके आधार-पर चलता है, उसी प्रकार सारा-का-सारा दार्शनिक प्रपञ्च बुद्धिके आधारपर चलता है, यह कहा जा सकता है।' दूसरे पक्षका कहना है कि 'यदि विश्वकी सारी समस्या गणितकी ही जैसी हो तो ऐसा कहा जा सकता है, परंतु ऐसा है नहीं। निश्चित घटनाओंके सम्बन्धमें गणितके समान कहा जा सकता है, परंतु इनके साथ विविध प्रकारकी अनिश्चित घटनाएँ भी सम्मिलित हैं। अतः मानना होगा कि गणितसे भिन्न भी अंश है। कुछ घटनाएँ ऐसी होती हैं, जो अनिवार्यरूपसे किसी घटनाकी फलभूत नहीं होतीं। जैसे किसी पदार्थका पीतवर्णविशिष्ट गुरुत्व होनेपर भी अनुभवके बिना केवल बुद्धिसे नहीं जाना जा सकता। इसलिये विश्वके ज्ञानके लिये विश्वका अनुभव आवश्यक है।' 'घटनाके अनुभवसे ही सत्य ज्ञान प्राप्त होता है,' ऐसा कहनेवाले अनुभववादी दार्शनिक हैं। यद्यपि अंशतः यह सत्य है, तथापि इससे दर्शनका उद्‌देश्य पूरा नहीं होता। 'मनुष्य अपने उद्दिष्ट कार्योंमें स्वतन्त्र है अथवा संसार ही किसी उद्‌देश्यकी पूर्तिके लिये प्रवृत्त होता है, इस विषयमें अनुभववादी संदेहमें ही हैं। संसार आध्यात्मिक भी है, उसका ईश्वर भी है—यह अनुभवका विषय नहीं है। इन्द्रियोंसे जिनका अनुभव नहीं होता, उनपर उन्हें विश्वास नहीं। ये आदर्शवादी नहीं, व्यवहारवादी हैं।

देकार्त्तेके दर्शनमें 'संसार आध्यात्मिक और सेश्वर है। इन्द्रियजन्य अनुभव तो मायामात्र ही है। कुछ सहज (स्वाभाविक) प्रत्यय होते हैं, उन्हींसे विश्व-की वस्तुएँ जानी जाती हैं।' अन्य लोग सहज प्रत्ययोंको भी माननेको तैयार नहीं। उनका कहना है कि 'दो और दो मिलकर चार होते हैं, यह सही है' पर यह भी कुछ बार अनुभव करके ही जाना जाता है। ज्ञानदृष्टिकी अभिव्यक्तिके लिये भी दो-तीन अनुभवोंकी आवश्यकता है। यद्यपि सर्वत्र सहज प्रत्ययोंकी सिद्धि इतनी सरल नहीं, तथापि सहज प्रत्यय मान लेनेका यह तात्पर्य होगा कि अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं, जो सहज प्रत्ययोंसे ही जानी जाती हैं, परंतु प्रमाणोंद्वारा नहीं।

वे केवल बुद्धिसे ग्रहण कर ली जाती हैं और वे मनुष्योंको स्वतःसिद्ध हैं, अतः प्रमाण-निरपेक्ष होकर भी सत्य हैं।'

वस्तुतः सत्यताका निर्णायक प्रमाण ही होता है, क्योंकि प्रमाके कारणको प्रमाण कहते हैं और अज्ञात अबाधित असंदिग्धविषयक ज्ञान ही प्रमा शब्दसे कहा जाता है। उस प्रमाके कारणको ही प्रमाण कहा जाता है। सहज प्रत्यय भी तो चक्षुरादि प्रमाणोंसे ही उत्पन्न होंगे। इसीलिये सहज प्रत्ययोंमें भ्रम, प्रमा आदि विभाग होंगे। देकार्त्तेके मतमें जिस वस्तुका बुद्धिमें स्पष्ट अवभासन हो, उसीका सत्य ज्ञान होता है, परंतु यहाँ यह विचारणीय है कि किसीकी बुद्धि या मनमें जो भासित होगा वह दूसरेकी भी बुद्धि या मनमें भासित हो यह अनिवार्य्य नहीं। यदि प्रत्येककी बुद्धिमें जो भासित हो उसीको सत्य मान लें, तो भिन्न-भिन्न बुद्धियोंमें भिन्न भान होनेके कारण वस्तुका रूप ही विकृत हो जायगा। फिर भी अन्य सभी वस्तुओंमें संदेह करनेवाला भी अपनेमें कोई संदेह नहीं करता। 'संदेहं करनेवाला कोई मनन करनेवाला है' यह तो असंदिग्ध ही है। यहाँ भी संदेह आदिका भासक कोई है, यह तो मानना ही पड़ेगा और वह अपरिवर्तनशील ही हो सकता है, अतः चेतनावान् पुरुषको भी देकार्त्तेने माना है।

ह्यूमका कहना है कि 'काम, संकल्प, लज्जा, भय इत्यादि मानसिक भावोंकी जिस प्रकार अनुभूति होती है, उस प्रकार उसके भासक पुरुषकी अनुभूति नहीं होती। यदि ऐसी कल्पना की जाय कि ये मानसिक भाव मणितुल्य हैं और आत्मारूपी सूत्रमें निबद्ध हैं, तब भी मणिस्थानीय भावोंके समान सूत्रस्थानीय आत्माकी भी उपलब्धि तो आवश्यक ही रहती है और यह सूत्रस्थानीय आत्मा उपलब्ध होता नहीं, अतः उसका अस्तित्व ही नहीं है।' साथ ही इस पक्षमें बाह्य वस्तुकी अपेक्षा मनके मननकर्तृत्वसे स्वात्मज्ञान ही अधिक है। इस प्रकार संसारके मानसिक कल्पनामय होनेसे वस्तुत्वकी ही सिद्धि न होगी। तब फिर मनको पूर्णरूपेण शरीरसे भी पृथक् मानना पड़ेगा। ऐसी भ्रान्ति बहुतोंको हुई है। वस्तुतः सर्वभासक साक्षी उपलब्धि अथवा भानस्वरूप होनेसे भानान्तरनिरपेक्ष ही सिद्ध है। वस्तुका प्रकाश दो प्रकारसे होता है। एक प्रकाशस्वरूप होनेसे और दूसरा प्रकाशसे संसर्ग होनेसे। जैसे घटादिमें 'प्रकाशके संसर्गसे प्रकाशित होता है, ऐसा व्यवहार होता है और प्रकाशमें संसर्गान्तर बिना ही 'स्वतः ही प्रकाशित होता है' ऐसा व्यवहार होता है। इसी तरहसे प्रकाशान्तर या बोधान्तरका विषय न होनेपर प्रकाशस्वरूप होनेसे 'प्रकाशित होता है', ऐसा व्यवहार संगत है और मणियोंके बीच सूत्रोपलब्धिके समान विविध बौद्ध वृत्तियोंकी संधियोंमें निर्विकल्प बोधस्वरूप स्वतः भासमान रहता ही है।

गतिविज्ञानवादियोंकी दृष्टिमें यन्त्रादिकी अपेक्षा गति ही पहलेसे निर्द्धारित है। शरीरके वस्तुकण-निर्मित होनेके कारण उसकी भी गति वैसे ही पूर्वनिर्धारित ही है। मन भी

यदि शरीरसे अभिन्न वस्तु हो, तो उसकी भी वैसी ही गति सिद्ध हो जाय। पृथक्त्ववादियोंके मतमें मन शरीर-प्रभावसे असंस्पृष्ट ही रहता है।

देकार्त्तेके मतसे 'मन और वस्तु दोनों ही ईश्वरनिर्मित हैं। चिन्तन मनकी विशेषता है और विकास वस्तुकी। ये दोनों परस्पर भिन्न होनेके कारण एक दूसरेसे अत्यन्त अप्रभावित रहते हैं। जिस प्रकार दो घटिकायन्त्र स्वतन्त्ररूपसे नाद करते हैं, अतः एक साथ नाद करनेपर भी उनका सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार मन एवं शरीरकी घटनाएँ यद्यपि एक दूसरेके अनुरूप होती हैं, तथापि उनका कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। परमेश्वरकी कृपासे ही मन और शरीर दोनोंकी क्रियाओंमें सामञ्जस्यसे जीवन चलता है।' इस प्रकार भौतिकवाद तथा आदर्शवाद—ये उस [देकार्त्ते] के दर्शनकी दो धाराएँ हैं।

स्पिनोजा [१६३२–१६७७ ई०] भौतिकवादका प्रवर्त्तक हुआ और लाइबनिट्स [१६४६ ई०] आदर्शवादका। स्पिनोजाके मतसे 'प्रज्ञा ही सबसे उत्कृष्ट है। उसीके द्वारा धर्मग्रन्थके विषयोंकी भी परीक्षा की जानी चाहिये। प्रज्ञासे वस्तुओंके सम्बन्धोंका अन्वेषण करना चाहिये। प्राकृतिक घटनाओंके आन्तरिक सम्बन्धके बतलानेमें अप्राकृतिक शक्तिका हस्तक्षेप अनुचित है। इसके मतसे आध्यात्मिक, मानसिक एवं भौतिक ऐश्वर्य आदि सभी भाव प्रकृतिमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं और इस प्रकार ईश्वर अथवा प्रकृति एक ही है। सम्पूर्ण ही ईश्वर है, ईश्वर ही सम्पूर्ण है। घटनाओंका ऐक्य केवल उनके अस्तित्वमात्रका है, जो नियमानुवर्ती हैं। भूतों तथा आत्माओंका पूरा साम्य है। उनमें ईश्वरकी सत्ता है, अतः भूत आत्ममय ही हुए। सीमित वस्तुएँ एवं घटनाएँ अपने अतिरिक्त असंख्य वस्तुओं एवं घटनाओंसे सम्बद्ध हैं। इनके समूहका ज्ञान अत्यन्त दुष्कर है, अतः किसी न किसी स्वात्मनिर्भरकी सत्ता मानना आवश्यक है। इस प्रकार मूल पदार्थका वैविध्य नहीं रह जाता। साथ ही इस पक्षमें शून्यकारणतावादका परिहार बड़ी सरलतासे हो जाता है। पूर्ण अनन्त ईश्वर अथवा पूर्ण अनन्त प्रकृतिसे बहिर्भूत अन्य कुछ नहीं रह जाता—ईश्वर ही सम्पूर्ण है। इसमें अन्तर इतना ही है कि कार्य कारणसे अभिन्न अर्थात् अनन्य हो सकता है; परंतु कारण कार्यसे अभिन्न नहीं होता। जैसे हाटक (सोना) से भिन्न कटक, मुकुट, कुण्डलादि नहीं हैं, पर कटक, मुकुट आदिके बिना भी हाटक रहता है। अतः हाटकको उनसे अभिन्न नहीं कहा जा सकता। इसी तरहसे सम्पूर्ण जगत् परमेश्वरसे अभिन्न है। पर जगत्के बिना भी वह परमेश्वर रहता है। अतः वह जगत्से अभिन्न नहीं कहा जा सकता और प्रकृति तथा ईश्वरमें इतना भेद है कि स्वतन्त्र और चेतन ईश्वर है, किंतु अचेतन चेतनाधिष्ठित प्रकृति है। सृष्टिचक्रके बाहर कोई अप्राकृत वस्तु नहीं है और प्रकृतिका स्वभाव चञ्चल है। सभी शक्तियाँ उसीमें विलीन रहती हैं। सारी-की

सारी शक्तियाँ परमेश्वरकी अङ्गभूता हैं। व्यापकता तथा मननशक्ति इन दोका अनुभव लोगोंको होता है। भौतिक पदार्थ तथा घटनाएँ व्यापकताशक्तिमें एवं मन तथा उसकी अनुभूतियाँ मननशक्तिमें अन्तर्भूत हो जाती हैं। एक ही अन्तिम सत्ताके विभिन्न रूप होनेके कारण तथा समानकालिक होनेके कारण मन तथा शरीर परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियावान् हैं। पदार्थगतिके अनुरूप ही मनोगति होती है। बाह्य नियमबन्धनका प्रतिबिम्बमात्र ही आन्तरिक-नियमबन्धन है। बुद्धिमें जिसकी धारणा होती है, बाहर भी उसकी सत्ता होती है। साथ ही, कार्यकारणभाव सर्वत्र है। जैसे लौहका कूट (निहाई) आदिके द्वारा ताड़नादि होता है, वैसे ही कूटादिका भी अन्य साधनोंसे ही निर्माण होता है। वैसे ही उन साधनोंका भी निर्माण साधनान्तरोंसे ही होता है—यों कार्य-कारणभावकी कहीं समाप्ति नहीं। समान गुण हुए बिना दो वस्तुएँ परस्पर प्रभावोत्पादक नहीं हो सकतीं। इसलिये आत्मा एवं भूतोंके पारस्परिक प्रभावोत्पादनके लिये उनका समानगुणत्व मानना होगा। यों मूलतः दोनों एक ही हैं।

आन्तर कारणके सम्बन्धमें स्पिनोजाकी दृष्टिसे 'किसी प्रयोजनके बिना मन्द व्यक्ति भी किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता, अतः प्रवृत्ति सोद्देश्य होनी चाहिये। जैसे नेत्र देखनेके लिये बनाये गये हैं, दाँत चबानेके लिये, सूर्य प्रकाशके लिये, ऐसे ही सभी वस्तुएँ मानवीय उपयोगके लिये ही बनी हैं। उपयोग करने योग्य वस्तुएँ अपने प्रयत्नके बिना ही मिल गयीं, इसलिये यह कल्पना की जाती है कि वे किसीके द्वारा बनायी गयी होंगी। निर्माताके बिना ही स्वतः उत्पन्न हो गयी होंगी ऐसा विश्वास जल्दी नहीं होता; क्योंकि वैसा देखा नहीं जाता। जैसे हमलोग अपने उद्योगके लिये वस्तुओंका निर्माण करते हैं, वैसे ही प्रकृतिके अधीश्वरने हमलोगोंपर अनुग्रह कर वस्तुओंका निर्माण कर दिया—ऐसे निरूढ़ संस्कारसे ईश्वर सिद्ध हो जाता है।'

इसपर भौतिकवादियोंका यह कहना है कि "सब वस्तुएँ परमेश्वरके अनुग्रहसे उत्पन्न हुई हैं' यह इसलिये नहीं कह सकते कि बहुत-सी ऐसी भी वस्तुएँ मिलती हैं, जो उपयोगार्ह नहीं हैं, प्रत्युत विघातक हैं। यथा—विष, भूकम्प, व्याधि आदि। यदि कहा जाय कि 'ये वस्तुएँ परमेश्वरके कोपमूलक हैं' तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि वैसा माननेपर धार्मिकों एवं ईश्वरभक्तोंपर इनका कोई प्रभाव न पड़ना चाहिये था। पर देखा यह जाता है कि धार्मिक और अधार्मिक सब उपद्रवग्रस्त होते हैं। दूसरा मार्ग खोजनेकी अपेक्षा अन्धकारमें पड़े रहना ही सुखकर है ऐसा सोचकर आदर्शवादी वहीं पड़े हैं।"

यह भौतिकवादियोंका प्रलाप है। वास्तवमें सुख-दुःख धर्माधर्ममूलक हैं (सुखका मूल धर्म और दुःखका मूल अधर्म है)। व्यष्टिके पापोंसे व्यष्टिके दुःख

और समष्टि पातकोंसे समष्टिदुःखजनक उपद्रवोंकी उत्पत्ति होती है, यह सर्वथा निर्दोष सिद्धान्त है। इस स्थितिमें धार्मिक होनेपर भी दुःख आनेपर कालान्तरीय पातकोंकी कल्पना की जा सकती है, जो फलबलकल्प्य हैं। इस प्रकार कोई दोष नहीं रह जाता। ऐसे प्रलापोंका समाधान बहुत पूर्वसे होता आ रहा है। मनुने पापी पुरुषोंको सुखी और कदाचित् धर्मात्माओंके दुखी होनेकी शङ्कापर बतलाया है कि ऐसी बात देखकर भी अधर्मसे बचना चाहिये। क्योंकि पहले अधर्मसे कभी-कभी वृद्धि देखी जाती है, पर उसका कारण व्यक्तिके प्राक्तन सुकृत हैं। उनका फल समाप्त होते ही उसका समूल विनाश हो जाता है—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥
न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानां शीघ्रं पश्यन् विपर्ययम्॥

(मनु० ४। १७४, १७३, १७१)

पापीके बड़े-बड़े पुण्योंका फल तनिक सुखमें समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार पुण्यात्माके बड़े-बड़े पाप साधारण कष्टभोगोंसे समाप्त हो जाते हैं। पापीको जहाँ साम्राज्यप्राप्तिकी बात थी, वहाँ उसे पाप करते एक अशर्फी मिलकर रह जाती है। यों ही पुण्यात्माको जहाँ मरण-जैसा भयङ्कर कष्ट आना होता है, वहाँ पुण्य करते काँटा चुभकर रह जाता है।

प्रज्ञा (बुद्धि) में भी भ्रम आदि दोष देख पड़ते हैं, अतः उसका भी प्रामाण्य ऐकान्तिक नहीं है। अनुभवके अतिरिक्त भी कोई विचारमार्ग है या नहीं? इस प्रश्नके उत्तरमें अध्यात्मवादी कहते हैं 'है', भौतिकवादी कहते हैं 'नहीं है'।

हाब्सने सब वस्तुओंकी व्यवस्था यान्त्रिक सिद्धान्तानुसार बतलायी। उसके मतानुसार 'केवल वस्तुएँ और गतियाँ ही सत्यभूत हैं और सब इन्हींका विकार-समुदाय है। ज्ञान भी उसीमें अन्तर्भूत हो जाता है। इन्द्रियानुभूति ही ज्ञान है। वस्तुओंके द्वारा इन्द्रियाक्रान्ति ही अनुभूति है। यह भी गतिविशेष ही है। मन भी भौतिक ही है। सभी वस्तुओंका यह मूलभूत गुण है कि वे अपनी वर्तमान अवस्थामें रहती हैं। वह अवस्था गतिरहित हो या गतिमती हो यह दूसरी बात है।' हाब्सके मतमें 'मानव कल्पनाशक्तिके सीमित ही होनेके कारण किसी भी वस्तुकी असीम धारणा संभव नहीं है। इसलिये सीमारहित शक्ति या सीमारहित समय नहीं है। कहीं-कहीं असीम शब्दका जो प्रयोग होता है, उसका यही तात्पर्य होता है कि हमें उसकी सीमाका ज्ञान नहीं है। इन्द्रियानुभूतिका विषय न हो ऐसा कोई भी धारणाका विषय (संभव) नहीं हो सकता।'

लाइबनिट्सने भौतिकवादका खण्डन करनेके लिये संशोधित रूपसे परमाणु-वादकी प्रतिष्ठापना की। निर्जीव भूतोंसे सृष्टि नहीं हो सकती, यह सिद्ध करनेके लिये उसने 'मोनाड' नामके अनुभवशक्तियुक्त आध्यात्मिक अणुओंको ही सृष्टिका कारण

माना। यान्त्रिक नियमोंका अनुवर्त्तन करनेवाले इन असंख्य और असमान अणुओंका अन्योन्य प्रभाव न होनेपर भी परमेश्वरकी महिमासे परस्पर सम्बन्ध अवभासित होता है। जिस प्रकार अनेक घटीयन्त्र (घड़ियाँ) समान रूपसे कालनिर्देशन करते हैं, वैसे ही इन अनन्त असंसृष्ट अणुओंके विषयमें भी समझना चाहिये। कार्य-कारणकी परम्परा ईश्वरमें जाकर समाप्त हो जाती है, क्योंकि मूलका मूल नहीं हुआ करता। इसलिये जो सबका मूल है उसे स्वयं अमूल (मूलरहित) ही होना चाहिये। कार्य-कारणपरम्पराके नियमानुवर्त्ती होनेके कारण सृष्टिमें परमेश्वरका हस्तक्षेप नहीं होता। ये 'मोनाड' नामके अणु ही अन्तर्निहित शक्तियोंद्वारा जीव, अजीव, पशु, मनुष्य आदिके रूपमें विकसित होते हैं। 'मोनाड' मन और शरीर तथा पशु और मनुष्यके भेदको दूर कर देता है। बाह्य वस्तुएँ प्रत्यक्ष अनुभूतिके विषय हैं, अतः उनका मनसे पृथक् रूपमें अस्तित्व है और उससे मन प्रभावित होता है। उसीसे बाह्य वस्तुओंका प्रत्यक्षीकरण होता है। परंतु ऐसा माननेपर 'एक मोनाड दूसरे मोनाडोंसे प्रभावित नहीं होता' यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। इसलिये वह प्रक्रिया ठीक नहीं। घड़ीके समान परस्पर सम्बन्ध न रहनेपर भी समान क्रिया हो सकती है—यह उपपत्ति तो दी ही जा चुकी है। इसलिये आत्मनिष्ठ घटनाका ही अनुभव होता है। बाह्यानुभूति तो माया ही है। काम, संकल्प आदिके समान बाह्य वस्तु भी मानस (मानसिक) ही है। मनुष्य-शरीर असंख्य मोनाडोंसे संघटित है। इसका नियामक मन या आत्मा एक ही मोनाडसे बना है। विश्वके सम्बन्धमें मोनाडोंका विचार समानरूपसे स्पष्ट नहीं होता।

अग्निसे दो हाथकी दूरीपर स्थित व्यक्तिको उष्णताकी अनुभूति होनेपर प्रतीत होता है कि औष्ण्य अग्निका गुण है। उससे भी अधिक निकट जानेपर औष्ण्यकी अभिवृद्धि हो जानेपर देहमें पीड़ा भी होने लगती है। वह संनिधान या नैकट्यका ही गुण हो सकता है, अग्निका नहीं। पीड़ा तो उष्णताका ही उत्कट रूप है। अतः औष्ण्य अनुभूतिविशेष ही हुआ, अग्निका गुण नहीं। कुछ कीटाणुओंकी टाँगें इतनी सूक्ष्मतम होती हैं कि वे सूक्ष्मवीक्षण-यन्त्रसे ही देखी जा सकती हैं परंतु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उन [कीटाणुओं] को भी अपनी टाँगें सूक्ष्मवीक्षणयन्त्रसे ही ज्ञात होती हैं। इसलिये द्रष्टाके मनके गुणोंके अनुसार ही सूक्ष्मता या दीर्घता प्रतीत होती है। इसीलिये कीटाणुके मनके लिये दृश्य कुछ और है, हमारे मनके लिये दृश्य कुछ और है। किंतु इतने मात्रसे उस टाँगकी लम्बाई दो प्रकारकी नहीं हो जाती। परंतु सिद्ध यह होता है कि परिमाण दृष्टिका गुण है, दृश्य वस्तुका गुण नहीं। कारण, वह द्रष्टाके मनसे सापेक्ष है। जो आपाततः गुण प्रतीत होते हैं, विचार करनेपर वे मनकी अनुभूतिके

अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाते। दर्शन, श्रवण आदिके स्वरूपका विचार करनेपर भी यही निश्चय होता है। जैसे—वस्तुओंकी आलोककिरणें स्नायुओंके सूक्ष्म दृष्टिस्तरोंपर पड़ती हैं। उससे स्नायुओंमें गति उत्पन्न होती है। उससे मस्तिष्कगत कणोंमें स्पन्दन उत्पन्न होता है। उसीसे किसी प्रकार चेतना उत्पन्न हो जाती है। यही वस्तुदर्शन कहलाती है। इसी प्रकार शब्दका, जो वायुमण्डलीय स्पन्दनविशेष है, कर्णशष्कुलियोंसे सम्बन्ध होता है, जिससे मस्तिष्क प्रभावित होता है। उससे मस्तिष्कस्थित स्नायु-कणोंमें गतिसमूह उत्पन्न होता है, उससे चेतना। इसीको 'श्रवण' कहते हैं। मस्तिष्क गहरे तमसे आच्छन्न कमरे-सरीखा है। उसमें एक सुदीप्त पट है, जिसका दीपन करनेवाली चेतना है। अनुभूयमान बाह्य विषय इन्द्रियोंको उत्तेजित करते हैं और वे मस्तिष्कगत स्नायुओं-को उत्तेजित करती हैं। उससे उत्पन्न चेतनाके द्वारा उद्दीप्त हुए पटपर वस्तुकी प्रतिकृतियाँ अभिव्यक्त हो जाती हैं। 'वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है, इसका अर्थ यह है कि वस्तुओंके चित्र—प्रतिकृतियाँ—मस्तिष्कस्थ प्रदीप्त पटपर व्यक्त होती हैं। चेतनाके द्वारा उज्ज्वलित पटपर प्रतिफलित वस्तुकी प्रतिकृति ही ज्ञान है।

सांख्य योग तथा वेदान्तके मतानुसार इन्द्रियोंद्वारा प्रत्युपस्थापित शब्दादि-विषयाकाराकारित वृत्तिसे युक्त अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित असङ्ग पुरुषका अपने प्रतिबिम्बके साथ तादात्म्याभिमानके द्वारा विषयोपरागाभिमान उत्पन्न होता है। जैसे जपाकुसुमसे उपरक्त हुआ स्फटिक स्वनिष्ठ प्रतिबिम्बमें अपना आकार समर्पित कर देता है। तथा च वृत्तियुक्त अन्तःकरणमें स्थित विषयाकारताका प्रतिबिम्बमें भान होता है। इसलिये प्रतिबिम्ब भी रक्त हो जाता है और उसके तादात्म्याभिमानसे बिम्ब भी अपने आपको रक्त मानता है। दर्पणगत मालिन्यके कारण दर्पणान्तर्गत प्रतिबिम्बमें भी मलिनता प्रतीत होती है। प्रतिबिम्बके साथ तादात्म्याभिमानवान् होनेके कारण 'मेरा मुख मलिन है' यह समझकर बिम्ब भी चिन्तित होता है। उसी प्रकार विषयोपरक्त अन्तःकरणमें पुरुषका प्रतिबिम्ब है, अतः उस प्रतिबिम्बके साथ तादात्म्याध्यास (अभेदाध्यास) के कारण बिम्बमें भी विषयोपरागका अभिमान होता है। इस तरह असङ्ग स्वप्रकाश चेतनसे विषयोपरागद्वारा विषयका प्रकाश होता है।

ज्ञाताका मन प्रथम पदार्थ है, बाह्य वस्तु द्वितीय तथा चेतनोज्ज्वलितपट-प्रतिबिम्बित चित्र या प्रतिकृति तृतीय। मन प्रतिकृतिको तो जानता है, पर बाह्य वस्तुको नहीं; क्योंकि प्रथम एवं तृतीय द्वितीयके बाधकके रूपमें उपस्थित हैं। ऐसी दशामें प्रश्न उठता है कि फिर द्वितीयका अस्तित्व माना जाय या नहीं। यदि द्वितीय जाना ही नहीं जा सकता तो फिर उसीसे तृतीय उत्पन्न कैसे हो जाता है, यह

वाचोयुक्ति भी संगत मालूम होती है। अन्य लोगोंका कहना है कि बाह्य वस्तु अनुभूतिके कारणके रूपमें मान लेना चाहिये, क्योंकि उसके बिना अनुभूतियोंमें वैचित्र्य उपपन्न नहीं होता। औरोंका कहना है कि वासनाओंके वैचित्र्यसे ही उन अनुभूतियोंके वैचित्र्यकी उपपत्ति दी जा सकती है। कुछ लोगोंका कहना है कि यद्यपि विज्ञानके अतिरिक्त और कुछ अनुभवका विषय नहीं होता, तथापि विज्ञानके वैचित्र्यकी उपपत्तिके लिये जब उसे मान लेना पड़ता है, तब स्वातन्त्र्येण भी उसकी कहीं सत्ता होगी ऐसा मान लेना चाहिये। बौद्धोंमें कोई-क्षणिक बाह्य और आन्तर दोनों पदार्थ मानते हैं। कुछ लोग आन्तरको प्रत्यक्ष और बाह्यको अनुमेय कहते हुए आन्तर विज्ञानमें विचित्रताकी उपपत्तिके लिये अनुमेय बाह्य पदार्थ मानते हैं। कुछ लोग वासना-वैचित्र्यसे ज्ञान-वैचित्र्य मानते हैं। इसलिये बाह्य पदार्थका अस्तित्व नहीं स्वीकार करते।

बर्कलेका (१६८५–१७५३) मत है कि 'औष्ण्य (उष्णता)के समान ही रूप, संस्थान, गुरुत्व आदि भी 'मानस' भाव ही हैं, इसलिये उनमें भी औष्ण्यसे कुछ वैशिष्ट्य न होनेके कारण कोई भेद नहीं। इसी प्रकार वस्तु गुणात्मक ही है। गुणोंके न रह जानेपर वस्तु रह ही नहीं जाती और गुण विज्ञानके अतिरिक्त कुछ नहीं है।' भारतीय वेदान्तानुसार भी वस्तुस्थिति ऐसी ही है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि गुणोंके अभावसे पृथ्वीतत्त्व कुछ मनोमात्र ही तो रह जाता है। परमेश ज्ञानमय होनेके कारण व्यवहारमें सब वस्तुओंका यथायोग्य उपयोग हो जाता है, परंतु विचारसे उनका बाध हो जाता है; अतः अविचारितरमणीयता भी है। ईश्वरकी कल्पनाके विषय पदार्थ 'व्यावहारिक' और 'धारणाविषय' कहे जाते हैं और हमलोगोंके कल्पित पदार्थ 'प्रातिभासिक' और 'कल्पनामात्र'। यही भेद है। ब्रह्मसे भिन्न सब कुछ दृष्टिसृष्टिमात्र है।

भौतिकवादी न तो परमेश्वरको ही मानते हैं, न चेतनको ही स्वतन्त्र मानते हैं। अतः उनके मतमें तो यह सारा ही दर्शन बाधित हो जाता है। उनके मतमें विज्ञान-सिद्ध पदार्थका भी अस्तित्व है ही। मन अथवा चेतना पदार्थोंके गुण ही हैं।

काण्ट (ई० १७२४-१८०४) दार्शनिक तथा गणितज्ञ था। उसकी 'प्रकृतिका साधारण इतिवृत्त' और 'ऊर्ध्वलोक-सिद्धान्त' नामकी पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। उसने ह्यूमके अज्ञेयवादसे विज्ञानका उद्धार किया और धर्मकी भी रक्षा की। उसके मतमें सभी वस्तुएँ दो प्रकारकी होती हैं—पारमार्थिक तथा प्रातिभासिक। इसलिये सामान्य व्यक्तिको वस्तुका यथावत् ज्ञान नहीं होता। उसके मतमें 'मनसे संलग्न कुछ कारण होते हैं, जिनसे युक्त मनके द्वारा वस्तुएँ कुछ दूसरे ही प्रकारकी जानी जाती हैं। जैसे सहज नीले उपनेत्रसे युक्त चक्षुके द्वारा सब वस्तुएँ नील ही प्रतीत होती हैं, वैसे ही कुछ हेतुओंसे युक्त मनके द्वारा देश-कालमें व्याप्त ही

वस्तुएँ प्रतीत होती हैं। अनुभूतिमें जिनकी प्रतीति होती है, उससे पहले रूपादिहीन वस्तुएँ ही प्रतीत होती हैं।' सहज नीले उपनेत्र लगा लेनेके समान स्वतःसिद्ध ज्ञानरूपी साँचेसे वस्तुएँ जब मस्तिष्कमें जाती हैं, तब देश-कालादिसे सम्बद्ध ही प्रतीत होती हैं—यह हम कह आये हैं। 'यहाँ', 'वहाँ', अथवा 'सर्वत्र' किंवा 'इस समय', 'उस समय' अथवा 'सर्वदा'—इस प्रकार सभी वस्तुओंका अवबोध देश-कालसे आबद्ध ही होता है। काण्टके अनुसार मनमें यही स्वतःप्राप्त ज्ञानका रूप है।' ऐसे ही मनःसंलग्न सहज उपनेत्रके समान अन्य कारणोंसे ज्ञान होनेका उस (काण्ट) का सिद्धान्त भी समझ लेना चाहिये, जिससे गुण, परिमाण, पदार्थ, कार्य और कारणके सम्बन्धोंका भान होता है। 'जो भी वस्तुएँ जानी जाती हैं, उनमेंसे प्रत्येक पदार्थ परिमाणयुक्त है। उनमें कुछ गुणयुक्तोंकी दृष्टिसे कार्य हैं, कुछकी अपेक्षासे कोई कारण है। ज्ञानसिद्धान्तानुसार अनुभूयमान वस्तुओंमें मनके साथ मानसिक भाव भी संयुक्त हो जाते हैं। अतः ज्ञात वस्तु सम्मिश्रित ही होती है शुद्ध नहीं। सहजप्रत्ययरूप रूपहीन पदार्थ ज्ञानसिद्धान्तसे संस्पृष्ट होकर विज्ञात होता है और 'यह मनुष्य है' 'यह पशु है' इत्यादि रूपसे प्रत्यभिज्ञात होता (पहचांना जाता) है। इसीसे अनुभव विज्ञान बनता है। उसके मतमें प्रतीयमान जगत्का नाम 'फेनोमेना' है और वस्तुभूत जगत्का 'नूमेना' प्रथम वर्कलेके सिद्धान्तसे सम्मत है, द्वितीय उससे भिन्न।

समस्त व्यवहार संकल्पमूलक ही हैं। तर्क, गणित आदिके नियम भी संकल्पात्मक ही हैं। जैसे दो और तीन मिलकर पाँच होते हैं—यह गणितका नियम है। कार्य सदा सकारण होता है। आम्र स्वयं भी और स्वयंसे भिन्न भी—यह सम्भव नहीं, यह तर्क भी उसी ढंगका है। ये भाव मानस ही हैं क्योंकि जिनके मनका संघटन भिन्न प्रकारका होगा, उनके इस विषयमें विचार भी भिन्न प्रकारके हो सकते हैं। इसलिये हमारी धारणाके अनुसार ही हमारा जगत् है। परंतु हमारे विचारोंसे वस्तुव्यवहार भी प्रभावित होता है, इस विश्वासका कोई कारण नहीं है। तर्क और अनुभवके मध्यसे विज्ञान प्रवृत्त होता है। गणितके समान विज्ञानमें भी तर्कका स्थान है। भेद इतना ही है कि विज्ञान अनुभवसे तर्ककी परीक्षा करता है और गणितका परिणाम अपरीक्षणीय ही रहता है, क्योंकि उसकी सत्यता छिपी नहीं रहती। इन्द्रियानुभूतिमें भी वैसी जटिलता नहीं है, किंतु तब गणितके तर्कोंका अनुभूतिके क्षेत्रोंमें प्रयोग कैसे हो, यह समस्या तो है ही। वैज्ञानिकी प्रक्रिया तो यह है। उसमें तर्कसिद्ध ज्ञान वस्तुव्यवहारमें प्रयुक्त होता है। जैसे मध्याकर्षण-नियमके आविष्कारसे वस्तुव्यवहारके सम्बन्धमें भविष्यवाणी की जाती है और वैसा ही घटित भी होता है। तर्कसिद्ध वस्तु प्रयोगमें भी कैसे सत्य होती है। यह समस्या है। जिन वस्तुओंका इन्द्रियानुभूतियोंसे ग्रहण

किया जाता है तथा जिनका बुद्धिसे ग्रहण किया जाता है, उनमें अन्तर स्पष्ट है। कुछ वस्तुओंकी दो-दो जोड़ियाँ बालकके द्वारा गिनी जानेवाली बुद्धिसे दो-दो चार होते हैं, यह व्यापक सत्य है। व्यापकधारणा विशिष्ट इन्द्रियानुभूतियोंसे भिन्न पृथक् ही हैं, कारण वह रूप, प्रयोग आदिसे भिन्न हैं। यहाँ प्रज्ञावादी तो इन्द्रियानुभूतिके विषयका ही अपलाप कर देते हैं। कार्यकारण-सम्बन्धमें बँधे होनेके कारण एक वस्तुके विज्ञानसे ही सब विज्ञान हो जाता है, क्योंकि वही अवश्यंभावी परिणाम है। उनके मतमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका अस्तित्व घटनामात्र हो।'

डार्विनका (१८०९–१८८२) मत है कि 'इन्द्रियोंसे पृथक् विचारशक्ति है ही नहीं, इसलिये इन्द्रियानुभूतिके अतिरिक्त विचार कुछ है ही नहीं।' उसके मतमें 'उन सूक्ष्म तन्तुओंका संकुचन, गतिविशेष अथवा रूपान्तरसे परिवर्त्तनविशेष ही ज्ञान है, जिनसे इन्द्रियोंका निर्माण होता है।' विचारका ही दूसरा पर्याय इन्द्रिय गतिविज्ञान है। स्मृतिशक्ति, कल्पना यदि जीवगति नहीं तो और क्या हो सकती हैं? यदि उसे वस्तुओंका चित्र या प्रतिकृति कहा जाय तो वह कहाँ है, जहाँ सभी वस्तुओंका संग्रह शक्य हो? सामान्यतया इन्द्रियानुभूति-विश्वासियोंके मतमें कोई आत्मा है, जिसके द्वारा बाह्य वस्तुएँ प्रतिकृतिके रूपमें ग्रहण की जाती हैं।

डार्विन, हक्सले प्रभृति वैज्ञानिकोंने आत्मवादका खण्डन कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि 'वस्तुओंके इन्द्रिय-संनिकर्षसे स्नायुओंद्वारा शरीरमें जो क्रियाविशेष उत्पन्न होती है, उसीसे विचारका जन्म होता है।' इन्द्रियाँ और उनका विषयोंके साथ संनिकर्ष एवं मस्तिष्क-स्नायुओंपर तज्जन्य प्रभाव सभी अचित् (जड) होनेसे वे स्वयं अपना ही प्रकाश नहीं कर सकते, तो फिर दूसरोंकी तो बात ही क्या? अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति होती है, यह सिद्धान्त भी असिद्ध है, जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है।

काबानी (१८५२–१९३५) का कहना है कि 'मानवेन्द्रियोंमें बाह्य वस्तुओंकी क्रिया-प्रतिक्रिया आदिके द्वारा जो प्रभावोत्पादन होता है, वही ज्ञान है। अनुभव ही जीवन है। घटनावलियोंकी अद्भुत श्रृङ्खलाओंसे इसका अस्तित्व है। सभी वृत्तियोंके द्वारा अपने विकाससे किसी आवश्यकताकी पूर्त्ति ही की जाती है और परस्परके अनुसार अभ्यास बढ़ानेवालेके प्रयोजनोंकी निवृत्ति भी हो जाती है। बाह्य वस्तुओंके घात-प्रतिघातका परिणाम ही मानवजीवनका अस्तित्व है।

हलवांशने 'प्रकृति-प्रथा' नामक पुस्तकमें फ्रांसीसी भौतिकवाद प्रकाशित किया है। उसमें दीदेरो, वफो, दकेसी, हेल्वेशियस इत्यादिका मत संगृहीत है। उसके अनुसार 'दुःखका मूल प्रकृतिका अन्यथाज्ञान ही है। रूढ़िपाशमें बँधे हुए प्रकृतिके अध्ययनसे विमुख लोगोंका प्रेत-पिशाचादिमें अन्धविश्वास ही दुःखका मूल है। प्रकृतिके अध्ययनसे उसका उच्छेद (कर डालना) आवश्यक है।

सत्य एक ही है और वह सुखरूप है। भ्रमवशात् ही उद्धृत पुरोहितों तथा राष्ट्रोंने जातियोंका बन्धन बनाया और भीषण मृग-तृष्णामय धर्मोंके शिकार बने। अन्यथा-ज्ञानोंसे ही लोग घृणा तथा क्रूर दमनके भागी बनते हैं। इसलिये अन्धविश्वासका अपनयन और वस्तुतत्त्वज्ञान नितान्त आवश्यक है। जीव और उसे प्रभावित करनेवाले पूर्ण प्रकृतिके अंश हैं। अप्राकृत पुरुष कल्पना-प्रसूत ही है। मानव भौतिक ही है। विशिष्ट-सङ्घटनका परिणाम होनेके कारण उसकी विशेषता है। वस्तु तथा उसकी गतिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। कार्यकारण-सम्बन्धकी अनन्त शृङ्खला ही संसार है। वस्तुओंमें परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाकी परम्परा चलती ही रहती है। विचित्र गुणों एवं संयोगोंसे वस्तुविशेष-की अभिव्यक्ति होती है।'

सुकरात, अफलातून, अरस्तू, काण्ट आदिके दर्शन ही इस पक्षका खण्डन हैं। सुख अवश्य पुरुषार्थ है, परंतु क्षणभङ्गुर नहीं, अपितु अनन्त एवं शाश्वत भी है और वही पुरुषार्थ है। प्रकृति और प्राकृत प्रपञ्चका जो भान है, जिसके अनुग्रहसे प्रकृति और प्राकृत प्रपञ्च प्रस्फुरित होता है, उसको प्रकृतिपार या प्रकृतिसे अतीत कहना अनिवार्य है। चक्षुका द्रष्टा चक्षुसे अतीत है, यह निर्विवाद है। महान् उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये सूक्ष्म, आवश्यक नियम अपरिहार्य होते हैं। अतएव वे नियम उद्धृत राजाओं और पुरोहितोंद्वारा निर्मित नहीं हुए, अपितु अब्भक्ष, वायुभक्ष, कन्द-मूल-फलाशी, वल्कल-वसनधारी, अरण्य-वासी, शान्त, ऋतम्भरा प्रज्ञावाले, महातपा महर्षियोंद्वारा आविष्कृत हुए हैं।

बर्कले (१६८५-१७५३) भौतिकवादियोंके विरुद्ध है। उसके मतमें 'सब कुछ संकल्पमात्र ही है भौतिक नहीं। इसकी अनुभूतिका मूल ईश्वर है, कारण उसी-की अनुभूतिमें सबकी अनुभूतिका अन्तर्भाव हो जाता है। संकल्पोंके परस्पर सम्बन्धका नियामक ईश्वर ही है। उसीसे वस्तुओंके भी सम्बन्धका नियम प्रतीत होता है। जिह्वासे दन्तस्पर्श होते समय 'मैं दन्तस्पर्शवान् हूँ' यह प्रतीति होती है। प्रतीतिके अतिरिक्त दाँतोंका अस्तित्व नहीं ही है। किसी काष्ठका अंगुलियोंसे स्पर्श करनेपर काठिन्य, चिक्कणता और शैत्यका अनुभव होता है। यहाँ अनुभूतिसे भिन्न बाह्य वस्तु कुछ भी नहीं है। जैसे सुवर्णका पीत रूप और विशिष्ट गुरुत्व होता है और दोनोंका सहज साहचर्य भी होता है, परंतु उनका कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार वे लोग घटनामात्रका अपलाप कर देते हैं।'

इन्द्रियानुभूतिवादियोंका कहना है कि 'बुद्धिसे किसी भी विषयका अस्तित्व नहीं जाना जाता। वास्तविकताके प्रत्यक्षीकरणसे ही अस्तित्वावगम होता है।' जैसे प्रज्ञावादियोंके मतमें प्रत्यक्षानुभूतिका स्थान नहीं है, वैसे ही प्रत्यक्षानुभूति-वादियोंके मतमें व्यापक सिद्धान्तोंका भी स्थान नहीं है, जिन व्यापक सिद्धान्तोंके

लिये दृश्य वस्तुओंका एकत्रीकरण, उनका पारस्परिक सम्बन्ध-स्थापन तथा तुलनात्मक आलोचना होती है। इसलिये इन्द्रियानुभूतिको सत्य माननेपर बुद्धिप्राप्त ज्ञान ही असम्भव है। यदि प्रज्ञावाद सत्य हो, तो इनका ज्ञान असम्भव है।

ज्ञानका विषय कुछ है। परंतु यह भी सत्य है कि अनुभूतियोंमें बुद्धि प्रयुक्त होती है। उसके परिणामका भी अपने जगत्‌में प्रयोग होता है। परंतु उभयवादियोंके सामञ्जस्यकी समस्या तो वैसी ही रह जाती है। इस विषयमें काण्टका कहना है कि 'अनुभूतिका विषय अकृत्रिम नहीं है। इसलिये वस्तुतत्त्व अनुभवसे गृहीत नहीं होता, किन्तु ज्ञानप्राप्तिकी क्रियासे परिष्कृत देशकालादि-सम्बद्ध ही वस्तुका ग्रहण होता है। इससे यह तो सम्भव है कि वस्तु उन नियमोंका पालन करे, जिन नियमोंसे वस्तु बुद्धिसे मण्डित होती है।

यदि भौतिकवादके अनुसार प्रकृतिको क्रियाशील और ज्ञानको अक्रिय माना जाता है तो ज्ञानमें व्यवस्थापकत्व कैसे बन सकता है? काण्ट आदिके ज्ञानका रचनात्मक कार्य-कर्तृत्व इस दृष्टिसे होता है कि मनस या सर्वमनस ही ज्ञान है, भारतीय वेदान्तकी दृष्टिसे मन स्वयं ही भौतिक कार्य है, उसकी उत्पत्ति होती है और वह व्यापारवान् होता है, सक्रिय तो है ही। इंगलिश-फ्रेंच भौतिकवादियोंका यह मत भी ठीक नहीं कि वस्तुका अस्तित्व विचार कर्ताके अस्तित्वसे पहले है, विचारकर्ता इसकी अनुभूति प्राप्त कर सकता है। यदि आत्मा भूतका ही परिणाम है तब तो सुतरां कार्य भूत आत्माके पहले कारणरूप भूतका रहना ठीक ही है। परंतु जडभूतोंके किसी परिणाममें चेतनता या विचारकर्तृता किसी भी प्रमाणसे नहीं सिद्ध हो सकती, हाब्सके विचार भी इस सम्बन्धमें भौतिकवादी-ही हैं। भौतिकवादी भूतपरिणामको ही ज्ञान मानते हैं, अतएव ज्ञानका उद्‌गमस्थान उनकी दृष्टि से इन्द्रियग्राह्य रूपोंके मूलभूत ही हैं। किंतु अध्यात्मवादी जडभूतोंके अतिरिक्त आत्माको ही ज्ञानका उद्‌गमस्थान मानते हैं। वह आत्मा नैयायिक, वैशेषिक आदिके अनुसार ज्ञान-गुणवाला है, कुछके मतानुसार ज्ञान-स्वरूप होकर ज्ञानधर्मक है और कुछके मतानुसार अखण्ड नित्य बोधस्वरूप है। उससे ही सर्वभूतों एवं भूतप्रकृतिकी उत्पत्ति होती है, उससे भौतिक अन्तःकरण मन आदि उत्पन्न होता है, उसीसे साभास वृत्तिरूप अनित्य ज्ञान उत्पन्न होते हैं। परंतु इन सबसे पृथक् अखण्ड स्वतः सिद्ध नित्यबोध है, जिससे अनित्य ज्ञानोंकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय आदिका बोध होता है।

हेगेल-दर्शन

हेगेलने (१७७०–१८३१) काण्टकी वस्तुस्वरूप धारणाका खण्डन किया और बतलाया कि 'वस्तुको उसके आवेष्टन गुणों और अवस्थाओंसे अलग करके देखना

ही वस्तु स्वरूपकी धारणा है। परंतु ऐसा सम्भव नहीं। अतः वह ज्ञानसे परे है।' हेगेलके जगत्का भी स्रष्टा मन ही है, काण्टके असल जगत् एवं दृश्यमान जगत्के द्वित्वका भी इसने खण्डन किया है। स्पिनोजाके समान हेगेल भी आत्मा-मन और भूतको अभिन्न ही मानता है। अर्थात् आत्मासे अभिन्न मन एवं मनसे अभिन्न भूत हैं। उसके अनुसार 'पूर्णतत्त्व ही सब कुछ है, दृश्यमान जगत् उसीका अङ्ग है। किसी वस्तुको समझनेके लिये दूसरी वस्तुओंसे तुलना आवश्यक होती है। जैसे एक मुर्गीका अण्डा गेंदसे कम गोल है, चमड़ेसे अधिक टूटनेवाला है, गौरैयाके अण्डेसे बड़ा है। इस तरह सभी घटनाओंको मिलाकर ही वस्तुविशेष बनती है। अतः दूसरी वस्तुओंसे इसके सम्बन्ध इसकी प्रकृतिको बताते हैं। साथ ही दुनियाकी सभी वस्तुओंसे भी इस अण्डेका सम्बन्ध है। भले ही यह सम्बन्ध समतासे हो या विषमतासे। इसलिये एक अण्डेको पूर्णरूपसे जाननेके लिये हर विद्यमान वस्तुका ज्ञान होना चाहिये जो कि अल्पज्ञ प्राणीके लिये असम्भव ही है। अतः भेद असत्य है, एक ही महान् वस्तुके सब अङ्गोपाङ्ग हैं। यही बात विचारोंके सम्बन्धमें भी है। किसी सत्यके अस्तित्वके प्रकाशके साथ-साथ उसके विपरीत असत्यके अस्तित्वका भी प्रकाश होता है। शङ्ख श्वेत है, इस प्रकारकी घटनाके विवरणके लिये ही यह सत्य नहीं किंतु सिद्धान्तोंके विचारके लिये भी यही सत्य है। जैसे स्वतन्त्र इच्छाके ही सिद्धान्तको देखें, अपनी इच्छाके अनुसार काम करनेकी स्वतन्त्रता हमें नहीं है। हमारा कार्य पूर्वनिर्धारित है। घटनावश उस कार्यको करनेके लिये हम बाध्य हैं। इसे ही 'पूर्वनिर्धारणका सिद्धान्त' कहा जाता है। इन सिद्धन्तोंके विपरीत सिद्धान्तके अस्तित्वका अर्थ ही यही है कि कोई भी सिद्धान्त स्वतन्त्ररूपसे पूर्ण सत्य नहीं है। इसलिये वह कहता है कि 'कोई उपाय ऐसा अवश्य होना चाहिये जिससे एक सत्य एवं उसके विपरीत सत्यको मिलाकर व्यापक सत्यकी प्रतिष्ठा हो, जिसमें दोनों आंशिक सत्य मिले हों।' इन आंशिक सत्योंका परस्पर विरोध रहता है, अतः इनके अधूरेपनमें मनका टिकना सम्भव नहीं। इसीलिये मन व्यापक सत्यकी खोजमें बढ़ता रहता है। यद्यपि कारणरूपी सत्यमें विरोधी कार्योंका समन्वय हो जाता है, जैसे मृत्तिकामें घट-शरावादि विविध कार्य अन्तर्गत होते हैं, तथापि मृत्तिका भी स्वयं कार्य है, अतः अन्तिम (अधिष्ठान) सत्यपर जबतक मन नहीं पहुँचता, जहाँ किसी भी आंशिक सत्यका विरोध विलीन हो जाता है तबतक आंशिक सत्योंको मिलाकर एक व्यापक सत्यमें परिणत करनेकी क्रिया जारी रहती है। यह अन्तिम सत्य ही सब कुछ है और वह सत्य आन्तर अखण्ड बोधस्वरूप ही है। मन एवं मनद्वारा ज्ञात विषय एवं उनकी विभिन्नताएँ इसके अंदर ही हैं। मन इसी पूर्णका अंशमात्र है। इसीलिये यह विश्वको भी गलत-

रूपमें देख सकता है और अलग वस्तुओंके पुञ्जके रूपमें देखता है। आम तौरपर समझा जाता है कि सत्यता सम्मति या रायका एक गुण है। कोई सम्मति सत्य है यह एक ही वस्तुपर निर्भर है। हेगेल सिवा पूर्णके और किसीको सत्य नहीं मानता। जो कुछ पूर्णसे कम है वह सत्य घटना नहीं, वह दूसरी घटनाओंसे सम्बन्धित है। जिनसे विच्छिन्न करके इसको नहीं समझा जा सकता। इसीलिये विचार एवं विचारका विषय मिथ्या है, परम सत्य अधिष्ठानस्वरूप नित्य बोध ही रहता है।

हेगेलका 'स्वयंगतिविवर्तनवाद' का विचार बड़े महत्त्वका माना जाता है। अरस्तू एवं उसके अनुयायियोंके मतानुसार 'कोई नयी चीज हो ही नहीं सकती; क्योंकि वह एक आनुमानिक प्राथमिक वस्तुसे ही सारे संसारका सूत्र जोड़ लेती है। अरस्तूके अनुसार एक वस्तु एवं तदनुरूप विचार एक ही वस्तु है दो नहीं।' इससे भिन्न हेगेलने कहा कि 'प्रत्येक वस्तुमें एक अन्तर्विरोध है जो उसको गतिदान करता है और इस स्वयं विकासकी क्रियामें वह दूसरी वस्तुके रूपमें परिवर्तित हो जाती है।' हेगेल वस्तुकी अपेक्षा विचारको ही तात्त्विक मानता है। संसारका क्रमविवर्तन उसके मतानुसार विचारका ही क्रमविवर्तन है।

उसके अनुसार प्रथम 'विचारका नामवाद है, इसके साथ ही विपरीत विचार भी वर्तमान रहता है, उसका नाम प्रतिवाद है। इन दोनोंके संघर्षसे जो नया विचार उत्पन्न होता है, उसका नाम समन्वयवाद है। इस समन्वयवादमें पुनः अन्तर्विरोधकी सृष्टि होती है और एक नये संघर्षके परिणामस्वरूप गति उत्पन्न होती है जो एक नये और बृहत्तर समन्वयवादमें लीन होती है। विश्व-लीला इसी विचार-संघर्षकी ही क्रिया है। अन्ततः यह लय होती है पूर्णमें।'

हेगेलके विचार वेदान्तके अद्वैत-दर्शनसे मिलते जुलते हैं। वेदान्तका ब्रह्म अखण्डबोधस्वरूप है, उसीका विवर्त विश्व है, विश्वके पहले भी मन बनता है।

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान्।
समनाङ् मननीशक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥(पञ्चदशी १३।२०)

वह स्वप्रकाश ब्रह्मात्मा किंचित् मननी शक्तिको धारण कर मन हो जाता है। यह भी वेदान्तका ही सिद्धान्त है कि हर एक वस्तु व्यावृत्तरूपसे ही उपलब्ध होती है। अर्थात् अपनेसे भिन्न समस्त वस्तुनिरूपित भेदसे युक्त ही वस्तुका बोध होता है। किसी अल्पज्ञको सम्पूर्ण पदार्थोंका बोध हो नहीं सकता, अतः तन्निरूपित भेदका भी ज्ञान असम्भव है, फिर स्वेतर सर्व वस्तु भिन्नरूपसे किसी भी पदार्थका जानना सम्भव नहीं। इसीलिये घटज्ञानमें व्यावृत्तरूपसे घटका भान होता है, परंतु व्यावृत्ति एवं उसके निरूपक घटातिरिक्त सकल पदार्थोंका बोध है नहीं, अतः अतत्में तद्बुद्धि होनेके कारण व्यावृत्ताकारेण घट-बोध ही भ्रम है, सुतरां उसमें भासित होनेवाला घट भी भ्रम-सिद्ध ही है। विचार या ज्ञानसे भिन्न

वस्तु नहीं। विचार या ज्ञान अखण्ड बोध ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, इस दृष्टिसे वस्तु एवं विचार सबका ही पर्यवसान अखण्ड बोधस्वरूप वस्तुमें ही होता है।

हेगेलका अन्तर्विरोध या द्वन्द्वमानका अभिप्राय क्रमिक विवर्तके स्वरूपका ही विवेचन है। मूल वस्तु अखण्डबोध आन्तरिक वस्तु है। मन: विचार आदि उसके अति संनिहित हैं। अतः उनमें हलचल होनेसे ही विचारान्तर या वस्त्वन्तर उत्पन्न होते हैं। विचार-संघर्षसे विरोधी विचारोंसे सर्वबाध होनेके अनन्तर बाधाधिष्ठान परमार्थ वस्तुका बोध होता है। वहीं सब विरोधों, सब संघर्षोंका अन्त हो जाता है। सुन्दोपसुन्दन्यायसे सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद दोनोंके ही सांख्यों एवं नैयायिकोंद्वारा खण्डित हो जानेपर अनिर्वचनीयता एवं विवर्तकी सिद्धि होती है। इसी तरह जैसे बीजमें अन्तर्विरोधद्वारा उसका विध्वंस होता है तब अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही हर एक कारणमें अन्तर्विरोध होनेके बाद विध्वंस या विकृति आनेपर ही कार्यान्तरका विकास होता है। अव्यक्तका महान्, महान्का अहं, अहंका आकाश, आकाशका वायु आदिरूपसे विवर्त या विकास इसी क्रमसे होता है। सत्त्व-रज-तम तीनों ही गुणोंके विमर्द-वैचित्र्यसे ही सृष्टि होती है। विमर्द भी संघर्ष ही है। निर्विरोध शान्त सम गुणोंसे सृष्टि नहीं होती। विमर्द-वैषम्यसे ही तत्त्वान्तरका विकास होता है। उस तत्त्वान्तरको कारणकी अपेक्षा अनिर्वचनीय कहा जाता है। इन्हीं वस्तुओंको हेगेलने अपनी भाषामें वाद, प्रतिवाद, समन्वय, द्वन्द्वमान, या अन्तर्विरोध आदि शब्दोंमें कहा है।

विचारोंके वाद प्रतिवाद एवं संवादके अनुसार उत्तरोत्तर सत्य वस्तुपर उपनीत होनेके कारण कारणातीत परमार्थ सत्य ब्रह्मकी ओर पहुँच सकते हैं। वस्तुगत अन्तर्विरोध, संघर्षवाद, प्रतिवाद एवं संवादसे उत्तरोत्तर कार्यसृष्टिकी ओर अग्रसर हो सकते हैं। फिर भी यह विवेचनकी एक शैलीमात्र है। इसका सदुपयोग-दुरुपयोग दोनों ही हो सकता है। इसीलिये अन्तिम पूर्णपर ब्रह्मनिर्णयरूप संवादको भी इतर संवादोंके समान वाद बनानेका प्रयत्न भी हो सकता है। इसी तरह अन्तिम कार्यके भी अन्तर्विरोधके क्रमसे पुनः व्यापक कार्यान्तरमें समन्वयका प्रयत्न हो सकता है। यह सब अनवस्था-दोष-दुष्ट होनेसे वैसे ही अनादरणीय है, जैसे अन्तिम मूलको भी मूल होनेसे ही समूल माननेका आग्रह। परंतु सिद्धान्ततः अनवस्था-दोषके कारण अन्तिम मूल अमूल ही माना जाता है। वस्तुतः हर एक तर्ककी अवधि आशङ्का होती है। आशङ्काकी अवधि व्याघात ही होता है। जैसे 'धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात् तर्हि किं स्यात्' धूम यदि वह्निव्यभिचारी हो तो क्या होगा ? इस शङ्काका समाधान होता है 'तर्हि धूमो वह्निजन्यो न स्यात्' यदि धूम वह्निव्यभिचारी हो तो उसे वह्निजन्य नहीं होना चाहिये। यदि कोई इसपर भी तर्क करे तो उसके सामने व्याघातदोष

उपस्थित होता है। अर्थात् कार्य-कारणभाव तो प्रत्यक्ष दृष्ट ही है। दृष्ट व्याघात इस शङ्काकी अवधि है।

'व्याघातावधिराशङ्का शङ्का तर्कावधिर्मतः।'

इस तरह अन्तिम परम सत्य परम संवादको वाद बनाना तथा अन्तिम कार्यरूप संवादको भी वाद बनाकर कार्यान्तरकी कल्पना करना भी अनवस्था एवं दृष्ट व्याघात-दोषसे दुष्ट है। यों तो हेगेलके द्वन्द्ववादको भी वाद बनाकर उसका भी ऐकात्म्यवादमें लय हो जानेकी कल्पना की ही जाती है। जब द्वन्द्ववादके आधारपर अधिनायकवाद, समष्टिवाद, भूतवाद और चेतनवाद-जैसे परस्पर विरुद्ध मत सिद्ध हो सकते हैं तब उसके बलपर तो किसी 'इदमित्थम्' सिद्धान्तका निर्णय असम्भवप्राय ही है। हेगेलके मतानुसार 'राज्य मानवकी सामाजिक प्रगतिकी चरम सीमा है।' इसका अर्थ है कि 'वह संवाद आगे वाद नहीं बनेगा।' परंतु मार्क्सने उसे भी वाद बनाया ही। वह मजदूर-नाथकत्व या समष्टिवादको चरम संवाद कहता है, परंतु रामराज्यवादी जड-चेतन दोनोंको आध्यात्मिक सम्बन्धसे समन्वित करता है तथा राजतन्त्र-प्रजातन्त्र, व्यष्टि-समष्टि वित्तविभाग एवं श्रमविभागको समन्वित करता है। इस तरह अध्यात्मवादपर आधृत धर्म-नियन्त्रित धर्मसापेक्ष पक्षपातविहीन शासन-तन्त्र राज्यको ही अन्तिम संवाद एवं सामाजिक प्रगतिकी चरम सीमा मानता है। इस पक्षमें निश्चित प्रत्यक्षानुमान, अपौरुषेय आगम आर्षशास्त्र एवं परम्परा सभी अनुकूल है। भारतीय अध्यात्मवादमें समष्टि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मा कार्य-कारणातीत ब्रह्मका स्थूल रूप हैं। उसके भीतर समष्टि लिङ्गात्मा हिरण्यगर्भ सूक्ष्मरूप है। उसमें भी आन्तरसमष्टिकारणात्मा महाकारण ईश्वर है और सर्वान्तर सूक्ष्मतम कार्य-कारणातीत शुद्ध ब्रह्म है। महाविराट्की अपेक्षा भी हेगेलका विश्वात्मा बहुत स्थूल एवं संकीर्ण है।

मार्क्स दर्शन

कार्लमार्क्सने (१८१८-८३) हेगेलके द्वन्द्वमानको भौतिकवादसे जोड़ लिया, परंतु मार्क्स मानस या बोधको स्वयंविकास या विवर्त मानता है। इस प्रक्रियाका प्रथम अंश है एक अविभाजित इकाई। यह इकाई दो विरोधी अंशोंमें विभाजित हो जाती है। पुनः इन विरोधोंका समन्वय होकर एक नयी सम्बन्धित इकाईका जन्म होता है। इसी प्रकार सृष्टिका विकास होता रहता है। इन बातोंको ब्रह्मवादमें भी जोड़ा जा सकता है। अविभाजित ब्रह्मका भी दृक्-दृश्य, ज्ञान-ज्ञेयरूपमें विभाजन हुआ। पुनः दोनोंके समन्वयसे ही महदादि प्रपञ्चकी सृष्टि होती है। इसी तरह उत्तरोत्तर कारणका विभाजन, विध्वंस या समन्वयसे उत्तरोत्तर सृष्टि होती है। एक बीजमें धरणि, अनिल, जलके सम्पर्कसे उच्छूनावस्था (अङ्कुरोत्पत्तिके पहले बीजकी फूलनेकी अवस्था) होती है। फिर अन्तर्विरोधसे बीजका विध्वंस या विभाजन होता है, पुनः समन्वय होकर अङ्कुर उत्पन्न होता है। मार्क्स इसी

अन्तर्विरोधको द्वन्द्वमान मानकर कहता है 'यह क्रिया भूतकी ही है मनकी नहीं; मनमें तो भूतकी ही क्रिया प्रतिबिम्बित होती है।'

परंतु वेदान्त-मतानुसार विनाश या विध्वंसको अङ्कुरका कारण नहीं माना जाता; किंतु बीजके अवयव ही अङ्कुरके रूपमें परिणत या विवर्तित होते हैं; क्योंकि कार्यमें बीजके अवयवोंका ही अन्वय दिखायी देता है। अतः विनाश या विध्वंस विकासका कारण नहीं; इसके अतिरिक्त कारण ब्रह्म कार्यरूपमें परिणत होनेपर भी अविकृत मुक्तोपसृप्य ब्रह्म बना ही रहता है। आकाश, वायु आदि भी उन-उन कार्योंके रूपमें परिणत होनेपर भी समाप्त नहीं हो जाते। उनका भी पृथक् अस्तित्व बना ही रहता है। इसके अतिरिक्त हेगेलके यहाँ इस संघर्ष-क्रियाकी सीमा है। हर कार्यमें अन्तर्विरोध या संघर्षसे उत्तम वस्तुका विकास नहीं होता, इसीलिये कोई कार्योंके विनाशसे कोई भी अच्छी चीज़ उत्पन्न नहीं होती। तभी लोग कार्यध्वंससे उद्विग्न होते हैं। वस्तुतः मार्क्सने हेगेलके द्वन्द्वमानका गलत अभिप्राय समझकर दुरुपयोग किया है। किसी कार्यमें भावरूप उसका उपादान कारण एवं रजके हलचलके साथ तमका अवष्टम्भ तथा सत्त्वका प्रकाश भी अपेक्षित होता है, इस तरह कार्योत्पत्तिमें आंशिक संघर्षसे अधिक प्रकाश एवं अवष्टम्भका महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है।

हल्बांश एवं ह्वेल्वेशियस अठारहवीं शताब्दीके भौतिकवादियोंके प्रतीक समझे जाते थे। हल्बांशकी पुस्तक 'प्रकृति-विन्यास' है। उसका कहना है कि 'यदि सत्ताका अर्थ है सच्चा स्वरूप तो हमें वस्तुकी सत्ताका कोई ज्ञान नहीं। प्रत्यक्षावलोकनसे तथा तज्जनित स्पन्दन और विचारोंसे हमें भूतका ज्ञान प्राप्त है। इन्द्रियोंके अनुसार विषमेच्छा—अच्छी या बुरी राय कायम करते हैं। उसकी प्रतिक्रियाके अनुसार उसके कुछ गुणोंका परिचय यद्यपि हमें मिलता है, फिर भी भूतकी सत्ता या सच्चे स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। मनुष्य भूतोंका ही बना है। अतः भूतोंके अतिरिक्त उसका और कोई विचार नहीं है। अतः भूत ही विचारशक्ति-सम्पन्न है। अथवा भूतका परिणाम ही मनन शक्ति है।'

पृथ्वीके सम्बन्धमें उसका अनुमान है कि सम्भव है कि यह एक भूतपिण्ड है, जो किसी नक्षत्रसे विच्छिन्न हो गया होगा। अथवा सूर्यस्थित काले बिन्दुओंके विस्तारका ही परिणाम है अथवा बूझी हुई धूमकेतु होगी।' ऐसे ही वह मनुष्यको भी प्रकृतिकी आकस्मिक उपज होनेकी कल्पना करता है। इस समयके दार्शनिक धर्मके विरोधी थे और बुद्धि एवं अनुभवपर प्रतिष्ठित नीतिके साथ धर्मके सम्बन्धको भयंकर समझते थे; क्योंकि धर्मको वे बुद्धिविरुद्ध एवं नैतिक शिक्षाको कमजोर बनानेवाला मानते थे। हल्बांश वासनाको ही वासना-पूर्तिकी औषध समझता था। यह वासनाओंका दमन अनावश्यक समझता था। उसका

कहना है 'मनुष्यमात्र सुख चाहता है। दुःखसे घबराता है। इसीलिये सुख-साधन भले तथा दुःख-साधन बुरे हैं। कोई सरकार ऐसा कष्ट नहीं उठाती जिससे उसकी प्रजाको न्याय, भलाई और ईमानदारीमें ही सुविधा मालूम हो। इसके विपरीत अन्यायी दोषी बननेके लिये प्रेरित किया जाता है। प्रकृतिने मनुष्यको बुरा नहीं बनाया। सामाजिक व्यवस्था ही इसके लिये जिम्मेदार है।'

वाल्टेयरके मतानुसार 'समाज न्याय-अन्यायकी धारणा विना नहीं रह सकता।' किंतु हलवांश इसमें ईश्वरकी आवश्यकता नहीं समझता। 'न्याय, संयम, उपकार जीवनके लिये लाभदायक हैं, यह सभी समझ सकते हैं।' रूसो कहता है, 'फिर भी अपने सुखके लिये कोई मौतका सामना क्यों करेगा? अतः ऐसे स्थलोंका स्वार्थ सामाजिक स्वार्थ ही समझा जाना चाहिये, व्यक्तिगत नहीं।' १८ वीं शतीके भौतिकवादी समझते थे कि 'भूलसे ही मनुष्यको दुःख होता है, यदि मनुष्य अपने स्वभावपर कायम रहेगा तो सदा सुखी रहेगा।' सियरवेलके शङ्कावाद लक्क, कनडिलाक वर्क आदिके इन्द्रियानुभूतिवादसे भौतिकवादको बड़ा बल मिला, हलवेशियसने भी बताया कि 'मनुष्यकी बुद्धिमें प्रकृतिगत समानता, विचारशक्ति तथा उद्योगकी उन्नतिमें एकता तथा पालन-पोषणकी महान् शक्ति स्वाभाविक गुण है।' इन सबसे समाजवादको बल मिला। सेंट साइमन लूई तथा राबर्ट एडवर्ड लासाल आदिने समाजवादकी रूपरेखा व्यक्त की। यद्यपि ये सभी ईश्वर एवं धर्ममें विश्वास रखते थे।

मार्क्स यद्यपि दार्शनिक विचारोंमें हेगेलका शिष्य था तो भी उसका कहना था कि 'हेगेल सिरके बल खड़ा था। आज मैं उसे पैरके बल खड़ा कर रहा हूँ।' हेगेल एवं मार्क्सके बीच फायरवाखका दर्शन है। इसके कई अंशोंको मार्क्स-ने ग्रहण किया, कईका खण्डन किया। वीटेने लिखा है—ईश्वर मेरा पहला विचार है, ज्ञान दूसरा तथा मनुष्य तीसरा और अन्तिम।' इसपर फायरवाखने कहा है, 'आदर्शवाद एवं भौतिकवादके झगड़ेका केन्द्र है मनुष्यका मस्तिष्क। मस्तिष्क किस प्रकारकी वस्तुसे बना है, यह मालूम हो जाय तब अन्य वस्तुओंके सम्बन्धमें विचार स्पष्ट होते हैं।' उसका यह भी कहना है कि 'अस्तित्व कर्ता है और विचार क्रिया है। विचार अस्तित्वका कार्य है कारण नहीं। अस्तित्व स्वयं मूल है।' वह कहता है, 'आदर्शवादी दर्शनका आरम्भ ही गलत है। सच्चे दर्शनका आरम्भ केवल मैंसे न होकर मैं और तुमसे होना चाहिये। यहाँसे विचार एवं पदार्थ तथा कर्ता एवं कर्मके सम्बन्धको ठीक रूपमें समझ सकते हैं। मैं स्वयं अपने लिये मैं हूँ, परंतु दूसरोंके लिये तुम। मैं एक साथ कर्ता हूँ एवं कर्म भी, मैं अमूर्त्त-सत्ता नहीं। मेरा वास्तविक अस्तित्व है मेरा शरीर ही। अपने समग्ररूपमें मेरी वास्तविक सत्ता है। जो विचार करता है वह अमूर्त्त नहीं, भौतिक अस्तित्व ही कर्ता

है, विचार उसकी क्रिया है। विचार एवं विरोधके अस्तित्वकी समस्याका यही हल है। प्रकृति या भूतोंको दबाकर या मिथ्या कहकर समस्याका हल नहीं हो सकता।' फायरवाखका कहना है कि 'यदि स्पिनोजाके सिद्धान्तसे धर्म विद्याका जंजाल निकाल दिया जाय तो मूलतः यह बहुत सही है।' कहते हैं, आदर्शवादसे नाता तोड़नेके बाद पहले-पहल मार्क्स एवं एंजिल्सने इसी दर्शनको अपनाया था। फायरवाखका कहना था कि 'बाहरी वस्तुकी क्रियाका विषयमात्र बनकर मनुष्य उन वस्तुओंको पहचानता है' परंतु मार्क्सका कहना है कि 'वस्तुके ऊपर अपनी प्रतिक्रियाद्वारा हम उसकी पहचान करते हैं।'

उपर्युक्त विद्वानोंके विचार भारतीय दर्शनोंकी दृष्टिसे बहुत स्थूल हैं। विषयेन्द्रियसंयोगजन्य सुख ही वास्तविक सुख नहीं हैं। अनश्वर सुख आत्मस्वरूप ही है। यों तो दादके खुजलानेमें भी सुखकी प्रतीति होती है, पर क्या उसे कोई बुद्धिमान् सुख मान सकता है? इसी तरह सूक्ष्म विवेचन बिना अस्तित्वयुक्त पदार्थको ही अस्तित्व मानकर उसके कर्ता एवं विचारको कर्म मान लिया गया। अस्तित्व तो वह सूक्ष्म वस्तु है जो विचारमें भी अनुस्यूत है, जिस अस्तित्वके बिना देह एवं देहान्तर्गत उसकी समग्रताके पूरक सभी असत् हो जाते हैं। सर्व विशेषणरहित अस्तित्व ही सर्वत्र समानरूपसे अनुस्यूत होनेके कारण सर्वबीज है, विचारकी सूक्ष्मता उससे अधिक संनिकट है। उसमें ही मैं और तुम सबका अन्तर्भाव हो जाता है। अवश्य ही बहिर्मुख प्राणीको 'मैं' की अपेक्षा 'तुम' अधिक स्पष्ट है। इसीलिये तो भाष्यकार शंकराचार्यने 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयोः' इत्यादि रूपसे तुमसे ही विचार प्रारम्भ किया था। भौतिकवादियोंके मैं और तुम सभी शंकरके युष्मत्प्रत्ययगोचर ही ठहरते हैं, क्योंकि दृश्य अनात्ममात्र युष्मत्प्रत्ययगोचर होता है। निर्दृश्यदृक् आत्मा ही अस्मत्प्रत्ययगोचर भाष्यकारको मान्य है।

मार्क्सने फायरवाखके दर्शनपर टिप्पणी करते हुए लिखा है—'उस भौतिक सिद्धान्तमें जिसके अनुसार मनुष्य परिस्थितियों एवं शिक्षाकी उपज कहा जाता है, इस बातको भुला दिया जाता है कि मनुष्य परिस्थितियोंमें परिवर्तन कर सकता और करता है और शिक्षकको स्वयं शिक्षित होनेकी आवश्यकता रहती है। ज्यों ही इस समस्याका समाधान होता है, इतिहासकी भौतिक धारणाका रहस्य खुल जाता है।' फायरवाख विचारप्रणालियोंके विकासका आधार मानवसत्ताके विकासको ही कहता है। 'मानवसत्ता क्या है' इसका उत्तर देते हुए वह कहता है कि 'मानवसत्ता मनुष्यके साथ मनुष्यके ऐक्यमें उनके परस्पर संयोगमें मिलती है।'

मार्क्स कहता है 'सामाजिक सम्बन्धी समग्रता ही मानवसत्ता है।' पहलेसे इसमें स्पष्टता अधिक है। फायरवाखने पहले घोषणा की कि 'भूत मानस (ज्ञान) की उपज नहीं है, मानस ही भूतकी सर्वोत्कृष्ट उपज है।' उसने हेगेलके द्वन्द्ववादका

भी खण्डन किया था, पर मार्क्सने उसे ग्रहण कर ही अपना द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बनाया। वह जगत्का असली रूप भूतको ही मानता है। जगत्के विचित्र एवं विभिन्न रूप एवं व्यापारभूतकी ही गतिके विभिन्न रूप हैं। इन व्यापारोंके आपसी सम्बन्ध गतिशील भूतके विकासके नियम हैं। इन्हीं नियमोंके अनुसार जगत्का विकास होता है, इसे किसी विकासकर्ताकी आवश्यकता नहीं है। भूतप्रकृति जीवका अस्तित्व भी भूतके अंदर है। प्रथम भूत ही है, मन द्वितीय है; क्योंकि यह भूतसे ही उत्पन्न होता है। उसके अनुसार मनन या चिन्तन-क्रिया भूतकी ही उपज है और भूत ही मस्तिष्कका रूप प्राप्त कर चुका है।

एंजिल्सके शब्दोंमें 'भौतिक अस्तित्व, मनन, प्रकृति और जीवात्माके अस्तित्वका प्रश्न ही दर्शनशास्त्रका मुख्य प्रश्न है। आदर्शवादी जीवात्माको पहले मानते हैं, भौतिकवादी प्रकृतिको। मार्क्स कहता है—'जो भूत चिन्तन करता है उस भूतसे चिन्तनको पृथक् नहीं किया जा सकता। जो ज्ञान प्रयोग एवं अनुभवद्वारा व्याप्त है वही वास्तविक ज्ञान है। इसको बाह्य जगत्से मिलाकर जाँचा जा सकता है। जगत्में कोई अज्ञेय वस्तु नहीं है। जगत् और उसके नियम पूर्णरूपसे जाने जा सकते हैं। यह बात अलग है कि अभी हम पूर्णरूपसे नहीं जानते।'

उपर्युक्त बातोंपर विचार करनेसे मालूम होता है कि यह भी अनुमान है कि मनुष्य सब संसार एवं उसके नियमोंको जान सकेगा; क्योंकि अभीतक सम्पूर्ण जगत्की तो बात ही क्या, एक सूर्यके ही अंदर कितने तत्त्व हैं, इसीका पूरा अन्वेषण नहीं हुआ। एक कोयला या मिट्टीके तेलमें या एक परमाणुमें कितनी शक्तियाँ हैं, इसका भी परिज्ञान पूरा नहीं हुआ। विज्ञानके बलसे आज वैज्ञानिक एक वस्तुको जाननेका दावा करता है, कुछ दिन बाद उसे अपनी भूल भी मालूम पड़ती है। किसी चीजको आज किसी रोगपर लाभदायक समझा जाता है, कालान्तरमें ही उसे ही हानिकारक मान लिया जाता है। फिर स्वेतरसकलवस्तुप्रतियोगी घटको ही आजतक कौन जान सका है? और आगे भी जाननेकी आशा कौन बुद्धिमान् कर सकता है? किसी भी प्रयोग या यन्त्रसे कोई भी सम्पूर्ण प्रपञ्च एवं तद्गत विचित्रताको कैसे जान सकता है? जैसे एक उदुम्बरके भीतर ही रहनेवाला नगण्य कीट बाहरकी वार्ताको नहीं जानता, उसी तरह एक क्षुद्र भूखण्ड तथा ब्रह्माण्डगोलकके भीतरका जन्तु सर्वज्ञ होनेका दावा करे, यह साहसमात्र है। एक तीक्ष्ण संखियाके स्वादका वैशिष्ट्य समझ लेनेके लिये लाखों जीवन समाप्त हो जाना भी पर्याप्त नहीं है, फिर उसके अन्य रस, वीर्य, गुण, विकारादिको समझना, चींटीद्वारा आकाश-परिवेष्टनकी कल्पना-जैसी बात है।

एंजिल्सका यह कहना भी सही नहीं कि 'यदि हम अपनी किसी कल्पनाको

सत्यताका प्रमाण उस वस्तुको स्वयं बनाकर दे सकें, उसको अपनी अवस्थाओंके बाहर उत्पन्न कर उसको अपने व्यवहारोपयोगी बना सकें, तो काण्टके वस्तुस्वरूपका अन्त हो जाता है। कारण, इससे भी उपर्युक्त तर्कका समाधान नहीं होता। मनुष्य अपने नेत्रों, श्रोत्रों एवं तत्सहायक भौतिक साधनोंसे बहुत कुछ जान सकता है सही, परंतु इतनेसे ही वह सब वस्तुओंको जान लेगा—यह नहीं सिद्ध होता; क्योंकि इन्द्रियों और तत्सहायक साधनोंकी भी एक सीमा है। योगज अतिशयता भी उसे लङ्घन करनेमें असमर्थ होती है। अतएव चक्षुसे रूपकी अनुभूति होती है, स्पर्शकी नहीं। श्रोत्रसे गन्धकी उपलब्धि नहीं हो सकेगी, भले ही वैज्ञानिक सहस्रों साधनोंका प्रयोग कर ले। किसी यन्त्रद्वारा सूक्ष्म चक्षु-इन्द्रियको देख सकना भी दुष्कर है। व्यापक नियम है कि द्रष्टासे दृश्यका दर्शन होता है, किंतु दृश्यद्वारा द्रष्टाका दर्शन नहीं होता। चक्षुद्वारा रूप दिखायी देता है, किंतु रूप या चक्षुद्वारा चक्षुका दर्शन नहीं होता, मनसे चक्षुके व्यापारोंकी मन्दता-पटुता आदिका तो बोध होता है, किंतु चक्षुसे मनके व्यापारोंका बोध नहीं होता। मनसे तो मनका पता लग सकता है, परंतु मन एवं अहं सबका भान जिससे होता है उसका बोध—भास्यभूत मन या अहंसे कैसे हो सकता है? सर्वविज्ञाताको किससे जाना जा सकता है—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।' (बृहदा० उप०)

आर्गेनिक केमिस्ट्रीके बलपर अवश्य कई सूक्ष्म रसायनोंका बोध हो सकता है, किंतु इसीसे निर्दृश्य दृक्का भी बोध हो जायगा, यह निरा भ्रम है। हृदय या मस्तिष्कके जिन तन्तुओंको ज्ञानचक्षु कहनेका प्रयत्न किया जाता है, वह भी ज्ञानव्यञ्जक अन्तःकरण वृत्तिके ही व्यञ्जक हैं। ठंडे एवं गर्म तारोंके संयोगसे प्रकाश शक्ति विद्युत् व्यक्त होती है, परंतु 'दोनों तार या उनका संयोग ही विद्युत् है' यह नहीं कहा जा सकता।

एंजिल्सका यह कहना भी ठीक नहीं है कि कोपर्निकसकी सूर्यमण्डलीका तथ्य एक अनुमान था, परंतु जैसे लारियरने गणनाओंसे उसके अस्तित्वका पता लगाया, गालेने खोज निकाला, वैसे ही सर्वज्ञानका अनुमान भी सही निकलेगा; क्योंकि दृश्यद्वारा द्रष्टाके ज्ञानका समर्थन इस उदाहरणसे भी नहीं होता। इतना ही क्यों? ऋषियोंका ज्ञान आजसे कहीं बढ़ा हुआ था, उनके संनिकृष्ट-विप्रकृष्ट, लोक-परलोक, अस्त्र-शस्त्र, विमान आदिके विज्ञानतक अभी भी भौतिकवादी वैज्ञानिक नहीं पहुँचे हैं। वे ऋषि भी सर्वज्ञ होनेका दावा नहीं करते। ब्रिटेनके प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर लोका कहना है कि 'मेरी रायमें इस युगकी सबसे बड़ी खोज यह है कि हम किसी वस्तुके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानते। प्रसिद्ध वैज्ञानिक मिस्टर कैल्डरने भी ब्रिटिश-वैज्ञानिक-विकास-संघके अधिवेशनमें रूपान्तरसे इसी बातको प्रकट किया है। सुकरातका भी ऐसा ही मत था। भर्तृहरिका भी कहना है—

यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
यदा किंचित् किंचिद् बुधजनसकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ॥
(नीतिशतक ८)

अर्थात् जब मैं अत्यन्त नासमझ था तब हाथीके समान मदान्ध होकर अपनेको सर्वज्ञ मानता था; किंतु जब बुधजनोंके अनुग्रहसे कुछ समझने लगा, तब मुझे मालूम पड़ा कि मैं तो निरा मूर्ख ही हूँ और तब ज्वरके समान मेरा सर्वज्ञताका मद भी उतर गया ।

अध्यात्मवादियोंकी आज भी चुनौती है । सब वस्तुका ज्ञान तो दूर रहा, एक घटका भी सम्यक् ज्ञान कोई सिद्ध कर दे । वस्तुतः सत्त्वकी शुद्धतासे ज्ञानमें विशेषता आती है । उपासना एवं योगसे जितनी सत्त्वकी शुद्धता बढ़ती है, उतना ही ज्ञान बढ़ता है । सर्वातिशायी सत्त्व-शुद्धि ईश्वरकी है, अतः पूर्ण सर्वज्ञ वही है । अन्योंमें सर्वज्ञताकी कल्पना होती है, वस्तुतः सर्वज्ञता नहीं होती । इसी प्रकार भूत और मानसकी प्राथमिकताकी बात भी भौतिकवादियोंकी भ्रमपूर्ण है । वस्तुतः भूतसे प्रथम अत्यन्ताबाध्य स्वप्रकाश-सत्का अस्तित्व ही वेदान्त-सिद्धान्त है । उसे भौतिकवादी भ्रमसे मानस कहते हैं । मनको तो अद्वैतवादी वेदान्ती भी भौतिक ही मानते हैं । प्रमाणाधीन प्रमेयकी सिद्धि होती है । बोधाधीन बोध्य तथा उसके व्यवहारकी सिद्धि होती है । सत्ता एवं बोध बिना सब वस्तुएँ ही अस्तित्वहीन होनेसे असत् ठहरेंगी । फिर तत्स्वरूप बोध पहले कि भूत पहले ? मृत्तिका बिना घट रहता ही नहीं । घटके बाहर-भीतर मृत्तिका ही है । फिर मृत्तिका पहले या घट पहले ? इसका क्या उत्तर है ? घट न रहनेपर भी मृत्तिका उदंचनमें है ही । वैसे ही अस्तित्व एक वस्तुमें न सही दूसरी वस्तुमें बना ही रहता है । घटबुद्धि यद्यपि घटान्तरमें हो सकती है, तथापि पटमें घटबुद्धि नहीं होती; परंतु सद्बुद्धि सबमें ही अनुवृत्त होती है । भूत परस्पर व्यावृत्त हैं, परंतु सत् सर्वत्र अव्यावृत्त है । अतः जैसे व्यावृत्त पुष्पोंसे अनुवृत्तसूत्रको पहले ही मानना पड़ेगा उसी तरह व्यावृत्त भूतोंसे पहले ही सबमें अनुवृत्त सत् तथा तत्स्वरूप बोधको मानना अनिवार्य होगा । कोई प्रयोग, प्रयोक्ता एवं प्रयोगफल भी स्वप्रकाश सत्के बिना सिद्ध नहीं हो सकते । फिर बोधके प्रथम भूतको मानना सर्वथा ही निराधार है । वस्तुतः जैसे घटानुस्यूत मृत्तिका सामान्य ही घटविशेष रूपसे उपलब्ध होता है; कटक, मुकुट आदिमें अनुस्यूत सुवर्ण सामान्य ही कटकादि सुवर्णविशेष रूपमें व्यक्त होता है, वैसे ही सर्वप्रपञ्चानुस्यूत सत्सामान्य ही सद्विशेष प्रपञ्चके रूपमें उपलब्ध होता है । अतः वही सर्वप्रथम है ।

द्वितीय परिच्छेद

पाश्चात्य राजनीति

यूनानका राज्यदर्शन

पाश्चात्य राजनीतिपर विचार करते समय सर्वप्रथम उसके प्राचीन यूनानी राज्यदर्शनपर विचारना पड़ता है। वहाँकी सबसे प्राचीन रचनाएँ होमरकृत महाकाव्य 'इलियड' तथा 'ओडेसी' हैं। इनका महाभारतके साथ इतना साम्य है कि सिकन्दरके सैनिकोंको भ्रम हो गया कि 'कहीं महाभारत होमरकी रचनाओंका भारतीय संस्करण तो नहीं है।' उक्त महाकाव्योंमें प्राप्त जीवनदर्शनके अनुसार राजाका स्वरूप सामने आता है। राजा न्यायकर्त्ता था, किंतु तभी जब कोई समस्या सार्वजनिक हितके लिये उठती अथवा कोई प्रपीड़ित व्यक्ति फरियाद लेकर राजद्वारपर आता। अन्यथा नरवधके मामले भी कुलपतियोंद्वारा सुलझा दिये जाते थे। राजा सैन्यशक्तिका प्रधान था। राजाकी स्थिति यद्यपि जनस्वीकृतिपर आधारित थी, फिर भी राजाका व्यक्तित्व उसके अधिकारप्रयोगमें अधिक महत्त्व रखता था।

हेसियड अपने वर्तमानको निकृष्ट तथा अतीतको स्वर्ण-युग मानता था। उसका विश्वास था कि मानव-इतिहासका उषःकाल अत्यन्त सुखमय था। क्रमशः दुःखकी वृद्धि मानववर्गमें होती गयी, जिससे स्वर्णके बाद रौप्य (चाँदी) युग आया। इसके बाद ताम्रयुग तथा अन्तमें लौहयुग आया। अपने समयको वह लौहयुग मानता था।

प्लूटार्कने अपोलोके सात संतोंका उल्लेख किया है, किंतु अर्नेस्ट बार्करके अनुसार इनमें केवल सोलन नामक संत ही ऐतिहासिक है। सोलनने सामाजिक तथा राजनैतिक जीवनमें महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। उसका प्रमुख आधार न्याय एवं दण्ड था। वह एक ही साथ निर्धनोंका मित्र तथा धनवानोंका रक्षक था। उसका युग शोषणका युग था। उसके लिये उसने केवल वैधानिक राज्यकी ही स्थापना नहीं की, अपितु कार्यकारिणीकी अपेक्षा न्यायकी उच्चता एवं राजसत्ताका आधार जनसत्तामें स्थापित किया। तथापि उसका जनतन्त्र न्यायकी सीमाके अंदर ही था। सीधे-सीधे राज्यकी नीति तथा संचालनमें जनताको कोई अधिकार नहीं था। जनता इस बातका ध्यान रख सकती थी कि 'स्वीकृत नियमों तथा परम्पराके अनुसार ही वह शासित हो रही है।'

साफिस्टोंके पूर्व, उपर्युक्त दार्शनिकोंके अतिरिक्त, आयोनियाके भौतिकवादी दार्शनिकोंका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः यूनान विषमताओंका पुञ्ज था। एक ओर गणतन्त्रीय राज्यसंघ तथा दूसरी ओर मेसेडोनियाका विशाल साम्राज्य। एक ओर हेराक्लीटसका पदार्थ-परिवर्तनवाद और दूसरी ओर परमेनाईडीजके द्वारा उसका खण्डन। ये सब विरोधी भाव साथ ही चल रहे थे।

इसी प्रकार यूनानमें जिस समय डायनीशसका परिष्कृतरूप आरफ्यूसवाद बनकर जनप्रिय हो रहा था, उसी समय आयोनियामें उसका विरोधी पक्ष भी उपस्थित हो गया था।

यह नवीन विचारधारा अपने उद्गम आयोनियासे पेरिक्लिसके समयमें अनेक्सागोरसद्वारा एथेन्स लायी गयी थी। इस दार्शनिक विचारकी उत्पत्तिका कारण बार्करके अनुसार 'पूर्वका प्रभाव' है। हेराक्लीटसका सर्वव्यापक तत्त्व अग्नि, जल थे। जिस प्रकार उसके दर्शनमें अग्नि, जल तथा उष्ण एवं शीतकी धारणाएँ थीं, उसी प्रकार समाजके क्षेत्रमें वह ऊँच-नीचका विचार मानता था। वह शुष्क एवं अग्निप्रधान व्यक्तिको श्रेष्ठ, गीले एवं जलप्रधान व्यक्तिको नीच मानता था।

आयोनियाके अन्य दार्शनिकोंकी भाँति पिथागोरस भी अनेक रूपात्मक जगत्‌में एक तत्त्वकी व्यापकता मानता था। किंतु उसका एक तत्त्व अग्नि तथा जल आदिसे अधिक सूक्ष्म 'संख्या' था। 'संख्या' के अस्तित्वमें स्थान (अवकाश) भी सम्मिलित है। इस प्रकार संसारकी प्रत्येक वस्तुका सार संख्या ही है। पिथागोरसके मतसे 'समस्त प्राणियोंकी आत्मा समान है तथा 'जन्मचक्र' में एक मनुष्यकी आत्मा अगले या पिछले जन्ममें कुत्ते, हाथी या किसी जन्तुके देहमें भी हो सकती है। 'जन्म-चक्र' से मुक्ति पानेके लिये साधना और संस्कार अपेक्षित हैं। साथ ही ज्ञानकी महत्ता सर्वाधिक है।'

प्लेटो (अफलातून)

प्लेटोके दर्शनमें दो पक्ष हैं—आदर्श तथा वास्तविक। अपने समयके स्वरूप अध्ययन करनेके बाद वह इस निष्कर्षपर पहुँचा कि 'लोग पतनशील हैं।' उसने एक आदर्श राज्यका चित्रण 'रिपब्लिक' नामक ग्रन्थमें किया, किंतु वह अमानवीय हो गया। इसके अनुसार इस आदर्शके निकट जितना ही पहुँचा जायगा उतना ही कल्याण होगा। इस प्रकार वह आदर्शवादका जन्मदाता माना जाता है। कहा जाता है कि साम्यवाद तथा फासीवादका मूल प्लेटोके दर्शनमें ही था।

वह कहता है 'अच्छे राज्य और अच्छे नागरिकका तात्पर्य एक ही है; क्योंकि आदर्श राज्यके बिना आदर्श व्यक्ति सम्भव नहीं। इसी प्रकार आदर्श राज्य भी आदर्श व्यक्तिके बिना सम्भव नहीं। आदर्श नागरिकका विस्तृत प्रतिबिम्ब आदर्श राज्य है। वह अपने गुरु सुकरातके वाक्य 'सद्गुण ज्ञान है' का कायल था। अतः राज्यमें वह सद्गुणका प्राधान्य मानता था। उसके युगमें तीन वर्ग थे—संरक्षक, सहायक-संरक्षक तथा कृषक-वर्ग। उनको वह ज्ञान (स्वर्ण), मान (चाँदी) तथा वासना (लोहा) मानता था। इन्हींको वह शरीरकी तीन विशेषताएँ भी मानता था।

सद्गुणी जीवनकी स्थापनाके लिये वह साम्यवादकी स्थापना करना चाहता था। साम्यवादी राज्यमें वह सामान्य सम्पत्तिका पक्षपाती था। प्लेटो जब वास्तविक स्वरूपपर आता है, तब वैयक्तिक सम्पत्ति, परिवार-नियम-प्राधान्य कुछ अंशमें मानने लगता है। उसके अनुसार स्त्री-पुरुषके स्थायी (जीवनपर्यन्त) समागमसे लोलुपता बढ़ती है। बालकोंकी देख-रेखका उत्तरदायित्व राज्यपर माना गया, क्योंकि आदर्श राज्यमें ही आदर्श नागरिककी स्थापना हो सकेगी। वह स्त्रियोंको घरकी सीमासे बाहर नागरिक जीवनतक ले आया। उसने उनके समानाधिकारकी स्थापना की।

उसने आदर्श स्थितिके लिये आदर्श शिक्षाकी आवश्यकता बतलायी। उसके मतानुसार '१८ वर्षतक शिक्षा, व्यायाम आवश्यक है; क्योंकि इससे धैर्य, सहनशीलता तथा मनपर प्रभाव पड़ता है। इसी बीच संगीतका भी अध्ययन होना चाहिये; क्योंकि इनके द्वारा मनपर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता तथा आत्मसंयम बढ़ता है। १८ से २० वर्षतक सैनिकशिक्षा, २० से ३० वर्षतक बुद्धिगम्य विषय (गणित, तर्क, ज्योतिष), ३०—३५ वर्षतक दर्शन, ३५–५० वर्षतक समाज-सेवा तथा ५० वर्षके बाद सत्यप्राप्तिके लिये संन्यास, यही उसकी शिक्षाका क्रम था। ऐसी शिक्षासे ही व्यक्ति सद्गुणी बन सकता है।

उसकी राजनीतिका सार तत्त्व है—१–आदर्श राज्य, २–ज्ञानका प्राधान्य, ३–सद्गुणी राज्य, ४–सद्गुणी नागरिक, ५–शिक्षा और ६–साम्यवाद। वह 'सामाजिक तथा आर्थिक' न्याय मानता था। उसके अनुसार 'व्यक्ति योग्यतानुसार कार्य करे और वह वस्तु ले जिसे वह लेनेके योग्य हो। उसे अन्य कामोंमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। न्याय जीवनका क्रम है। न्यायकी विशाल धारामें समस्त जीवन ही आ जाता है।'

अरस्तू

यह यथार्थवादी दार्शनिक था। अपने युगके लगभग १५० संविधानोंका अध्ययन करके इसने 'पालिटिक्स' नामक ग्रन्थ लिखा था। इसने प्लेटोंकी आगमन-पद्धतिके स्थानपर निगमन-पद्धतिको स्वीकार किया। इसके अनुसार अध्ययनके बाद आदर्शोंकी स्थापना करनी चाहिये। उसने राजनीतिक तथा आर्थिक दो पक्षोंसे अध्ययन कर राज्योंको छः भागोंमें बाँटा। राजतन्त्र, उच्चजनतन्त्र, लोकहिताय जनवादको वह प्राकृतरूपमें मानता था। अत्याचार, सामन्ततन्त्र तथा जनवाद (डेमोक्रेसी) को उनका विकृतरूप मानता था। इस प्रकार नियमनिर्धारण तथा संविधानोंका वर्गीकरण—ये दो देनें उसकी हुईं। तीसरी देन उसकी 'शक्ति-

पृथक्कीकरण है। इसके अनुसार व्यवस्थापन, शासन तथा न्याय—इन तीनोंको उसने अलग किया। ४—प्लेटोने विवेकको प्रधान माना था। यद्यपि आगे चलकर उसने भी नियमपर जोर दिया, किंतु अरस्तूने नियमका ही प्राधान्य माना है, जिनमें परम्परागत तथा नैसर्गिक नियम मुख्य है। सत्ताधारीको इनके अधीन होना चाहिये। ५—आदर्श राज्य वह है, जिसमें मध्यम मार्गीय व्यवस्था हो—न ज्यादा गरीब न ज्यादा अमीर। प्लेटोने ५०४० व्यक्तियोंके राज्यको आदर्श राज्य माना था; किंतु अरस्तूने माना कि आदर्श राज्यमें गुणात्मक तथा मात्रात्मक दोनोंका संतुलन होना चाहिये। ६—राजनीति शास्त्रको इसने धर्मसे स्वतन्त्र किया, जब कि प्लेटोने आचार-शास्त्रपर आधारित राजनीतिको ही श्रेष्ठ तथा उपयुक्त माना था। उसके अनुसार सद्गुणी नागरिकके लिये सद्गुणी शासन आवश्यक था। अरस्तूने राजनीतिकी प्रधानता दी; यद्यपि उसका भी लक्ष्य आदर्श नागरिक-निर्माण ही था। वह राजनीतिको शास्त्र ही नहीं, कला भी मानता था। उसके अनुसार 'राजनीति शास्त्र' उसे कहते हैं 'जो राजनीतिक बन्धनके आधारका विश्लेषण करे।'

वैयक्तिक सम्पत्ति—अरस्तू वैयक्तिक सम्पत्तिको मानता था। उसका कहना था कि 'मेरी सम्पत्ति वह दर्पण है, जिसमें मैं अपना प्रतिबिम्ब देखता हूँ। मुझे अपना परिचय उसीमें मिलता है, जिसपर मेरा अधिकार है।' दासताको प्राकृतिक, नैतिक एवं आवश्यकता—इन तीन दृष्टिकोणोंसे वह उचित मानता था। कुछ लोग शारीरिक तथा बौद्धिक दृष्टिसे निर्बल होते हैं, यह प्राकृतिक अन्तर है। कुछ लोग उत्कृष्ट तथा निकृष्ट होते हैं, यह नैतिक अन्तर है। सामाजिक दृष्टिसे भी दास आवश्यक हैं; क्योंकि कृषि, उद्योग तथा पुलिस दासोंद्वारा अच्छी तरह संचालित हो सकते हैं। कार्यविभाजनकी दृष्टिसे भी वह दासताको आवश्यक मानता था।

वह प्रेम तथा सामान्य हितकी भावनासे परिवारको आवश्यक मानता था। उसके अनुसार 'नैतिकताकी दृष्टिसे परिवार एक सर्वोत्कृष्ट पाठशाला है। पति-स्त्री पिता-पुत्रका सम्बन्ध प्राकृतिक है। व्यक्तित्व-विकाशकी दृष्टिसे परिवार एक स्तर है। आधुनिक राज्यकी कल्पना यहींसे है।' शिक्षामें सावयवका सिद्धान्त वह भी मानता था।

अफलातून और अरस्तूकी विचार-परम्परा इतनी दूरतक जाती है कि कुछ विद्वान् तो यहाँतक कह डालते हैं कि 'प्रत्येक मनुष्य या तो अफलातूनका अनुयायी होता है या अरस्तूका।' यदि हम इस व्यापक बातको अधिक महत्त्व न दें तो उनके कुछ विशिष्ट विचारोंसे यूनानी राज्यदर्शनका निष्कर्ष सामने आता है।

अफलातून और अरस्तू दोनोंने इस बातपर जोर दिया था कि राज्य और व्यक्तिमें किसी प्रकारकी विभिन्नता न थी, दोनों एक ही थे। कुछ तार्किकोंने इसपर जोर दिया था कि 'राज्य और व्यष्टिके स्वार्थोंमें विभिन्नता थी' और कुछने इस बातपर कि 'राज्यकी उत्पत्ति समझौताद्वारा हुई थी।' अफलातूनने प्रथम पक्षके तार्किकोंको यह उत्तर दिया था कि राज्य व्यक्तिका बृहत्तम रूप था और व्यक्ति राज्यका सूक्ष्मरूप। इस प्रकार दोनोंके स्वार्थोंमें किसीका विरोध न था। अरस्तूने दूसरे वर्गके तार्किकोंको यह उत्तर दिया कि 'राज्य एक प्राकृतिक संस्था है, जिसका सावयवीकी भाँति क्रमशः विकास हुआ है।' दोनों विचारक राज्यकी आवश्यकताको स्वीकार करते थे। अरस्तूके मतानुकूल यदि कोई व्यक्ति राज्यके बिना रह सकता था, तो वह या तो देवता था या दानव। अफलातूनके विचारोंमें नीतिशास्त्रोंकी प्रधानता थी। अरस्तू अफलातूनकी भाँति क्रान्तकारी नहीं था। उसके राज्यमें राजनीति, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र—तीनोंका समन्वय इस प्रकार किया गया था कि मनुष्य सुखमय जीवनको प्राप्त कर सके।

यूनानी विचारकोंने मध्यवर्ती मार्गका प्रतिपादन बड़े प्रभावशाली ढंगसे किया था। इसका आरम्भ डेल्फीकी देववाणियोंसे हुआ और सोलनके सुधारोंमें यह कार्यरूपमें परिणत किया गया। अरस्तू और अफलातूनने भी इस सिद्धान्तका अनुसरण किया। अफलातून और अरस्तू दोनों अपने समयके राज्योंसे संतुष्ट न थे। अतः उन्होंने ऐसे राज्योंका चित्रण किया, जिनके अनुरूप वे वास्तविक राज्योंको परिवर्तित करना चाहते थे। संरक्षकोंको निःस्वार्थ सेवामें रत रखनेके लिये अफलातूनने आर्थिक और सामाजिक साम्यवादके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था। अरस्तू इसका विरोधी था। उसके मतसे 'मानसिक विकार, मानसिक ओषधियों-द्वारा ही दूर किये जा सकते हैं।' दोनों ही शिक्षाको राज्यके अधीन मानते थे। इस्टोइक दार्शनिकोंने समस्त मनुष्योंकी समानताके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया था। यूनानी विचारक मनुष्यकी स्वतन्त्रताके समर्थक थे।

राजनीतिक विचारोंमें रोमकी प्रमुख देन कानून है। उसका प्रभाव आज भी समस्त यूरोपपर छाया हुआ है। यूनानियोंका राजनीतिक आदर्श व्यक्ति और राष्ट्रकी स्वतन्त्रताका आदर्श था। रोमन लोगोंने स्वतन्त्रताके स्थानपर व्यवस्थाके आदर्शको अपनाया। यूनानी लोग नगर-राज्योंकी ही सरकारोंसे परिचित थे। उनमें शासकों और शासितोंका सम्पर्क था। इसके विपरीत रोमने एक विशाल साम्राज्यका निर्माण करके वहींसे उसका शासन-संचालन किया। यूनानियोंका दृष्टिकोण नगर-राज्योंकी सीमासे परिमित होनेके कारण संकुचित था। रोमन लोगोंने संसारके एक बड़े भागकी राजनीतिक एकता स्थापित करके लोगोंके हृदयमें यह धारणा उत्पन्न कर दी थी कि समस्त संसारको एक ही सूत्रमें बाँधा जा सकता है।

मध्य युग

रोमन साम्राज्यके पश्चात् यूरोपीय इतिहासका मध्य-काल आरम्भ होता है। इसके दो भाग किये जाते हैं, पूर्वार्ध (अंधकार-युग) और उत्तरार्ध । पूर्वार्धमें रोमन लोगोंद्वारा निर्मित सड़कोंकी इतिश्री हो गयी थी। यूनानी और रोमन सभ्यताका अन्त-सा हो गया था। लोगोंमें आतङ्क छाया था। क्रमबद्ध राजनीतिक विचार नष्ट-से हो गये थे। संस्कृति और धर्मका भ्रष्ट स्वरूप सामने प्रस्तुत किया जा रहा था। ईसाइयोंका एक सम्प्रदाय बन चुका था। सारी उन्नति, आदर तथा सौहार्द सम्प्रदायतक ही सीमित था। परिणामस्वरूप धर्मसत्ता और राजसत्ताका संघर्ष प्रारम्भ हो गया। धर्म और संस्कृतिका वास्तविक स्वरूप न होनेसे राजसत्ता निरङ्कुश होकर आगे बढ़ी ।

तेरहवीं शताब्दीमें धार्मिक सत्ता पराकाष्ठाको पहुँच गयी थी । चौदहवीं शताब्दीके आरम्भमें उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। राज्याधिकारियोंने पोपकी प्रधानताको अमनस्कतासे स्वीकार किया था। पोपोंने आत्मबलके अभावमें अपना नाश स्वयं किया। सम्पत्तिके कारण तथा संयमके अभावमें उनमें विलासिताका प्रादुर्भाव हुआ। अरस्तूका बढ़ता हुआ प्रभाव भी धार्मिकताकी प्रधानताके विरुद्ध था। विवेक, बुद्धि तथा आत्मप्रेरणाकी उत्पत्तिसे धार्मिक विश्वास नष्ट हुए। राष्ट्रिय भावनाके उदयका प्रभाव भी धार्मिक सत्ताकी प्रधानताके प्रतिकूल तथा राजकीय सत्ताकी प्रधानताके अनुकूल था। फ्रांसके धर्माधिकारियोंतकने धार्मिक भावनाकी अपेक्षा राष्ट्रिय भावनाको उच्चतर समझा और पोपके आदेशोंकी अवज्ञा करके राजाका साथ देने लगे। स्वयं ईसाईसंघमें कुछ ऐसे लोग थे जो पोपके अनियन्त्रित सत्ताके विरोधी हो गये थे। परिणाम यह हुआ कि राजनीतिपरसे धर्मका अङ्कुश समाप्त हो गया और धर्मविहीन लौकिक राजनीतिका उदय हुआ। इस लौकिक राजनीतिका स्वरूप-निर्धारण मेकियाविली जैसे कूटनीतिज्ञके हाथोंसे हुआ। मेकियाविलीके युगमें विद्याका पुनर्जन्म तथा धार्मिक सुधारोंका प्रचार था। उसने पहले ही पक्षको ग्रहण किया। पुनर्जागरणके भी दो पक्ष होते हैं—एक स्वार्थवादी, जिसमें ईर्ष्या, स्पर्धा, स्वार्थ इत्यादिका प्राधान्य रहता है और दूसरा मानवतावादी, जिसमें सहिष्णुता, प्रेम और सहयोगका प्राधान्य रहता है। मेकियाविलीने इसके भी प्रथम पक्षको ही ग्रहण किया; क्योंकि उसके अनुसार 'मनुष्य स्वभावतः कृतघ्न, सनकी, धोखेबाज, भीरु और लालची होता है। वह स्वार्थमयी इच्छाओंकी पूर्तिके लिये सतत प्रयत्नशील रहता है। उसे उसकी पूर्तिमें धर्म, अधर्म, नीति, अनीति किसीका विचार नहीं रहता। प्रेमका बन्धन तभीतक स्थिर रहता है, जबतक उससे स्वार्थकी पूर्ति होती है।' अरस्तूके विपरीत उसका कहना था कि 'मनुष्य सामाजिक जीवनमें नीच प्रकृतिका होता है। अपने स्वार्थोंकी पूर्तिके लिये ही वह सामाजिक समझौतोंका प्रयोग करता है।'

अंशतः आधार मानते थे। उपर्युक्त पक्षोंमें अनुबन्धको धर्मसे स्वतन्त्र नहीं माना गया, परंतु 'हॉब्स'ने अनुबन्धवादको धर्मसे विमुक्त कर उसे राज्यशास्त्रीय रूप दिया। 'लॉक' एवं 'रूसो' ने भी इसी सिद्धान्तको विभिन्न दृष्टिकोणोंसे अपनाया। हॉब्सने निरपेक्ष राजतन्त्र, लॉकने सीमित राजतन्त्र और रूसोने प्रत्यक्ष जनवादको न्यायसंगत बताया।

थामस हॉब्स (१५८८–१६७९) ब्रिटेनके गृहयुद्धकाल (१६४२–४९) का दार्शनिक था। कहा जाता है कि इसकी माताने भयभीत होकर समयसे पहले उसे जन्म दिया था, इसलिये वह भयसे अत्यधिक प्रभावित रहता था। १६४० में इंग्लैंडकी दीर्घ संसद्की बैठकके समय ब्रिटेनसे भागनेवालोंमें वह सर्वप्रथम व्यक्ति था। उस समय वहाँ राज्यनियम, राजसत्ता, नागरिकता सम्बन्धी विभिन्न विचार-धाराएँ प्रचलित थीं। राजसत्ताका प्रश्न मुख्य था। स्टुअर्ट आदिके मतानुसार 'राजा ईश्वरके प्रति उत्तरदायी है, नागरिकोंके प्रति नहीं' यह विचार राजाको निरपेक्ष सत्ताधारी बनाता है। संसद्वादियोंके मतानुसार 'राजसत्ता और राजा संसद्में निहित है। राजाकी सत्ता सीमित है।' दार्शनिकोंके अनुसार 'नैसर्गिक नियम सर्वोपरि है। कोई भी संस्था उसका लङ्घन नहीं कर सकती।' जनतन्त्रवादियोंका कहना था कि 'आज्ञापालन अनुबन्धके पालनपर आश्रित है। राज्यका जन्म अनुबन्धके द्वारा हुआ है। यदि राजा अनुबन्धका लङ्घन करे तो नागरिक राज्यका विरोध कर सकते हैं।' कैथोलिकों और काल्विनिष्टोंके अनुसार 'धर्म सर्वश्रेष्ठ है, राज्य उसके अधीन है।' ये ही मतभेद गृहयुद्धकी पृष्ठभूमिमें थे। हॉब्सने अपने कालके सर्वश्रेष्ठ प्रश्न 'राजसत्ता कहाँ निहित है' का उत्तर दिया था। हॉब्स सुव्यवस्थाको परमावश्यक समझता था। चाहे वह नरेशद्वारा स्थापित हो, चाहे क्रामवेल (१५९९–१६५८)-जैसे शासकद्वारा। राज्यके पूर्वकी स्थितिको 'प्राकृतिक स्थिति' (दि स्टेट आफ नेचर) कहते हैं। जब कोई इंजन खराब हो जाता है तो मिस्त्री उसके कलपुर्जोंको पृथक् करता है। इस क्रमसे उसे इंजिनकी खराबी मालूम पड़ जाती है। खराबी दूर कर फिर वह कलपुर्जोंको जोड़ता है। हॉब्सका कहना था कि 'मनुष्य समाज और मकानमें रहते हुए भी सन्दूकमें ताला क्यों लगाता है? सोते समय दरवाजा क्यों बंद करता है? इसका स्पष्ट अर्थ है कि मनुष्य एक दूसरेके प्रति विश्वास नहीं रखता। फिर जब राज्यव्यवस्थामें यह हालत है तब प्राकृतिक स्थितिमें तो कहना ही क्या!' वह मनुष्यको स्वभावसे स्वार्थी मानता था। मनुष्य सत्ताधारी शक्तिके द्वारा ही सहयोगी बनकर रह सकता है। इसलिये प्राकृतिक स्थितिमें मनुष्य अलग-अलग ही रहते थे। उस समय न कोई व्यवस्था थी, न कोई सत्ताधारी था।

उसके मतानुसार 'समान शरीर एवं मस्तिष्ककी शक्तिका योग बताता है कि सब मनुष्य बराबर थे।' यदि कोई किसीसे शारीरिक

दृष्टिसे कमजोर रहता था तो वह शारीरिक कमजोरीको मस्तिष्कशक्तिसे पूरा कर लेता था। अतः प्राकृतिक स्थितिमें व्यक्तियोंकी समानता थी। स्वार्थपूर्ति ही उनका लक्ष्य था। सहयोगका उनमें कोई स्थान नहीं था। स्पर्धा ही स्वार्थपूर्तिका साधन था। संघर्षद्वारा ही आधिपत्य जमाया जाता था। दूसरोंद्वारा अपनी कीर्ति स्वीकृत करायी जाती थी। यदि प्राकृतिक स्थितिमें समानता न होती तो अवश्य ही एक दूसरेपर आधिपत्य जमा सकते। कोई अपनी कीर्ति दूसरोंसे स्वीकृत नहीं करा सकता था। सभी स्वार्थपूर्तिके संघर्षमें लगे रहते थे। भौतिकशास्त्र एवं जीवशास्त्रकी खोजोंको भी समाजशास्त्रपर लागू किया जाता था। गैलिलियो और केप्लरने नक्षत्रोंकी गतिविधि-सम्बन्धी खोज की थी। हर्वेने रक्तसंचरणके विषयमें खोज किया था। हॉब्सने समाजशास्त्रीय गतिविधिकी खोज की। उसने मानवजीवनकी गतिविधिको वैसा व्यापक बताया जैसे नक्षत्रों तथा प्राणियोंके रक्तकी। हाब्सके अनुसार 'संघर्षगति ही मानव-जीवनका सार है। जैसे नक्षत्र-गतिविधिकी अनुपस्थितिमें विश्वका संहार होता है और रक्तगति बिना मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है, वैसे ही संघर्षके बिना भी मृत्यु हो जाती है।' उसने इस गतिका लक्ष्य स्वास्थ्यपूर्ति एवं कीर्तिवृद्धि ही बताया।

'इस तरह प्रकृतिकी स्थितिमें सब युद्धरत ही थे। यह एक युद्धकी स्थिति थी। उस समय व्यक्तिगत सम्पत्ति, संस्कृति, विद्या, कला, विज्ञान, आयात-निर्यात, विश्व-ज्ञान, समय-ज्ञान, कुछ भी सम्भव नहीं थे। नैतिकता-अनैतिकता, भलाई-बुराई, वैध-अवैधका कुछ भी ज्ञान नहीं था। लोगोंको हत्याका भय सदा बना रहता था। जीवन एकाकी, निर्धन, जंगली, घृणित एवं क्षणिक था; अर्थात् यह प्राकृतिक स्थिति मात्स्यन्यायकी थी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त लागू था।' हॉब्सके विश्वासानुसार 'मनुष्य एक प्रेरणाप्रभावित प्राणी है। प्रेरणा ही प्राकृतिक स्थितिकी कारण थी।' साथ ही वह यह भी कहता है कि 'मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है' केवल प्रेरणाकी कठपुतली नहीं है। इस भीषण दशामें पहुँचकर मनुष्यने विवेकका उपयोग किया और उसे नैसर्गिक नियमोंका भान हुआ। ये नियम ईश्वराज्ञा-तुल्य होते हैं। उनका पालन व्यक्तियोंके लिये अनिवार्य है।' वैसे तो १९ नैसर्गिक नियमोंको उसने गिनाया, फिर भी तीनको मुख्य मानता था। प्रथम—मनुष्यको शान्तिस्थापनाका प्रयत्न करना चाहिये। दूसरा यह कि जब अन्य व्यक्ति भी राजी हो तो प्रत्येक व्यक्तिकी शान्ति-स्थापना और व्यक्तिगत सुरक्षाके लिये अपने सब अधिकारोंके त्यागके लिये प्रस्तुत रहना चाहिये। और तीसरा यह कि प्रत्येक व्यक्तिको समझौता (इकरारनामा) मानना चाहिये।

प्राकृतिक स्थितिसे ऊबकर मनुष्योंने विवेकसे इन तीन नैसर्गिक नियमों-

द्वारा असह्य स्थितिसे मुक्त होनेका प्रयत्न किया । प्रेरणाका परित्यागकर विवेकको मनुष्योंने मार्गदर्शक बनाया । फलतः एकत्रित होकर एक समझौता किया और प्रत्येक व्यक्तिने शपथ दुहरायी कि यदि आपलोग अपने अधिकारोंको इसी भाँति समर्पित करनेके लिये प्रस्तुत हैं तो मैं भी अपने अधिकारोंको इस व्यक्ति या व्यक्ति-समूहको समर्पित करता हूँ ।' इस शपथद्वारा प्राकृतिक स्थितिका अन्त हुआ और समाज तथा राज्यका जन्म हुआ । मानव इतिहासका एक नया अध्याय आरम्भ हुआ और एक व्यक्ति राजा हुआ । बहुसंख्यक लोगोंने समझौतेमें भाग लिया । यदि कुछ अल्पसंख्यक लोगोंने प्राकृतिक स्थितिमें ही रहनेका हठ किया तो उन्हें दण्ड मिलना अनुचित नहीं था । हाब्सके मतानुसार 'राजसत्ताधारी राजासे शपथ नहीं लिवायी गयी । व्यक्तियोंने ही शपथपूर्वक अपना अधिकार समर्पण किया। 'मरता क्या न करता' के सिद्धान्तानुसार प्राकृतिक स्थितिके मनुष्योंने भी शर्तहीन अधिकारोंका त्याग किया । हाब्स इस सत्ताधारी व्यक्तिको 'दीर्घकाय' (मानवदेव) कहता है । दीर्घकाय (लेवियाथन) ही उसकी पुस्तकका नाम है । जैसे पीड़ित लोग देवताके सामने शपथ लेते हैं, वैसे ही प्राकृतिक स्थितिसे पीड़ित व्यक्तियोंने मानवदेवके सामने शपथ ली । जैसे देवता कोई शपथ नहीं लेता वैसे ही मानवदेवने भी शपथ नहीं ली । अतः यह पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वेच्छाचारी बना । हाब्सकी पुस्तकके मुख-पृष्ठपर बने चित्रमें दीर्घकायका शरीर छोटे-छोटे मनुष्योंके शरीरोंसे घिरा है । इससे विदित होता है कि यह सबका प्रतिनिधित्व करता है । उसके एक हाथमें तलवार, दूसरेमें धर्मशास्त्र—राजकीय शक्ति एवं धर्मरक्षाका प्रतीक है । दीर्घकाय मात्स्यन्याय और सभ्यताके मध्यकी दीवार है । वह समाज तथा राज्य दोनोंका ही प्रतीक है ।'

वस्तुतः भारतीय शास्त्रोंमें वर्णित मात्स्यन्याय एवं तदनन्तर स्थापित राजतन्त्रका ही यह अनुकरण है । इतना भेद अवश्य है कि भारतीय दृष्टिसे मात्स्यन्यायके पहले सभी व्यक्तियोंमें सत्त्वगुणकी प्रधानता थी । सभी धार्मिक एवं ईश्वरवादी थे । सभी प्राणिमात्रको ईश्वरका पुत्र समझते थे । सभी सबके साथ समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताका व्यवहार करते थे । कोई अपराधी शोषक था ही नहीं । इसलिये राजा, राज्य एवं दण्ड-विधान आदि अनावश्यक थे । धर्मनियन्त्रित जनता आपसमें ही सब काम चला लेती थी । जब उसमें सत्त्वका ह्रास हुआ, तमोगुण, रजोगुण बढ़ा, धर्म घटा, अधर्मका विस्तार हुआ, तब मात्स्यन्याय फैला । तब प्रजाने पीड़ित होकर ईश्वरसे प्रार्थना कर उसके अनुग्रहसे चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम आदि लोकपालोंके गुणों तथा अंशोंसे युक्त राजाको प्राप्त किया और उसे विविध प्रकारसे सम्मानित किया ।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति । (मनु० ७ । ८)

इत्यादि रूपसे भारतीय शास्त्रोंमें राजाका महत्त्व गाया गया है ।

हाब्सने राज्यका जन्म ईश्वरद्वारा न मानकर समझौतेद्वारा बताया। राजा निरपेक्ष अवश्य था; परंतु दैवी सिद्धान्तके अनुसार नहीं। संसदीय सिद्धान्तानुसार उसने राज और राजसत्ताको विभक्त नहीं माना। उसके अनुसार 'नैसर्गिक और लौकिक नियम राज्यकी तलवार बिना शब्दमात्र रह जाते हैं, अतः दीर्घकायकी घोषणाएँ ही नियम हैं। जब जनताने ही अनुबन्धद्वारा अपने अधिकार राज्यको समर्पित कर दिये, तब जनताको विरोध करनेका अधिकार कहाँ रहा? वह अपने अधिकारोंसे च्युत हो चुकी, धर्मका भी रक्षक वही है।' इस तरह हाब्सने उस समयके गृहयुद्धकी पृष्ठभूमिमें स्थित विविध विचार-धाराओंका उत्तर दिया; परंतु धार्मिक, नैसर्गिक, लौकिक, किन्हीं नियमोंसे नियन्त्रित न होनेसे वह दीर्घकाय राजा मानवदेव न होकर दानव ही बन जायगा। इसीलिये भारतीय शास्त्रोंने उसे धार्मिक नियमोंसे नियन्त्रित रहना आवश्यक बताया। जैसे बिना नकेलका ऊँट, बिना लगामका घोड़ा, बिना ब्रेककी साइकिल या मोटर खतरनाक होते हैं, वैसे ही अनियन्त्रित शासक संसारके लिये अभिशाप होता है। जो जनता किसीको अधिकार दे सकती है, वह उद्देश्य पूरा न होनेपर उसे अधिकारसे पदच्युत भी कर सकती है। इसीलिये वेन-जैसे उद्दण्ड शासकोंको जनताने पदच्युत कर दिया था। हाब्सने राज्यको 'निरपेक्ष संस्था' कहा अर्थात् बाह्य नीति या संस्थाका उसपर प्रतिबन्ध नहीं होता। उसके मतानुसार 'किसी प्राकृतिक स्थितिके व्यक्तियों-जैसा राज्योंका असहयोग एवं स्पर्धापूर्ण सम्बन्ध रहता है। उसी तरह किसी व्यक्ति, समूह या किसी नियमद्वारा भी राज्यसत्ता सीमित नहीं होती।'

सङ्घोंके सम्बन्धमें भी उसका कहना है कि 'सङ्घ प्राकृतिक मनुष्योंकी अँतड़ियोंमें कीड़ोंके समान थे। राज्योत्पत्तिसे प्राकृतिक मनुष्योंका अन्त हो गया। नये नागरिकोंका जन्म हुआ। स्वभावतः प्राकृतिक मनुष्योंके अँतड़ियोंके कीड़ों (सङ्घों) का भी अन्त हो गया अर्थात् राज्यमें कोई स्वतन्त्र सङ्घ सम्भव नहीं रहा। फिर उनके द्वारा सत्ता कैसे सीमित हो सकती है? दैवी नियम, धर्म, नैसर्गिक नियम, नागरिकता, लौकिक नियमपरम्पराका भी कोई नियन्त्रण राज्यपर न रहा। इस तरह हाब्सकी राजसत्ता एक निरङ्कुश शासनसत्ता हो जाती है, जिसका कि भारतीय शास्त्रोंने विरोध किया है। हाब्सके मतानुसार 'राजतन्त्रमें ही एकता, मन्त्रणा, गुप्तता, नीतिका स्थायित्व, व्यभिचारोंकी कमी और चापलूसों तथा तानाशाहोंकी कमी सम्भव है। ये सब बातें नरेशको छोड़कर समूहों या संघोंमें सम्भव नहीं है। यह सत्ता विभाज्य भी नहीं होती।' हाब्सके राज्यका अधिकार बहुत व्यापक था। वह जीवनके सभी क्षेत्रोंमें तथा विचारोंपर भी राज्यका हस्तक्षेप सह्य मानता था; क्योंकि विचारके नियन्त्रित होनेपर ही व्यक्तियोंके कार्य भी नियन्त्रित हो सकते हैं और 'दीर्घकाय सत्ताधारी' ही सर्वोच्च न्यायाधीश एवं सर्वोच्च सेनापति है। विधि-निर्माण,

दण्डविधान, सन्धि, विग्रह तथा नियुक्ति आदि उसीके अधिकारमें होते हैं। प्राकृतिक स्थितिमें हर समय जीवन एवं सम्पत्ति खतरेमें रहती है। अतः वह राज्यकी ही शरण लेना व्यक्तियोंके लिये एकमात्र परमावश्यक समझता था। इसे वह नैतिक भी मानता था। जब व्यक्तियोंने अपने अधिकार राज्यको दे दिये, तब उसका पुनः अपहरण अनैतिकता है। राज्यप्रदत्त नागरिक स्वतन्त्रतासे अधिक स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। मनुष्योंने जीवन-रक्षाके लिये राज्यकी स्थापना की, राज्यका नियन्त्रण स्वीकार किया। अतः मृत्युभय, स्वार्थ, उपयोगिता ये ही उसके आधार हैं, इसी उपयोगिताके आधारपर वह राज्य-विरोधको न्यायसंगत मानता है। 'यदि राज्यका नियम नागरिककी जीवन-रक्षापर आघात करता है तो नागरिकोंको ऐसे नियमके विरोध करनेका अधिकार है।'

ईश्वर एवं धर्मका नियन्त्रण अस्वीकारकर अनियन्त्रित धर्महीन शासकको सुख-शान्ति एवं राज्यस्थापनाका उद्देश्य भी पूरा नहीं हो सकता। कहा जाता है कि धर्म और ईश्वर माननेसे प्राणीको विचार करनेका अवकाश नहीं रहता; परंतु धर्म एवं ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी हिताहित सुव्यवस्थाका पूर्ण विचार करनेका सदा ही अवकाश रहता है। विचारपूर्वक ही प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त होना आवश्यक है। फिर भी अनियन्त्रण, उच्छृङ्खलतासे हटकर किसी ढंगके भी नियन्त्रणका अङ्गीकार करना श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त हाब्सका व्यक्तियोंके सम्बन्धका वर्णन एकाङ्गी भी है। अपने बन्धुओंकी बरबादीसे सुख पानेवाले लोगोंकी संख्या वस्तुतः सदा ही कम थी। बच्चों एवं बन्धुओंकी मृत्युपर प्रसन्न होनेवाले सोते हुए असहाय प्राणीको पाकर सर्वप्रथम मारनेकी भावना रखनेवाले मनुष्य कभी भी कम ही थे। फिर ऐसे मनुष्योंद्वारा राज्य-जैसी पवित्र संस्थाका निर्माण भी कैसे हो सकता है? रूसोका कहना है कि 'यह कैसे सम्भव है कि मनुष्य जो एक क्षण दूसरेके गलेपर छुरी मारनेके लिये तत्पर थे, वे ही दूसरे क्षण एक दूसरेके गले मिलने लगे?' मानव-इतिहासमें कायाकल्पका कोई दृष्टान्त नहीं, वस्तुतः प्रेरणा और विवेक सभी कार्योंमें प्राणियोंके साथ रहते हैं।

हाब्स एवं हल्वेशियसके मतानुसार 'प्राणी परोपकार भी आत्महितके लिये ही करता है।' परंतु जब देखा जाता है कि व्याघ्र-सरीखे क्रूर प्राणी भी अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये प्राण देनेको तैयार होते हैं तो कहना पड़ता है कि प्रेम-परोपकार प्राणियोंमें स्वाभाविक धर्म भी होते हैं। नीतिकारोंने इन्हें इस प्रकार श्रेणीबद्ध किया है—

एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये।
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥ (नीतिशतक ७५)

'जो स्वार्थ त्यागकर भी परोपकार ही करते हैं, वे सत्पुरुष हैं। जो अपने स्वार्थकी रक्षा करते हुए परोपकार करते हैं, वे सामान्यलोग हैं, जो लोग स्वार्थके लिये परहितका विघात करते हैं, वे तो मनुष्य-वेषमें राक्षस ही हैं; परंतु जो लोग निष्कारण ही परहित-विघात करते हैं, वे कौन हैं—उन्हें क्या कहा जाय—यह समझमें ही नहीं आता।'

सामान्यलोग भले ही स्वार्थी हों, परंतु इस आधारपर कोई व्यवस्था नहीं की जा सकती। सामान्यरूपसे भले ही प्राणी झूठ बोलता और घाट तौलता हो, तो भी व्यवहार-व्यवस्थापक यदि झूठ बोलने और घाट तोलनेको प्रश्रय देगा तब तो अनर्थ ही होगा। इससे भी आगे सामाजिक सुख अर्थात् मनुष्य जातिके सुखके उद्देश्यसे ही प्राणीको कार्याकार्यका निर्णय करना श्रेष्ठ है। फिर भी कभी उसी कार्यसे बहुतोंको सुख होता है, परंतु कुछ लोगोंको दुःख भी होता है। उलूकको प्रकाशसे कष्ट होता है, तो भी प्रकाश त्याज्य नहीं होता। अतः 'बहुजनसुखाय' का विचार आवश्यक है। यद्यपि एक ढंगसे चलनेवाली ठीक टाइम देनेवाली घड़ी ठीक समझी जाती है, परंतु मनुष्य यन्त्र नहीं है। यहाँ तो उसके अन्तःकरणको देखा जाता है। मान लीजिये—कोई घूस देकर या चोरबाजारीसे कोई चीज खरीदकर परोपकार करता है। भले ही उससे बहुजनहित हुआ, पर इतनेसे ही घूस या चोरी न्याय्य नहीं हो जायगा। अमेरिकाके एक शहरमें ट्राम्वेकी बड़ी आवश्यकता थी; परंतु जल्दी सरकारी मंजूरी नहीं मिली। व्यवस्थापकने घूस देकर मंजूरी ली और ट्राम्वे चलाया। उससे बहुत लोगोंका लाभ हुआ, हित हुआ; परंतु पीछेसे घूसकी बात खुली और व्यवस्थापकको दण्ड दिया गया।

एक कार्यमें गरीबका चार पैसा और अमीरका लाखों रुपया भावनाकी दृष्टिसे समान या कभी-कभी चार पैसाका दान ही अधिक महत्त्वका होता है। इसी लिये बाह्य परिणामोंकी अपेक्षा नीतिमत्ता एवं बुद्धिका ध्यान होना आवश्यक है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय। (गीता २। ४९)

छोटे कीड़ोंसे लेकर मनुष्यतक प्राणियोंमें देखा जाता है कि वे अपने समान ही अपनी संतानों एवं जातियोंकी भी रक्षा करते हैं। किसीको दुःख न देकर बन्धुओं-की यथासम्भव सहायता ही करते हैं अतः सजीव सृष्टिका यही स्वभाव है।

कई कीड़ोंमें स्त्री-पुरुष-भेद नहीं होता। उनके देहमें ही भेद होकर दूसरे कीड़े उत्पन्न होते हैं। वहाँ यही कहना पड़ता है कि संतानके लिये उनमें अपने शरीरके अंशको त्यागनेकी बुद्धि होती है। जंगली जानवरों, मनुष्योंमें भी ऐसी ही प्रवृत्ति होती है। इसीलिये मनुष्य परार्थमें ही सुख मानता है, जैसा कि स्पेन्सरने भी माना है। भारतीय भावनाके अनुसार परार्थ ही जिसका स्वार्थ है, वही पुरुष सत्पुरुषोंमें श्रेष्ठ है—

क्षुद्राः सन्ति सहस्रशो स्वभरणव्यापारमात्रोद्यताः।
स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः ॥ (सुभाषितावलि २८५)

हाब्सके अनुसार हत्याके भयसे मनुष्यका व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका परित्याग कर एक अनियन्त्रित शासकके शरण होना वैसा ही लगता है, जैसे एक जंगली बिल्ली-से डरकर खूँखार हिंस्र शेरकी शरण जाना। रूसोका कहना है कि 'स्वतन्त्रता प्रकृतिकी देन है। स्वतन्त्रताका परित्याग मनुष्यताका ही परित्याग है।' हाब्सका सिद्धान्त न तो प्राचीन धार्मिक लोगोंने ही माना और न जडवादियोंने ही। उसके मतानुसार 'राज्यका अधिकार ईश्वरीय, धार्मिक एवं पैतृक भी नहीं और न जनतान्त्रिक ही है।' वस्तुतः पाश्चात्त्य दर्शनकार अपनी परिस्थितियोंसे ऊँचे उठकर विचार कर ही नहीं सके। इसीलिये हाब्सने अपनी भीरु प्रकृतिके अनुसार ही भयमूलक ही सिद्धान्त भी स्थापित किया।

जान लॉक

जान लॉक (१६३२–१७०४) भी समझौतावादी था। उसे सीमित राजतन्त्रमें विश्वास था। उसका पिता 'प्यूरिटन' सम्प्रदायका अनुयायी था। 'लॉक' १६८८ की रक्तहीन क्रान्तिका दार्शनिक माना जाता है। इंगलैंडके जेम्स द्वितीयके पदच्युत होनेपर विलियम और मेरीको राज्यपदके लिये निमन्त्रित किया गया। 'बिल आफ राइट्स' और 'ऐक्ट आफ सैट्लमन्ट' नियमोंद्वारा कार्यपालिका संसद्के अधीन बनी। संसद्का राज्यकोष, राज्यनीति तथा सेनापर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हुआ। इसी रक्तहीन क्रान्तिके द्वारा संसद् सत्ताधारी बनी और राजा केवल वैधानिक रह गया। यह एक प्रकारसे जनवादका आरम्भ हुआ। लॉक भी प्राकृतिक स्थिति और राज्यकी स्थिति मानता है। उसके मतानुसार 'मनुष्य विवेकशील एवं सामाजिक प्राणी है। सत्य बोलना अच्छा, झूठ बोलना पाप है'—इत्यादि नैसर्गिक नियमोंका पालन वह आवश्यक समझता था। इन्हीं सब हेतुओंसे प्राणी शान्ति, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृताकी ओर प्रवृत्त होता है। उसके मतानुसार 'स्रष्टाने भूमि एवं विविध पदार्थ सर्वसामान्यक प्रदान किया है। साथ ही श्रमशक्ति भी प्रदान की है। इसीके द्वारा सामान्य वस्तुओंमेंसे कुछको अपने उपयोग योग्य बनाता है। वही उसकी निजी सम्पत्ति होती है। उदाहरणार्थ नदीका पानी सर्वसामान्य वस्तु है। पर जब एक मनुष्य श्रमद्वारा उसकी कुछ मात्रा लाकर अपने घरमें रखता है, तो वह उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति होती है। श्रमके मिश्रणसे ही कोई वस्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति बनती है। प्राकृतिक मनुष्य एक विवेकशील सामाजिक तथा नैतिक प्राणी था। वह नैतिकतापूर्ण नैसर्गिक नियमोंका अनुयायी था। हाब्सके विपरीत लॉकके मतानुसार मनुष्य एक दूसरेके व्यक्तित्व एवं व्यक्तिगत सम्पत्ति और अधिकारका आदान-प्रदान करते थे। वह स्थिति सुख, शान्ति, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्वकी थी। लॉकका यह मत भारतीय भावनासे मिलता है। भारतीय दृष्टिकोणके अनुसार पहले यद्यपि राज्य, राजा, दण्ड-विधान नहीं था, परंतु कोई दण्डनीय भी नहीं था। सभी परस्पर

एक दूसरेके पोषक थे, कोई किसीका शोषक नहीं था। सभी धर्मनियन्त्रित थे। धर्मयुक्त होकर सब आपसमें ही काम चला लेते थे।

न वै राज्यं न राजासीन्न च दण्ड्यो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

(महा० शा० प० ५९। १४)

'जो जैसा करेगा वैसा पायेगा'—यह नैसर्गिक नियम प्रचलित था।

लॉकके मतानुसार 'कुछ दिनों बाद सुखमय न्यायपूर्ण जीवनमें बाधाएँ उत्पन्न हो गयीं। व्यक्ति अज्ञानी और पक्षपाती हो गये। अध्ययनशून्य हो जानेसे उन्हें नियमोंका ज्ञान नहीं रहा। सभी मनमाना नियम लागू करने लगे। अतः लिखित नियमकी आवश्यकता पड़ी। एक निष्पक्ष न्यायाधीश अपेक्षित होने लगा। निर्णयको कार्यान्वित करनेके लिये पुलिसकी भी आवश्यकता हुई। तब समझौता—'अनुबन्धद्वारा' सभ्य समाजका निर्माण कराया।' लॉकके मतानुसार व्यक्तियोंने अपने कुछ ही अधिकार सभ्य समाजको समर्पित किये। नैसर्गिक नियमोंके अनुसार सभ्य समाजको नियम-निर्माण करके निश्चित निष्पक्ष न्यायाधीश नियुक्त करने एवं निर्णयको कार्यान्वित करनेका अधिकार दिया गया। परंतु नैसर्गिक नियमोंके लङ्घन तथा व्यक्तिगत सम्पत्तिपर आघात करनेका अधिकार उस समाजको नहीं दिया गया।' लॉकने नैसर्गिक नियमोंको सर्वव्यापक एवं सर्वोपरि बतलाया। व्यक्तिगत सम्पत्तिकी सुरक्षाके लिये ही व्यक्तिने सभ्य समाजकी स्थापना की और असुविधासम्बन्धी उक्त तीनों अधिकारोंका परित्याग किया तथा बहुमतका निर्णय स्वीकार करनेका भी नियम स्वीकार किया। यह सभ्य समाज कुछ व्यक्तियोंका समूह था; परंतु इस समूहको यह अनुभव हुआ कि वह असुविधाओं-को दूर करनेमें असमर्थ है। कारण कि न तो सैकड़ों मनुष्य नियम ही निर्माण कर सकते हैं और न न्यायालय और कार्यपालिकाका ही काम कर सकते हैं। इसीलिये सभ्य समाजने व्यवस्थापिका सभा और संसद्की स्थापना की। इसी सभाको नियम-निर्माणका अधिकार दिया गया। सभ्य समाजके समान ही यह सभा भी नैसर्गिक नियमों एवं व्यक्तिगत सम्पत्तिके अधिकारोंका लङ्घन नहीं कर सकती थी। नैसर्गिक नियमोंके अनुसार कानून बनाना ही उसका काम था। व्यवस्थापिका सभाकी बैठकें स्थायी नहीं होती थीं; किंतु आवश्यकताओंके अनुसार होती थीं। इसीलिये संसद्ने एक स्थायी कार्यपालिकाकी स्थापना की। इसका कार्य नियमोंको कार्यान्वित करना था। कुछ परिस्थितियोंमें वह नियम-निर्माणमें भी भाग लेती थी। संसद्द्वारा नियुक्त न्यायाधीश नैसर्गिक नियमोंपर आश्रित लिखित नियमोंके अनुसार निर्णय करते थे। इस प्रकार संसद्, कार्य-पालिका, न्यायपालिका—राज्यके इन तीनों अङ्गोंकी स्थापना हुई।

युद्ध एवं शान्ति-सम्बन्धी कार्योंको कार्यपालिकाके जिम्मे किया गया और न्यायाधीशकी नियुक्ति संसद्‌के जिम्मे; परंतु न्यायपालिकाको कार्यपालिकाका अङ्ग माना गया । इस तरह शक्ति विभाजनकी बात भी आ जाती है । इसीके अनुसार फ्रांसके लेखक मांटेस्क्यूने 'व्यक्तिगत स्वतन्त्रता'का समर्थन किया । लाककी राज्य-संस्था स्वामी नहीं; किंतु एक सेवक है। उसे जनस्वीकृतिकी आवश्यकता थी । व्यक्ति और उसकी सम्पत्ति अर्थात् जीवनस्वतन्त्रता और सम्पत्तिकी सुरक्षा तथा नैसर्गिक नियमोंको लिपिबद्ध करना उसका कर्तव्य था। राजाके मनमाने शासन करने एवं संसद्‌के कार्यक्रम एवं निर्वाचनमें हस्तक्षेप करने, देशको विदेशी सत्ताके अधीन करने, संरक्षण-कार्यमें असफल होने आदिकी हालतमें कार्यपालिकाका विरोध किया जा सकता है एवं उसे हटाया जा सकता है । लाकके मतानुसार 'संसद् यद्यपि राज्यका प्राण है तथापि उसे भी नैसर्गिक नियमोंके विपरीत नियम-निर्माणका अधिकार नहीं। संसद् न मनमाने नियम बना सकती है, न नियम बनानेका भार किसी व्यक्ति या संस्थाको दे सकती है । ऐसी स्थितिमें नागरिक-समाजद्वारा उसे पदच्युत करके दूसरी संसद् बनायी जा सकती है ।' लाक किसी राजाका जन्मसिद्ध असाधारण अधिकार नहीं मानता था और निरपेक्ष राजाका अपने मुकदमेमें स्वयं न्यायाधीश माननेको सर्वथा न्यायरहित मानता था । राजाको सभी अधिकार जनताद्वारा मिले होते हैं। जनता अन्यायी राजासे अपने दिये हुए अधिकारोंको वापस ले सकती है। उसके मतमें नागरिक समाज ही सर्वोत्कृष्ट संस्था है । नागरिक लोगोंको सदा अधिकार रहता है कि नियमोल्लङ्घन करनेवाले राजा या संसद्‌को वैधानिक ढंगसे अथवा हिंसाद्वारा अलग कर दें।

लॉकके मतानुसार 'सर्वोत्कृष्ट सत्ता जनतामें ही निहित होती है, परंतु स्वतन्त्रताके लिये सतर्कता अत्यावश्यक है।' उसके विचारसे 'सतर्कता स्वतन्त्रताकी भगिनी है! शासनके कार्योंको देखते रहना, उसमें त्रुटि होनेपर विरोध करना आवश्यक है। जनता एक सुप्तसत्ताधारी है। किन्हीं विशेष परिस्थितियोंमें ही वह अपनी सत्ताका प्रयोग करती है। इस मतसे समाज ही सर्वश्रेष्ठ है । शासक उसीके प्रति उत्तरदायी होता है और नैतिक नियमोंके परतन्त्र होता है। सरकार एक संरक्षकमात्र है, भोक्ता नहीं । जैसे किसी अभिभावकको किसी बालकके शिक्षणके लिये कुछ रुपया दिया जाता है, तो वह उसका उसी कार्यमें विनियोग कर सकता है, उसे स्वयं भोग नहीं सकता। इसी प्रकार राजा राज्यका भोक्ता नहीं, किंतु संरक्षक मात्र है। इसमें विभिन्न वर्गोंके समन्वयमें कोई बाधा नहीं पड़ती।' हूकर, बर्क आदि भी इसी विचारधाराके थे।

भारतीय राजनीतिमें सदासे ही समाजको सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और उसमें वर्णाश्रमधर्मका समन्वय है। शासक धर्म एवं समाजके प्रति उत्तरदायी हैं। शासन बदलते रहते हैं पर समाज और धर्म नहीं बदलते। राज्यके नियम धर्मशास्त्रोंके ही अनुकूल हो सकते हैं। व्यक्तिगत वैध सम्पत्तिपर आघात अन्याय माना जाता है। लॉक समाजको सत्ताधारी मानता है; साथ ही व्यक्तिको भी उच्चस्थान देता है। वह राजाको व्यक्तिका सेवक मानता है। इस सिद्धान्तको सेवाइनने बेमेल बताया। लॉकके अनुसार राज्यकार्य सुरक्षातक ही सीमित है। उसे नैतिकता-शिक्षा आदिके कामोंमें हाथ नहीं डालना चाहिये।' यह विचारधारा धर्मनियन्त्रित रामराज्यकी ही है; क्योंकि उसमें शिक्षा, सम्पत्ति एवं धर्मको सदा ही स्वतन्त्र रहना उचित समझा जाता है। राज्यलक्ष्मी चपला होती है। वह कभी देवता और कभी दानवके हाथ भी जा सकती है। उसके हाथमें शिक्षा-सम्पत्ति एवं धर्मके जानेसे व्यक्ति और समाज सदाके लिये नष्ट हो जायँगे। उसीके बलपर व्यक्ति एवं समाज शासनोंमें रद्दोबदल कर सकते हैं। संसद्के नामसे न सही परंतु नीतिशास्त्र एवं मन्त्रिमण्डलकी व्यवस्था सदासे ही धर्म-नियन्त्रित शासनतन्त्रमें थी।

आजकल समझा जाता है कि 'मानव-जातिका इतिहास उन्नतिका ही इतिहास है।' अतः लॉकका यह कथन कि 'व्यक्ति पहलेसे ही नैतिक है, उसे नैसर्गिक नियमोंका ज्ञान था' संगत नहीं है। यदि ऐसा ही था तो उसने प्राकृतिक स्थितिका त्याग क्यों किया? उसमें असुविधा, अनैतिकता क्यों आयी? उसे समाजकी आवश्यकता क्यों पड़ी? अतः नैतिकता, शिक्षा आदि सब समाजकी या व्यक्तिकी देन माननी चाहिये, परंतु रामराज्यके अनुसार इसका समाधान सरल है। जैसा कि कहा जा चुका है कि 'सत्त्व एवं धर्मके ह्रासमे नैतिकतामें एवं ज्ञानमें कमी आयी, तभी राज्यकी अपेक्षा हुई। इस पक्षमें व्यक्ति और समाजकी स्थिति और सम्बन्ध सदा उसी ढंगका होता है जैसे वृक्ष एवं वनका; सैनिकों एवं सेनाका। निरीश्वर जडवादके अनुसार ही 'उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। पूर्वज लोग असभ्य, अज्ञानी एवं जंगली थे।' ईश्वरवादीके यहाँ तो विज्ञानपूर्वक विश्वकी सृष्टि है। अतः सृष्टि-कालमें लोग आजकी अपेक्षा अधिक ज्ञानशक्ति एवं नैतिकतासे पूर्ण थे। युग-ह्रासके अनुसार सत्त्व एवं शक्तिका ह्रास होनेसे ही विभिन्न प्रकारकी असुविधाएँ हुईं।

धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्रमें जनवाद एवं राजतन्त्रका समन्वय है, विरोध नहीं। धर्मशास्त्र सभीपर लागू होता है। अन्यथा लॉकके मतानुसार 'व्यक्ति कभी नैसर्गिक नियमोल्लङ्घनके नामपर विरोध करते और नागरिकता स्वीकार करने न करनेमें स्वतन्त्र होते' तब तो राज्यका चलाना ही कठिन हो जाता। 'श्रम-मिश्रणसे ही धन

व्यक्तिगत होता है' लॉकका सम्पत्ति-सम्बन्धी यह सिद्धान्त सी०एच० ड्राइवर (C.H. Driver) के मतानुसार 'एक अस्फुटित बम' के समान था। रेकार्डो आदिने तो श्रम-द्वारा ही वस्तुका मूल्य निर्धारित किया। मार्क्सने भी श्रमको ही आधार मानकर अपना मत खड़ा किया है। परंतु धर्म-नियन्त्रित शासनकी दृष्टिसे यह सिद्धान्त भी त्रुटिपूर्ण है। क्योंकि पद्मरागमणि, वज्रमणि आदिका मूल्य उनके गुणोंपर अवलम्बित होता है, श्रमपर नहीं। इसके साथ ही यह भी समझ लेना आवश्यक है कि भूमि आदि अनेक वस्तुओंमें श्रमयोग विना भी पितृ-पितामहादि-परम्परासे स्वत्व प्राप्त होता है। तब भी धर्म-नियन्त्रित व्यक्ति, समाज एवं राज्यद्वारा तथा उचित वितरणद्वारा आर्थिक संतुलन बना रहता था। अतः बेकारी, भुखमरीका प्रश्न ही नहीं उठता था। धर्म-नियन्त्रित व्यक्ति सब एक दूसरेके पोषक ही होते हैं, शोषक नहीं होते।

रूसोके विचार

१७८९ की फ्रांमकी राज्यक्रान्तिका प्रवर्तक रूसो (१७१२–७८) दस वर्षकी अवस्थामें ही एक पादरीके यहाँ नौकरी करने लगा। बुरी आदतोंके कारण वहाँसे उसे हटा दिया गया। बादमें वह दूसरी नौकरीमें लग गया। वहाँ वह पूरा झूठा, चोर और आवारा बन गया। उसे मित्रोंसे सदा ही सहायता मिलती रही। बादमें एक धनाढ्य स्त्रीके सहारे उसे पढ़नेकी सुविधा मिली। फिर वह गरीबोंमें रहने लगा। वहाँ उसने शराबकी दूकान की, नौकरानीसे मैत्री कर ली और बिना विवाहके ही पाँच बच्चे पैदा किये। पीछे १७४९ में उसने 'विज्ञान और कलाकी उन्नतिसे नैतिकताकी वृद्धि हुई या अवनति' इस विषयपर निबन्ध लिखकर पारितोषिक प्राप्त किया। इसी निबन्ध लिखनेके प्रसंगसे उसके जीवनमें परिवर्तन हुआ। उस निबन्धमें उसने बताया कि 'विज्ञान और कलाकी वृद्धिसे नैतिकताकी वृद्धि नहीं हुई, प्रत्युत पतन हुआ।' पश्चात् उसने अनेक पुस्तकें लिखीं और आवारा रूसो एक दार्शनिक बन गया। १७५४ में असमानताके जन्मपर उसने पुस्तक लिखी। इसमें उसने प्राकृतिक स्थिति और राज्यका जन्म बतलाया। एक लेखमें उसने 'आदर्श सामान्य इच्छा' और 'आदर्श राज्य' का वर्णन किया। अपनी शिक्षासम्बन्धी पुस्तकमें उसने 'धर्मप्रभावित शिक्षा' का विरोध किया। इससे तात्कालिक पादरियों एवं सरकारने उसका विरोध किया। रूसोके समयमें किसानोंकी दशा बहुत शोचनीय थी। मध्यम वर्गमें निराशा एवं उदासीनता छायी हुई थी। रूसोके मतानुसार 'मानवमें भावनाका स्तर विवेकसे भी ऊँचा है।' उसके अनुसार 'आधुनिक सभ्यताने मनुष्यको अनैतिक एवं व्यभिचारी बनाया है। सभ्यताके पूर्व व्यक्तिका जीवन आदर्शमय था।' उस समयके अन्य विचारक कुशलताको महत्त्व देते थे, परंतु रूसोने स्वतन्त्रताको सर्वोच्च स्थान दिया। वह राजतन्त्रका कट्टर विरोधी था, सुतरां गरीबों और किसानोंका आदर्श दार्शनिक था।

रूसोकी प्राकृतिक स्थितिमें 'मनुष्य नेक, सुखी, सीधे, चिन्तारहित, स्वस्थ, शान्तिप्रिय, एकान्तप्रिय एवं संतुष्ट थे। कोई निजी घर न था और न सम्पत्ति ही थी। विवाह-प्रथा भी नहीं थी और न कुटुम्ब ही था। भूमिके उत्पादनसे ही भौतिक इच्छाओंकी पूर्ति हो जाती थी। पूर्ण समानता, स्वतन्त्रता व्यापक थी। कोई वस्त्र-समस्या भी न थी।' उसके मतानुसार 'प्राकृतिक युगमें आधुनिक बुराइयाँ नहीं थीं, परंतु आधुनिक भलाइयाँ भी न थीं। संक्षेपमें वह एक नेक जंगलीकी भाँति था। प्राकृतिक मनुष्योंको न्याय, अन्याय और मृत्युका भी ज्ञान नहीं था। उसमें बुराई समाजके सम्पर्कसे ही आयी।' उसके मतानुसार 'नैतिकता समाजकी देन है।' हॉब्सके विचारोंका उसने खण्डन किया था।

भारतीय आर्ष इतिहासके अनुसार हॉब्स और रूसो दोनोंकी ही प्राकृतिक स्थितिका वर्णन असंगत है; क्योंकि अपने यहाँके मतानुसार सत्त्वगुणके विकासके समय नैतिकता और सभ्यता थी। सत्त्व-ह्रासके पश्चात् हॉब्सका चित्रण ठीक ही है। 'असमानताका जन्म' पुस्तकमें उसने बताया है कि 'एक मनुष्यने एक भूमिके टुकड़ेको घेरा और कहा कि 'यह मेरा है।' उसने अन्य भोले मनुष्योंसे उस टुकड़ेपर अपना अधिकार स्वीकार करवाया। उसके अनुसार यह मनुष्य ही सभ्यताका जन्मदाता बना। उसी तरह अन्य मनुष्योंने भी धीरे-धीरे भूमिके टुकड़ोंको अपनाया और दूसरोंसे अपना स्वामित्व स्वीकार करवाया। इस तरह व्यक्तिगत सम्पत्ति और असमानता ही सभ्यताकी जन्मदात्री है।'

वस्तुतः कई शब्दोंका दुर्भाग्य भी कभी आया करता है। उनका अर्थ सुन्दर होते हुए भी अधिकांश लोगोंद्वारा उनका प्रयोग कभी बुरे अर्थोंमें होने लगता है। 'सम्प्रदाय' 'साम्राज्य' 'सभ्यता' आदि शब्द इसी ढंगके हैं। इनका अर्थ बहुत श्रेष्ठ होनेपर भी पाश्चात्त्य देशोंमें इनका बहुत दुरुपयोग हुआ और इनका 'फिरकापरस्ती' 'शोषण' एवं 'असमानता' आदिमें प्रयोग होने लगा। वस्तुतः समष्टि, व्यष्टि, अभ्युदय एवं परम निःश्रेयस, अपवर्गके अनुकूल ज्ञान-क्रिया-सम्पन्न शिष्ट व्यक्ति या समाज ही सभ्य कहा जाता है। तदनुकूल परम्परा ही सम्प्रदाय एवं उसका व्यवस्थापक ही धर्मनियन्त्रित साम्राज्य था। रामराज्यका साम्राज्य इसी कोटिका था। तभी केवल मनुष्योंके लिये ही नहीं किंतु पशु-पक्षीको भी वहाँ सरल-सस्ता न्याय मिलता था। रूसोके अनुसार 'उसी असमानताकी रक्षाके लिये पुलिस-सरकार आवश्यक हुई। इन सबके द्वारा अमीरोंके अत्याचारोंको स्थायी बननेमें सहायता मिली। समाजके जन्मसे ही दुःख एवं दरिद्रताका जन्म हुआ। समाज और सभ्यताकी वृद्धिसे गरीबी, भूख, शोषण, हत्या, बीमारीकी वृद्धि हुई। रूसोने अपनी 'सामाजिक अनुबन्ध' (सोशल कंट्राक्ट) पुस्तकमें लिखा है कि 'मनुष्य स्वतन्त्र जन्मा परंतु सभी ओर जंजीरोंसे जकड़ा हुआ।' उसकी

'येमिल' पुस्तकमें भी ऐसे ही विचार हैं। आधुनिक लोग भी मानते हैं कि 'रूसोकी अपनी व्यक्तिगत अनुभूतिका ही यह चित्रण है। अपमान और दुःखकी प्रतिक्रिया-स्वरूप ही उसने यह विचार व्यक्त किया है।' सुतरां इसमें तात्त्विक सत्यताकी अपेक्षा प्रतिक्रियाकी भावना ही अधिक है। उसका विश्वास था कि 'वह नेक था, किंतु समाजकी परिस्थितियोंने उसे अवारा बनाया।' उसने 'सामाजिक अनुबन्ध'में लिखा है कि किस प्रकार एक ऐसी संस्था स्थापित हो जिससे प्रत्येक व्यक्ति अन्य व्यक्तियोंके साथ संघटित होते हुए भी केवल अपनी-अपनी इच्छाका पालन करे, अर्थात् स्वतन्त्रता सुरक्षित रखते हुए कैसे सुव्यवस्था स्थापित की जाय। किंतु रामराज्यीय दृष्टिकोणसे बिना इच्छाओंपर नियन्त्रण किये अर्थात् बिना उन्हें सीमित बनाये कोई भी संघटन हो ही नहीं सकता। समान उद्देश्यकी पूर्तिके लिये एक सूत्रमें सबके मन और इच्छाओंका आबद्ध होना ही वास्तविक संघटन है।

कहा जाता है कि 'रूसोकी समस्या स्वतन्त्रता और सुव्यवस्थाका समन्वय थी। इसकी पूर्तिके लिये उसने परम्परागत अनुबन्धका प्रयोग किया। हॉब्सके अनुसार वह व्यक्तियोंद्वारा अपने सभी अधिकारोंका समर्पण आवश्यक समझता था और लॉकके अनुसार इन अधिकारोंको एक ऐसे आदर्श संघको दिया जाना ठीक मानता था जो व्यक्तियोंकी एकं राशि हो।' रूसोके अनुसार 'अ, ब, स, द व्यक्तियोंको अपने सब अधिकार अ+ब+स+द संघको इकरारनामा (अनुबन्ध) के द्वारा समर्पण करना चाहिये। इसी व्यवस्थासे प्रत्येक व्यक्तिके अधिकारोंकी सुरक्षा हो सकती है। इस संघ-राज्यके नियम प्रत्येक व्यक्तिकी स्वीकृतिसे निर्मित होंगे।' परंतु हॉब्सके समान 'दीर्घकायको अधिकारोंका समर्पण' उसकी दृष्टिमें 'स्वतन्त्रताका त्याग या मानवताका त्याग है। इस समर्पणसे व्यक्ति दासतुल्य हो जाता है। दीर्घकाय ही सर्वेसर्वा बन जाता है। अतः ऐसा त्याग सिवा पागलपनके और कुछ नहीं।' इसी तरह रूसो लॉककी प्रतिनिधि-सभाका भी विरोधी था। ब्रिटेनकी निर्वाचन-प्रथाका भी वह समालोचक था। निर्वाचनके बाद भी व्यक्ति दासतुल्य ही हो जाता है। उसके मतानुसार 'आलस्यके कारण व्यक्ति या व्यक्तिगत समूह न स्वयं सुरक्षित रह सकता है, न राज्यद्वारा ही सुरक्षित रह सकता है। करोंके रूपमें धन देकर, सेनाद्वारा व्यक्तिगत रक्षा और प्रतिनिधियोंद्वारा सुव्यवस्थाका प्रबन्ध करना मूर्खता ही है।' लॉकके मतानुसार 'सभ्यतासे पहले भी व्यक्ति विवेकशील एवं न्याय-अन्यायका ज्ञाता था।' यही विचार रूसोके समयके व्यक्तिवादियोंका था। रूसोने उसका खण्डनकर यूनानी ग्रीक दर्शनके अनुसार बतलाया कि 'यह सब राज्यद्वारा ही सम्भव हो सकता है। राज्यके द्वारा ही व्यक्ति व्यक्तित्वको भी पा सकता है। उसके बिना मनुष्य मक्खीके तुल्य है। अधिकार,

कर्तव्यपरायणता, स्वतन्त्रता, आत्मोत्थान, सम्पत्ति, नैतिकता और न्याय-अन्यायका ज्ञान राज्यद्वारा ही सम्भव है।' यह सब व्यक्तिवादका उत्तर था।

यहाँ भी रूसोके कथनमें पूर्वापरविरोध है। एक ओर वह समाज और सभ्यताको तथा राज्यसरकार आदि संस्थाओंको गरीबी, भुखमरी, अत्याचार-का सहायक मानता है। उसके पहले व्यक्तिको नैतिक एवं नेक मानता है और दूसरी ओर राज्यके बिना व्यक्तियोंको मक्खीतुल्य बतलाता है। रूसो आदर्शराज्यको ही सत्ताधारी मानता था। अर्थात् इस राज्यकी सामान्य इच्छाको सत्ताधारी मानता था। लाकका राज्य संरक्षक मात्र था, सत्ताधारी नहीं। हॉब्सका 'दीर्घकाय' ही सब कुछ था। रूसोने अपने जनवादी राज्यको एक अवयवीकी भाँति माना है। 'सत्ताधारी जनसभा या धारासभा इसका सिर है। नियम एवं परम्परा मस्तिष्क; न्यायाधीश, सरकारी कर्मचारी मस्तिष्कके स्नायु; व्यापार-व्यवसाय और कृषि मुख और उदर; आय रक्त और नागरिक शरीरके अङ्गोंकी भाँति हैं। राज्य एवं नागरिकोंके सम्बन्ध अवयव एवं अवयवीके सम्बन्धके तुल्य हैं। अवयवोंकी सुव्यवस्था अवयवीकी सुव्यवस्थापर एवं अवयवीकी सुव्यवस्था अवयवोंकी सुव्यवस्थापर निर्भर है। अर्थात् राज्य एवं नागरिकोंकी सुव्यवस्था एवं प्रगति अन्योन्याश्रित है।' उसके अनुसार 'सामान्य इच्छा सदा ही नागरिकोंकी सामान्य इच्छाका प्रतिनिधित्व करेगी और वह उनके स्थायी हितका प्रतिनिधित्व करेगी।' इसी आधारपर रूसोने यह भी कहा था कि 'नागरिक सदा ही राज्यहितमें व्यक्तिगत हित देखेगा, सदा राज्यकी सामान्य इच्छाके अनुसार ही सोचेगा। ऐसा न करनेवाला नागरिक भ्रान्त है। ऐसे भ्रान्तको राज्यकी इच्छाका अनुसरण करनेके लिये बाध्य किया जायगा, अर्थात् उसे स्वतन्त्र होनेके लिये राज्यद्वारा बाध्य किया जाना चाहिये।'

वस्तुतः यह सामान्य इच्छा एक प्रत्यक्ष जनवादी संघ हॉब्सके दीर्घकायके ही तुल्य सर्वेसर्वा है और वह निरपेक्ष है। मनुष्यकी सद्भावनापर रूसोका अटूट विश्वास था। उसके अनुसार 'राजनीति और प्रचारकोंद्वारा विशुद्ध मनुष्य प्रवञ्चनामें डाला जाता है। राजनीतिक दल, समाचारपत्र आदि यन्त्र ऐसी प्रवञ्चनाके स्रोत हैं। ये यन्त्र नागरिकोंको कृत्रिमरूपसे संस्थाओंमें विभक्त कर देते हैं। दलोंकी इच्छासे उसके सदस्य प्रभावित भी होते हैं। इन दलों या यन्त्रोंद्वारा कई सामान्य इच्छाएँ बन जाती हैं। अतः ऐसे राजनीतिक दल या सङ्घ आदर्श सुव्यवस्थामें अनावश्यक ही नहीं, किंतु बाधक भी होते हैं। इनके न रहनेपर राज्य और नागरिकोंमें सीधा सम्बन्ध रहता है। नागरिक सदा ही दल या संस्थाओंकी अपेक्षा राज्यके हितमें ही अपना हित समझेंगे। वे सामान्य इच्छाके अनुसार जीवन-यापन करना ठीक समझते हैं।' इसीलिये रूसो 'अद्वैतवादी दार्शनिक' समझा जाता है। 'संघों, दलोंको समाप्त करनेके लिये उनकी संख्या बहुत बढ़ा देनी चाहिये। इससे

वे स्वयं अस्तित्वहीन हो जाते हैं ।' रूसो प्राचीन नैसर्गिक स्वतन्त्रताकी प्राप्ति सम्भव नहीं समझता था। परंतु एक उच्च नैतिक नागरिक स्वतन्त्रताकी प्राप्ति सम्भव मानता था।

इसके मतानुसार 'नागरिकोंकी सभा ही नियमनिर्णयकी अधिकारिणी है; प्रतिनिधि-सभा नहीं। नियमोंको कार्यान्वित करनेके लिये कार्यपालिका होती है। कार्यपालिका नागरिकोंकी सभाके प्रति पूर्ण उत्तरदायी होती है। यह कार्यपालिका ही सरकार होती है।' रूसोके मतानुसार 'ऐसा जनवाद अपने सदस्योंसे स्थायी सतर्कताकी आशा रखता है। यद्यपि ऐसे जनवादको सदा ही खतरा रहता था। उसका आदर्श वाक्य था 'मैं खतरनाक स्वतन्त्रताको शान्ति-पूर्ण दासत्वसे अच्छा समझता हूँ ।' ऐसे नागरिक ही इस व्यवस्थाको स्थायी बना सकते हैं।'' रूसोका यह ऐतिहासिक वाक्य है कि 'जनवाणी ही देववाणी है।' उसने सामान्य इच्छाको निरपेक्ष, अदेय, अविभाज्य, स्थायी एवं सत्य माना है। उसने हॉब्सकी 'निरपेक्षता' और लॉककी 'जनस्वीकृति' का मिश्रण किया है। उसने हॉब्सकी निरपेक्षताको जनवादी रूप और लॉककी जनस्वीकृतिको सक्रिय रूप दिया। रूसोकी पुस्तकोंसे क्रान्तिकी ज्वाला धधक उठी, परंतु वह स्वयं क्रान्तिकारी नहीं था। उसने १७५२ के अपने एक भाषणमें कहा कि 'क्रान्तिको उतना ही भयानक मानना चाहिये, जितना कि उन बुराइयोंको—जिन्हें क्रान्ति दूर करना चाहती है।' उसने जेनेवाके नागरिकोंको लिखा था कि 'आप स्वतन्त्रता अवश्य प्राप्त कीजिये; परंतु मानव-हत्याके विरुद्ध दासताको पसंद कीजिये।' नियम बनानेका कार्य किसी राष्ट्रके सम्पूर्ण नागरिकोंद्वारा हो सकना सम्भव नहीं होता। जनताद्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियोंद्वारा ही वह सम्भव होता है। अतः प्रतिनिधिसभाका विरोध भी रूसोका अयौक्तिक है। 'सभ्य समाजने व्यक्तिको दुखी, अनैतिक, व्यभिचारी बनाया' यह भी रूसोकी धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। विशिष्ट विचारशील लोग ही मार्गदर्शक हो सकते हैं।

राब्सपीयरने रूसोको 'राज्यक्रान्तिका देवता' घोषित किया था। रूसो व्यक्तिवादका समर्थन करते हुए पूर्ण अराजकतावादी स्वतन्त्रताका समर्थक बन जाता है और सभ्य समाजका कट्टर विरोधी प्रतीत होता है। वह स्वतन्त्रता, नैतिकता एवं समाजका विरोध मानता था। इसी आधारपर फ्रांसीसियोंने तत्कालीन समाजका विरोध किया, व्यक्तिगत सुरक्षाके लिये संघर्ष किया और क्रान्तिके पश्चात् 'राष्ट्रिय सभा' की घोषणा हुई। यह विचारधारा भविष्यके व्यक्तिवादियोंकी पृष्ठभूमि बनी; क्योंकि व्यक्तिवादी भी स्वतन्त्रता तथा समाजका परस्पर विरोध मानते थे। बार्करने रूसोके लेखको 'व्यक्तिवादका प्राण' कहा, था, परंतु अन्यत्र रूसो अधिनायकवादका भी समर्थक प्रतीत होता है; जैसा पहले दिखाया जा चुका है कि

'राज्य विना व्यक्ति मक्खी-तुल्य है।' राज्यद्वारा व्यक्तिको स्वतन्त्र होनेके लिये बाध्य किया जाना वह ठीक मानता था। राज्यद्वारा निर्मित नागरिक धर्मका उल्लङ्घन करनेवाले नागरिकको फाँसीका दण्ड देना उचित समझता था। इसीलिये व्हानने रूसोको 'व्यक्तित्वका शत्रु' भी कहा है। हाँ, वह यह अवश्य कहता है कि 'सामान्य इच्छाका स्रोत जनमत है।' एक तरफ वह कहता है—'मनुष्य जन्मा स्वतन्त्र परंतु सभी ओर जंजीरोंसे जकड़ा हुआ'। और उसी पुस्तकमें राज्यकी निरपेक्षताका भी वर्णन करता है। उसका यह भी कहना है कि 'पूर्ण स्वतन्त्रता किसी ही देशमें सम्भव है, सब जगह नहीं।' वह स्वतन्त्रताका जलवायुसे भी घनिष्ठ सम्बन्ध मानता है। व्यक्तिगत सम्पत्तिको उसने समाज और राज्यकी धात्री बताया और उसे ही दरिद्रता और दासताकी जननी भी। किंतु वही अन्यत्र सम्पत्तिको भली वस्तु भी बताता है। 'येमिल' में भी उसने व्यक्तिगत सम्पत्तिके आधारको न्याययुक्त माना है। उसकी रक्षा राज्यका कर्तव्य बताया है और 'कार्सिका' पुस्तकमें कहा है कि 'व्यक्तिगत सम्पत्तिका अन्त नहीं किया जा सकता है।' इस तरह कहीं वह इस 'सम्पत्तिका शत्रु' प्रतीत होता है और कहीं उसका 'पुजारी'। इसी तरह कहीं 'स्वतन्त्रताका अग्रदूत' तो कहीं 'दासताका अग्रदूत'। जनवादके विपरीत वह सीमित राजतन्त्रका भी समर्थक बना। कहीं शिक्षाकी स्वतन्त्रताको ठीक कहा तो कहीं उसका राजतन्त्र होना ठीक कहा। कहीं कलाकी निन्दा की तो कहीं कलाकी प्रशंसा। कहा जाता है कि 'रूसोका जीवन जैसे अव्यवस्थित था वैसा ही उसका दर्शन भी।'

रामराज्यकी दृष्टिमें खल प्राणीकी सम्पत्ति अवश्य शोषणका कारण होती है; परंतु शिष्ट, सभ्य, साधु पुरुषकी सम्पत्ति सदा ही परोपकारके काममें आती है। व्यक्तिद्वारा समाज बनता है और समाजसे व्यक्तिको उन्नत होनेमें सुविधा प्राप्त होती है। अतः व्यक्ति और समाजका विरोध नहीं; किंतु समन्वय ही उचित है। इसी तरह सभी लोग सब विषयके ज्ञाता नहीं हो सकते। सब विषयमें सबकी सम्मति लेनेकी अपेक्षा जिस विषयका जो जानकार हो उस विषयमें ही उसकी सम्मति लाभदायक होती है। अतः सम्पूर्ण नागरिक संघको नियमनिर्माणमें लगाना व्यर्थ ही है। स्पष्ट ही है कि एक शिशु-चिकित्सामें एडवोकेट या इंजीनियरकी सम्मति लेना व्यर्थ है। कुछ लोग इन सब बातोंको इसीलिये महत्त्व देते हैं कि इनके द्वारा राज्यको ईश्वरीय संस्था माननेका अन्धविश्वास दूर हुआ। वे लोग इस मान्यताको अवैज्ञानिक कहनेका भी साहस करते हैं। परंतु यदि विज्ञानका अर्थ सत्यज्ञान ही है तब तो युक्ति, तर्क और अपौरुषेय वेदादि शास्त्र-सिद्ध ईश्वर एवं ईश्वरीय व्यवस्थाओंको अवैज्ञानिक कहना केवल साहसमात्र है। राजनीतिशास्त्रोंके द्वारा वस्तुतः शाश्वत सत्य सिद्धान्तकी अभिव्यक्तिमात्र होती है। मानवीय संस्थाकी अपेक्षा दैवी संस्थामें कहीं अधिक जानकारी प्राप्त करना

आवश्यक होता है। मध्यकालीन योरोपीय लोगोंका यह विश्वास कि 'ईश्वरका प्रतिनिधित्व करनेवाला अत्याचारी शासक भी मान्य होना चाहिये, क्योंकि पापी नागरिकोंको दण्ड देनेके लिये ईश्वरने दुष्ट शासनकी नियुक्ति की है' अप्रामाणिक है। शास्त्रोंका स्पष्ट मत है कि मात्स्यन्यायसे पीड़ित जनताकी माँगपर ही विशिष्ट शक्ति एवं गुणसम्पन्न शासक ईश्वरद्वारा नियुक्त हुआ था। जनरञ्जन करना उसका परम कर्तव्य है। अतः जनवादका धर्म-नियन्त्रित रामराज्य जैसे शासनमें पूर्ण उपयोग है। केवल व्यक्तियोंद्वारा जन्म होनेमात्रसे राज्य अच्छा नहीं हो सकता। हॉब्सका दीर्घकाय राज्य व्यक्तियोंद्वारा होनेपर भी निरपेक्ष होनेसे लॉक एवं रूसोने उसे हानिकारक बताया है। आधुनिक आलोचक ही 'सोशल कंट्राक्ट' सामाजिक समझौता या इकरारनामाको अप्रामाणिक मानते हैं।

ब्रेन्थम आदिकोंका कहना है कि 'व्यक्तिको संघोंमें रहना हितकर प्रतीत होता है, इसीलिये फिर संघ उपयोगिताकी दृष्टिसे राज्य बनाता है। कहा जाता है कि राज्यको 'कृत्रिम संस्था माननेसे मनुष्य उसमें रद्दोबदल करना सम्भव समझता है।' परंतु 'राज्य ईश्वरीय संस्था है'—इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं कि उसमें गड़बड़ी नहीं हो सकती और उसमें सुधार नहीं हो सकता। मनुष्यका शरीर ही ईश्वरीय है। हेगेलके अनुयायी मार्क्सने उसके द्वन्द्ववादको 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' का रूप दिया। हेगेल जैसे निरपेक्ष आदर्श राजतन्त्रका समर्थक था, वैसे ही मार्क्सने भी सर्वहाराकी अधिनायकताका समर्थन किया। रूसमें वही निरपेक्षता स्थिर हुई। कहा जाता है कि हेगेलवादी या मार्क्सवादी अधिनायकवादका रूसमें बोलबाला है। इससे जनतन्त्र-वादका कोई मेल नहीं हो सकता है। सोवियत रूसकी उन्नति अवश्य हुई है, परंतु व्यक्तिगत स्वतन्त्रता-जैसी बहुमूल्य वस्तु वहाँ समाप्त हो गयी। जब एक पक्षी भी सोनेके पिंजड़ेमें मीठे फल खाकर और ठंढा पानी पीकर बंद रहना पसंद नहीं करता, बल्कि आजादीसे खट्टे फल खाकर और खारा पानी पीकर भी स्वतन्त्र रहना ही पसंद करता है, तब क्या मनुष्य उस पक्षीसे भी गया बीता है जो ऐसी स्वतन्त्रता पसंद करेगा?

मार्क्सवादियोंके अनुसार राज्य दो ही प्रकारका होता है—एक सर्वहाराका अधिनायकत्व और दूसरा पूँजीपतियोंका अधिनायकत्व। रूसी राज्य राजनीति-शास्त्रकी परम्पराके विपरीत भी है। प्रजातन्त्रके अङ्ग—भाषण, कार्य, संगठन आदिकी स्वतन्त्रताका वहाँ कोई मूल्य नहीं है। सोवियत व्यवस्थाके विरुद्ध वहाँ कोई मत व्यक्त नहीं कर सकता और न कोई संगठन ही हो सकता है। फिर

भी मार्क्सवादी रूसी राज्यको पूर्णजनतन्त्रवादी कहनेकी धृष्टता करते हैं। जॉन लॉककी जन-स्वीकृतिका भी रूसमें कोई महत्त्व नहीं है। एकदलीय व्यवस्था ही वहाँ सब कुछ है।

स्टालिनके मतानुसार पूँजीवादी देशोंमें भिन्न-भिन्न वर्गोंके वर्गीय अर्थैक्यका प्रतिनिधित्व राजनीतिक दलोंद्वारा होता है अर्थात् एक राजनीतिक दल एक वर्गके या कुछ वर्गोंके अर्थैक्यका प्रतिनिधित्व करता है। सोवियत रूसमें वर्गोंका अन्त हो गया है, अतः वहाँ राजनीतिक दलोंकी आवश्यकता ही नहीं है; परंतु राज्य-शास्त्रमें राजनीतिक दल जनतन्त्रके प्राणतुल्य माने जाते हैं। उन्हें वर्गीय संस्था कहकर अनावश्यक बतला देना जनतन्त्रीय विचारके विपरीत है। विरोधी दलकी अनुपस्थितिमें वास्तविक जनवाद असम्भव ही है। फिर 'वर्गका अन्त हो गया' यह तो तभी विदित हो सकता है, जब भाषण, प्रकाशन और संगठनकी स्वाधीनता हो। मार्क्सवादियोंके अनुसार 'सर्वहाराका अधिनायकत्व संक्रमणकालकी ही वस्तु है। अन्तमें उत्पादन, वृद्धि एवं सुव्यवस्थाके द्वारा राज्यका अत्यन्त लोप होकर वर्गविहीन, राज्यविहीन समाजकी स्थापना होगी।' परंतु स्टालिनने बतलाया है कि 'सोवियत राज्य पूँजीवादी राज्योंसे घिरा हुआ है। शायद एंगेल्सको, जिसने राज्यलोपकी बात कही है, अन्तारार्ष्ट्रिय परिस्थितिका अनुमान नहीं था।' मार्क्सवादी ऐतिहासिक मास्कोके मुकदमोंको सोवियतविरोधी षड्यन्त्रोंका प्रतीक बतलाकर कहते हैं कि 'सोवियट राज्यको शस्त्रास्त्र-सम्पन्न गुप्तचर पुलिस सेनासे पूर्ण दृढ़ बनाना ही आवश्यक है।' अतः राज्यलोपकी कल्पना मनोराज्यमात्र रह गयी।

चाणक्यने ठीक ही कहा है कि शक्ति-मदसे बड़ा कोई मद नहीं है। 'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं' यह तुलसीदासजीकी उक्ति भी सभी व्यवस्थाओंपर लागू होती है। धर्मनियन्त्रित रामराज्य-प्रणाली ही ऐसी व्यवस्था है, जिसमें राज्यमदका संचार नहीं हो पाता। राज्यमदका पान कर वे ही मत्त होते हैं जिन्होंने साधु-सभाका सेवन नहीं किया—

जे अचवँत नृप मातहिं तेई। नाहिन साधुसभा जेहिं सेई॥

भरत-जैसे साधु पुरुषोंको तो विधि-हरि-हर-पद पानेपर भी मद नहीं हो सकता है। क्या कभी नगण्य तक्र-बिन्दुसे क्षीर-समुद्र फट सकता है—

भरतहि होइ न राजमद बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ॥

अस्तु ! धर्महीन सोवियत-शासन शक्ति-मदका अपवाद नहीं कहा जा सकता। समाजवादी ढाँचेमें आर्थिक सत्ताका तो अन्त हो गया, परंतु सर्वहारा-दलके अधिनायकत्वमें राजनीतिक तथा सामाजिक सत्ताका अन्त नहीं होता। नये सत्ताधारी शक्तिमदके अपवाद नहीं होते। क्रान्तिके उपरान्त ये शक्तिशाली व्यक्ति अपने स्थानोंसे अलग नहीं होना चाहते। फलतः न जनतन्त्र ही सम्भव होता है और न राज्यका लोप ही। मार्क्सवादी कहते हैं कि 'राष्ट्रियता भी पूँजीवादका ही परिणाम है। सर्वहाराकी क्रान्तिमें सभी प्रकारके शोषणोंका अन्त होता है, फिर राष्ट्रिय शोषण भी नहीं रहेगा।' परंतु क्या सोवियत रूसमें सभी शोषणोंका अन्त हो गया ? क्या अब वहाँ राष्ट्रियता समाजवादी ढाँचेमें नहीं पनप रही है ? मार्क्सवादके अनुसार विश्वक्रान्तिके अन्तमें भी राज्य तो आवश्यक होंगे ही। फिर इन राज्योंका परस्पर सम्बन्ध क्या होगा ? यदि मध्यकालीन पोप या सम्राट्के तुल्य एक ही अधिनायक या शासक संचालक होगा तब तो उसकी अपेक्षा एक धर्मनियन्त्रित राम-जैसा सार्वभौम राजा या राज्योंके धर्मनियन्त्रित प्रतिनिधियोंकी सभाद्वारा संचालन हो तो भी क्या हानि है ?

महाभारतमें सामाजिक अनुबन्ध

महाभारत शान्तिपर्वमें शरशय्यास्थ भीष्मजीने अन्य धर्मोंके साथ राजधर्मका भी उपदेश किया है। उसमें उन्होंने अराजकताको बड़ा पाप बताया है और कहा है कि 'राज्यस्थापनाके लिये उद्यत बलवान्के सामने सबको ही झुक जाना चाहिये। अराजक राज्यको दस्यु नष्ट कर देते हैं—'अनिन्द्रमबलं राज्यं दस्यवोऽभिभवन्त्युत।' अराजक राज्य निर्वीर्य होकर नष्ट हो जाते हैं। अराजकतासे अधिक कोई पाप नहीं।

अराजकाणि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा पुनः।
न हि पापात् परतरमस्ति किंचिदराजकात्॥

(शां० प० राजा० ६७। ७)

कुछ लोग भीष्मद्वारा वर्णित मात्स्यन्यायकी हाब्सकी प्राकृतिक स्थितिसे तुलना करते हैं। कहा जाता है कि जिस युगमें मनुष्य प्राकृतिक जीवन व्यतीत करता था, वह 'स्टेट आफ नेचर' (प्राकृतिक दशा) है। जिसमें प्राकृतिक युगके बन्धनसे मुक्त होकर सामाजिक जीवनमें प्रवेश करता है, उसे 'स्टेट आफ सोसाइटी' कहते हैं और जिसमें राज्य निर्माण करके राजनीतिमें प्रवेश करता है, वह है 'स्टेट आफ पोलिटिकल सोसाइटी'। जैसे जलमें प्रबल मत्स्य निर्बल मत्स्योंका भक्षण कर लेता है, वैसे ही प्रबल मनुष्य दूसरे निर्बल मनुष्योंके वित्त-कलत्र आदि सब कुछ छीन लेते हैं, एक दूसरेकी हत्या कर देते हैं—

अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान्॥
(शां० प० ६७। १७)

इसे ही 'लाजिक आफ फिश' (मात्स्यन्याय) कहते हैं। इसी मात्स्यन्यायसे पीड़ित होकर मनुष्योंने एकत्र होकर सदाचारसम्बन्धी कुछ नियम बनाये। जैसे कठोर वाणी, पर-स्त्री, पर-धन-हरण आदिके त्यागका नियम बनाया गया। इससे काम, क्रोध, लोभ, मोहादिसे छुटकारा मिलता है और मनुष्य घृणित नारकीय यातनामय, भयभीत एवं सशङ्क क्षणिक जीवनसे हटकर सभ्य जीवनमें प्रवेश करता है।

वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात् पारजायिकः।
यः परस्वमथादद्यात् त्याज्या नस्तादृशा इति॥
समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्। (शां० प० ६७अ०)

हाब्सने भी 'स्टेट आफ नेचर' (प्राकृतिक राज्य) का इसी प्रकार वर्णन किया है, परंतु हाब्सके अनुसार मनुष्यमें केवल भय-वृत्ति थी। इसी भयसे बचनेके लिये स्वार्थमयी वृत्तिसे राज्यका विकास हुआ। परंतु भीष्मके अनुसार लोभ, मोह, काम, क्रोध, मद, मत्सर—ये छः प्रधान आसुरी वृत्तियाँ मात्स्यन्यायके कारण हैं। अतः इन सबसे छुटकारा पाना सामाजिक जीवन-निर्माणका उद्देश्य है। इन वृत्तियोंपर विजय प्राप्त करना ही सभ्यता है।

पर ये सामाजिक नियम (मारल लाज) ही बने रहे, वास्तविक नियम (पाजिटिव लॉ) न बन सके; क्योंकि उन नियमोंका पालन करनेके लिये विवश करनेवाली कोई सत्ता न थी। जनताकी स्वीकृतिमात्र ही उसका आधार था। भीष्मका यह समाज-निर्माण सामाजिक अनुबन्ध या पारस्परिक समझौता था; किंतु नियम-निर्माणके बाद उन नियमोंका कोई नियामक न होनेसे पालन न हो सका। लोग मनमानी उन नियमोंका उल्लङ्घन करने लगे, तब उन्हें एक शासककी आवश्यकता हुई। जिसके नियन्त्रण या दण्ड-भयसे प्रजाको नियम-पालनके लिये विवश होना पड़े। एतदर्थ प्रजाने ब्रह्माके पास जाकर विनय की कि एक राजा या शासकके बिना हमलोग नष्ट हो जायँगे, अतः हमलोगोंके लिये कोई समर्थ योग्य शासक दीजिये, जिसका कि हमलोग सम्मान करें और वह हमलोगोंका रक्षण करे।

सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम्।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश॥
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत्। (शां०प०६७।२०-२१)

तब ब्रह्माने प्रजाके सामने अष्टलोकपालोंके दिव्य प्रताप, तेज आदिसे युक्त मनुको प्रस्तुत किया। परंतु मनुने शासक बनना अस्वीकार कर दिया और कहा कि राज्य चलानेमें पापका डर रहता है, राज्य चलाना बहुत कठिन काम है।

राजाको दण्ड देना पड़ता है। विशेषतः मिथ्याचारमें संलग्न प्रजाका पालन तो बहुत ही कठिन है। इसपर प्रजाने कहा कि 'तुम डरो मत, दण्ड देना पाप नहीं; वह तो पाप करनेवालोंके पापोंका ही फल है और हमलोग पशु तथा सुवर्णके लाभका पचासवाँ भाग तथा धनका दसवाँ भाग राजकोष-वृद्धिके लिये तुम्हें देते रहेंगे। उत्तम वस्तु तुम्हें भेंट की जायगी। शस्त्रोंसे सुसज्जित शूर तुम्हारा अनुसरण करेंगे। इस तरह तुम दुष्प्रधर्ष और प्रतापयुक्त होकर विजयी होओगे। राजासे सुरक्षित होकर प्रजा जो पुण्यकर्म करेगी, उस धर्मका चतुर्थांश भी तुम्हें मिलता रहेगा। इस तरह सुखसे प्राप्त धन, धर्म एवं बलसे उपबृंहित होकर तुम हमलोगोंका उसी तरहसे पालन करोगे, जैसे इन्द्र देवताओंका। तुम सूर्यकी भाँति चमकते हुए विजयके लिये प्रस्थान करो। शत्रुओंका मान-मर्दन करो, तुम्हारी सदा जय होगी।'

तमब्रुवन् प्रजा मा भैः कर्तॄनेनो गमिष्यति।
पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोषवर्धनम्।
मुख्येन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः॥
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः।
विजयार्थं हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव॥
मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तु तव सर्वदा।
(शां० प० रा० ६७। २३—२५। २९)

इस तरह राजाका वरण करके प्रजाने राज्यका निर्माण किया। यहाँ सामाजिक संघटन तथा सामाजिक नियमोंको स्थायी एवं अक्षुण्ण रखनेके लिये ही राज्यका निर्माण हुआ है। अतः राजाको उतने ही अधिकार दिये गये हैं जितने कि उक्त कार्यके लिये आवश्यक थे।

हाब्सके कल्पनानुसार 'राजाको प्रजाने अपने सभी अधिकार नहीं सौंपे। अतएव हाब्सके 'लिबियाथन' (दीर्घकाय) के तुल्य यह राजा निरंकुश नहीं था। उसके अधिकार सीमित थे। यदि वह अधिकारोंका दुरुपयोग करे तो जनताको उसे पदच्युत करनेका भी अधिकार था।' हाब्सके अनुसार 'दीर्घकायका विरोध करना कथमपि न्यायसंगत नहीं है।' परंतु भीष्मके अनुसार ऐसा नहीं। यहाँ उद्धत वेन-जैसे राजाको प्रजाप्रतिनिधि ऋषियोंने पदच्युत ही नहीं; उसे नष्ट भी कर दिया था। यही भीष्म-सम्मत सामाजिक समझौताका सिद्धान्त या सोशल कंट्राक्टकी थ्योरी है।

कुछ लोग भीष्मद्वारा वर्णित मात्स्यन्यायके युगको हाब्सका प्राकृतिक युग ही मानते हैं, परंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है; क्योंकि भारतके अनुसार वस्तुतः कृतयुगमें सभी प्रजा धर्मनिष्ठ तथा परम विवेक, विज्ञान, संयम-सम्पन्न थी। कालक्रम-से सत्त्वगुणके ह्रास होनेपर धर्म-ह्रास होनेसे रज, तम एवं तदुद्भूत अधर्म बढ़नेपर

ही मात्स्यन्यायका आविर्भाव हुआ। मात्स्यन्यायकी स्थिति प्राकृतिक अवस्था नहीं है। वह विकृतिभूत अवस्था है। शास्त्रीय सिद्धान्तानुसार विकासकी अपेक्षा ह्रासका ही पक्ष तथ्य है। इसीलिये विष्णुके पुत्र ब्रह्मा सर्वज्ञ हुए। ब्रह्माके पुत्र वशिष्ठ आदि भी सर्वज्ञकल्प हुए। जिनकी सृष्टि जितनी कारणके समीप थी, उनमें उतनी ही स्वच्छता थी। फिर जितनी-जितनी कारणसे दूर होती गयी, उतनी ही स्वच्छता होती गयी। अतः कारणके अव्यवहित समीपस्थ प्रजा (प्राणी) सात्त्विक, धर्मात्मा, विचारशील तथा नियन्त्रित थी। वैसे भी हर एक कृतयुगमें सत्त्वका विकास अधिक ही होता है। जैसे प्रत्येक ग्रीष्म, हिम आदि ऋतुमें गर्मी, जाड़ा आदिका प्रादुर्भाव होता है। उसी तरह कृतयुगमें सत्त्वका विशेषरूपसे विकास होता है। इस तरह मात्स्यन्यायकी अवस्था विकार ही है, स्वाभाविक नहीं। इसीलिये दूसरे प्रसङ्गमें उसी राजधर्ममें भीष्मने बतलाया है—

नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत्॥
न वै राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥
पाल्यमानास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत।
खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान् मोह आविशत्॥
ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत्॥
नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम॥
अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो॥
तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नामाभिसंस्पृशत्।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्ये युधिष्ठिर॥
अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन्॥
विलुप्ते नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन् धर्मो नाशमथागमत्॥
नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत्।
ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः॥

(महा० शां० प० राजधर्म० ५९। १३—२२)

'आदि कृतयुगमें जिस तरह राज्य उत्पन्न हुआ वह सुनो, उस समय राज्य, राजा, दण्ड एवं दण्ड देनेवाला कुछ भी नहीं था। समस्त प्रजा धर्मके अनुसार चलती थी और उसी धर्मसे परस्पर रक्षा कर लेती थी। (उस समय अनन्त विद्याओंका उद्गमस्थान वेद तथा तदनुसारी आर्षशास्त्र सबको अभ्यस्त थे। अतः धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी उचित विवेकपूर्वक सभी व्यवस्थाएँ चल रही थीं। सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञानकी उन्नति पराकाष्ठापर पहुँची थी। रूसो तथा मार्क्स आदिद्वारा कल्पित भविष्यके स्वर्णयुग उसके सामने नगण्य थे।) धर्मनीतिसे अन्योन्य-पालन-संलग्न प्रजा कालक्रमसे खेद या थकावटको प्राप्त हो गयी, फिर उसमें मोहका प्रवेश हुआ। मोहके कारण स्मृतिभ्रंश हुआ और फिर धर्मका लोप होने लगा। स्मृतिभ्रंश होनेसे लोग लोभके वश होकर विचारहीन हो गये और फिर रागकी प्रवृत्ति हुई और फिर कामका प्रादुर्भाव हुआ। उससे कार्याकार्यका ज्ञान भी न रहा, फिर तो अगम्यागमन, भक्ष्याभक्ष्य, वाच्यावाच्य, दोषादोषका विचार नष्ट हो गया। ऐसी दशामें वेद जो कण्ठस्थ हो गये थे, विस्मृत हो गये। वेदके विस्मरणसे वेदोक्त धर्मकर्मका भी लोप हो जाना स्वाभाविक था। (इससे स्पष्ट है कि पहले वेदादि शास्त्रों एवं तदुक्त धर्म-कर्म, विवेक-विज्ञानोंका पूर्णरूपसे प्रकाश था।) इस स्थितिको देखकर देवतालोग त्रस्त होकर ब्रह्माकी शरण गये और उस भयके दूर करनेका उपाय पूछा।' ब्रह्माजीने सोच-विचारकर सबके कल्याणार्थ धर्म, अर्थ, कामका बोधक तथा प्रापक एक लाख अध्यायोंका दण्डनीति-शास्त्र बनाकर देवताओंको दिया। उसे सर्वप्रथम शंकरजीने ग्रहण किया। उनसे बृहस्पति, शुक्र, इन्द्रादिने ग्रहण किया और उसका संक्षेप भी किया—

ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः॥
उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता॥

(शां० प० ५९। २९, ७७)

यद्यपि यह शास्त्र भी वेदाभ्यासजन्य संस्कृत ब्रह्मबुद्धिसे प्रादुर्भूत होनेके कारण वेदमूलक ही था, फिर भी उस परिस्थितिके लोगोंमें विशेषरूपसे प्रभावशाली हुआ। प्रभुसम्मत वेदवाक्योंकी अपेक्षा सुहृद्-सम्मत वाक्योंके रूपमें व्यक्त होकर यह अधिक उपकारी सिद्ध हुआ। फिर भी इसे पूर्णरूपसे कार्यान्वित करनेके लिये दण्डकी अपेक्षा थी। दण्डसे युक्त होकर निग्रहानुग्रहद्वारा लोकरक्षणका हेतु बनकर ही यह दण्डनीति प्रचलित हो सकती थी। अतः योग्य समर्थ दण्डप्रणेता प्राप्त करनेके लिये देवता विष्णुके पास गये और उनसे श्रेष्ठ शासक माँगा। भगवान् नारायणने उन्हें श्रेष्ठ लोकपालोंके दिव्य

सद्‌गुणोंसे सम्पन्न एक निर्दोष विरजा (रजोगुणसे रहित) राजा निर्माण करके दिया।

ततः संचिन्त्य भगवान् देवो नारायणः प्रभुः।
तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम्॥ (८८)

वह राजा प्रभुत्व-निरपेक्ष होकर त्याग-वैराग्यकी ही ओर रुचि रखता था। उसका पुत्र कीर्तिमान् और पौत्र कर्दम हुआ। क्रमेण अंग, फिर वेन राजा हुआ। वह उत्पथगामी था। इसीलिये ऋषियोंने उसे पदच्युत कर दिया और अभिमन्त्रित कुशोंसे मार डाला। उसका पुत्र पृथु हुआ। वह बहुत ही योग्य एवं धर्मात्मा हुआ। उसने ऋषियोंसे प्रार्थना की कि मुझे आपलोग आज्ञा दें, क्या करूँ। ऋषियोंने उससे प्रतिज्ञा करायी 'तुम नियत होकर, निःशङ्क होकर धर्मका आचरण करो। स्वयं प्रिय, अप्रिय छोड़कर सब काम-क्रोध, लोभ एवं मानको दूरसे ही त्यागकर सब प्राणियोंका समानरूपसे हिताचरण करो। जो भी धर्मसे विचलित हो शास्त्रधर्मके अनुसार उसका निग्रह करो और यह भी प्रतिज्ञा करो कि मन, वचन, कर्मसे तुम भौम ब्रह्म (पृथ्वीके ब्राह्मणों) की रक्षा करोगे। जो भी धर्म नीतियुक्त होगा, निःशङ्क होकर उसका पालन करोगे और मनमानी कुछ न करोगे। यह भी प्रतिज्ञा करो कि ब्राह्मणोंको प्राणदण्ड नहीं दोगे और सभी लोकोंको साङ्कर्यसे बचाओगे।'

पृथुने वैसी ही प्रतिज्ञा की और कहा कि 'ब्राह्मण सदा ही हमारे नमस्य होंगे।' इस तरह परस्पर वचनबद्ध होकर राज्य व्यवस्थित किया गया। इसे ही 'सोशल कंट्राक्टस' कहा जा सकता है। शुक्राचार्य पृथुके पुरोहित हुए। बालखिल्य ऋषिगण मन्त्री हुए। देवताओं तथा इन्द्रके साथ विष्णुने पृथुका अभिषेक किया। पृथुने प्रजाका रञ्जन किया और इसलिये वे राजा कहे गये—

तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः।
नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर॥
प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु।
कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः॥
यश्च धर्मात् प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद् धर्ममवेक्षता॥
प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत्॥
यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥
अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीहि हे विभो।
लोकं च सङ्करात् कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप॥

पृथुरुवाच—

ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुषर्षभाः ।
पुरोधाश्चाभवत् तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः ॥
स विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह ।
ऋषिभिश्च प्रजापालैः ब्राह्मणैश्चाभिषेचितः ।
रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते ॥

(महा० शां० प० ५९ । १०३-११०, ११६, १२५)

कुछ लोग सत्ययुगके धर्मराजको लॉक या रूसोके प्राकृतिक युगसे तुलना करते हैं और कहते हैं कि 'उस समय राज्यकी परिपाटीका ज्ञान लोगोंको नहीं था । उस समयके मनुष्य राजनीतिक जीवनसे अनभिज्ञ थे ।' परंतु यह सर्वथा असंगत है । वस्तुतः भीष्मद्वारा वर्णित कृतयुगके राज्य-विहीन प्रजाका वर्णन अविवेक एवं अज्ञानमूलक न होकर धर्मज्ञानोत्कर्षमूलक था । रूसो एवं मार्क्स जिस स्वर्णयुगको उन्नतिकी पराकाष्ठा मानते हैं, उनसे भी उत्कृष्ट कोटिकी यह भीष्मोक्त स्थिति है । वह धर्मराज्य सर्वज्ञता, ब्रह्मनिष्ठताकी आधारभित्तिपर स्थित था और राजदण्डादिसे मुक्त था; क्योंकि सभी विवेकी थे, वेद उन्हें कण्ठस्थ थे । उन्हें कोई वस्तु अविदित थी, यह नहीं कहा जा सकता ।

शङ्का हो सकती है कि 'जब वे इतने ज्ञानसम्पन्न थे, तब इतने भीषण अनाचारी होकर मात्स्यन्यायके शिकार कैसे हो गये ? इस बातका समाधान लॉक एवं रूसोके मतसे भले न हो सके, किंतु धर्मवादी भीष्मके मतानुसार जीव अनादि होता है । उसके कर्मोंकी परम्परा भी अनादि है । उन्हीं कर्मोंके अनुसार सत्त्व, रज, तममें ह्रास-विकास होता रहता है । कालक्रमसे वैसे कर्मोंके उद्भूत होनेपर खेद, तम, मोह, प्रतिपत्ति, विनाश, राग, काम, धर्म लोप आदिका विस्तार हुआ और प्राणी पतित हो गया । आज भी हम देखते हैं कि कोई अच्छा आदमी भी परिस्थितियों, घटनाओं और कर्मके वश होकर खराब हो जाता है और कभी खराब आदमी अच्छा हो जाता है । जैसे मार्क्सके स्वर्णयुगकी कल्पनामें 'राजा—राज्यादि नहीं होते' यह अज्ञतामूलक नहीं, किंतु विज्ञतामूलक है । उसी तरह भीष्मके कृतयुगका राज्यादिविहीन धर्मराज्य अज्ञतामूलक नहीं था, किंतु विज्ञतामूलक था । सुतरां लॉकके 'सिविल गवर्नमेंट' पुस्तकमें वर्णित 'ओरिजिनल स्टेट आफ नेचर' और भीष्मके धर्मराज्यमें पर्याप्त अन्तर है । हाब्सके प्राकृतिक युगसे तो इसका महान् भेद है ही । हाँ, हाब्सके प्राकृतिक युगका भीष्मके विकृत युगके मात्स्यन्यायसे कथंचित् मेल बैठता है ।

रूसोके प्राकृत युगका मनुष्य भावुक था । विवेकहीन होनेके कारण उसे सुख-दुःख नहीं होता था । परंतु भीष्मका आदिम पुरुष पूर्ण विवेकी तथा

सुखी था। भारतीय शास्त्रोंमें कहा गया है कि दो ही ढंगके पुरुष सुखी रह सकते हैं—एक अत्यन्त विवेकहीन मूढ़, दूसरा परम विवेकी तत्त्ववेत्ता। दूसरे सभी लोग मध्यवर्ती दुखी ही रहते हैं।

यश्च मूढतमो लोके यश्च बुद्धेः परंगतः।
द्वाविमौ सुखमेधेते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥
(श्रीमद्भा० ३। ७। १७)

रूसोका 'प्राकृत पुरुष' पहली कोटिका था, भीष्मका 'कृतयुगी पुरुष' दूसरी कोटिका। लॉक एवं रूसोका 'प्राकृत स्वर्णयुगसे पतित, समाजके पुरुष' तथा हाब्सका 'प्राकृतिक पुरुष' अपनी सुख-शान्तिके लिये आपसी विचारसे ही राज्यनिर्माण करते हैं, परंतु भीष्मके 'धर्मराजसे पतित मनुष्य' ब्रह्माकी शरण जाकर राजनीति-शास्त्र प्राप्त करते हैं और विष्णुसे योग्य शासक प्राप्त करते हैं। फिर उससे समझौता करते हैं कि वह कभी भी नीतिशास्त्रके नियमोंका उल्लङ्घन नहीं करेगा। रूसोद्वारा कथित राज्यकी आधारशिला लोगोंकी 'सामान्येच्छा' है, किंतु भीष्मके राज्यकी आधारशिला ब्रह्माद्वारा निर्मित 'विधिशास्त्र'। इस तरह भीष्मके राज्यका आधार पवित्र एवं श्रेष्ठतम विधि है।

भीष्मके दोनों ही वर्णनोंकी एकवाक्यता करके ही उनकी व्यवस्था समझी जा सकती है। दोनों वर्णनोंका दो अर्थ मानना सर्वथा असंगत है। दोनोंकी एकवाक्यतासे यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रथम कृतयुगमें वेदादि शास्त्र तथा तदुक्त ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न मनुष्य राजादि विहीन धर्मराज्यमें ही रहते थे। सब धर्म-नियन्त्रित वेदज्ञ तथा धर्म-ब्रह्मज्ञ थे। सब सुखी, शान्त, संतुष्ट एवं विविध वैभवोंसे पूर्ण थे। कालक्रमसे प्राक्तन कर्मानुसार आसुरी वृत्तियोंका जागरण हुआ। दैवी वृत्तियोंके अभिभव हो जानेसे उनका पतन हुआ और फिर उस अवस्थासे खिन्न होकर पुनः धर्मनियन्त्रित राज्यकी स्थापनाके लिये ब्रह्माकी रायसे राजनीति-शास्त्र ग्रहण किया। फिर उसे पूर्णरूपसे कार्यान्वित करनेके लिये विष्णुसे राज्य प्राप्त किया और उसको तथा अपनेको वचनबद्ध करके सीमित शर्तोंके साथ सामाजिक समझौता या सोशल-कंटाक्ट-थ्योरीके अनुसार धर्म-नियन्त्रित राजाका राज्य स्थापित किया।

व्यक्तिवाद

यद्यपि सभी सिद्धान्तोंमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको महत्त्व दिया जाता है, किंतु व्यक्तिवादमें व्यक्तिको सर्वोच्च स्थान दिया गया है। इस मतमें न्याय एवं सुरक्षाके अतिरिक्त व्यक्तिकी स्वतन्त्रतामें समाज या राज्यका हस्तक्षेप ही नहीं होना चाहिये। इसीलिये व्यक्तिवादी राज्यमें व्यक्तिको निजी, सामाजिक तथा आर्थिक विषयोंमें स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिये। इसीको 'यद्भाव्यं-नीति' कहा जाता है। यह पूँजीवादियोंके संघर्षकी देन है। सामन्तशाही प्रतिबन्धोंके मिटाने, स्वतन्त्र

व्यापार करनेके लिये व्यक्तिवादके आधारपर व्यापारियोंने संघर्ष किया था। इंगलैंडमें इसके लिये एक बड़ी पूँजी देनी पड़ी थी। कहीं-कहीं लड़ाइयाँ भी लड़नी पड़ी थीं। दार्शनिकोंने भी यह प्रतिपादन किया कि आर्थिक प्रगतिके हेतु राज्यका आर्थिक एवं सामाजिक विषयोंमें हस्तक्षेप करना उचित नहीं। इन विषयोंमें व्यक्तिको पूर्ण स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। इसी आधारपर १९ वीं सदीमें ब्रिटेनमें औद्योगिक क्रान्ति हुई और उसके नेता पूँजीपति ही थे। ब्रिटेनमें उनका ही प्राधान्य था। सामन्तों एवं श्रमिकोंसे संघर्ष लेकर वे लोग सफल हुए थे। अर्थशास्त्र, उपयोगितावाद, मिलकी स्वतन्त्रता एवं स्पेन्सरके जीवशास्त्रके आधारपर व्यक्तिवादका प्रचार बढ़ा। ब्रिटेनमें अर्थशास्त्रके चार प्रमुख दार्शनिक हुए। आरम्भमें स्मिथ (१७२३–९०) हुए। उनकी पुस्तक 'राष्ट्रोंकी सम्पत्ति' पूँजीपतियोंके लिये बाइबिल-तुल्य हुई। इसमें व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रका विश्लेषण है। माल्थस (१७६६–१८३४) के 'जनसंख्यासम्बन्धी सिद्धान्त'का अर्थशास्त्रमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। रिकार्डो (१७७२–१८२३) के 'भूमिकर सिद्धान्त'का भी अर्थशास्त्रपर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। स्टुअर्ट मिल (१७७३–१८३६)के 'अर्थशास्त्रके सिद्धान्त' पुस्तकका भी बड़ा प्रभाव पड़ा। इन लोगोंका अनेक विषयोंमें मतैक्य था। वे नैसर्गिक नियमोंके समान ही अर्थशास्त्रके नियमोंको भी अपरिवर्तनीय मानते थे। जैसे शीतके पश्चात् ग्रीष्म, ग्रीष्मके बाद वर्षा आनेका नियम तथा सूर्यका पूर्वमें उदय होकर पश्चिममें अस्त होनेका नियम नैसर्गिक एवं अपरिवर्तनीय है, तदनुसार प्राणीको जाड़ेमें गरम और गर्मीमें हल्के कपड़े पहनने पड़ते हैं, उसी तरह अर्थशास्त्रके नियम भी अपरिवर्तनीय हैं। मनुष्यको उसके अनुकूल ही अपने-आपको बनाना पड़ता है। कहा जाता है कि यह सिद्धान्त पूँजीपतियोंके अनुकूल किंतु श्रमिकोंके लिये विष-तुल्य था।

व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रके सात नियम थे—१. निजी स्वार्थका नियम— इसके अनुसार 'मनुष्य तार्किक एवं स्वार्थी है, वह स्वयं अपना हित-अहित जानता है। सस्ता ख़रीदकर महँगा बेचता है। उसे स्वतन्त्रता मिलनेपर वह स्वयं ही बढ़ जाता है। कहा जाता है कि इन्हीं सिद्धान्तोंके अनुसार 'लार्ड क्लाइव' 'वारेन हेस्टिंग्ज' जैसे लोग साधारण श्रेणीसे उठकर भारतमें अंग्रेजी राज्यके जन्मदाता बने और गवर्नर बने। इन लोगोंकी दृष्टिसे 'मनुष्यके हित एवं समाजके हितमें विरोध नहीं है।' मनु, शुक्र, बृहस्पति आदिके मतसे कहा जा चुका है कि व्यक्तिके समुदायका नाम ही समाज है। सुतरां व्यक्तियोंके सुखी हो जानेपर समाज सुखी होगा। एवं समाजके सुखी होनेपर व्यक्तियोंका भी सुखी हो जाना स्वाभाविक है।

२. स्वतन्त्र प्रतियोगिताका नियम—'अपना हित-अहित समझकर

मनुष्य बाजारसे एक वस्तुका क्रय-विक्रय अपने हितकी दृष्टिसे करता है। अपनी वस्तुका ज्यादा-से-ज्यादा दाम चाहता है। दूसरोंकी वस्तु न्यूनतम मूल्यमें खरीदना चाहता है। राज्यको इस सम्बन्धमें नियम नहीं बनाना चाहिये। माँग और पूर्तिके आधारपर वस्तुओंके मूल्य निर्धारित हो जायँगे। वस्तुकी माँग अधिक, पूर्ति कम होनेसे मूल्य बढ़ता है। पूर्ति अधिक, माँग कम होनेसे मूल्य घटता है। स्वतन्त्र प्रतियोगिताद्वारा वस्तुओंका वितरण भी स्वयं ही हो जायगा। जहाँ वस्तुकी आवश्यकता होगी वहाँ व्यापारी पहुँचायेगा। जहाँ माँग न होगी वहाँ नहीं भेजेगा। इसी प्रकार अपना व्यवसाय भी प्रत्येक व्यक्ति स्वयं निर्धारित करेगा। किस कार्यके करनेसे उसे लाभ होगा, किससे हानि, इसे मनुष्य स्वयं ही जानता है। उसमें भी राज्यका हस्तक्षेप नहीं होना चाहिये। वेतन-निर्धारणमें भी राज्यका हस्तक्षेप अनुचित है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिको अपनी आवश्यकताका ज्ञान है। वह अपना वेतन स्वयं ही निर्धारण कर लेगा।'

रामराज्यवादीका मत है कि यदि सभी लोग शिक्षित हों तो अंशतः यह सिद्धान्त ठीक हो सकता है। जब संसारमें स्वार्थके लिये जाल, फरेब भी चलता ही है, तब अशिक्षित, अज्ञानी प्राणियोंको धोखा हो सकता है। मोलतोल करना भी सबको नहीं आता। फिर सभी व्यक्ति क्रय, विक्रय व्यवहार भी नहीं समझ सकते। हीरा, पन्ना, पद्मराग आदि मणियों तथा अन्य रत्नोंका गुण सब लोग नहीं समझ पाते। इसीलिये रत्न-परीक्षा-शास्त्र तथा विशेषज्ञोंकी आवश्यकता होती है। अतएव सावधानीके लिये बोर्डोंपर सरकारी या गैरसरकारी तौरपर विभिन्न वस्तुओंके मूल्य-निर्धारणोंका उल्लेख रहता है। नदी पार उतारनेवाले नौकावाहकों, मोटर टैक्सी आदिके भाड़ोंका सरकारी तौरपर निर्धारण मिलता है। सर्वसाधारणके अज्ञानका दुष्परिणाम देखकर ही यह सब किया जाता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी रुपयेकी आवश्यकता अधिक होनेसे गरीब किसानोंको अपना गेहूँ, अन्न, कपास आदि सस्ते दाममें बेचनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। ऐसी स्थितिमें उत्पादन एवं आवश्यकता देखकर किसी सीमातक नियन्त्रण आवश्यक होगा। कहीं दरका नियन्त्रण करनेके लिये सरकारी दूकानें भी खोलनी पड़ती हैं। वेतन आदिके सम्बन्धमें भी यद्यपि सामान्यतया यही ठीक है कि नौकर और मालिक स्वयं ही आवश्यकतानुसार वेतनका निर्णय करें, तथापि नागरिकोंके निर्धारित जीवनस्तरके अनुसार वेतनकी भी कुछ सीमा निर्धारित करना आवश्यक है ही, अमुक-अमुक काममें कम-से-कम वेतन कितना होना चाहिये— भले ही उससे ऊपर योग्यता एवं कामके अनुसार नौकरीमें कमी-बेशी हो सकती है। इसीलिये 'युक्ति-कल्पतरु' आदि ग्रन्थोंमें विभिन्न मणियों, रत्नोंके गुणों एवं मूल्योंका निर्धारण किया गया है। वेतनके सम्बन्धमें भी स्मृतिग्रन्थोंमें इस प्रकार

उल्लेख है कि 'यदि मालिक और नौकरने बिना तय किये ही काम किया और कराया है तो वेतनके सम्बन्धमें विवाद उपस्थित होनेपर न्यायालयद्वारा कृषि, पशुपालनादि सम्बन्धमें लाभकी अमुक मात्रा नौकरको दिलानी चाहिये।' हाँ, यह सब बात भले राज्यके द्वारा न होकर समाजके द्वारा हो। संसारमें रजोगुण, तमोगुणकी बहुतायत होती है। उस हालतमें '**दुर्लभो हि शुचिर्नरः**' पवित्र लोग बहुत कम मिलते हैं। अतः बिना नियन्त्रणके अनेक ढंगसे शोषण चलेगा ही। शास्त्रानुसार तो बैलोंके भी कामके घंटे नियत हैं और उनकी उच्चस्तरीय स्वस्थता-की जिम्मेदारी भी मालिकोंपर ही डाली गयी है। फिर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मनुष्य प्राणीके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या ? सुतरां उनके कामके घंटोंका नियम एवं उचित वेतनकी व्यवस्था राज्य या सरकारद्वारा अवश्य ही होनी चाहिये।

३. जन-संख्याका नियम— जॉन माल्थसने बताया कि 'जनसंख्याकी वृद्धि ज्यामितिक ढंगसे २ से ४ (२×२) होती है और उपजकी वृद्धि अंकगणितके ढंग २ से ३। इस नियमको भी अपरिवर्तनीय माना जाता है। अतः एक समय ऐसा आता है कि जब बढ़ती हुई जनसंख्याके लिये देशकी उपज पर्याप्त नहीं होती। फलतः कई लोगोंको भूखा रहना पड़ता है। तब अकाल, युद्ध, भीषण बीमारियोंद्वारा जनसंख्याका घटना ही अस्थायी तौरपर समस्याका समाधान होता है।' वस्तुतः इस तर्कद्वारा भी गरीबीको प्राकृतिक एवं अनिवार्य बतलाकर राज्यके अहस्तक्षेपका ही समर्थन किया गया है। इसीलिये संतति-निरोधका भी प्रयत्न चलता है। वस्तुतः अब माल्थसका सिद्धान्त खण्डित हो गया है। उत्पादनके क्रममें घटाव, बढ़ाव दोनों ही होते हैं। उचित उपचारों एवं प्रबन्धोंसे उत्पादनका विस्तार किया जा सकता है। खाद्यकी कमीके कारण मनुष्योंकी संख्या घटानेका प्रयत्न अमानुषिक है। न्याय और भावनाके नाते मनुष्यकी लम्बाईके अनुसार पलंगकी लम्बाई बढ़ानी चाहिये, न कि मनुष्यका पाँव काटकर उसे पलंगके अनुसार बनाना चाहिये। ठीक इसी तरह उत्पादन-प्रगतिद्वारा ही जनसंख्याकी समस्या हल करना उचित है।

४. पूर्ति-माँगके नियमानुसार 'पूर्ति माँगसे अधिक हो तो दाम घटता है। पूर्तिकी अपेक्षा माँग अधिक हो तो दाम बढ़ता है।' यह नियम अवश्य ठीक है; परंतु यह भी सर्वथा अपरिवर्तनीय नहीं कहा जा सकता। उत्पादन और पूर्ति व्यक्तिकी आय एवं अनिवार्य आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुए इसमें भी नियन्त्रण आवश्यक होगा। जैसे कभी माँग कम होनेपर लागत मूल्यसे भी कम दाममें वस्तु बेचनी पड़ती है, वैसे ही व्यक्तिसामान्यकी आय एवं अनिवार्य आवश्यकताके अनुसार कई वस्तुओंका न्यूनतम, कईका अधिकतम मूल्य निर्धारण करना आवश्यक है।

५. **वेतनका नियम**—'यदि श्रमिकोंकी संख्या आवश्यक नियुक्तिकी संख्यासे अधिक होगी तो वेतन घटेगा। यदि नियुक्तिकी संख्यासे श्रमिकोंकी संख्या कम होगी तो वेतन बढ़ेगा। यदि दो पूँजीपति एक श्रमिकके पीछे चलें तो वेतन बढ़ेगा। यदि दो श्रमिक एक पूँजीपतिके पीछे चलें अर्थात् उससे नौकरी देनेके लिये आग्रह करें तो वेतन घटेगा।' व्यक्तिवादियोंके मतानुसार, 'वेतन-निर्धारणमें राज्यको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।' सामान्यतया यह नियम ठीक है, परंतु अपरिवर्तनीय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अनिर्णीत अवस्थामें काम करनेपर न्यायालयको वेतनकी कोई-न-कोई दर निश्चित करनी पड़ेगी। इस तरह नागरिकोंका एक साधारण जीवनस्तर बनानेके लिये न्यूनतम मूल्यका निर्णय करना ही पड़ेगा। भारतीय शास्त्रोंने कृषि, गो-रक्षा, वाणिज्य आदिमें श्रमिकको लाभका छठा (आदि) भाग देना निश्चित किया है, जिसका विस्तार हम आगे दिखायेंगे। नौकरके कुटुम्बका पोषण, स्वास्थ्य, शिक्षण और काम देखकर न्यूनतम उचित वेतनका निर्णय राज्य या समाजको अवश्य करना चाहिये। उसके ऊपर श्रमिक और नियुक्तिकी संख्याके अनुसार घटाव, बढ़ाव उचित हो सकता है। मिल आदि श्रमिकोंकी संख्या कम करके माँगपूर्तिके आधारपर ही वेतन बढ़ाना उचित मानते थे। वेतन-कोषके सिद्धान्तानुसार प्रत्येक देशकी आयका एक भाग वेतनके लिये व्यय होता है। यह पूँजी निश्चित रहती है। श्रमिकोंकी संख्या अधिक होनेसे कम हिस्सा मिलेगा। कम रहनेसे अधिक हिस्सा मिलेगा। यदि राष्ट्रिय वेतन कोष १०० रुपया है और श्रमिकोंकी संख्या दस हो तो प्रत्येकको दस-दस मिलेगा। पाँच संख्या होगी तो बीस-बीस मिलेगा। निजी धन एकत्रित करनेके अभिप्रायसे ही मजदूरोंकी गरीबी दूर करनेका कोई प्रयत्न नहीं हुआ। धर्म-नियन्त्रित शासनतन्त्रसे यह सर्वथा विरुद्ध है।

६. **भूमिकरका नियम**—कहा जाता है कि यह नियम रिकार्डोकी देन है। उसके अनुसार 'भूमि या किसी वस्तुका कर स्वयं ही निर्धारित होता है। जैसे यदि 'अ' खेतकी उपज औसत उपज है। यदि 'ब' खेतकी उपज उस औसत उपजसे अधिक है तो वह अतिरिक्त उपज खेतका कर होगा।' यह भी अपरिवर्तनीय नियम माना जाता है। इस सम्बन्धमें भी भारतीय दृष्टिकोणसे श्रम और लाभके अनुसार भारतीय शास्त्रोंमें लाभका छठा, पाँचवाँ, चौथा, कहीं-कहीं नवाँ, दसवाँ भाग भी राज्यका कर निर्धारित किया गया है। वही ठीक प्रतीत होता है।

७. **अन्ताराष्ट्रिय विनिमयका नियम**—देशके आयात-निर्यातपर कर नहीं लगना चाहिये। जैसे देशके बाजारोंमें पूर्ति और माँगके नियमसे मूल्य और वितरण निर्धारित होता है, वैसे ही अन्ताराष्ट्रिय बाजारमें भी वस्तुओंका मूल्य और उनका आयात-निर्यात निश्चित हो सकता है। इसीको 'मुक्त व्यापार' भी कहते हैं।

कहा जा सकता है कि 'नैपोलियनसे होनेवाले युद्धके समय (१८०२-१४) यूरोपके अनाजपर ब्रिटिश सरकारने आयात-कर लगाया था । इससे ब्रिटेनके अनाजका मूल्य बढ़ा था। इसमें जमीदारोंका लाभ भी बढ़ा था । किंतु इससे जनसाधारण एवं श्रमिकोंका निर्वाह-व्यय बढ़ा। श्रमिकोंने वेतन-वृद्धिकी माँग की । वेतन-वृद्धिसे धनिकोंका लाभ घटता था। उस समय जनसाधारणकी सहायताके नामपर पूँजीपतियोंने मुक्त व्यापारकी माँग की । अन्नकर रद्द करनेका आन्दोलन हुआ। संघर्षके पश्चात् अन्नकर हटाया गया । तभीसे मुक्त व्यापारकी प्रथा चली। अन्न सस्ता हुआ। श्रमिकोंकी वेतनवृद्धिकी माँग कुछ दिनोंके लिये रुक गयी। पूँजी-पतियों एवं सामन्तोंका लाभ हुआ । अन्ताराष्ट्रिय व्यापारमें भी इससे ब्रिटेनके व्यापारियोंका लाभ हुआ। ब्रिटेनमें ही सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति हुई थी। अतः अन्य देशोंकी वस्तुओंसे ब्रिटेनकी वस्तु अच्छी और सस्ती थी। यदि सर्वत्र मुक्त व्यापारकी प्रथा होती तो संसारभरके बाजारपर ब्रिटेनका ही अधिकार हो जाता। जहाँ उनका अधिकार था वहाँ सदियोंके देशी व्यापारोंका अन्त हो गया। साम्राज्यवादसे व्यापारमें वृद्धि एवं व्यापार-वृद्धिसे साम्राज्य-विस्तार हुआ।'

भारतीय राजनीतिसे यह भी विरुद्ध है । कारण, स्वार्थी लोग लाभके लिये देशका माल विदेशोंमें भेज देते हैं । देशके लिये उपयोगी वस्तुओंको महँगी कर देते हैं। इससे गरीबोंका जीवन संकटमें पड़ जाता है । अतः सरकारोंका कर्तव्य है कि वह देशके उपयोगलायक पदार्थसे अतिरिक्त हो तभी वह बाहर जानेकी आज्ञा दे। इसी तरह जिससे अल्पमूल्यमें सबका कार्य चल सके और अपने देशके व्यापारकी वृद्धि हो इस दृष्टिसे विदेशी मालपर प्रतिबन्ध या उचित कर लगाया जाय। कौटल्य आदिने इस करका समर्थन किया है । जर्मनी आदि राज्योंने आयातकर लगाकर अपने राष्ट्रव्यवसायोंको ब्रिटेनकी प्रतियोगितासे बचाया। ब्रिटेनने भी अमेरिकाकी वस्तुओंका एकाधिकार रोकनेके लिये १९३१ में रक्षित व्यापार-प्रथाको स्वीकार किया । इस दृष्टिसे उपर्युक्त नियम ग्रीष्मके अनन्तर वर्षाऋतुके आने या सूर्यका पूर्वमें उदय होकर पश्चिममें अस्त होनेके नियम-जैसे प्राकृतिक नियम नहीं हैं और न ये नियम ईश्वरीय शास्त्रोंसे ही समर्थित हैं।

उपयोगितावाद

वेन्थम (१७४८-१८३२) ने उपयोगितावादद्वारा भी व्यक्तिवादी प्रथाका समर्थन किया था। हेनरी-मेनके मतानुसार 'उस समयके वैधानिक सभी सुधारोंपर वेन्थमके विचारोंकी छाप है। उसके विचारोंके बड़े-बड़े ११ ग्रन्थ हैं। उसने फ्रांस, अमेरिका एवं भारतवर्षके लिये भी विधान बनाये थे । उसने प्रतियोगिताद्वारा कर्मचारियोंकी नियुक्ति, सरकारी विभागोंका संघटन, नोट-

मुद्रणकला, उपनिवेशसम्बन्धी मताधिकारके सम्बन्धमें विचार व्यक्त किये हैं। कहा जाता है वेन्थमको प्रीस्टलेका एक सूत्र मिला 'अधिकतम लोगोंका अधिकतम हित'। प्रीस्टलेसे पूर्व फ्रांसिस एवं हचीसनने भी इसी सूत्रका अनुकरण राज्यका मुख्य ध्येय बताया था। ग्रीसके 'हिडनिज्म दर्शन'के अनुसार मनुष्यके कार्य सुख-दुःखके मान-दण्डसे निर्धारित होते हैं।' उसने इस सिद्धान्तको उक्त सूत्रसे मिलाया और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'न्याय और व्यवस्थाके सिद्धान्तोंकी प्रस्तावना'में बताया कि 'प्रकृतिने मनुष्य-जातिको दो सत्ताधारी स्वामियों–सुख और दुःखके अधीन बनाया। मनुष्यके कार्य सुख-दुःखपर आश्रित हैं। जीवनका एकमात्र ध्येय सुख-प्राप्ति, दुःखनिवारण है। यही जीवनका सार है। जिसका जीवन इस सिद्धान्तद्वारा नहीं चालित होता, वह अज्ञानी है। सुख-दुःखका अर्थ उपयोगिता है। वही वस्तु उपयोगी है, जिससे सुख हो। आनन्द या आनन्द-कारण सुख है। क्लेश या क्लेश-कारण दुःख है।' वेन्थमके अनुसार 'मनुष्यके सभी भौतिक कार्य उपयोगितासे ही निर्धारित होते हैं। धर्म-अधर्म, न्याय-अन्याय, भलाई-बुराईकी परख उपयोगिताके ही आधारपर की जाती है। जीवन-उपयोगिता ही सत्ताधारी है।'

उसके अनुसार 'नैसर्गिक, लौकिक, राजनीतिक और धार्मिक—ये चार सुख-दुःखके स्रोत हैं। जैसे किसीका मकान जल गया। यदि वह उसकी भूलसे जला तो नैसर्गिक स्रोतसे दुःख हुआ। यदि पड़ोसीकी बुरी भावनासे हुआ तो लौकिक स्रोतसे। सरकारी आदेशसे जलाया गया तो राजनीतिक स्रोतसे। यदि दैवी प्रकोपसे जला तो धार्मिक स्रोतसे दुःख हुआ।' 'वेन्थमके अनुसार'—सुख-दुःखकी मात्राकी परख तीव्रता, समयप्रसार, निश्चय, समीपता, उपजाऊपन, शुद्धता और विस्तार—इन सात विशेषताओंद्वारा होती है। इन्हींके आधारपर वस्तुकी उपयोगिता निर्धारित होती है।' उसके अनुसार सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्तिके लिये ही राज्यके सब नियम बनने चाहिये। अधिकतम लोगोंका सुख ही राज्यका ध्येय होना चाहिये। व्यवस्थापक उक्त सात विशेषताओंद्वारा ही इसकी जानकारी प्राप्त कर सकता है।'

उपयोगिता एवं व्यक्तिवाद—उपयोगिताकी दृष्टिसे राज्यके नियम स्वतन्त्रताके बाधक होते हैं अतः नियम विकारतुल्य है। किंतु उनके बिना सभ्य जीवन-निर्वाह सम्भव नहीं। अतः वह आवश्यक विकार है। राज्यको कम-से-कम नियम बनाना चाहिये। जैसे 'आरोग्यता सर्वोत्तम है, परंतु अस्वस्थ होनेपर औषध आवश्यक है। स्वतन्त्रतापूर्ण जीवन उपयोगिताकी दृष्टिसे आदर्श जीवन है। परंतु चोरी, दुराचार आदि बाधाओंके द्वारा स्वतन्त्रता-भंग होनेकी सम्भावना होती है। तब नियम ही औषधका काम करते हैं। राज्यका नियम बाधा तो अवश्य है परंतु आवश्यक है; क्योंकि उससे अन्य असामाजिक बाधाएँ दूर होती हैं। औषधका प्रयोग जैसे कम-से-कम करना आवश्यक है, वैसे ही राजकीय नियमरूप बाधा

कम-से-कम होनी चाहिये। जैसे व्यक्ति स्वास्थ्यकी दृष्टिसे आरोग्य स्थितिको ही चाहता है, वैसे ही उपयोगिताकी दृष्टिसे स्वच्छता, स्वतन्त्रता चाहता है। अतः सत्ताधारी उपयोगिताकी दृष्टिसे व्यवस्थापकको कम-से-कम नियम बनाने चाहिये।' 'बेन्थम'के अनुसार व्यवस्थापकोंको नियम-निर्माणके पूर्व इसपर विचार करना चाहिये कि नियमद्वारा जो कार्य रोके जाते हैं, वे समाजके लिये विकार हैं कि नहीं? उदाहरणार्थ—चोरी। साथ ही प्रस्तावित नियम विकारात्मक कार्यसे कम विकार है या अधिक? जैसे १००० रु० की चोरीके समक्ष तीन मासका कारागार कम विकार है या ज्यादा? अतः केवल चोरी आदि रोकनेके लिये ही नियम ठीक है। यह नागरिककी स्वतन्त्रतामें सहायक है। समाजके कुछ लोग स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करते हैं। वे ही आदर्शभूत स्वतन्त्र-परिस्थितिमें बाधक होते हैं। इसलिये राज्यको नियमद्वारा उनका नियन्त्रण आवश्यक होता है। अतः राज्य आवश्यक है। परंतु राज्यका संचालन अपरिवर्तनशील तथा नैसर्गिक नियमोंद्वारा होना ठीक है। व्यक्तिके आर्थिक एवं सामाजिक विषयोंमें हस्तक्षेप करनेसे उपयोगिताकी वृद्धि सम्भव नहीं होती। प्राकृतिक बहुमूल्य उपयोगिता-वृद्धिके लिये शान्तिस्थापनाके क्षेत्रमें ही राज्यको नियम-निर्माण करना चाहिये। इस विषयमें भी नियम-निर्माण उपयोगिताके मानदण्डसे ही होना चाहिये।'

वस्तुतः भारतीय दर्शनके अनुसार केवल लौकिक सुखप्राप्ति एवं दुःख-निवृत्तिकी दृष्टिसे ही कार्य नहीं किया जाता है। नैयायिकोंने दुःख-निवृत्तिको ही अन्तिम ध्येय बताया है। सुख-प्राप्ति एवं उसके रागको दुःख ही बतलाया है और कहा है कि कुपित फणी (नाग) के फणातपत्रकी छायामें विश्रामके तुल्य ही सुखमें विश्राम है। वेदान्तके अनुसार भी लौकिकप्रिय (सुख) अप्रिय (दुःख) से अतीत होनेसे परम पुरुषार्थस्वरूप अपवर्ग मिलता है। 'नैनं प्रियाप्रिये स्पृशतः'। तत्त्वसाक्षात्कारकी स्थितिमें प्राणीको प्रिय-अप्रिय दोनों स्पर्श नहीं करते। उसी अभिप्रायसे बुद्धिमान् संसार छोड़कर निरन्तर तपस्या करते हैं। परोपकारार्थ सब सुख छोड़कर विविध यातनाओं-दुःखोंको सहते हैं। अन्तमें प्राणतक दे देते हैं। बहुतसे लोग परार्थको ही स्वार्थ मानते हैं। अतः उन्हें परोपकारमें ही सुख होता है। इसीलिये भारतीय शास्त्रोंने वास्तविक आत्महित एवं लोकहितको ही राज्यका ध्येय माना है। हित और सुखमें पर्याप्त अन्तर होता है। परोपकारार्थ कष्ट-सहन एवं तपस्या सुख नहीं है, परंतु हित है। परदारपरवित्तापहरण सुखकर प्रतीत होते हुए भी अहित है। कटु औषध-सेवन, कठोर पथ्य-पालन, कुपथ्य-परिवर्जन दुःखकर प्रतीत होनेपर भी हित है। ज्वराक्रान्त प्राणीको उष्ण आतप सुखकर प्रतीत होता है, तक्रादि कुपथ्य रुचिकर प्रतीत होता है, फिर भी वह अहित है। स्वतन्त्रता यद्यपि प्राणीमात्रको अभीष्ट है। मनुष्य ही नहीं किंतु प्रत्येक प्राणी

अपनी सत्ता या जीवनका प्रेमी होता है। ज्ञान एवं आनन्दका भी प्रत्येक प्राणी भक्त होता है। ठीक उसी तरह स्वतन्त्रताकी भी प्राणीमात्र इच्छा करते हैं। एक चींटीको पकड़ते हैं तो वह छुटकाराके लिये प्रयत्नशील होती है। एक पक्षी स्वतन्त्र होकर खट्टा फल खाकर, खारा पानी पीकर रहना मंजूर करता है, परंतु परतन्त्र रहकर पिंजड़ामें बंद होकर मधुर फल एवं मधुर पक्वान्न खाकर रहना नहीं चाहता। इसी प्रकार शासन भी निम्न श्रेणीके लोगोंसे आज्ञा-पालन कराना, उच्च श्रेणीके माता-पिता, गुरुजनोंसे अनुरोध—प्रार्थना स्वीकार कराना चाहता है। इतना ही नहीं, सीमित सत्ता, ज्ञान, आनन्द, स्वतन्त्रता तथा शासनके बदले निस्सीम निरतिशय सत्ता, ज्ञान, आनन्द तथा निस्सीम निरतिशय स्वतन्त्रता, शासन-शक्ति चाहता है। तथापि महती स्वतन्त्रता प्राप्त करनेके लिये पर्याप्त स्वतन्त्रताका बलिदान करना पड़ता है। किसी भी राष्ट्रको स्वतन्त्रताके लिये दूसरे राष्ट्रद्वारा हमला होनेपर सैनिक संघटन करना पड़ता है और सैनिकोंको सेनापतिके नियन्त्रणमें रहना ही पड़ता है। शिशुको माता-पिता तथा गुरुजनोंके परतन्त्र रहकर ही अध्ययनादिमें संलग्न होनेसे ही स्वतन्त्रताकी प्राप्ति होती है। किसी भी नागरिकको राजकीय, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक आदि विविध नियमोंके पालन करनेसे ही स्वतन्त्रता मिलती है। यहाँतक कि जो जितना ही धार्मिक एवं आध्यात्मिक नियमोंके पालनमें परतन्त्र बनता है, वह उतना ही स्वतन्त्र एवं सभ्य समझा जाता है। धारणा, ध्यान, समाधिके अभ्यासमें दृढ़ नियम पालन करनेवाला व्यक्ति तो अन्तमें देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं कर्म-बन्धनोंसे छुटकारा पाकर पूर्ण स्वातन्त्र्य-सुखका उपभोग कर सकता है। अन्यथा स्वतन्त्रता परम अभीष्ट होनेपर भी उचित नियमोंके अंगीकार बिना प्राणी भीषण परतन्त्रताके बन्धनमें जकड़ जाता है।

आधि-व्याधि, रोग-शोक, जरा-मृत्युके परतन्त्र रहनेवाला प्राणी वास्तविक स्वतन्त्रतासे अतिदूर रहता है। सुख-दुःखकी परिभाषा भी केवल तात्कालिक अनुकूल वेदनीय, प्रतिकूल वेदनीयतक ही सीमित नहीं है। वास्तविक सुख निरुपप्लव (निर्विघ्न) स्वप्रकाश सत्ता या अबाधित निर्विघ्न ज्ञान ही है। इसीलिये शास्त्रोंने कहा है कि स्वतन्त्रता ही सुख एवं परतन्त्रता ही दुःख है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्। (मनु० ४। १६०)

इन विचारोंसे बेन्थमकी विचार-धारा बहुत ही निम्नश्रेणीकी प्रतीत होती है। अवश्य ही सामान्य प्राणीकी स्वसुखार्थं, स्वदुःखनिवृत्त्यर्थ ही प्रवृत्ति होती है। तथापि यह कहा जा चुका है कि व्याघ्रादि क्रूर, हिंस्र प्राणी भी अपने बच्चोंके लिये जानतक दे देते हैं। अतः स्वसुखार्थीके समान ही परसुखार्थ भी प्राणियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में भी यद्यपि यही कहा गया है कि 'पति, पुत्र, धर्म, लोक, परलोक, माता, पिता, गुरु, देवता सबसे जो प्रेम और कामना होती है, वह आत्माके ही लिये

होती है। वे सब अपने उपकारक हैं।' अतः उनमें प्रेम होता है। परंतु यहाँ आत्मा शब्दका अर्थ देहादि संघातमात्र नहीं, किंतु देहादिभिन्न विशुद्ध आत्मा है। जो 'स्व' शब्दसे केवल देहादि संघात ही समझते हैं, उनके मतानुसार देहादि संघात-को भोजन, पान, वस्त्र, भूषण, वाहन, सम्पत्ति आदि मिलना ही स्वार्थ या आत्मार्थ है; परंतु जो देहादि संघातसे भिन्न निर्विकार प्रत्यक्चैतन्याभिन्न आत्माको समझते हैं, उनका स्वार्थ या आत्मार्थ बहुत ऊँचा होता है। वहाँ तो परोपकार, धर्म, तपस्या, उपासना, तत्त्वसाक्षात्कार तथा सकलानर्थनिवृत्तिमय परमानन्दावाप्ति ही स्वार्थ या आत्मार्थ होता है; 'स्व' एवं समाज व्यष्टि एवं समष्टिका भेद समाप्त हो जाता है। इस दृष्टिसे उच्च कोटिकी उपयोगिता एवं स्वार्थमें परार्थ अन्तर्भूत हो जाता है। भले ही राजकीय नियम स्वल्प-से-स्वल्प हों; क्योंकि यह तो भारतीय शास्त्रोंको भी सम्मत है। परंतु सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, विविध नियन्त्रण तो तबतक परम अपेक्षित होते हैं, जबतक प्राणी प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परम तत्त्वका साक्षात्कार करके पूर्ण कृतार्थ नहीं हो जाता। इतना ही क्यों, उस कालमें भी जीवन्मुक्तोंको भी लोकसंग्रहार्थ बहुत-से कर्तव्य-नियम पालन करने पड़ते हैं। विदेह-मुक्तिमें ही पूर्ण स्वतन्त्रता, नियमरहितता सम्भव होती है।

स्टुअर्ट मिल भी 'उपयोगितावादी' था। उसने बेन्थमके उपयोगितावादमें संशोधन किया था। वह सुखके मात्रात्मक परिमाणके साथ-साथ गुणात्मक भेद भी मानता है। पहलेका उदाहरण है—'जितना सुख वीणावादनमें होता है, उतना संगीतमें।' परतु दूसरेको स्टुअर्ट मिलने बताया कि 'एक असंतुष्ट विद्वान् होना संतुष्ट मूर्खसे अच्छा है। उससे उपयोगिताकी परख केवल सुखकी मात्रापर नहीं किंतु गुणके आधारपर होती है।' किंतु गुणात्मक भेदसे उपयोगिताका मानदण्ड व्यक्ति भी होता है, केवल पदार्थ ही नहीं। बेन्थमने केवल पदार्थको ही मानदण्ड माना है। इसीलिये उसके आलोचक उसे 'संतुष्ट मूर्खका दर्शन' मानते हैं। इस तरह जब व्यक्तिगत दृष्टिकोणसे एक वस्तुकी उपयोगिता निर्धारित होती है, तब व्यक्तिकी रुचिका भी ध्यान रखना आवश्यक है। एवं शंकराचार्य-जैसे निःस्पृह त्यागी विद्वान्‌के हर्ष एवं सुखकी उपयोगिताका मानदण्ड एवं भौतिकवादी दार्शनिक हाब्स-जैसे राजनीतिज्ञकी उपयोगिताका मानदण्ड भिन्न ही होता है। मनुष्य केवल सुख और स्वार्थका ही कठपुतला नहीं—मनुष्य केवल सुख-दुःखसे ही नहीं संचालित होता है। अन्य भावनाओंका भी जीवनमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। देशभक्ति, नैतिक, आध्यात्मिक, संतुष्टि आदिकी भावनाओंसे ही मनुष्यके कार्य निर्धारित होते हैं। यदि मनुष्य-जाति उपयोगितावादके अनुसार ही चलती तो वशिष्ठ, विश्वामित्र, शङ्कर, रामानुज, ईसा आदि-जैसे लोगोंका सम्भव ही न होता। उपयोगिता-वादके अनुसार बेन्थमको ही एक धनी वकील होना था, गरीब दार्शनिक नहीं।

आज भी नैतिकताके नामपर कितने ही सज्जन सत्य बोलकर अपनेको संकटमें डालते हैं। एक देशभक्त सारा जीवन दुःखमय बिताता है। अतः यदि व्यवस्थापक उपयोगिताके आधारपर ही नियम बनायेगा तो वह अवश्य त्रुटिपूर्ण होगा। भारतीय वेदान्तके अनुसार पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्ण सुख और आत्मा एक ही वस्तु है; परंतु वेन्थमका तो भौतिक सुख ही ध्येय है। वेन्थमके 'अधिक लोगोंके अधिकतम सुख'के सम्बन्धमें भी समालोचकोंने कहा है कि 'यह अव्यावहारिक है।' उदाहरणार्थ एक 'अ' नियमसे १२ मनुष्योंको दस मात्रा प्रतिमनुष्यके परिमाणसे सुख मिलनेकी सम्भावना है। पूर्ण सुख १२० मात्राका होगा। 'ब' नियमसे २० मनुष्योंको पाँच मात्रासे प्रतिमनुष्य सुख मिलनेकी आशा है। पूर्ण सुख १०० मात्राका होगा। ऐसी परिस्थितिमें व्यवस्थापक क्या करेगा ? 'अ' नियम अधिकतम सुख १२० मात्रासे सम्भव होगा। परंतु मनुष्योंकी संख्या कम (१२) होगी। 'ब' नियमद्वारा अधिकतम मनुष्योंको (२० को) सुख मिलता है, परंतु सुखकी मात्रा अल्प (५ मात्रा) होगी। अब यहाँ अधिकतम लोगोंके सुखकी दृष्टिसे 'ब' नियम बनाना चाहिये, परंतु अधिकतम सुखकी दृष्टिसे 'अ' नियम आवश्यक जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमें न्यायपूर्ण नियम सम्भव नहीं कहा जाता। वेन्थमका उपयोगितावाद उस समयके पूँजीपतियोंके लिये उपयोगी था। पूँजीपति निंजी सुख और लाभके हेतु मानवताको भूल जाता है। वह अपने अधिकतम सुखको ही अधिकतम मनुष्योंका सुख समझता है। एक मानवतावादी तो यही चाहेगा कि 'अधिकतम लोगोंको सम्भव हो तो अधिकतम सुख हो नहीं तो जितना भी सुख हो उतना अधिकतम लोगोंको सुख मिलना चाहिये।' यह नहीं कि अल्प-से-अल्प लोगोंको अधिकाधिक सुख मिले।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता

स्टुअर्टकी पुस्तक 'स्वतन्त्रता' (लिबर्टी, १८५९) व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका सर्वोत्कृष्ट समर्थन करनेवाली है। व्यक्तिकी स्वतन्त्रता एवं व्यक्तित्वके लिये 'मिल' ने व्यक्तिवादको आवश्यक बतलाया। उसका कहना था कि 'मानव-प्रगतिके लिये विचार एवं भाषणकी स्वतन्त्रता अत्यावश्यक है।' कहते हैं, वह सनकी लोगोंकी भी स्वतन्त्रताका समर्थक था। उसका कहना था कि 'इनमेंसे न जाने किसके विचारसे किसी नयी विचारधाराका जन्म हो जाय।' अतः प्रगतिके लिये प्रत्येक व्यक्तिको विचार एवं भाषणका स्वातन्त्र्य प्राप्त होना चाहिये। मिलके विचारसे स्वतन्त्रता बिना प्रगतिमें बाधा पड़ती है। उसका कहना था कि 'जो विचारधारा एक समयमें प्रचलित है, वही सत्य है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसके विपरीत किसी व्यक्तिकी विचारधाराका दमन नहीं करना चाहिये। हो सकता है कि वही विचारधारा सत्य हो। अतः विचार एवं

भाषणकी स्वतन्त्रताद्वारा किसीको भी अपनी विचारधाराका प्रचार करने देना चाहिये। ईसा एवं सुकरातकी विचारधाराएँ प्रचलित विचारधाराओंसे विपरीत थीं। सत्ताधारियोंने उनके दमनका भरसक प्रयत्न किया। दोनोंको प्राणदण्ड दिया गया। परंतु संसारको मानना पड़ा कि वे सनकी नहीं किंतु महापुरुष थे।' इसीलिये मिलका कहना था कि 'आज हम जिन्हें सनकी कहते हैं, उनके अनोखे विचारोंकी उपेक्षा करते हैं, वे ही भविष्यमें विशिष्ट बुद्धिवाले सिद्ध हो सकते हैं।' डॉक्टर जानसनका कहना था कि 'दमनसे सचाई छिप नहीं सकती, सत्यकी दृढ़ताके लिये दमन एक कठोर कसौटी है।' परंतु मिल इस दमनको प्रगतिमें बाधक कहता था। मार्टिन लूथर (१४८३–१५४६) के पूर्व धर्मसुधार आन्दोलन बीस बार आरम्भ हुआ, परंतु वह दमनद्वारा रोका गया। यदि ऐसा न होता तो सम्भव है कि यूरोपमें १६ वीं शतीसे पूर्व ही धर्मसुधार आरम्भ हुआ होता। लूथरके धर्मसुधार (१६ वीं शती) के फलस्वरूप कई महत्त्वपूर्ण विचारधाराओंका बीजारोपण हुआ। यदि उसको पूर्व-दमनसे रोका न गया होता तो उससे और अधिक प्रगति हुई होती। अवश्य सत्य अमर है। उसका दमनसे अन्त नहीं होता; परंतु दमनसे प्रचारमें विलम्ब किया ही जा सकता है। यह विलम्ब समाजके लिये हानिकारक होता है। अतः विचार एवं भाषणकी पूर्ण स्वाधीनता होनी चाहिये। मिलके अनुसार 'सत्यके कई पहलू होते हैं। वे एक दूसरेके बाधक नहीं किंतु परस्पर सहायक होते हैं। अतः एक पक्षके अनुयायीका दूसरोंको सत्यविरोधी समझना ज्ञानवृद्धिमें बाधक है। सत्य किसी एक पक्षकी बपौती नहीं है। अन्य विचारधाराओंमें भी सत्य हो सकता है। अतः विचार-प्रचारकी स्वाधीनता आवश्यक है। ऐसे वातावरणमें निश्चित सत्यका बोध सम्भव होता है। तर्कद्वारा संघर्षसे सत्य बलिष्ठ एवं विजयी होता है। इससे अन्धविश्वासकी जड़ नहीं जमती।' इस तरह मिलने विचारों, तर्कोंकी पूर्णस्वतन्त्रताके पक्षमें मत प्रकट किया था।

ब्राउनके मतानुसार मिलने जीवशास्त्रके—जो योग्य है 'जीवित रहेगा' इस नियमको विचारोंकी दुनियामें लागू किया; क्योंकि मिलका कहना था कि 'जो विचार तर्क, संघर्षमें बलिष्ठ होता है, वही विचार सत्य सिद्ध होता है। अतः राज्यको भाषण, लेख, विचार, तर्ककी पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये।' मिलके मतानुसार 'समाजपर असर डालनेवाले चोरी-कलह आदि कार्योंपर तो राज्यको हस्तक्षेप करना चाहिये; परंतु व्यक्तिगत कार्योंमें राज्यको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। जैसे कोई अपने घरमें रहकर चाहे रातभर पढ़े, चाहे मद्यपान करे उसे स्वतन्त्रता होनी चाहिये। परंतु जोरसे गायन करनेसे दूसरोंके आराममें बाधा पड़ सकती है, अतः समाजके प्रतिकूल व्यक्तिगत कार्यपर प्रतिबन्ध ठीक है। परंतु जिसका बुरा असर समाजपर नहीं पड़ता, ऐसे व्यक्तिगत कार्योंकी

स्वतन्त्रता ठीक है। यदि मद्यपायी अपने अनुभवसे मद्यपानको हानिकारक समझेगा तो उसे छोड़ देगा। राज्यके प्रतिबन्धसे भी मद्यपान छूट सकता है, परंतु इसमें चारित्रिक संघटन नहीं आता। जो निर्णय अपने अनुभवसे होता है, वही दृढ़ होता है। राज्य-प्रतिबन्धसे छिपकर भी मनुष्य मद्य पीता रह सकता है। शिक्षा-प्रोत्साहन, चित्रप्रदर्शन आदि परोक्ष रीतियोंद्वारा बुरे कामोंके रोकनेका प्रयत्न अनुचित नहीं।' इसी तरह द्यूत खेलनेको भी वह प्रतिबन्धद्वारा रोकना ठीक नहीं समझता था। ये सब काम बुरे हैं सही, परंतु आत्मसंघर्षसे ही उनका छूटना चरित्रबलका वर्धक होता है। वह सामाजिक परम्परागत रीति-रिवाजोंके बन्धनको भी प्रगतिका बाधक समझता था। सामाजिक नियन्त्रणसे व्यक्तित्वका विकास नहीं हो पाता। मिल आविष्कार एवं नवमार्गदर्शक शक्तिको महत्त्वपूर्ण मानता था। उसके मतानुसार 'जनसाधारणकी मनोवृत्ति सामान्यताकी दर्शिका होती है।' परंतु वह इस मनोवृत्तिका विरोधी था। वह तो 'अपूर्व नवीन बुद्धिवालोंको प्रोत्साहनसे नवीन विचारधाराकी सम्भावना होती है' ऐसा मानता था। वह अधिक कवियोंका होना समाजकी उन्नतिका लक्षण मानता था। 'इससे रुचियोंकी विभिन्नता विदित होती है और यह स्वतन्त्र वातावरणमें ही सम्भव है। यदि एक कक्षाके विद्यार्थियोंके प्रश्नोत्तरमें विभिन्नता होती है तो वह कक्षाकी प्रगति समझता था। जो जिसे हितकर प्रतीत हो उसे वैसा करनेकी छूट होनी चाहिये! एक ढंगसे जीवन-निर्वाहार्थ किसीको बाध्य करना उचित नहीं; इसीलिये शिक्षाके राज्यनियन्त्रित होनेका भी वह विरोधी था। हाँ, नागरिकोंको अपने बच्चोंको स्कूल भेजनेके लिये बाध्य करना राज्यका कर्तव्य है। इसके अतिरिक्त शिक्षापर राज्यका हस्तक्षेप न होना चाहिये। शिक्षा प्राप्त करनेकी स्वतन्त्रता नागरिकोंको ही होनी चाहिये। विद्यालयमें बालक कैसी शिक्षा प्राप्त करे, यह नागरिकोंकी रुचिपर ही छोड़ना चाहिये।'

उसके मतानुसार 'व्यक्तिवादियोंकी भाँति ही व्यक्तिगत लाभके लिये भी मनुष्य भलीभाँति अपना कार्य संचालन करता है। उसमें राज्यके हस्तक्षेप हितकर न होंगे। सरकारी कर्मचारियोंद्वारा होनेवाले कार्योंमें उनकी इतनी तत्परता नहीं होती जितनी किसीको व्यक्तिगत कार्योंमें तत्परता होती है। जब व्यक्ति कोई काम स्वयं करता है तो उसकी ज्ञानवृद्धि होती है। इसीलिये मनुष्यको स्वयं ही अधिकाधिक कार्य करना चाहिये। हाँ, समाचार-पत्रोंद्वारा अतीत कार्योंके अनुभवोंकी सूचना सरकारको देते रहना चाहिये। उससे लोग स्वयं सबक सीखेंगे। चेतावनीद्वारा भी राज्य परोक्षरूपसे मार्गदर्शक हो सकता है। सरकारी कार्योंकी व्यापकतासे नागरिक सदा ही राज्यकी ओर निहारते रहते हैं। इससे आलस्य, प्रमाद एवं प्रगतिका

अवरोध होता है। इससे व्यक्तित्वके विकासमें बाधा पड़ती है और नौकरशाही बढ़ती है। इससे कोई कार्य भलीभाँति सम्पादित नहीं होता। राज्य-हस्तक्षेप एक आवश्यक विचाररूपमें ही स्वतन्त्रताके लिये मानना चाहिये। नागरिक जीवनमें राज्यका न्यूनतम हस्तक्षेप ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रताके लिये अपेक्षित है।'

समालोचक कहते हैं कि मिल 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के दफ्तरमें नौकर और राजनीतिक पत्रोंका लेखक था। १८५८ में उसने कम्पनीके शासनके पक्षमें एक प्रार्थनापत्र लिखा था, जिसमें कम्पनीके शासनको न्यायसंगत कहा था और १८५९में उसकी 'स्वतन्त्रता' पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसमें उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका पूर्ण समर्थन किया था। इस तरह उसके कार्य और विचार बेमेल थे। यह भी कहा जाता है कि १८३२ के पूर्व मध्यमवर्गके लोगोंने सामन्तोंकी सत्ताका विरोध किया था। १९ वीं शतीमें सामन्तोंका ह्रास हुआ; परंतु बुद्धिजीवी वर्गकी एक बढ़ती हुई जनशक्तिका विरोध इस आधारपर सम्भव नहीं था। पूँजीपतियों एवं मध्यमवर्गीय उपयोगितासे जनताकी उपयोगिता भिन्न थी। अतः जनमतसे भयभीत बुद्धिजीवीके लिये अपेक्षित था कि वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता-के नामपर जनमतके हस्तक्षेपसे बचे। उसी कार्यकी सिद्धि 'स्वतन्त्रता' पुस्तकद्वारा मिलने की। अब तो पूँजीपति एवं सर्वहारा श्रमिकोंके बीच पड़ा मध्यम वर्ग शोचनीय दशामें है। न वह पूँजीपति ही है न तो सर्वहारा ही! वह स्वयं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता चाहता है। किसीका भी एकाधिकार नहीं चाहता। 'स्वतन्त्रता' पुस्तकमें इसी आवश्यकताकी पूर्ति की गयी है। समालोचकोंका यह भी कहना है कि 'मिलका धार्मिक जीवन ही परम्पराओंके विरुद्ध था। इसीलिये उसने व्यक्तिगत स्वतन्त्रताको दार्शनिक रूप दिया।

हम पहले कह चुके हैं कि 'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।' (मनु ४। १६०)—पराधीनता ही दुःख और स्वाधीनता ही सुख है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता अवश्य ही आदरकी वस्तु है; परंतु यदि मद्यपान, द्यूत आदिकी स्वतन्त्रता व्यक्तियोंको होनी चाहिये, तब तो आत्महत्याकी भी स्वतन्त्रता होनी चाहिये! इसी तरह यदि कोई स्वेच्छानुसार शराब, द्यूतसे परहेज न करे, माँ, बहन, बेटीसे भी शादी कर ले या मनमानी प्रेमसम्बन्ध करे तब तो मनुष्यता-पशुतामें कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। आहार, निद्रा, भय, मैथुन मनुष्य एवं पशुका समान ही होता है। धर्म ही मनुष्यकी विशेषता है। धर्मविहीन स्वतन्त्रता स्वेच्छाचारिता या उच्छृंखलताके ही रूपमें परिणत हो जाती है। सर्वोपाधिविनिर्मुक्त ब्रह्मात्मभाव प्राप्त होनेसे पहले प्राणीको अवश्य ही धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक विभिन्न नियन्त्रणोंके परतन्त्र रहना पड़ता है। वास्तविक पूर्ण स्वतन्त्रताके लिये प्राणीको पर्याप्त स्वतन्त्रताका बलिदान करना पड़ता है। अपौरुषेय वेद एवं तदनुसारी शास्त्रोंके अनुसार विधिविहित

कार्यको ही धर्म कहा जाता है। भोजन, पान, शयन, विश्राम, संतानोत्पादनादि सभी कार्योंको शास्त्र-विधिके अनुसार करना ही धर्म है। धर्मनियन्त्रित जीवनसे ही पूर्ण स्वतन्त्रता-प्राप्ति सम्भव है। इसी प्रकार 'सनकी लोगोंके विचार एवं भाषणकी स्वतन्त्रता' भी उपहासास्पद है। अवश्य ही गुदड़ीसे भी लाल निकलते हैं, सनकियोंमेंसे भी कोई योग्य, लाभदायक सनकी निकल सकते हैं, परंतु सभी सनकियोंको पूर्ण स्वतन्त्रता दे देनेसे तो समाजकी शान्ति ही खतरेमें पड़ सकती है।

इसी प्रकार तर्कका आदर अवश्य उपयोगी हो सकता है, परंतु कुछ नियमोंको मानकर ही तर्कका प्रयोग करना पड़ता है। फिर तर्कका कुछ अन्त भी नहीं है! जीवनमें विश्वासका भी तो कहीं स्थान है। यदि बाजारमें खड़े होकर राजद्रोहपर तर्क करनेकी स्वतन्त्रता दे दी जाय तो क्या शान्ति सुरक्षित रह सकेगी? इसी प्रकार बहुत-सी निश्चित वस्तुएँ भी हैं। माता, पिता, गुरुजनोंद्वारा उन्हें जानकर प्राणी आगे बढ़ता है। निश्चित वस्तुओंमें भी तर्कका प्रयोग करके वह अपने समयका अपव्यय ही करेगा। वैज्ञानिकोंको भी साम्राज्य तथा कुछ वैज्ञानिक नियमोंको मानकर ही नयी खोजकी ओर बढ़ना पड़ता है। पूर्वके अन्वेषणको ही अपने अनुभवसे अन्वेषण करना व्यर्थ ही होगा। यदि कोई अपने अनुभवपर ही संखियाके स्वाद और गुणके निर्णय करनेका हठ करेगा, तो उस-जैसे लक्षों व्यक्तियोंको जीवनसे हाथ धोना पड़ेगा और लाभ कुछ न होगा। काले नागके काटने और उसके विषका परिणाम अनुभवद्वारा ही समझनेका प्रयत्न करना मूर्खता है। स्पष्ट है कि इस सम्बन्धमें शिष्टोंके अनुभवोंका सदुपयोग करना उचित है। इसी प्रकार जिन दुराचारों, दुर्गुणों, पापोंकी अग्राह्यता पूर्वजोंके अनुभवोंसे सिद्ध है उनपर विश्वास न करके पहले पाप, दुराचार करनेकी छूट देना अमानवता है। हिंदू विचारोंके अनुसार मद्यपानसे ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व ही नष्ट हो जाता है। फिर लौटना असम्भव ही होता है। इसी प्रकार एक बार पतिव्रताका सतीत्व चले जानेसे पुनः उसका लौटना सम्भव नहीं। अतः पापोंका दुष्परिणाम देखनेके लिये पाप करनेकी छूट देना बुद्धिमानी नहीं।

परम्पराके अनुसार एक ढंगका संस्कार बन जानेपर तद्विरुद्ध प्रवृत्ति होती ही नहीं। फिर विरुद्ध प्रवृत्ति कराकर दुष्परिणाम अनुभव करके उससे निवृत्त होनेकी व्यवस्था करनी वैसी ही होगी, जैसे कंटक चुभाकर पीड़ा अनुभव करके पुनः कंटक-निष्कासन-जन्य स्वास्थ्यका अनुभव करना। इसकी अपेक्षा अपनी बुद्धि एवं समयको किसी अन्य उपयोगी काममें लगाना ही श्रेयस्कर है। जिनकी परम्पराओंमें मद्य-मांसका प्रचलन नहीं है, वहाँके बच्चोंको उस सम्बन्धके न तो संस्कार ही होते हैं, न इच्छा ही होती है। प्रत्युत निषेधके ही संस्कार होते हैं। उनके उस संस्कारको दृढ़ बनानेमें ही कल्याण है। अतितार्किकको सर्वतोऽभिशंकी हो जाना

पड़ता है। फिर तो भोजनमें भी विषकी कल्पना होने लगती है। कई लोग बालकी खाल ही खींचते रहते हैं। वे अपने और दूसरोंका समय व्यर्थ ही अपव्यय करते रहते हैं। कितने ही जिद्दियोंको तर्क करनेकी स्वाधीनता देनेपर तत्त्व-निर्णय न होकर विवाद ही बढ़ता है। चरित्रोंकी भिन्नता एवं झक्कियोंकी वृद्धि समाजकी प्रगतिका लक्षण नहीं; किंतु निश्चित एवं उपयोगी गुणोंकी समृद्धि ही प्रगतिका लक्षण है। भिन्नताकी अपेक्षा गुणात्मक समृद्धिपर ही जोर देना आवश्यक है। योग्य वातावरण, उच्चकोटिकी शिक्षा एवं सदाचारके द्वारा ही उच्चकोटिका चारित्रिक संघटन होता है और यही राष्ट्रकी प्रगति है। झक्कियोंकी स्वतन्त्रतासे चरित्रमें भिन्नता भले ही आ जाय, परंतु चारित्रिक उच्चतामें कोई सहायता न मिलेगी। इसी प्रकार भले राजकीय नियम कम-से कम हों, परंतु धार्मिक, सामाजिक नियमोंद्वारा सदा ही व्यक्तियोंको उच्छृंखल जीवनसे बचाना अनिवार्य है। अवश्य ही रामराज्यकी दृष्टिमें सभी सम्पत्तियों एवं कार्योंका सरकारीकरण अनुचित है। तथापि विशिष्ट शिष्टों एवं शास्त्रोंका मार्ग-दर्शन समाजकी प्रगतिमें सदा ही सहायक होता है। प्रगतिके बाधक तत्त्वोंका निराकरण राज्यका अवश्य कर्तव्य है। विकास-वादियों एवं आधुनिक विचारकोंका सबसे बड़ा दोष यह है कि वे पूर्व-पूर्वके निर्णयों एवं सत्योंको निम्नस्तरका तथा उत्तरोत्तर निर्णयों एवं सत्योंको उच्चकोटिका मानते हैं। इसीलिये वे सदा ही निश्चित विषयमें भी खोजते रहते हैं। वे इसी दृष्टिसे झक्कियोंसे भी नवीन ज्ञानकी आशा रखते हैं और नयी-नयी व्यवस्थाओंकी खोजमें लगे रहते हैं। परंतु प्रमाणद्वारा प्रमित तत्त्व किसी भी कालान्तर या देशान्तर-में अन्यथा नहीं हो सकते। इस दृष्टिसे अपौरुषेय वेदों, तदनुसारी आर्ष ग्रन्थों तथा सर्वज्ञकल्प महर्षियों, राजर्षियोंने अपने ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं सफल प्रयोगोंद्वारा जिन नियमों, व्यवस्थाओंको समाजके लिये लाभदायक समझा, वे त्रिकालाबाध्य सत्य एवं उपयोगी हैं। उनका अनुसरण करना समाज एवं तद्घटक व्यक्तियोंका कर्तव्य है।

शास्त्र एवं समाज स्थिर वस्तु है। उनका धार्मिक, सांस्कृत स्वरूप एवं सभ्यता स्थिर वस्तु है और राज्यलक्ष्मी अस्थिर वस्तु। विशेषतया राज्यसत्ताको हथियानेके लिये सभी लोग प्रयत्नशील होते हैं। जिस ढंगकी विचारधारावालोंका बहुमत होता है, उन्हींका शासन होता है। फलतः वे शासन, शिक्षा, सम्पत्ति, धर्म सभीको अपने हाथमें लेना चाहते हैं। कहना न होगा कि उक्त तीनों विषयोंमें सरकारी हस्तक्षेप होनेसे समाजकी संस्कृति, सभ्यता एवं धर्ममें सर्वथा रद्दोबदल हो जाता है; फिर समाजकी स्थिरता भी नष्ट हो जाती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'अच्छे ही लोगोंके हाथमें शासन सत्ता जाती है।' अनुभव तो यह है कि शान्तिप्रिय विचारक, गम्भीर विद्वान्, जाल-फरेब न करनेवाले पीछे रह

जाते हैं। जाल-फौरेबवाले अयोग्य लोग आगे आ जाते हैं। ऐसी स्थितिमें विभिन्न शासनोंके बदलनेके साथ यदि सभ्यता, संस्कृति, शिक्षामें भी रद्दोबदल होता जाय, तब तो समाजकी एकरूपता, स्थिरता असम्भव हो जायगी। बहुत-से लोग विकासवादी नियमानुसार उत्तरोत्तर प्रगतिका ही सिद्धान्त मानते हैं, परंतु इस मतमें फिर मनुष्यके प्रमाद, पुरुषार्थकी विशेषता नहीं रह जाती। परंतु वस्तुस्थिति यह है कि प्रमाद और सावधानीसे पतन एवं अभ्युदय स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। अतः हर चीजका भार राज्यपर छोड़ देना उचित नहीं। सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवनमें राज्यका कम-से-कम हस्तक्षेपवाला सिद्धान्त शास्त्र-सम्मत है। फिर भी धार्मिक, सामाजिक नियमोंका पालन तो सबके लिये अपेक्षित होगा ही। न्याय, सुरक्षा, समष्टि-स्वास्थ्य, सुव्यवस्था, सफाई आदिका काम सरकार कर सकती है। आज तो राष्ट्रके प्रत्येक जीवन-क्षेत्रमें सरकार ही हावी होती जा रही है। व्यक्ति शासनयन्त्रका एक नगण्य कल-पुर्जा बनता चला जा रहा है। उसे व्यक्तिगत विकास-विचार आदिकी कोई भी स्वतन्त्रता नहीं। मिलकी दृष्टिसे 'मद्य-पान, द्यूत आदि व्यक्तिगत समझे जानेवाले कार्योंका भी समाजपर असर पड़ता ही है।' धन एवं समयका यदि अनुचित कार्योंमें अपव्यय न कर किसी उचित कार्यमें व्यय किया जाय तो अवश्य ही उससे समाजका लाभ हो सकता है। एक व्यक्तिके भी दुराचारी होनेसे समाज दूषित होता है। अन्य लोगोंपर भी उसके दुस्संस्कार पड़ते हैं, फिर जब व्यक्तियोंका समुदाय ही समाज है, तब तो व्यक्तिके दूषित होनेसे समाज दूषित होगा ही। मिलके इस स्वतन्त्रता-प्रेमका भी आधार रूसोका यह वाक्य है कि 'मनुष्य स्वतन्त्र जन्मा है, किंतु सभी ओरसे बेड़ियोंसे जकड़ा हुआ।' इसका सार यही है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक बन्धन परस्पर विरोधी हैं। किंतु भारतीय भावनासे स्वतन्त्रता-प्रेम स्वाभाविक है और वह है परम ध्येय एवं प्राप्य, परंतु उसे पूर्णरूपसे प्राप्त करनेके लिये पर्याप्त स्वतन्त्रताका बलिदान कर धार्मिक एवं सामाजिक सभी बन्धनोंको अंगीकार करना परमावश्यक है। अधिक मुनाफा पानेके लिये व्यापार आदिमें पर्याप्त धन व्यय करना पड़ता ही है। अतएव रूसो भी तो वास्तविक स्वतन्त्रता राज्य-नियन्त्रणसे मानता ही था। इस दृष्टिसे व्यक्ति एवं समाजका परस्पर पोष्य-पोषक भाव ही है, विरोध नहीं। लौकिक दृष्टिसे भी कई स्वतन्त्रताएँ परस्पर विरोधी होती हैं! वहाँ समझौतासे काम चलता है। सर्वथापि समष्टिहिताविरोधेन स्वतन्त्रताका उपयोग ही सदुपयोग है।

विचार और भाषणकी स्वतन्त्रता बहुत आवश्यक है। भारतीय सिद्धान्तोंमें उसका सदा ही अत्यन्त आदर था। इस देशमें चार्वाक, शून्यवाद, द्वैती, अद्वैती आदि अनेक प्रकारके परस्पर विरुद्ध दार्शनिक हुए हैं। उनमें विचार-संघर्ष

चलता रहा, परंतु किसीके विचार या भाषणपर प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता था। यहाँ ईसा, सुकरातकी तरह विचार-भेदके कारण किसीको फाँसीपर नहीं लटकाया जाता था। रामराज्यमें एक रजकको अखण्ड भूमण्डलके लोकप्रिय सर्वजनरंजन रामकी परम साध्वी सीताके विरुद्ध भी विचार रखने एवं भाषण देनेपर प्रतिबन्ध नहीं था। राम चाहते तो उसे दण्ड दे सकते थे। लौकिक मनुष्य, वानर, भालू, राक्षस तथा अलौकिक महर्षि, देवता, सिद्ध, इन्द्र, ब्रह्म, रुद्र, आदिके सामने जिनकी अग्नि-परीक्षा हो चुकी, उनके विरुद्ध एक रजक बोल सका। रामने यही सोचा कि 'दण्डके द्वारा एक मुख बंद किया जायगा तो हजारों मुखोंसे वही आवाज निकलेगी।' व्यवहारद्वारा ही जनता या व्यक्तिके विचार या भाषण बदले जा सकते हैं, दण्डद्वारा नहीं। फिर भी उसकी कुछ सीमा उचित है। असम्बद्ध अहितकर विचारों एवं भाषणोंका दुष्प्रभाव समाजपर पड़ सकता है। अतः समष्टिहितके लिये उसमें भी एक सीमा उचित ही है। 'सनकीके भाषणसे भी कोई चीज अच्छी मिल सकती है।' इसका इतना ही अभिप्राय है कि 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' एक अबुद्ध बालकसे भी सुभाषित ग्रहण करनेमें कोई हर्ज नहीं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि पागलोंके बढ़ाने और उनके भाषणोंकी व्यवस्था की जाय, उसमें समयका अपव्यय किया जाय।

ज्ञानपिपासा अवश्य अच्छी चीज है, परंतु बहुत-सा ज्ञानभार भी लाभदायक नहीं होता। ईश्वरद्वारा निर्मित एवं नियमित विश्वके कल्याणोपयोगी सभी आवश्यक विषयोंका प्रबोध ईश्वरीय शास्त्रों एवं सर्वज्ञ महर्षियोंकी ऋतम्भरा-प्रज्ञाओंद्वारा सुलभ है। महाभारतकारका कहना है कि जो भारत ग्रन्थमें है, वही अन्यत्र है; जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है—'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।' फिर भी एक सीमाके साथ उसपर स्वतन्त्र तर्क करनेकी परंम्परा मान्य ही है। जहाँसे शास्त्रोंकी परम्परा टूट गयी थी और शास्त्रीय देशोंसे भी सम्पर्क टूट गया था, वहाँ अन्वेषणकी उत्कृष्ट लगन लाभदायक सिद्ध हुई है। यह बात अवश्य है कि किसी परम सत्यपर बिना पहुँचे और बिना दृढ़ निश्चय किये समाजकी स्थिरता एवं सुखशान्तिका स्थायित्व नहीं हो सकता। दौड़ दौड़के लिये नहीं, श्रम श्रमके लिये नहीं; किंतु परम विश्रामके ही लिये होना चाहिये। 'सत्य किसीकी बपौती नहीं' परंतु किसीकी इच्छा-अनुसार उसमें रद्दोबदल भी नहीं होता रहता। एक रज्जुमें रज्जु-ज्ञान ही यथार्थ है। रज्जुमें सर्पका ज्ञान, धाराका ज्ञान, मालाका ज्ञान अयथार्थ ही है। इन ज्ञानोंमें समझौता नहीं हो सकता। देह ही आत्मा है या देहभिन्न आत्मा है, चेतन आत्मा है या अचेतन, व्यापक आत्मा है या अणु अथवा मध्यम परिमाण है, आत्मा असङ्ग है या कर्ता-भोक्ता है? इन सभी विचारोंका समान दृष्टिकोणसे समान सत्तासे समन्वय नहीं हो

सकता। अवस्थाभेद, दृष्टिभेद, सत्ताभेदसे समन्वयकी बात अलग है। फिर विचारके लिये अनेक पक्षोंका उत्थापन तत्त्व-अतत्त्वका विवेचन आवश्यक होता ही है।

इसी प्रकार हरबर्ट स्पेन्सरने (१८२०–१९०३) डार्विनके विकासवादके अनुसार बतलाया कि 'विश्वका विकास एक अनिश्चित असम्बन्धित एकत्वसे निश्चित और सम्बन्धित विभिन्नताकी ओर हो रहा है।' उसके मतसे समाजका विकास भी इसी ढंगसे हुआ है। प्राचीन समाजमें एकत्व था, परंतु था अनिश्चित एवं असम्बन्धित। आधुनिक समाज विभिन्नताके साथ निश्चित एवं सम्बद्ध है। जीवका विकास भी एक निम्नप्राणीसे उच्चकोटिके प्राणीकी ओर हुआ है। पहले एक सूक्ष्म अणुके द्वारा ही खाना, पीना, श्वास लेना आदि काम होता था। प्रगतिके फलस्वरूप विभिन्न अणुओंका जन्म हुआ। इनके द्वारा विभिन्न क्रियाएँ होने लगीं। अणुओंमें कार्य-विभाजन हो गया। समाजका विकास भी इसी तरह हुआ। पहले समाजमें कार्य-विभाजन नहीं था। जीवन-सम्बन्धी सभी कार्योंको एक व्यक्ति सम्पादित करता था। विज्ञानकी प्रगतिसे समाजके कार्योंका विभाजन हो गया। आजका कार्यविभाजन जटिल हो गया। इसीलिये समाजके अंग अन्योन्याश्रित हो गये। पहले भी मनुष्य समूहरूपमें रहते थे। कुछ मात्राके नष्ट होनेपर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता था। परंतु आज तो यदि रेल या मिलोंके श्रमिक कार्य बंद कर दें तो समाजपर उसका भीषण प्रभाव पड़ता है। स्पेन्सरके मतानुसार यह कार्य-विभाजन आन्तरिक एवं अपरिवर्तनीय हैं। इस आन्तरिक कार्य-विभाजनकी गतिमें राज्यको हस्तक्षेप न करना चाहिये। इस कार्यविभाजनसे समाज स्वयं प्रगतिशील होगा। यह जीवशास्त्रका सुप्रसिद्ध नियम है कि 'योग्य ही जीवित रहेगा।'

इस तरह उक्त महानुभाव जो सामाजिक वातावरणके अनुकूल अपना जीवन-यापन कर सकते हैं, वे ही जीवित रहकर उन्नतिमें सफल होते हैं। वर्षाऋतुमें अनन्त कीड़े उत्पन्न होते हैं। वर्षाके अनन्तर ये नये वातावरणके अनुकूल अपनी जीवन-व्यवस्थामें परिवर्तन नहीं कर सकते, इसीलिये मर जाते हैं। स्पेन्सर कहता है कि 'गरीब वही है, जो जीवनको सामाजिक व्यवस्थाके अनुकूल संचालित करनेमें असफल होता है। जो योग्य होता है वही सफल होता है। योग्य अनुपयुक्त वातावरणमें भी सफलता प्राप्त करता है। अयोग्य व्यक्ति परिस्थितिके शिकार होते हैं। अयोग्य प्राणियोंके समान ही अयोग्य व्यक्ति भी समयानुसार जीवन-यापनमें असफल होते हैं। जैसे अयोग्य प्राणी मृत्युके शिकार होते हैं, वैसे ही अयोग्य मनुष्य निर्धन एवं निर्बल होते हैं। संघर्षमें पिछड़ जानेवाला ही गरीब होता है। 'योग्य ही जीवित रहता है' इस प्राकृतिक नियममें राज्यको हस्तक्षेप नहीं करना

चाहिये । स्पेन्सरके मतानुसार 'एक गंदी बस्तीके निवासियोंको उनके भाग्यपर छोड़ देना चाहिये । जो व्यक्ति योग्य होंगे, वे इस प्रतिकूल वातावरणमें भी जीवित रह सकेंगे । प्रतिकूल बीमार होकर मर जायँगे । राज्यको स्वच्छता, जल और अन्नका प्रबन्ध नहीं करना चाहिये । अयोग्य संघर्षसे लुप्त हो जायगा, योग्य बच जायगा ।' यह सिद्धान्त मानवताके विरुद्ध है । किसी भी बीमार प्राणीकी सहायता करना या कम-से-कम उसे स्वावलम्बी बननेमें सहायता करना एक मनुष्यता है । किसी परिस्थितिमें रुग्ण, मूर्च्छित प्यासे तथा असहाय आदमी या प्राणिमात्रकी सहायता करना भारतीय शास्त्रोंके अनुसार विश्वधर्म है ।

एकसत्तावाद

एकसत्तावाद भी एक राजनीतिक वाद है । इसके अनुसार एक प्रादेशिक राशिमें केवल एक ही सर्वोच्च सत्ताधारी व्यक्ति-विशेषोंका व्यक्तिसङ्घ होता है । सभी नागरिक एवं संस्थाएँ इस सत्ताधारी संस्थाके आधीन होती हैं । राज्यको राजसत्ताधारी संस्था माननेवाले दार्शनिक 'अद्वैतवादी' या 'एकसत्तावादी' कहलाते हैं । 'राज सत्ता' शब्द श्रेष्ठता अर्थमें प्रयुक्त होता है । तदनुसार श्रेष्ठता राज्यकी विशेषता है, अन्य किन्हीं भी संस्थाओंका कोई भी स्वतन्त्र अस्तित्व मान्य नहीं होता । राज्यके पास ही पुलिस, जेल, न्यायालय होते हैं । आज्ञोल्लङ्घनका दण्ड राज्य देता है । इसकी सदस्यता भी सबके लिये अनिवार्य है । राज्य ही नियम-निर्मात्री संस्था होती है । वह राज्य-संस्था किसी नियम या परम्पराके आधीन नहीं होती । राजाज्ञापालन नागरिकोंके लिये अनिवार्य है । बहुलवादी दर्शनराज्यको राजसत्ताधारी तो मानता है, परंतु वह सत्ताको सप्रतिबन्ध मानता है । १६ वीं शतीके एकसत्तावादने ही निवादास्पद राज्यसत्ताकी व्याख्या की है । गियर्क राजसत्ताको एक 'जादूकी छड़ी' मानता है । राज्यका सर्वश्रेष्ठ संचालक ही राजसत्ताका प्रतिरूप है । वह पूरे देशपर अपनी नीति और योजनाओंको लाद सकता है । सभी दल निर्वाचनमें नागरिकोंसे मत प्राप्त करके कर्णधार बनना चाहते हैं । तरह-तरहकी प्रतिज्ञा करते हैं । राज्य राजसत्ताधारी है । इसी आधारपर यह सब होता है । जो भी राज्याधिकारी होगा, वह राज्यसत्ताका उपयोग अपनी योजनाओंकी पूर्तिके लिये करता है, जैसे मदारी जादूके डंडेद्वारा पिटारीसे अनेक चीजें निकालता है । नागरिक जादूके डंडेके तुल्य ही कुछ समझ नहीं पाता और राजनीतिज्ञोंके जालमें फँस जाता है ।

यूरोपभरमें १६ वीं शतीसे पूर्व धार्मिक विषयोंमें पोपका तथा अन्य विषयोंमें रोमन सम्राट्का सर्वोच्च स्थान होता था । राष्ट्रीयताके आन्दोलनसे सामन्तवादका ह्रास हुआ, केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली हुई और प्रत्येक राष्ट्रमें स्वतन्त्र सत्ताधारी सरकारों और नेताओं (राजाओं) का जन्म हुआ । बोदाँके धर्मसुधार-आन्दोलनसे

ईसाई-धर्ममें कई शाखाओं, उपशाखाओंका जन्म होनेसे पोपके एकाधिकारका अन्त हो गया। राजनीतिमें रोमन सम्राट्की भी सर्वोच्चताका अन्त हो गया। इस समय पुरानी परम्पराका अन्त होनेसे जनतामें कुछ अनिश्चितता एवं व्याकुलता उत्पन्न हो रही थी। उस समय बोदाँने राज्यकी आज्ञाका पालन करना नागरिकोंका परम कर्तव्य बतलाया; क्योंकि प्रादेशिक राशिमें राज्य ही एक राजसत्ताधारी है। राजसत्ता निरपेक्ष, अदेय, अविभाज्य, व्यापक एवं स्थायी है। जादूके डंडेके तुल्य राज्यों एवं नरेशोंने इसका दुरुपयोग भी किया और अपनी निरपेक्षताको राज्यकी एक विशेषता बताया, फिर भी बोदाँका 'राजसत्ताधारी राज्य' नैसर्गिक नियमोंके परतन्त्र था। परंतु हाब्सका 'लेवियाथन' (दीर्घकाय) तो सर्वथा निरपेक्ष था। वह सभी नियमोंको राजाकी तलवारसे ही सार्थक समझता था। लाकके प्रयत्नसे ब्रिटेनमें सीमित राजतन्त्र स्थापित हुआ। उसके मतानुसार नैसर्गिक नियम, सभ्य समाज और वैयक्तिक सम्पत्ति सर्वोपरि है। फिर भी व्यवहारमें राज्यसरकार ही सत्ताधारी अधिकारोंका प्रयोग करती है। यह विचारधारा हाब्सके एकसत्तावादसे भिन्न थी। उसका प्रभाव फ्रांसके मांटेस्क्यूपर भी पड़ा। रूसो भी हाब्सके एकसत्तावादका समर्थक था। उसके अनुसार भी राज्यकी राजसत्ता निरपेक्ष, अविभाज्य, व्यापक एवं स्थायी है। हाब्सके अनुसार 'राजसत्ता' एक 'लेवियाथन'में निहित है और रूसोके अनुसार एक प्रत्यक्ष जनतन्त्रीय राज्यकी सामान्य इच्छामें। रूसोने हाब्सकी निरपेक्षत्ता और लाककी जनस्वीकृतिका समन्वय किया। वेन्थमने भी उपयोगितावादके लिये 'एकसत्तावाद' अपनाया।

जान आस्टिनने एकसत्तावादकी 'राजसत्ता' नामक प्रामाणिक परिभाषा की। वह वेन्थमका शिष्य था। उसकी परिभाषा यह है कि 'यदि एक निश्चित जनश्रेष्ठ किसी अन्य जनश्रेष्ठकी आज्ञा स्वभावतः पालन न करता हो और एक बहुसंख्यक समाज स्वभावतः उसकी आज्ञाका पालन करता हो, तो वह जनश्रेष्ठ उस समाजमें राजसत्ताधारी है और उस जनश्रेष्ठके सहित वह समाज राजनीतिक दृष्टिसे स्वतन्त्र है।' आस्टिनकी उक्त परिभाषाके मीमांसा और राजनीति—ये दो दृष्टिकोण हैं। प्रथमके अनुसार प्रत्येक राज्यमें एक निश्चित जनश्रेष्ठ होता है, वही राजसत्ताधारी होता है। राजसत्ताकी विशेषताएँ निरपेक्षता आदि हैं। मीमांसाके दृष्टिकोणसे राजसत्ताधारीकी आज्ञा ही कानून है। दैवी, नैसर्गिक, लौकिक नियम तथा सङ्घोंके नियम एवं परम्परा कानून नहीं माने जा सकते। उसके अनुसार प्रत्येक नियमका निश्चित स्रोत होना आवश्यक है। नियम आज्ञासूचक होना चाहिये। नियमकी पृष्ठभूमिमें कोई प्रमाण भी चाहिये। इस प्रमाणसे ही दण्डविधान होता है।

भले ही एकसत्तावादी राज्य-व्यवस्थासे राज्य-सरकारोंकी दृढ़ता हुई और यह अच्छी चीज है; परंतु इसमें अत्यन्त अपेक्षित धर्म-नियन्त्रण भी समाप्त हो जाता

है। अनियन्त्रित जनश्रेष्ठ अनियन्त्रित यन्त्रके समान ही भीषण हो सकता है, यद्यपि आधुनिक विवेचक इसे एक प्रगतिशील कदम मानते हैं और समय-समयपर एक सत्तावादी मीमांसाने अनिश्चितता दूर की है। दैवी नियम, नैसर्गिक नियम, राज्य नियम या लौकिक नियम, इन नियमोंमें कौन नियम सर्वोच्चरूपसे मान्य हों, इस विप्रतिपत्तिमें हाब्सने 'दीर्घकाय' का, रूसोने 'सामान्येच्छा' का, आस्टिनने 'जनश्रेष्ठका' अनुसरण ही ठीक बताया। एकसत्तावादी मीमांसाने राज्यको ही एकमात्र 'नियम-विधायिका' संस्था माना। कितनी भी अच्छी व्यवस्था क्यों न हो, जबतक उसके योग्य संचालक नहीं मिलते, तबतक वह व्यर्थ ही सिद्ध होती है। धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्र हो या नैसर्गिक नियमतन्त्र, निरपेक्ष दीर्घकाय सामान्येच्छातन्त्र हो या आधुनिक जनतन्त्र, योग्य संचालकके विना सर्वत्र ही त्रुटियाँ आती हैं। आधुनिक जनतन्त्रकी दरिद्रता, भ्रष्टाचार, वेकारी किसीसे छिपी नहीं है। लोकतन्त्र-निर्वाचनमें कितना भ्रष्टाचार और कितना धन-जन-शक्तिका क्षय होता है, यह भी स्पष्ट है। वीनोग्राडोफके अनुसार भी एकसत्तावादी मीमांसा अपूर्ण ठहरती है। अपर्याप्त इसलिये कि यह 'संघात्मक राज्य' पर लागू नहीं हो सकती। एकात्मक राज्यमें भी राजसत्ताधारीका पता लगाना कठिन हो जाता है। अपूर्ण इसलिये कि राज्यका कार्य केवल आज्ञा देना ही नहीं, किंतु समन्वय भी है; नागरिकके सामने कर्तव्य-पालन ही नहीं, किंतु अधिकारोंकी सुरक्षा भी है। न्यायालयोंके निर्णयों एवं लौकिक नियमोंसे असम्बद्ध तथा अन्ताराष्ट्रिय नियमोंपर लागू न होनेसे भी यह अपर्याप्त एवं अपूर्ण है। जनतन्त्रमें वह सुस-सत्ताधारी होनेमात्रसे संतुष्ट नहीं, किंतु सक्रियसत्ताकी प्राप्ति चाहती है। यहाँ निश्चित जनश्रेष्ठको ही वह सब कुछ नहीं मान सकती। अमेरिका आदिकी संघात्मक शासन-प्रणालीके भी यह विरुद्ध है।

एकात्मक संविधानमें केन्द्रियकरण होता है। ब्रिटेन एवं फ्रांसमें यह व्यवस्था थी और है। वहाँ सभी अधिकार एक संस्था—प्रतिनिधि संस्थामें निहित होते हैं। ऐसी संस्थाको 'दीर्घकाय' या 'जनश्रेष्ठ' कहा जा सकता है। परंतु अमेरिकाके 'सङ्घात्मक' विधानमें राज्यके वैधानिक अधिकार केन्द्रिय सरकार एवं उपराज्योंमें विभक्त होते हैं; क्योंकि वहाँ शक्ति-विभाजनका सिद्धान्त स्वीकृत है। कई अन्य देशोंने भी इस व्यवस्थाको अपनाया है, इस ढंगके संविधानोंमें कोई ऐसी संस्था नहीं है, जिसमें राज्यके सब अधिकार निहित हों। एकात्मक राज्यमें भी निश्चित जनश्रेष्ठका पता लगाना कठिन होता है। आस्टिनने ही तत्काल ब्रिटेनमें राजा, लार्डों और निर्वाचकोंको सत्ताधारी बतलाया था। परंतु दूसरी बार उसने राजा, लार्ड और लोकसभामें राजसत्ताका निहित होना बताया। दोनों ही स्थितिमें राजा और लार्डगणका सामान्य ही स्थान है। लोकसभामें

सदस्योंको जब निर्वाचक सप्रतिबन्ध मतदान करते हैं, तब वे स्वयं ही राजसत्ताधारीके अङ्ग बन जाते हैं। अप्रतिबन्ध मतदान करते हैं तो छोटी लोकसभा (कामन्स सभा) राजसत्ताधारीका अङ्ग बन जाती है। अतः 'राज्यमें एक निश्चित जनश्रेष्ठ सत्ताधारी है' यह न्यायसंगत नहीं। आस्टिनके मतमें 'कार्यपालिका एवं नौकरशाहीको कोई स्थान नहीं और न जनताकी सत्ताका ही कोई स्थान है परंतु आजकी स्थिति-में राज्यके कार्य निःसीम हो गये हैं। सभी विषयोंमें उसका हस्तक्षेप होता है। फिर उसमें अनियन्त्रित 'दीर्घकाय' या 'जनश्रेष्ठ' को न्यायसंगत कैसे कहा जा सकता है ? आधुनिक जनवादमें प्रतिस्पर्द्धा एवं सहयोग चलता है। यह सब विभिन्न जाति, वर्ग विचार और संस्थाद्वारा होता है। अतएव कभी कोई, कभी कोई संस्था प्रभुता स्थापित करती है। इस प्रभुताका प्रभाव नियम-निर्माणपर पड़ता है। राष्ट्रमें कभी किसी संस्था या वर्गका बोलबाला होता है, कभी किसीका। कभी संसद् कार्यपालिकापर प्रभुता स्थापित करती है, कभी कार्यपालिका संसद्पर। सङ्घीय राज्योंमें कभी सङ्घीय न्यायालय राज्यसत्ताधारी होता है, कभी एक दल पूरे राज्यपर हावी होता है। प्रेस-आन्दोलन तथा विभिन्न सङ्घ भी राज्यको प्रभावित करते रहते हैं। कभी-कभी अन्ताराष्ट्रिय जनमत नैतिकता परम्परा तथा सन्धियाँ भी राज्यके एकाधिकारको सीमित करती हैं। इस स्थितिमें राजसत्ताको निरपेक्ष, अविभाज्य कहना असंगत ही है।

आजकी स्थितिमें राज्यकी इच्छा एवं जनश्रेष्ठका निर्णय असम्भवप्राय है। 'जनश्रेष्ठका आज्ञा देना, जनताका सीधे पालन करना' यह आस्टिनकी व्यवस्था आज मान्य नहीं हो सकती। प्राचीन कालमें कर्तव्यपरायणतापर जोर था, परंतु आज तो अधिकारोंकी ही प्रधानता है। आज अन्य संस्थाओंका भी महत्त्व कुछ कम नहीं होता। राज्य सर्वश्रेष्ठ सङ्घ है, परंतु निरपेक्ष नहीं। यह श्रेष्ठता सप्रतिबन्ध है। श्रेष्ठ लक्ष्यद्वारा ही राज्यकी श्रेष्ठता निर्धारित होती है। राष्ट्रिय जीवनका समन्वय तथा जनसेवासे ही नागरिक राज्यको आदर देते हैं। एक प्रधानमन्त्री असफल होनेपर पदत्याग कर देता है। ठीक यही स्थिति राज्यकी होती है।

मीमांसाके विश्लेषणवादी, इतिहासवादी, राष्ट्रवादी, विकासवादी, समाज-शास्त्रवादी, दर्शनवादी, कई दृष्टिकोण हैं। एकसत्तावादसे सम्बद्ध मीमांसा विश्लेषणवादी है। इन प्रथाओंके अनुसार नियमोंके दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होते हैं। विश्लेषणवादके अनुसार नियम-निर्मात्री राज्यसत्ता ही सब नियमोंका स्रोत है। राजसत्ताधारीकी आज्ञा ही नियम है, रीति-रिवाज आदिका कुछ महत्त्व नहीं। परंतु वस्तुस्थिति यह है कि राष्ट्रकी विविध विशेषताओं, ऐतिहासिक प्रवृत्तियों, सामाजिक जीवन आदिका नियम-निर्माणमें महत्त्वपूर्ण स्थान होना अनिवार्य है। अनेक सङ्घोंका भी नियम-निर्माणपर प्रभाव होता है। सभी देशोंमें न्यायालयोंके निर्णयोंको नियमतुल्य ही माना

जाता है। सर्वोच्च न्यायालयका निर्णय अन्य न्यायालयोंका मार्गदर्शक होता है। ब्रिटेनके भी संविधानमें न्यायालयके निर्णयका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहाँके अलिखित संविधानके ये निर्णय महत्त्वपूर्ण अंग हैं। ब्रिटिश नागरिकके मूल अधिकार किसी एक ग्रन्थमें संगृहीत नहीं। ये अधिकार राज्य-विधियों, लौकिक नियमों तथा न्यायालयके निर्णयों—जूरी तथा व्यक्तिगत अधिकारपर ही आधारित है। अनेक लौकिक विधियाँ ऐसी हैं जिनका निरपेक्ष शासन भी लङ्घन नहीं कर सकता। ब्रिटिश संविधानमें इनका भी प्रमुख स्थान है।

१७वीं शतीके ऐतिहासिक 'नरेश संसद्' संघर्षमें इन नियमोंके अस्तित्वका महत्त्वपूर्ण स्थान था। संसदीय नेताओं एवं न्यायाधीशोंका कहना था कि 'राजा लौकिक नियमोंका लङ्घन नहीं कर सकता।' ये नियम अभीतक अलिखितरूपमें ही चले आ रहे हैं। आस्टिनने अपने देशकी इस परम्परासे भी आँख मूँद ली थी। भारत एवं अन्यत्र अनेक जातियोंका जीवन परम्पराके अनुसार ही चला है। भारतीय शासन-व्यवस्थामें सदासे ही धर्म-विधियों एवं सदाचारपरम्पराका सर्वाधिक महत्त्व था। "तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रम्" (बृहदा०उप०१।४।१४) के अनुसार धर्मपर राजाका शासन नहीं, किंतु राजापर ही धर्मका शासन होता था। मध्यकालिक यूरोपमें धार्मिक एवं नैसर्गिक नियम सर्वोपरि माने जाते थे। वस्तुतः एकसत्तावादी मीमांसा राज्य संघटन मात्रसे सम्बन्धित हैं, प्राचीन समाजसे नहीं। समाजमें सदा ही लौकिक, धार्मिक एवं नैसर्गिक नियमोंकी ही प्रधानता थी। आस्टिनवादने भी इनका अस्तित्व स्वीकार कर लिया; परंतु ये नियम तभी मान्य होते हैं, जब कि 'दीर्घकाय' इनका निषेध न करता हो। वस्तुतस्तु 'दीर्घकाय' इनका निषेध न कर स्वीकार ही करता है और उसे स्वयं भी इनका पालन करना पड़ता है। हीयर्न शॉने कहा है कि 'आस्टिनकी मीमांसामें हवलदारीकी गन्ध मिलती है।'

आधुनिक जनवादमें प्रत्यक्ष या परोक्षरूपसे जनस्वीकृति एवं नैतिकताके आधारपर ही राज-सत्ताधारीकी आज्ञा नियमका रूप धारण कर सकती है। शासनके लिये शक्ति आवश्यक है। परंतु डंडेके बलसे नियम नहीं लागू किये जा सकते। संवैधानिक नियमोंका स्रोत क्रान्ति, सक्रिय या असहयोग आन्दोलन एवं जनमत है। निश्चित जनश्रेष्ठकी आज्ञा उसका आधार नहीं। 'नमनीय' और 'अनमनीय'—ये दो प्रकारके संविधान होते हैं। संवैधानिक परिवर्तनोंके लिये परोक्ष या अपरोक्ष रूपसे जनस्वीकृति आवश्यक होती है। नमनीय संविधानमें संवैधानिक तथा साधारण नियम-निर्माणकी पद्धति एक-सी होती है। नमनीय संविधानके सम्बन्धमें ही डी लोमका ऐतिहासिक कथन है कि 'ब्रिटिश संसद् सभी विषयोंपर नियम-निर्माण कर सकती है। केवल पुरुषको स्त्री और स्त्रीको पुरुष नहीं बना सकती।' यद्यपि अब यह भी नहीं रह गया। फिर भी वह संसद् मनमानी नियम नहीं बनाती। लास्कीके

अनुसार 'यदि वह ऐसा करे तो संसद् ही नहीं, क्योंकि संसदीय सरकारका सार है जनमतद्वारा शासन।' ब्रिटेनमें संवैधानिक नियमोंके निर्माणमें जनताकी स्वीकृति प्राप्त की जाती है।

अन्ताराष्ट्रिय नियमोंका स्रोत भी किसी जनश्रेष्ठकी आज्ञा नहीं हो सकती। किंतु विश्व-शान्तिकी भावना मानवता एवं सामाजिकता है। यातायातकी वृद्धिसे आजकल अन्ताराष्ट्रिय जनमत सम्भव हो गया। कोई भी निरपेक्ष शासक जनमतका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। कोई भी निश्चित जनश्रेष्ठ अन्ताराष्ट्रिय नियमों, संधियों एवं नैतिकताको कुचल नहीं सकता। विश्वजनमतका विरोध करके किसी राज्यकी स्थिरता नहीं हो सकती। एकतावादके अनुसार 'निरपेक्षता राज्यकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता है। यह निरपेक्षता आन्तरिक तथा बाह्य—इन दो दृष्टियोंसे होती है। आन्तरिक दृष्टिकोणसे राज्यका विरोध कोई व्यक्ति या समूह नहीं कर सकता, सभी उसके अधीन होते हैं।' बर्जेसके मतानुसार राज्य नागरिकोंको उनकी इच्छाके विरुद्ध बाध्य कर सकता है, अन्यथा अराजकता ही समझी जायगी। बाह्य नीतिकी दृष्टिसे राजसत्ताधारीका राज्यपर कोई नियन्त्रण सम्भव नहीं। अन्य राज्य भी उसे आज्ञा नहीं दे सकता। अन्ताराष्ट्रिय नैतिकता, संधियाँ और नियम राजसत्ताधारी राज्यको बाध्य नहीं कर सकते। उनका अनुकरण करना राज्यकी इच्छापर निर्भर है। एकसत्तावादियोंके दृष्टिकोणसे अन्ताराष्ट्रिय नियमोंको नियम नहीं माना जा सकता; क्योंकि उसकी पृष्ठभूमिमें राज्यकी तलवार नहीं होती। एकसत्तावादी दार्शनिक राज्योंके पारस्परिक सम्बन्ध हाब्सके प्राकृतिक मनुष्योंके सम्बन्धसे होता है। अर्थात् एक राज्य दूसरे राज्योंके शत्रु होते हैं।

भारतीय नीति-शास्त्रोंके अनुसार स्वभावसे ही पड़ोसी राष्ट्रके साथ संघर्षकी सम्भावना होती है और पड़ोसीके पड़ोसीके साथ मैत्रीकी सम्भावना होती है।

अरिर्मित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम्। तथारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरः स्मृतः॥
पार्ष्णिग्राहः स्मृतः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम्। आसारावनयोश्चैव विजिगीषोश्च पृष्ठतः॥
अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः। अनुग्रहे संहतयोर्निग्रहे व्यस्तयोः प्रभुः॥
मण्डलाद् बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः। अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानां च वधे प्रभुः॥

(अग्निपुरा० २४०। १—५)

शत्रु, मित्र, शत्रुका मित्र, मित्रका मित्र और शत्रुके मित्रका मित्र—ये पाँच विजिगीषुके आगे तथा पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार—ये चार विजिगीषुके पीछे रहते हैं। अरि तथा विजिगीषुमें यदि संधि हो जाय तो उन दोनोंपर निग्रह-अनुग्रह करनेकी क्षमता रखनेवाला तथा परस्पर समझौता न होनेपर दोनोंको दण्ड देनेकी क्षमता रखनेवाला 'मध्यम' होता है। इन सबसे उदासीन और इनके मण्डलसे बाहर सबके मिलनेपर अनुग्रह

और सबमें फूट पड़नेपर निग्रह करनेवाला सबसे अधिक शक्तिशाली नाभि नामक राजा होता है।

आदर्शवाद

ईसाके पूर्व यूनानी कालमें 'आदर्शवाद' का उदय हुआ। आदर्शवादी राज्यको एक आदर्श संस्था मानते हैं और कर्तव्यपरायणता उसकी आधार-शिला कहते हैं। इस दृष्टिसे 'राज्य और व्यक्ति—दोनों ही कर्तव्यके बन्धनमें आबद्ध होकर आगे बढ़ते हैं। इसमें नागरिककी राजभक्ति और राज्यका मनुष्योंके जीवन-यापनकी सुव्यवस्था करना परम कर्तव्य है। दोनों अन्योन्य-पोषक होते हैं। कहा जाता है कि यह सभ्यता दास-प्रथा-कालकी है। जिसमें बहुसंख्यक दासोंके स्वामी ही राज्य करते थे। वे ही स्वतन्त्र नागरिक होते थे। यूनानी दार्शनिक मनुष्योंको प्रकृतिसे ही सामाजिक प्राणी मानते थे। 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' अरस्तूका यह ऐतिहासिक वाक्य प्रसिद्ध है। समाज एक प्राकृतिक संस्था है। इसका मनुष्यके साथ अङ्ग और अङ्गी (शरीर) जैसा सम्बन्ध है। जैसे अङ्गीके बिना अङ्ग जीवित नहीं रह सकता, वैसे ही समाजके बिना मनुष्य नहीं रह सकता।' इस मतके अनुसार 'मनुष्य आन्तरिक मनोवृत्तिसे ही राजनीतिक संस्थाका सदस्य है। आदर्श राज्यके द्वारा ही नागरिककी नैतिकताका जन्म होता है। नागरिकोंके जीवन-यापनकी सुव्यवस्थाके लिये राज्यको उसके आर्थिक एवं सामाजिक जीवनमें हस्तक्षेप करना आवश्यक है। ग्रीकराज्य एवं समाजमें प्रत्येक वर्ग-उपवर्गके कार्य पृथक्-पृथक् थे। व्यक्तिको स्व-वर्गके अनुसार ही चलना पड़ता था। अफलातून इसीको 'राज्यकी सच्ची सेवा' कहता था। स्वधर्म-पूर्तिके लिये ही समाजसेवाका उद्देश्य था। यह व्यक्तिका श्रेष्ठ कर्तव्य था, यही सच्चरित्रता भी थी। ग्रीक-(यूनानी) 'नगर राज्य' एक स्वतन्त्र राशि माना जाता था। घरेलू विषयोंमें वह सर्वसम्पन्न एवं निरपेक्ष था। इसे कोई अन्ताराष्ट्रिय प्रतिबन्ध भी नहीं था। यह छोटा जनवादी राज्य नागरिकोंकी नैतिकताका प्रतिनिधित्व करता था। वह अन्ताराष्ट्रिय नैतिकतासे परे था। नैतिक जीवन एवं नागरिक स्वतन्त्रता केवल राज्यद्वारा ही सम्भव हो सकती है। यह विचारधारा 'ग्रीस (यूनान) की महान् देन' समझी जाती है। यूरोपमें कई शतियों बाद १८ वीं शतीमें रूसोने इसका पुनरुत्थान किया। रूसोके इस प्रयत्नका प्रभाव सभी दर्शनोंपर पड़ा।

यद्यपि व्यक्तिगतरूपसे ही प्राणियोंको शुभाशुभ काम करने पड़ते हैं। व्यक्तिगतरूपसे ही प्राणियोंको कर्मफल भोगने पड़ते हैं। संसारमें भी राज्य-नियमका उल्लङ्घन करनेसे व्यक्तिको ही दण्ड मिलता है—

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते॥

(महा० उद्यो० प्रजा० ३३। ४२)

कभी-कभी एक व्यक्तिके पापका फल समुदायको भी भोगना पड़ता है। जैसे एक व्यक्तिने मधुमक्खीके छत्तेको छेड़ दिया। उसका दुष्परिणाम आस-पासके सभी लोगोंको भोगना पड़ता है। भोक्ता लोग तात्कालिक फल भोगकर मुक्त हो जाते हैं, परंतु कर्ता ही दोषसे लिप्त होता है। परलोकमें अपना शुभाशुभ कर्म ही व्यक्तिके साथ जाता है। व्यक्तिका समुदाय ही समाज होता है। अतः व्यक्तिकी उत्पत्ति पहले हुई, फिर आवश्यकतानुसार समाजका निर्माण संगत है।

रूसो कहता था—'प्राणी स्वतन्त्र जन्मा है; परंतु सभ्यताके जन्मसे वह विविध बन्धनोंसे जकड़ गया।' वह इस परतन्त्रताकी बेड़ीसे मनुष्यको मुक्त करना चाहता था। उसका कहना था कि 'अति प्राचीन नैसर्गिक स्वतन्त्रताका पुनर्जन्म तो नहीं हो सकता; परंतु एक नागरिक उच्च नैतिक वास्तविक स्वतन्त्रताकी स्थापना हो सकती है।' प्रत्यक्ष जनवादी राज्य रूसोका आदर्श राज्य था। 'प्रत्येक नागरिक व्यवस्थापिकाका सदस्य होता था। राज्य-नियम स्वीकृतिसे ही बनते थे। वे नियम जनताकी सामाजिक इच्छाका प्रतिनिधित्व करते थे। प्रत्यक्ष जनवादी राज्यकी इच्छा ही रूसोकी 'सामान्येच्छा' थी। वही सत्ताधारी थी। सबकी इच्छामें एकताकी भावना नहीं होती। वह सुधारद्वारा ही सामान्येच्छा बन सकती है। सामान्येच्छामें सावयव या अवयवीकी-सी एकता होती है। सबकी इच्छामें इसका अभाव होता है। व्यक्तिकी शान्तिकी इच्छा सावयवकी एकतासे विदित होती है। जिस नियममें क्षेत्र, ध्येय, उद्गम, सामान्य होते हैं, वही सामान्येच्छाका प्रतीक होता है। अर्थात् जो नियम सभीके लिये हितकर हों, जो व्यक्ति या समुदायविशेषसे सम्बन्धित न होकर सम्पूर्ण राज्यसे सम्बन्धित हों तथा जो निःस्वार्थ सामाजिक इच्छाका प्रतिनिधित्व करें और उनके मतदानसे निर्धारित हों, वे ही नियम सामान्येच्छाके प्रतिनिधि हैं।

"इच्छा दो प्रकारकी होती है। एक सामाजिक, दूसरी व्यक्तिगत। नागरिकोंकी सामाजिक इच्छाका ही प्रतिनिधित्व सामान्येच्छा करती है। प्रगति एवं शान्तिकी इच्छा सामान्येच्छा है। राष्ट्रोंके वैमनस्यमूलक युद्ध आदिकी स्वार्थमूलक इच्छा सबकी इच्छा हो सकती है, सामान्येच्छा नहीं।' रूसोके अनुसार सबकी इच्छा नागरिकोंकी स्वार्थसम्बन्धी इच्छाका योग है। परंतु सामान्येच्छा तो नागरिकोंकी सामान्येच्छाका प्रतिबिम्ब होती है। सबकी इच्छा अस्थायी हित और स्वार्थी ध्येयोंसे सम्बद्ध होती है। सामान्येच्छामें स्थायी हित एवं सार्वजनिक भलाई निहित है। सावयवकी इच्छाकी भाँति राज्यकी सामान्येच्छा स्थायी है और सदा सत्य एवं सामान्य हितका प्रदर्शन करती है। ऐसी इच्छाकी अनुपस्थितिमें न राज्य सम्भव है न नागरिकता। जोन्सके अनुसार 'जैसे एक खेलके खिलाड़ी विभिन्न इच्छा रखते हुए भी खेलके साधारण एवं नैतिक नियमोंका पालन करना चाहते हैं, वैसे ही

नागरिकोंको विभिन्न मतभेदोंके होते हुए भी एक सामान्य हित एवं सामाजिक हितकी इच्छा होती है। यह भावना ही सामान्येच्छा तथा सुव्यवस्थाकी धात्री है। ऐसी भावनाको ग्रीन 'सामान्य स्वार्थ' कहता है। रूसोके मतसे 'सामान्येच्छानुसार जीवनयापनमें ही व्यक्तिकी नैतिक, नागरिक तथा वास्तविक स्वतन्त्रता सम्भव है। इसके विपरीत व्यक्तिकी वास्तविक स्वतन्त्रता नहीं होती। ऐसे व्यक्तिके हितके लिये उसे सामान्येच्छाके अनुसार जीवनयापन करनेके लिये बाध्य किया जा सकता है। एक नटखट विद्यार्थीको कक्षामें चुप रहनेके लिये बाध्य करनेकी क्रियाका अर्थ है, उसे स्वतन्त्र होनेके लिये बाध्य करना।'

रूसोके अनुसार ''स्वतन्त्र राज्यमें स्वतन्त्र नागरिक' यह आदर्श व्यवस्था है। इसमें स्वतन्त्रता और नियम एक दूसरेके विरोधी नहीं होते।'' लाकके अनुसार भी राज्यकी अनुपस्थितिमें 'मनुष्य स्वतन्त्र और नैतिक जीवन व्यतीत करता था।' रूसोने इसका खण्डन कर बताया कि 'नैतिकता और अधिकार केवल राज्यमें ही सम्भव हो सकते हैं।' एक सत्ताधारियोंने राजसत्ताधारीका क्षेत्र कुछ सीमित अवश्य कर दिया। बोदाँने राजसत्ताधारीको नैसर्गिक मौलिक नियमोंके अधीन माना था। हाब्सने कहा था कि 'राजसत्ताधारी कोई अन्याय नहीं कर सकता, न किसी नागरिकको प्राणत्यागके लिये बाध्य कर सकता है।' रूसो सामान्येच्छाके क्षेत्रको सामान्य विषयोंतक ही सीमित मानता है। वेन्थम इसे उपयोगितावादसे सीमित मानता है। वेन्थमवादी उपयोगिताके विपरीत नियम-निर्माण नहीं कर सकता, फिर भी वैधानिक दृष्टिसे एक सत्तावादियोंका राज्य 'सर्वे सर्वा है', वह कोई भूल नहीं कर सकता। अपनी प्रादेशिक सीमामें राज्य सर्वाधिकारी प्रभु है। कोई भी सङ्घ, भले वह ईसाई धर्मकी तरह अन्ताराष्ट्रिय ही हो, राज्यके नियमोंसे परे नहीं हो सकता। हाँ, राजदूतावास एवं उसके निवासी राज्यविधियोंके अधीन नहीं होते। इस तरह परदेशी नागरिकों एवं दूतावासोंसे ही राज्यकी व्यापकता सीमित है। उन-उन राजदूतावासोंमें उन-उन राज्योंके ही नियम चलते हैं। अन्य सभी विषयोंमें राज्यका एकाधिकार ही होता है। इस अर्थमें राजसत्ताकी व्यापकता मान्य होती है। इसी तरह राजसत्ता अदेय मानी जाती है। राजसत्ताको राज्यसे हटानेका अर्थ है 'राज्यका अन्त करना।' राजसत्ताके बिना राज्य प्राणहीन होता है। अतएव अस्थायीरूपसे राज्य अपने राजसत्ताधारी अधिकार किसी संस्थाको दे सकता है। इस कार्यसे उसके राजसत्ताधारी रूपका अन्त नहीं होता। वह उन अधिकारोंको वापस ले सकता है। यदि एक राजसत्ताधारी राजा या संस्था पदत्याग करे तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि राजसत्ताका अन्त हो गया। इससे केवल राजसत्ताका स्थान परिवर्तित होता है। राज्यके समान ही राजसत्ता स्थायी है। सरकारमें परिवर्तन होनेसे राज्य या राजसत्तामें परिवर्तन नहीं होता। राज्यसत्ता

अविभाज्य होती है। राज्योंके शक्ति-विभाजनके कारण राज्यके कार्य विभक्त होते हैं; परंतु इससे राजसत्ताका विभाजन नहीं होता।'

रूसोके अनुसार 'शक्तिका विभाजन हो सकता है, राज्यकी इच्छाका नहीं।' १९ वीं शतीमें भी औद्योगिक क्रान्तिके फलस्वरूप सामाजिक जीवनमें स्पर्धा एवं संघर्षका महत्त्वपूर्ण स्थान है। उस स्थितिमें राजसत्ता एक राशि न होकर अनेक प्रकारकी हो गयी। कई राष्ट्रोंमें वैधानिक राजसत्ता मान्य होती है, जैसे ब्रिटेनका सम्राट्, भारतका राष्ट्रपति। उसकी स्वीकृति बिना कोई कार्य नहीं चल सकता। परंतु उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलकी स्वीकृति बिना ऐसे सत्ताधारी श्रेष्ठ जन कुछ भी नहीं कर सकते। ब्रिटेनमें सम्राट् और संसद् राजसत्ताधारी हैं। वे सभी प्रकारका नियम बना सकते हैं। कुछ परिस्थितियोंके कारण संसद् राजसत्ताधारी नहीं होती। आधुनिक समाजसेवक राज्यमें संसद् नियम निर्माणमें स्वतन्त्र नहीं होती। वस्तुतः कार्यपालिका ही सत्ताधारी होती है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिकामें कांग्रेस ही नियम निर्माण करती है। परंतु कुछ नयी परिस्थितियोंके कारण राष्ट्राध्यक्षका भी परोक्षरूपसे नियम-निर्माणमें महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इसीलिये विश्वके वैधानिक अध्यक्षोंमें अमेरिकाका राष्ट्रपति सबसे अधिक अधिकारसम्पन्न होता है।

जनवादी राजसत्ता

आधुनिक जनवादी नागरिक जनता निर्वाचनद्वारा ही नहीं, किंतु प्रचारद्वारा भी राज्यकी नीतिपर प्रभाव डालती है। भाषण, लेखन: आन्दोलनद्वारा जनमत बनता है। सरकारोंको भी तदनुसार अपनी नीति बनानी पड़ती है। कहा जाता है कि 'समाजके वास्तविक शासक ढूँढ़े नहीं जा सकते। कभी एक सङ्घ, कभी दूसरा, कभी कोई आन्दोलन, कभी कोई प्रचार सफल होता है। अतः सर्वोच्च शासनसत्ता जनतामें ही निहित होती है। नियमविधायिनी संस्थाके सङ्घटनकी दृष्टिसे निर्वाचक-गण सत्ताधारी होते हैं। राजनीतिके सम्बन्धमें समस्त जनताके मतका योग ही सत्ताधारी है।'

उपर्युक्त अधिकांश बातें केवल विभिन्न राष्ट्रोंकी घटनाओं, इतिवृत्तोंकी आलोचना-प्रत्यालोचनाओंके आधारपर ही निर्णीत होती हैं। यहाँ औचित्य-अनौचित्यकी कसौटी उत्तरोत्तरकी घटनाएँ तथा मान्यताएँ ही हैं। परंतु भारतीय विवेचक इसे अपर्याप्त मानते हैं। 'मानवका इतिहास प्रगतिका इतिहास है', केवल इसी आधारपर पूर्व-पूर्वके विचार और घटनाएँ हेय हैं, उत्तरोत्तरके विचार एवं घटनाएँ उपादेय हैं, यह कहना नितान्त अज्ञता है। इससे तो पूर्व-पूर्वके बुद्धिमानोंका भी महत्त्व घटता है, उत्तरोत्तरके मूर्खोंका भी महत्त्व बढ़ता है। कहा

जा चुका है कि घटनाएँ भली, बुरी सब तरहकी होती हैं। विचारधाराएँ भी सदा ही अच्छी-बुरी होती हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्त एवं आगमसम्मत विचार तथा घटनाएँ आदरणीय हैं। तद्विपरीत हेय हैं। तत्त्वनिर्णयमें परिस्थिति, घटनाओं एवं तात्कालिक परिस्थितियोंसे प्रभावित विचारोंका कोई महत्त्व नहीं होता। लुटेरोंका राज्य हो जाय, तो 'हो गया इसलिये उचित मान लिया जाय' यह नहीं कहा जा सकता; किंतु सदा ही उसे मिटानेका प्रयत्न होना चाहिये। उचित योग्य व्यवस्था अति प्राचीन हो या अभूतपूर्व अनागत हो, उसका आदर होना चाहिये। धर्मनियन्त्रित धर्मसापेक्ष पक्षपातविहीन समष्टि-व्यष्टि-अविरोधेन सर्वहितकारी राज्य ही रामराज्य, धर्मराज्य एवं ईश्वरराज्य है। उसीका सदा आदर हुआ है, आगे भी होगा। वर्तमान कालमें भी उसीके लिये प्रयत्नशील होना आवश्यक है। इस दृष्टिसे एक सत्तावादीकी निरङ्कुश राजसत्ताका समर्थन नहीं किया जा सकता।

कहा जाता है कि 'जहाँ पहले सरकार स्वामी तथा जनता दास थी, वहाँ रूसोकी व्यवस्थामें सरकार दास एवं जनता स्वामी है'। उसके मतानुसार जनवाणी देववाणी है। रूसोके जनवादके आधारपर ही मत-संग्रह आदिकी प्रथा है। रूसो भी एक सत्तावादी था, उसके दर्शनमें अन्य संस्था या समुदायका कोई स्थान न था। नागरिक एवं राज्यमें वह सीधा सम्बन्ध रखना चाहता था। उसके शासनतन्त्रमें समाचारपत्रों, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक या सांस्कृतिक सङ्घका स्थान नहीं। उसके अनुसार व्यक्ति प्रकृतिसे ही पवित्र है। सङ्घहीन समाजमें व्यक्ति स्वयं ही सामाजिक इच्छा या राज्यकी सामान्येच्छाके अनुसार सोचेगा। संत्रों—प्रचारयन्त्रोंसे नैसर्गिक पवित्रताका ह्रास होता है।'

यद्यपि उसका यह कथन अंशतः सत्य है, वर्तमान सभ्यता एवं प्रचार-प्रपञ्चोंसे जाल-फरेबका ही विस्तार हुआ है। तथापि सच्छिक्षासे सद्बुद्धि, सद्बुद्धिसे सदिच्छा और उससे सत्प्रयत्न एवं सत्फल होता है। सच्छिक्षाका निर्धारण होना आवश्यक है। यदि दुर्भाग्यवश किसी उत्पथगामी समुदायके हाथमें राजसत्ता आ गयी और समाचारपत्रों तथा प्रचारोंपर भी प्रतिबन्ध रहा तब तो सदा ही जनसमूहको शासनके अत्याचारोंको सिर झुकाकर सहते रहना पड़ेगा। शासन बदलनेका भी उसे कभी अवसर नहीं मिलेगा। इस तरह आदर्श राज्यके नामपर तानाशाहीकी स्थापना होगी।

रूसो राज्यद्वारा एक नागरिक धर्मनिर्माण भी चाहता था। इस तरह सभी क्षेत्रोंमें राज्य हावी हो जायगा। व्यक्ति-विकासका अवकाश सर्वथा समाप्त हो जाता है। आजके समय सामान्येच्छाका बोध कितना दुर्गम है। विशेषतः

व्यक्तिस्वातन्त्र्य एवं प्रकाशन, भाषण-विस्तारका साधन न होनेसे तो वह और भी दुर्ज्ञेय हो जायगी । रूसोने नियमसे नागरिकताकी भावनाका जन्म माना और कहींपर नागरिक भावनासे नियमका जन्म माना । यह परस्पर विरुद्ध है । उसने यह भी माना है कि 'राज्यमें एक व्यवस्थापकद्वारा नागरिक भावनाके जन्म और प्रसारका प्रयत्न होगा ।' इस तरह भावना-निर्माण और उसके अनुसार नियम-निर्माण होगा । अन्य किसी व्यक्ति या समुदायको भावना-निर्माणका अधिकार न होगा । फिर तो जिसके हाथमें शासन होगा वही जो चाहे करेगा । इस तरह रूसोके मतानुसार जनवाद, अधिनायकवाद—दोनों ही साथ-साथ रहते हैं । अधिनायकवाद मानवताका विरोधी ही समझा जाता है । 'नागरिकको स्वतन्त्र होनेके लिये बाध्य किया जायगा' यह एक विचित्र बात है । जनकल्याण-कल्पना स्वतन्त्र करनेके नामपर परतन्त्र बनानेका व्यामोहक मायाजाल है । बोसाँके कहता है कि 'प्रत्येक राज्यकी इच्छा चाहे वह तानाशाहकी इच्छा ही क्यों न हो सामान्येच्छा है ।' उसके अनुसार 'नागरिकको जीवनयापन करनेके लिये बाध्य किया जाना चाहिये, अर्थात् स्वतन्त्र होनेके लिये बाध्य किया जाना चाहिये ।' यद्यपि यह ठीक ही है कि कितने ही कार्योंमें जनहितके लिये उसकी इच्छाके विरुद्ध कुछ करनेके लिये बाध्य किया जा सकता है । जैसे किसी अदीर्घदर्शी अबोध शिशुकी कुपथ्य-परिवर्जन, पथ्य-परिपालन तथा चिरायता आदि जैसी कटु औषधोंके सेवनमें प्रवृत्ति नहीं होती तो वहाँ उसे हितैषिणी माताके द्वारा वैसा करनेके लिये बाध्य किया जा सकता है—

जदपि प्रथम दुख पावइ रोवइ बाल अधीर ।
ब्याधि नास हित जननी गनति न सो सिसु पीर ॥

एक हितैषी डाक्टर भी आपरेशन करते हुए चीरफाड़ करता है और एक दुर्भावनावाला कूटनीतिज्ञ दुश्मन भी चीरफाड़ करता है । आजकल विभिन्न शासनारूढ़ दल ऐसी स्थिति उत्पन्न करके नागरिकों एवं दूसरे दलोंकी प्रचार-सुविधा रोककर केवल अपना ही प्रचार करते हैं । यह सदाके लिये अपने दलका शासन कायम रखनेका षड्यन्त्र ही है । स्वास्थ्यवर्धक ओषधि खानेके लिये बाध्य करना एक बात है और जहर खानेके लिये बाध्य करना अन्य बात ।

अठारहवीं शतीके मध्यसे उन्नीसवीं शतीतक ब्रिटेन एवं फ्रांसमें आधुनिक आदर्शवादका प्रभाव बढ़ा । स्वतन्त्रता, भ्रातृता, समानता फ्रांसीसी राज्यक्रान्तिका नारा था । वह समस्त यूरोपमें गूँजा और गरीब, किसान तथा मजदूरलोगोंने उसे अपनाया । जर्मनी, प्रशा आदि मध्य यूरोपके देशोंमें राष्ट्रियताका प्रसार हो रहा था । उसके अनुकूल आदर्शवादका जन्म हुआ । उदारवादके अनुसार राज्य-

साधन तथा उसका कार्यक्षेत्र सीमित है । उसमें स्वतन्त्रताका अर्थ है स्वेच्छासे जीवन-निर्वाह करना । ठीक इसके विपरीत आदर्शवादके अनुसार आदर्श राज्य साध्य, निःसीम एवं निरपेक्ष है उसके हस्तक्षेपपर कोई प्रतिबन्ध नहीं। इसके अनुसार स्वतन्त्रताका अर्थ है 'राज्यके नियमानुसार जीवन-संचालन करना।' मान्टेस्क्यू शक्ति-विभाजन स्वतन्त्रताके लिये अनिवार्य मानता था। आदर्शवादी शक्ति-विभाजनके पक्षमें नहीं थे। उदारवादमें जनस्वीकृति मुख्य है।

कान्ट (१७२४–१८०४) आधुनिक आदर्शवादका जन्मदाता माना जाता है । वह कनिंग्सवर्ग विश्वविद्यालयका अध्यापक था । वह दर्शन एवं राजनीति शास्त्रका विद्वान् और अध्यात्मवादी था । उसके मतानुसार एक वस्तुका ज्ञान उसकी बनावटसे नहीं, किंतु मस्तिष्कमें पड़े हुए उस वस्तुके प्रतिबिम्बसे होता है। एक वस्तुको हम पुस्तक इसीलिये कहते हैं कि वह हमारे मस्तिष्कके अनुसार पुस्तककी भाँति है। विशुद्ध विवेकका जीवनमें अनुभवसे अधिक महत्त्व है, लाककी परम्परानुसार केवल अनुभव और प्रयोगसे नहीं। राजनीतिके सम्बन्धमें उसने कहा कि 'नियममें व्यापकता आवश्यक है; परंतु उसका आधार विवेक होना चाहिये।' उसने जनवादका समर्थन करते हुए कहा कि 'राजतन्त्र आदर्श व्यवस्था नहीं है; क्योंकि उसमें नियम विवेकके अनुसार नहीं होते।'

जनवादमें भी विवेकका अभाव ही है । निष्पक्ष दूरदर्शी ऋषियोंके राजनीतिक शास्त्रों एवं धार्मिक आध्यात्मिक दर्शनोंके बिना विवेक न तो भौतिक जनतन्त्रमें है न निरपेक्ष राजतन्त्रमें ही । अध्यात्मवादपर आधारित धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्रमें ही विवेकका महत्त्व है । वस्तुतस्तु इस पक्षमें संविधान एवं नियम भी सनातन ही है। उनका निर्माण नहीं करना है, किंतु निर्णय किया जाता है। इसलिये विधान-निर्मात्री परिषद् न बनाकर विधान-निर्णेत्री परिषद् ही बनाना है । कान्ट सर्वव्यापक नैतिक नियमोंको व्यक्तिका प्रेरक मानता है । वह इसीके द्वारा इच्छाओंका संचालन और नियमन मानता है। अन्यथा मनुष्य निकृष्ट नियमोंका शिकार होकर नष्ट हो जाता है । अतः ऐसे नियमोंद्वारा ही नागरिक जीवनका संचालन होना चाहिये। उसका कहना है कि यदि नागरिक अपने कर्तव्योंका पालन करता है तो अधिकारी अपने-आप ही उसका अनुगमन करते हैं । व्यक्तिवादियोंके अनुसार अधिकारकी प्रधानता है; परंतु कान्टके मतानुसार कर्तव्यकी । व्यक्तिवादी स्वेच्छानुसार कार्यको ही स्वतन्त्रता कहते हैं; परंतु कान्ट नैतिक नियमानुसार जीवनयापनसे ही स्वतन्त्रता सम्भव मानता है। मद्यपान, द्यूत आदि नैतिकताके विरुद्ध आचरणको स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता । व्यक्तिवादी मिलके अनुसार

'मद्यपान आदि भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्यमें ग्राह्य हैं।' कान्ट कहता है—'व्यक्ति ही समाजकी जड़ है, जब उसमें भी खराबी हो तब पत्रों, शाखाओंकी खराबी रोकी नहीं जा सकती। अतएव व्यक्तिके अनैतिक कार्य सर्वथा वर्ज्य हैं। राज्यके द्वारा मनुष्य नैतिक नियमोंका अनुगामी बन सकता है।' शक्ति-विभाजनको अङ्गीकार करता हुआ भी कान्ट व्यवस्थापिका सभाको राज्यमें प्रधान मानता था। सामन्तों एवं मठोंके भूमिसम्बन्धी एकाधिकारका भी वह विरोधी था। उसके मतानुसार 'मनुष्यके विवेक एवं नैतिकताका पूर्ण विकास केवल राष्ट्रसङ्घद्वारा ही हो सकता है। स्थिर शान्ति एवं मानव-प्रगतिके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है।' फिर भी कान्टके अनुसार 'राज्यको शासितोंकी स्वीकृतिपर निर्भर नहीं रहना चाहिये। उसके मतानुसार शक्तिद्वारा राज्यका जन्म हुआ है, कण्ट्राक्ट (सामाजिक समझौता) द्वारा नहीं। वह रूसोके समान ही 'सामान्येच्छा' का समर्थक था। पर उसके लिये प्रत्यक्ष जनवादका आश्रयण अनिवार्य नहीं। एक व्यक्ति भी उसका प्रतिनिधित्व कर सकता है। कान्टका सर्वमनस्तत्त्व वेदान्तियोंके विशुद्ध अखण्डबोध ब्रह्मके तुल्य है। बाह्यार्थवादी बौद्धोंके समान ही उसके मतमें बाह्यार्थ भले ही हो; किंतु वह स्वतः प्रत्यक्ष नहीं, अपितु अनुमेय-सा है। आन्तरिक ज्ञानमें होनेवाले प्रतिबिम्बों-द्वारा ही उसकी ज्ञप्ति हो सकती है। आन्तर होनेसे ज्ञान ही स्वप्रकाश एवं प्रत्यक्ष है। विभिन्न आकारवाली वस्तुएँ ज्ञाननिष्ठ प्रतिबिम्बके द्वारा विदित होती हैं। वेदान्तीके मतानुसार भले ही बाह्यार्थ अनिर्वचनीय व्यावहारिक ही हो तथापि घटादिका प्रत्यक्ष सर्वानुभवसिद्ध है। अतिसूक्ष्म वस्तुओंमें अनुभव एवं प्रयोग असम्भव है। अतः विवेक ही तत्त्वनिर्णयका मूलाधार है।

कान्टकी यह बात अवश्य बहुमूल्य है। विवेकके लिये परम्परा एवं अपौरुषेय या ईश्वरीय तथा आर्ष शास्त्रोंका समाश्रयण अपेक्षित है। विवेकसामग्री बिना विवेक असफल ही रहता है। सामान्य विषयोंमें जनवादद्वारा विवेकका प्रयोग हो सकता है; परंतु तत्तद्विशिष्ट विषयोंमें उन-उन विषयोंके विशेषज्ञों-द्वारा ही विवेकका सफल प्रयोग हो सकता है। ऐसे विवेक-निर्धारित नियमोंद्वारा इच्छाओंका नियन्त्रण एवं संचालन अवश्य ही व्यष्टि-समष्टि सर्वकल्याणका कारण है। यह नियन्त्रण स्वतन्त्रताका साधक ही है, बाधक नहीं। माता-पिता गुरुजनों-द्वारा उचित नियन्त्रण एवं शिक्षणसे ही मनुष्य विद्वान्, बलवान्, धनवान् होकर स्वातन्त्र्यसुखका भोक्ता हो सकता है। अनियन्त्रित, उच्छृङ्खल बालक प्रायेण मूर्ख रहकर परतन्त्रताके बन्धनोंमें जकड़ा ही रहता है। व्यक्तिका समुदाय ही समष्टि है। सुतरां व्यक्तिका पतन समष्टिके पतनका कारण बन सकता है। प्रसिद्ध है कि एक ग्रामके नेताने ग्रामीणोंको कहा कि आज रात्रिमें सभी लोग एक कुण्डमें दूध डालें। ग्रामीणोंने स्वीकार कर लिया; परंतु डालते समय एक व्यक्तिके मनमें

आया कि सब लोग दूध डालेंगे ही यदि मैं दूधके बदले पानी डाल दूँगा तो भी क्या पता लगेगा ? दैवात् डालनेके समयतक सबके ही मस्तिष्कमें यही विचार आ गया। फलस्वरूप सबने कुण्डमें पानी ही डाला, दूध किसीने भी नहीं। कुण्डमें शुद्ध जल-ही-जल पड़ा। ठीक इसी तरह व्यक्तियोंकी बुराईसे समष्टि-समाजमें बुराई और व्यष्टिकी अच्छाईसे समष्टिमें अच्छाई आ सकती है। अतः व्यष्टि-समष्टिका परस्पर अविरोधेन समन्वय ही दोनोंके कल्याणका कारण होता है। भारतीय राजनीति-शास्त्रोंके अनुसार यद्यपि व्यष्टि-शासक समष्टि-शासक ईश्वरका ही प्रतीक होता है, इसीलिये उसमें तदनुसार आंशिक ही सही ईश्वरके गुणों एवं शक्तियोंका संनिवेश अनिवार्यरूपसे होना चाहिये, तथापि मात्स्य न्यायसे पीड़ित जनताने शान्ति-सुव्यवस्थाके लिये राजाका वरण किया। इस तरह वह जनताके ऊपर बलात् लादा नहीं गया। इसीलिये उसके कार्योंमें विवेकका प्राधान्य होते हुए भी जन-सम्मति एवं जनसमर्थनकी उपेक्षा कभी न होनी चाहिये। अयोग्य अविवेकी शौर्यवीर्यविहीनके हाथमें शासन आनेसे राष्ट्रकी हानि होती है—'वीरभोग्या वसुन्धरा'—शक्तिशाली ही पृथ्वीपति हो सकता है—'नाविष्णुः पृथिवीपतिः।' (दे० भा०)

फिक्टे (१७६२–१८१४) प्रथम मार्टिन लूथरकी धार्मिक शिक्षासे प्रभावित हुआ। १७८४ में वह काण्टके आदर्शवादका अनुयायी हुआ। कहा जाता है कि वह १७९४ तक विश्वबन्धुत्व एवं जनवादका अनुगामी था। इसके पश्चात् उसकी विचारधारामें परिवर्तन हुआ और वह व्यक्तिवादका विरोधी राष्ट्रवादी हो गया। वह अपने गुरु काण्टके विचारोंसे आगे बढ़ा। वह विचारोंपर प्रतिबिम्बरूपमें वस्तुका प्रभाव नहीं मानता था। वह विचारको मनुष्यके मस्तिष्क या विवेककी देन मानता था। उसका कहना है—'केवल विचार-तत्त्वसे ही भौतिक जगत्का निर्माण होता है।' यह विचार तत्त्व बौद्धोंके क्षणिक विज्ञानके तुल्य नहीं; किंतु वेदान्तियोंके ब्रह्मसंवित्के तुल्य है। मस्तिष्क या विवेकसे उसकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं। उसके मतानुसार 'मानव-जातिका इतिहास पाँच विभागमें विभक्त है' मनुष्यकी प्राकृतिक स्थितिमें स्वर्णयुग था। दूसरे भागमें बाहुबलद्वारा राज्यकी स्थापना हुई। मध्य एशियाकी शक्तिशाली एक जातिने सम्पूर्ण एशियापर आधिपत्य किया। उसका ही एक अंश यूरोपमें आया। उस युगमें शासक दैवी अधिकारका प्रचार करते थे। तीसरे भागमें मनुष्यने व्यक्तिगत अधिकारके लिये संघर्ष और राज्यके एकाधिकारका विरोध किया। उस समय (१७-१८ वीं शतीमें) व्यक्तिवादका बोलबाला हुआ। इतिहासके चौथे भागमें सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओंका विवेकके अनुसार निर्माण हुआ। यह युग १८०६ से आरम्भ हुआ। इसमें वीरों एवं विद्वानोंका राज्य होगा। व्यक्तिका जीवन स्वतन्त्र नैतिक इच्छाके अनुसार संचालित होगा। उसके बाद मनुष्यजाति इतिहासके पाँचवें भागमें

प्रवेश करेगी। उसमें आदर्शराज्य सर्वव्यापक होगा। विवेक ही सत्ताधारीका स्थान ग्रहण करेगा। पूर्ण स्वतन्त्रता एवं समानता सर्वव्यापक होगी।'

कहा जाता है कि फिक्टेके इस विश्लेषणका प्रभाव हीगेल एवं मार्क्सपर पड़ा था। उसके मतानुसार भी 'उपयुक्त कार्य करनेमें मनुष्यकी स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता है। इससे भिन्न स्वतन्त्रता आत्महत्याकी स्वतन्त्रता-जैसी है। स्वतन्त्रता आन्तरिक-बाह्य दो प्रकारकी होती है। आन्तरिक स्वतन्त्रताद्वारा व्यक्ति निजी प्रेरणाओंसे मुक्त होता है, अर्थात् स्वच्छ विवेकके अनुसार कार्य करता है। बाह्य स्वतन्त्रताका अर्थ है व्यक्तिके कार्योंमें किसी अन्य व्यक्तिका हस्तक्षेप न होना। फिक्टेके मतानुसार आन्तरिक स्वतन्त्रता ही सच्ची स्वतन्त्रता है, इससे मनुष्य तुच्छ प्रेरणाओंको पराजित कर विवेकके अनुसार जीवन-यापन करता है। व्यक्तिवादियोंके अनुसार ऐसी स्वतन्त्रता व्यक्तिस्वतन्त्रताद्वारा ही सम्भव हो सकती है।' वह कहता है—'राज्यका कर्त्तव्य है कि शिक्षा आदि साधनोंद्वारा नागरिकको आन्तरिक या नैतिक स्वतन्त्रता-प्राप्तिके योग्य बनाये।' फिक्टेने राष्ट्रिय राज्य-संचालनके लिये भाषाकी एकता, आर्थिक राष्ट्रियता एवं समाजपर सम्पूर्ण नियन्त्रण आवश्यक बतलाया। कहा जाता है कि फिक्टेकी इसी विचार-धारासे हिटलर एवं मुसोलिनीका जन्म हुआ। फिक्टेके मतसे राज्यद्वारा आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाका संचालन होना चाहिये। उसने समाजको किसान, शिल्पी एवं व्यापारी—इन तीन विभागोंमें बाँटा है। उसके आदर्श-राज्यमें वस्तुओंका मूल्य राज्यद्वारा निर्धारित होगा। वह बेरोजगारीका पूर्ण विरोधी था, पर साथ ही व्यक्तिगत सम्पत्तिका समर्थक। वह व्यक्तिको स्वतन्त्र छोड़ देनेका भी विरोधी था। फिक्टे पहले जनवादी था, परंतु धीरे-धीरे वह अधिनायकवादी और फिर शुद्ध राजतन्त्रवादका समर्थक हो गया। वह पैतृक शासनप्रथाको सर्वश्रेष्ठ कहता था। उसके मतमें राजतन्त्रपर न धारासभा और निर्वाचक-मण्डलका ही नियन्त्रण होना चाहिये। यद्यपि उसके गुरु काण्टके मतमें राज्यमें व्यवस्थापिका सभाका ही प्रमुख स्थान था। फिक्टेके अनुसार मानवप्रगति शूरवीरों एवं विद्वानोंके कार्योंसे हुई है। भविष्यके आदर्श राज्यमें भी इन्हींकी प्रधानता होगी। तभी शुद्ध विवेकके साथ नियम-निर्माण हो सकेगा। ऐसे नियमोंसे ही नागरिककी नैतिक एवं आन्तरिक स्वतन्त्रता सम्भव होगी। विश्वमें सत्यके आधिपत्यके लिये असभ्योंपर सभ्य लोगोंका शासन होना चाहिये। इस तरह विद्वान्, शिक्षक भी हों, शासक भी हों—यह फिक्टेका आदर्श है। कहा जाता है, हिटलरका नाजीदल इन्हीं भावनाओंके प्रभावसे बना था।

फिक्टेका विचारतत्त्व बाह्य वस्तुओंसे प्रभावित नहीं होता; अर्थात् वेदान्तियोंके नित्यबोधस्वरूप ब्रह्मके समान निर्विकार है, अन्तःकरण-वृत्तिरूप

नहीं। उसीसे विश्वकी उत्पत्ति होती है।' यह मत भी वेदान्तियोंसे मिलता है। वस्तुतः विचार स्वयं मानस क्रियारूप होता है। उसका भासक अखण्ड भान ही तात्त्विक पदार्थ है। उसी अर्थमें फिक्टेका 'विचार' शब्द प्रवृत्त होता है। फिक्टेकी प्राकृतिक स्थितिमें स्वर्णयुग था, यह कल्पना कृतयुगकी स्थितिसे मिलती है। तदतिरिक्त प्राचीन एवं भविष्यके सम्बन्धमें फिक्टेकी ऐतिहासिक कल्पना उसकी भावनापर ही निर्भर है। अतीत कल्पना आर्ष इतिहासोंके विरुद्ध है। भविष्य कल्पना आधुनिक प्रत्यक्ष अनुभवोंके विरुद्ध है। उसकी आन्तरिक स्वतन्त्रता अवश्य महत्त्वपूर्ण वस्तु है। वस्तुतः इसके बिना बाह्य स्वतन्त्रता पशुओंकी स्वतन्त्रता-जैसी ही है। राष्ट्रियताकी भावना महत्त्वपूर्ण है,' परंतु समष्टि अविरोध ही नहीं, अपितु समष्टिका अभ्युदय भी उसका लक्ष्य होना चाहिये। इसी त्रुटिसे हिटलरकी राष्ट्रियतामें अहंकार, अभिमान एवं परावमान, परावमर्दन बढ़ा और अन्तमें पतन हुआ। राजतन्त्र भी धर्मनियन्त्रित होकर कल्याणकारी होता है। फिर भी वास्तविकरूपसे धर्मनियन्त्रित न होनेपर उसे पदच्युत करनेकी व्यवस्था तभी सम्भव हो सकेगी, जब धारासभा या निर्वाचकमण्डलका अस्तित्व होगा।

हीगेल (१७७०—१८३१) सर्वश्रेष्ठ आदर्शवादी माना जाता है। कहा जाता है, उसका पिता सरकारी कर्मचारी था। अतः वह पिताके पेशेसे प्रभावित होकर नौकरशाहीका समर्थक हुआ। हीगेल फ्रांसकी राज्यक्रान्तिसे भी प्रभावित था। कहते हैं कि हीगेलका दर्शन केवल एक ही व्यक्ति समझ सका था और उस व्यक्तिने भी उसे गलतरूपमें ही समझा। वह व्यक्ति था मार्क्स। हीगेलके मतानुसार विचार-तत्त्व ही वास्तविक जगत्का निर्माण करता है। विचार ही एकमात्र सत्ताधारी है और जगत् सब उसीकी रचना है। यही वस्तुगत आदर्शवाद है। जहाँ मस्तिष्कका स्वतन्त्र अस्तित्व है, वहाँ मस्तिष्कमें चित्रण होनेसे वस्तुस्वरूप निश्चित होता है। यही आत्मगत आदर्शवाद है। परंतु हीगेलके वस्तुगत आदर्शवादके अनुसार मस्तिष्क और वस्तु-जगत् दोनों ही सर्वव्यापक विचार-तत्त्व या विश्वात्मासे संचालित हैं।

बोदाँ (१५३०—१५९६) ने कहा था कि 'मनुष्यजातिका इतिहास प्रगतिका इतिहास है।' दो शती बाद हीगेलने इसी सिद्धान्तकी व्याख्या की और उसने बताया कि यदि कभी इसके विपरीत अवनति-सी दृष्टिगोचर होती है तो भी उसे अवनति नहीं मानना चाहिये; किंतु यह घटना प्रगतिकी पृष्ठ-भूमि है। हीगेलके अनुसार मानव-इतिहास केवल कुछ घटनाओंका वर्णन नहीं है; किंतु प्रगतिकी कहानी है। उसका कहना है कि 'संसारमें प्रत्येक वस्तुकी प्रतिवादी वस्तु अवश्य होती है। पहले वाद होता है तब उसका प्रतिवाद और दोनोंके संघर्षसे

जो तीसरी वस्तु उत्पन्न होती है उसे ही संवाद कहते हैं। संवादमें वाद प्रतिवाद-की विशेषताओंका समावेश होता है, साथ ही वह दोनोंका अतिक्रमण भी करता है। इस तरह संवाद एक नयी परिस्थिति है। प्रगतिके दौरानमें कुछ दिनोंमें वह भी वाद बन जाता है, क्योंकि उसके भी कुछ विरोधी होते ही हैं। उनका संघटन होते ही वह प्रतिवाद बन जाता है। इस संघर्षके फलस्वरूप एक दूसरा संवाद उत्पन्न होता है। यह पहले संवादसे उच्चकोटिका होता है। तात्पर्य यह कि सर्वप्रथम संघटित शक्ति अपना कार्यक्रम रखती है। उसी कार्यक्रमके अनुसार वह विश्वका संचालन करती है। यह कार्यक्रम एक वाद है; परंतु प्रत्येक व्यक्तिके अनुकूल उसका कार्यक्रम नहीं हो सकता। अतः प्रतिकूलोंकी संख्या बढ़ती है, उसका संघटन होता है और उस संघटनद्वारा कार्यक्रमका विरोध करते हुए एक नवीन कार्यक्रम उपस्थित किया जाता है। इसीको प्रतिवाद कहा जाता है। कुछ समयतक इनमें संघर्ष चलता है तब इन दोनोंकी विशेषताओंका समन्वय कर कुछ नवीनका योग कर एक नया दल संघटित होता है। वह अपना नवीन कार्यक्रम उपस्थित करता है, इसे ही संवाद कहा जाता है। आगे इस संवादके भी प्रतिद्वन्द्वी तत्त्व प्रकट होने लगते हैं, तब यही संवाद वाद बन जाता है। इस तरह यह आवर्तन निरन्तर चलता रहता है। इस द्वन्द्वात्मक संघर्ष-द्वारा ही मानवकी प्रगति होती आयी है। यह क्रिया इतिहासमें व्यापक है।'

यह द्वन्द्ववाद यूनानमें हीगेलसे पहले भी प्रचलित था। परंतु उसके अनुसार प्रगति वृत्तात्मक थी। हीगेलके अनुसार 'वह चक्रव्यूहके तुल्य' है। समाज, राज्य, दर्शन आदिमें भी हीगेलने इसी तर्कका प्रयोग किया। यह हीगेलकी विशिष्ट देन समझी जाती है। मार्क्सने हीगेलके इसी द्वन्द्ववादको 'द्वन्द्वात्मक भौतिक वाद'का रूप दिया। इसी तर्कके आधारपर हीगेलने बताया कि राज्य मानवकी सामाजिक प्रगतिकी चरम सीमा है। पहले कुटुम्ब होता है, यही वाद है। उसकी विशेषता प्रेम तथा त्यागमें होती है। कुछ समय पश्चात् समाजका जन्म हुआ, यह प्रतिवाद हुआ। उसकी विशेषता कुटुम्बके विपरीत स्पर्धा थी। वाद और प्रतिवादमें संघर्ष होनेसे संवादरूपी राज्यका जन्म हुआ। इस संवादमें वाद-प्रतिवादका समन्वय हुआ। उसमें कुटुम्ब एवं समाजकी विशेषताके साथ कुछ अन्य विशेषताओंका भी समावेश है। इसीलिये यह राज्य, कुटुम्ब एवं समाज दोनोंसे ही ऊँची संस्था है। हीगेल इसे विश्वात्माके प्रतिबिम्ब-तुल्य कहता है। अति प्राचीन कालमें स्वेच्छाचारी राज्यवाद था। इसके बाद जनतन्त्रका जन्म हुआ, यह प्रतिवाद हुआ। दोनोंके संघर्षके फलस्वरूप संवैधानिक राजतन्त्रका जन्म हुआ। यही सर्वोच्चतन्त्र है। इसके बाद प्रतिवादके गुण आ जाते हैं।

हीगेल जर्मनीके तत्काल शासनको संवैधानिक राज्य मानता था। वह एक राष्ट्रिय

राज्यभक्त था। इसीलिये कहा जाता है कि वह दार्शनिकोंका सम्राट् होते हुए सम्राटों-का भी दार्शनिक था। काण्ट एवं फिक्टेने राज्यको अन्ताराष्ट्रिय नैतिकताके अधीन माना और अन्ताराष्ट्रिय शक्तिका समर्थन किया। परंतु हीगेल राष्ट्रसे बड़ी कोई संस्था नहीं मानता। हीगेल युद्धका समर्थक और जनवाद-विरोधी था, परंतु काण्ट शक्ति और जनवादका समर्थक। फिक्टेके कल्पित भविष्यके आदर्श राज्यको हीगेल-ने उच्च तर्कोंके द्वारा जर्मनीके राज्यको ही आदर्श बतलाया। उसका दार्शनिक विवेचन बहुत गम्भीर समझा जाता है। उसके दर्शनको कई लोग विशिष्टाद्वैतके समीप, कई लोग अद्वैतके समीप मानते हैं।

'मनुष्य-जातिका इतिहास प्रगतिका इतिहास है' इस कथनका अर्थ यदि डार्विनका उत्तरोत्तर विकास है, तब तो कहना पड़ेगा कि हीगेल वर्तमान अनाचार, पापाचार एवं भ्रष्टाचारको ही प्रगति मानता है। कारण—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नायज्वा न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छान्दो० उप० ५। ११। ५)

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

—की स्थिति जो रामराज्य एवं कृतयुगकी स्थिति थी वह तो आज है ही नहीं। उस स्थितिकी अपेक्षा वर्तमान समय प्रगतिका है या पतनका, यह कोई भी विचार सकता है। रामराज्यके अनुसार 'चक्रनेमिक्रमेण' प्रगति-अवनति संसारका धर्म है। अतः फिर भी कृतयुग रामराज्य युग आ सकता है। वैज्ञानिक आविष्कारकी दृष्टिसे भी वर्तमान उन्नतिको 'अपूर्व' नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इससे अधिक आविष्कार पूर्व युगमें हो चुके हैं और उनपर प्रतिबन्ध लगानेकी आवश्यकताके अनुसार प्रतिबन्ध लगाया जा चुका था। राज्य और राजाका महत्त्व मनुने भी बहुत कहा है; परंतु उसपर भी धर्मका नियन्त्रण उन्होंने आवश्यक समझा। अनियन्त्रित शोषक राजाओंकी वही गति होनी उचित है जो वेन, रावण आदिकी हुई। इसी तरह स्वतन्त्रताका अर्थ यद्यपि उच्छृङ्खलता नहीं, तथापि तानाशाही शासन यन्त्रका नगण्य पुर्जा बनकर व्यक्तिगत, लौकिक, पारलौकिक अभ्युदय साधनोंमें पराधीन हो जानेको भी स्वतन्त्रता नहीं कहा जा सकता। शासकोंका व्यक्तिगत, धार्मिक एवं सामाजिक स्वतन्त्र जीवनमें अल्पतम हस्तक्षेप होना हर दृष्टिसे व्यक्ति एवं समाजके विकासका मूलमन्त्र है। सीमित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा लौकिक, पारलौकिक, आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक नियमोंका पालन राजा-प्रजा, शासक-शासित सभीके लिये अनिवार्यरूपसे अपेक्षित एवं लाभदायक होता है।

हीगेलके मतानुसार एलेक्जेण्डर (सिकन्दर), नेपोलियन-जैसे शूरवीरों-

द्वारा ही मानवकी प्रगति होती है। फिक्टे राज्यको अन्ताराष्ट्रिय नैतिकताके अधीन रहना उचित समझता था, परंतु हीगेल राज्यको स्वतन्त्र मानता था। रामराज्यकी दृष्टिमें व्यष्टि-समष्टिके समन्वयसे ही सुव्यवस्था हो सकती है। हीगेलके मतानुसार युद्ध 'न्यायसंगत' है। वह इससे देशप्रेम एवं नैतिकताकी वृद्धि मानता है। रामराज्य यद्यपि युद्धके द्वारा धन-जन एवं शक्ति क्षय होनेसे युद्धको हानिकारक ही समझता है तथापि साम, दान, भेद आदि अन्य नीति सफल न होनेपर सभ्यता, संस्कृति तथा न्यायकी रक्षाके लिये उपस्थित धर्मसंग्रामसे पराङ्मुख होनेको क्लैब्य एवं पाप मानता है और ऐसे समुपस्थित धर्मसंग्रामको स्वर्गका खुला द्वार समझकर स्वागत करता है। हीगेल राज्यकार्य-संचालन, शिक्षा, जनोपयोगी कार्य, स्वास्थ्य, निर्धनोंकी सहायता, व्यवसाय, व्यापार-संचालन आदि सभी कार्योंमें पुलिसका प्रयोग उचित समझता था। न्यायालय एवं पुलिसको राज्यकी उच्च एवं व्यापक संस्था मानता था। वह मान्टेस्क्यूके शक्ति-विभाजन सिद्धान्तका भी विरोधी था। हीगेलका सीमित राजतन्त्र ब्रिटेनके राजतन्त्रसे भिन्न था। ब्रिटेनमें संसद्द्वारा सीमित राजतन्त्र होता है; किंतु उसपर नौकरशाहीका कुछ नियन्त्रण होता है। राज्यके किसान, व्यापारी एवं सर्वव्यापकवर्ग—इन तीन वर्गोंमें सर्वव्यापकवर्ग ही समाजका नेता होता है। इसी वर्गसे योग्यतानुसार नियुक्ति होनी चाहिये। इसी वर्गद्वारा राजतन्त्रकी शक्ति सीमित होनी चाहिये। हीगेलके आदर्श व्यवस्थापक मण्डलमें दो सभाएँ होनी चाहिये। बड़ी सभा कुलीनोंकी प्रतिनिधि और छोटीमें समाजकी अन्य संस्थाओंके प्रतिनिधि होने चाहिये। हीगेलके आदर्श समाजमें सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक संघोंको भी स्थान है। एकसत्तावादी दर्शनोंमें राज्य और प्रजाके बीच इन संघोंका कोई स्थान नहीं। परंतु हीगेलके राज्यके नियन्त्रणमें ही इन संघोंका संचालन हो सकता है। रामराज्यवादीकी दृष्टिसे शास्त्रोक्त धर्मनियन्त्रण प्रत्येक संस्थापर आवश्यक है। इसी ढंगसे सब व्यवस्थाएँ निर्दिष्ट हो सकती हैं। अन्यथा व्यक्तियों एवं समाजको तानाशाहीका शिकार बनना पड़ता है।

टी० एच० ग्रीन (१८३६–८२) ब्रिटेनका आदर्शवादी दार्शनिक था। उसने ग्रीक (यूनानी) दर्शन एवं आदर्शवादी दर्शनका अध्ययन किया और एक नया दर्शन (आक्सफोर्डदर्शन) निर्मित किया। वह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयमें दर्शनका प्रोफेसर था। वह अफलातून, अरस्तूकी तरह राजनीतिशास्त्रको आचारशास्त्र-का एक अङ्ग मानता था। रिची, ब्रेडले, बोसांके, लिण्डसे, बार्कर आदि ग्रीन परम्पराके अनुयायी हुए हैं। ग्रीन भी उनके समान ही मनुष्यके सामाजिक प्राणीराज्यको प्राकृतिक संस्था मानता था। उसके अनुसार 'आदर्श राज्यको नैतिक जीवनका सच्चा सहायक होना चाहिये।' काण्टके समान उसके दर्शनमें

उदारवाद और आदर्शवादका समन्वय मिलता है। वह क्रामवेलका, जिसने इंगलैंडमें कुछ कालके लिये गणतन्त्र स्थापित किया था, वंशज था। वह 'प्यूरिटेन' और 'नानकन्फार्मिस्ट' (आत्मसंयमी और स्वतन्त्र) मनोवृत्तिका था। इसीलिये वह 'स्वतन्त्रता' और 'नैतिकता' का प्रेमी था। उसके समयमें मिलकी 'स्वतन्त्रता' और 'अर्थशास्त्र' का पर्याप्त प्रभाव था। अतः वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका पोषक था। ग्रीन राज्यको 'संघोंका संघ' मानता था। इन संघोंका जन्म राज्यके पूर्व हुआ था, राज्य इनका जन्मदाता नहीं। इनका समन्वय करना राज्यका कर्तव्य है। ग्रीन वास्तविक अधिकार राज्यकी देन मानता था। सामाजिक प्रगति तथा नैतिकताकी वृद्धिमें सहायक अधिकार ही वास्तविक अधिकार होते हैं। वह बाहुबलद्वारा राज्यका संचालन और मानवके अधिकारोंकी रक्षा मानता है। परंतु वह बाहुबलको राज्यके व्यक्तिगत अधिकारोंका जन्मदाता नहीं मानता। वह व्यक्तिगत अधिकारोंका स्रोत राज्य और राज्यका आधार जनस्वीकृति मानता है। ग्रीन स्वतन्त्रताका प्रेमी था; परंतु व्यक्तिवादियोंके समान वह स्वेच्छानुसार कार्य करनेको स्वतन्त्रता नहीं मानता था। वह सामाजिक, नैतिक दृष्टिकोणसे प्राप्तियोग्य वस्तु या सुखके लिये कार्य करनेको ही स्वतन्त्रता समझता था। नैतिकताकी वृद्धि सामाजिक भलाईके कार्यकी स्वतन्त्रता ही स्वतन्त्रता है। ग्रीन अनुबन्धवादको इतिहास एवं तर्कके दृष्टिकोणसे मिथ्या कहता है।

'जनस्वीकृति राज्यका आधार है, बाहुबल नहीं' ग्रीनका यह ऐतिहासिक वाक्य है। फिर भी यह लॉकके समान अनुबन्धवादी नहीं था। जनस्वीकृतिपर आधारित राज्य सामान्येच्छासे होना चाहिये। सामान्य भलाईकी सामान्य चेतना उसकी सामान्येच्छाका अर्थ है। जो राज्य ऐसा नहीं, उसका अन्त निश्चित है। ग्रीनकी सामान्येच्छा रूसोके समान जनतन्त्रीय नहीं; किंतु उसके मतानुसार राज्यतन्त्र भी सामान्येच्छाका प्रतिनिधित्व कर सकता है। व्यक्तिगत सम्पत्तिके सम्बन्धमें वह पूँजीपतिका अस्तित्व उचित मानता था; किंतु जमीनदारका नहीं। वह उत्पादनमें जमीनदारोंका हाथ नहीं मानता, अतः वह जमीनदारी प्रथाका विरोधी था। ग्रीनके अनुसार राज्य आदर्श संस्था अवश्य है, परंतु व्यक्तिराज्यका दास नहीं। समाज-हितके लिये नागरिक राज्यका विरोध कर सकता है, परंतु बहुमत उसके पक्षमें होना चाहिये। इस तरह राज्यका विरोध किया जा सकता है। परंतु शर्तें कठिन हैं। वह युद्धविरोधी और विश्वसंघद्वारा संसारमें शान्ति स्थापनाका समर्थक था। उसके अनुसार समाजहितका राज्यहितसे अधिक महत्त्व है। राज्य समाजका प्रतिनिधि है, स्वामी नहीं। अतः राज्यको विश्वसमाजकी सामान्य नैतिक चेतनाके अनुसार संचालित होना चाहिये। यह सामान्य चेतना

शान्तिका पोषक है। उसके मतानुसार 'आदर्श राज्यका ध्येय विश्वशान्ति और सामाजिक प्रगति है।' इस ध्येयकी पूर्तिमें असफल होनेपर राज्यका नागरिकोंद्वारा विरोध न्याय-संगत है।

ग्रीनके अनुसार 'सामाजिक हितका स्थान व्यक्तिगत इच्छाओं एवं स्वार्थोंसे ऊँचा है।' व्यक्तिवादियोंके नैसर्गिक अधिकारोंका वह विरोधी था। 'समाज-हितद्वारा ही व्यक्तिहित हो सकता है।' काण्टके अनुसार ही ग्रीन भी राज्यके नियमोंको रुकावटोंकी रुकावट मानता था। अर्थात् नैतिक जीवनकी रुकावटोंको रोकना राज्यके नियमोंका उद्देश्य है। अज्ञानता, दरिद्रताकी हालतमें सच्ची स्वतन्त्रता सम्भव नहीं। ग्रीनका कहना है कि 'राज्य प्रत्यक्ष तो नहीं; किंतु परोक्षरूपसे ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकता है जिसके द्वारा व्यक्तिकी स्वतन्त्रता और नैतिकताकी वृद्धि हो सके। स्वतन्त्रता एवं नैतिकताके प्रतिरोधक तत्त्वोंको दूर करना राज्यका कर्तव्य है। अनिवार्य शिक्षा, मद्यविक्रयादि-निषेध ग्रीनकी दृष्टिमें अज्ञान एवं प्रमादका निवारक होनेसे अत्यावश्यक है। उसके मतानुसार एक मद्यप स्वतन्त्र नहीं, परतन्त्र ही है; क्योंकि इससे वह अपने विवेकका समुचित प्रयोग नहीं कर सकता। स्वच्छ स्वास्थ्यवर्धक गृहनिर्माणके लिये राज्य नागरिकोंको बाध्य कर सकता है। श्रमिकोंकी दयनीय दशाका सुधार भी राज्यका कर्त्तव्य है।'

वर्तमान यान्त्रिक विकास एवं उसके द्वारा होनेवाले आर्थिक असंतुलन तथा क्रयशक्तिका ह्रास और मालकी अधिक उपज तथा माल खपतके लिये बाजारोंका अभाव आदि समस्याओंका समाधान ग्रीनकी व्यवस्थासे सम्पन्न नहीं होता। अतः उसके लिये अतिरिक्त आयके वितरण और यान्त्रिक विकासके अवरोध आदिके लिये रामराज्यवादका आश्रयण अनिवार्य है। रामराज्यकी दृष्टिमें भी जनसम्मति अवश्य अपेक्षित है; क्योंकि लोकरञ्जन राजाका मुख्य कार्य है। तथापि जन-स्वीकृतिके विषय सीमित ही हैं, निस्सीम नहीं। अनेकविध धर्म, दर्शन, शिल्प, कला आदि विषयोंमें जनसम्मतिकी अपेक्षा नहीं होती। यद्यपि परम्पराप्राप्त राज्य-प्राप्तिमें जन-स्वीकृति मूल नहीं। फिर भी जनरञ्जनकी दृष्टिसे अपने कार्योंमें जन-सम्मति या जन-स्वीकृति लेना आवश्यक है।

इसी तरह जिस न्यायसे ग्रीन व्यक्तिगत पूँजीकी सत्ता मानता है, व्यक्तिगत भूमिकी सत्ता माननेमें भी वही न्याय क्यों न माना जाय? रामराज्यवादकी दृष्टिसे तो भूमि, सम्पत्ति, कल-कारखाना तथा उद्योग-धंधे आदि सभी विषयोंमें 'सप्तवित्तागमा धर्म्या' के अनुसार, व्यक्तिगत वैध अधिकार मान्य हैं। शर्त यही है कि अन्याय, अत्याचार, शोषण आदिद्वारा उनकी प्राप्ति न की गयी हो; किंतु पितृपितामहादि परम्पराके दायसे तथा गाढ़े पसीनेकी कमाई एवं मान-पुरस्कारादिसे प्राप्त की गयी हो। इसकी उपपत्ति पीछे की जा चुकी है। अन्य अंशोंमें ग्रीनका मन्तव्य रामराज्य-सम्मत ही है।

एफ्. एच्. ब्रैडले (१८४६-१९२४) का कहना था कि 'मनुष्यका समाजसे बाहर कोई अस्तित्व ही नहीं। समाजद्वारा ही उसे भाषा एवं विचार मिलते हैं। मनुष्यका शरीर एक पैतृक सम्पत्ति है। परंतु बिना समाजके यह सम्पत्ति प्रगति नहीं कर सकती। व्यक्तित्व-वृद्धिके लिये समाज अनिवार्य है।' उसके अनुसार 'व्यक्तिको समाजमें स्थान चुननेकी स्वाधीनता है। परंतु चुननेके पश्चात् समाज-सम्बन्धी कर्त्तव्योंका पालन अत्यावश्यक है।' बोसांके (१८४८-१९२३) की प्रसिद्ध पुस्तक 'फिलॉसोफिकल थ्योरी आफ दि स्टेट' (राज्यका दार्शनिक सिद्धान्त) है। उसके दर्शनमें रूसोकी सामान्येच्छाका विश्लेषण किया गया है। वह राज्यकी इच्छाको सामान्येच्छा मानता था। वह सामाजिक इच्छाके अनुसार कार्य करनेको ही स्वतन्त्रता मानता था। इसीलिये चोर स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता। व्यक्तिकी सामाजिक इच्छा सामान्येच्छासे अभिन्न है, यह राज्यमें निहित है, उसका कहना है कि 'एक चोरके चोरी करनेका कार्य स्वार्थमयी इच्छाका प्रतिबिम्ब है। यह कार्य उसके वास्तविक स्वतन्त्रताके अनुसार नहीं है। न्यायाधीशका चोरको दण्ड देनेका कार्य चोरकी सामाजिक या विवेकशील इच्छाका प्रतीक है। उसके अनुसार चोरकी वास्तविक स्वतन्त्रता चोरी करनेमें नहीं बल्कि दण्ड भोगनेमें है। सामान्येच्छा और सबकी इच्छामें यह भी विभिन्नता मानता है।

रूसोकी सामान्येच्छा जनतन्त्रीय है। परंतु इसके मतानुसार 'सामान्येच्छा राज्यमें ही निहित है, भले ही वह राज्य तानाशाही क्यों न हो। एक तानाशाहकी इच्छा भी उसके अनुसार सामान्येच्छा है।' रूसोके अनुसार राजसत्ता नागरिकोंमें निहित होती है। अतः उसके अनुसार नागरिकोंको स्वतन्त्र होनेके लिये बाध्य करना न्याय-सङ्गत है। परंतु एक अधिनायककी इच्छाके अनुसार काम करनेके लिये नागरिकको बाध्य किया जा सकता है और इसीको स्वतन्त्र होनेके लिये बाध्य करना कहा जायगा। उसके अनुसार 'राजसत्ताधारी नागरिकोंकी सामाजिक इच्छाके प्रतिबिम्बभूत सामान्येच्छाके अनुसार नियम बनायें, भले ही नागरिक उनका विरोध करें। वह विरोध उनके अज्ञानका ही प्रतीक है। वे राज्यनिहित अपनी सामाजिक इच्छाको नहीं जानते। स्वार्थी तात्कालिक इच्छाके अधीन होकर नियमका विरोध करते हैं। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति नदीमें तैरना चाहता है। दूसरा उसका हितैषी तैरनेसे रोकता है, क्योंकि उसमें घड़ियाल-मगर आदि हैं। जिनसे कि तैरनेवाला खतरेमें पड़ सकता है। तैरनेकी इच्छा स्वार्थी इच्छा है। रोकनेवालेका परामर्श सामाजिक एवं विवेकशील इच्छाके अनुसार है। इसी तरह व्यवस्थापक, सत्ताधारी, सामाजिक, विवेकशील इच्छाका प्रतिनिधि है। विरोधी नागरिक स्वार्थी इच्छाके अनुसार कार्य करता है।' बोसांकेके मतानुसार 'राज्य अनैतिक कार्य नहीं कर सकता।' हीगेलके समान ही बोसांके भी 'अन्ताराष्ट्रिय

नैतिकता और अनुबन्धोंको स्थान नहीं देता। उसने भी राज्यको साध्य बनाया है, साधन नहीं। 'राज्य सर्वेसर्वा है।'

अनुबन्धवादमें राज्य कृत्रिम संस्था मानी गयी, व्यक्तिको सर्वोच्च स्थान मिला, सामाजिक हित गौण हो गया। ह्यूम, बेन्थम आदिने उपयोगिताको राज्यके जन्मका कारण कहा। इन्होंने राज्यके अनुबन्धवादी और कृत्रिम रूपका खण्डन किया। परंतु उपयोगिताके आधारपर व्यक्तिको सर्वेसर्वा माना। आदर्शवादने राज्यको प्राकृतिक संस्था और व्यक्तिको स्वभावतः सामाजिक प्राणी कहा। इसीलिये प्राणी संस्था या समाज बनाता है। इसी प्रवृत्तिसे राज्य बना। व्यक्तिका राज्यमें रहना आन्तरिक मनोवृत्तिके अनुकूल है। राज्य व्यक्तिकी सामाजिक मनोवृत्तिका प्रतिबिम्ब है। इसमें राज्य साध्य है, व्यक्ति साधन। परंतु भारतीय भावनाके अनुसार 'रञ्जनाद्राजा' के सिद्धान्तानुसार प्रजाका रञ्जन करना ही राजाका कार्य है। प्रजाहितार्थ तथा व्यक्तियोंके हितार्थ राजा अपने सर्वस्वका बलिदान करता है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥
(उत्तररामचरि० १। १२)

ब्याधि नास हित जननी गनै न सो सिसु पीर।

—के अनुसार यह ठीक है कि कई प्रजाहित ऐसे हो सकते हैं कि जिन्हें सामान्य जन नहीं समझ सकते। परंतु समष्टिमें विशिष्टों एवं विशेषज्ञोंका अभाव नहीं रहता। अतः समष्टिकी उपेक्षा कर नियमनिर्माण या समाजकी इच्छाके प्रतिकूल कार्य करनेके लिये बाध्य करना न्यायसङ्गत नहीं। कहा जा चुका है कि डाक्टरसे आपरेशन कराया जा सकता है, परंतु विरोधी शत्रुको ऐसा करनेकी स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। सावयववादके अनुसार नागरिक अङ्गहित और राज्य सावयवहित अन्योन्याश्रित हैं। सावयवराज्यके बिना अवयव नागरिककी बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक, आर्थिक प्रगति नहीं हो सकती। समाज या राज्यके बाहर सभ्य-जीवन सम्भव नहीं होता। इस दृष्टिसे राज्य एक आवश्यक विकार न होकर अनिवार्य प्राकृतिक संस्था है। हाब्सके सत्ताधारी 'दीर्घकाय मानवदेव' (लेवियाथन) के समान ही आदर्शवादियोंने भी नागरिकोंके हितार्थ एक 'दीर्घकाय' को समाजशास्त्रमें प्रस्तुत किया। यह 'दीर्घकाय' आदर्शवादियोंका राज्य है। हीगेलका राज्य विश्वात्मा या 'सर्वव्यापक विचार-तत्त्व' का प्रतिबिम्ब है। बोसांकेका राज्य 'सामान्येच्छा'-का प्रतीक है। इन सिद्धान्तोंकी ओटमें व्यक्तिगत उचित स्वतन्त्रताका भी अपहरण किया गया। नैतिकताकी वृद्धि राज्य तथा नागरिकका सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य माना जाना ही आदर्शवादका भौतिकवादियोंसे वैशिष्ट्य है। राजनीति-शास्त्रके साथ आचार-

शास्त्रका सम्बन्ध महत्त्वकी वस्तु है। किंतु राज्यको अन्ताराष्ट्रिय नैतिकतासे भी मुक्त मानना राज्यकी पूर्ण निरङ्कुशताका समर्थन है। 'राज्य कोई अनैतिक कार्य कर ही नहीं सकता। युद्धसम्बन्धी अत्याचार अनैतिक नहीं कहे जा सकते' यह सब असंगत एवं मानवता-विरुद्ध है। रामराज्यमें अनिवार्य होनेपर युद्ध आदरणीय अवश्य है, परंतु उसके भी कुछ धर्म हैं, नियम हैं। अत्याचार, क्रूरता वहाँ भी अनैतिक ही है। शस्त्रहीन, अयुद्धयमान, पराङ्मुखका वध आदि यहाँ भी अनैतिक ही है। स्वतन्त्र-बुद्धि-प्रसूत कल्पनाएँ निरङ्कुश होती हैं, इसीलिये पाश्चात्य दार्शनिकोंमें दार्शनिकोंकी परस्पर अत्यन्त विसंगति है। कोई व्यष्टिवादका अतिवाद, कोई समष्टिवादका अतिवाद स्वीकार करते हैं। कोई प्रजा-प्राखर्य, कोई राज्य-प्राखर्यको चरम सीमापर ले जाना चाहते हैं। बिना सुस्थिर शास्त्रीय प्रमाण और बिना प्रामाणिक परम्पराके इन विभिन्न नुस्खोंको आजमाइशके लिये विभिन्न राष्ट्ररूपी प्रयोगशालामें प्रयुक्त किया जाता है। कोई भी प्रयोग कुछ सालोंमें ही असफल सिद्ध हो जाते हैं।

रामराज्य-प्रणाली ठीक इसके विपरीत है। वह अनादि अनन्त ईश्वरीय अपौरुषेय शास्त्रों एवं आर्ष, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक शास्त्रों तथा प्रामाणिक परम्पराओंके आधारपर स्थिर है। यही प्रणाली ईश्वरराज्य, धर्मराज्य, रामराज्य, पक्षपात-विहीन धर्मसापेक्षराज्य, अध्यात्मवादपर आधारित धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्र आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। वह लाखों-करोड़ों नहीं, अरबों वर्षोंसे सफल अनुभूत है।

मार्क्सवाद

कार्लमार्क्स (१८१८—१८८३) के केपिटल आदि अनेक ग्रन्थोंद्वारा समाजवाद एवं साम्यवादका परिष्कृत रूप व्यक्त हुआ। यों इसका प्रचलन बहुत पूर्वसे ही था। अफलातून, मोर आदिने तथा उनसे भी पहले कई धार्मिक लोगोंने साम्यवादी समाजका चित्रण किया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की प्रसिद्धि बहुत पुरानी है। किंतु कार्लमार्क्सने साम्यवाद या समष्टिवादको आवश्यक ही नहीं; अपितु अवश्यम्भावी बतलाया। वह एक नयी ऐतिहासिक विश्लेषण-पद्धतिका जन्मदाता तथा पूँजीवादका सर्वश्रेष्ठ समालोचक माना जाता है। फ्रेडरिक एंजिल्ससे इन कार्योंमें उसे बड़ी सहायता मिली थी। उसी दर्शनके आधारपर लेनिनके नेतृत्व-में १९१७ में रूसी क्रान्ति हुई। लेनिनके बाद स्टालिनने इसका नेतृत्व अपने हाथोंमें लिया। चीनमें माओत्सेतुंगने साम्यवादका नेतृत्व किया। इन लोगोंने नयी परिस्थितियोंके अनुसार मार्क्सवादकी नयी व्याख्या की।

मार्क्सका जन्म एक मध्यमवर्गीय परिवारमें हुआ। पहले उसने वकालतकी शिक्षा ग्रहण की। फिर वह पत्रकार बना, समय पाकर उसने 'हिगेलवाद'का अध्ययन किया। मानवतावादसे प्रेरित होकर वह श्रमिक आन्दोलनमें अग्रसर हुआ और शीघ्र ही आन्दोलनका नेता बन गया। उसकी जीविकाका आधार उसके लेख एवं एंगिल्सकी सहायता ही थी। गरीबी अवस्थामें भी उसने अपना ध्येय नहीं त्यागा। अफलातून, अरस्तू, हीगेलकी श्रेणीमें ही वह भी उच्च दार्शनिक गिना जाता है। 'पावर्टी आफ फिलासफी' 'मेनिफेस्टो आफ कम्युनिस्ट पार्टी' 'एटटिन्थ ब्रूमेयर आफ लूई बोनापार्ट' 'ए कंट्रिब्यूशन टु दी क्रिटिक आफ पोलेटिकल एकानामी' 'दी कैपिटल' 'सिविलवार इन फ्रांस' 'दी गोथा प्रोग्राम' 'क्लास स्ट्रगल इन फ्रांस' 'रेवेल्यूशन एंड काउंटर-रेवेल्यूशन' आदि उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

एंगिल्स एक धनी व्यवसायी कुटुम्बमें जन्मा था। उसका पिता प्रशाका एक व्यवसायी था। युद्धमें एंगिल्स ब्रिटेनके व्यवसायी नगर मेनचेस्टरमें रहने लगा। वह स्वयं एक मिलमालिक था। उसने मार्क्सको आर्थिक, बौद्धिक दोनों ही प्रकारकी आजन्म सहायता दी। मार्क्सकी मृत्युके बाद कम्यूनिस्ट आन्दोलनका नेतृत्व उसने ही किया। उसने मार्क्सके सिद्धान्तोंको विज्ञान तथा दर्शनपर लागू किया। उसकी कई पुस्तकें प्रसिद्ध हैं।

लेनिन क्रान्तिकारी बॉलशेविक दलका जन्मदाता हुआ। २० वीं शताब्दीमें रूसके समाजवादी जनतान्त्रिकदलमें दो पक्ष हो गये। एक बॉलशेविक, दूसरा मेनशेविक। बॉलशेविक दल पहले क्रान्तिकारी था, लेनिन उसका नेता था। बहुत संघर्षोंके बाद १९१७ में उसके नेतृत्वमें समाजवादी क्रान्ति हुई और जीवन-पर्यन्त वह सोवियत-शासनका प्रमुख सूत्रधार बना रहा। उसकी सारी कृतियाँ ग्यारह ग्रन्थोंमें संकलित हैं।

मार्क्सके दर्शनको द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (डाइलेक्टिकल मेटिरियलिज्म) या ऐतिहासिक भौतिकवाद (हिस्टारिकल मेटेरियलिज्म) भी कहा जाता है। यह द्वन्द्वात्मक दृष्टिसे प्राकृतिक घटनाओंकी परख और पहचान करता है। भौतिकवादी दृष्टिसे प्राकृतिक घटनाओंकी व्याख्या, कल्पना तथा सिद्धान्तकी विवेचना करता है। स्टालिनके मतानुसार 'मार्क्सवाद अन्धश्रद्धा नहीं है।' अतः उसकी व्याख्या समयानुसार बदलती रहती है। साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियुगमें लेनिनने उसकी पुनः व्याख्या की थी। इसीलिये लेनिनवादको प्रधानरूपसे सर्वहाराके अधिनायकत्वका दर्शन कहा जाता है। इतिहास और समाजकी आर्थिक व्याख्या, मूल्य तथा अतिरिक्त मूल्यका सिद्धान्त वर्गसंघर्ष तथा सर्वहाराका अधिनायकत्व उसके दर्शनके मुख्य विषय हैं।

मार्क्सने निम्नलिखित वस्तुओंको सिद्ध किया—

१. वर्गोंका अस्तित्व उत्पादन व्यवस्थाके अनुकूल होता है। दासताके युगमें वर्गोंका अस्तित्व और संघर्ष उस युगकी उत्पादन व्यवस्थाके अनुकूल था। इसी तरह सामन्तशाही एवं पूँजीवादी युगोंमें इनका अस्तित्व तथा संघर्ष इन युगोंके उत्पादनके अनुकूल था।

२. वर्ग-संघर्ष अनिवार्य रूपसे सर्वहारा दलके अधिनायकत्वका मार्ग प्रशस्त करता है।

३. यह अधिनायकत्व संक्रमणकालिक होगा। इसके बाद वर्गोंका अन्त हो जायगा और एक वर्गविहीन समाजका जन्म होगा।

हीगेलका द्वन्द्ववाद, ब्रिटेनका अर्थशास्त्र, फ्रांसका समाजवादी दर्शनके अध्ययन-द्वारा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके नामसे उसने नये दर्शनका आविर्भाव किया। हीगेलके द्वन्द्ववादमें विचारका प्रमुख स्थान है। उसके मतानुसार 'बाह्य जगत् आन्तरिक विचारोंका ही प्रतिबिम्ब है। परंतु मार्क्सने भौतिक संसारकी ही सत्ता मानी है और उसे आन्तरिक विचारोंका जनक माना है। इस प्रकार दोनोंके द्वन्द्वात्मक प्रणालीमें भेद है। प्रायः इतिहासकार मनुष्यको ही सर्वश्रेष्ठ स्थान देते आये हैं। इतिहासमें परिवर्तन अपूर्व बुद्धि मनुष्योंद्वारा ही मानते आये हैं। परंतु मार्क्सवादके अनुसार इतिहासकी प्रगतिमें सर्वप्रधान है अर्थव्यवस्था। आर्थिक ढाँचेपर ही एक युगका सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक ढाँचा आश्रित होता है। उत्पादनके साधन और उत्पादनके सम्बन्ध ही आर्थिक ढाँचा हैं। इतिहासके परिवर्तनमें मनुष्यका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, परंतु वह परिस्थितियोंका दास होता है। उसके विचार भी उन्हीं परिस्थितियोंपर आश्रित रहते हैं। एक व्यक्ति नेता तभी बन सकता है जब उसकी योजनाएँ तत्कालीन परिस्थितियोंके अनुसार होती हैं।'

अपनी परिस्थिति, अपनी सम्पत्ति, विपत्तिकी प्रतिक्रिया ही आधुनिक दार्शनिकोंका दर्शन होता है। वे अपने सुख-दुःख, राग-द्वेषके संस्कारोंसे घिरे हुए होते हैं। अतः जैसे लाल-पीले चश्मेवालोंको सारा जगत् ही लाल-पीला दिखायी देता है, उसी प्रकार अपनी परिस्थितियों तथा भावनाओंके अनुसार ही उनकी प्रतिक्रियास्वरूप तर्क तथा सिद्धान्तोंका आविष्कार होता है। कामुकके लिये संसार कान्तामय ही उपलब्ध होता है। परिस्थितियोंसे ऊँचे उठे हुए तत्त्वज्ञोंको संसार ब्रह्ममय दिखायी देता है। गरीबीकी हालतमें आर्थिक कष्टसे पीड़ित मार्क्सके मस्तिष्कमें जैसी प्रक्रिया हुई, वैसा ही मार्क्सीय दर्शन हुआ। आर्थिक कष्टपीड़ित मनुष्य ही अर्थका महत्त्व समझता है। प्यासा पानीका, भूखा भोजनका महत्त्व समझता है। इस दृष्टिसे मार्क्सको संसारमें सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु अर्थ ही प्रतीत हुआ। ब्रह्म, चेतन आत्मा, श्रेष्ठ मनुष्य, धार्मिक, सामाजिक, शाश्वत नियम—सभी महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ उसे अर्थके सामने नगण्य जँचीं।

यद्यपि—

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः॥
(महा० शां० प० ८। १८)

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति॥
(नीतिशतक ४१)

अर्थेभ्योऽथ प्रवृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्ततस्ततः।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः॥
(वाल्मीकिरामायण ६। ८३। ३२)

इत्यादि शब्दोंद्वारा शास्त्रोंमें धनका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है और यह ठीक भी है; परंतु 'अर्थसे अधिक कुछ है ही नहीं। धार्मिक, आध्यात्मिक नैतिक उन्नतियाँ तथा तदनुकूल सभी नियम, सबकी आधारभित्ति अर्थ ही है, वही सर्वश्रेष्ठ है, यह समझना तथा अर्थके लिये सनातन सत्य, शाश्वत न्याय, नित्य आत्मा परमात्मा तथा धार्मिक नियमोंका भी परित्याग कर देना तो गरीबी एवं दरिद्रताकी ही शुद्ध प्रक्रिया है। गरीबीमें धनवान्से ईर्ष्या-द्वेष भी होता है। उन्हें मिटा देनेकी इच्छा भी होती है, फिर तदनुकूल कुछ युक्तियाँ तथा तर्क भी ढूँढ़ लिये जाते हैं। इस तरह अधिकांश पाश्चात्त्य दर्शन विशेषतः मार्क्सदर्शन प्रक्रियावादी दर्शन है। कोई भी समझदार समझ सकता है कि जड़, भौतिक अर्थ स्वयं महत्त्वपूर्ण नहीं है; किंतु भोक्ताके भोगका साधन होनेसे ही उसका महत्त्व है। भोक्ताके बिना उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। कोई भी वस्तु भोक्ताद्वारा माँग होनेपर ही मूल्यवान् होती है। भोक्ताकी माँग न होनेपर उसका कुछ भी मूल्य नहीं होता। चेतन पुरुष ही अर्थका उत्पादक, वर्धक एवं रक्षक भी है। फिर भोक्ता या चेतन मनुष्यका महत्त्व कम आँकना, उसे आर्थिक व्यवस्थाओंका दास बनाना कहाँतक संगत है? अवश्य ही सामान्य स्थिति यह है कि बड़े-से-बड़े लोग भी अर्थके दास होते हैं—'अर्थस्य पुरुषो दासः'। सामान्य मनुष्य मनका दास, परिस्थितियोंका गुलाम, इन्द्रियोंका किंकर एवं विषयोंका कीड़ा होता है। परंतु विशिष्ट जितेन्द्रिय संयमी प्राणी निश्चय ही मन, इन्द्रिय, भोग, परिस्थिति सबको अपना दास बनाकर उनका स्वामी हो जाता है। अनेक राजाओं, धनवानोंने परोपकारके लिये, पुण्यके लिये, अध्यात्मनिष्ठाके लिये धन ही नहीं, शरीर एवं प्राणतक दे दिये हैं। रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, शिवि, दिलीप आदि इसीके उदाहरण हैं। रन्तिदेवने कहा था—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥ (महा०)

'मुझे राज्य, स्वर्ग, मोक्ष कुछ न चाहिये, केवल प्राणियोंकी दुःख-निवृत्ति ही मुझे इष्ट है।' रामचन्द्र, हरिश्चन्द्रका राज्यत्याग तथा दिलीप एवं रन्तिदेवका सर्वस्व त्याग प्रसिद्ध है। समर्थ विद्वान्, महातपा, महात्यागी पुरुष तो इतिहासकी धारा ही बदल सकते हैं, यह प्रत्यक्ष सत्य है। जो तर्कसे इस प्रत्यक्षको मिथ्या सिद्ध कर सकते हैं, वे प्रत्यक्ष सूर्यको भी अपनी बुद्धि-वैभवसे अंधकार बतला सकते हैं। परिस्थितियाँ तथा अवसरके प्रवाहमें बह जाना वैसा ही है, जैसे मुर्देका नदी-प्रवाहमें बहना। बुद्धिमान् साहसी महापुरुष प्रवाहको चीरकर बाहर निकलते हैं और प्रवाहको भी वैसे ही बदल देते हैं, जैसे नदी-प्रवाहमें पड़ा व्यक्ति प्रवाहको काटकर निकलता है और बाँध बाँधकर, नहर निकालकर, प्रवाहका मुँह भी मोड़ देता है। ईर्ष्या-द्वेषकी स्थिति भी सामान्य स्थिति है। उत्तम स्थिति तो यही है कि अपने पुरुषार्थसे अपनी गाढ़ी कमाईके कुछ पैसोंसे ही संतुष्ट रहे। लूटकर, दूसरोंको मारकर धनवान् बनना अच्छा नहीं है। ये संस्कार अभीतक ग्रामीणों, नागरिकों सभीके हृदयोंमें बद्धमूल हैं। ईर्ष्या-द्वेष आदि मनुष्यके दोष हैं, गुण नहीं। मार्क्सवादी इन्हीं विकारोंको उत्तेजित करके उनके द्वारा राजनीतिक समस्या सुलझाना चाहते हैं। स्वार्थ-साधनमें भी नैतिकताका कुछ ध्यान रखा जाता है, परापहरण आदि निन्द्य समझा जाता है। पर मार्क्सके मतसे परकीय वस्तुका अपहरण न्याय ही है; अन्याय नहीं।

समष्टिवाद

समष्टिवादका भी मार्क्सवादसे अंशतः मतभेद है। उसका स्रोत है फेबियन-वाद और संशोधनवाद। इसे ही 'समाजवादी जनतन्त्र' या 'जनतन्त्रीय समाज-वाद' कहा जाता है। द्वितीय अन्तराष्ट्रिय मजदूर-संघके कई दल इसके समर्थक थे। इसे ही सुधारवादी या विकासवादी समाजवाद भी कहा जाता है। इंगलैंड-का मजदूर-दल इसी विचारधाराका है। मिल इस वादका उद्गम है। बार्करने मार्क्सवादसे बचकर ब्रिटेनमें समाजवादी दर्शनका निर्माण किया है। उसने ब्रिटिश व्यक्तिवादी परम्पराके अनुसार सुधारवादी समाजवादकी रूपरेखा प्रस्तुत की है। पीजका कहना था कि 'हम समाजवाद बनाना चाहते हैं, समाजवादी नहीं।' बर्नस्टाइन (१८५०--१९२२) ने मार्क्सवादका संशोधन करते हुए बतलाया था कि 'संसदीय नीतिद्वारा समाजवादकी स्थापना सम्भव है।' मार्क्सने भी अमेरिका और इंगलैंडमें संसदीय व्यवस्थाद्वारा भी समाजवादकी स्थापनाको सम्भव बतलाया था। एक तरहसे यह दर्शन विधानवादका समर्थक है। इनके अनुसार व्यक्ति विवेकशील होता है; अतः निर्वाचक समाजवादके पक्षमें मतदान करेंगे।

इसलिये प्रचारद्वारा उन्हें यह बतलाना ही पर्याप्त है कि आधुनिक कुरीतियोंका अन्त समाजवादसे ही सम्भव है। निर्वाचनकी सफलतासे समाजवादी सरकार बनेगी। वह शनैः-शनैः पूँजीवादी व्यवस्थाको समाजवादमें परिवर्तन करेगी।

मैकडानल्डके अनुसार समाजवाद अवश्यंभावी है, अतः संसदीय नीति और प्रचारद्वारा क्रमेण सुधार करना इनकी नीति है। मार्क्सवाद सुधारवादको सड़ियल मानता है। समष्टिवादियोंका समाजवादकी स्थापनाका एक ही लक्ष्य होना चाहिये, फिर अन्य विषयोंमें मतभेद रखनेवाले भी उसमें सम्मिल्लित हो सकते हैं। इनके यहाँ संघटनकी एकतापर जोर है, मार्क्सवादियोंकी तरह दर्शनकी एकता आवश्यक नहीं है। अन्य समाजवादियोंके विपरीत समष्टिवादियोंका यह भी कहना है कि सामन्तों तथा पूँजीपतियोंके अनुपार्जित लाभको राज्यद्वारा समाजहितके लिये प्रयोगमें लाना चाहिये। परंतु परोपजीवी पूँजीवादका अन्त वह भी चाहता है। किंतु इस कार्यमें समष्टिवादी शीघ्रता नहीं करना चाहते। इनके मतानुसार खजाना, खान, इस्पात, विद्युत्, यातायात आदि व्यवसायोंका शीघ्र ही राष्ट्रिय-करण कर लेना चाहिये। साबुन, तेल, वस्त्र आदि व्यवसायोंके परिपक्व होनेपर ही उनका राष्ट्रियकरण होना चाहिये। नाई, बढ़ई, होटल आदि व्यवसायोंका व्यक्तिगत संचालन ही वे लाभदायक मानते हैं। शनैः-शनैः-वादी नीति अनुभव-की दृष्टिसे हितकर है। इनके अनुसार पूँजीपति आदिकी पूँजी लेनेपर उन्हें उसका मुआविजा देना उचित है। एटलीके मतानुसार ऐसा न करना अन्याय है। जनमत-निर्वाचन ही उनके परिवर्तनका आधार है। डाक्टर डाल्टनके अनुसार पूँजीवाद एवं समाजवादमें गुणात्मक नहीं, अपितु परिमाणात्मक भेद है। समष्टि-वादके अनुसार व्यक्तिगत क्षेत्र धीरे-धीरे कम होना और सामाजिक क्षेत्र बढ़ना चाहिये। इनके मतानुसार आधुनिक जनवाद अपूर्ण है। इसकी पूर्णता होनेपर ही राष्ट्रियकरण समाजके लिये हितकर होगा। ब्रिटिश-मजदूर-दल राजतन्त्रको उपयुक्त सुधारोंद्वारा जनतन्त्रीय बनाना चाहता है। बड़ी धारा-सभाको भी वह जनवादीरूप देना चाहता है। उसके अनुसार छोटी धारा-सभाकी सत्ताका वास्तवीकरण जनवादके लिये नितान्त आवश्यक है। यह कमेटियोंकी संख्यामें वृद्धिसे सम्भव है। निर्वाचन तथा प्रचार आदिद्वारा जनतन्त्रकी पुष्टि होती है। ये न राज्यको एकवर्गीय संस्था मानते हैं और न वर्ग-संघर्षको समाजका आधार मानते हैं। इनके अनुसार राज्य एक अवयवी है। नागरिकका एवं राज्यका हित अन्योन्याश्रित है। श्रमिकों एवं पूँजीपतियोंका हित अवश्य वर्गीय है, तथापि सामाजिक जीवनमें वर्ग-सहयोगकी भी प्रधानता होती है। ये लोग

वैयक्तिक स्वतन्त्रताका भी पूर्ण सम्मान करते हैं, परंतु यह व्यक्तिवादके विपरीत समाजवादी व्यवस्थामें ही सम्भव मानते हैं। ये साम्राज्यके स्थानमें राष्ट्रमण्डल-का समर्थन करते हैं। औपनिवेशिक देशोंमें भी ये आर्थिक, राजनीतिक प्रगति तथा औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करना चाहते हैं। सर क्रिप्सने राष्ट्रमण्डलको प्रजातन्त्रीय विकासशील संस्था बना दिया था। यह संस्था केन्द्रीकरण एवं विकेन्द्रीकरणका प्रतीक है। समष्टिवाद, पूँजीवाद एवं साम्राज्यवादके एकाधिकारका और व्यक्तिवाद तथा रूढ़िवादका भी विरोधी है। साथ ही मार्क्सवाद पूर्ण औपनिवेशिक स्वराज्य एवं श्रमिक एकाधिकारका और अधिनायकवाद एवं पूर्ण नवीन समाजका भी विरोधी है। वह डार्विनकी पूँजीवादी दुनियाके वैयक्तिक स्वतन्त्रता और साम्यवादी दुनियाकी अर्थयोजनाका समन्वय करना चाहता है। एक तरहसे समष्टिवाद विभिन्न मतोंकी खिचड़ी है। रामराज्य-प्रणालीके अनुसार निश्चित शास्त्रानुसारी सिद्धान्तोंके बिना स्थिरता नहीं हो सकती। मार्क्सवादियों तथा समष्टि-वादियोंका सुन्दोपसुन्दन्याया-नुसारी विरोध इन दोनों ही सिद्धान्तोंकी त्रुटियोंको स्पष्ट करता है।

सङ्घवाद

१९ वीं सदीके अन्तमें फ्रान्सीसी सङ्घवाद भी मार्क्सवाद एवं अराजकता-वादके आधारपर ही बना है। इसका भी अनेक देशोंपर प्रभाव फैला। कोकरके कथनानुसार यह राज्य-विरोधी, देश-भक्ति-विरोधी, सैन्यवाद-विरोधी, राजनीतिक-दल-विरोधी, संसद्-विरोधी, माध्यमवर्ग-विरोधी और सोवियतवाद-विरोधी भी है। उस समयके वोलेञ्जर, ग्रेवी-विल्सन, पनामा आदि अनेक भ्रष्टाचारकाण्ड इसके कारण थे। लेवीनके मतानुसार जिस शासनमें नागरिक स्वयं निर्माण करे, वही वास्तविक जनवाद है। मार्क्सके अनुसार ये भी देशभक्तिको ढोंग मानते हैं। श्रमिकोंकी न कोई मातृभूमि होती है और न कोई देश। भूखों और नंगोंके लिये मातृ-भूमिका आदर्श खोखला है, यह पूँजीपतियोंका प्रचार मात्र है। संघवादी सैनिकोंसे कहते थे कि 'वे अपने वर्गीय-बन्धुओंपर गोली न चलायें, क्योंकि वे भी श्रमिक कुटुम्बके ही सदस्य हैं और अन्तमें उन्हें उन्हींमें रहना है।' वे युद्ध-विरोधी भी थे। इनके मतमें संसदीय नीति एवं वर्ग-सहयोगसे श्रमिकोंका हित नहीं हो सकता, इसके लिये वर्ग-संघर्ष ही आवश्यक है। वे तोड़-फोड़में, आम हड़ताल करने और वोटमें भाग न लेनेमें विश्वास रखते थे।

जॉर्ज सोरेलके अनुसार पूँजीपतियोंको सदा भयभीत रखना चाहिये। आम हड़ताल प्रोत्साहन एवं प्रेरणाके द्वारा ही सफल होती है। अराजकतावादियोंके

अनुसार इनका भावी समाज श्रमिक संघोंद्वारा बनेगा। परंतु फ्रान्सके संघ-वादियोंने प्रथम महायुद्धमें क्रान्तिकारी मार्ग छोड़कर राष्ट्रभक्ति और सुधारका मार्ग ग्रहण कर लिया। अन्यत्रके भी संघवादी शिथिल हो गये। इसी तरह इंग्लैंडका श्रेणी समाजवाद भी कुछ दिन पनपकर खतम हो गया। यह फ्रान्सीसी संघवादका आँग्ल-संस्करण था। ए० जे० पेन्दी, ए० आर० ओरेल, एम० जी० हॉब्सन, जे० डी० एच० कोल इनके प्रमुख विचारक थे। पूँजीवादके अन्तसे ही सब बुराइयोंका अन्त मानते थे। इनके अनुसार श्रेणीवादी समाजवाद ही मुख्य जनतन्त्र है।

हॉब्सनके अनुसार भावी समाजमें भी राज्यका महत्त्वपूर्ण स्थान होगा। वह एक समाज-सेवक संस्था होगी। उसके द्वारा अन्य सामाजिक तथा आर्थिक संस्थाओंका समन्वय होगा। परंतु लोकके अनुसार राज्यका कोई महत्त्वपूर्ण स्थान न होना चाहिये। वह राज्यके स्थानपर कम्यूनकी स्थापना चाहता था। उसके अनुसार राज्यके अधिकार इतने कम होने चाहिये कि वह धीरे-धीरे समाप्त हो जाय। इसके कार्य-क्रममें व्यावसायिक संघोंकी स्थापना महत्त्वपूर्ण है। १९२५ तक वह भी खतम हो गया।

वस्तुतः सिद्धान्तकी दृष्टिसे नहीं, किंतु बहुत-से पक्षोंकी सफलता परिस्थितियोंके अनुकूल हो जाती है। उन परिस्थितियोंको बदला जा सकता है अवश्य, परंतु उसमें अनेक साधनों तथा समयकी अपेक्षा होती है। यदि मार्क्सवादियोंकी रूसमें सफलता न होती, तो मार्क्सवादकी भी वही हालत होती जो इन दूसरे वादोंकी हुई। यदि हिटलरकी जीत हो गयी होती तो भी मार्क्सवाद अबतक मर चुका होता। कई बार शून्यवादियोंकी भी जीत हो जाया करती है, परंतु इससे ही यह नहीं कहा जा सकता कि सिद्धान्त भी वही ठीक है, यह तो 'बन आयेकी बात' है। किसीका सिद्धान्त बहुत श्रेष्ठ हो, परंतु अन्य साधन न हों तो वह केवल सिद्धान्तके आधारपर नहीं जीत सकता।

बहुलवाद

इसी प्रकार ब्रिटेनमें ही एक सत्तावादका विरोधी बहुलवाद दर्शन प्रकट हुआ। एक सत्तावाद एकात्मव्यवस्थाका समर्थक था। बहुलवादके अनुसार व्यक्ति उसकी स्वतन्त्रता उसके संघोंका समर्थक है। लॉस्की मुख्यरूपसे इस दर्शनका वेत्ता था। व्यक्ति अपने अनेक ध्येयोंकी पूर्तिके लिये अनेक सङ्घ बनाता है। राज्यद्वारा यह काम पूरा नहीं होता। उसके अनुसार कोई भी संस्था 'मेरे पूरे मैंके लिये' नियम नहीं बना सकती। मैकाइवरके अनुसार राज्य अर्थैक्यका प्रतिनिधित्व करता है, परंतु सम्पूर्ण अर्थैक्यका नहीं। संघोंकी दृष्टिसे सहयोग

एवं संघर्ष विश्वव्यापी है। लॉस्कीके मतानुसार आदर्श नागरिकका सर्वप्रथम कर्तव्य अपनी आत्माकी प्रगति है। वह उसी संघका अनुसरण करेगा, जिससे उसकी आत्मतुष्टि हो। अतः राज्यसत्ताधारी पदके योग्य तभी हो सकता है, जब वह व्यक्ति प्रगतिको पूरी करे। इतिहासके अनुसार संघोंने अनेक बार राज्यकी निरपेक्षताको सीमित किया है। नागरिककी सक्रियता ही सच्चा जनतन्त्र है। यह बहुलवादी संघात्मक समाजमें ही सम्भव है। ऑस्टिनके अनुसार अन्ताराष्ट्रिय निरपेक्षता भी सम्भव नहीं है। विश्वजनमतको कोई राज्य उल्लङ्घन नहीं कर सकता। लॉस्कीके अनुसार ब्रिटेनका आदेश दृष्टिकोण यह होना चाहिये कि वह विश्व-कल्याणमें अपना कल्याण समझे। उसके अनुसार नैतिक क्षमताको पूर्ण करनेवाली व्यवस्था या नियम मान्य होना चाहिये। यदि अव्यवस्थाका लक्ष्य मानव-प्रगति है, तो वह अन्यायसे कई गुना अच्छी है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, व्यक्ति-प्रगति और व्यक्ति-संघोंका अस्तित्व ही उनके दर्शनका सार है।

फैसीवाद

मुसोलिनी एवं हिटलरके फैसीवाद एवं नाजीवादने डार्विनके संघर्षको बहुत महत्त्व दिया और स्पेंसर आदिके इस पक्षको अपनाया कि 'जो संघर्षमें सफल हो वही जीवित रहे।' अर्थक्रियाकारित्ववाद इसका प्राण है। उत्कृष्ट जातिका यह प्रकृतिसिद्ध अधिकार है कि वह निकृष्ट जातिका शासन करे। उसके अनुसार मानव-इतिहास एक युद्धकी कहानी है। मानव-प्रगति युद्धके द्वारा ही होती है। इसमें भी वर्गसों तथा सोरेलकी भाँति अन्ध-श्रद्धाको बढ़ाना आवश्यक माना जाता था। उसके मतानुसार 'जन-समूह एक स्त्रीकी भाँति होता है, जो बलवान् एवं नाटकीय व्यक्तिकी तरफ आकृष्ट होता है। इसीलिये राज्य, देश एवं नेताकी भक्तिको खूब प्रोत्साहन दिया गया, रक्तकी पवित्रतापर भी बहुत बल दिया गया, भौतिकताके स्थानपर आध्यात्मिकता, गौरव, मान, चरित्रको मानव-जीवनका लक्ष्य बतलाया गया। राज्यको साध्य और व्यक्तिको साधन कहा गया। इनके मतानुसार सर्वाधिकारी राज्यके संरक्षणमें ही व्यक्तिकी सर्वविध उन्नति सम्भव है, राज्य ही सर्वेसर्वा है। केन्द्रिय कार्य-पालिका एक प्रकारकी अधिनायककी परामर्श-समिति थी। जनसत्ताके स्थानपर नेतृ-सत्ता ही फैसीवादकी विशेषता थी। रूसी समाजवाद एवं फैसीवाद दोनों ही सर्वाधिकारवादी अधिनायकवादी हैं। समाजवादी जनवादका नाम लेते हैं। फैसीवाद जनवादके स्पष्ट विरोधी थे।

जनवाद

जनवादकी व्याख्याएँ भी भिन्न-भिन्न ढंगसे होती रही हैं। अब्राहम लिंकनके अनुसार 'जनताका जनताके लिये जनताद्वारा किया जानेवाला शासन ही प्रजातन्त्र या जनतन्त्र माना जाता है। प्रतिनिधि जनवादका आधार राष्ट्रका सामान्य हित होता है। सुशासनके लिये सामान्यहितको कार्यान्वित करनेके लिये कुछ प्रतिनिधियोंका निर्वाचन होता है। यही 'परोक्ष-जनवाद' है।' आलोचकोंकी दृष्टिमें जनवादका अर्थ 'मूर्खोंपर उनकी अनुमतिद्वारा शासन करना' है। पर यह तो परम सत्य है कि जनवादमें जन-शिक्षा, निष्पक्ष जनमत, राजनीतिक दलोंका अस्तित्व, नागरिकोंका शासनमें सक्रिय भाग, सतर्कता और आदर्श निर्वाचन-व्यवस्था अनिवार्य है। इनके बिना तो जनवाद कोरा दम्भ ही है। राजनीतिक दलोंमें अर्धसैनिक-अनुशासन, नेताओंका बोलबाला और पूँजीपतियोंका दलोंपर अधिकार आदि जनवादके बाधक ही हैं। पक्षपातयुक्त प्रचार-साधन—रेडियो, पत्र, सिनेमा आदि—भी बाधक हैं। समाचारपत्र आदि अपने दलों एवं मालिकोंका गुणगान करते हैं। इससे विवेकशीलताको धक्का पहुँचता है। सतर्कता भी इसमें परमावश्यक है। सतर्कता स्वतन्त्रताकी बहिन है। कहा जा चुका है कि एतदर्थ विकेन्द्रीकरण और सक्रियता आवश्यक है। इसीलिये स्थानीय स्वशासनादि आवश्यक होने हैं। प्रतिनिधि जनवादमें योग्य उम्मीदवारोंका मिलना, स्वतन्त्र मतदान, निर्वाचकोंकी योग्यता, निर्वाचन-विधिका सरलता और अल्पव्ययिता आदि भी आवश्यक हैं। यह सब इस समय असम्भव-सा ही हो रहा है। फिर भी इस समय इससे अन्य अच्छी व्यवस्था कोई नहीं है। यदि इसे शास्त्र एवं धर्म अथवा सामान्य मानव-धर्मसे भी नियन्त्रित कर दिया जाय तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, क्षमा, दया, ईश्वर-भक्ति आदि सद्गुणोंसे युक्त रामराज्य-प्रणालीका जनतन्त्र-राज्य राम-राज्य ही बन सकता है।

अराजकतावाद

मार्क्सवादियोंसे भी बढ़े-चढ़े अराजकतावादी हैं। इसके प्रवर्तक माइकेल बाकुनिन (१८१४—१८७६) और प्रिंस क्रोपोटकिन (१८४२-१९१९) हुए हैं। उनके मतानुसार क्रान्तिद्वारा पूँजीवादका अन्त होते ही राज्यका भी अन्त हो जाना चाहिये। श्रमिक क्रान्तिके पश्चात् वर्गीय संस्थाका अन्त हो जाना चाहिये। न मर्ज (वर्ग) रहे, न मरीज (राज्य) रहना चाहिये। मार्क्सवादी भी राज्यको वर्ग-विशेषकी ही संस्था मानते हैं। लेनिनके अनुसार भी राज्य दमन-यन्त्र हैं। किंतु वे विरोधियोंको कुचलनेके लिये उसकी आवश्यकता मानते हैं। परंतु अराजकतावादी इसका विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि 'ऐतिहासिक दृष्टिसे राज्य

आवश्यक नहीं। राज्यकी उत्पत्तिके पहले भी मनुष्य रहते थे और अपने समूहोंमें सुखी एवं स्वतन्त्र जीवन-निर्वाह करते थे। श्रमिक क्रान्तिके बाद भी वैसे ही बिना राज्यके सुखी एवं सम्पन्न रह सकते हैं। वर्गविहीन समाजमें, जो कि श्रमिक क्रान्तिका फल है, वर्गीय संस्था—राज्यकी आवश्यकता ही क्या है?' अराजकतावादी कहते हैं कि 'इतिहासके अनुसार राज्य कभी भी न्यायपूर्ण नहीं था। व्यक्तिगत सम्पत्तिके द्वारा ही राज्यका जन्म हुआ है। व्यक्तिगत सम्पत्ति एक चोरी है, राज्य इसका रक्षक रहा है। राज्य सदा ही शोषकोंका पक्षपाती तथा शोषितोंके विपरीत रहा है। जो संस्था सदा मजदूरोंके हितोंको कुचलती रही है, उससे मजदूर कैसे प्रेम कर सकता है।' क्रोपोट्किनने कहा है कि 'पूँजीवादी प्रथाके अभावका नाम ही शासन-प्रथाका अभाव है।' अराजकतावादी राज्यको निरंकुशताका प्रतीक मानते हैं, चाहे वह राज्य जैसा भी हो। जैसे राजतन्त्र या कुलीनतन्त्रमें अल्पसंख्यकोंद्वारा बहुसंख्यकोंकी स्वतन्त्रताका अपहरण होता है वैसे प्रजातन्त्रके बहुमतद्वारा भी वैयक्तिक स्वतन्त्रताका अपहरण होता है।

अराजकतावादियोंके अनुसार 'कोई मनुष्य दूसरेका प्रतिनिधित्व नहीं कर सकता। 'अ' का प्रतिनिधि सभामें ठीक 'अ' की भाँति नहीं बोल सकता। फिर समूहोंका प्रतिनिधि तो कोई हो ही कैसे सकता है? कोई विधान-विशेषज्ञ धारासभाका सदस्य बनता है। वह सफाई, शिक्षा तथा शासनके सम्बन्धमें अनुभवशून्य होता है। फिर उसके द्वारा इन विषयोंके सम्बन्धमें बनाये नियम किस तरह लाभदायक होंगे? अतः प्रतिनिधियोंकी सरकार वही होती है जो सभी कार्योंको अयोग्यतापूर्वक करती है। निर्वाचनद्वारा जनताकी सामान्य इच्छाएँतक व्यक्त नहीं हो सकतीं। शक्तिका मद तो शासकमें आ ही जाता है।' अराजकतावादियोंके मतानुसार साधारणतया मनुष्य नेक होता है; परंतु पदपर पहुँचते ही वह बुरा हो जाता है। मनुष्य राजनीतिज्ञ होनेसे ही बुरा हो जाता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका भी कहना है कि अधिकार पाकर किसे गर्व नहीं होता—

प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।

अराजकतावादियोंके मतानुसार राज्यके बिना भी मनुष्य खाता, सोता, बोलता, पढ़ता है। जुआड़ी जुएमें हारकर बिना राज्यके दबावके ही रुपया देता है। चोर भी आपसमें समझौता करते ही हैं। कितने ही खेलोंमें खिलाड़ी स्वयं नियम बनाते और उसका पालन करते हैं। इसी तरह राज्यके बिना भी स्वेच्छात्मक संस्थाओंद्वारा सब काम चल सकता है। बाह्य आक्रमणका भी सामना राज्य-सेनाकी अपेक्षा जनताकी सेना अधिक अच्छा कर सकती है। अराजकतावादी दण्ड-विधान एवं जेल आदिद्वारा भी सुधारमें विश्वास नहीं करते।

क्रोपोट्किनके अनुसार 'जेलें पाखण्ड और कायरताकी स्मारक हैं।' वह स्वयं रूस और फ्रान्सकी जेलोंमें रहा था। जेलोंके अपने अनुभव बतलाते हुए वह लिखता है कि "जेलोंमें आधेसे अधिक हत्यारे तथा चोर थे, जो अनेक बार जेलोंमें रह चुके थे। दण्डके भयसे प्राणी अपराध नहीं करेगा, यह समझना सर्वथा भ्रम है। एक अपराधी अपराध करते समय यही सोचता है कि वह दण्डसे अपने आपको बचा लेगा। किसी व्यक्तिको फाँसी देनेसे उसके बाल-बच्चे निराश्रित असहाय होकर समाजके लिये अधिक हानिकर सिद्ध हो सकते हैं। अराजकतावादियोंके अनुसार इतिहास बतलाता है कि राज्यने कभी भी उच्च आदर्शकी पूर्ति नहीं की। उसके द्वारा सदा ही दुःख एवं अन्यायको स्थायी बनानेका प्रयत्न किया गया है। राज्यकर्णधारोंके सदियोंके प्रचारद्वारा राज्य नितान्त आवश्यक वस्तु समझी जाने लगी है। जन्मसे यही सुनते, विद्यालयोंमें पढ़ते और पुस्तकों, लेखों और समाचार-पत्रोंमें राज्यकी आवश्यकताका वर्णन पढ़ते-पढ़ते मनुष्यके मस्तिष्कमें यह बात बैठ जाती है कि राज्य नितान्त आवश्यक संस्था है। कोई भी राजनीतिज्ञ यही कहता है कि 'मुझे अधिकार दीजिये तो मैं देशमें घी-दूधकी नदियाँ बहा दूँगा।' राज्यका अन्त हुए बिना इन पाखण्डोंकी समाप्ति नहीं हो सकती।

अराजकतावादियोंका अपना कार्यक्रम भी है। उनके मतानुसार 'क्रान्तिके पहले अराजकतावादकी शिक्षा होनी चाहिये। मनुष्य समाज अराजकताकी ओर अग्रसर हो रहा है। क्रोपोट्किन जीवशास्त्रज्ञ था। उसके अनुसार मनुष्य जातिने सहयोगद्वारा ही प्रगति की है, प्रतियोगिताद्वारा नहीं। सहयोगद्वारा ही मनुष्यने प्रकृतिपर विजय पायी है, सहयोगद्वारा ही प्राचीन मनुष्य जीवित रहते थे। आधुनिक युगमें भी सहयोगकी मात्रा बढ़ रही है, अतएव स्वेच्छात्मक संस्थाओंकी वृद्धि हो रही है। राज्यके कार्योंकी सीमा भी घट रही है। मनुष्य जितना सभ्य होगा उतना ही सहयोगी होता है। सभ्यताकी प्रगतिसे स्वेच्छात्मक संस्थाओंद्वारा राज्य-कार्य सीमित हो रहे हैं। अब थोड़े ही प्रयत्नसे राज्यका अन्त एवं स्वेच्छात्मक संस्थाओंका युग आरम्भ होगा, यही अराजकतावादी युग है। वैज्ञानिक तर्कोंद्वारा जनताको अराजकताके पक्षमें कर लेना चाहिये। जनताके मस्तिष्कमें यह विचार कूट-कूटकर भर देना चाहिये कि अराजकतावादी युग अब बहुत ही निकटवर्त्ती है। जनता स्वागतके लिये तैयार रहे। यह अन्ध-विश्वास नहीं, किंतु वैज्ञानिक सत्य है। इसके लिये क्रान्ति आवश्यक है। अराजकतावादी समितियों तथा केन्द्रीय समितिके प्रयत्नसे यह क्रान्ति होगी। इनका भावी समाज साम्यवादी, स्वेच्छावादी और सहयोगवादी होगा। नागरिककी हैसियतसे राज्यसे, उत्पादककी हैसियतसे पूँजीवादसे और मनुष्यकी हैसियतसे शासनमात्रसे स्वतन्त्रता प्राप्त करना अराजकतावादका ध्येय है।

अराजकतावाद 'पूर्णस्वतन्त्रताका युग है। इसमें जो स्वस्थ और योग्य होगा, वह काम करेगा। २४ से ५० वर्षतक काम करनेकी अवस्था होगी। प्रत्येक व्यक्तिको प्रतिदिन ४ या ५ घंटे काम करना होगा। मनुष्य वेतन और प्रोत्साहनके बिना ही काम करेगा। काम करना मनुष्यका स्वभाव है। मनुष्यको सभी सुगम एवं रोचक कार्य ही पसंद होते हैं। अतः भावी समाजमें सभी काम सुगम एवं रोचक बना दिये जायँगे। विज्ञानकी प्रगतिसे कोई काम गंदा न रह जायगा। अराजकतावादमें उत्पादन एवं उपभोगकी वस्तुओंमें कोई अन्तर न होगा। भोजन, वस्त्र, साइकिल, मोटर आदिकी सहायतासे, जो कि उपभोगकी वस्तु मानी जाती हैं, मनुष्य उत्पादन भी करता है; अतः सभी वस्तुओंका वितरण अराजकतावादी संघोंद्वारा होगा। पहले बच्चों, बूढ़ों, अङ्गहीनोंको उनके आवश्यकतानुसार चीजें दी जायँगी, फिर अन्य लोगोंको पहले जीवनोपयोगी वस्तुएँ दी जायँगी, फिर आरामकी वस्तुएँ। सामाजिक बहिष्कारसे असामाजिक कार्योंकी स्वतः निवृत्ति होगी। इतनेपर भी सुधार न होनेपर अपराधीका डाक्टरी इलाज होगा, उसे सुधार-गृहमें भेजा जायगा। मनुष्य अपने सामाजिक समझौतोंको भंग न करेगा। आधुनिक समाज-रचनासे ही मनुष्यमें दुर्गुण आये हैं। संघटनके लिये छोटे-छोटे प्रादेशिक संघ होंगे। इनमें प्रत्यक्षजनवादी प्रबन्ध होगा। इन्हींसे प्रान्तीय समितियाँ बनेंगी और प्रान्तीय समितियोंसे देश-समिति बनेगी। वहाँसे यूरोपको प्रतिनिधि भेजे जायँगे और वहाँसे फिर संसारको प्रतिनिधि भेजे जायँगे। ये प्रतिनिधि विशेषज्ञ होंगे, अल्पज्ञ या अज्ञ नहीं। समस्या-पूर्ति होनेपर इन अस्थायी संघोंका भी अन्त हो जायगा। दूसरी समस्या आनेपर पुनः उस प्रकारके विशेषज्ञ प्रतिनिधि भेजे जायँगे; अर्थात् रोग-निवृत्तिके लिये चिकित्साविशेषज्ञ प्रतिनिधि होगा और खेलके लिये खेलका विशेषज्ञ खेलाड़ी-प्रतिनिधि होगा। स्वतन्त्र स्वेच्छात्मक संघोंका समुच्चय ही अराजकतावादी संघ होगा।' अराजकतावादका सार 'व्यवस्थाका अन्त नहीं, किंतु निरङ्कुशताका अन्त है।' इसके अनुसार 'समाजके बिना स्वतन्त्रतासे शोषण और अन्याय बढ़ता है एवं स्वतन्त्रताके बिना समाजवादसे दासता और पशुता बढ़ती है।'

कहना न होगा कि इतिहास भी एक विचित्र गोरखधंधा है। इसके द्वारा ही भिन्न-भिन्न मतवादी अपना-अपना पक्ष सिद्ध करते हैं। इन लोगोंके इतिहास रामायण, महाभारतके समान महर्षियोंके आर्षविज्ञान एवं समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञाके आधारपर नहीं बनते। इनके इतिहास तो कुछ ईंट-पत्थरों, मुद्राओंके आधारपर ही कल्पनाओंके खड़े किये गये महल हैं, जिनमें कि प्रायः अटकलपच्चू अनुमान भिड़ाये जाते हैं। आज भी प्रायः विभिन्न समाचार-एजेंसियोंके तारों,

टेलिप्रिंटरोंके आधारपर समाचार प्रकाशित होते हैं, उनमें भी परस्पर पर्याप्त मतभेद दिखायी देता है । लड़ाईके दिनोंमें तो आँखों देखी घटनाओंसे भी विभिन्न एजेंसियोंके समाचार-संकलनोंमें पर्याप्त पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है । उन्हें भी विभिन्न पत्र-प्रकाशक अपने-अपने दृष्टिकोणसे तोड़-मरोड़कर अपने उद्देश्यके उपयोगी बनाते हैं । सम्पादकीय टिप्पणियों एवं पर्यवेक्षकों, समालोचकोंकी विवेचनाओंके विभिन्न रूपोंमें ढलकर उन घटनाओंका सर्वथा ही रूपान्तर हो जाता है । उससे भी भिन्न-भिन्न मतवादी अपना मत सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं । सर सुन्दरलालकी 'भारतमें अंगरेजी राज्य' पुस्तकमें इतिहासके तोड़-मरोड़ और मिथ्या मनगढ़ंत इतिहास-निर्माणके सम्बन्धमें बहुत कुछ कहा गया है । जर्मनीके बुद्धिमानोंने सुझाव दिया था कि 'संसारका इतिहास नये सिरेसे लिखा जाना चाहिये और उसका आरम्भ होना चाहिये जर्मनीके पर्वतों, नदियों, ग्रामों एवं नगरोंसे । उसमें जर्मन जातिकी वीर गाथाओंका वर्णन होना चाहिये ।' इंग्लैंडकी पार्लामेंटमें अपने अनुकूल इतिहास गढ़नेके लिये मिथ्या पार्लामेंटरी प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये हैं । आर्योंका पश्चिमोत्तर एशियासे भिन्न देशोंमें जाकर आबाद होना, उन्हींकी एक श्रेणीका भारतमें आना; ग्रीक, लैटिन, जेन्द आदि भाषाओंके समान ही सर्वभाषाओंकी जननी संस्कृत भाषाको सब भाषाओंकी बहन मानना और किसी अनुपलब्ध भाषाको ही सर्वभाषाओंकी जननी मानना; आर्यों-अनार्योंका भेद खड़ा करना आदि बहुत-सी भीषण ऐतिहासिक कल्पनाएँ जान-बूझकर गढ़ी गयी हैं । इस तरह जब सही इतिहास ही नहीं, तब उसके आधारपर किसी भी सिद्धान्तकी स्थिति कैसे हो सकती है ?

अराजकतावादी सिद्धान्त वस्तुतः अराजकताकी ही सृष्टि करेगा । जिसके कारण समाजमें मात्स्यन्याय फैलेगा और मनुष्य पशुप्राय हो जायगा । हाँ, यदि सभी सात्त्विक धर्मनिष्ठ जितेन्द्रिय तत्त्ववित् हो जायँ तो अवश्य राज्य, राजा आदिके बिना भी कार्य चल सकता है । यह पीछे महाभारतके राजधर्मसे 'न वै राज्यं न राजासीत्' इत्यादिसे दिखलाया जा चुका है । जबतक यह स्थिति नहीं होती तबतक अराजकतावादसे सुख-शान्ति सर्वथा असम्भव हो जायगी । वाल्मीकि-रामायणके अयोध्याकाण्डके ६७ वें सर्गमें अराजकताकी दुरवस्थाका वर्णन किया गया है, जो नीचे दिया जा रहा है—

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः ।
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा ॥
नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते ।
नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे ॥

अराजके धनं नास्ति नास्ति भार्याप्यराजके ।
इदमत्याहितं चान्यत्कुतः सत्यमराजके ॥
नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः ।
उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि च ॥
नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः ।
सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितव्रताः ॥
नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः ।
उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः ॥
नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिणः ।
कथाभिरनुरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥
नाराजके जनपदे उद्यानानि समागताः ।
सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः ॥
नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः ॥
नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः ।
गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः ॥
नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी ।
भावयन्नात्मनाऽऽत्मानं यत्रसायंगृहो मुनिः ॥
नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते ।
न चाप्यराजके सेना शत्रून् विषहते युधि ॥
नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः ।
संवदन्तोपतिष्ठन्ते वनेषूपवनेषु च ॥
यथा ह्यनुदका नद्यो यथा वाप्यतृणं वनम् ।
अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम् ॥

सभीका शासनमें भाग लेना सम्भव न होनेसे ही प्रतिनिधिकी कल्पना करनी पड़ती है । प्रतिनिधि मुख्यसे भिन्न होता ही है; किंतु वह मुख्यका अपेक्षित एवं निश्चित कार्यकारी होता है । अराजकतावादियोंको भी तो संसारके लिये प्रतिनिधि निश्चित करना पड़ता है, अतः धर्मनियन्त्रित राजा या धर्मनियन्त्रित जन-प्रतिनिधियोंका शासन अपेक्षित ही है ।

तृतीय परिच्छेद

विकासवाद

प्राणिशास्त्र, शरीर-रचना

आजकल धर्म, संस्कृति, राजनीति, भाषाविज्ञान, इतिहास सभी क्षेत्रोंमें विकासवादका सिद्धान्त लागू किया जा रहा है। आधुनिक विज्ञान तथा जड-भौतिकवादका एक प्रकारसे यही मूल हो रहा है। बहुत-से भारतीय विद्वान् भी इसे ही मानकर भारतीय विषयोंकी व्याख्या करते हैं। मार्क्सवादके सिद्धान्तोंका आधार भी बहुत कुछ विकासवाद ही है। अतः विकासवादका सिद्धान्त और उसके समर्थनमें जो तर्क रखे जाते हैं, उनपर भी विचार करना बहुत आवश्यक है।

डार्विनका मत

चार्ल्स डार्विन विकासवादके 'प्रवर्तक' माने जाते हैं। उन्होंने जहाजद्वारा यथासम्भव संसारभरकी यात्रा की। दूर-दूरके टापुओंमें जाकर विविध जातिके जन्तुओंका अवलोकन किया। एक-एक जातिके प्राणियोंमें उन्होंने अगणित भेद पाये। उन्हें इन भेदों, अन्तरोंसे आश्चर्य हुआ। इसीलिये मालथसके प्राणिसंख्या-वृद्धि-विचारको पढ़कर उन्होंने यह भी देखा कि 'जीवधारियोंकी संख्या १, २, ४, ८, १६ के हिसाबसे ज्यामितिक रेखागणितके अनुसार बढ़ रही है और खाद्यकी संख्या १, २, ३, ४ के क्रमसे अंकगणितके अनुसार बढ़ती है। लड़ाइयों, बीमारियों तथा अन्य विविध विप्लवोंद्वारा होनेवाले संहारोंसे ही जन-संख्या नियमित है (आजकल यह मत मान्य नहीं है)। डार्विनने यह निश्चित किया कि प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष स्वाभाविक है। इसमें जो योग्यतम होता है, वही बच सकता है। किसी कारण-विशिष्ट शारीरिक रचना एवं विशिष्ट शक्तिसे ही विशेष प्रदेशोंमें प्राणियोंको प्राण बचानेकी सुविधा होती है। इस तरह जो विशेष निवास-स्थानके योग्य शरीरवाले होते हैं, उन्हींकी संतानें भी बढ़ती हैं। औरोंकी जातियाँ या तो नष्ट हो जाती हैं अथवा सुविधाके अनुकूल कहीं अन्यत्र जाकर उन्हें प्राण बचाना पड़ता है। प्रकृति योग्यतमका चुनावकर उसकी ही रक्षा करती तथा औरोंकी उपेक्षा करती है। अतः वे नष्ट हो जाते हैं। डार्विनके मतानुसार प्रतिद्वन्द्विता प्राकृतिक, शाश्वत एवं सार्वत्रिक नियम है। प्राणियोंकी अभिवृद्धिसे यह स्पष्ट होता है कि यही जीवन-संग्रामका भी मूल है। बलवान् निर्बलोंको नष्ट करके अपनेको सुरक्षित रखते हैं, जिनमें अपने आपको परिस्थितिके अनुसार बना सकनेकी क्षमता होती है, उसीकी संतानवृद्धि भी चलती है। इस जीवन-संघर्षसे विभिन्न गुणों, विभिन्न परिस्थितियोंके अनुसार भेद होते हैं और परम्परानुगत होनेसे वे और भी पुष्ट होते हैं। इसी अवस्थानुरूप परिवर्तनके

कारण ही विभिन्न जातियोंका प्राकट्य हुआ। यह भिन्न या स्वतन्त्र सृष्टि नहीं।'

इस तरह निरीक्षण, अनुमान एवं परीक्षणद्वारा डार्विनने विकास सिद्धान्त स्थिर किया। यात्राद्वारा अनेकविध प्राणियोंका निरीक्षण किया एवं प्राणि-संख्या-वृद्धिका सिद्धान्त देखकर प्रतिद्वन्द्विता एवं उसमें योग्यतमके ही रक्षणका अनुमान किया। पश्चात् उसने परीक्षा आरम्भ की। उन्होंने देखा कि घोड़े एवं भेड़ पालनेवाले लोग बहुतोंको छाँटकर अपने मतलबके जानवरोंका संग्रह कर लेते हैं और उनमें इच्छानुरूप विभिन्नता उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त, पशु-पक्षियोंकी बहुत-सी जो जातियाँ नष्ट हो गयीं उनका वर्तमान जातियोंसे बहुत कुछ सादृश्य उपलब्ध होता है। भेद इतना ही है कि पहली जातियाँ वर्तमान जातियों-जैसी उत्तमताको प्राप्त नहीं हुई थीं। पृथ्वीकी वर्तमान जातियोंका सादृश्य भी तीसरा प्रमाण है। इससे निश्चय किया जाता है कि किसी समय छोटे जन्तुओंकी एक ही जाति रही होगी। उनके ही सूक्ष्म अंडे या बीज जल, वायु आदिके प्रवाहसे समस्त भूमण्डलमें फैले। उन्हींमेंसे विकासक्रमसे वर्तमान जातियाँ निकलीं। विकासका चौथा एक यह भी कारण है कि 'गर्भावस्थामें सभी प्राणी एक-से ही देख पड़ते हैं। अनेक जन्तुओंमें कितनी ही आरम्भिक इन्द्रियाँ गर्भावस्थामें पायी जाती हैं, जिनका पूर्ण विकास नहीं होता। इससे भी प्राकृतिक चुनाव एवं योग्यतम रक्षाका सिद्धान्त सिद्ध होता है।' फिर भी डार्विनने यह माना कि 'मेरी यह कल्पना तभी सिद्धान्तित होगी, जब चिरकाल बीतनेपर भी वैज्ञानिक परीक्षामें इसके विरुद्ध कोई बात न मिले।'

अध्यात्मवादी सिद्धान्तकी दृष्टिसे डार्विनकी इस कल्पनामें कोई अपूर्व बात नहीं। वेदान्तियोंका ब्रह्म, सांख्योंकी प्रकृति अनन्त प्रपञ्चका भण्डार है। उसमें शक्तिरूपसे सभी वस्तुएँ रहती हैं। प्रथम कारणावस्थामें कार्य-शक्तियाँ अव्यक्त रहती हैं, क्रमेण सहकारी सापेक्ष होकर व्यक्त होती हैं। धरतीमें ही अनगिनत बीज रहते हैं। विशिष्ट जल-वायुके योगसे अंकुरित, पुष्पित, फलित होनेपर उनके भेद दृष्टिगोचर होते हैं। मिट्टीके विभिन्न बर्तनों, सुवर्णके अनेक भूषणोंकी कारणावस्था तो एक-सी होती है। सहकारी मिलनेपर कुलाल एवं सुवर्णकारके इच्छानुसार कार्यावस्थामें उनके अनेक रूप व्यक्त होते हैं। सारूप्य-वैरूप्य ही तो जगत्की विचित्रताका रूप है। नैयायिकोंने भी पदार्थोंके साधर्म्य-वैधर्म्यका विश्लेषण किया है। एक-एक अवान्तर कारणावस्था या मूल कारणावस्थासे भिन्न-भिन्न चेतनाचेतन वस्तुओंका विकास या प्रादुर्भाव हुआ है। ये सब बातें अध्यात्मवादमें हजम हो जाती हैं। संघर्ष भी प्राणियोंमें दृष्ट ही है। कई लोगोंने यह भी दृष्टान्त रखा है कि एक पात्रमें एक सेर किशमिश या मुनक्का रख दें तो कुछ दिनोंमें उसमें एक ढंगके कीट उत्पन्न हो जाते हैं।

पहले उनकी संख्या खूब बढ़ती है, पुनश्च ज्यों-ज्यों वे बढ़ते हैं, एक दूसरेका भक्षण करते हैं। प्रबल दुर्बलका भक्षण करते हैं। अन्तमें एक मोटा-सा कीड़ा उस पात्रमें दिखायी देता है। पानी एवं जंगलके जानवरोंमें यह भक्ष्य-भक्षक-भाव 'मात्स्यन्याय' नामसे प्रसिद्ध है ही। भारतीय शास्त्रोंने लिखा है कि हस्तहीनोंको हस्तवाले, अपदोंको पदवाले तथा छोटोंको बड़े जीव खा जाते हैं। इस तरह जीव ही जीवोंका जीवन है—

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम्।
फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम्॥

(श्रीमद्भा० १। १३। ४७)

फिर भी यह स्वाभाविक नहीं, किंतु क्षुधाका ही यह सब उपद्रव है। क्षुधा विना कोई किसीका भक्षक नहीं बनता। क्षुधा ही मृत्यु है—'अशनाया वै मृत्युः' (उपनिषद्)। स्वभावसे सभी प्राणी 'अमृतस्य पुत्राः' परमेश्वरके पुत्र हैं। अतः सबमें समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृता ही स्वाभाविक है। अनादि, अविद्या, काम, कर्मके कारण ही देहादि तादात्म्याध्यासके कारण अशनाया-पिपासा एवं मृत्युका उपद्रव उपस्थित होता है।

विकासके सम्बन्धमें आधुनिक लोगोंको भी कई दोष प्रतीत होते हैं। जिन भिन्न प्रकारके व्यक्तियोंमेंसे देशकालोपयुक्त व्यक्तियाँ योग्यतमरूपसे प्रकृति-द्वारा चुनी जाकर रक्षित, परिवर्तित होती हैं और तदनुसार नाना प्रकारके जन्तुओंका विकास होता है, उन व्यक्तियोंमें प्रथम भेद कहाँसे आया ? जन्तुओंको जातिभेदका मूल बतलानेवाली विकास-कल्पना अन्तिम व्यक्तिभेदपर जब पहुँचती है, तब उसे रुकना ही पड़ता है। डार्विनने अवस्थाभेदसे, इन्द्रियों और शक्तियोंके उपयोग-अनुपयोगसे भी व्यक्तियोंमें प्रथम भेद माना है। सर्दी-गर्मी आदि अवस्थाओंके भेदसे व्यक्तियोंमें भेद होता है। जिस शक्ति या इन्द्रियका उपयोग होता है, वह सुरक्षित होती है। जिसका उपयोग नहीं होता, वह नष्ट हो जाती है। इन कारणों या अन्य कारणोंसे होनेवाले भेदोंकी रक्षा और वृद्धि कैसे होती है, यही दिखलाना डार्विनके विकास-सिद्धान्तका लक्ष्य है।

अध्यात्मवादमें तो तत्तत् अनन्त विचित्र कार्योंके अनुगुण उन-उन कारणोंमें शक्तियाँ ही होती हैं। सूक्ष्मवट-बीजमें अंकुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, फलादि विचित्र रूप, रस एवं गन्धयुक्त विभिन्न पदार्थोंकी शक्ति होती है, वही कार्यरूप फलके बलसे अनुमेय होती है। सर्वथा असत्का विकास कभी भी हो नहीं सकता। इस दृष्टिसे तो प्रथम भेद या अन्तिम भेद, सबका ही मूल कारण शक्तिभेद है। विभिन्न चेतन जीवोंका उनसे सम्पर्क कर्मानुसार है; यह भी स्पष्ट है।

डार्विनके मतानुसार—'मनुष्यकी बुद्धि एवं शरीरकी पशुओंकी बुद्धि एवं शरीरमें समानता मिलती है, अतः जैसे मछलियोंसे कछुआ, पक्षी आदि क्रमसे वंदरोंका आविर्भाव हुआ, वैसे ही बंदरोंसे मनुष्योंका आविर्भाव हुआ।' डार्विनके मतानुसार 'वंदर यदि मनुष्यके पूर्वज नहीं, तो उनके चचेरे भाई अवश्य हैं। अर्थात् दोनोंके पूर्वज अवश्य एक हैं। पशुओंमें स्मृति, सौन्दर्य, ज्ञान, सहानुभूति आदि गुण मनुष्यके समान ही होते हैं। घोड़ों, कुत्तों आदिको शिक्षित किया जाता है। अतः उनमें विवेक भी रहता है। सामान्य कीटोंसे लेकर मनुष्यतक क्रमेण विकास मानना ही उचित है। बीचकी श्रेणियोंको छोड़कर कीड़ों एवं मनुष्योंका भेद बहुत भारी मालूम पड़ता है, किंतु क्रमानुगत रूपसे देखें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं लगती। इसी तरह मनुष्यकृत यन्त्रों एवं ग्रह आदि अन्य पदार्थोंका इतिहास देखें तो अन्तिम और आदिम अवस्थामें आकाश-पातालका अन्तर प्रतीत होता है; परंतु क्रमोन्नति देखनेपर कोई आश्चर्य प्रतीत नहीं होता।'

अध्यात्मवादियोंके मतानुसार मूल कारणसे विभिन्न विचित्र ढंगकी सृष्टि शक्ति-वैचित्र्य, कर्म-वैचित्र्यसे संगत होती है। अवान्तर कार्यों एवं कारणोंकी भी परम्परा ठीक ही है। कुछ कार्य-कारणोंमें प्रकृति-विकृति भाव भी मान्य है। जैसे मूल-प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंतत्त्व, अहंसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे तेज, उससे जल एवं जलसे पृथ्वी और उससे विभिन्न पार्थिव जगत् उत्पन्न हुआ। परंतु जैसे सीधे मुकुटसे कुण्डल, कुण्डलसे कटक उत्पन्न नहीं होता, भले ही किसी अंशमें समानता भी हो, वैसे ही रूप शब्द नहीं बनता, शब्द सीधे गन्ध नहीं बनता। निम्ब, आम्र, पनस, कदम्ब—ये सब एक-दूसरेसे उत्पन्न नहीं होते, ठीक वैसे ही मछलीसे वंदर एवं वंदरसे या उसके पूर्वजसे मनुष्यके बननेकी कल्पना भी निराधार ही है। अवश्य देश, काल और जलवायुकी विशेषताओंके कारण उनके गुणों, आकृतियोंमें कुछ ह्रास-विकास होते हैं, परंतु वह एक सीमाके भीतर ही। किसी-न-किसी रूपमें सभी वृक्षों, फलों तथा पुष्पोंमें समानता है, परंतु इतनेहीसे यह नहीं कहा जा सकता कि किसी एक मूलके ही ये क्रमिक विकास हैं। यदि विभिन्नताओं एवं विचित्रताओंकी सूक्ष्म शक्तियाँ कहीं माननीय हैं तो कारणोंमें ही मानना उचित है। बीजसे यदि अङ्कुरका विकास होता है तो बीजसे दूसरे ढंगका विकास नहीं होता; पुष्पसे फलका विकास होता है तो पुष्पसे पुष्पका विकास नहीं होता। उसी तरह यदि मछलीसे क्रमेण बंदर आदि बने और बंदरसे मनुष्य बन गये, तो पुनः मछलीसे मछली ही बननेकी परम्परा क्यों विद्यमान है? ऐसे ही बंदरसे बंदर बननेकी परम्परा क्यों कायम है? जैसे प्राचीन कालमें बीजसे अंकुर उत्पन्न होते थे, वैसे ही आज

भी हो रहे हैं। इस न्यायसे पहलेके समान आज भी बंदरोंसे मनुष्योंकी सृष्टि क्यों नहीं हो रही है ? इस तरह मनुष्येतरसे मनुष्योंकी उत्पत्तिका न दिखायी देना, मछली एवं बंदर आदिसे आज भी मछली एवं बंदरोंकी उत्पत्तिका दिखायी देना विकासके विरुद्ध ही है।

डार्विनके मतानुसार 'प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष ही शाश्वत और सार्वत्रिक है। सहानुभूति, परोपकार, दया आदि भी स्वार्थके लिये ही है। कभी मनुष्य मनुष्यका बर्बर संहारक हो जाता है, कभी बंदर भी अपने मालिकके लिये प्राणतक दे देता है। प्रशंसा-योग्य कर्मोंमें प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है, निन्दित कामोंसे मनुष्यकी निवृत्ति होती है, धीरे-धीरे अभ्यास हो जाता है। परार्थ-प्रवृत्ति एवं सहानुभूतिके कार्योंमें प्रवृत्ति होने लगती है। इससे प्रतिद्वन्द्विता सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं पड़ती।' अध्यात्मवादी ठीक इसके विपरीत कहते हैं कि स्वाभाविक अभिन्नता, समानता एवं सहानुभूति है। द्वैत, भेद, कलह, प्रतिद्वन्द्विता, क्षुधा, स्वार्थ आदि ही अविद्या, काम, कर्मके अनुसार आदत पड़ जानेसे स्वाभाविक-से प्रतीत होते हैं।

ईश्वरके सम्बन्धमें डार्विनने कुछ नहीं कहा। परंतु लोगोंके दुःख देखकर उसे कभी-कभी यह संदेह अवश्य होता था कि 'यदि कोई परमकारुणिक, सर्वज्ञ जगत्का निर्माता या शासक है तो उसे अपने उत्कृष्ट ज्ञानद्वारा दुःखरहित ही संसार बनाना चाहिये था।' परंतु ईश्वरवादी तो ईश्वरके समान ही उसके अंशभूत चेतन जीवों एवं अविद्याको भी अनादि मानते हैं और अविद्यावान् जीवोंके कर्मानुसार ही सृष्टि होती है। अतः सुख-दुःख एवं तत्तत्साधनोंसे पूर्ण जगत्की विचित्रता मान्य होती है। विवेक, वैराग्य तत्त्वसाक्षात्कारके लिये सुखकी अपेक्षा दुःख अधिक उपकारक है, अतः संसारमें दुःखका भी अस्तित्व ईश्वरको अभीष्ट है। जैसे लौकिक शासक अपराधीकी आत्मशुद्धिके लिये कभी-कभी दण्ड-विधान आवश्यक समझते हैं, वैसे ही ईश्वर भी।

स्पेंसरकी मीमांसा

हर्बर्ट स्पेंसर, हेमिल्टन एवं माइन्सेल आदि विकासानुयायियोंने ईश्वर माननेमें कई आपत्तियाँ उपस्थित की हैं, जैसे यदि 'स्वतन्त्र जगत्-कारण ईश्वर जगत् बाह्य है तो उसका जगत्से कोई सम्बन्ध ही नहीं। बिना सम्बन्धके कोई ज्ञान ही होना कठिन है। यदि जगत्मे सम्बन्ध हुआ, तो स्वतन्त्रता कैसे रह सकती है।' इत्यादि। परंतु ईश्वरवादियोंकी दृष्टिमें इन तर्कोंका कोई महत्त्व नहीं है। कारण, ईश्वर जगत्के भीतर रहता हुआ भी कमल-पत्रवत् निर्लेप रहता है, अतः सबको जानता हुआ भी स्वतन्त्र रहता है। शासक भी कारागारमें जाता है, किंतु दण्ड भोगने नहीं अपितु सुव्यवस्थाके लिये। वस्तुतः सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र परमेश्वरसे ही नियमित विकास भी बन सकता है। अचेतन प्रकृति या अन्य कोई

भी जडतत्त्व नियमित क्रमिक विकास करनेमें सर्वथा ही असमर्थ ठहरते हैं। लोकमें विकासकी नियमित योजनाका निर्माण एवं उसका संचालन चेतनोंद्वारा ही होता है अतः प्राकृतिक विकासके प्रोग्राममें चेतन ईश्वरका हाथ होना अनिवार्य है। अतएव प्रायः संसारका मूल कुछ रहस्यमय या अप्रमेय है। उसका सम्पूर्णरूपसे कोई भी वर्णन नहीं कर सकता, ऐसा विकासवादी भी मानते हैं।

इन लोगोंका कहना है 'दिक्, काल, द्रव्य, धृति, शक्ति, चित्त, आत्मा, परमात्मा आदि प्रत्यय हैं। उनका मूल एवं स्वभाव दुर्बोध एवं अनिर्वचनीय है।' अवश्य ही केवल प्रत्यक्ष प्रामाण्यवादीके लिये उक्त वस्तुओंका निर्णय कठिन है, परंतु अनुमान, आगम आदिद्वारा तो कोई भी वस्तु अज्ञेय नहीं है। हर्बर्ट स्पेन्सर तो सभी मतोंका आधार प्रत्यक्ष ही मानता था। इसलिये उसके मतानुसार 'न कोई मत अत्यन्त सत्य है, न अत्यन्त असत्य ही। अतः सभी मतोंका सामान्यांश ग्रहण करना ठीक है।' इसी आधारपर वह उक्त पदार्थोंको 'अज्ञेय' मानता है। उसके मतानुसार विशेष वस्तुओंको सामान्यमें और सामान्यको पुनः उच्च सामान्यमें ले आना चाहिये। अन्तमें उस परासत्तामें ही स्थिरता होनी चाहिये। जिसका किसीमें अन्तर्भाव नहीं होता, उसे 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। उसके मतानुसार 'ज्ञान सम्बन्ध ग्रहण-स्वरूप होता है, अतः एक वस्तुका वस्त्वन्तरसे भेद सादृश्यादिके बिना नहीं हो सकता। अप्रमेयमें भेद-सादृश्य आदिका ग्रहण होना असम्भव है।' स्पेंसरके मतानुसार 'ईश्वरका स्वरूप क्या है यह नहीं जाना जा सकता। किंतु सत्ता मानी जाती है। सम्बन्ध ग्रहण सापेक्षबोध ईश्वरमें नहीं पहुँचता, अतः सम्बन्धातीत अप्रमेय कारणशक्ति मान्य होनी चाहिये।'

वस्तुतः स्पेंसरके इस तर्कसे तो किसी भी वस्तुका बोध नहीं हो सकता, क्योंकि एक वस्तुसे भिन्न सभी वस्तुओंसे उसका किसी-न-किसी ढंगका सम्बन्ध रहता ही है। फिर एक अल्पज्ञ व्यक्तिको सब वस्तुओंका ज्ञान सम्भव नहीं और न सबके साथ उसके सम्बन्धका ही ज्ञान हो सकता है। इस तरह सभी ज्ञान भ्रमात्मक ही ठहरेंगे। अतः 'सप्रकारक, निष्प्रकारक, दोनों ही प्रकारके ज्ञान होते हैं।' यही सिद्धान्त मानना पड़ेगा। भले ही द्रव्यका गुण क्रिया-समन्वितरूपसे ही ग्रहण हो, फिर भी वस्तु-स्वरूपका भी ग्रहण होता ही है। रूप, सम्बन्ध आदि पदार्थोंका स्वरूप-ज्ञान भी होता है। एतावता ईश्वर, काल आदि भी अप्रमेय, अज्ञेय नहीं कहे जा सकते। हाँ, सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा दृश्य या ज्ञेय नहीं हो सकता; क्योंकि एक ही स्वयं ज्ञाता और ज्ञेय दोनों नहीं हो सकता। ऐसा होनेसे कर्म-कर्तृ-विरोध होता है। वही कर्त्ता अपनी क्रियाका कर्म नहीं बन सकता। द्रष्टाका भी द्रष्टा यदि अन्य माना जाय तो फिर उसका द्रष्टा-

और फिर उसका भी द्रष्टा ढूँढ़ना पड़ेगा। इस तरह अनवस्था-प्रसङ्ग होगा। सर्वद्रष्टा जिससे दृश्य होगा उसका द्रष्टा नहीं हो सकेगा; क्योंकि कोई भी दृश्य अपने द्रष्टाका द्रष्टा नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें उसको सर्वद्रष्टा नहीं कहा जा सकता। अतः प्रमाण व्यापारसे अज्ञाननिवृत्ति तथा स्वप्रकाशरूपसे आत्माका बोध मानना उचित है। इसी तरह प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमादि प्रमाणों-के आधारपर काल आदिका भी ज्ञान होता ही है। कुछ भी हो, अज्ञेयरूपसे भी तो विद्यमान वस्तुका एक ज्ञान मानना पड़ता है। इसीलिये स्पेंसर आत्मा-अनात्मा, जड-चेतनको शक्तिका ही रूपान्तर मानता है। परंतु विचार करनेपर यह भी सत्य नहीं ठहरता। आत्मा तो मूल पदार्थ है, शक्ति उसका अंश है। जैसे वह्नि-में दाहिका शक्ति होती है, वैसे ही आत्मामें प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति मान्य होती है। सांख्य-मतानुसार भी आत्मा एक स्वतन्त्र पदार्थ माना जाता है।

स्पेंसरके मतानुसार 'शक्तिकी सार्वकालिक सत्ता ही मूल परमार्थ है। उसीसे द्रव्यकी अनश्वरता, गतिका सातत्य, शक्तियोंके सम्बन्धकी नित्यता अर्थात् नियमोंकी एकरूपता, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, शक्तियोंका परिणाम एवं तुल्यपरिवर्त्तिता, गतिका दिग्नियम अर्थात् उसकी अल्पतमावरोध, रेखानुसारिता, गुरुत्वाकर्षणानुसारिता, इन दोनोंका योग और गतिका अविच्छिन्न प्रवाह आदि निकलते हैं। उसी शक्तिके नियम सब प्रमेय पदार्थोंमें लगे हुए हैं। इन नियमोंमें सबसे व्यापी नियम विकासका नियम है। इसके अनुसार द्रव्यका सदा ही आन्तर परिवर्तन होता रहता है। संसारका प्रत्येक अवयव और समस्त संसार सदा ही 'विकास' एवं 'विच्छेद' इन दो व्यापारोंमें लगा है। विकासावस्थामें द्रव्यका संघीभाव और विच्छेदावस्थामें शिथिलीभाव होता है।' वस्तुतः यह अंश सांख्योंके मतसे मिलता-जुलता है। वे भी प्रकृतिको ही आत्म-भिन्न सब व्यक्त प्रपञ्चका मूल मानते हैं। 'चलञ्च गुणवृत्तम्' के अनुसार व्यक्त-अव्यक्त सभीको गतिशील मानते हैं—

क्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः।

चितिशक्तिको छोड़कर सभी भावोंको वे क्षणपरिणामी मानते हैं। उनके असंगचेतन व्यापक पुरुष स्वतन्त्र माने जाते हैं। सांख्यके सद्वादका ही प्रत्यभिज्ञान इस मतमें भी होता है। सांख्यानुसार सत्का विनाश एवं असत्की उत्पत्ति नहीं होती। केवल अवयवोंके संघीभावसे आविर्भाव या विकास होता है एवं अवयव-विच्छेदसे तिरोभाव होनेसे ही नाशका व्यवहार होता है। प्रकृतिके स्वभावका उसके परिणामोंमें अनुवृत्त होना भी उन्हें मान्य है। प्रकृति सुख-दुःख-मोहात्मक है, अचेतन है। इसीलिये उसका परिणाम प्रपञ्च भी सुख-दुःख-मोहात्मक एवं अचेतन है।

स्पेंसर इस विकासकी तीन श्रेणियाँ मानता है—(१) 'शक्तिका केन्द्रस्थ होना, जैसा कि बादलोंके इकट्ठा होनेमें प्रारम्भिक बदलीका और कीटाणुओंके जीवन-केन्द्रोंमें देखा जाता है । (२) भेदीकरण—मूलका बहिरावेष्टनसे अलग होकर उसमें आन्तरिक भेद होना और (३) स्पष्टीकरण—अर्थात् भेदोंका निश्चितरूप एवं आपसमें सम्बन्धित होकर एक सुव्यवस्थित पूर्णरूप धारण करना । विकास और विच्छेदका भेद यही है कि विकासमें भेदके साथ संघटन है और विच्छेदमें संघटनका अभाव है । विकासकी गति अनिश्चित सम्बन्ध और व्यवस्थारहित एकरूपतासे निश्चित सम्बन्ध और व्यवस्थापूर्ण अनेकरूपताकी ओर होती है । उदाहरणार्थ निम्नश्रेणीके जीवोंमें विशेष इन्द्रियभेद नहीं होता, कहीं-कहीं लिङ्गभेद भी नहीं होता । एक (स्पर्श) इन्द्रियसे ही सब इन्द्रियोंका कार्य चलता है । परंतु जैसे-जैसे जन्तु विकासकी श्रेणीमें बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे उनमें इन्द्रियभेद बढ़ता जाता है और साथ ही विभिन्न इन्द्रियोंमें सम्बन्ध भी स्थापित होता जाता है । मनुष्यमें सब इन्द्रियाँ स्पष्ट होती हैं और तभी अपने-अपने सम्बन्धसे मनुष्य-शरीरकी रक्षा एवं वृद्धिमें योग देती हैं !' स्पेंसरके मतानुसार 'विकासका यह नियम सभी विषयोंमें लगता है ।' सांख्यानुसार कारणगत प्रकाश, हलचल एवं अवष्टम्भ आदि गुणोंके अङ्गाङ्गीभावरूप वैषम्यके अनन्तर ही तिरोधायक आवरणसे बहिर्भूत होकर कार्यकी स्पष्टता होती है । बीज और मृत्पिण्डके विघटनपूर्वक अङ्कुर एवं घटादिके आविर्भावानुकूल संघटनक्रियासे ही अङ्कुर एवं घटकी अभिव्यक्ति होती है । अनेकता एवं व्यवस्था भी सांख्यानुसार घटके समान अभिव्यक्त ही होती है । अपूर्वकी उत्पत्ति नहीं होती । चेतना एवं इन्द्रियाँ भी विद्यमान ही थीं, केवल उनकी अभिव्यक्ति ही होती है । अभिव्यक्तिमें ही क्रम मान्य है । अत्यन्त अविद्यमानका बालूसे तेलके समान कभी भी आविर्भाव नहीं होता । उसी तरह सत्का नाश भी नहीं होता ।

विकासमें 'भूतपदार्थका एकीकरण और गतिका वितरण होता है विच्छेदमें गतिका तिरोभाव और भूत पदार्थका अनेकीकरण या वितरण होता है । यह विकास और विच्छेदका नियम विश्वके लिये एक साथ ही प्रयुक्त नहीं होता, किंतु एक भागमें विकास तो दूसरे भागमें विच्छेदका आरम्भ होता है । सांख्यमतानुसार 'गति तो हर समय ही रहती है, किंतु एक कारणमें अनेक कार्य युगपत् नहीं हो सकते । अतः कार्यान्तरके आविर्भावके लिये प्रथम कार्यका तिरोभाव आवश्यक होता है, जैसा कि घटके आविर्भावके लिये पिण्डावस्थाका तिरोभाव अपेक्षित होता है ।' इसीलिये विकास-विच्छेदका क्रम भी संगत हो जाता है । स्पेंसरने जीवशास्त्रका तत्त्व बतलाते हुए कहा है कि 'आन्तर सम्बन्धोंके

साथ अविच्छिन्न मिलावट ही जीवनतत्त्व है। जैसे-जैसे बाह्य एवं आन्तरिक सम्बन्धोंका साम्य होता है, वैसे-वैसे इन्द्रिय एवं शरीरसम्बन्धी विकासके क्रममें उच्चता होती है।' मनस्तत्त्वके सम्बन्धमें उसने कहा है कि 'मनस्तत्त्व विज्ञानगम्य नहीं है। जिन अवस्थाओंमें वह प्रकाशित होता है, केवल उन अवस्थाओंकी अभिव्यक्ति ही विज्ञानाधीन होती है।' उसके मतानुसार 'स्नायुनिष्ठ आघातसे ही संवित्‌की अभिव्यक्ति होती है, संवेदन और उसके सम्बन्धोंसे ही चित्त बनता है। संवेदनोंके स्मरण, परस्पर सम्बन्ध और संघीभावसे समस्त संवित्‌का बनना वह मानता है। इसीलिये चित्तकी भिन्न वृत्तियोंमें परस्पर अत्यन्त भेद नहीं होता। चित्त व्यापारमें प्रतिफलन, स्वाभाविक क्रिया, स्मरण और विवेक ये क्रम हैं। संवित्‌के जो आकार व्यक्तियोंमें स्वाभाविक और सहज हैं, वे भी जातिमें किसी-न-किसी समय अनुभवसे ही प्राप्त माने जाते हैं। पीछेसे स्नायुजालमें जमकर वे परम्परागत हो जाते हैं।'

स्पेंसरने इसी प्रकार अनुभववाद और सहजज्ञानवादका साम्य स्थापित किया। किंतु यहाँ भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि प्रारम्भिक मनुष्योंमें ऐसे ज्ञानकी नींव किस प्रकार पड़ी? प्रारम्भकालमें अनुभव किस प्रकार स्वतन्त्र हो सकता है? वस्तुतः स्नायुके आघात अथवा विषयेन्द्रिय-संनिकर्ष, शब्द-प्रमाण या व्याप्तिज्ञानसे सात्त्विक मनकी ही विषयाकाराकारित वृत्ति उत्पन्न होती है। उसी वृत्तिपर अभिव्यक्त आत्मचैतन्यसे ही वस्तुका प्रकाश होता है। जैसे पार्थिव होनेपर भी सामान्य पाषाणोंपर सूर्यका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, परंतु स्फटिकपर प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही सामान्य जड पदार्थोंपर आत्मचैतन्यका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, परंतु सात्त्विक अन्तःकरण-परिणामरूप वृत्तियोंपर आत्मचैतन्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार आदि एक ही वस्तुके अवस्थाभेद हैं। वेदान्त-सिद्धान्तानुसार अन्तःकरण सूक्ष्म पञ्च महाभूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशका परिणाम है। ग्राह्य-ग्राहकभाव सजातीयमें ही दृष्ट है। पार्थिव घ्राणेन्द्रियसे पार्थिव गन्धका ग्रहण होता है। तैजस चक्षुरिन्द्रियसे तैजस रूपका ग्रहण होता है। इसी तरह आकाशीय श्रोत्रेन्द्रियसे आकाशीय शब्दका, वायवीय त्वगिन्द्रियसे वायवीय स्पर्शका और जलीय रसनेन्द्रियसे जलीय रसका ग्रहण होता है। मनसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँचों ही विषयोंका ग्रहण होता है। अतः उसे सूक्ष्म पञ्चमहाभूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशका परिणाम मानना प्रामाणिक है। छान्दोग्य उपनिषद्‌में तो स्पष्ट ही अन्वय-व्यतिरेकसे मनस्तत्त्वको अन्नमय सिद्ध किया गया है। अन्नके अभावमें मनकी कलाएँ घटती हैं और अन्नके अस्तित्वमें उसकी कलाएँ उपोद्बलित होती हैं—'**अन्नमयं हि सौम्य मनः।**' संकल्प, विकल्प, स्मरण, निश्चय, अभिमान आदि सब इस चित्त या मनके ही परिणाम हैं। अभिव्यक्त

चिदंश ही 'संवित्' शब्दसे कहा जाता है और उच्च वेदान्त-सिद्धान्तानुसार तो अखण्ड, अनन्त बोधस्वरूप ब्रह्मात्मा ही मननीशक्तिविशिष्ट होकर मनस्तत्त्वरूप-में विवर्तित होता है। अखण्ड बोध ब्रह्म एवं साक्षीस्वरूप आत्माका अंशभूतसे जो भी ज्ञान होता है, वह प्रमाणके द्वारा प्रमात्मक होता है और सदोष प्रमाणोंसे भ्रमात्मक ज्ञान होते हैं।

स्पेंसरके मतानुसार 'बाह्यशरीरके द्वारा स्नायु तन्तुओंपर आघात होता है। उससे ज्ञान उत्पन्न होता है। चित्त एवं शरीर दोनों ही अप्रमेयके रूपान्तर हैं। संवित्‌के एकीभाव और विभागका प्रवाहरूप चित्त है। इसके अनुसार वास्तविक सत्ताके अस्तित्वका ज्ञान उसके दृश्योंद्वारा होता है। यह दृश्य उसकी प्रतिलिपि नहीं, किंतु उसके संकेत हैं। जैसे वर्णोंका संकेत लिपिद्वारा होता है, उच्चरित एवं लिखित शब्दोंमें समानता नहीं होती। वैसे ही वास्तविक सत्ता तथा उसके दृश्योंमें समानता नहीं है। यही 'रूपान्तरित सद्वाद' है। वस्तुवादमें बाहरी सत्ताको माना जाता है। इस विषयपर विचार करनेसे विदित होता है कि यह व्यावहारिक सत्ता ही पारमार्थिक सत्तारूपसे कही जाती है। व्यवहारकालमें जिसका बाध न हो, वह व्यावहारिक सत्ता है। अत्यन्ताबाध्य वस्तु ही पारमार्थिक सत्तावाली होती है।

जी० एच० ल्यू० विकासवादके सिद्धान्तको मानता हुआ भी रूपान्तरित वस्तुवादका विरोध करता है। उसका कहना है कि 'जो अनुभवमें आनेवाला है, वही सत्य और वास्तविक है। उसे संकेत मानकर उसके अतिरिक्त वास्तविक सत्ताकी खोज करना मानो रोशनीके पीछे रोशनीकी खोज करना है।' वह लिखता है कि 'यदि रूपान्तरितवादका भ्रम दूर करना है तो मेरा युक्तियुक्त वस्तुवाद बुद्धिके भ्रमको दूर करता है। निद्रा, स्वप्न, मूर्छा, मृत्यु आदिको देखकर प्राचीन मनुष्योंका ऐसा विश्वास हुआ कि चित्त कोई शरीरसे भिन्न वस्तु है। मरनेके बाद यह चित्त या आत्मा कहीं रहता है, ऐसा विश्वास रखकर ही लोग जादू, प्रार्थना तथा पितृपूजा आदि करते थे। जैसे अन्य विषयोंमें विकास हुआ, वैसे ही धर्मके सम्बन्धमें भी विकास हुआ। प्रेत-पिशाचकी कल्पना ही परिष्कृत होकर देवताओंकी कल्पना बनी और देवताओंकी कल्पना ईश्वरकी कल्पना बनी। वही अब अप्रमेय कल्पनाके रूपमें व्यक्त हुई है।'

उपर्युक्त विचार भी असंगत हैं; क्योंकि शरीरातिरिक्त आत्माका अस्तित्व, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिकी व्यावृत्ति एवं साक्षीकी अनुवृत्ति आदिसे सिद्ध होता है। आत्मा एवं परमेश्वरका निर्णय प्रामाणिक है, कल्पना नहीं। इसपर आगे विचार किया जायगा। फलीभूत सुखके आधारपर आचारका निर्णय होता है। जिससे अधिक सुख हो, वही आचार श्रेष्ठ है। यदि सुख कम मिले

तो आचार बुरा है । स्वार्थ, परार्थ दोनों पृथक् होनेके कारण अनर्थकारक हैं । दोनोंमें मेल होनेसे आचारकी उन्नति होती है । स्वार्थसे परार्थ एवं परार्थसे स्वार्थ साधन होता है । सर्वप्रथम स्वार्थप्रयुक्त कलह होता है; फिर प्रत्येकका स्वार्थ परस्पर अधीन देखकर मनुष्य प्रेममय जीवन पसंद करते हैं । सामाजिक आचारोंमें न्याय और उपकार मुख्य हैं । प्रत्येक व्यक्ति दूसरोंके स्वातन्त्र्यका विरोध न कर जितना और जो चाहे कर सकता है । यही न्यायका नियम है ।

स्पेंसरके मतानुसार 'समाज और व्यक्तिका अवयवावयवीभाव है । अवयव अवयवीसे पृथक् नहीं हो सकता । जो कार्य समाजके लाभका है, उससे व्यक्तिका भी लाभ होता है । जिस कार्यसे समाजको हानि होती है, उससे व्यक्तिकी भी हानि होती है, यही परार्थका आधार है । परस्पर विरोधके कारण समाजमें राज्य-शासनकी आवश्यकता पड़ी । प्रजामें परस्पर आन्तर भेदको बचाना, प्रजाकी बाहरी शत्रुओंसे रक्षा करना राज्यका कार्य है ।' व्यक्तिके कार्योंमें राज्यका हस्तक्षेप उसे अमान्य है ।

सापेक्षतावादी हेमिल्टनका कहना है कि 'हमारी मानसिक शक्तियोंसे ही सब ज्ञान होते हैं, निरपेक्ष ज्ञान नहीं होता ।' परंतु निरपेक्ष पदार्थ भी असम्भव या असत् नहीं । केवल दृश्य ही प्राणीको दिखायी पड़ते हैं । वे द्रष्टाकी अपेक्षा रखते हैं । यह दृश्य, यह गुण, अवश्य किसी पदार्थके दृश्य होंगे, परंतु वह पदार्थ अज्ञेय रहता है । दृश्य शृङ्खलाकी भिन्नतासे मूल द्रव्यमें भेद भी समझा जा सकता है ।

डीन मैन्सलका कहना है 'दार्शनिकोंके निश्चित ज्ञानतक न पहुँचनेके आधारपर ही धर्मकी पुष्टि की गयी है ।' बुद्धिवादी लोग धर्ममें जो कठिनाइयाँ देखते हैं वही तो विज्ञानमें भी कठिनाइयाँ हैं । फिर धर्ममें ही आपत्ति क्यों उठायी जाय ? जब एक और अनेकके दुर्भेद्य रहस्यके आगे दार्शनिक मूक हैं और सभी चीजोंकी उत्पत्तिका रहस्य नहीं जान सकते, तब ईश्वरकृत अद्भुत चमत्कारोंको न समझ पाना तो सर्वथा स्वाभाविक है ।

हक्सलेके मतानुसार 'अपनी रुचि एवं इच्छाओंको सत्यके निर्णयमें बिल्कुल स्थान न देना चाहिये । स्वर्ग, अमरत्व आदि यद्यपि इच्छाओंके अनुकूल हैं; तथापि जबतक वैज्ञानिक प्रत्यक्ष प्रमाण न मिले, तबतक उनपर विश्वास नहीं करना चाहिये । प्रयोगात्मक जाँचमें जो ठीक उतरे, वही सत्य है । अनुमानमात्र पर्याप्त नहीं है । जो बातें अनुभवमें नहीं आतीं, उनके सम्बन्धमें वैज्ञानिकको चुप रहना चाहिये ।' वैज्ञानिक

लोग जो एक मूल द्रव्यको सबका कारण मान लेते हैं, यह अपने अधिकारसे आगे जाना है। यद्यपि उन्होंने प्रत्ययवादियोंके संवित्को बड़ा महत्त्व दिया है, फिर भी ये कहते हैं कि 'भूतवादकी कल्पना अधिक पट सकती है।' इस तरह वे संवित्का आधार भी मानते हैं और यह भी कहते हैं कि 'संवित्के बाहर कोई वस्तु नहीं हो सकती।' इस तरह भूत या आत्माके सम्बन्धमें ह्यूमके समान यह भी अज्ञेयवादी हैं। इनका कहना है कि 'भौतिकवादके सम्बन्धमें जहाँतक व्याख्या हो, ठीक ही है। परंतु हमें तो व्यवहारके लिये प्राकृतिक नियमोंका ज्ञान भी पर्याप्त है।' हमें आम खानेसे काम है, पेड़ गिननेसे क्या लाभ ? अज्ञेय पदार्थ एक हो या अनेक, इसके बारेमें कुछ निश्चय कहा नहीं जा सकता।' कर्तव्यके सम्बन्धमें उसका कहना है कि 'हमें प्रकृतिसे ऊँचे उठना चाहिये, उसका अनुकरण नहीं करना चाहिये।'

क्लीफोर्डके अनुसार 'सर्व मानसद्रव्य ही सर्वत्र संसारमें फैला है। यही द्रव्यविकासद्वारा ऐन्द्रियक शरीरोंमें इकट्ठा होकर चेतना हो जाता है। मेरे मनसे भिन्न अन्य मनके द्वारा भी जो वस्तु उपलब्ध होती है, वही वस्तुकी वस्तुता है।' विलियम रीडका कहना है कि 'मनुष्यजाति एक व्यक्ति है। वह पूर्णताकी ओर जा रही है, वही ईश्वर है।' विकासवादियोंके मतानुसार 'विकासकी पराकाष्ठामें जब मनुष्यमें सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता होगी, तभी ईश्वर-कल्पनाकी बात पूरी होगी।'

कहना न होगा कि 'इन जडवादियोंकी कल्पनाओंमें भी परस्पर महान् मतभेद है।' अनेकों ऐसे पदार्थोंको 'अज्ञेय' कहकर ही वे संतोष कर लेते हैं। डीन मैन्सलके अनुसार 'जब भूतद्रव्यके ही समझनेमें वैज्ञानिकोंको कठिनाई है, तब आध्यात्मिक द्रव्यमें कठिनाई होनेमात्रसे उसमें अविश्वास क्यों किया जाय ? जब किसी पदार्थके अस्तित्वके लिये प्रमाण अपेक्षित होता है, तब उसके अभावके लिये भी तो प्रमाण चाहिये ही। यह तो निश्चय ही है कि आधिभौतिक शास्त्रज्ञ भी एक अव्यक्त प्रकृतिको किसी-न-किसी नामसे स्वीकार करते हैं और उसीसे अनेक प्रकारकी सृष्टि मानते हैं।'

इस सम्बन्धमें लोकमान्य तिलकने 'गीता-रहस्य' में लिखा है— 'हेकलकी विश्वकी पहेली' (Riddle of the universe) के अनुसार आधुनिक पदार्थ विज्ञानवादीकी दृष्टिमें कार्यके कोई भी गुण कारणके बाहरके गुणोंसे उत्पन्न नहीं होते। जब कारणको कार्यका स्वरूप प्राप्त होता है, तब उस कार्यमें रहनेवाले द्रव्यांश एवं कर्मशक्तिका कुछ भी नाश नहीं होता। पदार्थकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके द्रव्यांश और कर्मशक्तिके जोड़का वजन भी सदैव

एक-सा ही रहता है। न वह घटता है न बढ़ता है। यह बात प्रत्यक्ष प्रयोगसे सिद्ध है। 'नासतो विद्यते भावः' (गीता २।१६) का ठीक यही अर्थ है। प्रथम अर्वाचीन रसायनशास्त्रज्ञ प्रपञ्च सृष्टिके ९२ मूलतत्त्व मानते थे। परंतु अब उन्होंने यह माना कि 'यह मूलतत्त्व स्वयंसिद्ध नहीं। इनकी जड़में कोई एक ही तत्त्व है, उसीसे सूर्य, चन्द्र, तारागण, पृथ्वी आदि सृष्टि उत्पन्न हुई है। उस एक पदार्थको सांख्यानुसार 'प्रकृति' कहा जाता है। 'इन्द्रियोंके अगोचर, अव्यक्त, सूक्ष्म, अखण्डित एक ही निरवयव मूल द्रव्यसे व्यक्तकी सृष्टि होती है, इस सांख्यमतको ही पाश्चात्त्य भौतिकवादी भी मान गये हैं। हाँ, वे यह भी कहते हैं कि 'इस मूल द्रव्यकी शक्तिका क्रमशः विकास हो रहा है। पूर्वापर-क्रम छोड़कर अचानक निरर्थक कुछ भी निर्माण नहीं होता।' इसी मतको 'उत्क्रान्तिवाद' या 'विकासवाद' कहा जाता है। तदनुसार सूर्यमालामें पहले कुछ एक ही सूक्ष्म द्रव्य था, उसकी गति अथवा उष्णताका परिणाम घटता गया। तब उक्त द्रव्यका अधिकाधिक सङ्कोच होने लगा और पृथ्वीसमेत सब ग्रह क्रमशः उत्पन्न हुए। अन्तमें जो शेष अंश बचा, वही सूर्य है। पृथ्वीका भी सूर्यके सदृश पहले एक उष्ण गोला था। ज्यों-ज्यों उष्णता कम होती गयी, त्यों-त्यों मूल द्रव्योंमेंसे ही कुछ द्रव्य पतले और कुछ घने हो गये। इस प्रकार पृथ्वीके ऊपरका भाग हवा और पानी तथा उसके नीचेका पृथ्वीका जड़ गोला—ये तीन पदार्थ बन गये। इन तीनोंके मिश्रण अथवा संयोगसे सब सजीव एवं निर्जीव सृष्टि उत्पन्न हुई। डार्विन आदिकोंके अनुसार 'छोटे कीड़ोंसे-ही विकास होते-होते मनुष्य बन गया।' यह पीछे कहा जा चुका है कि 'इन लोगोंने चेतनाको भी जडका ही परिणाम माना है।' परंतु कान्ट आदिका कथन है कि 'सृष्टिका ज्ञान आत्माके एकीकरण व्यापारका फल है। इसलिये आत्माको स्वतन्त्र पदार्थ मानना ही चाहिये।' बाह्य सृष्टिके ज्ञाता आत्माको स्वयं भी बाह्य सृष्टिका एक भाग मानना वैसा ही असङ्गत है, जैसा कि किसीका अपने कंधेपर स्वयं ही बैठ सकना। सांख्योंके सत्त्व, रंज, तमके स्थानमें भौतिकवादी गति, उष्णता और आकर्षणशक्ति मानते हैं। पदार्थ एक होनेपर भी उसमें गुणभेदके बिना विचित्र सृष्टि उपपन्न नहीं हो सकती, अतः उस प्रकृतिमें सत्त्व, रज, तम गुण माने जाते हैं।

हेकलका कहना है कि 'मन, बुद्धि, आत्मा आदि शरीरके ही धर्म हैं। अतएव जब मनुष्यका मस्तिष्क बिगड़ जाता है, तब उसकी स्मरण-शक्ति नष्ट हो जाती है और वह पागल हो जाता है। सिरपर चोट लगनेसे जब मस्तिष्कका कोई भाग बिगड़ जाता है, तब भी मानसिक शक्ति नष्ट हो जाती है। मस्तिष्कके साथ ही मनोधर्म और आत्मा भी शामिल है। इस दृष्टिसे फिर केवल जड

अव्यक्त ही रह जाता है। मूल प्रकृतिकी शक्ति ही धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। उसीमें चैतन्य या आत्माका स्वरूप व्यक्त होता है।' सत्कार्यवादके समान ही इस प्रकृतिके भी कुछ नियम हैं। उन्हीं नियमोंके अनुसार जड जगत् और मनुष्य भी उत्पन्न होते हैं। प्रकृति जैसा कराती है वैसा ही सबको करना पड़ता है। संसार एक कारागार है, सब प्राणी उसके कैदी हैं और पदार्थोंके गुण-धर्म ही बेड़ियाँ हैं। उनका तोड़ना असम्भव है। इसीलिये, हेकलके मतानुसार 'एक अव्यक्त प्रकृति ही सब कुछ है।' यही उसका 'जडाद्वैतवाद' है। सांख्यमतानुसार 'प्रकृतिका कार्य जड प्रपञ्च ही है, चेतन प्रकृतिसे भिन्न है।'

जड सामग्रीसे ही सब वस्तुओंकी उत्पत्ति हो जाती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सांख्यवादी भी स्वतन्त्र, व्यापक, असंग, चेतन, आत्मा और प्रकृतिके समन्वयसे ही सृष्टिप्रपञ्च मानते हैं। इसी सम्बन्धमें सांख्योंका 'पङ्गु-अंधन्याय'*प्रसिद्ध है। जैसे पङ्गु चल नहीं सकता और अंधा देख नहीं सकता, दोनोंका जब मेल होता है, पङ्गुको कंधेपर चढ़ाकर जब अंधेके पैर और पङ्गुके आँखका सहयोग मिलता है, तब गमनादि क्रिया सम्पन्न होती है। वैसे ही अंधके तुल्य अचेतन प्रकृति और पङ्गुके तुल्य गति-शक्तिरहित चेतन पुरुष, इन दोनोंके सम्बन्धसे सृष्टि-प्रपञ्च चलता है। व्यवहारमें अचेतन रथादिकी प्रवृत्ति चेतन अश्वके आधारपर ही होती है। यान्त्रिक प्रवृत्तियोंके भी मूलमें संयोजक होता है। एकत्रित सामग्री कर्ता नहीं बन जाती। संघात या समुदायमात्रमें कर्तृत्व नहीं हो सकता। क्षेत्ररूपी कारखानेमें मनुष्य- बुद्धि, मन आदि नौकरोंसे काम करानेवाला कौन है? एकत्रित सामग्रियाँ भी विलग न हो जायँ, एतदर्थ उन्हें धागासे बाँधना भी पड़ता है, अन्यथा वे कभी भी अलग हो जायँगी, अतः कोई नियामक चेतन परमावश्यक है।' यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'समुच्चयका गुण चैतन्य है', क्योंकि जिसमें जो वस्तु असत् है, वह कभी भी सत् नहीं हो सकती—'नासतो विद्यते भावः' फिर भी समुच्चयोत्पन्न गुणकी अपेक्षा भौतिकवादी समुच्चयको ही चेतन आत्मा मानते हैं। परंतु जब अग्निके बदले लकड़ी, विद्युत्के स्थानपर मेघ और आकर्षणशक्तिके बदले पृथ्वी आदि नहीं ग्रहण किये जाते, तब यह क्यों न माना जाय कि देहादि संघातका, मन, बुद्धि आदिका व्यवस्थापूर्वक काम चलता रहे, एतदर्थ संघातसे भिन्न किसी शक्तिका अंगीकार करना आवश्यक है। भले ही उस शक्तिका अधिष्ठान अगम्य हो, परंतु उसका अपलाप नहीं किया जा सकता। 'संघातका ज्ञान स्वयं संघात ही कर लेता है।' यह कहना तो सर्वथा असङ्गत ही है। अतः संघात जिसके लिये प्रवृत्त होता है, जो संघातका ज्ञाता या प्रवर्तक होता है, उसे मानना आवश्यक है।

* देखिये सांख्यदर्शन (१।५५) तथा सांख्यकारिका (२१)।

कॉन्टका कहना है कि 'बुद्धिके व्यापारोंका सूक्ष्म निरीक्षण करनेपर मालूम होता है कि मन, बुद्धि, अहङ्कार, चेतना ये सभी शरीर-क्षेत्रके गुण हैं। उनका प्रवर्त्तक आत्मा इनसे भिन्न स्वतन्त्र और इनसे परे है। किसी भी जीवशास्त्रके तर्क या विज्ञान अथवा यान्त्रिक साधनोंसे इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं मिलता। विकासवादी अधिक-से-अधिक आत्मा या परमेश्वरको अज्ञेय कहते हैं। वेदान्त-शास्त्रमें भी समाधि-सम्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञाके बिना सर्वसाधारणके लिये आत्माको अज्ञेय कहा गया है। दृश्यका प्रकाश द्रष्टासे होता है। दृश्यसे द्रष्टाका प्रकाश नहीं होता। इसीलिये देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार आदि सभी प्रपञ्चका भासक सर्वद्रष्टा आत्मा है। इन दृश्योंके द्वारा उसका प्रकाश नहीं हो सकता, इसीलिये उसे अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य माना जाता है। फिर भी वही सबका अधिष्ठान एवं सबका भासक, स्वयंप्रकाश है। अतः उसके सम्बन्धमें संशय, भ्रम एवं अज्ञान हो ही नहीं सकते; क्योंकि जिसके द्वारा संशय, भ्रम तथा अज्ञानका भी भान होता है, उसकी सत्ताका अपलाप कौन कर सकता है?—

येनेदं सर्वं विजानते तं केन विजानीयात्।

(बृहदा० उप० २।४।१४)

—अर्थात् जिसके द्वारा सब वस्तुओंको जाना जाता है, उसे किससे जाना जाय। नियमपूर्वक प्रवृत्तिके लिये ही प्रकृतिका प्रथम परिणाम महत्तत्त्व माना जाता है। समष्टिबुद्धि ही महत्तत्त्व है, परंतु चैतन्य-सम्पर्कके बिना जड प्रकृतिके परिणाम बुद्धितत्त्व या महत्तत्त्वसे भी नियमित-प्रवृत्तिका उपपादन नहीं हो सकता।

ईश्वर एवं आत्माके सम्बन्धमें विकासवादियोंका मत अस्पष्ट, अधूरा एवं भ्रान्तिपूर्ण है। 'संघर्ष एवं स्वार्थ ही जीवनका सार है। परोपकारका भी अन्तिम लक्ष्य स्वार्थ ही है' यह मत भी विकासवादियोंका असंगत ही है। कहा जा चुका है कि कितने ही लोग परोपकारको ही स्वार्थ समझते हैं। व्याघ्र-जैसे हिंस्र प्राणी भी अपने बच्चोंके लिये प्राणतक देते देखे जाते हैं।

डॉक्टर गेडोके मतानुसार 'पानीकी मछलियोंका मनुष्यतक विकास होनेमें ५३७५००० पीढ़ियाँ बीत गयीं।' कई लोग इससे भी अधिक संख्याका अनुमान लगाते हैं। मछलियोंसे पहलेकी संख्या यदि गिनी जाय, तब तो पीढ़ियोंकी संख्या और भी बढ़ जाती है। सूक्ष्म जन्तुओंका ही मछलियों, कछुओं, पक्षियों, बंदरों तथा मनुष्योंके रूपमें परिणाम बतलानेवाले दार्शनिक अनेक चित्रों और फोटो आदिद्वारा विकासक्रमको प्रत्यक्ष-सा दिखला देते हैं। परंतु यदि यह विकासक्रम वास्तविक है, तो फिर बंदरोंसे बंदरोंकी, मनुष्योंसे मनुष्योंकी, पक्षियोंसे पक्षियोंकी और मछलियोंसे मछलियोंकी उत्पत्तिका नियम क्यों उपलब्ध हो रहा है? आज भी बंदरोंकी परम्परासे मनुष्योंका जन्म होता हुआ

दिखायी क्यों नहीं देता ? किंचिन्मात्र सादृश्यसे अन्यत्र अन्य रूपमें परिणाम नहीं सिद्ध किया जा सकता। कितने ही पौधे समान ढंगके होते हुए भी गुणोंमें भिन्न हैं। कोई जहर है तो कोई अमृत है। समान घोड़ोंमें भी हय, अश्व, अर्वा आदिमें जातिभेद माना जाता है। मनुष्योंमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि जातिभेद मान्य होता है। वृक्षों, पशुओं तथा जलचर जन्तुओंमें अवान्तर बहुत अधिक समानता होनेपर भी उनमें जाति, गुण आदिका भेद होता है। शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार ही जातिभेद शास्त्रीय दृष्टिसे मान्य है। जाति, आयु, भोगका आरम्भक कर्म ही प्रारब्धकर्म माना जाता है। कार्यकी विलक्षणता कारणकी विलक्षणतासे ही सम्भव होती है। अतः कर्म-वैचित्र्यसे जाति-वैचित्र्यकी मान्यता संगत है। विभिन्न ढंगके बीजोंसे विभिन्न ढंगके अङ्कुरोंकी उत्पत्ति होती है। विभिन्न प्राणियोंके सजातीय शुक्र-शोणितोंसे सजातीय प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। विजातीय प्राणियोंसे विजातीयोंकी उत्पत्ति अदृष्टचर है। विजातीय शुक्र-शोणितोंसे भी संतानोत्पत्तिमें बाधा पड़ती है। फिर इस दृष्ट कार्य-कारणभावको छोड़कर अदृष्टकी कल्पना सर्वथा अपार्थक है। जब भिन्न-भिन्न परम्पराएँ उपलब्ध हैं ही, तब बीजरूपसे तथा शक्तिरूपसे उन्हें स्वतन्त्र ही क्यों न माना जाय ? निम्बसे आम्रकी उत्पत्ति नहीं होती, बालूसे तैल नहीं निकलता तथा अश्वसे महिषकी उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि निम्ब आदिमें आम्र आदिका शक्तिरूपसे अस्तित्व नहीं है। 'असत्की उत्पत्ति और सत्का विनाश नहीं होता,' यह सिद्धान्त दृढ़ है। इसीलिये बंदरोंसे मनुष्योंकी उत्पत्ति दृष्ट नहीं होती। इस तरह एक मूल प्रकृति या कारणब्रह्मसे ही समस्त प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है। सर्वकार्यानुगुण शक्तियाँ कारणमें रहती हैं।

राजनीतिके सम्बन्धमें भी विकासवादियोंकी ऐसी ही कल्पनाएँ हैं। स्पेंसरका यह भी कहना है कि 'गरीबी एवं निर्बलता भी प्राकृतिक है। जो योग्य होता है, वही जीवित रहता है। जो परिस्थितिके अनुकूल अपने-आपको नहीं बना सकते, ऐसे प्राणी मर जाते हैं। इसी तरह जो व्यक्ति वैज्ञानिक परिवर्तनके साथ अपनेको परिवर्तित नहीं कर सकता और विपरीत परिस्थितिमें नहीं रख सकता, वही गरीब होता है। उसके सुधारमें शासनको हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।' इसके मतानुसार 'यदि कोई अध्यापक उष्णता न सह सकनेके कारण मूर्च्छित हो गया हो तो विद्यार्थियोंको उसे वैसे ही मूर्च्छित छोड़कर चल देना चाहिये और उसे स्वयं परिस्थितिसे मुकाबिला करनेके लिये छोड़ देना चाहिये।'

विज्ञान या साइंसमें भी पर्याप्त मतभेद है। डार्विन, हेकल आदिके समयके प्राचीन साइंसने आत्मा, ईश्वर, पुनर्जन्म आदिके सम्बन्धमें बहुत-सी उलटी

बातें कहीं, परंतु सत्यकी खोज करनेवाले वैज्ञानिकोंकी खोज निरन्तर चल ही रही है। लगभग अर्धशताब्दीसे तो विज्ञानने ही प्राणिविज्ञान-सिद्धान्तमें पर्याप्त रद्दो-बदल कर दिया। विकासवाद तो वस्तुतः खण्डित ही हो गया, किंतु स्वेच्छाचारियोंके लिये आत्मा, ईश्वर, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि जहरके समान कड़ुए प्रतीत होते हैं। अतः वे लोग अब भी उसी जडवाद विकासवादकी रट लगा रहे हैं, क्योंकि विकासवादमें ईश्वर; धर्म आदिसे छुट्टी मिल जाती है। अतः जो वस्तु वैज्ञानिकोंकी दृष्टिसे भी गलत सिद्ध हो चुकी, उसी विकासवाद—जडवादके पीछे उच्छृङ्खल लोग पड़े हुए हैं।

'साइंस ऐण्ड रेलीजन' (धर्म एवं विज्ञान) पुस्तकमें सर ओलिवर जोजेफ लाज एफ्० आर० एस० डी० एस्-सी०, एल्-एल्० डी०, प्रो० जॉन एम्बोज, प्रो० डब्ल्यू० बी० बाट्मली, प्रो० एडवर्ड हल, जॉन एलन हार्कर, प्रो० जर्मन सिम्स उडहेड तथा प्रो० सिलवेनिस फिलिप्स थॉम्पसन—इन सात प्रसिद्ध वैज्ञानिकोंके मन्तव्योंका उल्लेख है। इस पुस्तकमें ईश्वर, जीव, धर्म एवं विकासके सम्बन्धमें डार्विन आदिके मतका खण्डनकर आस्तिक पक्षका समर्थन किया गया है। वर्तमान वैज्ञानिक प्राचीन वैज्ञानिकोंको 'पुराना' कहकर उनके मतकी उपेक्षा करते हैं। प्रो० बाट्मली कहते हैं कि 'हेकलका प्राचीन भौतिकवाद वर्तमान युगसे बिल्कुल दूर है। हेकलकी 'दि रिड्ल आफ युनिवर्स' का उत्तर 'रद्दी विचार एवं नूतन उत्तर' (दि ओल्ड रिड्ल एण्ड न्यूएस्ट आंसर) पुस्तकमें दिया गया है। उस पुस्तकमें यह भी कहा गया है कि 'नवीन वैज्ञानिक पहलेकी अंधी प्रकृतिके हाथमें न रहकर प्रकृतिको अपने हाथमें रखनेकी शिक्षा देते हैं। विकासको मनमाना नहीं, प्रत्युत नियमबद्ध होकर कार्य करनेवाला बतलाते हैं। विकासके द्वारा परमात्माका दर्शन करते हैं। डार्विन, हक्सले, हेकल आदिके समयका संसार केवल प्राकृतिक था; परंतु अबके वैज्ञानिकोंको सर्वज्ञ परमेश्वर भी स्वीकृत है। डार्विनकी प्रकृति भी अब ईश्वरसे नियन्त्रित है। साइकोलाजी (मनोविज्ञान), फ्रीनालोजी (मस्तिष्कशास्त्र) और स्पिरिचुअलिज्म (आधुनिक परलोकवाद) के पण्डित जीवका अस्तित्व एवं उसका जन्मान्तर भी स्वीकृत करते हैं।'

इस तरह कर्मोंद्वारा जीवोंकी अवस्था बदलती है। मनमानी प्रकृति मक्खीसे चिड़िया और चिड़ियासे साँप नहीं बना सकती। सर ओलिवर लाजका कहना है कि 'विकास तो कुड्मल (कलिका) से पुष्प एवं बीजसे अंकुर बनानेवाला निश्चित नियम है। नवीन विज्ञानके अनुसार कई प्राणी ऐसे पाये गये हैं, जिन्होंने अपने आदि जन्मसे लेकर अबतक अपना रूप बिल्कुल नहीं बदला। यही 'स्थिर शरीरवाले' कहे जाते हैं। हेकल आदिके अनुसार

मनुष्यको हुए ८ लाख २० हजार वर्ष हुए। इसी बीच उसने इतनी उन्नति की। पर मि० जॉन् टी० रोडको नेवादामें एक ६० लाख वर्षका पुराना जूतेका तल्ला पत्थरकी दशामें मिला, तबसे तो विकासवाद सर्वथा ही धराशायी हो गया। पृथ्वीकी आयु अबतक जितने भी प्रकारोंसे सिद्ध की गयी, उनमेंसे कोई भी प्रकार इस जूतेके कारण विकासवादकी सब कड़ियोंको उपपन्न करनेमें समर्थ नहीं है। अमीवासे लेकर मनुष्यतक न जाने कितने कड़ियाँ हैं, यदि एक-एक कड़ी करोड़ वर्ष ले, तो ज्यादा-से-ज्यादा पृथ्वी कितनी पुरानी हो सकती है, इसका अंदाजा लगाना भी कठिन है। अभी हालमें यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि 'मनुष्योंका विकास बंदरोंसे नहीं हुआ, प्रत्युत बंदरोंका जन्म मनुष्योंसे हुआ है।' इन वैज्ञानिकोंका कहना है कि 'पूर्वकालके मनुष्योंने ज्ञान-विज्ञानमें बहुत उन्नति की थी; इसलिये उनके सिर कमजोर हो गये थे। कुछ दिनोंके बाद वे असभ्य जंगली हो गये। उनमेंसे कुछ वनमानुष और कुछ बंदर बन गये।' ये नवीन वैज्ञानिक पुराने वैज्ञानिकोंसे कहीं अधिक सूक्ष्मदर्शी हैं। इन्होंने अपने तजुर्बेसे पुराने ज्ञानोंमें अधिक वृद्धि की है। अतः परिस्थिति संयोग या इत्तिफाकके अनुसार नहीं, किंतु कर्मोंके अनुसार ईश्वराज्ञानुसार ही प्रकृति जीवोंके शरीरोंको विकसित करती है। जैसे बीजसे वृक्ष, कलीसे फूलका विकास होता है, वैसे ईश्वरीय नियमानुसार ही सब विकास ठीक हैं।

विकासवादियोंके मतानुसार—"प्राकृतिक पदार्थोंका मूल कारण 'ईथर' है। उसीकी कल्पना और तरंगावलीसे विद्युत्, प्रकाश, शब्द और गर्मी उत्पन्न होते हैं। उसीके अति सूक्ष्म कणोंको 'इलैक्ट्रोन' कहते हैं। इनके ही संघातसे विद्युत् बनती है। यही शक्तिके रूपसे स्थूल आकारमें 'मैटर' कहलाती है। मैटरकी विरलदशाको 'गैस', तरल दशाको 'लिक्विड' तथा ठोस दशाको 'सॉलिड' कहते हैं। ईथरसे उत्पन्न ये पदार्थ घनीभूत होकर और आकर्षण-विकर्षणके नियमसे चक्राकारगतिमें हो जाते हैं। कुछ समयके बाद वही चक्र सूर्य बन जाता है। सूर्यमें गर्मी तथा गतिके कारण चक्कर पड़ जाते हैं। उसके कुछ अंश अलग होकर दूसरे ग्रह बन जाते हैं। उन ग्रहोंसे उपग्रह बनते हैं। इसी प्रकारके ग्रहोंमेंसे हमारी पृथ्वी एक ग्रह है। यह पहले गर्म थी, फिर धीरे-धीरे ठंढी हुई। उसीसे भाप, बादल, पानी, समुद्र, भूमि एवं जीव पैदा हुए। वनस्पति एवं जन्तुओंके भी पहले चेतनता उत्पन्न हुई। उसीकी एक शाखा एक कोष्ठधारी 'अमीवा' बन गयी। अमीवा इतने बढ़े कि उन्हें खाने-पीनेकी वस्तुओंकी दिक्कत होने लगी। उन्हींकी वे संतानें, जो शारीरिक प्रयत्न तथा मानसिक अभ्यासमें बलवान् थीं, जीवन-संग्राममें बच गयीं। वे फिर बढ़ीं और भोजनके लिये संग्राम जारी रहा। योग्य बचे, अयोग्य मारे गये।

बचे हुए अमीवा पहलेसे कुछ भिन्न प्रकारके थे। इनमें भी वही संघर्ष चला। मरते-बचते परिस्थितिके अनुसार आकार-प्रकार बदलते-बदलते मछली, मेढक, साँप, पक्षी, गाय, बैल, बंदर, वनमानुष और मनुष्यकी उत्पत्ति हुई।

"सब प्राणियोंका एक ही तत्त्वसे बनना, सबमें जीवन और संतति धारण करनेवाले समान अवयवोंका होना सिद्ध करता है कि सब एक ही मूलयन्त्रके उसी प्रकार सुधरे हुए रूप हैं, जिस प्रकार आरम्भकी साइकिल भद्दे ढंगकी थी, उसमें सुधार होते-होते आजकी साइकिल बन गयी। अबतककी सभी साइकिलों-को एक कतारमें रखें तो पता लगेगा कि एकहीके ये सब सुधरे हुए रूप हैं। उसी प्रकार सभी प्राणी 'अमीबा'के सुधरे हुए रूप हैं। जैसे तीन पहिये और दो पहियेकी मोटर दो वस्तुएँ नहीं, वैसे ही बिना पैरका साँप और सैकड़ों पैरवाला कनखजूरा कोई दो वस्तु नहीं। पहलेका सुधारा हुआ रूप ही दूसरा है। पहले सादी फिर संकीर्ण, पहले बिना हड्डीवाली फिर हड्डीवाली, पहले जोड़ोंवाली फिर सपाट रचनाका क्रम यान्त्रिक ही है। जमीन खोदनेसे भी यही क्रम मिलता है। सादी रचनावाले नीचेकी तहोंमें और क्लिष्ट रचनावाले हड्डीवाले ऊपरकी तहोंमें मिलते हैं। मनुष्य गर्भ पहले अमीवाकी तरह एक कोष्ठवाला, फिर मछलीके आकारका, फिर क्रमशः मण्डूक, सर्प एवं पक्षीके आकारका होता है। फिर बंदर-की शकलका होकर मनुष्य होता है। इस तरहसे भूगोलके प्राणियोंकी शरीर-रचना, यत्र-तत्र प्राप्त हड्डियोंकी रचना तथा विभिन्न देशोंमें स्थित प्राणियोंकी शरीर-रचना-की तुलना करनेसे यही प्रतीत होता है कि सब एक ही मौलिक यन्त्रके परिशोधित एवं परिवर्धित स्वरूप हैं। कई स्त्रियोंके चार या आठ स्तन होते हैं, कई मनुष्योंके पूँछ होती है। इससे मालूम होता है कि मनुष्य भी उन योनियोंसे होकर आया है, जिनमें अधिक स्तन एवं पूँछ होते हैं। कान न हिला सकने और आँत उतरनेकी बीमारीसे प्रतीत होता है कि मनुष्यके ये अंग शक्तिहीन हो गये। कहीं एक ही प्राणीमें इन दो प्रकारके प्राणियों-जैसे अङ्ग पाये जाते हैं। चमगादड़, उड़ती गिलहरी, लुप्त कड़ियोंके उत्तम निदर्शक और विकासके प्रमाण हैं।"

इस सम्बन्धमें कहना यह है कि यन्त्रोंका विकास जैसे किसी चेतनकी बुद्धिका परिणाम है, वैसे ही विश्वका विकास भी किसी चेतन ईश्वरसे ही सम्भव है। भले सायकिलें एक ही यन्त्रके विकास हों, फिर भी मोटर, रेल, वायुयान तथा कारखानोंके यन्त्र, सब साइकिलके ही विकास नहीं। इसी तरह साँपोंके अवान्तर-भेद साँपोंके विकास भले ही हों, परंतु कनखजूरा, बड़ी गिजाया और छोटी गिजाई आदिका स्वतन्त्र ही अस्तित्व क्यों न माना जाय? निराकार जीव कर्मवश विभिन्न योनियोंसे होता हुआ मनुष्य-योनिमें आया, इसमें कोई मतभेद नहीं। किंतु अमुक जीवित देहसे ही सब प्रकारके जीवित देह बने, यह कल्पना सर्वथा

निराधार है। कहा जाता है कि 'सम्पूर्ण संसार परिवर्तनका फल है।' किंतु परिवर्तन या गति जड पदार्थका स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकती। व्यवहारमें देखते हैं कि घड़ीमें गतिका परिवर्तन घड़ीका स्वाभाविक धर्म नहीं, बंदूकद्वारा चलनेवाली गोलीकी गति स्वाभाविक नहीं है, घड़ी और गोली पहले गतिहीन थीं, अन्तमें भी गतिहीन होनेवाली हैं। बीचमें किसी चेतनद्वारा ही उनमें गति मिलती है। इस तरह संसारमें तेज, जल, किरण, वायु आदि सभी पदार्थोंमें गति या परिवर्तन किसी चेतनसे ही मिलना चाहिये। घड़ी और गोलीकी गतिके तुल्य ही संसारकी गति भी न पहले थी, न अन्तमें रहेगी। उसे गति देनेवाला चेतन ईश्वर ही है।

'साइंस एण्ड रेलीजन'में प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० जे० एम्० फ्लेमिंगका कहना है कि 'साइंसके स्वाध्यायसे हमें इस प्राकृतिक जगत्में तरकीब, योजना, धारणा और विचार दिखलायी पड़ते हैं। ये बातें इत्तिफाकसे अचानक नहीं आ गयीं। ये विचार चैतन्यकी सूचना देते हैं। यह संसार विना विचारवान्के कभी नहीं बन सकता। महर्षिव्यासने भी उपनिषदोंके आधारपर शारीरक सूत्रमें कहा ही है कि जड प्रकृतिमें ईक्षण नहीं बन सकता, किंतु यह संसार ईक्षणपूर्वक ही हो सकता है— ''ईक्षतेर्नाशब्दम्।'' (ब्रह्मसूत्र १।१।५)

कुछ विकासवादियोंकी कल्पना है कि 'पृथ्वीपर गिरनेवाले तारकाओंके द्वारा जीवनका बीज हमारे यहाँ पहुँचा।' परंतु इसमें शंका यह होती है कि क्या प्रोटोप्लाज्ममें इतनी शक्ति है कि तारिकाओंसे पृथ्वीपर पहुँचनेतक उनमें जीवन अवशिष्ट रह सकता होगा ? दूसरी कल्पना यह है कि 'असंख्य वर्षोंके पहले अनुकूल स्थिति पानेपर जीवनका एकदम प्रादुर्भाव हुआ।' परंतु इसपर विकासवादी ही कहते हैं कि 'जीवनका आरम्भ कब हुआ, कैसे हुआ, इसपर वैज्ञानिकोंको अबतक कुछ ज्ञात नहीं। इससे स्पष्ट है कि 'चैतन्य कैसे बनता है,' यह वैज्ञानिकोंको मालूम नहीं। परंतु उनका विश्वास है कि 'वह है प्राकृतिक,' क्योंकि उनके मतमें चेतन प्रोटोप्लाज्म ही है। प्रोटोप्लाज्म, जो शहदकी भाँति तरल पदार्थ है, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, फॉस्फोरस आदि बारह भौतिक पदार्थोंसे बना है, जो कि जड ही हैं। ये भौतिक पदार्थ 'एलेक्ट्रोन'के न्यूनाधिक मेलसे बनते हैं। एलेक्ट्रोन खण्ड-खण्ड है, अर्थात् ये सब पदार्थ परमाणुओंसे बने हैं, जीव भी प्राकृतिक परमाणुओंसे ही बना है।' हक्सलेके मतानुसार 'चेतन' पदार्थ दीपज्योति अथवा पानीके भँवरके तुल्य नित्य प्रतीत होनेपर भी प्रतिक्षण बदलनेवाली व्यक्तियाँ ही हैं। नये-नये परमाणु मिलते जाते हैं, पुराने अलग होते रहते हैं, यह धारा निरन्तर बहती रहती है' इसलिये ज्ञान एवं चैतन्यका सिलसिला नहीं टूटता।

नवीन विज्ञानके अनुसार 'प्रत्येक परमाणु कई एलेक्ट्रोनोंसे बना होता है। एलेक्ट्रोन एक दूसरेसे चिपकते नहीं, प्रत्युत दूर-दूर रहते हैं। जिस प्रकार तारका-समूह दूर-दूर रहकर भी एक तारापिण्ड या सौर जगत् कहलाता है, उसी प्रकार अनेकों एलेक्ट्रोनोंसे बना हुआ 'ऐटम' भी है। इसी ऐटमसे उपर्युक्त बारह पदार्थ बनते हैं। इन्हीं बारह पदार्थोंसे ज्ञान, चैतन्य या आत्मा बना है। अतः वह भी परिवर्त्तनशील है।' वैज्ञानिकोंके अनुसार परमाणुओंकी गति प्रति सेकेंड एक लाख मील है। यहाँ विचारणीय यह है कि जुदा-जुदा रहकर इतने वेगसे चलनेवाले परमाणु किस प्रकार अपना ज्ञान दूसरे परमाणुमें डालते हैं अथवा किस प्रकार ज्ञान एक परमाणुसे उड़कर दूसरे परमाणुमें जाता है और चैतन्य स्थिर रहता है ? बीसों वर्ष पढ़ानेपर भी विद्यार्थी भूल जाता है, परंतु बिना किसी साधनके दूर-दूर स्थित परमाणु इतने वेगसे दौड़ते हुए अपना ज्ञान दूसरेमें फेंककर चले जाते हैं और दूसरे उस ज्ञानको ले लेते हैं। यह कितनी आश्चर्यजनक और कितनी असंगत बात है ?

दिसम्बर सन् १९२३ के 'चिल्ड्रेन्स न्यूज' पत्रमें प्रो॰ रिचर्ड की 'थर्टी इयर्स आफ साइकिकल रिसर्च' नामक पुस्तकका विज्ञापन छपा है। उसीमें पुस्तकका एक उद्धरण है कि "पचास वर्षपूर्व भौतिक विज्ञानका यही रुख था कि जो बात भौतिक विज्ञानसे सिद्ध न हो, उसका अस्तित्व ही नहीं, वह ढोंग है। किंतु आज ऐसे भी प्रमाण मिल रहे हैं कि भौतिक विज्ञानकी पहुँचके बाहर भी पदार्थोंका अस्तित्व है। ऐसे पदार्थोंको 'साइकिकल' कहते हैं। यह शब्द जीवके लिये व्यवहृत होता है। जीवात्माको अब कोई भी भौतिक नहीं कहता।' डार्विनके सुपुत्र प्रो॰ जार्ज डार्विनने—१६ अगस्त सन् १९०५ को दक्षिण अफ्रीकामें 'ब्रिटिश एशोसियेशन'के प्रधानकी हैसियतसे कहा है कि 'जीवनका रहस्य अब भी उतना ही गूढ़ है जितना कि पहले था।' प्रो॰ गेडिस कहते हैं कि 'कुछ प्रामाणिक विज्ञानवेत्ता, जो जीवके एक लोकसे दूसरे लोकमें आगमनकी कल्पनाको संतोषजनक मानते हैं, ऐसा भी मानते हैं कि जीव प्रकृतिकी भाँति अनादि है।' दूसरे एक विद्वान्का कहना है कि 'चेतनके प्रभाव बिना जड पदार्थोंमें चेतना आ ही नहीं सकती।' विज्ञानका यह नियम पृथ्वीके आकर्षण-नियमके समान अटल प्रतीत होता है। जबसे मनोविज्ञान, मस्तिष्कशास्त्र एवं आत्मविद्याका अन्वेषण हुआ, तबसे जीव-सम्बन्धी सभी शंकाएँ निवृत्त हो गयीं।"

मनोविज्ञानके एक विद्वान्का कहना है कि 'किसी भी जीवनकार्यकी संगति भौतिक नियमोंसे स्पष्ट नहीं होती। आँसू या पसीना निकलनेके नियमोंका भी स्पष्टीकरण अभीतक नहीं हो सका।' मस्तिष्क-शास्त्रके जन्मदाता गॉलका

कहना है कि 'मेरी रायमें एक ही निरवयव वस्तु है, जो देखती, सुनती, स्पर्श करती है; प्रेम, विचार एवं स्मरण करती है; पर अपना कार्य करनेके लिये वह मस्तिष्कमें अनेक भौतिक साधन चाहती है।' इससे वेदान्तके द्रष्टा, स्रष्टा, श्रोता, घ्राता आत्माका ही वर्णन मिलता-जुलता है। आत्मविद्याके प्रसिद्ध पण्डित सर ऑलिवर लॉज लिखते हैं कि 'एक बार आप इस बातको देखें कि अन्तःकरण बड़ी वस्तु है। वह इस मशीन (शरीर) से बाहरकी वस्तु है। ऐसा नहीं कि जब शरीर नष्ट होता है, तब वह अपना अस्तित्व खो देती है। हम जितने दिनोंतक पृथ्वीपर रहते हैं, उतने ही दिनोंके लिये हमारा अस्तित्व परिमित नहीं। हम बिना शरीरके भी रह सकते हैं। हमारा अस्तित्व बना ही रहेगा। मैं ऐसा क्यों कहता हूँ ? इसलिये कि ये सब बातें विज्ञानके आधारपर स्थित हैं। बहुतोंने अभी इसका अनुभव नहीं किया, पर यदि कोई तीस-चालीस वर्षतक अपनी आयु इस विषयमें लगाये, तभी वह यह कह सकनेका अधिकारी होगा कि अब मैं किसी स्थितिमें पहुँचा हूँ।' इन बातोंसे ज्ञात होगा कि जीवका स्वतन्त्र अस्तित्व विज्ञानसम्मत है। अब ईश्वर-नियन्त्रित प्रकृतिसे विकास उसी प्रकार मान्य है, जिस प्रकार कलीसे फूलका विकास होता है। जैसे कलीसे फूल ही होगा, भ्रमर नहीं; बीजसे वृक्ष ही होगा, मूँगा नहीं, वैसे ही ईश्वरीय नियमानुसार पदार्थोंका विकास होगा। यह टी० एच् हक्सलेके 'एनीवर्सरी ऐड्रेस' के इन वाक्योंसे स्पष्ट है कि 'प्रत्येक पशु और वनस्पतिकी सभी जातियोंमें कुछ विशेष प्राणी ऐसे होते हैं, जिनको मैं 'स्थिर आकृति' नाम देता हूँ; उनमें सृष्टिसे लेकर अबतक कोई विकार नहीं हुआ।'

मद्रास हाईकोर्टके जज टी० एल० स्टेजका कहना है कि 'जल-कृमियोंमें बहुत प्रकारके भिन्न-भिन्न रूपवाले जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते हैं। इनके लिये यह आवश्यक नहीं कि वे एक दूसरेसे विकृत होकर उत्पन्न हों, प्रत्युत वे तो एक दूसरेसे अपेक्षारहित होकर एक ही समयमें अलग-अलग आकारके साथ उत्पन्न होते हैं। इससे क्रम-विकासका स्पष्टतया खण्डन हो जाता है। अनुभव भी यही है कि सिरमें मैल जमनेसे जुएँ साक्षात् उत्पन्न होती हैं। वे अनेक अन्य देह धारण करनेके बाद जुएँ नहीं बनतीं। खाटका खटमल मलिनतासे ज्यों-का-त्यों उत्पन्न होता है। मूत्रके कीड़े संसारके समस्त देशोंमें एक ही आकारके उत्पन्न होते हैं।' इन घटनाओंसे सिद्ध होता है कि अमुक आकार प्राप्त करनेके लिये अनेक आकारोंका चक्कर लगाना आवश्यक नहीं। जिस ईश्वरके द्वारा चन्द्र-सूर्य बनते हैं, जिससे अमीबा बनते हैं, उसीसे स्वतन्त्र अन्य शरीर भी बन सकते हैं।

इसीलिये एक आधुनिक वैज्ञानिक अपनी 'प्रिंसिपल्स ऑफ जुआलोजी' (प्राणिविज्ञानके सिद्धान्त) पुस्तकमें लिखता है कि 'पृथ्वीपर उत्पन्न बिना हड्डीके जन्तुओं और मनुष्यादि हड्डीवाले प्राणियोंमें एक समान ही उन्नति देखी जाती है, परंतु इस समानताका यह अर्थ नहीं कि एक प्रकारके प्राणीसे दूसरे प्रकारके प्राणी विकसित हुए हैं । आदिम मत्स्य ही सर्पणशील प्राणियोंका पूर्वज नहीं और न मनुष्य ही अन्य स्तनधारियोंसे विकसित हुआ है । प्राणियोंकी श्रृङ्खला किसी अभौतिक तत्त्वसे सम्बन्ध रखती है, जिसने पृथ्वीपर अनेक प्रकारके प्राणियोंकी सृष्टि करके अन्तमें मनुष्यको बनाया है—'ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः । (श्रीमद्भा० ११ । ९ । २८) इसके अतिरिक्त परमेश्वरका अस्तित्व माननेपर प्रकृतिकी स्वतन्त्रताका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता । फिर तो अनादिसिद्ध जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार उनके सुख-दुःखादि फल-भोगार्थ ही देहका निर्माण अपेक्षित होता है । सुख-दुःखकी न्यूनता-अधिकता देहकी बनावटपर निर्भर है । इस दशामें जिन प्राणियोंको उनके कर्मानुसार जैसा सुख-दुःख देना है, सीधे तदुपयोगी ही शरीरका निर्माण आवश्यक है । व्यर्थ असंख्य शरीरोंमें घुमा-फिराकर जीवको उस सरीरमें लाना परमात्माके लिये उचित नहीं। कर्मफलोंको भोगानेके लिये यदि किसी अपराधीको तीन मासकी कालकोठरीकी सजा देनी है, तो पुलिस उस व्यक्तिको वर्षों इधर-उधरकी हवालातोंमें भटकाती फिरे, यह न्याय नहीं । अतः ईश्वर एवं जीव-तत्त्व मान लेनेपर फिर क्रम-विकासका कोई भी स्थान नहीं रह जाता ।

विकास-सिद्धान्तकी मान्यता है कि 'चेतनकोष्ठसे प्राणी बनता है । इन्हीं चेतनकोष्ठोंसे समस्त प्राणियोंकी रचना हुई । इन सब जीवित प्राणियोंमें तीन सामान्य बातें हैं—(१) सब प्राणियोंके शरीर एक ही सरल पदार्थोंसे बने हैं । पशु-पक्षियोंके शारीरिक तत्त्वोंमें कोई अन्तर नहीं । (२) सब प्राणी अपनी क्षीण शक्ति फिरसे प्राप्त कर लेते हैं । प्रतिदिन काम करके श्रान्त होते हैं, विश्रामके अनन्तर पुनः ताजे हो जाते हैं । (३) यन्त्रोंकी भाँति सुधरते-सुधरते एक शरीरसे अन्य शरीरवाले होते हैं । सब प्राणियोंके आठ स्थान होते हैं—(१) पोषण—बाहरसे पदार्थ लेना, पचाना और सारे शरीरमें पहुँचाना, (२) श्वासोच्छ्वास, (३) मलत्याग, (४) रक्तप्रसार, (५) प्रेरणा, (६) आधारस्थान (जिससे शरीर सधा रहता है), (७) ज्ञानतन्तु (जिससे समस्त शरीरका हाल मालूम होता है) और (८) प्रसव । इस तरह सब प्राणियोंके तत्त्व एक-से हैं और आठ स्थान भी एक-से होते हैं । किंतु ये सब बातें भारतके लिये कोई नयी खोज नहीं हैं । यहाँका एक गँवार भी जानता है कि 'पंच रचित यह अधम सरीरा ।' जो जीते, खाते, काम करते तथा संतति उत्पन्न करते हैं, उनमें

आठ संस्थान होने ही चाहिये। क्या कोई ऐसा भी मूर्ख होगा जो समझेगा कि 'भोजन किया जाता है और मलत्याग न किया जायगा ?' नालेके पानीकी तरह रक्तका बहना, संतति उत्पन्न करना सभी दुनियाँको अवगत है। हाँ, विचारणीय यह है कि जिस प्रकार यन्त्र धीरे-धीरे सुधरता है, क्या उसी प्रकार प्राणी और-से-और हो जाता है। वस्तुतः यन्त्र मनुष्यकी परिमित बुद्धिसे बनता है, उसमें अनुभवके आधारपर कुशलता होती है; इसलिये आरम्भिक और अन्तिम रूपमें अन्तर पड़ जाता है; परंतु सर्वज्ञ परमेश्वरकी बुद्धिकी रचना मनुष्य-बुद्धि-जैसी नहीं हो सकती।

प्राणियोंके कर्मफलभोगार्थ परमेश्वर तदुचित देह बनाते हैं। जिसके जैसे कर्म, उसे वैसा ही सुख-दुःख भोगना पड़ता है। उसके लिये उसी प्रकारका देह-निर्माण आवश्यक है। शरीरका बनाना यदि स्वतन्त्र प्रकृति या जीवके अधीन माना जाय तो यन्त्रका दृष्टान्त ठीक हो सकता है। पर यहाँ तो कर्मानुसार शरीर प्रदान करनेवाला ईश्वर है। अतः यन्त्रका दृष्टान्त व्यर्थ है। विकासवादीका कहना है कि 'वैज्ञानिकोंने अबतक कोई ऐसी रीति आविष्कृत नहीं की, जिससे इन परिवर्तनोंको वे परीक्षणोंद्वारा सिद्ध कर सकें और न उनको अबतक यही ज्ञात हो सका कि इस प्रकारके परिवर्तनके नियम क्या हैं ? वैज्ञानिकोंको परिवर्तनके नियम मालूम नहीं। यह भी मालूम नहीं कि परिवर्तन कैसे होता है ? परिवर्तन होते हुए भी किसीने नहीं देखा। अमुक प्राणीका अमुक प्राणी बन गया, इसे किसीने नहीं देखा। आज किसीको भी बंदरसे मनुष्य बनते नहीं देखा जाता और मनुष्यके बाद मनुष्यसे दूसरा भी कोई प्राणी उत्पन्न होते नहीं दिखायी देता। ऐसी स्थितिमें परिवर्तन सिवा कल्पनाके और कुछ भी सिद्ध नहीं होता। विज्ञानके प्रखर पण्डित भी यही कहते हैं कि 'जीवकी श्रेणियों एवं जातियोंकी उत्पत्तिका रहस्य हमको ज्ञात नहीं।' थॉम्पसनका कहना है कि 'हम नहीं जानते कि 'पृथ्वीपर जीवधारीकी उत्पत्ति कबसे हुई ?' दूसरा एक विद्वान् भी कहता है कि 'इस उजाड़ पृथ्वीपर प्राणीकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह हम नहीं जानते।' कुछ तीसरे लोग डार्विनके ही शब्दोंमें स्वीकार करते हैं कि 'एक जातिसे दूसरी उपजातिकी भिन्नताके नियमोंके सम्बन्धमें हमलोग कुछ नहीं जानते।'

जातिविधान

इसी तरह विकासवादी जातिविभाग-शास्त्रके अनुसार साधर्म्य-वैधर्म्यके अनुसार प्राणिवर्गका वर्गीकरण पृष्ठवंशधारी और पृष्ठवंशविहीनोंके भेदसे करते हैं। जबसे रक्तकी परीक्षाका सिलसिला जारी हुआ, तबसे विकासवादियोंका

वर्ग-विन्यास गलत सिद्ध हो गया। अबतक लोग 'गिनी फाउल' को मुर्गोंकी क़िस्मका समझते थे। पर अब रक्तकी परीक्षासे वह शुतुरमुर्गकी जातिका मालूम होता है। इसी तरह 'विकासवाद' के लेखकने भालूको श्वान-जातिमें लिखा है। परंतु उसके रुधिरकी परीक्षासे वह सील आदिकी भाँति जलजन्तु सिद्ध हो रहा है। इसके अतिरिक्त जब विकासवादी एक ही प्रकारके मूल प्राणीसे समस्त भूमण्डलके प्राणियोंकी उत्पत्ति मानता है, जब सबके संस्थान एक समान गिनता है और एक ही तरीकेसे विकास मानता है, तब इन सबके रुधिरकण एक ही बनावटके क्यों नहीं होते ? किसी जातिके प्राणीका रुधिरकण गोल, किसीका चपटा क्यों होता है ? यह रुधिरका पृथक्त्व सिद्ध करता है कि प्रत्येक जातिका शरीर भिन्न प्रकारके रुधिरकणोंसे बना होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि समस्त जातियाँ एक ही प्रकारके प्राणीसे विकसित नहीं हुईं; प्रत्युत सबकी उत्पत्ति मूलतः अलग-अलग हुई।

तुलनात्मक शरीर-रचना-शास्त्रसे विकासवादकी बहुत ही सामग्री मिलती है। बाह्यरूपमें अत्यन्त भिन्नता होनेपर भी कई प्राणियोंका जातिविभाग इस शास्त्रने एक ही वर्गमें किया है। आन्तरिक रचना-साम्यपर इसका निर्णय होता है। तदनुसार 'चमगादड़, ह्वेल और गौ अनुक्रमसे नभचर, जलचर और भूमिचर होनेपर भी तीनोंका एक ही वर्गमें अन्तर्भाव किया गया है, क्योंकि तीनों ही स्तनधारी हैं। इसके अनुसार अनेक जातिके कुत्तोंमें साधर्म्य-वैधर्म्य दोनों ही मौजूद हैं। साधर्म्यसे सब कुत्ते एक ही वर्गके हैं। वैधर्म्यसे बुलडाग, ताजी और लैंडी आदि अलग-अलग हैं; किंतु हैं सब एक ही पूर्व जन्तुकी संतति। इसी तरह लोमड़ी, सियार और भेड़िया वैषम्यसे अलग हैं। पर मांसभक्षण आदि साम्यसे एक ही पूर्वजन्तुकी संतति प्रतीत होते हैं। बिल्ली और बनबिलाव अलग होते हुए भी एक ही हैं। चीता, व्याघ्र, सिंह अलग-अलग होते हुए भी एक हैं। इन सबका मांसाहारी, स्तनधारी कक्षामें समावेश होता है। इनमें व्याघ्र तथा सिंहके मेलसे और भेड़िये तथा कुत्तेके मेलसे संतति भी होती है। भालू भी मांस-भक्षक प्राणी है। इसकी आन्तर-रचना कुत्ते, बिल्लीकी रचनासे कुछ पृथक् है। पर इसका मेल इन्हींके साथ मिलता है। मांस-भक्षकोंमें बिज्जु, नेवला, ऊदबिलाव अलग-अलग होते हुए भी एक ही प्रकारके हैं। ह्वेल मछली भी मांसभक्षक है। यह जन्तु पहले स्थलचारी था, पर अब इसका पानी ही घर हो गया। इसके पैर कमजोर और नावके चप्पूकी भाँति हो गये। शरीरमें इसके बल भी कम होता है। यह स्तनधारी, मांसभक्षी प्राणी है। स्तनधारियोंमें तीक्ष्ण दाँतवालोंका एक दल चूहा, छुछूँदर, घूस, गिलहरी, शशक और स्याहीका है। ये वस्तुओंको कुतरते हैं। अतः तीक्ष्णदंती कहलाते हैं। इनमें ही उड़न गिलहरी भी है। चमगादड़ भी इसी

जातिका है; किंतु यह उड़नेवाला है। इनके पैरोंकी रचना भूमिचर जानवरोंके अगले पैरोंके तुल्य होती है। विकासवादका यह सबसे उत्तम प्रमाण समझा जाता है। स्तनधारियोंमें गाय, घोड़ा, हाथी, ऊँट, हरिण, गैंडा, सूअर, दरियाई घोड़ा आदि हैं। इनके सूँड़ या खुर होते हैं। इनमें खुरका साधर्म्य है। हाथीकी पाँचों अँगुलियाँ, टापीरके चार, गैंड़के तीन, ऊँटकी दो और घोड़ेकी एक ही होती है। यहाँ अँगुलियोंके क्रमशः ह्राससे विकासका अच्छा प्रमाण मिलता है। आस्ट्रेलियाका कँगारू भी विकासका अच्छा प्रमाण है। इसकी माँदीके पेटमें एक थैली होती है। माता बच्चोंको पैदा करके इसी थैलेमें रख लेती है। इस थैलेमें स्तन होते हैं। बच्चे बड़े होनेपर थैलेसे बाहर निकलते हैं। इसी तरह अमेरिकाका 'ओपोसम' होता है। उसकी भी मादाके पेटमें थैली होती है। इनके सिवा डकविल एवं ईकड्ना दो स्तनधारी जन्तु और भी होते हैं। ये अण्डे देते हैं, परंतु अण्डोंको पेटमें रखनेके लिये इनके भी पेटमें थैली होती है। इस तरह स्तनधारियोंमें देखा गया है कि कई पूर्ण जरायुज, कई कँगारूकी भाँति अर्ध-जरायुज और कई डकविलकी भाँति अण्डज हैं। ये स्तनधारियों एवं अण्डजोंके मध्यवर्ती प्राणी हैं।

'इसी तरह पृष्ठवंशधारियोंकी दूसरी श्रेणीके पक्षी भी कई प्रकारके होते हैं। कोई दाना चुगते हैं, कोई मांस खाते हैं और कोई पानीमें तैरते हैं। परिस्थितिके अनुसार उनके चोंच, पैर और झिल्लीदार पंजोंकी बनावट होती है। आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, न्यूजीलैंड और अमेरिकाका पेग्विन पक्षी भी विकासका एक श्रेष्ठ प्रमाण है। यह जहाँ रहता है, वहाँ दूसरा पक्षी नहीं रहता, इसीलिये इसकी उड़नेकी शक्ति नष्ट हो गयी। यह पानीमें तैरता है। इसके पैर नावके चप्पुओंकी तरह पानी काटनेवाले हो गये। शुतुरमुर्ग और मोरकी भी उड़नेकी शक्ति कम हो गयी, क्योंकि इन्हें किसी पक्षीका डर नहीं। यह परिस्थितिसे प्राप्त विकासके उदाहरण हैं।

'पीठकी हड्डीवालोंमें तीसरी जाति सर्पणशीलोंकी है। इसमें गोह, साँप, अजगर, नाकू, मगरमच्छ एवं कछुआ आदि हैं। गोहकी अनेक जातियाँ हैं, एक जातिकी गोहमें आगेके पैर नहीं होते, दूसरी जातिमें आगे-पीछे चारों पैर नहीं होते। सर्प बिना पैरका होता ही है। ये भी विकासके प्रमाण हैं। पृष्ठ-वंशवालोंकी चौथी जाति है मण्डूकोंकी, यह पैदाइशसे लेकर युवावस्थातक अपनी जीवनीसे सिद्ध कर देता है कि मछलियोंसे उसकी उत्पत्ति हुई है। मछलियोंकी तरह पहले वह गलफड़ोंसे श्वास लेता है, फिर मुखसे। पहले उसके (मछलीकी तरह) पूँछ होती है, फिर वह लुप्त हो जाती है। पाँचवीं श्रेणी मछलियोंकी है। वे हजारों प्रकारकी होती हैं, जिससे विकासके अनुमानकी अधिक सम्भावना

रहती है। इसी तरह अस्थिरहित प्राणियोंके भी शरीरोंसे विकासका अनुमान होता है। ये जोड़ोंसे बने होते हैं। कनखजूरा, बिच्छू, मकड़ी, भौंरा, ततैया आदि इसी विभागके हैं। इनमें भिन्नता होते हुए भी सबके शरीर छोटे-छोटे जोड़ोंसे बने होते हैं। इनसे भी मालूम होता है कि सब एक ही मूल प्राणीसे बने हैं। इनके आगे अत्यन्त सूक्ष्म हैड्रा, अमीवा आदि प्राणी हैं। इनके भी पोषण, श्वासोच्छ्वास आदि आठों संस्थान हैं। इस तरह सब प्राणियोंमें वैधर्म्य होते हुए भी वे साधर्म्यसे रहित नहीं हैं। क्रमसे रखनेपर पहले अमीवा, हैड्रा, कनखजूरे आदि जोड़वाले कीड़े, फिर हड्डीवाली मछलियाँ, फिर मण्डूक, फिर सर्प, फिर पक्षी और अन्तमें स्तनधारियोंका स्थान ठहरता है। विकाससे इनकी आकृतिमें भिन्नता है। जैसे नये यन्त्रके बन जानेपर पुराने यन्त्र अलग हो जाते हैं, वैसे ही योग्य प्राणियोंके उत्पन्न हो जानेपर अयोग्य जातियाँ पीछे रह जाती हैं। पिछली जातियोंके अवशिष्ट अवयव इस बातकी साक्षी दे रहे हैं। मनुष्य भी स्तनधारी जन्तुओंकी श्रेणीमें है। वनमानुष, बंदर, लीमर आदि जातियाँ इसी श्रेणीकी हैं, अतः इनकी उत्पत्ति विकासवादके अनुसार ही है।'

यद्यपि आन्तर-रचनाका मिलान ठीक है, फिर भी इनकी श्रेणियाँ बाह्य रूपसे ही निर्धारित की गयी हैं। स्तनोंको देखकर स्तनधारियोंकी श्रेणीका निर्णय किया है। मांस खाना, जीभसे पानी पीना, मैथुनके समय बँध जाना, पसीना न आना, अँधेरेमें भी देखना आदि सब बाहरी लक्षण हैं। इसी तरह दाँत देखकर तीक्ष्ण-दन्तवालोंकी श्रेणी बनी। इस तरह सभी विभाग प्रायः बाह्य भेदपर ही निर्भर हैं, अतः आन्तरिक रचनापर वर्ग-विभागका अहंकार व्यर्थ है। ह्वेल, चमगादड़ और गायके स्तनोंको देखकर ही सबको एक श्रेणीमें रक्खा गया है। जहाँ इनकी बाह्य आकृतिसे काम नहीं लिया, वहीं भूल हुई। भालू और गिनी फाउलको एक मानना भूल है। उस भूलको अब रुधिर-शास्त्र सुधार रहा है, अतः केवल आन्तर रचनापर उपर्युक्त विभागकी बात असङ्गत है। शरीरके अंदर हड्डियाँ, नस-नाड़ियाँ, यकृत्-प्लीहा, गर्भाशय आदि अनेक यन्त्र हैं। पर ये क्या अस्थिहीन कीड़ोंमें भी हैं? कुत्ते और गायके पानी पीनेके ढंगमें भेद है। कुत्ता जीभसे और गाय घूँटसे पानी पीती है, फिर भी दोनों स्तनधारी हैं। अतः आन्तर-रचना जटिल है, उसके आधारपर वर्गभेद नहीं बन सकता। अमीवासे स्तनधारियोंतककी रचनामें साम्यका पक्ष भी गलत है। यत्किंचित् साम्य तो पाञ्चभौतिक होनेसे सबमें ही है। अस्थियुक्त और अस्थिहीन प्राणियोंकी कुछ भी समानता नहीं है। यकृत्, प्लीहा, गर्भाशयादि एकमें हैं, दूसरेमें नहीं। अस्थिहीनोंमें अस्थियाँ कैसे हुईं, इसपर भी विकासवादी चकरा जाते हैं।

इसपर उनकी चार कल्पनाएँ हैं—(१) प्राणियोंकी मानसिक प्रेरणासे अस्थियाँ बनीं, (२) कठोर काम करते-करते जैसे मनुष्योंके शरीरमें घट्ठे पड़ जाते हैं, वैसे ही श्रम करनेसे प्राणियोंके देहमें अस्थियाँ बन गयीं, (३) जब चूनेके अधिकांश भागवाले पदार्थ खाये गये, तब हड्डियाँ पैदा हुई और (४) शरीरके अंदर नस, नाड़ी आदि अवयव ही हड्डियाँ बन गये। परंतु ये चारों पक्ष असंगत हैं। मनका असर उसीपर पड़ता है, जिसका मनसे सम्बन्ध हो। अस्थिका मनसे कोई सम्बन्ध नहीं। दाँतपर सुई चुभानेसे मनपर कुछ भी असर नहीं पड़ता। अतः 'मानसिक प्रेरणासे अस्थियाँ बनीं,' यह नहीं कहा जा सकता। यों तो सम्पूर्ण संसार ही मनकी कल्पना है, फिर अस्थि ही क्यों? घट्ठोंका दृष्टान्त भी ठीक नहीं; क्योंकि बाहरी वस्तुके संघर्षसे बाहरी ही कठोरता आती है। बाह्य संघर्षसे शरीरके अंदर हड्डियाँ कैसे बनेंगी? चूनेवाले भोजनसे भी हड्डियाँ नहीं बन सकतीं। सभी जानते हैं कि 'खूनसे हड्डियाँ पैदा होती हैं,' परंतु लाखों जूँ, चमड़े, कीलनें, खटमल मनुष्यों, पशुओंके खून पीते हैं; जोंकें खून पीती हैं; परंतु उनमें हड्डी नहीं बनी। चीटियाँ हड्डियोंको चुनकर खाती हैं, उनमें भी हड्डी पैदा नहीं हुई। 'नस-नाड़ियाँ हड्डी बन जाती हैं' यह भी बात युक्तिहीन है। बच्चोंके मुखमें पहले दाँत नहीं होते, कुछ दिन बाद दाँत निकल आते हैं। यदि नस-नाड़ियोंका दाँत बन जाना मानें तो उधर थोड़े ही दिनोंमें वे दाँत गिर जाते हैं। गिरते समय नस-नाड़ियोंसे उनका कोई लगाव प्रतीत नहीं होता। कुछ दिनों बाद फिर नये दाँत निकलते हैं, यदि पहली नस-नाड़ियाँ चली गयीं तो यह दूसरी कहाँसे आयीं? वृद्ध होनेपर वे दाँत भी चले जाते हैं, तब भी किसी नस-नाड़ीका लगाव मालूम नहीं होता। डाक्टर भी दाँत निकाल देते हैं, पर उनके साथ नस आदि कोई चीज नहीं निकलती। दाँत तो कीलोंकी तरह गड़े होते हैं, शरीर या किसी दूसरे अङ्गसे उनका वास्ता नहीं प्रतीत होता।

इसी तरह भीतरका सारा अस्थिपञ्जर अलग ही प्रतीत होता है, उसका वास्ता नस-नाड़ी, मांस, त्वचा किसीसे नहीं। फिर ऐसी निराली वस्तुको अस्थिहीन प्राणियोंने कैसे प्राप्त किया? विकासवादी कहते हैं कि 'परिस्थितियोंसे ही हड्डियाँ उत्पन्न हुई; परंतु परिस्थिति भी हड्डी बनानेमें असमर्थ है। भाई-बहन दोनों एक ही परिस्थितिमें उत्पन्न होते और बढ़ते हैं। पर बहनके मुखपर दाढ़ी-मूँछका नाम भी नहीं होता। हाथी-हथिनी दोनों एक स्थितिमें उत्पन्न होते हैं, परंतु हथिनीके मुँहमें बड़े दाँत नहीं होते। मयूर-मयूरी, मुर्गा-मुर्गी समान परिस्थितिमें पैदा होते हैं; पर मादाके वे सुन्दर पंख और कलँगी नहीं होतीं, जो नरमें होती हैं। क्या यहाँ परिस्थितिमें कोई अन्तर सिद्ध हो सकता है? फिर कैसे किसीमें हड्डी हो और अन्यमें न हो? 'सुश्रुत' आदि आयुर्वेद

ग्रन्थोंसे माळूम होता है कि 'दो स्त्रियोंके परस्पर मैथुन करनेसे यदि किसीके गर्भमें बीज चला गया, तो उस गर्भसे अस्थिविहीन शिशु उत्पन्न होता है।' इसी तरह 'कोई ऋतुस्नाता स्त्री यदि स्वप्नमें मैथुन करे तो वायुद्वारा आर्त्तव खिंचकर गर्भमें धारित होता है। वही अस्थिहीन मांस-पिण्डके रूपमें उत्पन्न होता है। केश-श्मश्रु, लोम, नख-दन्त, शिर-धमनी, स्नायु, शुक्र—ये सब पितृज गुण होते हैं। इसी कारण स्त्रीको दाढ़ी-मूँछ, मयूरीको पूँछ, मुर्गीको कलँगी और हथिनीके दाँत नहीं होते। पुरुषमें क्यों ये कठिन पदार्थ होते हैं और स्त्रीमें क्यों नहीं हाते? अमीवामें कौन स्त्री है एवं कौन पुरुष, किस प्रकार उसका वंश चला, फिर नर-मादा-भेद कैसे हुआ, अस्थिहीन और अस्थियुक्त यह भेद कैसे हुआ? इनका विकासवादमें कोई भी यथार्थ उत्तर नहीं। अतः शरीर-तुलनाकी दृष्टिसे अस्थिहीनोंका अस्थिवालोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं। कहा जाता है कि 'एक कोष्ठवाला अमीवा दो कोष्ठवाला हैड्रा बन गया, क्योंकि विकास-सिद्धान्तानुसार कोष्ठ हमेशा दुगुने परिणाममें बढ़ता है अर्थात् एकके दो, दोके चार, चारके आठ और आठके सोलह हो जाते हैं।' इसके अनुसार प्रत्येक उत्तरोत्तर योनियाँ आकार और वजनमें पूर्वकी अपेक्षा दूनी, चौगुनी, अठगुनी होनी चाहिये। पर ऐसा देखनेमें नहीं आता। स्थिति तो यह है कि अमीवा हर जगहसे अपने अंदर छेद कर लेता है। इससे वह एक कोष्ठका भी नहीं प्रतीत होता। यदि एक कोष्ठ हर जगहसे फटता है तो उसका चेतन-रस—प्रोटोप्लाज्म—बह जाना चाहिये, किंतु ऐसा नहीं होता। इस तरह अमीवासे लेकर जोड़वालोंतक और जोड़वालोंसे लेकर अस्थिवालोंतक कोई भी तुलना नहीं। स्तनोंका विज्ञान क्या है, यह भी विचारणीय है। ये स्तन नरोंमें क्यों नहीं होते, इसका कोई उत्तर नहीं। अमीवाके भी आकार-प्रकारका ज्ञान वैज्ञानिकोंको नहीं। वह एक कोष्ठवाला है या अनेक कोष्ठवाला और कोष्ठका क्या विज्ञान है, उसमें नर-मादेका क्या विज्ञान है, इन कोष्ठोंसे उत्तर योनियोंका किस प्रकार विकास होता है, यह भी विकासवादी सिद्ध नहीं कर पाते। जोड़वालों और अस्थिवालोंके बीचमें भी कोई प्राणी है या नहीं; इसे भी वे नहीं जानते। अस्थिकी उत्पत्ति विकासद्वारा असम्भव है, यह बतलाया जा चुका है। घोड़ेमें स्तनोंका अभाव क्यों, यह भी विचारणीय ही है। इस तरह शरीर-तुलना-शास्त्रसे विकास सिद्ध नहीं होता।

परिस्थितिवश प्राणियोंके अङ्गोंका ह्रास-विकास कहा जाता है। 'ओपोसम, डकबिल, पेङ्गिन, मोर, ह्वेल, शुतुरमुर्गके शरीरोंमें ऐसे चिह्न पाये जाते हैं, जिनसे परिस्थितिवश शरीरोंमें ह्रास-विकास सिद्ध होता है।' परंतु 'उक्त प्राणियोंके अङ्गोंमें ह्रास-विकास हुआ' यह, विकासवादी किस प्रमाणसे कहते हैं? यह

कहना कहीं अधिक प्रामाणिक है कि उन-उन प्राणियोंके कर्मानुसार सुख-दुःख-भोगार्थ परमेश्वरने ही उन्हें वैसे-वैसे अङ्ग दिये। 'ह्वेलके पैर कमजोर हो गये; मोर, शुतुरमुर्गके पंख कमजोर हो गये; परंतु यदि इससे पहले कभी वे जोरदार पैरवाले और पंखवाले देखे गये होते तो कुछ कल्पना भी हो सकती थी। जब पानीमें तैरनेका काम देते हैं, तब इस कल्पनामें क्या प्रमाण है कि 'पहले वह स्थलचारी था, अब पानीमें रहनेसे पैर कमजोर हो गये?' इसी तरह मोर, शुतुरमुर्ग हैं। वे डील-डौलमें बड़े हैं, इनको पक्षियोंसे डर नहीं। फिर भी स्थलचारियोंसे बचनेके लिये उनके पंख हैं; अतः 'परिस्थितिके कारण पैर कमजोर हैं।' यह भी कहना व्यर्थ है। आज भी कुत्ता मोरको नोच डालता है, फिर यह कैसे समझ लिया कि 'उसका कोई शत्रु नहीं है, उड़नेका काम न पड़नेसे पंख कमजोर हो गये?' 'पक्षियोंसे स्तनधारी बने' यह कल्पना भी व्यर्थ है। जब उड़नेकी अधूरी विमान-विद्यासे भी मनुष्य प्रसन्न है, तब पंख पाकर भी पक्षी उड़न-विद्याको क्यों छोड़ेंगे? 'पक्षियोंका कोई शत्रु नहीं' क्या ऐसा कोई समझदार व्यक्ति कह सकता है? यदि आज भी पक्षियोंके शत्रु हैं ही, तो वे अपने पंखोंको बर्बाद कर पशु क्यों बन गये? परिस्थितिसे न अङ्ग लुप्त होते हैं और न तो नये उत्पन्न होते हैं। यदि परिस्थिति ही सब कुछ थी तो हथिनीको दाँत क्यों नहीं हुए? हथिनी और हाथी दोनों समान स्थितिमें थे ही। वस्तुतः प्राणियोंके जाति, आयु और भोग उनके कर्मानुसार ईश्वरद्वारा ही प्राप्त होते हैं।

'भिन्न जातियोंके मिश्रणसे वंश चलता है' यह पक्ष भी गलत है। अनेकों जातियोंका परस्पर मैथुन व्यर्थ होता है। कुछसे संतानें उत्पन्न होती हैं, पर वंश नहीं चलता। जिनमें वंश चलता है, वे अत्यन्त भिन्न जातिके नहीं; अपितु समान जातिके ही होते हैं। सिंह-व्याघ्र एवं कुत्ते-भेड़ियेके मेलसे संतानोत्पत्ति यद्यपि होती है तो भी उनका आगे वंश नहीं चलता। देखते हैं कि घोड़े-गदहेसे खच्चर उत्पन्न होते हैं; परंतु उनसे वंश नहीं चलता। यही स्थिति कलमी आम, पेवंदी बैरकी भी है। यदि कलमी आमसे वृक्ष पैदा हुए या सिंह-व्याघ्रके मेलसे वंश चला तो भी आगे चलकर वे मूलजातिके रूपमें ही हो जाते हैं, धीरे-धीरे या तो व्याघ्र या सिंहकी ही शकलमें हो जाते हैं। कलमी आम भी छोटा होते-होते तुख्मी आमके ही आकारका हो जाता है। विकाससे अलग जाति उत्पन्न हो सकती है, परंतु वंश नहीं चलता। बच्चा तो दो स्त्रियोंके अन्योन्य मैथुनसे भी उत्पन्न होता है; परंतु उसमें हड्डी नहीं होती, वंश नहीं चलता। अमेरिकामें विद्वान् लूथर बैंकने बहुतसे वृक्षोंकी कलमोंसे अनेक प्रकारके फल-फूल उत्पन्न किये हैं। यहाँ भी सजातीय मिश्रणसे ही संततिका सिद्धान्त स्थिर है। समान जाति और समान

भोगवालोंके ही सम्बन्धसे संतान उत्पन्न होती है और वंश चलता है। अतएव मांस खानेवालों और घास खानेवालोंके सम्बन्धसे भी वंश नहीं चलता।

प्रायः जाति, आयु, भोगके साथ ही प्रसवका सम्बन्ध रहता है। भोगोंके सम्बन्धमें परिस्थितिवादी कह सकता है कि 'अमुक जातिको जब जीनेके लिये खुराक न मिली, तब वह मांस खाने लगी।' परंतु प्रत्येक जातिकी नियत आयुका क्या कारण है, यह विकासवादी नहीं बतला सकता। मनुष्य, बंदर, गाय, बकरी, ऊँट, गधा और छोटे कीड़ोंकी आयुका महान् अन्तर है। मनुष्यके समान ही उससे भी बलवान् पशुओंकी सौ वर्षकी आयु क्यों नहीं, इसका उत्तर भी विकासवादसे बाहर है। विकासवादके अनुसार पृष्ठवंशधारी प्राणियोंमें कच्छप एवं सर्प भी सर्पणशीलोंकी श्रेणीमें हैं। आयुष् शास्त्रियोंके मतानुसार कछुवा १५० वर्ष जीता है और सर्प १२० वर्ष जीता है। विकासवादके अनुसार सर्पणशील प्राणी ही पक्षी बने हैं; परंतु पक्षियोंमें कबूतर ८ ही वर्ष जीता है। पक्षियोंका विकास स्तनधारी प्राणी है, उनमें शशक ८ वर्ष, कुत्ता १४ वर्ष, घोड़ा ३२ वर्ष, बंदर २१ और मनुष्य १०० वर्ष जीता है। यहाँ स्पष्ट ही विकासमें आयुका ह्रास हो रहा है। दीर्घायु कच्छप एवं सर्पको पराजित करनेवाला कबूतर ८ ही वर्ष जीता है। इससे भी योग्य प्राणी शशक, कुत्ता, घोड़ा भी क्रमशः ८, १४ और ३२ ही वर्ष जीते हैं। मनुष्योंका जिसे पूर्वज कहा जाता है, उस बंदरकी आयु २१ वर्ष ही है। मनुष्य भी तो कच्छप एवं सर्पसे कम ही जीता है। विकासवादका कहना है कि 'जीवन संग्राममें योग्य ही रह जाता है, उसीसे नवीन जातियोंका प्रादुर्भाव होता है, परंतु जीनेके लिये संग्राम करके विकसित होकर और योग्यता प्राप्त करके भी प्राणी उलटे मृत्युके अधिक निकट पहुँच गये। जो पहिलेके और सरलरचनाके हैं, वे अधिक जीते हैं तथा जो क्लिष्ट रचनाके हैं और बादके हैं, वे कम जीते हैं। यह क्या मशीनोंका सुधार है कि जो पहली १२० या १५० वर्षकी थी, वही सुधरी हुई मशीन ८ ही वर्ष टिकने लगी। यह अच्छा यान्त्रिक विकास है!

शतमायुर्मनुष्याणां गजानां परमं स्मृतम्।
चतुस्त्रिंशत्तु वर्षाणामश्वस्यायुः परं स्मृतम्॥
पञ्चविंशति वर्षाणि परमायुर्वृषोष्ट्रयोः।

यह भी स्पष्ट है कि एक मिनटमें शशक ३८, कबूतर ३६, वानर ३२, कुत्ता २९, बकरी २४, बिल्ली २५, घोड़ा १९, मनुष्य १३, हाथी १२, सर्प ८ और कछुआ ५ बार श्वास लेता है। यह भी विचारणीय है कि 'अभिनवतम मशीन बन जानेपर पुरानी मशीनोंका बनना बंद हो जाता है।' परंतु यहाँ तो मनुष्यके विकसित हो जानेपर भी पुराने कीड़े-मकोड़ोंके बननेमें किंचिन्मात्र भी कमी नहीं

हुई। मनुष्योंसे करोड़ों गुने अधिक गिजाई, मच्छर, मकोड़े तथा जलजन्तु हैं। सर्पणशील जन्तु तो पक्षी हो गये; परंतु जोड़वाले कीड़ों, भौंरों, ततैया, मक्खी आदिके पंख किस तरह हो गये ? उड़नेवाली मछलियोंको पंख किस तरह पैदा हो गये ? इनसे पक्षियोंके शरीरकी तुलना कैसे होगी ? कृमियों, मछलियोंके साथ पक्षियोंका सम्बन्ध कैसे हुआ ? क्या कोई पक्षी इन पंखधारी कीड़ों एवं मछलियोंसे वंश चलायेगा ? क्या बंदर और मनुष्यसे वंश स्थापित होगा ?

यह तो हो सकता है कि पहले सादी रचनावाले प्राणी बने हों और बादमें क्लिष्ट रचनावाले प्राणी; किंतु सादी रचनावाले ही क्लिष्ट रचनावाले हो जाते हैं, यह कहना निष्प्रमाण है। वैसे तो कीटावस्थामें भी उड़नेवाले कीड़ों और मछलियोंकी पक्षियों-जैसी क्लिष्ट रचना देखी जाती है। कनखजूरे-सरीखी क्लिष्ट रचना साँपकी नहीं होती, तितलियोंकी-सी कारीगरी कौओंमे नहीं पायी जाती; परंतु विकासवादके अनुसार तितली- और कनखजूरा कौवे तथा साँपसे पहले ही उत्पन्न हो गये। ऐसी स्थितिमें सादी और क्लिष्ट रचनाका कुछ भी मूल्य नहीं रहता। यदि विकासवाद तितलीकी रचनाको क्लिष्ट रचना न माने, केवल अस्थिवाले प्राणियोंकी ही रचनाको क्लिष्ट रचना कहे तो यह भी निराधार है। देखनेमें तो अस्थिवाले प्राणियोंसे वृक्षोंकी ही रचना अधिक क्लिष्ट है। विचित्र पत्रों, पुष्पों, स्तबकों, फलोंकी सुन्दरता, सरसता, मधुरता अस्थिवाले उष्ट्रमें कहाँ है ? मनुष्यका शरीर भी वृक्षोंकी शाखाओं, उपशाखाओं, पल्लवों, पुष्पों, फलोंकी विचित्रताके सामने नगण्य है। एक फूलके रंग, बनावट और सुगंधके सामने मनुष्य-रचनाका कोई महत्त्व नहीं; परंतु पशुओं, पक्षियों-जैसी स्वतन्त्रता और मनुष्य-जैसा ज्ञान वृक्षोंमें नहीं है। इसीलिये वे सादी रचनावाले समझे जा सकते हैं। कर्मानुसार प्राणी ही भोग्य और भोक्ता होता है। सादी रचनावाले भोग्य और क्लिष्ट रचनावाले भोक्ता होते हैं। वनस्पति यदि भागनेमें स्वतन्त्र हो तो पशु कैसे जी सकते हैं ? घोड़ा यदि मनुष्यसे अधिक बुद्धिमान् हो तो वह सवारीके काम कैसे आ सकता है ? इस व्यवस्थाके अनुसार पहले वनस्पति फिर पशु उत्पन्न होते हैं। पशुओंमें ही हाथीसे लेकर कृमिपर्यन्त आ जाते हैं, अन्तमें मनुष्यकी उत्पत्ति हुई। यह सिद्धान्त अति प्राचीन है और वेदों, उपनिषदों आदिद्वारा स्वीकृत है—भगवान्‌ने अपनी अजा-मायाशक्तिके द्वारा विविध प्रकारके वृक्ष, सरीसृप, पशु, खग, दंश, मत्स्य आदि शरीररूपी पुरोंको बनाया तो भी उनसे संतुष्ट न हुए। फिर ब्रह्मज्ञान-सम्पादनयोग्य मनुष्यको बनाकर संतुष्ट हुए।

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।

तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः ॥
(भागवत ११ । ९ । २८)

कहा जाता है कि संसारमें जितने प्राणी मिलते हैं, सब अनादि नहीं हैं। पहले सीधी-सादी रचना हुई, पश्चात् क्लिष्ट रचनावाले प्राणी बने। भारतमें व्याघ्र, सिंह होते हैं, इंगलैंडमें नहीं होते। साँप, बिच्छू आदि उष्ण-प्रदेशोंमें होते हैं, यूरोपके शीत-प्रदेशमें नहीं होते। जिराफ़ अफ्रीकामें और मोर भारतमें ही होते हैं। जैसी भिन्नता पशु-पक्षियों, वनस्पतियोंमें होती है, वैसी ही मनुष्योंमें भी होती है। आस्ट्रेलियामें यूरोपियनोंके जानेके पहले खरगोश नहीं थे, बादमें जहाजसे पहुँचाये जानेपर वहाँ खरगोशोंकी बहुतायत होती गयी। गेलापेगस द्वीप विचित्र प्राणियोंके लिये प्रसिद्ध है। वहाँ गोह, गिरगिट, छिपकली, सर्प तथा पक्षी-श्रेणीके जन्तु बहुत हैं। इस प्रकारके जन्तु अफ्रीका, भारत, अमेरिकामें भी विद्यमान हैं; परंतु सबकी अपेक्षा अमेरिकाके प्राणियोंके साथ गेलापेगसवाले प्राणियोंका अधिक मेल है। ये अमेरिका-निवासियोंके वंशज हैं। अमेरिका इस द्वीपके समीप है, इससे मालूम होता है कि कभी पूर्वमें जब अमेरिका और इस द्वीपकी भूमि मिली रही होगी, तब अमेरिकासे प्राणी जाकर वहाँ रहने लगे होंगे। एक द्वीपसे दूसरे द्वीपमें, दूसरेसे तीसरेमें बसे। परिस्थितियोंके कारण कुछ भिन्नता हो जाती है। वस्तुतः वे सब एक ही पूर्वजोंकी संतति हैं। अफ्रीकाके समीप स्थित नर्स द्वीपके प्राणियोंकी अफ्रीकाके प्राणियोंके साथ बहुत कुछ तुल्यता है। प्रशान्त महासागर (पैसेफिक) के द्वीपोंमें घोंघोंकी अनेक जातियाँ हैं। भूगर्भशास्त्री यह बतलाते हैं कि 'पूर्वकालमें इन द्वीप-समूहोंकी भूमि एकमें जुड़ी थी। अर्थात् यह पहले महाद्वीप था, इसीसे सब घोंघोंका मेल है। सब एक ही पिताकी संतति हैं।'

किन्हीं दो देशोंके प्राणियोंकी भिन्नता और समानता दोनों प्रदेशोंकी दूरता और निकटतापर अवलम्बित है। दूर होनेसे भिन्नता होगी, समीपसे समता होगी; किंतु कभी-कभी दूरस्थ प्राणियोंमें बहुत अधिक समानता होती है। जैसे ब्रिटेन और जापानमें बहुत अन्तर होनेपर भी इन देशोंके प्राणियोंमें बहुत समानता है। आट्रेलिया, न्यूजीलैंड बहुत पास-पास हैं; परंतु वहाँके प्राणियोंमें बहुत बड़ा वैषम्य है। अतः इनकी भेदक प्रकृति ही है। यदि दो नजदीकके स्थानोंको कोई पहाड़ जुदा करे तो एक जगहके नदी-नालेवाली मछलियाँ जैसी होंगी, उसी तरहकी दूसरी जगहवाली नहीं होंगी; क्योंकि मछलियाँ पहाड़ लाँघकर नहीं जा सकतीं। इसीलिये समीप होते हुए भी उन जीवोंमें एक-रूपता नहीं होती। दूर-देश होनेपर भी यदि गमनागमन रहे तो समता अधिक

रहती है। ऐसे प्रमाणोंको देखकर विकासवादी कहते हैं कि 'सब प्रकारके जीवित प्राणी एक ही जातिके आद्यवंशजोंसे उत्पन्न हुए हैं। इनके भिन्न-भिन्न रूप परिस्थितियोंके अनुरूप बनते हैं।'

परंतु उपर्युक्त बातें विकासवादके लिये भयंकर हैं। जब प्रकृति हर जगह मौजूद है, हर जगहके लिये जलवायु अनुकूल है, तब वहाँ अमीवा पैदा होकर कोई नयी जाति क्यों नहीं बना डालता? क्यों पुरानी ही सृष्टिके प्राणियोंमें विकासवादकी स्वच्छन्द प्रकृति मत्था मार रही है? भिन्न देशोंके प्राणियोंकी समता सबके एक ही वंशके होनेकी सूचना देती है। परंतु यदि भिन्न देशोंके प्राणियोंकी समता इस तरह की जाय कि बिल्ली और कुत्ता स्तनधारी एवं मांसभक्षी हैं, अतः एक देशकी बिल्ली और दूसरे देशके कुत्तेको देखकर कह दिया जाय कि दोनों ही प्राणी एक ही पिताकी संतान हैं, तो क्या ठीक होगा? किंतु यदि बुल्डॉग, ताजी आदि कुत्तोंको देखकर कहा जाय कि 'एक ही पिताके पुत्र हैं', तो सत्य होगा। अतः केवल रचना देखकर ही एक होनेका अनुमान नहीं किया जाना चाहिये। प्रत्युत समान प्रसव, समान भोग एवं समान आयुका मेल मिलनेसे ही दोनोंके एक पिताके संतान होनेका निर्णय किया जा सकता है।

कहा जाता है कि डार्विनको टेरोडेल्फिगोमें जब खर्वाकार मनुष्य दिखलायी पड़े, तब वह विश्वास ही न कर सका कि ये भी मनुष्य ही हैं। जब उसने गोरिल्ला और शिंपेंजी आदि वनमानुषोंको देखा, तब चिल्ला उठा कि 'ये भी एक प्रकारके मनुष्य ही हैं।' डार्विनके इस भ्रमका कारण यही था कि उसने केवल आकृतिसाम्यपर ही विश्वास किया; किंतु उस सृष्टि-नियममें समान-प्रसवका नियम आवश्यक है। तदनुसार खर्वाकार-दीर्घाकार मनुष्योंके संयोगसे संतति होती है; परंतु मनुष्यों और वनमानुषोंके योगसे संतति नहीं होती। अतः पहले दोनों एक जातिके हैं और दूसरे भिन्न जातिके। इसीलिये यद्यपि घोड़े और गधेमें मनुष्यों और वनमानुषोंकी अपेक्षा अधिक समानता है, फिर भी खच्चरकी वंश-परम्परा नहीं चलती। अतः घोड़े-गधे एक जातिके नहीं हैं। यह तो एक आस्तिकको स्वीकृत हो सकता है कि एक ही जगह सृष्टि हुई और वहाँसे सब जगह जा-जाकर प्राणी आबाद हुए; परंतु 'सब अमीवाका ही विकास है' यह सिद्धान्त सर्वथा असंगत है। जैसे विभिन्न वनस्पतियोंके बीज पृथक्-पृथक् होते हैं, वैसे ही सब प्राणियोंके बीज भी पृथक् ही थे। समानताका कारण दूरता एवं निकटता नहीं; किंतु वंश और परिस्थिति ही कारण है।

परिस्थितिके कारण ही बुल्डॉग, ताजी आदि कुत्तोंमें भेद होता है। परंतु

परिस्थितिवश साँप ऊँट नहीं हो जाता। यदि एक ही प्राणीका यन्त्रोंकी तरह अनेक योनियोंमें विभाग माना जाय तो अनेक आपत्तियाँ होंगी।

१—एक कोष्ठके अमीवामें स्त्री और पुरुष यह भेद कैसे हुआ?

२—यदि अमीवाके बाद दो कोष्ठका हाइड्रा हुआ, तो क्रमसे उत्तरोत्तर सभी योनियाँ दुगुने परिमाणसे बढ़नी चाहिये अर्थात् वजन और आकार आदि उत्तरोत्तर दुगुने होने चाहिये। फिर तो मनुष्यको हाथी, ऊँट आदिसे कई गुना बड़ा होना चाहिये। पंखधारी प्राणी सर्पणशील प्राणियोंके बाद होता है, फिर तितली आदि कृमि पंखधारी कैसे हो गये? अस्थियोंकी उत्पत्ति कैसे हुई? अस्थिहीनोंसे अस्थिवालोंकी उत्पत्ति कैसे हुई? जब पक्षी, जल-जन्तु एवं कीड़ेतक मांसाहारी होते हैं, तब मांसाहारियोंका समावेश स्तनधारियोंमें ही क्यों किया गया? एक ही परिस्थितिमें उत्पन्न होनेपर भी स्त्रियोंको दाढ़ी-मूँछ क्यों नहीं? मयूरीको लंबी पूँछ क्यों नहीं? मुर्गीके सिरपर कलँगी क्यों नहीं और हथिनीको बड़े दाँत क्यों नहीं? प्राणियोंके दाँतोंकी संख्यामें न्यूनाधिकता क्यों? घास खानेवाले स्तनधारियोंमें गाय, भैंसके ऊपरी दाँत क्यों नहीं? घोड़ेके ऊपरी दाँत भी क्यों होते हैं? कुत्तेके दूधके दाँत क्यों नहीं गिरते? घोड़ेके स्तन क्यों नहीं होते? बैलके स्तन अंडकोषोंके पास क्यों होते हैं? पुरुषोंमें स्तनोंका क्या प्रयोजन है? घोड़ेके पैरमें परोंके चिह्न क्यों हैं? बच्चा पैदा होते समय घोड़ीकी जीभ क्यों गिर जाती है और दूसरे जानवरोंकी जीभ क्यों नहीं गिरती? स्त्री जाति अस्थियाँ क्यों नहीं उत्पन्न कर सकती? यदि यन्त्रके सिद्धान्तपर प्राणियोंका विकास हुआ है तो कछुए और साँपकी अपेक्षा पक्षी और स्तनधारी क्यों कम जीते हैं? अधिक जीनेवालोंका कम जीनेवालोंसे गर्भवास कम क्यों है? अतः परिस्थितिसे ही प्राणी एक जातिसे अन्य जातिका नहीं हो जाता। कोई प्राणी अपनी मूलजातिसे इतनी दूर नहीं हो सकता जहाँ समान-प्रसव, समान-भोग, समान-आयुका सिलसिला भी बंद हो जाय। स्त्री-पुरुषकी बनावट भी परिस्थितिके सिद्धान्तका खण्डन करती है। आयुके सिद्धान्तसे ही यान्त्रिक सिद्धान्त खण्डित होता है।

लुप्त-जन्तु

यह भी कहा जाता है कि 'पृथ्वीकी तहोंमें लुप्त हुए पाषाणमय प्राणियोंकी खोजसे भी विकास सिद्ध होता है। प्राणियोंकी श्रृङ्खलाकी कुछ कड़ियाँ नहीं मिलतीं क्योंकि वे आज लुप्त हो चुकी हैं। 'लुप्त-जन्तु-शास्त्र' से वर्तमानकालमें अविद्यमान लुप्त जन्तुओंका पता लगाया जाता है। एल० म्यूजियममें घोड़ेकी, साउथ कैनिंसगटनमें हाथी-दाँतोंकी, ब्रूसेल्समें इग्वेनोडसकी और क्रिस्टल् पैलेस, न्यूयार्क, लन्डन, जेयनामें अन्य प्राणियोंकी पाषाणीभूत

प्राप्त अस्थियाँ एकत्र की गयी हैं । घोड़ेकी समस्त कड़ियाँ ठीक हो गयी हैं । 'आर्किओप्टेरिक्स' नामका एक ऐसा प्राणी मिला है जिससे सर्पवर्ग और पक्षीवर्गके बीचकी कड़ी सिद्ध हो जाती है । अस्थिहीन प्राणी मरनेपर मिट्टीमें मिल जाते हैं । पर अस्थियुक्त प्राणियोंकी हड्डियाँ मिट्टीमें नष्ट नहीं हो जातीं, हजारों वर्ष पुरानी हड्डियाँ मिलती हैं । इन्हें ही 'फौसिल' कहते हैं । इनसे सब कड़ियाँ पूरी हो सकती थीं; परंतु पृथ्वीके अधिक भागमें समुद्र होनेके कारण एवं शीत-उष्ण कटिबंधोंमें सर्दी-गर्मीकी अधिकताके कारण खुदाईका काम हो ही नहीं सकता । अच्छे स्थानोंसे भी कुत्ते, शृगाल आदि अस्थियोंको नष्ट कर देते हैं । इन्हीं कारणोंसे 'लुप्त-जन्तु-शास्त्र'के पूर्ण प्रमाण नहीं मिलते । प्राकृतिक परिवर्तनों, नदियोंके कटावों, अग्नि, प्रपातोंसे बहुत-सी हड्डियाँ नष्ट गयीं; बहुत-सी जल गयीं, बहुत-सी पिघल जाती हैं । बिना हड्डीवाले जन्तु तो मिट्टी हो ही जाते हैं । पृथ्वीकी विभिन्न तहोंमें उपलब्ध अस्थियोंसे उन प्राणियोंके समयका निर्णय करना 'लुप्त-जन्तु-शास्त्र'का मुख्य विषय है ।'

''परंतु पृथ्वीकी आयुका निर्णय करनेके लिये काल्पनिक सिद्धान्तोंके अतिरिक्त वैज्ञानिकोंके पास कोई प्रबल साधन नहीं है । पृथ्वीकी आयुके सम्बन्धमें भूगर्भ-शास्त्रके अनुसार प्राणियोंकी उत्पत्तिसे अबतक (दस करोड़) वर्ष हुए । वैज्ञानिक सूर्यकी गरमीके आधारपर जो समय निकालते हैं, वह इससे कम है; किंतु प्रो० पेरीने रेडियमकी खोजसे जो समय निकाला है, वह बहुत अधिक है । 'भूगर्भ-विद्याके अनुसार पृथ्वीकी चार तहें हैं । सबसे निचली तहमें हड्डीरहित प्राणी रहे होंगे । दूसरी तहमें प्राणियोंकी अस्थियाँ हैं, पर वे प्राणी मत्स्य-मण्डूक श्रेणीके हैं । तीसरी तहमें उन्नत प्राणियोंकी भी अस्थियाँ पायी जाती हैं । चौथी तहमें वर्तमान कालके सभी प्रकारके प्राणियोंके अवशेष पाये जाते हैं । इससे सिद्ध होता है कि जिस कालमें जो प्राणी थे केवल वही थे और बड़े विशालकाय थे । उनकी अनेक उपजातियाँ भी थीं । जब मत्स्य थे, तब सर्प नहीं थे । सर्पके समयमें सब सर्प ही थे । किसी समय अनेक जातिकी छिपकलियाँ थीं, जो ८० मनतककी बतलायी जाती हैं, यह उनकी हड्डियाँ देखनेसे सिद्ध होता है । मिस्र देशमें प्राणियोंके सिर भी मिलते हैं, जिनमें मांस, चर्म-नस, नाड़ी आदि सभी अवयव विद्यमान हैं । 'मत्स्यपुराण'में आयी उड़नेवाले सर्पोंकी कथा गलत नहीं ।

''इन सर्प-श्रेणीके पक्षियोंसे ही पक्षियोंकी उत्पत्ति हुई है । जर्मनीमें पाषाणीभूत घोंघोंके कवच अनेक तहोंमें मिलते हैं । उनसे विकास-क्रमका पता लगता है । घोड़ेके विकासका भी क्रम मिलता है । भिन्न-भिन्न तहोंमें मिले हुए प्राणियोंके पंजों और सुमों (घोड़ोंके अवयव-विशेष) के मिलानसे पता लगता है कि

'घोड़े किन प्राणियोंसे विकसित होकर इस रूपमें आये हैं।' ऊपरकी तहमें वर्तमान घोड़े-जैसा ही जन्तु मिलता है। मध्य-स्तरमें वह ३-४ अंगुलीवाला मिलता है। निचली तहोंमें उसका आकार शशकके समान और ५ अंगुलीवाले पंजोंका मिलता है। गाय, भैंसको पाँचमेंसे जिस तरह चार ही अंगुलियाँ रह गयीं, उसी तरह इस जानवरकी भी अंगुलियाँ क्रमशः घटते-घटते बीचकी अँगुली टाप बन गयी। घोड़ेके आदिपूर्वजका अबतक पता नहीं लगा; परंतु ज्ञात होता है कि वह पाँच अंगुलीवाला था। इसी तरह हाथी और हरिणके आद्यवंशजोंसे लेकर वर्तमान समयतककी विकास-परम्परा ज्ञात होती है। लुप्त कड़ियोंका उदाहरण 'ओप्टेरिक्स' है। यह पंखयुक्त उड़नेवाला सर्प है। इसका सिर छोटा, जबड़ा बड़ा और दाँत साँप-जैसे हैं; परंतु पंख एवं पंजे पक्षियों-सरीखे हैं। इसी तरह एक प्राणी 'टेरोडिक्टिल' है। इसके हाथोंकी एक-एक अंगुली बहुत बड़ी है, जिससे पंखको सहारा मिलता है। इसमें सर्प, पक्षी तथा स्तनधारियोंकी थोड़ी-थोड़ी बातें मिली हुई हैं। इसी प्रकार कँगारू, ओपोसम आदि इस अन्वेषणमें सहायक हैं।"

उपर्युक्त बातोंपर विचार करनेपर भी विकास सिद्ध नहीं होता। यह सिद्ध है कि वर्तमान साधनोंसे पृथ्वीकी आयुका पता नहीं लगता और सारी पृथ्वीका खोजना भी सम्भव नहीं। अस्थियोंका नष्ट हो जाना, पिघल जाना आदि भी सम्भव है। फिर इस लुप्त-शास्त्रके बलपर विकासवाद कैसे सिद्ध होगा? अस्थियोंके मेलका सिद्धान्त भी गलत है। यदि घोड़ा, गधा, जेब्रा एक ही जगह मिलें तो विकासवादी तीनोंके पंजरोंको एक ही कह सकता है। फिर भी तीनों एक नहीं, अतः अस्थियोंके मेल मिलाकर श्रृङ्खला मिलाना असंगत है। 'घोड़ेकी कड़ियाँ मिल गयीं' यह बात भी गलत है। घोड़ेकी कड़ियोंपर विकासवादियोंका दृढ़ विश्वास है। यूरोप, अमेरिकाकी खुदाईसे मिले हुए भिन्न समयोंके विचित्र जातिके अस्थि-पंजरोंको मिलाकर यह दिखलानेकी कोशिश की जाती है कि 'ये सब घोड़ेके पूर्वज उसके विकासकी कड़ियाँ हैं।' हक्सले साहबने इसे महत्त्व दिया है; परंतु आधुनिक खोजसे इसका खण्डन हो गया। सर जे० डब्ल्यू० डासनने अपनी 'माडर्न आइडिया ऑफ इवोल्यूशन्' (विकासकी आधुनिक भावना) नामक पुस्तकसे अच्छी तरह सिद्ध किया है कि 'अमेरिका एवं यूरोपके इन जन्तुओंमें जिन्हें घोड़ेका पूर्वज कहा जाता है, परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।' घोड़ा बड़ा ही विचित्र जानवर है। पाँच बातें उसमें अन्य तृणाहारी पशुओंसे विलक्षण हैं—(१) नीचे-ऊपर दोनों तरफ दाँत, (२) प्रसवके समय घोड़ीकी जीभका गिरना, (३) घोड़ेके अगले पैरोंके गाँठोंमें परोंका निशान होना, (४) नर घोड़ेके स्तन न होना और (५) खुरकी

जगह टाप होना। कहा जाता है कि 'घोड़ेकी चार अँगुलियाँ लुप्त हो गयीं, बीचकी अँगुली टाप बन गयी। गाय-भैंसके अगल-बगलकी चार अँगुलियाँ मौजूद हैं, बीचवाली लुप्त हो गयी।' जो अँगुलियाँ विद्यमान हैं, उनमें दो तो फटे हुए खुरको बतलाया जाता है और दो उठी हुईं मदनखुरी बतायी जाती है। यह कैसा उलटा-पुलटा विकास ? किसीमें चारों अँगुलियाँ लुप्त होकर बीचकी अँगुली टाप बन गयी तो किसीमें सब रहीं, केवल बीचकी ही लुप्त! गधे, घोड़े और खच्चरके पंजरोंमें धोखा हो सकता है, वनबिलाव और चीतेके बच्चेके पंजरोंमें भी धोखा हो सकता है। इसी तरह सभी पंजर मिलानवाली जातियोंको एक ही जातिके स्थिर करनेमें भी धोखा हो सकता है। मि० डे० क्वाडर फेगस अपनी 'लेस अम्यूलस डे डारविन' पुस्तकमें लिखते हैं कि 'घोड़ोंकी कड़ियाँ न तो इस प्रकारके जिंदा जानवरोंसे पूरी होती हैं और न प्रस्तरीभूत अस्थिपंजरोंसे ही। ऐसे प्राणियोंका अस्तित्व कल्पनामात्र है।' इसी तरह जोन्स बोसनने नवम्बर सन् १९२२ ई० के 'न्यू एज' पत्रमें लिखा है कि 'ब्रिटिश म्यूजियमका अध्यक्ष कहता है कि ''इस म्यूजियममें एक कण भी ऐसा नहीं, जो यह सिद्ध कर सके कि जातियोंमें परिवर्तन हुआ है। विकासविषयक दर्शनमें नौ बातें निःसार हैं। परीक्षणोंका आधार स्वच्छता और निरीक्षणपर बिल्कुल अवलम्बित नहीं। संसारभरमें ऐसी कोई सामग्री नहीं, जो विकास-सिद्धान्तकी सहायक हो।' इस तरह लुप्त-जन्तु-शास्त्रके आधारपर विकासका सिद्ध होना असम्भव हो गया है।

यदि विकास होता तो बर्फीले स्थानोंमें कोई साङ्गोपाङ्ग ऐसा प्राणी मिलता, जिससे विकास सिद्ध होता। पृथ्वीकी तहोंकी आयुका भी अभी हिसाब नहीं बैठा। तहोंके प्रस्तरीभूत प्राणियोंकी आयु जाननेके लिये तहोंकी आयुका जानना आवश्यक है। जब पृथ्वीकी ही आयुका ठीक ज्ञान नहीं, तब तहकी आयुका ज्ञान कैसे होगा ? फिर एक तहके प्राणी कितने समयमें प्रस्तरीभूत हुए, यह जाननेका क्या साधन है ? आधुनिक विज्ञान यह भी नहीं बतला सकता कि मनुष्योंको पैदा हुए कितने दिन हुए। फिर समस्त कड़ियोंकी वर्ष-संख्या मिलाकर पृथ्वीकी आयुके साथ मेल बैठानेका विकासवादियोंके पास कोई साधन नहीं। पृथ्वीकी अमुक बनावट किन साधनोंसे होती है, उन साधनोंका निर्माण किससे होता है, इन बातोंतक अभी विज्ञान पहुँचा ही नहीं। यदि जगत्की रचनाके कारणोंका ज्ञान, उन कारणोंकी गति, शक्ति तथा परिणामके मापका ज्ञान होता, तो पृथ्वीकी आयु निश्चित होती। परंतु इनका ठीक ज्ञान नहीं। कल्पनाके द्वारा निकला सिद्धान्त विश्वसनीय नहीं होता। अगस्त सन् १९२३ के 'थियोसोफिकल पाथ' में हैनसन्ने

लिखा है कि 'नेवादामें जॉन टी० रीडको एक आदमीका पदचिह्न और एक अच्छी तरह बना हुआ जूतेका तला मिला है, जिसे वह अपने चट्टानविषयक भूगर्भ-विद्या-सम्बन्धी ज्ञानसे ५० लाख वर्ष पुराना बतलाता है। उस तलेमें ऐसी सिलाई, धागोंके मरोड़ और धागोंके माप मिलते हैं, जो आजकलके अच्छे-से-अच्छे बने हुए जूतोंके समान पक्के और सूक्ष्म हैं। इससे सिद्ध हुआ कि ५० लाख वर्षसे तो मनुष्य जूता पहनता है और वह सुई, सूत, सिलाई, नपाईका ज्ञान प्राप्त कर चुका था।' विकासके अनुसार यह ज्ञान बहुत दिनोंमें हुआ होगा। इस विचारसे मनुष्यकी उत्पत्तिका समय आजसे यदि एक करोड़ वर्ष पूर्व मानें और हेकलके मतानुसार प्राणियोंकी २१ कड़ियोंके बाद मनुष्यकी उत्पत्ति मानें एवं प्रत्येक कड़ीको यदि एक करोड़ वर्षका समय दें तो प्रथम प्राणीकी उत्पत्तिसे मनुष्यकी उत्पत्तितक २२ करोड़ वर्ष और आजतक २३ करोड़ वर्ष होते हैं। लोकमान्य तिलकने 'गीता-रहस्य'में डॉ० गेडाका मत उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'मछलीसे मनुष्य होनेमें ५३ लाख ७५ हजार पीढ़ियाँ बीती हैं। इतनी ही पीढ़ियाँ अमीवासे मछली बननेमें बीती होंगी अर्थात् अमीवा अबतक लगभग एक करोड़ पीढ़ियाँ बीतीं। कोई पीढ़ी एक दिन, तो कोई सौ वर्ष जीती है। यदि औसत प्रति पीढ़ी २५ वर्ष भी मान लें तो इस हिसाबसे भी प्राणियोंकी उत्पत्ति-का समय २५ करोड़ वर्ष होता है।' यह भी सिद्ध है कि पृथ्वी उत्पन्न होनेके करोड़ों वर्ष बाद उसपर प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई होगी। यह संख्या विकास-वादियोंकी निर्धारित संख्यासे बहुत आगे जाती है।

विकासवादी पृथ्वीकी प्राणियोंवाली तहोंकी आयु १० करोड़ वर्ष बतलाते हैं। वे अमीवाको सादी रचनावाला कहते हैं; परंतु यह ठीक नहीं है। वह तो क्लिष्ट रचनावाला ही प्राणी है। अपने शरीरमें हर जगह छिद्र कर लेना क्या साधारण बात है? वनस्पतिकी ही रचना सादी है। सिद्धान्ततः भोग्य सादी रचनावाले और भोक्ता क्लिष्ट-रचनावाले हैं। पृथ्वीकी नीचेवाली तहमें हड्डीवाले प्राणी नहीं मिलते, अतः कहा जाता है कि 'पहले बिना हड्डीवाले प्राणी हुए।' परंतु इसपर यह भी तो कहा जा सकता है कि 'पृथ्वीके दबावसे नीचेवाली तह तथा उसके साथ हड्डियाँ भी पिघल गयी होंगी।' अतः 'पहले हड्डियाँ नहीं थीं' यह कल्पना भी गलत है। फिर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अस्थिहीनोंसे ही अस्थिवालोंकी उत्पत्ति हुई। हड्डी अपने आप ही उत्पन्न होती है यह पीछे कहा जा चुका है। यदि यह सत्य हो कि 'जिस समय जो प्राणी थे, वही थे और वे भीमकाय थे,' तो वर्तमान प्राणियोंका उनसे उत्पन्न होना सिद्ध नहीं होता। किंतु सबसे प्रथम उत्पन्न एक कोष्ठवाला अमीवा भी अबतक मौजूद है। इतना ही नहीं, वे अन्तिम प्राणी मनुष्यसे भी अधिक हैं। अतः यह सत्य नहीं है कि

'जब जो थे, तब वही थे।' पृथ्वीकी खुदाईसे भी यह बात पायी नहीं जाती। जिस तहमें जो हड्डियाँ पायी जाती हैं, वह तह इस सिद्धान्तानुसार उन्हीं जन्तुओंसे पटी होनी चाहिये; क्योंकि 'उस समय वही थे और दीर्घकाय (विशालकाय) थे।' पर ऐसा है नहीं, बहुत गहरा खोदनेपर भी एक तहमें थोड़े ही जन्तु एक प्रकारके पाये जाते हैं। उन प्राणियोंका विशालकाय होना तो विकासवादके विरुद्ध ही होगा; क्योंकि उसके अनुसार तो बहुत छोटे प्राणियोंसे ही विकासका आरम्भ होता है। जब छोटे प्राणी ऐसे विशालकाय हुए कि एक छिपकली ही अस्सी मन वजनकी हुई और वृक्ष इतने बड़े हुए कि खदानोंमें कोयलाके पहाड़ बन गये तो उसी नियमानुसार आरम्भिक मनुष्योंकी लाशें ऐसी क्यों नहीं मिलीं ? वह भी कम-से-कम ताड़के पेड़के बराबर तो होनी ही चाहिये थी। छिपकली उतनी क्यों बढ़ी और आदि प्राणी अमीवा और अन्तिम प्राणी मनुष्य उतना क्यों न बढ़ा ? क्यों भैंसके बराबर चींटियाँ देखनेको न मिलीं ? और जीवित प्राणियोंमें आज वैसे भीमकाय क्यों नहीं ? हो सकता है कि कुछ योनियाँ पहले भीमकाय रही हों; परंतु उनके वंशका आज पता नहीं लगता। वे सपरिवार नष्ट हो गयी होंगी।

शास्त्रीय दृष्टिसे तो विकासकी अपेक्षा ह्रास-पक्ष ही संगत जँचता है। सत्ययुगके प्राणी आजके प्राणियोंकी अपेक्षा बहुत बड़े थे। युग-ह्राससे सबमें ह्रास हो रहा है। जो गायें पहले बड़ी होती थीं, वे भी आज छागप्राय हो रही हैं—'छागप्रायासु धेनुषु' (भागवत १२।२।१४)। किंतु विकासवादका कहना है 'भीमकाय प्राणी भी अमीवाके ही विकास थे, परस्थिति प्रतिकूल होनेसे वे नष्ट हो गये।' यदि यह सत्य हो तो विकासवादका यान्त्रिक सिद्धान्त असत्य ठहरता है। विशालकाय प्राणी नष्ट हो गये और अल्पकाय जी रहे हैं। जिस प्रकार दीर्घजीवी कछुआने अल्पजीवी कबूतरको उत्पन्न किया, उसी प्रकार भीमकाय छिपकलीने अल्पकाय छिपकली उत्पन्न की। यद्यपि आज अस्सी मनकी छिपकलीका कहीं पता नहीं लगता, पर क्या यह यन्त्रोंका सुधार एवं उन्नति हुई अथवा उनका बिगाड़ एवं अवनति हुई ? वस्तुतः कर्मोंके अनुसार जिन प्राणियोंने जितना बड़ा शरीर जितने दिनोंके लिये पाया, उतने दिन वे उसे भोगकर चले गये। अब संसार जिन शरीरोंके योग्य है, वे बचे हुए हैं और कर्मफल भोग रहे हैं। 'मत्स्यपुराण' के पक्षयुक्त सर्प भी विकासके साधक नहीं हो सकते। चमगादड़ पशु एवं पक्षियोंके बीचका क्यों माना जाता है ? पक्षी एकदम चमगादड़ बनकर स्तनधारी हो गये या धीरे-धीरे ? यदि धीरे-धीरे, तब तो इस प्रकारकी आगे-पीछे हजारों कड़ियाँ दिखलानी होंगी। यह कहनेसे काम नहीं चलेगा कि 'आगे-पीछेकी हजारों कड़ियाँ नष्ट हो गयीं।' पहली कड़ियाँ तो बादवाली कड़ियोंसे कमजोर

थीं, वे नष्ट हो सकती थीं; परंतु बादवाली कड़ियाँ क्यों नष्ट हो गयीं ? वे तो योग्य होनेसे ही विकसित हुई थीं। वर्तमान चमगादड़से उसके बादकी कड़ियाँ, फिर आगे-पीछेकी सब कड़ियोंको हटाकर एकमात्र चमगादड़ ही कैसे बच रहा ? ये बातें विकासवादके साथ कैसे संगत होंगी ? पुराणोंके अनुसार तो घोड़ों और पहाड़ोंके भी उड़नेकी बात पायी जाती है। क्या विकासवादी उसे भी मानेंगे ? वस्तुतः जिन्हें संधि-योनियाँ या मध्य-कड़ियाँ कहा जाता है, वे चमगादड़, उड़नेवाले सर्प आदि स्वतन्त्र योनियाँ ही हैं। अतः 'लुप्त-जन्तु शास्त्र' के आधारपर विकासवाद सिद्ध नहीं होता।

गर्भ-शास्त्र

कहा जाता है कि "गर्भ-शास्त्र'के आधारपर विकास सिद्ध होता है। पानीमें पड़े हुए पत्तों या लकड़ियोंपर जो लसदार काले चिकने कण दिखायी पड़ते हैं, वे मेढकोंके अंडे हैं। तीन-चार दिनमें ये कण या पिण्ड पूँछदार और चपटे सिरवाले जन्तुका आकार धारण कर लेते हैं। फिर इनके गलेके पास मछलियोंकी तरह श्वास लेनेके गलफड़े बन जाते हैं। ये सब बातें अंडेमें ही हो जाती हैं। इसके बाद बच्चे अंडोंको छोड़कर पानीपर तैरने लगते हैं। वे उस समय गलफड़ोंसे श्वास लेते हैं। उन्हें पूँछ भी होती है। वे एक प्रकारकी मछली ही-जैसे लगते हैं। शीत ऋतु आते ही वे किसी बंद जगहमें छिप जाते हैं। वर्षाका आरम्भ होते ही वे फिर बढ़ने लगते हैं। धीरे-धीरे पूँछ लुप्त हो जाती है और पैर निकल आते हैं। फेफड़े बनने लगते हैं और वे गलफड़से श्वास लेना बंद कर देते हैं। तब ये पूरे मेढक बन जाते हैं। इस इतिहाससे मालूम पड़ता है कि प्राणीको अपनी उन्नतिके लिये विकासके पूरे चक्रमें घूमना पड़ता है। जिस-जिस जातिसे घूमता हुआ प्राणी जिस अन्तिम योनिमें पहुँचा है, गर्भसे लेकर वृद्धितकके समयमें ही उसे उन सभी चक्रोंमें घूमना पड़ता है। मुर्गीका अंडा भी एक कोष्ठवाले अमीवासे ही प्रारम्भ होता है। इसमें भी मछलियोंकी तरह गलफड़े होते हैं। अंडेसे बाहर आनेपर भी गलेके पास इसके चिह्न रहते हैं। इससे यही अनुमान होता है कि पक्षी भी मछली और मेढकके रूपोंमें होता हुआ ही पक्षी बना है। यद्यपि गर्भके परिवर्तन बहुत संक्षिप्त होते हैं तथापि वे अपनी पूर्व-पीढ़ियोंका सब इतिहास दिखला देते हैं। सूअर, गौ, खरगोश और मनुष्यादि स्तनधारियोंके गर्भ सब एक ही प्रणालीसे विकसित होते हैं। मानवगर्भ क्रमशः मछली, मेढक, सर्प और पक्षीके आकारका होकर तब स्तनधारियोंकी अवस्थामें आता है। इससे ज्ञात होता है कि मनुष्यका इन योनियोंसे सम्बन्ध है। चाहे लाखों वर्ष लगे हों, पर मनुष्यकी उत्पत्ति अमीवासे ही हुई है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रकृति इससे अधिक क्या प्रमाण दे सकती है ? कीड़ोंके प्रथम पिण्ड सब समान ही होते हैं। उस दशामें

नहीं पहचाना जा सकता कि यह तितली, भौंरा, ततैया अथवा कनखजूरा क्या है ? तितली और रेशमके कीड़े भी, जो अपनी वृद्धिमें अनेक रूप दिखलाते हैं, प्राथमिक दशामें एक ही समान रहते हैं। इससे यही मालूम होता है कि ये सब एक ही पूर्वजोंकी संतति हैं, जो अपनी पीढ़ियोंका पूरा चक्कर लगा रहे हैं। गर्भके बढ़नेका क्रम इस प्रकार है—पहले एक कोष्ठ, फिर दो कोष्ठ, फिर दोके चार, इस तरह चारके आठ और आठके सोलह कोष्ठ हो जाते हैं। कोष्ठ सदैव दूने क्रमसे बढ़ते हैं। इसी प्रकार अंडा भी दूने क्रमसे बढ़ता है। अमीबा एक कोष्ठधारी और हाइड्रा दो कोष्ठधारी होता है। इस तरह गर्भ शास्त्रसे मालूम पड़ता है कि 'पहले प्राणी सरल-रचनाके और फिर क्लिष्ट रचनावाले होते हैं।'

उपर्युक्त बातोंपर विचार करनेसे भी विकास सिद्ध नहीं होता। गर्भमें जो सादी रचनाके बाद क्लिष्ट रचना दिखलायी पड़ती है, उसका कारण विकासकी उत्पत्तिका पुनर्दर्शन नहीं, प्रत्युत यन्त्र बनानेका एक साधारण-सा नियम है। किसी भी यन्त्रके बनानेके लिये उसके सूक्ष्म एवं क्लिष्ट पुर्जोंको अटकानेके लिये एक सीधा-सादा आधार आवश्यक होता है। चर्खेके निर्माणमें गराड़ीमें तख्तियोंको डालकर रखा जाता है। साधारण रूल-जैसा डंडा उसका आधार है। इसके बाद दो खूँटे एक सीधी-साधी पटियामें गाड़कर रक्खे जाते हैं। यह पटिया ही चर्खेका मूल है अर्थात् एक सीधे मूल आधारपर ही सूक्ष्म, क्लिष्ट पुर्जे जमाये जाते हैं। मोटरमें भी धुरी, कमानी आदि मुख्य आधार है, वह सादा ही है। मनुष्यके शरीररूपी यन्त्रमें भी एक पीठको आधार माना जाता है। उसीको विकासवादी मछली कहने लगते हैं। उसीमें सिर, हाथ, पैर जुड़ जानेपर उसे ही मेढक कहने लगते हैं। पीठकी हड्डीके आधार बिना सिर, हाथ, पैर, हृदय, फुफ्फुस आदि शारीरयन्त्र किस प्रकार एकमें जोड़े जा सकते थे ? क्या विकासवादी कोई ऐसा यन्त्र बतला सकते हैं, जिसके क्लिष्ट पुर्जे किसी आधारपर रक्खे बिना यन्त्ररूप होकर काम दे रहे हों ? क्या पीठकी हड्डी (रीढ़) के बिना शरीरके अवयवोंसे शरीर-पंजर काम लायक बन सकता है ? छोटे-छोटे कीड़ोंमें भी जोड़का आधार आवश्यक होता है। वही आधार रीढ़की हड्डी है। अतएव गर्भकी रचना पीढ़ियोंका चक्कर नहीं, प्रत्युत यन्त्र-रचनाके नियमोंका अत्यावश्यक अनुवर्तनमात्र है। यह बतलाया जा चुका है कि अमीबा भी सादा नहीं, अपितु बड़ी क्लिष्ट रचनावाला है। जैसे वटबीजके भीतर सूक्ष्मरूपसे साङ्गोपाङ्ग समूचा वृक्ष विद्यमान रहता है, वैसे ही अमीबाके छोटे स्वरूपमें ही बारीकीके साथ सभी अवयव संनिविष्ट रहते हैं। बालोंमें रहनेवाले लीख, जूँ, खटमल या चींटीके शरीरमें

भी बड़ी ही सूक्ष्म कारीगरी होती है। उन्हें भी सादी-रचनावाले नहीं कहा जा सकता। अतएव 'मैन्युअल ऑफ जियालॉजी' में मि० निकल्सनका कहना है कि 'अमीवा नामक क्षुद्र जन्तु अकल्प्य, सूक्ष्म कण ही है, परंतु उसकी पाचन-शक्ति क्लिष्ट-से-क्लिष्ट रचनावाले प्राणियोंकी पाचन-क्रियाके यन्त्रोंसे कम नहीं। वह अपने अंदर भोजन लेता है और बिना किसी पृथक् अवयवके उसे पचा जाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह भोजनमेंसे पोषकभाग रख लेता है और अनुपयोगी भाग निकाल डालता है।'

हक्सलेका भी 'प्राणियोंके वर्गीकरण' की भूमिकामें कहना है कि "ग्रेगारिनीडा' वर्गके जन्तुओंसे नीचे दर्जेके अन्य जन्तु नहीं हैं। परंतु 'रीजोपोड़ा' वर्गके सूक्ष्म जन्तु उनसे भी अधिक सादी रचनाके हैं। सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्रसे देखा गया है कि इनमें शरीर-जैसी कोई गठन नहीं होती। ये तो पतले किये हुए सरेसके एक परमाणु-जैसे ही हैं। परंतु इनमें भी जीवन-शक्तिके समस्त गुण रहते हैं। ये अपने ही-जैसे प्राणीसे उत्पन्न होते हैं, भोजन पचा सकते हैं और हलचल करते हैं। इतना ही नहीं, ये अपने घुसनेकी छींट, जो बिल्कुल क्लिष्ट-रचनायुक्त होती है, बना लेते हैं। जेलीका यह एक कण प्राकृतिक शक्तियोंको इस प्रकार काबूमें करके ऐसी गणितयुक्त रचना (छींट) बना सकता है, यद्यपि स्वयं रचनारहित और अवयवविहीन है। मेरे लिये यह एक असाधारण सारयुक्त वस्तु है।'

इन बातोंसे कौन कह सकता है कि अमीवामें क्लिष्ट-रचना नहीं है? अतः भोग्य और भोक्ता ही क्रमशः सादी और क्लिष्ट रचनावाले हैं। कर्म-ज्ञानहीन वृक्ष भोग्य और ज्ञानहीन कर्मयुक्त पशु भोक्ता है एवं च ज्ञान-हीन पशु भोग्य और ज्ञान-कर्म-युक्त मनुष्य भोक्ता है। विकासवादी वनस्पति और पशुओंकी साथ-साथ उत्पत्ति मानते हैं। यदि प्राणियोंकी उत्पत्तिका चक्कर गर्भमें लगता है तो मनुष्य प्राणी गर्भमें सिरके बल उलटा क्यों लटकता है? विकासवादी नहीं जानते; पर कहा जा सकता है कि वह वृक्षोंका नमूना है। ज्ञान-कर्म-रहित वृक्ष नीचे सिरवाले होते हैं। पैदा होनेके बाद शिशु हाथ-पैरके बलसे तिरछा चलता है, यह कर्म-युक्त ज्ञान-रहित पशु-दशा है। ज्ञानका उदय होनेपर वह खड़ा होकर मनुष्य हो जाता है। गर्भका सिर नीचे रहनेका यही कारण है। यही वृक्षोंकी पहले उत्पत्तिका प्रमाण भी है। वस्तुतः गर्भमें पिछली योनियोंके चक्करकी बात गलत है। मुर्गीका इतिहास दिया गया है। मुर्गी पक्षी-जातिका प्राणी है। इसके पूर्व मछली, मेढक और सर्प जातिके प्राणी हो चुके हैं। मुर्गीके गलफड़ोंने मछलीका रूप दिखलाया और पैर, सिर निकलनेपर मान लिया जाय कि मेढकका रूप दिखलाया। परंतु तीसरे सर्पणशीलोंका रूप

क्या है ? पक्षी सर्पोंसे बहुत नजदीक हैं; पक्षीका विकास सर्पजातिके प्राणीसे हुआ है, अतः उचित था कि उन सर्पणशील प्राणियोंके गुण पक्षियोंमें हों। परंतु पक्षियोंमें क्या सर्पणशील प्राणियों-सरीखे दाँत होते हैं ? एक चमगादड़को छोड़कर किसी अन्य पक्षीके दाँत नहीं हैं। परंतु चमगादड़ सर्पणशीलोंसे पक्षी नहीं हो रहा है, उसके लिये तो पशुओंसे पक्षी होनेकी बात कहना अधिक संगत है; क्योंकि उसके स्तन और कान होते हैं। जब मुर्गीमें सर्पणशीलोंके गुण नहीं, तब पिछली योनियोंमें उसके चक्कर काटनेकी बात कैसे सिद्ध होगी ? केवल एक-दो बातें देखकर कल्पनाका इतना बड़ा महल खड़ा करना दुस्साहस ही है।

इसी तरह मण्डूक यदि मछलीसे हुआ होता तो उसको पैर न होने चाहिये थे। वह बढ़नेके समय ही गलफड़ोंसे श्वास लेता है। उसकी यह अवस्था गर्भावस्था ही है। गर्भावस्थामें तो मनुष्यका बच्चा भी नालके द्वारा प्राण और पोषण पाता है। इतनेहीसे क्या उसे मछली कहा जा सकता है ? यदि ऐसा होता तो सभी बच्चे पहले गलफड़ेसे श्वास लेते, क्योंकि विकासवादीके अनुसार सभीका विकास मछलीसे हुआ है। परंतु मनुष्य एवं पशुओंके बच्चे मातासे लगे हुए नालसे ही प्राण पाते हैं। इनमें भी यान्त्रिक सिद्धान्तसे निर्माण होता है, अतः रीढ़की हड्डी-का पहले निर्माण होता है। उसीको विकासवादी मछलीका आकार समझते हैं। पैर दिखायी पड़नेपर उसे मण्डूक कहने लगते हैं। परंतु सर्पणशीलोंके दाँत और उड़नेवालोंके पर मनुष्यों और पशुओंके गर्भमें नहीं देखे गये। इस चक्करमें इन दोनों विभागोंके लक्षण क्यों नहीं देखे जाते, इसका भी विकासवाद-में कोई उत्तर नहीं है।

उसी तरह गर्भ-वृद्धिसे भी न क्रम-क्रमसे प्राणियोंकी उत्पत्ति प्रतीत होती है और न पिछली जातियोंका चक्कर ही होता है। यों तो, जैसे किसी भी मृण्मय पात्रकी उत्पत्तिके पहले मृत्तिका पिण्डावस्थामें रहती है वैसे ही किसी भी यन्त्र या शरीरके निर्माणके पूर्व उनके उपादान-कारणोंकी एक-दो समान अवस्थाएँ हो ही सकती हैं। परंतु इतनेसे ही 'ऊँट पहले साँप और छिपकली बनकर फिर ऊँट बना है' इत्यादि सब अनर्गल बातें नहीं सिद्ध हो सकतीं। स्तनधारियोंमें घोड़ी बारह महीनेमें, गाय नौ, भैंस दस, बंदर चार और मनुष्य नौ महीनेमें बच्चा पैदा करते हैं। यह नियम न शरीरकी मजबूतीपर निर्भर है और न आयुपर ही। घोड़ा मनुष्यसे बलमें अधिक, पर आयुमें कम और गर्भवासमें अधिक है। कछुआ मनुष्यसे आयुमें अधिक, बलमें कम और गर्भवासमें बहुत ही कम है। क्या कोई विकासवादी इसका कारण बतला सकता है ? गर्भके अंदर बँधी हुई गठरीकी तरह रहनेपर भी शरीरका न कोई अङ्ग किसी दूसरे अङ्गसे चिपकता है और न विकृत ही होता है। बाहर ऐसा होनेपर सब अङ्ग विकृत हो जाते हैं

इस भेदका क्या कारण है ? गर्भकी विचित्रता, महत्ता भी ईश्वरी कारीगरीका एक नमूना है। एक नगण्य शुक्र-शोणित-बिन्दु क्रमेण वृद्धिंगत होकर हस्त, पाद, नेत्र, श्रोत्र, बुद्धियुक्त होकर ज्ञानवान् हो जाय, यह ईश्वरकी अघटित-घटना-पटीयसी मायाशक्तिका वैचित्र्य है। गर्भके विकासवादी इतिहासपर विज्ञान-वेत्ताओं-को भी पूरा विश्वास नहीं है। हक्सले और हेकलका कहना है कि 'गर्भका इतिहास अति संक्षिप्त एवं अधूरा है।' प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों ? यदि गर्भ-इतिहास प्राणियोंके विकास-क्रमकी पाठमाला है तो इसमें गड़बड़ी कैसे ? बीचमें गर्भ बेसिलसिले क्यों भासित होने लगे ? मण्डूकसे सर्पणशील होकर पक्षी होना, पर सर्पोंकी हालतका पता नहीं। बीचमें पुच्छल ताराकी शकलें क्यों आ गयीं ? विकासवादी कहते हैं कि 'इस गर्भावस्थाके इतिहासमें जहाँ समानताएँ समाप्त होकर भिन्न-भिन्न मार्गोंका अवलम्बन करती हुई प्रतीत होती हैं, वहाँ वे स्थान बतलाते हैं कि प्राणियोंने परिस्थितिके अनुसार भिन्न-भिन्न मार्गोंसे चलना आरम्भ किया।' शायद इसका मतलब यह है कि जहाँसे घास खानेवाले स्तनधारियोंके बाद स्तनधारियोंमें मांस खानेकी प्रवृत्ति हुई, वहीं प्रक्षेप है। परंतु यह बहुत भद्दा समाधान है। क्या घास खानेवालेसे एकदम मांस खानेवाले हो गये ? क्या गायके बछड़ोंमेंसे एक भेड़िया हो गया, क्योंकि मछलीसे मेढक होना जितना कठिन है, बछड़ेसे भेड़िया होना उतना कठिन नहीं। वस्तुतः प्रत्येक जातिके स्वतन्त्र गर्भ होते हैं। इसमें पुरानी पीढ़ियोंके चक्करकी बात सर्वथा व्यर्थ है। इसीलिये 'विकासवाद' पुस्तकमें हारकर लिखा गया है कि 'किसी' भी प्राणीकी गर्भावस्थाका इतिहास पूर्णतया हम नहीं जानते और न किसीकी गर्भावस्थाके सब परिवर्त्तन देखे ही गये हैं अथवा न उनका सार्थक कारण पूर्णतया बतलाया जा सकता है।'

विकासवादी कहते हैं कि 'तुलनात्मक दृष्टि, मनुष्यकी शरीर-रचना, गर्भ-परिवर्तन, चट्टानोंमें प्राप्त मनुष्यके अवयव आदिसे प्रतीत होता है कि यन्त्रकी भाँति मनुष्य भी उन्हीं प्राकृतिक नियमोंके अधीन रहता है, जिनके अधीन अन्य प्राणी हैं। मनुष्य-देहका भी उन्हीं तत्त्वोंसे निर्माण हुआ है, जिनसे औरोंका। स्तनधारी श्रेणीकी बंदर कक्षावाली वनमानुष उपजातिमें ही मनुष्यका स्थान है। वानर कक्षाकी विशेषताएँ ये हैं—(१) गर्भनाल झिल्लीसे सम्बन्ध रखता है, (२) हाथों, पैरोंके अँगूठे चारों ओर फिर सकते हैं, अतएव वे पैरसे भी पकड़ सकते हैं, (३) वृक्षोंपर रहते हैं, (४) इनके दूधके दाँत और स्थिर अन्य दाँत होते हैं, (५) वानर-कक्षाके भिन्न वंशोंमें दाँतोंकी संख्या नियत होती है, (६) हाथमें पाँच अँगुलियाँ, नाखून और पंजे होते हैं, (७) हँसुलीकी अस्थियाँ दृढ़ एवं उन्नत होती हैं और (८) प्रत्येकके दो स्तन होते हैं। पूर्णतया सीधे खड़े

होकर चलना, मस्तिष्कका बहुत विकास, वाणी-द्वारा स्पष्ट बोलनेकी शक्ति और विचार करनेकी शक्ति यह चार मनुष्यकी विशेषताएँ हैं। पहली दोनों विशेषताएँ तात्त्विक नहीं प्रत्युत परिणामकी हैं अर्थात् छोटाई-बड़ाईका ही अन्तर है। खड़े होकर चलना भी मस्तिष्ककी उन्नतिका परिणाम है।

'वानरोंकी जातियाँ, उपजातियाँ तथा वंश अनेक हैं। लीमर अर्धबंदर है, जो हाथ-पैरसे ही बंदर प्रतीत होता है। मार्मोसेट भी आकारमें लीमर-सदृश होता है, पर वह वानरोंसे अधिक मिलता है। इसके नाखून पंजेदार होते हैं। सामान्य बंदर प्रसिद्ध ही है। वनमानुष भी इसी कक्षाका वंश है। इसके पाँच प्रकार हैं—गिवन, ओरांग, औटांग, चिंपांजी और गोरिल्ला। इनके दाँत मनुष्यों-जैसे होते हैं। नाक पीछेकी ओर झुकी होती है, पर अंदरकी ओर दो छिद्र नहीं होते। इनके हाथ पैरोंसे अधिक लंबे होते हैं। गालकी थैली और पूँछ बिल्कुल नहीं होती। गिवन-जातिकी मादा अपने बच्चेका मुँह धोती है। चिंपांजी शरीरसे बहते हुए खूनको बंद करनेकी चेष्टा करता है। वैज्ञानिकोंका कहना है कि चिंपांजीकी बुद्धि नौ महीनेके बालकके समान होती है। मनुष्यकी खास विशेषताएँ दो ही हैं—मस्तिष्कका विकास और खड़े होकर चलना। खड़े होकर चलनेका कारण भी मस्तिष्कका विकास ही है। वनमानुष खड़ा होता है, पर झुका रहता है। मनुष्यके खड़े होनेसे ही उसे आँत उतरनेकी बीमारी होती है। मनुष्य और चिंपांजीके मस्तिष्ककी तुलना करनेपर मालूम होता है कि दोनोंमें परिमाणका ही अन्तर है। मनुष्यका मस्तिष्क स्पष्ट होता है और चिंपांजीका अस्पष्ट। यही हाल हाथ-पैरोंका भी है। बंदर पैरसे वस्तु उठा लेता है। इसी तरह एक जंगली स्त्री भी पैरसे वस्तु उठा लेती है। डाढ़ मनुष्यको देरसे आती है और छोटी होती है, पर गोरिल्लाकी डाढ़ बड़ी बलवान् और शीघ्र निकलनेवाली होती है। असभ्य जातियोंमें भी डाढ़ शीघ्र निकलती है। मनुष्यके शरीरपर प्रायः बाल नहीं होते, किसी-किसीके कानों और कंधोंपर होते हैं। जापानके ऐन्यू लोगोंकी देहपर बहुत बाल होते हैं। मिस जुलिया पास्ट्राना बहुत बालवाली प्रसिद्ध है। सारांश यही कि मनुष्यका इन जातियोंसे कोई तात्त्विक भेद नहीं, परिमाणका ही भेद है। मनुष्य-शरीरके अवशिष्टाङ्ग अर्थात् पुरानी योनियोंके कई अङ्ग अबतक मनुष्यमें पाये गये हैं। मनुष्य अपनी इच्छासे शरीरकी खाल हिला नहीं सकता, यद्यपि हिलानेवाली नसें मौजूद हैं। सिरके चाँदकी चमड़ी भी सब मनुष्य हिला नहीं सकते, पर कोई-कोई हिला सकते हैं। कान भी सब फड़फड़ा नहीं सकते, पर कोई ऐसा कर सकते हैं। नाकसे सूँघकर सब मनुष्य नहीं पहचान सकते, पर कोई पहचान भी सकते हैं। मनुष्य स्वेच्छया रोएँ नहीं खड़ा कर सकते, यद्यपि रोएँ खड़े करनेवाली नसें हैं। इस प्रकारके अङ्ग पशुओंमें

पूरे काम कर रहे हैं, जो कि मनुष्योंसे लुप्त हो रहे हैं, पर किसी-किसीमें मौजूद हैं।

"भौंहें चढ़ाना; माथा सिकोड़ना; होंठ, गाल और नाकको मनमाना नचाना मनुष्यमें अबतक बना हुआ है। अन्न-नलिकाके अन्तमें एक थैली होती है, जो जानवरोंको तो काम देती है, पर मनुष्यके लिये निष्प्रयोजन है। कभी-कभी तो गुठली (बीया) आदि कठोर पदार्थ उसमें चले जानेसे वह घातक भी सिद्ध होती है। छठे महीने गर्भके बालकका शरीर बालोंसे छा जाता है, जो वानरका पूर्वरूप है। बंदरके बच्चे माँके पेटसे चिपके हुए रहते हैं, अतः जन्म होते ही बालकके हाथकी मुट्ठी इतनी मजबूतीसे बँधी होती है कि वह रस्सी पकड़कर लटका रह सकता है। मनुष्यकी रीढ़की अन्तिम गाँठको ही पूँछका चिह्न कहा जाता है। पूँछवाले मनुष्योंमें यह गाँठ आठ-दस इंचतक बढ़ी हुई पायी जाती है। यह केवल मांस-स्नायुयुक्त होती है, इसमें हड्डी नहीं होती। मनुष्यकी अस्थियाँ पृथ्वीकी तीसरी तहमें मिलती हैं। पहले मनुष्यकी ऐसी-ऐसी जातियाँ हो गयी हैं, जिनका अब संसारमें निशान नहीं है। जावा द्वीपमें एक खोपड़ी मिली है, जो जंगली मनुष्यकी खोपड़ीसे अवनत और वनमनुष्यकी खोपड़ीसे उन्नत है। वह वनमनुष्य और मनुष्यके मध्यकी कड़ी अनुमान की जाती है। जो लीख आदि जन्तु मनुष्यके शरीरपर होते हैं, वे ही पशुओंकी देहपर भी पाये जाते हैं। चूहोंके रोग मनुष्योंको भी होते हैं। ऐसा कोई रोग नहीं, जो मनुष्योंको होता हो और पशुओंको न होता हो। इलाज भी दोनोंके समान ही हैं। नशा भी दोनोंको होता है। किसीका रुधिरकण गोल, किसीका दीर्घ-वर्त्तुल और किसीका चपटा भी होता है। स्याहीके दस स्तन होते हैं, चुहियाको आठ, कुतिया और गिलहरीको आठ-आठ, बिल्ली और रीछको छः-छः और अन्य सब तृणाहारी पशुओंको चार-चार स्तन होते हैं। परंतु जर्मनीकी एक स्त्रीके चार, जापानकी एक स्त्रीके छः और पोलैंडकी एक स्त्रीके दस स्तन हैं।"

इस तरह अनुमानके आधारपर ही विकासकी इमारत खड़ी है। प्रत्यक्ष परीक्षणका उसमें नामतक नहीं है। विचार करनेपर विकासवादियोंका उपर्युक्त मत भी ठीक नहीं जँचता। मनुष्यकी विशेषता तो विकासवादियोंको भी माननी ही पड़ती है। गोरिल्ला यद्यपि हाथ, पैर और छाती आदिमें मनुष्यको हरा सकता है; किंतु बुद्धिबलमें वह मनुष्यसे बहुत कम है, इसीलिये उसे भी मनुष्यके अधीन होना पड़ता है। पूर्वोक्त युक्तियोंसे विकासवादके साधक प्रमाण खण्डित हैं। आस्तिक भी मानते हैं कि प्रकृति-पुरुषके संसर्गसे ही पशु-मनुष्यादि सभी प्राणी बनते हैं। इस तरह सबका समान तत्त्वोंसे बनना और सबमें आठ संस्थानोंका होना विकास सिद्ध नहीं करता। अमीबा एक कोष्ठधारी है, उसके एक ही कोष्ठमें आठों काम होते हैं, पर जब वह एकसे दो होता है, तब उसीके

अंदर एक दूसरा कोष्ठ तैयार होता है और अलग होनेके पहलेतक दोनों ही कोष्ठ एकहीमें रहते हैं। ऐसी स्थितिमें उसे एक कोष्ठधारी क्यों कहा जाता है। इसी तरह कई कोष्ठवाले प्राणीके प्रत्येक कोष्ठ अमीबाकी तरह आठों काम अलग-अलग नहीं करते, भिन्न-भिन्न कोष्ठोंके काम भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थितिमें यह कैसे कहा जाता है कि ये कोष्ठ भी अमीबाके कोष्ठ-जैसे ही कोष्ठ हैं? अनेक कोष्ठवाले प्राणियोंमें सम्हाल पाया जाता है और सबको सम्हालनेवाला एक ही कोष्ठ विदित होता है, क्योंकि यदि सभी कोष्ठ प्रबन्ध करने लग जायँ तो शरीरमें अव्यवस्था हो जायगी। अतः किसी एक कोष्ठको ही चेतन मानना ठीक है।

वेदान्तमतमें तो भौतिक तत्त्वोंसे भिन्न व्यापक आत्मा स्वतन्त्र मान्य है। अन्तःकरणकी उपाधिसे सब व्यवस्था उत्पन्न होती है। विकासवादमें तो कोष्ठाके अंदरका रस ही चैतन्य कहा जाता है, जो सर्वथा असंगत है। अनेक संयुक्त चैतन्योंसे देहकी व्यवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती। मनुष्य स्तनधारियोंकी श्रेणीमें भले हों, परन्तु न उनके परस्पर संयोगसे वंश चलता है, न सबकी समान आयु है, न तो समान भोग और न समान गर्भवास ही, यह कहा जा चुका है। ऐसी दशामें मनुष्यका बंदरादिके साथ मेल मिलाना उनमें पशुताके संस्कार लानेके प्रयत्नके सिवा कुछ नहीं। बालोंसे युक्त पैदा होनेवाले मनुष्य-भिन्न प्राणियोंके बालोंमें मृत्युतक कोई परिवर्तन नहीं होता। जो गाय जिस रंगकी होती है, आजीवन उसी रंगकी रहती है। यही दशा घोड़ा, गधा, बकरी, भैंस आदिकी है। बंदर और वनमनुष्य भी जिस रंगके पैदा होते हैं, मृत्युपर्यन्त उसी रंगके रहते हैं। परंतु मनुष्यके बालोंके रंग जीवनमें चार बार बदलते हैं—पैदा होनेपर सुनहरे रंगके, यौवनमें काले, वृद्धावस्थामें सफेद और अतिवृद्धतामें वे पिंगल हो जाते हैं। पशुओं और मनुष्योंमें यह भी अन्तर है कि सभी पशु पानीमें पड़ते ही तैरने लगते हैं, बंदरकी भी यही हालत है, परंतु मनुष्यको तैरना सीखना पड़ता है। बिना सीखे पानीमें पड़नेपर वह डूबकर मर जाता है। दो पैरपर खड़े होना, स्पष्ट बोलना, विचार करना, हँसना-रोना, गाना आदि मनुष्योंमें ही लक्षित होते हैं, पशुओंमें नहीं। बिना शिक्षाके सब काम कर लेना पशुओंमें ही है, मनुष्योंमें नहीं। इससे स्पष्ट है कि वह पशुश्रेणीका प्राणी नहीं है। इसी तरह पशुओं और वनस्पतियोंमें भी अन्तर है। पशु आड़े शरीरके हैं और वृक्ष उलटे शरीरवाले अर्थात् उनका सिर नीचेको रहता है। दूसरा अन्तर यह है कि पशुओंके देखने-सुनने आदिके लिये आँख-कान आदि इन्द्रियाँ होती हैं, वृक्षोंके नहीं। सबसे विरोधी अन्तर खुराकका है। वृक्ष जिस दूषित वायुको खाकर जीते हैं, अन्य प्राणी उसे खाकर मर जाते हैं। वृक्ष प्राणप्रद वायु देते हैं और प्राणनाशक

वायुका भक्षण करते हैं। अन्य प्राणियोंका क्रम इसके विपरीत है। इसी तरह वनस्पति एवं पशुओंका कोई भी शरीरसम्बन्धी उत्पादक सम्बन्ध कुछ भी प्रतीत नहीं होता। अतः मनुष्य न तो पशुश्रेणीका है और न वनस्पतिश्रेणीका ही, अतः तीनोंका ही कार्य-कारणभाव सर्वथा असंगत है।

वानर-कक्षाकी जो आठ विशेषताएँ दिखलायी गयी हैं, वे केवल वानरोंकी ही नहीं, उनमें आधीसे अधिक सब प्राणियोंमें पायी जाती हैं। जो दो-चार विशेषताएँ हैं, वे मनुष्यको पृथक् ही सिद्ध करती हैं। गर्भनाल भैंसका भी लगा रहता है। अँगूठेके घूमनेसे भी बंदर मनुष्यसे भिन्न जातिका सिद्ध होता है। वृक्षोंपर तो चिड़ियाँ और कीड़े भी रहते हैं। दूधके और स्थायी दाँत गाय, भैंस आदिके भी होते हैं। दाँतोंकी संख्या अन्य पशुओंमें भी अलग-अलग होती है। इसी तरह पाँच अँगुलियाँ गिलहरीके भी होती हैं। दो स्तन बकरीके भी होते हैं। इसी तरह मस्तिष्ककी बड़ाई भी मनुष्यता नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिक भी चींटीको बहुत बुद्धिमान् मानते हैं, उसकी-जैसी प्रबन्ध-शक्ति अन्यत्र नहीं देखी जाती। इससे 'बड़े या स्पष्ट मस्तिष्कसे ही बुद्धि और विचारोंकी उत्पत्ति होती है' यह नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः लीमर, मार्मोसेट आदि प्राणी स्वतन्त्र योनियाँ ही हैं। विकासक्रम दिखलानेके लिये ही उन्हें वानरकोटिमें मान लिया जाता है। इनका परस्पर वंश नहीं चलता, अतः ये वानरजातिके नहीं हैं। वनमानुषोंका भी बंदरके साथ नाममात्रका ही मेल है, वस्तुतः इनका एक-दूसरेके साथ कुछ भी वास्ता नहीं है। यदि गिबनकी माता अपने बच्चेका मुँह धोती है तो गाय-भैंस चाट-चाटकर ही अपने बच्चेको साफ-सुथरा रखती है। चिड़िया दाना लाकर अपने बच्चोंको खिलाती है। यदि चिम्पेञ्जी घाव दबाकर खून बंद करनेकी चेष्टा करता है, तो कुत्ता भी घास खाकर जुलाब लेता और चाटकर घावोंको ठीक कर लेता है। हाथी भी अपना इलाज आप कर लेता है। चिम्पेञ्जी नौ महीनेके बालककी बुद्धि रखता है, परंतु चींटी सब संसारका प्रबन्ध करनेकी बुद्धि रखती है। अतः मनुष्य वनमनुष्यकी श्रेणीका भी नहीं। मस्तिष्कका सिद्धान्त चींटीके दृष्टान्तसे कट जाता है, चींटीको मस्तिष्क होता ही नहीं। यदि चींटीको मस्तिष्क हो तो भी चिम्पेञ्जी आदिकी अपेक्षा तो नगण्य ही होगा। जब चींटी मस्तिष्कके बिना ही सब काम करती है, तब 'मनुष्य चौड़े मस्तिष्कसे ही सब काम करता है' यह नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह दो पैरपर सीधे खड़े होनेसे आँतकी बीमारी होनेकी कहानी भी व्यर्थ है। यदि खड़े होनेसे यह बीमारी होती, तो करोड़ों वर्ष पहले भी यह बीमारी होती और फिर इसके डरसे मनुष्य सीधा खड़ा क्यों होता? वस्तुतः

यह रोग अधिक भोजनकी लोलुपताके कारण ही होता है। पशु बिना भूखके नहीं खाता। डा० ईङ्ख कूनेका 'चिकित्साका नूतन विज्ञान' (न्यू साइंस ऑफ़ हीलिंग) पुस्तकमें कहना है—'आँत उतरनेकी बीमारी पेडूके भीतर विकृत द्रव्यके बोझकी खिंचावट है। आमाशयकी झिल्ली उन स्थानोंमें जहाँ जरा भी रुकावट मिल जाती है, अँतड़ियाँ आन्तरिक दबावके कारण छेद कर देती हैं और बाहर निकल आती हैं, भिन्न-भिन्न पुरुषोंकी झिल्ली फटनेके स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं, परंतु कारण सदैव एक ही रहता है। अतः इस रोगका कारण चोटखाना, गिर पड़ना, अथवा अन्य कोई बतलाना भूल है। झिल्ली अन्य कारणोंसे भी फट सकती है, परंतु आँत उतरनेका कारण चोट आदि नहीं है। युक्त चिकित्सा रीतिसे विकृत द्रव्यको शरीरसे निकाल देनेपर इस प्रकारके छिद्रोंमें आराम हो जाता है। फिर 'चौपायेसे द्विपाद होनेके कारण आँत उतरनेका रोग होने' की कल्पना सिर्फ बालकपन ही है। वनमनुष्य भी जबतक दो पैरसे खड़ा नहीं हो जाता, तबतक वह द्विपाद नहीं चतुष्पाद ही कहा जायगा। बंदरके हाथ कहनेको ही हाथ हैं, वस्तुतः वे पैर ही हैं। बंदर पैरसे भी वस्तु पकड़ता है। जंगली स्त्री भी पैरसे वस्तु उठा लेती है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वनमानुष बंदरजातिका है। अभ्यास करनेसे तो बाजीगर आँखसे पैसा उठा लेता है और भानुमती पानीके अन्दर मुँह डालकर जीभसे नथमें मोती पिरो देती है। क्या यह सब बंदरोंमें सम्भव है? अच्छे पहलवान पैरसे दाँव चलाते हैं, सरकसवाले पैरसे कितने ही अद्भुत काम कर लेते हैं। क्या यह सब बंदरोंके चिह्न हैं? इसी तरह अकलडाढ़की बात है। जंगली लोगोंमें यह जल्दी निकलती है, इससे भी मनुष्यके बंदरसे विकसित होनेकी बात सिद्ध नहीं होती। अङ्गोंका शीघ्र स्फुटित होना खाद्य, पेय, आचार, व्यवहार एवं जलवायुपर निर्भर होता है। जंगली मनुष्योंमें अकलडाढ़ कच्चे अन्न, कच्चे मांस खानेके कारण शीघ्र निकलती है, इसीलिये वह बड़ी भी होती है।

किसी-किसीके शरीरपर बालोंकी अधिकता गर्भमें पुरुष-शक्तिकी अधिकताकी द्योतक है। पुरुष-शक्ति अधिक होनेसे कभी-कभी स्त्रियोंके भी दाढ़ी-मूँछ निकल आते हैं। पुरुष-शक्ति कम होनेसे पुरुषोंमें भी दाढ़ी-मूँछ कम होते हैं। रोम, बाल, हड्डी, स्नायु आदि कठिन पदार्थ पितृ-शक्तिका परिणाम है। अतः किसीमें बाल अधिक देखकर बंदरोंकी संतान होनेकी कल्पना भी गलत है। बाल होना यदि वानरोंका चिह्न है, तब तो जिन पुरुषोंके दाढ़ी-मूँछ नहीं होती या जिन स्त्रियोंको होती है, वे किसके विकास माने जायँगे? क्या ऐसे भी बंदर दिखायी देते हैं, जिनकी दाढ़ीपर बाल स्त्रियोंकी भाँति बिल्कुल न हों? रहा वंश-परम्परागत बालोंका होना, सो वह तो सहज ही सिद्ध है। जब एक बार संतानके बाल निकल आये, तो वे धीरे-धीरे दस-पाँच पीढ़ियोंके बाद ही जाते हैं। ऐन्यू लोगोंकी संतानोंमें

अब बाल कम हो रहे हैं। इसलिये बालोंसे मनुष्य वानर-कक्षाका प्राणी सिद्ध नहीं होता।

अङ्गोंको न हिला सकना इस बातका सबूत नहीं है कि अब वे अङ्ग निकम्मे हो गये। क्या पीठपरसे मक्खी, मच्छर आदि उड़ानेकी अब आवश्यकता नहीं रही ? यदि कहा जाय कि 'इनको उड़ानेके अब दूसरे साधन हो गये हैं, तो आँख, भौंह आदि हिलानेकी शक्ति क्यों बनी हुई है ? इनकी ताकत तो सबसे पहले ही चली जानी चाहिये, क्योंकि हाथका साधन समीपमें है ही। वस्तुतः कर्मोंके अनुसार जिस प्रकारका भोग उपस्थित होता है, ईश्वर उसी प्रकारका शरीर और शक्ति देता है। गाल, भौंह, मस्तक, होंठका फड़काना-नचाना यदि बंद हो जाता तो नाटक-नर्तकोंकी भाव-व्यञ्जना कैसे होती तथा दो अपरिचित भाषावालोंका परस्पर परिचय और संवाद कैसे सम्पन्न होता ? सूँघकर पहचाननेकी शक्ति तो सभी मनुष्योंमें होती है। फूल-फल, इत्र, घी-तेल आदिके भेद सूँघकर सभी मनुष्य समझ सकते हैं। अभ्यासके कारण विशेषज्ञ इत्र आदिके भेद जितनी जल्दी बतला देते हैं, उतनी जल्दी ब्योरेवार हर आदमी नहीं बतला सकता। संगीतज्ञ लोग रागोंके भेद अभ्याससे समझ लेते हैं, अन्य नहीं। जंगली और अपढ़ लोग स्मृतिसे अधिक काम लेते हैं, इसलिये उनकी स्मरणशक्ति प्रबल होती है; परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि यह उनके पूर्वजोंका चिह्न है। राजस्थानमें पदचिह्न पहचाननेवाले लोग होते हैं। वे उससे चोरोंका पता लगा लेते हैं, उनका यह अभ्यास किस पूर्व जातिकी देन है ? रोएँ खड़े करना मनुष्यके आवश्यक नहीं, क्योंकि वह रोमवाला प्राणी नहीं। हर्ष, भय आदिके समय रोमाञ्च होनेपर रोएँ खड़े होते ही हैं, अतः रोमाञ्च करनेवाली नसोंको कमजोर नहीं कहा जा सकता। टूटा हुआ हाथ यदि कभी भी काम देता है तो उसे टूटा नहीं कहा जा सकता। रोमाञ्चवाली नसें न कमजोर हैं न रोज काम ही देती हैं। हाँ, उनपर पुरुषकी स्वाधीनता नहीं है कि जब चाहें तब रोएँ खड़े कर दिये जायँ। परंतु हृदय आदि यन्त्र भी तो स्वेच्छानुसार नहीं चलाये जाते, फिर भी वे सर्व अपना-अपना काम करते ही रहते हैं। फिर क्या हृदयको कमजोर कहा जायगा ? इसी तरह रोमाञ्चवाली नसें भी कमजोर नहीं कही जा सकतीं। रोमाञ्च मनुष्यका ही गुण है, अन्य पशुओंका नहीं, इसलिये इसकी औरोंसे तुलना नहीं की जा सकती। गलेकी थैली गुठली न खानेकी चेतावनीके लिये है। मनुष्य फल खाता है, उसे गुठली नहीं खानी चाहिये अन्यथा पाचन-शक्ति कमजोर हो जाती है। गर्भमें शरीरपर बाल छा जानेका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य पहले बंदर था। यदि गर्भमें पुराने रूपोंका दिखलाना आवश्यक हो, तो फिर यह भी बतलाना पड़ेगा कि सबसे प्रथम प्राणी अमीबा अपनी उत्पत्तिसे किसका रूप दिखला रहा है। गर्भमें छः महीने बाद बच्चेकी खाल

बाहर आने योग्य होती है। कई बच्चे सात महीनेमें भी उत्पन्न होते हैं और पूर्ण आयुतक जीते हैं। इसलिये उस खालकी जरायुमें भरे गंदे पानीसे रक्षा करनेके लिये ही गर्भमें बालोंका आयोजन होता है, क्योंकि बालोंके कारण बच्चेपर पानीका असर नहीं पड़ता। मनुष्यके बालोंके साथ वानरके बालोंकी तुलना भी नहीं हो सकती, क्योंकि किसी भी बंदरके सिरपर चार फीट लंबे बाल नहीं होते। किस बंदरकी दाढ़ी लंबी होती है। परंतु अनेकों मनुष्योंके सिर एवं दाढ़ीके बाल पर्याप्त लंबे होते हैं। संसारमें मनुष्यके अतिरिक्त किसी प्राणीके ऐसे बाल नहीं होते। 'मनुष्यका बच्चा रस्सी पकड़कर लटक सकता है', इसका भी यह तात्पर्य नहीं कि 'बंदरके बच्चेसे उसने पेटमें चिपके रहना सीखा है, इसलिये मनुष्यके बच्चेमें यह शक्ति है', किंतु पेटमें मुट्ठी बँधी रहनेके अभ्यासके कारण यह शक्ति होती है। पेटमें मुट्ठी इसलिये बँधी होती है कि यदि वह खुली रहे तो यह भय रहता है कि वह पेट-की किसी वस्तुको पकड़ सकती है और पैदा होते समय इससे कठिनाई पड़ सकती है, अतः ईश्वरके प्रबन्धकी यह दक्षता ही है।

मनुष्यकी पूँछ पूँछ नहीं, वह तो बढ़ा हुआ मांस ही है, इसीलिये उसमें मांस और नसें ही होती हैं, हड्डी नहीं होती। जिस प्रकार अमेरिकाकी आमेजन नदीके किनारे रहनेवाले मनुष्योंके ओष्ठ एक फुट लंबे होते हैं (सरस्वती वर्ष १०, अङ्क ४)। इसी प्रकार मनुष्योंके उस स्थानकी खाल भी बढ़ी होती हैं। फिर भी जैसे उक्त अमेरिकन, हाथीका विकास नहीं माना जाता, वैसे ही मनुष्योंको भी बंदरका विकास नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त मनुष्यको वनमानुषका विकास कहा जाता है। पर जब वनमानुषको पूँछ नहीं, तब वह मनुष्यको कैसे हो सकती थी। फिर यहाँ तो मनुष्य और वनमानुषके बीचमें एक और नरवानर भी माना जाता है। कई जगह फीलपाँव होता है, कहीं अंडकोष-वृद्धि, कहीं गले और कहीं पेटकी वृद्धि होती है। इसी तरह अफ्रीकामें ओष्ठ मोटा होता है। पर 'यह सब नये अङ्ग फूट रहे हैं', यह नहीं कहा जा सकता। इसी तरह स्थानविशेषकी किंचिन्मांसवृद्धिको पूँछ नहीं कहा जा सकता। जावामें मिली पुरानी खोपड़ी या तो बालककी हो सकती है अथवा फ्रीनालोजीके अनुसार किसी मूर्खकी। इसी तरह मनुष्य, बंदर आदि सभी पञ्चतत्त्वरचित हैं। अतः सबमें जूँ-लीख, नींद-नशा आदि समान हों, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? शास्त्र भी कहते हैं कि 'आहार-निद्रा, भय-मैथुनादि मनुष्य-पशु सभीमें समान ही होते हैं। मनुष्यमें धर्मकी ही विशेषता होती है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥ (चा० नीति)

मनुष्योंके बालोंके रंग बदलने और पशुओंके तैरने आदिकी विशेषताओंके भेद भी पहले बतलाये ही जा चुके हैं। स्त्रियोंके अनेक स्तनोंके आधारपर भी विकासवादी कहते हैं कि 'मनुष्य पहले स्याही, चूही

(चुहिया), कुत्ती, गिलहरी, बिल्ली एवं भल्लुकी होकर मनुष्य बना है।' परंतु अमेरिकाके मनुष्य लंबे ओष्ठवाले होनेसे भी हाथीका विकास सिद्ध नहीं होता। अफ्रीकाके 'बुशमैन' अँधेरेमें देखते हैं, शिकार पकड़ते हैं, फिर भी वे गीध, उल्लू, सर्पसे उत्पन्न सिद्ध नहीं होते। यों तो कुछ-न-कुछ लक्षण मनुष्यमें सभी प्राणियोंके पाये जा सकते हैं, इससे क्या यह भी कहा जाय कि 'मनुष्य सभी जातियोंमें होकर आया है ?' ऐसा माननेपर हेकल, हक्सले आदिकी इक्कीस श्रेणीवाली बात भी असत्य ठहरेगी। हिंदू-शास्त्र तो यह मानते हैं कि 'प्राणी चौरासी लाख योनियोंमें भटकनेके बाद ही मनुष्य बना है। इसीलिये वह पैदा होते ही दूध पीनेमें प्रवृत्त होता है। हर्ष, शोक, भयका संचार भी पिछली अनेक योनियोंमें उसके जन्म होनेकी सूचना है। उत्पन्न होते ही बालकमें पूर्वजन्मके संस्कार उपलब्ध होते हैं, तब गर्भमें भी अनेक संस्कारोंका होना उचित ही है। उन संस्कारोंके अनुसार शरीरकी बनावटमें भी कुछ अन्तर पड़ता है। सगर्भा माताके भावविशेषसे प्रभावित होनेपर भी गर्भपर उसका असर पड़ता है। इस तरह गर्भस्थके संस्कार, माताके विचार, व्यवहार, देश, काल, परिस्थितिकी विशेषतासे गर्भस्थ बालकमें भी विचित्रता आ जाती है।

विकासवादके विरुद्ध सृष्टिमें कितनी ही बातें हैं, जिनसे विकासका सिद्धान्त खण्डित होता है। नरोंके स्तन, बकरीके गलेके स्तन, घोड़ेमें स्तनोंका अभाव, भेड़ेकी सींग, मनुष्यकी छठी अँगुली आदि विकासवादके विशिष्टाविशिष्ट अङ्गोंकी कल्पनाको मिथ्या सिद्ध करते हैं। भैंसा, बैल, बकरा, हाथी, ऊँट, सिंह, कुत्ता, वानर और पुरुषोंके स्तन कब, क्यों और कैसे होते हैं, इनका उत्तर विकासवादमें नहीं है। अमीबामें नर-मादाका भेद नहीं था, आगे चलकर वह कैसे हो गया ? पहलेके प्राणियोंमें स्तन नहीं थे, चमगादड़से स्तन भी उत्पन्न होने लगे। जब पहले बिना स्तनके भी प्राणियोंका पोषण होता ही था, तब फिर स्तनकी क्या आवश्यकता आ पड़ी ? फिर नरोंके स्तनोंका क्या प्रयोजन और घोड़ेमें स्तन क्यों नहीं ? मेढ़ोंमें सींग परम्परासे नहीं होते। किसीको हो जाते हैं, किसीको नहीं। विकासवादी इनका क्या कारण कहेंगे ? वस्तुतस्तु गर्भस्थके संस्कारों, माता-पिताके विचारों एवं व्यवहारोंसे ही ये सब विकृत अङ्ग होते हैं। जिस तरह मनुष्योंमें आठ-दस स्तन और पूँछ आदिके चिह्न देखे जाते हैं, उसी तरह पशुओंमें किसी अन्य पशुके चिह्न नहीं दिखायी पड़ते। वानरोंमें न कभी आठ-दस स्तन होते हैं और न एक साथ एकसे अधिक बच्चे ही होते हैं। परंतु मनुष्यके अनेक स्तन एवं एक साथ अनेक बच्चे भी पैदा होते हैं, अतः न वानर ही अन्य पशुओंका विकास है और न मनुष्य वानरका ही विकास है।

पशुओंको पुराने जन्मकी स्मृति नहीं होती, मनुष्योंको पिछली स्मृतियाँ

होती हैं, इसीलिये मनुष्योंमें ८४ लाख योनियोंमेंसे किसीके संस्कार गर्भमें उद्भूत होनेसे वैसी रचना हो जाती है, पशुओंमें नहीं। यह भी मत है कि पुरुषका वीर्य अनेक कणोंका बना होता है, प्रत्येक कणमें एक-एक बालक उत्पन्न करनेकी शक्ति होती है। प्रायः एक कणहीसे बालक उत्पन्न होता है, अन्य घिसकर नष्ट हो जाते हैं। कभी-कभी कई कण रह जानेपर कई बालक उत्पन्न होते हैं। कभी कोई कण दूसरे कणसे जुड़ जानेपर वही कहीं छठी अँगुली, कभी पूँछके समान अङ्ग और कभी अनेक स्तन उत्पन्न कर देते हैं। एक ही भेड़में बकरा और भेड़ा दोनोंका संयोग होनेसे सींगवाला भेड़ा पैदा होता है। दैवात् सगर्भा गायसे साँड़का संयोग होनेपर पाँच पैर दो पूँछवाला बच्चा पैदा हो जाता है। कभी पाँच पैरोंकी गाय दिखायी देती हैं, उनमें दूसरी गायका पैर काटकर जोड़ दिया जाता है। विदेशोंमें ऐसे जोड़-तोड़की पद्धति चलती है।

संधियोनियाँ

इसी तरह संधियोनियोंके आधारपर भी विकाससिद्धिका प्रयत्न किया जाता है। 'जो प्राणी बिल्कुल दो श्रेणियों जैसा आकार रखते हैं, वे संधियोनिके हैं—जैसे चमगादड़, डकबिल, आर्किओप्टेरक्स, ओपोसम और कँगारू। जिनके कुछ अङ्ग निकम्मे हो गये हैं, जैसे ह्वेल, मयूर, शुतुर्मुर्ग और पेग्विन एवं जिनके कई अधिक अङ्ग स्फुटित हो गये हैं, जैसे कई स्तनोंकी स्त्रियाँ, पुच्छवाले मनुष्य।' पर सिद्धान्तानुसार इनमेंसे किसीसे भी विकासवाद सिद्ध नहीं होता। यह पुनर्जन्मका सिद्धान्त माननेसे ही सिद्ध होता है। उड़नी गिलहरी और चमगादड़, वानर और वनमानुष—इन दोनोंमें एक उन्नत और दूसरा अनुन्नत है। इनमेंसे कोई निम्नश्रेणीसे उच्चश्रेणीमें जा रहा है और कोई उच्चश्रेणीसे निम्नश्रेणीमें उतर रहा है।

विकासवादीका कहना है कि 'आदिका प्राणी वनस्पति और रेंगनेवाले प्राणियोंके बीचका था।' परंतु यह भी सत्य नहीं। वस्तुतः पहले वनस्पति हुए, फिर जन्तु। वनस्पति कटकर दो हो जानेपर भी जीवित रहते हैं, पर जन्तु कटनेपर जीवित नहीं रहते। कहा जाता है कि 'मानेर कृमि और केंचुए कटकर भी जीवित रहते हैं।' मानेर तो बहुत सूक्ष्म हैं, उन्हें कृमि कहना भी कठिन है, अतः वे वनस्पति ही हैं। केंचुए बड़े होते हैं, वे सर्पकी तरह हड्डीवाले नहीं होते। ये वृक्षोंमें लिपटी हुई पीले रंगकी नागवेलके ढंगके होते हैं। इनमें और नागवेलमें चैतन्यका बहुत थोड़ा ही अन्तर है। वे भी वृक्षोंपर रेंगकर फैलते हैं। टुकड़े हो जानेपर दोनों ही जीवित रहते हैं। किंतु नागवेल अंकुर स्थानसे कटनेपर ही जीवित रहती है, हर जगहसे कटनेपर जीवित

नहीं रहती। यही स्थिति केचुएकी भी है। वह भी जगह-जगहसे कटनेपर जीवित नहीं रहता, खास जोड़परसे कटनेपर ही जीवित रहता है। केचुएके बीचमें एक स्थानपर छोटे-छोटे छिद्र होते हैं। उन्हीं छिद्रोंमें दूसरा प्राणी उत्पन्न करनेका बीज रहता है। इनमें नर-मादाका भेद नहीं रहता। वे परस्पर लिपटकर उन्हीं बीज छिद्रोंमें बीजकी बदली और पुष्टि-वृद्धि करते हैं। इनको बीचसे काटनेपर यदि बीज-छिद्र पूँछकी ओर रह गया, तो वह भाग भी जानदार हो जाता है। पर यदि बीज-छिद्र पूँछकी ओर न रहा तो वह जीवित नहीं रहता। जैसे मनुष्यके कटे हुए हाथ-पैर जिंदा नहीं रहते, परंतु सिर एवं धड़का अंश जिंदा रहता है। वैसे ही केचुएके सिरकी ओरका अंश स्वतः जीवित रहता है, किंतु पूँछकी ओरका अंश कट जानेपर जीवन-बीज-छिद्रोंके कारण जीवित हो जाता है। केचुओंकी वनस्पतिके साथ अधिक तुलना है। वृक्षोंमें कोई फलोंके द्वारा, कोई डालोंके द्वारा और कोई जड़ोंके द्वारा वंश-विस्तार करते हैं। गुलाब आदिके डंठलसे वृक्ष बन जाता है, उसीसे केचुएका मेल मिलता है। जैसे अंकुरहीन गुलाबका डंठल सूख जाता है, वैसे जीवन-बीज-छिद्र-हीन केचुआ भी सूख जाता है। जैसे मनुष्यों और पशुओंके बीचमें बंदर वनमानुष हैं, जैसे—पशुओं और पक्षियोके बीचमें उड़नेवाली गिलहरी और चमगादड़ होते हैं; वैसे ही कीड़ों और वनस्पतियोंके बीचमें नागवेल और केचुआ है। केचुआमें कीड़ापन और नागवेलमें वृक्षपन अधिक है। केचुआ नागवेलसे होकर आया है और कृमि बनने जा रहा है। नागवेल केचुआसे होकर आयी है और वनस्पति बनने जा रही है। इस तरह समस्त संधियोनियाँ भिन्न-भिन्न योनियोंमें भटकनेके लिये पुलका काम दे रही हैं। इस तरह किसी प्राणीमें दो जातियोंका चिह्न देखकर विकास मानना भ्रम ही है।

इसी तरह अङ्गोंके ह्रासकी कल्पना भी व्यर्थ है। ह्वेलके पैर और मोरके पंख अब भी काम दे ही रहे हैं, यह पीछे कहा जा चुका है। अङ्गोंके स्फुटित होनेकी बातोंसे भी विकास सिद्ध नहीं होता, यह भी बतलाया जा चुका है। 'नवलकिशोर प्रेस' लखनऊसे प्रकाशित, 'विश्वकी विचित्रता' नामक पुस्तकमें लिखा है कि 'प्रयागकी प्रदर्शनीमें एक मत्स्य स्त्री आयी थी और एक चुकंदरकी जड़में मनुष्यकी सूरत तथा एक दूसरे वृक्षमें मनुष्यके हाथकी शकल देखी गयी।' क्या वृक्षों और मछलियोंके पूर्व भी मनुष्य था? वृक्षों और मछलियोंके पूर्व तो विकासवादी मनुष्यका विकास नहीं मानते। विकासकी विधि और प्रकारके सम्बन्धमें विकासवादी कहते हैं कि 'आदिसे ही भिन्न-भिन्न प्राणियोंके जोड़े उत्पन्न हुए।' पर यह युक्ति शून्य है। प्राणियोंकी भिन्नताका कारण परिस्थिति और स्वाभाविक परिवर्त्तन ही है यन्त्र निर्माताके अनुकूल बनता है। अन्तिम अवस्थातक पहुँचनेके पूर्व यन्त्रकी

कई जातियाँ बन जाती हैं। अन्तमें सर्वश्रेष्ठ रचना स्थिर रहती है। यही प्राणियोंके विकासका दृष्टान्त है। विकासकी विधिमें सबसे प्रथम बात अनुकूलन (एडाप्टेशन्) की है अर्थात् परिस्थितिके अनुसार प्राणी बनता है। परिस्थितियोंके अनुसार प्राणियोंमें परिवर्तन होते हैं और संततिमें वे परिवर्तन संक्रान्त होते हैं । परिवर्तन (वेरियेशन) में भी परिस्थिति, कार्य और पैतृक संस्कार हेतु होते हैं । सर्दी-गर्मी, नदी-नाले, वन-पहाड़में बसनेवालोंमें प्रेम, भय, भूख, प्यास और बीमारी आदि परिस्थितियाँ होती हैं। प्राणी जब ठंडे देशसे गरम देशमें आता है, तब उसे क्षयकी बीमारी होती है। गरम देशसे ठंडे देशमें और ठंडे देशसे गर्म देशमें आनेपर फेफड़ेकी बीमारी होती है। अंधेरेमें वृक्षोंके पत्ते पीले पड़ जाते हैं। ठंडे देशके कुत्ते गरम देशमें जानेपर मर जाते हैं। अवर्षणके साथ वृक्ष सूख जाते हैं और उनमें नाना प्रकारके अवयव फूट पड़ते हैं। कार्य (फंक्शन) से भी परिवर्तन होते हैं। उदाहरणार्थ लोहारका हाथ कठोर हो जाता है । हाथ ऊँचा रखनेवाले साधुओंका हाथ पतला हो जाता है। इसी तरह पैतृक संस्कारोंसे भी परिवर्तन होता है । जैसे कुष्ठ आदि बीमारियाँ संतानोंमें होती हैं। विलायतमें प्रायः भूरे बाल और काली आँखवाले स्त्री-पुरुषोंसे श्वेत केश और भूरी आँखवाली संतान होती है।'

प्राकृतिक चुनाव

विकासकी दूसरी विधि डार्विनके प्राकृतिक चुनावकी है, जिसके पाँच तत्त्व हैं—'(१) सर्वत्र विद्यमान परिवर्तन है, (२) अत्युत्पादन, (३) जीवन संग्राम, (४) अयोग्योंका नाश और योग्योंकी रक्षा तथा (५) योग्यताओंका संततिमें संक्रमण। परिवर्तनका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक प्राणीकी संततिमें भी भेद होता है। इस भेदका भी नियम है। इंग्लैंडमें सबसे अधिक संख्या उन लोगोंकी है, जो ५ फुट ८ इंचसे ९ इंचतक लंबे होते हैं। इनसे कम वे हैं, जिनकी लंबाई ५ फुट ७ इंचसे ८ इंचतक और ५ फुट ९ इंचसे १० इंचतक है। इनसे भी कम वे हैं, जिनकी लंबाई ५ फुट ५ इंचसे ६ इंचतक और ५ फुट १० इंचसे ११ इंचतक हैं । इन सबसे कम वे हैं, जिनकी लंबाई इनसे भी कम या ज्यादा होती है। इससे यह नियम बनता है कि यदि पर्याप्त संख्यामें औसत लंबाई ५ फुट ८ इंच ज्ञात है और उससे अमुक न्यून लंबाईवालोंकी संख्या भी ज्ञात है, तो अधिक लंबाईवालोंकी संख्या बतलायी जा सकती है। यह परिवर्तनके निश्चित नियमका उदाहरण है। 'अत्युत्पादन'का अभिप्राय यह है कि १५ वर्षमें चिड़ीके जोड़ेसे २ अरबसे कुछ अधिक संतति उत्पन्न होती है। पेटका एक कीड़ा ३० करोड़ अंडे देता है। इनमेंसे कई कीड़े ऐसे हैं, जो २४ घंटेमें १ करोड़ ७० लाख कीड़े उत्पन्न करते

हैं। यदि सुख-शान्ति हो तो २५ वर्षमें मनुष्य-संख्या भी दूनी हो जाती है। एक जोड़े हाथीसे ८०० सौ वर्षोंमें २ करोड़के करीब संतति होती है, 'जीवन-संग्राम' का तात्पर्य यह है कि सृष्टिमें हर जगह संग्राम हो रहे हैं। चींटियोंमें ही युद्धके कारण करोड़ोंकी मृत्यु होती है। कई मछलियाँ एक ऋतुमें १॥ करोड़तक अण्डे देती हैं, परंतु उनके सिरपर बैठे हुए शत्रु उन्हें नष्ट कर देते हैं। एक ऋतुतक रहनेवाले पौधोंसे २० वर्षकी अवधिमें १० लाख पौधे पैदा होते हैं, पर उनके सब बीज अच्छी भूमिमें नहीं पड़ते, इससे संततिका नाश हो जाता है। वर्षा, तूफान, भूकम्प, सिंह, व्याघ्र, सर्प आदिसे और स्वजातियोंसे सर्वदा असंख्य प्राणियोंका नाश हुआ करता है। इसी तरह नाना प्रकारकी बीमारियाँ भी करोड़ों प्राणियोंका नाश किया करती हैं, यही जीवन-संग्राम है। इन संग्रामोंमें वही बचते हैं, जो दूसरोंसे योग्य होते हैं और वे ही मरते हैं, जो निर्बल एवं अयोग्य होते हैं। प्राकृतिक चुनावकी प्रवृत्ति रक्षाकी अपेक्षा नाश करनेकी ओर अधिक है। एक ही जातिके भिन्न-भिन्न प्रकारके लाखों व्यक्तियोंको उत्पन्न करनेमें प्रकृतिका यही हेतु प्रतीत होता है कि यदि इनमेंसे दो, चार या दस-पाँच भी परिस्थितिके अनुकूल होकर बच जायँ तो उनसे उस जातिका अस्तित्व बना रहेगा। यही योग्यताओंका संततिमें संक्रमण होनेका ढंग है। यही डार्विनकी विकास-विधि है।

तीसरी विधि लामार्ककी है। उसके अनुसार 'कार्यसे प्राप्त हुआ परिवर्तन संततिमें आता है। जिराफ नामके पशुने पत्तोंके लिये गरदन उठायी, उसकी संततिने भी प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि गर्दन आगे बढ़ गयी। अगली संततिने और प्रयत्न किया, गर्दन और अधिक बढायी। इस तरह प्रयत्न करनेसे उसकी गर्दन बहुत अधिक बढ़ गयी।'

'विकासकी एक और विधि कृत्रिम और प्राकृतिक चुनावकी भी है। पशुओंके पालनेवाले कृत्रिम चुनावसे ही अच्छे बैल और घोड़े उत्पन्न करते हैं। किसान अच्छे बीजसे ही अच्छी फसल पैदा करते हैं। इस कृत्रिम चुनावसे ही कबूतर अनेक प्रकारके बनाये जाते हैं। जापानके मुर्गोंकी पूँछ बीस-बीस फुटतक लंबी कर दी गयी है। यह कृत्रिम चुनावकी विधि है। आस्ट्रेलियाके शशकोंमें पहले वृक्षपर चलने लायक नाखून नहीं थे, पर अब वैसे ही नाखून निकल रहे हैं, यह प्राकृतिक चुनावका नमूना है। विकासमें कार्य-कारण-भाव देखा जाता है। इंग्लैंडकी गायें विधवा स्त्रियोंके अधीन जीती हैं। वहाँ एक 'क्लवर' नामकी वनस्पति होती है, जिसकी वृद्धि मक्खियोंपर निर्भर है। जब चूहे मक्खियोंके अंडे खा जाते हैं, तब घासकी वृद्धि मारी जाती है। इंग्लैंडकी विधवा स्त्रियाँ बिल्ली पालती हैं। बिल्लियाँ चूहोंको खा जाती हैं, तब मक्खियोंकी खूब वृद्धि होती है।

इन मक्खियोंके पंखोंमें केसर पराग उस घासमें संयुक्त होता है, जिससे क्लवरकी खूब वृद्धि होती है और गाएँ आनन्दसे खाती हैं, एवं च उनकी वंश-वृद्धि होती है। इस तरह गायोंका विधवाओंके साथ कार्य-कारण-भाव देखा जाता है। भारतमें भी जहाँ बिल्लियाँ होती हैं, वहाँ चूहे नहीं होते और जहाँ चूहे नहीं होते, वहाँ प्लेग भी नहीं होता। यह भी कार्य-कारण-भावका नमूना है।'

आनुवंश परम्परापर डार्विनकी राय है कि 'शरीरके प्रत्येक अवयवके प्रत्येक कोष्ठसे उस-उस कोष्ठके गुणधारी बहुत सूक्ष्म भाग उत्पन्न होते हैं। ये सूक्ष्म शरीरमें संतति-उत्पादक रजःकणोंमें इकट्ठे हो जाते हैं। इनमें उसी प्रकारके शरीर उत्पन्न करनेकी शक्ति होती है, जिस प्रकारके शरीरमें ये बनते हैं। ये शरीरकी प्रकृतियाँ ही हैं। इन्हींसे शरीर उत्पन्न होते हैं। इसपर वाइजमैनकी राय है कि शरीरके प्रत्येक कोष्ठमें क्रोमेटिन रहता है। इसीमें आनुवंशिक गुण रहते हैं। इसमें माता और पिताके समान गुण विद्यमान रहते हैं। गर्भ-वृद्धिके साथ-साथ यह भी बढ़ता है। इसकी धारा संतति, अनुसंततितक लगातार बहती चली जाती है। यदि बीचमें कोई परिवर्तन उद्भूत होता है तो वह संततिमें संक्रान्त नहीं होता। यह सूक्ष्म वीक्षण-यन्त्रसे देखा गया है। वैज्ञानिक पहले इसे नहीं मानते थे, किंतु अब मानने लगे हैं। इससे डार्विनका सिद्धान्त पुष्ट होता है।' विद्वान् मेण्डलने यह भी निश्चय किया है कि 'पुत्रका पिताकी अपेक्षा पितामहके साथ अधिक मेल दिखायी पड़ता है।' डी० ह्वाइजका कहना है कि 'नयी-नयी जातियाँ कभी-कभी एकदम बिना किन्हीं पूर्व चिह्नोंके उत्पन्न हो जाती हैं। इन्हें वह 'स्वयं परिवर्तित जाति कहता है।' ओसबोर्न बाल्डविन तथा लायडमार्गनका कहना है कि 'डार्विन और लामार्कका मत मिला देनेसे प्राणियोंका विकास अधिक अच्छे प्रकारसे सिद्ध किया जा सकता है।' नेगेली तथा ऐमरके सिद्धान्तपर कइयोंको अधिक विश्वास है। अज्ञात तथा अज्ञेय शक्ति तथा आकस्मिक घटना और हेतुवादपर भी अनेकोंका विश्वास होने लगा है। सम्भव है इससे विकास-विधिका अधिक स्पष्ट विवेचन हो सके।

परंतु इससे भी विकास सिद्ध नहीं होता। विकासवाद माननेवाले अनेक विद्वानोंने यह स्वीकार कर लिया है कि 'बहुतसे प्राणी अलग-अलग पैदा होते हैं और बहुतसे बिना रूप बदले आदि कालसे अबतक वैसे ही बने हुए हैं।' यह हक्सलेने अपने 'एनिवर्सरी ऐड्रेस'में कहा है कि प्रत्येक प्राणी और वनस्पतिकी महान् जातियोंमें विशेष व्यक्तियाँ ऐसी होती हैं, जिनको मैं 'परसिस्टेन्ट टाइप' (स्थिर आकृति) का नाम देता हूँ। इनके स्वरूपमें आदि सृष्टिसे लेकर वर्तमान कालतक कोई ऐसा विकार नहीं हुआ, जो प्रतीत हो सके।' डी ह्वाइजने भी कहा है कि 'नयी जातियाँ बिना किन्हीं पूर्व चिह्नोंके उत्पन्न हो जाती हैं।' टी० एल० स्ट्रेंज महोदयका अपनी पुस्तकमें कहना है कि 'जल-कृमियोंमें बहुत

प्रकारके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंवाले जलजन्तु प्रतिदिन पैदा होते रहते हैं। ये एक ही जन्तुसे विकृत या विकसित होकर पैदा नहीं होते, किंतु बिल्कुल स्वतन्त्ररूपसे बिना दूसरेकी अपेक्षाके एक ही समयमें भिन्न-भिन्न शरीरोंमें उत्पन्न होते हैं।' इन बातोंसे यह सिद्ध होता है कि विभिन्न प्राणियोंके अलग-अलग जोड़े ही उत्पन्न होते हैं। इसीलिये आज भी अलग-अलग प्राणी अपने-अपने जोड़ोंके साथ नये-नये रूपमें उत्पन्न होते देखे जाते हैं। अतः यह आवश्यक नहीं कि एक प्राणी दूसरे प्राणीसे विकसित होकर बने। लाखों प्राणी सृष्टिसे लेकर आजतक एक ही आकारमें बने हुए हैं। अमीवा स्वयं उसी आकारमें अबतक बना है जिसमें वह उत्पन्न हुआ था।

प्राणियोंकी उत्पत्तिमें यन्त्रका दृष्टान्त भी व्यर्थ-सा ही है। यन्त्र अपने या दूसरोंके लिये बनाया जाता है, यन्त्रके लिये नहीं। परंतु यह शरीर, शरीर बनानेवालेके लिये नहीं बनाया जाता, प्रत्युत वह अन्य शरीरोंके लिये ही बनाया जाता है। कोई साइकिल उसी साइकिलके लिये नहीं बनायी जाती। अतः शरीरकी यन्त्रसे तुलना करना ठीक नहीं। यह पीछे कहा जा चुका है कि यन्त्र उत्तरोत्तर टिकाऊ बनते हैं, पर यहाँ तो सर्प और कछुआ १५० वर्ष जीते हैं, उनसे आगे बननेवाले दूसरे प्राणी उनसे कम जीते हैं। विकासवादके अनुसार पक्षियोंके बाद मनुष्यका विकास हुआ है। पक्षीमें उड़नेकी शक्ति थी, वह मनुष्यमें नष्ट हो गयी। मनुष्य आज वायुयान बनानेमें सिर मार रहा है। 'इसी तरह अनुकूलनसे परिवर्तन और परिवर्तनका संततिमें संक्रमण बतलाया जाता है।' विकासवादका यही मौलिक सिद्धान्त है। अनुकूलन, परिवर्तन और संक्रमण—ये तीनों शब्द महत्त्वके हैं। जब जैसा देश, काल और परिस्थिति आये, तब उन्हें सहन कर लेना और उनके अनुसार हो जाना 'अनुकूलन' कहा जाता है। गर्मीके दिनोंकी खालसे सर्दीके दिनोंकी खालमें बड़ा अन्तर होता है। कसरत करनेवाले और न करनेवालेके शरीरमें अन्तर पड़ता है। इसी तरह परिवर्तनोंका संततिमें संक्रमण भी होता है।' यह बातें ठीक हो सकती हैं, परंतु इतनेसे यह तो सिद्ध नहीं होता कि साँपसे भैंस बन जाती है। यदि प्रश्न किया जाय कि 'पशुओंके शरीरपर बाल क्यों होते हैं?' तो उत्तर यही हो सकता है कि 'सर्दीसे बचनेके लिये।' टेराडेल्फिगोके निवासी सर्दीके कारण इतने ठिगने हो गये कि डार्विनको उन्हें मनुष्य समझनेमें भी शंका हो गयी। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अनुकूलनके लिये उनके शरीरोंपर बड़े-बड़े बाल क्यों नहीं निकले? विकासवादियोंके पास इसका कोई उत्तर नहीं है। परंतु एक आस्तिक तो यही कह सकता है कि उनकी देहपर रीछोंकी तरह बड़े-बड़े बाल हो जाने या अन्य अवयवोंमें हेर-फेर हो जानेसे उनके साथ समान-प्रसव नहीं रह जाता और उनकी

एक अलग ही जाति हो जाती है। परंतु परमेश्वरको एक जातिसे दूसरी जाति बनाना मंजूर नहीं, अतः अनुकूलन उतना ही होता है, जितनी उस प्राणीकी रक्षासे सम्बन्ध रखता है। यह नहीं कि कुछ-का-कुछ हो जाय। अतएव टेराडेल्फिगोके मनुष्योंमें अनुकूलनसे जितना परिवर्तन होना अनिवार्य था उतना ही हुआ। यन्त्रके उदाहरणसे तो कह सकते हैं कि यह छोटे शरीरकी मशीन पहली मशीनसे खराब ही बनी। कोई मनुष्य किसी देशमें जाकर छोटा या दुबला हो जाय तो उसे अनुकूलनके बदले प्रतिकूलन ही कहना ठीक है।

उसी प्रकार परिवर्तनका संततिमें संक्रमण भी स्पष्ट दिखायी पड़ रहा है। टेराडेल्फिगोके मनुष्योंने परिवर्तित होकर जितना परिवर्तन अपनी संततिको दिया, उतना ही आज कायम है। जितने ठिगने वे हजारों वर्ष पूर्व थे, उतने ही अब भी हैं, यह नहीं कि प्रतिवर्ष अधिकाधिक ठिगने होते जाते हों। यही गुणोंका संक्रमण है। अतः पिता, पितामहकी भाँति बन जाना, कुछ-का-कुछ हो जाना संक्रमण नहीं। हजारों वर्षोंसे बंदरों, मनुष्यों तथा अन्य पशुओंमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं दिखायी दे रहा है। यदि परिवर्तन स्वाभाविक होता तो इनमें भी कुछ-न-कुछ परिवर्तन अवश्य लक्षित होना चाहिये था। विकासवादके मतानुसार पैतृक-संस्कारका प्रश्न बड़े महत्त्वका है। इसपर अभी पूरा विचार नहीं हुआ। विद्वान् वेकन परिस्थितिको महत्त्व देता है। उसके अनुसार 'गर्मदेशमें रहनेसे शरीर काला हो जाता है और वह रंग उसकी संततिमें आता है।' पर लामार्क इसका कारण कार्यको बतलाता है। लोहारका दाहिना हाथ कार्यके कारण अधिक मजबूत होता है। यह बात उसके लड़केमें जन्मसे ही होती है। परंतु डार्विन इन दोनोंके विरुद्ध प्राकृतिक चुनावको ही महत्त्व देता है। वह प्राकृतिक चुनावको ही संक्रमणका कारण मानता है। यद्यपि विकासवादियोंमें भी मतभेद है, तथापि परिवर्तन सभी मानते हैं और वह परिवर्तन आस्तिकको भी मान्य ही है। एक ही घरमें भिन्न-भिन्न आकृति, बल और बुद्धिके मनुष्य हैं, देश-देशान्तरोंके भी मनुष्योंमें अन्तर होता है, पर तो भी वे सब-के-सब हैं मनुष्य ही।

डार्विनके प्राकृतिक चुनावमें सबसे पहली बात है 'परिवर्तनका सर्वत्र विद्यमान होना।' किंतु हम देखते हैं कि प्रकृतिमें सर्वत्र परिवर्तन विद्यमान नहीं है। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, अमीवा, हाइड्रा तथा लाखों अन्य प्राणी जैसे पहले थे, वैसे अब भी हैं। यही विकासवाद और आस्तिकवादमें भेद है। विकासवादी सब जगह अव्याहत गतिसे परिवर्तनका जारी रहना मानते हैं। आस्तिकवादमें वस्तुमें आयुके अनुसार परिवर्तन होता है। अनेकों

प्राणी बालकसे युवा हो रहे हैं और अनेकों युवा वृद्ध हो रहे हैं। इसे ही ह्रास-वृद्धि भी कहा जा सकता है। परंतु आस्तिकवादी ऐसा परिवर्तन नहीं मानते कि पृथ्वी धीरे-धीरे रेल बन रही है और समुद्र धीरे-धीरे पुच्छल तारा हो रहा है। इसी तरह कबूतर भालू नहीं बन रहा है, घोड़ा, साँप और गधा बिच्छू नहीं बन रहे हैं। जल, वायु, माता-पिता और पूर्व संस्कारोंके कारण जो परस्पर भिन्नता दिखायी पड़ती है, उतना ही परिवर्तन है। यह समझना कि 'आगे चलकर किसी देशके आदमी हरे रंगके हो जायँगे, किसी देशके ऊँटोंके सिरपर सींग निकल आयेंगे, ठीक नहीं है। जो प्रदेश आज समुद्रमें हैं, यद्यपि अभी उनके जलवायुका पता नहीं, यदि वहाँ भूमि निकल आये और उसपर मनुष्य बस जायँ, तो लाखों वर्षोंमें वे किस प्रकारके हो जायँगे, यह कहना भले कठिन हो, पर इतना तो निश्चय है कि जो रूप, रंग और आकार इस समय संसारमें प्रस्तुत है, इन्हींमें थोड़े बहुत हेर-फेरके साथ वहाँ भी रूप-रंग और आकार-प्रकार होगा। यह नहीं कहा जा सकता कि अटलान्टिक समुद्र सूख जानेपर वहाँके निवासी ८५ हजार वर्षोंमें बैंगनी रंगके हो जायँगे और उनके कान बढ़कर पैरतक आ जायँगे, जिनसे कि वे लोग पक्षीके पंखोंका काम ले सकेंगे।

परिवर्तनका एक नमूना अमेरिकामें तैयार हो रहा है। यूरोपसे जो लोग अमेरिकामें जाकर बसे हैं, उनका आकार-प्रकार अमेरिकाके मूल निवासी लाल भारतीयों (रेड इंडियन) जैसा हो रहा है। अंग्रेजोंको इग्लैंडसे अमेरिका गये हुए अभी ४०० वर्ष ही हो रहे हैं, परंतु इतने ही थोड़े समयमें इंग्लैंडवाले रेड इंडियनोंके रूपके होते जा रहे हैं। इससे मालूम पड़ता है कि रेडइंडियनोंका परिवर्तन बंद है अन्यथा अंग्रेज यदि रेडइंडियनोंके समान हो गये तो रेडइंडियन अबतक कुछ और ही तरहके हो गये होते। किंतु वहाँके जलवायुने जितना कुछ परिवर्तन उनमें करना था, उतना लाखों वर्ष पूर्व ही कर डाला। इस बातसे भी विकासवादकी निरन्तर परिवर्तनवाली बात कमजोर हो जाती है। पूर्वोक्त टेराडेल्फिगो और अमेरिकाके उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि परिवर्तन सीमित ही होता है, निःसीम नहीं। अतः इस मर्यादित परिवर्तनसे डार्विनका अमर्यादित परिवर्तन सिद्ध नहीं होता।

दूसरी बात अत्युत्पादनकी है। अत्युत्पादन और उत्पादनमें बहुत अन्तर है। उत्पादन ईश्वरीय एवं प्राकृतिक तथा अत्युत्पादन अस्वाभाविक होता है। ईश्वरीय, शास्त्रीय नियमोंके पालनसे नियमित उत्पादन होता है। अशास्त्रीय, अस्वाभाविक, अनाचारों, पापोंके बढ़नेपर अत्युत्पादनका क्रम चलता है। जन्म, मरण तथा विविध सुख-दुःखोंका अनुभव पाप-पुण्यादि कर्मोंका ही फल है। जन्म-मरण आदिमें भी दुःख ही होता है, यह अधिकांश पापोंका फल है। तत्त्वज्ञानसे

मोक्ष होता है। कर्म एवं उपासनाके समुच्चयसे ब्रह्मान्त देवलोकोंकी और केवल कर्मकाण्डसे पितृलोककी प्राप्ति होती है। जो लोग कर्म एवं उपासना दोनोंसे ही भ्रष्ट हैं, पाशविक काम, कर्म, ज्ञानमें निरत हैं, उन्हींके लिये कीट-पतंगादि योनियोंमें जन्म कहा गया है—'जायस्व म्रियस्व इत्येतत् तृतीयं स्थानम्।' इनमें जन्म-मरणादि कष्ट ही अधिकांश भोगना पड़ता है। इनके जन्ममें पञ्चाग्नि, द्युलोक, पर्जन्य, भूमि, पिता, माता आदि अपेक्षित नहीं होते। कई ढंगके प्राणी वृष्टिसे, कई सड़ी लकड़ियोंसे, कई गोबरसे, कई गीले बालोंसे, कई विविध मलोंसे और कई तो मक्षिकाओंके विष्ठारूप (एक मक्षिका जो कण-कणमें विष्ठारूपसे सैकड़ों सूक्ष्म कीड़े उत्पन्न करती है) उत्पन्न होते हैं। ये सभी कर्मोंके ही फल हैं। मनुष्ययोनिके अतिरिक्त प्रायः अन्य सब भोगयोनियाँ हैं, भले ही हनुमान्, अंगद, बालि, सुग्रीव, जाम्बवान्, जटायु, संपाति, गरुड़, अरुण आदि कुछ विशिष्ट जातिके विशिष्ट प्राणी विशिष्ट ज्ञानोपासनादिसम्पन्न हों। इसी तरह राक्षस, दानव और शेष, वासुकि आदि विशिष्ट नागोंमें भले ही विशिष्ट ज्ञान-उपासनादिकी बातें हों, परंतु व्यापकरूपसे मनुष्य ही कर्मयोनि है, अन्य सब भोगयोनियाँ हैं। सृष्टिकी विचित्रता कर्मोंकी विचित्रतासे होती है। इसी आधारपर सर्वज्ञ महर्षियोंको अनुभूत कुछ विचित्र ढंग, विशिष्ट परिमाणके भी मनुष्य, पशु, पक्षी, नाग आदिका वर्णन वाल्मीकि-रामायण, महाभारत आदिमें मिलता है। कृत, त्रेतादि युगोंमें सत्त्वगुणकी अधिकता होती है, इसलिये सदाचार, सद्विचार एवं नियमित धार्मिक प्रवृत्तिका ही बाहुल्य होता है, अतः प्राणियोंको क्षुद्र जन्तुओंकी योनियोंमें जानेकी नौबत कम ही आती है। द्वापर, कलियुगोंमें रजोगुण, तमोगुणके विस्तार, पाप-प्रवृत्तिकी बहुलता आदिसे क्षुद्र जन्तुओंकी बहुतायत होती है। हिंसा, भूख, युद्ध एवं प्राकृतिक विप्लवोंसे अकालमृत्यु भी बढ़ती है। अन्तिम लक्ष्य सभीका यही है कि सदाचारी, भक्त, ज्ञानी बनकर, मुक्त होकर भगवत्पदको प्राप्त करना। स्वाभाविक, प्राकृतिक नियमोंका उल्लङ्घन करने, जंगल काट डालने, विविध प्रकारके कल कारखाने तैयार करने और यथेष्ट चेष्टादिसे सृष्टिमें बहुत उथल-पुथल हुए हैं, मेघ विद्युत् एवं भूगर्भमें इन कारणोंसे अनेक अस्वाभाविक परिवर्तन हुए हैं, अतः प्राणियोंमें अल्पायु, अल्पशक्ति आदि अनेक कृत्रिम परिवर्तन हुए हैं। ईश्वरीय, शास्त्रीय प्रवृत्तिके अनुसार मनुष्य बहुत कुछ अनुकूल परिवर्तन कर सकता है।

डार्विनके मतानुसार 'जीवन-संग्राममें प्रकृति योग्योंका ही चुनाव करती है' यह बात सत्य नहीं है। इंग्लैंडके मनुष्योंकी ऊँचाईका जो नियम पीछे कहा गया है, तदनुसार अधिक संख्या मध्यमें लंबाईवाले मनुष्योंकी ही है, बहुत नाटे और बहुत लंबे लोगोंकी संख्या कम ही है। 'योग्योंके चुनाव' का सिद्धान्त यदि ठीक हो तो लंबे लोगोंकी ही संख्या अधिक होनी चाहिये। अमीबा सबसे छोटा और निर्बल

जन्तु है, पर उसकी संख्या सबसे अधिक पायी जाती है। अन्य कीट-पतंगोंकी भी संख्या सर्वाधिक ही है। सबसे योग्य मनुष्योंकी संख्या तो कीट-पतंगादिकी अपेक्षा नगण्य ही है। मनुष्यको बलमें हाथी, सिंह, घोड़ा, ऊँट आदि पराजित कर देते हैं। दीर्घ जीवनमें साँप और कछुआ मनुष्यसे बढ़े हुए हैं। बुद्धिमें चींटी; परिश्रम, संचय, प्रबन्ध, कारीगरीमें मधुमक्खी सर्वश्रेष्ठ है। ये सब अपनेसे उत्तरवर्त्तियोंकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ हैं। 'फिर योग्योंका चुनाव होता है', यह कैसे कहा जा सकता है? पक्षियोंके पंख, चींटियोंकी बुद्धि, कछुओंकी आयु कुछ कम योग्यताकी बात नहीं है। चींटीसे कनखजूरेके विकासमें कौन-सी योग्यता बढ़ी? उड़ना, दीर्घजीवी होना, बुद्धिमान् होना उत्तरोत्तर महत्त्वकी बातें हैं। चींटीकी बुद्धि, कछुएकी आयु और पक्षीकी उड़नेकी शक्तिको छोड़कर स्तनधारी प्राणियोंमें क्या योग्यता हुई? मनुष्यमें अवश्य योग्यता है, परंतु अन्य स्तनधारियोंमें पूर्वोक्त जन्तुओंसे कोई योग्यता नहीं दिखलायी पड़ती, अतः योग्यताका संततिमें संक्रमणका सिद्धान्त' भी असंगत ही है। संसारमें अयोग्योंकी ही संख्या अधिक है। निर्बल, निर्धन और निर्बुद्धियोंकी बहुतायत स्पष्ट ही है। यदि मनुष्य अपनी संतानोंको योग्य बनानेका यत्न न करे तो संतानोंमें ज्ञानका संक्रमण अपने आप नहीं होता। 'अयोग्योंके मरनेका सिद्धान्त भी ठीक नहीं है। क्या युद्धों, बीमारियोंमें अयोग्य ही मरते हैं? देखा तो यह जाता है कि संसारमें योग्योंकी अपेक्षा अयोग्यों-की ही संख्या अधिक है। वस्तुतः विकासवादियोंको अबतक भी इस सम्बन्धका कार्य-कारण निश्चित नहीं है। इसलिये उनका कहना है कि 'नयी उपजातियोंकी उत्पत्ति करनेमें परिस्थिति, कार्य या पैतृक-संस्कार, इनमेंसे कौन अधिक कार्यकर है और कौन कम, इसका अबतक पूर्णतया निश्चय नहीं हुआ।' आस्ट्रेलियाके शशकोंमें वृक्षोंपर चढ़ने लायक नाखून निकल रहे हैं।' यदि यह सत्य भी हो तो भी इतने मात्रसे वह नयी जाति नहीं है। जैसे मनुष्य होनेपर भी हब्शी, चीनीमें कुछ भेद होता है, वैसा ही सामान्य भेद यहाँ भी समझ लेना चाहिये और यदि किसी नये अङ्गविशेषका अकस्मात् नया विकास दिखलायी पड़ता है तो सृष्टिमें उसका भी उदाहरण है ही। जैसे, दीमकोंमें पंख लग जाते हैं, किंतु पर लगते ही उड़-उड़कर वे प्रायः मर ही जाते हैं। उनकी इस नयी जातिकी पीढ़ी नहीं चलती। कभी देश-कालके अनुसार यदि कुछ हेर-फेर होता है तो वह भी शीघ्र ही स्थिर हो जाता है, जैसे कि अमेरिकाके रेड इंडियनोंका।

कृत्रिम चुनाव

कृत्रिम चुनावके भी तीन नियम हैं—(१) अमुक मर्यादातक कृत्रिम होनेपर संतति होती है, (२) अमुक मर्यादाके बाद अपनी पहली पीढ़ियोंके रूपकी ही हो जाती है और (३) अमुक मर्यादाके बाद वंश बंद हो जाता है।

पहला नियम प्रायः सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसीके अनुसार मनुष्य पशुओं एवं वृक्षोंके अच्छे बीज पैदा करते हैं। नीरोग, बलवान् माता-पितासे अच्छी संतति पैदा होती है। इनमें माताका अंश अधिक होनेपर संततिमें माताके अंश अधिक व्यक्त होते हैं और पिताका अधिक होनेसे संततिमें उसके अंश अधिक व्यक्त होते हैं। साँड़का अंश अधिक होनेसे बछड़ेमें सींग आदि बड़े होते हैं और गायका अंश अधिक होनेसे छोटे सींगवाले या मुण्डे बच्चे होते हैं। फिर भी सींगका असर रहता है। इसीसे मुण्डेकी संतानमें भी सींग होते हैं। इसी नियमानुसार काँटेदार नागफनी और सिंघाड़ेसे बिना काँटेवाली नागफनी और सिंघाड़े बना लिये जाते हैं। यहाँ कृत्रिम उपायोंसे पितृ-शक्ति कम कर दी जाती है। इसीलिये कभी-कभी उनसे फिर काँटेदार नागफनी आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं सिद्धान्तोंसे कबूतरोंकी विचित्रता बनती है।

दूसरे नियमका उदाहरण कलमी आम है। कलमी आम बोनेसे दो पीढ़ियोंमें वह साधारण आम हो जाता है। भेड़िये-कुत्ते और चीते-सिंहके संयोगसे यदि संतान होती है, तो भी कुछ ही पीढ़ियोंके बाद वह कुत्ते और चीतेकी-सी हो जाती है। यही सिद्धान्त सन् १९२२ के 'न्यू एज'में प्रकाशित है। हेनरी डमंड्रसका भी यही मत है। मेन्डलके 'कभी-कभी बच्चोंका पिताकी अपेक्षा पितामहके साथ बहुत मेल दिखलायी पड़ता है', इस कथनका भी यही अभिप्राय है। यदि कोई व्यक्ति अपनेमें कुछ अमर्यादित हेर-फेर कर डाले तो भी उसकी संतानमें वे चिह्न प्रकट नहीं होते, किंतु वह पितामहके गुणोंकी ही होती है। इससे पता लगता है कि प्रकृति पुरानी जातियोंकी ही रक्षा चाहती है।

तीसरे नियमके अनुसार बेहिसाब (अमर्यादित) परिवर्तन होते ही वंश रुक जाता है जैसे घोड़े-गधेके संयोगसे खचर उत्पन्न होते हैं, परंतु उनका वंश नहीं चलता है। जापानके मुर्गोंका भी वंश बंद हो जाता है। पाँच पैरकी गाय, पेबन्दी बेर आदिका वंश भी बंद हो जाता है। लामार्कने चूहोंकी दुम काटकर बिना दुमके चूहे पैदा करना चाहा था। अनेकों पीढ़ियोंतक वह प्रयत्न करता रहा, परंतु बिना पूँछके चूहे नहीं हुए। लेसिस्टर शायरके कुछ भेड़ चरानेवाले अपनी कुछ भेड़ोंको घोड़ेके बराबर और कुछ भेड़ोंको चूहोंके बराबर बनाना चाहते थे, परंतु दोनों प्रयत्न विफल हुए, उनका घटना-बढ़ना सीमित ही रहा। प्राकृतिक चुनावके नमूने तो प्रायः सभी हैं, सामान्य भेद इन सबमें होता है। समान जातिमें समान उमरकी स्त्रियों, पुरुषों तथा पशुओं आदि सबमें भेद पहचाना जाता है। भेदके बिना तो पहचान और व्यवहार ही नहीं चल सकता। विकासवादी कहते हैं कि 'हममें और आपमें जो भेद है, यही आगे चलकर गिलहरीको रीछ बना देता है।' परंतु यह असत्य है। सामान्य भेद तो व्यवहारमें अत्यन्त

उपयोगी और ईश्वरदत्त ही है। हिंदू लाखों वर्षोंसे कान छिदवाते हैं; मुसलमान सैकड़ों वर्षोंसे खतना कराते हैं; चीनकी स्त्रियाँ हजारों वर्षोंसे अपने पैर छोटे बनानेका प्रयत्न करती हैं; परंतु उनसे वैसी संतानें कभी नहीं हुईं। अतः कहना होगा कि कृत्रिम विकास अमर्यादित नहीं होता। विलायतकी विधवाओंसे गायोंकी वृद्धिसे भी नवीन जातिकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती।

डार्विनका सिद्धान्त है कि 'माता-पिताके प्रत्येक अङ्गसे सार एकत्रित होकर संततिका जन्म होता है।' वाइज़मैनका कहना है कि 'इस सारके एकत्रित होनेमें यदि बीचमें कोई परिवर्त्तन उद्भूत हो तो वह संततिमें संक्रमित न होगा।' मेन्डलका मत है कि 'कभी लड़का पिताकी अपेक्षा पितामहके गुणका संग्रह करता है।' ह्वाइज़की राय है कि 'कभी-कभी नयी-नयी जातियाँ अकस्मात् उत्पन्न हो जाती हैं।' ये सिद्धान्त तथा हेतुवाद और अज्ञात-ज्ञेय आदि सिद्धान्त मिलकर विकासके विरुद्ध हीं ठहरते हैं। इनमेंसे पहली बात 'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि' इत्यादि वेदोंकी ही हैं। पुत्रमें कोई नया परिवर्तन नहीं आता। ऐसे स्थलमें पुत्र पितामहके ही गुणोंको ग्रहण करता है। इससे जातिकी स्थिरता ही सिद्ध होती है। नवीन जलकृमियोंकी उत्पत्ति भी किसी शरीर बननेके लिये विकास आवश्यक नहीं। हेतुवाद और अज्ञात-ज्ञेयशक्तिसे तो यही निश्चय किया जा सकता है कि ईश्वर ही कर्मानुसार प्राणियोंकी रचना करता है, क्रम-विकास आवश्यक नहीं है।

'विकासवाद' पुस्तकमें भी लिखा है कि 'प्राणियोंकी उत्पत्ति विकासद्वारा हुई या नहीं, एक प्रकारके प्राणीसे भिन्न-भिन्न प्रकारके प्राणी बनते हैं या नहीं, इस प्रकार निरीक्षण करनेवाला मनुष्य भी विकास-क्रियाके किसी अत्यन्त सूक्ष्म भागको भी प्रत्यक्ष होते हुए पूर्णतया नहीं देख सकता। कई प्रश्नोंके सम्पूर्ण उत्तर प्राप्त करनेकी आशा भी नहीं करनी चाहिये।' अतः विकासवाद एक कल्पना ही है, सिद्धान्त नहीं। 'समाजमें निर्बलोंको जीनेका हक नहीं है', यह कल्पना कितनी भीषण है। मनुष्य और रीछ अथवा भैंसकी तुलना करें तो यह स्पष्ट ही है कि शरीर, बलमें रीछ और भैंस दोनों अधिक ठहरेंगे। मनुष्य इनसे शरीर, बलमें अवश्य हार जायगा। तथापि मनुष्य बुद्धिके कारण अधिक बलवान् सिद्ध होता है। मनुष्योंमें भी अधिक बुद्धिमान् ही प्रबल ठहरता है। नीतिबल, बुद्धि और शरीर-बलसे भी अधिक महत्त्वका है। सोडम और गमोरानिवासी अनीतिके कारण ही नष्ट हो गये। नीतिमान्, शान्त, निर्व्यसन अधिक दीर्घजीवी होते हैं। जो जाति परमार्थ-बुद्धिकी अपेक्षा अधिक स्वार्थ-बुद्धि रखती है, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। जानवरोंमें भी परमार्थ-बुद्धि पायी जाती है। शेर, व्याघ्र-जैसे खूँखार प्राणी भी अपने बच्चोंको दूध पिलाते हैं, प्यार करते हैं। मनुष्यका स्वार्थ-त्यागी होना ही महत्त्व है। अतः 'जीवन-संग्राममें बलवानोंकी ही विजय होती

है, यह कहना सत्य नहीं। कई लोग पुराणोंकी चौरासी लक्ष योनियोंके वर्णन और मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह आदि अवतारोंके द्वारा भी विकासवाद सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं। इसी तरह कई लोग कुछ वेद-मन्त्रोंको भी विकास-सिद्धिके लिये उद्धृत करते हैं, परंतु वेदों और पुराणोंसे डार्विनका विकास कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता। पुराणोंके अनुसार एक प्राणीसे दूसरे प्राणीका विकास सिद्ध नहीं होता। किंतु सभी योनियाँ स्वतन्त्र मानी गयी हैं। अवतारोंमें भी मत्स्यः कच्छपादि स्वतन्त्र अवतार हैं। 'मत्स्यसे कच्छपका विकास हुआ है' यह पुराणोंसे नहीं सिद्ध होता। 'क्रिश्चियन हेरल्ड' में छपे अनुसार 'ब्रिटिश साइन्स सोसाइटी' के आस्ट्रेलिया अधिवेशनमें सभापति-पदसे प्रो० विलियम बेटसनने कहा था कि 'डार्विनका विकासवाद बिल्कुल असत्य और विज्ञानके विरुद्ध है।' अमेरिकाकी कई रियासतोंने स्कूलोंमें डार्विन-सिद्धान्तकी शिक्षाको कानूनके विरुद्ध ठहराया। वहाँके एक जजने अपने एक फैसलेमें लिखा था कि 'ऊँचे दरजेके विद्वान् अब विकासवादपर विश्वास नहीं करते।' प्रो० पेट्रिक गेडिसका कहना है कि 'मनुष्यके विकासके प्रमाण संदिग्ध हैं। साइन्समें उनके लिये कोई स्थान नहीं।' सर जे० डब्ल्यू० डासनका कहना है कि 'विज्ञानको बंदर और मनुष्यके बीचकी आकृतिका कुछ भी पता नहीं है। मनुष्यकी प्राचीनतम अस्थियाँ भी वर्तमान-जैसी ही हैं।' प्रसिद्ध विद्वान् वुड जोन्सका कहना है कि 'डार्विनसे गलती हुई है। मनुष्य बंदरसे उत्पन्न नहीं हुआ, किंतु बंदर मनुष्यसे उत्पन्न हुए हैं।' सिडनी कालेटका कहना है कि 'साइन्स स्पष्ट साक्षी है कि मनुष्य अवनत दशासे उन्नत दशाकी ओर चलनेके स्थानमें उलटा अवनतिकी ओर जा रहा है। उसकी आरम्भिक दशा उत्तम थी।'

प्रागुत्तर अश्मकालकी एक खोपड़ी मिली है। यह खोपड़ी जिस सिरकी है, वह यूरोपमें सबसे बड़ा समझा जाता है। यह खोपड़ी एक सौ चौदह क्यूबिक (घन) इंच है। यूरोपमें छोटे-से-छोटे सिर ५० क्यूबिक इंच और बड़े-से-बड़ा ७५ क्यूबिक इंचका पाया गया है। इससे स्पष्ट है कि वर्तमान यूरोपनिवासियोंकी दिमागी ताकत बढ़ नहीं रही है। सन् १८८३ में एक सिर हालैंडमें निकला, जो यूरोपनिवासियोंके औसत घेरेसे बड़ा है। इसका घेरा १५० क्यूबिक इंच है। भूगर्भ-शास्त्रियों और पुरातत्त्वज्ञोंने 'हालींग सेक्शन' को २५ हजार वर्ष पुराना बतलाया है। इसका घेरा भी १५० क्यूबिक इंच है। इन सब बातोंसे सिद्ध होता है कि प्राचीन मनुष्योंका विकासहीन मस्तिष्क बंदरोंसे नहीं हुआ, किंतु वे परमात्माकी विशिष्ट रचना थे। आजके उत्तम-से उत्तम मनुष्योंकी अपेक्षा वे अधिक उन्नत थे। विकासवादी शंका करते हैं कि 'यदि क्रमोन्नतिका सिद्धान्त न माना जाय तो फिर दीर्घकाय प्राणियोंकी उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है? इतना बड़ा मनुष्य एकाएक आदि कालमें कैसे पैदा हो गया?' परंतु वे एक कोष्ठके

अमीवाकी एकाएक उत्पत्ति मान लेते हैं; परंतु अनेक कोष्ठसंयुक्त मनुष्य प्राणीका आप-से-आप उत्पन्न होना नहीं मानते। परंतु बात सरल है, जिस महाशक्तिके प्रभावसे एक कोष्ठवाला अमीवा उत्पन्न हो सकता है, उस शक्तिको अनेक कोष्ठवाले मनुष्यके उत्पादनमें क्या कठिनाई है? जो बड़े-बड़े सूर्य, चन्द्र और छोटे-छोटे अमीवाको बना सकती है, वही शक्ति गाय, बैल, हाथी, बंदर, मनुष्य सबको बना सकती है। आरम्भिक सृष्टिको नये-पुराने सभी विद्वान् 'अमैथुनी सृष्टि' नामसे कहते हैं। प्रो० मैक्समूलर लिखता है—'कहा जाता है कि आदिमें एक ही मनुष्य नहीं था, किंतु हम हर प्रकारसे यह ख्याल कर सकते हैं कि आदिमें कुछ पुरुष और स्त्रियाँ उत्पन्न हुई थीं।' मद्रास हाईकोर्टके जज टी० एल० स्ट्रेन्ज अपनी 'दि डेवलपमेंट ऑफ क्रियेशन् ऑन दी अर्थ (पृथ्वीपर सृष्टिका विकास)' पुस्तकमें लिखते हैं कि 'आदि सृष्टि अमैथुनी होती है। इस अमैथुनी सृष्टिमें उत्तम और सुडौल शरीर बनते हैं।' 'वैशेषिक दर्शन' का भी कहना है कि 'शरीर दो प्रकारका होता है—योनिज और अयोनिज'—'तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च।' इसपर 'प्रशस्तपादीय भाष्य' है।

'तत्रायोनिजमनपेक्षितशुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते।'

अर्थात् देवता और ऋषियोंके शरीर शुक्र-शोणितके बिना ही धर्मविशेषसहित अणुओंसे उत्पन्न होते हैं। इन सब बातोंसे सिद्ध होता है कि विकासवाद अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण वाद है।

मनुष्य-जाति

'मनुष्य-जातिका विकास वनमनुष्योंसे हुआ है,' 'जावाद्वीपके कलिंग नामक मनुष्य अधिकतर वनमनुष्योंसे मिलते हैं, अतः वे ही मनुष्य-जातिके पूर्वपितामह हैं', यह सब कथन भ्रान्तिपूर्ण हैं। अतएव जो कहा जाता है कि 'यही मनुष्य-समुदायकी समस्त शाखाओंका जन्मदाता है' यह सब भी भ्रान्तिपूर्ण है; क्योंकि जब विकासवादका सिद्धान्त ही खण्डित हो गया, तब उसके आधारपर शास्त्र-विरुद्ध कोई कल्पना निराधार ही है। आजकलका सिद्धान्त है कि मनुष्य-जातिके चार विभाग हैं, उसीके भीतर हजारों विभाग आ जाते हैं—(१) श्वेत रंग, लंबी आकृतिवाला काकेशस, (२) पीले रंग, चौड़ी आकृतिवाला मंगोलिक, (३) काले रंग, मोटी आकृतिवाला ईथियोपिक (निग्रो) और (४) लाल रंग और पतली आकृतिवाला रेडइंडियन। आधुनिक वैज्ञानिकोंका कहना है कि मनुष्य-जातिके चारों विभागोंमें काकेशस विभाग सर्वश्रेष्ठ है। इस विभागके लोग गौरांग हैं। इसी विभागसे सब रंगवालोंकी उत्पत्ति हुई है। विद्वानोंकी

खोज है कि हेमाइट लोग काकेशस वंशके हैं और सफ़ेदसे भूरे और काले रंगके हो गये हैं। उनके बाल सीधे और नीग्रो जातिके-से घुँघराले होते हैं।

"हेमिटिक शाखाके लोग मिस्रमें रहते हैं। विद्वानोंने यह भी स्वीकार किया है कि अमेरिकाके लाल रंगवाले मूल निवासियोंका मिलान मिस्रनिवासी हेमिटिकोंसे ही होता है। इन्हींकी एक हिमेराइत जाति लाल मनुष्य भी कहलाती है। यह जाति जिस समुद्रके किनारे रहती है, उसे भी लाल सागर कहा जाता है। श्वेतांग यूरोपियन भी अपनेको काकेशिक विभागके ही कहते हैं। इस तरह लाल, पीले, काले और सफ़ेद रंगके चारों समुदाय काकेशिक विभागसे ही उत्पन्न हुए देखे जाते हैं। दूसरी खोज यह है कि संसारके जितने मनुष्य हैं, सब हेमिटिक और सेमिटिक शाखाओंमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। मिस्रनिवासी हेमिटिक हैं। इनके यहाँ मुर्दोंमें मसाला भरकर रखनेका रिवाज था। मिस्रके पिरामिड इन्हीं मुर्दोंको रखनेके लिये बनाये जाते थे। अब पता चलता है कि अमेरिकाके लाल रंगवाले मूल-निवासियोंमें भी यही रिवाज था। अन्वेषकोंको यहाँ भी पिरामिड मिले हैं। इससे इन दोनोंकी एकता ही प्रतीत होती है।

"काकेशस-विभागकी दूसरी शाखा सेमिटिक है। इसमें अरब, बेबिलोन, सीरिया और जुडियाके यहूदी आदि सम्मिलित हैं। इसीकी एक शाखा अब हिट्टाइट है, जो पहले कभी मेसोपोटामियाँमें रहा करती थी। मेसोपोटामियाँमें अन्वेषकोंको ३४ सौ वर्षकी ईंटें मिली हैं, जिनमें इनके सुलहनामे लिखे हुए हैं। इन्हीं लोगोंका एक दल भारतवर्षमें रहता है, जिसे 'द्रविड़' कहते हैं। भारतके द्रविड़ोंकी भाषा मंगोलिक और निग्रो विभागोंको जोड़ती है। भाषा ही नहीं, उनका रूप, रंग और शारीरिक गठन भी एक ही है। विद्वानोंने पता लगाया है कि भारतके द्रविड़ोंकी भाषा आस्ट्रेलियाकी भाषाकी भाँति है और वह भाषा मंगोलिक विभागसे भी मिलती है। आस्ट्रेलियानिवासी शुद्ध निग्रो जातिके हैं, जो द्रविड़ जातिसे भी सम्बन्ध रखते हैं। इसी तरह मंगोलिक-विभागसे भी द्रविड़ लोग सम्बन्ध रखते हैं। इन सब बातोंसे द्रविड़ जाति निग्रो और मंगोलिक विभागोंको जोड़कर अपना मूल स्रोत सेमिटिक शाखासे स्थापित करती है। इसी तरह हेमिटिक शाखा अमेरिकाके मूल निवासियोंको जोड़ती है। इस तरह काकेशिक विभागके हेमिटिक और सेमिटिक शाखाओंसे ही मंगोलियन्, अमेरिकन और निग्रो विभागोंका सम्बन्ध सूचित होता है। इस तरह संसारके काले, पीले, लाल और सफ़ेद रंगवाले चारों विभाग काकेशिक विभागकी हेमिटिक और सेमिटिक शाखाओंसे ही उत्पन्न हुए हैं।"

वस्तुतः नूहका तूफान, वैवस्वत मनुकी मछलीवाली कथाका अनुवाद है। नूहके पुत्र हेमकी संतति, जो मिस्रमें रहती है, अपना सम्बन्ध राजा मनुसे बतलाती

है और अपनेको सूर्यवंशी कहती है और मनु वैवस्वतके मूल विवस्वान् सूर्यको अपना इष्ट समझती है। इन मिस्रवालोंकी ही संतति अमेरिकाके मूल निवासी बतलाये जाते हैं। वे भी सूर्यवंशी राजा रामचन्द्रका 'राम-सीतव' उत्सव मनाते हैं। अन्वेषकोंको वहाँ सूर्यका मन्दिर भी मिला है।

मनुकी मछली एवं नूहके प्लावनकी कथा मिस्र, वेबिलोन, सीरिया, चाल्डिया, जूड़िया, फारस, अरब, ग्रीस, भारत, चीन, अमेरिका आदि संसारके सभी देशों एवं सभी जातियोंमें पायी जाती है। इससे भी सिद्ध होता है कि मनुसे ही समस्त मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है। बाइबिलमें बतलायी हुई नूहकी पीढ़ियाँ काल्पनिक हैं। आदमसे नूहतक ११ पीढ़ियाँ होती हैं और वर्ष-संख्या २२६२ है। नूहके पुत्र सेमसे इब्राहीमतक ११ पीढ़ियोंके तेरह सौ दस वर्ष कहे गये हैं। यह गणना विश्वास योग्य नहीं। जब मनु और नूह एक ही हैं तब उन्हें हुए लाखों वर्ष हो गये। कहा जाता है कि मिस्रकी भाषामें 'नून' शब्दका 'मछली' अर्थ होता है। 'नून' अक्षर फिनीशियामें 'ईल' नामक मछलीकी शकलका होता है। अंग्रेजी तथा अरबीमें भी यह अक्षर मछलीकी तरह ही होता है। मछलीके ही ढंगकी नाव होती है। हजरत नूहको 'नौवा' भी कहा जाता था। इस नौवाका सम्बन्ध मनुके जलप्लावनसे ही है। यह नाव और मनुकी मछली एक ही है। मनुको वैवस्वत कहा जाता है। विवस्वान् सूर्य है। हजरत नूहके दो पुत्र हेम, सेम—सूर्यवंश और चन्द्रवंश ही हैं। हेमगर्भ, हिरण्यगर्भ, सूरवंशका ही बोधक है और सेम=सोम चन्द्रवंशका बोधक है। सूर्यवंशियोंकी पुत्री इलासे ही सोमवंशकी उत्पत्ति हुई है। इस दृष्टिसे दोनों मनुके पुत्र कहे जा सकते हैं। मनुस्मृतिके अनुसार क्षत्रियोंसे ही संसारके मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥

(मनुस्मृति १०। ४३-४४)

इतिहासकार मैनिंग कहता है कि "यह बात विद्वानोंने मान ली है कि 'मनुष्य जातिके पूर्वपितामह 'मनु' या 'मनस्' उसी तरह हैं जिस तरह जर्मनोंके 'मनस्' हैं, जो ट्यूटनोंके मूल पुरुष माने जाते हैं। अंग्रेजीका 'मैन' तथा जर्मनका 'मन्न' शब्द 'मनु' से उसी तरह मिलता है, जैसे जर्मनका 'मेनष्' और संस्कृतका 'मनुष्य' शब्द मिलता है। अतः मनुसे ही मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है।" यह मनु मूल पुरुष हिरण्यगर्भसे अभिन्न समझा जाता है और उसी

हिरण्यगर्भके मुख, बाहु, ऊरु एवं पादसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रकी उत्पत्ति हुई—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥
(मनु० श्लो० १२ । १२३)

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥
(ऋग्वेद, १० । ९० । १२; यजु० ३२ । ११)

मानवसृष्टिका मूलस्थान

'इसी तरह जब समस्त मनुष्य बंदरोंसे उत्पन्न हुए हैं, तब जहाँ-जहाँ बंदरोंका निवास है वहीं मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई और जब मनुष्योंकी उत्पत्ति वनमानुषोंसे हुई, तब वनमानुष जहाँ-जहाँ मिलते हैं वहाँ मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई । वनमानुष अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, मेडागास्कर, जावा आदिमें होते हैं । वहाँका निग्रोदल सभ्यतामें अबतक भी मनुष्य-समुदायसे पीछे है । उनमें कई जातियाँ और दल ऐसे हैं जो वनमानुषोंसे कुछ थोड़े उन्नत हैं ।' वैसे विकासवादके खण्डनसे सब मत खण्डित हो ही जाते हैं । इसके अतिरिक्त एक ही स्थानमें सृष्टि होनेपर भी देश, काल, सम्पर्कसे उनमें भेद प्रतीत होने लगता है । बीजके बिना कोई भी पौधा तैयार नहीं हो सकता । समुद्रके टापुओंमें भी जबतक बीज नहीं पहुँचता, मिट्टीमें लस नहीं आता तबतक किसी तरहके पौधे उत्पन्न नहीं होते । कोई भी माली बीजोंसे पौधोंको ऐसी ही जगह तैयार करता है, जहाँ उसकी सुरक्षाके योग्य स्थान हो । आँधी, तूफान, जलप्लावन, अग्नि, भूकम्प आदिका उपद्रव जहाँ न रहा होगा, वहीं ईश्वरने मनुष्यादि सभी प्राणियोंको उत्पन्न किया होगा । कई लोग कहते हैं कि 'अमेरिकामें बंदर नहीं थे, अतः वहाँ मनुष्योंकी उत्पत्ति नहीं हो सकती थी ।' पहले यूरोपका भी जलवायु मनुष्यकी उत्पत्तिके अनुकूल नहीं था । विद्वान् अन्वेषकोंका कहना है कि 'स्तनधारी प्राणी एशियासे ही यूरोपमें आया है ।' वार्न साहब तथा उनकी पुस्तकसे प्रभावित होकर लोकमान्य तिलकने उत्तरीध्रुवमें ही प्राणियोंकी सृष्टि मानी है । किंतु विद्वानोंका मत है कि 'उत्तरी ध्रुवमें प्रति साढ़े दस हजार वर्षमें भीषण हिमपात होता रहा है, अतः वहाँ सृष्टिका होना सर्वथा असम्भव है ।' इंगलैंडके डा० एलेन्सनका कहना है कि 'मनुष्यकी खालपर ध्रुव-प्रदेशनिवासी पशुओंके समान लंबे बाल नहीं हैं, इसलिये मनुष्य वहाँका प्राणी नहीं है । मनुष्यके शरीरपर पसीना निकलनेके लिये छोटे-छोटे रोम-छिद्र होते हैं, अतः यह अतिशीत प्रदेशका प्राणी नहीं है ।' भूगोलविशेषज्ञोंका यह भी कहना है कि 'उत्तरी ध्रुवमें वनस्पतियाँ नहीं होतीं, वहाँ मनुष्योंका

जी सकना ही मुश्किल था।' अनेक विद्वान् एशियामें भी मनुष्योंकी उत्पत्ति मानते हैं। उनका कहना है कि 'पश्चिमोत्तर एशियामें ही मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई, वहीं से भिन्न भिन्न श्रेणीके रूपमें लोग विभिन्न देशोंमें गये हैं।' मैक्समूलरने मध्य एशियामें और स्वामी दयानन्दजीने तिब्बतमें मनुष्योंकी उत्पत्ति मानी है। उमेशचन्द्र दत्तके मतानुसार मंगोलियामें मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है। अन्यान्य विद्वान् विभिन्न स्थान मानते हैं।

संस्कृत, ग्रीक, लैटिन, जेन्द आदि भाषाओंकी तुलना करनेपर भी अधिकांश विद्वान् इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि इन भाषाओंके भाषी लोग कभी एक भाषा-भाषी रहे होंगे। जैसे-जैसे वे एक दूसरेसे दूर होते गये, वैसे-वैसे उनकी भाषामें कुछ भेद पड़ता गया। यद्यपि वे लोग इन भाषाओंको परस्पर भगिनी ही मानते हैं। उनकी जननी कोई अन्य भाषा रही होगी—ऐसी कल्पना करते हैं, तथापि संस्कृत भाषा ही सब भाषाओंकी जननी है—यह अधिक प्रमाणसिद्ध है। आज भी संसारमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद माना जाता है। मोहेनजोदड़ो, हड़प्पाकी खुदाईसे मिलनेवाली वस्तुओंसे भी वैदिक सभ्यताकी अतिप्राचीनता विदित होती है। 'वाचा विरूपनित्यया'—विरूप नित्य वेदलक्षण वाणीद्वारा आप सृष्टि करते हैं। इस वेद-वाक्यसे वेद अनादि सिद्ध होते हैं। मनु भी 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'—स्वायम्भुवने अनादि-निधन-उत्पत्ति-नाशविवर्जित वेद लक्षण वाणीका उत्सर्ग किया; सम्प्रदायप्रवर्तन किया—इस वचनसे वेदको अनादि बतलाते हैं। अतः सर्व प्राचीन भाषा संस्कृत भाषा ही सिद्ध होती है। उससे ही अन्य भाषाओंका उद्गम हुआ है। उन अनादि अपौरुषेय वेदों, मनुस्मृति, चरक आदि ग्रन्थोंसे मालूम पड़ता है कि सप्तद्वीपा मेदिनीमें जम्बूद्वीप श्रेष्ठ है और जम्बूद्वीपमें भी भारतवर्ष ही सर्वोत्कृष्ट है। चतुर्दश भुवनोंमें पृथ्वी और पृथ्वीमें भारतवर्ष विराट् पुरुषका हृदय-स्वरूप है। इसीमें आर्यावर्त्त, ब्रह्मावर्त्त एवं हिमालय हैं। इसीमें साङ्गोपाङ्ग सभी ऋतुओंका विकास होता है। इसीमें सभी रंगके मनुष्य भी मिलते हैं, अतः यहीं मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है—

तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास। तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं वै देवानां देवयजनम्।

(शतपथ)

यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्।

(रामोत्तरतापि० १। १; तारसार० २)

डॉक्टर ई० आ० एलंसका 'मेडिकल' पुस्तकमें कहना है कि 'हिमालयमें वनस्पति, घास खूब होते हैं, अतः गाय, भैंस, बकरी, हाथी, कुत्ता आदि जानवर और मनुष्यका भी वहाँ होना संगत है। हिमालयमें प्राणियोंके बहुत पुराने शेषांश मिलते हैं।' भाषाशास्त्री टेलर स्वर्गतुल्य काश्मीरको मनुष्य-जातिकी जन्मभूमि

कहते हैं। पुरातत्त्वके विद्वान् अविनाशचन्द्र दासकी 'ऋग्वेदिक इंडिया'में कहा गया है कि 'आर्योंका आदिदेश काश्मीर ही है।' उत्तरप्रदेशके मुख्य मन्त्री श्रीसम्पूर्णानन्दने अपनी 'आर्योंका आदिदेश भारत' पुस्तकमें भारतको ही आर्योंकी जन्मभूमि माना है। पाश्चात्त्य लोग गोरे, लंबे, वड़े सिरवाले भारत, ईरान, योरोपवासियोंको आर्य कहते हैं। परंतु भारतीय कहते हैं कि 'जो रूप-रंग, आकृति-प्रकृति, धर्म-कर्म, ज्ञान-विज्ञान, आचार-विचार तथा शीलमें सर्वश्रेष्ठ है, वही आर्य है—

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्रकृताचारे यः स आर्य इति स्मृतः ॥

(वसिष्ठ-स्मृति)

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति ।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः ।
दत्त्वा च पश्चात् कुरुते न तापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥

(महा० उद्यो० ३३ । १११-११२)

वस्तुतः इस तरह भारतीय शास्त्रोंमें अभिगम्य और श्रेष्ठ अर्थमें ही 'आर्य' शब्दका प्रयोग आता है—

महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः । (अमरकोष २ । ७ । ३)

वैश्य एवं स्वामीमें 'आर्य' शब्दका प्रयोग न होकर 'अर्य' शब्दका ही प्रयोग होता है—

'स्यादर्यः स्वामिवैश्ययोः' (अमरकोष ३ । ३ । १४६)

जातिकी दृष्टिसे अपने यहाँ चातुर्वर्ण्यमें 'हिंदू' शब्द और वैसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि शब्द ही प्रयुक्त होते हैं।

'मेनमार्या भाषन्ते' इत्यादि वचनोंसे त्रैवर्णिकोंको आर्य कहा गया है। फिर भी बहुत-से विद्वान् विशिष्ट जातिमें आर्य शब्दका प्रयोग करते हैं।

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः ।
अर्धयोजनविस्तारः पञ्चयोजनमायतः ॥
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तमपर्वतः ।
ततः सर्वाःसमुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम ॥
ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहूः ।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ ॥

(महाभारत, वनपर्व)

इन वचनोंसे भी हिमालयपर ब्राह्मणादि आर्योंकी उत्पत्ति सिद्ध की जाती है।

'शतपथ'के 'तदप्येतदुत्तरस्य गिरेः मनोरपसर्पणम्' (१ । २ । १६)

इससे हिमालयपर ही मनुका जलप्लावन सिद्ध किया जाता है। महाभारतके—'अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावं बध्नीत माचिरम् ।' (महा० वनपर्व १८७ । ४९)

इस वचनसे हिमालयके शृङ्गमें जलप्लावनके समय नावका बाँधना सिद्ध होता है। कहा जाता है कि हिमालयके मानस स्थानपर मानसी सृष्टि हुई है, इसीलिये उसका नाम मानस पड़ा है। कुछ भी हो, इस दृष्टिसे एशिया एवं तदन्तर्गत भारतमें ही मनुष्यकी सृष्टि सिद्ध होती है। वैवस्वतमनुको हुए अबतक (संवत् २०१३ में) १२ करोड़ ५ लाख ३३ हजार तीस वर्ष होते हैं, परंतु सृष्टि उनसे भी पहलेकी है, अतएव सृष्टिको हुए १ अरब ९५ करोड़ ५८ लाख ८५ हजार ५७ वर्ष माने जाते हैं। ब्रह्माके एक दिनमें १४ मनु बीतते हैं, जिसमें कि ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष होते हैं। १५ खरब ५५ अरब २० करोड़ मानव-वर्षका उनका एक वर्ष होता है। अबतक ब्रह्माके ५० वर्ष बीत चुके हैं, जिसमें ७ नील ७७ खर्ब ६० अरब वर्ष बीत गये। इस तरहके १०० वर्षोंकी ब्रह्माकी आयु होती है। विष्णु एवं शिवका कालमान इससे भी बड़ा है।

विकासवादी प्रायः प्राचीन वस्तुओंकी खोजसे अनुमान करते हैं कि 'मनुष्य पहले बहुत जंगली हालतमें था, क्योंकि भूमिकी सबसे नीचेकी तहोंमें मनुष्योंके बनाये जो पदार्थ मिले हैं, वे पाषाण-सींग आदिके ही बने हुए हैं। इससे मालूम होता है कि तत्कालीन मनुष्योंको धातुओंका ज्ञान नहीं था। ऊपरी तहोंमें धातु-निर्मित शस्त्र मिलते हैं। इससे मालूम होता है कि उस समयके लोग पिछले लोगोंसे कुछ उन्नत तथा सभ्य थे। परंतु यह बात असत्य है, क्योंकि अबतक जहाँ-जहाँ खुदाई हुई है, वहाँ-वहाँ एक ही गहराईपर दोनों ही प्रकारके तथा-कथित उन्नत एवं अवनत शस्त्र मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि एक ही समयमें दोनों ही प्रकारकी अवस्थाएँ थीं। आज भी भिन्न-भिन्न ढंगकी अवस्थाएँ होती हैं। लोकमान्य तिलकने 'आर्योंका उत्तरी-ध्रुव-निवास'में लिखा है कि 'यूरोपमें अनेक जगह प्राचीन छावनियों, किलोंकी दीवालों, श्मशानों, देवालयों, जलाशयोंके खोदनेसे पत्थर तथा धातुके हजारों शस्त्र मिलते हैं। इनमेंसे कितने ही स्वच्छ किये हुए, घुटे हुए और कितने ही अस्वच्छ एवं भद्दे हैं। पुरातत्त्व-वेत्ताओंने इनके तीन विभाग किये हैं। पहले 'पाषाणशस्त्र, जिनमें सींग, काष्ठ एवं हड्डियोंके शस्त्रोंका भी समावेश है। दूसरेमें काँसेके शस्त्र और तीसरेमें लोहेके शस्त्र माने गये हैं।' परंतु इससे यह समझना भूल है कि एककी समाप्तिपर

दूसरेका आरम्भ हुआ है। इस तरह तो ताँबे और राँगेसे काँसा बनता है, अतः एक ताम्रयुग भी मानना पड़ेगा; किंतु ताम्र-युगका पता नहीं चलता।

वस्तुस्थिति तो यह है कि जिस समय यूरोपके लोग पाषाणयुगकी भूमिकामें थे, उसी समय ईसवी सन्‌से ६ हजार वर्ष पूर्व मिस्रवासी उच्चतम सभ्यता प्राप्त कर चुके थे। इसी तरह जिस समय यूनानी लोग 'लौह-युग' में थे, उस समयतक इटालियन 'काँस्य-युग'में ही थे। यूरोपके पश्चिमी भागके लोग तो उस समय पाषाणयुगमें ही थे। इससे पाषाणादि युगोंकी कल्पना ही निराधार है। जैसे आज बैलगाड़ी और वायुयान दोनों ही हैं, वैसे ही उन्नत-अवनत सभी प्रकारके साधन सदा ही मिलते हैं।

किसीने एक ही जगह एक आधुनिक घड़ी और जंगली मनुष्योंकी चकमक पथरी पायी। घड़ी जंगलके अफसरकी थी और चकमक जंगलीका था। यदि यही चीजें दब जातीं और कालान्तरमें मिलतीं तो इससे यही अनुमान करना पड़ता कि सभ्यता और जंगलीपन दोनों साथ थे। फिर 'ज्ञानका धीरे-धीरे विकास हुआ' यह कथन कैसे सत्य माना जा सकता है?

पत्थरोंसे लोहा-ताँबा निकालना भी तो सामान्य बात नहीं। जिसको धातु विश्लेषणकी शिक्षा मिलती है वही यह कार्य कर सकता है। अतः जिसे लोह-युग, जंगली युग नहीं कहा जा सकता ऐसे हरप्पा और मोहनजोदड़ोके खँडहरोंमें जहाँ सभ्यताके चिह्न मिलते हैं, वहीं पत्थरके शस्त्र—जंगलीपनके चिह्न भी मिलते हैं। इस तरह भूगर्भकी जाँचसे यह नहीं सिद्ध होता कि ज्ञानकी क्रमसे उन्नति हुई है। पीछे कहा जा चुका है कि एक जगहके धरातलमें जिस कालके पाषाण-शस्त्र मिलते हैं, उसी कालके दूसरे देशके धरातलमें पूर्ण सभ्यताके पदार्थ मिलते हैं। आज भी जो पढ़ता-लिखता है, सभ्य होता है, उसके पड़ोसमें विना पढ़े-लिखे जंगली-जैसे लोग भी रहते हैं। बड़े-बड़े विद्वानोंके पुत्र-पौत्र मूर्ख निकलते हैं। अतः ज्ञानके क्रमिक विकासका पक्ष गलत है! जान्स बोसनने १९२३ के 'न्यू एज' में लिखा है कि 'यदि मनुष्य-जातिका इतिहास उत्तरोत्तर विकासकी ओर है तो क्यों चीनी लोग ईसवी संवत्‌के पूर्व बारूद और कपास काममें लेते थे, परंतु पीछे चलकर वे उसे भूल गये? इसी तरह मिस्रमें पिरामिड बननेके समय वहाँके लोग रेखागणितकी चरम सीमापर पहुँचे थे, पर पीछे उन्हें वह विद्या भूल गयी।' दिल्लीकी लोहेकी लाट भारतमें ही बनी, पर क्या आज यूरोप भी वैसी बना सकता है? इसलिये कहना पड़ता है कि संसारमें ह्रास, विकास दोनों चलते रहते हैं।

दीपकके पास पतंग आता है, आँच लगती है, भागता है, फिर आता है; बादमें कूदकर दीपकपर जल जाता है। यदि ज्ञानका विकास होता तो अनुभवसे

पतंगोंको सबक सीखना था और दीपकके पास जाना बंद करना था। परंतु ऐसा नहीं देखा जाता, अतः यही कहना पड़ेगा कि जहाँ ज्ञान-शिक्षाकी परम्परा कायम रहती है, वहाँ ज्ञान रहता है और जहाँ परम्परा टूट जाती है वहाँ नष्ट हो जाता है। इसीलिये बिना सीखे ज्ञान नहीं होता। सृष्टिके आदिमें परमेश्वरसे ज्ञान प्राप्त होता है और अब भी पूर्वजों, अध्यापकों, आचार्योंसे ही ज्ञान सीखा जाता है। डिस्कार्टेका कहना है कि 'ईश्वरसम्बन्धी ज्ञान मनुष्यके हृदयमें स्वतः उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि वह अनन्त है। 'मैडम ब्लेवेट्स्कीने 'सिक्रेट डॉक्टरिन'में लिखा है कि "कोई नवीन धर्मका प्रवर्तक नहीं हुआ। 'आर्यों, सेमिटिकों, तुरानियों-ने नया धर्म, नयी सभ्यताका आविष्कार किया था,' इसका मतलब यही है कि वे धर्मके पुनरुद्धारक थे, मूल शिक्षक नहीं।"

भाषा-विज्ञान

ज्ञानके लिये भाषा भी अपेक्षित होती है; क्योंकि ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं होता, जिसमें सूक्ष्म शब्दका अनुवेध न हो। भाषा भी सीखकर ही बोली जाती है। माता तथा कुटुम्बियोंकी बोलचाल सुनकर ही प्राणी बोलता है। स्वतन्त्रतासे कोई नयी भाषा बना भी नहीं सकता है। कहते हैं कि गूँगे बहरे भी होते हैं। वे सुन नहीं सकते, इसीलिये बोल भी नहीं सकते। परंतु उनके मुँहमें बोलनेके साधन होते हैं। इसीलिये यन्त्रोंद्वारा उनसे बुलवाया जाता है। बिना सिखलाये कोई बोल नहीं सकता। गूँगा दूसरोंको मुँह फैलाकर बोलते देखकर वैसी नकल करता है। कहा जाता है कि भेड़ियेकी माँदसे निकले हुए मनुष्योंके बच्चे भेड़ियों-जैसा ही बोलते हैं। गूँगे और इन बच्चोंसे अ, इ, उ, ए, ओ के अतिरिक्त ककारादि वर्णमालाके अक्षर उच्चरित नहीं होते। यदि गूँगा अंधा भी हो तो अ, इ आदिका भी उच्चारण नहीं कर सकता। प्रो॰ मैक्समूलरने 'भाषा-विज्ञान' (साइन्स ऑफ दि लैंगवेज) में लिखा है कि 'मिस्रके बादशाह सामिटकरने सद्यःप्रसूत दो बालकोंको गड़रियोंके सुपुर्द करके यह प्रबन्ध किया कि उन्हें पशुओंके अतिरिक्त किसीकी भाषा सुननेको न मिले। उन लड़कोंके बड़े होनेपर देखा गया कि वे अ, इ, उ के सिवा कुछ भी बोल नहीं सकते थे।' इसी प्रकार द्वितीय फ्रेडरिक, चतुर्थ जेम्स, अकबर आदिने भी परीक्षा की थी। निष्कर्ष यही निकला कि मनुष्य बिना सिखाये भाषा सीख नहीं सकता। भाषा-विज्ञानके आधुनिक विद्वान् मनुष्य सृष्टिके साथ ईश्वरद्वारा भाषाका प्रादुर्भाव नहीं मानते। उनके अनुसार पहले हस्तसंकेत आदिद्वारा ही व्यवहार होता था। बादमें व्यवहारके लिये बुद्धिपूर्वक मनुष्योंने भाषा बनायी। विचारों और भाषाओंका अटूट सम्बन्ध होता है।

विकासवादियोंका कहना है कि 'भाषाकी उत्पत्ति न एकाएक मनुष्यकी स्वेच्छासे हुई, न स्वभावसे, न दैवीशक्तिकी प्रेरणासे; किंतु सभ्यताके अन्य अङ्गोंकी तरह इसका भी धीरे-धीरे विकास हुआ है।' उनके मतानुसार "जडचेतनात्मक बाह्य जगत्की ध्वनियोंके अनुकरणके आधारपर नाम रक्खे गये हैं, जैसे कू-कू बोली सुनकर कोकिलका अंग्रेजीमें 'कुक्कू' नाम रक्खा गया। काँव-काँव सुनकर संस्कृतमें कौवेका 'काक' नाम रक्खा गया। इसी तरह हर्ष, शोक, आश्चर्य आदिसे कुछ स्वाभाविक ध्वनियाँ मुखसे निकल पड़ती हैं, जैसे—हा-हा, हाय-हाय, अहह, वाह-वाह इत्यादि। इस तरह पहले इशारों या संकेतसे, फिर ध्वनियोंको सुननेसे और उद्गारात्मक शब्दोंके स्वभावतः निकलनेसे शनैः-शनैः भाषा बनी।"

पर विचार करनेपर यह पक्ष भी असंगत ही प्रतीत होता है, क्योंकि यदि ऐसी ही बात है तब तो पशुओंमें भी इसी प्रकार भाषाका विकास होना चाहिये। परंतु ऐसा नहीं देखा जाता। इशारेसे व्यवहार असभ्य जंगली तथा अज्ञानियोंका नहीं हो सकता। तारमें 'ट्रा टक्कू' की ध्वनियोंसे, जहाजोंपर झंडियोंसे, युद्धके समय चिनगारियोंसे बात करनेवाले जंगली नहीं, किंतु विशिष्ट बुद्धिमान् ही समझे जाते हैं। इसी प्रकार नृत्य, नाट्यमें अभिनयद्वारा भावकी अभिव्यक्ति विशेषज्ञोंका ही काम है, किसी अज्ञानीका नहीं। यहाँतक कि इशारेकी कला तो बोलनेकी अपेक्षा भी ऊँची है। इसीलिये पशुतुल्य अज्ञानी, जंगली इशारोंसे बातचीत नहीं कर सकता था। जैसे वर्णोंका उच्चारण सीखा जाता है, वैसे ही इशारा भी सीखना ही पड़ता है। गूँगोंको भी इशारा समझाना पड़ता है। वे आँखोंसे देखकर इशारा सीखते हैं। यदि वे अंधे भी होते हैं तो और भी अधिक कठिनाई पड़ती है। इसी तरह कोकिलके कू-कू और कौवेके काँव-काँवसे कुक्कू एवं काक शब्द बननेकी बात भी निराधार है। जब पहले क, ख, ग आदि वर्णोंका उच्चारण सीख लिया जाय, तभी यह अनुकरण बन सकता है। ये कोई शब्द वर्णात्मक नहीं होते हैं। यह तो वर्ण उच्चारण कर सकनेवाला व्यक्ति ही इन अव्यक्त शब्दोंमें व्यक्त शब्दोंकी कल्पना करता है। चूहेने 'कट्' से काट दिया, साँप 'सर्र' से चला गया, पीठपर डण्डा 'गद्द' से गिरा, बकरी 'में-में' कर रही है—यहाँ वर्णका उच्चारण करनेवाला ही अनुकृतिसे नाम रख सकता है। परंतु बाहरकी ध्वनियाँ ही जब स्पष्ट नहीं हैं तब उनके द्वारा शब्दोंका उच्चारण कैसे सीखा जा सकता है? बाहरकी ध्वनियोंको भले, हम 'टन्-टन्' 'धम्-धम्' 'खट्-खट्' 'पूँ-पूँ' 'झन्-झन्' कहें; परंतु ये वर्ण बिल्कुल नहीं होते। इसी तरह तोतेके, सारंगीके शब्दमें वर्णोंकी कल्पना वर्णज्ञ ही कर सकता है। मनुष्यके मुखको छोड़कर अन्यत्रसे वर्णोंका उच्चारण हो ही नहीं सकता। उसके लिये मनुष्यके जैसे कण्ठ, तालु, मूर्द्धा, दाँत, ओष्ठ, जिह्वा एवं आन्तर-बाह्य प्रयत्न अपेक्षित होते हैं। जिनसे 'ट' का उच्चारण नहीं बनता वे लोग 'टन्-

टन्'का अनुकरण भी नहीं करते। यह विभिन्न वर्णोंके उच्चारण सीखे बिना कभी आ ही नहीं सकता। बाह्य अव्यक्त शब्दोंमें वर्ण नहीं होते, इसीलिये मुर्गेकी बोलीमें हम 'कुकड़ूकूँ' की कल्पना करते हैं। अंग्रेज लोग इसीको 'कॉक ए डू डिल् डू' कहते हैं। इसी प्रकार हर्ष, शोक आदिसे 'हाय, हा-हा' आदि शब्द भी उन्हींके मुखसे निकल सकते हैं, जिन्होंने वर्णोंका उच्चारण सीख रखा है। पशुओं और गूँगोंके मुखसे 'हा-हा' 'हाय-हाय' आदिका उच्चारण नहीं बनता है। बोलनेवालेका सम्पर्क हुए बिना किसी दुधमुँहे बच्चेके मुँहसे क, ख, ग, घ आदि वर्णमालाका उच्चारण नहीं हो सकता। आधुनिक लोग भी जब यह मानते हैं कि मनुष्यमें ही स्पष्ट शब्द उच्चारणकी शक्ति है, अन्यमें नहीं, तब यह गुण जब इसके पूर्वजोंमें नहीं था, तब इसमें क्यों और कैसे आ गया?

कुछ लोग कहते हैं कि 'ईश्वरने ही मनुष्यके मुखमें वर्णोंके उच्चारणकी शक्ति दी है।' तब फिर यह भी क्यों नहीं माना जाता कि ईश्वरने ही मनुष्यको भाषा सिखायी? जब पशु मनुष्यकी बोली नहीं बोलता, तब मनुष्य ही पशुकी बोलीकी नकल करके भाषा बोलना कैसे सीख गया?

मैक्समूलरका कहना है कि 'मनुष्यकी भाषा ध्वनि अथवा पशुओंकी बोलीसे नहीं बनी।' लॉक एडम, स्मिथ एवं ड्यूगल्ड स्टुवर्ट आदि कहते हैं कि 'मनुष्य बहुत कालतक गूँगा रहा, संकेतसे, भ्रूक्षेपसे वह काम चलाता रहा। जब काम न चला, तब परस्पर संवाद करके शब्दोंके अर्थ नियत करके भाषा बना ली।' इसके उत्तरमें मैक्समूलरने लिखा है कि ''मैं नहीं समझता कि भाषाके बिना उनमें संवाद कैसे जारी रह सका? क्या अर्थ नियत करनेके पूर्व संवाद निरर्थक ही चला आता था? जबतक उनके पास कोई सार्थक ध्वनि नहीं थी, तबतक 'अमुक शब्दका अमुक अर्थ है' यह नियत करना कैसे सम्भव था? एकने दूसरेसे कैसे कहा कि 'रोटीको चूँ-चूँ कहना और समझना चाहिये' और कैसे दूसरोंने ये सब बातें समझ लीं? अतः ज्ञानके बिना भाषा नहीं बन सकती और भाषाके बिना ज्ञान नहीं बन सकता।'' नाम-नामीका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ऐसी दशामें यही तथ्य उपलब्ध होता है कि आदिम मनुष्य ज्ञान और भाषाके सहित उत्पन्न हुआ है।

इसपर भी विचार करनेसे मालूम पड़ता है कि जब ज्ञान और भाषा दोनों-हीके लिये शिक्षा अपेक्षित है, तब बिना शिक्षाके ज्ञान और भाषा कैसे उत्पन्न हुई? अतः अन्तिम सिद्धान्त यह मानना ही पड़ता है कि परमेश्वरने ही मनुष्यको निर्मित करके उसे ज्ञान और भाषा प्रदान की। वेदोंसे भी यही स्पष्ट मालूम पड़ता है कि परमेश्वरने ब्रह्माको उत्पन्न करके उन्हें वेद प्रदान किया—

यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।

(श्वेताश्वतर० ६ । १८)

ब्रह्माने अपने पुत्रोंको और उन्होंने इसी तरह अपने पुत्रों और शिष्योंको आदिम भाषा और ज्ञानका उपदेश किया । आगे चलकर ज्ञान और भाषामें अपभ्रंश भी होता गया । यह पीछे कहा जा चुका है कि कोई भी बोध या ज्ञान ऐसा नहीं होता, जिसमें सूक्ष्म शब्दका सम्बन्ध न हो । फिर इस दृष्टिसे अनादि ईश्वरके अनादि ज्ञानमें जो शब्द अनुविद्ध थे, वही अनादि भाषा थी । कोई भी कार्य ज्ञान, चिकीर्षा एवं कृतिपूर्वक ही सम्पन्न होता है । इस तरह सृष्टि-कार्यमें भी ईश्वरकी ज्ञप्ति, चिकीर्षा और कृति अपेक्षित ही है । उस अनादि ज्ञानमें अनुविद्ध अनादि शब्द-समूहका होना अनिवार्य है । जब संस्कृत भाषा एवं वेदसे पुरानी पुस्तक संसारमें उपलब्ध नहीं है, इसकी अतिप्राचीनता तर्कोंसे भी सिद्ध होती है, तब मनु आदिके अनुसार उसे ही अनादि भाषा मानना युक्त है । उसके व्यापक धातुओंसे संसारकी सभी भाषाएँ निष्पन्न भी हो ही जाती हैं । अतः 'ईश्वरने आदिम प्राणियोंको भाषा एवं विज्ञान सिखलाया' यही पक्ष ठीक है । जैसे आजकल हिप्नोटिज्म करनेवाला अपने माध्यम (सब्जेक्ट) के मुँहसे मानसिक प्रेरणाद्वारा ऐसी भाषाओंके शब्द उच्चारण करा देता है, जिसको माध्यमने कभी सुना भी नहीं, वैसे ही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भी मनुष्योंको अपनी शक्तिद्वारा शब्दोच्चारण करा सकता है । इसीलिये आदिम मनुष्य परम ज्ञानवान् थे—यही पक्ष श्रेष्ठ है ।

सुकरातके मतानुसार भी कोई किसीको नया ज्ञान नहीं सिखलाता, अपितु भूले हुए ज्ञानको याद दिलाता है । जिसमें ज्ञान-शक्ति नहीं, उसे ज्ञान कराया नहीं जा सकता, जैसे—पाषाणोंको ज्ञान कराना असम्भव है । अतएव कोलबूकके मता-नुसार भी भाषा मनुष्यका एक आत्मिक साधन है । आर० सी ट्रीनिचने 'शब्दोंका अध्ययन' (स्टडी ऑफ वर्ड्स्) में कहा है कि 'ईश्वरने मनुष्यको वाणी उसी प्रकार दी, जिस प्रकार बुद्धि दी; क्योंकि मनुष्यका विचार ही शब्द है, जो बाहर प्रकाशित होता है ।' मैक्समूलरका कहना है कि 'भिन्न-भिन्न भाषा परिवारोंमें जो चार-पाँच सौ धातु मूल तत्त्वरूप शेष रह जाते हैं, वे न तो मनोराग-व्यंजक ध्वनियाँ ही हैं और न अनुकरणात्मक शब्द ही । हम उनको वर्णात्मक शब्दोंका साँचा कह सकते हैं ।' प्लेटोके साथ हम कह सकते हैं कि 'वे स्वभावसे ही विद्यमान हैं ।' वैदिकोंका तो स्पष्ट कहना है कि अनादि-निधन, सच्चिदानन्द ब्रह्म ही शब्द ब्रह्म है, उसीसे विश्वकी प्रक्रिया चलती है । अनन्त सदानन्दका ही प्रकाशविशेष अर्थ है । अनन्त चित् या अखण्ड बोधकी ही अभिव्यक्ति-विशेष शब्द है । दोनों एक सच्चिदानन्दके प्रकाश हैं, अतएव दोनोंमें विषय-विषयी भाव होते हुए भी अभेद है । इसीलिये कोई बोध बिना सूक्ष्म शब्दके नहीं होता । शब्द और अर्थका मीमांसकोंके मतसे

औत्पत्तिक (स्वाभाविक) सम्बन्ध है। घटत्वादि जाति शब्दका शक्य होता है, अतः शब्दके समान ही अर्थ भी नित्य ही है—'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' (पू० मी०)

नैयायिक लोग शब्द और अर्थके सम्बन्धरूप संकेतको औत्पत्तिक, अकृत्रिम नहीं मानते, किंतु संकेतको पौरुषेय मानते हैं। परंतु जीव पुरुषके द्वारा नहीं; अपितु ईश्वरसे संकेतका होना मानते हैं। 'अमुक शब्दसे अमुक अर्थको समझना चाहिये,' इस प्रकार ईश्वर ही आदिम ऋषियोंको उपदेश करता है। इसपर मीमांसकोंकी आपत्ति यह है कि "ईश्वर जिन शब्दोंसे ऋषियोंको शब्दार्थ-सम्बन्ध बतलाता है, उन शब्दों और अर्थोंका सम्बन्ध यदि उससे पहले ऋषियोंको ज्ञात नहीं है, तो वे समझ कैसे सकते? यदि कहा जाय कि 'हस्त, मुख, भ्रूक्षेप आदि इशारोंसे ईश्वर संकेत ग्रहण करायेगा' तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पहले तो ईश्वर निराकार है, उसका हस्त, भ्रूक्षेप आदि संकेत कैसे सम्भव होगा ? यदि लीला-शक्तिसे उसे साकार भी मानें, तो भी अल्पज्ञ प्राणियोंको सब संकेतों, इशारोंका बोध भी कितना कठिन है? इसके अतिरिक्त, जितने असंख्यात शब्द और अर्थ हैं, उतने संकेत इशारोंसे हो सकना भी सम्भव नहीं। हस्त, मुख, भ्रू आदिके विक्षेप सीमित हैं। परंतु शब्द और अर्थ अपार समुद्रतुल्य हैं—

इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः।

यदि ईश्वर शब्दोंके द्वारा संकेत (शब्दार्थ-सम्बन्ध) को बोधित करे कि अमुक शब्दसे अमुक अर्थको समझना चाहिये, तो यह मानना ही पड़ेगा कि जिन शब्दोंके द्वारा वह बोध कराता है, उनका स्वार्थ सम्बन्धरूप संकेत प्रतिपादयिता और प्रतिपत्ता दोनोंको ही विदित होना चाहिये। इस दृष्टिसे नव-नवोत्पन्न अर्थों और अपभ्रंश शब्दोंका सम्बन्ध भले ही मनुष्यकृत हो; परंतु जिन गो आदि शब्दों एवं सास्नादिमत् व्यक्ति आदि अर्थोंके सम्बन्ध अनादि वृद्ध व्यवहारमें प्रचलित हैं, उनका संकेत अकृत्रिम एवं औत्पत्तिक ही मानना उचित है।

सुस्पष्ट है कि घटादि कार्य सशरीर व्यक्तियोंसे निर्मित होते हैं, परंतु अंकुरादि कार्य अशरीरसे निर्मित मान्य होते हैं। सर्वसाधारण मनुष्य-शरीर माता-पितासे उत्पन्न होते हैं, परंतु सृष्टिके प्रारम्भके शरीरको अशरीरसे निर्मित ही मानना पड़ता है। प्रथम साकार वस्तुको निराकारद्वारा निर्मित मानना पड़ता है। जैसे गन्धवती पृथ्वी निर्गन्ध जलका, सरस जल नीरस तेजका, स्पर्शवान् वायु निःस्पर्श आकाशका कार्य है, वैसे ही कुछ शब्दार्थ सम्बन्ध कृत्रिम होनेपर भी आदिम शब्दार्थ अकृत्रिम ही हैं। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके द्वारा ब्रह्माको और ब्रह्माद्वारा, वशिष्ठादि ऋषियोंको उपदेश किया जाता है। बीज अंकुर, दिन-रात, निद्रा-प्रबोध और जन्म-मरणके समान ही सृष्टि एवं संहारकी भी अनादि परम्परा है। तथा च जैसे प्रबुद्ध व्यक्तिको निद्राके पूर्वकी बातोंका स्मरण रहता है, वैसे ही सुप्त-प्रतिबुद्ध न्यायसे विशिष्ट ऋषियोंको प्रथमकल्पीय कुछ शब्दार्थ सम्बन्धों एवं कुछ मन्त्रोंका भी स्मरण होता है।

ऐसे ही आर्ष मन्त्रद्रष्टा होते हैं। आवट्य महर्षिको पिछले दस महाकल्पोंका स्मरण था—

दशसु महासर्गेषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन वर्तमानेन मया यत्किंचिदनुभूतं तत्सर्वं दुःखमेव
(योगभाष्य ३ । १८)

पूर्वमीमांसक तो खण्ड प्रलय ही मानते हैं, महाप्रलय नहीं; अतः कहीं-न कहीं सृष्टिका क्रम जारी रहता है। यह जगत् सदा ऐसा ही रहता है (न कदाचिदनीदृशं जगत्)। अतः हम जैसे अपने गुरुसे ही वेदाध्ययन करते हैं, वैसे ही पूर्वके गुरुओंने भी अपने-अपने गुरुओंसे वेदाध्ययन किया है। यह परम्परा बीजाङ्कुर परम्पराके तुल्य अनादि है—

वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्। वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा॥

जिन उत्तरमीमांसकोंके मतमें महाप्रलय होता है, उनके यहाँ भी प्रलयकालमें मूल गुरु परमेश्वरमें वेद विद्यमान रहते हैं। सृष्टिके आरम्भमें ईश्वर, वेद या शब्दार्थ सम्बन्धका निर्माण नहीं करते, किंतु नित्य सिद्धका उपदेश करके सम्प्रदाय प्रवर्तन करते हैं।

यह भी कहा जाता है कि प्रथम एकाक्षरात्मक वर्ण नहीं थे, वाक्योंद्वारा ही चिन्तन या विचार चलता है, अतः प्रारम्भमें वाक्यात्मक ही शब्द थे। जिससे पूर्णः भावकी व्यक्ति हो वही वाक्य है, भले वह 'चल' 'ॐ' आदिकी तरह अनेकाक्षर हों चाहे अनेक शब्दोंके हों। विकासवादी भाषाके सम्बन्धमें भी विकासका सिद्धान्त मानते हैं। अयोगात्मक भाषा चीनियोंकी मानी जाती है, उसमें प्रकृति-प्रत्ययका भेद नहीं होता। योगात्मक भाषा तुर्की है, जिसमें प्रकृति-प्रत्यय स्पष्ट रहते हैं। विभक्तियुक्त भाषा संस्कृत है। इनमें भी विकासवादी क्रमिक विकास मानते हैं। आधुनिक अनुसंधानोंसे पता लगा है कि चीनी भाषा सदा ही ऐसी नहीं थी। उसमें पहले अनेकाक्षरके शब्द होते थे। ह्रासके कारण एकाक्षरके शब्द हो गये। जैसे मुखका 'मुँह'; कभी 'मूँ' भी कह दिया जाता है, वैसे ही चीनमें हुआ होगा। रेड इंडियनोंकी एवं इथियोपिक भाषाओंको बहुसंश्लेषणात्मक या बहुमिश्रात्मक कहा जा सकता है। अफ्रीकी भाषाओंको भी अनेकाक्षरात्मक ही कहा जा सकता है। इससे पता लगता है कि पहलेकी भाषाएँ विभक्तियुक्त अनेकाक्षरात्मक थीं, बादमें एकाक्षरात्मक हुईं। अतः प्रतीत होता है कि संस्कृत भाषा ही आदिम भाषा है और उसका अपभ्रंश अन्यान्य भाषाएँ हैं। संश्लेषणात्मक एवं विभक्तियुक्त भाषाएँ प्राचीन हैं और विश्लेषणात्मक या एकाक्षरात्मक भाषाएँ नवीन हैं। आर्य, सेमिटिक और पुरानी भाषाएँ एक ही परिवारकी हैं। इनमें भेद भी है और वह भेद बहुत पुराना भी हो सकता है। जब सबके मूल पुरुष एक थे, तब आदि ज्ञान एवं आदि भाषाका भी रूप एक ही होना चाहिये।

डेविसका 'हार्मोनिया' में कहना है कि 'भाषाके मुख्य उद्देश्यमें विकास होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उद्देश्य सर्वदेशी एवं पूर्ण होता है। उसमें किसी प्रकारका परिवर्तन सम्भव नहीं है।' मैक्समूलरके मतानुसार 'सभी भाषाएँ मूलमें एक ही थीं। मनुष्यकी असावधानीसे ही उनमें बिगाड़ हुआ।' इससे विकासके विपरीत ह्रास प्रतीत होता है। डा० पाटके अनुसार 'भाषाके मूल स्वरूपमें परिवर्तन नहीं हो सकता, केवल कुछ बाह्य परिवर्तन ही होते हैं। पिछली जातिने एक भी नया धातु नहीं बनाया। ज्ञान, अज्ञानका ज्वारभाटा सदासे ही आता रहता है। जो जातियाँ कभी जंगली थीं, वही कभी ज्ञान-विज्ञानयुक्त हो जाती हैं और ज्ञान-विज्ञानयुक्त जातियाँ कभी अज्ञानसे जंगली बन जाती हैं।' पीछे यह भी कहा गया है कि 'द्रविड़ भाषाका आस्ट्रेलियन आदि अनेक भाषाओंसे सम्बन्ध प्रतीत होता है और केम्बल्स द्रविड़, तेलगू आदि भाषाओंका वैदिक भाषासे ही निकलना मानता है। इनके सैकड़ों शब्द अबतक एक ही समान पाये जाते हैं। इन भाषाओंकी तुल्यता मिलती है। संस्कृतमें अम्ब, सीरियनमें आमो, द्राविड़में अम्मा, सामोपेडिकमें अम्म, सीथियनमें अम्माल, अरबीमें उम्म, मलयालीमें अम, तुलूमें अप्पा और चीनीमें माँ इत्यादि। जैसे संस्कृत, ज़ेन्द और लैटिन भाषाओंमें लिङ्ग एवं वचन तीन-तीन होते हैं, वैसे ही सेमेटिक, अरबी और हिब्रू भाषामें भी लिङ्ग, वचन तीन-तीन होते हैं। पुँल्लिङ्गसे स्त्रीलिङ्ग बनानेका ढंग वही है। जैसे रामका रामा, वैसे ही साहबको साहिबा और मलकको मलिका बनाकर पुँल्लिङ्गसे स्त्रीलिङ्ग किया जाता है। पुराने भेदके अन्तर्गत यूरल, अलताइक, तुंगसिक, मंगोलिक, तुर्की और तिलगू आदि भाषाएँ आती हैं। इनमें एक शाखा सामोपेडिक है, जो चीनकी दैतिसी तथा साइबेरियाकी ओबि नदीके किनारे विस्तृत रूपसे बोली जाती है। इस भाषामें संस्कृतकी भाँति तीन वचन और आठ विभक्तियाँ होती हैं।

अनादिसिद्ध शुद्ध शब्दोंके उच्चारणमें शिक्षाकी कमीके कारण गड़बड़ी होती है। उच्चारणमें व्यत्यास हो जानेसे शुद्ध शब्द अपभ्रष्ट हो जाते हैं। जैसे असुर लोग 'हे आर्य !' के स्थानमें 'हेलय' उच्चारण करने लगे। आज भी इसी कारण सूक्ष्मको 'सुच्छम' और 'टिकिट'को 'टिकस' उच्चारण करते हैं। लिपिके अक्षरोंमें कमीके कारण अरबीमें 'चरक'को 'सरक', 'कोटपाल'को 'कोतवाल' कहा जाता है। तीन वचन-वाली संस्कृत भाषासे उत्पन्न हिंदी, मराठी, गुजराती, बंगाली आदि भाषाओंमें दो ही वचन होते हैं, तीन नहीं। इसी प्रकार जेन्द भाषामें तीन वचन हैं, उससे उत्पन्न फारसी, पश्तो, उर्दू आदि भाषाओंमें दो ही वचन हैं। लैटिनमें तीन वचन होते हैं, उससे उत्पन्न भाषाओंमें दो ही वचन होते हैं। इसी तरह हिंदीमें नपुंसक लिङ्गका प्रयोग लुप्त हो गया। गुप्त कामोंके लिये इसी तरह अपभ्रष्ट करके कुछ संकेतमयी भाषाएँ बना ली जाती हैं। क्लिष्ट और विस्तृत संस्कृत भाषासे ही

सरल और संकुचित करके उच्चारणकी दृष्टिसे अन्य भाषाएँ बनी हैं। जैसे 'ऋत' को 'राइट', 'उष्ट्र' को 'उश्तर', 'स्थान' को 'स्तान,' 'घनी' को 'गानी,' 'विधवा' को 'विडो,' 'गृभ' को 'ग्रिफ्ट,' 'भ्रातर' का 'ब्रदर,' 'मातर' का 'मदर', 'पितर' का 'फादर', संस्कृत एवं जेन्दमें 'असुर' को 'अहुर,' 'सोम' को 'होम,' 'सप्त' को 'हफ्त,' 'आहुति' को 'आजुति,' 'बाहू' को 'वाजू,' 'पशु' को 'पसू,' 'उक्षन्' को 'आक्स' तथा संस्कृत एवं फारसीमें 'तनु' को 'तन', 'जानु' को 'जानु,' 'बाहु' को 'बाजू,' 'अंगुष्ठ' को 'अंगुस्त,' 'हस्त' को 'हस्त,' 'पाद' को 'पा', 'शिर' को 'सर' कहते हैं। संस्कृत और यूनानीमें 'शतं' को 'केटन,' 'दश' को 'डेक,' 'अश्मन' को 'अक्मन्' कहते हैं। संस्कृत और मिस्रमें 'अश्व' को 'अख,' 'आप' को 'आप' कहते हैं। संस्कृत और अरबीमें 'हर्म्य' को 'हरम्' 'सुर' को 'हुर' कहते हैं। संस्कृत और अफ्रीकीमें 'ध्यान' को 'धानी', 'कर्त्त' को 'काटा' कहते हैं। संस्कृत और चीनीमें 'स्थान' को 'तान,' 'जन' को 'जिन', 'अम्बा' को 'माँ,' 'होम' को 'घोम' कहते हैं। संस्कृत एवं जापानीमें 'का' को 'का,' 'बहुत्व' को 'मोत्तो' आदि कहते हैं। संस्कृत और द्रविड़में 'तालु' को 'तला', 'मंजु' को 'मंछी,' 'मेष' को 'मेक,' 'राजा' को 'राजू' कहते हैं।

इस तरह इन उदाहरणोंसे यह सिद्ध होता है कि उच्चारणमें असावधानीसे ही अनेक भाषाएँ बनी हैं। संस्कृतमें, विशेषतः वेदमें उच्चारणकी सावधानी बहुत ही आवश्यक होती है। स्वर एवं वर्णसे हीन मन्त्रका प्रयोग मिथ्या प्रयोग कहा जाता है। वह जिस अर्थके लिये प्रयुक्त हुआ है, उसका बोध नहीं कराता। इतना ही नहीं, वह वाग्वज्र बनकर यजमानका नाश कर देता है। जैसा कि—'इन्द्रशत्रो विवर्द्धस्व' में स्वरके दोषसे अर्थात् अन्त्योदात्तके स्थानमें आद्युदात्तका प्रयोग करनेसे तत्पुरुष समासके अनुसार इन्द्रका शत्रु अर्थात् घातक अर्थ नहीं हुआ, अपितु बहुव्रीहि समासके अनुसार 'इन्द्र है घातक जिसका' ऐसा अर्थ हुआ। इस स्वरापराधसे यजमान वृत्र मारा गया। वैदिक-लौकिक दोनों ही प्रकारके व्याकरण वैदिक-लौकिक संस्कृत भाषाको बिगड़ने नहीं देते।

वैदिक भाषाकी लिपि भी प्राचीन ही है और उसी आधारपर लिपि भी यन्त्र आदिके काम आती है। अब बहुत-से प्राचीन लेख मिल रहे हैं। ब्राह्मी लिपिके पहलेके कहे जानेवाले लेखोंमें कोई स्पष्ट लिपि नहीं। कितने ही शिलालेख तो काल्पनिक ही हैं।

धातुपाठ, प्रत्यय, नियम, तीन वचन, आठ विभक्तियाँ, दस लकार, संधि-कौशल तथा स्वर-विज्ञानमें संस्कृत व्याकरणसे तुलना संसारका कोई भी व्याकरण नहीं कर सकता। इन सब प्रक्रियाओंका प्रयोग करनेसे शब्दोंके

स्वरूप अटल रहते हैं। उनमें अपभ्रंशका अवसर (गुंजाइश) नहीं रहता। यही कारण है कि लाखों वर्षोंका प्राचीन साहित्य एक ही ढंगसे सर्वत्र उच्चरित और अवगत किया जा सकता है।

कुछ लोग समझते हैं कि प्राकृत भाषाका संस्कार करके संस्कृत भाषा बनायी गयी है। जैसे किसी प्राकृत काष्ठ, पाषाणका संस्कार कर मलापनयन, अतिशयाधानद्वारा उससे विशिष्ट संस्थानकी वस्तुएँ बनायी जाती हैं। परंतु वस्तुतः यहाँका संस्कार इस प्रकारका है कि जैसे मिश्रित ग्राह्य-अग्राह्य पदार्थोंमेंसे गालिनी (चलनी) द्वारा अग्राह्य और ग्राह्यका पृथक्करण किया जाता है, इसे भी संस्कार ही कहा जाता है। इसी तरह मिश्रित साधु-असाधु शब्दोंमेंसे व्याकरणके लक्षणों-सूत्रोंद्वारा असाधु शब्दोंसे साधु शब्दोंका विवेचन ही शब्दोंका संस्कार है। इस तरह नित्य शब्दोंमें भी संस्कारका व्यवहार होनेसे संस्कृतत्वका व्यवहार होता है।

कहा जाता है कि भौतिक विज्ञानसे उत्पन्न भौतिक उन्नति अनिश्चित होती है। बड़े-बड़े विद्वान् बड़ी बुद्धिसे, साधनोंसे जो निश्चित करते हैं, कालान्तरमें उसका खण्डन हो जाता है। कारण यह है कि जितने सूक्ष्म तत्त्वोंसे मस्तिष्क बना होता है, उनसे भी अधिक सूक्ष्म पदार्थ संसारमें विद्यमान हैं। जैसे नेत्रकी दर्शन शक्तिसे भी दृश्य पदार्थ अधिक सूक्ष्म पाये जाते हैं, वैसे ही सोचनेवाले यन्त्र मस्तिष्कसे भी सूक्ष्म पदार्थ हो सकते हैं। इसीलिये विद्वान् थॉम्सन्का कहना है कि 'संसारके जब छोटे रहस्य खुल जाते हैं, तब आगे बड़े रहस्य आ खड़े होते हैं। संसारके आश्चर्योंको विज्ञान कभी मिटा नहीं सकता, प्रत्युत उन्हें अगाध बना देता है।' मनोविज्ञानके पण्डितोंका कहना है कि 'किसी भी जीवन-कार्यकी संगति भौतिक नियमोंसे अबतक स्पष्ट नहीं की जा सकी है। आँसू निकलने, पसीना बहनेके छोटे-छोटे जीवन-कार्य भी भौतिक तथा रासायनिक नियमोंसे स्पष्ट नहीं होते।' एफ़० सोडीका कहना है कि 'परस्पर दो पदार्थ क्यों आकर्षित होते हैं और क्यों जुदा होते हैं यह भी ज्ञात नहीं है। यही स्थिति अन्य विज्ञानोंमें भी है। कल्पनाएँ बदलती रहती हैं।'

यहाँतक विकासवादके पक्षमें रखे जानेवाले तर्कोंपर विचार किया और संक्षेपमें अपने शास्त्रोंका मत रखा। अब उन्हींपर कुछ विस्तारपूर्वक विचार करनेकी आवश्यकता है। मूल प्रश्न यही है कि सृष्टि जड़से हुई या चेतनसे? पहले इसीपर विचार करना है—

जड या चेतन?

जड संसार जड परमाणुओंके एकत्रित होने या जड विद्युत्कणोंके संघर्ष अथवा प्रकृतिके हलचलमात्रका परिणाम नहीं है; किंतु अखण्ड सत्ता अखण्ड

बोध परमानन्दस्वरूप परमात्माकी अघटितघटनापटीयसी मायाशक्तिका परिणाम है। जैसे कल-कारखाने, रेल, तार, रेडियो, वायुयान, परमाणुबम हाइड्रोजन बम आदि उत्पादक, पालक, संहारक अनेक यन्त्रोंका निर्माण जड-प्रकृति आदिसे सम्पन्न नहीं होता, किंतु उनके लिये कोई बुद्धिसम्पन्न परिष्कृत मस्तिष्कवाला वैज्ञानिक उनका निर्माता अपेक्षित होता है। वैज्ञानिकोंके परिष्कृत मस्तिष्क, बुद्धि एवं शरीर आदिका निर्माता, विविध पशुओं, पक्षियों, फलोंका निर्माता सर्वेश्वर अपेक्षित है। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पाकी खुदाइयोंमें मिलनेवाली रंग-बिरंगी और विचित्र वस्तुओंके आधारपर यदि कोई विशिष्ट बुद्धिमान् चेतन कर्ता अपेक्षित होता है तो कोई कारण नहीं कि उपर्युक्त रंग-बिरंगे विचित्र फूलों-फलों, विचित्र साड़ी पहननेवाली तितलियों, पक्षियों, पशुओं तथा विचित्र बुद्धिपूर्ण मनुष्यका निर्माता कोई चेतन ईश्वर न हो। चन्द्र-सूर्य-सागर-पर्वतादि वस्तुएँ सावयव होनेसे कार्य हैं। कार्य होनेसे उनका सकर्तृक होना आवश्यक है। किसी भी कार्यको सकर्तृक, साधार एवं सोपादान होना अनिवार्य ही है। इस दृष्टिसे प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तिसम्पन्न चेतनसे विश्वकी उत्पत्ति होना उचित है। पार्थिव प्रपञ्चका कारण पृथिवी, पृथिवीका कारण जल, उसका कारण तेज, उसका कारण वायु, वायुका आकाश, आकाशका अहंतत्त्व, अहंतत्त्वका महत्तत्त्व, महत्तत्त्वका अव्यक्ततत्त्व और उसका कारण स्वप्रकाश सत्तत्त्व है। जैसे वह्निमें दाहिका शक्ति एवं मृत्तिकामें घटोत्पादिनी शक्ति होती है, वैसे ही सत्में प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति होती है। जैसे व्यष्टिगत व्यवहारमें निद्रायुक्त चेतनसे निद्रा भंग होनेपर कुछ बोध उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् अहंका उल्लेख होता है, अनन्तर वायु, आकाश आदिका उपलम्भ होता है। आकाश होनेपर हलचल, हलचलसे उष्मा, उष्मासे स्वेद, स्वेदसे घनीभूत स्वेद अर्थात् पार्थिव मल उत्पन्न होता है। ठीक यही स्थिति समष्टि जगत्की उत्पत्तिकी है। कारण सूक्ष्म तथा व्यापक एवं निर्विशेष होता है। कार्य उसकी अपेक्षा स्थूल, सविशेष एवं व्याप्य होते हैं। पृथिवीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच गुण हैं। जलमें गन्धविहीन पूर्वोक्त चार गुण हैं। तेजमें शब्द, स्पर्श, रूप तीन गुण; वायुमें शब्द, स्पर्श दो गुण तथा आकाशमें केवल एक शब्द ही गुण है। उत्तरोत्तर व्यापकता भी इनमें प्रसिद्ध है। आधाराधेयकी दृष्टिसे भी व्यापक, सूक्ष्म एवं निर्विशेष आधार है। स्थूल, व्याप्य आधेय हैं। सर्वाधार, सर्वकारण, स्वप्रकाश सत् निराधार एवं अकारण है। 'मूले मूलाभावादमूलं मूलं' अन्तिम मूल समूल माननेसे अनवस्था प्रसंग होगा। अतः उसे अमूल मानना आवश्यक है।

यद्यपि भौतिकवादी भूतको ही मूल मानता है। फिर भी किसी

भी कार्यमें प्रकाश, हलचल, अवष्टम्भ (रुकावट) अपेक्षित है । परमाणु, विद्युत्कण या भूतसे बिना उपर्युक्त तीनों गुणोंके काम नहीं चल सकता । प्रकाश बिना हलचल नहीं, हलचल बिना कार्य नहीं । साथ ही उचित रुकावट (अवष्टम्भ) बिना भी कार्य नहीं सम्पन्न हो सकता । कोई बढ़ई आलमारी तभी बना सकता है, जब उसे पहले उसका बोध हो, पुनः वह बसूला लेकर क्रिया प्रारम्भ करे । निरन्तर बसूला चलता ही जाय तो काष्ठ ही समाप्त हो जायगा, कोई कार्य सम्पन्न नहीं होगा । अतः यथायोग्य क्रिया और रुकावट भी होनी चाहिये । बस, ये ही तीन चीजें सत्त्व, रज और तम हैं । सत्त्व प्रकाशात्मक, रज क्रियात्मक तथा तम अवष्टम्भात्मक है । सांख्य और कई उसके अनुयायियोंने इन तीनों गुणोंकी समष्टि प्रकृतिको ही मूल मान लिया है; परंतु प्रकृति या गुणोंका भी अस्तित्व एवं स्फुरण अपेक्षित है । उसके बिना सब असत् एवं स्फूर्तिविहीन हो जाते हैं । अतः सत्स्फुरण अर्थात् अबाधित स्फुरण या स्वप्रकाश सत्के भीतर सबका अन्तर्भाव हो जाता है । सत्का अन्तर्भाव अन्यत्र नहीं हो सकता, अतः स्वप्रकाश सत् ही मूल कारण है । वही अबाधित बोधस्वरूप है । वही सब विश्वका मूल है । एक वृक्ष, एक सरोवर, एक अङ्गुल भूमितक बिना स्वामीके नहीं है तो कैसे माना जाय कि चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नक्षत्र-मण्डल, गगन, भूधर, पर्वत, सागर, भूमि, अरण्य बिना स्वामीके होंगे । इस तरह सर्वकारण सर्वाधार सर्वकर्ता सर्वस्वामी सर्वशासक परमेश्वर सिद्ध होता है । उसीका सनातन अंश क्षेत्रज्ञ आत्मा सिद्ध होता है । देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धिका द्रष्टा साक्षी आत्मा देहादिसे भिन्न है । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों बुद्धिकी अवस्थाओंका वही साक्षी है । जैसे महाकाशका अंश घटाकाश होता है, वैसे ही अनन्तबोध अखण्ड सत्स्वरूप परमात्माका ही अंश जीवात्मा है । वह भूतोंका परिणाम नहीं है । अतएव चेतनविहीन देहादि जडमात्र रह जाते हैं ।

भले ही देह, दिल-दिमाग या मस्तिष्क एवं बुद्धिके बिना स्वतन्त्र चेतनाका उपलम्भ नहीं होता, फिर भी चेतना देह या दिल-दिमाग आदिका धर्म नहीं है । जैसे तेज या अग्निका दाहकत्व, प्रकाशकत्व, लोहालक्कड़, तार आदि पार्थिव आप्य पदार्थोंके ही सम्बन्धसे व्यक्त होता है तो भी पार्थिव आप्य पदार्थोंका धर्म दाहकत्व, प्रकाशकत्व नहीं माना जाता, इसी तरह दिल-दिमाग आदिके सम्बन्धसे आत्माका चैतन्य अभिव्यक्त होता है, परंतु चैतन्य उनका धर्म नहीं है । व्यक्तिके सम्बन्धसे ही जातिकी अभिव्यक्ति होती है । फिर भी जाति स्वतन्त्र वस्तु मान्य है । जालान्तर्गत सूर्यरश्मियोंके सम्पर्कसे त्रसरेणु आदि प्रतीत होते हैं, फिर भी उनका स्वतन्त्र अस्तित्व है । उसी तरह जिस बोधके द्वारा सब प्रमाण-प्रमेय आदिकी प्रतीति होती है, उस बोधका स्वतन्त्र अस्तित्व

है। इतना ही क्यों ? उसकी ही सत्तासे अन्य पदार्थ सत्तावान् होते हैं। उसीकी स्फूर्तिसे इतर पदार्थोंमें स्फूर्ति होती है। जैसे दर्पणभानके अनन्तर ही दर्पणस्थ प्रतिबिम्बकी प्रतीति होती है, इसी तरह अथवा आलोककी प्रतीतिके अनन्तर ही रूपकी प्रतीति होती है उसी तरह प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमाता तीनोंकी प्रतीतिसे पहले ही सर्वभासक भानकी प्रतीति होती है। प्रकाश-सम्पर्क होनेसे अथवा प्रकाशस्वरूप होनेसे वस्तु प्रकाश होता है। प्रमाण बिना प्रमेयसिद्धि नहीं होती। प्रमाण भी प्रमाताके पराधीन होता है। प्रमाता स्वभिन्न प्रमेयकी प्रमितिके लिये प्रमाण ढूँढ़ता है। अपनी प्रमितिके लिये प्रमाणकी आवश्यकता नहीं समझता। यदि प्रमाता भी प्रमाणसिद्ध माना जाय तब तो वह प्रमेय-कोटिमें आ जायगा। फिर उसका प्रमाता कोई अन्य आवश्यक होगा, उसका भी अन्य, फिर उसका भी अन्य प्रमाता आवश्यक होगा। इस तरह अनवस्था-प्रसक्ति होगी। एक ही प्रमाता स्वयं प्रमाता और स्वयं प्रमेय नहीं हो सकता, क्योंकि एकमें कर्मकर्तृभाव नहीं बन सकता। किसी भी वस्तुका प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव सिद्ध करनेके लिये प्रमाता प्रमाण या साक्षी अपेक्षित है। साक्षीविहीन भाव या अभाव कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। सुषुप्तिमें प्रमाता प्रमाणका भी अनुपलम्भ सिद्ध है। परंतु सर्वभासक बोध या संवित्का प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव या अत्यन्ताभाव कुछ भी नहीं सिद्ध होता। बोधाभावका बोध नहीं तो बोधाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। बोधाभावका बोध है तो बोधाभाव भी कैसे कहा जा सकता है ? इस तरह यह अतीत अनागत अहोरात्र, पक्ष, मास, वर्ष, युग, कल्प सब देशकालका भासक है, स्वयं अनाद्यनन्त है। बीजसे पहले अङ्कुर, अङ्कुरसे पहले बीज होता है। जागरणसे पहले सुषुप्ति (निद्रा) एवं उससे पहले जागरण होता है। प्राणी जागनेके बाद सोता है और सोनेके बाद जागता है। इसी प्रकार जन्म-मरण, सृष्टि-संहार तथा जन्मों और कर्मोंकी परम्परा अनादि है। संसारमें देखा ही जाता है कि कारणमें विलक्षणता हुए बिना कार्यमें विलक्षणता नहीं होती। रेल, तार, रेडियो आदि विलक्षण कार्योंके लिये विलक्षण हेतु अपेक्षित होते ही हैं। इसी तरह देव, मनुष्य, पशु आदि उच्चावच योनियोंमें जन्म बिना धर्माधर्मरूपी कर्मोंकी विलक्षणता सम्भव नहीं है। लोकमें भी भले कर्मोंका भला फल और बुरे कर्मोंका बुरा फल होता है। ठीक इसी तरह धर्म-अधर्मके वैचित्र्यसे ही जन्मोंमें वैचित्र्य होता है।

कोई भी शासक शासनके लिये शासन-विधान आवश्यक समझता है। सुतरां सनातन परमेश्वर भी सनातन जीवोंपर शासन करनेके लिये सनातन विधान आवश्यक समझते हैं। सनातन जीवात्माओंको सनातन परमपद प्राप्त करानेके लिये सनातन परमात्माने अपने सनातन निःश्वासभूत सनातन वेदादि

शास्त्रोंद्वारा जिन सनातन नियमोंको निर्धारित कर रखा है, वे ही सनातनधर्म या सनातन नियम संसारके कल्याणकारी हैं। यह अनुभवसिद्ध बात है कि संसारमें छोटे-बड़े किसी कार्यके करनेके पहले प्राणीको उसका संकल्प या ज्ञान होता है। इस तरह ज्ञानपूर्वक ही प्रत्येक कार्य होते हैं। साथ ही हरेक ज्ञान या संकल्पमें शब्दोंका अनुवेध अवश्य रहता है। ऐसा कोई भी प्रत्यय (बोध) नहीं होता जिसमें सूक्ष्मरूपसे शब्दका अनुगम न हो—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

(वाक्यपदीय)

यद्यपि चार्वाक एवं उसके अनुयायी मार्क्स आदि भौतिकवादी प्रत्यक्षप्रमाणके अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं मानते, तथापि दूसरोंके अज्ञान, संशय, भ्रान्ति या जिज्ञासा-प्रशमनके लिये वाक्य-प्रयोग वे भी करते हैं। परंतु केवल प्रत्यक्षवादी दूसरोंके अज्ञान, संशय, भ्रान्ति, जिज्ञासा आदि प्रत्यक्ष प्रमाणसे कैसे जान सकेंगे? श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राणसे शब्द-स्पर्शादिरहित अन्यनिष्ठ संशयादि सर्वथापि नहीं जाने जा सकते। बिना संशयादि जाने जिस किसीके प्रति अजिज्ञासित अर्थका प्रतिपादक वक्ता उन्मत्त ही कहा जा सकता है। अतः स्वीकार करना पड़ेगा कि मुखाकृति या वाग्व्यवहार आदिसे दूसरोंके संशयादिकोंका अनुमान करके ही कोई भी वक्ता वाक्यप्रयोग कर सकता है। अतः प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण नहीं है, इसे कहनेके लिये भी अनुमान प्रमाण मानना आवश्यक है। अतएव पशु-पक्षीतकका व्यवहार भी अनुमानमूलक होता है। भोजन आदि लेकर आते मनुष्यकी ओर प्रवृत्त होना, दण्डोद्यतकर मनुष्यसे पलायन करना आदि भी अनुमानसे ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार व्यवहारमें कोई भी व्यक्ति पिता-पितामहादिकी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी तभी होता है, जब वह अपनेको पिता-पितामहका पुत्र-पौत्र सिद्ध कर सके। प्रत्यक्ष प्रमाणसे कोई प्राणी अपने माताकी सिद्धि नहीं कर सकता, पिता-पितामहकी सिद्धि तो दूरकी बात है। अतः पार्श्ववर्तियों तथा माता आदिकी बातोंपर विश्वास करनेसे ही पिता आदिकी सिद्धि होती है। पशु आदिको पिता आदिकी सम्पत्तिमें अधिकारी नहीं होना होता है, अतएव उन्हें वचनप्रमाणसे पिता आदिकी सिद्धिकी अपेक्षा नहीं होती। पशु आदि वचनप्रमाणरहित होते हैं, अतः उनकी दृष्टिसे माता, भगिनी, पुत्री आदिका भेद भी मान्य नहीं होता। वे पत्नी, भगिनी, किसीसे भी संतान उत्पन्न कर सकते हैं। पर मनुष्य वचनप्रमाण मानता है, इसीलिये वह माता, भगिनीका भेद मानकर यथायोग्य व्यवहार करता है। अतः आप्त पुरुषोंका कहना है—

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः ।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः ॥

प्रत्यक्षानुमानादिमूलक मति जहाँतक जाती है, वहाँतक जानेवाले वानरादि पशु होते हैं। परंतु प्रत्यक्षानुमान एवं शास्त्र जहाँतक चलते हैं, वहाँतक चलनेवाला प्राणी ही नर होता है। हाँ, पौरुषेय वचन प्रत्यक्षानुमानादिमूलक होते हैं। पर अपौरुषेय वचन स्वतन्त्ररूपसे प्रमाण होते हैं। जैसे रूपग्रहणमें नेत्र स्वतन्त्र प्रमाण होता है, वैसे ही धर्म-ब्रह्मादिग्रहणमें वेदादि शास्त्र स्वतन्त्र प्रमाण होते हैं। इस तरह प्रत्यक्ष, अनुमान तथा वेदादि आगमोंद्वारा यही सिद्ध होता है कि शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ईश्वरसे ही विश्वकी सृष्टि एवं उसकी व्यवस्था होती है। विचित्र सूर्यमण्डल अपने आप कैसे बन गया ? उससे चन्द्रमण्डल, भूमण्डलके टुकड़े कैसे टूटे ? अब ऐसे टुकड़े क्यों नहीं टूट रहे हैं ? अब वानरसे मनुष्य क्यों नहीं उत्पन्न होते, इन अतीत इतिवृत्तोंमें क्या प्रमाण है ? केवल कुछ मनुष्योंकी दिमागी कल्पनाको छोड़कर इन तत्त्वोंका क्या आधार है ? आर्ष विज्ञान अपौरुषेय शास्त्रोंके सामने इन कल्पनाओंका क्या मूल्य है ?

इन कल्पनाओंकी निस्सारता इसीसे स्पष्ट है कि अग्नि, सूर्य, इन्द्रादि देवता उपयोगिताके आधारपर माने गये हैं। परंतु यह कोई भी नहीं कह सकता कि जिसका उपयोग करना हो उसकी पूजा भी करनी चाहिये।' पूजा तो उसी दशामें होती है, जब दृश्य जडवस्तुसे भिन्न कोई चेतन वस्तु मान्य होता है। आस्तिक लोग उपयोगी अग्नि आदिमें एवं अनुपयोगी पाषाण आदिमें भी चेतन अधिष्ठान देवता मानकर उनकी पूजा करते हैं। इसी तरह इन्द्र या ईश्वर आदिकी कल्पना भी भीरु प्राणीकी भीरुताका परिचायक नहीं; किंतु भय, शोक, मोह, सुख-दुःख आदि प्रापञ्चिक भावोंसे ऊपर उठे हुए महापुरुषोंद्वारा परम तथ्यका ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा साक्षात्कार है। निर्विकल्पसमाधिदशामें ईश्वरतत्त्वका साक्षात्कार होता है। एवं दार्शनिक दिव्य तर्कोंद्वारा अशृंखल भौतिकवादी कुतार्किकोंके अखर्व गर्वोंको चूर करके अध्यात्मवादी आत्म-परमात्मवाद सिद्ध करते हैं। वशिष्ठ, व्यास, कण्व, गौतम, श्रीहर्ष, उदयन, कुमारिल आदिकोंके महान् तर्क आज भी नास्तिकोंके लिये दुर्भेद्य हैं।

विकासवाद और जाति

जल, वायु एवं देशोंके प्रभावसे रंगमें परिवर्तन होना प्रत्यक्ष अनुमान एवं शास्त्रसे भी सिद्ध है। कफ, वात, पित्तकी प्रधानता-अप्रधानतासे भी रंग, रूप, स्वभावमें भेद होना शास्त्रसिद्ध है। जैसे संकल्पों, विचारों एवं वातावरणोंसे रजस्वला स्त्री प्रभावित हो, स्त्री-पुरुष जैसे देश, काल,

वातावरणसे प्रभावित होकर गर्भाधान करते हैं, वैसे ही संतानका प्रादुर्भाव होता है। वात, पित्त, कफका प्रभाव भी संतानपर पड़ता है। 'बृहदारण्यक' में स्पष्ट मिलता है कि जो चाहे कि मेरा पुत्र शुक्लवर्ण और एक वेदका विद्वान् हो, वह विधानसहित क्षीरोदन पकाकर घृतके साथ प्राशन करे। जो चाहे कि कपिल एवं पिंगलवर्णका पुत्र हो और दो वेदका पण्डित हो, वह विधिपूर्वक घृतयुक्त दध्योदनका प्राशन करे। ऐसे ही श्याम, लोहिताक्ष और तीन वेदका पण्डित होनेके लिये भी प्रकारान्तरका उल्लेख है। पुष्पों, फलों, पौधोंका भी रूप-रंग, स्वाद बाह्य उपचारोंसे बदला जा सकता है, यह स्पष्ट ही है। तात्कालिक या प्राचीन लौकिक एवं शास्त्रीय कर्मोंसे रूप-रंगमें प्रमाणानुसार परिवर्तन माननेमें विकासवादके प्रसंगकी उपस्थितिका कोई भी अवसर नहीं रहता। इतना ही क्यों, देवताओं, ऋषियोंके वर या शाप अथवा तीव्र पुण्य या पापसे तत्क्षण जातिका परिवर्तन हो जाता है। विश्वामित्रके शापसे रम्भा पहाड़ी हो गयी, सप्तर्षियोंके वचनसे नहुष अजगर हो गया और देवताके वरसे नन्दी देवता हो गये। परंतु इतनेसे ही विकासवादियोंके बंदरोंसे मनुष्यकी उत्पत्ति हुई, इस मतकी पुष्टि नहीं होती। वैदिकोंके मतमें किसी भी विलक्षण कार्यका आविर्भाव-तिरोभाव किसी हेतुसे किसी बुद्धिमानद्वारा होता है, यह पक्ष तो सर्वसम्मत है। इस दृष्टिसे कर्मोंके वैचित्र्यसे सर्वज्ञ ईश्वरद्वारा विलक्षण कार्योंका आविर्भाव-तिरोभाव होना ठीक है। परंतु कर्मनिरपेक्ष जड (प्रकृति या अन्यान्य जड) परमाणु या विद्युत्कणसे विलक्षण कार्य बन जाने या बंदरसे मनुष्य आदिकोंकी उत्पत्तिका कोई आधार नहीं है।

जब कर्म, वर, शाप, भावना, संकल्प आदि अन्यान्य हेतु परिवर्तनके विद्यमान हैं, तब खामखाह व्यभिचारकी ही कल्पना करना, सबको झूठा समझकर केवल अपने अटकलपर ही डटे रहना कहाँतक ठीक है ? भले ही किसीको कोई रोग परस्त्री-सम्भोगसे ही हुआ हो, परंतु अन्यान्य प्रकारके सम्पर्कसे वह रोग हो ही नहीं सकता, ऐसा नहीं कहा जा सकता। श्रीदशरथके राम, भरत ये दो श्यामल पुत्र और लक्ष्मण, शत्रुघ्न गौरवर्णके हुए। वसुदेवसे भी बलराम गौर, कृष्ण श्यामल हुए। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध श्यामल हुए, व्यास, शुक आदि श्यामल थे, अतः यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि आर्य सब गोरे ही होते थे। भारतमें छहों ऋतुओंका पूर्ण विकास होता है, अतः देश-कालभेदसे तथा अन्यान्य हेतुओंसे भी रूप-रंगमें भेद हो ही सकता है। मैथिल, बंगाली, पंजाबी, युक्तप्रान्तीय, महाराष्ट्रिय, द्रविड़ आदिकोंके रूप-रंग, स्वरूपमें स्पष्ट भेद पड़ जाते हैं। वे सभी आर्य हैं, सभीके समान गोत्र होते हैं। शंकर गौरवर्ण, ब्रह्मा रक्तवर्ण, विष्णु श्यामल वर्णके हैं। यही स्थिति

महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वतीकी भी है। सत्त्व शुक्ल, रज रक्त, तम कृष्ण होता है। भगवान्‌के अवतारोंमें भी शुक्ल, रक्त, पीत, कृष्ण—ये चार भेद आये हैं—

शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः। (श्रीमद्भा० १० । ८ । १३)

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—इन पाँच तत्त्वोंमेंसे जिस तत्त्वकी प्रधानता जिन प्राणियोंमें रहती है, उस प्रकारके रंग उन प्राणियोंमें होते हैं। पृथ्वीका पीतवर्ण, जलका शुक्ल, अग्निका रक्त, वायुका कृष्ण, आकाशका धूम्रवर्ण है (योगतत्त्वोपनिषद्)। सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि—इन ग्रहोंका रंग क्रमशः ताम्र, श्वेत, रक्त, हरा, पीला, भास्वर, शुक्ल और कृष्ण है। जन्मकालीन लग्नके नवांशका स्वामी ग्रह यदि बलवान् हो तो उसके वर्णानुसार उस पुरुषका रंग होता है। लग्ननवांशाधिपति निर्बल हो और यदि लग्नमें स्थित या लग्नको देखनेवाला ग्रह बलवान् हो तो उसके वर्णानुसार उस पुरुषका रंग होता है। लग्ननवांशाधिपति निर्बल हो और यदि लग्नमें स्थित या लग्नको देखनेवाला ग्रह बलवान् हो तो उस ग्रहके वर्णानुसार रंग होता है। अथवा चन्द्रमा जिस राशिके नवांशमें हो, उसके स्वामी ग्रहके वर्णानुसार रंग होता है। 'लग्ननवांशपतुल्यतनुः स्याद्वीर्ययुतग्रहतुल्यवपुर्वा। चन्द्रसमेतनवांशपवर्णः।' (बृहज्जा० ५ । २३) हाँ, इसमें भी देश, जाति, कुल आदिके अनुसार वर्णमें तारतम्य होना स्वाभाविक है—(परं विचार्याः कुलजातिदेशाः।)

'विकासवाद युक्तिसंगत हो तो उसे माननेमें कोई आपत्ति नहीं, परंतु जिस विकासवादकी अबतक कोई निश्चित व्यवस्था ही नहीं, उसके बारेमें कहाँतक क्या कहा जाय ? विकास-ह्रास ये संस्कृत शब्द हैं। किसी विद्यमान वस्तुका ही ह्रास और विकास होता है। इस दृष्टिसे हर एक वस्तुका 'जायते, अस्ति, वर्द्धते' तक विकास कहा जा सकता है। 'परिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति' यहाँतक ह्रास होता है। इस तरह हर एक तत्त्वमें ह्रास-विकासका चक्र चलता रहता है। यह विकास-ह्रास भी विना किसी नियन्ताके नहीं बनता। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके नियन्त्रणमें तो यह सब सम्भव है, परंतु जिस विकासवादमें सर्वज्ञ ईश्वर नहीं, जिसमें पूर्व-पूर्वके लोग अज्ञ, उत्तरोत्तरके लोग विज्ञ होते हैं, जिसमें अभीतक सर्वज्ञ कोई हुआ ही नहीं, अतएव जिसका शास्त्र भी अभीतक ठीक-ठीक नहीं बन पाया, ऐसा विकास सचमुच किसी आस्तिकको मान्य नहीं हो सकता। इसके सिवा सबसे बड़ा दोष इस विकासवादमें यह है कि इसमें कर्मवादका सम्बन्ध नहीं रहता। यदि अनन्त प्राणियोंके उत्कर्ष, अपकर्ष, सुख-दुःख उनके धर्माधर्मरूप कर्मोंसे माने जायँ और कर्मों तथा फलोंका ज्ञाता, नियन्ता परमेश्वर माना जाय, तब कर्मोंके अनुसार ही विकास

और उसके अनुसार ही ह्रास भी मानना पड़ेगा। तब तो ह्रास-विकासका चक्र ही समझमें आ सकता है।

किसी पीढ़ीमें अकस्मात् परिवर्तन विकासवादमें परिगणित हो सकते हैं। परंतु संकल्प, धर्माधर्म, वर-शापादिसे परिवर्तन इस विकासवादमें नहीं आ सकता। विकासवादियोंका यह कहना भी युक्तिविहीन है कि 'किसी जातिके किसी पीढ़ीमें अकस्मात् आविर्भूत होनेवाले गुण-दोष दोनों ही प्रबल होते हैं। खतरनाक अवस्था आनेपर दोषवाली जातिके लोग नष्ट हो जायँगे, परंतु गुणवाली जातिके लोग और जातियोंके नष्ट होनेपर भी बचे रहेंगे।' तब ये विशेषताएँ बिना कारणके कैसे होंगी? फिर जब अकस्मात् ही सब कुछ होना है, तब आकस्मिक दोषवाली जातिके नष्ट हो जाने, गुणवाली जातिके जीवित रहनेका ही नियम कैसे रहेगा? शास्त्रीय विचारधाराके लोगोंका तो कहना है कि किसी भी परिवर्तनमें हेतु अवश्य है और जो विशेषताएँ आगन्तुक हैं, उनको मिटाना भी अनिवार्य है। उत्तम दृढ़ हेतुसे व्यक्त विशेषताएँ कुछ दीर्घकालतक ठहरती हैं। निम्नश्रेणीके हेतुसे उत्पन्न विशेषताएँ शीघ्र ही नष्ट होती हैं। कुष्ठ, प्रमेह, मृगी आदि ऐसे कितने ही रोग हैं, जो प्रारब्ध एवं अन्यान्य बाह्य हेतुओंसे उत्पन्न होते हैं और फिर उनकी परम्परा चल पड़ती है। कितने रोग ऐसे भी होते हैं कि जिनकी परम्परा नहीं चलती। वैसे दोषोंका भी ज्ञान फल-बलसे ही जानना चाहिये।

रूप-रंग एवं मनपर बाह्य परिस्थितियोंका प्रभाव भी अवश्य पड़ता है। मैथिलों, पंजाबियों, द्राविड़ोंपर देश, जल, वायुका प्रभाव अवश्य है। पवित्र, अपवित्र वस्तुओंका सेवन, वैसे वातावरणका सेवन अवश्य मनपर प्रभाव डालता है। भाँग, मद्य आदिके सेवनसे मनपर विकृति आती ही है। 'केवल आधुनिक विकासवादियोंको मान्य नहीं है, इतनेहीसे कोई बात अयुक्त नहीं हो सकती। फिर जो आकस्मिक परिवर्तन माननेवाला है, उसकी दृष्टिमें किसी भी हेतुका सम्मान कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त तीव्र पुण्य-पाप, ऋषियों, देवताओंके वर-शापसे भी विचित्र परिवर्तन शास्त्रसिद्ध है। रचनामें अलौकिक ईश्वरीय शक्तिका हाथ होते हुए भी चित्रकारके समान परमेश्वरमें अल्पज्ञता एवं अभ्याससापेक्ष कुशलताकी आपत्ति नहीं होगी। मनुष्यजातिकी धीरे-धीरे उन्नति करनेपर ही उसकी न्यूनता नहीं, क्योंकि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भी परमेश्वर जीवोंकी उन्नति-अवनतिके सम्बन्धमें उनके कर्मोंपर अवलम्बित है। जीवोंके अङ्गोंके सौन्दर्य, माधुर्य आदि गुण-गणोंके होनेमें जीवोंके कर्म भी हेतु होते हैं, कर्मानुसार ही जीवोंको रूप, रंग, सौन्दर्य, बुद्धि आदि मिलेगी। इतनेसे ही सृष्टिकी पूर्णता-अपूर्णताका निर्णय करना निरर्थक है। जब जीवोंके पुण्य विशेष होते हैं, तब उनका उत्तम विकास होता है,

पुण्योंकी कमीमें विकासकी कमी होती है। रंगों, रूपों, बुद्धियोंमें खराबी पापोंकी विशेषतासे भी होती है। वैसे ही हर एक जीवमें सब तरहके गुण और शक्तियाँ विद्यमान होती हैं। तपस्या और धर्मकी महिमासे उनका आविर्भाव, अधर्मसे उनका ह्रास हो जाता है। प्रकृतिके विरुद्ध परमेश्वरका जातिपर हाथ लगानेका तो कोई प्रसङ्ग ही नहीं; प्रेम, भक्ति आदिसे भी अनेक परिवर्तन होनेपर भी उस देहके रहते-रहते जाति नहीं बदल सकती, दूसरे जन्ममें तो अभीष्ट जाति-परिवर्तन तीव्र कर्मोंसे हो सकता है। यह भी योगादि शास्त्रोंको सम्मत है। भगवान् भक्तपर अनुग्रह करें, यह भी पक्षपात नहीं है; क्योंकि जैसे अन्यान्य कर्म हैं वैसे ही भक्ति भी मानस कर्मविशेष ही है। अग्निके समीप जो ही जायगा, उसकी शीत-निवृत्ति होगी। वह सभीके लिये समान है। विशेष कर्मों, उपासनादि हेतुओंसे उसी जन्ममें जातिपरिवर्तन होना अपवाद और उस देहमें जातिका न बदलना उत्सर्ग है। फिर किसी पीढ़ीके रूप, रंग, मनके परिवर्तनसे जाति बदलनेका कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। जो कहा गया है कि 'परमेश्वर किसी भक्त जातिको ब्राह्मणत्व दे सकता है' यह कहना अनभिज्ञता है; क्योंकि ब्राह्मणत्व भी जाति ही है। फिर एक जातिको दूसरी जाति कैसे मिल सकती है? यह ध्यान देनेकी बात है कि व्यक्तिको जाति प्राप्त होती है। जातिको जाति कभी भी नहीं मिल सकती, 'जातौ जातेरनङ्गीकारात्' किसी अन्य जातिके व्यक्तिसे अन्य जाति मिल सकती है, परंतु वह अपवाद है।

जो तपस्या और योगकी शक्तिसे प्रकृतिपर अधिकार पा चुके हैं, जो प्राकृतिक तत्त्वोंमें संकल्पमात्रसे परिवर्तन कर सकते हैं, वे शूद्रादि जात्यारम्भक कर्मविशिष्ट भूत, तन्मात्राओं या परमाणुओंको हटाकर ब्राह्मणजात्यारम्भक कर्मविशिष्ट भूतों या परमाणुओंसे ब्राह्मणजातिको व्यक्त कर सकते हैं। परंतु यह सामर्थ्य उन्हीं लोगोंमें सम्भव है, जो अपने सामर्थ्यसे नहुषको अजगर और रम्भाको पहाड़ी बना सकते हैं। उन महर्षियोंके वचनोंमें वह सामर्थ्य रहती है कि जिससे उनके वचनोंका अनुगमन अर्थ करते हैं। वचनोंको अर्थके अनुगमनकी आवश्यकता नहीं होती। वे यदि घटको पट कहें, तो घटको पट होना पड़ता है—'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' आद्य महर्षियोंके वचनोंका अनुधावन अर्थ करते हैं। अतएव परमेश्वरद्वारा किसी जातिमें अनियमित परिवर्तनका प्रसङ्ग ही नहीं आता। जो यह कहा गया है कि मिश्रणसे भी रंग-रूपमें भेद होता है, जैसे काली मुर्गी और श्वेत मुर्गेसे उत्पन्न चार बच्चोंमें एक काला और एक श्वेत होता है, बाकी दो मिश्रित होते हैं। दूसरी पीढ़ीमें सोलह बच्चोंमें एक श्वेत, एक काला और चौदह मिश्र रंगके तथा तीसरी पीढ़ीमें चौसठमें एक काला, एक श्वेत, बाकी सब मिश्र रंगके होते हैं। इस तरह मिश्र जातिमें भी शुद्ध विशेषताएँ आ जाती हैं। वैसे ही मनुष्योंमें भी पश्चिमी श्वेत

और पीत मंगोलका मिश्रण होनेपर उनसे कुछ पश्चिमीय रूप-रंगके और कुछ मंगोल रूप-रंगके होते हैं। परंतु अधिकांश पारसी, ईरानी ढंगके होते हैं। इसी दृष्टिसे निश्चित किया जा सकता है कि पारसी जाति इन्हीं दोनोंका मिश्रण है। यही स्थिति उत्तर भारतकी उच्च जातियोंमें भी है। वहाँ मिश्रण स्पष्ट है। परंतु ऐसा कहना ठीक नहीं है। जैसे मुर्गीमें यह देखा जाता है, वैसे ही अन्य जातियोंमें इसका व्यभिचार भी देखा जाता है। 'कलमी आमोंमें कभी भी मूल आमके समान फल नहीं होते। व्यक्तियोंके रूप, रंग, ऊँचाईमें एकता, शरीरके हर एक अङ्गमें स्पष्टता शुद्ध जातिके चिह्न हैं,' यह कथन भी असङ्गत है। शुद्ध जातिका अर्थ क्या है? क्या सृष्टिकालसे प्रकट होनेवाली कोई आदिम जातिको शुद्ध जाति कहा जाता है? यदि हाँ, तो उपर्युक्त चिह्न उसीके हैं, इसमें क्या आधार है? वानर आदि जातियोंके अङ्गोंकी अस्पष्टताके कारण क्या उन्हें अशुद्ध माना जाय? फिर शुद्ध बंदर कौन? कोई जाति ही स्पष्ट अङ्गवालोंकी होती है, कोई अस्पष्ट अङ्गवाली होती है।

'पाँचवीं, छठी, सातवीं पीढ़ीमें अशुद्ध संतानोंमें फिर शुद्धता आ जाती है,' इसका ठीक अर्थ न समझकर विद्वान् लेखकने व्यर्थ ही क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रके रक्तका हिसाब-किताब लगा डाला है। 'पाँचवीं पीढ़ीमें अशुद्ध संतान शुद्ध हो जाती है,' इसका अभिप्राय यह नहीं है कि किसी तरहसे भी अशुद्ध संतानसे पाँचवीं पीढ़ीकी संतान शुद्ध हो जाती है। उसका अभिप्राय है कि शूद्रकन्याका ब्राह्मणके साथ विवाह हो और फिर उससे कन्या ही हो, उसका विवाह फिर ब्राह्मणसे ही हो, उससे फिर कन्या हो और उसका फिर ब्राह्मणसे ही विवाह हो। इस परम्परासे सातवीं पीढ़ीमें उत्पन्न कन्या ब्राह्मणी होगी। शूद्रकन्यामें ब्राह्मणसे उत्पन्न कन्यापरम्परासे ही सातवीं पीढ़ीमें जातिका उत्कर्ष होगा, परंतु शूद्रपुत्रकी परम्परामें उत्कर्ष नहीं हो सकेगा, बल्कि शूद्र यदि उत्कृष्ट वर्णकी कन्यासे उद्वाह करे तो उसका पतन हो सकता है। 'अतः हर तरहसे निकृष्ट संतान भी उत्कृष्ट जातिको प्राप्त हो जाती है,' ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'रक्तमिश्रणसे भी जातिमें भेद नहीं होता,' यह बात नहीं है। प्राचीन कालमें स्त्रियाँ बिल्कुल शुद्ध थीं, यह तो कोई भी नहीं कहता, किंतु जो अशुद्ध थीं, उनसे उत्पन्न संतान अनुलोम, प्रतिलोम सङ्कर कोटिमें गिनी गयीं, जो आज भी अनेक उपजातियोंके रूपमें प्रत्यक्ष हैं। शुद्ध जातियोंमें वे मिलायी नहीं गयीं, यही वैदिकोंका कहना है। स्त्रियोंकी शुद्धिपर विश्वास न होनेका कारण भिन्न-भिन्न देशोंका वर्तमान वातावरण ही है। अब भी देखा जाता है कि माता, पिता, भ्राताके पूर्ण नियन्त्रणमें कन्या रहती है। वह नौ-दस वर्षकी अवस्थामें ब्याही जाती है। श्वशुरकुलमें जाते ही पर्देमें रहती है। ज्येष्ठ, श्वशुरतकसे भी नहीं बोलती, घरके भीतर सदा घूँघटकी ओटमें रहती है। जहाँ घूँघटकी प्रथा नहीं है, वहाँ

भी दृष्टिसंवरणरूप पर्दा है ही। बिना कुटुम्बियोंके अकेले उसका कहीं जाना-आना सम्भव ही नहीं, किसी बाहरी व्यक्तिसे बोलनातक जब असम्भव है, तब स्वतन्त्र मिलनेकी तो बात ही क्या ? ऐसी दशामें कुटुम्बमें कहीं व्यभिचार भले ही हो जाय, परंतु परजातिके साथ सम्बन्ध तो असम्भव ही है। रजस्वला होनेपर स्त्रीके मनमें विकार आनेपर किसीपर मन जा सकता है। इसीलिये रजस्वला होनेके पहले ही विवाह करनेका नियम है। पातिव्रतधर्म, वैधव्य-पालन, सतीधर्म आदिके प्रचारपर जिनकी दृष्टि है, जो आज भी एक-एक गाँवमें सैकड़ों निर्दोष कुलोंको देख रहे हैं; उन्हें स्त्रियों, विशेषतः प्राचीन कुलाङ्गनाओंकी शुद्धिपर अविश्वासका कोई कारण नहीं। जहाँ कहीं कुछ भी गड़बड़ीका संदेह हो, वहाँ उनकी संतानोंको पृथक् करनेका आशय यही था कि जातिकी शुद्धता बनी रहे। सारांश यह है कि रूप, रंग, रक्त, वीर्य आदि सभीका परिवर्तन देश, काल, जल, वायु, प्रारब्ध एवं अन्यान्य आगन्तुक दोषों और गुणोंसे हो जाता है। इतनेहीसे जाति-भेद निराधार और निरर्थक नहीं सिद्ध होता। जैसे काली, श्वेत मुर्गीमें भी जाति वही रहती है। नील, श्वेत, लाल, सब रंगकी गायोंमें 'गोत्व' और पूज्यत्व रहता ही है, वैसे ही पंजाबी, मैथिल, बंगाली, द्रविड़ ब्राह्मणोंके रूप-रंगमें भेद होनेपर भी ब्राह्मणत्व समान ही रहता है। 'इनमें कौन शुद्ध है, कौन नहीं,' इसका निर्णायक प्रमाण लेखकके साथ क्या है ? पंजाबियों, बंगालियों, युक्तप्रान्तियों, मैथिलों सभीके आकार-में स्पष्टता है। फिर भी कुछ भेद केवल देश, जल, वायुका ही है। अतएव उन-उन देशोंके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रतकके आकार-प्रकार, भाषामें एक खास समानता होते हुए भी जातिमें भेद है। बंगाली, मैथिल, दक्षिणी ब्राह्मणके गोत्र, शाखा, सूत्र समान हैं। एक ही देशके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके रूप, रंग बोल-चालमें समानता होनेपर भी गोत्र आदिमें भेद है।

कौन चीज बदल सकती है, कौन नहीं, इसका ज्ञान अनुमान और शास्त्रसे सुगम है; पर शास्त्र-अनुमानशून्य केवल कल्पनाकी उड़ान करनेवालेको वह अवश्य दुर्गम है। जब यह स्पष्ट है कि रूप-रंग, मोटापन दुबलापनकी तरह परिवर्तनशील है; मनमें भी सत्त्व, रज, तमकी प्रबलता-निर्बलता घट-बढ़ सकती है, तब स्पष्ट ही है कि इनके बदलनेसे ब्राह्मणता आदिमें परिवर्तन नहीं होता।

कर्मविपाक और विकासवाद

जड प्रकृतिसे विश्वका विकास माननेपर ईश्वरवाद और कर्मवादसे विरोध बतलाया जाता है। यह पक्ष उचित ही प्रतीत होता है कि जैसे बीज, धरणी, अनिल और जलके संसर्गसे अपने-आप अंकुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प, फलसमन्वित होता है, वैसे ही प्रकृति अपने आप ही महदादिक्रमेण समस्त प्रपञ्चाकारेण परिणत होती है। विद्युत्कणों या परमाणुओंसे बहुत-से सूर्यादि

ग्रह, फिर पृथ्वी और उसपर घास, फूल, वृक्ष, फिर मांसमय ग्रन्थियाँ, फिर जलजन्तु, पक्षी, वानरादि क्रमसे मनुष्यका प्रादुर्भाव हुआ। परंतु ईश्वरवादी कहता है कि जड प्रकृतिको जब कुछ ज्ञान ही नहीं, तब वह सुव्यवस्थित विचित्र विश्वका निर्माण कैसे कर सकती है ? अतः सर्वज्ञ ईश्वर मानना चाहिये। साथ ही विश्व-वैचित्र्यका निमित्त कर्मवैचित्र्य भी मानना पड़ेगा। वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, देवता, दानव, मानव आदिकोंमें सुख-दुःखकी विचित्रताके लिये कर्मोंकी विचित्रता मानना ही चाहिये। कर्मोंको बिना माने वस्तुओंका सौष्ठव, असौष्ठव, भोग-सामग्रीकी बहुलता-हीनता आदि कैसे सिद्ध हो सकते हैं ? जडवादी सब कुछ 'प्रकृतिके स्वभाव' से ही मान लेता है; परंतु ईश्वरवादी, धर्मवादी इसे अनुचित मानते हैं।

विचार करनेसे ईश्वरवादीके कर्मानुसार व्यवस्थामें भी दोष प्रतिभासित होते हैं। ईश्वरवादी कर्मके अनुसार समस्त व्यवस्थाका उपपादन करते हैं। परंतु कर्म यदि समस्त जन्तुओंको कर्मोंका फल माना जाय तो अनन्त तृण, वीरुध, वृक्ष, ज्ञानशून्य प्राणियोंको कर्मका ज्ञान ही नहीं है, फिर उनके किन कर्मोंके अनुसार उनका अग्रिम जन्मादि माना जायगा ? साथ ही पशु-पक्षियों, कीट-पतंगोंको धर्माधर्मका ज्ञान ही नहीं, फिर वे कैसे धर्मका अनुष्ठान और अधर्मका परिवर्जन कर सकते हैं ? इसके सिवा सर्प, व्याघ्रादि कितने ही स्वभावानुसारी प्राणियोंसे तो पाप ही अधिक बनता है, फिर तो उनके उद्धारका समय ही न आयेगा। पापकर्मसे अधम योनियाँ, अधम योनियोंसे पुनरपि पाप होता ही जायगा। परंतु कहा जाता है कि कर्मका अधिकारी केवल मनुष्य ही है और सब भोगयोनि है। मनुष्यशरीरसे ही प्राणी कर्म करके अनेक योनियोंमें कर्मफलोंको भोगता है। अधम कर्मोंसे अधम योनियोंमें, उत्तम कर्मोंसे देवादि उत्तम योनियोंमें फिर भोगा जाता है। इस कथनके अनुसार यह भी मालूम पड़ता है कि देवता, असुर, राक्षसादिकोंके लिये भी विधि-निषेध नहीं है। वे भी भोग-योनियाँ ही हैं। यहाँतक कि भारतवर्षके ही मनुष्य कर्मके अधिकारी हैं, अतएव उन्हींमें वर्णाश्रमानुसार कर्म एवं तद्बोधक वेदादि शास्त्र हैं। तद्भिन्न अष्ट वर्ष, जम्बूद्वीपके और समस्त छः द्वीप तथा त्रयोदश भुवनके सभी प्राणी केवल कर्मोंके फल ही भोगते हैं। वे कर्मके अधिकारी नहीं, इसलिये विधि-निषेधके भी अधिकारी नहीं हैं। शास्त्रोंसे यह भी प्रमाणित होता है कि इन्द्रादि देवताओं, असुरों एवं राक्षसोंमें भी पुण्य-पाप कुछ माना जाता था, अतएव यज्ञादिकोंका अनुष्ठान उनमें भी सुना जाता है। और नहीं तो कुछ माता, दुहिता आदिकोंका सम्भोग आदि पाप और उपासना ज्ञानादि पुण्य तो माने ही जाते थे। इसी तरह सुग्रीव-वालि-जैसे वानरों, जटायु-सम्पाति-जैसे गृध्रादि, गरुड़ादि पक्षियोंमें

भी पुण्य-पापकी भावना सुनी जाती है। फिर भी प्रधान सिद्धान्त यही है कि भारतीय मनुष्य ही कर्माधिकारी हैं, अतएव यहींसे भोग, मोक्ष सब कुछ सिद्ध होता है और यहींके समस्त कर्मठ कर्मफलभोगार्थ भिन्न योनियोंमें जाते हैं।

कुछको ईश्वरीय सृष्टिके मूल कर्मको माननेवालोंके इस सिद्धान्तपर भी संशय होता है कि "कथञ्चित् उत्तरकुरु-जैसे देशोंके दिव्य मनुष्योंको भले ही भोगयोनि मान लें, पर भारतके बाहर रहनेवाले मनुष्योंको कर्माधिकारी क्यों नहीं माना गया? कहा जा सकता है कि स्वर्गियोंके समान वे भी कर्मफलोंके भोगार्थ हैं। यदि सर्वत्र कर्म-परम्परा मानते जायँगे, तब तो फिर कर्मोंकी समाप्ति ही न होगी, अतः कहीं कर्मभोग ही मानकर कर्म न माननेसे भोगद्वारा कर्मोंकी समाप्ति सम्भव है। परंतु आजके यूरोपीय, अमरीकन, रूसी, चीनी, अफ्रीकन आदि मनुष्योंमें तो भारतीयोंसे कुछ भी भेद नहीं है, फिर उन्हें कर्मका अधिकारी क्यों न माना जाय और वहाँ ईश्वरीय वेदादि शास्त्रोंका प्रचार क्यों नहीं हुआ? यदि कथञ्चित् यह सिद्ध किया जाय कि 'वर्तमान उपलब्ध समस्त पृथ्वी भारतवर्ष ही है, अतएव उपर्युक्त सभी कर्मके अधिकारी हैं, इनमें सर्वत्र वेदका प्रचार भी था, प्रमादवश ही लोग अवैदिक हो गये। ब्राह्मणोंका सम्बन्ध टूटनेसे भक्ष्याभक्ष्यादिके नियम टूट गये, इसीलिये अब भी मानवधर्म, सामान्यधर्म, अहिंसा, सत्यादि नियमों, ईश्वरोपासनादि नियमोंके मनुष्यमात्र अधिकारी हैं,' तो भी यह प्रश्न होगा कि कितनी ही जंगली, हब्शी आदि अनेक मनुष्य जातियाँ हैं, जिनमें मालूम पड़ता है, कभी भी धर्म-कर्मकी भावना ही नहीं थी। उन्हें पुण्य-पाप होता है या नहीं? यदि नहीं होता, तो क्यों? यदि 'अज्ञानी होनेसे,' तब तो किसी अंशमें ज्ञानी होना भी अपराध कहा जा सकता है। ज्ञानी होनेसे पुण्यके अनुष्ठानसे स्वर्गादि सुख प्राप्त करना तो अच्छा है, परंतु ज्ञानी होकर पापकर्म करके नरकादि महान् कष्टोंको भोगना तो अनिष्ट ही है। यदि अज्ञानी होनेसे ही वनमानुषादि अनेक जंगली मनुष्य हिंसादि पापोंका फल नहीं भोगते, तब तो हिंदुओंके पापियोंका ज्ञान ही अपराध हुआ। यदि ज्ञान न हो, तो वे भी पापफलसे मुक्त हो जायँगे, इसलिये पापफलसे डरनेवालोंको चाहिये कि वे अपने बच्चोंको ज्ञानी न होने दें। इसके अतिरिक्त, एक ब्राह्मण बालक ज्ञानी होनेके लिये वेदादि शास्त्रों-का अध्ययन न करे, तो यह भी पाप ही समझा जाता है। इस तरह जंगलियोंका भी ज्ञानके लिये प्रयत्न न करना भी पाप ही समझा जाना चाहिये। फिर जैसे राजकीय कानूनमें अपराधका फल भोगना ही पड़ता है, 'मैं नहीं जानता था',

यह कहनेसे काम नहीं चल सकता, जैसे विष जाने, बिना जाने अपना फल देता ही है, वैसे ही यदि धर्माधर्म कोई वस्तु हैं, तो वे जाने, बिना जाने अपना फल देंगे।

"कहा जा सकता है कि विज्ञान भी एक तरहका कर्म ही है, अतः इसका होना, न होना भी फलोंमें विशेषता सम्पादन करता है। जैसे हथकड़ी-बेड़ीसे जिस व्यक्तिके हस्त-पादादि जकड़े हैं, जो असमर्थ है, उसके लिये करने, न करनेका विधि-निषेध नहीं हो सकता। समर्थके प्रति ही विधि-निषेध होते हैं, अतः जिनमें जो सामर्थ्य है ही नहीं—(जैसे पशुओंमें किसी ग्रन्थ पढ़नेकी) उन्हें उस सामर्थ्यके सम्पादनका विधान भी नहीं किया जा सकता। अतएव उस विधानके पालन न करनेसे वे अपराधी भी नहीं माने जा सकते। ऐसी स्थितिमें यह आया कि भगवान्ने जिनको कर्म करनेके देश-कालमें और कर्म करने एवं तदुपयोगी ज्ञान-सम्पादनमें योग्य—समर्थ बनाया, यदि वे विधि-निषेधका उल्लङ्घन करते हैं तो वे ही अपराधी माने जाते हैं।' परंतु इससे यह भी सिद्ध होगा कि जो लोग भारतमें भी आर्यों या अन्य धर्मानुयायियोंमें हैं, उन्हें भी ज्ञान-सम्पादनकी सामग्री न मिली, उचित माता-पिता, उचित संग-सहवास न प्राप्त हुआ; अतएव जिज्ञासा ही न हुई। फिर उनके ज्ञान न सम्पादन करनेमें उनका कोई दोष न होना चाहिये। साथ ही उनको पापादिका फल भी न भोगना चाहिये। इसी तरह जंगलियोंमें भी मनुष्य होनेके कारण यद्यपि ज्ञान-सामर्थ्य है, तथापि संग-सहवास आदि ज्ञानकी सामग्री नहीं है अथवा वैदिक धर्म, कर्म, ज्ञानके विपरीत ही सामग्री है। तब शुद्ध ज्ञानके न सम्पादन करनेमें उनका क्या दोष है ? फिर यदि वे वेदके विपरीत वेदोंसे निषिद्ध समस्त पातकोंको करें, तो उनका क्या दोष और उनको नरकादि दुःख क्यों होगा ? यदि भावना न होनेसे उनके वेद-निषिद्ध आचरणसे भी कोई दोष न माना जाय, तब तो यह मानना पड़ेगा कि भावना ही धर्माधर्म है, उससे भिन्न कोई धर्माधर्म नामकी वस्तु नहीं है। फिर तो यह भी मानना पड़ेगा कि वैदिक धर्म भी किसीकी दृष्टिसे पुण्य, किसीकी दृष्टिसे पाप होगा। उस दशामें धर्मका कोई निश्चित स्वरूप तथा निश्चित फल न रहा और फिर पशुओं, पक्षियोंके समान ही पर-स्त्री-गमनादिमें या तो मनुष्योंको भी पापादि न होगा या तो पक्षी-पशु आदिकोंको भी होगा ही, क्योंकि कोई-न-कोई भावना सर्वत्र ही है।

"इनके सिवा भारतीयों या मनुष्यमात्रको भी यदि कर्मयोनि मान लें, तो भी कर्मकी व्यवस्था नहीं बैठती; क्योंकि मनुष्योंकी संख्या प्रतिपरार्ध एक भी नहीं है। फिर इतने मनुष्य कब हुए जो मनुष्य-शरीरमें कर्म करके उनका फल भोगनेके लिये पशु, पक्षी, कीट, पतंग और तृण-वीरुधोंमें गये ? जब मनुष्य उत्पन्न हुए ही नहीं थे, तभी पहलेसे असंख्य तृण, वीरुध, वृक्ष पृथ्वीपर हैं,

वे भी जीव ही हैं। यदि वे कर्मफल भोग रहे हैं और कर्मयोनि मनुष्य ही है, तो वे कभी मनुष्य रहे होंगे, यह भी मानना पड़ेगा। परंतु कभी भी इतने मनुष्य रहे होंगे, यह कल्पना भी नहीं हो सकती। समुद्रोंमें अपरिगणित जातिके कीट, टिड्डी, पिपीलिका, पतंग ऐसे अचिन्त्य जीव हैं, जिनकी संख्याका कभी भी पता नहीं लग सकता। यह सब कभी मनुष्य रहे होंगे, यह कल्पना नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि 'अनादि सृष्टिमें कभी-न-कभी वे सब मनुष्य रहे होंगे', तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जब मनुष्य रहे, तब तृणादि तो अवश्य ही रहे होंगे। कम-से-कम भोजनके लिये अन्न रहे होंगे। अन्नकी भी सम्पूर्ण ओषधियाँ जीव ही हैं। वे भी कर्मफल ही भोग रहे हैं। फिर कभी भी जन्तु न रहे हों, यह नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिक लोग जलोंमें भी अपरिगणित कीटोंको दिखलाते हैं, प्राणियोंके रूपोंको भी कीटमय ही बतलाया जाता है। फिर वे सब जीव, मनुष्य जब कभी भी रहा होगा, तब भी अवश्य ही रहे होंगे। ऐसी स्थितिमें उन सबका कभी मनुष्य होना कैसे सम्भावित हो सकता है? हाँ यदि कतिपय कल्प या कतिपय ब्रह्माण्ड ऐसे माने जायँ, जहाँ केवल मनुष्य ही असंख्येय मात्रामें हों और कोई भी जन्तु या तृणादि वहाँ न हों और वे ही जीव वर्तमान उपलब्ध संसारोंमें तृण, कीटादि रूपमें भोग भोग रहे हैं, तब कुछ समाधान हो सकता है। परंतु इसमें कोई प्रमाण भी तो होना चाहिये। उनके खानेकी चीज क्या थी? तृण, जल, अन्न बिना वे रहते थे, रक्तादि उनके देहमें नहीं थे, कीटोंका भी संसर्ग नहीं था, फिर भी वे पाप करते थे, जिससे यहाँके तृणादि हुए। उस ब्रह्माण्डको इतना बड़ा मानना होगा कि इस ब्रह्माण्डके परमाणु प्रदेशपर भी मरे हुए जीव वहाँ मनुष्य बनकर पाप करें। फिर जब उनको खाना नहीं, रक्त-वीर्य न होनेसे व्यभिचार नहीं, तब पाप ही कैसे और कौन करेंगे? यह सब यदि दृढ़तर प्रमाणसे प्रमाणित हो, तभी कर्मकी व्यवस्था हो सकती है, परंतु कोई भी ऐसा प्रमाण नहीं मिलता।

"कुछ लोग कहते हैं कि 'ज्ञानवान् और समर्थ होनेपर ही जीव कर्ममें स्वतन्त्र होते हैं, इसके पहले वे प्राकृतिक कर्मप्रवाहमें ही बहते रहते हैं। अर्थात् प्रकृति स्वभावसे तमोगुणप्रधाना होकर जिस समय जड राज्यकी ओर प्रवाहित होती है, उस समय प्रायः तदन्तःपाती सभी जीव जडताको प्राप्त हो जाते हैं। फिर स्वभावसे ही वही प्रकृति जब रजोगुणक्रमेण सत्त्वगुणकी ओर प्रवाहित होती है, तब स्वभावसे ही जडता मिटती जाती है, चेतनता विकसित होती जाती है। फिर मनुष्य होनेपर जीव स्वतन्त्र कर्म करके उन्नति या अवनतिकी ओर जा सकता है, अन्यथा प्रकृति-प्रवाहके अनुसार ही उसकी देवादिपर्यन्त उन्नति होती है, क्रिया-ज्ञानशक्तिका विकास चलता है, फिर स्वभावसे ही तमोगुणकी ओर प्रवाह बदलनेसे स्थावरान्ता अधोगति होती है। जैसे असमर्थ शिशुका समस्त कार्य माता करती

है, वैसे ही जीवोंका समस्त कार्य माया ही करती है।"

परंतु यह पक्ष भी संगत नहीं जँचता, क्योंकि एक तो विकासवादसे भिन्न यह कोई पक्ष ही नहीं है, दूसरे यदि हरएक कर्मोंका भी मूल कर्म ही है, तो प्रकृतिका परिणाम भी किंमूलक है? प्रकृतिकी साम्यावस्था और वैषम्यावस्था क्यों होती है? क्यों जडराज्यकी ओर उसका प्रवाह होता है? क्यों चैतन्यराज्यकी ओर परिणाम होता है? यदि इन सबका मूल कर्म मानें, तो वह किसका? चेतनोंका या अचेतनोंका? यदि चेतन-सम्बन्ध-शून्य जड़ोंका ही कर्म कहा जाय, तो उसका फल भी उसीको होना चाहिये, चेतन उसका फलभागी क्यों होगा? यदि इतना महत्त्वपूर्ण कर्म बिना कर्मसे ही हुआ, तो और भी अपेक्षित शय्या, प्रासादादि भी कर्मके बिना ही सम्पन्न हो सकेंगे। फिर उनमें कर्मकी क्या अपेक्षा और फिर ईश्वर कर्म-सापेक्ष ही प्राणियोंको भिन्न-भिन्न कर्मोंमें प्रवृत्त करता है, इसका क्या अर्थ है?

'एष एव साधुकर्म कारयति यमेभ्योऽधो निनीषते', (कौषीत० उप०)

'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्।' (ब्रह्मसूत्र २।१।३४)

इत्यादि श्रुति-स्मृतियोंका क्या अर्थ है? फिर तो वह विकासवाद ही उचित प्रतीत होता है, जिसमें स्वतन्त्र प्रकृतिसे ही विलक्षण प्रकारके पदार्थोंका विकास होता है।

प्रकृति या परमाणु आदिकोंसे निर्मित ही किसी विलक्षण प्रपञ्चका प्रादुर्भाव होना भी युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। जब कोई भी लौकिक शय्या, प्रासाद, यन्त्र, यानादि बिना ज्ञानेच्छाप्रयत्नसम्पन्न चेतनके नहीं बन सकते, तब मन, बुद्धि, इन्द्रिय, मस्तिष्कादिसहित शरीर एवं अनेक विचित्र सुख-दुःख सामग्रियाँ जीवको यों ही प्राप्त हो गयीं, यह कैसे कहा जा सकता है? फिर यदि चेतन जीव देहादिसे भिन्न नित्य है, तो यह जिज्ञासा बनी ही रहेगी कि आखिर उसे शुभाशुभ शरीरोंकी प्राप्तिमें क्या निमित्त है? अतः 'अकृताभ्यागम, कृतविप्रणाशादि' अनेक दोषोंके वारणार्थ देहादिसे भिन्न, नित्य, चेतन जीव और उसके विचित्र सुख-दुःख, तत्सामग्री आदिकी प्राप्तिके अनुकूल शुभाशुभ कर्म मानना ही चाहिये। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकी चेष्टाओंकी विचित्रतासे लोकमें भी फलकी विचित्रता दृष्ट है। आयुर्वेद, शिल्प, विज्ञान, संग्रामादि लौकिक स्थलोंमें कर्मकी विचित्रतासे फलकी विचित्रता सम्प्रतिपन्न है। अतः सम्पूर्ण विश्व-वैचित्र्यका मूल भी कर्मवैचित्र्य ही होगा, यह बात सरलतासे समझमें आ सकती है। जिन विचित्र कार्योंका हेतुभूत विचित्र कर्म दृष्ट नहीं है, वहाँ भी अनुमान करना चाहिये। तथा च समष्टि-व्यष्टि विश्वकी विचित्रताका मूल समष्टि-व्यष्टि प्राणियोंके विचित्र कर्म ही हैं। किस विचित्र कार्यका

हेतु कौन विचित्र कर्म है, यह जाननेके लिये जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान प्रमाण मिलते हों, वहाँ प्रत्यक्षानुमानसे मानना चाहिये। जहाँ प्रत्यक्षादि प्रमाण न मिलते हों, वहाँ शास्त्रसे जानना चाहिये। देखते ही हैं कि जिन बहुतसे कार्यकारणभावका निर्णय प्राणियोंकी अल्पज्ञ बुद्धि नहीं निर्धारण कर सकती, उनका निर्णय योगियों, महर्षियोंकी बुद्धिसे होता है। कोई भी प्राणी आयुर्वेदोक्त ओषधियोंके गुण-दोषोंका अन्वय-व्यतिरेकादि युक्तियोंसे अनुभव करके सहस्रों जन्मोंमें निर्णय नहीं कर सकता, फिर उन अपरिगणित ओषधियों और उनके अपरिगणित सम्प्रयोग-विप्रयोगसे व्यक्त होनेवाले अपरिगणित गुण-दोषोंका निर्णय कौन कर सकता है? फिर भी उनका प्रत्यक्ष फल देखकर उनके निर्धारयिताओंकी धर्मयोगादिजन्य विशेषता माननी पड़ती है। यही स्थिति मन्त्रोंकी भी है। विभिन्न वर्णोंकी पौर्वापर्यरूप विचित्र आनुपूर्वीका विचित्र सामर्थ्य प्रत्यक्ष दिखायी देता है। मन्त्र एवं आयुर्वेदादि शास्त्रोंकी सत्यता देखकर उनके निर्माताओंकी विशेषता विदित होती है। फिर आयुर्वेदादि निर्माताओं-द्वारा वेदादि धर्मशास्त्रोंकी महिमा सुनकर वेदोंकी ईश्वरीयता या अपौरुषेयता विदित होती है और उन्हींके द्वारा देहादिसे भिन्न आत्मा, जगदुत्पत्ति, जगत्का वैचित्र्य तथा उसके मूल धर्माधर्मका परिज्ञान होता है। किन कर्मोंसे क्या सुख-दुःख एवं तत्सामग्री आदि फल प्राप्त होता है, कौन योनि किन भावना और कर्मोंसे प्राप्त होती है, यह सब शास्त्रोंसे ही मालूम पड़ता है।

कुछ कर्म ऐसे हैं जिनकी समाप्ति फल प्राप्त कराकर ही होती है—जैसे गमन, भोजनादि। कुछ कर्म अपना फल कालान्तरमें देते हैं, जैसे क्षेत्रमें बीज बोना आदि। कुछ वस्तुओंका खाना, छूना आदि भी शनैः-शनैः कालान्तरमें ही फल देता है। इसी तरह किन्हीं कर्मोंका फल कर्मकी ही महिमासे इष्टानुसार होता है। उदाहरणार्थ आयुर्वेदिक, होमियोपैथिक आदि औषधोंका। जैसे कुछ सेवादि कर्म स्वामी आदिकी प्रसन्नता सम्पादनादिद्वारा फलपर्यवसायी होते हैं, वैसे ही कुछ कर्म इसी देहमें फल देते हैं, कुछ परलोकमें दूसरे देहद्वारा फल देते हैं। समष्टि-व्यष्टि जगत्के धारण-पोषण एवं लौकिक-पारलौकिक उत्थानके अनुकूल देहेन्द्रियमनोबुद्धि आदिकोंकी ईश्वरीय शास्त्रादिष्ट हलचल ही धर्म है। विपरीत कर्म अधर्म है। उन सबको जानकर यथावत् फलप्रदान करनेके लिये ही सर्वत्र सर्वशक्तिमान् परमेश्वर भी मान्य होता है। फिर भी असमर्थके लिये विधि-निषेध नहीं हो सकता, अतएव अन्ध, बधिर, उन्मत्त मनुष्य या विवेकशून्य अन्य प्राणियोंके लिये विधि-निषेध सम्भव नहीं है। केवल उनके स्वाभाविक कर्मोंके ही जो सुपरिणाम, दुष्परिणाम होते हैं, वही हो सकते हैं, किंतु मनुष्योंके लिये शास्त्रोक्त कर्म हैं ही। विशेष संस्कारसे जिन सुग्रीव, वालि-जैसे वानरों और जटायु, सम्पाति-जैसे गृध्रों या अन्यान्य खगों, मृगोंको, जिनको धर्माधर्म और अधिकारका ज्ञान है, उन्हें अधिकारानुसार उन कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे पुण्य-पाप होता है। देवता, असुर, नाग,

गन्धर्व आदिकोंको भी संस्कारवशात् शास्त्रका बोध है। अतः उन्हें भी यद्यपि वर्णाश्रमधर्मके अनुष्ठानका तो अधिकार नहीं है, तथापि उपासनाओं, विद्याओं तथा कुछ कर्मोंमें अधिकार है। दुहितृ-गमनादि निषिद्ध कर्मोंके अनुष्ठानसे पापादि भी होता है। इस तरह बहुत सी कर्मयोनियाँ हो जाती हैं। उनसे भिन्न कीट, पतंग, वृक्षादि भोग-योनियाँ हो जाती हैं। कर्मयोनि-भोगयोनिका अन्तर माननेसे जीवोंके पुनरुत्थानका अवसर बना रहता है। उच्चकोटिकी योनिमें उत्पन्न प्राणियोंके किये हुए कर्मोंसे इतर योनियोंमें भोग भोगनेके लिये जाना पड़ता है।

वैसे तो कर्मोंसे ही समस्त योनियोंकी प्राप्ति है, परंतु किसीमें नये कर्म भी बनते हैं, कोई केवल भोगके लिये होती हैं। अधिक पुण्य होनेपर स्वर्गीय देवादि योनियोंकी प्राप्ति होती है। किन्हींसे नरक और कीटादि योनियोंकी प्राप्ति होती है। उत्तम, मध्यम, अधमभेदसे त्रिविध-तामस, त्रिविध-राजस, त्रिविध-सात्त्विक योनियाँ होती हैं। सामान्यरूपसे मनुष्यपर कर्तव्याकर्तव्यकी अधिक जिम्मेदारी रहती है। कानून समर्थ लोगोंसे आशा रखता है कि वे उसे जानें और मानें, अतएव वह यह नहीं सुनता कि 'हम इस नियमको नहीं जानते थे।' किसी भी तरह प्रमादवश धर्म-कर्मका ज्ञान और अनुष्ठान मनुष्योंसे मिट जाना उनका अक्षम्य अपराध है। धर्म ही एक उनकी विशेषता है। धर्मके बिना तो वे भी पशुओंके ही समान होते हैं—'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः' यद्यपि विशिष्ट-कर्म भारतवर्षके मनुष्योंमें ही हैं, तथापि सामान्यरूपसे पुण्य-पाप सभी द्वीपोंके मनुष्योंको होता है। पुराणोंकी परिभाषाके अनुसार इस समयकी उपलब्ध समस्त भूमि भारतवर्ष ही है। अन्य अदृश्य द्वीपों, वर्षोंके मनुष्यों, नागों, गन्धर्वों तथा अनेक देवभेदों तथा समर्थ अन्यान्य योनिके लोगोंको भी साधारण पुण्य-पाप होते हैं। नागों, देवों आदिकोंकी संख्याका पारावार नहीं है। फिर भी यद्यपि कीट, पतङ्गादिकोंकी संख्या अधिक है, तथापि संसार अनादि और विचित्र है। ब्रह्माण्ड भी अनन्त हैं। अतः सभी भोग-योनिके जीवोंको कभी-न-कभी कर्मयोनिमें आना सम्भव है ही। मनुष्य-योनिमें न सही तो भी देव, नाग, गन्धर्व तथा सावधान पशु, पक्षी आदि योनिमें कभी किसी भोग-योनिके प्राणीका जन्म नहीं हुआ, यह कौन कह सकता है? जब कि एक मनुष्यशरीरसे एक दिनके किये हुए कर्मोंसे लाखों युगतक कीटादि जन्म प्राप्त हो सकते हैं, तब मनुष्य-देहके कर्म होनेपर भी अन्य देहोंको मनुष्यदेहकृत कर्मोंका फल कहा जा सकता है। जैसे किसी भवनका मुख्य दरवाजा एक होनेपर भी उसीसे निकलकर अवान्तर हजारों दरवाजोंपर मनुष्योंकी स्थिति हो सकती है, वैसे ही मनुष्यशरीर-रूप दरवाजाके कम होनेपर भी, उससे निकलकर प्राणी अनेक देहोंमें रह सकते हैं। अपरिगणित जीव मानस कर्मोंके ही बलसे अनेक योनियोंमें आ जाते हैं? साथ ही विचित्र ब्रह्माण्ड और विचित्र लोक ऐसे भी हो सकते हैं, जहाँ सूक्ष्म एवं अपरि-गणित ऐसे समर्थ प्राणी हों, जिनके मानस आदि कर्मोंसे अनेक प्रकारकी योनियाँ प्राप्त होती हों। योगसिद्ध योगी कायव्यूह निर्माण करके अपने प्राक्तन शुभाशुभ कर्मोंको भोग-

कर मुक्तिपदको प्राप्त होते हैं। कायव्यूह निर्माण करके वे सहस्रों शुभ देहोंसे अपने प्राक्तन शुभकर्मोंका भोग करते हैं। ऐसे ही सहस्रों अशुभ देहोंके द्वारा अशुभकर्मोंका उपभोग करते हैं। यहाँ कर्म कर्ता एक ही जीव होता है परंतु फल भोगनेके लिये वह लाखों देह धारण कर लेता है। फिर भी सब देहोंमें अभिमानी जीव एक ही होता है।

इसी तरह कोई जीव विशिष्ट कर्मों एवं उपासनाओंके बलसे हिरण्यगर्भ पदको प्राप्त करता है (समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्चका अन्तर्यामी ईश्वर भी यद्यपि हिरण्यगर्भ शब्दसे बोधित होता है। तथापि प्रकृतिमें 'पुरा औषत पुरुषः' श्रुतिके अनुसार जो जीव अन्य हिरण्यगर्भ पदके उम्मीदवारोंको हराकर या दग्ध करके विशिष्ट उपासनादि द्वारा हिरण्यगर्भ हुआ है। वह समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्चाभिमानी जीव ही यहाँ हिरण्यगर्भ शब्दसे अभिप्रेत अर्थ है।) वह हिरण्यगर्भ दिव्य शक्तिसम्पन्न है। वह एक होता हुआ कायव्यूह निर्माण करके अनन्त देहोंको धारण करता है। इस तरह कर्म कर्ताओंके कम होनेपर भी भोक्ताओंकी आनन्त्य प्रतीति संगत हो जाती है।

इसके अतिरिक्त कितने कर्म ऐसे होते हैं, जो जाने, बिना जाने किसी भी तरह हो जानेपर फलजनक होते हैं। जैसे विष; जाने, बिना जाने किसी भी तरह पीनेसे उसका फल होता है। किन्हीं मूषकोंकी शिवमन्दिरमें दीपककी बाती उसका देनेसे, किसी पक्षीकी बाजके भयसे अन्नपूर्णाकी परिक्रमा कर लेनेसे सद्गति हुई है ! इसी तरह बहुत-से ऐसे जीव हैं, जिनके शरीर सूक्ष्म तन्मात्राओंके ही बने होते हैं। उनके द्वारा बहुत-से मानस कर्म होते हैं। उनकी संख्या भी अपार है। 'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू न समाय' । एक वटबीजके भीतर वटवृक्ष, उसमें अपरिगणित फल, उससे फिर अगणित बीज और उनमें वृक्ष, इस दृष्टिसे जैसे एक वटबीजमें अनन्तकोटि वटवृक्षोंकी सम्भावना हो सकती है, वैसे ही एक परमाणुके पाँचवें अंश स्पर्शतन्मात्रामें वायु, उसके एक देशमें प्राण और उसके एक देशमें मन और मनमें ब्रह्माण्ड होता है। फिर ब्रह्माण्डके अनन्त मनोंमें अनन्त ब्रह्माण्ड होते हैं। एकक्षणके स्वप्नमें अपरिगणित जीव दिखायी देने लगते हैं। फिर उनके कर्मों और भोगोंका सिवा ईश्वरके और किसको पता लग सकता है ! फिर विद्वान् तो फल-बलसे कारणकी कल्पना करते हैं। कार्य देखकर कारणकी कल्पना करनी उचित है। अतः भोगयोनिके जीवोंको देखनेसे ही उनका कर्मयोनिमें जन्म सिद्ध हो जाता है। अतः सर्वज्ञ ईश्वर प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मानुसार ही विश्वको रचता है। स्वतन्त्र जड प्रकृति या परमाणुओंसे विश्वकी उत्पत्ति की कल्पना तो सर्वथा ही बेतुकी बात है ! प्राणियोंके शुभाशुभ कर्मोंकी वासनाओंसे वासित प्रकृति भी कर्मानुसार ईश्वराधिष्ठित होकर ही अपने प्रवाहमें निपतित जीवोंको चैतन्य-साम्राज्य या जड-साम्राज्यकी ओर प्रवाहित करती है।

चतुर्थ परिच्छेद

मार्क्सीय द्वन्द्ववाद

'डायलेक्टिस' (द्वन्द्ववाद) ग्रीक (यूनानी) भाषाका शब्द है। यह 'दियालेगो' से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है चर्चा या विवाद करना। इसी विवादस्वरूप द्वन्द्ववादके आधारपर प्राचीन-कालमें कोई वक्ता विपक्षीके तर्ककी असंगति दिखला-कर उसका निराकरण कर सत्यसिद्धान्तका प्रतिपादन करता था। उस समयके दार्शनिकोंका ऐसा विश्वास था कि विचारोंमें परस्पर विरोध-प्रदर्शनसे अथवा विरोधी मतोंके संघर्ष स्पष्ट कर देनेसे सत्यकी प्रतिष्ठा होती है। सत्य सिद्धान्त प्रतिष्ठित करनेकी सर्वश्रेष्ठ प्रणाली ही द्वन्द्ववाद या 'डायलेक्टिकल' है। विचार-क्षेत्रके बाहर प्राकृतिक घटनाओंपर भी इस द्वन्द्वात्मक-प्रणालीको लागू किया जाता है। प्रकृतिको बूझने-परखनेकी द्वन्द्वात्मक प्रणालीमें ही द्वन्द्ववादका विकास हुआ। इसके अनुसार प्रकृतिके बाह्यरूप सतत गतिशील हैं और उनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। तदनुसार ही प्रकृतिकी शक्तियोंकी परस्पर क्रियाप्रक्रियाको एवं प्रकृतिके असंगतियोंके फलस्वरूप प्रकृतिका विकास हुआ। (जे० स्टालिनका द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद)

वस्तुतः आधुनिक पाश्चात्त्य दर्शनोंको 'दर्शन' कहनेमें ही संकोच होता है; क्योंकि उनकी तत्त्व-दृष्टि सर्वथा धुँधली और अस्पष्ट

ही रहती है। इसका मूल कारण यह है कि उनमें प्रमाणोंका स्पष्ट विश्लेषण नहीं होता। उदाहरण या दृष्टान्तको ही ये कभी-कभी प्रमाण मान बैठते हैं, जो कि पौरस्त्य-दर्शनमें परार्थानुमानके पञ्चावयवमें केवल एक अङ्ग है। चर्चा या विवाद स्वयं कोई प्रमाण नहीं, जिसके आधारपर स्वयं कोई प्रमेय सिद्ध हो सके—

'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः।'

—लक्षण और प्रमाणसे वस्तुसिद्धि होती है, केवल चर्चासे नहीं। पौरस्त्यदर्शनोंमें चर्चा वाद, जल्प, वितण्डा-भेदसे तीन प्रकारकी होती है। तत्त्व-निर्णीषा, विजिगीषा, परपक्ष-निराचिकीर्षासे प्रेरित वादी-प्रतिवादियोंद्वारा परस्पर पक्ष-प्रतिपक्षोंका प्रमाणोंद्वारा साधन-बाधन करनेको 'चर्चा या विवाद' कहा जा सकता है। प्रामाणिक असंगति और विरोधप्रदर्शन, परपक्षनिराकरण, स्वपक्ष-साधनका एक आंशिक साधनमात्र है। अनुमानके अङ्ग, व्याप्तिनिर्णयमें अनुकूल तर्क अपेक्षित होता है। व्याघात-प्रदर्शन करके संशय-निवृत्तिरूप अनुकूल तर्कसे व्याप्तिज्ञान दृढ़ हो जाता है। फलतः निर्दोष अनुमानसे अनुमेय पदार्थोंकी अनुमिति होती है। उसीके एक अंशको 'वाद' मानकर उसे विचार-क्षेत्रके बाहर लागू करना असंगत ही है। हाँ, अनुमानोंके आधारपर प्राकृतिक पदार्थोंका गुण-स्वभावादि निर्णय करना गुण ही है, फिर इसे कोई खास व्यक्तिका वाद मानना व्यर्थ है।

वेदान्ती अन्य मतोंमें असंगति दिखलाकर सर्वमतखण्डनावधि निराकर्ताके प्रत्यगात्माकी स्वतः सिद्धि मानते हैं। इसी पक्षको लेकर हेगेलने अखण्ड नित्यबोधकी सिद्धिमें उसे प्रयुक्त किया है—

नेति नेतीति नेतीति शेषितं यत् परं पदम्।
निराकर्तुमशक्यत्वात्तदस्मीति सुखी भव॥

नेति नेति नेति—इन तीन निषेधोंसे स्थूल, सूक्ष्म, कारण—इन त्रिविध दृश्योंका निषेध कर देनेपर सर्वनिषेधावधि, निषेधाधिष्ठान, निषेधसाक्षी निराकर्ताका प्रत्यगात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। उसका निषेध अशक्य है, अतः वह स्वतः सिद्ध है। पर इस असंगति-प्रदर्शनमात्रसे किसी गुणधर्मकी सिद्धि शक्य नहीं। किसी भी साध्यकी सिद्धिके लिये प्रमाण अपेक्षित है। मार्क्सवादके अनुसार 'द्वन्द्वमान' (Dieletics) में एकके द्वारा तर्ककी उत्थापना होती है, फिर उसका खण्डन होता है, पुनः नये तर्ककी उत्थापना होती है। इस प्रकार एक नीचे दर्जेके सत्यसे ऊँचे दर्जेके सत्यपर पहुँचते हैं। यह क्रमोन्नति प्रक्रिया है। इसमें स्थिरता नहीं, वेग है। यही प्रक्रिया सारी प्रकृतिमें वर्तमान है। मानव-समाज और प्रकृतिके इतिहाससे ही द्वन्द्वमानके नियम निकाले गये हैं। ये नियम व्यापकरूपसे सब प्रकारकी गतिके नियम हैं। यहाँ भी वादी-प्रतिवादियों, तर्क-प्रतितर्कोंद्वारा पक्ष-

प्रतिपक्षका साधन-बाधन ही द्वन्द्वमान ठहरता है। 'वाद'में भी भारतीय प्रणालीके अनुसार नियम होते हैं। मध्यस्थ और सदस्य उसके नियामक होते हैं। निर्दोष तर्कद्वारा सिद्ध पदार्थका तर्कान्तरसे खण्डन नहीं हो सकता। तर्कशतसे भी पदार्थ-स्वभाव नहीं बदलता। यथार्थ-ज्ञान वस्तुतन्त्र होता है, पुरुषतन्त्र नहीं। केवल तर्क अनवस्थित होता है। उसके आधारपर किसी भी वस्तुकी सिद्धि नहीं हो सकती। कुशल तार्किक तर्कद्वारा जिस वस्तुको सिद्ध करता है, दूसरे तार्किक उसे अन्यथा ही उपपादित कर देते हैं—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ (वार्त्तिकसार)

प्राग्लोप, अविनिगमकत्व, प्रमाणापगम—इन दोषोंसे अनवस्था दोष दुष्ट होते है।

मार्क्सीय द्वन्द्वात्मक प्रणालीके मुख्य लक्षण निम्नलिखित हैं—

अतिभूतवादके प्रतिकूल द्वन्द्ववादके अनुसार प्रकृति ऐसे पदार्थोंका आकस्मिक संघटन नहीं जो परस्पर स्वतन्त्र, विच्छिन्न और असम्बद्ध हैं। द्वन्द्ववादके अनुसार प्रकृति सम्बद्ध और पूर्ण इकाई है। उसके पदार्थ और बाह्यरूप एक दूसरेपर निर्भर तथा एक दूसरेसे सजीवरूपमें सम्बद्ध हैं और परस्पर एक-दूसरेकी रूप-रेखा निश्चित करते हैं। कुछ पदार्थोंका कार्य-कारण-भाव अवश्य मान्य है। पर अनेक संनिहित पदार्थ ऐसे भी हैं, जिनका आपसमें कोई सम्बन्ध नहीं; जैसे पशुके दोनों शृङ्गोंमें आपसमें कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं, इसीलिये यह भी कहना ठीक नहीं कि 'द्वन्द्वात्मक-प्रणालीका यह सिद्धान्त है कि अपने चारों ओरके संघटनसे अलग करके कोई प्राकृतिक घटना अपने-आप-में समझी नहीं जा सकती। कारण यह है कि उसके चारों ओरकी परिस्थितियोंसे और उनके प्रसङ्गमें उनका विचार न करके वह घटना प्रकृतिके किसी भी प्रदेशकी घटना हमारे लिये निरर्थक सिद्ध होती है। फलतः हम प्रकृतिकी कोई भी घटना तभी समझ सकते तथा उसकी व्याख्या कर सकते हैं, जब हम उसके चारों ओरके संघटनके अविभाज्यरूपमें उसपर विचार करें और हम यह सोचकर उसकी व्याख्या करें कि उसकी रूपरेखा उसके चारों ओरके संघटनसे निश्चित हुई है।' इससे भी सभी संनिहित पदार्थों या घटनाओंमें परस्पर कार्य-कारण भाव नहीं होता। कई घटनाएँ और पदार्थ एक साथ उत्पन्न होते हैं, फिर भी उनमें कोई सम्बन्ध नहीं होता। कार्य-कारण निर्णयके लिये अन्वय-व्यतिरेकादि युक्तियाँ अपेक्षित होती हैं। अन्वय-व्यतिरेक दृढ़ होनेपर अव्यवहित पौर्वापर्य होनेपर भी उसे काकतालीय-न्याय कहा जाता है। जैसे काकके बैठते ही ताल-फल गिरनेसे कई अविवेकी काक एवं ताल-पतनका कार्य-कारणभाव मान लेते हैं।

मार्क्सव दी कहते हैं—'अतिभूतवादकी तरह द्वन्द्ववादका यह सिद्धान्त नहीं है कि विराम, गतिहीनता एवं अचल जडता और स्थिरताका माप प्रकृति है।' किंतु इस मतमें प्रकृतिका लक्षण है -'अविराम गतिशीलता, परिवर्तन एवं नित्य नव-नवोन्मेष-विकास। इस परिवर्तनक्रममें कुछ तत्त्वोंका उन्मेष और विकास होता है, तो कुछका ह्रास और निर्माण होता जाता है। इसलिये द्वन्द्ववाद-प्रणालीके द्वारा प्राकृतिक घटनाओंकी परस्पर निर्भरता और सम्बद्धता ध्यानमें रखकर ही उनपर विचार करना यथेष्ट नहीं। हमें उनकी गति, परिवर्तन, विकास तथा उनके निर्माण और निर्वाण ध्यानमें रखकर उनपर विचार करना चाहिये।

भारतीय दर्शनोंके अनुसार सत्त्व, रज, तमकी साम्यावस्था प्रकृति है। तीनों ही स्वप्रकाश चेतनसे भिन्न होनेसे जड अवश्य हैं; परंतु वृत्तिरूप ज्ञान सत्त्वसे होता है, हलचल या क्रिया रजसे होती है और अवष्टम्भ या रुकावट तमसे। अतः तीनों क्रमसे प्रकाश, हलचल एवं अवष्टम्भ स्वभावके माने गये हैं। तीनों गुणोंकी समता भंग होने और विषमता होनेसे सृष्टि होती है। प्रकृति परिणामशील एवं गतिशील है, अतएव नियमित परिणाम एवं विकास उसका होता है, पर उसका किसी द्वन्द्ववादी सिद्धान्तसे सम्बन्ध नहीं।

द्वन्द्वात्मक प्रणालीके अनुसार 'मूलतः वह वस्तु महत्त्वपूर्ण नहीं, जो किसी समय स्थायी मालूम पड़ती है, पर जिसका ह्रास तब भी आरम्भ हो चुका है। महत्त्वपूर्ण वस्तु वह है, जिसका अभ्युदय और विकास हो रहा है, चाहे उस समय वह स्थायी ही प्रतीत होती हो; क्योंकि द्वन्द्वात्मक प्रणाली उसीको अजेय मानती है, जिसका अभ्युदय और विकास हो रहा है। एंजिल्सका कहना है कि 'छोटीसे बड़ी-तक वस्तु—बालूसे सूर्यतक, लघुतम जीवकोषसे मनुष्यतक सम्पूर्ण प्रकृति सतत गतिमय और परिवर्तनशील है। उसकी स्थिति-निर्माण और निर्बीजके अविराम प्रवाहमें है।' (एंजिल्सका प्रकृति-सम्बन्धी द्वन्द्ववाद)

उपर्युक्त बातें आंशिक सत्य हो सकती हैं, पर इनका द्वन्द्वमानसे क्या सम्बन्ध? द्वन्द्वमान भी कोई प्रमाण नहीं, जिससे ये सब बातें सिद्ध हों। उपर्युक्त बातोंके सम्बन्धमें विचार करनेसे विदित होगा कि मार्क्सवादियोंका 'प्रकृति' शब्द भी भ्रामक है; क्योंकि वे पृथ्वी, तेज, जल, वायु, भूतसमुदायसे भिन्न किसी प्रकृतिका अस्तित्व नहीं मानते। ठीक इसके विपरीत सांख्यमतानुयायी सत्त्व, रज, तमकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं। सम्पूर्ण विभक्त कार्यवर्गका निर्माण करनेवाली अर्थात् महदादि कार्यवर्गके रूपमें परिणत होनेवाली वस्तु प्रकृति है। प्रकृति शब्द उपादानका वाचक है तथाच विश्वके उपादानको प्रकृति कहा जा सकता है। कहा जा चुका है कि किसी भी कार्यकी उत्पत्तिमें प्रकाश, हलचल और अवष्टम्भ (रुकावट)—ये तीन चीजें अपेक्षित होती हैं। प्रकाश,

क्रिया तथा उचित नियन्त्रण बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। इन्हीं तीनोंकी साम्यावस्था प्रकृति है। भूतोत्पत्ति, अहंतत्त्व या महत्तत्त्वकी उत्पत्ति भी इनपर निर्भर है। प्रकृति उपादान है, इसीलिये हर एक विकृतिमें इनका अनुस्यूत होना उचित ही है। ये सब परस्पर सम्बद्ध होते हैं, यह सांख्यका सिद्धान्त ही है—

'गुणानां सम्भूयार्थक्रियाकारित्वम्।'

गुण मिलकर ही क्रिया कर सकते हैं। गुण चल अर्थात् गतिशील होते हैं। 'चलं च गुणवृत्तम्' यह भी सांख्य-सिद्धान्त है। सत्त्व, रज, तम—तीनों ही गुणोंमें अङ्गाङ्गिभावकी विचित्रतासे ही विचित्र संसार बनता है—

'गुणानां विमर्दवैचित्र्यात् सर्गवैचित्र्यम्।'

यह सभी पौरस्त्य दार्शनिकोंके निश्चित सिद्धान्त हैं। इनमें मार्क्स या एंजिल्सका कोई भी नया आविष्कार नहीं। उन्होंने जो भी नयी बात कही वही असंगत तथा अप्रामाणिक है। जैसे 'प्रकृतिके पदार्थ और बाह्यरूप एक-दूसरेपर निर्भर हैं; एक दूसरेसे सजीवरूपसे सम्बद्ध हैं,' इत्यादि अंश अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। यदि सभी सम्बद्ध हों तो सम्बन्धके भावाभावका कोई मूल्य ही नहीं रह जाता। फिर किसका क्या सम्बन्ध है, इस गवेषणाका भी कोई अर्थ नहीं रह जाता। फिर तो खपुष्प, बन्ध्यापुत्र, शशश्रृङ्गको भी सम्बद्ध ही कहना पड़ेगा। इसी तरह 'एक दूसरेकी रूप-रेखा निश्चित करते हैं', यह भी असंगत है। जडभूत घटादिके समान स्वयं अपनेको ही नहीं जानते, फिर वे दूसरेकी रूप-रेखा क्या निश्चित करेंगे? निश्चय आदि चेतनके धर्म हैं—'ईक्षतेर्नाशब्दम्।' (१।१।५) इस ब्रह्मसूत्रमें, जड प्रकृतिमें ईक्षणधर्म अनुपपन्न होनेसे उससे ईक्षणपूर्वक सृष्टिका निषेध किया है। जल, वायु, तेजकी प्रवृत्ति विचारपूर्वक नहीं होती। जैसे अचेतन रथादिकी प्रवृत्ति चेतन सारथि-अश्वादिद्वारा अधिष्ठित होनेसे ही होती है, उसी तरह अचेतन वायु आदि भी स्वाधिष्ठाता चेतन देवतासे अधिष्ठित होनेसे प्रवृत्त होते हैं। किसी कार्यमें अवश्य ही अनेकों पार्श्ववर्त्ती कारण हुआ करते हैं। परंतु सभी पार्श्ववर्त्ती कारण हों, तब तो कार्य-कारणभावकी विशेषता ही नष्ट हो जायगी। अणु-परिमाण, पारिमाण्डल्य आदि किसीके प्रति भी कारण नहीं होते। किसी चोरी या हिंसाके अनेक पार्श्ववर्ती कारण होते हैं, तब केवल हिंसक या चोरको ही क्यों दण्ड दिया जाता है? यह भी विचारणीय है। वस्तुतः शब्दाडम्बरके अतिरिक्त उपर्युक्त मार्क्सीय वादोंमें कोई तत्त्व नहीं। नवनवोन्मेष और विकासपर भी विचार आवश्यक है। उन्मेष या विकास विद्यमान वस्तुका ही होता है। कारण-सामग्री, आवरण,

प्रतिबन्धक आदि हटाकर कार्यको व्यक्त कर देती है। जैसे तिलसे तैल, दुग्धसे नवनीत, तन्तुसे पट आदि। बालूसे तेल, आकाशसे तन्तु या पटका साक्षात् विकास कभी भी सम्भव नहीं। इसीलिये परावर द्रष्टाओंके यहाँ केवल विकास ही नहीं। किसी भी कार्यमें 'जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति—अर्थात् उत्पत्ति, अस्तित्व, वर्द्धन, विक्रिया, अपक्षय तथा विनाश—ये छः विकार देखे जाते हैं। स्पष्ट ही है कि कोई मनुष्य, पशु या वनस्पति उत्पन्न होता है, अस्तित्वको प्राप्त होकर वृद्धि, अपक्षय तथा विनाशको प्राप्त होता है। वर्षामें उत्पन्न होनेवाले तृण ग्रीष्मतक विनष्ट हो जाते हैं। बहुत-से जीव प्रतिवर्ष तत्तदृतुओंमें व्यक्त होते हैं। वसन्तके पतझड़, आमोंके बौर, कोकिलाकूजन, ग्रीष्मकी उष्मा, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिरकी अपनी-अपनी विशेषताएँ प्रतिवर्ष व्यक्त होती ही हैं। वेद और गीता इसी तरह सृष्टिका पुनः प्रादुर्भाव मानते हैं।—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।' पूर्वसृष्टिके समान ही विधाता उत्तरोत्तर सृष्टिमें सूर्य-चन्द्र आदिका विधान करते हैं। 'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते' (गीता ८। १९) यह भूतग्राम पुनः-पुनः उत्पन्न होकर प्रलीन होता है।

इसी तरह निर्माण और निर्वाणकी बात भी कोई नयी नहीं। एक ओर मनुष्य उत्पन्न और विकसित होता है, परंतु एक ओर यदि निर्माण-निर्वाण-परम्परामें अनुस्यूत एक आत्मा मानकर जन्म, कर्मका सुसम्बद्ध कार्य-कारण भाव माना जाय, तो वह अनियन्त्रित, अप्रामाणिक, असम्बद्ध, निर्माण-निर्वाणकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है। जन्म-कर्मकी परम्परामें अनुस्यूत एक नित्य वस्तु बिना माने 'अकृताभ्यागमकृतविप्रणाश' दोष अनिवार्यरूपसे उपस्थित होता है। जब लोकमें कारण-वैलक्षण्य बिना कार्य-वैलक्षण्य नहीं हो सकता, तब हेतुकी विलक्षणता बिना जन्मों एवं तत्सम्बन्धी सुख-दुःखकी विलक्षणता कैसे हो सकेगी ? इसी तरह जब लौकिक कर्मोंका कुछ परिमाण होता है, तब अदृष्टफलवाले कर्म बिना फल दिये कैसे नष्ट हो सकेंगे ? अतः कोई नित्य आत्मा है, जो कि पूर्व-पूर्वके शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार उत्तरोत्तर जन्म ग्रहण करता है। 'अभ्युदयोन्मुख लघु वस्तु भी महत्त्वपूर्ण होती है, पतनोन्मुख महान् वस्तु भी नगण्य होती है', यह भी कोई नयी बात नहीं। प्रतिपद्का चन्द्र और पूर्ण चन्द्र इसके उदाहरण हैं, पर इतनेमात्रसे किसी सिद्धान्तका पतन, किसी व्यक्ति या समूहका उत्थान या पतन ऐकान्तिकरूपसे नहीं कहा जा सकता। काल-भेदसे एक ही वस्तुके उत्थान और पतनकी स्थिति आती है। सूर्यका ही उदय-अस्त तथा पुनः उदय होता है। चन्द्रमाका ह्रास होता है और पुनः उसीका विकास भी। किसी व्यक्तिका भी जीवनमें कई बार उत्थान और कई बार पतन होता है। जो घटनाएँ व्यष्टिमें होती हैं, वही समष्टिमें होती रहती हैं। काल-भेद हो सकता है।

'अतिभूतवादकी तरह द्वन्द्ववादका यह सिद्धान्त नहीं है कि विकसित होनेका

अर्थ सीधे-सीधे बढ़ना है। जब कि परिमाणमें परिवर्तन होनेसे गुणोंमें परिवर्तन नहीं होता, द्वन्द्ववादके अनुसार विकास-क्रममें हम अदृश्य और अकिंचन परिमाण-सम्बन्धी परिवर्तनोंसे स्पष्ट और मौलिक गुणसम्बन्धी परिवर्तनोंतक पहुँच जाते हैं। इस परिवर्तनक्रममें गुणसम्बन्धी परिवर्तन धीरे-धीरे न होकर हठात् एक मंजिलसे दूसरे मंजिलतक छलाँग मारकर शीघ्रतासे होते हैं। ये परिवर्तन आकस्मिक नहीं होते। वे धीरे-धीरे होनेवाले प्रायः अदृश्य परिमाणसम्बन्धी संघटनके स्वाभाविक परिमाण हैं। इसीलिये द्वन्द्वात्मक प्रणालीके अनुसार विकास-क्रमका यह अर्थ नहीं कि पहले जो हो चुका, अब वही सीधे-सीधे दुहराया जा रहा है और न कोल्हूके बैलकी तरह एक ही जगह चक्कर खानेका नाम ही विकास है। विकासकी गति ऊर्ध्वोन्मुख होती है। पहलेकी गुणात्मक स्थितिसे दूसरी गुणात्मक परिस्थिति-तक संक्रमणका नाम विकास है। विकास साधारणसे संश्लिष्ट और निम्नसे ऊर्ध्वकी ओर होता है।' एंजिल्सका कहना है कि 'द्वन्द्ववादकी कसौटी है प्रकृति और आधुनिक विज्ञान। प्रकृतिविज्ञानके विषयमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि उसने इस कसौटीके लिये अत्यन्त मूल्यवान् सामग्री दी है, जो प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इस प्रकार अन्ततोगत्वा प्राकृतिक क्रम द्वन्द्वात्मक ही सिद्ध होता है न कि अतिभूतवादी। यह क्रम किसी चिर अपरिवर्तनशील वृत्तमें चक्कर काटनेकी गति नहीं; बल्कि वास्त-विक इतिहासके निर्माणकी गति है। यहाँपर सबसे पहले डार्विनका उल्लेख करना चाहिये, जिसने प्रकृतिकी अतिभौतिक कल्पनापर दुःसह प्रहार किया था और सिद्ध किया था कि आजका चराचर वनस्पति जीव और मनुष्य भी उस विकास-क्रमका परिणाम है, जो करोड़ों वर्षसे लगातार होता चला आ रहा है।'

उपर्युक्त बातोंमें भी निर्माण-निर्वाण, उत्पत्ति-विनाशसे भिन्न पदार्थ नहीं। कार्य-मात्रका उत्पत्ति-विनाश अनिवार्य होता है। पर इस भूत-प्रकृतिसे अतीत, नित्य कूटस्थ वस्तु नहीं है, यह सिद्ध नहीं होता। बहुत-सी बातें अतिभूतवादियोंके नामसे बेतुकी लिखी गयी हैं। कम-से-कम भारतीय अध्यात्मवादकी दृष्टिमें मार्क्स, एंजिल्सकी दुष्कल्पनाएँ सर्वथा उपहासास्पद हैं। भारतीय अध्यात्मवादी हर एक विकासमें क्रमिक एवं धीरे-धीरे विकसित होनेका सिद्धान्त नहीं मानते। मेघमण्डलसे महाविद्युत्-प्रकाशका विकास अतिशीघ्रतासे मान्य ही है। इसीको एक मंजिलसे दूसरे मंजिलपर छलाँग मारनेकी बात कही जा सकती है। उस विकासमें भी क्रम रहता ही है। तापमानके बढ़ जानेसे जलका भाप बन जाना, ताप-मान घट जानेसे बर्फ बन जाना भी इसी कोटिका विकास है। मार्क्सवादियोंके शब्दोंमें 'यही प्रकृतिका एक मंजिलसे दूसरी मंजिलपर छलाँग मारना है।' अध्यात्मवादी आत्म-परमात्म-सम्बन्धमें ही ऐसी बात करते हैं। ये भौतिकवादियोंको सम्मत न हों, पर भौतिक वस्तुओंके सम्बन्धमें प्रत्यक्षानुमानादिसिद्ध जो भी बातें हैं, उन्हें माननी ही हैं।

दुग्धका दधि परिणाम है, जलका बर्फ परिणाम है। इसी प्रकार विरोधी-कारणोंसे कारणमें जलका विलयं या शोषण होता है। इसी तरह 'कोल्हूके बैलके समान चक्कर खानेका नाम विकास नहीं', यह भी असंगत है। कौन नहीं जानता कि पुनः-पुनः दिन-रात, सूर्योदयास्त, चन्द्रमाका ह्रास-विकास तथा ग्रीष्म-वसन्तके आगमनमें पुरानी बातें ही दुहरायी जाती हैं। सदासे ही वैचित्र्य-सादृश्यका ही लक्षण है। जो समझते हैं कि विकासकी गति सदा ऊर्ध्वोन्मुख ही होती है, उनकी दृष्टिमें ऊर्ध्वकी सीमा कोई है या निःसीम? यदि निःसीम तो इसमें प्रमाण क्या? पुनश्च जब विकसित वस्तुका भी निर्वाण या विनाश भी मानते ही हैं, तो इस तरह ह्रास-विकासका चक्कर ही परिलक्षित होता है। उदयनाचार्यने 'न्यायकुसुमाञ्जलि' की—'जन्मसंस्कारविद्यादेः शक्तेः स्वाध्यायकर्मणोः। ह्रासदर्शनतो ह्रासः सम्प्रदायस्य मीयताम्' (२।३) कारिकामें दिखलाया है कि स्वाभाविक रूपसे ह्रास हो रहा है। पूर्वजोंकी बुद्धिशक्तिकी तुलनामें आजकी बुद्धिशक्तिका अत्यन्त ह्रास हो गया है। पहलेके मनुष्य-शरीर तथा आजके मनुष्य-शरीरमें पर्याप्त अन्तर हो गया है। अभी अनेक स्थलोंमें ऐसे भाले और तलवारें मिली हैं, जिसे आजके लोग उठा भी नहीं सकते। चारित्रिक स्तर तो इतने नीचे गिर गये हैं कि उनकी पूर्वजोंके सामने कोई तुलना ही नहीं।

सृष्टिक्रममें देखते हैं कि कारण कार्यकी अपेक्षा व्यापक, स्वच्छ तथा उच्च कोटिका होता है। कार्य व्याप्य, अस्वच्छ तथा निम्न कोटिका होता है। हाँ, कार्यमें गुण एवं विशेषण आदि बढ़ जाते हैं। घट-पट आदिसे जलानयन, अङ्गप्रावरणादि कार्य सधते हैं; परंतु मृत्तिका, तन्तु आदिसे उक्त कार्य नहीं सधते। फिर भी घटादिकी अपेक्षा मृत्तिका, तेज, जल, वायु आदि कारणोंमें व्यापकता आदि अधिक स्पष्ट हैं। मृत्तिकामें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच गुण हैं। जलमें गन्धको छोड़ चार, तेजमें शब्दादि तीन, वायुमें दो और आकाशमें केवल एक शब्द ही गुण होता है। व्यापकता, स्वच्छता आकाशमें सर्वाधिक है। इसीलिये परम कारण सर्वापेक्षया स्वच्छ, व्यापक तथा उच्चकोटिका मान्य है। विकासवादियोंका यह कथन कि 'पूर्वजोंमें क्रिया, ज्ञानशक्तियाँ पूरी विकसित न हुई', सर्वथा भ्रममात्र हैं। तथ्य तो यह है कि पूर्वजोंसे ही आंशिक ज्ञान-क्रियाशक्ति उत्तरोत्तरके लोगोंको प्राप्त होती है, पुस्तकोल्लेखन, शिक्षणालय-स्थापन तभी सार्थक होंगे। यदि उत्तरोत्तर लोगोंमें ज्ञान-क्रियाशक्तिका विकास अधिक मानते हैं तो वे किनके लिये पुस्तकोल्लेखादि करते हैं? अल्पज्ञ पूर्वज अतीत हो चुके। उत्तरोत्तर आनेवाली संतान पूर्वजोंकी अपेक्षा बुद्धिमान् होगी ही। उनके लिये ज्ञानोपदेश व्यर्थ ही है। खूब ही हो तो भी पिता, पितामहादिको पुत्रादिकोंके ही छात्र होना चाहिये। पुत्रादिकोंको अध्यापक बनना चाहिये। पर नहीं, अध्यात्मवादकी दृष्टिसे ईश्वर पूर्ण सर्वज्ञ है। उसकी संतानें ब्रह्मा, वशिष्ठादि तदपेक्षया अल्पज्ञ हैं। जिन लोगोंमें कुछ विशेषता व्यक्त हुई, उनमें ईश्वरके अनुग्रहसे ही। आध्यात्मिकोंकी

अनभिज्ञता केवल विकासवादियोंको ही सम्मत है, पर विकासवादियोंकी अनभिज्ञता उभयसम्मत है; क्योंकि वे स्वयं ही अपने पुत्रादिकोंकी अपेक्षा अपनेको उसी न्यायसे अनभिज्ञ मानते हैं।

'परिमाणसम्बन्धी विकाससे गुणसम्बन्धी विकासतकका नाम द्वन्द्वात्मक विकास है।' इसकी व्याख्या करते हुए एंजिल्सने लिखा है कि 'भौतिक विज्ञानमें प्रत्येक परिवर्तनका अर्थ है—परिमाणका गुणमें संक्रमण। जो किसी भी वस्तुमें निहित अथवा प्रविष्ट गतिके परिमाणमें परिवर्तन होता है, वह भी क्रमसे ही होता है। उदाहरणके लिये पानीके ताप-मानका प्रभाव पहले उसके द्रवगुणपर नहीं पड़ता। परंतु उस द्रवगुणका परिमाण ज्यों-ज्यों चढ़ता या गिरता है, त्यों त्यों वह क्षण निकट आता-जाता है, जब पानी या तो बर्फ होगा या भाप बनेगा। जलकी द्रवस्थिति ज्यों-की-त्यों नहीं बनी रहती। प्लेटिनमके तारको भी दहकानेके लिये एक अल्पतम विद्युत्प्रवाह आवश्यक होता है। प्रत्येक धातुका एक निश्चित तापमान होता है, जब वह पिघलने लगती है। आवश्यक तापमान पानेके हमारे पास जो साधन हैं, उनका प्रयोग करके द्रवपदार्थके शीतोष्ण दिन निश्चित कर दिये गये हैं, जब कि यथेष्ट शीतोष्ण प्रभावसे वह पदार्थ जमने या खौलने लगता है। अन्तमें प्रत्येक गैसके लिये वह चरम विन्दु निश्चित है, जब यथावश्यक दबाव और शीतसे वह द्रव पदार्थके रूपमें परिवर्तित किया जा सकता है, भौतिक विज्ञानमें जिन्हें हम स्थिर विन्दु कहते हैं, जहाँसे पदार्थकी स्थिति बदलकर दूसरी हो जाती है; वे अधिकतर और कुछ नहीं, क्रान्ति विन्दुओंके ही नाम हैं, जहाँ गतिके परिमाण-सम्बन्धी ह्रास किंवा वृद्धिसे उस पदार्थकी स्थितिमें एक गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। फलतः इन क्रान्ति-विन्दुओंपर परिमाणमें गुणका रूपान्तर हो जाता है।

एंजिल्सका प्रकृतिसम्बन्धी द्वन्द्ववाद

इसी प्रकार एंजिल्सने रसायनशास्त्रके विषयमें लिखा है कि 'पदार्थोंकी अणु-बद्ध रचनामें परिवर्तन होनेसे गुणात्मक परिवर्तन सम्भव होते हैं। इन गुणात्मक परिवर्तनोंके विज्ञानको हम 'रसायनशास्त्र' कह सकते हैं। हेगलको यह मालूम हो चुका था। उदाहरणके लिये आक्सिजनके अणुमें दो परमाणु होते हैं। इन दोके बदले यदि तीन परमाणु कर दिये जायँ, तो ओजोन बन जाता है, जो गन्ध और प्रतिक्रियामें साधारण आक्सिजनसे नितान्त भिन्न होता है। जब आक्सिजन विभिन्न अनुपातोंमें नाइट्रोजन या गन्धकसे मिलाया जाता है, तब तो उसका कहना ही क्या! हर अनुपातसे ऐसा पदार्थ बनता है, जो गुणात्मक दृष्टिसे दूसरे पदार्थोंसे भिन्न होता है।'

उपर्युक्त दोनों ही प्रघट्टकोंसे यह सिद्ध होता है कि निर्दिष्ट कारणोंसे वस्तुओंकी अवस्थाओंमें परिवर्तन ही सिद्ध होता है। वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार तेजसे ही जल उत्पन्न होता है, शीतके योगसे वह बर्फ बन जाता है। तेजसे जलका शुष्क हो जाना लोकसिद्ध है, परंतु फिर भी इन परिणामोंकी निश्चित

सीमा है, अतएव अचेतन चेतन नहीं बन सकता। इस तरह असत्य सत्य, अनित्य नित्य नहीं बन सकते।

स्टालिनका कहना है कि 'द्वन्द्ववादका सिद्धान्त है कि प्रकृतिके सभी बाह्य रूपों और पदार्थोंमें आन्तरिक असङ्गतियाँ सहजरूपसे विद्यमान हैं। इन पदार्थों और रूपोंके भाव-पक्ष और अभाव-पक्ष दोनों हैं। उनका अतीत है तो अनागत भी है। एक अंश मरणशील है तो दूसरा विकासोन्मुख। इन दो विरोधी अंशोंका संघर्ष ही विकासक्रमकी आन्तरिक प्रक्रिया है। परिमाण-भेदके गुण-भेदमें परिवर्तित होनेकी यही आन्तरिक प्रक्रिया है। इसलिये द्वन्द्वात्मक प्रणालीके अनुसार निम्नसे ऊर्ध्वकी ओर विकास इस क्रममें नहीं होता कि प्रकृतिके स्तर एकके बाद एक सहज गतिसे खुलते जायँ। इसके प्रतिकूल विकासक्रममें पदार्थों और प्रकृतिके बाह्यरूपोंमें सहजरूपसे विद्यमान असंगतियाँ ही खुलती जाती हैं। इन असंगतियोंके आधारपर जो विरोधी प्रवृत्तियाँ क्रियाशील हैं, उनका संघर्ष ही खुलता जाता है।' लेनिनके शब्दोंमें 'वास्तवमें पदार्थोंके सारतत्त्वोंमें ही अन्तर्निहित असंगतियोंके अध्ययनका ही नाम द्वन्द्ववाद है।' (लेनिनदर्शन-सम्बन्धी नोटबुक, रूसी संस्करण, पृ० २६७)। लेनिनने यह भी कहा था कि 'विरोधी तत्त्वोंका संघर्ष ही विकास है।' (संक्षिप्त लेनिन ग्रन्थावली, रूसी संस्करण, खण्ड १३, पृष्ठ ३०१)

उपर्युक्त बातोंपर विचार करनेसे विदित होगा कि अंश-भेदसे निर्वाण-निर्माणकी परम्परा चलती है। परंतु अंशभेदसे जब दोनों बातें चलती हैं, तब उनमें संघर्ष क्या? एक व्यक्ति मरता, दूसरा पैदा होता है, इसमें संघर्षकी कोई बात नहीं। क्रमेण वनस्पति, पश्वादि एक ओर उत्पन्न हो रहे हैं तो दूसरी ओर नष्ट हो रहे हैं। हाँ, यदि उसी क्षण उसी अंशमें उसी रूपसे भाव, अभाव, निर्वाण, निर्माण आदि हों, तभी विरोध और संघर्ष हो सकता है। पर यह असम्भव है ही, क्योंकि यदि भाव, अभाव, निर्वाण, निर्माण समान देश, समान कालमें रह जायँ तो संसारमें विरोध ही मिट जायगा। फिर संघर्ष भी क्या रहेगा? यदि रात्रि और दिन समकालमें हों तभी संघर्ष सम्भव है। दो विरोधी मल्लोंका ही संघर्ष हो सकता है, अतीत-अनागत मल्लोंका संघर्ष क्या होगा? साथ ही यदि सहभाव सम्भव हो जाय तो भी विरोध असम्भव है; क्योंकि स्वानुचित देशकाल-स्थायित्व ही विरोधका कारण होता है। धरणी, अनिल, जलके संघर्षसे, बीजके विध्वंससे अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है। कुछ लोग इसी आधारपर असत्कारण-वाद सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं, परंतु अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि ऐसा हो तो कार्यमें कारणका अनुवेध रहनेसे हर कार्यमें कारणका अनुवेध रहना चाहिये, किंतु उपलब्धि इसके विपरीत रहती है। कार्यमात्रमें सत्ताका ही अनुवेध दिखायी देता है। अतः सत्कार्यवाद ही ठीक है। बीजके अंश ही अंकुरादिमें अनुस्यूत रहते हैं। सर्वथापि व्यवहारमें कार्योत्पादनानुकूल

सामग्रियाँ ही कार्य-विकासमूल समझी जा सकती हैं, असंगतियाँ विरोध या संघर्ष नहीं। कार्यके प्रतिबन्धकादि दोषका निवारण अवश्य अपेक्षित होनेपर पुरातन या निर्वाण स्वयं विनाशोन्मुख है। अतः उसकी प्रतिबन्धकता असिद्ध है।

स्टालिनका कहना है कि 'समाजके जीवन और इतिहासके अध्ययन करनेके लिये सामाजिक क्षेत्रके द्वन्द्वात्मक प्रणालीका प्रचार कितना महत्त्वपूर्ण है और समाजके इतिहास तथा सर्वहारावर्गकी पार्टीकी प्रत्यक्ष कार्यवाहीपर उन सिद्धान्तोंका लागू करना क्या महत्त्व रखता है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। यदि संसारमें कोई भी वस्तु विच्छिन्न और एकाकी नहीं है, यदि सभी वस्तुएँ सम्बद्ध और परस्पर निर्भर हैं, तो सिद्ध है कि इतिहासकी किसी भी समाज-व्यवस्था या सामाजिक आन्दोलनका मूल्याङ्कन हम किसी भी सनातन न्याय अथवा पूर्वकल्पित सिद्धान्तसे नहीं कर सकते। इस प्रकारके मूल्याङ्कनका इतिहासोंमें नितान्त अभाव नहीं है। यह मूल्याङ्कन परिस्थितियोंपर विचार करके वे ही कर सकते हैं, जिन्होंने उस समाज-व्यवस्थाके सामाजिक आन्दोलनको जन्म दिया होगा, जिससे वे सम्बद्ध हैं। वर्तमान परिस्थितियोंमें दासप्रथा निरर्थक, अस्वाभाविक और मूर्खतापूर्ण होगी। पर जब पंचायती-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही थी, तब दास-प्रथाका होना समझमें आ सकता था। तबकी परिस्थितिमें वह एक स्वाभाविक घटना थी; क्योंकि प्राचीन समाजकी पंचायती व्यवस्थाको देखते हुए वह उन्नत व्यवस्था थी। जब जारशाही और पूँजीवादी व्यवस्था विद्यमान थी, तब उदाहरण-के लिये १९०५ के रूसमें एक पूँजीवादी जनवादी प्रजातन्त्रकी माँग अच्छी तरह-से समझमें आ सकती थी। वह उचित और क्रान्तिकारी माँग थी, क्योंकि उस समय इनकी प्राप्तिका अर्थ होता 'प्रगतिकी राहपर एक कदम आगे बढ़ना।' पर अब सोवियतसंघकी परिस्थितियोंमें पूँजीवादी जनवादी प्रजातन्त्रकी माँग एक अर्थ-हीन और क्रान्तिविरोधी माँग होगी; क्योंकि सोवियत प्रजातन्त्रकी तुलनामें पूँजीवादी प्रजातन्त्र निकृष्ट है। यह तो पिछली मंजिलकी ओर लौटना होगा। देशकाल-परिस्थितियोंके अनुसार ही प्रगति और प्रतिक्रियाका निर्णय हो सकता है, यह स्पष्ट है। सामाजिक घटनाओंके प्रति इस ऐतिहासिक दृष्टिकोणके बिना ऐतिहासिक विज्ञान-का अस्तित्व और विकास असम्भव है। इतिहास विज्ञान-तारतम्य-हीन घटनाओं-की सूची और क्षुद्रतम भ्रान्तियोंका संकलन न बने, यह इस दृष्टिकोणद्वारा ही सम्भव है।'

उपर्युक्त बातोंकी समालोचनामें सबसे पहली बात यह है कि जिस इतिहासके आधारपर द्वन्द्ववादकी कल्पना खड़ी की जाती है, वह इतिहास स्वयं किसी सिद्धान्तका साधक या बाधक नहीं हो सकता। इतिवृत्त, ऐतिह्य, इतिहासादि

शब्द पुरानी घटनाओंके लिये प्रयुक्त होते हैं। 'इति ह आस'—ऐसा था, ऐसी प्रसिद्धि ही इतिहास कहलाता है। वह प्रामाणिक, अप्रामाणिक दोनों ही प्रकारका होता है। इतिहास यदि प्रत्यक्षानुमानमूलक हो या शब्दमूलक हो तो प्रमाणके निर्दुष्ट होनेसे ही निर्दुष्ट हो सकता है। प्रमाण दुष्ट है तो इतिहास भी दुष्ट ही होता है। प्रायः आजकलके इतिहास दुरभिसन्धि एवं भ्रान्तिपूर्ण होते हैं। इस सम्बन्धमें अनेक पाश्चात्त्य विद्वानोंकी सम्मतियाँ 'भारतमें अंग्रेजी राज्य' पुस्तकमें उद्धृत हैं। किसी सिक्के या खण्डहर आदिके आधारपर ऐतिहासिक कल्पनाओंका महल खड़ा कर दिया जाता है। चतुर लोग अपने विभिन्न उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये मनगढ़न्त इतिहासका निर्माण कर देते हैं। आँखों देखी घटनाओंके सम्बन्धमें विभिन्न संवाददाताओंकी विभिन्न रायें होती हैं। तार, टेलीप्रिन्टर, रेडियो, अखबारोंतक पहुँचते-पहुँचते उनके अनेक रूप बन जाते हैं। फिर इनके आधारपर किसी सत्य घटनाका निर्णय कैसे किया जा सकता है? ऋतम्भरा-प्रज्ञायुक्त ऋषियोंके इतिहास अवश्य प्रामाणिक कहे जा सकते हैं। वे समाधिके द्वारा संनिकृष्ट, विप्रकृष्ट, स्थूल, सूक्ष्म वस्तुओंका साक्षात्कार कर सकते हैं। परंतु उनकी दृष्टिसे पुरानी घटनाओंका दुहराना मात्र, 'इतिहास' गड़े मुर्दोंको उखाड़नेके अतिरिक्त और कुछ नहीं। सत्य ऐतिहासिक घटनाओंमें भी समीचीन, असमीचीन, इष्ट, अनिष्ट, उचित, अनुचित कई तरहकी घटनाएँ होती हैं। इसीलिये व्यवहारमें इतिहास प्रमाण नहीं होता, अपितु विधान प्रमाण होता है। इसीलिये रामायण, भारतसे यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि रामादिवत् आचरण करना चाहिये, न कि रावणादिवत्। यही इतिहासका प्रयोजन है। जिन घटनाओंसे राष्ट्र या विश्वको धार्मिक, आर्थिक, चारित्रिक उन्नतिमें सहायता मिलती हो, उन्हीं घटनाओंका इतिहासमें उल्लेख होना उचित है। आज भी विशिष्ट पुरुषोंका ही इतिहासमें उल्लेख होता है। मार्क्स, लेनिन-जैसा अन्य कम्युनिष्टोंका इतिहासमें महत्त्व नहीं। म्युनिसिपालिटीके दफ्तरमें मनुष्यके जन्म-मरणका उल्लेख होता है। कीट-पतंगोंका नहीं; क्योंकि उनका महत्त्व नहीं है। सारांश यह है कि इतिवृत्तमात्रसे कोई सिद्धान्त नहीं निकाला जा सकता; क्योंकि इतिवृत्तकी घटनाएँ उचित-अनुचित—दोनों ही ढंगकी हो सकती हैं। विधानमें औचित्य-निर्णयके अनन्तर ही कोई ऐतिहासिक घटना स्थान पा सकती है। यदि सूर्योदय-सूर्यास्त, चन्द्रमाका ह्रास-विकास, समुद्रके ज्वार-भाटादिके नियम सनातन हैं तो कोई सनातन न्याय या सिद्धान्त भी हो ही सकता है, पर व्यक्तिविशेष या परिस्थितिविशेषसे कुछ क्रियाओंमें अन्तर पड़ सकता है। सनातन न्याय एवं सिद्धान्तोंपर इनका कुछ भी असर नहीं पड़ सकता। उष्णता अग्निका स्वभाव है, वह व्यक्ति या परिस्थितिविशेषसे बदल नहीं सकता।

दासप्रथाको कितना भी निरर्थक अस्वाभाविक या मूर्खतापूर्ण क्यों न कहा जाय; परंतु किसी-न-किसीरूपमें उसका अस्तित्व सर्वत्र है और रहेगा। हाँ, नाममें भेद हो सकता है। कौन नहीं जानता कि 'सोवियतसंघ'में सरकारसे मतभेद रखनेवाले लोगोंके साथ दासोंकी अपेक्षा भी बुरा बर्ताव किया जाता है ! विरुद्ध व्यक्तियोंको शासनारूढ व्यक्तियों या संघोंके नियन्त्रणमें दासोंसे भी निकृष्ट बनकर जीवन बिताना पड़ता है। शासन, न्याय, शिक्षा, सेना आदि सभी विभागोंमें उच्च कर्मचारियों और निम्न कर्मचारियोंमें अङ्गाङ्गिभाव-या शेष-शेषिभाव अनिवार्य रहता है। 'एक व्यक्ति दूसरेका हुक्म माननेके लिये बाध्य हो, न माननेपर दण्डित हो', यही दास-प्रथाका नमूना है। इसका कब अभाव हो सकता है। धर्म-नियन्त्रित राज्यमें ही शासन एवं शासित आदिका अभाव कहा जा सकता है। वहाँ भी धर्ममूलक नियम्य-नियामकभाव, गुरु-शिष्य, अग्रज-अनुज, पिता पुत्र, पति-पत्नीके नियम्य-नियामकभाव रहता ही है। सोवियत प्रजातन्त्रकी तुलनामें पूँजीवादी, जनवादी प्रजातन्त्रको निकृष्ट कहना भी स्वगोष्ठीनिष्ठ सिद्धान्त है। इस सम्बन्धमें उत्तरोत्तर ऐतिहासिक प्रगतिकी बात करना निराधार है। आजके प्रजातन्त्र, गण-तन्त्र सबकी अपेक्षा दो हजार वर्ष पहलेके अशोकके साम्राज्यकी सुख-समृद्धि कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थी। उसमें सभी अपनेको सुखी और समृद्ध अनुभव करते थे। पाँच हजार वर्ष पहले युधिष्ठिरके शासनमें तो धर्मराज्य था ही। लाखों वर्ष पहले होनेवाले रामराज्यका मुकाबला करनेवाला कोई भी शासन न कभी हुआ और न भविष्यमें ही होनेकी आशा है। आजके पण्डितम्मन्य बड़े गर्वसे कहते हैं कि 'यह बीसवीं शताब्दी है, पुराना जमाना लद गया। दुनिया बहुत आगे बढ़ गयी। पुरानी धर्म-कर्मकी सड़ी-गली बातें अब नहीं चल सकतीं। उनका समय बीत गया,' परंतु वे यह नहीं देखते कि यदि धर्म और सभ्यताका समय बीत गया तो सुख, शान्ति एवं समृद्धिका भी समय बीत गया। यदि सुख-शान्तिके बीते दिनोंको लौटाना है तो धर्म, सभ्यता एवं सुव्यवस्थाओंके दिनोंको भी लौटाना ही पड़ेगा।

कुछ लोग अपने दृष्टिकोणके अनुसार तोड़-मरोड़कर इतिहासका भी दृष्टिकोण बना लें, परंतु इतने मात्रसे ऐतिहासिक घटनाओंका सर्वसिद्धरूप मिटाया नहीं जा सकता। ह्रास-विकासका चक्र ही संसार है। विकारी पुरानी चीजका क्षय, नवीनका अभ्युदय होता है सही; परंतु आत्मा-काल आदि कुछ पुरातन ऐसी भी तो वस्तुएँ होती हैं, जो नित्य हैं, जिनका कभी क्षय नहीं होता। इसी तरह व्यक्तियोंके अनित्य होनेपर भी प्रवाह नित्य होता है। जैसे गङ्गादि प्रवाहकी अपेक्षा दीप-शिखादि प्रवाह अधिक अस्थिर है। सत्त्व, रज, तमके अनुसार संसारका प्रवाह अनुकूल-प्रतिकूल चलता है। कभी काम-क्रोधका तो कभी शम-दमका प्रवाह चलता है। अविवेकी कामादि-प्रवाहमें बहते हैं। विवेकी उन्हें रोककर शान्त्यादिका

प्रवाह चलाता है। महापुरुष कभी प्रवाहमें नहीं बहते, वे उसे रोककर धर्म-नियन्त्रित बनाते हैं। अतः कभी नास्तिक भौतिकवादियोंका बाहुल्य होता है, फिर आस्तिकपक्ष उठता है। सत्य-अनृत, आसुर-दैव दोनों पक्षोंका कालानुसार उद्भव, अभिभवादि होता रहता है। फिर भी 'सत्यं जयति नानृतम्' के अनुसार अन्तमें सत्य ही जीतता है, भले ही पहले अनृतका बोल-बाला फैल गया हो। इसी तरह धर्मकी ही विजय होती है, अधर्मकी नहीं। इसलिये चिरन्तन शाश्वत सत्य सिद्धान्तका अवलम्बन करनेसे ही अनृत-अधर्मका अतिक्रमण किया जा सकता है। एतावता यह कहना सर्वथा असङ्गत है कि 'संसार निरन्तर गतिशील है, पुरातन-का विनाश और नवीनका उदय होता रहता है; पुरातन व्यवस्थाएँ चिरन्तन नहीं हो सकतीं।' कोई वस्तु स्थायी रहनेपर ही स्थायी कही जा सकती है।

स्टालिनका यह कहना भी ठीक नहीं कि 'शोषण और व्यक्तिगत सम्पत्तिके सिद्धान्त शाश्वत सत्य नहीं हो सकते। किसानपर जमीनदारके, मजदूरपर पूँजीपतिके प्रभुत्वका सिद्धान्त त्रिकालाबाध्य नहीं हो सकता; क्योंकि यह एक साधारण वस्तु-का अतिरञ्जित बीभत्स वर्णनमात्र है।' व्यक्तिगत सम्पत्तिके सिद्धान्तको शोषणका सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता। (आगे चलकर तर्कके आधारपर व्यक्तिगत सम्पत्तिका सिद्धान्त निरूपित किया जायगा, 'देखिये पृष्ठ २४८)। कम्युनिष्टकी दृष्टिमें तो 'किसी गिरहकट व्यक्तिको रोका नहीं जा सकता और न तो उसका पुनरुत्थान ही सम्भव है। इसलिये उसे और धक्का दे देना चाहिये, जिससे वह शीघ्र ही नष्ट हो जाय।' इस तरह वे सर्वदा अभ्युदयोन्मुख वर्गके साथी होते हैं। 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' बहुमतका सिद्धान्त वहाँ असम्भव है।

स्टालिनका कहना है कि '१९ वीं शतीके नवें दशकमें जब मार्क्सवादियों तथा लोक-वादियोंमें संग्राम चल रहा था, रूसी सर्वहारावर्ग साधारण जनताका एक झुंड अल्प भाग था, इसके विपरीत खेतिहर किसान जनताका बहुसंख्यक भाग था। पर सर्व-हारावर्ग एक विकासमान वर्ग था, जब कि वर्गके रूपमें किसान छिन्न-भिन्न हो रहे थे। पर चूँकि सर्वहारावर्ग एक विकासमान वर्ग था, अतः मार्क्सवादियोंने इसीके आधारपर अपनी नीतिं निर्धारित—स्थापित की। उनकी यह धारणा भ्रान्त न थी। अतएव आगे चलकर यही वर्ग एक क्षुद्र शक्तिसे विकसित होकर उच्च कोटिका ऐतिहासिक और राजनीतिक शक्ति बन गया।' (जे० स्टालिनका द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवाद)

पर यह कहना ठीक नहीं। उत्थान-पतन संसारका धर्म है। जो सूर्य कभी अस्त होता है, वही उदय होता है। जीवनमें भी ग्रहदशाके अनुसार कभी पतन, कभी उत्थान भी होता है—

'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।' (मेघदूत २।५२)

खेतिहर किसान वर्गको शोषक भी नहीं कहा जा सकता। उसीकी कमाई सबको खानेको मिलती है। अतः 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' उसकी दशा सुधारना क्या उचित न था ? फिर जब कम्युनिष्ट शोषितका ही पक्ष लेता है, तब यह भी कहना होगा कि 'जो सर्वाधिक शोषित हो, उसीका पक्ष लेकर शोषकोंका मुकाबला करना चाहिये।' इस दृष्टिसे भी सर्वाधिक बहुसंख्यक समाजके हितार्थ प्रयत्न आवश्यक है। फिर केवल सर्वहारा मजदूर समाजका ही पक्षपात क्यों ? पुनश्च, यदि परिणाम-सम्बन्धी, क्रमिक-परिवर्तन और अकस्मात् एवं शीघ्रतासे होनेवाले गुण-सम्बन्धी परिवर्तन विकासके नियम हैं तो जैसे सर्वहारावर्गद्वारा की गयी क्रान्ति स्वाभाविक अनिवार्य घटना हो सकती है, वैसे ही खेतिहर वर्ग-द्वारा भी की गयी क्रान्ति महत्त्वपूर्ण क्यों न होगी ? फिर यदि द्वन्द्वमानके अनुसार निर्माण और निर्वाणका क्रम चलता ही रहेगा तो किसी दिन साम्यवाद-की कल्पना भी पुरानी होगी और फिर इसे भी मिटानेके लिये कम्युनिष्टको प्रयत्न-शील होना पड़ेगा।

आजकल जो 'सुधारवाद' चलता है, जिसका उद्देश्य प्राचीन वस्तुओंका एकाएक विनाश नहीं, किंतु दोषोंको दूर कर उन्हें अच्छा बनाना होता है, स्टालिन आदिने उसे नगण्य बताया है। समाजवादकी मुख्य तीन प्रवृत्तियाँ हैं—सुधारवाद, अराजकतावाद और मार्क्सवाद। सुधारवाद—(बर्न्सटीक आदिकी विचारधारा) समाजवादको बहुत दूरकी बात समझता है। उससे आगे कुछ है ही नहीं। सुधारवाद समाजवादी क्रान्तिको नहीं मानता और शान्तिपूर्ण उपायोंसे समाजवाद कायम करना चाहता है। सुधारवाद वर्गसंघर्षको न मानकर वर्ग-सहयोगका प्रतिपादन करता है। स्टालिनकी दृष्टिमें 'यह सुधारवाद दिन-प्रति-दिन सड़ता ही जा रहा है। समाजवाद और सुधारवादकी सारी समानता दिन-प्रति-दिन खतम होती जा रही है, अतः सुधारवादपर विचार करना ही व्यर्थ है।' सुधारवादके सम्बन्धमें मार्क्सवादियोंकी यह धारणा है। प्राचीनतावादी सुधार-वादियोंको सर्वथा हेय बताते हैं। भारतमें कांग्रेस, हिंदूसभा, जनसंघ आदि सुधार-वादी संस्थाएँ हैं। ये एक तरफ भारतीयता, संस्कृतिकी बातें करतीं और सुधार भी चाहती हैं। उधर, कम्युनिष्ट, सोशलिष्ट आदि अराजकतावादी पार्टियाँ सर्वथा परिवर्तनकर महाक्रान्ति चाहती हैं। रामराज्यादि पार्टियाँ शास्त्रों और परम्पराके अनुसार सनातन संस्कृति, धर्म एवं राजनीतिमें सिद्धान्ततः तिलभर परिवर्तन नहीं चाहतीं। इनमें सुधारवादी किसी सिद्धान्तपर स्थिर नहीं हैं। रामराज्यवादी ईश्वर एवं धर्म आत्माको ही आधारभित्ति मानकर चलते हैं। अपौरुषेय वेद एवं तन्मूलक आर्षशास्त्र तथा तदविरुद्ध तर्कके आधारपर तत्त्वका निर्णय करते हैं। भौतिकवादी आत्मधर्मशास्त्रादिनिरपेक्ष, तर्क, प्रत्यक्ष एवं विज्ञानके आधारपर

तत्त्व-निर्णय करते हैं। पर सुधारवादी बीच-बीचमें रहना चाहते हैं। फलतः वे दोनों पक्षोंहीसे उपेक्षित रहते हैं। उनमेंसे कुछको अन्तमें भौतिकवादकी ओर जाना पड़ता है और कुछको अध्यात्मकी ओर। अराजकतावादीका कहना है कि 'जबतक व्यक्तिको स्वतन्त्रता नहीं मिलती तबतक जनताको स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती। अतः सब कुछ व्यक्तिके लिये होना चाहिये।' मार्क्सवादी कहता है कि 'जनताकी स्वतन्त्रतासे ही व्यक्तिको स्वतन्त्रता मिलती है। अतः सब कुछ जनताके लिये ही होना चाहिये।' पर रामराज्यवादीकी दृष्टिमें व्यक्ति और समाज दोनोंका समन्वय ही ठीक है। समष्टिकी सुख-समृद्धि और स्वतन्त्रतासे व्यक्तिके अभ्युदयमें सुविधा होती है। अनुकूल साधन और वातावरणसे आदमी उन्नतिके मार्गमें अग्रसर हो सकता है।

इसके साथ ही जैसे एक-एक वृक्ष कट जानेसे वन कट जाता है, एक-एक सैनिक कट जानेसे सेना कट जाती है, वैसे ही एक-एक व्यक्तिके धनवान्, बलवान् बन जानेसे समष्टि बलवान्, धनवान् बन जाता है। व्यक्तियोंके निर्धन, अयोग्य हो जानेसे समष्टि निर्धन एवं अयोग्य हो जाता है। जहाँ व्यष्टि समष्टिके हितोंमें विरोध हो, वहाँ समष्टिके अविरुद्ध ही व्यष्टिको आत्महित-साधनमें प्रवृत्त होना अनिवार्य होगा। व्यक्तिको समाजहितका, समाजको राष्ट्रहितका, राष्ट्रको विश्वहितका ध्यान रखना अनिवार्य होगा। समष्टिको हानि पहुँचाकर आत्महित साधना निन्द्य समझा जायगा। मार्क्सवादियोंके मतानुसार 'सुधारवादी न होकर क्रान्तिवादी होना चाहिये। विकासका क्रम आन्तरिक असंगतियोंके खुलनेसे आगे बढ़ता है। इन असंगतियोंपर विजय पानेके लिये इन्हींके आधारपर विरोधी शक्तियोंमें संघर्ष होता है। अतः मजदूरोंका वर्ग-संघर्ष स्वाभाविक तथा अनिवार्य घटना है। इसीलिये पूँजीवादी असंगतियोंपर पर्दा न डालकर उन्हें खुलासा करना चाहिये। वर्ग-संघर्ष रोकनेका प्रयत्न न कर उसे उसके अन्तिम परिणामतक ले जानेका प्रयत्न करना चाहिये। अतः बिना मुलाहिजेकी सर्वहारा श्रेणी वर्गनीतिका पालन आवश्यक है।' सर्वहारा और पूँजीवादियोंके हित-सामञ्जस्य करते ही सुधारवादी नीति या पूँजीवाद-के समाजवादमें विकसित होनेकी समझौतावादी नीतिका अनुसरण उचित नहीं है। इसे ही समाजके जीवन एवं इतिहासपर लागू की जानेवाली द्वन्द्वात्मक प्रणाली कहा जाता है। रामराज्यवादी सर्वत्र अनिन्दित व्यक्ति या वर्गोंमें सामञ्जस्यके साथ अभ्युदयोन्मुखी प्रगतिको श्रेयस्कर समझते हैं। वर्गसंघर्ष दुष्प्रचारमूलक ही होता है। मन्थराने राम और भरतमें फूट डालकर संघर्ष डालना चाहा, पर सफल न हुई। इसी तरह अच्छे लोगोंमें वर्गवाद सफल नहीं होता।

पञ्चम परिच्छेद

वर्ग-संघर्ष

'वर्गसंघर्ष' मार्क्सवादका एक मूल सिद्धान्त है। ऐतिहासिक विवेचनसे वह इसी निष्कर्षपर पहुँचता है कि समाजका विकास वर्गसंघर्षसे प्रभावित होता है। समाजमें दो वर्ग होते हैं—शोषित तथा शोषक। उत्पादनके साधनोंपर जिनका अधिकार होता है; वह शोषक वर्ग है; दूसरा शोषित। प्रत्येक नियम, रीति, रिवाज, दर्शन, कला, इतिहास—सभी वर्ग-संघर्षके विचारोंसे प्रभावित होते हैं। उत्पादनके साधनोंमें परिवर्तनके साथ सामाजिक मान्यताओंमें परिवर्तन होता रहता है। इस स्थितिमें कोई भी नियम ऐसा नहीं जो शाश्वत कहा जा सके। शाश्वत नियमोंका नारा पूँजीवादी दार्शनिकोंद्वारा व्यक्तिगत सम्पत्तिकी सुरक्षा तथा शोषणको प्रोत्साहित करनेके लिये लगाया गया।

सापेक्ष और शाश्वत नियम

कहा जाता है कि संसारमें सबसे पहले फ्रांसमें समानता, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृताका नारा बुलंद किया। मार्क्स उसीसे प्रभावित होकर साम्यवादकी ओर आकृष्ट हुआ, परंतु उसने देखा कि फ्रांसमें समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताके नारे ही नारे हैं, व्यवहारमें घोर वैषम्य विद्यमान है। कोई तो महाधनवान्, सर्वसाधन-सम्पन्न है और कोई महादरिद्र एवं दुखी है। मार्क्सको इसका कारण ढूँढ़नेसे ज्ञात हुआ कि समाजमें धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक, आर्थिक शाश्वत नियमोंपर दृढ़ विश्वास बना हुआ है और समाज उन शाश्वत नियमोंको अपरिहार्य मानता है। फलतः लक्षपति, कोटिपतिका पुत्र स्वभावतः धनवान् होता है; भूमिपति, मकानमालिक आदि सभीकी संतानें सम्पन्न होती हैं। इस तरह समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताकी बातें करते हुए भी कुछ लोगोंकी व्यक्तिगत सम्पत्ति ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। गरीब गरीब ही बने रहेंगे और व्यावहारिक आर्थिक दृष्टिसे समानता नहीं हो सकेगी।' इसलिये आर्थिक असंतुलन या अर्थ-वैषम्य दूरकर व्यावहारिक समानता लानेके उद्देश्यसे मार्क्सने अर्थ-सम्बन्धी प्राचीन नियमोंका खण्डन किया। परंतु यह संगत नहीं है।

व्यक्तिगत सम्पत्ति

भारतीय धार्मिक, राजनीतिक शास्त्रोंने व्यक्तिगत सम्पत्तियोंको वैध माना है। मन्वादि धर्मशास्त्र, मिताक्षरा आदि निबन्धग्रन्थोंमें कहा गया है कि पितृपितामहादिकी सम्पत्तियोंमें पुत्र-पौत्रादिका जन्मना स्वत्व है। गर्भस्थ शिशुका भी पितापितामहादिकी सम्पत्तिमें स्वत्व मान्य है। अतएव दायके रूपमें प्राप्त चल, अचल धन पुत्रादिका वैध धन है। इसी प्रकार निधि लाभ, मित्रोंसे मिली, विजयसे प्राप्त, गाढ़े पसीनेकी कमाईसे खरीदीहुई सम्पत्ति, पुरस्कार तथा दानमें प्राप्त एवं उद्योग, कृषि, व्यापारादि तथा उचित सूद आदिद्वारा प्राप्त सम्पत्ति वैध-सम्पत्ति समझी जाती है—

सप्त वित्तागमा धर्म्या दायो लाभः क्रयो जयः ।
प्रयोगः कर्मयोगश्च सत्प्रतिग्रह एव च ॥
(मनु० १० । ११५)

प्रायः आज भी सभी देशोंमें सम्पत्ति-सम्बन्धी नियम ऐसे ही हैं । किसीकी व्यक्ति सम्पत्ति, भूमि, मकान आदिपर उनके उत्तराधिकारियोंका अधिकार रहता है, सरकार भी अगर किसीकी कोई वस्तु सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे लेती है तो उसे मुआविज़ा देती है । भारतमें भी जमींदारी, जागीरदारीका मुआविजा दिया गया है; राजाओंसे राज्य लेकर उन्हें कुछ सालाना दिया जा रहा है । इससे सिद्धान्ततः भारत-सरकारने बाप-दादाकी सम्पत्तिको बेटे-पोतेकी बपौती—मिलकियत होनेका सिद्धान्त मान लिया, तभी मुआविजा और सालाना देनेकी बातकी सङ्गति लगती है । अन्यथा मुआविजा आदि देनेकी कोई सङ्गति नहीं लग सकती । हाँ, यह बात अवश्य है कि जब राज्य या जागीरें राजाओं या जागीरदारोंकी वैधानिक मिलकियत है, वैध धन है तब उन्हें उचित मूल्य बिना दिये और उन्हें बिना संतुष्ट किये मनमानी कुछ देकर अपहरण करना एक प्रकारका स्तेय ही है। आजकल कुछ लोग भूमिस्वामी कहनेमें हिचकिचाते हैं । परंतु वस्तुतः यदि कोई अपने सिरकी टोपीका स्वामी हो सकता है, अपनी झोपड़ी और पत्नीका पति हो सकता है, तो भूस्वामी होना भी कोई अनहोनी घटना नहीं । यदि दृढ़तासे अपनी टोपीकी रक्षा न की जायगी, तो गुंडे टोपी भी छीन लेंगे, अपनी थालीकी रोटीको भी उठा ले जायँगे, झोपड़ी और पत्नी भी छिन जायगी । इसलिये कुछ पुराने साम्यवादियोंका भी मत था कि मौजूदा राज्य-शासनसे अलग रहकर ही स्वतन्त्ररूपसे साम्यवादी पंचायती शासन कायम किये जाने चाहिये । नैतिक, आर्थिक भावनाओंके कारण किसीकी व्यक्तिगत सम्पत्तिमें हाथ डालना ये लोग अनुचित समझते थे ।

परंतु मार्क्सके मतानुसार 'राज्यशक्तिको ही सामाजिक क्रान्तिका एक प्रबल अस्त्र बनाया जा सकता है ।' मार्क्सने सबसे पहले इन विश्वासोंका खण्डन करना उचित समझा । तदनुसार ही उसने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी स्थापना की । जिसके अनुसार आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक नियमों और सिद्धान्तोंकी शाश्वतिकता और नित्यताका खण्डन किया जाता है । प्रसङ्गानुसार उसे आत्मा, परमात्मा एवं धार्मिक नियमोंकी अनावश्यकता सिद्ध करनेका भी प्रयत्न करना पड़ता है । इन लोगोंके मतानुसार भूत या परमाणु अथवा कुछ विद्युत्कणों अथवा प्रकृतिके हलचलसे ही प्रपञ्च-निर्माण होता है ।

'डार्विन'का विकासवाद तथा वैज्ञानिक आविष्कार आदि ही इनकी विचारधाराकी आधार-भित्ति है । विकासवादकी आलोचना पिछले अध्यायमें पूर्णरूपसे की जा चुकी है । यहाँ उसे दुहरानेकी आवश्यकता नहीं ।

मार्क्सके मतानुसार जब मानवसमाजमें खेती आदि आरम्भ हो गयी, कुछ

नियम बनने लगे और विवाह आदि चल पड़े, तब पंचायतों और मुखियोंका निर्माण हुआ; धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि अनेक प्रकारके नियम बनाये गये। इसी बीच खेतों तथा फलवान् वृक्षोंपर अधिकार प्राप्त करनेके लिये दो दलोंमें संग्राम होने लगे। संग्राममें जो लोग जीत गये, वे मालिक बन बैठे और जो हार गये, वे गुलाम बने। उसी समयसे मालिक और गुलामका जन्म हुआ और उनमें भेद, संघर्ष तथा विद्वेष उत्पन्न होने लगा। निजी सम्पत्तिकी प्रथा जबसे चली है, तभीसे दो दल तथा वर्ग परस्पर विरुद्ध रहने लगे थे। तबसे ही मनुष्यजातिका इतिहास वर्ग-कलहका इतिहास है। यह दूसरी बात है कि यह वर्ग-कलह कभी प्रत्यक्ष रहता है कभी अप्रत्यक्ष। इसके फलसे या तो नवीन सामाजिक प्रणाली, नवीन स्वामित्व प्रथा, नवीन आर्थिक नियमोंका जन्म होता है या दोनों वर्गोंका लड़ते-लड़ते नाश हो जाता है। ये दोनों दल भिन्न भिन्न स्वार्थ स्वामित्व-की प्रथा, आदर्श तथा सभ्यताके समर्थक होते हैं।

शाश्वत नियम

पर सिद्धान्ततः राज्यशक्तिको किसी भी धार्मिक, आध्यात्मिक नियन्त्रणमें ही रहना उचित है। अन्यथा अनियन्त्रित उच्छृङ्खल राज्यशक्ति राष्ट्रके लिये भीषण सिद्ध हो सकती है। 'बृहदारण्यक उपनिषद्' में कहा गया है कि 'धर्म क्षत्रका भी क्षत्र है', अर्थात् धर्मपर राजाका शासन नहीं चलता, अपितु राजापर धर्मका शासन चलता है। जैसे बिना नकेलके ऊँट, बिना लगामके घोड़ा, विना ब्रेकके साइकिल-मोटर आदि खतरनाक होते हैं, वैसे ही बिना नियन्त्रणके निरङ्कुश राज्यशक्ति देशके लिये अभिशाप सिद्ध हो सकती है। इसीलिये आज भी कुछ शासनके नियम और परम्पराएँ हैं ही तथा शासनोंको उनका नियन्त्रण मानना ही पड़ता है। ऐसी स्थितिमें राज्यशक्तिको धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक परम्परागत नियमोंके उल्लङ्घन करनेका अधिकार कथमपि नहीं है। भारतीय सभ्यतामें धर्म ब्रह्मके द्रष्टा सांसारिक भावोंसे अतीत होते हैं।

प्रियान्न सम्भवेद् दुःखमप्रियादधिकं भवेत्।
ताभ्यां हि ये वियुज्यन्ते नमस्तेषां महात्मनाम्॥

(वाल्मी० रामा० सुन्दर० २६। ४६)

जो प्रिय-अप्रिय दोनोंसे अतीत हैं, उन्हें ही नमनीय महात्मा कहा गया है। वे लोग भी ऋतम्भरा प्रज्ञा एवं अपौरुषेय शास्त्रोंका आदर करते हैं।

कुछ लोगोंका कहना है कि विभिन्न देश-काल और परिस्थितिके अनुसार विभिन्न महापुरुषोंद्वारा राष्ट्रके धारण पोषणानुकूल निर्धारित नियम-समूह ही शास्त्र है। परंतु यह सर्वथा अनिश्चित एवं अव्यवस्थित है। क्रियामें विकल्प हो सकता है, परंतु वस्तुमें विकल्प नहीं हो सकता। एक वस्तुके विषयमें एक ही ज्ञान यथार्थ

होता है, अन्य अयथार्थ होते हैं। जैसे किसीने आत्माका देहादि-भिन्न होना स्वीकार किया, किसीने देह मात्रको ही आत्मा माना, किसीने आत्माको अणुरूप, किसीने मध्यम, किसीने व्यापक माना; किसीने चेतन, किसीने अचेतन, किसीने उभयात्मक माना। यदि महापुरुष सर्वज्ञ हैं तो मतभेद कैसे? कोई सर्वज्ञ, कोई अल्पज्ञ कहा जाय तो भी कैसे? तत्तन्मतानुयायी अपने-अपने तीर्थंकरोंको सर्वज्ञ ही मानते हैं। किसी पुरुषके मतसे प्रभावित जनता, पंचों, विधानसभाओं एवं लोकसभाओंने यदि कोई धर्म या धर्मशास्त्र बना भी लिया, तो भी जबतक कर्मफलदाता ईश्वर उसे स्वीकार न कर ले तबतक उसका कोई भी महत्त्व नहीं। लौकिक कर्मों और फलोंके नियम लौकिक पुरुषोंद्वारा बनाये जा सकते हैं, परंतु जिन कर्मोंका दृष्ट फल नहीं है, जिनका केवल परलोकमें फल होता है, उन कार्योंका फल प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे विदित नहीं हो सकता। कितने लौकिक नेता या शासक मृत्युके अनन्तर कहाँ गये, उन्हें पिछले किन कर्मोंका क्या फल मिला, यह जानना न तो जनताके लिये सम्भव है और न तो पत्रकारों तथा विधानसभाई, लोकसभाई सदस्योंके लिये ही।

धार्मिकोंका विश्वास है कि सगोत्र, सपिण्ड विवाहसे पाप होता है, परंतु आज सरकार इस शास्त्रीय नियमको तोड़कर उसे धर्म बनाने जा रही है। आज पिता-पुत्री, भ्राता-भगिनी, माता-पुत्रका उद्वाह अधर्म माना जाता है। हो सकता है, कुछ और प्रगतिशील कुछ दिनोंमें इसे भी जायज धर्म माननेका आग्रह करें और इसे भी कानून बना दें। किंतु यदि वस्तुतः ईश्वर है और वह इसे अधर्म समझता है तो जबतक वह इसे धर्म स्वीकार न करे, तबतक ऐसे उद्वाहोंको कोई सरकार धर्म भले ही कह दे, परंतु वह वस्तुतः धर्म नहीं हो सकता। ईश्वरवादीकी दृष्टिसे ईश्वर सनातन है, अतः उसके निर्धारित नियम भी सनातन हैं। वह सर्वज्ञ है, सर्वदेशों, कालों तथा परिस्थितियोंको जानता है तथा तत्तद्देशों, कालों और परिस्थितियों-के अनुसार नियम बनाता है। अल्पज्ञ नेता या सरकार सर्वदेश-काल-परिस्थितियों-से अनभिज्ञ होते हैं। अतः वे यथाज्ञान नियम बनाते हैं। यदि दूसरी परिस्थितिमें पुराने नियमोंमें अड़चन प्रतीत होती है, तब उन्हें रद्दोबदल करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है। किंतु सर्वज्ञके सम्बन्धमें यह बात नहीं कही जा सकती। वह तो अनन्त देशकाल तथा ब्रह्माण्डोंको जानता है; अनन्त जीवों, उनके अनन्त जन्मों तथा प्रत्येक जन्मके अनन्त कर्मों एवं उनके फलोंको जानता है और फ़ल देनेकी क्षमता भी रखता है। उसी सर्वशास्ता सर्वज्ञका शासनवचन ही शास्त्र है। यदि ईश्वरका विनाश सम्भव हो या ईश्वरकी पराजय सम्भव हो अथवा ईश्वरमें अल्पज्ञता या भ्रान्ति सिद्ध हो सके, तभी ईश्वरमें रद्दोबदल सम्भव है। पर ईश्वरका विनाश, पराजय आदि सर्वथा असम्भव है, अतः उसके धर्ममें भी परिवर्तन करना असम्भव है।

हाँ, ईश्वरीय शास्त्रोंने पहलेसे ही देश, काल परिस्थितिके अनुसार जितना नियमोंमें परिवर्तन निश्चित कर रखा है, वह परिवर्तन मान्य है। जैसे सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुगके भेदसे; विपत्ति, सम्पत्तिके भेदसे कुछ परिवर्तन शास्त्र सम्मत है ही। व्यवहारमें भी जो जिस कार्यमें दक्ष होता है, वह उसी कार्यमें सफल होता है। मिले हुए दूध-पानीको अलग करना हंसके लिये सरल है, पर औरोंके लिये कठिन। मिली हुई बालू और शर्कराको पृथक् करना पिपीलिकाके लिये सरल है, पर दूसरोंके लिये कठिन। विविध पुष्पस्तबकोंसे मधुर रस निकालकर मधु बनाना मधुमक्षिकाके लिये सरल है, औरोंके लिये कठिन। वैद्य, इंजीनियर, वकील, गणक आदि अपने-अपने विषयमें सफल हो सकते हैं, दूसरोंके विषयमें नहीं। दूरवीक्षण, अणुवीक्षण आदि या योगादिजन्य विशेषताओंके उत्पन्न होनेपर भी विषयकी सीमा बनी ही रहती है। योगादिजन्य विशेषतासे श्रोत्ररूपके सम्बन्धमें अथवा नेत्रशब्दके सम्बन्धमें सफल नहीं हो सकता—

यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्। दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥

यहाँ बहुमतका भी कोई मूल्य नहीं। कहा जा चुका है कि नेत्रविहीन कोटि-कोटि अन्धे भी रूपज्ञानमें सफल नहीं हो सकते। इसी तरह रोगके सम्बन्धमें वैद्यादिकी ही सम्मति मान्य होती है, इंजीनियर या वकीलोंकी नहीं। डाक्टरों या वकीलोंके बहुमतके आधारपर टूटी घड़ीका पुर्जा ठीक नहीं कराया जा सकता, उसके लिये तो इंजीनियर ही अपेक्षित होगा। इसी तरह शाश्वत नियमोंके सम्बन्धमें उन्हींका मत मान्य हो सकता है, जो उसके जानकार तथा अधिकारी हैं।

शोषक-शोषित

भूमि आदिके लिये युद्ध, संघर्ष होने; मालिक-गुलाम, शोषक-शोषित, उत्पीड़क-उत्पीड़ित आदिकी कल्पना तो ह्रासकालकी बात है। सृष्टिके प्रारम्भकालमें सम्पूर्ण प्रजा धर्म-नियन्त्रित थी। उस समय सत्त्वगुणका पूर्ण विस्तार था। सभी समझते थे कि सभी प्राणी अमृतके पुत्र हैं—'अमृतस्य पुत्राः'। सभी प्राणियोंकी सहज समानता, स्वतन्त्रता एवं भ्रातृताकी मूल आधार भित्तिको समझते थे। व्यवहारमें सब एक दूसरेके पोषक ही थे, शोषक नहीं; सब परस्पर एक दूसरेके रक्षक ही थे, भक्षक नहीं। उत्पीड़क-उत्पीड़ितका भेद सर्वथा ही न था। महाभारतमें उस अवस्थाका वर्णन मिलता है—

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

(महा० शां० प० ५९। १४)

अर्थात् प्रथम राज्य-राजा, दण्ड-दाण्डिक कोई भी भेद नहीं था। सभी धर्म-

नियन्त्रित हो परस्पर एक-दूसरेका पालन करते थे। अपौरुषेय नित्य वेदोंके द्वारा भी आदर्श शासनका रूप दिखलाया गया है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छांदो० उप० ५।११।५)

मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं, कोई कृपण नहीं, कोई मद्यप नहीं और कोई अधिकारी होकर अनाहिताग्नि नहीं; अर्थात् कोई अस्वधर्मनिष्ठ नहीं, किंतु सभी स्वधर्मनिष्ठ हैं। मेरे राज्यमें कोई दुराचारी पुरुष नहीं, फिर दुराचारिणी स्त्री तो हो ही कैसे सकती है? आजके सभ्य कहे जानेवाले किसी भी शासनमें क्या ऐसा धार्मिक स्तर दृष्टिगोचर होता है? व्यवहारतः जहाँ शिवि, दिलीप, रन्तिदेव आदि पशु, पक्षी एवं साधारण मनुष्योंके लिये आत्मोत्सर्गतक कर देते थे, वहाँ शोषक-शोषित, उत्पीड़क-उत्पीड़ितोंके वर्ग-भेदको स्वाभाविक कहना कितना भ्रामक है, यह स्पष्ट है।

कहा जाता है कि 'प्राचीनकालमें यूरोपके नगरोंमें निवास करनेवाले व्यापारी, कारीगर तथा मध्यमश्रेणीके लोगोंका जमींदारों-सरदारोंसे इसलिये लड़ाई हुई थी कि उनको कारीगरी एवं व्यापारकी स्वाधीनता तथा निजी सम्पत्तिको इच्छानुसार खर्च करनेकी स्वतन्त्रता मिले एवं एक राष्ट्रिय सरकार कायम हो। वही व्यापारी आदि आगे चलकर विजयी होकर पूँजीपति हो गये। उनसे भिन्न श्रमजीवी सम्पत्तिविहीन हो गये। अपने देशकी सम्पत्तिमें उनका कुछ भी हिस्सा नहीं है। दूसरी ओर पूँजीकी उत्पत्ति दिन-प्र-दिन पारस्परिक सहयोगपर निर्भर होती जा रही है और पूँजी एक सम्मिलित वस्तु बनती चली जाती है। इस कारण श्रमजीवी दल अब सम्पत्तिको व्यक्तिगत बनानेके लिये न झगड़कर इसलिये झगड़ता है कि समाज जो भी माल पैदा करता है, उसको उपयोगमें लाने या बाँटनेका अधिकार भी समाजको ही हो। इस प्रकार मध्य श्रेणीद्वारा ही एक दल ऐसा पैदा हुआ, जिसका उद्देश्य है वर्ग-विशेषके उद्देश्यको नष्ट कर सार्वजनिक स्वामित्वकी प्रथा प्रचलित करना। अन्ताराष्ट्रिय-संघकी बड़ी सभा सितम्बर १८६७ में स्विटजरलैंडके लोसान नामक नगरमें हुई। उसमें एक प्रस्ताव पास किया गया कि रेलोंको राष्ट्रिय सम्पत्ति बना लिया जाय। तीसरी महासभा सितम्बर १८६९ में ब्रूसेल्स (बेलजियम) में हुई, इसमें युद्धोंका विरोध किया गया और यह भी प्रस्ताव स्वीकृत किया गया कि रेलों, खानों, जंगलों और खेतीके लायक तमाम जमीनोंको राष्ट्रिय सम्पत्ति बना ली जाय। चौथी सभा १८६९ में हीवाल (स्विटजरलैंड) में हुई। उसमें घोर वाद-विवादके पश्चात् यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ कि उत्तराधिकारके प्रचलित सभी नियम सर्वथा निन्दनीय हैं; अतः निजी सम्पत्तिकी प्रथाको सर्वथा उठा देना चाहिये।

विस्तृत मन्वन्तरों, युगों, कल्पों आदि महाकालको देखते हुए हजार, पाँच

सौ वर्षोंका कोई महत्त्व नहीं रहता। इसलिये इस बीचके व्यक्तियों या किंचित् व्यक्ति-सम्मूहोंसे सम्बन्धित घटनाओंका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता। अतः कुछ व्यक्तियों या कुछ सभाओंके प्रस्तावोंके आधारपर शाश्वतिक सिद्धान्तोंमें रद्दो-बदल नहीं हो सकता। इतिहासके आधारपर सिद्धान्तका निर्णय नहीं हो सकता। आये दिन अनाचार, दुराचार, पापाचारोंकी घटनाएँ घटती ही रहती हैं, फिर भी वे उपादेय नहीं समझी जातीं। डाका, चोरी, व्यभिचार, अग्निकाण्ड, हत्या-काण्डकी घटनाएँ घटती ही रहती हैं, परंतु इसीसे वे सब कर्म सिद्धान्त-कोटिमें नहीं आते। जब पूर्वोक्त युक्तिसे दाय, जय, क्रयादिद्वारा प्राप्त भूमि, सम्पत्ति आदिपर व्यक्तिगत अधिकार मान्य है, तब कुछ लोगोंके प्रस्तावों या व्यवहारोंसे उनका रद्दोबदल कैसे हो सकता है ?

संसारमें प्रमाद, पुरुषार्थके भेदसे फलमें भेद होना अनिवार्य ही है। अतः दाम, आराममें विशेषता प्राप्त करनेके लिये ही प्राणी गुण, कर्ममें विशेषता लानेका प्रयत्न करता है। यदि दाम, आराममें विशेषताकी सम्भावना न हो तो कोई भी गुण कर्ममें विशेषता लानेका प्रयत्न ही न करेगा। कुछ विद्यार्थी, खिलाड़ी होते हैं, कुछ खर्राटा लेते रातभर सोते हैं, कुछ सावधान होकर रात-रात जागकर पढ़ते हैं। एक ही पिताके चार पुत्र होते हैं; पिताकी सम्पत्तिके वे चारों हिस्सेदार होते हैं। उनमेंसे कोई परिश्रमसे अपनी सम्पत्ति बढ़ा लेता है, कोई प्रमाद एवं विलासितामें फँसकर थोड़े ही दिनोंमें फूँक-ताप लेता है। पुनः-पुनः समाज या समष्टिके नामपर सब सम्पत्तिका राष्ट्रियकरण एवं वितरणकी व्यवस्था उस गुणकर्मकी विशेषताका अपलाप करना है।

जैसे निम्नस्थलकी ओर जलका बहना स्वभाव है, वैसे ही बहिर्मुख प्राणियोंकी पशुवत् प्रवृत्ति स्वाभाविक है। भोग विलास, छीना-झपटी, बिना परिश्रम किये उत्तमोत्तम भोग-विलास एवं सामग्रीका पाना उन्हें अभीष्ट होता है। ईश्वर-बुद्धि, धर्म-बुद्धि ही इसमें रुकावट डालती है। इसीलिये ऐसे लोग ईश्वर एवं धर्मको पहले समाप्त करना चाहते हैं। अपनेसे प्रबल धनवान्, बुद्धिमान्को देखकर ईर्ष्या, उसे मिटा देनेकी इच्छा—यह पाशविक स्वाभाविक भावना होती है। तमोगुण, रजोगुणकी अधिकता और सत्त्वगुणकी कमी संसारमें होती ही है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि गुण समष्टिके लिये अत्यावश्यकरूपसे प्रायः सर्वमान्य हैं, तथापि उनकी कमी होती है। इस दृष्टिसे सामन्त जागीरदार, जमीनदार, बादशाहों, राजाओंकी समाप्ति चाहते, व्यापारी अपनी सुविधाकी दृष्टिसे सामन्तादिकोंकी समाप्ति चाहते तथा किसान-मजदूर उनका भी खात्मा चाहते हैं। यदि उनसे भी अधिक अपकृष्ट कोई वर्ग हो, तो वह किसानोंका भी विनाश चाहेगा। इन्हीं स्वाभाविक, पाशविक प्रवृत्तियोंको रोकनेके लिये ही सदाचार, धर्म आदिकी

भावना फैलानेका महापुरुष लोग प्रयत्न करते आ रहे हैं। अमीर-गरीब सभी दुष्ट एवं शोषक हो सकते हैं। वे ही पोषक एवं सज्जन भी हो सकते हैं। अधिकांशरूपमें अभावसे पीड़ित होकर गरीब ही चोरी, डाका, व्यभिचार आदिमें पकड़े जाते हैं। अमीरोंके पास वस्तुओंकी कमी न होनेसे उन्हें डाका, चोरी आदिकी आवश्यकता बहुत कम पड़ती है। बहुत-से गरीब भी सदाचारी, संत होते हैं। वैसे ही धनवान् भी सदाचारी होते हैं।

वस्तुतस्तु विद्वान्, बलवान्, धनवान्, शक्तिमान्की विद्या, बल, धन, शक्ति-स्वतः न अच्छे ही होते हैं और न बुरे। दुष्ट पुरुषोंकी विद्या विवादके लिये, धन घमंडके लिये, शक्ति दूसरोंको उत्पीड़ित करनेके लिये होती है, परंतु सत्पुरुषोंकी विद्या ज्ञान फैलाने, उनका धन दान देने तथा दूसरोंकी सहायता पहुँचानेके काममें आता है और उनकी शक्ति दीनों, दुखियों और आर्तोंके रक्षणके काममें आती है। इसलिये 'धनवान्, बलवान्, शक्तिमान् सब शोषक होते हैं,' यह सिद्धान्त ही गलत है। मजदूर भी अधिनायकतन्त्र स्थापित कर अपने विरोधियोंका शोषण ही नहीं खात्मातक कर देते हैं। साधारण लोग अपने खाने-कमानेके काममें लगे रहते हैं। न उनमें शोषक होनेकी ही भावना है और न शोषित ही होनेकी। अतः यह विभाजन ही गलत है। हाँ, धर्म-भावना कम होने, सत्त्वगुण घटने, आध्यात्मिकता मिटने और भौतिकता बढ़नेसे 'मात्स्यन्याय' अवश्य फैल जाता है; जिसका अभिप्राय होता है कि जैसे जलमें बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको खा लेती हैं, अरण्यनिवासी प्रबल जानवर दूसरे छोटे जन्तुओंको भक्षण कर लेते हैं; उसी प्रकार समाजके बलवान् मनुष्य भी दुर्बलोंके भक्षक बन जाते हैं। मूषकका मार्जार, मार्जारका श्वान, श्वानका व्याघ्र भक्षक बनता है। व्याघ्रका सिंह और सिंहका भी शार्दूल भक्षक होता है। सर्पके मुखमें पड़ा हुआ मेढक भी आसपासके उड़ते हुए मच्छरोंको खानेके लिये मुख फैलाता है। यहाँ सर्प, मेढक, मच्छर सभी अपेक्षाकृत शोषक भी हैं और शोषित भी। मत्स्योंमें भी सहस्रों मनकी मछली (तिमि आदि) सैकड़ों मनकी मछलीका भक्षण कर लेती हैं। मनोंकी मछली सेरोंकी मछलीको, सेरोंकी मछली छँटाककी मछलीको और वह भी तोलोंकी मछलीका भक्षण करती है। यहाँ सभीमें शोषक-शोषित भाव है। इसी तरह धनमें भी तारतम्य है। कोटिपतिकी अपेक्षा अर्बुदपति प्रबल है, तब अर्बुदपतिको शोषक और कोटिपतिको शोषित कहना पड़ेगा। इसी तरह कोटिपतिको शोषक एवं लक्षपतिको शोषित कहना पड़ेगा। लक्षपतिकी अपेक्षा सहस्रपति, उसकी अपेक्षा शतपति आदिकोंको शोषित कहा जायगा। फिर तो

रुप्यकपति और वराटिका (कौड़ी) पतिमें भी शोषक-शोषितकी कल्पना करनी पड़ेगी।

यदि वर्ग-विध्वंसके सिद्धान्तानुसार शोषककी समाप्ति अभीष्ट है, तब तो आरण्यक व्याघ्र, सिंह, शार्दूल आदिको समाप्त करके केवल मच्छरोंका ही साम्राज्य स्थापित करना पड़ेगा। इसी प्रकार बड़ी मछलियोंको समाप्त करके केवल रत्ती-रत्तीकी मछलियोंको ही रखना पड़ेगा। इसी तरह समाजके बलवान्, धनवान्, विद्वानोंको समाप्त करके केवल अति निर्बल, निर्बुद्धि, निर्धनोंका ही राज्य बनाना होगा। परंतु यह क्या है ? राष्ट्रका उत्थान है या पतन ? आदर्श शासनोंका कभी भी ऐसा लक्ष्य न था। राष्ट्रके सिंह, शार्दूल समाप्त हो जायँ, केवल शृगाल, मच्छर आदि रह जायँ—यह आदर्श नहीं। सिंह-व्याघ्र भी रहें, श्वान-शृगाल भी रहें, अपने-अपने कर्मोंके अनुसार प्रबल-निर्बल, बुद्धिमान् निर्बुद्धि—सभी रहें; पर एक-दूसरेके पोषक हों, शोषक नहीं। इसीलिये रामराज्यमें बाघ-बकरे एक घाटपर पानी पीते थे; गज-पंचानन साथ-साथ रहते थे। सर्प-नकुल, चूहा-बिल्ली सब एक दूसरेके रक्षक थे, भक्षक नहीं, यही आदर्श शासन है।

वस्तुतः मात्स्य-न्याय मिटानेके लिये ही राजा एवं राज्यकी व्यवस्था हुई थी। धर्मस्थापनके द्वारा सत्त्व विस्तार करके अहिंसाकी भावना दृढ़ करके ही राजा मात्स्यन्याय मिटाता था। वह सबको एक दूसरेका पूरक बनाता था, वैर मिटाकर, सौहार्द उत्पन्न कर शासन, शोषण एवं उत्पीड़नका अन्त करता था—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप बिषमता खोई॥
फूलहिं फलहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥

चूहे-बिल्ली भी एक-एक दूसरेके हित-चिन्तक, उपकारक तथा पोषक बने हुए थे। अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।'(योगदर्श० २।३५) मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसाकी प्रतिष्ठा होनेपर अहिंसकके समीपमें परस्पर विरोधी हिंस्र प्राणियोंके भी वैर छूट जाते हैं। रामायणके निशाकर या चन्द्रमा मुनिके आश्रममें यह आदर्श प्रत्यक्ष उपलब्ध होता था। रामराज्यमें तो यह आदर्श था ही। हाँ, जिनमें रज, तमकी मात्रा अधिक होती थी, धार्मिकताका संस्कार आनेमें विलम्ब होता था, उन्हें उग्र दण्ड देकर शोषणसे विरत किया जाता था। इसीलिये नीति-शास्त्रोंमें दण्ड-विधान भी है। सरकस आदिमें देखा ही जाता है कि एक बकरी शेरके सिरपर चढ़कर हरी पत्ती खाती है, विद्युत्-सृणि (बिजलीके हंटर) के डरसे शेर चुप रहता है, बकरीको नहीं मारता।

इसलिये वर्गसंघर्ष वर्ग-विद्वेष फैलाकर वर्ग-विध्वंसका प्रयत्न कभी भी आदर्श वस्तु नहीं है।

आधुनिक यन्त्रीकरण युगमें भी उत्पादनमें पूँजी और श्रम दोनों कारण हैं। पूँजी विना श्रमजीवी कुछ नहीं कर सकते। श्रमजीवी विना पूँजी भी कुछ नहीं कर सकती। फिर भी श्रमजीवीको जीवनके लिये धन चाहिये। पूँजीपतिको उत्पादनके लिये श्रम चाहिये, अतः पूँजीपति धनसे श्रम खरीदता है। इसीलिये वह मजदूरको निश्चित मजदूरी देकर आयका भागी होता है। कम्यूनिज्ममें भी पूँजीवाद चलता है। भेद इतना ही है कि पूँजीवादमें अनेक पूँजीपति होते हैं, साम्यवादमें सरकारी पदाधिरूढ़ लोगोंका एक गिरोह ही पूँजीपति होता है और इसके लिये तोड़-फोड़की परम्परा चलती रहती है। यदि वस्तुतः शासन-परिषद् और मजदूर-अधिनायकोंमें साधारण मजदूरोंसे कोई विशेषता न हो तो फिर संघर्ष क्यों? फिर ट्राटस्की, बेरिया आदिका सफाया क्यों? विरोधी व्यक्ति या समूहको समाप्त कर कुछ लोगोंके ही धाक जमानेका क्या अर्थ है?

भारतीय शास्त्रोंके अनुसार यद्यपि सब वस्तु सबकी नहीं होती, इसीलिये भूपति, भूपाल सब नहीं होते। भूमि, सोना, लोहा, ताँबा, पेट्रोल आदिकी खानें भी सबकी नहीं होतीं, अबतक भी सबकी नहीं मानी जातीं। प्राकृतिक वस्तु सबकी होती है, यह पक्ष मान्य होनेपर पुत्री-पत्नी आदिमें सबका हिस्सा मानना उपस्थित हो जाता है। अतएव प्रसिद्ध पितृ-पितामहादिकी सम्पत्तिमें ही प्राणियोंका अधिकार होता है। उसमें भी अधिकारके साथ कर्तव्य लगे हैं; 'पिण्डं दत्त्वा धनं हरेत्' पिण्ड दानादिक श्राद्ध करनेका जो अधिकारी है, वही पितृ-पितामहादिके दायका अधिकारी होता है। उनमें भी राजा आदिके प्रथम पुत्र ही मुख्य अधिकारी होते हैं। अन्य पुत्रोंको पोषण—गुजारा मिलता है। पिता पुत्रको 'त्वं यज्ञस्त्वं लोकस्त्वं ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंद्वारा अपने अकृत या अर्धकृत वेदाध्ययन, धर्मानुष्ठान, लोक साधनादिके सम्पादनका उत्तरदायित्व देता है और पुत्र 'अहं यज्ञः, अहं लोकः, अहं ब्रह्म' इत्यादि शब्दोंद्वारा उस उत्तरदायित्वको अङ्गीकार करता है। तभी वह सम्पत्तिका भी उत्तराधिकारी होता है। जो सम्पत्ति तो ले लेता है, परंतु कर्तव्यपालन नहीं करता; स्वाध्यायाध्ययन, धर्मानुष्ठान, लोकार्जनादि कर्तव्योंसे पराङ्मुख होता है, उस असाधुसे धन छीनकर कर्तव्यपालनमें तत्पर किंतु अर्थपीड़ित साधुपुरुषको प्रदान करनेका राजाको अधिकार है—

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः सम्प्रयच्छति।
स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ॥ (मनु० ११।१९)

अतएव पुत्रके रहते हुए पुत्री (कन्या) को श्राद्धादिका अधिकार नहीं है । इसीलिये पुत्रके रहते हुए भारतीय धर्मशास्त्रानुसार पुत्रीको दायाधिकार भी नहीं है । परंतु पुत्र न होनेपर पुत्रीको पिण्डदानका अधिकार है और पुत्राभावमें पुत्री दायाधिकारिणी भी मानी जाती है । इस तरह 'सबमें सबका अधिकार है', यह सिद्धान्त गलत है । फिर भी विश्वप्रपञ्चकी सृष्टिमें जैसे ईश्वर कारण है, वैसे ही शुभाशुभ कर्मोंद्वारा जीव भी विश्वसृष्टिमें कारण है । जीवोंके कर्म-वैचित्र्यसे ही सृष्टिमें वैचित्र्य है । इस दृष्टिसे विश्वप्रपञ्चमें जीवोंका भी अधिकार है; अतः विश्वके आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवीके उपयोग करनेका अधिकार सबको ही है । इसीलिये योग्यता एवं आवश्यकताके अनुसार चींटीको कणभर, हाथीको मनभरके अनुसार काम, दाम, आराम सबको ही मिलना चाहिये । इस रूपसे विशिष्ट भूमिसम्पत्ति आदिके अधिकारी विशिष्ट लोगोंको मान, आवास, स्थान एवं रोजी, रोजगार, उन्नतिका खुला रास्ता सबको ही मिलना चाहिये ।

द्वादशलक्षणी पूर्वमीमांसामें एक विचार चला है 'सर्वस्वदक्षिण याग' का, जिसमें सर्वस्व दक्षिणाकी चर्चा है । 'सर्वस्व' क्या है, माता-पिता भी सर्वस्वमें आते हैं या नहीं, उनका भी दान हो सकता है या नहीं, इत्यादि, इसपर उत्तर दिया गया कि सर्वस्वमें माता-पिता अवश्य हैं, पर उनका दान नहीं हो सकता; क्योंकि स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्वोत्पादन ही दान है । माता-पिताका स्वत्व इस प्रकारका नहीं है जिसकी निवृत्ति हो सके । पुनः विचार चला कि समग्र भूमिका दान हो सकता है या नहीं । यह विचार खण्ड भूमिके लिये नहीं है, क्योंकि खण्ड भूमिका तो दान होता ही है । इसीलिये शबर स्वामीने विचार करते हुए कहा कि 'अखण्डभूमि किसके पास हो सकती है ? हो सकती है सार्वभौम सम्राट्के पास, सर्वस्वदक्षिणमें अखण्डभूमिका दान प्रसक्त है, इसपर जैमिनिका सूत्र है—

'न भूमिर्दैया स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ।' (मीमांसादर्श० ६ । ७ । २ । ३)

अर्थात् राजमार्ग, चत्वर, देवादि स्थानसहित अखण्डभूमिका दान नहीं हो सकता; क्योंकि वह सबकी है । यद्यपि यहाँ कुछ लोगोंने इसी आधारपर यह भी सिद्ध किया है कि भूमि किसी व्यक्तिकी नहीं होती, किंतु वह समाजकी होती है, इसीसे उसका दान नहीं हो सकता, किंतु पूर्वापर देखनेसे यह गलत सिद्ध होता है । उसका अभिप्राय इतना ही है कि चत्वर, राजमार्गादिसहित भूमिका दान नहीं हो सकता, क्योंकि हो सकता है कि प्रतिग्रहीता राजमार्गमें ही खेत, उद्यान बनाये और दूसरोंको चलनेसे रोके । अतः अखण्ड भूमण्डलका दान नहीं हो सकता । हाँ, देवस्थान, चत्वर, राजमार्गादि छोड़कर सकल

भूमिका दान शतपथ, ऐतरेय आदिमें स्पष्ट वर्णित है। 'श्रीमद्भागवत' में ही आता है कि होता आदि ऋत्विजोंके लिये प्राची आदि सभी दिशाओंका दान श्रीरामचन्द्रने किया था, जिससे समस्त राज्यका दान सुस्पष्ट प्रतीत होता है।

सार यही है कि विशिष्ट वस्तुओंमें विशिष्ट लोगोंका अधिकार होनेपर भी सर्वसाधारणको भी उचित विकासका अवकाश मिलना चाहिये। इसीलिये खेती, व्यापार उद्योग या सेवा-सर्विस आदि द्वारा सबके ही निर्वाहका उपाय होना चाहिये। भले ही उसे किसी व्यक्तिकी सेवा न कहकर राष्ट्रकी सेवा कहा जाय। पारिश्रमिकको मजदूरी, या वेतन न कहकर हिस्सा कहा जाय। आजकल नौकरी, मजदूरी, गुलामी आदि शब्दोंसे बड़ी घृणा है, पर चल रहा है नामान्तरसे वही। वैसे सिद्धान्त है 'समानमें अङ्गाङ्गीभाव, शेष-शेषी भाव नहीं होता।' इसीको सेव्य-सेवकभाव, उपकार्योपकारक तथा भृत्य एवं स्वामीका भाव भी कहा जाता है। चेतन-चेतन समान है। उनमें शेष-शेषीभाव न होना जो उचित मानते हैं, उनके यहाँ भी शेष-शेषीभाव अवश्य चलता है। राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, फील्डमार्शलकी रुचिके अनुसार चलनेवाले, उनकी आज्ञा माननेवाले, सभी उनके शेष या अङ्ग ही हैं, चाहे उनका नाम जो रखा जाय।

वस्तुतः प्राणिमात्र अपनी सीमित सत्ताको अपरिमित, अनन्त सत्ता बनाना चाहता है। सीमित ज्ञान आनन्द एवं परिमित स्वतन्त्रता एवं सीमित शासन 'हुकूमत' को निःसीम बनाना चाहता है। शब्दोंका भेद अवश्य रहता है छोटोंसे हुकूमत स्वीकार कराना चाहता है। माता, पिता, गुरुओंसे अपना अनुरोध या प्रार्थना स्वीकार कराना चाहता है। फल दोनोंका एक ही है। उसकी रुचिके अनुसार छोटे-बड़े सभी काम करें। शब्दोंका ही हेरफेर है। पहले बिना पारिश्रमिक दिये काम करानेको बेगार कहा जाता था, आजकल बिना पारिश्रमिक दिये बड़े-बड़े लोगोंसे भी काम कराया जाता है, उसे बेगार न कहकर 'श्रमदान' कहा जाता है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दबाओंसे यह श्रमदान सबको करना पड़ रहा है। रामराज्यके अनुसार यद्यपि पूँजी, भूमि, खान आदि सबका नहीं है, जिन्हें पितृ-पितामहादि परम्परासे प्राप्त है, अथवा जिन्होंने जय, क्रय, पुरस्कार आदिके रूपमें पाया है, उनका है। उनसे होनेवाली आय मालिकको ही मिलनी चाहिये, साथ ही श्रमकी उचित कीमत उन्हें देनी पड़ती है। श्रमके मूल्य-निर्णयमें आवश्यकतानुसार आर्थिक असंतुलन दूर करनेकी नीतिसे एवं उचित रूपसे सबका ही जीवनस्तर उन्नत बनानेकी दृष्टिसे राज्योंका भी हस्तक्षेप हो सकता है। उधर मालिकोंके घरमें भी—

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन् वित्तं इहामुत्र च मोदते॥
(श्रीमद्भा० ८।१९।३७)

के अनुसार अतिरिक्त आयका पञ्चधा विभाजन कहकर समन्वयकी व्यवस्था की गयी है ।

रामराज्यका यह आदर्श था कि कोई किसीका शोषक, भक्षक या अनिष्ट-चिन्तक न बने। एक-दूसरेके पोषक, रक्षक, शुभचिन्तक बनें । कारण सब वेदादिशास्त्रोंके अनुसार अपने धर्मपर ही चलते थे, कोई किसीसे वैर नहीं करता था । परस्परकी विषमता दूर हो चुकी थी । जाति, सम्प्रदाय, पार्टी आदि बिना सबके साथ सुन्दर व्यवहार होता था । दैहिक, दैविक, भौतिक किसी प्रकारका ताप किसीको नहीं होने पाता था। निरपराध श्वानको भी मारनेवाला दण्डका भागी होता था, चाहे वह विद्वान्, बलवान् धनवान, ब्राह्मण हो या और कोई । यों तो योग्यता एवं आवश्यकताके अनुसार काम, दाम और आराममें तारतम्य हो सकता था; किंतु काम, दाम और आरामकी कमी किसीको न होती थी । दरिद्र, हीन, दुखी या मूर्ख कोई न था—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना ॥

रामराज्यके आदर्श चाहनेवालोंके द्वारा आज भी विविध वैषम्य और आर्थिक असंतुलन दूर करनेका प्रयत्न होना ही चाहिये। सदाका नियम है—जब किसी अङ्गमें रक्त, मांस, अस्थिकी कमी होती है तो आवश्यकतानुसार दूसरे अङ्गसे उसकी पूर्ति कर ली जाती है । इसीलिये सब अङ्ग परस्पर पोषक माने जाते हैं, शोषक नहीं । एकको कष्ट होनेसे सभी कष्ट मानते हैं । सब सहायताके लिये तत्पर रहते हैं । चरणमें काँटा लगता है तो नेत्र देखनेमें, हाथ काँटा निकालनेमें, मुख फूत्कारद्वारा दर्द दूर करनेमें लग जाते हैं । इसीलिये किसी अङ्गमें दर्द या दोष आनेपर दर्द और दोष मिटानेका प्रयत्न किया जाता है, अङ्गच्छेदके लिये नहीं, किंतु लाखों खर्च करके भी एक अंगुलीके दर्द दूर करनेका यत्न किया जाता है । अङ्ग-भङ्ग करनेसे सर्व शरीरको बचाया जाता है । इसीलिये कहा जाता है, नासिकापर हुई फोड़ाफुंसियोंको दूर करना उचित है, नाक काटना उचित नहीं । सिर-दर्द दूर करनेके लिये सिर काटना उचित नहीं । सिर बना रहे दर्द दूर हो, यही चिकित्सा है । रोगी मिटाकर रोग मिटाना बुद्धिमानी नहीं । रोगीका रोग मिटाना उचित है । रोगीको मिटाना चिकित्साका उद्देश्य नहीं है । जहाँ अनिवार्य होता है, एक अङ्ग-छेद बिना अङ्गीके विकृत होनेका भय रहता है, वहीं अङ्ग-छेद या आपरेशनकी अनुमति होती है । इसीलिये यहाँ यज्ञ, दान आदिकी पद्धति थी । इसके द्वारा आर्थिक असंतुलन दूर होता रहता था । एक सम्राट् भी सर्वस्वदक्षिण याग करनेके पश्चात् सामान्य मृन्मय पात्रसे ही अपना काम चलाता था ।

साम्राज्ञीके भी अङ्गमें माङ्गल्य सूत्र-मात्र भूषण रह जाता था। यज्ञोंमें सदा सेवा निरत शूद्रसे सेवा लेकर, व्यापारनिरत वैश्यसे वस्तुएँ खरीदकर, क्षत्रियपर रक्षाका भार देकर, ब्राह्मणको याजनका कार्यभार देकर सभीको द्रव्य समर्पण किया जाता था! याचक अयाचक हो जाते थे। प्रायः सब देनेकी बात सोचते थे, लेनेकी नहीं। देनेवाले हर ढंगसे देनेका रास्ता खोजते थे! दूसरे लोग न लेनेका मार्ग खोजते रहते थे। गाढ़ी कमाईके स्वल्प धनसे भी गुजारा करना ठीक समझा जाता था। प्रतिग्रहको निन्द्य समझा जाता था। मुफ्तखोरी, हरामखोरीसे सभी भरसक बचनेका प्रयत्न करते थे। लूट, खसोट, चोरीकी तो बात कोई सोचता ही न था। दूसरेकी सम्पत्ति, हीरा, रत्न, मणि, अन्नादि रास्तेमें पड़े हों या अपने घरमें ही कोई क्यों न डाल गया हो, आवश्यकता होनेपर भी विधिपूर्वक बिना पाये लेना अनुचित समझा जाता था—

परान्नं परद्रव्यं वा पथि वा यदि वा गृहे।
अदत्तं नैव गृह्णीयादेतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥

इधर भौतिकवादमें लेनेवाले हर प्रकारसे मरकर, मारकर भी लेना चाहते हैं। देनेवाले मर जाना मंजूर करते हैं, पर देना नहीं चाहते। जिसके घरमें तीन वर्षके लिये कुटुम्ब-पोषणकी सामग्री होती थी, वह शेष धन सोमयज्ञमें अवश्य खर्च कर देता था। साधारण दीन प्राणी भी अतिथि-सत्कारके लिये सदा लालायित रहता था। रन्तिदेव आदि तो ४८ दिनके निर्जल व्रतके बाद भी स्वल्प प्राप्त सामग्रीद्वारा सर्वप्रथम अतिथि-पूजा आवश्यक मानकर प्रवृत्त हुए; ब्राह्मण, अन्त्यज, पुल्कसको सब कुछ देकर सत्कार किया। मरते-दमतक ईश्वरसे यही चाहा कि 'मुझे स्वर्ग, अपवर्ग, राज्य आदि कुछ भी न चाहिये। केवल दुखी प्राणियोंका दुःख ही मुझे मिले। मेरे शुभकर्मोंसे प्राणियोंको संतोष हो।' धर्मभावनाकी प्रधानताके कारण ही राजा शिबिने कपोतकी रक्षाके लिये अपने शरीरका मांस और अन्तमें अपने आपको देकर कपोतकी रक्षा करनी चाही थी। राजा दिलीपने नन्दिनीकी रक्षाके लिये अपनेको सिंहका ग्रास बनानेका निश्चय कर लिया। इस भावनामें शोषण, उत्पीड़न, विताड़नाकी कल्पना भी नहीं हो सकती।

आर्थिक असंतुलन

आर्थिक असंतुलन मिटानेके लिये ही शास्त्रोंमें दानका महत्त्व कहा गया है। अपनी श्रद्धासे, दूसरोंके उपदेशसे, लज्जासे, भयसे किसी तरह भी देना परम कल्याणकारी है। शास्त्रोंमें यह भी कहा गया है कि जो धनी होकर दानी नहीं और निर्धन होकर तपस्वी नहीं, ऐसे लोग गलेमें पत्थर बाँधकर समुद्रमें डुबा देने योग्य होते हैं—

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥
(महाभा० उद्योग० ३३ । ६०)

रामराज्यकी अर्थनीतिमें उपार्जन और उपयोग दोनों ही धर्मनियन्त्रित होते हैं। पर्वत खनन जैसे अति क्लेशसे होनेवाले स्वल्प लाभको तथा धर्मातिक्रमण-जन्य लाभको एवं शत्रुचरणचुम्बनसे होनेवाले लाभको हेय समझना ही उचित है—

अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥
(महा० उद्योग० ३९ । ७७)

दूसरोंको बिना संताप पहुँचाये, सद्धर्मका अतिक्रमण बिना किये, खलोंके द्वारोंपर बिना घुटना टेके मिलनेवाले स्वल्प लाभको भी बहुत समझना चाहिये ।

अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम् ।
अनुल्लङ्घ्य सतां वर्त्म यत्स्वल्पमपि तद्बहु ॥
(शार्ङ्ग० पद्ध० स० १)

ईमानदारीकी कमाईसे सुख-शान्ति एवं समृद्धि होती है । प्रसिद्ध है कि ईमानदारीका धन पानीमें नहीं डूबता, आगमें नहीं जलता और चोरके पेटमें नहीं हजम होता । उसीसे बरकत भी होती है । वंश-वृद्धि भी उसीसे होती है । बेईमानीसे भले ही तत्काल बड़ा लाभ हो, पर वह टिकाऊ नहीं होता । उलटे सुख-समृद्धि लेकर चला जाता है । वंशवृद्धिके अनुकूल भी नहीं होता । न्यायार्जित धनमें भी टैक्स आदिका खर्च निकालकर अतिरिक्त आयमें पञ्चधा विभाग करके ही यथोचित उपयोग करना ठीक होता है । प्रथम विभाग धर्मार्थ राष्ट्रके हितमें व्यय किया जाय, द्वितीय भाग यशके लिये राष्ट्रमें व्यय किया जाय; तृतीय भाग अर्थार्जन या मूल-सम्पत्ति-रक्षणके काममें लाया जाय और चतुर्थ भाग अपने काममें लगाया जाय । पाँचवाँ भाग कुटुम्बी, नौकर, मजदूर आदि स्वजनोंके काममें लगाया जाय । पाँच हिस्सामें एक हिस्सा अपने काममें लगानेकी अनुमति है, परंतु उसमें भी नियन्त्रण है कि जितनेमें पेट भरे, तन ढके, उतने-हीमें ममत्व उचित है । अधिकमें ममत्व करना चौर्य है, उसे दण्ड मिलना चाहिये । इस तरह पाँच हिस्सेमें चार हिस्सा राष्ट्रहितके काममें आता ही है । एक हिस्सेमें भी यथावश्यक अपने उपयोगमें लगाना उचित है ।

तथाकथित राष्ट्रीकरणमें राष्ट्रकी भूमि, सम्पत्ति, कल-कारखानों, उद्योग-धंधोंका सरकारीकरण हो जाता है । व्यक्ति शासनयन्त्रका नगण्य कलपुर्जे बन जाता है । शासनयन्त्र किसी दल या दलके तानाशाहोंके हाथका कठपुतला बन जाता है । ऐसी तथाकथित सरकारें बिना नकेलके ऊँट, बिना लगामके घोड़े, बिना ब्रेकके मोटर, अथवा बिना ड्राइवरके स्टार्ट की हुई मोटरके समान खतरनाक हो

जाती हैं। सब वस्तुओंका राष्ट्रीकरण शास्त्र और धर्मसे विरुद्ध तो है ही, लौकिक दृष्टिसे भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नष्ट हो जानेसे व्यक्तिगत विकास रुक जाता है। व्यक्तियोंका समुदाय ही कुटुम्ब, नगर, राष्ट्र तथा विश्व होता है। जैसे एक-एक वृक्षों-के कट जानेपर वन कट जाता है, एक-एक सैनिकोंके नष्ट हो जानेपर सेना नष्ट हो जाती है, वैसे ही एक-एक व्यक्तियोंके परतन्त्र, अशिक्षित, निर्धन, निर्बल हो जानेपर राष्ट्र एवं विश्व भी वैसा ही हो जाता है। एक-एक व्यक्तियोंके हृष्ट पुष्ट, बलवान् तथा बुद्धिमान् होनेपर राष्ट्र तथा विश्व भी हृष्ट-पुष्ट बलवान् तथा बुद्धिमान् हो जाता है। व्यक्तिगत सम्पत्ति-शक्ति नष्ट हो जानेपर शासन निरङ्कुश हो जाता है, उसे हरा सकनेकी शक्ति जनताके पास नहीं रहती। नोटिस, पोस्टर, अखबार, सभा, आन्दोलन आदि सभी कामोंमें द्रव्यकी अपेक्षा होती है। सब चीज सरकारके हाथमें रहनेसे व्यक्ति एवं तत्समुदाय जनता कुछ न कर सकेगी। अतः जनतामें शक्ति भी रहना आवश्यक है।

वस्तुतः अतिसमता और अतिविषमता दोनों ही दोष प्रतीत होते हैं। हाथकी अङ्गुलियाँ भी यदि अति विषम हों तो भी, अति सम हों तो भी, बेढंगी लगेंगी। पेट, पैर, हाथ सम हों तो भी ठीक नहीं और यदि पेट बहुत मोटा, पैर, हाथ बहुत पतले हों तो भी रोग ही समझा जायगा। इस तरह आवश्यक है कि योग्यता-आवश्यकताके अनुसार सभीके काम, दाम, आरामकी व्यवस्था हो। भले ही चींटीको कनभर, हाथीको मनभरके अनुसार योग्यता और आवश्यकता-का ध्यान रखा जाय, परंतु आरामकी कमी नहीं होनी चाहिये। केन्द्रीकरण या राष्ट्रीकरणकी अपेक्षा विकेन्द्रीकरण सदा ही सर्वश्रेष्ठ है। इसमें एक तो सम्पत्तिसम्बन्धी परम्परागत ईश्वरीय नियमका रक्षण होता है, 'सप्तवित्तागमा धर्म्याः'के अनुसार दाय, जय, क्रय, पुरस्कारादिमें प्राप्त सम्पत्ति वैध मानी जायगी, पितृ, पितामहकी सम्पत्तिमें पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रका जन्मना स्वत्व स्वीकृत होगा तथा जय, क्रयादिद्वारा भी व्यक्तिगत विकासका अवकाश रहेगा। अतिरिक्त आयका पञ्चधा विभागद्वारा धार्मिक दृष्टिसे कर्तव्य-बुद्धिसे राष्ट्रके हितार्थ अधिकांश आयका व्यय होगा। मूल सम्पत्तिका भी अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, संग्राम आदि असाधारण परिस्थितिमें, जैसे सरकारी खजानेकी सम्पत्तिका राष्ट्रहितार्थ विनियोग होता है, वैसे ही व्यक्तिगत मूल सुरक्षित धन भी काममें आ सकेगा। इस तरह धर्मनियन्त्रित नीतिमें आर्थिक असंतुलन भी नहीं होता। व्यक्तिगत विकासका अवकाश बना रहता है। पितृ-पितामहादि-परम्पराप्राप्त दायाधिकार भी बना रहता है। दाम, आरामकी विशेषताके लिये ही काममें विशेषता-सम्पादनकी प्रवृत्ति होती है। तभी विविध प्रतियोगिताएँ भी सार्थक होती हैं। लौकिक कहावत है कि 'हानिका डर एवं लाभका लोभ ही प्राणीको प्रगतिशील

बनाता है। भय और लोभके बिना आमतौरपर प्राणी निरुत्साह रहता है। सब वस्तुओंके राष्ट्रियकरणसे मनुष्य भी यन्त्रवत् काम करता है, ममत्व न होनेसे तत्परता और सावधानीसे काम नहीं होता। जिस नौकरशाहीकी पहले निन्दा की जाती थी, वही नौकरशाही सिरपर आ जाती है। यही कारण है कि नौकरोंकी देख-रेख रखते हुए भी गोदामोंमें लाखों टन अन्न सड़ जाते हैं। उपार्जन करनेवालोंको जितनी ममता अपनी छोटी अन्नराशिमें होती है और जितनी तत्परतासे वह उसकी रक्षा करता है, सरकारी नौकरोंमें न उतनी ममता ही होती है और न तो रक्षणका ही ध्यान रहता है। यही स्थिति बड़े-बड़े कामोंकी है। कागजी घोड़े दौड़ानेमें करोड़ों खर्च हो जाते हैं, काम कुछ नहीं हो पाता। दामोदर-घाटी, हीराकुण्ड आदिके कामोंमें कितना व्यय और कितनी असफलता हुई, यह स्पष्ट ही है पंजाबके बाँध और विद्युत्केन्द्र निर्माणमें भी यही हालत है।

अस्तु ! अभिप्राय यह है कि जब विकेन्द्रीकरणके पक्षमें अनेक अच्छाइयाँ हैं तो आस्तिकोंको उसे व्यवहारमें लानेका प्रयत्न करना चाहिये। सबसे पहले तो प्रत्येक नागरिक यह नियम बनाये कि उसके ग्राम, नगर, पड़ोसमें कोई व्यक्ति भूखा, नंगा नहीं रहने पायेगा। बिना भूखेको खिलाये न खायँगे। रोगीका इलाज-प्रबन्ध बिना किये विश्राम न करेंगे। विशेषतः शासक तो कुटुम्बपतिके तुल्य होता है। जैसे कुटुम्बके भोजन, वस्त्रका प्रबन्ध कर लेनेके बाद ही कुटुम्बपति भोजन, वस्त्र ग्रहण करता है, उसी तरह राष्ट्रके भोजन, वस्त्रादिका प्रबन्ध करा लेनेके बाद ही शासकोंको भोजन, वस्त्रादि ग्रहण करना चाहिये। इतना ही क्यों, भगवान् शिवके समान कुटुम्ब-पति अमृत कुटुम्बके अन्य सदस्योंको बाँट देता है और स्वयं विषको ही ग्रहण कर लेता है। कौस्तुभ, लक्ष्मी, ऐरावत, उच्चैःश्रवा, अमृत आदि अन्य सभी रत्न देवताओंके हिस्सेमें पड़े, विष शंकरके हिस्सेमें। विषको भी शिवजीने पेटमें रखकर न तो पेटको ही विषैला बनाया और न मुखमें रखकर मुखको ही जहरीला बनाया; बल्कि उसे कण्ठमें ही रख लिया। ठीक ऐसे ही कुटुम्ब या राष्ट्रके मालिक पुरुषको कठिनाइयोंको विषके घूँटके तुल्य स्वयं सहना पड़ता है। वह उसकी कटुतासे न पेटको, न मुखको ही कड़वा बनने देता है। पेटका विषैलापन या मुखका विषैलापन दोनों ही संघटनको छिन्न-भिन्न कर देते हैं। परंतु जब कोई अच्छी वस्तु, अच्छे वस्त्र, भूषण, भोजनादि मिलें तो घरका कोई मालिक अपने बच्चोंकी और अपनी परवा न कर कुटुम्बके अन्य सदस्योंको ही बाँट देता है। तभी उसके नियन्त्रणमें कुटुम्बका संचालन ठीक चलता है।

उत्पादन और नियम

उत्पत्तिके पुराने साधनों एवं पद्धतियोंमें रद्दोबदल होनेसे उत्पादनमें

विस्तार अवश्य हो जाता है, उत्पन्न वस्तुओंमें सस्तापन भी आता है तथा आमदनीमें भी वृद्धि हो जाती है। पर माल खपतके लिये बाजारोंकी आवश्यकता, माल भेजने तथा कारखानोंके लिये कोयले, पेट्रोलके खानोंकी आवश्यकता, बाजारों एवं कोयले-पेट्रोल आदिके लिये संघर्ष एवं बेकारीकी समस्या अवश्य खड़ी होती है। इसीलिये रामराज्यमें उद्योगोंका विकेन्द्रीकरण अभीष्ट है। छोटे व्यवसायों-द्वारा स्वावलम्बी ढंगसे बेकारी दूर कर व्यापकरूपसे रोजगारोंकी व्यवस्था की जाती है। कम्यूनिष्ट यद्यपि बड़ी-बड़ी पुस्तकोंमें कलकारखानोंके द्वारा गरीबोंके रोजगार छिन जानेकी चीख—पुकार मचाते हैं; परंतु उन्हीं कलकारखानोंका ही वे समर्थन भी करते हैं। इतना ही क्यों, वे कलकारखानोंके विस्तारसे ही मजदूरोंका लाखोंकी संख्यामें एकत्रित एवं संघटित हो सकना तथा मजदूर-आन्दोलनोंके द्वारा कम्यूनिष्ट राज्य-स्थापनाका भी स्वप्न देखते हैं। अस्तु, ईश्वर एवं धर्मकी भावना दृढ़ होनेसे वैभव एवं सम्पत्तिवाले सम्पत्तिका सदुपयोग राष्ट्रके पोषणमें तथा जीवन-स्तर उन्नत करनेमें करेंगे। बेकारी दूर करनेके काममें सम्पत्ति उपयुक्त होगी। इसीलिये प्राचीनकालमें आजकी अपेक्षा कहीं अधिक सम्पत्ति, शक्तिबल, विद्या, दक्षताके रहनेपर भी असंतुलित विषमता, बेकारी, कलह आदि नहीं था। ईश्वर-धर्मकी भावना घटनेसे ही मात्स्यन्याय परस्पर भक्ष्य-भक्षकभाव, शोषक-शोषित भाव बढ़ता है। पर उसे ही मार्क्सवादी गुण मानते हैं। वर्ग-कलह, वर्ग-विद्वेष, वर्ग-विध्वंस ही जिसके सिद्धान्त एवं संस्थाका आधार हो, वही जिसके जीवन एवं उन्नतिका एकमात्र साधन हो, उससे विश्वशान्ति एवं विश्वमें समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताकी आशा करना व्यर्थ है। अस्तु।

उत्पादन-विस्तारसे कुछ भौतिक परिवर्तन होनेपर भी धर्मदर्शन एवं राजनीतिक नियमोंमें स्वत्वोंके रद्दोबदलका कोई प्रसङ्ग नहीं होता। अमेरिका आदिकोंमें बिना मौलिक रद्दोबदलके भी काम चलता ही है। आर्थिक दशा, सामाजिक, धार्मिक नियमोंकी नींव ही नहीं, जिससे आर्थिक-दशामें परिवर्तन होने-से धार्मिक नियमरूप भवन ढह पड़ें और उनमें रद्दोबदल आवश्यक हो।

जो कहते हैं कि 'जिन लोगोंने उत्पादन साधनोंमें रद्दोबदल कर लिया उन्हें उत्पन्न हुई वस्तुओंके वितरणसम्बन्धी नियमोंमें भी रद्दोबदल कर लेनेका अधिकार मानना न्यायसङ्गत है। अतः पुत्र-पौत्रादिका पिता-पितामहादिकी सम्पत्तिमें दायरूपसे बपौती सम्पत्तिके रूपमें अधिकार माननेके नियम भी रद्दोबदल करके तथा सभी स्वत्व-सम्बन्धी पुराने नियमोंमें भी रद्दोबदल करके समाजीकरण या राष्ट्रियकरणका सिद्धान्त मानना ठीक ही है। पर यह पक्ष विचारणीय है कि उत्पादन साधनोंमें रद्दोबदल करनेका मुख्य श्रेय किसे है। क्या साधारण मजदूर-समुदायको ? कहना पड़ेगा कि बड़े-बड़े वैज्ञानिकों, अन्वेषकोंको ही इसका श्रेय होना

चाहिये। दूसरा श्रेय वैज्ञानिकोंको सहायता, प्रोत्साहन एवं सामग्री देनेवाले धनवानोंको होना चाहिये। जबतक वे पुराने स्वत्वके नियमोंमें रद्दोबदल नहीं चाहते, केवल मजदूरोंकी इच्छामात्रसे रद्दोबदल कैसे हो सकता है ? बड़े-बड़े वैज्ञानिक, आविष्कारक, अन्वेषक एवं धनवान् आदि तो कम्युनिष्टोंके मतानुसार शोषित वर्गमें नहीं आ सकते, वे तो शोषक वर्गमें ही चले जायँगे। फिर वे पुरानी व्यवस्थामें रद्दोबदल क्यों चाहेंगे ? केवल आविष्कारकोंके आविष्कारों, यन्त्रों एवं मजदूरोंके प्रयत्नसे ही नहीं उत्पादन होता, किंतु उसमें पूँजी भी अपेक्षित होती है। यदि पूँजी न हो तो यन्त्र ही कहाँसे खरीदे जायँ ? मजदूरोंके लिये मजदूरी कहाँसे आये ? वैज्ञानिकों, अन्वेषकोंको सुविधा भी कहाँसे मिले ? अतः उत्पादन-साधनमें रद्दोबदलका मुख्य श्रेय पूँजीपतिको ही क्यों न दिया जाय ? इसके अतिरिक्त कोयला, पेट्रोल, लोहा, ताँबा, गन्धक आदिकी खानें तथा अन्य कच्चे माल न हों तो वैज्ञानिक, पूँजीपति, मजदूर कोई भी उसका उत्पादन नहीं कर सकेगा, न यन्त्र बना सकते हैं, न उत्पादन-साधनोंमें ही रद्दोबदल कर सकते हैं। वस्तुतः ईश्वर ही वह वस्तु है जिसके अखण्ड भण्डार प्रकृतिमें ही विभिन्न खाने हैं। जिसकी पृथ्वीसे ही लोहा, सोना, हीरा, गन्धक, पारा, कपास, अन्न, फल आदि कच्चे माल पैदा होते हैं। इनके बिना पूँजीपति, वैज्ञानिक, मजदूर सब बेकार हैं।

इतना ही क्यों, वैज्ञानिकोंके बल, दिमाग, बुद्धि भी (जिसके द्वारा वे भिन्न-भिन्न आविष्कार करते हैं) किसी लौकिक अन्वेषकका आविष्कार नहीं है; किंतु ईश्वरका ही आविष्कार है। मजदूरोंके देह-मन-बुद्धिमें कार्यक्षमता भी ईश्वरदत्त ही है। अतः ईश्वरीय शक्तियों एवं वस्तुओंके सहारे कुछ अन्वेषण या उत्पादन बढ़ाने मात्रके कारण कुछ व्यक्तियों या व्यक्तिसमूहोंको ईश्वरीय धार्मिक सामाजिक नियमोंमें रद्दोबदल करनेका अधिकार हर्गिज नहीं है। रहा यह कि 'बहुमतके आधारपर उनका रद्दोबदल किया जाय।' तो यह भी ठीक नहीं। कारण, मार्क्सवादी बहुमतका कोई महत्त्व नहीं मानते। जिसमें शोषक पूँजीपतिके मतका भी उपयोग किया जा सके, ऐसा बहुमत कम्युनिष्टको सर्वथा अमान्य है। शोषकों एवं शोषितोंके वोटोंका समानरूपसे महत्त्व देनेका कम्युनिष्ट मखौल उड़ाते हैं। दूसरोंके यहाँ भी बहुमत उसी हदतक आदरणीय हो सकता है, जहाँतक बहुमत विशेषज्ञोंके मतसे न टकराये। जैसे रोगीकी चिकित्साके सम्बन्धमें चिकित्साविशेषज्ञ वैद्य-डाक्टरके मुकाबिले सामान्य जनोंके बहुमतका कोई मूल्य नहीं है। घड़ी आदि यन्त्रोंके सुधार या निर्माण आदिके सम्बन्धमें यन्त्रविशेषज्ञ एवं शिल्पीके मुकाबिले सामान्य जन-बहुमतकी कोई कीमत नहीं है। एक नेत्रवान्‌के कथनानुसार शङ्खकी शुक्लताका निर्णय होगा। दस या दस लाख अथवा दस करोड़ अन्धोंकी सम्मतिसे शङ्खकी कृष्णता अमान्य होती है। ठीक

इसी तरह अपौरुषेय शास्त्र आर्ष-विज्ञानके आधारपर धर्मका स्वरूप निर्णय किया जाता है, उसमें रद्दोबदलकी बात सोची नहीं जा सकती है। सामान्यजनोंके बहुमतके आधारपर वैज्ञानिकों या मजदूरोंकी सम्मतिसे धर्ममें रद्दोबदल करनेकी बात वैसी ही मूर्खताकी होगी, जैसे गँवारोंकी सम्मतिसे हवाई जहाजका पुर्जा सुधारना और वकीलोंसे हृदयका आपरेशन कराना। वैद्यों-डाक्टरोंसे वायुयानके कल-पुर्जे सुधारना शुद्ध मूर्खता है। जो वस्तु उपयोगाई नहीं रह जाती, वह अवश्य छूट जाती है; परंतु चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, जल आदिके समान शास्त्रोक्त धर्म-नियम कभी अनुपयोगी नहीं होते। ईश्वर, उसकी उपासना एवं तदुपयोगी धर्म और नीति भी कभी अनुपयोगी नहीं होते। प्राचीनता-नवीनताका संघर्ष, प्राचीनताका विनाश एवं तदनुकूल तर्क, दर्शन, विवेक, वस्तुतः अविवेक ही है। पुराण पुरुष, आत्मा, परमात्मा, आकाश, वायु, चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी आदिके समान, धार्मिक दार्शनिक राजनीतिक सत्य सिद्धान्त, न्याय, उपासना आदि प्राचीन होनेपर भी त्याज्य नहीं हैं। कालरा, प्लेग आदिके तुल्य वर्ग-कलह, वर्ग-द्वेष, अधर्मका प्रचार आदि नवीन होनेपर भी त्याज्य ही हैं। कभी चकमक पत्थर, कभी अरणीमन्थन, कभी दियासलाई तथा आधुनिक अन्य वैज्ञानिक साधनोंसे अग्नि प्रकट किया जाता है, परंतु एतावता अग्निके दाहकत्व, प्रकाशकत्व आदि धर्मोंमें परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। इसीलिये बुद्धिमानोंने कहा है—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि सर्वं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥
(मालविकाग्निमित्रम् १। २)

अर्थात्—सब वस्तु पुरानी होनेसे ही अच्छी नहीं एवं नयी होनेसे ही खराब नहीं। सत्पुरुष परीक्षा करके पुरानी या नयी वस्तुओंमें जो भी उचित या श्रेष्ठ हो उसे ग्रहण करते हैं। मूढ़ लोग ही परप्रत्ययनेय बुद्धि होते हैं। यही न्याय आज नवीनतावादियोंपर भी लागू है। वे भी नवीन होनेसे ही किसीको ठीक समझते हैं तथा प्राचीन होनेसे ही धर्म, दर्शन, नीति, सबका परित्याग करनेके लिये प्रस्तुत होते हैं। उन्हें भी निष्पक्ष दृष्टिसे प्राचीन, नवीनकी परीक्षा करनी चाहिये। उचित होनेसे प्राचीन या नवीन किसी भी पक्षका ग्रहण किया जा सकता है। उपर्युक्त युक्तियोंसे दिखलाया जा चुका कि ईश्वरीय शाश्वत, धार्मिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक नियमोंमें परिवर्तन नहीं हो सकता।

वर्ण-विद्वेष

कहा जाता है कि "जिन प्राचीन हब्शी-भिल्ल आदि जंगली जातियोंमें प्राचीन कालके अनुसार जीवन व्यतीत होता है, उनमें व्यक्तिगत सम्पत्तिका अभाव है अथवा उन्नति नहीं हुई। उनमें न वर्ग-भेद है, न किसी वर्ग-विशेषका

अधिकार है—न वर्ग-विरोध है । गाँवके मुखिया, पण्डित, पञ्च, प्रचलित रीतियों, धार्मिक अनुष्ठानोंका पालन कराते हैं, परंतु व्यापारकी वृद्धि और युद्धोंके फल-स्वरूप जब प्राचीन व्यवस्थाका लोप हो जाता है, व्यक्तिगत सम्पत्ति बढ़ने लगती है, तभी उन लोगोंमें वर्गभेद उत्पन्न होता है। कुछके पास सम्पत्ति होती है, कुछके पास नहीं होती। सम्पत्तिवाला वर्ग शासन चलाता है, कानून बनाता है, नवीन प्रथाओं और संस्थाओंकी सृष्टि करता है। इन सब कामोंका उद्देश्य होता है, उस अधिकारी वर्गके हितों और स्वार्थोंकी रक्षा करना। उस वर्गके समाजकी विचारधारा उसके ही हितों एवं स्वार्थोंके अनुकूल बहने लगती है। जबतक ये स्वार्थ कुछ अंशोंमें सर्वसाधारणकी भलाईके अनुकूल होते हैं, जबतक उत्पादक शक्तियों एवं उत्पादन प्रणालीमें बहुत अधिक विरोध पैदा नहीं हो जाता, तबतक विभिन्न वर्गों एवं समूहोंमें समझौता या सुलह बनी रहती है। जब उत्पादक शक्तियों एवं उत्पादन-प्रणालीमें भेद या विरोध बढ़ जाता है, उस प्रणालीसे अधीन वर्गकी आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो सकतीं, तब वर्गकलह आरम्भ हो जाता है। फिर या तो उस समय कानूनी समझौता, शासनसुधार होता है अथवा उस समाजका विनाश होता है और नवीन सामाजिक प्रणालीका आविर्भाव होता है। यहूदी, युनानी, रोमन आदि लोगोंका इतिहास ही इसका उदाहरण है। इस तरह अमीरों, गरीबों, कुलीनों, अकुलीनों, छोटों, बड़ों, गुलामों, नागरिकोंका संघर्ष जारी रहता है। अन्तमें इन समाजोंका उच्छेद होता है। साथ ही इन वर्ग-कलहोंसे ज्ञान भण्डारकी वृद्धि होती है। मालिकों, गुलामों, जमीनदारों, किसानोंके समान ही पूँजीपतियों, श्रमजीवियोंका भी वर्गकलह अनिवार्य होता है और इससे क्रान्तिका जन्म तथा नवीन सिद्धान्तोंका प्रचार होता है। इस ऐतिहासिक विरोध और कलहके अनुसार ही बौद्धिक और राजनीतिक विरोधकी उत्पत्ति होती है। यह बौद्ध विरोध जननेताओं या पैगम्बरोंद्वारा विभिन्न मत-मतान्तरोंके रूपमें प्रकट होता है। उदाहरणार्थ, वैदिक, बौद्ध, ईश्वरवादी या अनीश्वरवादी, कैथलिक, प्रोटेस्टेण्ट, भौतिकवादी, अध्यात्मवादीका नाम लिया जा सकता है। ये सभी मत-मतान्तर चाहे जितने भी सूक्ष्म और आध्यात्मिक प्रतीत होते हों, सांसारिक जीवन और भौतिक प्रपञ्चसे कितने भी पृथक् क्यों न प्रतीत होते हों, परंतु उनके मूलका पता लगानेसे विदित होगा कि उनका भी आधार भौतिक ही है। समाजके आर्थिक आधार और उत्पत्तिकी प्रणालीमें विरोध उत्पन्न हो जाने और इसी कारण भिन्न-भिन्न वर्गों—दलोंमें कलह आरम्भ होनेसे ही सभी मत-मतान्तरोंकी उत्पत्ति हुई है।

“इसी तरह समस्त नैतिक, राजनीतिक, अर्थशास्त्र-सम्बन्धी प्रणालियों (जो कि प्रधानता पानेके लिये परस्पर प्रतियोगिता कर रही हैं) और समस्त प्रादेशिक या व्यापक युद्धोंके तात्कालिक कारण चाहे कुछ भी हों, पर मूलकारण सामाजिक

आर्थिक दशा ही है। इसी तरह आदर्शवाद, उपयोगितावाद, एकतन्त्र, प्रजातन्त्र, रक्षित व्यापार, मुक्त व्यापार, राज्यनियन्त्रित अर्थव्यवस्था, स्वतन्त्र आर्थिक व्यवस्था, समाजवाद, व्यक्तिवाद आदि जितने भी सिद्धान्त घोषित किये जाते हैं, उनके समर्थनमें चाहे जितने भी उच्च भावनायुक्त तर्क उपस्थित किये जायँ और उच्च उद्देश्य बतलाये जायँ, पर उन सबकी उत्पत्ति समाजके भौतिक आधार और उत्पादन-प्रणालीद्वारा ही होती है।"

कम्युनिष्ट मैनिफिस्टोंमें ऐतिहासिक भौतिकवादका सारांश इस प्रकार कहा गया है—"इसे समझनेके लिये किसी गम्भीर अन्तर्ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है कि मनुष्यकी भौतिक अवस्था और सामाजिक जीवनकी दशामें परिवर्तन होनेसे ही उसके मानसिक भावों, विचारों और धारणाओंमें भी परिवर्तन होता है। संसारके विचारोंका इतिहास यही बताता है। भौतिक उत्पत्ति, पैदावारमें परिवर्तन होनेसे बौद्धिक उत्पत्तिमें भी परिवर्तन होता है। जब जिस वर्गका शासन होता है तब उसके ही विचारोंकी प्रधानता होती है। जीवन-निर्वाहकी प्राचीन प्रणालीका नाश होते ही, प्राचीन विचारोंका ही लोप हो जाता है। यूरोपमें ईसाई धर्म तथा भारतमें बौद्धधर्मका आविर्भाव एवं पुराने धर्मका लोप भी आर्थिक दशाके बदलनेसे ही हुआ था। उत्पत्तिकी प्रणाली, सामाजिक वर्गविभाग और सम्पत्ति-सम्बन्धी नियम जब उत्पादक शक्तियोंके लिये बन्धनरूप बन जाते हैं और विभिन्न वर्गोंका स्वार्थ, विरोध वर्गकलहका रूप धारण कर लेता है, तब सामाजिक क्रान्तिका युग आता है। इससे प्राचीन समाज नष्ट होकर विस्मृतिके गर्भमें चला जाता है। परंतु वह नष्ट होनेसे पहले जीवनके नवीन मार्गका निर्माण कर देता है, जो उत्पादक-शक्तियोंके अनुरूप होता है। इस नवीन समाजकी वृद्धि चाहनेवाले लोग क्रान्तिकारी भावनाओंसे उत्पन्न होनेवाली समस्याओंको हल करनेमें संलग्न हो जाते हैं। इस तरह उत्पादक शक्तियोंकी उन्नति और पूर्णता ही मनुष्यजातिके विकासका सार है।

"आदिकालीन, मध्यकालीन, वर्तमानकालीन उत्पादन-प्रणालियोंको मनुष्य-समाजकी प्रगतिके विभिन्न युग कहते हैं। वर्तमान पूँजीवादी समाजकी उत्पादन-प्रणाली इस विरोधयुक्त शृङ्खलाकी अन्तिम कड़ी है। यह विरोध व्यक्तिगत नहीं, किंतु समाजकी परिस्थितिद्वारा उत्पन्न होता है। साथ ही पूँजीवादके भीतर जो उत्पादक शक्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, वे इस विरोधको मिटानेका मार्ग भी प्रशस्त कर रही हैं। इस प्रकार पूँजीवादी समाज मनुष्य-जातिके प्रागैतिहासिक युगका अन्तिम अध्याय है।"

उपर्युक्त बातोंका खण्डन पूर्वोक्त युक्तियोंसे ही हो जाता है। कम्युनिष्ट वर्ग-कलह, वर्गविद्वेष या वर्गसंघर्षको ही वर्गविकास एवं ज्ञान-भण्डार-वृद्धिका कारण कहते हैं। साथ ही वर्गभेदको ही विकास या उन्नतिका लिङ्ग मानते हैं। अतएव

हब्शी या भिल्ल आदि जंगली अविकसित जातियोंमें वर्गभेदका अभाव बतलाते हैं। परंतु यह सुविचारित सिद्धान्त है कि सुमति, दक्षता, सदाचार, सद्धर्म, नियन्त्रण, सहिष्णुतासे वैमत्य मतभेद मिटता है और संघटन, समन्वय, सामञ्जस्य एवं सौमनस्य होता है। इसका महत्त्व ऋग्वेद तथा अथर्ववेदमें भी सौमस्य सूत्रोंके द्वारा कहा है—

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जायताम्'

आदि मन्त्रोंके द्वारा संगमन, संवदन तथा सौमनस्य-संघटन आदिको अभ्युदय-का कारण कहा गया है। 'मा विद्विषावहै' आदि मन्त्रोंद्वारा ईश्वरसे भी परस्पर द्वेष मिटानेकी प्रार्थना की गयी है। जहाँ दुर्बुद्धि, दुर्भावना, असहिष्णुता, उच्छृङ्खलता बढ़ती है, वहीं विद्वेष, वैमनस्य, विवाद तथा विनाश आदि होता है। यदि कलह, संघर्ष, विद्वेष, विनाश आदि ही सभ्यता या प्रगतिशीलता है और संघर्ष, विनाश, वर्गविद्वेष आदि न होना पिछड़ना या असभ्यता है तो कोई भी बुद्धिमान् कहेगा कि ऐसी सभ्यतासे असभ्यता ही ठीक है, ऐसी प्रगतिसे अप्रगति ही ठीक है। तभी तो आजके बर्बरतापूर्ण नरसंहार, अशिष्टता, असभ्यता, दुर्दान्तताका नग्न अकाण्ड ताण्डव एवं मानवताको त्रस्त करनेवाली, पशुताको मात करनेवाली स्वेच्छाचारिता, विलासिताको प्रगति एवं सभ्यता माना जा रहा है। वस्तुतः यह विपरीत बुद्धि है। वैभव, सम्पत्ति, उन्नति, प्रगति, विघटन, वैमनस्य कभी भी वर्गविनाशका कारण नहीं होता। गरीबी भी विघटनकी कारण नहीं होती। प्रमाद, मूर्खता, विलासिता, स्वेच्छाचारिता, स्वार्थपरायणता ही विघटन, वैमनस्यका कारण होती है। इन दोषोंसे युक्त होनेसे गरीबों-अमीरों सबमें विघटन होता है।

चाहे अमीर हों या गरीब, जंगली हों या नागरिक, प्रगतिशील हों या अप्रगतिशील, मनुष्य हो या देवता अथवा पशु ही क्यों न हों, जहाँ दुर्बुद्धि, अविवेक और स्वार्थपरायणता बढ़ती है, वहीं विद्वेष, वैमनस्य, विघटन और विनाश बढ़ता है। जहाँ सद्बुद्धि, सदाचार, नियन्त्रण, सहिष्णुता है, वहाँ प्रेम संघटन उन्नति ही होती है। इसीलिये जंगली पशुओं, मनुष्यों, देवताओंमें भी इन गुणोंके आधारपर संघटन रहता है। गुणोंके अभाव एवं दोषोंके बढ़ जानेपर विघटन आदि बढ़ता है। मधुमक्खियोंका संघटन प्रसिद्ध है। कपोतों एवं अन्यान्य पशु-पक्षियोंमें भी संघटन होता है। कहते हैं, कुछ कपोत जालमें फँस गये, एकमत होकर एककी रायसे वे सब जाल लेकर उड़ गये एवं अपने मित्र हिरण्यक-मूषककी सहा-यतासे मुक्त हो गये। जंगली गायें एकत्र होकर सिंहका भी मुकाबला करती हैं। वे निर्बल, बाल-वृद्ध पशुओंको मध्यमें रखकर प्रबल साँड़ोंको आगे करके सिंह-व्याघ्रका मुकाबला करती हैं और अपने आपको बचा लेती हैं। कम्युनिष्टोंको भी मजदूर-संघटनसे अथ च दृढ़ प्रयत्नसे ही सफलता मिल सकती है। संघटनमें केवल एक

स्वार्थ ही नहीं, किंतु सहिष्णु मनकी एकता ही मूल कारण है। एक उद्देश्यकी सिद्धिके लिये एक सूत्रमें सम्बन्धित व्यक्तियोंका ग्रन्थित होना ही संघटन है। महान् प्रयोजन होनेपर भी असहिष्णु, स्वेच्छाचारी संघटित नहीं हो सकते। कथञ्चित् किसी स्वार्थके लिये कुछ क्षणके लिये संघटित हो भी जाते हैं तो भी पद प्राप्त हो जानेपर स्वार्थके टकराते ही संघटन छिन्न-भिन्न हो जाता है। यही बात जडवादियोंके संघटनोंमें देखी जाती है। अधिकार-प्राप्तिके लिये 'सफाया, या 'कण्टक-शोधन' के नामपर अधिकारारूढ लोग अपने पुराने साथियोंको ही मौतके घाट उतारने लगते हैं। अमृत-प्राप्तिके लिये देवताओं एवं दानवोंमें भी संघटन हुआ था, पर स्वार्थमें आघात आते ही भीषण देवासुर-संग्राम हुआ। जालमें फँसे हुए लोमश बिल्लेने, दो शत्रुओंसे घिरे हुए पलित मूषकका सन्धि-प्रस्ताव भी स्वीकार किया था। विडालसे मित्रता करके मूषक अपने शत्रु सर्प एवं श्येनसे मुक्त हुआ। आत्मरक्षाका ध्यान रखते हुए शिकारीके समीप आनेपर शीघ्रतासे जाल काटकर बिलावको भी बचा दिया। परंतु कार्य पूर्ण होते ही फिर दोनों पृथक् हो गये। फिर तो बिलावके बुलानेपर भी मूषक उसके पास नहीं गया। परंतु यदि किसी अहिंसकके प्रभावसे मूषक-मार्जारके स्वाभाविक वैर भी छूट जाते हैं तो वह सदाके लिये ही वैर छोड़ देते हैं। वे एक दूसरेके भक्षक या शोषक न रहकर रक्षक या पोषकही रहते हैं। यह चन्द्रमा मुनिके आश्रम एवं रामराज्यके उदाहरण-से स्पष्ट किया जा चुका है।

वैभव, सम्पत्ति, अधिकार या राज्य-प्राप्त होनेपर प्रमादको अधिक अवसर होता है। तपस्यासे राज्य एवं राज्यसे मद उत्पन्न होता है। दुखी, दरिद्र, उत्पीड़ित प्राणीको न्याय, धर्म, ईश्वर प्रिय लगते हैं। वह चाहता है कि 'सबके साथ न्याय हो, सभी धर्मात्मा हों।' परंतु जब इस शुभ भावना एवं तपस्यासे उसे राज्य प्राप्त होता है, तब वह न्याय, धर्म, ईश्वरादिको भूल जाता है। फिर वही घमण्ड, प्रमाद, शोषणकी प्रवृत्ति चलती है। अन्तमें उसके सामने पतन एवं नरकादि ही आते हैं। इसी ऐश्वर्य-मदके उन्मादसे हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, वृत्र, रावण-कंसादिका तथा इन्द्र, दक्ष, नहुष आदिका पतन हुआ था। इन्द्रके प्रमादसे त्रैलोक्यलक्ष्मी नष्ट हो गयी थी। पुनः महती तपस्या एवं प्रयत्नसे उसका प्रादुर्भाव हुआ था। पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि सबका ही पतन होता है, जो राज्य, ऐश्वर्य या सम्पत्ति करके भी सावधान रहते हैं, शास्त्र एवं धर्मके नियन्त्रणमें बने रहते हैं, समाज, राष्ट्र एवं विश्वके हितार्थ आत्मोत्सर्गके लिये तत्पर रहते हैं, उनका पतन न होकर उत्थान ही होता है।

धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते।

(महा० उद्योग० ३४ : ३१)

मनु, इक्ष्वाकु, दुष्यन्त, भरत, हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र, शिवि, रन्तिदेव आदि ऐश्वर्यपूर्ण होनेपर भी प्रमत्त न होकर निरन्तर धर्मनिष्ठ ईश्वरपरायण रहकर विश्वहितमें लीन रहे; अतः उनकी उत्तरोत्तर उन्नति हुई है। यह बात—

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥
(गुणरत्नम् ७)

—से स्पष्ट कर दी गयी है।

विद्या, बुद्धि, शिक्षा आदिके सम्बन्धमें अपनेसे अधिक वृद्ध, बुद्धिमान् एवं विद्वान्से लोग तत्तद् वस्तुओंको प्राप्त करते हैं। यहाँ गुरु-शिष्यभाव रहता है—द्वेष नहीं। पूर्वजोंमें पूज्य-बुद्धि होती है, विरोध-बुद्धि नहीं। इसी तरह जिन प्राचीन नियमोंसे प्राणीकी उन्नति होती है, उनके प्रति भी विरोध-बुद्धि नहीं होती।

पूर्व-पूर्व अवस्थासे उत्तरोत्तर उन्नति होती है तो पूर्व-पूर्व अवस्थासे उत्तरोत्तर अवस्थाके संघर्षका अवकाश नहीं रहता। पूर्व-पूर्वकी पुञ्जी एवं साधनों-के सहयोगसे उत्तरोत्तर पुंजी एवं साधनोंकी वृद्धि अवश्य होती है। कोई व्यापारी सहस्रसे लक्ष, लक्षसे कोटि कमाता है अतः परस्पर साध्य-साधन भाव या उपकारी-उपकारक भाव होना ही अधिक न्यायसङ्गत है। इसीलिये पूर्वकालमें ईश्वर, धर्म, धार्मिक राजा, धनवान्, पूँजीपति एवं सुखी किसान, सेवक, शूरवीर सभी साथ रह सकते थे। बैलगाड़ी, पुष्पकयान, पादचारी भी साथ रह सकते थे। लाठीसे लेकर ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्रतक शस्त्रास्त्र थे। हाथके करघेसे लेकर महायन्त्र-तक थे। विश्वकर्मा, मयके आविष्कारके साथ हाथसे पर्णशाला बनाकर रहनेवाले भी थे। सब एक दूसरेके पोषक थे शोषक नहीं। सारांश यह है कि शास्त्र, धर्म एवं ईश्वरभावके नियन्त्रणके अभावमें ही वर्ग-संघर्ष, वर्ग-विद्वेष, वर्ग-विध्वंस एवं क्रान्ति आदिकी बात चलती है। जो दोष है, गुण नहीं हो सकता। इतिहास-में भली, बुरी सभी बातें होती हैं। सब न तो सिद्धान्त ही होती हैं, न ग्राह्य ही। भारतीय सभ्यतामें जो 'मात्स्य न्याय' कहा गया है, वही कम्युनिष्टोंका परम पुरुषार्थ एवं अभीष्ट वर्ग-संघर्ष है। यह पहले बतलाया जा चुका है कि कृतयुगमें जब कि सत्त्वगुणका पूर्णरूपसे विकास था, सभी धार्मिक, सात्त्विक थे। साथ ही विद्या, बल, शक्ति, वैभवका भी अभाव न था। ईश्वर, ब्रह्मा आदिमें सत्त्वकी प्रधानतासे ही विद्या, वैभव, विविध ऐश्वर्य होते हैं। इन्द्रादि देवताओंका ही नहीं, पर हिरण्यकशिपु, मय आदि दानवोंका ऐश्वर्य भी जो वेदों-पुराणोंमें वर्णित है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि उसके मुकाबले आजका वैभव कुछ नहीं है। पूर्ण उत्कर्ष कालमें भी सत्त्व एवं धर्मकी जब प्रधानता हुई, तब धर्मनियन्त्रित

जनता किसी राजा, राज्य, दण्डविधानके बिना भी आपसमें ही सब काम चला लेती थी—

न राज्यं न च राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥

(महा० शा० प० ५९)

यह भी एक महान् आश्चर्य है कि जो सर्वत्र समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताका आदर्श रखते हैं, वे ही वर्ग-विद्वेषका मार्ग भी प्रशस्त करते हैं। यह वैसी ही विरुद्ध बात है—जैसे कोई जाना चाहता है पूर्व, पर चल रहा है पश्चिमकी ओर। जहाँ समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताके लिये विद्वेष, वैमनस्य मिटाकर सदाचार, परस्पर पोषण, उपकार, सहिष्णुता एवं सहानुभूतिका भाव बढ़ाना अपेक्षित है, वहाँ मार्क्सवादी संघर्ष, विद्वेष बढ़ानेका मार्ग ग्रहण करते हैं। मार्क्सवादी समझते हैं कि शोषक-शोषितोंका विरोध मूषक-मार्जारके वैरके समान अमिट है; इनमें विरोध मिटाकर समानता, भ्रातृता आदि स्थापित नहीं हो सकती, अतः विद्वेष उत्तेजित कर वर्ग-विध्वंसके द्वारा ही समानता सम्भव है। शोषितोंका राज्य होने एवं शोषकोंकी समाप्ति होनेसे ही वर्गहीन समाजमें समानता ठीक सम्पन्न होगी। परंतु यह धारणा नितान्त भ्रान्तिमूलक है। कारण, पहले तो वर्गभेद ही कोई वास्तविक स्थिर भेद नहीं; क्योंकि शोषकों एवं शोषितोंकी कोई निश्चित जाति नहीं है। जो किसीकी अपेक्षा शोषित है, वही किसीका शोषक होता है। जलकी कोई भी मछली अपनेसे बड़ी मछलीद्वारा शोषित है, वही अपनेसे छोटी मछलीकी शोषक है। जङ्गलके पशुओंकी भी बात ऐसी ही है। मेढक साँपके मुखमें है; परंतु उस हालतमें भी वह मच्छरोंको खाता है। इस तरह शक्ति एवं सम्पत्तिमें तारतम्य रहता ही है। फिर उनमें भी प्रबल शोषक और दुर्बल शोषित होगा ही। वराटिकापति, रूप्यकपति, शतपति, सहस्रपति, लक्षपति आदिमें आपसमें शोषक-शोषित भावकी कल्पना हो सकती है। अन्तिम शोषितको ही रखकर सभी शोषकोंकी समाप्ति भी सम्भव नहीं है; क्योंकि अन्तिम शोषित कौन ? इसका निर्णय कठिन है।

यदि यह मान भी लिया जाय तो भी इसका यह अर्थ हुआ कि समुद्रके प्रबल जल-जन्तुओंको समाप्त करके सिर्फ अति क्षुद्र जन्तुओंका ही राज्य बनाया जाय। जङ्गलोंके सिंह-व्याघ्रादिको मिटाकर शृगालों या मच्छरोंका ही राज्य बनाया जाय। परंतु यह न तो कभी किसी शासनका ही आदर्श रहा, न आदर्श हो ही सकता है। आदर्श तो यह था कि समाजमें सब रहें, पर कोई किसीका शोषक न रहे, सब एक दूसरेके पोषक रहें। बाघ, बकरे सब एक घाट पानी पीयें। बाघ, बकरे दोनोंको ही जीवित रहनेका अधिकार है; परंतु दोनोंके पोषक होकर ही रहें, शोषक होकर नहीं।

जैसे बुद्धिमान् रोगीको न मिटाकर रोग मिटानेका ही प्रयत्न करते हैं, वैसे ही

शोषकोंको न मिटाकर शोषण-वृत्ति मिटाना शासनका उद्देश्य है। दण्ड-विधानका भी उद्देश्य बदला चुकाना आदि न होकर अपराधीकी अन्तरात्मशुद्धि ही मुख्य उद्देश्य रक्खा गया था। शोषणवृत्ति बिना मिटाये शोषितोंमें ही शोषक उत्पन्न होते रहेंगे। अत्यन्त गरीब, मजदूर या कँगले भी अधिकार पाकर शोषक हुए हैं एवं हो सकते हैं। धार्मिक भावनावाले दिलीप-जैसे महासम्राट् भी एक गाय-की रक्षाके लिये अपने प्राण दे सकते हैं, शिबि-जैसे सम्राट् भी एक कबूतरके प्राण बचानेके लिये अपने देहका सम्पूर्ण मांस दे सकते हैं।

साथ ही यह भी विचारणीय है कि क्या कोई मनुष्य स्वभावसे ही शोषक होता है या उसमें शोषणकी बुराई आगन्तुक है? यदि बुराई या शोषण कोयलेमें कालापनके समान स्वाभाविक है तब तो अवश्य जैसे कितना ही साबुनसे धोनेपर बिना कोयलाके मिटे उसका कालापन नहीं मिट सकता, वैसे ही शोषक मनुष्यके मिटे बिना उससे शोषण या बुराई नहीं मिट सकती। परंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं। स्वभावसे प्राणी बुरा या शोषक नहीं होता। यह कह चुके हैं कि कभीका शोषक ही पोषक बन जाता है तथा कभीका पोषक ही शोषक बन जाता है। शास्त्रीय संस्कार, सत्समागम एवं धर्मनिष्ठाके विस्तारसे प्राणी पोषक बनता है। अधर्म, प्रमाद, स्वार्थपरता बढ़नेपर पोषक भी शोषक बन जाता है। वाल्मीकि पहले शोषक थे, पर वे ही सत्समागमसे महर्षि एवं विश्वपोषक बन गये। अजामिल जो पहले साधु पुरुष थे, दुस्संगसे शोषक हो गये; फिर कालान्तरमें वे ठीक हो गये।

रामराज्यके सिद्धान्तानुसार प्राणिमात्र ईश्वरके अंश, अविनाशी, चेतन, अमल, सहज सुखराशि है—ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ वेद भी कहते हैं—'अमृतस्य पुत्राः' प्राणिमात्र अमृत—परमेश्वरके पुत्र हैं। जैसे गङ्गाका तरङ्ग गङ्गाजलके तुल्य ही शीतल, मधुर और पवित्र होता है, वैसे ही चेतन, अमल, सहज, सुखराशि परमेश्वरकी संतान भी चेतन, अमल, सहज-सुखराशि ही हैं। उनमें बुराई, अविद्या, काम-कर्मके सम्पर्कसे आयी—

भूमि परत भा ढाबर पानी। जिमि जीवहि माया लपटानी॥

जैसे निर्मल जलमें भूमिके सम्पर्कसे मलिनता आ जाती है, वैसे ही माया आदिके सम्पर्कसे जीवमें मलिनता आ जाती है। जैसे मलिन जलमें निर्मली बूटी या फिटकिरी डालनेसे जलमें निर्मलता आ जाती है, वैसे ही स्वधर्मानुष्ठान एवं ईश्वरभक्तिसे जीवकी मलिनता, बुराइयाँ दूर हो जाती हैं, फिर वह शोषक नहीं रह जाता, शुद्ध पोषक हो जाता है। असलमें मात्स्यन्याय दूर होनेके लिये ही शासनकी स्थापना हुई है। धर्म, सदाचारका विस्तार, सत्य, अहिंसाकी प्रतिष्ठा तथा दण्डके द्वारा शोषण मिटाकर समन्वय, सामञ्जस्य स्थापित करना ही शासनका मुख्य लक्ष्य है। वस्तुतः मार्क्स-वादी स्वतन्त्रता, समानता, भ्रातृताकी बात तो करते हैं; परंतु उन्हें समानता,

स्वतन्त्रता और भ्रातृताकी वास्तविक आधार-भित्ति विदित नहीं है। जड देह, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि समानता आदिके आधार नहीं हो सकते। कारण, उनकी विषमता स्पष्ट है। देह किसी दोके भी एक समान नहीं। किसीका देह मोटा, किसीका पतला, किसीका लंबा, किसीका नाटा होता है। सगे भाइयोंके भी प्रत्येक अवयवमें भेद रहता है। शक्तिमें भी भेद है। कोई दो-दो मोटरोंको रोक सकते हैं, कोई बकरीको भी नहीं रोक सकता। इसी तरह बुद्धिमें भी समता नहीं कही जा सकती। कोई कई शास्त्रोंके विद्वान् एवं दार्शनिक होते हैं और कोई अत्यन्त निर्बुद्धि भी होते हैं। कोई पर्याप्त अन्न, दुग्धादि पचा सकते हैं, कोई किंचिन्मात्र भी घृत-दुग्धादि नहीं पचा सकते, वे थालीमें रक्खे हुए मोदकको छूनेसे परमाणुबम-जैसा डरते हैं। कार्यकरणक्षमता भी सबकी एक-सी नहीं। अतः भौतिकवादमें समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताकी कोई वास्तविक आधारभित्ति ही नहीं है। इसीलिये वहाँ समानता, भ्रातृता, स्वतन्त्रतादिकी केवल बात ही होती है, कार्य-वर्ग-विद्वेष वर्गविध्वंसका होता है। उनकी समानता उनके दलके साथियोंतक ही सीमित है। उनमें भी विरोध उत्पन्न होते रहते हैं और 'सफाया' कण्टकशोधनके नामपर कलके साथीको भी मौतके घाट उतारा ही जाता है। परंतु रामराज्यके सिद्धान्तमें समानता, भ्रातृता आदिका वास्तविक आधार अध्यात्मवाद है। जहाँ किसी सीमित दायरेके भीतर ही नहीं, किंतु किसी देश, जाति, सम्प्रदाय या पार्टीका अमीर, गरीब, पुण्यात्मा, पापात्मा, कोई स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध हो अथवा देवता, दानव, मानव, पशु-पक्षी, कीट-पतंग हों, सभी ईश्वरके पुत्र हैं। उनके देहोंमें भेद हो सकता है, किंतु देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धिका द्रष्टा, क्षेत्रज्ञ आत्मामें कोई भेद नहीं होता। सोने, लोहे, मिट्टीके घड़ेमें भेद है, पर उनमें स्थित आकाशमें कोई भेद नहीं। वैसे ही विभिन्न देह, इन्द्रिय, मन-बुद्धिमें भेद हो सकते हैं, उनके कार्योंमें भी विषमता होती है; परंतु सबमें रहनेवाले द्रष्टा, चेतन, अमल, सहज सुखराशिमें कोई भी भेद नहीं है। उसी बोधरूप आत्मामें वास्तविक समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृता हो सकती है। जडमें न स्वतन्त्रता ही सम्भव है, न समानता। आधि, व्याधि, मृत्युके परतन्त्र, किसी भी जड वस्तुमें स्वतन्त्रताका राग अलापना केवल विडम्बना ही है। सर्वोपाधिकृत भेदविवर्जित आत्माको ही लेकर समानता सम्भव है। जो सब प्राणियोंमें एक आत्मा या भगवान्‌को देखता है, वह किसका विरोध करेगा, किसका शोषक होगा?

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

जो प्राणिमात्रमें भगवत्सत्ताका अनुभव करता है अथवा सभी प्राणियोंको भगवान्‌की पवित्र संतान समझता है, वह कैसे किसीका शोषक होगा? शास्त्रोंमें

भगवान्‌ने कहा है—नाना प्रकारके भूषणों, अलंकारों, नैवेद्योंद्वारा मेरा सम्मान करना और मेरे अंशभूत प्राणियोंको सताकर शोषण करना वैसी ही मूर्खता है, जैसे किसीको संतुष्ट करनेके लिये किसीके गलेमें माला पहनाना और उसीकी आँखमें काँटा चुभाना। प्राणियोंका अपमान करनेवाले पुरुषकी ईश्वरार्चा भस्ममें डाली हुई आहुतिके तुल्य व्यर्थ है। इसीलिये शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर ही जीवरूपसे श्वान, चाण्डाल, उष्ट्र, गर्दभादि सभी प्राणियोंमें प्रविष्ट है, अतः दान-मानादिद्वारा सबका ही सम्मान करना चाहिये, किसीका भी अपमान नहीं करना चाहिये—

'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवान् स्वयम्।' (भाग० ३।२९।३४)
'प्रणमेद्दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥' (भाग० ११।२९।१६)
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद् भस्मन्येव जुहोति सः॥ (भाग० ३।२९।२२)

भक्तराज प्रह्लादने यही प्रार्थना की थी—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥
(भाग० ५।१८।९)

अर्थात् विश्वका कल्याण हो, खल प्राणी सज्जन बनें। खलको मिटाना अभीष्ट नहीं; किंतु उसकी खलताका ही मिटाना अभीष्ट है। दुर्जन सज्जन बनें, सज्जन शान्ति प्राप्त करें एवं शान्त प्राणी संसारबन्धनोंसे मुक्त हों तथा वे मुक्त होकर औरोंको भी बन्धनसे छुड़ानेका प्रयत्न करें—

दुर्जनः सज्जनो भूयात् सज्जनः शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्॥

सब प्राणी एक दूसरेका परस्पर शुभानुसंधान करें, शुभचिन्तक बनें, सबका मन भद्रदर्शी हो, सबकी बुद्धि परमेश्वरनिष्ठ हो। इसीलिये महर्षिगण अपनी नाक कटाकर भी दूसरोंके शकुन बिगाड़ने-जैसा किसीका अनिष्ट-चिन्तन नहीं करते थे। धनवान् बलवान्‌को देखकर उन्हें ईर्ष्या नहीं होती थी। उन्हींका अनुसरण करते हुए आस्तिक प्रतिदिन ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सब भद्रदर्शी हों और कोई भी दुःखभागी न हो। जिसे पुत्र न हो उसे पुत्र मिले, पुत्रवान्‌को पौत्र मिले, निर्धन धनवान् हो तथा धनवान् दीर्घजीवी हो—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥
अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः।
अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम्॥

शास्त्रोंने भी अपनेसे निम्नस्तरवाले दुखी लोगोंपर करुणा, समान लोगोंसे

मैत्री तथा अपनेसे अधिक ऐश्वर्यवालोंसे मुदिता करनेके लिये कहा है। सब कुछ परमेश्वर-से उत्पन्न, परमेश्वरस्वरूप है। अतः परमेश्वर-स्वरूपसे ही सबका सम्मान उचित है। फिर शोषणकी कथा ही क्या है? लोकव्यवहारार्थ दण्ड-विधान आदि भी प्रजाहितार्थ ही होता है, ठीक वैसे ही, जैसे अध्यापक छात्रोंके हितके लिये ही शासन करता है।

जैसे कामीको सम्पूर्ण जगत् कान्तामय दिखायी देता है, वैसे ही भौतिकवादियोंको सब कुछ भूतमय ही प्रतीत होता है। इसीलिये वे सभी धर्मों, दर्शनों, आदर्शों आदिका मूल भौतिक अवस्था ही मानते हैं। प्रायः पाश्चात्त्य विचारोंके मतानुसार भिन्न-भिन्न दर्शन, निर्माताकी परिस्थिति, वातावरण एवं भौतिक अवस्थाके अनुकूल ही आविर्भूत होते हैं। इससे स्पष्ट है कि उन दर्शनोंमें भावनाओंकी ही प्रधानता है। सत्यका दर्शन वहाँसे बहुत दूर है। वस्तुतः बाह्य भावोंसे अप्रभावित समाधिसम्पन्न ऋषियोंके दर्शन ही सत्यसे सम्बन्धित हो सकते हैं। पाश्चात्त्य दर्शन-विवेचनके प्रारम्भमें ही यह बात कही जा चुकी है। वस्तुतस्तु स्वतन्त्ररूपसे जड किसी एक भी कार्यके सम्पादनमें असमर्थ होता है। परंतु भौतिकवादी सभी वस्तुओंका एकमात्र कारण भौतिक अवस्था ही मानते हैं। आस्तिक मूल वस्तु स्वप्रकाश सत् चेतनको ही मानते हैं। यद्यपि श्रोत्र, त्वक्, चक्षु आदि पञ्च ज्ञानेन्द्रिय एवं मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, अन्तःकरणचतुष्टय और इनके द्वारा उपलब्ध होनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध एवं तदात्मक पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश सब-के-सब भौतिक ही हैं, फिर भी इन सबसे सूक्ष्म चैतन्य आत्मज्योतिद्वारा ही इन भूतों एवं भौतिकोंकी सत्ता, स्फूर्ति एवं गति निष्पन्न होती है। उसके बिना सर्वत्र जगदन्धतापत्ति अनिवार्य है। जैसे बाह्य जड-प्रपञ्च चेतन प्राणीके उपकरण एवं भोग्य होते हैं, उसी तरह अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, देह भी स्वविलक्षण, असंगत चेतन आत्माके ही उपकरण एवं भोग्य हैं। जैसे झरने, स्रोत, सरिता आदि जलांश अपने अंशी समुद्रकी ओर स्वभावसे ही प्रवाहित होते हैं, उसी तरह व्यष्टिचेतन आत्मा समष्टिचेतन ब्रह्मकी ओर स्वभावतः प्रवाहित होता है। सम्पूर्ण भौतिक ऐश्वर्यको छोड़कर जीवमात्रकी प्रवृत्ति निद्रा या सुषुप्तिकी ओर होती है। अविद्यारूपी कारण बीज विशिष्ट चेतन अर्थात् अज्ञात सत्-रूप चेतनमें ही सुषुप्त जीव लीन होता है। सुषुप्तिमें यद्यपि विशिष्ट विज्ञानका अभाव रहता है, तथापि विशेष विज्ञानाभावका द्रष्टा कारण साक्षी विद्यमान रहता है। तभी 'जो मैं सुखसे सो रहा था वही मैं जग रहा हूँ', यह अनुभूति होती है। यह कहा जा चुका है कि स्वभावसे सीमित सत्ता, ज्ञान, आनन्द, स्वतन्त्रता एवं सीमित शासन शक्तिवाला प्रत्येक जीव निःसीम अनन्त सत्ता, निःसीम अनन्त ज्ञान, आनन्द, स्वातन्त्र्य, शासनशक्तिसम्पन्न बनना चाहता है। तदनुगुण ही सबके प्रयत्न होते हैं। जैसे महाधन प्राप्त करनेके लिये व्यापारादि कार्योंमें पर्याप्त धन व्यय

करना पड़ता है, वैसे ही महती स्वतन्त्रता-प्राप्तिके लिये पर्याप्त स्वतन्त्रताओंका त्याग कर विविध आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक नियम स्वीकार करना पड़ता है। इसीलिये कहा गया है कि सनातन परमेश्वर अपने सनातन अंश जीवोंका सनातन कैवल्यपद प्राप्त करानेके लिये ही सनातन निःश्वासभूत वेदादि शास्त्रोंद्वारा आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, सनातन नियमरूप साधनोंका उपदेश करते हैं, अतः भौतिक अवस्थाओंके रद्दोबदलसे उनमें रद्दोबदल करनेका कोई प्रश्न ही नहीं खड़ा होता। यह दूसरी बात है कि साधनोंके न होनेपर साधनाहीन कामोंमें बाधा पड़ती है, भौतिक देहादि न रहनेपर तदधीन साधनोंमें बाधा होती है, वैसे ही धनादिके अभावमें तदधीन कार्योंमें बाधा पड़ती है। यह भी ठीक है कि भंग, सुरा आदि मादक पदार्थोंके सेवनका प्रभाव जैसे मन, बुद्धि एवं विचारोंपर पड़ता है, वैसे ही धन, भूषण, वस्त्र, भवन, वाहनादिके अस्तित्वमें मन-बुद्धिपर दूसरे ढंगका प्रभाव पड़ता है, उनके अभावमें दूसरे ढंगका प्रभाव पड़ता है। साधन-सम्पन्न दूसरे ढंगसे सोचते-विचारते हैं और साधनविहीन दूसरे ढंगसे। फिर भी प्रमास्वरूप ज्ञानपर धनादिके भावाभावका असर नहीं पड़ता। एक धन-विहीन भी नेत्रसे रूप देखता है, शब्द नहीं; श्रोत्रसे शब्द ही ग्रहण करता है रूप नहीं; वैसे ही धनी भी। सम्पत्ति-विपत्ति, साधन-सम्पन्नता, साधन-विहीनता, किसी भी दशामें प्रमाणके अधीन नियमित ही प्रमा होती है। नीरोग उपविष्ट हो अथवा रुग्ण होकर भूमिपर विलुण्ठित हो रहा हो, निर्दोष चक्षुसे रज्जुका रज्जु ही ज्ञान होगा। जंगली, मध्यकालीन एवं आधुनिक प्रगतिशील, मनुष्य, सभ्य-असभ्य, अमीर-गरीब, शोषक-शोषित, सभी एक रूपसे ही श्रोत्रादि प्रमाणोंद्वारा शब्दादि प्रमेयोंकी प्रमा सम्पादन करते हैं। यहाँ अवस्थाओं, भावनाओं, परिस्थितियोंका कुछ भी असर नहीं पड़ता। इसी तरह जो नियम, सत्य या सिद्धान्त प्रमाणोंसे सिद्ध प्रमास्वरूप हैं, उनमें कभी भी किसी ढंगसे रद्दोबदल नहीं होता। सिद्धान्ततः जैसे काँटेसे काँटा निकाला जाता है, विषसे विषका प्रशमन होता है, वैसे ही भौतिक साधनोंसे ही भौतिक प्रपञ्चका प्रशमन कर अभौतिक, स्वप्रकाश, ब्रह्मतत्त्व प्राप्त किया जाता है। मर्त्यसे अमृत एवं अमृतसे सत्य वस्तुको प्राप्त कर लेना ही बुद्धिमानोंकी बुद्धि तथा मनीषियोंकी मनीषा है—

> एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
> यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥
>
> (भाग० ११।२९।२२)

वस्तुतः केवल उसी पारमार्थिक सद्वस्तुकी प्रतिपत्तिके लिये भूत एवं भौतिक प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है—

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपद्यते ।

अध्यारोप एवं अपवाद निष्प्रपञ्च ब्रह्मकी प्रतिपत्तिके उपाय हैं । अध्यारोप बिना निष्प्रपञ्च ब्रह्म वाङ्मन आदिका गोचर ही नहीं होता । महाकाश जिस घटके द्वारा घटाकाश बनकर गोचर होता है, वस्तुतः वह घट एवं घटाकाश सब महाकाश ही है । अन्वय-व्यतिरेकसे घटमृत्तिकासे भिन्न वस्तु नहीं ठहरता । वैसे मृत्तिका जलसे, जल तेजसे, तेज वायुसे एवं वायु आकाशसे भिन्न नहीं ठहरता । ठीक इसी तरह आकाश अहंतत्त्वसे, अहंतत्त्व महत्तत्त्वसे, महत्तत्त्व अव्यक्तसे तथा अव्यक्त सत्तत्त्वसे भिन्न नहीं ठहरता । इस प्रकार उपेय ब्रह्मकी प्रतिपत्तिका उपाय स्वरूपभूत सत्से भिन्न कुछ भी नहीं ठहरता ।

किंच यदि विकासवादके अनुसार अभी विचार चल ही रहा है तो पूँजीवादी-वर्ग एवं मजदूर-वर्गके इस वर्ग-विरोध, वर्ग-संघर्षको विरोधकी अन्तिम कड़ी क्यों माना जाय ? हो सकता है आगे चलकर और प्रगतिशील लोग वर्गवाद सिद्धान्तको अपसिद्धान्त ही समझने लगें । आज अराजकतावाद आदि मत उपस्थित ही हो रहे हैं । बहुत सम्भव है कि वर्ग-संघर्षकी अशान्तिसे ऊबकर लोग साम्यवादकी मरुमरीचिका समझ जायँ और अध्यात्मवादी होकर शान्तिमूलक धर्म-नियन्त्रित शासन-तन्त्र रामराज्यको ही अपनायें । देखते ही हैं कि लोग कभी सत्त्वगुणसे हटकर रज एवं तमको फिर तम एवं रजसे हटकर पुनः सत्त्वको अपनाते हैं । जागरणसे स्वप्न एवं स्वप्नसे सुषुप्तिमें पहुँचते हैं और सुषुप्तिसे पुनः जागरण अवस्थाको अपनाते हैं । अतः पूँजीवादी युगको प्रागैतिहासिक युगका अन्तिम अध्याय मानना भी निर्मूल है । मार्क्सकी जीवनी पढ़नेसे विदित होता है कि उसने पहले अनेक मार्ग अपनाये और छोड़े और हो सकता है यदि वह कुछ दिन और जीवित रहता तो अपने भौतिक द्वन्द्ववादकी त्रुटियोंको समझकर कोई और ही वाद अपनाता । किंतु सहस्रों, लक्षों वर्षोंके अपने जीवनमें अपौरुषेय वेदादि शास्त्रोंद्वारा प्राप्त अनुभवोंमें महर्षियोंने रद्दोबदल करनेकी आवश्यकता नहीं समझी ।

वास्तविक पूँजीवाद

कहा जाता है कि 'पूँजीवादी समाज भी प्राचीन वर्गोंके समान ही उसी वर्ग-कलहपर एक दलके द्वारा दूसरे दलके रक्तशोषणपर ही स्थिर है । साथ ही उसी पूँजीवादके द्वारा ही मनुष्यको वह उत्पादन-शक्ति भी प्राप्त होती है, जिसके द्वारा भौतिक बन्धनों और प्राकृतिक गुलामीसे मनुष्यको छुटकारा मिलता है और वह वर्गकलहको त्यागकर बौद्धिक सभ्यता या ज्ञानयुगका श्रीगणेश कर सकता है । यह 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' विज्ञानकी अन्य शाखाओंके समान नीति अथवा आदर्शसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता ।'

यह भी कहा जाता है कि 'मनुष्यने हजारों वर्षतक प्रकृतिकी निष्ठुर पराधीनतामें रहकर कष्ट भोगा। पाशविक दशासे छुटकारा पानेके लिये संग्राम किया। हजारों वर्षोंतक समाजकी स्थापनाके लिये उद्योग किया और बहुत विकास भी प्राप्त किया, फिर भी उसे न्याय तथा मानवीय अधिकारोंकी प्राप्ति न हुई।'

कहते हैं—'सामाजिक वर्णों और वर्गकलहका सिद्धान्त मार्क्सने आविष्कृत किया है। यद्यपि उससे पहले भी वर्ग-कलहका अस्तित्व देखा और समझा जा रहा था, तथापि श्रमजीवी दल पहले नगण्य था, अतः ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त न था।'

पर वस्तुस्थिति यह है कि धर्मनियन्त्रित पूँजीपति एवं समाज राष्ट्रके विकास एवं कल्याणके कारण हैं। शास्त्र तथा धर्म-निरपेक्ष उच्छृङ्खल पूँजीवाद शोषणका कारण होता है। पूँजी स्वतः निन्द्य नहीं है, मालिकोंकी अच्छाई-बुराईसे पूँजीमें अच्छाई-बुराईका व्यवहार होता है। साम्यवादमें भी जनता नहीं तो सरकारको पूँजीपति बनना ही पड़ता है। उसके बिना कोई भी विकास-योजना, संग्राम, शस्त्रास्त्र सफल नहीं हो सकता। सामान्यरूपसे सरकारी भूमि, सम्पत्ति, उद्योग-धंधे या पूँजीका कोई मनमानी उद्योग नहीं कर सकता। परंतु बाढ़, भूकम्प, दुष्काल आदि विपत्तियोंके समय सरकारी पूँजी आदिका उद्योग जनहितके काममें हो सकता है। उसी तरह व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति, पूँजी भी रहनेमें कोई अहित नहीं। जैसे सरकारी खजानेकी पूँजी राष्ट्रकी है, वैसे ही व्यक्तिगत खजानेकी पूँजी भी राष्ट्रकी समझी जा सकती है; क्योंकि अवसरपर राष्ट्रके काममें उसका उपयोग किया जा सकता है। आज भी युद्धकाल अथवा असाधारण राष्ट्र-विप्लवमें सरकारोंका अधिकार होता है कि वे व्यक्तिगत सम्पत्ति, मोटर, मकान आदिको राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अपने कब्जेमें ले लें। पूँजीके दुरुपयोग या अपव्ययपर सरकार कभी भी प्रतिबन्ध लगा सकती है। भेद यही रहता है कि जहाँ सरकारी वस्तुओंमें साधारण ममत्व होता है और सेवक नामधारी नौकरोंद्वारा लापरवाही, दुरुपयोग, लोहाकाण्ड, जीपकाण्डके समान भ्रष्टाचार होता है। व्यक्तिगत वस्तुओंमें व्यक्तिको प्राणतुल्य ममता होती है, लापरवाही दुरुपयोगकी भावना नगण्य होती है। हाँ, मूलधन आदिसे होनेवाली आमदनी विशेषतया अतिरिक्त आयपर शुक्रके अनुसार पूर्वोक्त पञ्चधा विभागका नियम होना अनिवार्य है।

वस्तुतः शास्त्रीय उचित व्यवस्था-पालनमें प्रमाद होनेसे ही अनेक अनर्थ बढ़ते हैं। प्रायः शास्त्र, सज्जन, समाजकी उपेक्षासे सदाचार, संयम, नीति-नैपुण्य आदि सद्गुणोंका विनाश होता है। ऐसी हालतमें धन केवल

विलासिताका ही कारण बनता है। विलासितासे क्षीणता, क्लीबताकी वृद्धि होती है। इससे संततियोंकी कमी होती है और दूसरे कुलोंसे दत्तक लाये जाते हैं। यदि दत्तक हीन कुलसे आये तो उनमें विलासिता, अनाचार एवं अनुदारताका और भी विस्तार होता है, और भी भीषण क्षीणता, क्लीबता बढ़ती है, पुनश्च संततिकी हीनता बढ़ती है। फलतः अधिकाधिक सम्पत्ति थोड़े-से लोगोंके हाथमें रह जाती है। गरीबोंमें सम्पत्तिहीनता होते हुए भी संतानोंकी अधिकता होती है। इस तरह धनवान् निःसंतान और धनहीन बहुसंतान होने लगते हैं। दोनों जगह सदाचारकी कमी होनेसे धनवान्में अनाचार बढ़ते हैं, शोषण-उत्पीडनका विस्तार बढ़ता है, धनहीनोंमें ईर्ष्या बढ़ती है, फलतः संघर्ष होता है। धनहीनोंका बहुमत शासन एवं शासकोंका खात्मा कर देता है। बहुमतमें भी मुण्डगणनाकी ही प्रधानता रहती है। बहुमत शासनमें भी अल्पधन बहुधनवाले लोगोंका अस्तित्व रहता है। धनके आधारपर भी बहुमत बनाया जाता है। कभी-कभी बहुमतका अल्प-मतपर अत्याचार होने लगता है। उसी समय धनवान् निर्धनका विरोध बढ़ जाता है। धनवानोंको शुद्ध शोषक मानकर उनके वोटोंका महत्त्व हटा दिया जाता है, फिर आर्थिक समानताके नामपर साम्यवाद स्थापित होता है। थोड़े दिनोंतक उसमें रुचि बढ़ती है, पर आगे चलकर व्यवस्थाकी दृष्टिसे वहाँ भी कुछ लोगोंका ही शासन-तन्त्रपर नियन्त्रण हो जाता है। व्यक्ति शासन-यन्त्रके नगण्य कल-पुर्जे बन जाते हैं, शासन-यन्त्र मुट्ठीभर तानाशाहोंके हाथका खिलौना बन जाता है, साम्यवादी साथियोंमें ही फूट और शोषक-शोषणकी भावना जग उठती है; इस तरह साम्यवाद अधिनायकवाद ही बन जाता है। शास्त्र, धर्म आदिका नियन्त्रण न होनेसे उच्छृङ्खलता बढ़ती है और फिर लोगोंकी धर्मनियन्त्रित शासन-तन्त्रकी पूरी प्रवृत्ति हो जाती है। इस तरह शासन-तन्त्रोंमें भी चक्रवत् परिवर्तन चलता रहता है। सुतरां धर्मनियन्त्रित होनेसे ही वर्ग कलहका अन्त होता है। वास्तविक सभ्यताके विकासकी बात भी तभी चल सकती है। इस प्रकार तथाकथित भौतिकवाद न सही, किंतु मूल भौतिक समस्त वस्तु अभौतिक चेतन वस्तुरूप प्रतिपत्तिका उपाय है। अतः भूतोंका पर्यवसान भी अभौतिक तन्त्रमें ही है।

मनुष्य 'स्वयं चेतन नहीं है, भूतोंका परिणाम है। यदि अचेतनसे भिन्न कोई स्वतन्त्र चेतन है तो उसकी 'प्रकृति पराधीनता, कष्ट भोगना या पाशविकतासे छुटकारा पानेके संग्राम' आदिका कुछ अर्थ ही नहीं है। जल-कणों या जलप्रपातों एवं पाषाणोंके संघर्ष-जैसे ही मनुष्यके प्राकृतिक संघर्ष हैं। उससे किसी अभीप्सित पदार्थकी सिद्धि आदिकी बात नहीं उठती। अतएव वर्ग-कलह, वर्ग-संघर्ष, सामूहिक दलबंदी, दलविशेषके विध्वंस आदिकी कहानी

सृष्टि-प्रलयकी परम्परा जबसे चली और जबतक रहेगी तबतक किसी-न-किसी रूपमें रहेगी ही। धर्म-नियन्त्रण घटनेपर संघर्ष बढ़ता है और धर्म-नियन्त्रण बढ़नेपर संघर्ष समाप्त हो जाता है।

श्रेणीभेदका आधार

मार्क्स कहता है—"जैसे पशुओं, वनस्पतियों, धातुओंमें श्रेणीभेद है, वैसे मनुष्योंमें भी श्रेणीभेद है और वह आर्थिक आधारपर ही उचित है। जिस उपायसे मनुष्यसमुदाय अपनी रोजी कमाता है, वही उसका प्रधान लक्षण है। वेतन, मजदूरी आदिसे निर्वाह करनेवाले लोग श्रमजीवी वर्गमें आते हैं, पूँजी (जमीन, मकान, कारखाने, खानें) द्वारा कमानेवाले लोग पूँजीपति वर्गमें समझे जाते हैं। यद्यपि मजदूर भी कहीं बैंकमें रुपया रखता है, उससे ब्याज भी पाता है। कोई पूँजीपति भी अपने व्यापारकी देख-भाल करता है और मैनेजरकी हैसियतसे उसे कुछ तनख्वाह भी मिलती है, तथापि श्रमजीवीका खास आधार मजदूरी होता है। पूँजीपतिका खास आधार पूँजी होती है। इन वर्गोंमें भी अवान्तर भेद हो सकते हैं। कुछ बुद्धिजीवियोंको अधिक वेतन मिलता है, कुछको जानवरोंकी तरह मेहनत करके भी पेट भरनेतकको पूरा नहीं पड़ता। पर श्रमके आधारपर ही इन सबकी जीविका चलती है, अतः सभी श्रमजीवी हैं। पैदावारके साधनोंपर अधिकारवाले पूँजीपति हैं।' मार्क्सका कहना है कि 'इन दो वर्गोंके बीच गहरा और अमिट विरोध रहता है, जिसके फलस्वरूप वर्ग-कलह उत्पन्न होता है। श्रमजीवी अपने श्रमको ज्यादा-से-ज्यादा कीमतपर बेंचना चाहता है, अधिक-से-अधिक मजदूरी प्राप्त करना चाहता है। पूँजीपति इस श्रमको कम-से-कम दाममें खरीदना चाहता है, कम-से-कम मजदूरी देना चाहता है। यह विरोध दूकानदार और ग्राहकों-जैसा नहीं, किंतु सिद्धान्तपर आधारित होता है। कारण, इसमें और खरीदने एवं बेचनेमें बड़ा अन्तर है। श्रमजीवी यदि अपने श्रमको जल्दी न बेचे तो भूखों मरने लगे। इसलिये उसे पूँजीपतिके इच्छानुसार मजदूरी करनेके लिये लाचार होना पड़ता है। इस तरह पूँजीपति श्रमजीवीपर अत्याचार करता है। यह विरोध ही श्रमजीवीको संगठनकी ओर प्रवृत्त करता है और श्रमजीवी संघ मजदूर-सभाओंका जन्म होने लगता है। यही वर्ग-कलहकी पहली सीढ़ी है। निजी सम्पत्तिका सिद्धान्त जबतक रहेगा, तबतक पराधीनता बनी रहेगी। अतः निजी जायदादकी प्रणालीको मिटाकर उत्पत्तिके साधनोंपर समस्त जनताका अधिकार उचित है। इस भावनासे मजदूर-संघटन और उग्र बन जाता है। वर्ग-भेद समझकर वर्ग-विद्वेष, वर्ग-संघर्षके अनन्तर ही वर्ग-विध्वंस क्रान्ति सम्भव है। अतः वर्तमान कष्टोंको दूर करना, मजदूरी बढ़ाना, बोनस-भत्ता बढ़ाना, कामके घंटोंमें कमी करना आदि सब गौण चीजें

हैं। मुख्य बात यही है कि निजी सम्पत्तिकी प्रणालीको समूल नष्ट कर दिया जाय। पैदावारके सब साधनोंपर सार्वजनिक अधिकार मान लिया जाय। परंतु जबतक मजदूरोंका दृढ़ संघटन नहीं होता और उन्हें अपने भीतर अपने कष्ट दूर करनेकी शक्तिका विश्वास नहीं होता, तबतक साधारण सुधारोंपर ही संतोष कर लेते हैं। कभी उदारहृदय परोपकारी पुरुषोंपर विश्वास करके भी मजदूर-वर्ग शान्त हो जाता है। यह सब श्रमजीवी आन्दोलनमें विघ्न ही हैं। श्रमजीवियोंकी शक्तिहीन दशामें उन्नत-चरित्र पुरुष दयालु शासकोंको समझा-बुझाकर न्याय और जनताके हितकी दृष्टिसे साम्यवादी सिद्धान्तानुसार काम करनेके लिये प्रेरित करते हैं और कुछ अंशोंमें दरिद्रता और दुर्गति मिटानेका प्रयत्न करते हैं। किंतु जब उद्योग-धंधोंकी विशेष वृद्धि होती है और उत्तमोत्तम यन्त्रों, उत्पत्तिके साधन तथा विनिमयकी बहुतायत होती है, एक स्थानमें सैकड़ों मिलों, कारखानों, जहाजों-रेलोंके जंकशनों, खानोंमें काम करनेवाले मजदूरोंका बड़ा जमघट होने लगता है, तब श्रमजीवियोंकी संख्या, शक्ति, संघटन और वर्गके ज्ञानकी बहुत बड़ी वृद्धि हो जाती है। तब काल्पनिक साम्यवाद या सुधारवादका सर्वथा अन्त हो जाता है।

"उत्पत्ति और विनिमय साधनोंके एक स्थानमें एकत्रित होनेसे ही यह सब हो सकता है। हो सकता है कि मजदूरवर्ग एक साथ उद्योग-धंधों और जीवन-निर्वाहके सब कामोंको एक साथ बंद करके समस्त समाजको विश्वास दिला सकें कि श्रमजीवी समुदाय ही समस्त समाजके आर्थिक जीवनका प्राण है।"

उपर्युक्त कथन युक्तिहीन एवं अवैज्ञानिक है। वस्तुतः रोजी, रोजगार या जीविकाके आधारपर होनेवाले मनुष्योंका श्रेणीभेद कृत्रिम एवं गौण है। अतएव जीविका या रोजगारके बदल जानेसे मनुष्योंकी ऐसी श्रेणियाँ मिट जाती हैं। जैसे पशुओं, वनस्पतियोंके श्रेणीभेद अकृत्रिम होते हैं, उनके या दूसरोंके इच्छानुसार उनका श्रेणी-परिवर्तन सरल नहीं है। श्वान, शृगाल, गौ, हस्ति, गर्दभ आदि पशुओं; आम्र, निम्ब आदि वृक्षोंमें श्रेणी-परिवर्तन ऐच्छिक नहीं है। अवश्य ही उनपर देशकाल-भेदके अनुसार भिन्न-भिन्न भौतिक वातावरणके अनुसार भेद उपलब्ध होते हैं, तथापि उनकी विलक्षणता स्वरूपप्रविष्ट असाधारण धर्म-स्वरूप है। वैसे ही मनुष्योंका भी श्रेणीभेद अन्तरङ्ग है। जैसा कि भारतीय धर्ममें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्री-पुत्रादि भेद हैं। यहाँ अकृत्रिम श्रेणी-भेदके अनुसार जीविका या रोजी ग्रहण करनेका नियम है। इसीलिये वरणाद् वर्णः—जीविकाके कारण ब्राह्मणादि वर्ण नाम चलता है। श्रेणीगत असाधारणताके आधारपर ही जीविकाका वरण होता है। जीविकावरणके आधारपर श्रेणी-भेद नहीं होता। यद्यपि अश्व, वृषभ और आम्र निम्बके तुल्य ब्राह्मण क्षत्रियादि मनुष्योंमें विलक्षणता या श्रेणी-भेद प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होता, तथापि यह भेद शास्त्रगम्य एवं फलबलकल्प्य है। जैसे

नेत्रसे विभिन्न जातीय आम्रोंमें भेद नहीं प्रतीत होते, वृक्ष, शाखा, पत्रादि सबके समान ही होते हैं तो भी फल एवं रस-गन्धादिकी विलक्षणता प्रमाणसिद्ध है। अश्वकी विभिन्न जातियोंमें नेत्रसे भेद परिलक्षित न होनेपर भी गुण-धर्म-भेदसे उनका भेद मान्य होता है। उसी तरह ब्राह्मणादिमें उपरिगत भेद भासित न होनेपर भी शास्त्रप्रमाणगम्य विभिन्न गुण-धर्मों, रक्तोंके भेदसे उनमें भेद मानना अनिवार्य है। जैसे वैध और जारजात अवैध संतानोंमें ऊपरी कुछ भी भेद प्रतीत नहीं होता, तथापि शुद्धि-अशुद्धिका भेद समाजमें मान्य होता है। अनुलोम-प्रतिलोम-भेदसे सांकर्यमें ही पर्याप्त भेद है। जारजातके ललाटमें शृङ्ग नहीं होता, कुलप्रसूतके हाथमें कमल खिला नहीं होता; किंतु शास्त्रों और उनके गुणोंके आधारपर उनका परिज्ञान होता है—

न जारजातस्य ललाटशृङ्गं कुलप्रसूतस्य न पाणिपद्मम्।
यथा यथा मुञ्चति वाक्यजालं तथा तथा तस्य कुलं प्रमाणम्॥

सामान्यरूपसे नित्य अनेक समवेत धर्म ही जातिपदसे व्यपदिष्ट होता है। अनेक गोव्यक्तियोंमें समवेत नित्य गोत्व धर्मही जातिहै। यह धर्म ही अपने धर्मीको स्वजातीय-विजातीयसे व्यावर्तन भी कर देता है। गोत्व-धर्म विजातीय घटादि और सजातीय अश्व-महिषादिसे गोका व्यावर्तन करता है। बहुधा आकृतिभेदसे जाति-भेदकी मान्यता चलती है। परंतु शास्त्रीय दृष्टिसे आकृतिभेद न रहनेपर भी ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णोंमें जातिभेद मान्य होता है। पाणिनिव्याकरणकी दृष्टिसे जाति-अर्थमें ब्राह्मण और तद्भिन्न अर्थमें ब्राह्म बनता है। 'ब्राह्मोऽजातौ' (६।४।१७३) ब्राह्मणी आदिमें ङीष् प्रत्यय भी जाति अर्थमें ही होता है—

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥

(महाभाष्य ४।१।६३)

अनुगत संस्थानविशेषसे जातिकी व्यञ्जना होती है। यहाँ आकृतिको उपदेशका उपलक्षण माना गया है। तथा च ईदृश आकारवाली वस्तु गौ है, इस प्रकारके उपदेशसे गोत्व जातिका परिज्ञान होता है। कारिकामें कहा गया है कि जो असर्वलिङ्गभागी हो और एक बारके उपदेशसे अनुगतरूपेण ग्राह्य हो, वही जाति है। 'ब्राह्मणः' 'वृषलः' आदि शब्द पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग होनेपर भी नपुंसकलिङ्ग नहीं हैं, इसलिये इनके अनुगत-संस्थान आकृति अनुपलब्ध होनेपर भी जातिका व्यवहार होता है।

संस्थान-व्यंग्य गोत्वादि जाति या उपदेशगम्य ब्राह्मणादि जाति जन्मसे ही होती है। साथ ही जाति यावद्द्रव्यभावी असर्वलिङ्गभागिनी तथा अनेकानुगत होती है—

आविर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्गुणैः।
असर्वलिङ्गां बह्वर्थां तां जातिं कवयो विदुः॥

(व्या० महाभाष्य ४।१।६३)

जैसे गुणके बिना द्रव्य नहीं रहता, वैसे ही जातिके बिना भी द्रव्य नहीं रहता और द्रव्यके रहते जैसे गुणका नाश नहीं होता, वैसे ही जातिका भी नाश नहीं होता। इसीलिये मृतहरिणके शरीरको भी हरिण ही कहा जाता है। क्षत्रिय-गुणकर्मवाले परशुराम, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा आदिको ब्राह्मण ही कहा गया है तथा ब्राह्मण-गुणकर्मवाले युधिष्ठिरादिको भी क्षत्रिय ही कहा गया है। शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार जैसे शूकर, कूकर, देव, मनुष्यादि जातियाँ प्राप्त होती हैं, वैसे ही शुभाशुभ कर्मोंके अनुमार ब्राह्मण, क्षत्रियादि जातियाँ प्राप्त होती हैं—

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा ॥

(छान्दो० उप० ५ । १० । ७)

कर्मोंके अनुसार जैसे हरिणीसे हरिण उत्पन्न होते हैं, वैसे ही ब्राह्मण-ब्राह्मणीसे ब्राह्मण उत्पन्न होता है। जन्ममूलक वर्ण-व्यवस्था और तन्मूलक कर्म धर्म-व्यवस्था होती है। जन्मना वर्ण और कर्मणा उत्कर्ष यही व्यावहारिक स्थिति है। योनि-विद्या और तप ब्राह्मण्यका कारण होता है। विद्या-तपके बिना भी जाति ब्राह्मण्य होता है। योनि बिना विद्या और तपसे 'सिंहो माणवकः'के समान गौण ब्राह्मण्य आता है। सिंह-सिंहीसे जन्म होने और शौर्य न होनेसे जाति सिंहत्वका व्यवहार होता है। पर सिंह-सिंहीसे जन्म न होने तथा शौर्य आदि गुणयोग होनेपर गौण सिंहत्वका व्यवहार होता है। 'जन्मना प्राप्यते सा जातिः।'

जाति मुख्यरूपसे जन्मना ही होती है, फिर भी कहीं-कहीं देशके नामसे भी जातिका व्यवहार होता है। इसका कारण यह है कि देशके सम्बन्धसे जाति-व्यञ्जक स्थितिमें विशेषता आती है। विभिन्न देशके जलवायु आदिके प्रभावसे रंग-रूप-बनावटमें भेद पड़ता है। व्रीहि आदि अन्नों, आम्रादि फलोंपर भी देशका प्रभाव पड़ता है। इन सब बातोंका प्रभाव मनुष्योंपर भी पड़ता है। इसलिये चीनी, जापानी, बर्मी, इंगलिश, अफ्रीकी मनुष्योंके भी रूप-रंग-बनावटका भेद उपलब्ध होता है। तत्तत्संस्थान-भेदसे व्यंग्य होनेके कारण उनमें जाति-भेदकी कल्पना होती है। अधिक क्या, भारतमें भी नैपाली, मैथिल, पंजाबी, द्रविण, बंगाली, उत्कल, मद्रासी मनुष्योंमें बनावटका भेद उपलब्ध होता है।

यावद्द्रव्यभावी होनेके कारण देशादि-जन्य विशेषताओंके कारण जातिभेदकी कल्पना चल सकती है। परंतु ब्राह्मणत्वादि जाति-संस्थान व्यंग्य नहीं है, वह साक्षात् उपदेशगम्य होती है। यही कारण है कि मिथिला, उत्कल, महाराष्ट्र, तैलंगादि भारतके विभिन्न भागोंके मनुष्योंमें बनावटका भेद होनेपर भी ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्वादि सर्वत्र समान माना जाता है।

यदि दैवात् परम्परासे ब्राह्मणत्वादि जातियाँ और वेदशास्त्रानुकूल आचरण अंग्रेजों, जर्मनों और यहूदियोंके भी बने होते तो उनके रूप-रंगके भेद रहनेपर भी

ब्राह्मणादि माननेमें कोई आपत्ति न होती। बल्कि अपने मनु आदि स्मृतिकारोंने माना ही यह है कि बहुत-से-क्षत्रिय दिग्विजयके लिये बाहर जाकर ब्राह्मणोंके साथ सम्बन्ध और वैदिक आचार-विचार छूट जानेसे म्लेच्छजातिके हो गये—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥
(मनु० १०।४३–४५)

इस तरह वैदिकोंमें किसी तरह द्वेष या रागसे उत्कर्षापकर्षकी कल्पना नहीं है। तात्त्विक जाति-भेद होनेपर भी किसीका उत्थान ज्ञान उन्हें नहीं खलता। इसलिये धर्मव्याध आदि अन्त्यज, विदुरादि शूद्र, तुलाधार आदि वैश्यों-जैसे यहाँ कितने ही उच्चकोटिके ज्ञानी और सम्मानित धर्मात्मा थे।

कुछ लोगोंका कहना है कि सृष्टिके आदिमें जो मूलभूत ब्राह्मण-क्षत्रियादि उत्पन्न हुए हैं, उनके ब्राह्मणत्वादिका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता; क्योंकि उस समय माता-पिताकी जातिका स्मरणरूप उसका व्यञ्जक नहीं था। फिर जब उनमें ब्राह्मणत्वादिका प्रत्यक्ष नहीं हुआ, तब उनके पुत्र-पौत्रादिमें ब्राह्मणत्वादिका प्रत्यक्ष होना नितरां दुर्घट है। यदि उनके ब्राह्मणत्वादिका व्यञ्जक कुछ और है तो वही आधुनिक ब्राह्मणादिकोंके भी ब्राह्मणत्वादिका व्यञ्जक मानना चाहिये। पर यह संदेह तो गोत्व-अश्वत्वादि जातियोंके भी सम्बन्धमें भी होगा; क्योंकि वे भी गो-अश्वादिसे उत्पन्न नहीं हैं। इसपर कहा जा सकता है कि प्रथम गो आदिमें हिरण्यगर्भके उपदेशसे गोत्वादि जातिका निश्चय होता है। हिरण्यगर्भको पूर्वकल्पोंका निश्चय रहता है। फिर गोत्वका प्रत्यक्ष तो पूर्वकल्पके गोव्यक्तिकी गठनं (सास्नादि) देखनेसे होता है, पर ब्राह्मणादिके देखनेसे तो यह समाधान नहीं हो सकता; क्योंकि उनका कोई विशिष्ट गठन (अवयव-संस्थान) नहीं है। पर इसका समाधान यह है कि मूल ब्राह्मणादिमें मुखजत्व बाहुजत्वादिका ज्ञान ही उनके ब्राह्मणत्वादि जातिका अभिव्यञ्जक है।

वैदिकोंके मतसे तो ब्राह्मणत्वादि जातियाँ वृक्षत्वादिकी तरह प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। जो यह शङ्का की जाती है कि ब्राह्मणमें, सजातीयोंमें अनुगत किसी आकारविशेषकी उपलब्धि नहीं होती, सो ठीक नहीं, क्योंकि आकार या संस्थान जाति नहीं है। ऐसा होनेपर निरवयव ज्ञान, इच्छा आदिमें जातिका होना असम्भव हो जायगा। अतः अनुगत प्रतीतिका विषय ही जाति है। अयं वृक्षः, अयं महिषः, अयं ब्राह्मणः, इत्यादि

अनुगत प्रतीतिका विषय ही ब्राह्मणत्वादि जाति है। फिर भी यहाँ जो शङ्का की जाती है कि वृक्षत्वजातिका ज्ञान यदि प्रत्यक्ष माना जाय तब तो उसमें शब्दरूपी सहकारीकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती, वह तो इन्द्रियसे ही हो सकता है, पर ब्राह्मणत्वके कोई भी संस्थान व्यञ्जक नहीं है। तब वृक्षत्वके समान ब्राह्मणत्वको प्रत्यक्षसिद्ध कैसे माना जाय? पर इसका समाधान स्पष्ट है—'सब जातियोंके समान व्यञ्जककी आवश्यकता नहीं होती। वृक्षत्वमें शाखापत्रादि संस्थान व्यञ्जक हैं। सुवर्णत्व जातिके प्रत्यक्षमें रूप व्यञ्जक है। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व जातिके प्रत्यक्षमें माता-पिताकी जातिका ज्ञान व्यञ्जक है। जिस प्रकार गान्धर्ववेदके ज्ञाता स्वरोंकी जातियाँ, जौहरी रत्नोंकी जातियाँ पहचान लेते हैं, दूसरे लोग कुछ नहीं जान पाते, इसी प्रकार निपुण लोग ब्राह्मणत्वादिको जान लेते हैं। नारदादिकोंने वाल्मीकिको मिनटोंमें ब्राह्मण जान लिया था। सत्यकाम जाबालके ब्राह्मणत्वको उसके आचार्यने जान लिया था।

कहा जाता है कि 'आजकल विशुद्ध रक्तका अभिमान केवल दम्भ है; क्योंकि कोई भी जाति अछूती नहीं बची है। सबका किसी-न-किसी रूपमें मिश्रण हुआ है। रंग-रूपमें भेद ही मिश्रणका प्रमाण है। जैसे काली मुर्गी और श्वेत मुर्गेसे उत्पन्न चार बच्चोंमें एक काला और एक श्वेत है, बाकी दो मिश्रित हैं। दूसरी पीढ़ीमें सोलह बच्चोंमें एक श्वेत, एक काला और चौदह मिश्र रंगके तथा तीसरी पीढ़ीमें चौंसठमें एक काला और एक श्वेत, बाकी सब मिश्र रंगके होते हैं, वैसे ही मनुष्योंमें भी पश्चिमी श्वेत और पीत मंगोलका मिश्रण होनेसे कुछ पश्चिमीय रंगके कुछ मंगोल रंगके होते हैं; पर अधिकांश पारसी, ईरानी ढंगके होते हैं। अतः पारसी जाति इन्हीं दोनोंका मिश्रण है। यही स्थिति उत्तर भारतकी उच्च जातियोंमें है। वहाँ मिश्रण स्पष्ट है।'

पर यह कहना भूल है। कलमी आमोंमें कभी भी मूल आमके समान फल नहीं होते, तो क्या इतनेसे ही वह आम किसी दूसरे आमका बीज मान लिया जाय? जैसे काली, श्वेत मुर्गीमें भी जाति वही रहती है, नील, श्वेत, लाल, सब रंगोंकी गायोंमें गोत्व और पूज्यत्व रहता है; वैसे ही पंजाबी, मैथिल, बंगाली, द्रविड़, उत्कल, तैलंग ब्राह्मणोंके रूप-रंगमें भेद होनेपर भी ब्राह्मणत्व समान रहता है। कभी काले माता-पितासे भी गोरे बच्चे पैदा हो जाते हैं। कभी तो किसी पशुकी आकृतिका बच्चा पैदा हो जाता है। तब क्या उसका पशुके साथ सम्बन्ध माना जाय? आर्योंमें स्त्रियाँ अत्यन्त सुरक्षित रहती हैं। यहाँ अनादिकालसे वेदादिशास्त्रोंके अनुसार स्त्रियाँ परतन्त्र रहती हैं, पातिव्रत्य पालन करती हैं। अतः यहाँ माता-पिताका सम्बन्ध ज्ञान और तदधीन ब्राह्मणत्वादिका प्रत्यक्ष ज्ञान सुलभ है। यही आर्योंकी विशेषता है, जो अन्यत्र बहुत कम मिलेगी। आज मोहवश उसे ही खो देनेके लिये कुशिक्षाके प्रभावसे प्रभावित भारतीय भी व्यग्र हो रहे हैं।

अस्तु, वैज्ञानिक ढंगसे मनुष्योंमें बाह्य एवं आन्तरिक भेदसे जातिभेद ठीक उसी प्रकार स्वीकार्य है, जैसे मनुष्यमें धन एवं बल-बुद्धि आदिमें अनेक प्रकारका तारतम्य होता है। अतः जो किसीकी अपेक्षा शोषित है, वही किसीकी अपेक्षा शोषक सिद्ध होगा। अर्बुदपति, कोटिपति, लक्षपति, सहस्रपति, शतपति आदिमें सबमें परस्पर सापेक्ष शोषक-शोषित-भाव है।

व्यापार आदिके द्वारा निर्वाह करनेवाला शोषक, मजदूरी-नौकरीके आधारपर जीवन चलानेवाला शोषित—यह व्यवस्था भी नहीं चल सकती। कारण, कितने ही ऐसे लोग हैं जो व्यापारादि भी करते हैं, नौकरी भी। केवल नौकरी करनेवालोंमें भी कुछ लोगोंको हजारों, लाखों रुपये मासिक वेतन मिलता है और हजारों, लाखों वैतनिक उनके नियन्त्रणमें पीसते हैं। क्या मार्क्सवादी उन्हें भी शोषित कहेंगे? बड़े-बड़े इन्जीनियर, बड़े-बड़े एडवोकेट १०-१० मिनटका पारिश्रमिक हजारों रुपये ले लेते हैं। चिकित्सक, डाक्टरोंकी भी यही हालत है, एक-एक आपरेशनमें लाख-लाख रुपये ले लेते हैं। यही स्थिति बड़े फील्डमार्शलों, चीफजस्टिसों, राष्ट्रपतियों एवं मन्त्रियोंकी भी है। पूँजीपतियोंके परम प्रिय कई ऐसे नौकर हजारोंका वेतन लेते हैं और गरीबों मजदूरोंका पूर्ण शोषण करनेवाले ये ही हैं। क्या वे भी शोषित समझे जा सकते हैं? इस तरह मार्क्सवादी किसी तरह भी वास्तविक वर्ग-भेदका निर्धारण नहीं कर सकता। अतः इन वर्गभेदोंमें अमिट विरोधकी कल्पना करना व्यर्थ है। अनेक नौकर मालिकोंके अत्यन्त हितैषी होते हैं। उनके नामपर प्राण देना उनके लिये साधारण-सी बात है। आज भी वैतनिक सैनिक अपने सेनापतियोंके आज्ञानुसार प्राण देते ही हैं। हाँ, विद्वेष फैलानेवाले साहित्यिकों तथा प्रचारकोंकी महिमासे मालिक-मजदूरोंमें ही क्यों, पिता-पुत्र, पति-पत्नियों, गुरु-शिष्योंमें भी आज अमिट वैर-विग्रह बढ़ रहा है, छात्रोंका प्रोफेसरों, प्रिन्सिपलों, कुलपतियोंके साथ भी अमिट विरोध बन गया है। प्राचीनकालमें बुद्धिजीवी, श्रमजीवी आदि नौकरों तथा साधनसम्पन्न भूमि-सम्पत्तिवाले मालिकोंमें पिता-पुत्र जैसा प्रेम होता था। अनेकों उदाहरण पुराणोंमें मिलते हैं, जिनमें मालिकोंके लिये सेवावृत्तिवाले नौकरोंने अपनी जान लड़ा दी थी, जिसका नमक खाते थे, उसके प्रति कृतज्ञ रहते थे। नमकहरामीको पाप समझते थे। अतः पूँजीपतियों, मालिकों, मजदूरोंमें संघर्ष उत्पन्न की हुई चीज है, न वह स्वाभाविक है और न उनका विरोध ही अमिट है। जहाँ राष्ट्रसेवाकी दृष्टिसे दोनों मिलकर काम करेंगे, वहाँ मालिक स्वयं मजदूरको पुत्रके तुल्य समझकर उसकी प्रत्येक सुविधाका ध्यान रखते हुए उसकी जीविकाका ध्यान रखेगा। वैज्ञानिकों, इन्जीनियरों, डाक्टरों, वकीलोंको—पर्याप्त वेतन दिया ही जाता है। सामान्य मजदूरोंको भी उनकी योग्यता एवं आवश्यकताका ध्यान रखते हुए उचित वेतनकी व्यवस्था की जाती रही है। आज भी

अनेक स्थानोंमें मालिकों-मजदूरोंमें परस्पर प्रेम है, संघर्ष नहीं। अवश्य ही अनेक प्रकृतिके लोग होते हैं; अतः बहुत-से मालिकों एवं मजदूरोंमें संघर्ष भी होता ही है। मजदूर भी इस प्रकृतिके होते हैं कि कम-से-कम परिश्रम और ज्यादा-से-ज्यादा मजदूरी लेना चाहते हैं। मालिक भी कम-से-कम दाममें ज्यादा-से-ज्यादा काम लेना चाहते हैं। कहीं-कहीं मजदूरोंमें अधिक भलमनसाहत होती है। कहीं पूँजीपतियोंमें भी भलमनसाहत होती है। पूँजीपतियोंके पास ऐश्वर्यमद होनेसे प्रमाद, विलासिता, निर्दयता, अत्याचार अधिक सम्भव होता है अवश्य; परंतु यह सब दोष किसीमें भी स्वाभाविक एवं अनिवार्यरूपसे नहीं होते। इसीलिये सभी सेठोंमें भी भले-बुरे होते ही हैं। सर्वत्र परिस्थितियों एवं वातावरण-निर्माण और शिक्षादिद्वारा दोष मिटाये भी जा सकते हैं और बढ़ाये भी जा सकते हैं। वर्गवादी खूनी क्रान्ति शीघ्र लानेके लिये संघर्ष बढ़ानेका ही प्रयत्न करते हैं। इसीलिये वे दोनों वर्गमें सद्भावना बढ़ने, यहाँतक कि मजदूरोंके वेतन, भत्ता, मजदूरी आदि बढ़ने एवं कामके घंटोंमें कमी होनेको भी संघर्ष और कम्युनिष्ट राज्य बननेमें बाधक समझते हैं। फिर भी बोनस, भत्ता, वेतन बढ़ाने और कामके घंटोंमें कमी करानेके लिये आन्दोलन करते हैं। इस सम्बन्धमें उनका उद्देश्य यही रहता है कि इसी मार्गसे संघर्ष बढ़ेगा। माँग सफल हो जायगी तो सफलताका श्रेय उन्हें प्राप्त होगा, मजदूर-नेताओंपर मजदूरोंका विश्वास बढ़ेगा; आन्दोलनमें भी विश्वास बढ़ेगा और पुनः अधिक संघर्षके साथ और अधिक माँगके लिये आन्दोलन बढ़ायेंगे। माँग पूरी न होनेसे द्वेष और बढ़ेगा। हड़तालों, जुलूसों, सभाओंद्वारा उत्तेजना बढ़ाकर मजदूरोंको तोड़-फोड़के कामोंमें प्रोत्साहित किया जाता है। प्रबन्धकों, शासकोंके द्वारा हस्तक्षेप करने, लाठी चार्ज, गोलीकाण्ड होनेसे वह विद्वेष-वैमनस्य और बढ़ता है। बस, इसी वैमनस्यको बढ़ानेके लिये कम्युनिष्ट तरह-तरहकी माँग उपस्थित करते रहते हैं। रामराज्यवादीकी दृष्टिमें योग्यता, आवश्यकता एवं उत्पादन, लागत खर्च, टैक्स और आयको देखते हुए, काम-दाम-आरामकी व्यवस्था होती है। साम्यवादी शासनको भी इन बातोंका ध्यान रखते हुए ही व्यवस्था करनी पड़ती है। न सभी सब प्रकारका काम ही कर सकते हैं और न सभीको एक-सा पारिश्रमिक ही दिया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्तिको एक-सी सुविधा नहीं मिल सकती। हर व्यक्तिके लिये वायुयान, मोटर आदिकी व्यवस्था होनी कठिन ही है।

जहाँ सद्भावना एवं न्यायकी बुद्धि नहीं है, वहाँ परिस्थितियोंसे लाभ उठानेकी चेष्टा सभी करते हैं। जैसे भूखों मरते हुए मजदूर अल्पमूल्यमें अपना श्रम बेचनेको लाचार होता है। पूँजीपति उस लाचारीका अनुचित लाभ उठाकर उसके श्रमका उचित मूल्य नहीं देता, उसी तरह मजदूर भी संगठित होकर, हड़ताल करके, सब

काम ठप करके, पूँजीपतिको भी ज्यादा दाम देनेके लिये लाचार कर देते हैं। इतना ही क्यों ? सभी कुछ छीनकर उसे समाप्त भी कर डालते हैं। कुछ ऐश्वर्यमदोन्मत्त धनिकोंके प्रमादसे, कुछ उनके विरुद्ध किये गये अनुचित प्रचारसे ऐसा वातावरण बन जाता है कि निरपराध, शिष्ट, परोपकारी, धनवान्‌को भी अपमानित होना पड़ता है और कभी शिष्ट ईमानदार मजदूरको भी अत्याचारका शिकार बनना पड़ता है। सड़कोंपर कभी रिक्शा या ताँगासे जब मोटरकारका एक्सीडेण्ट हो जाता है तो भले ही अपराध रिक्सेवालेका ही हो, फिर भी साधारण जनसमूह मोटरवालेको ही अपराधी ठहराता है। वस्तुतः दूकानदार एवं खरीददार-जैसा ही मजदूर तथा मालिकोंका संघर्ष है। जब देहाती किसानोंको टैक्स देने तथा वस्त्रादि आवश्यक वस्तु प्राप्त करनेके लिये रुपयोंकी अत्यधिक अपेक्षा होती है, तब उन्हें अपने गाढ़े पसीनेकी कमाईका गेहूँ, चावल, कपास, गन्ना आदि अल्प मूल्यमें ही देनेके लिये लाचार होना पड़ता है। परंतु जब कभी उन्हें बेचनेकी आवश्यकता नहीं होती, तो वे अपनी वस्तुओंका मनमाना दाम बढ़ा देते हैं, और अभाववाले लोग ज्यादा-से-ज्यादा दाम देनेको लाचार होते हैं। असंतुलनके कारण संघर्षसे किसीका लाभ नहीं होता। मजदूर आन्दोलन करके ज्यादा दाम प्राप्त करता है तो मालिक वस्त्रादिपर ज्यादा दाम बढ़ा देता है। उसके लिये किसानोंको ज्यादा दाम देना पड़ता है तो वे अपने अन्नका दाम बढ़ा देते हैं। फलतः मजदूरोंने आन्दोलनों-द्वारा ज्यादा मजदूरी पायी, वह उधर अन्न, वस्त्र खरीदनेमें खतम हो गयी। इधर मध्य श्रेणीके लोगोंका जीवन अधिक संकटपूर्ण हो जाता है। यह कहा जा चुका है कि केवल प्रचारके बलपर निर्माण एवं विध्वंसकार्य होता रहता है। वर्ग-भेद—वर्गविद्वेष पैदा कर अवश्य वर्गविध्वंस किया जा सकता है, संसारमें दुराचार, व्यभिचार भी होता है, डाकुओंके दल भी संघटित होते हैं, उनको कभी-कभी पर्याप्त सफलता भी मिल जाती है; परंतु एतावता वह धर्म, सदाचार या सिद्धान्त नहीं बन सकता।

पूर्वोक्त युक्तिसे पैदावारके साधनोंपर यदि लोगोंके व्यक्तिगत अधिकार वैध हैं, तब उनका मिटाना या समाज या राष्ट्रके नामपर कुछ तानाशाहोंके हाथमें उत्पादन साधनोंका जाना कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। यह भी कहा जा चुका है कि केवल मजदूरोंके कारण ही उत्पादन-वृद्धि नहीं होती, किंतु वैज्ञानिकों, नरेशों, पूँजीपतियों एवं प्राकृतिक साधनों, कच्चे माल इत्यादिकोंको ही इसका मुख्य श्रेय है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश एवं सामयिक वृष्टि विविध प्रकारके लोहा, कोयला, तामा, सीसा, पारा तथा सर्वोपरि ईश्वर-निर्मित प्राकृत दिल, दिमाग, मस्तिष्क आदिका भी इन सब विकासोंमें प्रमुख हाथ है। इनके बिना मजदूर कुछ भी नहीं कर सकते। यह मार्क्सवादी भी मानते ही हैं। पूँजीपतियोंके

कारण ही हजारों कल कारखानोंका बनना सम्भव हो सका। लाखों मजदूरोंको एकत्र रहकर संघटित होने एवं आन्दोलन करनेकी सुविधा प्राप्त हुई। अन्यथा देहातों, गाँवोंमें अपने खाने-कमानेमें परेशान मजदूरोंके लिये यह कहाँ सम्भव था कि वे दूर-दूरसे चलकर लाखोंकी संख्यामें एकत्र हो सकें।

शास्त्रीय दृष्टिसे इसे उपजीव्य विरोध कहा जाता है। जैसे पितासे उत्पन्न पुत्र पिताका घातक नहीं हो सकता, वैसे ही पूँजीपतियोंके सहारे संघटित एवं बलवान् होनेवाले मजदूर पूँजीपतियोंकी सम्पत्ति छीनकर उन्हें नष्ट कर दें, यह कृतघ्नता समझी जाती है—'जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहिं हति ताहि नसावा॥' अग्निसे उत्पन्न धूम (मेघ) के द्वारा अग्निका नाश किया जाना ही इसका उदाहरण है—'धूम अनल संभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई॥' इसके अतिरिक्त जिस मजदूरवर्गने वेतन लेकर अपना श्रम बेच डाला, फिर उसे क्या अधिकार है कि वह उत्पादन-साधनों या उत्पन्न हुई वस्तुओंपर अधिकार कर ले? किसीने अपनी कोई चीज किसीके हाथ बेच दी, तो उसमें या उसके द्वारा प्राप्त फलमें उसका कोई भी अधिकार नहीं रहता। शास्त्रानुसार दक्षिणाके द्वारा क्रीत-ऋत्विजों-द्वारा होनेवाले यज्ञोंका फल यजमानको ही मिलता है, ऋत्विजोंको नहीं—'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्'(३।७।१८—३।८।५) इत्यादि पूर्व-मीमांसादर्शनमें यह स्पष्ट है। अवश्य ही ईश्वरके तुल्य जो भी अदृष्टोंद्वारा विश्व सृष्टिमें कारण है। अतः विश्वमें सभी प्राणियोंका हिस्सा है। इस दृष्टिसे न केवल मनुष्योंका ही अपितु प्राणिमात्र-का उसमें हिस्सा है। अतः सबको जीवित रहने, विकसित होनेका अधिकार है। अतएव किसीपर अन्याय, अत्याचार होना अनुचित है। पशु, पक्षी, वृक्ष आदिका भी अन्याय-पूर्ण संहार तथा शोषण पाप है। इस दृष्टिसे राज्यद्वारा एक सर्वसामान्य जीवन-स्तर निर्धारित होना आवश्यक होता है, जिसमें योग्यता, आवश्यकता तथा उत्पादनके अनुसार काम, दाम, आरामकी व्यवस्था की जाय और सभीको स्वस्थ, शिक्षित एवं विकसित होनेका अवसर मिले। इस दृष्टिसे मजदूरोंके भी वेतनका क्रम उचितरूपमें निर्धारित किया जाय। इस सम्बन्धमें न अत्यन्त समता ही लायी जा सकती है, न अत्यन्त विषमताका ही समर्थन किया जा सकता है। संतुलित समता, संतुलित विषमता ही मान्य हो सकती है। शरीरमें भी हाथ, पाँव, पेट, पीठ आदिमें तथा एक हाथकी ही अँगुलियोंमें भी मोटापन, पतलापन, लम्बाई-चौड़ाई आदि समान नहीं। कोई बड़ी, कोई छोटी, कोई मोटी, कोई पतली है, तथापि इनका एक संतुलन भी है। पेट बहुत मोटा हो जाय, हाथ-पैर दुबले हो जायँ तो शरीर स्वस्थ नहीं समझा जा सकता। निष्कर्ष यह है कि सामाजिक, आर्थिक संतुलन रहना बहुत आवश्यक है। इसी असंतुलनको दूर करनेके लिये भारतीय धर्मशास्त्रों, नीतिशास्त्रोंमें अनेक प्रकारके नियम हैं।

शास्त्रानुसार प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरेका मधु अर्थात् मोदहेतु माना गया है। पञ्च महायज्ञद्वारा विश्वका उपकारक बनता है। यज्ञसे देवताओंका, ब्रह्मयज्ञसे ऋषियोंका, भूतयज्ञसे कीट-पतंगों, पशु-पक्षियों, सभी प्राणियोंका तर्पण किया जाता है, श्वान, काक, प्रेत, पिशाचादि सभी प्राणियोंके तर्पणका प्रयत्न किया जाता है। अर्थात् मनुष्य केवल अपने लिये नहीं उत्पन्न हुआ है, किंतु सम्पूर्ण विश्वके तर्पणके लिये उसका जन्म है। भोजनकालमें जो भी भोजनार्थी आये, उसका नाम, गोत्र पूछे बिना उसे भोजन करानेका नियम है। रन्तिदेव आदि महापुरुषोंने ४८ दिनका निर्जल व्रत करनेके अनन्तर भी भोजन उपस्थित होनेपर नियमानुसार अतिथिकी प्रतीक्षा की। प्राप्त सत्तुक आदि सब कुछ ब्राह्मण, अन्त्यज आदिको प्रदान कर दिया था। जल पीनेके समय भी जब पुल्कसने आकर जल माँगा तो वह जल भी उसे दिया और प्राणान्त होते समय भी परमेश्वरसे यही प्रार्थना की कि 'प्रभो! मुझे राज्य, स्वर्ग, अपवर्ग कुछ भी नहीं चाहिये, केवल दुखियोंका दुःख ही मुझे मिल जाय; जिससे वे सुखी हो जायँ—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥

मन्वादिने भी यह नियम रक्खा है कि जिसके घरमें तीन वर्षोंके लिये भृत्यादि भरणकी सामग्री हो उसे सोमयज्ञ करके उसीमें अपना धन लगाना चाहिये।

यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्यवृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोमं पातुमर्हति॥ (मनु० ११।७)

विविध प्रकारके दानोंका भी उद्देश्य असंतुलन मिटाना ही है। अतिरिक्त आयका पञ्चधा विभाजन करके राष्ट्रहितमें लगानेकी बात पीछे कही जा चुकी है। मनुने यह भी कहा है कि जो राजा असाधु पुरुषसे धन लेकर साधु-पुरुषोंको प्रदान करता है, वह अपनेको नाव बनाकर उन दोनोंको तार देता है—

योऽसाधुभ्योऽर्थमादाय साधुभ्यः संप्रयच्छति।
स कृत्वा प्लवमात्मानं संतारयति तावुभौ॥ (मनु० ११।१९)

इसी प्रकार अनुचित ढंगसे चोरबाजारी, चोरी, डाका, घूससे धनवान् बननेवाले असाधुओंसे धन छीनकर साधुओंको देना उचित है। ईमानदार धनवानोंसे भी सहायता लेकर बिना रोजी-रोजगारवालोंकी रोजीका प्रबन्ध करना राजाका कर्तव्य है। भूमिवालोंसे भी भूमि लेकर बेरोजगारी दूर की जा सकती है। हाँ, यह अवश्य है कि जिस कुँएसे पानी लिया जाय, उसको इस योग्य बनाये रक्खें कि वह आगे भी सहायता देने लायक रहे। किसी अंगसे अस्थि या मांसकी सहायता लेकर दूसरे अंगकी आवश्यकता पूरी की जा सकती है, परंतु सहायक अंगको मिटा देना—नष्ट कर

देना अनुचित है। उसे पुष्ट बनाकर उसकी कमी पूरी करनी ही ठीक है। यही जड़वाद, अध्यात्मवादमें भेद है। अध्यात्मवादी अपनी शक्ति, सम्पत्तिको विश्व-सेवामें समर्पित करनेको लालायित रहता है, भारतीय नीतिके अनुसार दूसरे व्यक्तिकी वस्तु लेनेसे हर प्रकार बचना चाहता है। पर देनेवाला हर प्रकार अपनी वस्तु दूसरेको देना चाहता है। शास्त्र प्रतिग्रहसे बचनेका आदेश भी करते हैं और देनेवालेको हर प्रकारसे देनेका उपदेश भी। प्रतिग्रहसमर्थ पुरुषको भी प्रतिग्रहसे बचना चाहिये—

'प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत्।' (मनु० ४ । १८६)

पर देनेवालेको कहते हैं कि—

'श्रद्धया देयम्, अश्रद्धया देयम्, श्रिया देयम्, ह्रिया देयम्, भिया देयम्।'
(तैत्तिरीय उप० १ । ११ । ३)

स्वतः श्रद्धासे दे, दूसरोंकी प्रेरणासे दे, लज्जासे दे, भयसे दे। टोला-पड़ोसके लोग भूखे रहेंगे तो कोई भी धनी अपनी कोठीमें सुखकी नींद सो न सकेगा। चोरी, डाका, लूट, खसोट आदि अवश्य ही मचेगी। इस दृष्टिसे देनेवाला हर तरह देना चाहता है। लेनेवाला बचना चाहता है। अतः लीजिये, लीजिये, नहीं, नहींका घोष सुनायी पड़ता है। आधुनिक साम्यवादियोंमें ठीक इसका उल्टा है। गरीबों-मजदूरोंके नामपर लेनेवाले कहते हैं, 'लड़कर लेंगे, झगड़कर लेंगे, मरकर-मारकर लेंगे, लेंगे।' देनेवाले कहते हैं—'नहीं देंगे, मर जायँगे, मिट जायँगे पर नहीं देंगे।' इस तरह यहाँ 'दो-दो, नहीं-नहीं' का घोष चलता है। अध्यात्मवादमें एक मुख्य उपासना है, जिसमें निर्गुण ब्रह्म जाननेके लिये विराट् हिरण्यगर्भ तथा अव्याकृत ब्रह्मकी उपासना करनी पड़ती है। यह उपासना अहंग्रहरूपसे होती है। उपासकको अपने व्यष्टि स्वरूपको हटाकर समष्टिरूपकी भावना करनी पड़ती है, अर्थात् अपनेको साधारण देह न मानकर महाविराट् मानना पड़ता है। फिर तो द्युलोकको अपना मूर्द्धा, सूर्यको चक्षु, वायुको, प्राण, अन्तरिक्षको उदर, समुद्रको बस्ती, पृथ्वीको पैर मानता है। जिसमें अहंता लानी हो उसमें पहले घनिष्ठ ममता लानी पड़ती है। जिनमें साधारण ममता होती है, उनमें अहंता नहीं होती। देहमें घनिष्ठ ममता होती है, अतः उसमें ही अहंता होती है। इतनी ममता दृढ़ होनेसे ही अहंता उत्पन्न होती है। जब कभी पुत्र-कलत्रमें ममता घनिष्ठ हो जाती है, तब उनमें भी अहंता उत्पन्न होती है। इसीलिये उनके दुःख-सुखमें दुखी-सुखी होनेकी बात चलती है। अतएव जैसे प्राणी देहके भोजन-वस्त्र विविध सुख-साधनोंके लिये तथा दुःख दूर करनेके लिये प्रयत्नशील होता है, वैसे ही जब पुत्र-कलत्रादि भी ममता एवं अहंताके आस्पद होते हैं, तब उनके भी दुःख-निवृत्ति एवं सुखप्राप्तिके लिये प्राणी सदा ही तत्पर होता है। यह ममता क्रमेण विकसित होती है। साधारण प्राणी देहमें ही ममता रखता है, पर साधक धीरे-

धीरे संकुचित व्यष्टि अभिमानको मिटाकर, उसे कुटुम्ब, ग्राम, मण्डल, राज्य, राष्ट्र एवं विश्वमें विकसित करता है। इसीलिये साधारण प्राणी अपने ही दुःखमें दुखी और सुखमें सुखी होते हैं। पर उच्च भावनावाले लोग कुटुम्ब, ग्रामके दुःख-सुखमें दुखी-सुखी होते हैं। और अधिक उच्च लोग सारी पृथ्वीको ही कुटुम्ब मानकर सारे विश्वको अपनी आत्मा मानकर संसारके ही सुख-दुःखमें सुखी-दुखी होते हैं। इसीलिये अधिकांश अपने दुःख-सुखमें रोते-हँसते हैं, पर दूसरोंके दुःखमें रोनेवाले और दूसरोंके सुखमें हँसनेवाले महापुरुष होते हैं। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि जैसे सामान्य प्राणी अपने सुख-प्राप्ति दुःख-निवृत्तिमें निरन्तर प्रयत्नशील होता है, वैसे ही महापुरुष समष्टि जगत्की दुःख-निवृत्ति और सुख साधनमें लगे रहते हैं। इस दृष्टिसे राजा-प्रजा सभी समष्टि हित-साधनमें संलग्न रहकर एक इस प्रकारका जीवन निर्धारित करते और कम-से-कम उस स्थितिमें राष्ट्रके प्रत्येक नागरिकको पहुँचानेका प्रयत्न करते हैं। विविध प्रकारकी सहायता तथा विना सूद-ऋणादिद्वारा रोजी-रोजगार देकर मजदूरी या नौकरी देकर सभीके लिये उचित रोटी, कपड़ा, औषध, शिक्षा, निवासकी व्यवस्था की जाती है। उसी दृष्टिसे वेतनका भी निर्धारण होता है। योग्यता एवं परिस्थिति-के अनुसार किसीको नौकरी, किसीको कोई व्यापार, किसीको कोई उद्योग, किसीको खेती करने आदिकी व्यवस्था करके सबकी ही रोजीकी व्यवस्था की जाती है। इतनेपर भी हानिका डर एवं लाभका प्रलोभन हुए बिना आलस्य-प्रमादका त्यागकर उत्साहके साथ तत्परतापूर्वक परिश्रममें जबतक प्रवृत्ति न होगी, तबतक सफलता सम्भव नहीं।

संघटनकी कुंजी

यह तो हुई विघटनकी बात। अब जहाँ 'संघे शक्तिः कलौ युगे' की बात आजकल बहुत होती है, वहाँ भी संघटनकी योजनाएँ कैसे सफल हों, इस विषयमें सभी परेशान हैं। वास्तवमें जो संघटन पर रातों-दिन व्याख्यान दे और लेख लिख रहे हैं, जो स्वयं प्रान्त, समाज, राष्ट्रके संघटनपर जमीन-आसमानके कुलाबे एक किया करते हैं, उनके स्वाभाविक स्वार्थसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी काम प्रायः विघटनके मूल होते हैं। सौहार्द, सामञ्जस्य, सौमनस्य, मनुष्यत्वकी बातें वहींतक होती हैं, जहाँतक उनके निजी स्वार्थमें बाधा नहीं आती। फिर बाहरकी तो बात ही दूसरी है, पहले उनके घरोंमें ही कितना संघटन है? कुटुम्बियों, बन्धु-वर्गों, स्त्री, पुत्र, माता-पितामें क्या सौहार्द है? यदि नहीं तो बाहर कैसे होगा? वस्तुतः यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है कि व्यक्तियोंके सुधार विना सामूहिक सुधार हो जायगा। यह सच है कि राष्ट्र, प्रान्त, समाजके वातावरणका प्रभाव व्यक्तियोंपर पड़ता है, पर व्यक्तियोंके ही समूहको तो समाज, राष्ट्र आदि कहा जाता है। यदि सभी व्यक्ति आत्मसुधारकी ओर ध्यान न देकर

केवल समूह-सुधारके लिये प्रयत्नशील होंगे तो क्या स्वप्नमें भी वैयक्तिक या सामूहिक सुधार हो सकता है? कुछ व्यक्तियोंके समूहको कुटुम्ब, कुछ कुटुम्बके समूहको ग्राम या नगर कहा जाता है और उनके समूहको ही प्रान्त एवं राष्ट्र कहा जाता है। अतः जबतक वैयक्तिक, सामूहिक दोनों ही सुधारकी ओर ध्यान न दिया जाय, तबतक सफलताका स्वप्न देखना बेकार है। इसीलिये भगवान् मनु इस राष्ट्रिय, सामाजिक व्यवस्थाको ही लक्ष्यमें रखकर कौटुम्बिक, सामाजिक व्यवस्थापर जोर देते हैं और कुटुम्बपतिको वैयक्तिक नियन्त्रणके लिये यह बतलाते हैं कि धर्मबुद्धिसे ऐसा नियन्त्रण करे कि जिससे कुटुम्ब और समाजके विघटनका मूल विवाद ही न उठने पाये।

असहिष्णुता, अक्षमता, स्वार्थपरायणता आदि दोष ही विवाद और कटुता फैलाकर विघटन करते हैं। मनुका कहना है कि प्रति व्यक्तिको चाहिये कि वह ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मातुल, अतिथि, आश्रित, बालक, बूढ़े, रोगी, वैद्य, जातिवालों, सम्बन्धी, बान्धव, माता, पिता, बहन, भाई, पुत्र, स्त्री, बेटी तथा नौकर-चाकरोंके साथ विवाद न करे—

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यैर्मातुलातिथिसंश्रितैः ।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यैर्ज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ॥
मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया ।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत् ॥
(४। १७९-८०)

अगर उपर्युक्त व्यक्तियोंमें एक व्यक्तिके चलते विवाद और विघटन न हुआ तो कौन कह सकता है कि 'उसीके दृष्टान्तसे दूसरे भी वैसा कर एक महासंघटनका सूत्रपात न करेंगे? पर सहवाससे खटपट होना स्वाभाविक है। राग, रोष, ईर्ष्या, मद, मोह आदि बड़े-बड़े योग्योंके मनमें भी विकार, अपराग पैदा कर देते हैं। संघर्षसे बचना तो बड़ा कठिन है, स्वार्थोंके सम्बन्धसे पिता-पुत्रादिमें भी विवाद खड़ा होता है, फिर दूसरोंमें तो कहना ही क्या? अतएव मनु इसे धर्म बतलाकर इसके पालनसे परलोक-सिद्धि बतलाते हैं। धार्मिक पुरुष कठिन-से-कठिन कष्ट सहकर भी धर्मको बचाते हैं। धर्म-बुद्धिसे एक सम्राट् भी अपने गुरुका सेवक बनता है। उनके किये हुए अपमानोंको श्रद्धासे सहन करता है और उसके मनमें विकारका लेश भी नहीं आता। इसलिये मनुका कहना है कि इनके साथ झगड़ा बचाकर गृहस्थ सब पापोंसे छूट जाता है—

एतैर्विवादान् संत्यज्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
एभिर्जितैश्च जयति सर्वाँल्लोकानिमान् गृही ॥ (मनु० ४। १८१)

कुटुम्बमें विघटन, वैमनस्यसे नैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक सभी प्रकारका पतन और पातक हो सकता है। पर उपर्युक्त लोगोंसे झगड़ा टालनेमें ये विषय उपस्थित ही नहीं होते। अतः समाजके संघटन, धारण-पोषणमें कोई बाधा नहीं पड़ती। धर्मके ही सम्बन्धसे बालक, बूढ़े, दुर्बल, रोगियोंके आग्रहों, बातों और चिड़चिड़ापनको सहना पड़ता है, जो भौतिक और स्वार्थ-दृष्टिके संघटन-में असम्भव है। ज्येष्ठ भ्राताको पिताके समान और भार्या तथा पुत्रको अपना शरीर समझकर उनसे विवाद बचाना चाहिये। दासवर्गको अपनी छायामें और कन्याको परम दयाका पात्र जानकर उन सबका सहन करना चाहिये।

भ्राता ज्येष्ठः समः पित्रा भार्या पुत्रः स्वका तनुः ॥
छाया स्वो दासवर्गश्च दुहिता कृपणं परम् ।
तस्मादेतैरधिक्षिप्तः सहेतासंज्वरः सदा ॥ (मनु० ४ । १८५)

वास्तवमें इस तरह जो अपने सहवासियोंद्वारा अपनी निन्दा सह लेगा, वही व्यापक संघटनका अधिकारी होगा। किसी भी समाज या राष्ट्रको वशमें लानेके लिये बड़ी सहिष्णुता तथा स्वार्थ-त्यागकी अपेक्षा है। अपने कुटुम्बको कुटुम्ब बनानेके बाद ही प्राणी वसुधाको कुटुम्ब बना सकता है। जिसका अपने कुटुम्बमें ही सहयोग नहीं, जो अपने कुटुम्बके ही अधिक्षेपोंको नहीं सह सकता, वह दूसरोंके अधिक्षेपोंको कैसे सहेगा और कैसे उनके लिये स्वार्थ त्याग करेगा ?

अधिक क्या ? दैहिक संघटन भी कम चमत्कारपूर्ण नहीं है। हस्त, पाद, मुख, नेत्रादि एक दूसरेकी विपत्तियोंमें कैसे भाग लेते हैं ? पलकें, हाथ आदि नेत्रकी सारी विपत्तिको स्वयं लेना चाहती हैं। पैरमें काँटा लगनेपर नेत्र देखनेको उतावले हो उठते हैं; हाथ निकालनेको और मुँह फूँकनेको प्रस्तुत हो उठता है। देहीकी तो बात ही निराली है। यदि कहीं अपने दाँतोंसे जीभ कट जाय तो क्या दाँत पत्थरसे तोड़ डाले जायँ ? एक अङ्गसे दूसरे अङ्गपर आघात हो तो क्या देही उसे काट दे ? वह तो यही समझता है कि सब मेरे ही हैं। इस दृष्टिसे सर्वत्र व्यापक अनन्त एक आत्माको देखनेवाला पुरुष तो सब देहोंको अपना ही अङ्ग समझता है, फिर अपनी देहपर प्रहार करनेवालेको क्या करे, क्योंकि वह भी तो अपना ही है—

जिह्वां क्वचित् संदशति स्वदद्भिस्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत् ।
(श्रीमद्भा० ११ । २३ । ५१)

'सब अपना ही कुटुम्ब है या अपना ही अङ्ग या स्वरूप है', इस दृष्टिसे समाज और राष्ट्र एवं विश्वका हित चाहना बड़ी ऊँची बात है। बिना ऐसे भावोंके क्या संघटन सम्भव है ?

राष्ट्रका वशीकरण

यद्यपि समाजका आधार व्यक्ति है, तथापि बिना संघटनके समाज नहीं बनता।

संगठित व्यक्तियोंका प्रथम समाज कुटुम्ब ही है। उसके संचालनमें जिन गुणोंकी आवश्यकता होती है, वास्तवमें राष्ट्रके संचालनमें भी उन्हीं गुणोंकी आवश्यकता है। कुटुम्बमें भी भिन्न स्वार्थोंका संघर्ष है। किसी-न-किसी तरह उसमें सामंजस्य स्थापित करना छोटे, बड़े, बूढ़े, स्त्री, पुत्र, कलत्र सबको संतुष्ट रखना, नीतिद्वारा काम निकालना, किसीके साथ अन्याय न होने देना, अनुशासन और स्वतन्त्रताका उचित अनुपातमें मेल मिलाये रखना, सबको स्नेहके सूत्रमें बाँध रखना और घरके भीतर-बाहर शान्ति बनाये रखना जटिल समस्या है। राष्ट्रके संचालनमें भी ऐसी ही समस्याओंका पग-पगपर सामना करना पड़ता है। अतः जिसने कुटुम्ब-संचालनमें सफलता पा ली, वही राष्ट्र-संघटनमें भी सफल हो सकता है। इसीलिये शास्त्रोंमें कुटुम्बकी रक्षापर बड़ा जोर दिया गया है और सहिष्णुता, उदारता, क्षमता, आज्ञापालन, सौहार्द, सौमनस्य आदि गुणोंकी बड़ी आवश्यकता बतलायी गयी है। कुटुम्बमें जो वास्तवमें एक छोटा-मोटा राष्ट्र ही है, जबतक समान-मन, समान-उद्देश्य नहीं बनता एवं जबतक स्नेहसूत्रमें सब बँधनहीं जाते तबतक किसी प्रकारका अभ्युदय असंभव है। इन सबको सम्पादन करनेके लिये अथर्ववेदके सांमनस्य सूक्तमें (३। ६। ३०) एक अनुष्ठान बतलाया गया है। उसके मन्त्रोंका विधिवत् जप, हवन, अभिषेकद्वारा इस लक्ष्यकी सिद्धि होती है।

इन मन्त्रोंके कुछ अंश एवं आशय इस प्रकार हैं—'सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः'। (३। ६। ३०। १) अर्थात्—हे विवाद करनेवाले मनुष्यो! मैं तुमलोगोंका वैमनस्य मिटाकर सौमनस्य करता हूँ। (यह उक्ति जापक, होता या अभिषेक करनेवालेकी है।) मैं तुम्हें समान हृदय, समान चित्तवृत्ति एवं सम्यक् प्रीतिसे सख्य भावसे युक्त बनाना चाहता हूँ। जैसे गौ अपने वत्सको चाहती है, वैसे तुमलोग भी एक दूसरेसे प्रेम करो—'अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शंतिवाम्।' (२) पुत्र पिताका अनुगामी हो, माता पुत्रादिकोंके समान मनवाली और भार्या पतिसे सुखयुक्त मधुर वचन बोलनेवाली हो—'मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।' (३) एक भाई दूसरेसे द्वेष न करे, एक बहन दूसरेसे द्वेष न करे। सब लोग समान रहन-सहन, ज्ञान, कर्मसम्पन्न होकर कल्याणमयी वाणी बोलें—'येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः। तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे। संज्ञानं पुरुषेभ्यः' (४) जिस मन्त्रके प्रभावसे इन्द्रादि देवताओंका परस्पर विवाद, विद्वेष नहीं होता, उसी एक मत्यापादक सांमनस्य मन्त्रको तुम्हारे गृहमें प्रयुक्त करता हूँ—'ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि।' (५) तुमलोग ज्येष्ठ, कनिष्ठभावसे परस्पर अनुरक्त हो। समान चित्त होकर समान कार्यके लिये समान प्रयत्नशील हो। परस्पर वियुक्त न हो; एक दूसरेसे प्रियवाक् बोलते हुए परस्पर मिलो। मैं तुमलोगोंको समान कर्ममें समान मन होकर प्रवृत्त

करता हूँ—'समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।' (६) तुमलोगोंकी एक पानीयशाला हो, साथ ही अन्नभाग हो, (एक जगह ही बैठकर अन्नपानादिका भोग करो,) मैं तुमलोगोंको एक स्नेहपाशमें बाँधता हूँ। जैसे चारों ओरसे घेरकर अरा नाभी (चक्र) का आश्रयण करते हैं, वैसे ही समान फलकी आकांक्षासे तुम एक ही अग्निदेवकी उपासना करो—'सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्। देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वोऽस्तु।' (३।६।३०।७) मैं तुम्हें एक कार्यके लिये एक चित्तसे सहोद्युक्त बनाता हूँ और एक प्रकार ही तुम्हारी व्याप्ति या मुक्ति हो। इस सांमनस्य वशीकरणसे मैं तुम सबको वश करता हूँ। जैसे देवता एक मत होकर अजरामरत्व-प्रापक अमृतकी रक्षा करते हुए शोभनमनस्क होते हैं, वैसे ही आपलोग भी सदा शोभनमनस्क हों।'

कितनी उच्च और उदार कामनाएँ हैं। जो लोग अथर्ववेदको जादूगरी, टोनाटामरका पिटारा समझते हैं, उनका ध्यान क्या कभी इस ओर भी जाता है? कुटुम्बियों एवं कुटुम्बोंके सौमनस्य, सामनस्यमें सारा राष्ट्र ही नहीं—सारा विश्व स्नेहपाशमें बँधकर एकमत होकर अपने अभीष्टको प्राप्त कर सकता है। सभा, सोसाइटियोंमें केवल प्रस्ताव पास करनेकी वीरता दिखलानेसे कुछ नहीं होता। मनुष्य कितनी ही दृष्टादृष्ट शक्तियोंसे घिरा रहता है, सब बातें उसके वशकी नहीं। इसीलिये लौकिक प्रयत्नोंके साथ पारलौकिक प्रयत्नोंकी भी आवश्यकता रहती है। संकल्पकी शक्ति बड़ी प्रबल होती है। उनका प्रभाव लौकिक स्थितियोंपर भी पड़ता है। आज कुटुम्ब, राष्ट्र तथा विश्वमें विघटन-ही-विघटन है। 'अपनी-अपनी डफली, अपना-अपना राग' सर्वत्र आज यही दिखलायी दे रहा है। जहाँ देखो, वहीं ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, कलह, संघर्षका साम्राज्य है। इनके प्रशमनके आधुनिक सभी उपाय विफल हो रहे हैं। आज वैज्ञानिक अनुसंधानोंके पीछे लाखों रुपये उड़ते हैं। असफलता होनेपर भी कुछ नवीन बातोंके अनुभव होनेका संतोष कर लिया जाता है। फिर क्यों न कभी कुछ दैवी प्रयत्न करके भी देख लिया जाय? यदि हमसे कठिन अनुष्ठान नहीं होते तो क्या इतना भी नहीं बन पड़ता कि प्रतिदिन अपनी श्रद्धानुसार कुछ जप, भजन, प्रार्थना विश्वकल्याणार्थ करके देख लें कि उसका फल क्या होता है?

समाजवादमें लोकतन्त्र

'सोवियट कम्युनिज्म' (रूसी साम्यवाद) नामक पुस्तकमें फेबियन वेब दम्पतिने लिखा है कि 'जहाँ अमेरिका, ब्रिटेनमें ६० प्रतिशत जनता चुनावमें भाग लेती है, वहाँ सोवियट रूसमें ८० प्रतिशत जनता भाग लेती है। इस आधार-पर मार्क्सवादी सर्वहाराका अधिनायकत्व ही वास्तविक जनतन्त्र है। ब्रिटेन, अमेरिकाका जनतन्त्र तो ढोंगमात्र है।' परंतु दूसरी पार्टीको प्रेस, पत्र, प्रचार

आदिका जहाँ अवकाश ही न हो, दूसरे दलको स्वतन्त्ररूपसे निर्वाचनमें भाग लेनेका अधिकार ही न हो, जहाँ अधिनायकके आदेशानुसार जनताको वोट देना ही पड़े, वहाँ अस्सी प्रतिशत ही क्या शत-प्रतिशत वोट पड़ें तो भी क्या आश्चर्य है ? परंतु क्या इसे स्वतन्त्र जनमत कहा जा सकता है ? यह तो केवल दूसरेकी आँखोंमें धूल झोंकनेके लिये शुद्ध नाटकमात्र है।

कहा जाता है कि 'रूसमें मजदूर-वर्गको छोड़कर दूसरा कोई वर्ग ही नहीं, अतः दूसरी पार्टीकी वहाँ आवश्यकता नहीं। पूँजीवादी राष्ट्रोंमें विभिन्न वर्ग हैं, अतः उन वर्गोंका प्रतिनिधित्व करनेवाली पार्टियाँ वहाँ आवश्यक होती हैं। इसलिये रूसमें दूसरी पार्टियोंका न होना गुण ही है, दोष नहीं।' परंतु दूसरा वर्ग है या नहीं, इसका पता तो तब चले, जब कि दूसरोंको मुँह खोलने दिया जाय। दूसरे लोगोंको लेखन, भाषण एवं प्रेस-पत्रकी, सम्पत्ति रखनेकी, निर्वाचन लड़नेकी स्वाधीनता मिल जाय—तभी मालूम हो सकता है कि लोग क्या चाहते हैं ? यों तो रूसी पत्रोंद्वारा सरकारी मतको ही जनताका मत बतलाया जाता है। सरकारी मतके विपरीत मतको राष्ट्रविरोधी, जनविरोधी, मानवताविरोधी और न जाने क्या-क्या कहा जाता है। जहाँ कुछ अंशोंमें भी विचार-स्वातन्त्र्य है, वहाँ तो समाजवादी-विचारधारावालोंमें भी पार्टीभेद होता है। जैसे भारतमें ही कम्युनिष्ट पार्टी, सोशलिस्ट पार्टी, क्रान्तिकारी कम्युनिष्ट पार्टी आदिका भेद है। फिर यदि रूसमें मतभेद नहीं है, वर्गभेद नहीं है, तो प्रबल पुलिस एवं प्रबलतम गुप्तचर विभाग किसलिये है।

श्रमिकोंका एकाधिपत्य

मार्क्सका कहना है कि, 'श्रमजीवियोंके एकाधिकारके सिद्धान्तका जन्मदाता वह स्वयं ही है। उसने १८५२ में अपने एक अमेरिकन मित्रको पत्रमें लिखा था कि वर्ग-कलहका सिद्धान्त यद्यपि पहलेसे ही हुआ था तथापि वर्गोंके अस्तित्वका सम्बन्ध भौतिक उत्पत्तिकी किसी विशेष अवस्थासे होता है और वर्ग-कलहका अन्तिम परिणाम श्रमजीवियोंका एकाधिपत्य स्थापित होना है। यह श्रमजीवियोंका एकाधिपत्य समस्त वर्गोंके लोप होने और एक स्वाधीनतामूलक समानाधिकारसम्पन्न समाजकी स्थापनाके लिये बीचकी सीढ़ी है। इन बातोंका आविष्कारक मैं ही हूँ।' उसने यह भी कहा है कि 'आरम्भमें नये कानूनोंद्वारा जायदादके अधिकार और पूँजीवादियोंके उत्पादनपर जबरदस्ती आक्रमण करना पड़ेगा। तत्पश्चात् सभी प्राचीन प्रणालियोंपर भी आक्रमण करना पड़ेगा।' पूर्वोक्त युक्तियोंसे सिद्ध है कि कम्युनिष्ट आन्दोलन शुद्ध द्वेष एवं ईर्ष्यापर ही अवलम्बित है। उसमें वास्तविकताका लेश भी नहीं है। इनके मतानुसार समष्टि लोकतन्त्र या लोककी इच्छाका भी कुछ मूल्य नहीं है। पूँजीपतितन्त्रके विपरीत

मजदूरतन्त्रकी स्थापना ही इन्हें मान्य है। सहिष्णुता, उदारता, असंकीर्णता, समष्टिलोककल्याणकी कल्पनाका भी इस वादमें कोई स्थान नहीं है।

किंतु सभी आकाङ्क्षाएँ आदरणीय नहीं होतीं, वैध आकाङ्क्षाओंका ही समाजमें आदर होता है। किसीके भी सुन्दर भवन, कलत्र, मोटर आदिकी हथियानेकी आकाङ्क्षा शास्त्रीय, धार्मिक, आध्यात्मिक-संस्कारशून्य लोगोंको होती ही है। वैधमार्गसे कोई कोटिपति, अर्बुदपति, सर्वभूमिपति बननेकी आकाङ्क्षा और तदनुकूल प्रयत्न करने तथा सफलता पाने आदिमें किसीको कोई आपत्ति नहीं। पर अवैधमार्गसे वैसा प्रयत्न या आकाङ्क्षा सर्वथा अक्षम्य है। अवैध-मार्गसे कोई व्यक्ति या समूह साम्यवादी सरकारकी सम्पत्तिपर अधिकार करना चाहे तो क्या साम्यवादी सरकार ही उसे सहन करेगी। वस्तुतस्तु कम्युनिष्टोंकी कोई भी योजना या सिद्धान्त ऐसा नहीं है, जिसका औचित्य सर्वसम्मत युक्तिसे सिद्ध किया जा सके। अविप्रतिपन्न युक्तियोंसे विप्रतिपन्न वस्तुओंकी सिद्धि की जा सकती है; परंतु कम्युनिष्ट जब किसी भी पुराने सिद्धान्त, पुराने न्याय, पुराने सत्य या पुराने नियमको स्थिर नहीं मानते, तब वे किस सर्वसम्मत आधारपर अपनी बातोंको सिद्ध करेंगे।

अद्वैतवादी वेदान्ती यद्यपि ब्रह्मातिरिक्त सभी वस्तुओंका पारमार्थिक बाध करते हैं, तथापि स्वपक्ष-साधन, परपक्ष-बाधनार्थ व्यावहारिक प्रमाण-प्रमेयादि सभी व्यवस्था मानते हैं। परंतु जो कम्युनिष्ट सत्य एवं न्यायको एकरस माननेको तैयार नहीं हैं, उनके औचित्यानौचित्य निर्णयका आधार ही क्या हो सकता है। यह कहा ही जा चुका है कि प्रत्यक्षानुमानागमादि प्रमाणोंके बिना किसी पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। इतिहास भी यदि किसी शिष्ट एवं सत्यवादी आप्तद्वारा लिखित होगा, तब तो वह आगमप्रमाण ही ठहरेगा, तद्भिन्न होनेसे सर्वथा प्रलाप ही होगा। इतिहासलेखकोंकी भी शिष्टता, सत्यवादिताका निर्णय किसी प्रमाणसे ही करना होगा। इसके अतिरिक्त अर्वाचीन, प्राचीन सत्यमें भी यदि भेद हो गया है तब प्राचीन सत्यवादियोंका आधुनिक सत्यके साथ सम्बन्ध भी क्या होगा।

सिद्धान्तरूपसे यह भी कहा जा चुका है कि सत्त्वगुण एवं धर्मके संस्कार दृढ़ होनेसे ही समन्वय एवं सामंजस्यकी भावना सफल होती है। रजोगुण, तमोगुण बढ़नेसे अधर्म, असहिष्णुता आदिकी वृद्धि होती है। वर्गभेद, वर्गकलह ही क्यों, एक वर्गके भीतर भी वर्गभेद उत्पन्न हो जाता है और अन्तमें तो व्यक्ति-व्यक्तिमें भेद, संघर्ष एवं कलहका विकराल रूप प्रकट हो जाता है और फिर उनमें जो प्रबल होता है, उसका आधिपत्य होता है, जो हारता है वह पिसता है। अनेक बार साधनसम्पन्न साधनविहीनोंपर नियन्त्रण करते हैं, तो कई बार साधनविहीन साधनसम्पन्नोंको नष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं। कभी-कभी सफल भी हो जाते

हैं, अतः श्रेणी, चेतना तथा मजदूरोंका एकाधिपत्य आदि सिद्धान्त कोई महत्त्व नहीं रखते ।

वर्गभेद, वर्गकलह आदि सब प्रचारमूलक ही हैं । चार-पाँच धूर्तोंने एक बार एक ब्राह्मणसे, जो बकरा लिये जा रहा था, ले लेनेका निश्चय किया । फिर क्या था, एकने कहा—'पण्डितजी ! आप इस श्वानको कहाँ लिये जा रहे हैं ।' ब्राह्मणने कहा, 'यह तो बकरा है ।' धूर्तने कहा—'आपने कोई नशा खा लिखा है क्या ! महाराज ! यह तो कुत्ता है ।' ब्राह्मण कई प्रकारकी बातें सोचता चला जा रहा था, तबतक दूसरा धूर्त मिला । वह बोला, 'अरे महाराज ! कहाँ तो आप कुत्ता छूते भी न थे, आज न जाने क्यों, उसे कन्धोंपर ही चढ़ा लिया ।' ब्राह्मण बोला, 'अरे भाई ! यह कुत्ता नहीं, बकरा है ।' धूर्त बोला—'अरे ! आज आपके दिमागमें यह क्या हो गया है, जो कुत्तेको बकरा कह रहे हैं ? क्रमशः तीसरे और चौथे धूर्तोंने भी इसी प्रकारकी बातें कहीं और ब्राह्मण सशंक होकर कुत्तेके भ्रममें बकरेको छोड़कर चलता बना । इसी प्रकार वर्गवादियोंके मिथ्या प्रचारसे वर्गभेद, वर्गकलहका सिद्धान्त भी फैलता जा रहा है । असलमें तो यह न कोई सिद्धान्त है और न इसका कोई आधार ही है ।

साथ ही समस्त वर्गोंका लोप करके मजदूरोंका एकाधिपत्य स्थापित करने तथा समानाधिकारसम्पन्न समाज स्थापित करनेकी जो बात करते हैं, उन्हें इस बातपर भी विचार करना चाहिये कि भले ही प्रचारकी महिमासे किसी वर्गके प्रति विद्वेष उत्पन्न करके, किसी समूहको उत्तेजित करके एक वर्गका विध्वंस होना सम्भव हो सकता है, पर विरोधीवर्ग समाप्त होते ही विजयीवर्गमें ही वर्गभेद उत्पन्न होते हैं । उदाहरणार्थ भारतीय कांग्रेसका अंग्रेजोंके साथ संघर्ष हुआ । संघर्ष समाप्त होनेपर स्वयं कांग्रेसमें ही फूट पड़ गयी । फलतः समाजवादी, प्रजासमाजवादी, नवीन समाजवादी, कम्युनिष्टपार्टी आदि अनेकों पार्टियाँ बन गयीं । रूसमें भी जारशाही समाप्त होते-न-होते कितनी ही पार्टियोंका जन्म हो गया । ट्राटस्की-जैसे लोगोंकी हत्या साधारण बात बन गयी । अधिकारारूढ़ दलद्वारा अनेक बार 'सफाया' किये जानेपर भी वहाँ तद्भिन्न वर्गका अभाव नहीं है, फिर केवल सामूहिक संघटन, हड़ताल, जुलूस या मार-काटके बलसे बहुत बड़े किसान आदि श्रेणीवर्गको समाप्त करना भी यदि उचित हो सकता है, तब तो शस्त्रबल, धनबल या छलछद्मके बलसे मजदूर-किसान वर्गको पद-दलित बनाये रखनेको भी उचित कहनेका कोई साहस कर ही सकता है । अन्यायको रोकना उचित ही है, वह चाहे गरीबोंका हो या अमीरोंका—अन्याय तो अन्याय ही ठहरा । गरीबोंका अन्याय भी न्याय है तथा अमीरोंका न्याय भी अन्याय है, यह बात सभ्य समाजमें नहीं चल सकती । गरीबोंपर होने-

वाले अन्यायोंको रोकना परम धर्म है तो किसान आदि श्रेणीके लोग आज सर्वाधिक दयनीय हैं। पूँजीपति पूँजीसे काम चला लेता है, मजदूर आन्दोलनोंसे वेतन बढ़ाकर काम चला लेता है, परंतु किसान आदि साधारण श्रेणीका व्यक्ति दोनोंके बीचमें पड़ा हुआ पिसता है। देशमें गरीब, किसानों तथा नमक, तेल, कपड़ा, दाल, चावल आदिकी दुकानोंके द्वारा काम चलानेवाले व्यापारियोंकी संख्या बहुत बड़ी है। गरीबी भी उनकी भीषण है। अपनी उसी गरीबीमें उन्हें दान-पुण्य, श्राद्ध-तर्पण, शादी-व्याह भी करना पड़ता है। फिर तो उस वर्गकी सहायता करना आवश्यक है। फिर ऐसे वर्गको मिटा देना कहाँतक उचित है? यों तो डाकू भी लूट-खसोटकर दूसरोंको मिटाकर अपने गिरोहमें स्वाधीनतामूलक समानाधिकारसम्पन्न समूह बनाते ही हैं, परंतु क्या यह कभी उचित कहा जा सकता है। या उनकी समानता भी अन्ततक चलती है। धर्म-नियन्त्रित शासनतन्त्रमें सत्य या न्यायके आधारपर सबका ही हित करना अभीष्ट है। प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक वर्गको विकासकी सुविधा होती है। समष्टिके अविरोधेन, वैध मार्गसे विकसित होनेका सभीको अधिकार रहता है।

विकासके मार्गमें होनेवाली असुविधा दूरकर विकासकी विविध सुविधाओंका उपस्थापन करना राज्यका कर्तव्य है। छीना-झपटी, लूट खसोटद्वारा समानताकी स्थापना व्यर्थ है। आलस्य, प्रमाद त्याग कर स्वयं पुरुषार्थ न कर, केवल छीना-झपटीद्वारा स्थापित समानता टिकाऊ नहीं हो सकती। विशेषतः गतिशील लोगोंका गन्तव्य स्थानपर पहुँचकर सम्पादित समानता ही वास्तविक समानता है। मार्गमें किसी जगह अग्रगामी, पृष्ठगामी लोगोंको रोककर स्थापित समानता निरर्थक होती है। इससे तो उलटे राष्ट्रकी प्रगति ही रुक जाती है। निर्बल, निर्बुद्धि, निर्धनको बुद्धिमान्, बलवान्, धनवान् बनाकर ही समानताकी स्थापना की जा सकती है। बलवानों, धनवानों, बुद्धिमानोंको निर्धन, निर्बल एवं निर्बुद्धि बनाकर समानताकी स्थापना वैसी ही है, जैसा कि आँखवालोंकी एक या दोनों आँखोंको फोड़कर एकाक्षों या अन्धोंके बराबर बनाकर समानताकी स्थापना करना। जैसे किसीकी आँख फोड़ना सरल है, पर अंधेको नेत्रवान् बनाना कठिन है, वैसे ही किसी धनीके धनको छीनकर निर्धन बनाना, बलवान्को फाका कराकर निर्बल बनाना, किसी बुद्धिमान्को मूर्खताकी इलाज खिलाकर या क्लोरोफार्म आदि सुँघाकर निर्बुद्धि बनाना सरल है, पर आलस्य-प्रमाद त्याग कर स्वतः प्रयत्नशील हुए बिना, बलवान्, बुद्धिमान्, धनवान् बना सकना या बने रहना सम्भव नहीं है। प्रमाद या आलस्यसे कोई समुन्नत नहीं होता। दूसरे लोगोंको भी उसी स्थितिमें बनाये रखनेके लिये प्रयत्नकी अपेक्षा यह कहीं श्रेष्ठ है कि प्रमाद,

आलस्य छुड़ाकर अनुन्नत लोगोंको उन्नत बनानेका प्रयत्न किया जाय। अतः वर्ग-लोप करके समानता-स्थापनाकी बात व्यर्थ है। कम्युनिष्टोंका किसीकी जायदादपर बलात् आक्रमण तथा प्राचीन प्रणालियोंपर आक्रमण सिद्ध करता है कि लोकसिद्ध न्याय एवं सत्यके आधारपर वे अभीष्ट-सिद्धि नहीं कर सकते।

कम्युनिष्टोंकी कूटनीति

'कम्युनिष्टोंके हाथ शासनसूत्र न जाकर प्रजातन्त्रवादियोंके हाथमें आनेपर' मार्क्सकी रायमें 'कम्युनिष्टोंको उससे अलग ही रहकर उनके कामोंमें अड़ंगा डालते रहना चाहिये। उनके सामने ऐसी शर्तें पेश करनी चाहिये जिनका मानना असम्भव हो। क्रान्तिके अवसरपर श्रमजीवियोंको चाहिये कि मध्यम श्रेणीवालोंके साथ किसी प्रकारके समझौतेका विरोध करें। प्रजातन्त्रवादियोंको अत्याचार करनेके लिये बाध्य कर दें। उनके अत्याचारोंका उदाहरण देकर लोगोंमें जोश बढ़ाना चाहिये। क्रान्तिके आरम्भ और मध्यमें प्रजातन्त्रवादियोंके साथ अपनी माँग भी पेश करते रहना चाहिये। यदि प्रजातन्त्रवादियोंको सफलता मिली तो श्रमजीवियोंकी सुरक्षाकी गारण्टी माँगनी चाहिये। अधिकाधिक सुधारों और अधिकारोंकी माँग करनी चाहिये। सरकारपर खुले आम अविश्वास प्रकट करना चाहिये, जिससे उनका विजयका गर्व ठंढा हो जाय। शासनके मुकाबिले अपने मजदूर-पञ्चायतोंकी स्थापना करनी चाहिये। शासनके सामने कई अड़चनें खड़ी होंगी और सम्पूर्ण मजदूर-शक्तिके साथ सरकारको लोहा लेना पड़ेगा। क्रान्तिके अनन्तर श्रमजीवियोंको पराजित शत्रुकी निन्दा न करके पुराने साथी, प्रजातन्त्रवादियोंके प्रति अविश्वास प्रकट करें। श्रमजीवियोंको सशस्त्र और संघटित रहना चाहिये। इससे मजदूरोंका विश्वास जागरूक होता है। बन सके तो सरकारी सेना संघटनमें बाधा डाली जाय। यदि यह न हो सके तो अपनी सेना बनानी चाहिये। सेनापति, अफसर आदि ऐसे ही लोग हों जो मजदूर-कमेटीकी आज्ञा पालन कर सकें। सरकारी सेनाके भी सशस्त्र श्रमजीवियोंको अपने पक्षमें कर लेना चाहिये। मध्यम श्रेणीके प्रजातन्त्रवादियोंके प्रभावसे श्रमजीवियोंको मुक्त करना और उनका स्वतन्त्र सशस्त्र संघटन करना परमावश्यक होता है। तरह-तरहके अड़ंगे डालकर शासन चलाना असम्भव करना श्रमजीवियोंका प्रोग्राम होना चाहिये।'

उपर्युक्त कम्युनिष्ट-नीतिसे उनकी ईमानदारी एवं सद्भावनाका भंडाफोड़ होता है। इससे स्पष्ट है कि कम्युनिष्ट अपने न्यायपूर्ण तर्क, युक्ति एवं सिद्धान्तोंके द्वारा लोकको प्रभावित कर बहुमत प्राप्त करनेकी आशा नहीं रखते। साथ ही जाल-फरेब बिना किये अपने पुराने साथियों तथा उपकारियोंको बिना

धोखा दिये, उनको बिना समाप्त किये भी सफलताकी आशा नहीं रखते। यह सामान्य न्याय है कि अत्याचार करनेवाला उतना अपराधी नहीं माना जाता, जितना कि अत्याचार करनेके लिये किसीको बाध्य करनेवाला। किसी सुशासनमें अड़ंगा डालना या उसके सामने ऐसी शर्तें उपस्थित करना जिनका मानना असम्भव हो, स्पष्ट ही बेईमानी है। यहाँ लोकहितकी तो कोई भावना ही नहीं है। केवल जिस किसी तरह शासनसत्ता हथियानेके लिये ही सब प्रकारका अत्याचार करना, बेईमानी अपनाना उन्हें मंजूर है। इसी तरह उत्तेजना फैलाकर उत्तेजित करके युद्ध कराना अलग बात है और उत्तेजित करके न्यायको अन्याय एवं उचितको अनुचित समझनेके लिये बाध्य करना अलग बात है। यह सर्वसम्मत है कि वस्तुस्थिति समझनेमें किसी प्रकारकी भावुकता या उत्तेजना बाधक होती है। इसी तरह मध्यम श्रेणीके लोगोंसे किसी प्रकारके समझौतेका विरोध करना भी विचित्र बात है। यदि उचित आधारपर समझौता सम्भव हो और समझौता लोक-कल्याणकारी हो, तो भी उसका विरोध क्यों करना ? क्या अपना उल्लू सीधा करनेके लिये ? यदि ऐसा ही तो फिर कम्युनिष्ट दूसरोंकी ऐसी भावनाओंका किस मुँहसे विरोध कर सकता है ? इसी तरह पुराने निन्दनीय साथियोंकी निन्दा न कर प्रशंसा करना वर्तमान योग्य एवं उचित शासनके प्रति अविश्वास प्रकट करना भी सद्भावनाका सूचक नहीं।

कम्युनिष्टोंके प्रोग्रामोंको समझकर यदि शासनारूढ़ प्रजातन्त्रवादी भी उनके अनुसार ही सत्य, न्यायकी चिन्ता न कर बदला चुकानेपर उतर आयें तो फिर कम्युनिष्ट तथा उनके छिट-फुट सैनिक संघटनको अन्त करनेमें कितना विलम्ब होगा ? बल्कि लोक हितकर तथा शास्त्रसम्मत तो यही है—

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिन् तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

(महा० शां० प० १०९।३०)

मायावीके साथ मायासे तथा साधुके साथ साधुतासे व्यवहार करना उचित ही है।

मार्क्स आगे कहता है—'प्रजातन्त्रवादियोंको प्राचीन सामाजिक प्रणालीपर जितना हो आक्रमण करनेके लिये लाचार किया जाय, निश्चित कार्यक्रममें बाधा डाली जाय तथा पैदावार और माल ढोनेके साधनोंको राज्यके अधिकारमें लानेका आग्रह किया जाय। निजी जायदादपर आक्रमण करनेवाले प्रस्तावोंको बार-बार लाना चाहिये। यदि सरकार रेलों, कारखानोंको खरीदनेका प्रस्ताव करे तो बिना हरजाना, बिना मुआवजा दिये ही उसे राज्यकी सम्पत्ति बना लेनेका प्रस्ताव होना चाहिये। सम्पत्ति-वृद्धिपर इतना बड़ा टैक्स लगानेका प्रस्ताव पेश होना चाहिये जिससे बड़ी जायदादवालोंका दिवाला ही निकल जाय। प्रजातन्त्र-

वादियोंद्वारा लाये गये राज्यके कर्ज चुकाने आदि प्रस्ताव आनेपर राज्यके दिवालिया होनेका प्रस्ताव लाना चाहिये। प्रजातन्त्रवादी स्थानीय, स्वाधीनता, स्वभाग्य-निर्णय आदिके नामपर देशको अनेक भागोंमें बाँटनेका प्रयत्न कर सकते हैं। श्रमजीवियोंको इन सब बातोंका विरोध कर संयुक्त शासनपर ही जोर देना चाहिये।

उपर्युक्त मार्क्सीय कार्यक्रमोंके अनुसार ही कम्युनिष्टोंकी अडंगेबाजी चलती रहती है। उन्हें केवल विरोधके लिये विरोध करना है, अन्य किसी सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे नहीं। अनैतिकता तथा उच्छृङ्खलताका स्वयं विस्तार करना अथवा सरकारको वैसा करनेके लिये बाध्य करना घोर अराजकता एवं उद्दण्डताका विस्तार करना है। व्यक्तिगत छोटे-बड़े किसी भी व्यापार या उद्योग-धन्धों, पैदावार या माल ढोनेवाले साधनोंका अपहरण चौर्य ही हो सकता है। कभी चोर भले विना दण्ड पाये ही छूट जायँ; परंतु ऐसे लोगोंको तो चोरसे भी उग्र दण्ड मिलना ही चाहिये।

उत्पादन और समाज

कम्युनिष्टोंकी प्रणालीके अनुसार "साधनोंपर समाजका अधिकार होनेसे सहयोगपूर्वक पैदावार तथा व्यावहारिक शिक्षाका विस्तार होगा। तभी हर व्यक्तिसे उसकी शक्तिके अनुसार काम लेने तथा उसकी आवश्यकताकें अनुसार वस्तु देनेका सिद्धान्त चल सकेगा। जबतक आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी प्राचीन प्रणाली कायम रहेगी, तबतक वैसी व्यवस्था नहीं हो सकती। तबतक जो जितना काम करेगा, उतना ही उसे फल दिया जायगा। केवल शासनका कारबार चलाने एवं शिक्षा तथा अन्य कार्योंके लिये कुछ अंश काट लिया जायगा। काम करनेके घंटे नियत होंगे। जो जितनी देर काम करेगा, उसको एक प्रमाणपत्र दिया जायगा, जिसे दिखाकर वह उतना सामान ले सकेगा। वह जितना श्रम करेगा, उतना ही वह दूसरे रूपमें पा जायगा। व्यक्तिमें समानरूपसे योग्यता और शक्ति नहीं होती; इसीलिये वस्तुओंका बँटवारा असमान रूपसे होगा। जब सर्वाङ्गपूर्ण कम्युनिष्ट समाजमें शारीरिक एवं बौद्धश्रमका अन्तर मिट जायगा, जब उत्पादन क्रिया ही जीवनका सर्वप्रधान आवश्यकता हो जायगी, जब व्यक्तियों एवं उत्पादक-शक्तियोंका पूर्णरूपसे विकास हो जायगा—समाजके सभी सदस्योंके पूर्ण सहयोगसे चीजोंकी पैदावार खूब बढ़ जायगी, तभी पूँजीवादी समाजका स्वत्वसम्बन्धी विचार त्यागा जा सकता है और उसके स्थानपर समानताका सिद्धान्त लाया जा सकता है। यद्यपि श्रमजीवी आन्दोलनका अन्ताराष्ट्रिय होना आवश्यक है, तथापि राष्ट्रियताके आर्थिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक महत्त्वको भी भुलाया नहीं

जा सकता। साधनोंपर समाजका अधिकार होनेसे सहयोगपूर्वक पैदावार तथा व्यावहारिक शिक्षाका विस्तार होगा। तब हर व्यक्तिसे उसकी शक्तिके अनुसार काम लेने और उसकी आवश्यकतानुसार वस्तु देनेका सिद्धान्त चल सकेगा।' पर यह केवल व्यामोहक वाग्जाल है। व्यक्तिगत सम्पत्तियों तथा साधनोंपर कुछ मुट्ठीभर लोगोंका अधिकार-सम्पादनके लिये ही समाजका नाम लिया जाता है। वस्तुतः व्यक्तियोंके समुदायका ही नाम तो समाज है। यदि व्यक्ति निर्धन, निःसत्त्व, निःसाधन हो जाते हैं तो समाज भी सुतरां निःसत्त्व, निःसाधन हो जाता है। हाँ, समाजके नामपर मुट्ठीभर लोगोंको यह अवसर अवश्य मिल जाता है कि वे संसारको धोखा दे सकें। जो लोग सिवा मजदूरोंके बहुसंख्यक मध्यमश्रेणी तथा गरीब किसानोंको भी मिटा देना आवश्यक समझते हैं, वे भी समानताकी बात करें तो 'किमाश्चर्यमतः परम्।' कौन नहीं जानता कि मिलमालिकों, पूँजीपतियों एवं मजदूरों सबको भी भोजन-प्राप्ति किसानके श्रमका ही फल है। किसानके नष्ट हो जानेपर सभी भूखों मर जायँगे। यन्त्रीकरण या राष्ट्रियकरणके नामपर सबकी समानताकी बात उपहासास्पद है। जैसे रोगियों-को मारकर राष्ट्रको निरोग करनेका फारमूला मूर्खतापूर्ण है, वैसे ही मजदूरोंसे भिन्न लोगोंको समाप्त कर समानताकी स्थापना भी मूर्खतापूर्ण मक्कारी है।

अन्तमें मालिक बन जानेपर मजदूर भी मजदूर न रह जायँगे। उनमें भी वही विषमता परिलक्षित होने लगेगी। कौन कह सकता है कि रूसी प्रधान मन्त्री, गृहमन्त्री या पार्टीके संचालक मजदूर होते हैं और उनका जीवनस्तर पदप्राप्तिके बाद मजदूरोंके तुल्य ही होता है? व्यक्तिको हानि-लाभका डर न होनेसे, पैदावार एवं शिक्षामें उन्नति होना असम्भव है। प्रायः इसके उदाहरणके रूपमें रूसका नाम लिया जाता है। परंतु वहाँकी वस्तुस्थिति कुछ और है, अतिरंजित वर्णन कुछ और ही। वहाँ भी व्यक्तिगत रुपयोंका कारखाना, सूद लेना गैर कानूनी नहीं है। प्रतियोगिताएँ भी चलती हैं। शक्ति एवं योग्यता रहते हुए भी ईमानदारी न होनेसे उनका उचित प्रयोग नहीं किया जाता, अतः शक्तिचौर्य भी चलता है। चेतन मनुष्य, जडयन्त्रोंके तुल्य सर्वथा परेच्छया काम नहीं कर सकता। उसकी अपनी इच्छा, अपनी रुचि, अपना उत्साह जबतक न होगा, तबतक सुचारुरूपमें कार्य चलना सम्भव नहीं होता। मुट्ठीभर तानाशाहोंद्वारा संचालित शासन-यन्त्रके नगण्य कल-पुर्जे बनकर व्यक्तियोंमें इच्छा, रुचि, उत्साह आदिका सर्वथा अन्त हो जाता है।

धर्म-नियन्त्रित शासन-तन्त्र रामराज्यमें, प्रत्येक व्यक्तिको अपनी शक्ति एवं योग्यताका विशिष्ट फल मिलता है। इसीलिये वह शक्ति एवं योग्यतामें

विशेषता लानेका यत्न भी करता है। वह अपनी कमाई अपनी पत्नी एवं पुत्र-पौत्रोंको छोड़ जाता है या अपने बूढ़े माँ-बापकी सेवामें लगा सकता है। अपना और अपने पूर्वजोंके नाम अमर करनेके लिये अनेक प्रकारका सामाजिक उपकारका काम करता है। यज्ञ, तप, दानके द्वारा अपना लोक-परलोक बनानेके लिये अपनी कमाईका उपयोग कर सकता है! इस दृष्टिसे उत्साहका और ही रूप रहता है। जो शुद्ध जडवादी, धार्मिक, आध्यात्मिक संस्कारोंसे शून्य होते हैं, वे ही चार्वाकप्राय मार्क्सवादियोंकी योजनाओंमें संतुष्ट रह सकते हैं। वे ही कह सकते हैं—

यावज्जीवं सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥ (सर्वदर्शनसंग्रह १)

अर्थात् जबतक जीवन रहे सुखपूर्वक रहे, किसीको मार, धमका, कानून बनाकर उसका वित्त, कलत्र, गृहभूमि छीनकर सुरापान करना चाहिये। शरीर मरकर भस्म हो जायगा। लोक-परलोक—कुछ भी सत्य नहीं, फिर धर्माधर्मके चक्करमें क्यों पड़ा जाय? कुरान, पुराण, वेद, बाइबिल, गिर्जा, गुरुद्वारा, मन्दिर, मसजिद, राम, रहीम, गाड, अहुरमज्द, दोजख, बहिश्त, स्वर्ग, नरक कुछ भी नहीं। फिर किसी भी नियन्त्रण, सदाचार, दान, पुण्यकी क्या आवश्यकता रह जाती है? घंटेकी आवाजपर सामाजिक या सामूहिक कल-कारखानों या सरकारी खेतोंमें काम करना, भोजनालयोंमें भोजन कर लेना, सरकारी औरतोंसे सरकारी बच्चे पैदा करना, सरकारी शिशु-पोषणालयोंमें उन्हें भेज देना, सरकारी अस्पतालोंमें बीमार होकर मर जाना; ऐसे यान्त्रिक जीवनमें न तो कोई उल्लास है, न उत्साह। न तो इसमें लौकिक ही सुख है, न परलोककी ही आशा। ऐसा नीरस, निरुत्साह जीवन उन्हें कथमपि पसंद न होगा, जो कुछ भी दीन या ईमान मानते हैं, जिन्हें कुरान-पुराणादि उपर्युक्त वस्तुओंपर तनिक भी विश्वास है, ऐसा निराशापूर्ण जीवन वे कथमपि नहीं पसंद कर सकते। ऐसे दीनदार, ईमानदार लोगोंके लिये धर्मसापेक्ष, पक्षपातहीन राज्य, रामराज्य ही श्रेष्ठ है, जहाँ लोक-परलोक सभी आशापूर्ण एवं उत्साहप्रद होते हैं।

इसी प्रकार आवश्यकताका भी निर्णय भोक्ता ही करे या सरकार? यह स्पष्ट है कि सरकारद्वारा भोक्ताके आन्तरिक आवश्यकताका ध्यान रखे बिना किया हुआ निर्णय संतोषकारक नहीं होगा। भोक्ताओंकी दृष्टिसे ही यदि आवश्यकताका निर्णय होगा, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी शक्ति और आवश्यकताका संतुलन रहेगा। शक्ति एवं योग्यता कम होनेपर भी, काम न करनेपर भी आवश्यकता अधिक हो सकती है। फिर राज्य उसकी पूर्ति कैसे कर सकेगा? 'काम करनेमें आलसी भोजनको होशियार।' 'अलसाः स्वादु-

कामाश्च ।' आलसी किंतु अच्छे भोजन-वस्त्र, वाहन, मकानकी कामनावाले लोगोंकी कमी किसी देशमें नहीं है । पर यह सम्भव नहीं । अतः—

कर्म प्रधान बिस्व करि राखा । जो जस करै सो तस फल चाखा ॥

यह भारतीय सिद्धान्त ही श्रेष्ठ है । जो जैसा करता है, वैसा ही फल पाता है । विश्वस्रष्टा परमेश्वर एवं विश्वहितैषी निष्काम महर्षियों या उनके भी सम्मान्य अनादि अपौरुषेय शास्त्रोंद्वारा ही कर्मफलका साध्य-साधनभाव जानना ठीक है । पारलौकिक कर्मों एवं फलोंका साध्य-साधनभाव जिस प्रकार शास्त्रों एवं शिष्टोंद्वारा जाना जाता है, वैसे ही शास्त्रों एवं शिष्टोंके आधारपर ही लौकिक कर्मों एवं उनके फलोंका भी साध्य-साधनभाव निर्णीत होना श्रेष्ठ है । कम-से-कम निर्धारित, संतुलित जीवनस्तर एवं तदनुसार ही काम-दामके अतिरिक्त कर्मोंकी विशेषताके अनुसार ही फलोंमें विशेषताकी बात उपयुक्त होती है । इस पक्षमें आवश्यकताके अनुसार फलाकाङ्क्षा होगी । फलाकाङ्क्षाके अनुसार कर्ममें प्रवृत्ति होगी । परंतु शक्ति एवं योग्यता वहाँ नियामिका होगी । अतः शक्ति एवं योग्यतानुसार ही प्राणी कर्म कर सकेगा । तदनुसार ही फल पा सकेगा । अतः तदनुसार ही आवश्यकता भी बनानेका प्रयत्न करेगा । आवश्यकताका घटाना-बढ़ाना जितना सम्भव हो सकता है, शक्तिका घटाना-बढ़ाना उतना आसान नहीं है ।

फिर प्रतिदिन मजदूरी करना, सर्टिफिकेट दिखाकर भोजन लेना, यह कोई सम्मानकी बात नहीं । जब बँटवारेमें असमानता स्वीकार है, तो फिर समानताकी बात केवल प्रलोभन नहीं तो और क्या है ? फिर वहाँ भी ईमानदारीका प्रश्न खड़ा हो सकता है । अगर व्यवस्थापक ईमानदार हो तब तो ईमानदारीसे कर्मानुसार वितरण कर सकेगा । यह भी तभी सम्भव है जब कि व्यक्तिके ईमानदारीपर विश्वास भी हो । पर यदि ऐसा विश्वास सम्भव ही है तब तो व्यक्तिगत काम लेनेवाला भी ईमानदारीसे फल वितरण कर सकता है । यदि व्यक्तियोंकी ईमानदारीका विश्वास नहीं हो सकता तो व्यवस्थापकोंकी ईमानदारीपर भी कैसे विश्वास होगा ? जो कहते हैं कि 'बेईमान व्यवस्थापक हटा दिया जायगा,' वह भी ठीक नहीं; क्योंकि सभी शक्तियोंके केन्द्रीकरण हो जानेसे, व्यक्तियोंके पास व्यवस्थापकोंको हटानेकी कोई शक्ति नहीं रहती ।

सभी कम्युनिष्ट कभी समानरूपसे बौद्धिक, शारीरिक क्षमतायुक्त हो सकें तो उनका अन्तर मिट सकेगा । सभी समानरूपसे ईमानदार हो जायँ, शक्तिभर काम करें और अनिवार्य आवश्यकतासे कोई अधिक दाम या सामान न ले, यह

सुख-स्वप्न जडवादियोंकी अपेक्षा अध्यात्मवादियोंके यहाँ कहीं अधिक संगत होता है। रामराज्यमें तो इस तरहके स्वप्न साकार भी हो चुके हैं—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः।
मृत्युश्चानिच्छतां चासीद् रामे राजन्यधोक्षजे॥ (श्रीमद्भा० ९। १०।५४)

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नायज्वा न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ (छान्दोग्योप० ५। ११।५)

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। चरहिं एक सँग गज पंचानन॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

जहाँ कोई किसीका शोषक न हो, दूसरेके पोषक तथा हितैषी ही हों, सभी सुखी, सम्पन्न, स्वधर्मनिष्ठ, ईश्वरपरायण, शिक्षित उदार हों, जहाँ कोई चोर, सुरापी, कायर, स्वैरी, स्वैरिणी न हो, सभी आहिताग्नि, यज्वा, स्वधर्मनिष्ठ हों, ऐसा शासनतन्त्र तो अध्यात्मवादमें ही सम्भव होता है। जडवादमें तो इस सुखके पूरा होनेका स्वप्न दुराशामात्र ही है।

शासनके कारबारको चलानेके लिये तथा शिक्षा एवं अन्य कार्योंके लिये कोई भी सभ्य शासन कुछ अंश ही काटता है। अंग्रेज भारतपर शासन करते थे, वे भी आमदनी तथा खर्चका लेखा-जोखा बराबर दिखाते रहते थे। पर आजकल शासन, राष्ट्ररक्षणके नामपर, कितने गुप्तचर, पुलिस, पलटन एवं शस्त्रास्त्र अपेक्षित होते हैं, यह विशेषसे तिरोहित नहीं है। प्राचीन भारतीय ढंगके धर्मनियन्त्रित शासनोंमें तो नियम यह था कि जैसे सूर्य तिग्मरश्मियोंसे पृथ्वीका जल खींचते हैं और समय आते ही उसे बरसाकर विश्व-कल्याण एवं रक्षण करते हैं, वैसे ही शासक भी प्रजाका कर उसके कुसमयमें वितरण कर देता था, उसे अपने उपभोगमें वह नहीं लाता था। कितने मुसल्मान बादशाह भी अपना निर्वाह टोपी सीकर, कुरान लिखकर, किताबें लिखकर, उन्हें बेंचकर कर लेते थे। ऐसे ही दूसरे राजा भी अपनी जीवन-यात्रा चलाते रहे हैं।

यदि लाखोंका सालाना वेतन पानेवाले भी शोषित हैं और उनका राज्य भी कल्याणकारी राज्य है, तो फिर जमींदारोंका ही राज्य क्या बुरा है? व्यावहारिक अनुभव तो यह है कि सूर्य भी उतना तापक नहीं होता जितना तत्संसृष्ट बालुका-निकर (कण) तापक होता है।

कहा जाता है मजदूरोंको भूखे मरते हुए लाचारीसे अल्प मूल्यमें बहुत काम करना पड़ता है, परंतु उसी तरह किसी अवसरपर मजदूर भी अवसरका अनुचित लाभ उठाते ही हैं। रिक्शे, ताँगे तथा नाववाले कभी-कभी चार आनेके बदले

आठ रुपये ले लेते हैं। किसी गरीबका लड़का बीमार है, अस्पताल जाना है, यदि मौके-बेमौके अन्य रिक्शे आदि तैयार नहीं तो वह बिना रहम किये गरीबसे मनमाना पैसा लेता है। लाचार होकर गरीबको देना ही पड़ता है। ऐसे अवसरसे डाक्टर, इंजीनियर—सभी नाजायज फायदा उठाते हैं। इसी तरह टूटते हुए बाँध, वर्षाके समय गिरते हुए मकान, अचानक बिगड़े हुए कारखानोंको सुधारनेके लिये श्रमजीवी मनमानी दाम लेते हैं। मार्गमें बिगड़ी हुई मोटरको सुधारनेमें अति शीघ्र सुधारनेकी आवश्यकता जानकर श्रमजीवी मनमाना दाम लेता है। कुम्भादिके अवसरपर मल्लाह दो पैसेके बदले गरीबों, धर्म-भीरुओंसे बीस-बीस ले लेते हैं। फिर कम्युनिष्ट इनको शोषित ही कहेंगे और उनके इन कार्योंको उचित ही। इतना ही क्यों ? वे चोरी और हत्या-जैसी चीजको भी उनकी गरीबी और लाचारीकी दुहाई देकर उचित कहनेका प्रयत्न करते हैं, फिर तो किसीके बलात्कार व्यभिचारका भी यह कहकर समर्थन किया जा सकता है कि उसके पास स्त्री नहीं थी, कामातुर होकर उसने लाचारीसे बलात्कार किया है। वस्तुतः सर्वमान्य परम्परा-सिद्ध किसी भी शास्त्रीय नियमको मानकर कम्युनिष्ट अपने किसी भी सिद्धान्तको सिद्ध नहीं कर सकता। इसीलिये वह प्राचीन नियमोंका समूल परिवर्तन चाहता है। पुराने सत्य, न्याय, सिद्धान्त, नियम—सबका ही परिवर्तन चाहता है। यद्यपि यह स्वाभाविक बात है कि जिस चीजकी बहुलता हो और माँग कम हो वह सस्ती हो जाती है, जिसकी माँग बहुत और मात्रा कम हो वह महँगी हो जाती है। यही स्थिति श्रम एवं मजदूरीके सम्बन्धमें भी लागू होती है, तथापि राज्यके द्वारा समय-समयपर जैसे योग्यता, आवश्यकता एवं उत्पादनके अनुसार काम, दाम, आरामका एक स्तर निर्धारण करना आवश्यक होता है, वैसे ही मजदूरीका भी एक स्तर निर्धारण करना पड़ता है। सस्ती, मन्दीके भावोंपर भी नियन्त्रण करना पड़ता है। अन्यथा आन्दोलनोंसे मजदूर वेतन बढ़ायेगा, पूँजीपति दाम बढ़ायेगा। फिर किसानको कपड़े आदिके लिये ज्यादा पैसा चाहिये। अतः वह गेहूँ, चावल आदिका भी दाम बढ़ायेगा। तब मजदूरका वह बढ़ा हुआ वेतन इसी आँटा, दाल, चावल, कपड़ा खरीदनेमें खतम हो जायगा और फिर वेतन बढ़ानेका आन्दोलन करेगा। फिर महँगी बढ़ेगी,

वितरण

अतिरिक्त आयका पञ्चधा विभाजन करके भारतीय शास्त्रोंमें यद्यपि राष्ट्रहितार्थ उसका विनियोग बतलाया है, फिर भी अतिरिक्त आयको अवैध या अनुचित नहीं कहा जा सकता। कोई भी उद्योग यदि लागत खर्च, सरकारी टैक्सभरके लिये ही आमदनी पैदा करता है तो उससे उद्योगपतिका जीवन भी चलाना कठिन होगा और बड़ी-बड़ी मशीनोंके खरीदने आदिका काम भी न

चल सकेगा। इसी तरह यदि उद्योगपति अतिरिक्त आयका भागी होता है, तभी उसपर मशीनोंको खरीदने, अन्वेषकोंको सहायता देने आदिका उत्तरदायित्व रहता है। यदि लाभके बदले नुकसान भी हुआ तो उसका भार उसीपर होता है। मजदूर न नुकसानका ही जिम्मेदार होता है और न मशीन खरीदने आदिका ही। लौकिक, पारलौकिक सभी कर्म अतिरिक्त लाभके लिये ही होते हैं। गेहूँ, यव, आम आदिके एक-एक बीजसे लाखों गेहूँ, यव, आम आदि मिलते हैं, तभी प्राणी खेती बारीमें प्रवृत्त होता है। धार्मिक यज्ञ, दान आदिमें ही लागत खर्चसे लाखों गुना अधिक फल पाना सम्मत है। जैसे साधारण मजदूर अपने श्रमका साधारण मजदूरी पाता है; पर बुद्धिजीवी, इंजीनियर आदि अपनी विशेषताके कारण उनसे लाखों गुना ज्यादा मजदूरी पाते हैं, उसी तरह भूमि, सम्पत्तिवाले अपनी भूमि-सम्पत्तिका फल सबकी अपेक्षा ज्यादा पाते हैं। सबमें सब विशेषता नहीं रहती। इसमें भी प्राक्तन सुकृत, दुष्कृत आदि हेतु हैं। घोड़ा, गदहा, ऊँट आदिसे काम लिया जाता है, पर उत्पन्न मालमें उन्हें हिस्सा नहीं दिया जाता। केवल भोजनका प्रबन्ध किया जाता है। कम्युनिष्ट सरकारें भी ऐसा ही करती हैं। फिर तो सबसे अधिक शोषक वे ही हुईं। यदि मनुष्यकी विशेषताके कारण उसे मालिक बनना उचित है तो भी यह सोचना चाहिये कि यह विशेषता सहेतुक है या निर्हेतुक। निर्हेतुक कार्यका होना सम्भव नहीं। अतः सहेतुक ही कहना पड़ेगा। इस जन्मके कोई हेतु विशेष उपलब्ध नहीं होते, अतः जन्मान्तरीय सुकृत-दुष्कृतके कारण ही मनुष्य और गर्दभमें भेद होता है।

लाभ और श्रमिक

मार्क्सके पहले रिकार्डो आदिने भी इसी ढंगका कुछ विरोध प्रकट किया था। उसके अनुसार 'वस्तुके मूल्यमें दो भाग होते हैं--एक मजदूरी दूसरा नफा। दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। मजदूरी बढ़ती है तो नफा घटता है, नफा बढ़ता है तो मजदूरी घटती है। जीवन-निर्वाहार्थ जिससे निश्चित परिमाणमें सामग्री मिले वही मजदूरी है। जब जीवन-निर्वाहकी सामग्रीका दाम बढ़ जाता है तो मजदूरी भी बढ़ जाती है। पूँजीके द्वारा सभ्यताकी वृद्धि हो रही है। उससे कारबार और जन-संख्याकी वृद्धि होती है। इससे जीवन-निर्वाहकी सामग्रीकी माँग बढ़ती है। इसके लिये खेतीकी आवश्यकता बढ़ जाती है। खेतीकी जमीन नपी-तुली है। सब जमीनमें एक-सी पैदावार भी नहीं होती। घटिया जमीनमें श्रम बहुत अपेक्षित है, उत्पत्ति बहुत कम होती है। लगान भी बढ़ जाता है, मजदूरी भी बढ़ जाती है। फलतः व्यापारियोंका

नफा घट जाता है। खेतीसे उत्पन्न चीजोंका दाम बढ़ता है। तब कारीगरीसे पैदा होनेवाली चीजोंका दाम घटता रहता है; क्योंकि नयी मशीनोंके आविष्कार तथा मजदूरोंके उत्तम प्रबन्धसे चीजोंके बनने में लागत कम बैठती है। इस स्थितिका फल यह होता है कि पूँजीपर नफा घटता है, पूँजी कम होती जाती है, मजदूरी बढ़ती जाती है। पर मजदूरोंको उससे कोई लाभ नहीं; क्योंकि भोजन-सामग्रीका मूल्य बढ़ता जाता है। उस समय नफा जमींदारों, जमीन तथा मकानमालिकोंके हिस्सेमें ही आता है, जो कि समाजकी उन्नतिके लिये कुछ भी नहीं करते।'

माँग और पूर्तिका नैसर्गिक नियम जिस प्रकार व्यक्तिवादी अर्थशास्त्रियोंने उपस्थित किया है, वह सामान्य स्थितिमें उपयुक्त होते हुए भी जब शोषणका कारण बनने लगे तो उसपर राज्यका नियन्त्रण अनिवार्य है। पक्षपातविहीन ईमानदार शासनका यही काम है कि वह उत्पन्न विरोधको दूरकर समन्वय एवं सामञ्जस्य स्थापित करे। दण्ड्यको दण्ड दे, अनुग्राह्यपर अनुग्रह करे, मात्स्य-न्याय मिटाये; यही राज्यका लक्ष्य होना चाहिये। विरोध बढ़ाना, उत्तेजना फैलाना, विनाशके दृश्यकी उत्सुकतासे प्रतीक्षा करना, किसी सरकार या दलके लिये शोभाकी बात नहीं है। विरोध या संघर्ष कोई सिद्धान्त नहीं है। काम, क्रोध, लोभ, मार-काट, छीना-झपटी स्वाभाविकतया ही अधिक होते हैं। निग्रहानुग्रहद्वारा मात्स्य-न्याय दूर करना एक बात है और सबका स्वामी स्वयं बन जाना दूसरी बात। कल-कारखानोंद्वारा उत्पादन बढ़नेसे जो दोष बढ़ते हैं, वे केवल मालिक बदल जानेसे घट न जायँगे और न गुण ही हो जायँगे। दूसरा मालिक जिस प्रकार उन दोषोंको मिटा सकता है, उसी प्रकार पहला मालिक भी। केवल अपेक्षित है—ईमानदारीसे राष्ट्र-हितकी भावना। इसके बिना मजदूर सरकार भी कभी दोष नहीं मिटा सकती। उसीके सहारे कोई भी सरकार इन दोषोंको मिटा सकती है। वस्तुतः यह संघर्ष भी मुट्ठीभर लोगोंका ही है। मिल-मालिक, पूँजीपतियोंकी संख्या नगण्य है। मजदूरोंकी संख्या भी सीमित ही है। भारत-जैसे देशमें मिल-मालिक मजदूरोंसे आठगुणी अधिक संख्या उन लोगोंकी है, जो न मजदूर हैं, न पूँजीपति और न जिनका इन संघर्षोंसे कोई प्रयोजन ही है। वे खेती करनेवाले, साधारणरूपमें व्यापार करनेवाले, पलटन, पुलिस, क्लर्क या अन्य ढंगके पेशेवाले हैं। उन सबके हितों तथा मतोंकी उपेक्षा करके मजदूरतन्त्र शासन स्थापित करनेका प्रयत्न सर्वथा अलोकतान्त्रिक है। जो कहते हैं कि कई उद्योगप्रधान देशोंमें ५० प्रतिशतसे भी अधिक मजदूरोंकी संख्या है, वे मतगणनाके मार्गसे मजदूरोंकी सरकार स्थापित क्यों नहीं कर लेते? फिर

वर्ग-संघर्ष, वर्गविद्वेष, वर्ग-विध्वंसके मार्ग अपनानेकी क्या आवश्यकता? किं च जिस प्रकार कहा जाता है कि 'पूँजीवादी-प्रणालीसे ही पूँजीवादके विनाशका बीज उत्पन्न होता है, क्या यही बात मजदूरोंके सम्बन्धमें नहीं कही जा सकती? जैसे पूँजीपतियोंने अपने ही प्रयत्नसे अपनेको संकटमें डाल लिया, उत्पादन बढ़ाकर मजदूरोंको एक स्थानमें एकत्र होनेका अवसर उपस्थित कर अपना मार्ग अवरुद्ध कर लिया, ठीक वैसी ही बात मजदूरोंके लिये भी है। असलमें मार्क्सके मतानुसार वैज्ञानिक आविष्कारक भी बुद्धिजीवी श्रमिक ही हैं। उन्हीं लोगोंने नये-नये यन्त्र, कारखानोंका आविष्कार किया है। उन्हीं लोगोंने उत्पादन बढ़ाया। उत्पादन बढ़नेसे ही सौदेमें मंदी आयी। मंदी आनेसे वेतनोंमें कमी हुई। उत्तरोत्तर अच्छी मशीनोंकी पैदाइससे मजदूरोंकी आवश्यकता घटी, जिससे मजदूरोंकी बेकारी बढ़ी। फलतः तत्काल मजदूरोंकी बेकारीमें श्रमजीवि वैज्ञानिक ही कारण हुए। इस तरह भलाईके साथ-साथ सर्वत्र बुराई भी लगी रहती है। बिजलीसे प्रकाशादि भी होता है, मृत्यु भी हो सकती है। इसलिये उपाय-अपाय दोनोंपर ध्यान रखना बुद्धिमानी है। हर जगह बेकार लोग असंतुष्ट होकर संघटित हो वर्ग-संघर्ष, वर्ग-विध्वंसद्वारा राज्यकी स्थापना नहीं कर पाते।

हर स्थानोंमें यह वर्ग-संघर्ष भी नहीं होता। मार्क्सकी भविष्य-वाणीके अनुसार औद्योगी-देश ब्रिटेनमें क्रान्ति होनी चाहिये थी; किंतु कृषि-अधीन रूस तथा चीनमें क्रान्ति हुई वह भी किसानोंके द्वारा। इंगलैंड, फ्रांस, अमेरिका आदिमें कल-कारखाने कम नहीं हैं। फिर भी वहाँ वर्गसंघर्ष नहीं हुआ। विशेषतया अमेरिकामें मजदूरोंकी संख्या अधिक है और वहाँ मतगणनाके आधारपर सरकारें भी बनती हैं। कम्युनिष्ट कहते हैं कि प्रत्येक देश-में ९५ प्रतिशत मजदूर हैं फिर भी वहाँ मजदूरोंकी सरकार न बन पायी। इससे स्पष्ट है कि वहाँके मजदूरोंको वर्ग-विध्वंसादिमें कोई रुचि नहीं है! बेकारोंको अपने जीवन चलानेकी पड़ी रहती है। राज्यस्थापनाके लिये उनमें प्रेरणा उत्पन्न होना सरल नहीं है।

प्राचीन राम-राज्यमें समृद्धि पराकाष्ठाको पहुँची हुई थी। फिर भी उस समयके वर्ग-संघर्षका कोई इतिहास नहीं मिलता। अतः 'पूँजीवादी शोषक होते हैं, सबके सर्वस्वका अपहरण करनेवाले होते हैं, एक दिन उनका भी सर्वस्व सदाके लिये छिन जाता है आदि' सब अतिरञ्जित कल्पना है। यह कह चुके हैं कि खलकी सम्पत्ति, शक्ति दूसरोंके सतानेके काममें आती है तथा सज्जनोंकी सम्पत्ति, शक्ति विश्वके

हितार्थ ही होती है। शिबि, दिलीप, रन्तिदेव आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। न सब पूँजीपति दूसरेका ही सर्वस्व हरण करते हैं, न सब पूँजीपतियोंका सदाके लिये सर्वस्व ही अपहृत होता है। अनेक स्थानोंमें दुष्प्रचारकोंके दुष्प्रचार व्यर्थ होते हैं और वहाँसे मार खाकर सर्वस्व गँवाकर भागना पड़ता है, जैसा जर्मनी आदि देशोंमें हुआ।

उपर्युक्त वर्णनसे भी इसी निष्कर्षपर पहुँचना पड़ता है कि व्यष्टि-समष्टिके सामंजस्य-सम्पादनसे ही काम चलेगा। पहले लिख आये हैं कि मजदूर वेतन, बोनस, भत्ता बढ़ानेका आन्दोलन करके सफल भी हो जायँ, तो भी पूँजीपति उसके बदले सौदेपर दाम बढ़ायेगा। फिर उसे खरीदनेके लिये किसानको अधिक रुपयेकी जरूरत होगी। तदर्थ वह भी गेहूँ-चावलका दाम बढ़ायेगा। मजदूर भी बढ़ायी हुई मजदूरी महँगे गेहूँ, चावल, कपड़े खरीदनेमें खर्च कर देगा। अतः उत्पादन-साधनों, उत्पादकों एवं उत्पन्न होनेवाली सामग्रियोंको ध्यानमें रखते हुए ही उपयोगी नियम आवश्यक हैं। उसके बिना मजदूर राज्यके छू-मंतरसे भी समस्याका हल होना असम्भव है।

वस्तुतः सभी विचारक इस बातको मान गये हैं कि मार्क्सवादमें बुद्धिजीवियोंका महत्त्व नहीं-जैसा ही है। सन् १९३६ के पूर्वतक साम्यवादी रूसमें उन्हें मत देनेका भी अधिकार नहीं था। अन्वेषक, आविष्कारक, वैज्ञानिकोंका वर्तमान विकासमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी तरह लाखों मजदूरोंसे काम लेनेवाले प्रबन्धकोंका भी (जिनके बिना लाखों मजदूर अकिंचित्कर हो जाता है) महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी तरह टूटे-फूटे, रद्दी टीन, लोहा आदि संगृहीत करके उनका सदुपयोग करके उनका करोड़ोंकी आमदनी कर लेनेवाले विशेषज्ञोंका भी स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इन सबोंको मजदूरोंके तुल्य शोषित भी नहीं कहा जा सकता और न पूँजीपतियोंके तुल्य शोषक ही कहा जा सकता है। इसी तरह किसानों एवं साधारण कामचलाऊ व्यापारियोंको अबके समाजवादी शोषित मजदूरकोटिमें गिनने लगे हैं। पहले किसान आदिकोंका मजदूरश्रेणीमें बिलकुल स्थान न था। बल्कि प्राकृतिक साधनोंसे उपार्जित करके जीविका चलानेवालोंको शोषककोटिमें ही गिना जाता रहा है। उनकी संख्याकी बृहत्ताका ध्यान न देकर बड़े घमण्डके साथ लेनिनने मजदूरोंकी तानाशाहीकी घोषणा की थी।

सन् १९१७ की किसान-मजदूर-क्रान्तिके बाद रूसी-क्रान्तिके नेता लेनिनने (जो कि मार्क्सवादका सबसे बड़ा ज्ञाता समझा जाता था) मजदूरोंकी तानाशाहीका

समर्थन किया था। उस समयके स्थापित समाजवादी शासनको अभिमानपूर्वक तानाशाहीका नाम दिया गया था। इस सम्बन्धमें यद्यपि कई आधुनिक समाजवादी लीपा-पोती करते हुए कहते हैं कि 'यदि स्वयं मिहनत करनेवाले मजदूरोंका शासन करेगा तो मिहनत करनेवालोंका शोषण हो ही नहीं सकता। जो लोग पैदा नहीं करते, उनका शोषण किया जा सकता है? हाँ, मजदूर-शासनमें कुछ लोगोंका दमन हो सकता है, उन्हें नागरिक अधिकारोंसे वञ्चित किया जा सकता है।' पर ये लोग कौन हैं, इनकी संख्या कितनी है, इनका भी दमन क्यों होगा?

'मजदूर-राज्यमें प्रत्येक व्यक्ति मजदूर भी होगा और शासक भी। जब पूँजीवादी देशोंमें भी उनकी संख्या ९२ प्रतिशत या ९९ है। फिर मजदूर-राज्यमें तो उनकी संख्या शत-प्रतिशत होगी। काम न करनेवालोंकी संख्या हजारोंमें एक होगी। ऐसे लोग यदि समाजकी रायसे स्थापित शासनको उखाड़कर स्वार्थानुकूल् शासन करना चाहें तो ऐसा करनेकी उन्हें स्वतन्त्रता देना प्रजातन्त्रके कहाँतक अनुकूल होगा? हाँ, मजदूर-शासनमें यदि कुछ व्यक्ति ऐसे हैं, जो सम्पूर्ण जनताके लाभार्थ समाजकी व्यवस्थामें परिवर्तन लाना चाहते हैं तो एक मजदूर होनेके नाते अपने विचार प्रकट करनेकी उन्हें उतनी ही स्वतन्त्रता है जितनी किसी दूसरे मजदूरको; क्योंकि मजदूरतन्त्रमें नागरिकोंके साधन और अधिकार समान होते हैं।'

उपर्युक्त कथन सर्वथा सत्यका अपलापमात्र है। क्या किसानोंकी भूमि-सम्पत्ति गरीब व्यापारियोंके व्यापार-साधनोंको छीन लेना शोषण नहीं है? भारतके काश्तकार आज भी अपनी काश्तकारी बचानेका आन्दोलन कर रहे हैं। यत्र-तत्र भू-स्वामी-सङ्घ, काश्तकार-सङ्घ बन रहे हैं। वे भूमि एवं सम्पत्तिके अपहरणको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं और समष्टि या समाजके नामपर मुट्ठीभर तानाशाहोंके हाथमें अपनी भूमि-सम्पत्ति देकर, शासनयन्त्रका नगण्य कल-पुर्जा नहीं बनना चाहते। वस्तुतः मजदूरोंपर भी बलात्कारसे जड़वादी तानाशाही शासन लादा ही जाता है। प्रायः गरीब मजदूर ईश्वरवादी धार्मिक होते हैं। भारतके शत-प्रतिशत मजदूर आस्तिक और धार्मिक हैं। वे रामायण, भागवत, गीताका सम्मान करते हैं, सत्यनारायणकी कथा सुनते, कीर्तन करते हैं केवल बोनस, वेतन, भत्ताका प्रलोभन देकर कम्युनिष्ट उन्हें अपने आन्दोलनोंमें शामिल करते हैं। यदि वे समझ जायँ कि कम्युनिष्ट ईश्वर, धर्म एवं शास्त्र नहीं मानते तो वे भूलकर भी उनके डाँड़े न जायँ। हाँ, उनकी अपेक्षित माँगमें कोई ईश्वरवादी-दल सहायक हो तो वे सोलह आने उसीका साथ देंगे। हरेक मजदूर भी स्वतन्त्रता चाहता है।

दान-पुण्य करना चाहता है। अपनी सम्पत्ति अपने बेटे-पोतोंके लिये छोड़ना चाहता है। यदि वह जान ले कि कम्युनिष्ट-राज्यमें बाप-दादेकी कमाई बेटे-पोतेकी बपौती मिलकियत नहीं समझी जाती तो वह कभी भी कम्युनिष्टोंमें शामिल न होगा। यदि वह जान ले कि काम न करनेवाले वृद्ध माता, पिताको एवं वृद्ध होनेपर उसे भी कम्युनिष्ट-राज्यमें कोई स्थान नहीं है, तो अवश्य ही उसे घबड़ाहट होगी। इसके अतिरिक्त यह भी हम कह आये हैं कि यदि पूँजीवादी शासनमें ९९ मजदूर हैं, तो वहाँ मजदूर-सरकार क्यों नहीं बन जाती ? क्योंकि वहाँ तो मतगणनाके आधारपर सरकारें बनती हैं। अतः मजदूरोंकी उक्त संख्या मिथ्या एवं भ्रामक है। इसी तरह यह भी झूठ है कि किसी भी श्रम करनेवाले मजदूरको अपने विचार व्यक्त करनेकी स्वतन्त्रता है। जहाँ कोई स्वतन्त्र प्रेस या पत्र नहीं हो सकता, नागरिक स्वतन्त्रतापूर्वक किसी दूसरे देशके विचार नहीं पढ़ सकते, रेडियो सुन नहीं सकते, अपने देशमें भी स्वतन्त्रतासे अपने मतका प्रचार नहीं कर सकते, वहाँ भी प्रजातन्त्र एवं प्रजाहितकी बात करना सर्वथा उपहासास्पद है।

वस्तुतः जो सम्पूर्ण जड़ प्रपञ्चको निरीश्वर मानते हैं, कोई शाश्वत नियम नहीं मानते, व्यक्तिगत शासन नहीं मानते; उन्हें कोई शासन बनानेका अधिकार भी कैसे है ? व्यक्तिका समुदाय ही समष्टि है। व्यक्तिमें जो गुण नहीं, वह समष्टिमें भी न आयेगा। लाल सूतोंसे ही लाल कपड़ा बनता है। सफेद सूतोंमें लालिमा नहीं है, अतः उनसे लाल कपड़ा नहीं बन सकता। यदि व्यष्टि शासन अमान्य है तो समष्टिके नामपर भी शासन नहीं बन सकता, फिर तो अराजकताका ही समर्थन श्रेष्ठ है। कोई भी व्यक्ति किसी दूसरेका शासन क्यों मानेगा ? जो कोई सत्य, नियम या सिद्धान्त नहीं मानता, वह किस आधारपर नये सिद्धान्तोंकी स्थापना कर सकेगा ? गत दिनों (१९५४ में) किसी ब्रिटिश मन्त्रीने विचार-स्वातन्त्र्यके सम्बन्धमें एक लेख 'प्रवदा' (रूसी-पत्र) में भेजा था। जिसमें उन्होंने अखबारों, रेडियो तथा साम्यवादी विचारोंके विरुद्ध रूसी प्रतिबन्धकी चर्चा करते हुए रूसमें विचार-स्वातन्त्र्यका अभाव बतलानेका प्रयत्न किया था। 'प्रवदा'ने उसी अङ्कमें उसका उत्तर भी छापा था। उत्तरका सार यही था कि राष्ट्रियता-विरोधी भावोंको न पनपने देना भूषण है, दूषण नहीं। पर क्या कोई पूछ सकता है कि राष्ट्रिय विचार क्या शासनारूढ दलका विचार है ? वस्तुतः यदि स्वतन्त्रताके साथ विश्वकी मतगणना हो, तभी राष्ट्रिय विचारका पता लग सकता है।

षष्ठ परिच्छेद

मार्क्सीय अर्थ-व्यवस्था

मूल्यका आधार

कहा जाता है, 'पूँजीवादी समाजके जीवन और गतिका आधार होता है खरीदना, बेचना तथा वस्तुओं एवं श्रमका विनिमय ही परस्पर सम्बन्धका सार है। मार्क्सके मतानुसार 'पूँजीवादके अन्तर्गत जो माल तैयार होकर बाजारमें जाता है उनके दो तरहके मूल्य होते हैं—एक उपयोग-सम्बन्धी, दूसरा विनिमय-सम्बन्धी। पहलेका अभिप्राय उस वस्तुके गुणसे है, जिससे खरीदनेवालेकी शारीरिक या मानसिक आवश्यकताकी पूर्ति होती है। जिसका उपयोग-मूल्य नहीं होता, उसका विनिमय या विक्रय नहीं होता। उपयोग-मूल्यकी दृष्टिसे प्रत्येक वस्तु दूसरीसे भिन्न होना चाहिये। कोई आदमी एक मन गेहूँका परिवर्तन उसी ढंगके गेहूँसे नहीं करता; हाँ, उसका परिवर्तन २० गज कपड़ेसे कर सकता है। अब यह प्रश्न होता है कि एक वस्तुका विनिमय दूसरी वस्तुसे कैसे और किस नियमसे हो? इसी नियम या कायदेका नाम विनिमय मूल्य है। इसका आधार श्रमके उस परिमाण और कठोरतापर निर्भर होता है, जो किसी वस्तुके बनाये या पैदा करनेमें आवश्यक होता है। बाजारमें श्रमके समान परिणामका परस्पर बदला किया जाता है। श्रमका परिमाण इस दृष्टिसे नहीं नापा जाता कि अमुक व्यक्तिको एक वस्तु बनानेमें कितनी देर लगती है। किंतु समाजमें आमतौरसे प्रचलित प्रणालीसे जितना समय लगता है उसी हिसाबसे श्रमका परिमाण नापा जाता है। जैसे हाथसे कपड़ा बुननेवाले जुलाहेको २० गजके थान बनानेमें २० घंटे काम करना पड़ता है, जो कि आधुनिक मशीनोंद्वारा ५ घंटे या उससे भी कम समयमें बनाया जा सकता है। पर हाथसे कपड़ा बुननेवालेको—चौगुना-पाँचगुना मूल्य नहीं दिया जा सकता। अतः मार्क्सके मतानुसार वस्तुके विनिमय मूल्यका आधार वह परिमाण है, जो उस वस्तुके तैयार करनेमें लगता है। परंतु श्रमका यह परिमाण सदा एक-सा नहीं रहता। नये आविष्कारोंसे माल तैयार करनेके ढंगमें उन्नति और श्रमजीवियोंकी उत्पादनवृद्धि आदि कारणोंसे किसी वस्तुके बनानेके लिये आवश्यक श्रमका परिमाण घट सकता है। उस अवस्थामें यदि दूसरी बातें (जैसे उसकी वस्तुकी माँग सिक्का आदि) जैसीकी तैसी बनी रहें, तो विनिमय मूल्य भी कम हो जाता है। अतः श्रम ही विनिमय मूल्यका आधार है। विनिमय मूल्यद्वारा

ही किसी समाज या देशकी सम्पत्तिका निर्णय किया जा सकता है। वस्तुओंके तैयार करनेमें जितना श्रम अपेक्षित होता है, अगर वे उससे कममें तैयार होने लगें, तो किसी देशकी सम्पत्ति आकारमें भले ही बड़ी हों, पर मूल्यकी दृष्टिसे नगण्य हो सकती हैं। उद्योग-धंधोंकी दृष्टिसे जो देश जितना अधिक अग्रसर होता है, उसकी सभ्यताका दर्जा जितना ऊँचा होता है, उतनी उसकी सम्पत्ति भी अधिक होती है। सम्पत्तिकी उत्पत्तिपर श्रम भी कम खर्च होता है। वर्तमान व्यावहारिक राजनीतिमें यह अधिक मजदूरी और कम घंटेके कामके रूपमें दृष्टिगोचर होती है। विनिमय मूल्यका आधार उपयोग-मूल्य ही होता है। यदि कोई चीज इतनी अधिक बन जाय, जिसकी लोगोंको आवश्यकता न हो, तो शेष वस्तुका कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता, भले ही उसके तैयार करनेमें श्रम किया गया है। इसलिये विनिमय मूल्य या समाजद्वारा किये गये श्रमका पूरा फल तभी प्राप्त हो सकता है, जब कि वस्तुओंकी पैदावार और उनकी माँगमें समानता बनी रहे। इसके लिये संघटन और समाजके मार्गदर्शनकी आवश्यकता होती है।'

कहा जाता है, 'प्राचीन अर्थशास्त्रोंके मतानुसार पूँजीपति जो कि उत्पत्तिका नियन्त्रण करता है, अपनी पूँजीद्वारा मजदूरोंको औजार और कच्चा माल पहुँचाता है। वह तैयार मालको बिकवाता है, माल तैयार होनेके क्रमको जारी रखता है, अतः वही मूल्यका उत्पादक माना जाता है। वह श्रमजीवियोंकी भी उत्पत्तिका एक साधन गिना जाता है। पर मार्क्सके मतानुसार श्रमजीवी ही जो कच्चे मालसे वस्तुएँ तैयार करते तथा कच्चा माल उत्पन्न करके वस्तु-निर्माणके स्थानतक पहुँचाते हैं, मूल्यके एकमात्र उत्पादक हैं।'

वस्तुतः यह कोई अनहोनी बात नहीं है। व्यवहारमें सुगमता लानेके लिये मुद्रा या रुपयोंका प्रचलन ठीक ही है। मनभर गेहूँका दाम दो बकरी या एक जोड़े जूतेका दाम एक मेज है, इस व्यवहारमें झंझट अधिक है। व्यवहारमें सुविधाके लिये रुपयाके द्वारा पदार्थोंके दाम आँके जाते हैं! कोई सौदा देकर रुपया ले लेनेपर इस बातका संतोष रखता है कि आवश्यक होनेसे उस रुपयेसे कोई भी चीज खरीदी जा सकती है। पदार्थोंके संग्रह करने या ले जाने, ले आनेमें अनेक कठिनाइयाँ होती हैं। रुपयोंसे ऐसी कठिनाइयाँ दूर होती हैं। रहा यह कि पूँजीपतिको उसके द्वारा मुनाफा खींचने या जमा करनेका अवसर मिलता है। पर सदुपयोग-दुरुपयोग प्रत्येक वस्तुका किया जा सकता है। मशीन चलानेवाली, प्रकाश फैलानेवाली बिजलीसे प्राणी आत्महत्या भी कर सकता है। रुपयेसे व्यवहारमें हर प्रकारकी सुविधा ही होती है। उधार या कर्जके रूपमें लेना-देना, उगाहना

आदि रुपयेके व्यवहारमें सुगमता होती है। किसीको रुपयेसे लाभ होता है, एतावता वह बुरा नहीं कहा जा सकता।

क्रय-विक्रयके काममें आनेवाली वस्तुओंके दामका आधार भी केवल श्रम नहीं है, किंतु उपयोगिता एवं माँग दामका आधार है। और उसका भी परम आधार है उपकार्य-उपकारकभाव। विकासवादियोंके अनुसार अध्यात्मवादी नया आविष्कार नहीं मानते; किंतु वेदादिशास्त्रोंद्वारा निहित वर्णाश्रमानुसारी श्रौत-स्मार्त धर्मोंद्वारा देवार्चन करना और उनके द्वारा प्रदत्त वृष्टि अन्न, प्रजा आदिरूपमें फल प्राप्त करना—यह सब भी विनिमय ही है। परम दार्शनिक भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि—तुम यज्ञसे देवताओंका अर्चनकर संवर्द्धन करो। देवता भी विविध फल प्रदानकर तुम्हारा संवर्द्धन करेंगे। इस तरह परस्पर एक दूसरेका पोषण करते हुए आप सब परम श्रेयके भागी होंगे।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

(गीता ३।११)

निःसीम, ज्ञान, शक्ति-सम्पन्न ईश्वर ही हैं। जीवकी क्रिया, शक्ति, ज्ञान सब सीमित होता है। यज्ञ, तप, दान आदि बौद्धिक, शारीरिक श्रमद्वारा जीव ईश्वरसे बहुमूल्य सम्पत्ति प्राप्त करता है। कोई भी प्राणी लाभके ही उद्देश्यसे कर्म करता है। यह व्यापक सिद्धान्त है कि मन्दमति प्राणी भी बिना किसी प्रयोजनके किसी कार्यमें प्रवृत्त नहीं होता—'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।' खेती करनेवाला किसान खेत जोतता है। अपना और अपने घरवालोंका पेट काटकर मनों गेहूँ, धान खेतमें डालता है, इसी आशासे कि उसे एक-एक गेहूँके बदले हजार-हजार गेहूँ मिलेगा। लौकिक परस्पर व्यवहारमें भी परस्पर सहयोग अपेक्षित होता है। सभी सब काम करनेकी क्षमता नहीं रखते। जैसे सबको सब बातोंका ज्ञान नहीं होता, वैसे सबमें सब कार्य करनेकी क्षमता भी नहीं होती। अतएव सभी लोग अपने जन्मानुकूल स्वभावानुसार शिक्षित होकर यथायोग्य ज्ञानकर्ममें संलग्न होते हैं। किसीने ज्ञानप्रधान, किसीने बलप्रधान, किसीने धनप्रधान, किसीने सेवाप्रधान कर्म अपनाया। यहीं वर्णाश्रम धर्मकी बात आ जाती है। विविध पशु, पक्षी, वृक्षोंके जन्मजात गुणकर्म वैचित्र्य होते हैं। इसी प्रकार जन्मजात गुणकर्म वैचित्र्य वर्णोंमें भी अङ्गीकृत होते हैं।

अस्तु! परस्परके लौकिक व्यवहारोंमें भी गृहस्थ किसान ब्राह्मण (पुरोहित) शासक, कर्मचारी (नौकर) तथा नाई, धोबी आदिको उनके श्रमके साथ अन्न ही देता था। परस्पर सद्भावना, सहयोग एवं समझौता करके सब काम चलाते थे। श्रमोंमें भी तारतम्य रहता था। शारीरिक श्रमकी अपेक्षा

बौद्धश्रमका महत्त्व अधिक होता था। शारीरिक, बौद्धिक सभी कर्मोंमें अभ्याससे योग्यता बढ़ती है। साथ ही कुछ जन्मजात, जन्मान्तरीय विशेषताएँ भी होती हैं। कभी-कभी समान पिताके पुत्रोंको समान सुविधा तथा शिक्षाका प्रबन्ध रहनेपर भी कोई किसी कार्यमें दक्ष होता है; कोई किसी दूसरे कार्यमें और कोई किसी भी कार्यमें दक्ष नहीं होता। उस दक्षताके तारतम्यसे भी श्रमके मूल्यका भेद हो जाता है। आधुनिक लोग भी फावड़ा चलानेवाले श्रमिककी अपेक्षा इंजीनियरके श्रमका बहुत ज्यादा मूल्य समझते हैं। यद्यपि फावड़ा चलानेवालेके श्रममें बहुत कठोरता है। इंजीनियरके श्रममें कठोरता नगण्य ही है। कभी श्रमद्वारा निर्मित उपयोगी वस्तुका श्रमनिर्मित दूसरी उपयोगी वस्तुके साथ विनिमय होता है, परंतु कभी श्रमका ही वस्तुके साथ विनिमय होता है। जैसे किसीसे अमुक परिमाणमें कोई उपयोगी वस्तु या रुपया देकर अमुक मात्रामें शारीरिक या बौद्धिक श्रम लिया जाता है। कभी-कभी श्रम-निर्मित उपयोगी वस्तु देकर गाय या बकरी आदि ऐसी वस्तु खरीदते हैं, जिसके बनानेमें श्रम कुछ भी नहीं खर्च होता। श्रमकी बराबरीके अनुसार दामकी बराबरीकी बात सर्वथा असंगत एवं अव्यावहारिक है। शीसम एवं चन्दनके सिंहासन बनानेमें श्रम समान ही होगा; पर दोनोंके मूल्यमें पर्याप्त अन्तर होता है। लोहेकी थाली एवं सोनेकी थालीमें श्रमके विपरीत मूल्य मिलनेका व्यवहार आज भी प्रचलित है। पहाड़से निकले हुए अपरिष्कृत हीरेमें कुछ भी श्रम नहीं लगा; किंतु लाखों गज कपड़ेके बनानेमें अपेक्षित महान् श्रम भी उसके बराबरका नहीं ठहरता। अतः कहना पड़ेगा कि उपयोग तथा माँगके अनुसार ही वस्तुका मूल्य होता है। यह बात श्रम एवं श्रम-निर्मित पदार्थ दोनोंहीके सम्बन्धमें समानरूपसे लागू होती है। जल, वायु आदि अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी जहाँ पर्याप्त मात्रामें सुलभ होते हैं, वहाँ उनका कोई दाम नहीं है। पर जहाँ कमी होनेके कारण उनकी माँग होती है, वहाँ उनका भी दाम बढ़ जाता है। यदि हीरा भी पानी या बालूके तुल्य पर्याप्त होता और उसकी माँग न होती, तो इतने मूल्यका वह न होता। अथवा यदि वह शौकीन धनिकोंकी मानसिक आवश्यकताका पूरक न होता तो भी उसकी कीमत नगण्य ही होती। पहाड़में उत्पन्न होनेवाली विभिन्न वस्तुओंके मूल्यमें जो कच्चे मालके रूपमें है; पर्याप्त अन्तर है। इसी प्रकार जंगलमें स्वतः उत्पन्न विभिन्न प्रकारकी ओषधियों, लकड़ियों तथा हिरण, गाय, हाथी, बाघ, बकरे आदि पशुओंके, जिनमें मनुष्यका कुछ भी श्रम खर्च नहीं हुआ है, दामोंमें पर्याप्त अन्तर है, परस्पर विनिमय भी हो सकता है। यह विनिमय श्रमकी बराबरीके आधारपर नहीं; किंतु उपयोगिता एवं माँगके आधारपर ही है, ऐसा कहना पड़ेगा। वस्तुके महत्त्व, अल्पता, बहुलताके साथ, उपयोग एवं माँगका सम्बन्ध रहता है। एक ज्ञानशून्य मनुष्य और बकरेके लिये

रोटी या नीमकी पत्तीका जो महत्त्व है, वह हीरेका नहीं । जो वस्तु जिसके बाह्य या आन्तरिक आवश्यकताओं, इच्छाओंकी पूरक होती है, उसके प्रति ही उसकी कीमत होती है । कभी-कभी एक गिलास पानी या एक टुकड़ा रोटी भी सैकड़ों हीरेके बराबर ठहरती है । गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—'संपति सगरे जगतकी, स्वासा सम नहिं होइ ।' सारे संसारकी सम्पत्ति एक श्वासके बराबर नहीं होती । यदि कोई गुणी करोड़ों हीरा लेकर भी मरणकालमें श्वास लौटा दे, तो यह सौदा महँगा नहीं समझा जाता ।

वस्तुतः मार्क्स श्रमको ही आमदनी या मूल्यका आधार मानकर, प्राकृतिक वस्तु या कच्चे मालके उत्पादनका महत्त्व घटाकर मजदूर-राज्यका औचित्य सिद्ध करना चाहता है; परंतु उपर्युक्त कथनानुसार यही कहा जा सकता है कि मूल्यमें श्रम भी कारण है । जैसे श्रम बिना कभी मशीन एवं कच्चे माल तथा भूमि-खान आदि अन्य प्राकृतिक साधन मुर्दे पड़े रहते हैं, वैसे ही श्रम भी उपयुक्त साधनों बिना निरर्थक ही रह जाता है । काम लेनेवाला न हो तो कामका कुछ भी फल नहीं होता । काम लेनेवाला तथा दाम देनेवाला न मिलनेसे ही बेकारीका प्रश्न उठता है । यह ऊपर कहा ही जा चुका है कि अनेकों ऐसी वस्तुएँ हैं, जिनके उत्पादनमें श्रम कुछ नहीं हुआ और उनका उपयोग-मूल्य एवं विनिमय-मूल्य दोनों ही होता है । कोई भी कार्य लाभके लिये ही किया जाता है; तभी अति समान वस्तुका विनिमय नहीं होता । अर्थात् एक मन गेहूँका उसी ढंगके एक मन गेहूँके साथ विनिमय नहीं किया जाता । यातायातके द्वारा देशान्तर, कालान्तरके सम्बन्धसे क्रय-विक्रय या विनिमय लाभके लिये ही होते हैं । जैसे भारतका जूट विदेशोंमें विशेष मूल्य देता है; मार्गशीर्षका चावल श्रावणमें अधिक मूल्यवान् हो जाता है । अपनी आवश्यकतासे अधिक उत्पादन होने एवं अन्य वस्तुओंकी अपेक्षा होनेसे ही विनिमय या क्रय-विक्रयकी बात चलती है । अतएव खेती, मज़दूरी और नौकरीके धंधेके समान ही क्रय-विक्रयका एक धंधा है । यदि उससे लाभकी सम्भावना न हो तो उसमें कोई प्रवृत्त ही क्यों हो ?

मूल्य और श्रम

कहा जाता है, 'मशीनोंके नये आविष्कारों एवं उत्पादनके कामोंमें दक्षता आनेसे कम श्रममें वस्तु उत्पन्न होने लगती है । इसीलिये वस्तुका दाम कम हो जाता है । अतः सिद्ध है कि श्रम ही विनिमय-मूल्यका आधार है ।' पर यह बात ठीक नहीं जँचती । कारण, दूसरा पक्ष यह कह सकता है कि मालकी अधिकताके कारण ही माँग घटी और माँग घटनेसे विनिमय-मूल्य घटा । माल बढ़ानेके कारण मशीनें भी हैं ही । आवश्यकतासे अधिक सौदा तैयार हो जानेपर मार्क्सवादी श्रमको

निरर्थक मानते हैं। वस्तुतः उपयोग-मूल्य और विनिमय-मूल्य, यह विभाजन ही व्यर्थ है। उद्देश्यभेदसे वस्तुभेद नहीं होता। अग्नि अपने लिये जलायी जाती है, वह दूसरोंके काममें भी आती है। अग्निहोत्रके उद्देश्यसे अग्नि-मन्थन करके अग्नि प्रकट की जाती है, फिर वही भोजन बनानेके काममें आती है। कभी उसीसे यज्ञशाला भी जल जाती है। पर इतनेसे ही अग्नि दो नहीं हो जाती। भारतीय दृष्टिसे तो कोई वस्तु केवल अपने लिये पैदा ही नहीं की जाती। यज्ञ, दान, देवता, पितर तथा पड़ोसीका हित भी उद्देश्य रहता है। फिर जब अन्य वस्तुएँ तथा रुपये भी अपने काममें आते हैं, तब वेचनेके लिये तैयार किया हुआ माल भी तो प्रकारान्तरसे आत्मार्थ ही हुआ। यदि वस्त्रादि पदार्थ या रुपयादि अपेक्षित न हों तो क्यों श्रमसे वस्तु-निर्माण करें और निर्मित वस्तुको दूसरोंको क्यों दें? अतः निष्पक्षरूपसे सर्व-हितकारी रामराज्य है।

यह ठीक है कि श्रम विना कच्चा माल तथा मशीनें व्यर्थ हैं, पर श्रम भी प्राकृतिक साधनों (कच्चे माल) के अभावमें निरर्थक ही है। अतएव श्रमको केवल सहकारी कारण माना जा सकता है। जैसे घटका कारण मृत्तिका है, पर जल सहकारी कारण है; क्योंकि जलके बिना घटका निर्माण नहीं हो सकता। तो भी घटके कारणोंमें मृत्तिकाकी प्रधानताका खण्डन नहीं हो सकता, पर सहकारी कारण होनेसे जलकी तरह श्रम भी अवश्य महत्त्वपूर्ण है। साथ ही प्राकृतिक साधन तो श्रमानपेक्ष भी कुछ मूल्य रखते हैं, पर अन्य साधनोंके अभावमें श्रमकी कोई कीमत नहीं।

मजदूरी

कहा जाता है, 'यद्यपि मालूम पड़ता है, मजदूरको उसके श्रमके बदले पूरी मजदूरी मिल रही है, परंतु उसको घोड़ाको दाना देनेके तुल्य केवल उतनी ही मजदूरी दी जाती है, जितनेमें वह जीवन-निर्वाह कर सके और उसमें काम करनेकी शक्ति बनी रहे। जब कभी वस्तुओंकी दर घट जाती है, तो मजदूरीका परिमाण ज्यों-का-त्यों बना रहनेपर भी मजदूर जीवन-निर्वाहकी अधिक सामग्री पा सकते हैं। वस्तुओंके दर बढ़नेपर कम सामग्री मिलने लगती है। इस दृष्टिसे मजदूरों-के वेतनके रुपयोंकी संख्या ज्यों की-त्यों बनी रहनेपर भी वास्तवमें उनकी मजदूरी घटती-बढ़ती रहती है। पूँजीवादी अर्थशास्त्रकार इस नियमको स्पष्ट और न्याययुक्त मानते हैं। पर मार्क्स इससे संतुष्ट नहीं। उसका कहना है कि कोई पूँजीपति उसी नौकरको रखता है, जो उसे दी जानेवाली मजदूरीसे अधिक माल तैयार करता है। यदि अपने जीवन-निर्वाहके लायक सामग्री पानेके लिये मजदूरको प्रतिदिन ५ घंटा काम करना पर्याप्त हो, तो उसे ५ घंटे पूँजीपतिके लिये भी काम करना आवश्यक होता है। अतः मार्क्सके मतानुसार मजदूरके अपने लिये किये गये श्रमको

आवश्यक श्रम और पूँजीपतिके लिये किये गये श्रमको अतिरिक्त श्रम कहा जाता है। मार्क्स अतिरिक्त श्रमको बिना मूल्यका श्रम कहता है। इस तरह बदलेमें बिना कुछ दिये ही पूँजीपति मजदूरकी कमाई हजम करता रहता है।'

मजदूरोंको उनके कामके अनुसार मजदूरी मिलनी परमावश्यक है। निष्पक्ष सरकार, जनता अथवा उभयपक्षीय विशेषज्ञ विद्वान् उचित मजदूरीकी दर निश्चित कर सकते हैं। समष्टि-हितकी दृष्टिसे सरकारको उस निश्चयकी मान्यता देनी चाहिये। उचित भोजन-वस्त्र, औषध, आवास-स्थान एवं शिक्षाकी व्यवस्था सबके लिये होनी परमावश्यक है। उसके ऊपर भी योग्यता एवं कामके अनुसार मजदूरको अधिकाधिक विकसित सुखी तथा साधनसम्पन्न होने, अपने श्रम न करने लायक माता-पिता तथा बालक एवं अपनी अगली पीढ़ीके लिये धन-संग्रह करनेका अधिकार होना चाहिये। यह सामान्य बात है कि दूसरोंकी वस्तु छीनना किसीको बुरा नहीं लगता; परंतु जब अपनी वस्तु छिनने लगती है, तब अवश्य पीड़ा प्रतीत होती है। मजदूरोंके भी कुटुम्ब होते हैं। वे भी अपने कुटुम्बके भविष्यकी दृष्टिसे अनेक वस्तुओंका संग्रह करते हैं। जब उनका संग्रह छिनने लगता है, तब उन्हें भी यह नहीं जँचता। कोई भी व्यापार, धंधा, उद्योग अपने फायदेके लिये ही किया जाता है। मजदूर भी फायदेके लिये नौकरी करता है। कोई आदमी अपनी खेती करके भी जीवन चला सकता है। फिर भी वह नौकरी करनेके लिये शहरोंमें जाता है, वहाँ देहातोंकी अपेक्षा कम परिश्रममें ही अधिक लाभ दिखायी देता है। तब फिर यह स्वाभाविक है कि पूँजीपति भी मजदूरी देकर मजदूरोंसे लाभ उठाये। शास्त्रोंके अनुसार भी ऋत्विक् आदिको जितनी दक्षिणा देकर यज्ञ किया जाता है, उससे लाखों गुणा अधिक फल यजमानको मिलता है। इसी तरह मजदूरोंको उचित वेतन दे देनेपर उनके द्वारा मालिकको अधिक लाभ होता हो तो उससे मजदूरका कुछ भी नुकसान नहीं होता। यदि उत्पादनमें श्रम ही सब कुछ होता, प्राकृतिक साधनों, मशीनोंका महत्त्व न होता, मजदूर मजदूरी न लेता; तब अवश्य ही सब कुछ मजदूरका ही होना चाहिये था। परंतु जब अन्य साधन भी प्रधान-रूपसे अपेक्षित होते हैं, मजदूर मजदूरी लेता है, तो उत्पादनसे पूँजीपतिका लाभ अनुचित नहीं कहा जा सकता। अपने निर्वाहलायक ही काम करना तब उचित होता, जब दूसरेसे कोई प्रयोजन नहीं होता। अर्थात् जब वह अपनी पूँजीसे कच्चा माल लेकर उसे स्वयं पक्का बनाकर बाजारमें ले जाता है और पूँजीसे अधिक मूल्य प्राप्त करता है, तब वह अधिक मूल्यको श्रम-फल मानता है। लेकिन जब कोई दूसरा पूँजी देता है तब उस लाभमें पूँजीवाला भी भागीदार बनेगा। इस अवस्थामें श्रमसे ही लाभ हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। बिना लाभमें भाग पाये पूँजीवाला पूँजी देना स्वीकार भी न करेगा। दूसरा जब दाम देकर काम लेता है तो वह

अवश्य चाहेगा कि इस कमाईसे मजदूरकी मजदूरी निकल आये और हमें भी कुछ मिल जाय। मजदूर सरकारको भी सरकारी काम चलानेके लिये लाभ चाहिये। यदि मजदूर अपने ही निर्वाह या लाभके लिये काम करे, संचालक सरकारके लिये कुछ न करे तो सरकारी खर्च कैसे चलेगा? गुप्तचर, पुलिस, पलटन, शस्त्रास्त्र तथा वैज्ञानिकों, अन्वेषकों और विभिन्न आविष्कारोंके लिये अरबोंका लाभ आवश्यक है। लाभ बिना पूँजीपति दिवालिया हो जायगा। अकाल, दुष्काल, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, शलभ, मूषक, भूकम्प तथा अन्य उत्पातोंके कारण नुकसान या घाटा होनेपर पूँजीपतिको कारखानों, मजदूरों एवं अपना भी काम चलाना ही पड़ेगा। यदि लाभ न हो तो यह सब काम कैसे चलेगा? पूँजी या लाभ बिना किसी भी राष्ट्र या सरकारका काम ही नहीं चल सकता। यह बात अलग है कि पूँजी एवं लाभ व्यक्तिके पास न जाकर मजदूर-सरकारके पास जाय जो पूँजी एवं लाभ एक जगह दोष था, वही दूसरी जगह जाकर गुण हो जाय, यह भी कम्युनिस्टोंकी विचित्र बात है। अतएव मालिक सीधे-सीधे घंटों और महीनोंके हिसाबसे श्रमको खरीदते हैं। कभी-कभी उससे लाभ न होनेपर भी उन्हें दाम देना पड़ता है। कभी कुछ लाभ मिलता है, कभी ज्यादा लाभ भी मिलता है। कोई सौदा भी खरीदनेमें यही बात होती है। कभी घाटा, कभी लाभ प्राप्त होता है। इसमें बिना कुछ दिये हजम कर जानेका प्रश्न ही नहीं उठता। अतः अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त मूल्यकी कल्पना इस दृष्टिसे सर्वथा व्यर्थ हो जाती है।

अतिरिक्त लाभ

मशीनोंके आविष्कार होनेपर मशीनोंद्वारा लाखों मजदूरोंका काम हो जाता है। फिर तो मशीनकी कमाईका फल मशीन-मालिकको मिलना ठीक ही है। कहा जाता है कि 'जमीन खोदनेवाले मजदूरको एक घंटेके परिश्रमका फल उतना नहीं मिलता, जितना कि एक इंजीनियरके परिश्रमका होता है।' इसका कारण मार्क्सवादियोंकी दृष्टिसे यह है कि 'जमीन खोदनेका काम मनुष्य एक या दो दिनमें सीख सकता है, परंतु इंजीनियरका काम सीखनेके लिये १० वर्षका परिश्रम अपेक्षित होता है। १० वर्षकी मेहनतका दाम इंजीनियर अपने मेहनतके प्रत्येक घंटे और दिनमें वसूल करता है। इसीलिये उसके परिश्रमके एक घंटेका दाम मामूली मजदूरके एक घंटेके परिश्रमके दामसे दसगुना अधिक होता है।'

उपर्युक्त तर्क अविचारितरमणीय है। वस्तुतः यहाँ श्रमवैचित्र्यसे ही उसके मूल्यका वैचित्र्य मानना उचित है। किस ढंगके परिश्रमका फल कितना और कैसा होता है, इसी आधारपर उसका दाम आँका जाना ठीक है। अन्यथा जबसे ही इंजीनियर काम सीखना आरम्भ करता है तबसे ही गरीब किसान जमीन

खोदने, हल जोतने, बोझा ढोनेका काम करता रहता है। इस तरह हर दृष्टिसे इंजीनियरके परिश्रमसे मजदूरोंका परिश्रम अधिक ही होता है। अध्यात्मवादीकी दृष्टिमें इसी तरह कालान्तर एवं जन्मान्तरके कर्मों एवं उनके विचित्रतासे ही फलोंमें भेद होता है। समष्टि जगत्के परमहितकी दृष्टिसे विचारपूर्ण सूक्ष्म कर्मोंके फलस्वरूप ही उच्चकोटिके ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न जन्म होते हैं। जन्मान्तरीय सुकृत-दुष्कृत कर्मोंके अनुसार ही प्राणियोंको विविध प्रकारके वैध भूमिधन आदि दान, क्रय, दान, पुरस्कार आदिरूपमें प्राप्त होते हैं। जन्मान्तरीय सुकृत-दुष्कृत वैचित्र्य बिना मनुष्य-पशु आदिके जन्म-वैचित्र्यका हेतु जड़वादी कुछ भी नहीं कह सकते। हेतु विचित्रता बिना कार्यमें विचित्रता असम्भव ही होती है। अतः धर्माधर्म-वैचित्र्यमें ही फल-वैचित्र्य मानना पड़ेगा।

वस्तुतः मार्क्स आदि भौतिकवादी विश्वको निरीश्वर ही मानते हैं। उनकी दृष्टिमें न ईश्वर है, न जड़-देहादि संघातसे भिन्न आत्मा और न जन्मान्तर। अतएव जन्मान्तरीय कर्मों तथा जन्मान्तरीय कर्मफल भोग भी उन्हें मान्य नहीं है। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, उनके सभी विचार विकासवादकी दृष्टिसे चलते हैं। इनके मतानुसार पक्षी, पशु, वानर, वनमानुष आदि क्रमसे मनुष्यका विकास हुआ है। संसार अल्पशक्तिसे बहुशक्तिमत्ताकी ओर, अज्ञतासे विज्ञताकी ओर, असभ्यतासे सभ्यताकी ओर तथा जंगलीपनसे नागरिकताकी ओर जा रहा है। फलतः सभीके पूर्वज पिता-पितामहादि अपने पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदिकी अपेक्षा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, असभ्य तथा जंगली थे। इस दृष्टिसे ऋषि, महर्षि अज्ञानी एवं जंगली ही थे। अतएव व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, बृहस्पति, शंकर आदि ऋषि-महर्षियोंकी शास्त्रीय व्यवस्थाओंको भी ये लोग अवैज्ञानिक, असंगत, संकीर्ण एवं शोषणमूलक मानते हैं। बृहस्पति आदि ऋषियोंने व्यापारको मालिक एवं मजदूरकी सम्मतिसे निश्चित लाभके लिये ही बताया है। वेतन मजदूरी आदिको परिमित ही माना है। लाभांश पूँजीपतिका ही माना है। भूमिका लगान भी इन ऋषियोंने मान रखा है, परंतु मार्क्सवादी इसे स्वीकार नहीं करते। वे आर्ष इतिहासको प्रमाण नहीं मानते—भले ही आधुनिक मिथ्या मनगढ़ंत इतिहासोंको ही सत्य मान लें।

उनके अनुसार 'पहले सब मनुष्य जंगली थे, असभ्य थे, परिवार आदि नहीं बसाते थे। हजारों वर्ष बाद परिवारकी प्रथा चली; फिर खेती करना सीखा। अनेक वस्तुओंका बनाना और उनका उपयोग करना सीखा। आवश्यकतासे अधिक अन्न तथा अन्य वस्तुएँ पैदा होने लगीं। तब दूसरे पड़ोसियोंसे विनिमयकी बात भी सीखी। भूमि पहले किसीकी नहीं थी, खेती करनेसे लाभ होते देखकर प्रबल लोगोंने दुर्बलोंसे भूमि छीनी। दुर्बलोंसे धन भी छीन लिया तथा

उनसे जबर्दस्ती काम लेकर उनकी कमाईको हड़प कर राजा, जमींदार, धनवान्, या पूँजीपति बन गये। दुर्बलोंको साधनहीन बनाकर युगोंसे उनका शोषण चल रहा है। उन्हींके परिश्रम एवं कमाईका सब वैभव है, जिससे पूँजीपति और जमींदार, सामन्त लोग मौज ले रहे हैं। इसीलिये आजके यान्त्रिक महान् औद्योगिक विकास युगका जो कुछ भी भूमि, पूँजी या मुनाफा है, सब मजदूरोंका ही है, सब उन्हीं-की कमाई है। लागत खर्चसे अधिक जो भी दाम सौदा बेचनेसे मिलता है, सब मजदूरोंकी मेहनतका ही फल है। वह सब मजदूरोंको न मिलकर उसका स्वल्पांश मिलता है, यह अन्याय है। अतः अब सब भूमि, पूँजी, कल-कारखाने, मशीन, पूँजीपतियोंके हाथसे छीनकर सम्पूर्ण राष्ट्रोंका मालिक मजदूरको ही बनाना चाहिये। मजदूरका अधिनायकत्व सम्पादित कर पूँजीपति सेठ आदिकोंको इतना कुचल देना चाहिये, जिसमें कभी भी सिर उठाने लायक न रह जायँ। इसके लिये न्याय-अन्याय, हिंसा-अहिंसा, अपहरण आदि जो भी करना पड़े वही धर्म है, वही न्याय है, वही शास्त्र है। किसी भी पुराने न्याय, धर्म, सत्य, अहिंसा, या शास्त्र और तदनुकूल नियम-व्यवस्थाओंको एकदम नष्ट कर देना चाहिये।'

इस तरह अध्यात्मवादी धर्मनियन्त्रित शासन रामराज्य धर्मसापेक्ष पक्षपातहीन राज्यका भौतिकवादी समाजवाद, साम्यवादके साथ किसी तरह भी कोई समन्वय हो सकना असम्भव है। पूर्व-पश्चिम या अन्धकार-प्रकाशके समान इनका परस्पर आधारमें, साधनमें, साध्यमें, व्यवहारमें महान् मतविरोध है। अध्यात्मवादीके मतानुसार जगत्प्रपञ्च चेतन सर्वज्ञ ईश्वरका कार्य है, देहभिन्न अनादि, अनन्त जीवोंके शुभाशुभ जन्मान्तरीय कर्मोंकी विचित्रतासे ही जगत्की विचित्रता होती है। जड़वादी कहते हैं कि ईश्वर नहीं है; परंतु ईश्वरका अभाव भी उन्होंने कैसे जाना ? यदि कहें कि उपलब्ध नहीं होता—इसलिये ईश्वर नहीं है, तो यह असंगत है। क्योंकि कितनी वस्तुएँ विद्यमान रहनेपर भी सूक्ष्म रहनेसे उपलब्ध नहीं होतीं। अति दूर होनेपर पर्वत आदि तथा आकाशमें उड़ते हुए पक्षी नहीं दीखते। अति सामीप्यके कारण नेत्रस्थ अञ्जन भी अपने ही नेत्रोंसे नहीं दीखता। इन्द्रियघात अन्धत्व, बहिरत्वसे भी रूप-शब्द आदि नहीं गृहीत होते। मनकी अनवस्थितिसे, कामादिसे उपहतमनस्क स्फीतालोक-मध्यवर्ती घटको भी नहीं देख सकता। अति सूक्ष्म होनेसे समाहितमनस्क प्राणी भी परमाणु आदिको नहीं देख सकता। व्यवधानसे वस्तु अन्तर तिरोहित वस्तुका दर्शन नहीं होता, जैसे कुड्यादि व्यवहित वस्तुका अदर्शन। तारों आदिका अदर्शन अभिभवके कारण ही नहीं होता, जैसे सूर्यकी प्रभासे अभिभूत होनेके कारण दिनमें रहते हुए भी तारागण नहीं दीखते। समानाभिहारसे भी वस्तुका 'उपालम्भ नहीं होता, जैसे जलाशयमें निपतित तोय-बिन्दुका भेद अनुभूत नहीं होता। क्षीर

आदि अवस्थामें दधि, घृत आदि अनुद्भूत होनेसे भी अनुपलब्ध होते हैं, वैसे ही परमाणु, प्रकृति, परमेश्वरकी भी अनुपलब्धि होती है। अभावके कारण अनुपलब्धि नहीं कही जा सकती। 'अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात् समानाभिहाराच्च ॥ सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः' (सांख्यकारि० ७, सां० द० १। १०८, महाभाष्य ४। १। ३, चरकसूत्र० १०। ८) कहा जा सकता है कि 'फिर तो उपलब्ध न होनेपर भी जैसे ईश्वर, आत्मा आदिकी सत्ता मान लेते हैं, उसी तरह अनुपलब्ध होनेपर भी सप्तम रस एवं खपुष्पादि भी मान लेना पड़ेगा।' परंतु इसका उत्तर यह है कि प्रकृति, आत्मा, परमात्मा आदि प्रमाणसिद्ध हैं, सप्तम रस खपुष्पादि प्रमाणसिद्ध नहीं हैं।

प्रमाणसे ही प्रमेयकी सिद्धि होती है। जैसे रूपोपलब्धि रूप-क्रियाके द्वारा नेत्ररूप सूक्ष्म इन्द्रियकी सत्ता सिद्ध होती है, वृक्षके द्वारा बीजका अनुमान होता है, वैसे ही प्रपञ्चरूपी कार्यके द्वारा उसका उपादान कारण एवं कर्तारूपी निमित्त कारणका अनुमान होता है। वही उपादान एवं निमित्तकारण प्रकृतिविशिष्ट ईश्वर है। शय्या, प्रासाद आदि संघात-विलक्षण चेतन देवदत्त आदिके लिये होते हैं। इसी तरह देहेन्द्रियादि संघात भी स्वविलक्षण किसी असंहत चेतनके लिये अवश्य होने चाहिये। इन युक्तियोंसे तर्क-अनुमानोंसे चेतनात्मा तथा परमेश्वरकी सिद्धि होती है। यदि प्रत्यक्षद्वारा अनुपलब्ध होनेसे ही वस्तुका अभाव निर्णय किया जाय, तब तो गृहसे विनिर्गत जनोंको न देखकर उनका भी अभाव समझ लिया जायगा। अतः प्रत्यक्ष योग्यकी प्रत्यक्षानुपलब्धिसे ही अभावका निर्णय किया जा सकता है। घ्राणातिरिक्त श्रोत्रादि अन्य इन्द्रियोंसे अग्राह्य होनेपर भी केवल घ्राणद्वारा उपलब्ध होनेसे गन्धकी सत्ता मान्य है। अतः गन्धका अभाव नहीं कहा जा सकता। चित्तकी एकाग्रतारूपी योगसे उद्भूत सामर्थ्ययुक्त ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा तथा अपौरुषेय आगमद्वारा आत्मा, परमात्माका दृढ़ निर्णय होता है। विवेक-विज्ञान-द्वारा सर्वभासक अखण्ड बोध, अखण्ड सत्ताका, जो कि सभी परिच्छिन्न बोधों एवं सत्ताओंका उद्गमस्थान है, स्वप्रकाशरूपसे स्पष्ट साक्षात्कार होता है।

चक्षुरादि स्थूल प्रत्यक्ष साधन एवं काँच, यन्त्र या यान्त्रिक विश्लेषणोंसे वैज्ञानिकोंको उपलब्ध न होनेमात्रसे प्रकृति, परमेश्वरादिका अभाव नहीं कहा जा सकता। अनेक चीजोंको वैज्ञानिक पहले नहीं जानते थे, अब जानने लगे हैं। प्रथम जिन परमाणु हाइड्रोजन शक्तियोंका ज्ञान उन्हें नहीं था, उन्हींका आज प्रत्यक्ष हो रहा है। एतावता वे शक्तियाँ पहले नहीं थीं—यह कैसे कहा जा सकता है? वायुयानका जब आविष्कार नहीं हुआ था, तब यह भी असम्भव-जैसी चीज थी; परंतु अब सम्भव हो गयी। पहले सूर्यमण्डलसे भूमण्डलकी उत्पत्ति मानकर

ही विकासवादी संतुष्ट हो गये थे, परंतु फिर बादमें पृथ्वी आदि भूत-चतुष्टयको सूर्यका भी कारण समझा। फिर कई लोगोंने आकाशको भी स्वीकार कर लिया। अब बहुतोंको प्रकृतिमें भी विश्वास होने लगा है। सम्भव है आगे चलकर आत्मा, परमात्मा आदिका भी कुछ आभास उपलब्ध हो। जो विज्ञान स्वयं अभी अपनेको प्रकृतिके अनन्त भण्डारमेंसे अतिक्षुद्र कणके भी सम्पूर्णतया जानकार होनेका दावा नहीं करता, उस विज्ञान एवं वैज्ञानिक यन्त्र-बलपर ईश्वर, धर्मशास्त्र तथा सर्वज्ञकल्प ऋषियों, महर्षियों तथा योग्य सामर्थ्यका खण्डन करना एक दुस्साहसपूर्ण मूर्खता है।

अध्यात्मवादी प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आर्ष एवं अपौरुषेय आगमोंके आधारपर परमेश्वरसे सृष्टि मानते हैं; शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार जगत्की विचित्रता मानते हैं। जैसे शास्त्रानुसार ही निकृष्ट कर्मोंके फलस्वरूप श्वान, शूकर, गर्दभ आदि योनियोंमें जन्म होता है, उन्हें मनुष्योचित शय्या, प्रासाद, भोजन आदि नहीं प्राप्त होता, वैसे ही पशु आदिकी अपेक्षा उत्कृष्ट; परंतु निकृष्ट कर्मोंके कारण ही कुछ ऐसे मनुष्योंका भी जन्म होता है, जिनके पास पर्याप्त भूमि, सम्पत्ति आदि नहीं होती। इसी तरह कर्मोंके उत्कर्षापकर्षके कारण ही भूमि, धन, उच्च मस्तिष्क विद्यादिसम्पन्न मनुष्य तथा देवादि जन्म होते हैं। इस दृष्टिसे कुछ लोग उत्पादन, साधन एवं श्रम दोनोंहीसे सम्पन्न होते हैं। कुछ लोग श्रमसे ही जीविका उपार्जन करते हैं। उन्हींके सम्बन्धमें वेतन, मजदूरी आदिका विवेचन शास्त्रोंमें है। यद्यपि काम करनेवाले और काम करानेवालोंके ही आपसी समझौतेसे मजदूरी या वेतन आदिका दर निश्चित होता है, तथापि राष्ट्रकी आर्थिक स्थिति लाभ और कामकी स्थितिको देखकर समाज या सरकार भी औचित्यके आधारपर मजदूरीका दर निर्णय कर सकते हैं। शास्त्रोंमें साझेकी खेतीकी एवं साझेके व्यापारोंकी भी पर्याप्त चर्चा है, परंतु लाभमें साझेदारोंका हिस्सा मान्य होता है, नौकरोंका नहीं। क्योंकि उन्हें नौकरी मिलती ही है। मालिक इसी लाभके लिये रुपया, कच्चा माल, मशीन और बुद्धि-परिश्रमका उपयोग करता है। कभी-कभी घाटा भी उठाता है, जिसमें साझेदार ही हिस्सेदार होते हैं, मजदूर नहीं।

कहा जाता है कि 'पूँजी, मशीन आदि साधन भी मजदूरोंके ही श्रमका फल है; क्योंकि छोटे व्यापार एवं छोटी मात्रामें होनेवाली खेतीसे जो क्रमशः धन-राशि संगृहीत हुई है, वह भी मजदूरों एवं मालिकों (हलवाहों) के अतिरिक्त परिश्रमके फलस्वरूप अतिरिक्त आयका ही संग्रह है। परंतु यह भी तो हो सकता है कि कोई स्वयं खेती करनेवाला किसान अपने ही खेतसे अन्न या तेलहन आदि उत्पन्न करता है और स्वयं ही कोल्हूमें तेल पेरता है। अन्य तेल बेचकर पूँजी इकट्ठा

करता है, या वकालत, डाक्टरीके पेशेसे जिससे कि सैकड़ों, हजारोंकी प्रतिदिन आमदनो होती है, या इंजिनियरीके पेशेसे पर्याप्त धन कमाता है। वह अपने ही परिश्रमसे कमाया हुआ धन है, उस पूँजीसे व्यापार करनेवालेके व्यापारमें या औद्योगिक कार्यमें होनेवाला लाभ तो पूँजीपतिका मानना ही पड़ेगा।

कहा जाता है कि 'मशीनोंके अधिकाधिक विकाससे मशीनोंकी सहायतासे पैदावार बढ़ जाती है; परंतु मेहनतकी शक्ति घट जाती है, अर्थात् बहुत मजदूरोंकी जरूरत नहीं पड़ती; अतः उसका दाम भी कम पड़ता है। इससे पूँजीपतिका लाभ खूब बढ़ जाता है।' परंतु यह अनुचित भी तो नहीं है, जब वैज्ञानिकों और मशीनों-पर पर्याप्त पैसा लगाया गया है, तभी तो मशीनें बनी हैं। फिर उनका फायदा उठाना क्यों अनुचित है? जैसे मार्क्सवादी इंजीनियरके इंजीनियरी सीखनेके समयके श्रमके दामका भी कामके घंटोंके दाममें वसूल करना उचित मानते हैं, वैसे ही वैज्ञानिकोंके शिक्षाका खर्च, अन्वेषणका व्यय, मशीन बनानेका व्यय, मशीन खरीदनेका खर्च आदिका भी तो दाम और उसका मुनाफा वसूल करना उचित है। पैसेका सूद रूसी मार्क्सवादी भी देते हैं; अतः पैसेका भी लाभ होना उचित है। जैसे कोई कच्चे मालसे पक्का माल पैदा करनेवाला उपयोगी सौदा बनाकर कच्चे मालके दामसे अधिक दाम वसूल करता है, वैसे ही पैसेके दामसे कहीं अधिक दाम पैसेको काममें लगाकर वसूल किया जाना उचित ही है।

मार्क्सके मतसे मशीनोंके द्वारा पैदावार बढ़ जानेसे एवं मजदूरोंकी कम अपेक्षासे मजदूरोंकी बेकारी बढ़ती है। मजदूरोंकी बेकारीसे पंचानबे प्रतिशत मजदूरवाले समाजमें क्रय (खरीदने) की शक्ति घट जाती है। इसलिये बाजारमें माल-की खपत कम होती है। तदर्थ माल कम पैदा करनेकी चेष्टामें और मजदूर कम करने पड़ते हैं। इससे और बेकारी बढ़ती है। फलस्वरूप खपत और कम हो जाती है।' इस तरह पूँजीवादी प्रणालीमें उत्पन्न हुए गतिरोधको समाप्त करनेका मार्क्सीय उपाय यह है कि 'समाजकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये जितने आवश्यक सामाजिक श्रमकी जरूरत हो, उसे सम्पूर्ण समाज सहयोगसे करे, कोई भी व्यक्ति बेकार न रहे। पैदावारकी उन्नतिके साधनोंकी सहायतासे प्रत्येक व्यक्तिको कम परिश्रम करना पड़े और साथ ही पैदावारको भी बढ़ाया जाय। अपने परिश्रमके अनुसार सब फल पायें। इससे प्रत्येक श्रमिकको परिश्रम कम करना पड़ेगा, परंतु खरीदनेकी शक्ति सबके पास बनी रहेगी, अतः मालके खपतमें कमी न होगी।'

अध्यात्मवादी रामराज्यमें यद्यपि लाभका अधिकारी उद्योगपति ही है तथापि लाभका पञ्चधा विभाजन करके एक हिस्सा मालिकके काम आता है। अवशिष्ट धर्म, यश आदिके नामपर राष्ट्रके काममें खर्च कर दिया जाता है। लाभ एवं कामके अनुसार ही मजदूरोंकी मजदूरीका भी दर निश्चित किया जाता है।

कामके घंटोंमें कमी और मजदूरोंकी संख्यामें वृद्धिका नियम रहता है। जब आठ घंटे एक हल चलानेके लिये आठ हृष्टपुष्ट बैलोंका उपयोग किया जाता है, तो फिर मनुष्योंके लिये भी कामके घंटोंकी कमी और मजदूरकी अधिक संख्याका नियम स्वाभाविक है। मजदूरोंका उन्नत जीवनस्तर एवं शिक्षा-स्वास्थ्य-समुन्नतिका उत्तरदायित्व भी मालिकपर रहता है। फिर भी अवशिष्ट लोगोंके लिये दूसरी रोजी और कामकी व्यवस्था करनेकी जिम्मेदारी समाज एवं सरकारके ऊपर रहती है, यह विस्तारसे पीछे लिखा जा चुका है। इस दृष्टिसे बेकारीका निराकरण यन्त्रोंका नियन्त्रण, पूँजी और श्रमका संतुलन होनेसे विरोध उपस्थित ही नहीं होता।

उपयोगी वस्तु और सौदेकी वस्तु

कहा जाता है कि 'उपयोगी पदार्थोंकी पैदावार आवश्यकता पूर्ण करनेके लिये होती है। सौदेकी पैदावार विनिमयके लिये होती है, आवश्यकता पूर्ण करनेके लिये पैदावार करनेमें मुनाफा उद्देश्य नहीं रहता। विनिमयके लिये पैदा करनेमें पैदावारका उद्देश्य उपयोग नहीं, किंतु मुनाफा कमाना ही रहता है। पूँजीवादीका सब पैदावार विनिमयके लिये होता है। लेनिनने पूँजीवादकी यही परिभाषा की है कि 'समाजके सभी पदार्थोंको सौदेके रूपमें विनिमयके लिये उत्पन्न करना और परिश्रमकी शक्तिको भी विनिमयकी वस्तुकी तरह खरीदकर व्यवहारमें लाना पूँजीवादकी अवस्था है।' मार्क्सने भी कहा है कि पूँजीवादी प्रणालीमें सभी पदार्थ विनिमयके लिये तैयार किये जाते हैं, परिश्रमकी शक्ति बाजारमें बेची जाती है और मेहनत करनेवालोंसे अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त मूल्यके रूपमें मुनाफा उठाकर पूँजीद्वारा पूँजी कमायी जाती है।'

वस्तुतः पैदावारके ये दो भेद व्यर्थ हैं। अध्यात्मवादी अर्थ-व्यवस्थाके प्रायः प्रत्येक कार्य इसी दृष्टिसे होते हैं कि समाजकी आवश्यकताकी पूर्ति भी हो और कार्य-संलग्न लोगोंकी जीविकाका भी प्रश्न हल हो जाय। जैसे ब्राह्मण मस्तिष्कद्वारा याजन, अध्यापन एवं प्रतिग्रह करता है। इससे समाजकी आवश्यकता भी पूर्ण हो सकती है और उसकी जीविकाका प्रश्न भी हल होता है। क्षत्रियकी शासन तथा शस्त्रास्त्रदक्षता, संग्रामदक्षता सम्पादन आदि कार्यसे समाजकी आवश्यकता भी पूरी होती है और उसकी जीविकाका भी प्रश्न हल होता है। इसी तरह वैश्यका व्यापार कार्य है। उससे विभिन्न देशोंमें अपेक्षित पदार्थको पहुँचाने एवं आवश्यक पदार्थ उत्पादनद्वारा समाजकी आवश्यकता पूरी होती है और उनकी जीविकाके लिये लाभ भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार शूद्र शिल्प-सेवा आदिके कार्योंके द्वारा अपनी जीविका लाभ भी करते हैं, समाजकी आवश्यकता भी पूरी होती है। शरीरमें मुख, बाहु, उदर एवं पदका जैसे अपने कार्योंके द्वारा समष्टि शरीरकी आवश्यकता

भी पूरी होती है और उनका काम भी चलता है, उदर जिस प्रकार भोजन आदि संग्रह करता है और रस इत्यादि उत्पन्न कर शरीरके विभिन्न अवयवोंको लाभ पहुँचाता है, वही स्थिति व्यापारी, उद्योगपति वैश्योंकी भी है । अतः समाजकी आवश्यकता पूर्ण हो, उद्योगपतिको लाभ हो—इन दोनों ही उद्देश्योंसे उत्पादन होता है, और यही उचित है। अध्यात्मवादियोंमें 'एक क्रिया द्व्यर्थंकरी' का दृष्टान्त प्रसिद्ध है—

एको मुनिः कुम्भकुशाग्रहस्तो ह्याम्रस्य मूले सलिलं ददाति ।
आम्रश्च सिक्तः पितरश्च तृप्ता एका क्रिया द्व्यर्थंकरी प्रसिद्धा ॥

(पद्मपुराण सृष्टिखण्ड ११ । ७५)

एक मुनि हाथमें घड़ेका जल तथा कुश लेकर आम्र-मूलमें पितृतर्पण करता है, इससे आम्रका सिंचन तथा पितृतर्पण दोनों ही कार्य सम्पन्न होता है । राजनीतिमें तो एक-एक कार्यसे अनेकों प्रयोजन सिद्ध किये जाते हैं । रामचन्द्रने लोकाराधनके लिये सीताको वनवास दिया । लोकाराधन भी हुआ, सीताकी वन जानेकी इच्छा पूर्ति-द्वारा दोहद पूर्ति की । राम और सीता दोनोंका ही संयत आध्यात्मिक तपोमय जीवन सम्पन्न हुआ । सीताके निष्कलंक यशकी प्रख्याति एवं लवकुशकी आर्ष-ढंगसे दिव्य शिक्षाकी व्यवस्था भी हो गयी । इसीलिये कहा जाता है—

नीति प्रीति परमारथ स्वारथ । कोउ न राम सन जान जथारथ ॥

उपयोगी पदार्थोंको उत्पन्न कर सकनेकी शक्तिको ही मार्क्स परिश्रमकी शक्ति कहता है। उसका यह भी कहना है कि 'अपने परिश्रमका फल मुनाफा ही कहा जा सकता है । इस कमाईसे बड़ी मात्रामें पूँजी जमा नहीं हो सकती । अतः बड़े परिमाणके मुनाफा कमानेके लिये दूसरोंके परिश्रमका भाग मुनाफेके रूपमें ले लिया जाता है । इसके लिये आवश्यक है कि दूसरी ऐसी श्रेणी हो, जिसके पास पैदावारके साधन न हों, क्योंकि जिसके पास पैदावारके साधन होंगे, वह कभी भी यह पसंद करेगा कि उसके परिश्रमका फल दूसरा ले ले । साधनहीन लोगोंद्वारा मशीनकी सहायतासे बहुत अधिक काम कराकर थोड़ी-सी मजदूरी उनको देकर उनके परिश्रमका फल वह स्वयं रख लेता है । इसका कारण यही है कि साधनहीन लोगोंके पास साधन नहीं है, है भी तो साधारण, जो बड़ी मशीनोंके सामने टिक नहीं सकती । इसीलिये साधनहीन या घटिया साधनवालोंकी शारीरिक शक्तिकी पैदावारका दाम बहुत कम रह जाता है ।

लाभ या मुनाफा

कहा जाता है कि 'बिक्रीके लिये माल या सौदा तैयार करनेवाला मनुष्य माल बनानेके लिये कुछ सामान खरीदता है । खरीदे हुए सामानको अपने मेहनतसे बिक्रीयोग्य माल या सौदा तैयार करके उसे बाजारमें बेचनेसे जो दाम मिलता है, उसमेंसे खरीदे हुए सामानका दाम निकाल देनेपर बाकी बचा हुआ दाम लाभ

या मुनाफा कहलाता है, वह शुद्धरूपसे मेहनतका ही फल है। इसी प्रकार जब पूँजीपति वड़े पैमानेपर सौदा तैयार कराता है, तब भी लागत खर्चसे अधिक जो भी दाम मिलता है, वह लाभ या मुनाफा मजदूरोंकी मेहनतका ही फल है। सौदेके मूल्यमेंसे कच्चे मालका मूल्य निकाल लेनेपर केवल सौदेका खर्च और मेहनतका ही मूल्य बच जाता है, पर पूँजीपति मेहनतका पूरा फल मजदूरको दे देता है तो मुनाफेकी कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। अतः मजदूरके मेहनतका जितना फल उसको मिलता है उतना ही पूँजीपतिको अधिक लाभ होता है।'

पर यह विचार एकाङ्गी दृष्टिकोणसे ही है। लाभ या मुनाफा केवल मेहनतका फल नहीं हो सकता, किंतु वह कच्चे माल एवं मेहनत दोनोंका ही फल है। यदि मेहनत विना कचा माल अल्प मूल्यका था, तो कच्चे माल बिना मेहनत भी व्यर्थ थी। फिर तो जैसे पूँजीपतिने दाम देकर कचा माल खरीदा वैसे ही दाम देकर श्रम भी खरीदा। दोनोंके खरीदनेमें खर्च हुए। दामसे अधिक दाम जो मुनाफाके रूपमें मिला, वह पूँजीपतिका ही होता है। जैसे श्रमवाला अपने श्रमका फल चाहता है, वैसे ही कचा मालवाला अपने कच्चे मालका फल चाहता है। जैसे किसी-किसी अवसरपर कच्चे मालमें तेजी-मंदी आती रहती है, वैसे ही श्रममें भी सस्तापन और महँगापन आता रहता है। दुर्लभता एवं माँगकी अधिकता होनेपर कचा माल महँगा हो जाता है, वैसें ही दुर्लभता एवं माँगके अनुसार ही श्रम भी महँगा हो जाता है। कभी बाजारमें सस्ते दाममें कचा माल भी मिलता है, कभी सस्ते दाममें श्रम मिलता है। कहा जा सकता है कि 'कच्चे मालका जो दाम मिल गया, वह उसका दाम है', परंतु इसी तरह यह भी तो कहा जा सकता है कि मजदूरोंको भी श्रमका वेतन उन्हें मिल गया। इसी तरह श्रम और कचा माल दोनों ही श्रमिकका होता तो दोनोंका ही फल उसे ही मिलता या कचा माल खरीदनेका दाम और श्रम दोनों ही श्रमिकके होते तो भी सब फल उसीको मिलता। किंतु जब श्रम श्रमिकका है, कचा माल और उसका दाम दूसरेका है, तब तो जैसे श्रमका फल श्रमिकको मिलना चाहिये, वैसे ही कच्चे मालका भी फल उसके मालिकको मिलना ही चाहिये। जैसे श्रमिक मिलनेवाली मजदूरीको कम कहता है वैसे ही कच्चे मालका विक्रेता भी अपने मालके मिलनेवाले दामको कम कहता है। इन दोनोंको जो अपने पैसेसे इकट्ठा करता है, दोनोंका प्रबन्ध करता है, यद्यपि लाभकी आशा ही करता है, तथापि कभी-कभी अनुमानके विपरीत उसे नुकसान भी होता है। जो इन सब खतरोंको अपने सिरपर झेलता है, उसे उसके पैसे, परिश्रम, साहस, हानि एवं खतरा उठानेका आखिर क्या फल होगा? अतः कच्चे मालके दाम निकालकर बचे हुए सौदेका दाम श्रमका ही फल है, यह कहना गलत है।

हाँ, कच्चे माल एवं श्रमके उचित मूल्यका निर्धारण करना आवश्यक है। इसपर भारतीय शास्त्रोंने पर्याप्त प्रकाश डाला है। इससे पूँजीपतिके आयपर भी नियन्त्रण हो जाता है। शास्त्रोंने मजदूरी या वेतनके सम्बन्धमें मुख्यरूपसे यही नियम माना है कि मालिक और नौकरका जो आपसी सम्मतिसे तय हुआ हो, वही उसकी मजदूरी है। भृतककी मिताक्षरामें इस प्रकार व्याख्या की है—

सूल्येन यः कर्म करोति स भृतकः। (याज्ञ० स्मृति, मिता० व्यव० १८३)

मजदूरी या नौकरीको भृति शब्दसे कहा गया है। भृतिकी परिभाषा यों है—

यत्र यादृशी भृतिः परिभाषिता स्वामिभृत्याभ्यां तादृशी तत्र भृतिर्भृत्येन लभ्यते। (याज्ञ० स्मृ० वीरमित्रोदय टीका १९३)

वहीं 'मिताक्षरा' में नारद-स्मृतिका यह वचन उद्धृत किया है—

भृत्याय वेतनं दद्यात् कर्मस्वामी यथाकृतम्।
आदौ मध्येऽवसाने वा कर्मणो यद्विनिश्चितम्॥
(नारद स्मृ० ६ । २)

भृत्य एवं स्वामीद्वारा निश्चित मूल्य ही वेतन है। हाँ, जहाँ वेतन बिना निश्चित किये ही मालिक श्रम कराता है, वहाँ वाणिज्य, पशु तथा सस्य (फसल) से होनेवाले लाभका दसवाँ भाग नौकरको राजाद्वारा दिलाया जाना चाहिये—

भृतिमपरिच्छिद्य यः कर्म कारयति तं प्रत्याह—
(मिता०)

दाप्यस्तु दशमं भागं वाणिज्यपशुसस्यतः।
अनिश्चित्य भृतिं यस्तु कारयेत् स महीक्षिता॥
(याज्ञ० स्मृ० २ । १९४)

खाली हल चलानेवाला उससे होनेवाली आमदनीसे तीसरा भाग पा सकता है। यदि उसे भोजन-वस्त्र भी मिलता हो, तो उसे लाभका पाँचवाँ भाग मिलना चाहिये—

त्रिभागं पञ्चभागं वा गृह्णीयात् सीरवाहकः।
भक्ताच्छादभृतः सीराद् भागं भुञ्जीत पञ्चमम्॥
(बृहस्पतिस्मृ०)

परंतु जो नौकर देशकालानुसार विक्रय, कर्षण आदि कार्य ठीक-ठीक नहीं करता और प्रकारान्तरसे लाभ उठाता है, वहाँ स्वामीकी इच्छा ही मुख्य है। अर्थात् उसे सम्पूर्ण वेतन नहीं देना चाहिये। अधिक लाभ करता है, तो दशमांश-से अधिक देना चाहिये—

देशं कालं च योऽतीयाल्लाभं कुर्याच्च योऽन्यथा।
तत्र स्यात् स्वामिनश्छन्दोऽधिकं देयं कृतेऽधिके॥
(याज्ञ० स्मृ० २ । १९५)

अनेक मजदूर जहाँ मिलकर काम करते हैं, वहाँ उनके कामके अनुसार वेतन मिलना चाहिये। कोई नौकर दो आदमीका काम करे तो उसे दुगुना तथा कोई यदि एक आदमीसे भी कम करे तो उसे कुछ कम वेतन भी मिलना चाहिये। यथा निश्चय अथवा मध्यस्थद्वारा निर्णीत वेतन मिलना उचित है, सभीको समान नहीं—

यो यावत् कुरुते कर्म तावत्तस्य तु वेतनम्।
उभयोरप्यसाध्यं चेत् साध्यं कुर्याद्यथाश्रुतम्॥ (याज्ञ० स्मृ० २। १९६)

गोपालन करनेवाले गोपालकी मजदूरीका रूप मनुने लिखा है कि 'जो भोजन-वस्त्र नहीं पाता, ऐसा गोपाल यदि दस गौओंका पालन करता हो, तो एक गायका दूध उसे मजदूरीके रूपमें मिलना चाहिये—

गोपः क्षीरभृतो यस्तु स दुह्याद् दशतो वराम्।
गोस्वाम्यनुमते भृत्यः सा स्यात् पालेऽभृते भृतिः॥ (मनु० ८। २३१)

राजकीय कर्मचारियोंके लिये दूसरे ढंगका भी वेतन है। दस ग्रामपर शासन करनेवालेके लिये एक कुलका लाभ मिलना चाहिये। बीस गाँवोंपर शासन करनेवालेको पाँच कुलका, शताध्यक्षको एक ग्राम एवं सहस्राध्यक्षको पुरका लाभ मिलना चाहिये। ग्रामवासी जो अन्न-पान, ईंधन आदि राजाको देते हैं, वह उस कर्मचारीको मिलना चाहिये। यह सब अधिकार, शिक्षा, योग्यता आदिके आधारपर समझना चाहिये—

दशी कुलं तु भुञ्जीत विंशी पञ्चकुलानि च।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षः सहस्राधिपतिः पुरम्॥ (मनु० ७। ११९)

कौटल्यने वेतन-निर्णयके प्रसंगमें सूत्र कातनेके लिये कहा है कि 'सूतकी चिक्कणता, स्थूलता, मध्यता आदि जानकर वेतन निर्धारण करे—

श्लक्ष्णस्थूलमध्यतां च सूत्रस्य विदित्वा वेतनं कल्पयेत्।
(कौटलीय अर्थशास्त्र २। २३। ३)

अच्छा काम देखकर वेतनसे अतिरिक्त तेल, उबटन आदि देकर मजदूरोंको सम्मानित करे—'सूत्रप्रमाणं ज्ञात्वा तैलामलकोद्वर्तनैरेता अनुगृह्णीयात्' (कौट० अर्थ० २। २३। ५) काममें कमी हो, तो वेतनमें कमी होनी चाहिये—'सूत्रह्रासे वेतनह्रासः' (वही ७)। वेतनका समय बीत जानेपर मध्यम वेतन देना चाहिये—'वेतनकालातिपाते मध्यमः' (वही १६)।

तीसरे अधिकरणके १४ वें अध्यायमें कौटल्यने मजदूरोंके सम्बन्धमें बहुत कुछ कहा है। उससे भी प्रायः मालिक एवं नौकरद्वारा वेतन और कामका परिणाम निश्चित होता है। इसीलिये कहा गया है कि मालिकद्वारा निर्धारित कामसे अधिक करनेपर उतनी मिहनत व्यर्थ ही समझनी चाहिये—'सम्भाषितादधिकक्रियायां प्रयासं मोघं कुर्यात्' (३। १४। १३) इस प्रकरणमें याजकों तथा ऋत्विजोंके वेतनपर भी विचार किया गया है।

अतिरिक्त श्रम और मुनाफा

मार्क्सवादियोंका कहना है कि 'मजदूरको मेहनतके फलका वह भाग जिसका दाम मजदूरको नहीं मिला मालिकका मुनाफा है।' मजदूर जितने समयतक मेहनत कर परिश्रमकी शक्तिका दाम पैदा करता है, उससे जितना भी वह अधिक करेगा, वह सब मालिकका मुनाफा होगा। यदि वह पाँच घंटे काम करके अपने परिश्रमकी शक्तिका दाम पूरा कर लेता है तो दिनभरके मेहनतके शेष घंटे मालिकके मुनाफेमें जाते हैं, वही अतिरिक्त श्रम है। अपनी श्रम-शक्तिको कायम रखनेके लिये मजदूरको जितना श्रम करना जरूरी है, उससे जितना भी अधिक मजदूरको करना पड़ता है, वह आवश्यक या अतिरिक्त श्रम है। उसका दाम अतिरिक्त मूल्य है। यह अतिरिक्त श्रम एवं अतिरिक्त मूल्य ही मालिकका मुनाफा है।'

मार्क्सके आर्थिक सिद्धान्तोंकी यही आधारशिला है। उसके मतानुसार 'इस अतिरिक्त श्रम एवं अतिरिक्त दामको पानेका आन्दोलन ही मजदूर आन्दोलन है। इसके फलस्वरूप समष्टिवाद या समाजवाद स्थापित होगा। जिसमें प्रत्येक व्यक्ति शक्तिभर परिश्रम करे और अपनी आवश्यकताके अनुसार पदार्थोंको प्राप्त करे। इससे शोषणका अन्त होगा, किसीको अपनी इच्छा-विरुद्ध जीवन-निर्वाहके लिये विवश न होना पड़ेगा। फिर न उसके लिये नियन्त्रणकी जरूरत होगी, न शासन रहेगा और न सरकार रहेगी।'

अतिरिक्त दामके सम्बन्धमें लेनिनका कहना है कि सौदेके विनिमयसे अतिरिक्त दाम (मुनाफा) प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि उसे तो समान लागतके सौदोंको एक दूसरेसे बदला जाता है। सौदेका दाम न बढ़ने या घटनेसे भी अतिरिक्त दाम पैदा नहीं हो सकता। क्योंकि उसका तो इतना ही अर्थ होगा कि समाजके कुछ आदमियोंके हाथसे दाम निकलकर दूसरोंके हाथमें चला जायगा। समाजमें जो आज खरीदनेवाला है, वही कल बेचनेवाला और जो आज बेचनेवाला है, वही कल खरीदनेवाला बन जाता है। अतः अतिरिक्त दाम प्राप्त करनेके लिये पूँजीपतिको बाजारमें एक ऐसे सौदेकी खोज करनी पड़ती है, जिसे व्यवहारमें लाकर उसपर खर्च किये गये दामसे अधिक दाम प्राप्त किया जा सके। बाजारमें ऐसा सौदा मनुष्यकी श्रम-शक्ति ही है। मनुष्यकी श्रम-शक्तिका उपयोग है परिश्रम। परिश्रमका मूल है दाम। पूँजीपति मनुष्यकी मेहनतकी शक्तिको बाजारदामपर खरीद लेता है। दूसरे सब सौदोंकी तरह मनुष्यकी परिश्रम करनेकी शक्तिका दाम भी उसे पैदा करनेके लिये आवश्यक सामाजिक श्रमसे निश्चित करना पड़ता है। मनुष्यकी मेहनत-शक्तिको दस

घंटेके लिये पूँजीपति उसे कामपर लगा देता है। मजदूर पाँच घंटे काम करके ही उतने दामका सौदा पैदा कर लेता है, जितना उसे दस घंटे काम करनेके बाद मिलता है। शेष पाँच घंटेमें मजदूर अतिरिक्त दाम या सौदा पैदा करता है, जो पूँजीपतिकी जेबमें जाता है। मार्क्सके मतानुसार अतिरिक्त श्रम या अतिरिक्त दाम ले सकना ही शोषणकी शक्ति और अधिकार है। समाजमें जहाँ कहीं शोषण होगा, इसी शक्ति एवं अधिकारके बलपर होगा। मनुष्यकी आदिम अवस्थामें पैदावारके साधन बहुत कमजोर थे; अतः दिनभर कठिन परिश्रमके बाद निर्वाहके लायक पदार्थ प्राप्त होते थे। उस समय मनुष्यद्वारा मनुष्यके शोषणकी गुंजाइश न थी। ज्यों-ज्यों पैदावारके साधनोंमें उन्नति होने लगी, मनुष्य पैदावार आसानीसे करने लगा और जितना उसके निर्वाहके लिये नितान्त आवश्यक था, उससे अधिक पैदा करने लगा; अर्थात् परिश्रमकी शक्तिको कायम रखनेके लिये जितना बिलकुल ही जरूरी था, उससे अधिक पैदा करने लगा तो यह पैदावार जमा होने लगी। यही धन हो गया और यही पैदावारका सबसे बड़ा साधन है।'

इस कथनसे स्पष्ट है कि 'पैदावारके सबसे बड़ा साधन धनको उन्नत साधनके द्वारा व्यक्तिने स्वयं कमाया। ऐसा विकास होनेके बाद कुछ आदमियोंके परिश्रमका अतिरिक्त भाग दूसरोंके पास जमा होने लगा। वे अधिक साधन-सम्पन्न और बलवान् श्रेणीके बन गये।' परंतु पूर्वोक्त युक्तिसे तो सिद्ध हो गया कि वस्तुके मूल्यका आधार श्रम ही नहीं; कच्चा माल, मशीन आदि भी है, और कच्चे मालके समान ही श्रम भी खरीदा जाता है। श्रमका मूल्य माँग और पूर्तिके आधारपर अथवा पंचायत या न्यायालयद्वारा निर्धारित किया जाना उचित है, और ऐसा होता भी था। भारतीय धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा आधुनिक भारतीय शासकोंके इतिहाससे भी यह सिद्ध है। ऐसी स्थितिमें अतिरिक्त श्रम, अतिरिक्त मूल्यका कोई अस्तित्व ही नहीं ठहरता। अतएव शोषणकी कहानी भी अतिरंजित ही है। हाँ, यह अवश्य है कि भारतीय दृष्टिकोणसे यदि ८ घंटे काम करनेके लिये ८ हृष्ट-पुष्ट बैल आवश्यक होते हैं तो अवश्य ही एक मजदूरसे बराबर दस घंटे काम लेना अनुचित है। साथ ही पूँजी और मुनाफाको ध्यानमें रखते हुए मजदूरोंका वेतन कम-से-कम इतना तो अवश्य ही होना चाहिये, जिससे मजदूरोंको उचित शिक्षा एवं स्वास्थ्यकी उन्नति हो सके। अर्थात् भारतीय दृष्टिकोणसे यदि पशुके सम्बन्धमें उसके स्वास्थ्य और कामके घंटोंका इतना ध्यान रक्खा जाता है, तो मनुष्यके लिये जो सर्वोच्च कोटिका प्राणी है, शिक्षा-स्वास्थ्यका ध्यान रखते हुए कामके घंटोंकी कमी और पारिश्रमिककी अधिकताका ध्यान होना स्वाभाविक ही है।

अतः कामके घंटे और मजदूरीका निष्पक्ष न्यायालयद्वारा तय होना उचित है। पैदावारके साधनोंकी उन्नति यदि दोष नहीं है तो उसका होना उचित ही है। और जो पैदावारके साधनोंकी उन्नति कराता है, उसे उसका फल भी मिलना उचित ही है। फिर दूसरेकी उन्नतिसे दूसरेके पेटमें दर्द हो, इसे सिवा ईर्ष्याके और दूसरा क्या कहा जा सकता है?

कामके घंटोंमें कमी होनेसे अधिकाधिक लोगोंको काम मिलेगा, बेकारी घटेगी, इससे जनतामें क्रय-शक्ति बनी रहेगी, मालकी खपत बढ़ेगी, जिससे उत्पादनमें बाधा न पड़ेगी। जिन वस्तुओंका उत्पादन उपभोक्ताओंकी आवश्यकतासे अधिक होने लगे, उनपर प्रतिबन्ध लगाकर अन्य उपयोगी वस्तुओंके उत्पादन एवं तदुपयोगी उत्पादन-साधनोंके निर्माणका प्रयत्न होना चाहिये। इससे सभीका हित है। अतः इसके अनुकूल सरकारी प्रोत्साहन, प्रेरणा तथा आवश्यक आदेश भी होना चाहिये। इस तरह बेकारी भी रुकेगी, मालके खपतमें भी बाधा नहीं पड़ेगी और उपभोक्ताओंको आवश्यक उपभोग-सामग्री भी मिल सकेगी। यान्त्रिक विकासमें भी बाधा नहीं पड़ेगी और किसीकी व्यक्तिगत भूमि, संपत्ति भी नहीं छीननी पड़ेगी। इसके अतिरिक्त भी अधिक असंतुलन दूर करनेके लिये दान, यज्ञ, सहायता आदिका प्रयोग किया जा सकता है। स्वकर्तव्य-पालन-विमुख लोगोंकी सम्पत्तिका अपहरण करके भी बेरोजगारों, बेकारोंकी बेरोजगारी और बेकारी दूर करनेका प्रयत्न करना उचित है।

इसी तरह आजकल वकीलों, बैरिष्टरोंकी भी फीस, इंजीनियरोंके बड़े पैमानेके वेतन, डाक्टरोंकी लंबी फीस, विद्यार्थियोंकी पढ़ाईपर लंबी फीस, हर व्यापार, हर धंधेपर बढ़े हुए सरकारी टैक्स, मेलाके टैक्स, चुंगी-टैक्स, विक्रय-टैक्स आदि भी समाप्त होने चाहिये। इससे भी जनताकी गरीबी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। मकान भाड़ोंमें भी कमी होनी चाहिये। कई लोग ऐसे हैं, जिनके पास हजारों मकान तथा दूकानें हैं। वे ज्यादा भाड़ाके साथ-साथ एक लंबी रकम घूस या पगड़ीकी लेते हैं, जो खुले आम चोरी है। उसपर भी नियन्त्रण होना आवश्यक है। ऐसी अधिक आमदनियोंपर सरकारी टैक्स आदि देनेके बाद अतिरिक्त आमदनीमें पाँच भाग करके क्रमेण धर्मार्थ, यशोऽर्थ मूल संपत्तिकी रक्षार्थ एवं वृद्ध्यर्थ, भोगार्थ तथा स्वजनार्थ उपयोग किये जानेसे आर्थिक असंतुलन मिटता है। आधुनिक लोग दूसरोंकी सहायताके नामपर दूसरोंकी बपौती मिलकियत छीन लेते हैं; परंतु यह सहायता नहीं है। एक अंगकी सहायताके लिये कभी-कभी दूसरे अंगके मांस एवं हड्डीकी भी सहायता ली जाती है, परंतु जिससे सहायता ली जाती है, उसे स्वस्थ बनानेका यत्न किया जाता है। किसी व्यक्तिसे खूनकी सहायता लेकर उसे दूध-घी पिलाकर स्वस्थ

बनानेका प्रयत्न किया जाता है। जिस गायसे दूध लिया जाता है, उसको इस लायक रखा जाता है कि वह कल भी सहायता देने योग्य रहे। यह नहीं कि एक दिन दूध लेकर उसे सदाके लिये मिटा दिया जाय। वस्तुस्थिति तो यह है कि आधुनिक मार्क्सवादियोंने यह स्थिति उत्पन्न कर दी है कि छीनाझपटी करनेवाले लोगोंकी बहुतायत हो गयी है। वे कहते हैं कि लेंगे, मरकर लेंगे, मारकर लेंगे, जहन्नुममें जाकर, जहन्नुममें भेजकर लेंगे, लूटकर-मारकर हर तरहसे लेंगे, लेंगे; किन्तु फलस्वरूप देनेवाले कहते हैं कि मर जायँगे, मिट जायँगे, परंतु नहीं देंगे, नहीं देंगे। ठीक इसके विपरीत रामराज्यकी स्थिति यह है कि देनेवाला हर तरहसे देनेकी चेष्टा करता है। शास्त्र कहते हैं कि श्रद्धासे, प्रेमसे, लज्जासे, भयसे, हर तरहसे देना चाहिये। लेनेवालेको हर तरहसे बचना चाहिये। मुफ्तखोरीका माल हराम-खोरीका माल है। उससे वंशवृद्धि, समृद्धि तथा बरकत रुक जाती है। इस दृष्टिसे देनेवाला हर तरहसे देना चाहता है और लेनेवाला हर तरहसे बचना चाहता है। मार्क्सवादमें 'दो दो', 'नहीं नहीं' का उद्घोष होता है। रामराज्यमें 'लो लो' 'नहीं नहीं' का उद्घोष होता है। मार्क्सवादमें सब वस्तुएँ सरकारी हो जाती हैं; व्यक्तिकी कोई मिलकियत नहीं रहती है; किंतु रामराज्यमें व्यक्तियोंकी बपौती संपत्ति सुरक्षित रहती है, और उसपर उचित धर्मनियन्त्रण रहता है। इस पक्षमें धन, धर्म या जान-मालकी रक्षा जो कि राज्य-स्थापनाका प्रमुख उद्देश्य है, सुरक्षित रहती है। मार्क्सको छोड़कर प्राच्य, प्रतीच्य सभी राजनीतिज्ञोंने धर्म एवं धनकी रक्षा या जान-मालकी रक्षा ही सभ्य व्यवस्थाका उद्देश्य माना है। इसीलिये व्यक्तियोंने अपने अधिकार शासनको सौंपा था, जिसके पूरा न होनेपर राज्य-सत्ताको उलट देना जनताका जन्मसिद्ध अधिकार माना जाता है। मार्क्स-वादी व्यवस्थामें धर्म, धन एवं जान-मालका प्रत्यक्ष अपहरण होता है। वैध संपत्ति, बपौती आदिका कुछ भी महत्त्व मार्क्सके मतमें नहीं है।

अतिरिक्त मूल्य और शोषण

कहा जाता है कि 'कला-कौशल, उद्योग-धंधोंके विकासके पहले जब दास-प्रथा थी, तब दासोंका भी शोषण अतिरिक्त श्रमके रूपमें होता था। दास एवं गुलामको केवल अन्न और वस्त्र दिया जाता था। वह भी उतना ही जितना कि उसके शरीरमें परिश्रम करनेकी शक्ति कायम रखनेके लिये पर्याप्त था। दासद्वारा कराये गये परिश्रमके सम्पूर्ण फलको मालिक लोग भोगते थे। यही बात सामन्तशाही एवं जागीरदारीके जमानेमें थी। सामन्तों एवं जागीरदारोंकी प्रजा कठिन परिश्रमसे जो पैदावार आदि उपज भूमि या भूमिकी पैदावारसे सम्बन्ध रखनेवाले दूसरे कामोंसे करती थी, उसमेंसे इन लोगोंके शरीरमें परिश्रम-शक्ति बनाये रखनेके लिये अत्यन्त आवश्यक भागको छोड़कर शेष भाग दाम, कर,

लगान या नजरानाके रूपमें मालिकके पास चला जाता था। परंतु उस समय शोषण होता था मालिकोंके उपयोग और उपभोगके लिये। उस समय व्यवहारमें लाना ही धनका उपयोग होता था। इसलिये शोषण भी उतना ही होता था जितनेसे मालिकोंकी आवश्यकता पूरी हो जाती थी। मालिक भी शोषणद्वारा प्राप्त धनको अपने व्यवहारमें खर्च कर देते थे, जिससे वह धन दूसरी श्रेणियोंके पास पहुँचकर फिर बाजारमें पहुँच जाता था और दूसरोंके उपयोगमें आता रहता था। परंतु पूँजीवादके युगमें धनको पूँजी बनाकर उसका उपयोग खर्चके लिये नहीं, बल्कि अधिक धन पैदा करनेके लिये किया जाता है। उसके पैदावारके साधन बढ़ाये जाते हैं। पूँजीपतियोंके लिये मुनाफेका क्षेत्र बढ़ाया जाता है। मुनाफेका बहुत छोटा भाग पूँजीपतियोंके खर्चमें आता है। शेष पूँजी बनकर मुनाफा कमानेके ही काममें आता है। जितना-जितना अधिक मुनाफा होता है, उसमें और अधिक मुनाफा कमानेका यत्न किया जाता है। इस तरह पूँजीपतिके मुनाफा कमानेसे संतुष्ट होनेकी कोई सीमा नहीं रहती।'

वस्तुतः अङ्ग-अङ्गीभाव तथा शेष-शेषी-भावसे ही सेव्य-सेवक-भाव है। सेवक, दास आदि शब्द लगभग समानार्थ हैं। संसारमें ये भाव किसी-न-किसी रूपमें सदा ही बने रहते हैं। भले ही कहा जाय कि आज राजा-प्रजाका भाव मिट गया, आज प्रजा ही राजा है, सरकार या सरकारी आदमी सेवक हैं। फिर भी सिवा शब्दोंके व्यवहारके कोई भी अन्तर नहीं आया। आज केवल वोट डालनेके समयतक भले ही कुछ अंशोंतक जनताका सम्मान किया जाय; परंतु व्यवहारतः जिन लोगोंके हाथमें शासनसूत्र आता है, भले ही अपना नाम वे सेवक रखें; किंतु वे सत्ताधारी राजेका भी कान काटते हैं। वस्तुतः आज सेवकों (शूद्रों) का ही राज्य है। मालिक कही जानेवाली जनता जो चाहती है, उसीकी पूर्ण उपेक्षा की जाती है। आज भारतीय जनता गोहत्या-बन्दी चाहती है, धर्महत्या, शास्त्रहत्याका विरोध करती है; परंतु सेवक कहे जानेवाले सरकारी अधिकारी उसकी कुछ भी परवा नहीं करते। कहनेके लिये आज दास या गुलामी-प्रथा समाप्त हो गयी; परंतु खास साम्यवादी देश रूसमें ही विरोधियोंके साथ दासों एवं गुलामोंसे भी अधिक बुरा व्यवहार किया जाता है। कहनेके लिये भारतमें बेगारी-प्रथा समाप्त हो गयी; किंतु वही श्रमदानके रूपमें जोरोंसे प्रचलित है, जिसे इच्छा न होनेपर भी करना पड़ता है। बड़े-बड़े अध्यापक, प्रिंसिपल तथा उच्च श्रेणीके लोग इच्छा न रहनेपर भी सरकारी आज्ञानुसार श्रमदानमें लगते हैं। इतना ही नहीं, कहीं तो झूठे तौरपर ही रजिस्टरोंकी खाना-पूरी की जाती है। प्राचीनकालमें बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी अपने आपको ईश्वरका, महापुरुषोंका, भगवद्भक्तोंका दास बननेमें गौरव अनुभव करते थे। धर्मराज

युधिष्ठिरको हरिदासवर्य कहा जाता था—'हरिदासस्य राजर्षेः' (श्रीमद्भा० १०।७५।२७)। वैष्णवोंमें बड़े-बड़े महापुरुष अपनेको दासानुदास कहते हैं। तथापि यहाँ स्वामी भगवान्, गुरुजन दासोंके शोषक नहीं होते। वे दासोंको कृतकृत्य करनेवाले होते थे। साक्षात् भगवान् विष्णु कहते हैं कि मैं भक्तोंके परतन्त्र हूँ—'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज' (श्रीमद्भा० ९।४।६३)। आजका दासत्वसे मुक्त कहा जानेवाला नागरिक अन्न एवं वस्त्रके लिये तड़पता हुआ मरता है। जब वह काम करने लायक नहीं रहता तो उसका बेटा-पोता भी उसे नहीं पूछता। पर दासत्व-प्रथा-कालमें भी दास भले काम करने लायक न हो, उसके और उसके कुटुम्बका उत्तरदायित्व उसके स्वामीपर रहता था। रहा यह कि उत्पादन साधन-पूँजी बढ़ानेका उत्तरोत्तर प्रयत्न बढ़ता है, तो अगर यह औद्योगिक विकास गुण है, तब तो भला ही है। आज भी ऐश-आरामसे धन बचाकर उत्पादन-वृद्धिके काममें लगाना गुण समझा जाता है। रामराज्यवादी तो फिर भी महायन्त्रोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध लगाना उचित समझता है, परंतु मार्क्सवादी तो महायन्त्रोंका उत्तरोत्तर विकास ही चाहता है।

यदि मुनाफाका विस्तार एवं विकास न होता तो आजकी वैज्ञानिक उन्नति भी असंभव हो जाती। फिर रामराज्यकी दृष्टिमें तो सदा ही काम-दाम-आरामका उचित वितरण आवश्यक है। श्रमके अनुसार दाम-आरामकी व्यवस्था तो होनी ही चाहिये, किंतु कभी यदि व्यक्ति श्रमके लायक न रहे तो भी मनुष्यताके नाते उसके भी दाम-आरामकी व्यवस्था होनी चाहिये और वह दास-प्रथाके समय भी थी। वस्तुतः उस समयके ये दास नाममात्रके ही दास थे। वे तो कुटुम्बके एक प्रकार सदस्य समझे जाते थे। इसीलिये कुटुम्बपति ऐसे दासोंकी भोजन-व्यवस्थाके अनन्तर ही अपने भोजन-वस्त्रकी व्यवस्था करता था। उसके भोजन करनेपर ही कुटुम्बपति भोजन करता था।

पूँजीवादके समाजमें पैदावारका काम पूँजीके आधारपर होता है। पूँजीपतिके पास पैदावारके जितने साधन हैं, वे सब उसकी पूँजी हैं। पूँजीवादके समर्थक कहते हैं—'यदि पूँजीवादी प्रणालीको समाजसे हटा दिया जायगा, पूँजी न रहेगी, मुनाफा कमानेकी प्रणाली न रहेगी तो समाजमें पैदावार बढ़ानेके लिये साधनोंको किस प्रकार बढ़ाया जायगा?' परंतु मार्क्सवादके अनुसार वही धन पैदावारका साधन, पूँजी है, जिससे मुनाफा कमाया जाता है। जिससे उपयोगके पदार्थ तैयार किये जाते हैं, वह धन पूँजी नहीं है।' जो भेद पदार्थ एवं सौदेमें है, वही भेद पैदावारके साधनों और पूँजीमें है। गेहूँकी बोरी यदि परिवारके व्यवहारके उपयोगके लिये है तो वह उपयोग पदार्थ है और यदि वह बिक्रीके लिये है तो वह सौदा है। कोई भी वस्तु सौदा

है या पदार्थ वह इस बातपर निर्भर करता है कि वह वस्तु किस प्रयोजन या उपयोगमें आयगी ? इसी प्रकार पैदावारके साधनोंके बारेमें भी उनका प्रयोजन यह निश्चय करता है कि वह जरूरत पूरी करनेका साधन है या मुनाफा कमानेका साधन ? किसी मशीनसे यदि उपयोग पदार्थ बनाये जाते हैं, तो वह पैदावार साधन तो अवश्य है, पर मुनाफा कमानेका साधन नहीं। अतः मार्क्स उसे पूँजी नहीं कहता। परंतु यदि उस मशीनपर दूसरे लोगोंसे श्रम कमाकर मुनाफा कमाया जायगा तो वह पूँजी कहलायेगा। समाजवादी समाजमें बड़ी-बड़ी मिलें रहेंगी, पैदावार और नये साधन जारी करनेके लिये बड़ी मात्रामें धन इकट्ठा किया जायगा। परंतु उसका उद्देश्य व्यक्तियों या श्रेणियोंके लिये मुनाफा कमाना न होकर जनताके उपयोगके लिये उपयोगी पदार्थ और साधन पैदा करना होगा। इसीलिये वह पूँजी न कहलायेगा। वह होगा समाजकी आवश्यकताओंको पूरा करनेका साधन-धन।'

वस्तुतः उपयोग पदार्थ एवं सौदामें भी पारमार्थिक भेद नहीं है। उपयोग, उद्देश्य या प्रयोजनके भेदसे पदार्थमें भेद नहीं हो सकता। वही विष चन्द्रोदय आदि औषध बनानेके काम आता है, वही मृत्युके काममें आता है। यह सदुपयोग-दुरुपयोगका भेद है। बिजलीसे प्रकाश भी होता है, दूसरे भी कितने काम होते हैं, मृत्यु भी हो जाती है। फिर भी बिजली बिजली ही रहती है, उसमें मौलिक अन्तर नहीं होता। गेहूँकी बोरी स्वार्थ भी हो सकती है, परार्थ भी; किंतु इससे गेहूँकी बोरीमें अन्तर नहीं आता। इसी तरह उपयोग या मुनाफेके लिये गेहूँकी बोरीमें प्रयोग-भेद होनेपर भी उसमें कोई अन्तर नहीं होता।

बड़े-बड़े साधनोंके लिये बड़ी मात्रामें धन जुटाना आवश्यक ही होगा। फिर डाका डालकर, छीना-झपटीकर, जबरदस्ती टैक्स लगाकर, इंगालवृत्तिसे धन नहीं बटोरना है तो उचित मुनाफाद्वारा ही साम्यवादी सरकारको भी धन जुटाना होगा। नीतिशास्त्रोंका मत है कि इंगालकार (कोयला बनानेवाले) की वृत्तिसे (अर्थात् जैसे वह वृक्षको जड़-मूलसे काटकर उसे जलाकर कोयला बनाता है उसी तरह) प्रजाको लूटकर, उसकी भूमि सम्पत्ति छीनकर धन-संग्रहकी नीति न अपनायी जाय; मधुकर-वृत्तिसे ही धनसंग्रह उचित है। जैसे मधुमक्खी वृक्षों, पौधों, पुष्पों, स्तवकों, फलोंको बिना नष्ट किये ही उनमेंसे रस-संग्रहकर मधु बना लेती है, उसी तरह प्रजाको बिना नष्ट किये ही उसकी सम्पत्तिको बिना छीने ही आवश्यक धन-संग्रह करना उचित है।

व्यापार-कौशलसे प्राणी मृतमूषिकामात्रके आधारपर धनवान् बन सकता है (देखिये पृष्ठ ३४७)। इससे किसीका नुकसान भी नहीं होता

और धनसंग्रह भी हो जाता है। कई स्थानोंमें मूर्खतावश सरकारें गरीबोंकी गाढ़ी कमाईका लाखों रुपया खर्च करके भी कोई लाभ नहीं उठा पातीं। भाखरा आदि बाँधोंके भ्रष्टाचारोंकी कहानियाँ अभी ताजी ही हैं। ऐसे उदाहरण कितने हैं।

जैसे कोई मतवादी या सरकारें धनसंग्रहका उद्देश्य प्रजाका उपयोग बताकर पूँजी एवं पैदावारके साधनोंके भेद सिद्ध करनेका प्रयत्न करती हैं, उसी तरह मुसोलिनी तथा हिटलर सम्पत्ति बढ़ानेके नामपर दूसरे राष्ट्रोंको कुचलकर उनपर अधिकार जमाना उचित समझते थे। वैसे ही मार्क्सवादी पैदावारके साधन संग्रहके नामपर प्रजाकी वैधसम्पत्तियोंका भी अपहरण करते हैं। दान, इनाम तथा क्रयद्वारा मिली, दायमें मिली बपौती सम्पत्तियोंको भी छीन लेते हैं। कई सद्गृहस्थ अपनी सम्पूर्ण कमाईको धर्मार्थ; परोपकारार्थ ही लगाते हैं। रामराज्यकी दृष्टिसे कमाईका यही सदुपयोग है। सत्पुरुषोंकी विद्या ज्ञानके लिये, धन दान तथा परोपकारके लिये होता है। खलकी विद्या विवाद, धन घमण्ड एवं शक्ति परोत्पीड़नके लिये होती है—

> विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
> खलस्य साधोर्विपरीतमेतज् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥ (गुणरत्नम् ७)

ऐसी स्थितिमें रामराज्यके अनुसार वैध धनोपार्जन प्रथम दानार्थ, परोपकारार्थ, यज्ञार्थ है, पश्चात् भोगार्थ। मुनाफा कमानेका भी उद्देश्य यज्ञार्थ-परोपकारार्थ ही है। अतः समाजवादी अर्थ-व्यवस्था सिवा अपहरण और लूट-पाटके और कोई व्यवस्था नहीं है। इसके अनुसार जनता धनहीन, धर्महीन, शक्तिहीन होकर मुट्ठीभर तानाशाहोंकी गुलाम बन जाती है। दासोंकी-जैसी भी स्वतन्त्रता उसे नहीं मिलती। बोलने, विचार व्यक्त करने, अपनी कमाईका सदुपयोग करनेके अधिकार भी जनतासे छिन जाते हैं। मनु, शुक्र, बृहस्पति, कामन्दक, कौटल्य, सुकरात, अरस्तू, अफलातून सभी जान-मालकी रक्षा राज्यविधानका उद्देश्य मानते हैं; किंतु मार्क्सवादी व्यवस्थामें राज्य ही जान-मालका विध्वंसक बन जाता है। जनताकी स्वतन्त्रता सर्वथा नष्ट हो जाती है।

लेनिन एवं स्तालिन बड़े गर्वके साथ कहा करते थे कि 'रूसमें गैरसरकारी पार्टीका न होना दूषण नहीं भूषण है। जिन देशोंमें वर्गभेद विद्यमान होते हैं, उनमें विभिन्न वर्गोंकी प्रतिनिधित्व करनेवाली अनेक राजनीतिक पार्टियाँ अपेक्षित हो सकती हैं, किंतु रूसमें तो वर्गभेद समाप्त हो चुके हैं, फिर तो यहाँ किसी अन्य राजनीतिक पार्टीका न होना गुण ही है। पर उनका यह गर्व सिवा दम्भके और कुछ नहीं था। वस्तुतः पुलिस-पल्टन तथा गुप्तचर विभागका जाल बिछाकर, मतभेद रखनेवाले लोगोंकी जबानपर ताला लगाकर उसे दबा रखा गया था। यदि वहाँ वर्गोंका अवशेष न होता, तो लेखन-भाषण एवं प्रेसों तथा

पत्रोंकी स्वतन्त्रतापर प्रतिबन्ध क्यों लगा रखा जाता ? यदि विरोधीवर्ग नहीं थे तो खतरा किनसे था ? प्रेसों, पत्रोंकी स्वतन्त्रता आज संसारके सभी देशोंमें मान्य है, पर रूसमें उसकी भी स्वतन्त्रता नहीं। वहाँ कोई व्यक्ति सरकारके विरुद्ध न भाषण दे सकता है, न लेख ही लिख सकता है और न कोई सरकारके विरुद्ध नोटिस-पोस्टर निकाल सकता है। फिर स्वतन्त्र अखबार निकालना, सरकारी पार्टीके विरुद्ध चुनाव आदि लड़ना तो दूरकी बात है। नाटकके लिये मतगणनाके समय सरकारी प्रेरणासे कुछ स्वतन्त्र व्यक्ति खड़े हो जायँ, यह अलग बात है। ऐसी स्थितिमें यह कहना कि 'रूसमें वर्गभेद समाप्त हो गया है और वहाँ दूसरी राजनीतिक पार्टीका न होना भूषण है', सिवा दम्भके और क्या है ?

लेनिन तथा स्तालिनने संक्रमणकालके नामपर रूसी समाजवादी शासनमें सर्वहाराके डिक्टेटरशिपका जोरदार समर्थन किया था। इन डिक्टेटरोंके भीषण डिक्टेटरशिपमें कंटकशोधनके नाम एक-एक विरोधीको चुनकर समाप्त कर दिया गया था। ट्राटस्की, बुखारिन आदि हजारों कामरेड तथा उनके लाखों अनुयायियोंको मौतके घाट उतार दिया गया था। स्तालिनके विरोधियोंकी इन बातोंको मिथ्या प्रचार कहकर उन काले कारनामोंको छिपानेका प्रयत्न किया जाता था। परंतु अब खुश्चेव तथा बुल्गानिन जो इस्तालिनके पक्के अनुयायी थे, उसके भीषण डिक्टेटरशिपकी निन्दा कर रहे हैं। कहा जा रहा है कि १९३६ से १९३८ तक पाँच हजारसे अधिक उच्च सोवियत अधिकारियोंको नष्ट कर दिया गया था। स्तालिनके चित्रोंको हटाने और उसके प्रति श्रद्धा-भक्ति मिटानेका यत्न कर रहे हैं। वस्तुतः यह तो मार्क्सवादी व्यवस्थाका ही दोष है। जहाँ ईश्वर और धर्मका सम्मान नहीं होगा; लोगोंको लिखने, बोलनेकी आजादी न होगी, वहाँ भीषण डिक्टेटरशिपका होना अनिवार्य है। स्वयं बुल्गानिन तथा खुश्चेव भी डिक्टेटर ही हैं। बेरियाको गोली मारकर मालेनकोवको पार्टी एवं शासनसमितिके प्रधान पदसे हटाकर मोलोटोवको दबाकर अपने अधिकारोंको दृढ़ रखना ही उनका लक्ष्य था। इसके लिये अभी भीषण उलट-फेर एवं हत्याओंकी आवश्यकता पड़ सकती है। जैसे स्तालिनने लेनिनके अनुयायियोंको नष्ट किया था, अब उसी प्रकार स्तालिनके साथियोंका सफाया करनेका प्रयत्न चल रहा है।

अधिकार-प्राप्तिके लिये चलनेवाले इन संघर्षोंका कभी भी अन्त नहीं हो सकता। जर्मनीके हिटलरका नात्सीवाद, इटलीके मुसोलिनीका फासिस्टवाद, रूसी समाजवादियोंका डिक्टेटरवाद सब एक-ही-जैसा है। भारतमें भी समाजवादी ढंगकी समाज-रचनाका प्रयत्न चल रहा है, जिसका अन्तिम रूप यही डिक्टेटरशिप होनेवाला है। व्यक्तियोंकी भूमि, सम्पत्ति, उद्योग छीनकर उन्हें विरोधी शक्तिरहित बनानेका भीषण षड्यन्त्र चल रहा है। अध्यादेशी आर्डिनेन्सों-

द्वारा जीवन-बीमा-कम्पनी-जैसी एक-एक वस्तुका सरकारीकरण हो रहा है। एक संसद्-सदस्यने बताया कि यदि अधिवेशनोंके दिन निकाल दिये जायँ तो प्रतिदिन एक अध्यादेशका औसत पड़ता है। इस तरह भारतका वर्तमान काँग्रेसी शासन भी डिक्टेटरशिपकी ओर ही बढ़ रहा है। विरोधियोंके दमन करनेकी नीतिमें यहाँ भी तेजी आ रही है।

भारतमें उस मार्क्सवादका विस्तार होने जा रहा है जिसमें आत्मा-परमात्माका खण्डन किया जाता है। शून्यवादी तो जड़-चेतन सभीका खण्डन करके शून्यताका ही प्रतिपादन करते थे। आस्तिकोंने उनका खण्डन कर आत्मा और परमात्माका अस्तित्व प्रतिपादित किया। आज भी दृढ़ अध्यवसायके साथ विचार करनेसे मार्क्सवादकी निस्सारता स्पष्ट हो जाती है। अर्थपरायण प्राणी अर्थको ही सबका मूल समझता है। जहाँ धार्मिक, आस्तिक लोग धर्मको ही सम्पूर्ण जगत्की प्रतिष्ठा कहते हैं, वहाँ चार्वाकोंका अनुसरण करते हुए मार्क्सवादी अर्थको ही सम्पूर्ण जगत्की प्रतिष्ठा कहते हैं। **'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'** के मुकाबिलेमें **'अर्थो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'** कहते हैं। अर्थका माहात्म्य महाभारतादि ग्रन्थोंमें पर्याप्तरूपोंमें वर्णित है। तथापि आस्तिकजन अर्थका भी मूल धर्मको ही मानते हैं। इसी अभिप्रायसे कहा गया है **'—धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।'** धर्मसे ही अर्थ एवं कामकी भी प्राप्ति होती है। देखते ही हैं बड़े-बड़े अर्थशास्त्री हजारों प्रकारके प्रयत्न करते हुए भी भाग्यहीन होनेसे दरिद्र ही बने रहते हैं। स्वयं मार्क्स ही इसका उदाहरण है। मार्क्स जितना अर्थ-शास्त्रका विचार कर सका उतना अर्थार्जन नहीं कर पाया। जैसे निपुण चिकित्सकके लिये रोगी रहना एक विडम्बना ही है, वैसे ही एक अर्थनिष्णातका अर्थविहीन दशामें पड़े रहना भी विडम्बना ही है। अतः धर्ममूलक ही अर्थ काम भी होते हैं।

श्रम और मुनाफा

कहा जाता है कि 'पूँजीपतिके हाथमें पूँजी होनेके कारण पैदावारके साधन उसके हाथमें चले जाते हैं। पूँजीसे पूँजी ही पैदा होती है। यह पूँजी भी शोषणसे इकट्ठी होती है। बड़े परिमाणमें मुनाफेके लिये पैदावार आरम्भ होनेसे पहले मामूलीरूपसे व्यापार चलता है, उपयोगकी वस्तुओंको सस्ते दामसे खरीदकर अधिक दाममें बेचकर मुनाफा कमाया जाता है, उन्हीं व्यापारोंसे पूँजी एकत्रित होती है। सस्ता खरीदकर मँहगा बेचनेका अर्थ होता है या तो सौदेका दाम उचित नहीं दिया गया या उचित मूल्यसे अधिक मूल्य लिया गया। इस तरह मुनाफेकी अधिक गुंजाइश नहीं रहती; परंतु परिश्रम करनेकी शक्ति ही ऐसी वस्तु है जिसके

खरीदनेके बाद और बेचनेसे पहले बढ़ बढ़ जाती है अथवा अधिक उपयोगी पदार्थ पैदा करती है।

'बाजारमें विकनेवाली हर वस्तुका दाम होता है और वह उस वस्तुकी तैयारीमें खर्च किये गये परिश्रमके समयसे निश्चित होता है। इसी आधारपर बाजारमें विकनेवाली मजदूरी या परिश्रम-शक्तिका भी दाम निश्चित होता है। मजदूरको उस श्रमशक्तिको प्राप्त करनेके लिये अन्न, वस्त्र, सौदा—खरीदना पड़ता है, जिसके बिना परिश्रम सम्भव नहीं होता। यद्यपि मजदूर अपने जीवनके लिये अधिक भी खर्च कर सकता है, परंतु उसे अधिक खर्च करनेको मिलता ही नहीं। मालिक लोग कम-से-कम दाममें उसे खरीदनेका प्रयत्न करते हैं। इस तरह मालिक लोग मजदूरको कम देकर उससे ज्यादा-से-ज्यादा काम लेते हैं। मजदूरद्वारा खर्च किये गये सौदे और मजदूरद्वारा पैदा किये गये सौदेके दाममें जो अन्तर है, वही पूँजीपतिका मुनाफा बन जाता है।'

शक्ति एवं उसके परिणाममें भेद है। मज़दूरकी जीवनरक्षाके लिये कम-से-कम जरूरी सौदेका दाम ही परिश्रम-शक्तिका दाम होता है। मालिक जितने दिनतक मजदूरकी परिश्रम-शक्तिको अपने काममें लाना चाहता है, उतने दिन-तक जीवित रखनेके लिये सौदेका मूल्य देनेके लिये विवश है। वह कहीं एक रुपया रोज, कहीं पाँच रुपया रोज मजदूरी पाता है। वही परिश्रमशक्तिका मूल्य है। वेतनमें दिया हुआ धन ही दत्त समझा जाता है। दबाव या बलात्कारसे बाध्य होकर देनेपर भी वह अदत्त ही समझा जाता है। उसे न्यायालयद्वारा लौटाया जा सकता है—

भृतिस्तुष्ट्या पण्यमूलं स्त्रीशुल्कमुपकारिणे।
श्रद्धानुग्रहसम्प्रीत्या दत्तमष्टविधं स्मृतम्॥

(या० स्मृ० २। १७६ की वीरमित्रोदय टीकामें उद्धृत बृहस्पतिका वचन)

दत्तधन आठ प्रकारका होता है, भृति अर्थात् वेतनके रूपमें मिला हुआ, तुष्टिसे मिला हुआ, सौदेके दामरूपसे मिला हुआ, स्त्रीशुल्करूपसे दिया हुआ, उपकारीको दिया हुआ, श्रद्धासे दिया हुआ, अनुग्रहसे दिया हुआ और प्रसन्नतासे दिया हुआ। इन्हें लौटाया नहीं जा सकता। कहीं-कहीं सात प्रकारके दान अप्रत्यावर्तनीय कहे गये हैं और सोलह प्रकारके दान प्रत्यावर्तनीय—

दत्तं सप्तविधं प्रोक्तमदत्तं षोडशात्मकम्।
पण्यमूल्यं भृतिस्तुष्ट्या स्नेहात्प्रत्युपकारितम्।
स्त्रीशुल्कानुग्रहार्थं च दत्तं दानविदो विदुः॥
अदत्तं तु भयक्रोधशोकवेगरुजान्वितैः।
तथोत्कोचपरीहासव्यत्यासच्छलयोगतः॥
बालमूढास्वतन्त्रार्तमत्तोन्मत्तापवर्जितम्।
कर्ता ममायं कर्मेति प्रतिलाभेच्छया च यत्॥
अपात्रे पात्रमित्युक्ते कार्ये चाधर्मसंहिते।
यद्दत्तं स्यादविज्ञानाददत्तं तत् प्रकीर्तितम्॥

(नारदस्मृति ४। ३, ७—१०)

खरीदी हुई वस्तुका दिया हुआ मूल्य दत्त है, अप्रत्यावर्तनीय है। काम करनेवाले नौकरको दिया हुआ वेतन, बंदी-मागधादिको प्रसन्नतासे दिया हुआ, पिता-पुत्रादिको स्नेहसे दिया हुआ तथा उपकार करनेवालेको जो प्रत्युपकाररूपसे दिया जाता है, विवाहके लिये जो कन्यापक्षवालोंको दिया जाता है, जो किसी-पर कृपा करके दिया जाता है—ये सभी दान दत्त ही हैं, लौटाये नहीं जा सकते। भयसे, क्रोधसे, शोकावेशसे तथा असाध्यरोगादिसे पीड़ित दशामें, परिहासवश, व्यत्यास (उल्टा-पल्टा) से, छलयोगसे, बाल (नाबालिक) सोलह वर्षसे कम उमरवालेद्वारा, मूढ़ (लोकव्यवहारानभिज्ञ), अस्वतन्त्र (पुत्र दासादि), आर्त्त (रोगाभिभूत), मत्त (मादक द्रव्यसे, मतवाला), उन्मत्त (वातिक, उन्माद-ग्रस्त) द्वारा दिया हुआ, किसी कार्य करानेके प्रतिलाभकी इच्छासे, अपात्रको पात्र बतला देनेसे, अवेदविदको वेदविद कहनेसे, यज्ञके नामसे धन लेकर जुए आदिमें खर्च करनेवालेको जो दिया गया हो—ये सोलह प्रकारके दान दत्त भी अदत्त ही समझे जाने चाहिये। जो अदत्तको लेता है और जो अदेय वस्तुको देता है—ये दोनों ही दण्ड्य हैं।

भूमिपर भूमिपतिका अधिकार भी शास्त्रोंने माना है। किसीकी भूमिपर मकान बनाकर जो भाड़ा देकर रहता है, वह यदि वहाँसे हटे तो अपना तृण, काष्ठ, इष्टिका (ईंट) आदि ले जा सकता है। परंतु जो भाड़ा बिना दिये किसीकी भूमिमें घर बनाकर रहता है, वह हटनेके समय घास, लकड़ी या ईंटोंको नहीं ले सकता।

परभूमौ गृहं कृत्वा स्तोमं दत्त्वा वसेत्ततः।
स तद् गृहीत्वा निर्गच्छेत्तृणकाष्ठानि चेष्टकाम्॥
स्तोमाद् विना वसित्वा तु परभूमावनिश्चितः।
निर्गच्छंस्तृणकाष्ठादि न गृह्णीयात् कथंचन॥

(कात्यायनस्मृ० सारोद्धार)

मार्क्सके अनुसार 'परिश्रमका दाम मालिकका मुनाफा ही है। पूँजीपति इमारत बनाकर, मशीन लगाकर, कच्चा माल खरीद लेता है, फिर भी जबतक मजदूर-की परिश्रमशक्ति उसमें नहीं लगती तबतक काम आरम्भ नहीं होता। अतः वह मजदूरके शरीरको किरायेपर लेकर उससे सौदा बनवाता है। यदि पाँच दिनतक सौदा बनानेका काम हुआ और उतने समयमें इमारत और मशीनका किराया, कच्चे मालका दाम तथा अन्य कामोंमें जो खर्च हुआ है, वह तीन हजार घंटेके बराबर था। पूँजीपतिने बीस मजदूरोंको प्रतिदिन दस घंटे कामपर लगाया और सौदा तैयार होनेपर सौदेका दाम बाजारमें चार हजार घंटे परिश्रमके दामके बराबर पड़ा, तो तीन हजार घंटेके परिश्रमका दाम पूँजीपतिने खर्च किया ही है। मकान, मशीन आदिके किराये आदिपर और एक हजार घंटेके परिश्रमके दामकी बचत होती है, यह बचत ही परिश्रमका दाम है। उसमेंसे मालिक मजदूरको एक हजार घंटे जीनेके लायक ही नौकरी देता है। यह एक हजार

घंटेतक परिश्रम करानेकी शक्तिका दाम होगा और उसे जो बाजारमें मिला वह एक हजार घंटे परिश्रमका दाम है।

"यदि पूँजीपति मजदूरको पाँच दिनतक दस घंटे परिश्रम करनेकी शक्तिका दाम ढाई दिनके परिश्रमके बराबर देता है तो उसे प्रति मजदूर ढाई दिनका परिश्रम मुनाफेमें बच जाता है। उसका कुल मुनाफा चार दिनके परिश्रमका परिणाम हो जाता है। अर्थात् पूँजीपतिने अपने बीस मजदूरोंको उतना रुपया दिया जिसमें वे पाँच दिन जीवित रहें और मजदूरोंने मालिकको उतना रुपया दिया जितना कि बीस आदमियोंकी पाँच दिनकी मेहनतसे पैदा होता है।

"जैसे घोड़ेके दिनभर परिश्रम करनेके योग्य बनाये रखनेके लिये घास-दाना-में जो खर्च होता है, वह उसकी परिश्रमशक्तिका दाम है। घोड़ेकी दिनभरके परिश्रमसे जो कमायी होती है, वह उसके परिश्रमका दाम होता है। दोनोंमें जो अन्तर है, वही मुनाफा है। परिश्रमशक्तिको बनाये रखनेमें जो खर्च होगा, वह परिश्रमके दामसे कहीं कम होता है। इसी तरह मजदूरकी परिश्रमशक्तिका पूरा दाम मिलनेपर भी परिश्रमके दामसे वह बहुत कम होता है। परंतु मजदूरोंकी संख्या बाजारमें अधिक होती है। आधा पेट खाकर परिश्रम-शक्तिका दाम भी उचित (मुनासिब) से कम लेकर मजदूरी करते हैं। सौदेकी पैदावारसे मजदूरको जितना ही कम मिलता है, उतना ही मालिकका मुनाफा बढ़ता है।"

देशकालके भेदसे भावोंमें भेद हो जाता है। जिस देशमें जिस वस्तुकी अधिक आवश्यकता या माँग होती है, अन्यत्र कम दाममें खरीदी वस्तु वहाँ अधिक दाममें बिकती है। दिखाया जा चुका है कि किसी देशकालमें पानी भी कीमती हो जाता है, इसीलिये कालान्तरमें खरीदी वस्तु कालान्तरमें और देशान्तरमें खरीदी वस्तु देशान्तरमें बेचनेकी लाभके ही लिये पद्धति चलती है। बुद्धिकी विशेषतासे भी लाभमें विशेषता होती है।

कथासरित्सागरकी कथा है कि एक व्यक्तिने एक मृतमूषिकाको, जो सामान्य दृष्टिसे व्यर्थ ही कही जाती है, लेकर व्यापार करनेका निश्चय किया। किसीने एक आना पैसा देकर उसे अपनी बीमार बिल्लीके लिये खरीद लिया। वह उसी पैसेसे भूना चना खरीदकर शीतल जल लेकर मार्गके किसी वृक्षकी ठंढी छायामें बैठ गया। लकड़ीका बोझ लेकर आते हुए भूखे-प्यासे लकड़हारोंने वहीं रुककर और चना खाकर जलपान किया तथा बदलेमें वे उसे थोड़ी-थोड़ी लकड़ियाँ देते गये। उन लकड़ियोंके बेचनेसे उसे पाँच रुपये प्राप्त हो गये। उसमें उसने कुछ तो अपने भोजनमें व्यय किया और शेषका पुनः चना खरीद लिया। इसी प्रकार उनसे उसे पुनः लकड़ियाँ मिलीं और शनैः-शनैः वह महाधनवान् हो गया। फिर जिसके पास पूँजी हो उससे तो वह बहुत कमा सकता है।

जब कोई व्यापार न कर अपना धन बैंकमें जमा करता है तो वहाँ भी सूदके रूपमें कुछ-न-कुछ आमदनी होती है। फिर श्रमपूर्वक व्यापार तो कुछ अधिक लाभके लिये किया ही जाता है। देश-विशेष तथा काल-विशेषमें माँग बढ़ जानेसे दाम बढ़ जाता है। इसमें श्रमका संनिवेश नहीं होता। पूर्वोक्त कथामें मृतमूषिकाके व्यापारमें श्रमकी कोई बात नहीं आयी, पर अवसर-विशेष-पर ऐसी वस्तुओंका भी दाम मिल जाता है। इसी तरह खेतीसे तथा अन्य उपयोगी वस्तुओंको बनाकर बेचनेसे भी लाभ होता है। यहाँ सौदेका दाम कम देने अथवा उचितसे ज्यादा दाममें बेचनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि देश तथा कालकी महिमासे दाममें चढ़ाव-उतार होता ही रहता है।

इसी तरह 'प्रत्येक वस्तुका दाम वस्तुकी तैयारीमें खर्च किये गये परिश्रमके समयसे निश्चित होता है', यह कथन भी असंगत है। क्योंकि आम्रादि फलोंका दाम उनकी मधुरता, हृद्यता आदि गुणोंपर तथा दुर्लभता, सुलभता आदि एवं माँगके आधारपर ही निश्चित होता है। परिश्रम समान होनेपर भी घटिया आमोंका उतना दाम नहीं होता। अतः उपकारकता तथा दुर्लभताके तारतम्यका ज्ञान ही वस्तुके मूल्यमें कारण होता है। हीरा-जैसी वस्तुमें भी उपकारकत्व दुर्लभत्वका ज्ञान न होनेसे अल्पमूल्यता या हेयताका व्यवहार हो सकता है। बकरी एवं गर्दभ, उष्ट्रके पालनमें श्रम एक-सा होनेपर भी वस्तुओंकी विशेषतासे ही दाममें विशेषता कहनी पड़ती है। इसी तरह परिश्रमके समयके आधारपर भी दामका निर्णय असंगत है। एक मजदूर अधिक समयतक कठोर-से-कठोर काम करता है, तब भी उसे थोड़ा ही पैसा मिलता है। परंतु एक इंजीनियर, डाक्टर, वकील मिनटोंमें हजारों रुपया प्राप्त कर लेता है। अतः यहाँ भी परिश्रमकी विशेषता तथा दुर्लभताके आधारपर ही दाममें विशेषता मान्य होनी चाहिये।

वस्तुतः सफल कर्म ही श्रम है। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकारकी हलचल ही कर्म है। तथा च फलोत्पादनानुकूल उपयोगी हलचल ही श्रम है। यह स्वयं ही अनेक प्रकारकी होती है, एक रूप नहीं है। एक विशिष्ट वकीलकी वाणीकी हलचल बहुत लाभदायक होती है, अतः उसका दाम बहुत ज्यादा होता है। एक साधारण वकील या वक्ताकी वाणीसे उतना लाभ नहीं होता, अतः उसका साधारण ही दाम मिलता है। इसी तरह इंजीनियर, डाक्टर आदिके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है। विशिष्ट बुद्धि, विशिष्टवाणी, विशिष्ट हस्तपादादि क्रियाओंसे होनेवाले फलोंके आधारपर उनके दामोंमें भी कमी-बेशी होती रहती है। दुर्लभता एवं माँगकी विशेषता ही सर्वत्र दामका कारण हुआ करती है। जैसे विशिष्टबुद्धियुक्त शारीरिक हलचल अधिक लाभदायक होती है उसी तरह

मशीन कच्चा माल तथा विशिष्टबुद्धियुक्त शारीरिक हलचल (श्रम) और लाभदायक होती है। जिसके पास उपर्युक्त साधनोंमें जितनी कमी है उतना ही उसे कम लाभ होता है। जैसे इस जन्म या जन्मान्तरके शुभकर्मसे जिसके पास उत्तम बुद्धि एवं कायिक, वाचिक उत्तम कर्म होते हैं, उसको केवल कायिक कर्मवालोंकी अपेक्षा अधिक फल मिलता है। इस तरह इस जन्म या जन्मान्तरके शुभकर्मसे भूमि, मशीन, कच्चा माल आदि जिसके पास है, उसे और भी बड़ा फल प्राप्त होता है। किसीके पास बुद्धि नहीं है, केवल स्थूल श्रम है उसे थोड़ा ही फल मिलता है। किसी वकील, डाक्टर, इंजीनियर आदिमें बाह्य श्रम अत्यल्प है, केवल बुद्धिके ही बलपर उन्हें पर्याप्त धन मिलता है। किसीके पास मशीन, भूमि आदि बाह्य साधनोंकी प्रधानता है, वे उसके सहारे साधारण बुद्धि, वाणी एवं शरीरके कर्मसे ही बड़ा फल पा लेते हैं। इसमें भी अवसरका महत्त्व होता है। किसी अवसरपर कोई वाणी, कोई औषध, कोई क्रिया लाभदायक होती है। किसी अवसरपर वही हानिकारक भी हो जाती है। शास्त्रीय कर्मोंमें भी अवसर तथा जानकारीका विशेष महत्त्व है। डाक्टर, इंजीनियर, गणक, वकील आदिके भी जानकारी तथा कर्मोंकी विलक्षणताके समान ही वैदिक, तान्त्रिक, ज्योतिष्टोम, अश्वमेध, षडध्वशोधनादि कर्मोंमें भी ज्ञानक्रिया आदिकी विलक्षणता होती है। पाठ, जपमें श्रम समान होनेपर भी किसी मन्त्र-स्तोत्रके जप, पाठसे सामान्य फल होता है, किसी मन्त्र-स्तोत्रके जप-पाठसे विशिष्ट फल होता है। यहाँ श्रमकी विशेषता न होकर वस्तुकी विशेषतासे ही फलमें विशेषता मान्य होती है।

परिश्रम, शक्ति एवं परिश्रमका भेद भी अवास्तविक तथा अनुपयुक्त है। वस्तुतः खरीदगार फलके आधारपर ही दाम देता है। फलोत्पादक शक्तिका कुछ भी दाम नहीं होता। काम न करनेवाले या अन्यका काम करनेवाले श्रमिकके पास भी शक्ति है, परंतु जिसके लिये उसका फल नहीं है उसके लिये वह व्यर्थ है। अतः उसका कुछ भी दाम नहीं देता। अतः परिश्रमशक्ति एवं परिश्रमके पृथक् फलकी कल्पना निराधार है। जितनेसे परिश्रमशक्ति बनी रहे, उतना दाम परिश्रमशक्तिका दाम है, यह नियम भी व्यभिचरित है। क्योंकि वकीलों, डाक्टरों आदिके श्रमशक्ति बनाये रखनेसे कहीं बहुत अधिक दाम मिलता है; अतः उस दामको परिश्रमशक्तिका दाम नहीं कहा जा सकता। ऐसे स्थानोंमें परिश्रमका दाम दूसरा क्या हो सकता है? क्योंकि यहाँ तो कोई वस्तु बाजारमें जानेवाली नहीं है, जिससे लागत खर्च निकालकर सौदेके दामको परिश्रमका फल कहा जा सके। वकीलके परिश्रमका परिणाम न्याय-प्राप्ति कहा जा सकता है, उसके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले भूमि, हिरण्य आदिमें भले वकीलके परिश्रमको भी हेतु कहा जाय, परंतु वह वादी आदिकी निजी वस्तु ही है। उसे प्राप्त होनी ही चाहिये। तभी

उसके पक्षमें न्याय हुआ है। 'अतः वह सब वकीलके श्रमका फल है, उसे ही मिलना चाहिये', यह नहीं कहा जा सकता। बहुत-सी ऐसी भी मजदूरी होती है जिसके द्वारा बाजारमें जानेवाला कोई सौदा नहीं बनता। उदाहरणार्थ अपने ही कुटुम्बके काम चलानेके लिये लोहार, दर्जी, बढ़ई, मकान बनानेवाले कारीगरसे उपयोगके लिये काम कराये जाते हैं, वहाँ धोबी, नाई, भंगीके श्रमोंका क्या दाम होगा ? यहाँ कोई बाजारमें बिकनेका सौदा नहीं बनता। अतः वहाँ बाजार भावके आधारपर श्रमका दाम निश्चित करना पड़ेगा। अवश्य ही वह दाम कामके अनुरूप तथा राष्ट्रिय नागरिकोंके जीवनस्तरके अनुरूप होना चाहिये। इसके विपरीत जहाँ कथञ्चित् मजदूरोंका जीवन चलनेके लिये नितान्त आवश्यक जो कम-से-कम मजदूरी देते हैं, वे अन्याय करते हैं। उनपर नियन्त्रण आवश्यक है। फिर भी सौदा बनानेवाले मजदूरोंकी उचित मजदूरी या नौकरीसे अतिरिक्त लागत खर्च निकालकर सौदेके सब दाममें भी मजदूरोंका अधिकार है, यह नहीं सिद्ध हो सकता। कोई कारण नहीं कि उपयोगार्थ काम करनेवाले मजदूरोंके परिश्रमका दूसरा दाम हो और सौदा बनानेवाले मजदूरोंके परिश्रमका दूसरा। बाजारमें गेहूँ खानेके लिये खरीदें या दानके लिये खरीदें अथवा बेचनेके लिये खरीदें, पर दाममें कोई अन्तर नहीं आता।

कच्चा माल, मशीन और पूँजी तथा पूँजीपतिकी बुद्धि, साहस, चेष्टा आदि सब मिलकर लाभमें हेतु हैं। यदि मजदूरोंके परिश्रमका भेद मानकर परिश्रमका दाम भी पृथक्-पृथक् माना जाय तो मशीनोंके सम्बन्धमें भी कहा जा सकता है कि जितनेसे मशीन कामलायक बनी रहे, वह उनकी कार्यक्षमताका दाम होगा। मजदूरकी नौकरी आदि लागत खर्च निकालकर अवशिष्ट सौदेका दाम मशीनकी क्रियाका परिणाम है। लाखों मजदूरोंका काम करनेवाली मशीनके सम्बन्धमें वे सभी न्याय लागू होने चाहिये, जो मजदूरके सम्बन्धमें लागू होते हैं। अतः लाखों मजदूरोंकी श्रमशक्ति एवं श्रमका जो भी फल है, वह सब मशीनके मालिकको मिलना चाहिये। कच्चा माल तो सौदेका उपादान-कारण ही होता है। रूई ही सूत बनती है, सूत ही कपड़ा बनता है, अतः रूई तथा सूतके मालिकको जो दाम दिया गया है, उसे भी अपूर्ण ही कहा जा सकता है। रुपया निश्चल पड़ा रहे तो उसका कुछ भी फल नहीं होता। परंतु बैंकमें जाता है तो ब्याजरूपसे उससे कुछ आमदनी होती है। व्यापार-उद्योगमें लगानेसे उससे और बड़ी आमदनी होती है। इसलिये व्यापारमें पूँजी लगायी जाती है। यदि लागत खर्चके अतिरिक्त सौदेका दाम मजदूरके परिश्रमका ही फल है और वह सब मजदूरको ही मिलना चाहिये, तब तो कच्चे माल खरीदने, मकान, मशीन बनाने, मजदूरोंको बटोरकर काम कराने, मजदूरी देनेमें पूँजी लगाकर उसे खतरेमें डालना व्यर्थ ही होगा। उसकी अपेक्षा तो

विना खतरा उठाये ही बैंकमें रुपया रखकर लाभ उठाया जा सकता है। अतः जैसे श्रमिकको श्रम लगानेका फल मजदूरी मिलती है, वैसे ही पूँजीपतिके पूँजी लगानेका फल मुनाफा मिलना चाहिये। हाँ, वह सीमित होना चाहिये। समाज तथा मजदूरोंको नुकसान पहुँचानेवाला न होना चाहिये।

पूँजी और श्रम

अतिरिक्त श्रमके दरके सम्बन्धमें मार्क्सवादी कहते हैं कि "पूँजी या पैदावारके साधनोंको हम इस प्रकार बाँट सकते हैं। एक वे साधन, जो एक हदतक स्थायी हैं, उदाहरणतः इमारतें और मशीनें, दूसरा कच्चा माल, तीसरे मजदूरको मजदूरी देनेके लिये पूँजी। पूँजीका जो भाग पैदावारके स्थायी साधनोंपर खर्च होता है, वह एक निश्चित समयमें पंद्रह या बीस वर्षमें वसूल हो सकता है। इन साधनोंके दामपर सूद और घिसाई पूँजीपति आमदनीमेंसे लगातार निकालता जाता है। कच्चे मालपर जो पूँजी खर्च होती है, वह भी तैयार किये गये सौदेके बिकते ही वसूल हो जाती है। पैदावारके इन साधनोंपर जो रुपया लगता है, पूँजीपति उसे सौदेके मूल्यसे वसूल कर लेता है, परंतु उसपर मुनाफा वसूल नहीं किया जा सकता, वह घटता-बढ़ता नहीं। परिश्रमकी शक्ति इन साधनोंपर लगाये विना कुछ लाभ नहीं हो सकता। पैदावारमें लगाये गये पूँजीपतिके धनका तीसरा भाग परिश्रमके शक्तिके खरीदनेमें लगता है। पूँजीपतिका मुनाफा उसकी पूँजीके इस भागसे आता है।

"परिश्रम करनेकी शक्ति-जिस दामपर खरीदी जाती है, परिश्रमके फलका दाम उससे अधिक होता है। सौदेके दाममेंसे परिश्रमकी शक्ति या दाम निकाल देनेपर 'अतिरिक्त दाम' बच जाता है। अतिरिक्त दाम बढ़ानेका सीधा तरीका यह है कि परिश्रमकी शक्तिके दाम मजदूरीको घटाया जाय, उदाहरणतः यदि मजदूर द्वारा कराये गये दस घंटे परिश्रमका दाम एक रुपया है और उसमेंसे मजदूरको उसकी परिश्रमकी शक्तिका मूल्य आठ आने दे दिया जाता है तो अतिरिक्त मूल्य आठ आने प्रति मजदूर बच जाता है। परिश्रमके मूल्य एक रुपयेमेंसे यदि मजदूरी घटा दी जाय तो अतिरिक्त मूल्यका मुनाफा बढ़ जायगा। दूसरा उपाय मशीनोंका प्रयोग बढ़ाकर पैदावार बढ़ाना है। जिसमें परिश्रमके शक्तिके कम खर्च होनेसे उसके लिये कम दाम देना पड़े और मालिकके पास अतिरिक्त दाम या मुनाफा अधिक बच जाय। अतिरिक्त श्रमको बढ़ानेका तीसरा उपाय यह है कि परिश्रमकी शक्तिका मूल्य तो न बढ़े, परंतु परिश्रम अधिक दामका अधिक समयतक कराया जाय ताकि अतिरिक्त मूल्यका भाग बढ़ जाय। इसके लिये मजदूरोंसे बजाय दस घंटेके बारह घंटे काम कराया जाय। दस घंटे काम करानेसे पाँच घंटेमें तो मजदूर अपने परिश्रमकी शक्तिका दाम पैदा करता है, जो उसे मालिकसे मिलता है और पाँच घंटेमें मालिकके लिये अतिरिक्त दाम। अब काम बारह

घंटे कराये जानेपर और परिश्रमकी शक्तिका दाम मजदूरी न बढ़ानेपर अतिरिक्त श्रम बजाय पाँच घंटेके सात घंटे होने लगेगा। इसीलिये जब मशीनोंद्वारा थोड़े समयमें अधिक काम हो सकता है, तब भी मालिक लोग कामके घंटे घटानेके लिये तैयार नहीं होते।

"इस प्रकार हम देखते हैं कि मुनाफा कमानेकी पूँजीवादी प्रणालीमें मशीनोंका प्रयोग बढ़ने, पैदावार बढ़ने आदि सभी प्रकारकी उन्नतिसे मजदूरोंको नुकसान और पूँजीपतियोंको लाभ होता है; क्योंकि इन सब वस्तुओंका व्यवहार समाजकी आवश्यकताओंको पूरा न कर मुनाफा कमानेके उद्देश्यसे किया जाता है। पैदावारके सब साधनोंके मौजूद होते हुए भी पैदावार उस समयतक नहीं हो सकती जबकि मेहनतकी शक्तिको व्यवहारमें न लाया जाय। पूँजीवादी समाजमें मजदूरोंसे मेहनतकी शक्ति आती है। मजदूरोंकी मेहनतकी शक्तिको मजदूरी या वेतनद्वारा खरीदकर पैदावारके साधनोंको चलाया जाता है! मजदूरी पूँजीवादी समाजका विशेष महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, क्योंकि मजदूरीद्वारा ही पूँजीपति मजदूरकी मेहनतसे मुनाफा उठाता है।

"अपने लाभके विचारसे पूँजीपति मजदूरोंकी मजदूरी अर्थात् परिश्रम करनेकी शक्तिका दाम सदा ही घटानेकी कोशिश करते रहते हैं। परिश्रमकी शक्तिके मूल्य और परिश्रमके मूल्यपर विचार करते समय यह कहा गया है कि पूँजीपतिके व्यवसायमें परिश्रम करनेवाले मजदूरके परिश्रमके दो भाग होते हैं। मजदूरके परिश्रमका एक वह भाग होता है, जो उसकी परिश्रमकी शक्तिके मूल्यमें उसे दे दिया जाता है और उसके परिश्रमका दूसरा भाग वह होता है, जिसका उसे कोई फल नहीं मिलता, अर्थात् अतिरिक्त श्रम। मजदूर इस रहस्यको नहीं जानता। उसे यही समझाया जाता है कि 'जितने दामका परिश्रम उसने किया है, उतना दाम उसे मिल गया है' मजदूरको कहा जाता है कि 'तुम्हारे परिश्रमका जो दाम एक पूँजीपति तुम्हें देता है, उसे यदि तुम कम समझते हो तो दूसरी जगह मजदूरी तलाश कर सकते हो।' मजदूरीका दर समाज भरमें एक ही रहता है, क्योंकि सभी पूँजीपति अतिरिक्त श्रमसे लाभ उठाना चाहते हैं।

"यदि मजदूरकी मजदूरी उसी पदार्थके रूपमें दी जाय जिसे वह अपने परिश्रमसे तैयार करता है, तो उसे इस बातका अनुमान हो सकता है कि उसके परिश्रमके फलका कितना भाग उसे मिलता है, और कितना भाग मालिककी जेबमें चला जाता है। परंतु मजदूरी या वेतनका पर्दा मजदूरसे उसके शोषणकी वास्तविकताको छिपाये रहता है। पूँजीवादी समाजमें मेहनत करनेवाली साधनहीन श्रेणी पैदावार तो बहुत अधिक करती है, परंतु खर्च करनेके लिये बहुत कम पाती है। पैदावारकी शक्ति और साधन तो खूब बढ़ते जाते हैं, किंतु जनताकी

पैदावार, खर्च करनेकी शक्ति घटती जाती है। इन सबका कारण है, अतिरिक्त मूल्यके रहस्यमय मार्गद्वारा जनताके परिश्रमका मुनाफेके रूपमें पूँजीपति श्रेणीके खजानोंमें जमा होते जाना। इस व्यवस्थासे मेहनत करनेवाली साधनहीन श्रेणी तो संकट भोगती ही है, परंतु पूँजीपति श्रेणीको भी कम उलझनका सामना नहीं करना पड़ता। समाजमें हो सकनेवाली पैदावारको जनता खपा नहीं सकती। पूँजीपतियोंके पैदावारके विशाल साधन निष्प्रयोजन खड़े रहते हैं। उन साधनोंमें लगी उनकी पूँजी उन्हें कोई लाभ नहीं पहुँचा सकती और वे भयंकर आर्थिक संकट अनुभव करने लगते हैं।

'यद्यपि पूँजीवादी व्यवस्थामें मेहनत करनेवाली श्रेणीका शोषण उन्हें दी जानेवाली मजदूरीके पर्देमें छिपा रहता है, जिसके द्वारा उन्हें सदा यह विश्वास दिलाया जाता है कि उनकी मेहनतका पूरा फल मेहनत करनेवालोंको मिल जाता है, परंतु मजदूरोंको उनकी मेहनतसे मिलनेवाले फलमें नित्य कमी आते जानेसे उनका जीवन दिन प्रतिदिन संकटमय होता जाता है; इसलिये मजदूरश्रेणी अपनी मजदूरीको बढ़ानेकी पुकार उठाये बिना नहीं रह सकती।'

मार्क्सने उसी बातको बार-बार दोहराया है। कहा जा चुका है कि मजदूरीका दर उचित होना चाहिये, परंतु मार्क्सवादी तो किसी न्यायालय या पंचायतकी बात माननेको प्रस्तुत ही नहीं होते। समझौता उन्हें अभीष्ट नहीं होता। उनका उद्देश्य तो सम्पूर्ण पूँजीको हथियाना है। जो पहले बेकारीके कारण परेशान होकर नौकरी ढूँढ़ता था उसे काम मिला। नौकरी मिलनेसे जब बैठनेको जगह मिल गयी तो अब वह मालिकको समाप्त करके स्वयं मालिक बनना चाहता है। ऐसी दृष्टिवाला व्यक्ति या समाज समझौता भला कब चाहेगा? शोषण, उत्पीडनका अतिरंजित बीभत्स वर्णन केवल उत्तेजना और विद्वेष फैलानेकी दृष्टिसे मार्क्सवादी करते हैं। उनके वर्णनमें तथ्यांश नगण्य ही होता है।

मार्क्सका अतिरिक्त श्रम, अतिरिक्त मूल्य सर्वथा निराधार है। मजदूरीका मार्ग बिल्कुल स्पष्ट है। इसमें कोई भी रहस्य नहीं। जैसे आपसी समझौते या पंचायत अथवा निष्पक्ष सरकारद्वारा कच्चे मालकी दर निर्धारित होती है वैसे ही श्रमकी भी दर निर्धारित होती है और हो सकती है। यह प्रत्यक्ष ही संसारकी आँखमें धूलि-प्रक्षेप है कि 'व्यापार या उद्योगमें होनेवाले लाभका मूल कारण उस श्रमिकका श्रम ही है, जो वेतनसे काम करता है। पूँजीका लाभमें कोई हाथ नहीं है।' जब सूदपर रुपया लेने या बैंकमें जमा कर देनेसे भी रुपयोंका सूद मिलता है, तो फिर यदि अधिक लाभका लोभ न हो तो कौन बुद्धिमान् उद्योगोंमें रुपया लगायेगा और क्यों रुपयेको व्यर्थ खतरेमें डालेगा? क्योंकि उद्योग या व्यापारमें हानिकी भी तो सम्भावना रहती है और झंझटमें ऊपरसे पड़ना। लाभमें रुपयेका कोई हाथ भी

मा० रा० २३—

नहीं समझा जाता। यदि लाभ सब मजदूरका ही है पूँजीपतिका कुछ नहीं तब क्या पूँजीपति पागल है, जो निरर्थक अपना रुपया खतरेमें डालेगा ? और झंझट मोल लेगा ? हर्गिज नहीं, फिर तो अच्छा होता कि वह अपनी पूँजी बैठकर खाये और दूरसे तमाशा देखे कि साधनोंके बिना मजदूर श्रममात्रसे क्या कमाता है ?

पैदावारके साधनोंको बढ़ाना, औद्योगिक नगरोंमें श्रमिकोंको इकट्ठा करके उचित नौकरी देकर योग्य कामपर लगाकर उन्हें शिक्षित तथा अनुभवी बनाना अपराध नहीं है। वस्तुतः रामराज्यवादीके मतानुसार महायन्त्रका निर्माण अपराध है और उसपर प्रतिबन्ध लगाना चाहिये। मार्क्सवादमें तो पूँजीवाद, साम्यवादका उपकारक है, क्योंकि मार्क्सवादका यन्त्रवाद ही प्राण है। मनुष्योंको भूखा-नंगा बनानेवाला पूँजीवाद अवश्य अपराधी है, उसका मिटना आवश्यक है। परंतु विचारणीय बात यह है कि कहीं भूखा नंगा बना देनेका लांछन लगाकर उसके विनाशका बहानामात्र तो नहीं ढूढ़ा जा रहा है ? जैसे हिटलर, मुसोलिनी दूसरोंको सभ्य बनानेके लिये उनपर हमला करनेके लिये अपनेको बाध्य समझते थे। एक भेड़िया नीचेकी ओर पानी पीनेवाली बकरीको अपराधिनी घोषित कर उसे खानेको अपनेको बाध्य मानता है। उसी तरह देशका सर्वस्व हरण करके अपना अधिनायकत्व स्थापित करनेके लिये पानी पी-पीकर मार्क्सवादी पूँजीवादको कोसते हैं। अतः न तो सब व्यवस्थाओंसे दूसरी व्यवस्थाओंका जन्म ही होता है न आवश्यक ही है।

यह स्पष्ट है कि पूँजी, मशीन, कल, कारखाने, कच्चा माल और श्रमिकोंका श्रम सब मिलकर उत्पादनके हेतु होते हैं। जैसे श्रमिक बिना सब चीजें व्यर्थ होती हैं, वैसे ही कच्चे माल आदि बिना श्रमिकोंका श्रम भी व्यर्थ रहता है, तभी बेकारीका प्रश्न उठता है, बल्कि गन्ने आदि कई ढंगसे कच्चे माल, कारखानोंमें बिना गये भी उपयोगी होनेसे कीमती होते हैं। पर श्रम इन वस्तुओंके बिना सर्वथा व्यर्थ रहता है। पूँजीपति जैसे दामसे मशीन खरीदता है, मकान बनाता है, दामसे कच्चा माल खरीदता है, वैसे ही दामसे श्रमिकोंका श्रम भी खरीदता है। जैसे श्रमिकोंके श्रमके दाममें घटाव-बढ़ाव होता रहता है, वैसे ही कच्चे माल और मशीनोंके दाममें भी घटाव-बढ़ाव होता रहता है। काम, कामके घंटे तथा वेतन पारस्परिक समझौतेसे ही तय होता है। यदि आपसी समझौतासे तय न हुआ हो तब धर्मशास्त्रद्वारा निर्धारित वेतन श्रमिकोंको प्राप्त हो सकता है। राष्ट्र-हितके लिये बेरोजगारी दूर करनेके लिये, कामके घंटे और वेतनकी दरका निर्धारण सरकार भी कर सकती है। सर्वथापि आयका जरिया केवल श्रम नहीं, किंतु श्रम मशीन, कच्चा माल सब मिलकर ही आयके हेतु हैं। कच्चा माल, मशीन, श्रम सबका दाम पूँजीपतिने चुकाया है, अतः न्यायतः आयका हिस्सेदार

पूँजीपति ही है, अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त मूल्यकी कल्पना सर्वथा निराधार है। धर्मशास्त्रोंने स्पष्ट ही आयमें पूँजी लगानेवालोंका हिस्सा बतलाया है। वेतनके सम्बन्धमें आपसी समझौते तथा न्यायालयके मतका उल्लेख बृहस्पति-स्मृतिमें इस प्रकार है—

कुलीनदक्षानलसैः प्राज्ञैर्नाणकवेदिभिः।
आयव्ययज्ञैः शुचिभिः शूरैः कुर्यात्सह क्रियाः॥
समोऽतिरिक्तो हीनो वा यत्रांशो यस्य यादृशः।
क्षयव्ययौ तथा वृद्धिस्तस्य तत्र तथाविधा॥
प्रयोगं कुर्वते ये तु हेमधान्यरसादिना।
समन्यूनाधिकैरंशैर्लाभस्तेषां तथाविधः॥

(बृहस्प० स्मृति० गायक० १३ । १–२, ४)

अर्थात् कुलीन, दक्ष, निरालस्य, विद्वान्, व्यापारविशेषज्ञ, आय-व्ययके ज्ञाता साहसी लोग मिलकर व्यापार करें। मूलधनमें जिनका जितना कम या अधिक अंश होता है, उसके अनुसार ही उनका हानि-लाभमें भी भाग रहता है।

सुवर्ण, अन्न, रसादिका व्यापार करनेवालोंका मूलधनके भागके अनुसार ही लाभमें भी भाग होता है। यहाँ स्पष्ट ही व्यापारमें धन लगानेवालोंका ही लाभमें हिस्सा कहा गया है। लाभको श्रममात्रका फल नहीं माना गया।

समो न्यूनाधिको वांशो येन क्षिप्तस्तथैव सः।
व्ययं दद्यात्कर्म कुर्याल्लाभं गृह्णीत चैव हि॥
क्षयहानिर्यदा तत्र दैवराजकृताद् भवेत्।
सर्वेषामेव सा प्रोक्ता कल्पनीया तथांशतः॥

(बृहस्प० स्मृति० गायकवाड संस्क० १३ । ५, ८)

बराबर या कम-अधिक मूल धनमें जिसका जैसा भाग होता है तदनुसार ही उसका वेतन आदि सम्बन्धसे व्यापारिक व्ययमें खर्च होगा, तदनुसार ही लाभमें हिस्सा मिलेगा। उसी तरह यदि राजकृत या दैवकृत हानि हो तो भी मूलधनके भागानुसार ही हानि भी सबको ही सहनी पड़ेगी।

अनिर्दिष्टो वार्यमाणः प्रमादाद्यस्तु नाशयेत्।
तेनैव तद्भवेद्देयं सर्वेषां समवायिनाम्॥
राज्ञे दत्त्वा तु षड्भागं लभेरंस्ते यथांशतः॥
दैवराजभयाद्यस्तु स्वशक्त्या परिपालयेत्।
तस्यांशं दशमं दत्त्वा गृह्णीयुस्तेंऽशतो परम्॥

(बृह० स्मृ० १३ । ९—११)

समुदायकी सम्मति बिना एवं मना करनेपर भी अगर किसीने प्रमादवश धन नष्ट किया है, तो उसे सबको धन देना पड़ेगा। राजाका षष्ठांश देकर शेष आय मूल-धनके भागानुसार सबको मिलना चाहिये। जिसने विशेषरूपसे दैवभय या राजभयसे धनको नाश होनेसे बचाया है उसे दशांश देकर शेषका अंशानुसार समुदायके लोग ग्रहण करें—

बहूनां सम्मतो यस्तु दद्यादेको धनं नरः।
करणं कारयेद्वापि सर्वैरेव कृतं भवेत्॥
समवेतैस्तु यद्दत्तं प्रार्थनीयं तथैव तत्।
न याचते च यः कश्चिल्लाभात्स परिहीयते॥
श्रूयतां कर्षकादीनां विधानमिदमुच्यते।
वाह्यवाहकबीजाद्यैः क्षेत्रोपकरणेन च।
ये समाः स्युस्तु तैः सार्धं कृषिः कार्या विजानता॥

(वही २२; २५—२७)

बहुतोंकी सम्मति किसी उद्योगके लिये, एक व्यक्ति जो धन देकर उद्योग प्रारम्भ करता है, वह सभीद्वारा दिया गया समझा जाना चाहिये। जिन संयुक्त लोगोंने जो धन दिया है सभीको मिलकर ही उसे माँगना चाहिये। जो उनसे नहीं माँगता उसे लाभमें वंचित रहना पड़ेगा। संयुक्तरूपसे कृषिकर्म करनेवालोंमें भी जिनका हल, बैल, मजदूर, बीज, खाद, खेत आदिका सामान या कम, अधिक जिनके जैसे हैं, तदनुसार ही उनको लाभमें हिस्सा मिलना चाहिये।

वाह्यबीजात्ययाद्यत्र क्षेत्रहानिः प्रजायते।
तेनैव सा प्रदातव्या सर्वेषां कृषिजीविनाम्॥
हेमकारादयो यत्र शिल्पं सम्भूय कुर्वते।
कर्मानुरूपं निर्वेशं लभेरंस्ते यथांशतः॥
शिक्षकाभिज्ञकुशला आचार्याश्चेति शिल्पिनः।
एकद्वित्रिचतुर्भागान् लभेयुस्ते यथोत्तरम्॥
हर्म्यं देवगृहं वापि धार्मिकोपस्कराणि च।
सम्भूय कुर्वतां चैषां प्रमुखो द्व्यंशमर्हति॥
नर्तकानामेष एव धर्मः सद्भिरुदाहृतः।
तालज्ञो लभते ह्यर्धं गायनास्तु समांशिनः॥

(वही २८; ३४–३७)

जिसके हल-बैल या बीजकी कमीसे जो खेतकी हानि हो उसीको वह हानि सहनी पड़ेगी। हेमकार आदि शिल्पी जहाँ मिलकर काम करते हों, वहाँ कर्मानुरूप प्रत्येकको वेतन मिलना चाहिये। शिक्षक, अभिज्ञ, कुशल आचार्यको एक, दो, तीन तथा चार भाग क्रमेण मिलना चाहिये। प्रासाद, देव, गृह धार्मिक उपस्करण

बनानेमें प्रमुखको दो अंश मिलना चाहिये। नर्तकोंमें यही विधि है। तालज्ञको आधा मिलने चाहिये और गायकोंको समान अंश मिलना चाहिये।

इन प्रसंगोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि व्यापार, उद्योग तथा अन्य कृष्यादि कर्मोंमें होनेवाले लाभ एवं हानिके भागी धनादि साधन लगानेवालोंको ही मिलता है। श्रमिकोंको उनके श्रमका फल वेतन होता है।

अतिरिक्त आय और अन्तर्विरोध

मार्क्सवादियोंका कहना है कि 'समाजकी कोई भी व्यवस्था जब पूर्ण विकासको प्राप्त हो चुकती है और उस व्यवस्थामें समाजके लिये आगे विकास करनेका अवसर नहीं रहता तो उस व्यवस्थाको तोड़नेके लिये स्वयं ही विरोधी शक्ति पैदा हो जाती है, जो उसे तोड़कर नयी व्यवस्थाका मार्ग तैयार कर देती है।'

मार्क्सवादके विचारसे 'पूँजीवाद ऐसी अवस्थामें पहुँच चुका है कि उसकी व्यवस्थाको बदले बिना समाजका विकास आगे नहीं हो सकता, समाजकी पैदावारकी शक्तियाँ आगे उन्नति नहीं कर सकतीं। ऐतिहासिक नियमके अनुसार पूँजीवादी समाजने अपनी व्यवस्थाका अन्त कर देनेके लिये शक्तिको जन्म दे दिया है। यह शक्ति है, पूँजीवादके शोषणद्वारा उत्पन्न साधनहीन श्रेणी।'

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'साधनहीन श्रेणीकी संख्या समाजमें प्रति हजार ९९८ से भी अधिक है। पैदावारका केन्द्रीकरणकर पूँजीवादने इस साधनहीन श्रेणीको औद्योगिक नगरोंमें जमाकर संगठित होनेका अवसर दिया है। पूँजीवादने मशीनोंके विकासमें सहायता देकर और मशीनोंका उपयोग बढ़ाकर समाजद्वारा की जानेवाली पैदावारमें मेहनत करनेवाली श्रेणीका भाग घटाकर उसे भूखा और नंगा छोड़कर उन्हें अपने जीवनकी रक्षाके लिये लड़नेको विवश कर दिया है। इसकी जीवन-रक्षा तब हो सकेगी जब यह श्रेणी जीवन-रक्षाके साधनोंको प्राप्त करनेकी राहपर चलेगी। इस श्रेणीका पहला संगठित प्रयत्न इस बातके लिये है कि समाजमें यह जितनी पैदावार करती है, उसमेंसे कम-से-कम निर्वाहयोग्य पदार्थ तो उसे मजदूरीके रूपमें मिल जाय।'

मार्क्सका यह सिद्धान्त काकतालीय न्यायसे भले ही घट जाय, किंतु सत्य नहीं है। अन्तर्विरोध, पिछली व्यवस्थाका विनाश, दूसरी व्यवस्थाका जन्म होनेका सिद्धान्त व्यापक नहीं है; क्योंकि मार्क्सके अभिमत 'वर्गहीन समाज-व्यवस्थामें' ही यह नियम व्यभिचरित है। वह भी एक व्यवस्था है ही। परंतु उन्हें उसका 'विनाश और उसमें अन्तर्विरोध नहीं मान्य' है। इस तरह रामराज्यवादी

रामराज्यको ही अन्तिम व्यवस्था मान सकता है। मार्क्सके गुरु हीगेलका आदर्श राज्य भी ऐसा ही है, जिसमें अन्तर्विरोध नहीं होता। चीनी गणतन्त्रमें भी पूँजीवादका विनाश आवश्यक नहीं समझा गया। रामराज्य-प्रणालीसे बेकारी, भूखमरी नहीं व्यापेगी। आर्थिक संकट भी नहीं आयेगा। इसीलिये मालके खपतकी भी कमी नहीं होगी। जैसे पूँजीपति सरकार नये-नये कामोंके लिये नयी-नयी मशीनोंका आविष्कार तथा प्रयोग कर सकती है, उसी तरह पूँजीपति व्यक्ति भी। जब एक वस्तुका उत्पादन माँगसे अधिक होने लगेगा तो दूसरी वस्तुके उत्पादनमें लग जायगा। जब दूसरे बाजार हैं नहीं; मालका उत्पादन आवश्यकतासे अधिक होता है, तब काम ठप रखनेकी अपेक्षा दूसरे कामका आरम्भ लाभदायक भी होगा। समय-समयपर व्यापारों एवं उद्योगोंमें उद्योगपति रद्दोबदल करते ही हैं, यह कोई नयी बात नहीं है।

सर्वहारा और क्रान्ति

मार्क्सवादियोंके अनुसार 'साधनहीन श्रेणी अपनी परिस्थितियोंके कारण मुख्यतः तीन भागोंमें बँटी हुई है, जिनमें किसान, मजदूर और निम्न, मध्यम श्रेणीके नौकरी पेशाके लोग हैं। साधनहीन श्रेणीके इन तीनों भागोंमेंसे औद्योगिक देशोंमें मजदूर लोग संख्यामें सबसे अधिक हैं। संख्यामें सबसे अधिक होनेके अलावा उनका घरबार आदि कुछ भी शेष न रहनेसे समाजकी मौजूदा व्यवस्थासे उन्हें कुछ मोह नहीं। इनकी अवस्थामें परिवर्तन आनेसे इन्हें किसी प्रकारकी हानिका डर नहीं। औद्योगिक केन्द्रोंमें मजदूरोंके बहुत बड़ी संख्यामें एकत्र हो जानेसे उनमें संगठितरूपसे एक साथ काम करनेका भाव भी पैदा हो जाता है और नगरोंमें रहनेके कारण राजनैतिक परिस्थितियोंको भी वे बहुत शीघ्र अनुभव करने लगते हैं। पूँजीवादके विरुद्ध आनेवाली साधनहीन श्रेणीकी क्रान्तिमें ये मजदूर लोग ही अगुआ होंगे। किसान भी यद्यपि मजदूरकी तरह ही साधनहीन हैं, परंतु उनकी परिस्थिति उनके सच्चे और संगठित होनेके मार्गमें रुकावट डालती है। किसान प्रायः भूमिके एक छोटेसे टुकड़ेसे बँधा रहता है, जिसपर मेहनत करके वह जो पैदा करता है उसका केवल वही भाग उसके पास रह जाता है, जिसके बिना किसानमें परिश्रमकी शक्ति कायम नहीं रह सकती। शेष चला जाता है भूमिको मालिक कहलानेवाली श्रेणीके लिये। किसानका शोषण भी मजदूरको भाँति होता है। और वह भी वास्तवमें मजदूर ही है, जो मिलोंमें काम न कर भूमिके टुकड़ेपर मेहनत करता है और अपने आपको साधनहीन न समझकर एक प्रकारसे भूमिके छोटेसे टुकड़ेका मालिक समझता है। भूमिके इस टुकड़ेके मोहके कारण उसे क्रान्तिसे भय लगता है। किसानोंका काम करनेका तरीका ऐसा है कि अलग-अलग काम करनेसे उनमें संगठनका भाव भी जल्दी पैदा नहीं हो पाता। नगरोंसे दूर रहनेके कारण वे

बदलती हुई परिस्थितियोंको बहुत देरमें समझ पाते हैं। सामाजिक क्रान्तिद्वारा भूमिको समाजकी सम्पत्ति बनाये बिना उनका निर्वाह नहीं। उसे इससे लाभ ही होगा, परंतु वह इस क्रान्तिमें आगे न आकर क्रान्तिकारी मजदूरोंका सहायक ही बन सकता है। बहुत सम्भव है अपने अज्ञानके कारण वह क्रान्तिका विरोध भी करने लगे, परंतु उसके हितको ध्यानमें रखकर सामाजिक क्रान्तिके मार्गपर उसे चलाना मजदूरश्रेणीका काम है।

निम्नश्रेणीके साधनहीन, नौकरी-पेशावाले लोगोंका इस आन्दोलनमें विशेष महत्त्व है। ये लोग यद्यपि शिक्षाकी दृष्टिसे साधनहीन श्रेणीके नेता होने लायक हैं, परंतु अपने संस्कारोंके कारण यह अपने-आपको मजदूरश्रेणीसे ऊँचा तथा पृथक् समझते हैं। ये लोग अपने शक्तिको श्रेणीके रूपमें संगठित करनेमें न लगाकर अपनी वैयक्तिक उन्नतिद्वारा अपने-आपको ऊँचा उठानेका यत्न करते हैं। ये लोग पूँजीपतियोंद्वारा साधनहीन श्रेणी किसान, मजदूरोंके शोषणमें पूँजीपतियोंका शासन कायम रखनेमें ही अपना हित समझते हैं। क्रान्ति-विरोधी और प्रतिक्रिया-वादी होनेका कारण इस श्रेणीका विश्वास है कि साधनहीन श्रेणीका शासन हो जानेपर इन्हें भी मजदूर बन जाना पड़ेगा। इनके जीवन-निर्वाहका दर्जा गिर जायगा। ये लोग समझते हैं कि समाजवादमें सभी लोग गरीब हो जायँगे; परंतु मार्क्सवादका विचार इससे ठीक उलटा है। उनका कहना है कि पूँजीवादमें पूँजीपतियोंके मुनाफा कमा सकने और समाजको उपयोगके पदार्थ मिल सकनेके उद्देशोंमें अन्तर्विरोध होनेके कारण समाजमें पैदावारके साधनोंपर रुकावट न रहेगी। समाजमें इतनी पैदावार हो सकेगी कि साधारण परिश्रमसे ही सब लोगोंकी अपनी आवश्यकताएँ पूर्ण करनेका अवसर रहेगा और ९९ प्रतिशत जनताकी अवस्था समाजवादमें पूँजीवादकी अपेक्षा बहुत बेहतर हो जायगी। निम्न, मध्यम श्रेणीके वे भाग जो सचेत होकर इस बातको समझ जाते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्थामें अपने परिश्रमका फल उचितरूपसे न पा सकनेके कारण वे मजदूरश्रेणीमें मिलते जा रहे हैं और साधनहीन होनेके नाते उनके हित मजदूरों तथा दूसरे साधनहीनोंके ही समान हैं, वे साधनहीन श्रेणीके आन्दोलनमें आगे बढ़कर अगुआका काम करते हैं।

साधनहीन श्रेणियोंके आन्दोलनोंकी गतिके बारेमें मार्क्सने लिखा है, "साधनहीन मजदूरश्रेणीको मजदूरी और वेतनकी गुलामीमें फँसाकर उसका भयंकर शोषण हो रहा है और वह जीवनके कुछ अधिकार पा सकनेके लिये छटपटा रही है। परंतु इस श्रेणीको इन छोटे-मोटे सुधारोंके मोहमें नहीं फँसना चाहिये। उन्हें याद रखना चाहिये कि इस आन्दोलनद्वारा वे केवल पूँजीवादके परिणामोंको ही दूर करनेका यत्न कर रहे हैं। वे पूँजीवादको जो उनकी मुसीबतोंका कारण है, दूर

बरनेका यत्न नहीं कर रहे हैं। वे अपनी गिरती हुई अवस्थामें केवल रोक लगानेका यत्न कर रहे हैं। वे समाजकी इमारतको नये सिरेसे बनानेका यत्न न कर गिरती हुई इमारतमें टेक देनेका यत्न कर रहे हैं.....'मुनासिब कामके लिये मुनासिब मजदूरीकी जगह अब उन्हें अपना यह नारा बुलंद करना चाहिये.......'मजदूरी और पूँजीवादी व्यवस्थाका खात्मा हो।'

मार्क्सवाद इतिहासके जिस क्रम और विचारधारामें विश्वास करता है उसके अनुसार पूँजीवादी प्रणालीमें सुधार और लीपापोतीकी गुंजाइश बाकी नहीं। वह अपना उद्देश समझता है एक नवीन समाजका निर्माण। असलमें चीनके अनुभवोंसे ही मार्क्सवादियोंको मजदूरोंसे भिन्न किसान और निम्न मध्यम-श्रेणीको भी साधनहीन श्रेणीमें मिलाना पड़ा। चीनकी क्रान्तिसे पहले मार्क्सवादी कहते थे—'सर्वहाराके ही अधिनायकत्वमें क्रान्ति होगी। उसीसे समाजवादकी स्थापना होगी। भले ही किसानोंकी संख्या बड़ी है तथापि वह उदीयमान नहीं है। मजदूरदल ही उदीयमान है।' पर चीनमें कृषकोंद्वारा ही क्रान्ति हुई। सम्भवतः आगे चलकर परस्थितियोंके थपेड़ेसे मार्क्सवादियोंको अन्य आस्तिकोंके भी सिद्धान्त मानने पड़ जायँ। क्रुश्चेव तथा बुल्गानिनने भारत आकर बहुत-से भारतीय परम्पराओंका अनुगमन किया ही। यह कहा जा चुका है कि विशेषतः भारत-जैसे सांस्कृतिक देशोंमें उच्च खानदानके लोग ही परिस्थितिवश मजदूर बनकर मजदूरी करते हैं। उनमें धर्म, सभ्यता, संस्कृति तथा अपनी मर्यादाकी रक्षाका भाव रहता है। वे मजदूरी करके कुछ पैसा पाकर अपने धर्म, संस्कृति तथा माता, पिता, पुत्र, पत्नी आदि कुटुम्ब एवं कुलपरम्पराका रक्षण चाहते हैं। वे क्रमागत (बपौती) सभ्यता, संस्कृति अपनी सम्पत्ति एवं मिल्कियतमें अपना जन्म-सिद्ध अधिकार मानते हैं। भारतमें मिताक्षराके अनुसार पूर्वजोंकी सम्पत्तिमें पुत्र-पौत्रोंका स्वत्व मान्य है। गर्भस्थ बालककी ओरसे भी न्यायालयमें उठायी जानेवाली स्वत्वरक्षणकी माँग मान्य होती है। तभी लोकमान्य कह सके थे कि स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। मजदूर भी चाहता है कि मेरी कमाई मेरे पुत्र-पौत्रोंको प्राप्त हो। मैं अपनी कमाईसे दान-पुण्य कर अपना लोक-परलोक बना सकूँ। केवल फाँकेमस्तीकी बात करना, होटलमें खाना तथा अस्पतालमें मरना उसे पसंद नहीं है। किसान तथा मध्यम श्रेणीके लोग भी अपनी भूमि, सम्पत्ति, संस्कृति छोड़कर कम्यूनिज्मका परतन्त्रतापूर्ण जीवन व्यतीत करना नहीं चाहते। यह उनकी समझदारी है, बेसमझी नहीं। वे कहते हैं कि यह घरफूँककी समझदारी कम्युनिष्टोंको ही मुबारक हो। व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति आदिका राष्ट्रीकरण हो जानेसे सभीको सदाके लिये परतन्त्रताके बन्धनमें जकड़ जाना पड़ेगा। अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं धर्मके विकास तथा रक्षणके लिये कोई कुछ

भी न कर सकेगा। मुट्ठीभर तानाशाह कम्युनिष्टोंका निर्णय ही उनकी धर्म, सभ्यताका निर्णय समझा जायगा। मध्यम श्रेणीको यह समझानेकी आवश्यकता नहीं है कि मजदूर लोग गरीब नहीं रहेंगे। यह तो कोई भी समझ सकता है कि जिसका शासन रहता है वह गरीब नहीं रहता।

'मजदूरों, गरीबोंका राज्य', होगा यह नारा तो बहुसंख्यक गरीबोंके आकर्षणके लिये ही है। और इसीके द्वारा मनुष्यकी स्वाभाविक दुर्बलताओंका लाभ उठाकर ईर्ष्या-द्वेषकी वृत्ति उभाड़कर विध्वंस तथा अपहरणमें गरीबोंको प्रवृत्त करनेके लिये चेष्टा की जाती है। फिर भी समझदार गरीब मजदूर सब समझते हैं कि छीना-झपटी तथा अपहरणादिके द्वारा किसीका स्थायी उपकार एवं कल्याण नहीं हो सकता। दूसरोंको बिना सताये धर्मको बिना उल्लङ्घन किये थोड़ा भी धन बरक्कत और शान्तिका कारण होता है। बेईमान, विधर्म लोगोंके बड़े ऊँचे-ऊँचे मनसूबे सुख-स्वप्नके मनोराज्य होते हैं। उनकी पूर्ति कभी नहीं होती। यदि धर्मनियन्त्रित रामराज्यकी नीतिके अनुसार ईमानदारीसे धार्मिक सामाजिक संगठन हो तो सभी उत्पादनकी असुविधाएँ दूर हो सकती हैं। बेकारी, बेरोजगारी, भूखमरीकी चर्चा स्वप्नमें भी न दीखेगी। रामराज्यमें ऐसा ही था।

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना॥

समुचित प्रयत्न बिना कम्यूनिज्मरूपी जादूकी छड़ीसे समस्त समस्याओंका समाधान नहीं हो सकता। जीवनमें रोटी ही सब कुछ नहीं है, धर्म तथा ईमानका भी मानव-जीवनमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। ईमानदार व्यक्तिको मुनासिब कामके लिये मुनासिब मजदूरीकी बात तो समझमें आ सकती है, लेकिन मजदूरी भी खत्म हो, मजदूरी देनेवाला भी खतम हो, मजदूरी ही नहीं, मजदूरी देनेवालेकी सारी सम्पत्तिके ही हम मालिक बन जायँ, यह भावना दगाबाज डाकूकी दानवी मनोवृत्ति है, सद्विचार नहीं। एक खूँखार भेड़िया या कुत्ता भी यह नहीं सोचता कि मुझे टुकड़ा देनेवाला खतम हो जाय, उसकी सारी रोटी मुझे मिल जाय। सब जगह इमारत तोड़कर नयी इमारत ही नहीं बनायी जाती, किंतु बिना तोड़े हुए सुधारका प्रयत्न भी कर्तव्य है। कम्युनिष्टको अपने शरीर, दिल-दिमागमें फितूर है तो इसीलिये सबको खतम नहीं किया जा सकता। किंतु विविध चिकित्सा-प्रणालियोंके सहारे उनके सुधारका प्रयत्न ही उचित है। इसी तरह जो व्यवस्था अच्छी है, किंतु उसमें कुछ आगन्तुक दोषोंका संसर्ग लग गया हो, वहाँ उस दोषको ही मिटानेका प्रयत्न किया जाता है। उस व्यवस्थाको ही मिटानेका प्रयत्न तो उस ढंगका है, जैसे सिरमें दर्द होनेपर दर्द दूर करनेका प्रयत्न न कर सिर काट डालनेका प्रयत्न करना। ऐसे तो सभी श्रेणियाँ राज्याधिकार पानेको छटपटा सकती हैं, छटपटाती रहेंगी; पर इसमें सिवा संघर्ष तथा अशान्तिके कुछ लाभ नहीं हो सकता। वस्तुतस्तु

अधिकार तथा मोहमें न फँसकर कर्तव्य-मार्गपर प्रवृत्त होनेसे अधिकार विना बुलाये ही पीछे-पीछे दौड़ता है ।]

यहाँ यह स्पष्ट समझना चाहिये कि धर्महीन वस्तुतः शोषक अन्यायी चाहे पूँजीवाद हो; चाहे सर्वहाराके नामसे कुछ कम्युनिष्टोंका अधिनायकत्व हो, रामराज्यवादी दोनोंके ही विरोधी हैं। परंतु इसीलिये किसी व्यक्ति या समूहको मिटा देना कथमपि उचित नहीं है। और कोयलेमें कालिमाके तुल्य बुराई या शोषण व्यक्ति या समूहका अनिवार्य स्वाभाविक धर्म नहीं है, तो कोई कारण नहीं कि बुराई या शोषण व्यक्ति या समूहके विना मिटाये न मिट सकती हो। कोयलेसे तो मनों साबुन खर्च करनेपर भी कालिमा नहीं मिटती, परंतु जिस स्वच्छ वस्त्रमें कोयलेकी कालिमा लगी होती है, वह तो साबुन आदिसे धो लिया जा सकता है। प्राचीन वस्तु सब बुरी, नवीन अच्छी; पुराना समाज निकम्मा, नया अच्छा होगा; यह कोई नियम नहीं। कई बार नयी वस्तु पुरानीसे भी बुरी होती है। रामराज्यके विपरीत नयी व्यवस्था वैसे ही भीषण होगी जैसे स्वस्थताके विपरीत प्लेग और कालरा। यदि रामराज्यकी कल्पना अन्धविश्वास है, तो सम्पूर्ण संसारमें सर्वहाराके नामपर कम्युनिष्टोंका अधिनायकत्व भी उनका दिमागी फितूर ही है। विश्वभरमें वर्गराज्य या शासनहीन समाजकी कल्पना तथा इच्छानुसार काम करना, इच्छानुसार वस्तु लेना इत्यादि कल्पना तो अन्धविश्वाससे भी अधिक अन्धतम विश्वास है। जैसे रूसोकी सामान्येच्छा, फिक्टेकी आदर्श विश्व सरकार, हीगेलका आदर्श राज्य केवल दिमागी चीज ठहरती है, वैसे ही मार्क्सकी वर्गहीन स्वच्छन्द राज्यकी कल्पना भी दिमागी फितूर ही है। रामराज्यकी दृष्टिमें तो कर्मानुसार फलके सिद्धान्तमें राजमार्ग निर्विवाद है। जब व्यष्टि, समष्टि जगत्, दीनदार, ईमानदार विद्वान् सत्प्रयत्नशील होगा, तब कभी भी सुख-समृद्धिका रामराज्य हो ही सकेगा।

पूँजीवाद और कृषि

कृषिके सम्बन्धमें मार्क्सवादियोंका कहना है कि उद्योग-धंधोंमें पूँजीवादी ढंगपर संगठित हो जानेसे पहले भी खेती और खेतीसे सम्बन्ध रखनेवाले कारोबार पशुपालन, फलोंको उत्पन्न करना आदि जारी थे और आजतक वे सब काम कहीं उसी रूपमें और कहीं परिवर्तित रूपमें चले जा रहे हैं।

"पूँजीवादका पहला प्रभाव खेतीपर यह पड़ा कि उद्योग-धंधोंके कारखाने-के रूपमें जारी होनेके कारण उनका खेतीसे कोई सम्बन्ध न रह गया। पूँजीवादी व्यवस्थाका आरम्भ होनेसे पहले प्रायः उद्योग धंधों और खेतीका काम एक साथ ही होता था। किसान या तो खेतीके काममें बचे हुए समयसे कपड़ा, जूता

और उपयोगके दूसरे सामान तैयार कर लेता था या किसानके परिवारका कोई एक आदमी परिवारभरके लिये इन पदार्थोंको तैयार कर लेता था। परंतु कारखानोंमें यह पदार्थ अधिक सस्ते और अच्छे तैयार हो सकनेके कारण किसानोंका इन पदार्थोंका स्वयं तैयार करना लाभदायक न रहा। उद्योग-धंधे सिमटकर शहरोंमें चले गये और गाँवोंमें केवल खेतीका ही काम रह गया।

"समाजमें पूँजीवादी व्यवस्था आरम्भ हो जानेका प्रभाव खेतीपर भी काफी पड़ा। पूँजीवादने कला-कौशलकी उन्नति कर और मजदूरोंकी माँग पैदा कर खेतीको पुरानी जागीरदारी व्यवस्थामें काफी परिवर्तन किया। पहले तो इसका प्रभाव यह हुआ कि जागीरोंसे किसान लोग दौड़कर औद्योगिक नगरोंकी ओर आने लगे और जागीरें टूटने लगीं। परंतु जब पूँजीपतियोंके पास पूँजीकी बड़ी मात्रा इकट्ठी हो गयी, तो इसका प्रभाव यह हुआ कि पूँजीपतियोंने जागीरें बनाना शुरू किया। खासकर बड़े-बड़े फार्मोंके रूपमें जागीरें, जिनमें खेती किसानोंकी बड़ी संख्याद्वारा न होकर मशीनोंद्वारा होने लगी।

"उद्योग-धंधोंकी पैदावारमें पूँजीवादी व्यवस्थाके आरम्भ हो जानेसे उद्योग-धंधोंके केन्द्र और खेतीकी जगह गाँवोंकी अवस्थामें बहुत बड़ा अन्तर आ गया। विज्ञानके विकाससे औद्योगिक क्षेत्रमें आये दिन परिवर्तन होता रहता है। मनुष्योंका स्थान मशीनें ले लेती हैं, रफ्तार और चालोंमें उन्नति हो जाती है, परंतु खेतीकी अवस्थापर इन सब बातोंका प्रभाव बहुत कम पड़ता है। समाजकी आवश्यकताको उद्योग-धंधे और खेती मिलाकर पूरा करते हैं। उनमेंसे एकके बहुत आगे बढ़ जाने और दूसरेके बहुत पीछे रह जानेसे विषमता आ जाना स्वाभाविक हो जाता है। पूँजीवादद्वारा धनके केवल एक छोटी ही श्रेणीके हाथोंमें एकत्र हो जानेका प्रभाव खेती करनेवालोंपर भी बहुत गहरा पड़ता है। कृषिके क्षेत्रमें होनेवाला शोषण न केवल अधिक पुराना है, बल्कि मजदूरकी अपेक्षा किसानके अधिक असहाय होनेके कारण वह अधिक गहरा भी है।

"खेतीद्वारा आवश्यक पदार्थोंकी पैदावार करनेके लिये सबसे पहले जरूरत पड़ती है भूमिकी। पूँजीवादी देशोंमें भूमि कुछ बड़े-बड़े जमीदारोंकी सम्पत्ति होती है। ये जमींदार स्वयं भूमिसे कुछ पैदावार नहीं करते। किसानोंको खेती करनेके लिये भूमि देकर ये उनसे लगान वसूल लेते हैं। खेतीके लिये कुछ परिश्रम न करके ये खेतीके उपजका भाग इसलिये ले सकते हैं; क्योंकि ये लोग भूमिके मालिक समझे जाते हैं। भूमि जागीरदारोंके अधिकारमें प्रायः तीन तरह जाती है। मध्यकालमें जब सामन्तशाही और सरदारशाहीका जोर था, भूमिको राजा लोग दूसरे राजाओंसे जीत करके अपने सरदारोंमें उसे बाँट देते थे। जिस सरदार-की जितनी शक्ति होती थी या जितनी सहायताकी आशा राजा किसी सरदारसे

कर सकता था उतनी ही भूमि उस सरदारको दी जाती थी। भारतवर्षमें जागीर, जमींदारी और ताल्लुकदारी कुछ तो मुगलों, मराठों और सिखोंके समयसे चली आ रही है। ये वही जमींदार और जागीरदार हैं, जिन्होंने अंग्रेजी राज्य आनेपर मौजूदा सरकारकी राजभक्ति स्वीकार कर ली। कुछ जागीरदारियाँ अंग्रेजी सरकारने भूमिका कर किसानोंसे सुविधापूर्वक वसूल करनेके लिये कायम कर दीं। सरकारने कुछ लोगोंको भूमिके बड़े-बड़े भाग मालगुजारीकी एक निश्चित रकम-पर सौंप दिये और उन्हें किसानोंसे लगान वसूल करनेका अधिकार दे दिया। सरकारकी शक्तिके बलपर ये लोग किसानोंसे लगान वसूल करते हैं और मालगुजारीके बीचका अन्तर इन लोगोंकी आमदनी बन जाती है।''

वस्तुतः भूमि या कृषिवाणिज्य आदि ही कौटल्यकी दृष्टिसे मुख्य अर्थ है। मनुष्याणां वृत्तिरर्थः। मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः। (कौटिली० अर्थ० १५।१।१-२)

मनुष्योंकी जीविका कृषिवाणिज्य आदि अर्थ है। मनुष्योंसे युक्त भूमिका भी नाम अर्थ है। इसीमें विविध उद्योग-धंधा भी आ जाता है। यह सही है कि उद्योग-धंधों, कल-कारखानोंका अधिक विकास होनेसे खेतीका काम पिछड़ गया, परंतु यह सभी समझते हैं कि पेट भरनेके लिये अन्न परमावश्यक है, जो खेतीके बिना नहीं मिल सकता। जूट और कपासके लिये भी खेती आवश्यक है, कितने कल-कारखाने खेती बिना नहीं चल सकते। चावल निकालने, तेल बनाने, कपड़ा, बोरे तथा चीनी बनानेवाले बड़े-बड़े कारखाने भी खेती बिना चौपट हो सकते हैं। अब गन्ना, तेलहन, जूट, कपास आदिके लिये भी खेत आवश्यक है। सिंचाई-के लिये बहुत प्राचीन कालसे तालाब, कुँआँ बनवाने, नहर बनवानेकी प्रथा चालू है। अन्यान्य यन्त्रोंके विकासके साथ खेत जोतनेके लिये तथा कुँओंसे पानी निकालने और नये ढंगके नलकूपोंकी व्यवस्था सर्वत्र चल रही है। अमेरिका, जापान, इंगलैंड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशोंमें खेतीको उपजाऊ बनाने-के लिये नयी-नयी खाद और नये-नये दूसरे आविष्कार भी हो रहे हैं। वैज्ञानिक ढंगसे खेतोंको गरमी या ठंढ पहुँचाने, अच्छे ढंगका पौदा तथा विभिन्न फलों-को बढ़ानेमें मीठा या स्वादिष्ट बनानेका भारतीय प्राचीन शास्त्रोंमें भी बहुत चर्चा है। यह अवश्य है कि अभीतक यह व्यवस्था ग्राम-ग्राममें व्यापक नहीं हो सकी है, परंतु कल-कारखाने भी तो गाँव-गाँव नहीं पहुँच पाये हैं। मकान बनाने, खेती करने, बोझ ढोने आदिका लाखों काम मजदूर भी अभीतक पुराने ढंगसे ही करते हैं। किसी भी देशमें अभीतक सर्वत्र समानता नहीं है। यह दूसरी बात है कि नमूनेके तौरपर कुछ फर्म, कुछ ग्राम सब देशोंने बना रखे हैं। बाहरसे आनेवालोंको वही दिखाया जाता है, जैसे श्रीबुल्गानिन आदि सभी नेताओंको भारतमें नमूनेके ग्राम, नमूनेके फर्म तथा उद्योग-धंधे दिखलाये

गये, नमूनेकी खुशहाली दिखायी गयी। ठीक वैसे ही रूस आदिमें भी नमूनेके ग्राम, नमूनेकी सुव्यवस्थाएँ ही अधिक दिखायी जाती हैं। पूँजीवादी ढंगसे कल, कारखानोंकी कम्युनिष्ट भरपेट निन्दा करते हैं, परंतु उनका बहिष्कार नहीं करना चाहते। वे ही चीजें गैर कम्युनिष्टोंके हाथोंमें रहती हैं तो दूषण समझी जाती हैं, कम्युनिष्टोंके हाथ पहुँचते ही वे निर्दोष हो जाती हैं।

रामराज्यवादी तो महायन्त्रोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध ही उचित समझता है अन्यथा उसकी सीमा तो होनी ही चाहिये। आखिर पूँजीवादी कल-कारखानोंमें कम्युनिष्ट जो-जो दोष दिखाते हैं, वह सब कम्युनिष्टोंके हाथ आनेसे कैसे दूर हो जायँगे? कल-कारखानोंका बढ़ना, मशीनोंके रफ्तारका बढ़ना, मजदूरोंकी माँग-वृद्धि, ग्रामीणोंका शहरोंकी ओर दौड़ना आदि तो कम्युनिष्टोंके कल-कारखानोंसे भी होगा ही। इसी तरह बड़े-बड़े फर्मोंका विस्तार कम्युनिष्ट राज्योंमें भी हो ही रहा है। वस्तुतः यह तो मार्क्सवादी भी मानता है कि कल-कारखानोंका विकास पूँजीवादकी सर्वोत्तम देन है और कम्युनिष्ट उसे और भी बढ़ाना चाहता है। क्या जिससे इतना बड़ा लाभ हुआ, इतनी बड़ी प्रगति हुई उसे समाप्त कर देना मानवता है? क्या इस विषयमें—

जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहि हठि ताहि नसावा॥

—की उक्ति नहीं चरितार्थ होती? किसीके द्वारा सम्पादित अभ्युदयको हड़प लेना और उसे समाप्त कर देना एक खूँखार डाकूका ही काम है। रहा यह कि धन थोड़ेसे लोगोंके हाथमें आ जाता है, तो इसका समाधान रामराज्य-प्रणालीमें सर्वोत्तम है। आयका पञ्चधा विभाजन करने, उद्योगधंधोंका विकेन्द्रीकरण करने तथा बहुत बड़े-बड़े उद्योगधंधोंके स्थानमें छोटे-छोटे उद्योगोंके प्रचलित करनेसे आर्थिक असंतुलन दूर हो सकता है, यह पीछे कहा जा चुका है। वस्तुतः अधिनायकत्ववादी, कम्युनिष्टोंकी किसानोंके प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। जिनके हाथमें उत्पादनके साधन हों, उन्हें यह पूँजीवादी ही कहते हैं। बहुसंख्यक किसानोंको भी अनुदीयमान कहकर उदीयमान अल्पसंख्यक मजदूरोंका ही ये अधिनायकत्व चाहते हैं। अर्थात् मजदूरोंके नामपर अपना आधिपत्य चाहते हैं। परंतु किसानोंकी तथा मध्य श्रेणीकी बृहत् संख्या और जनमत-विरोध देखकर ये मार्क्सीय मतको छोड़कर किसान और मध्यश्रेणीके नामपर भी आँसू गिराने लगे हैं, किंतु सर्वहाराका अधिनायकत्व सिद्धान्त छोड़नेको अब भी प्रस्तुत नहीं हैं। फिर भी किसान तथा मध्यश्रेणीके लोग अपनी सभ्यता, संस्कृति तथा धार्मिक भावनाओं एवं व्यक्तिगत स्वाधीनताके विरुद्ध समझकर कम्युनिज्मसे घृणा ही करते हैं। वे भूमिपति या राजाको षष्ठांश या दशांश देना अनुचित

नहीं समझते। भारतके ऋषि, महर्षि कन्द-मूल-फलादिका भी कुछ अंश राजाको देना उचित समझते थे।

व्यक्तिगत वैध भूमि

किसीकी भूमिपर यज्ञ या पितृश्राद्ध करनेपर भी भूमिपतिको कुछ देना आवश्यक समझा जाता है, अन्यथा भूमिपति उनके फलमें हिस्सेदार होगा। जिन्हें जड़ भौतिक प्रपञ्चोंसे पृथक् धर्म, परलोक अदृष्टपर भी विश्वास है, वे तो धर्मबुद्धिसे ही कर देना उचित समझते हैं। उसे वे शोषण नहीं समझते। जमींदारी, जागीरदारीके सम्बन्धमें कम्युनिष्ट आदिकी धारणाएँ सर्वथा मिथ्या हैं। राजतन्त्रके अनुसार राजाका ज्येष्ठ पुत्र राजा होता था, शेष पुत्रोंको गुजारेके रूपमें जागीरें मिलती थीं। इस क्रममें बहुत-सी जमींदारियाँ बनीं, संग्राम जीतनेसे पुरस्कारके रूपमें कुछ मन्दिरों, आचार्यों, विद्वानोंको दानके रूपमें जागीरें मिलीं। बहुतोंने गाढ़े पसीनेकी कमाईसे खरीदकर जमींदारियाँ बनायी हैं। यह सब भूमि भारतीय शास्त्रोंके अनुसार वैध हैं। बहुत-से कर देनेवाले राजा भी जमींदार, ताल्लुकेदार हो गये हैं।

शुक्रनीतिका मत है कि 'वैध' स्वामित्व, दातृत्व और धनिकत्व तपस्याका ही फल है। पर-पीड़न एवं शोषणसे होनेवाली धनिकता आदि तो नवीन पाप है, वह तपका फल नहीं। अर्थिता, दासता, दरिद्रता आदि पापका फल है। गुरुजनोंके प्रति दासता और त्यागमूलक दरिद्रता पापका फल नहीं, क्योंकि यह एक नयी तपस्या है—

> स्वामित्वं चैव दातृत्वं धनिकत्वं तपःफलम्।
> एनसः फलमर्थित्वं दास्यत्वं च दरिद्रता॥

(शुक्रनीतिसार १। १२१)

शुक्रने लिखा है कि प्रतिवर्ष जिसे एक लक्ष मुद्रासे लेकर तीन लक्षतक बिना प्रजापीडनके वैध ढंगसे आमदनी होती है, वह सामन्त कहलाता है—

> लक्षकर्षमितो भागो राज्यतो यस्य जायते।
> वत्सरे वत्सरे नित्यं प्रजानां त्वविपीडनैः॥
> सामन्तः स नृपः प्रोक्तो यावल्लक्षत्रयावधि॥

(शुक्रनीतिसार १। १८२-१८३)

उससे ऊपर दस लक्ष मुद्रातक जिसकी आय हो वह माण्डलिक राजा है, बीस लाखतक आयवाला राजा और पचास लाख आयवाला महाराजा होता है। करोड़ लाभवाला स्वराट् और दस करोड़वाला सम्राट् कहलाता है। यह सम्राट् राजसूययाजी राजराजसे भिन्न है। पचास करोड़वाला विराट् एवं सप्तद्वीपा मेदिनी जिसके नियन्त्रणमें हो वह सार्वभौम कहलाता है—

तदूर्ध्वं दशलक्षान्तो नृपो माण्डलिकः स्मृतः।
तदूर्ध्वं तु भवेद् राजा यावद्विंशतिलक्षकम्॥
पञ्चशल्लक्षपर्यन्तो महाराजः प्रकीर्तितः।
ततस्तु कोटिपर्यन्तः स्वराट् सम्राट् ततः परम्॥
दशकोटिमितो यावद् विराट् तु तदनन्तरम्।
पञ्चाशत्कोटिपर्यन्तः सार्वभौमस्ततः परम्॥
सप्तद्वीपा च पृथिवी यस्य वश्या भवेत् सदा।
(शुक्रनीतिसार १। १८३–१८६)

इनका उपर्युक्त सभी लाभ प्रजाके रक्षण-पोषणके ही काम आता है। जैसे ग्रीष्ममें अंशुमाली सूर्य भूमिसे जलका शोषण करता है,अपने यहाँ जमा रखनेके लिये नहीं बल्कि वर्षामें मेघद्वारा वर्षणके लिये ही, ठीक वैसे ही प्रजापोषणार्थ ही राजाद्वारा कर-संग्रह है। शुक्रने तो सार्वभौम राजाको भी प्रजाका दास कहा है—

स्वभागभृत्या दास्यत्वे प्रजानां च नृपः कृतः।
ब्रह्मणः स्वामिरूपस्तु पालनार्थं हि सर्वदा॥
(शुक्र नी० १। १८७)

अर्थात् प्रजाके लाभसे षष्ठांश या अष्टमांश यथायोग्य राजाको दिलाकर ब्रह्माने उसे प्रजाके दासत्वमें नियुक्त किया है। सर्वदा प्रजाका सेवन-पालन करना ही राजाका परम कर्तव्य है। अरक्षिता राजा अतपस्वी ब्राह्मण अप्रदाता धनवान्को देवता नष्ट करके नीचे गिरा देते हैं।

अपनी आयुको नियन्त्रित करके राजा अपना व्यवहार शास्त्रानुसार ऐसा बनाये जिससे इहलोक-परलोकमें सुख मिले। यौवन, जीवन, लक्ष्मी, छाया तथा राज्य—ये छः वस्तुएँ अत्यन्त चञ्चल होती हैं। अतः इनसे प्रमत्त न होकर सदा धर्मनिष्ठ होना आवश्यक है। आन्वीक्षिकी वेदान्त-विचारसे आत्मसाक्षात्कार करके हर्ष-शोकसे मुक्त होकर त्रयीवेदादि शास्त्रोंके अनुसार आचरण करता हुआ राजा इहलोक-परलोकके सुखका भागी होता है। अनृशंसता प्राणीका परम धर्म है। अतः राजाको चाहिये कि अनृशंसता, मृदुता तथा सरलतासे दीन जनोंका पालन करे। राजाको चाहिये कि वह सदा ही आन्वीक्षिकी वेदादि शास्त्र तथा वार्ता एवं दण्डनीतिका अभ्यास करता रहे। कुसीद, कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य ये वार्ता शब्दसे व्यवहृत होते हैं। सबके प्रति दया, मैत्री और दान एवं मधुर वाणी तीनों लोकमें सर्वोत्कृष्ट आकर्षक गुण हैं। बलवान्, बुद्धिमान्, शूर, सावधान एवं पराक्रमी राजा वित्तपूर्ण महीमण्डलका भोक्ता होता है, और वही भूप वास्तवमें भूपति होता है।

कौटल्यने धर्मको ही सुखका मूल माना है और धर्मका मूल अर्थको माना

१. सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः। अर्थस्य मूलं राज्यम्। राज्यमूलम् इन्द्रियजयः।

है। एतावता अर्थका मुख्य फल कामोपभोग नहीं, किंतु धर्म ही अर्थका फल है—

नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः।

(श्रीमद्भा० १। २। ९)

अर्थका मूल राज्य है, परंतु उसका भी मूल इन्द्रिय-जय ही है। उसका भी मूल विनय, विनयके लिये वृद्ध-सेवा और उसके लिये भी ज्ञान-सम्पादन आवश्यक समझा जाता है। प्रत्येक कार्यके लिये उन्होंने समकक्ष विचारकका ही सम्मान आवश्यक समझा है। निर्मत्सर होकर ही विचार करना आवश्यक बताया है।

हर कार्यमें लौकिक प्रयत्नके अतिरिक्त दैवका भी हाथ रहता है, अतः दैवकी अनुकूलता बिना सब प्रयत्न व्यर्थ होते हैं। दैव बिना सुसाध्य कार्य भी दुःसाध्य होते हैं। देवताराधनसे दैवप्रतिकूलता दूर की जाती है। सत्पुरुषोंका मत अतिक्रमणीय नहीं होता। सुवृत्तता शत्रुको भी जीत लेती है, किसीका अपमान नहीं करना चाहिये। फलद्वारा प्रजानुराग सूचित होता है*। सारा ऐश्वर्य प्रज्ञाका ही फल है, धैर्यहीन प्राणी महान् ऐश्वर्यको प्राप्त करके भी नष्ट हो जाता है। दया धर्मकी जन्मभूमि है, अधर्मबुद्धि आत्मनाशकी सूचना है। भले ही वस्तु सब अनित्य ही हो तथापि अपनेको अमर ही मानकर अर्थार्जन करना चाहिये†। पर-द्रव्यमें राग और उसका अपहरण आत्मनाशका मूल है। व्यवहारमें पक्षपात न करना चाहिये। परायत्त वस्तुमें उत्कण्ठा न करनी चाहिये। विश्वासघातीका कोई प्रायश्चित्त नहीं। सभी अनित्य है।

भूमि-कर

निष्कर्ष यह है कि धर्मनियन्त्रित राज्यतन्त्र एक शुद्ध शास्त्रीय सुव्यवस्था है। उसी व्यवस्थामें रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र, दिलीप, शिबि, रन्तिदेव आदि लोकप्रिय

तन्मूलं विनयः। तन्मूलं वृद्धोपसेवा। तन्मूलं विज्ञानम्। तस्माद् विज्ञानेनात्मानं सम्पादयेत्। धर्मेण धार्यते लोकः। मानी प्रतिमानिनामात्मनि द्वितीयं मन्त्रमुत्पादयेत्। मन्त्रकाले मत्सरं न कुर्वीत। (चाणक्यसूत्र १। ३१)

* दैवं विनातिप्रयत्नमपि करोति यत्तद्विफलम्। दैवहीनं कार्यं सुसाध्यमपि दुस्साध्यं भवति। दैवकर्मणा तत्समाधानम्। सतां मतं नातिक्रमेत। शत्रुं जयति सुवृत्तता। कदापि पुरुषं नावमन्येत। अनुरागस्तु फलेन सूच्यते।

† प्रज्ञाफलमैश्वर्यम्। महदैश्वर्यं प्राप्य अधृतिमान् विनश्यति। दया धर्मस्य जन्मभूमिः। आत्मनाशं सूचयति अधर्मबुद्धिः। अमरवदर्थजातमर्जयेत्। परविभवेष्वादरोऽपि नाशमूलम्। परद्रव्यापहरणमात्मद्रव्यनाशहेतुः। अधनस्य बुद्धिर्न विद्यते। यथाकुलं तथाचारः। व्यवहारे पक्षपातो न कार्यः। परायत्तेषु उत्कण्ठा न कुर्यात्। विश्वासघातिनो न निष्कृतिः। सर्वमनित्यं भवति।

आदर्श राजर्षि हुए हैं। वे भी योग्य मन्त्रियों, निःस्पृह सभ्योंकी सभामें कार्याकार्यका विचार करके प्रजाहितार्थ स्वसर्वस्वकी बाजी लगानेके लिये हर समय प्रस्तुत रहते थे। पर लोलुपलोग उनकी शासन-सभाओंके सभ्य भी नहीं हो सकते थे। व्यवहार-वेत्ता, प्राज्ञ, वृत्तशील, गुणान्वित, शत्रु-मित्रमें समान बुद्धि रखनेवाले, निरालस्य, धर्मज्ञ एवं सत्यवादी, काम, क्रोध, लोभको जीतनेवाले, प्रियंवद, वृद्ध सभ्य ही उन शासन-सभाओंके सभ्य होते थे और वे विभिन्न जातिके होते थे—

व्यवहारविदः प्राज्ञा वृत्तशीलगुणान्विताः।
रिपौ मित्रे समा ये च धर्मज्ञाः सत्यवादिनः॥
निरालसा जितक्रोधकामलोभाः प्रियंवदाः।
राज्ञा नियोजितव्यास्ते सभ्याः सर्वासु जातिषु॥

(शुक्रनी० ४। ५३९-४०)

उन्हें वर्गों तथा जातियोंका मिटाना अभीष्ट न था; किंतु योग्य एवं एक दूसरेका पूरक—पोषक बनानेका ही प्रयत्न होता था। वेदमन्त्रके आधारपर राष्ट्रमें ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मण, शूर, धनुर्धर, महारथी एवं लक्ष्यवेधी क्षत्रिय, दोग्ध्री गौ तथा भारवहन-समर्थ बलवान् वृषभ, शीघ्रगामी अश्वोंकी कामना की जाती थी। प्रतिगृहमें कुलपालिनी पतिव्रता स्त्री, विजयी प्रियदर्शी सभ्य युवक, यथेष्ट वृष्टि, फलयुक्त ओषधियों तथा योगक्षेमकी कामना की जाती थी—

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्यो अतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्। (शु० यजु० २२।२२)

राज्य-कर न केवल भूमिपर किंतु किसी प्रकारके आयपर भी लगानेका नियम अति प्राचीन है। क्रय-विक्रयके करको शुल्क नामसे कहा जाता है—

विक्रेतृक्रेतृतो राजभागः शुल्कमुदाहृतम्।
शुल्कदेशा हट्टमार्गाः करसीमाः प्रकीर्तिताः॥
वस्तुजातस्यैकवारं शुल्कं ग्राह्यं प्रयत्नतः।
क्वचिन्नैवासकृच्छुल्कं राष्ट्रे ग्राह्यं नृपैश्छलात्॥
द्वात्रिंशांशं हरेद्राजा विक्रेतुः क्रेतुरेव वा।
विंशांशं वा षोडशांशं शुल्कं मूलाविरोधकम्॥
न हीनसममूल्याद्धि शुल्कं विक्रेतृतो हरेत्।
लाभं दृष्ट्वा हरेच्छुल्कं क्रेतृतश्च सदा नृपः॥

(शुक्रनीति, अध्याय ४। २१८—२२१)

बेचने-खरीदनेवालोंद्वारा देय राजभाग ही चुंगी या शुल्क है। बाजारों या देशोंकी सीमापर चुंगीघर होना चाहिये। एक वस्तुकी एक ही बार

चुंगी या कर लेना उचित है। छल-छद्मसे अनेक बार चुंगी लेना अनुचित है। विक्रेता या क्रेतासे वस्तुका ३२ वाँ भाग शुल्करूपमें ग्रहण करे। अथवा लाभांशसे बीसवाँ या सोलहवाँ भाग ले। घाटावालेसे कुछ भी कर नहीं लेना चाहिये। खेतीके करोंके सम्बन्धमें भी शुक्रने लिखा है कि राजभाग एवं व्यय आदिकी अपेक्षा कम-से-कम दुगुना लाभ खेतीसे होना चाहिये। अन्यथा खेती दुःख ही है—

राजभागादिव्ययतो द्विगुणं लभ्यते यतः।

कृषिकृत्यं तु तच्छ्रेष्ठं तन्न्यूनं दुःखदं नृणाम्॥ (शुक्र० ४। २२४)

मालाकार अथवा मधुमक्षिका जैसे पुष्पस्तबक आदिको नुकसान पहुँचाये बिना सार-संग्रह करके पुष्पमाला और मधु निर्मित कर लेती है, वैसे ही प्रजाको नुकसान पहुँचाये बिना राजाको कर ग्रहण करना चाहिये। अङ्गारकार जैसे वृक्षोंको काटकर कोयला बनाता है, उस प्रकार प्रजाको नष्ट करके शुल्क-संग्रह नहीं करना चाहिये—

मालाकार इव ग्राह्यो भागो नाङ्गारकारवत्।

बहुमध्याल्पफलतः तारतम्यं विमृश्य च॥ (शुक्रनी० ४। २२३)

तड़ाग, वापी, कूपसे तथा मेघजलसे, नदीजलसे जहाँ खेतकी सिंचाई हो, वहाँ-वहाँ लाभका तृतीय-चतुर्थ तथा आधा भाग क्रमसे लेना चाहिये। ऊषर या पत्थरवाली भूमिसे षष्ठांश ग्रहण करना चाहिये। राजाको जिस किसानसे १०० मुद्रा मिलती हो, उसमेंसे किसानके लिये राजा बीसवाँ भाग छोड़ दे—

तडागवापिकाकूपमातृकादेवमातृकात्। देशान्नदीमातृकात्तु राजानुक्रमतः सदा॥
तृतीयांशं चतुर्थांशमर्धांशं तु हरेत्फलम्। षष्ठांशमूषरात्तद्वत् पाषाणादिसमाकुलात्॥
राजभागस्तु रजतशतकर्षमितो यतः। कर्षकाल्लभ्यते तस्मै विंशांशमुत्सृजेन्नृपः॥
(शुक्र० ४। २२५—२२७)

गौतमने लाभका दसवाँ, आठवाँ या छठा भाग राज्यांश माना है। खेतोंकी भिन्नतासे यह भेद मान्य है। पशु एवं हिरण्यकी वृद्धिमें पचासवाँ भाग राजाको मिलना चाहिये—

राज्ञे बलिदानं कर्षकैर्दशममष्टमं षष्ठं वा। पशुहिरण्ययोरप्येके पञ्चाशद्भागम्॥
(गौ० सू० १०। १४-१५)

'ये पशुभिर्जीवन्ति ये वा हिरण्यप्रयोक्तारो वार्धुषिकाः तैः पञ्चाशत्तमो भागो राज्ञे देयः इत्येके। तद्यथा—यस्य पञ्चाशत्पशवः सन्ति स प्रतिसंवत्सरमेकं पशुं राज्ञे दद्यात्। यस्य वा पञ्चाशन्निष्कैर्वृद्धिप्रयोगः स प्रतिवत्सरमेकैकं निष्कं राज्ञे बलिरूपेण दद्यादिति।' (गौ० ध० सू० मस्करी भाष्य)

विक्रय-लाभमें बीसवाँ भाग राजाका है—

'विंशतिभागः शुल्कः पण्ये' (गौ० १०। १६)

'यद् वणिग्भिर्विक्रियते तत्पण्यम्, तत्र विंशतिसमो भागो राज्ञे देयस्तस्यैव दीयमानस्य शुल्क इति संज्ञा। शुल्कप्रदेशाः प्रतिभाव्यं वणिक्शुल्कमित्यादयः'(मस्क० भा०)

मूल, फल, फूल, औषध, मधु, मांस, तृण, ईंधनोंके लानेका छठा भाग राजाको देना चाहिये—

'मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणेन्धनानां षष्ठः' (गौ० १०। १७)

'मूलं हरिद्रादि, फलम् आम्रादि, पुष्पम् उत्पलादि, औषधं बिल्वादि, शिष्टानि प्रसिद्धानि एतेषु पण्येषु षष्ठो भागो राज्ञे देयः विक्रेत्रा।' (मस्क० भा०)

करग्रहणमें तत्परता आवश्यक है—'तेषु तु नित्ययुक्तः स्यात्।'

(गौ० सू० १०। १८)

'बल्यादानेषु सर्वदा सत्यपि कार्यन्यग्रत्वे तत्परो भवेत्। तु शब्दो विशेषवाची। धर्मादनपेतेष्वन्येष्वपि द्रव्यार्जनोपायेषु तत्परो भवेत्। अत्र विशेषत इति।'

(मस्क० भा०)

शिल्पीलोग महीनेमें एक दिन काम कर दें, वही उनका कर है—'शिल्पिनो मासि मासि एकैकं कर्म कुर्युः।' (१०। २०)

'शिल्पिनो लोहकारादयो मासि मासि एकैकम् अहः आत्मानुरूपं राज्ञः कर्म कुर्युः। तदेव तेषां शुल्कम्। नान्यत् किंचित्। (मस्क० भा०)

नट-नर्तकादि भी महीनेमें एक दिन राज्यकर्म करें; अन्यथा महीनेमें एक रजत मुद्रा दें—'एतेनात्मोपजीविनो व्याख्याताः' (गौ० सू० १०। २१)

'आत्मोपजीविनो नटनर्तकादयः। तेऽप्येकमह राज्ञः कर्म कुर्युरिति उशना। शिल्पिनो मासि मासि कर्मैकं प्रोक्तम्। तदभावे कार्षापणं वा दद्यात्।' (म० भा०)

सोना-चाँदीमें उपर्युक्त क्रम ही समझना चाहिये। ताम्रमें तृतीयांश छोड़े। लोह, बंग एवं सीसेकी उत्पत्तिमें चतुर्थांश एवं छठा भाग छोड़ना चाहिये—

स्वर्णादथ च रजतात्तृतीयांशं च ताम्रतः।
चतुर्थांशं तु षष्ठांशं लोहाद् बंगाच्च सीसकात्॥

(शु० नी० ४। २२८)

नाविक, कुम्भकार, बढ़ई, नाई, व्याध आदि महीनेमें एक दिन काम करें, अथवा उन्हें भी एक रजत मुद्रा देना चाहिये—'नौचक्रीवन्तश्च' (गौ० १०। २२)

'चक्रं शकटम्, नौचक्राभ्यां य उपजीवन्ति बहुवचनाद् वर्धकिनापितादयो ग्राह्याः। चकाराद् वन्यमृगघातकादयः।' (मस्क० भा०)

परंतु काम करनेवालोंको भत्ता राज्यसे मिलना चाहिये—'भक्तं तेभ्यो दद्यात्' (गौ० १०। २३)

तेभ्यः शिल्पिप्रभृतिभ्यो राजा भक्तं दिवा भोजनं दद्यात्। (म० भा०)

राजाको अरिषड्वर्गको जीतकर इन्द्रियजय करके परस्त्री, परद्रव्य एवं हिंसाका वर्जन करना चाहिये तथा अर्थके अविरोधेन काम-सेवन करना चाहिये। जहाँ संस्था या धर्मशास्त्रसे शास्त्र तथा व्यवहारका विरोध हो वहाँ धर्मशास्त्रके अनुसार अर्थशास्त्रका निर्णय करना चाहिये—

तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत । एवं वश्येन्द्रियः परस्त्रीद्रव्यहिंसाश्च वर्जयेत् । धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ।

संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम् ।
यस्मिन्नर्थे विरुध्येत धर्मेणार्थं विनिर्णयेत् ॥

(कौट० अर्थ० १ । ७ । १, ३, ६; ३ । १५६)

इसी प्रकार रत्न, लवणकी उत्पत्तिपर खानका खर्च काटकर आधा छोड़ना चाहिये । कर्षकको अधिक लाभ हो तो उसके अनुसार यथायोग्य तृतीय, पञ्चम, सप्तम या दशम भाग ग्रहण करना चाहिये । बकरी, भेंड़, भैंस, घोड़ाकी वृद्धिमें अष्टमांश ग्रहण करना चाहिये । भैंस, बकरीके दूधका सोलहवाँ भाग ग्रहण करना चाहिये । गाय आदिका दूध, अन्न, फल जो कुटुम्बके खाने-पीने लायक ही हो, उससे कर नहीं लेना चाहिये । उपभोगके लिये खरीदे गये अन्न-वस्त्रोंपर भी कर नहीं होना चाहिये—'गवादिदुग्धान्नफलात् कुटुम्बार्थाद्धरेन्नृपः । उपभोगो धान्यवस्त्रक्रेतृतो नाहरेत्फलम् ॥' जहाँ राजतन्त्र शासन नहीं है वहाँ भी संसद्, कार्यपालिका, राष्ट्रपति या प्रधान मन्त्रियोंको भी धर्मनियन्त्रित होकर ही शास्त्रों तथा परम्पराके अनुसार कार्य करना चाहिये । प्रजा-पोषणके अनुकूल कार्य करना चाहिये । शास्त्रोंकी दृष्टिमें भौतिक भावनाओंद्वारा युगप्रवर्तन नहीं होता, किंतु धर्मात्मा, पराक्रमी, बुद्धिमान् राजासे ही युगप्रवर्तन होता है । राजा ही कालका कारण होता है, सत् तथा असत् गुणोंका भी प्रवर्तक राजा होता है । कठोरता एवं दण्डके द्वारा राजा ही प्रजाको धर्ममें प्रतिष्ठित करता है । अधर्मके कारण वेन आदि राजा नष्ट हो गये । धर्मसे पृथुकी वृद्धि हुई, अतः धर्मको पुरस्कृत करके ही राजाको काम करना चाहिये—

कालस्य कारणं राजा सदसत्कर्मणस्त्वतः ।
स्वक्रौर्योद्यतदण्डाभ्यां स्वधर्मे स्थापयेत्प्रजाः ॥
वेनो नष्टस्त्वधर्मेण पृथुर्वृद्धस्तु धर्मतः ।
तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य यतेतार्थाय पार्थिवः ॥

(शुक्र० १ । ६०, ६९)

राजाका कर्तव्य है कि दण्ड, विष्टि करके बोझसे संकटग्रस्त कृषिकी रक्षा करे । डाकू, सर्प तथा दूसरी विषैली वस्तुओं तथा व्याधियोंसे पशुओंको बचाये । अपने प्रिय कर्मचारियों, सीमारक्षकों, डाकू तथा बनैले पशुओंसे क्षीयमाण व्यापारियोंकी रक्षा करे । कौ० अर्थ० (२ । १ । ४५) मात्स्यन्यायसे पीड़ित प्रजाने सर्वप्रथम वैवस्वत मनुको राजा बनाया तथा धान्यका छठा एवं पुण्यका बीसवाँ भाग उस राजाको देना निश्चित किया था ।

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'भूमिपर वसूल किये जानेवाले करद्वारा ही भूमिके मालिककी आमदनी होती है और इसी करद्वारा खेतीके लिये मेहनत करनेवाले किसानका शोषण होता है । इसलिये करके अनेक रूपों और भेदोंको समझ लेना जरूरी है ।

"खेतीकी सम्पूर्ण भूमिपर कर होता है। यह कर या लगान कहीं अधिक होता है कहीं कम। यदि भूमिके सबसे कम करको 'आवश्यक कर' (ऐब्सोल्यूट रेन्ट) मान लिया जाय तो अधिक उपजाऊ या 'शहरके समीपकी भूमिपर जो अधिक कर वसूल किया जाता है, उसे 'विशेष कर' (डिफरेंसल रेन्ट) कहा जायगा। भूमिके प्रत्येक टुकड़ेपर कुछ-न-कुछ कर होनेका कारण यह है कि पैदावारके औद्योगिक साधनोंको जिस प्रकार शहरसे दूर आवश्यकतानुसार बढ़ाया जा सकता है, नजदीक इस प्रकार नहीं बढ़ाया जा सकता। उन उपजाऊ या शहरसे दूरकी भूमिको छोड़कर उपजाऊ और शहरकी भूमि आवश्यकतानुसार तैयार नहीं की जा सकती। इसलिये भूमिके किसी भी टुकड़ेको जीतनेकी आवश्यकता होनेपर उसपर कर देना ही पड़ेगा। जो भूमि अधिक उपजाऊ होगी या शहरके अधिक समीप होगी, जहाँ सिंचाई आसानीसे हो सके, ऐसी भूमिपर विशेष लगान या कर वसूल किया जाता है। इस प्रकारकी अच्छी जमीनपर जो विशेष कर या लगान वसूल किया जाता है, वह भूमिके मालिकके जेबमें ही चला जाता है। परंतु भूमिको अच्छी बनाने या भूमिके शहर या जलके समीप होनेमें भूमिके मालिकको कुछ परिश्रम नहीं करना पड़ता।

"सभी पूँजीवादी देशोंमें भूमिके दो मालिक होते हैं। प्रथम तो सरकार, जो खेतीके काम आनेवाले भूमिके प्रत्येक टुकड़ेपर कर या मालगुजारी लगाती है। दूसरा मालिक होता है भूमिका मालिक समझा जानेवाला व्यक्ति, जो भूमिका कर सरकारको अदा कर उसे किसानसे जुतवाता है और अपना लगान किसानसे वसूल करता है। सरकारी कर और जमींदारी लगान अदा किये जाते हैं खेतीकी उपजसे; परंतु खेतीकी उपजमें न तो जमींदार न सरकार ही कुछ परिश्रम करती है। परिश्रम सब करता है किसान और किसानके परिश्रमसे की गयी पैदावारसे जमींदार और सरकारका भाग निकाला जाता है। यदि किसानके परिश्रमको बाँटकर देखा जाय तो उसके दो भाग हो जाते हैं। एक भाग वह जिसे वह स्वयं खर्च करता है ताकि उसके शरीरमें परिश्रमकी शक्ति कायम रह सके और दूसरा भाग वह, जिसे भूमिका मालिक किसानसे ले लेता है और आगे सरकारको कर देता है। किसान अपनी सम्पूर्ण उपज अपने लिये पैदा करता है। यदि किसान जितना अपने और अपने परिवारके लिये खर्च करता है उतना ही पैदा करे तो उसे बहुत कम स्थानपर खेती करनी होगी और बहुत कम परिश्रम करना होगा। वर्तमान व्यवस्थामें किसानको जितना वह खर्च करता है, उससे बहुत अधिक पैदा करना पड़ता है। मजदूरकी अवस्थाके साथ तुलना करनेपर हम कहेंगे कि किसानको काफी मात्रामें अतिरिक्त या फालतू पैदावार करनी पड़ती है, जो जमींदार और सरकारके व्यवहारमें आती है।"

पूर्वोक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि शासनसार राजा, करद राजा, गुजारेदार, इमानदार या दानदार आदि भूमिके अधिकारी कई ढंगके होते हैं। करद राजा तथा सामन्त आदि प्रजासे कर लेते हैं और स्वयं भी राजाको कर देते हैं। यही लगान मालगुजारी आदि रूपसे प्रसिद्ध होता है । जैसे मनुष्य अपनी कमाईका हकदार होता है, वैसे ही पिता-पितामह आदिकी कमाईका भी हकदार होता है । पिता-पितामह आदिकी सम्पत्ति पुत्रादिको दायके रूपमें प्राप्त होती है—'दीयते पित्रा पुत्रेभ्यः स्वस्य यद्धनं तद्दायम्'—पिताद्वारा अपने पुत्रको जो धन दिया जाता है वह दाय कहलाता है। उसमें ज्येष्ठ-कनिष्ठ आदि भेदसे पुत्रोंको भिन्न-भिन्नरूपसे दाय मिलता है। विद्या एवं कर्ममें संलग्नको अन्य पुत्रोंसे अधिक मिलना चाहिये—'विद्याकर्मरतस्तेषामधिकं लब्धुमर्हति' (बृह० स्मृ० गा० २६ । १९) । यह भी एक पक्ष है कि ज्येष्ठ ही पिताके धनका मालिक हो, शेष भ्राता पितृतुल्य मानकर उसीका अनुसरण करें—

ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात् पित्र्यं धनमशेषतः ।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा ॥

(मनु० ९ । १०५)

कम्युनिष्टोंके सम्पूर्ण तर्कोंका एकमात्र आधार है—बाप-दादाकी सम्पत्तिमें पुत्रादिकोंका बपौती अधिकार न मानना। परंतु यह तर्कों, शास्त्रों तथा व्यवहार एवं परम्पराओंसे सर्वथा विरुद्ध है। व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति, खानों-कारखानोंको न माननेसे सब कामोंका अधिकारी काम करनेवाला ही हो सकता है । परंतु दूसरोंके खेतमें खेती करने, दूसरोंकी पूँजीसे वस्तु बनाने, दूसरोंके वृक्षोंसे फल तोड़ने वा संग्रह करनेपर भी फललाभका भागी केवल काम करनेवाला नहीं हो सकता। उसे परिश्रमका फल कुछ वेतन अवश्य मिल सकता है। हाँ, यदि वह खेतको खरीदकर या पूँजी उधार लेकर वस्तु बनाता है, वृक्षोंको खरीदकर या ठेकापर ले लेता है, तब अवश्य वह लाभका भागी हो सकता है।

पिछले प्रकरणोंमें भूमि-सम्पत्ति आदिपर व्यक्तिगत वैध अधिकार दिखलाया जा चुका है। मजदूरोंके श्रममें जैसे दो भेद निरर्थक एवं निराधार हैं, वैसे ही किसानोंकी भी दो प्रकार श्रमकल्पना निरर्थक एवं निराधार है । खेती करके अन्न आदि पैदा करनेका परिश्रम अभिन्न ही है । वह उसमेंसे ही कुछ अंशसे कर चुकाता है, कुछ अंशसे अपनी जीविका चलाता है। हाँ, कर अधिक होनेकी शिकायत हो सकती है । उसके औचित्यका निर्णय निष्पक्ष सरकार या न्यायालय अथवा पञ्चायतद्वारा किया जाना उचित हो सकता है । पैदावार किसानसे छीनी नहीं जाती, किंतु भूमि-मालिक और किसानके समझौतेसे स्वयं किसान ही करके रूपमें देता है। किसानने कर देना

स्वीकार करके ही खेती करना आरम्भ किया है। जैसे कोई कम्युनिष्ट राज्य ही किसी राज्यसे कोई भूमि या कारखाना अमुक वस्तु देनेके शर्तपर लिया हो तो वह अपनी शर्तके अनुसार देगा ही; उस देनेको लेनेवालेद्वारा छिनना नहीं कहा जायगा। इसी तरह यह भी समझ लेना चाहिये कि खेतीमें उत्पन्न होनेवाली वस्तु भी केवल श्रमका फल नहीं है, किंतु श्रमविशिष्ट भूमिका ही फल है। अतः कुछ फल श्रमवालेको मिलना चाहिये और कुछ भूमिपतिको भी अवश्य मिलना चाहिये। यदि किसानोंको व्यक्तिगत खेती करनेकी छूट होगी, तब तो कम्युनिष्ट राज्योंको भी राज्य-व्यवस्थाके लिये भूमिसे कुछ-न-कुछ कर लेना ही पड़ेगा। यदि वहाँ व्यक्तिगत खेती न होकर सरकारी ही खेती होगी, तब भी राज्यव्यवस्थाके लिये कुछ-न-कुछ अंश निकालना ही पड़ेगा। परिश्रमवालोंको ही सब फल दे देना सम्भव नहीं, क्योंकि फलमें परिश्रमकी अपेक्षा भूमि और बीजका प्रमुख हाथ है। परिश्रम और भूमिकी अपेक्षा भी भूमिका अधिक महत्त्व है। एक-एक बीजके बदले सैकड़ों-सैकड़ों बीज भूमिके अंशसे बनते हैं। कहीं-कहीं जल और खाद आदिका भी दाम देना पड़ता है, क्योंकि उनका भी उत्पादनमें हाथ होता है। इन वस्तुस्थितियोंको समझकर ही किसान सहर्ष कर देता है और वह छीना-झपटीके कम्युनिष्ट आन्दोलनसे पिण्ड छुड़ानेके लिये भी प्रयत्न करता है।

अपने देश या विदेशके लिये कच्चा माल दाम लेकर ही किसान देता है। दामके औचित्य-अनौचित्यका निष्पक्षसे विचार करनेके लिये तो सदा ही द्वार खुला रहना चाहिये। भूमिपर कर घटने-बढ़नेकी व्यवस्था लाभपर ही निर्भर करती है। यदि कल-कारखानोंके लिये किसी वस्तुकी अधिक माँग हुई तो उस वस्तुका दाम भी अधिक बढ़ेगा। तब जैसे श्रमका दाम बढ़ जायगा वैसे ही भूमिका भी दाम बढ़ जाना उचित ही है। हाँ, जहाँ श्रमकी अधिकतासे ही उत्पादन बढ़ा है, जैसे उसी पड़ोसकी, उसी ढंगकी भूमिसे परिश्रम कम होनेसे कम फल हुआ, परिश्रम अधिक होनेसे प्रकृत भूमिमें उत्पादन अधिक हुआ है, तो उस अधिक फलको परिश्रमका ही फल मानना चाहिये।

यदि सिंचाईका प्रबन्ध भूमिके मालिकने किया है तो अवश्य ही उसके अनुपातसे भूमिका कर बढ़ना उचित है। यदि किसानने ही कूप आदि बनाये हैं तो उसका फल किसानको ही प्रधानरूपसे मिलना चाहिये। सरकारी विभागमें या किसी अन्य ठेकेदारने अगर नहर आदिका प्रबन्ध किया है तो वह सिंचाई, कर आदि भी लेगा। फिर भी कर देनेवालेको ही उसका फल भोगना उचित है। धर्मनियन्त्रित शासनका यह कर्तव्य है कि भूमिपतिकी आयके पाँचवें अंशसे, जो कि अर्थके ही लिये है, तथा अन्य सहायताओंसे

खेतीके सुधारकी व्यवस्था करे। असाधु, कर्तव्यविमुख लोगोंकी अधिक सम्पत्तिका अपहरण कर तथा कर्ज लेकर भी खेती-सुधारकी व्यवस्था हो सकती है। बढ़नेवाली आमदनीके आधारपर कर्ज चुकाया जा सकता है।

कृषकका अतिरिक्त श्रम और भूमि-कर

मार्क्सवादी कहते हैं—"किसानसे छीन ली जानेवाली यह अतिरिक्त पैदावार किसानको इस योग्य नहीं रहने देती कि जितने दामकी फसल वह बाजारमें भेजता है, उतने दामका दूसरा सौदा बाजारसे लेकर खर्च कर सके। किसानके श्रमका यह फल या धन भूमिके मालिकोंकी जेबमें चला जाता है और वहाँसे पूँजीपतियोंके जेबमें। अथवा भूमिके मालिक स्वयं ही पूँजी इकट्ठी हो जानेपर उसे पूँजीवादियोंके व्यवसायोंमें सूदपर या पत्ती (साझेदारी हिस्सा) के रूपमें लगा देते हैं। अतिरिक्त श्रमके रूपमें किसानका यह शोषण जिसे भूमि-कर या लगान कहा जाता है, किसानद्वारा की जानेवाली पैदावारमें लगा हुआ एक पम्प है, जो किसानके पास सिवा उसके परिश्रमकी शक्तिको कायम रखनेके और कुछ नहीं छोड़ता। किसानके संगठित न होने और अपने अधिकारके लिये आवाज न उठा सकनेके कारण उसके पास अपने परिश्रमका उतना भाग भी नहीं रह पाता, जितनेसे वह परिश्रम करने लायक स्वस्थ अवस्थामें रह सके। यह प्रत्यक्ष बात है कि इस देशका किसान न केवल इस देशके लिये बल्कि अनेक देशोंके उद्योग-धंधोंके लिये कच्चा माल पैदा करनेके बावजूद स्वयं आधा पेट खाकर और शरीरसे प्रायः नंगा रहकर निर्वाह करता है। उसकी सम्पूर्ण पैदावार अतिरिक्त श्रम या पैदावारका रूप धारणकर इस देश तथा दूसरे देशके पूँजीपतियोंकी जेबमें चली जाती है। प्रत्यक्षमें किसानकी अतिरिक्त पैदावार उससे छीन लेनेको ही भूमि-करका नाम दिया जाता है।

"पूँजीवादके विकाससे भूमि-कर बहुत तेजीसे बढ़ता है; क्योंकि नये-नये उद्योगधंधे जारी होनेसे नयी-नयी किस्मकी वस्तुएँ पैदा करनी पड़ती हैं, इसके लिये नयी भूमि तोड़ी जाती है। जो नयी भूमि तोड़ी जायगी, उसपर भी कर लगेगा। पूँजीपति या भूमिका मालिक नयी भूमि उसी समय तोड़ेगा, जब वह पहलेसे उपयोगमें आनेवाली भूमिपर लगनेवाले लगानको अधिक समझेगा। नयी भूमि तोड़नेसे पहले खेतीके काममें आनेवाली भूमिके लगानका दर बढ़ेगा और जब बढ़ा हुआ दर देनेकी अपेक्षा कोई व्यक्ति नयी भूमि तोड़ना ही पसंद करेगा, तभी नयी भूमि तोड़ी जायगी। इस प्रकार भूमिके प्रत्येक नये भागको तोड़नेसे पहले, जोती जानेवाली पुरानी और अच्छी भूमिपर लगान बढ़ता चला जायगा और वह इस हदतक बढ़ेगा कि किसानके पास कठिनतासे निर्वाहमात्रके लिये उसके परिश्रमका एक बहुत छोटा-सा भाग रह जायगा।

"यदि भूमिके किसी भागकी पैदावारकी शक्ति सिंचाई आदिका प्रबन्ध करके बढ़ायी जाती है तो उसका लगान भी साथ ही बढ़ जाता है और पैदावारमें होनेवाली बढ़ती सब मालिकके पास पहुँच जाती है। किसानके परिश्रमका बहुत बड़ा भाग अतिरिक्त श्रम या भूमिके लगानकी सूरतमें उससे छीन लिया जानेके कारण ये किसानके पास अपनी भूमिकी अवस्था सुधारने या खेतीके नये वैज्ञानिक साधन व्यवहारमें लाने योग्य सामर्थ्य नहीं रहती और भूमिकी उपज घटने लगती है। परंतु लगान तथा करके पूँजीवादके साथ बढ़ते जानेके कारण भूमिकी कीमत बढ़ती जाती है। खेतीकी अवस्थामें यह अन्तर्विरोध संकट पैदा कर देता है। ऐसी अवस्थामें किसानोंके लिये भूमिके मालिकके संतोषके लायक लगान देना कठिन हो जाता है और किसान खेती करनेका काम छोड़ निर्वाहका कोई साधन और न देख मजदूर बननेके लिये चल देता है। उसकी 'जोत' की भूमि बिकने लगती है, परंतु भूमिका दाम तो लगानके बढ़नेके साथ बढ़ चुका है, इसलिये मामूली साधनोंके मालिकके लिये उसे खरीदना सम्भव नहीं होता। वह बिकती है बड़े-बड़े पूँजीपतियोंके हाथ। इस प्रकार पैदावारके दूसरे साधनोंकी ही तरह भूमि भी पूँजीपतियोंके हाथ चली जाती है।"

खेतीकी पैदावार बड़े परिमाणमें खेती करनेसे अवश्य अधिक बढ़ सकती है और तदर्थ सहकारिताके आधारपर सम्मिलित खेती होनी अनुचित नहीं। यह पीछे कहा जा चुका है कि लगान या करकी दर मनमानी ढंगसे नहीं होनी चाहिये। यदि किसान और जमींदारके आपसी समझौतेसे उचित दरका निश्चय न हो तो निष्पक्ष पञ्चायत या अदालतोंद्वारा दरका निश्चय होना उचित है। किसी भी अनुचित कार्यको रोकनेके लिये सरकारी हस्तक्षेप भी अनिवार्यरूपसे मान्य है। कच्चे मालका भी उचित दाम किसानको मिलना चाहिये। संक्षेपमें राष्ट्रद्वारा निर्धारित नागरिक जीवनस्तरके अनुकूल प्रत्येक नागरिककी आयकी व्यवस्था होनी चाहिये। जीविकाके सभी साधनोंमें खेती, वाणिज्य, मजदूरी आदिके उक्त दृष्टिकोणको ध्यानमें रखना आवश्यक है। साथ ही इसे भी भूलना न चाहिये कि व्यक्तिगत हानिका भय तथा लाभका लोभ जितना प्राणीको प्रमाद एवं आलस्यसे बचाकर कार्यपरायण बनाता है, उतना दूसरे हेतु नहीं। जहाँ सरकारी तौरपर वैतनिक कर्मचारियोंद्वारा काम होते हैं, वहाँकी लापरवाही तथा भ्रष्टाचार अवर्णनीय होता है। भारतके प्रथम पञ्चवर्षीय योजनानुसारी बाँधों आदिमें भीषण भ्रष्टाचारके उदाहरण विद्यमान हैं। फिर जहाँ वेतनकी व्यवस्था नहीं है, केवल निर्वाह-सामग्री ही मिलनेकी बात होती है, वहाँ तो और भी अधिक लापरवाही होती है।

सामूहिक कामोंके प्रति ईमानदारोंकी भी सामान्य ही प्रवृत्ति होती है। शक्तिचोरोंका तो कहना ही क्या है ? प्रसिद्ध है—'न गणस्याग्रतो गच्छेत् सिद्धे कार्ये समं फलम्। यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते ॥' (हितो० १। २९) कल्याण चाहनेवालेको गणका अग्रगामी नहीं बनना चाहिये, क्योंकि कार्य सिद्ध होगा तो समान ही फल मिलेगा और यदि कार्यमें बाधा पड़ी तो मुखियाको ही संकटमें पड़ना होगा। इन्हीं कारणोंसे अक्टूबर (१९५५) के किसी अङ्कमें 'प्रवदा' ने कुछ रूसी मन्त्रियोंकी लापरवाहीकी शिकायत की थी। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता भी कोई वस्तु है। अपने इच्छानुसार अन्न, गन्ना, विविध फल आदि पैदा करना, फिर उसका अपने इच्छानुसार उपयोग करना सरकारी खेतीमें सम्भव नहीं। अतः कोई भी किसान उसे पसंद नहीं कर सकता। अधिक क्या, पक्षी भी स्वतन्त्रता-पूर्वक खट्टे फल खाना, खारा पानी पीकर जीवन व्यतीत करना ही ठीक मानता है। वह सुवर्ण-पिंजरमें रहकर मधुर फल खाकर भी पराधीनता पसंद नहीं करता, इसी तरह जमींदारों, किसानोंकी भूमिका अपहरण भी व्यक्तिगत वैध-स्वत्वके विपरीत ही है। व्यक्तिगत उत्पादनमें भी प्रतियोगिता आदिद्वारा विकासमें सुविधा होती है। रामराज्यवादी तो बड़े-बड़े उद्योग-धंधोंको भी विकेन्द्रित करनेके ही पक्षमें हैं। खेतीका विकेन्द्रीकरण उद्योग स्वावलम्बनका प्रतीक है।

बड़े परिमाणमें खेती

मार्क्सके अनुसार पूँजीवादद्वारा उद्योग-धंधोंके विकास और पैदावारकी अन्य वृद्धिका एक रहस्य है। पैदावारको एक स्थानपर बड़े परिमाणमें करनेपर ही उसमें आधुनिक ढंगकी बड़ी मशीनोंका व्यवहार हो सकता है, खर्च घट सकता है और मनुष्यकी पैदावारकी शक्ति बढ़ सकती है। मनुष्य जितनी ही विकसित और बड़ी मशीनपर काम करेगा, उसी परिमाणमें उसकी पैदावारकी शक्ति बढ़ सकेगी। उद्योग-धंधोंके क्षेत्रमें बड़े परिमाणमें पैदावार समाजकी पैदावार-शक्तिको बढ़ाती है, इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं। परंतु खेतीके विषयमें पूँजीपतियोंकी राय इससे भिन्न है। पूँजीवादी-प्रणालीमें विश्वास रखनेवालोंका कहना है कि बड़े परिमाणमें खेती पैदावारको बढ़ानेकी अपेक्षा घटायेगी। उसके लिये दलीलके तौरपर कहा जाता है कि खेतीको बड़े परिमाणमें करनेसे किसानकी भूमिके प्रति वह सहानुभूति और प्रेम नहीं रहेगा, जो छोटे परिमाणमें खेती करनेपर होता है।' परंतु मार्क्सवादियोंका विश्वास है कि 'और दूसरे उद्योगोंकी तरह खेती भी बड़े परिमाणमें ही होनी चाहिये। इसके बिना न तो खेतीकी पैदावार ही उचित मात्रामें बढ़ सकती है, न समाजमें ही खेतीकी और उद्योग-धंधोंकी पैदावारका बटवारा समान रूपसे हो सकता है और न किसानोंकी ही आर्थिक अवस्था सुधर सकती है।

"यदि उद्योग-धंधोंसे काम करनेवाली श्रेणी मशीनसे पैदावार करेगी तो

उसकी पैदावारकी शक्ति बढ़ जायगी। उसे अपनी मेहनतका अधिक फल मिलेगा, परंतु किसानोंके मशीनसे मेहनत न करनेपर उनकी पैदावारकी शक्ति न बढ़ेगी और उन्हें उनकी मेहनतका फल कम मिलेगा। इस प्रकार खेती और उद्योग-धंधोंकी पैदावारका विनिमय समानरूपमें न हो सकेगा।

"पूँजीवादी लोग खेतीको बड़े परिमाणमें बड़ी मशीनोंसे करनेके पक्षमें इसीलिये नहीं हैं कि भूमिके छोटे-छोटे टुकड़ोंपर मशीनोंका व्यवहार नहीं हो सकता। उसके लिये मीलों लंबे खेत चाहिये। ऐसे खेत बनानेमें अनेक जमींदारोंकी मिल्कियत मिट जायगी। उद्योग-धंधोंमें जिस प्रकार पूँजीपति निजी पूँजीको बढ़ा सकता है, जमींदार अपनी भूमिको नहीं बढ़ा सकता। बड़े परिमाणपर खेती करनेके लिये या तो जमींदारोंका अधिकार भूमिपर अस्वीकार करना होगा या सैकड़ों जमींदारोंकी भूमिको एकमें मिलाकर उसे समाजके नियन्त्रणमें रखना होगा। मार्क्सवादियोंका कहना है कि खेतीको बड़े परिमाणपर करनेके सम्बन्धमें जितने भी एतराज किये जाते हैं, रूसके अनुभवसे वे सब निराधार प्रमाणित हो गये हैं।

"खेतीको संयुक्त रूपसे बड़े परिमाणपर करनेसे ही उसमें ट्रैक्टर आदि बड़ी-बड़ी मशीनों और सिंचाईका प्रबन्ध हो सकेगा। खेतीके सुधारके लिये बड़े परिमाणपर कर्जा मिल सकेगा और खेतीकी पैदावारको बेचनेवालोंमें परस्पर मुकाबिला न होनेपर उसे ठीक समय और पूरे मूल्यमें बेचा जा सकेगा। खेतीकी पैदावारके विनिमयका काम संयुक्तरूपसे और बड़े परिमाणमें होनेपर उसे व्यवहारमें लानेवाली जनतातक पहुँचानेका काम व्यापारियों और साहूकारोंके हाथ न रह सकेगा। किसान अपने प्रतिनिधि संगठनद्वारा उसे स्वयं कर लेगा, इस तरह किसानके श्रमका वह बड़ा भाग, जो इन व्यापारियोंकी जेबमें जाता है, किसानके उपयोगमें आयेगा। खेतीके बड़े परिमाणपर और संयुक्तरूपसे करनेपर किसानकी मानसिक उन्नतिका भी अवसर रहेगा। मशीनका व्यवहार करनेसे वह आज दिनकी तरह दिन-रात भूमिसे सिर मारनेके लिये विवश न होगा, बल्कि उसे शिक्षा और संस्कृति प्राप्त करनेके लिये समय मिल सकेगा और किसानोंके परस्पर सहयोगसे काम करनेपर उनमें श्रेणी-भावना और श्रेणी-चेतना भी उत्पन्न हो सकेगी, जिसका उनमें न होना उनके शोषणको पशुताकी सीमातक पहुँचा देता है। मशीनोंका व्यवहार खेतीमें होनेसे ही किसान, जो वास्तवमें मिल-मजदूरकी तरह खेत-मजदूर है, औद्योगिक धंधोंमें काम करनेवाले मजदूरके समान उन्नति कर सकेगा।"

मार्क्सवादियोंका अन्तर्विरोधका रोग सर्वत्र दिखायी देता है। इसीसे उन्हें खेतीमें भी अन्तर्विरोध दिखायी देता है। धर्मनियन्त्रित रामराज्यवादी शासन आर्थिक संतुलनकी दृष्टिसे करोंमें संशोधन कर सकेगा। अतः न किसानको भूमि

छोड़नेकी आवश्यकता पड़ेगी और न भूमि पूँजीपतियोंके ही हाथ जायगी। विकेन्द्रीकरण सरकारी लक्ष्य होनेपर पूँजी और भूमि सभीके केन्द्रीकरणपर प्रतिबन्ध रहेगा। सरकारीकरणके यन्त्रमें सबका खात्मा हो जानेके खतरेकी अपेक्षा सापेक्ष एवं सीमित नियन्त्रण सबको ही सुखकर होगा। रूसका अनुभव प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। रूसी प्रचारद्वारा भले ही रूस स्वर्ग बन गया हो, परंतु वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत है।

मशीनोंके अधिक व्यवहार करनेसे चेतन प्राणी भी स्वयं एक जड मशीन बन जाता है। पराधीनता भी बढ़ती जाती है—'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्' (मनु) —पराधीनता ही सब दुःख है, स्वाधीनता ही सब सुख है। मशीनोंद्वारा सब कामसे छुट्टी पाकर मनुष्य शिक्षा आदि प्राप्त करनेमें समय लगायेगा। पर वह भोग-विलासमें समय न गँवायेगा—यह कौन कह सकता है? फिर शिक्षा-संस्कृतिके लिये भी तो कोई मशीन निकाली ही जाती है और तब बेकारी भी और अधिक बढ़ सकती है। श्रेणी-चेतना यदि संघर्षके लिये ही अपेक्षित होगी तो कोई भी बुद्धिमान् संघर्षको हानिकारक ही समझेगा। समझौता, सामञ्जस्य, समन्वय ही समाजके लिये अपेक्षित है। धर्मनियन्त्रित रामराज्य तो मुख्य रूपसे महायन्त्रोंपर प्रतिबन्ध लगानेके पक्षमें ही है। जबतक इसमें विलम्ब है तबतक अन्य औद्योगिक विकास एवं खेतीके विकासका संतुलन रखा जायगा।

सरकारीकरण होनेके पहले किसान अपनी जमीनमें खेती करनेमें स्वतन्त्र है। मजदूर तो वह तब बनेगा जब सब खेतोंका सरकारीकरण हो जायगा। इसीलिये भारतका वर्तमान किसान-मण्डल भूमि-सम्बन्धी सरकारी नीतिसे चिन्तित है। वह सरकारीकरण नीतिका विरोध करनेके लिये प्रस्तुत है। कम्युनिष्टोंके तर्क वस्तुस्थितिके विरुद्ध हैं। किसानोंका प्रतिनिधि-संघटन भी कम्युनिज्ममें वास्तविक नहीं हो पाता; क्योंकि वहाँ स्वतन्त्र मत व्यक्त करना, स्वतन्त्र लेख प्रकाश करने आदिकी किसी प्रकारकी सुविधा नहीं है। कम्युनिष्ट सरकार जैसा चाहती है, वैसे ही प्रतिनिधि-संघटनका नाटक किसानोंको भी करना पड़ेगा। फिर भी अधिनायकत्व मजदूरोंका ही होगा, किसानोंका नहीं।

मार्क्सवादी पूँजीवादके दोषोंका वर्णन करते हुए मशीनोंपर लाञ्छन लगाते हैं कि 'मशीनोंके कारण ही अनेक प्रकारकी बेकारी फैली, स्वाधीन उद्योग-धंधे नष्ट हो गये। कारीगरोंको मजदूर बना डाला गया', किंतु स्वयं कम्युनिष्ट उन मशीनोंका मोह नहीं छोड़ सकते। समान वितरणके नामपर मशीनोंके दोष छिपानेका प्रयत्न करते हैं; रही-सही स्वाधीनताको समाप्त करके व्यक्तियोंको तानाशाही शासनका नगण्य कल-पुर्जा बना देना चाहते हैं।

आर्थिक संकट

मार्क्सवादके दृष्टिकोणसे "पूँजीवादी समाजमें पैदावारका काम समाजके सभी लोग मिलकर करते हैं, परंतु प्रत्येक पूँजीवादी अपने ही लाभको सामने रखता है। इसलिये सम्मिलित तौरपर समाजकी आवश्यकताओंका न तो सही अनुमान ही हो सकता है और न 'उसके उपयुक्त पैदावार ही। पूँजीवादी समाजमें उत्पादक अपने व्यवहारके लिये नहीं, बल्कि उसे बेचकर मुनाफा कमानेके लिये पैदावार करते हैं। पैदावार करनेवालोंको समाजकी आवश्यकताओं और खपतकी शक्तिका अंदाजा ठीक नहीं हो सकता, इसलिये समाजमें पैदावारके बड़े-बड़े साधनोंसे जो पैदावार की जाती है, उसकी खपत नहीं हो पाती। इसका अर्थ यह नहीं कि समाजको उस पैदावारकी जरूरत नहीं। हाँ, समाजके पास उसे खरीदनेकी शक्ति नहीं रहती। यदि यह पूँजीपतिके मुनाफेको ही समाजका उद्देश्य न मानकर समाजकी पैदावार और खपतपर विचार करे, तो दो प्रश्न उठते हैं। प्रथम पैदावार कौन करता है? दूसरे समाजमें पैदावारको कौन खपा सकता है? पहले प्रश्नका उत्तर है—समाजमें पैदावार मेहनत करनेवाले करते हैं। दूसरे प्रश्नका उत्तर है—समाजमें तैयार सामानकी खपत समाजमें मेहनत करनेवाले करते हैं।

"इससे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि, समाजमें जो लोग पैदावारके लिये परिश्रम करते हैं, वे ही पैदावारको खर्च करनेवाले भी हैं। यदि पैदावारके लिये परिश्रम करनेवालोंको अपने परिश्रमका (केवल परिश्रमकी शक्तिको कायम रखनेका नहीं) फल मिल जाय तो पैदावार फालतू पड़ी नहीं रह सकती। परंतु ऐसा होता नहीं; इसलिये पैदावार पड़ी रह जाती है और पैदावारका क्रम टूट जाता है।

"मुनाफेके रूपमें पैदावारके लिये परिश्रम करनेवालोंका जो श्रम निकालकर एक तरफ रख दिया जाता है, वह पैदावार करनेकी शक्तिको बढ़ा देता है, परंतु समाजकी खर्च करनेकी शक्तिको घटा देता है। इसलिये एक तरफ तो पैदावारके अम्बार लग जाते हैं और दूसरी ओर जनताकी आवश्यकताएँ पूरी न हो सकनेके कारण, बिलखते रहनेपर भी पैदावारको खर्च नहीं कर सकती; क्योंकि उसके पास खरीदनेकी शक्ति नहीं। खर्च करनेकी शक्ति तो मुनाफेके रूपमें उससे छीन ली गयी है। पैदावारके खर्च न हो सकनेके कारण उसे कम करनेकी जरूरत अनुभव होती है। इसका अर्थ होता है—मजदूरीके रूपमें खरीदनेकी शक्ति जनताके पास और कम हो जाय। अर्थात् बेकारी बढ़े, मेहनत कर सकनेवालोंकी संख्या घटे और साथ ही खर्च कर सकनेवालोंकी संख्या भी घटे और पैदावारको और भी कम किया जाय। परिणामतः खर्च करनेकी शक्ति

और भी घट जाती है, इस प्रकार यह चक्कर समाजमें पैदावार और खर्चके दायरेको कम करता हुआ समाजकी एक बड़ी संख्याको भूखे और नंगे रहकर मरनेके लिये छोड़ देता है।

"कहा जाता है कि पूँजीवादमें उत्पादन-शक्तियोंमें निरन्तर प्रगति होती रहती है। नये-नये साधनोंका आविष्कार एवं प्रयोग होता रहता है, परंतु सामाजिक सम्बन्धोंमें परिवर्तन नहीं होता। अर्थात् पूँजीपति और श्रमिकका सम्बन्ध ज्यों-का-त्यों रह जाता है। पूँजीपति श्रमिकोंको कम-से-कम वेतन देना चाहते हैं। फलतः प्रति दसवें वर्ष आर्थिक संकट उपस्थित होता है। उत्पादन-शक्तियोंके बढ़नेसे लाखों मजदूरोंके बदले सैकड़ों मजदूरोंसे ही उत्पादन हजारों गुना ज्यादा बढ़ता जाता है। वस्तुओंकी बहुतायतके साथ मजदूरोंकी बेकारी बढ़ती जाती है और उनकी क्रयशक्ति घटती जाती है। अतः बाजारमें वस्तुओंकी खपत कम हो जाती है। यह क्रम उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। इस तरह पूँजीपतिके भी सामने प्रश्न खड़ा होता है कि वह अपना माल कहाँ बेंचे? इसका पहला मार्ग खोजा गया साम्राज्यवाद। निर्भीक होकर पूँजीपति दुनियाके कोने-कोनेमें पहुँचे। विश्वविजयका मार्ग अपनाया। औपनिवेशिक युद्ध किये। भारत, अमेरिका, कनाडामें बाजार बनाया। वहाँसे सस्ता कच्चा माल प्राप्त किया। किसी देशके निवासियोंको पराजित किया। किसी देशके निवासियोंको मिटा भी दिया। यूरोपके पूँजीपतियोंने दुनियाको अपना बाजार बना लिया।

कहा जाता है—'लार्ड डलहौजीके समय भारतमें जो सुधार हुए, मार्क्सकी दृष्टिसे वे सुधार हुए ही नहीं, किंतु उस समय औद्योगिक क्रान्तिके कारण इंग्लैंडमें रेल, तार आदिके सामान पर्याप्त बन गये थे। इस मालकी खपतके लिये पहले यूरोप और अमेरिकाके बाजार थे, किंतु कुछ समयके बाद और नये बाजारोंकी आवश्यकता हुई। तब भारतके द्वारा इस समस्याकी पूर्ति की गयी। भारतमें रेल-तारका सामान महँगे-से-महँगे दामोंपर बेंचा गया। फिर रेलोंद्वारा भारतवर्षका कच्चा माल इंग्लैंडमें भेजनेके लिये सुगमतासे एकत्रित किया जा सकता था। इंग्लैंडका माल भी भारतके कोने-कोनेमें पहुँच गया औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम (१७५०–१८५०) इंग्लैंडमें हुई। अतः उसने सर्वश्रेष्ठ साम्राज्य स्थापित कर लिया। बादमें फ्रांस और जर्मनीमें औद्योगिक उन्नति हुई। अतः वे साम्राज्य-निर्माणमें पिछड़ गये।'

पूर्वोक्त रामराज्य-प्रणालीके अनुसार कहा गया है कि मजदूरोंकी संख्या-वृद्धि, वेतनमें वृद्धि, कामके घंटोंमें कमी होनेसे न तो बेकारी बढ़ेगी और न तो क्रयशक्ति ही घटेगी। फलतः मालकी खपतमें भी कमी न होगी। अतः आर्थिक

संकट भी नहीं आयेगा। पूँजीपतियोंने लाभके लोभसे राज्य फैलाया, बाजार बनाया, अपनी चीजोंको संसारके कोने-कोनेमें पहुँचाया सही, परंतु उनपर रामराज्यका धर्मनियन्त्रण न होनेसे उनमें शोषणकी मात्रा बढ़ गयी। फिर भी उनके रेलों, तारों, यन्त्रोंके कारण भौतिक दृष्टिसे पिछड़े हुए देशोंकी भी प्रगति हुई। जडयन्त्रवादमें यदि शासक सावधान एवं नियन्त्रित होकर राज्य-संचालन करता है तो लाभ होता है, अन्यथा नुकसान तो होता ही है। इसी तरह धर्मनियन्त्रित ईमानदार शासन होता है, तभी यान्त्रिक आविष्कार प्रगतिका साधन होता है, अन्यथा विश्व-संहार ध्रुव है। सावधान न रहनेपर अपने ही द्वारा आविष्कृत विद्युत् या यन्त्रके द्वारा वैज्ञानिक अपनी ही हत्या कर बैठता है। इस तरह विज्ञानका, यन्त्रोंका फैलाव नवीन साधनों एवं वस्तुओंका विस्तार लाभदायक भी हुआ। परंतु उसपर धर्मनियन्त्रण न रहनेसे उससे जन-शोषण युद्ध आदि अनर्थ भी हुए। विज्ञानपर धर्मका नियन्त्रण ठीक होनेसे अनर्थ-अंश दूर हो जाता है। धर्मनियन्त्रित शासनतन्त्रमें महती स्वतन्त्रता एवं आत्मनिर्भरताके लिये तथा बेकारीकी समस्या हटानेके लिये ही महायन्त्रोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। इससे बाजारों, कोयलों, पेट्रोलों तथा कच्चे मालोंको प्राप्त करनेके लिये होनेवाले युद्धों, संहारोंपर भी रोक लग जाती है। अतः रामराज्यमें महायन्त्रोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध भी आवश्यक होगा ही। परमाणुबम, हाइड्रोजनबम एक महत्त्वपूर्ण खोज होनेपर भी जन-हितकी दृष्टिसे उसपर प्रतिबन्ध आवश्यक समझा जा रहा है। उसी तरह महायन्त्रोंका आविष्कार महत्त्वपूर्ण होनेपर मानवशान्ति, सदाचार एवं धर्मकी रक्षाके लिये महायन्त्रोंपर प्रतिबन्ध अत्यावश्यक है। यदि रामराज्यके इन सिद्धान्तोंको अपनाया गया होता तो गत दोनों महायुद्ध भी न होते और संसारकी प्रगति भी अधिकाधिक हुई होती।

लेनिनने पूँजीवादके तीन स्तर बताये हैं—(१) व्यापारिक, (२) व्यावसायिक और (३) महाजनी। उसके अनुसार आधुनिक युग महाजनी पूँजीवादका है। इसमें यूरोप और अमेरिकाके पूँजीपति पिछड़े हुए देशोंमें पूँजी लगाते हैं और उस पूँजीके सूदद्वारा धन एकत्रित करते हैं। पूँजीसे तात्पर्य बड़े-बड़े कारखानोंसे है। इनका संचालन उपनिवेशों या अन्य देशोंके पूँजीपतियोंद्वारा होता है। कारखानोंके मूलका सूद साम्राज्यवादी पूँजीपतिको मिलता है। लेनिनके अनुसार साम्राज्यवादी स्तर पूँजीवादकी मरणासन्न स्थिति है। इसमें अन्तर्विरोध चरमसीमामें पहुँचा होता है। पहला विरोध है पूँजी और श्रमके बीच। उद्योगप्रधान देशोंमें पूँजीवादियोंके ट्रस्टों, सिंडिकेटों, बैंकों, बैंकमालिकोंका देशकी पूँजी और व्यवसायोंपर पूरा प्रभुत्व रहता है। इस स्थितिमें

श्रमिकोंका वैधानिक सङ्घर्ष स्थिति सुधारनेके लिये पर्याप्त नहीं होता। इजारेदार बैंकशाह वैधानिक सङ्घर्षोंसे प्रभावित होकर श्रमिकोंकी दशा सुधारनेके लिये प्रस्तुत नहीं हो सकते। (यहाँ वैधानिक विरोधका तात्पर्य है—मजदूर-सभाओं, सहयोगसमितियों एवं संसदीय दलोंके आन्दोलनसे) अतः मजदूरोंको क्रान्तिका मार्ग अपनाना पड़ता है। क्रान्तिद्वारा पूँजीवादका अन्त करनेसे ही श्रमिकोंकी दशा सुधर सकती है।

"दूसरा विरोध बैंकशाहोंके विभिन्न गुटों तथा साम्राज्यवादी शक्तियोंके बीच होता है। यह विरोध विभिन्न देशोंके पूँजीवादके असमान विकासके कारण होता है। यूरोपमें सर्वप्रथम इंग्लैंडमें औद्योगिक क्रान्ति हुई। फ्रांसने इस क्षेत्रमें उसीका अनुसरण किया। १९ वीं सदीमें कच्चे मालके स्रोत एवं तैयार मालके खपतके लिये बाजारोंकी आवश्यकता पड़ी। तब उन्होंने दुनियामें साम्राज्य स्थापित किया। तबतक जर्मनी भी औद्योगिक क्षेत्रमें अग्रसर हुआ। उसे भी साम्राज्यकी अपेक्षा हुई, किंतु साम्राज्य-स्थापनाके क्षेत्रमें इंग्लैंडका एकाधिकार था। फलतः साम्राज्य-स्थापनामें पिछड़ा हुआ मध्य यूरोप पुराने साम्राज्यवादी फ्रांस एवं इंग्लैंडको युद्धद्वारा पराजित करके ही साम्राज्यमें हिस्सा बँटा सकता था। इसीलिये जर्मनी, इटली तथा जापानने युद्धके लिये तैयारियाँ कीं और साम्राज्यवादी लोगोंमें भी अस्थायीरूपसे दो शिविर हो गये। युद्धों, महायुद्धोंद्वारा किसीका विनाश होता है, किसीका आधिपत्य होता है। फिर भी साम्राज्यवादी सङ्घर्षका अन्त नहीं होता, किंतु आन्तरिक विरोध हावी रहता है। तीसरा विरोध सभ्य कहे जानेवाले साम्राज्यवादी राष्ट्रों और पराधीन राष्ट्रोंके बीच होता है। साम्राज्यवादी निर्बल राष्ट्रोंका शोषण करते रहते हैं। साम्राज्यवादी शोषणको संघटित करनेके लिये पराधीन देशोंमें रेल-तार आदिके कारखाने खोलते हैं। जनता इनसे मुक्त होनेकी इच्छासे इनके विरुद्ध मोर्चा स्थापित करती है। समयकी प्रगतिसे शोषण बढ़ता है। राष्ट्रिय सङ्घर्ष भीषण बन जाता है। साम्राज्यवादी देशोंके भी शोषित श्रमिकोंकी सहानुभूति पराधीन देशोंके शोषितोंके साथ होती है। बन्धु-भावसे प्रेरित होकर दोनों साम्राज्य-वादियोंके विरुद्ध बगावत करते हैं।"

यह हम कई बार कह चुके हैं कि घटनाएँ संसारमें भली भी होती हैं और बुरी भी। अच्छी घटनाओंका अनुसरण उचित है, बुरी घटनाओंका नहीं। व्यवहारके लिये विधानका ही उपयोग किया जाता है, इतिहासका नहीं। जगद्गुरु भारतकी दृष्टिसे सम्राट् एवं सार्वभौमका अभिप्राय देशके केन्द्रीय शासन एवं विश्व-सरकारसे होता था। छोटी-छोटी शक्तियाँ परस्पर टकराकर अपने और संसारके अकल्याणका कारण बनती हैं। इसलिये एक परम समर्थ

धर्मनियन्त्रित शासकका नियन्त्रण संसारपर होना आवश्यक होता है। जिसने राजसूययज्ञ किया हो, जो राजमण्डलका ईश्वर हो और जो अपनी आज्ञासे राजाओंका भी नियन्त्रण करता हो, वही सम्राट् है—

येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः।
शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्…॥

(अमरकोप, २।८।३)

'सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः'—अखण्ड भूमण्डलका धर्मनियन्त्रित शासक 'सार्वभौम' होता है।

व्यापारका कार्य वैश्यका था सम्राट्का नहीं। फिर भी योरप आदि देशोंमें पूँजीपति व्यापारियोंसे शासन प्रभावित रहता था, अतः पूँजीवाद और साम्राज्यवादका अभेद सम्बन्ध माना जाने लगा। आधुनिक सभ्यताके विस्तारमें (जिसका मार्क्सवादी बड़ा महत्त्व मानते हैं) इस साम्राज्य-वादका प्रमुख हाथ है। इसी कारण संसारके कोने-कोनेमें रेल, तार, रेडियो,-वायुयान, कल-कारखानोंका विस्तार हुआ। यह पूँजीवाद एवं साम्राज्यवाद यदि धर्मनियन्त्रित, ईमानदार होता तो उससे संसारका कल्याण ही होता, अकल्याण नहीं। धर्म-नियन्त्रण न होनेसे अथवा धर्मकी ओटमें स्वार्थ-साधकोंकी प्रधानता होनेसे लाभके साथ-साथ शोषण भी चलता रहता है। इसी प्रकार धर्महीन स्वार्थ साधक आन्दोलनकारियोंद्वारा संचालित आन्दोलन भी संघर्ष, वैमनस्य एवं सर्वनाशका ही कारण होता है। भारतके समान वैध अहिंसात्मक आन्दोलन-द्वारा मजदूरोंकी दशा सुधारी जा सकती है। परंतु मार्क्सवादियोंको तो दशा सुधारनेके बहाने विश्वमें सर्वहाराके अधिनायकत्वके नामपर कुछ ताना-शाहोंका राज्य बनाना अभीष्ट है। पूँजीवादके कारण संसार एक इकाई बन जाता है। यातायात यन्त्रोंद्वारा पूँजीपति संसारको अपने मालका बाजार बना लेता है। पिछड़े हुए देशोंमें भी प्राचीन अर्थतन्त्र नष्ट होकर नयी व्यवस्था चल पड़ती है। यह परिवर्तन व्यक्तिकी इच्छासे नहीं, किंतु परिस्थितिके अनुसार होता है। इस कारण ही पूँजीवादके विरुद्ध श्रमिक वर्गका अधिक संख्यामें एकत्रित होना सम्भव होता है। मार्क्सने पूँजीवादको आवश्यक ही नहीं किंतु सर्वहाराके अधिनायकत्वके समान ही अनिवार्य भी बताया है। आमतौरपर गुण-वर्णन ग्रहणके लिये होता है और दोष-वर्णन परित्यागके लिये। यही गुण-दोष-वर्णनका प्रयोजन है—

तातें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥

जो पूँजीवाद इतना महत्त्वपूर्ण आवश्यक एवं अनिवार्य वस्तु है, जिसके बिना साम्यवादका मूलमन्त्र पूर्ण यन्त्रीकरण ही सम्भव नहीं, उसके दोषोंको

जानकर दोष मिटाना न्यायसङ्गत है । परंतु मार्क्स पुनरुत्थानका विरोधी है; उसके मतानुसार दोष मिटाना मुख्य नहीं, किंतु दोषवान्को ही मिटाना ठीक है । अतएव वह शोषण मिटानेके पक्षमें नहीं है; किंतु शोषकवर्गका ही मिटाना आवश्यक समझता है । वह वर्गोंका विरोध अमिट मानता है, परंतु व्यावहारिक बात यह है कि संसारके कल-पुर्जोंमें दोष आते हैं,शरीर एवं मस्तिष्कमें दोष आते हैं; इसी प्रकार मनुष्यसमूहमें भी दोष आते हैं । दोषोंके मिटानेके विधान भी हैं । चिकित्साशास्त्र दोष ही मिटानेके लिये है । उत्थान-पतन संसारका स्वभाव है । जिसका उत्थान हुआ, उसका पतन भी हो सकता है । जिसका पतन हुआ, उसका पुनरुत्थान भी हो सकता है— 'नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ।' (मेघदूत) चक्रके अरेके समान कभी नीचे और कभी ऊपर जाना-आना लगा ही रहता है । सूर्य-चन्द्रकी उदयास्तपरम्परा भी विचारणीय है । शास्त्रीय दृष्टिसे उपजीव्य-विरोध एक मुख्य दोषोंमें है, जिसमें कार्यद्वारा कारणका विरोध उपजीव्य-विरोध समझा जाता है । जैसे पितासे उत्पन्न पुत्रका पितृ-घातक होना उपजीव्य-विरोध है । उपकारके प्रति कृतज्ञता मानवताका सर्वप्रथम लक्षण है ।

मार्क्सके अनुसार 'पूँजीवादी सभ्यता एवं संस्कृतिका आधार एकमात्र अर्थवाद ही होता है । इसके अनुसार पुरानी सभ्यता एवं सम्बन्धोंका अन्त हो जाता है । पिता-पुत्र, पत्नी-पति, शिक्षक-शिष्य आदिकोंके परम्परागत सम्बन्ध टूट जाते हैं, केवल अर्थमूलक ही सबके सम्बन्ध हो जाते हैं । इससे परम्पराके आड़में वर्गसंघर्षको छिपनेका अवकाश नहीं होता । वर्गसंघर्ष सीधा और स्पष्ट हो जाता है, जो कि सर्वहारा क्रान्तिमें अत्यन्त आवश्यक है ।'

वस्तुतः जिसे मार्क्सवादी गुण कहते हैं, विचारकोंकी दृष्टिमें वह दोष है । धार्मिक, सांस्कृतिक परम्पराओंके नष्ट हो जाने तथा सर्वत्र अर्थकी प्रधानता हो जानेसे मनुष्य शुद्ध पशु ही बन जायगा । पिता-पुत्रका, पति-पत्नीका सम्बन्ध धर्ममूलक न होकर अर्थमूलक होना क्या गुण है ? पैसेके लाभकी सम्भावना न होनेपर पत्नी पतिको छोड़ दे, पुत्र पिताको छोड़ दे, शिष्य गुरुको पैसेके लोभ-से मार दे—क्या यह सभ्यता भी मानव-सभ्यता कही जा सकती है ? क्षमा, दया, स्नेह, वात्सल्य, पातिव्रत्य आदि वे पवित्र गुण हैं, जिनके सामने अर्थका कुछ भी महत्त्व नहीं । पिताके आज्ञानुसार राज्य छोड़कर रामका वनमें जाना, रामसे परित्यक्ता होनेपर भी सीताका पतिव्रता बनकर रहना, भरतादि भ्राताओंकी भ्रातृवत्सलता आदिके सामने अर्थवादकी नगण्यता स्पष्ट बतलाती है कि असाधु-की ही अर्थ-सम्पत्ति इस दानव-युगको ला सकती है । साधु (सत्) पुरुषोंकी अर्थ-सम्पत्ति तो धर्म, सभ्यता एवं परम्पराकी रक्षाका ही कारण बनती है ।

मार्क्सके अनुसार 'श्रमिक-वर्ग पूँजीवादकी कब्र खोदते हैं । पूँजीपति उसे कम-से-कम वेतन देता है । वेतन-वृद्धिके लिये श्रमिक संघटन करता है, तोड़-फोड़का मार्ग अपनाता है । राष्ट्रका धन थोड़ेसे पूँजीपतियोंके पास इकट्ठा हो जाता है । अधिकाधिक लोगोंमें दरिद्रता फैल जाती है । श्रमिक धीरे-धीरे संघटित होते हैं । वे कारखाना-संघ, जिला-संघ, राज्य-संघ, विश्वसंघ आदि बनाते हैं और उन्हें यह समझाया जाता है कि पूँजीवादी व्यवस्थामें उनकी दशा कभी भी संतोषजनक न होगी । पूँजीवादका अर्थ है; साम्राज्य-वृद्धि, शोषण, युद्ध, महायुद्ध, गरीबी, हत्या आदि । आधुनिक राज्य पूँजीपति-का राज्य है । जब कभी हड़ताल होती है, मजदूर मारे जाते हैं, जेल भेजे जाते हैं । पूँजीपतियोंके पक्षमें ही न्यायालयोंके निर्णय होते हैं । इस आधारपर श्रमिक समझने लगता है कि पूँजीवादी राज्यका अन्त होना ही उसकी सुख-समृद्धि-का कारण है और वह महायुद्ध अथवा संकटके समय क्रान्ति करके राज्यको उलट देनेका प्रयत्न करता है । इसी आधारपर (१९१४—१९१८) के महायुद्धमें लेनिनने श्रमिकोंको उकसाकर रूसमें गृह-युद्ध शुरू करा दिया । मजदूर ही पलटनमें भरती होकर सैनिक बनकर युद्ध-कला सीखता है । उस युद्ध-शिक्षाका प्रयोग वह क्रान्तिमें करता है । मार्क्सके मतानुसार श्रमिक-वर्ग ही पूँजीवादका विरोध कर सकता है । वही समझता है कि हमारे पास न धन है न जमीन, केवल श्रमके बलपर ही हमें जीना है । अन्य किसान आदिका पूँजीवादसे कुछ-न-कुछ स्वार्थ रहता है । वे पूँजीवादका विनाश नहीं, किंतु सुधार चाहते हैं । अतः क्रान्तिका नेतृत्व मजदूरके ही हाथमें होना उचित है । पूँजीवाद-के नाशसे मजदूर केवल एक चीज ही खोता है और वह है गुलामी । हाँ, श्रमिक-वर्ग परिस्थितियोंके अनुसार अन्य वर्गकी भी सहानुभूति प्राप्त करता है ।'

संक्षेपमें कहा जा सकता है कि सद्भावना एवं मनुष्यताको दूर फेंककर शुद्धरूपसे ईर्ष्या, द्वेष एवं लोलुपताको उत्तेजित कर कुछ मुट्ठीभर कूटनीतिज्ञ सर्वहारा राज्यके नामपर तानाशाही राज्य-स्थापनाका प्रयत्न करते हैं । इसीलिये वे सुधार और समझौतेको क्रान्तिमें बाधक समझते हैं । मालिकोंके पैसेसे पेट भरना, मालिकोंके कारण ही एकत्रित होना, उन्हींके प्रसादसे युद्ध-कला सीखना और उन्हींका संहार करना, जब कि ईमानदार शत्रु भी दगा नहीं कर सकता, ऐसे ऐन मौकेपर विश्वासघात करना ही उन्हें सिखाया जाता है । इस मतको 'सिद्धान्त' या 'दर्शन' कहना सिद्धान्त या दर्शनके स्तरको बहुत नीचे गिराना है । दगाबाजी, विश्वास-घातके आधारपर किसी भी समाज या राष्ट्रका कभी भी कल्याण नहीं हो सकता । जिन रूस, चीन आदिमें दगाबाजी—विश्वासघातसे समृद्धि दिखायी देती है, वह भी स्थायी नहीं हो सकती । यों तो मनुका भी कहना है कि अधर्मसे पहले प्राणी

समृद्धि, विजय एवं कल्याण होता हुआ-सा मालूम पड़ता है, परंतु अन्तमें उसका नाश ध्रुव है—

> अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
> ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥
>
> (मनु० ४ । १७४)

इनका कूटनीतिक सिद्धान्त भी स्थिर नहीं । मार्क्सने बतलाया था कि 'क्रान्तिका नेतृत्व श्रमिकोंके ही हाथमें हो सकता है, अन्य वर्गका अधिनायकत्व नहीं हो सकता । इसपर विविध तर्कोंके द्वारा बल दिया गया, परंतु मार्क्सवादी चीनने ही किसानोंके द्वारा क्रान्ति करके पिछले मतको मिथ्या सिद्ध कर दिया। मार्क्सवादी इसे कुछ विशेष परिस्थितियोंके कारण अस्थायी परिवर्तन बतलाते हैं। चीनकी कम्युनिष्टपार्टीने किसानोंकी सहायतासे ही क्योमिताङ्ग (चीनकी राष्ट्रिय संस्था) को पराजित कर नयी राज्य-व्यवस्था कायम की । चीनकी क्रान्ति किसानोंद्वारा हुई, मजदूरोंद्वारा नहीं; यह पुराने मार्क्सवादके विरुद्ध है । अब आधुनिक मार्क्सवादी ग्रन्थोंमें मजदूरोंके स्थानमें 'किसान-मजदूर' कहा जाने लगा। माओत्सेतुंग चीनकी क्रान्तिको समाजवादी क्रान्ति नहीं मानते, किंतु पूँजीवादी जनतन्त्रीय क्रान्ति बुर्जुवा डेमोक्रेटिक रीवोल्यूशन कहते हैं । इसके द्वारा सामन्तशाहीका अन्त किया गया है, पूँजीवादका नहीं । मार्क्सने कम्युनिष्टपार्टीके नेतृत्वमें सर्वहाराकी क्रान्ति कहा था। लेनिनने कहा था कि 'पिछड़े हुए सामन्तवादी अथवा पूँजीवादी देशमें (जैसा चीन या जारशाही रूसमें था) पूँजीवादी जनतन्त्रीय क्रान्ति शीघ्र ही समाजवादी क्रान्तिके रूपमें परिणत की जा सकती है।' परंतु चीनमें ऐसा नहीं हुआ। माओत्सेतुंगके मतानुसार 'चीनकी पूँजीवादी जनतन्त्रीय क्रान्ति पुरानी क्रान्तियोंसे भिन्न है।'

कहा जाता है 'रूसी क्रान्तिके प्रथम फ्रांस आदिकी क्रान्तियोंका नेतृत्व पूँजीवादियोंके हाथमें था। श्रमिकवर्गका उसमें सहयोग था । क्रान्तियोंके बाद समाजपर पूँजीवादियोंका ही एकाधिपत्य हुआ। श्रमिकोंकी हीन दशा ज्यों-की-त्यों बनी रही, परंतु रूसी क्रान्तिके पश्चात् श्रमिकवर्ग सतर्क हो गया । अतः अब फ्रांस-जैसी पूँजीवादी जनतन्त्रीय क्रान्ति (१७८७) जिसमें श्रमिकोंका कोई स्थान न रहे, सम्भव नहीं । चीनकी क्रान्ति कम्युनिष्टपार्टीके नेतृत्वमें हुई थी, इसलिये चीनके पूँजीपति अपना एकाधिकार स्थापित नहीं कर सके। पूँजीवादको रखते हुए माओका कहना है कि किसान-मजदूरोंके हित पूर्णतया सुरक्षित रहेंगे।'

इस तरह यह नहीं कहा जा सकता कि 'मार्क्सने जो कह दिया, वह ब्रह्माक्षर हो गया; गलत नहीं होगा। मार्क्सवादी भी इसे मार्क्सवादकी पुनर्व्याख्या मानते हुए साम्यवादको पुराने मार्क्सवादसे भिन्न मानते हैं। इससे पुनरुत्थान नहीं हो सकता, पूँजीवादमें सुधार नहीं हो सकता', यह पक्ष खण्डित हो जाता

है। पूँजीवादके रहते हुए भी किसान-मजदूरोंका हित सुरक्षित रह सकता है— यह चीनी क्रान्तिसे स्पष्ट ही है।

मार्क्सका कहना था कि 'पिछली क्रान्तियाँ एक शोषक-वर्गके नेतृत्वमें दूसरे शोषकवर्गको पदच्युत करनेके लिये हुई थीं। फ्रांसकी ऐतिहासिक राज्यक्रान्ति पूँजीपतियोंने सामन्तशाहीके विरुद्ध की थी। ब्रिटेनके गृहयुद्ध (१६४२–४९) और रक्तहीन क्रान्ति (१६८८) का भी यही सार है। इन क्रान्तियोंसे शोषणका अन्त नहीं हुआ, किंतु सर्वहारा-क्रान्तिद्वारा वर्गों तथा शोषणका अन्त होगा। शोषणके अन्तके लिये ही श्रमिकोंकी क्रान्ति होती है।'

शोषणकी मनोवृत्ति बदलनेसे ही शोषणका अन्त होता है। ईमानदार शासकोंके शासनका उद्देश्य ही शोषण या मात्स्यन्यायका अन्त करना राज्य-संस्थाकी स्थापनाका उद्देश्य ही यही है। बिना ईमानदारीके श्रमिक-क्रान्तिसे भी शोषणका अन्त नहीं होता। अपने विरोधियोंको कुचल डालनेकी तीव्र भावना कम्युनिष्टोंमें सर्वाधिक होती है। पूँजीवादियोंमें परस्पर जैसे संघर्ष होता है, वैसे ही किसानों तथा मजदूरोंके भी परस्पर संघर्ष आये दिन होते ही रहते हैं, जिसमें एक दूसरेके शोषणके लिये वे प्रयत्नशील रहते हैं।

मार्क्सने यह भी कहा था कि 'समाज तभी बदलता है जब उसका अन्तर्विरोध चरम सीमापर पहुँच जाता है, प्रगति असम्भव हो जाती है, पूँजीवादी उत्पादनकी वृद्धिसे बाजारोंकी खोज होती है। जहाँतक बाजार मिलते रहते हैं, प्रगति होती रहती है। परंतु जैसे ही नये बाजारोंका अभाव होता है, फिर पूँजीवादकी प्रगति समाप्त हो जाती है। पूँजीवाद एवं उसके भीषण संकटका अन्त क्रान्तिसे होगा। पुराने समाजके अन्त एवं नये समाजके जन्मके लिये क्रान्ति नितान्त आवश्यक है।'

रामराज्यकी दृष्टिसे सदिच्छा, सद्बुद्धि तथा सद्धर्मकी भावना फैलाकर एक वर्गको दूसरे वर्गका पोषक बनाया जा सकता है। चीनी कम्युनिष्ट पूँजीवादको रखते हुए भी उन्नति सम्भव समझते ही हैं। मार्क्सने भी ब्रिटेन और अमेरिका-जैसे जनवादी देशोंमें क्रान्ति बिना भी संसदीय नीतिसे सामाजिक परिवर्तन सम्भव माना है। रामराज्यकी निर्दिष्ट प्रणालीके अनुसार क्रान्ति एवं सामाजिक परिवर्तन बिना भी गतिरोध दूर हो जाता है।

सामाजिक संकट

जो कहा जाता है कि 'सम्पूर्ण उत्पादन-साधनों या मुनाफा कमानेके साधनोंका समाजीकरण हो जानेसे कोई वस्तु मुनाफाके लिये कमायी ही न जायगी, उपयोगके लिये आवश्यकताके अनुसार ही सब वस्तुओंका उत्पादन होगा, अतएव

क्रय-शक्तिके घटने और बाजारमें माल न खपत होनेका प्रश्न ही नहीं उठेगा। पूँजीवादमें कल-कारखाने व्यक्तिगत होते हैं, अतः पूँजीपतिके सामने मुनाफा कमाना ही मुख्य लक्ष्य रहता है। वह आवश्यकताभर उपयोगी वस्तु पैदा करके कारखानोंको बंद नहीं रख सकता; क्योंकि इससे उसका आर्थिक नुकसान होता है। वह बराबर कारखाना चलाकर माल पैदा करता है और दूसरे देशोंके बाजारोंको माल खपतके लिये ढूँढ़ता है। बेकार मजदूरोंकी परवा भी उसे नहीं होती; परंतु बेकारीसे यदि ९५ प्रतिशत मजदूरोंकी क्रय-शक्ति घट जायगी तो बाजारोंमें मालकी खपत न होनेसे पूँजीवादके सामने गतिरोध अनिवार्य होगा। जब सब कारखाने एवं उत्पादन-साधन मजदूर सरकारके हाथमें होंगे, तब मुनाफा कमाना उसका लक्ष्य ही नहीं होगा। वह तो उपयोगके लिये ही वस्तु-निर्माण करायेगी। उपयोग वस्तु पैदा हो जानेपर कारखानोंको बंद भी रख सकती है। उसके यहाँ मजदूरोंको अन्य उपयोगी वस्तु-निर्माणमें लगाया जा सकता है। सभी नागरिकोंके लिये अच्छी मोटर, अच्छे मकान, अच्छा भोजन, अच्छा वस्त्र आदि उपयोगी वस्तुओंके निर्माणके लिये नये-नये कारखाने बनाये जायँगे। उनमें सब लोगोंको काम दिया जायगा। यन्त्रोंके पूर्ण विकास हो जानेपर जब फिर थोड़े ही समयमें थोड़े ही आदमियोंद्वारा सब उपयोगी वस्तुओंका निर्माण हो जायगा तो भी बारी-बारीसे थोड़ा-थोड़ा काम सबसे लिया जायगा। सप्ताहमें एक दिन या मासमें एक दिन ही सबको काम करना पड़ेगा। शेष समय साहित्य, विज्ञान, कला आदिके सीखनेमें लोग लगा सकते हैं। इस तरह जो समस्या पूँजीवादमें हल नहीं हो सकती, वह सब कम्युनिज्ममें हल हो जायगी।'

परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि जहाँ भी ईमानदारीपूर्वक उत्पादन एवं ईमानदारीसे वितरणकी व्यवस्था होगी, वहीं उक्त समस्याका समाधान हो सकता है। किसी भी अच्छे शासनका यही लक्ष्य होता है कि राष्ट्रकी जनताको योग्यता एवं आवश्यकताके अनुसार काम, दाम, आराम मिले। किसीको काम, दाम, आरामके अभावमें बेकारीका मुकाबिला न करना पड़े—यह बात कम्युनिष्ट सरकार बन जाने मात्रसे सम्पन्न नहीं हो सकती। कम्युनिष्ट सरकार भी कोई समस्या जादूकी छड़ीसे नहीं सुलझा सकती; किंतु काम, दाम, आरामके वितरणमें ईमानदारी लानेसे ही समस्याओंका समाधान हो सकता है। ईमानदारीके बिना वितरणमें वैषम्य, पक्षपात होना स्वाभाविक है। कम्युनिष्टोंमें भी पदाधिकारके लिये होड़ चलती ही है। इसीसे जारशाही खतम होते ही क्रान्तिकारियोंमें दलबंदियाँ हुईं और पक्षपात, मारकाट शुरू हो गयी। ईमानदारी होनेके कारण ही धर्म-नियन्त्रित राम-राज्य या कोई भी शासन उक्त समस्याका समाधान कर सकता है। अर्थात् किसीका वैध स्वत्व एवं अधिकार बिना छीने भी आमदनी एवं उसके उपयोगपर नियन्त्रण किया

जा सकता है। पूर्वोक्त ढंगसे अन्यायोपार्जित बड़ी-बड़ी पूँजीको ग्रहणकर बेरोजगारोंको रोजगार दिया जा सकता है। कर्तव्य-विमुखोंका भी धन लेकर बेकारी दूर की जा सकती है। वैध, अतिरिक्त आयके भी पाँच हिस्सेमें चार हिस्सा राष्ट्रीय काममें लगाया जा सकता है। दान एवं सहायताकी परम्परा उद्बोधित कर बेकारी एवं असंतुलन मिटाया जा सकता है। विपत्तिकालमें जैसे राज्य-कोषसे राष्ट्रकी सहायता की जाती है, वैसे ही विशेष विपत्-कालमें संग्राम या अन्य उपयोगी कामके लिये व्यक्तिगत कोष या पूँजी, भूमि अन्य साधनोंका भी राष्ट्रहितके लिये उपयोग किया जा सकता है। जैसा कि अब भी संग्रामके समय सभी राष्ट्रोंके शासकोंको विशेषाधिकार होता है कि वे किसी भी नागरिकके मकान, मोटर, रुपया आदि सरकारी कामके लिये ले सकते हैं। साथ ही जबतक महायन्त्रोंपर नियन्त्रण नहीं होता, तबतक पूँजी, श्रम एवं लाभ तथा राष्ट्रहितको ध्यानमें रखकर व्यवसायियों, समाज तथा राज्य-संचालकोंद्वारा उचित श्रम-मूल्य निर्धारण किया जायगा। जैसे-जैसे उत्तमोत्तम यन्त्रोंका विकास होगा, कम-से-कम लोगोंके द्वारा अधिक-से-अधिक माल पैदा होने लगेगा, वैसे-वैसे कामके घंटोंमें कमी की जायगी, मजदूरोंकी संख्या बढ़ायी जायगी। इस पक्षमें यह भी हो सकेगा कि मासभरमें प्रत्येक मजदूरको एक घंटा ही काम करना पड़ेगा और उतने ही काम करनेके बदले उसे उच्चस्तरीय जीवन-निर्वाह योग्य धन मिल जायगा और उसकी क्रय-शक्ति बनी रहेगी तथा मालकी खपत न घटेगी।

राष्ट्रहित तथा अपना घाटा रोकनेके लिये व्यवसायी भी उतना ही माल बनायेंगे जितने कि खपत होगी। अपना शेष धन और मजदूर अन्य उपयोगी वस्तु बनानेमें लगायेंगे। यदि जडवादी, ईश्वर-धर्म-विमुख देहात्मवादी कम्युनिष्टोंमें ईमानदारी हो सकती है, पक्षपातशून्य होकर सबका हित सोचकर ईमानदारीसे उत्पादन और वितरणका काम ठीक चला सकते हैं तो गैरकम्युनिष्ट धर्मनियन्त्रित, ईश्वर-आत्मा, लोक-परलोक, तथा धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक माननेवाले रामराज्यवादी सुतरां ईमानदार हो ही सकते हैं। इस पक्षमें नौकरशाही रुकेगी। यन्त्रवत् अन्य प्रेरित प्रवृत्ति मिटेगी, उत्साह रहेगा, दान, पुण्य, यज्ञ, तप, परोपकारकी भावनासे राष्ट्र एवं समाजका हिताचरण अधिक सम्भव होगा। नरकका डर, स्वर्गका लोभ भी बुरे कर्मोंका निवर्तक एवं अच्छे कर्मोंका प्रवर्तक होगा। आस्तिकका भविष्य विशाल है। अन्तमें वैकुण्ठ या परम उपवर्ग उसका ध्येय रहता है, जिसके लिये सर्वस्व-त्याग भी सम्भव होता है। इसके विपरीत जड कम्युनिज्ममें यह सब असम्भव ही है। मान भी लिया जाय कि कम्युनिष्टोंका स्वप्न पूरा हुआ और पूर्णरूपसे यान्त्रिक विकास सम्पन्न हुआ और सबके लिये ही मोटर, वायुयान, भोजन, वस्त्रादि मिलने लगा। पर यदि महीनाभर या वर्षभरमें एक दिन एक घंटा काम करना पड़ा, तो भी शारीरिक श्रमका प्रतिदिन काम न मिलनेपर सबके शरीर अनेक प्रकारके रोगोंके शिकार हो जायँगे। कोई विरोधी या दुश्मन होता है, तभी शास्त्रास्त्रका अभ्यास,

मल्ल-युद्ध तथा व्यायामादिमें प्रवृत्ति होती है। यदि वर्गभेद समाप्त हो जाय तो विरोध एवं युद्धकी सम्भावना ही न रहेगी और फिर खाली मस्तिष्कमें शैतानका राज्य होगा। दुराचार, पापाचार, विलासिताकी वृद्धि होगी, जिससे स्वास्थ्य-नाशके साथ शान्ति-भङ्ग होकर भीषण क्रान्ति होगी। विलास एवं आधिपत्यकी उद्दाम कामनाकी पूर्ति कभी हो ही नहीं सकती। अध्यात्मभावना बिना अखण्ड भूमण्डलकी सुन्दरियाँ तथा सुन्दर भोग-साधन एक व्यक्तिको भी तृप्त करनेमें समर्थ हो नहीं सकते—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
सर्वं नैकस्य पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

अध्यात्मशास्त्रोंके अनुसार अध्यात्मविचार एवं शान्तिसे ही तृष्णाका अन्त होता है, अन्यथा नहीं। कम्युनिष्टके लिये कोई भी काम करनेके लिये न मिलनेसे अनाचार, पापाचारमें ही प्रवृत्त होना पड़ेगा; क्योंकि कोई भी बिना कुछ किये क्षणभर भी रह नहीं सकता—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। (गीता ३।५)

अध्यात्मवादमें पूर्ण यान्त्रिक विकास, अनन्त धन-धान्य एवं उपभोग-सामग्री मिलनेपर संयम, योगाभ्यास, उपासना तथा विविध कर्मकाण्ड करनेके लिये पूर्ण अवकाश रहेगा। आसन, प्राणायामादि तथा श्रौत-स्मार्त विविध कर्मकाण्डोंके करनेमें परिश्रम करनेका अवकाश रहेगा। व्याधिहीन शरीर स्वस्थ रहेगा। चित्त उपास्यब्रह्मकी उपासना एवं ब्रह्मज्ञानमें दीर्घकालके लिये स्थिर रह सकेगा। चञ्चलता, तृष्णा आदिकी प्रशान्ति होकर समाधि-सम्पत्ति हो सकेगी। अध्यात्मवादीका भविष्य उज्ज्वल एवं उत्साहप्रद रहेगा। जडवादी कम्युनिष्टका भविष्य अन्धकारपूर्ण एवं नैराश्यव्याप्त होगा। जड़वादीके मरते ही उसका सब कुछ समाप्त हो जायगा, परंतु अध्यात्मवादीको मरने अर्थात् देहत्यागनेके अनन्तर इस लोकसे भी अधिक दिव्य ऐश्वर्य एवं भोग-सामग्री मिलेगी। यदि दिव्य भक्ति एवं ज्ञानमें सम्पन्न होकर देह-त्याग किया गया तब तो सर्वसाधनानपेक्ष, अचिन्त्य, अनन्त, परमानन्दस्वरूपावस्थानलक्षण, मोक्ष या भगवत्प्राप्ति सिद्ध होगी। निरङ्कुश एवं अनन्त तृप्ति अनन्तरूपसे प्राप्त होगी। रामराज्यवादीकी दृष्टिमें ईश्वर एवं धर्मके विरोधी मार्क्सवादी तथा धर्मनियन्त्रणरहित पूँजीवादी दोनों समाज एवं विश्वके लिये हानिकारक हैं और उन्हींके आपसी संघर्ष सार्वजनिक धर्म, सुख एवं शान्ति खतरेमें पड़ सकती है। ऐसे पूँजीवाद एवं साम्यवाद दोनों ही हानिकारक हैं। इन दोनोंमें ही शोषण होती है। इनमें यदि साम्यवादीके यहाँ समष्टिके नामपर मुट्ठीभर तानाशाहोंकी तानाशाहीमें विश्वके नागरिकोंका धन, धर्म, स्वतन्त्रता, शान्ति संकटग्रस्त होती है तो धर्म-नियन्त्रणरहित शोषक पूँजीवादी तथा उच्छृङ्खल साम्राज्यवादी व्यष्टिके नामपर समष्टिका शोषण करके जनतामें त्राहि-त्राहिका आर्त्त-नाद फैला देते हैं। किंतु रामराज्यवादी अर्थात् धर्मनियन्त्रित, शासन-तन्त्रवादी

समष्टि-व्यष्टि दोनोंका ही समन्वय करके सर्वत्र सुख, धर्म शान्ति एवं स्वतन्त्रताका साम्राज्य स्थापित करते हैं। उनके यहाँ प्रथम तो बेकारी एवं शोषण फैलानेवाले महायन्त्रका ही बहिष्कार होता है, अतः सभीको स्थायीरूपसे योग्यता एवं आवश्यकताके अनुसार काम, दाम, आरामकी व्यवस्था होती है। सबको विकासका पूर्ण स्वातन्त्र्य रहता है। सुख-शान्ति, लोक-परलोक, परम निःश्रेयसका मार्ग सभीके लिये प्रशस्त रहता है। दैव-दुर्विपाकसे महायन्त्रोंके विकास हो जानेपर भी पूर्वोक्त प्रकारसे शोषण हटाकर आर्थिक संतुलन स्थापित किया जाता है, जिससे आर्थिक संकट एवं गतिनिरोधका कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता।

शोषकोंके अन्यायोपार्जित द्रव्य तथा कर्तव्य-विमुख लोगोंके न्यायोपार्जित या दायप्राप्त द्रव्य राष्ट्रके हितार्थ छीन ही लिये जाते हैं, परंतु कर्तव्यपरायण लोगोंके न्यायोपार्जित द्रव्यके भी अतिरिक्त आयका स्वल्पांश ही स्वामीके काममें उपयुक्त होता है। पाँच हिस्सेमें चार हिस्सा राष्ट्रके ही काममें लगानेका नियम होता है। उसमें दान, पुण्य, यज्ञ, परोपकारका पूर्ण स्थान रहनेसे कथञ्चिदपि आर्थिक असंतुलन हो ही नहीं पाता। किसीकी बेकारी या क्रय-शक्तिका ह्रास तथा मालके खपत न होने आदिका प्रसङ्ग ही नहीं उपस्थित होता। 'पञ्चधा विभजन् वित्तम्' के अनुसार पाँच हिस्सेमें चार हिस्सेका राष्ट्र-हितार्थ जो उपयोग कहा गया है, उसका यह तात्पर्य नहीं है कि चार भाग ही राष्ट्र-हितार्थ उपयुक्त हो, किंतु उसका तात्पर्य यह है कि सामान्य-जीवन-यात्रोपयोगी अंशसे अधिक सम्पूर्ण धन राष्ट्र-हितार्थ प्रयुक्त किया जाय। तभी तो कहा गया है कि जितनेमें पेट भरे उतना ही ग्रहण करना ठीक है, अधिकमें अभिमान करनेवाला चोरके तुल्य दण्डभागी है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

धनवान् होकर दान न करना पाप है और दरिद्र होकर सदाचारी तपस्वी न होना भी पाप है। ये दोनों ही दण्डके योग्य हैं—

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम्॥ (विदुरनीति)

अतएव उत्तरोत्तर यन्त्रोंके विकाससे जैसे-जैसे अल्प श्रम एवं अल्प व्ययसे उत्पादन बढ़ता जायगा, जैसे-जैसे लाभ बढ़ता जायगा, वैसे-वैसे बेकारी एवं आर्थिक असंतुलन दूर करनेके लिये कामके घंटोंकी कमी, वेतनकी अधिकता एवं मजदूरोंकी संख्या भी बढ़ती चली जायगी। साथ ही अतिरिक्त आय (यहाँ मार्क्सवादियोंके अर्थमें अतिरिक्त आयका प्रयोग नहीं है, किंतु टैक्स एवं निर्वाहोपयोगी खर्च आदिसे बचा हुआ लाभ ही अतिरिक्त आय है) से चार हिस्सा ही नहीं, किंतु उससे अधिक भी राष्ट्र-हितार्थ प्रयुक्त किया जा सकेगा।

समाजवादी सब्जबाग

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता यदि अच्छी वस्तु है, उससे इतना बड़ा लाभ हुआ, तो कुछ दोष होनेसे ही वह हेय नहीं होती। बिजलीसे प्रकाश फैलाया जा सकता है, मशीन भी चलायी जा सकती है और आत्महत्या भी की जा सकती है। अतः बुद्धिमानोंका कर्तव्य है कि वे ऐसा मार्ग निकालें जिससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रताकी रक्षा हो और गतिरोध भी मिटे। वैसे भी समाजवादी शासनमें ही नहीं, किंतु सभी ढंगके शासनोंमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एक सीमाके भीतर है। भाई-बहन और पिता-पुत्रीका परस्पर शादी करने तथा आत्महत्या करनेमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मान्य नहीं है। इस प्रकार समाजका अहितकर काम करनेकी स्वतन्त्रता किसीकी भी मान्य नहीं। समष्टिके नामपर व्यक्तिको पंगु बना देना भी ठीक नहीं, साथ ही व्यक्तिगत स्वाधीनताके नामपर समष्टि-विरोधी कार्यवाही करनेकी छूट व्यक्तिको देना भी ठीक नहीं। इसी आधारपर व्यक्तिगत वैध-वपौती मिल्कियत या वैध-धनोंका अपहरण बिना किये भी समष्टि-हितके अनुकूल कानून बनाये जाते हैं। आज भी सभी शासनों एवं राष्ट्रोंमें संग्राम आदि संकटकालमें बहुत कुछ व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओंमें संकोच मान्य होता है। अमरीका आदिने भी अपने ढंगसे उक्त गतिरोध रोका ही है।

रामराज्यशासनमें समष्टि-हितकी दृष्टिसे इस प्रकारकी व्यवस्था होती है कि किसीके दरिद्र होने या अपने परिश्रमका पूरा फल न पानेका प्रश्न ही नहीं उठता। मार्क्सवादियोंका कहना है कि 'पूँजीपतियोंके हाथसे भूमि-सम्पत्ति, कल-कारखानोंको छीन लेनेसे मजदूर ही पैदावारके साधनोंके मालिक हो जायँगे। फिर जो भी पैदा करेंगे, वह सब उन्हींके काम आयेगा। इससे उनके भूखे नंगे रहनेका डर ही न रहेगा और पूँजीपतियोंका इकट्ठा किया हुआ धन-वैभव भी इन्हींके काममें आयेगा; फिर खरीदनेकी शक्ति बढ़ जायगी और काम करनेवाले अधिक-से-अधिक पदार्थ पैदा करेंगे तथा दूसरे पदार्थोंसे विनिमय करेंगे। पूँजीपतियोंके पास मजदूरोंकी मेहनतका बहुत बड़ा भाग न जा सकेगा और मजदूरोंकी अवस्था उन्नत होगी, जैसे रूसी किसानोंकी उन्नति पहलेसे तेरह गुनी अधिक हो गयी है। इस तरह मजदूर, इंजीनियर, डाक्टर आदिका भी अन्तर मिट जायगा। कठोर एवं अप्रिय कार्योंके लिये मशीनें बन जायँगी, जिससे किसीको कोई भी काम कठोर और अप्रिय नहीं प्रतीत होगा। सब कामकी शिक्षा देकर सभीको सब कामके योग्य बना दिया जायगा। किसीको किसी कामके लिये बाध्य नहीं किया जायगा। यदि मशीनोंकी उन्नतिसे हजार मजदूरोंका काम दस ही मजदूरोंसे हो सकेगा तो भी मजदूर बेकार नहीं होंगे, क्योंकि उनसे अन्य काम कराया जायगा। मजदूरोंके लिये अच्छे फर्नीचर, अच्छे मकान बनाये जायँगे। आजकी तरह मजदूर दस घंटे काम न करके बारी-बारीसे एक या दो घंटे काम करेंगे, बाकी समयमें मौज लेंगे।'

इस तरह काल्पनिक सुख-स्वप्नका वर्णन करके समाजवादी धरातलमें स्वर्गधाम उतार देनेकी बात करते हैं, परंतु वस्तुस्थिति यह है कि जगत्की विचित्रताके साथ ही मनुष्योंमें भी विचित्रता होती है। सभी सब कामकी न सर्वाङ्गीण शिक्षा ही प्राप्त कर सकते हैं, न सब कामके विशेषज्ञ ही हो सकते हैं और न सब प्रमाद-आलस्यशून्य होकर शक्ति-चौर्य विना ईमानदारीसे शक्तिभर परिश्रम ही कर सकते हैं। यह भी नहीं हो सकता कि सब अनिवार्य आवश्यकताभर ही पदार्थ लें, अधिकका संग्रह न करें। सभी व्यक्ति स्वतन्त्र ब्यूक, हम्बर, रोल्स मोटरकी इच्छा कर सकते हैं, सभी प्राइवेट हवाईजहाज चाह सकते हैं। सभी फर्स्टक्लासके मकान, फर्नीचर चाहेंगे, सभी वकील, जज या प्रधानमन्त्री होना चाहेंगे, फिर साधारण कार्यों एवं वस्तुओंसे कोई क्यों संतुष्ट होगा? अगर यह दशा सम्भव है तो किसी भी सिद्धान्तवादीको इसमें क्या आपत्ति होगी।

आमतौरपर कोई भी ईमानदार मानवताके नाते अपने वैध सम्पत्तिसे संतुष्ट रहता है। अत्यन्त ग्राम्य लोगोंका भी यही विश्वास है कि अपनी वैध कमाईसे सूखी रोटीमें संतुष्ट रहना अच्छा है। दूसरोंकी वस्तुका अपहरण करके सुख-भोग महत्त्वकी बात नहीं है। पंजाबी ग्रामवासियोंका कहना है कि 'बाजरेदां डोंडा चंगा ठगींदा परोठा मंदा' दूसरोंके साधन एवं धन-वैभवको छीनकर सुखी बन जाना बड़ा सरल है, परंतु यह सुख, यह धन परिणामतः हितकर नहीं है। भारतीय नीतिशास्त्रका तो कहना है कि 'अतिक्लेशेन ये ह्यर्था धर्मस्यातिक्रमेण च। शत्रूणां प्रणिपातेन मा च तेषु मनः कृथाः।'(विदुर०) अति क्लेशसे, धर्मातिक्रमणसे, शत्रु चरण-चुम्बनसे जो अर्थ प्राप्त होता है वह सुखोदर्क नहीं होता। चोरीसे, डाकासे, छलछद्मसे, छीना-झपटीसे सुखी बन जाना, धनी बन जाना निन्द्य है। इन्हीं सब मान्यताओं, औचित्यानौचित्य, न्याय-अन्यायका विचार मिटानेकी दृष्टिसे कम्युनिष्ट कहते हैं, 'पुराना औचित्यानौचित्य, न्याय-अन्याय आजके कामका नहीं है।' क्या कुछ डाकू भी यही नहीं कह सकते हैं कि परवित्तापहरणको अपराध मानना पुराने जमानेकी बात थी, आज यह अपराध नहीं है। फिर भी न्याय एवं धर्मयुक्त मार्गसे बेकारी एवं आर्थिक असंतुलन दूर करनेका प्रश्न सबके सामने अनिवार्यरूपसे है ही। रामराज्यवादी उसे सहर्ष स्वीकार करता है। सहायता प्राप्त करके कर्तव्यपालन, बहिर्मुखोंका वित्तापहरण करके अतिरिक्त आयका पञ्चधा विभाजन, दानका प्रोत्साहन, ज्योतिष्टोम, सर्वस्वदक्षिणा आदि यागों तथा आतिथ्य-सत्कारका प्रचार एवं नियम बनाकर तथा वेतनकी उचित दर एवं कामके घंटोंका उचित निर्धारण एवं मुनाफेकी भी उचित सीमा निर्धारण करना आदि कार्य उचित कहे जा सकते हैं। साम्यवादी सरकारोंको भी सरकारी काम तथा शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सुरक्षा, गुप्तचर, पुलिस, पलटन आदिका काम चलानेके लिये कर या मुनाफाका

आश्रय लेना ही पड़ेगा। सब लोग जितना कमायें उतना खा-उड़ा जायँ तो उपर्युक्त काम कैसे चलेगा? एक व्यक्तिकी स्वतन्त्रताकी सीमा वहींतक है, जहाँतक कि दूसरोंकी स्वतन्त्रतामें बाधा न पड़े। यह सभी सभ्य शासन मानते हैं, यह मार्क्सकी कोई नयी बात नहीं है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि परस्परका सेव्य-सेवकभाव या उपकार्य-उपकारकभाव समाप्त हो जाय। सभी सैनिक यदि निजी स्वतन्त्रताकी बराबरीका दावा करें तो सेनापतिकी आज्ञा ठुकरा सकते हैं, फिर तो सैनिक-संगठनका उद्देश्य ही समाप्त हो जाय। समाजवादी किसी अन्यके चक्रवर्तित्वकी तो समालोचना करते हैं, परंतु मजदूर तानाशाही सम्पूर्ण विश्वपर कायम करनेके लिये आकाश-पातालका कुलाबा भिड़ा रहे हैं। आखिर सोवियतसंघके सभी राष्ट्र मास्कोके कुछ तानाशाहोंके इच्छानुसार ही चल रहे हैं, विश्व कम्युनिष्ट-संघ आखिर सम्पूर्ण संसारमें कम्युनिष्ट शासन-स्थापनका प्रयत्न करता ही है। फिर राम-जैसे जितेन्द्रिय, सदाचारी, धर्म-नियन्त्रित, चक्रवर्तीके निष्पक्ष शासनमें सम्पूर्ण विश्वमें शान्ति हो, छीना-झपटी बंद हो, सब सुखी हों तो क्या आश्चर्य है? अपने विश्वासके अनुसार सब अपना धर्म पालन करें, अपनी शक्ति एवं बुद्धिके अनुसार अर्थोपार्जन करें, अपनी कमाई अपने इच्छानुसार अपनी संतानोंको दे सकें, दान-पुण्य कर सकें, लोक-परलोक बना सकें, कोई किसीके धर्म एवं सम्पत्तिपर हमला न करे, सभी उन्नत सभी सुखी हों—यही तो रामराज्य है।

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'दिखायी पड़नेवाली व्यक्तियोंमें सम्पत्ति एवं योग्यताकी असमानता मौजूद है। अध्यात्मवादी इस असमानताका दूर होना असम्भव मानते हैं, परंतु मार्क्सवादी इस असमानताको दूर कर सकनेका दावा करते हैं। असमानता दूर होनेकी ही अवस्थाका नाम कम्युनिज्म या समष्टि-वाद है। इसमें यथासम्भव समानता दूर कर देनेके बाद संघटनका सिद्धान्त होगा, प्रत्येक मनुष्य अपनी सामर्थ्यभर परिश्रम करेंगे और प्रत्येक मनुष्यको अपनी आवश्यकताके अनुसार पदार्थ मिलेगा। एतदर्थ योग्यता एवं शिक्षाकी असमानता दूर होनी आवश्यक है।' मार्क्सवादी जन्मान्तरीय कर्मोंकी विचित्रतासे असमानता नहीं मानते। वे परिस्थितियोंको ही इसका मुख्य कारण मानते हैं। सबको शिक्षा, मस्तिष्क एवं स्वास्थ्यकी उन्नतिका समान अवसर देकर दिखायी देनेवाली असमानता दूर की जा सकती है। जन्मसे ही अल्पबुद्धि एवं दुर्बल, गरीबोंकी ही संतान होती है। अमीरोंकी संतानें अधिक स्वस्थ एवं बुद्धिमान् होती हैं। मार्क्सवादके अनुसार सबको समान अवसर मिलनेसे नयी पीढ़ीके लोगोंमें असमानता बहुत कुछ कम हो जायगी। कुछ पीढ़ीतक समान परिस्थियोंमें मनुष्यका जन्म होनेसे प्रायः सब एक-से ही बलवान्, बुद्धिमान् होंगे। यदि पशुकी नस्लमें उन्नति की जा सकती है तो मनुष्यका सुधार क्यों नहीं होगा? भले ही कुछ लूले-लँगड़े, अन्धे भी हों फिर भी नियम तो जन-साधारणकी दृष्टिसे ही बनते हैं।'

वस्तुतः यह तर्क बहुत ही निःसार है। 'अमीरोंके लड़के बुद्धिमान्, बलवान् होते हैं', यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि अमीरोंके लड़के अधिक निर्बुद्धि एवं निर्बल होते हैं। व्यवहारमें धनवानोंको ही लक्ष्मीका वाहन अर्थात् उलूक कहा जाता है। अधिकांश धनवान् विलासी होते हैं। निर्वीर्य होनेसे पहले तो उन्हें संतान ही कम होती है, जिससे इनमें दत्तकोंकी भरमार चलती है। संतानें उत्पन्न भी होती हैं तो निर्बल एवं निर्बुद्धि। हम पहले कह चुके हैं कि व्यापारकी दक्षता, शोषणके हथकंडे, जाल-फौरेबकी सब बातें, राजाओं, जमींदारोंके दीवान या कारिन्दे तथा सेठोंके मैनेजर-गुमास्ता लोग ही करते थे या करते हैं। आज भी ऐसे-ऐसे धनवान् हैं कि केवल धनके कारण ही उनका सम्मान किया जाता है। यदि उनको धन न होता तो कौड़ी-कीमतका भी उन्हें कोई न पूछता। हाँ, जहाँ सावधानीसे प्रयत्न किया जाता है, वहाँ धनवान, बलवान्, बुद्धिमान् एवं धर्मनिष्ठ भी होते हैं। शास्त्रोंमें इसे पूर्वजन्मकी तपस्याओं एवं योगाभ्यासका फल बताया है—'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।' (गीता ६। ४१) योगभ्रष्ट अर्थात् योगकी पूर्ण सिद्धि—मुक्ति पानेके पहले मरनेवाले लोगोंका पवित्र श्रीमानोंके घरमें जन्म होता है। हरिश्चन्द्र, दिलीप, मान्धाता, अज, दशरथ, युधिष्ठिर, अर्जुन आदि इसके उदाहरण हैं। प्रायः लक्ष्मी-सरस्वतीका विरोध ही समझा जाता है। किसी ही पुण्यशालीके यहाँ लक्ष्मी-सरस्वतीका सहवास होता है, परंतु इससे भी उच्च पक्ष महातपस्या, महासौभाग्यसे अरण्यवासी विरक्तों, निष्किंचनों, उञ्छशिल-वृत्तिवालोंके यहाँ जन्म होना माना गया है; क्योंकि वहाँ बुद्धि-विवेककी बहुत ही प्रधानता रहती है—

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।...
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्॥

(गीता ६। ४२, ४३)

भारतके जितने भी विशिष्ट विद्याएँ, ज्ञान, विज्ञान, दर्शन, शिल्प, साहित्य तथा नीति आदि सम्बन्धी ग्रन्थ हैं, सबके रचयिता अरण्यवासी कन्द-मूल-फलाशी वल्कलवसनधारी निष्किंचन लोग ही हुए हैं। वेदान्त, सांख्य, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, योग, भारत, रामायण, योगवाशिष्ठ तथा शुक्र, बृहस्पति, कणिक, कौटिल्य, कामन्दक आदि नीतिग्रन्थ हैं, सबके निर्माता अकिंचन लोग ही हैं, धनवान् या पूँजीपति नहीं। शंकराचार्य, उदयनाचार्य, भट्टपाद, श्रीहर्ष, वाचस्पति मिश्र, रामानुजाचार्य, तुलसीदास, सूरदास आदि कोई भी धनवान् आदमी नहीं थे। आजके भी विभिन्न देशोंके विभिन्न नेता उन्हीं वर्गोंमें हैं तथा यहाँतक कि मार्क्स भी अमीर नहीं था। सभी अकिंचन सरस्वतीके उपासक विद्वान् ही मान्य हैं। लक्ष्मीके उपासक सदा ही उनका अनुगमन करते थे। मान्धाता, हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र आदि भी वसिष्ठ आदि ऋषियोंके ही नियन्त्रणमें रहते थे।

अतएव यहाँ उच्च शास्त्र-ज्ञानवाला निर्धन ब्राह्मण ही सर्वोत्कृष्ट माना गया है। फिर यह भी तो देखते हैं कि एक ही अमीरके चार पुत्रोंको समान अवसर मिलनेपर भी कोई बहुत चतुर निकलता है, कोई भोंदू निकलता है। जगत्की विचित्रताका आधार कर्मको मानना ही पड़ेगा। जहाँ इस जन्मके कर्म वैचित्र्यसे उपपत्ति न हो वहाँ जन्मान्तर-कर्मका वैचित्र्य मानना अनिवार्य है। उष्ट्र, गर्दभ, मनुष्यादिके वैचित्र्यका भी क्या कारण है? इस प्रश्नका जन्मान्तरीय कर्मके सिवा अन्य कोई समाधान नहीं है। जो इन विचित्रताओंका कारण स्वभावको कहते हैं उनसे प्रश्न होगा, स्वभाव क्या है?—सत् या असत्? असत् कहें तो उसमें कार्य-क्षमता नहीं हो सकती, सत् है तो भी वह चेतन है या अचेतन? अचेतनमें भी विवेकाभावात् विचित्र कार्यकरत्व नहीं हो सकता। चेतन कहें तो भी अल्पज्ञ या सर्वज्ञ? अल्पज्ञमें भी विविध वैचित्र्योपेत विश्वका व्यवस्थापकत्व नहीं बन सकता। सर्वज्ञ कहें तो प्रश्न होगा कि वह सापेक्ष विचित्र सृष्टि करता है या निरपेक्ष? निरपेक्ष कहें तो उसमें वैषम्य, नैर्घृण्य दोष आयेगा। सापेक्ष कहें तो वही कर्म-सापेक्षता माननी पड़ेगी। सदा ही अध्यापकों, इंजीनियरों, डाक्टरों, जजों, प्रधानमन्त्रियोंके स्थान थोड़े ही रहेंगे। मजदूरों, छात्रों, न्यायार्थियों तथा गरीबलोगोंकी संख्या ही अधिक रहेगी। अतः चींटीको कनभर और हाथीको मनभरका सिद्धान्त बिना माने काम चलना सर्वथा ही असम्भव होगा। फिर भी समता या विषमता असंतुलित न रहनी आवश्यक है। अति विषमता, अति समता दोनों ही अव्यवहार्य हैं। जैसे अङ्गमें भी सब बराबर नहीं होते, हाथकी अंगुलियाँ भी सब एक-सी नहीं होती हैं। फिर भी उनकी समता-विषमता संतुलित रहती है। यही स्थिति समाजकी भी उचित है। यदि कम्युनिष्ट काल्पनिक समताके आधारपर सिद्धान्त बनाना चाहते हैं तो अध्यात्मवादीके यहाँ आत्मा ही वास्तविक समानता स्वतन्त्रता भ्रातृताकी आधारभित्ति है। इतना ही नहीं, अध्यात्मवादी ही ऐसी भी अवस्थाका आना अनिवार्य मानते हैं, जब सभी परमानन्द ब्रह्मस्वरूप ही होंगे, विषमताकी गन्ध भी कहीं उपलब्ध नहीं होगी। परंतु व्यवस्था तो करनी है वर्तमान स्थितिकी, अतः हम कल्पनाओंको छोड़कर उपस्थित अवस्थामें क्या हो सकता है, यही विचार करना उचित समझते हैं। वैधानिक साधनों एवं धार्मिक, आध्यात्मिक साधनोंसे समष्टि जगत्को उच्च-से-उच्च स्तरपर पहुँचाना रामराज्यका आदर्श है। 'रामभगति रत सब नर नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥' 'हृष्टः पुष्टः प्रमुदितः 'नाकुण्डली नास्रग्वी ।' इत्यादि श्लोकोंमें कहा गया है कि 'रामराज्यमें सभी हृष्ट-पुष्ट, प्रमुदित रहते थे। सभीके गृहोंमें हीरकादिजटित स्वर्णमय कपाट लगे रहते थे।' फिर भी वास्तविकता यह है कि पदार्थोंकी उत्पत्तिकी कुछ सीमाएँ हैं। यदि सभी स्वतन्त्र हवाईजहाज, सभी हम्बर, रोल्स, ब्यूक मोटर चाहें, सब-के-

सब उच्चस्तरीय साधन चाहेंगे तो उसकी पूर्ति तो हजारों नहीं लाखों वर्षतक हो सकना सम्भव नहीं। गली-गलीमें विजलीका फैल जाना या मिलोंके द्वारा कपड़ा जितना सरल है उतना भारतके पैंतीस करोड़ आदमियोंको एक-एक वायुयान, एक-एक ब्यूक मिलना सरल नहीं। इसी तरह केसर, कस्तूरी, हीरा आदिका मिलना भी सम्भव नहीं है। जब सभी लोग सब चीज बना नहीं सकते तो विनिमयद्वारा वस्त्वन्तर प्राप्त करनेकी आवश्यकता रहेगी ही। फिर वस्तुओंकी विनिमय-सुविधाके लिये रुपया या मुद्राका व्यवहार आवश्यक होगा। स्थानान्तरसे वस्तु स्थानान्तरमें पहुँचाना आवश्यक होगा। इसपर कुछ व्यय एवं श्रम भी होगा। व्यक्ति या सरकार जो भी यह कार्य करेगा कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य चाहेगा। हाँ, यह ठीक है कि मुनाफा सीमित हो, अव्यवस्था फैलानेवाला न हो। आजके विस्तृत यातायात-सम्बन्धोंका यह भी एक महान् लाभ है कि संसारके किसी कोनेमें कोई वस्तु क्यों न उत्पन्न हो और कहीं भी किसी वस्तुकी कमी क्यों न हो, फिर भी देशान्तरकी वस्तु देशान्तरमें पहुँचनेमें कोई कठिनता नहीं। अतिवृष्टि, अनावृष्टिसे कहीं भी भुखमरी नहीं हो सकती। परंतु यदि क्रय-विक्रयका व्यवहार मिट जायगा तो यह सब सम्भव न होगा। अनेक रोजगारोंके समान ही क्रय-विक्रय भी एक धंधा है। लाभ बिना उसे कौन अपनायेगा? हाँ, लाभ सीमित हो, उसपर नियन्त्रण हो, यह तो आवश्यक ही है। भुखमरी मिटाना अमीर, गरीब सबके ही अभ्युदयका प्रयत्न करना अपेक्षित वस्तुओंका उत्पादन बढ़ाना अत्यावश्यक है ही।

समाजवादी कहते हैं कि 'रूसमें रोटीकी कमी नहीं है। सम्भव है कुछ ही दिनोंमें वहाँ रोटी सबको मुफ्त मिलने लगे, जैसे होटलोंमें पानी मुफ्त मिलता है। परंतु रामराज्यका तो आदर्श यह था कि किसी भी जगह पानी माँगनेपर दूध ही पिलाया जाता था। देनेवाले सदा ही देनेकी कोशिश करते थे, परंतु लेनेवाले अपनी गाढ़ी कमाईका ही खाना पसंद करते थे। प्रतिग्रहसे हर तरहसे बचनेका प्रयत्न करते थे। रूसी तो फिर भी यह कहते रहेंगे कि जो काम न करे उसको खाना मिलना ही न चाहिये। फिर जहाँ लोगोंकी व्यक्तिगत सम्पत्ति ही न रहेगी, वहाँ काम लेकर रोटी देनेका प्रसङ्ग ही क्या है? रामराज्यमें वृद्ध, बालक काम न कर सकनेवालोंको भी भोजनादिकी सुविधा रहेगी। जिस व्यक्तिगत सम्पत्तिमें सबकी कमाई नहीं सम्मिलित है, उसके द्वारा लोगोंको मुफ्त रोटी देनेकी विशेषता ही मुख्य विशेषता है। साम्यवादी व्यवस्थामें तो सबकी कमाई सम्मिलित ही रहती है। रामराज्यकी सभ्यता ही थी कि रोटी एवं दूध आदिका कोई गृहस्थ विक्रय करना पाप समझता था। क्षीर-विक्रय, रस-विक्रय तो स्पष्ट निषिद्ध है। रामराज्यमें आवश्यक उपयोगी पदार्थ सबको सरलतासे सुलभ करना ध्येय ही है। समाज-

वादी कहते हैं कि गैरसमाजवादी देश व्यापारमें होड़ करते हैं। दूसरे देशोंके बाजारोंपर कब्जा करना चाहते हैं, जिससे सबको युद्धके लिये तैयार रहना पड़ता है। पूँजीवादी शासन-प्रणाली रहते-रहते यदि कोई देश निःशस्त्र हो जाय तो खूँखार पूँजीवाद देश उसे झपट लेते हैं। युद्धकी तैयारीमें लगे रहनेसे पैदावारमें बाधा पड़ती ही है। प्रायः सभी देशोंकी आमदनीका बहुत बड़ा भाग शस्त्रास्त्र एवं फौजोंपर खर्च हो जाता है। धनके इस भागका फल मिलता है भय, कष्ट एवं अकालमृत्यु। यह सब धन मनुष्योंकी हालत सुधारनेमें लगानेसे बहुत लाभ हो सकता है। लाखों बलवान् जवान युद्धकी तैयारीमें फँसे रहते हैं, पैदावारका काम नहीं कर सकते। इनका सम्पूर्ण समय मरना, मारना, सिखने-सिखानेहीमें खर्च होता है। यदि मुनाफा कमानेकी भावना छोड़कर उपयोगके लिये ही माल तैयार किया जाय तो अन्ताराष्ट्रिय पूँजीवादी होड़ समाप्त हो जायगी। फिर न दूसरे देशोंकी बाजारोंकी जरूरत रहेगी और न युद्ध आवश्यक होगा।

आधुनिक पूँजीवादी या समाजवादी सभी शासन धर्महीन होनेका ही महत्त्व समझते हैं। इसीलिये व्यक्तिगत स्वार्थकी इतनी प्रधानता हो गयी है कि एक दूसरेकी हत्या उनकी दृष्टिमें साधारण-सी बात होती है। धर्मनियन्त्रित रामराज्यमें युद्धकी अपेक्षा शान्तिका ही सर्वातिशायी महत्त्व होता है। साम, दान, भेद तीनों नीतियोंसे ही सब काम चलाना श्रेष्ठ है, परंतु सर्वथा तीनों नीतिके विफल होने एवं अनिवार्य होनेपर ही चतुर्थ दण्ड-नीतिका प्रयोग करना उचित बतलाया गया है। अहिंसा एवं सत्यसे सम्पूर्ण व्यवहार चलाया जाय, विरोधियोंका भी भाव ही बदलनेका प्रयत्न उचित है, परंतु फिर भी तो आखिर समाजवादी रूसको भी तो द्वितीय महायुद्धमें कूदना पड़ा ही और लालसेनाके करोड़ों सैनिकोंको भरती करना ही पड़ा। परमाणु बम, हाइड्रोजन बम आदि घातक अस्त्र-शस्त्रोंपर अरबों रुपये खर्च करने पड़ रहे हैं। आखिर जो युद्ध अनुचित समझता है उसकी इस प्रकारकी चेष्टा क्यों? जैसे समाजवादी कहते हैं कि 'जब विश्वभरमें कम्युनिष्ट राज्य कायम हो जायगा, तब कोई खतरा न रहेगा, तब युद्ध-तैयारी बंद की जा सकेगी। उसके पहले तैयारी न रखनेसे तो पूँजीवादी राष्ट्र रूसको हड़प लेंगे।' किंतु यह तो कोई भी कह सकता है कि 'जब विश्वभरमें एक चक्रवर्ती सरकार बन जायगी, तब युद्ध आवश्यक न रहेगा' परंतु प्रश्न तो यह है कि जबतक दोनोंके मनोरथ नहीं पूरे होते, तबतक क्या होना चाहिये? वस्तुतः इस समय क्या पूँजीवादी, क्या समाजवादी अपना-अपना गुट बलवान् बनानेमें लगे हैं। इस समय उपनिवेशवाद समाप्त हो रहा है; परंतु अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रके विस्तारमें सब लगे हैं। अमेरिका अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ा रहा है, रूस अपना। इसके लिये ही शस्त्रास्त्रकी तैयारी एवं कूटनीतिक दाँव-पेंच दोनों ओरसे चले जा रहे हैं; परंतु रामराज्यवादी

इस सम्बन्धमें व्यापक दृष्टिकोणसे विचार करते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदिके नियम विश्वव्यापी एवं विश्वके हितार्थ हैं। प्रत्येक व्यक्तिको समाज, राष्ट्र एवं विश्वके हानिकारक किसी काममें नहीं प्रवृत्त होना चाहिये। समष्टिके अविरोधेन ही व्यष्टिकी चेष्टा आदरणीय है। अहिंसा आदि समष्टि सामाजिक समझौतेका आदर सबको करना चाहिये।

मार्क्सवाद एवं राष्ट्र

परंतु जबतक सभी राष्ट्र एवं समाज इस उच्चकोटिके सिद्धान्तको मान नहीं लेते, तबतक क्या किसी सज्जन व्यक्ति या राष्ट्रको किसी कूटनीतिक व्यक्ति या राष्ट्रकी कूटनीतिका शिकार बन जाना चाहिये ? रामराज्यवादी ऐसे अवसरके लिये अनिवार्यरूपसे आनेवाले युद्धका स्वागत करता है। मायावीके साथ निरी साधुतासे काम नहीं चलता।

यस्मिन्यथा वर्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥

(महा० शां० प० १०९। ३०)

संसारमें जब कृतयुगके प्रारम्भमें सत्त्वगुणका पूर्ण प्रभाव था, सभी धर्म नियन्त्रित थे, तब युद्धकी आवश्यकता नहीं थी। परंतु संसार त्रिगुणात्मक है, इसमें रज और तम भी हैं ही। फिर कभी उनका भी उद्भव सम्भव है। जब अत्यन्त तामस, राजस, आदमीपर उपदेशका असर नहीं पड़ता, तब वहाँ दण्डविधान अनिवार्य ही होता है। तभी तो प्रत्येक राष्ट्रमें कानून, दण्डविधान, पुलिस, थाना, जेल आदिकी व्यवस्था है। ये ही व्यष्टिके उपद्रव समष्टिमें भी फैलते हैं। तब बड़े युद्धोंका रूप बन जाता है। समाजवादियोंको ही अपने विरोधियोंके दमनार्थ क्या-क्या नहीं करना पड़ता है। कितने गुप्तचर, कितनी पुलिस, पर्जे (सफाया) में संलग्न है। रामराज्यमें अन्यायी रावणको भी पहले अन्यायसे विरक्त होनेके लिये समझाया-बुझाया गया था। जब अनेक प्रकारसे समझाने-बुझानेपर भी रावण रास्तेपर नहीं आया, तब उसे दण्ड देना अनिवार्य हो गया। यही रामराज्यका युद्ध है। ऐसा युद्ध निरावरण साक्षात् स्वर्गका द्वार है, इससे पराङ्मुखकी अकीर्ति तथा पुण्यलोकोंका नाश ध्रुव है—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥ (गीता २। ३३)

समष्टि-हितके लिये महायन्त्रका प्रवर्तन बंद होना चाहिये। रामराज्यशासनमें उत्पादनमें मुनाफाको प्राथमिकता न देकर राष्ट्रकी आवश्यकताको प्राथमिकता दी जायगी। सरकारद्वारा निर्धारित राष्ट्रहितानुकूल योजनाका अनुसरण करना सभी उद्योगपतियोंका कर्तव्य होगा। अतः आधुनिक जडवादियोंके समान बाजारों,

यन्त्रों, पेट्रोल आदिके लिये रामराज्यमें युद्ध नहीं होंगे। धर्म, संस्कृति तथा गरीबोंके हित-स्वत्वोंकी रक्षाके लिये अनिवार्य होनेसे युद्धका स्वागत किया जायगा। संसारमें आर्तनाद न हो, अन्याय-अत्याचार न हो, किसीकी बहू बेटियोंके सम्मानपर आँच न आवे, इसीलिये बलवानोंका बल एवं अस्त्र-शस्त्र आदि अपेक्षित होते हैं और अपेक्षित होते रहेंगे।

मार्क्सवादी कहते हैं, 'आज मजदूरोंके लिये देशभक्तिकी बात व्यर्थ है। जब कोई पूँजी देशमें लगती थी, तब कुछ मजदूरोंको लाभकी सम्भावना भी थी। परंतु जब पूँजीपति अपनी पूँजीको उन विदेशोंमें लगाना पसंद करते हैं, जहाँ मजदूरी कम देनी पड़े और कच्चे माल सस्ते पड़ें, तब ऐसे पूँजीपतियोंके देशके मजदूर देशभक्तिके नामपर अपनी जान क्यों दें?' मार्क्सवादीकी दृष्टिमें 'जिसकी कोई सम्पत्ति नहीं, उसका कोई खास देश नहीं होता। केवल दो हाथ ही उसकी अपनी सम्पत्ति है। जहाँ मजदूरी मिल जाय, वही उसका देश है। पूँजीपति भी अपने लाभके लिये लाखों किसानों-मजदूरोंको तोपकी आगमें झुलसा डालते हैं। इनकी जीतोंमें मजदूरोंका कोई लाभ नहीं होता।'

उपर्युक्त बातें किसी देश-कालके लिये सही हो सकती हैं; परंतु यह व्यापक सत्य नहीं है। आस्तिक लोग जननी, जन्मभूमिको स्वर्गसे भी श्रेष्ठ मानते हैं—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' उञ्छशिल वृत्तिवाले अकिंचन महर्षि—जिनकी भौतिक सम्पत्ति कुछ नहीं—उन्हें भी मातृभूमिकी भक्ति मान्य होती है। देशधर्मकी रक्षा और कल्याणके लिये वे भी अपने सर्वस्वका त्याग करते ही रहते हैं। भारतीयोंमें तो प्रातःकाल ही धरित्रीपर पाद-विन्यास करनेके पहले धरित्रीकी वन्दना की जाती है; परंतु वे मातृभूमिकी भक्तिके साथ मातृपति परमेश्वरको नहीं भूलते। उनकी मातृभक्ति संकीर्ण एवं किसीकी हानि पहुँचानेवाली नहीं होती। इसीलिये वे समुद्रवसना पर्वतस्तनमण्डला धरित्रीको विष्णुपत्नी मानते हैं—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

कहींके भी मजदूर कोई राष्ट्रसे बाहरकी वस्तु नहीं—विशेषतया भारतमें तो उच्च खानदानके ब्राह्मण, क्षत्रियादि ही मजदूर बनकर अपना जीवन बिता रहे हैं। उनको अपने देश, धर्म, जातिका ध्यान रहता है, उसका रक्षण उन्हें अभीष्ट है। पूँजीपतिके लिये नहीं, अपने लिये, अपने धर्मके लिये भी उन्हें देशभक्ति आवश्यक होती है। वस्तुतः इसीलिये धार्मिक तथा सांस्कृतिक इतिहासोंके संस्कारोंसे ओतप्रोत भावनाके बिना राष्ट्रियताका कोई महत्त्व नहीं होता। जो जडवादी विश्वस्रष्टाको ही नहीं मानता; अपने माता-पिताका ही महत्त्व नहीं

मानता, वह देशका महत्त्व क्या मानने लगा ? जिनका मत है कि 'माता अपने स्वार्थसे दूध पिलाती है; क्योंकि दूध बिना निकले उसे कष्ट होता है। शिशु भी क्षुधासे पीड़ित होकर स्तन पीने लगता है', उन्हें देशभक्तिसे क्या लेना ? पर जलमें मेढक भी होता है, मीन भी होती है। मेढकका जल-स्नेह नगण्य है, परंतु मत्स्य जलका अनुरागी है। जडवादियोंको जहाँ रोटी मिले, वही उनका देश है; परंतु धार्मिक-सांस्कृतिक भावनावाले तो अपने पूर्वजों तथा अपनी जन्मभूमिके प्रदेशको; अपने पावन तीर्थों, अवतारों, देवताओं, महापुरुषोंके तपःपूत लीलाभूमिको बड़ी आदरकी दृष्टिसे देखते हैं और उसकी रक्षा तथा सम्मानके लिये उन्हें आत्मबलिदान करनेमें कुछ भी संकोच नहीं होता। गोस्वामी तुलसीदासके राम कहते हैं—

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥
अवध पुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥
जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥

मार्क्सवाद एवं युद्ध

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'युद्ध जंगलीपनका चिह्न है। स्वयं कमाकर खानेके बजाय दूसरोंसे छीनकर पेट भरना ही युद्धका स्वरूप है। सामाजिक भावना एवं सहयोगकी बुद्धि होनेसे परिवारके रूपमें संगठित होते ही आपसी लड़ाई बंद हो गयी। एक परिवारके आदमी एक हित समझकर आपसमें न लड़कर दूसरे परिवारसे लड़ने लगे फिर लड़ाईके बजाय परिवारोंमें भी सहयोगकी भावना हुई। फिर गाँवभरका एक हित समझनेकी बुद्धि हुई तो परिवारोंका भी युद्ध बंद होकर गाँवोंका युद्ध होने लगा। मनुष्यकी आवश्यकताओं एवं पैदावार-साधनोंके बढ़नेसे आत्मीयताका क्षेत्र बढ़ गया और फिर देशका संगठन होने लगा। परंतु अब तो वैज्ञानिक विकासके युगमें कोई भी देश दूसरे देशकी सहायताके बिना अकेले रह नहीं सकता। सभी देशोंके परस्पर सम्बन्ध हैं, अतः उनमें भी सहयोगका सम्बन्ध होना चाहिये। इतिहासके क्रमको देखते हुए अब वह समय आ गया है कि देशों एवं राष्ट्रोंको मिटाकर सम्पूर्ण संसार एक राष्ट्रका रूप धारण कर सके। पूँजीवादी-प्रणालीमें साम्राज्यवादके रूपमें देशोंके संगठनका प्रयत्न होता है; परंतु उसके मालिक दूसरे-दूसरे देशों एवं उपनिवेशोंका शोषणकर स्वार्थसिद्धिकी चेष्टा करते हैं। अतः अन्य देशोंके असंतोष एवं बगावतकी भावना बनी ही रहती है। अतः समाजवादी प्रणालीके आधारपर ही यह संगठन सम्भव है। इसीलिये अन्ताराष्ट्रिय कम्युनिष्ट-संघकी चेष्टाएँ सभी राष्ट्रोंमें चलती रहती हैं। संसारके प्रत्येक देशको विश्वव्यापी समाज और राष्ट्रका अङ्ग बन जाना चाहिये और उनका परस्पर सहयोग होना चाहिये। इस तरह युद्धोंका भय सदाके लिये दूर हो सकता है। एक देशके किसानों-मजदूरोंमें दूसरे देशके किसानों-मजदूरोंसे कोई द्वेष नहीं रहता, अतः उनका ही राज्य होना ठीक है।'

इस सम्बन्धमें रामराज्यवादीका कहना है कि 'युद्धका खतरा मिटे, विश्व-व्यापी संघटन बने, विश्व सरकार बने', यह सब बात अच्छी है, परंतु वह समाजवादकी ही सरकार हो ऐसा आग्रह क्यों ? भौतिकवादी अपना विचार सभी राष्ट्रों एवं सभी व्यक्तियोंपर लादना चाहते हैं, परंतु संसारमें आज भी अरबों मनुष्य ईश्वर, धर्म एवं अपने वेद, बाइबिल, पुराण, कुरान, अवेस्ता एवं मन्दिर, मसजिद, गिरजा, गुरुद्वारामें विश्वास रखते हैं। अपने शास्त्रोंके अनुसार अपने धर्म, कर्म, संस्कृति, सभ्यताका पालन करते हैं। वे अपने पूर्वजोंके ऐतिहासिक गौरव तथा अपनी बपौती, मिल्कियतके स्वामी होनेका विश्वास रखते हैं तथा अपनी कमाई अपने बेटों-पोतोंके लिये छोड़ना उचित समझते हैं। फिर सबको तिलाञ्जलि देकर अपनी सभ्यता, संस्कृति, सम्पत्तिसे हाथ धोकर जडवादकी पराधीनता स्वीकार करना किसे अभिमत हो सकता है, जहाँ अपना विचार व्यक्त करने, प्रचार करनेकी भी स्वाधीनता नहीं है और न प्रेस-पत्र, भूमि, सम्पत्ति आदि सामग्री ही है। वस्तुतः पारिवारिक संगठनमें भी व्यक्ति मिट नहीं जाता, उसे कभी भी पृथक् रहनेकी स्वाधीनता रहती है। इसीलिये बृहस्पतिने भी सम्मिलित कुटुम्ब-प्रथाका पोषण करते हुए भी कहा है कि सम्मिलित कुटुम्बमें पृथक्-पृथक् व्यक्ति अग्निहोत्र, बलिवैश्वदेव, श्राद्ध आदि नहीं कर सकता। एक गृहपति—घरका पुरखा ही सब करता है—

एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्।
एकं भवेद् विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे गृहे॥
(बृहस्प० स्मृ० गायक० सं० २६। ५)

अतः पृथक् धर्मानुष्ठानकी दृष्टिसे पृथक् भी रह सकते हैं।

एवं सह वसेयुर्वा पृथग् वा धर्मकाम्यया।
पृथग् विवर्धते धर्मस्तस्माद् धर्म्या पृथक्क्रिया॥
(मनु० ९। १११)

वस्तुतः वृक्षोंका समुदाय ही वन होता है। ऐसे ही व्यक्तियोंका समुदाय ही समाज होता है। वृक्षोंके कटनेसे वन कट जाता है, अतः व्यक्तियोंके परतन्त्र एवं जडप्राय होनेसे समाजकी भी वही दशा होगी। केवल समाजके नामपर कुछ तानाशाहोंके हाथमें ही विश्वका जीवन डाल देना कौन बुद्धिमान् ठीक समझेगा ? अतः इसकी अपेक्षा रामराज्यकी व्यवस्था कहीं श्रेष्ठ होगी, जिसमें सभी व्यक्तियों, जातियों, सम्प्रदायों एवं राष्ट्रोंके अपने विश्वासके अनुसार अपना धर्म, ईश्वर एवं शास्त्र मानने, विचार व्यक्त करनेकी पूर्ण स्वाधीनता होगी।

पुराण, कुरान, वेद, बाइबिल, मन्दिर, मस्जिद, गिरजा, गुरुद्वारा—सबका सम्मान रहेगा। सभी अपने तीर्थों, देवस्थानोंका आदर कर सकेंगे। सभीका

अपनी बपौती—मिल्कियतपर अधिकार रहेगा । अपने विचारका प्रचार करने, संगठन, प्रेस-पत्र आदि स्थापित करनेकी सबको छूट होगी, अर्थात् व्यष्टि एवं समष्टि सभीको लौकिक, पारलौकिक अभ्युत्थान एवं परम निःश्रेयस प्राप्त करानेकी सुविधा उपस्थित की जायगी । समष्टि व्यष्टिका उपोद्बलक होगा । व्यष्टि समष्टिके अविरोधेन आत्मोन्नतिके लिये प्रयत्न करते हुए समष्टि-सेवामें स्वेच्छासे ही प्रवृत्त होंगे । जैसे कुटुम्बका विश्वासभाजन, ईमानदार, निष्पक्ष, सर्वहितैषी व्यक्ति गृहपति (घरका पुरखा) होता है, इसी प्रकार मण्डल, राज्य, राष्ट्र एवं विश्वका पालन करनेवाले व्यक्तियों या व्यक्ति-समूहोंको भी सबका विश्वासभाजन, निष्पक्ष, सर्वहितैषी एवं ईमानदार होना अनिवार्य होगा । फिर भी यह भूलना न चाहिये कि परिवार बन जानेपर भी परिवारके सदस्योंमें लड़ाई होती है, ग्राम बन जानेपर भी ग्रामीणोंमें लड़ाई होती है, राष्ट्र बननेपर भी राष्ट्रके भीतर सब उपद्रव होते हैं । रूसमें भी एक दूसरेको हटाकर अधिकारारूढ़ होनेका प्रयत्न करते ही हैं, उसी तरह आगे भी यह संघर्ष रहेगा । अतः जबतक अविवेक, अविचार, अभिमान, अधर्मको रोकनेके लिये सत्य एवं सात्त्विक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि गुणों तथा शास्त्रों एवं आध्यात्मिक जीव-ब्रह्मादिकी भावना दृढ़ न होगी, तबतक कुटुम्बका भी संगठन असम्भव है, विश्व-संगठनकी बात तो दूर है ।

वस्तुतः इस मार्गसे ही राष्ट्र एवं विश्वका संघटन सम्भव है । रामराज्यका तो 'वसुधैव कुटुम्बकम्'का सिद्धान्त है ही । किं बहुना, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डात्मक विश्वको ममताका आस्पद बनाकर अभेद-भावना करके उसे आत्मस्वरूप समझना एक उदात्त उपासना है । फलतः तदनुसार चेष्टा ठीक ही है । समष्टि-अविरोधेन राष्ट्र, समाज या व्यक्तिका अपने विकासकी स्वाधीनता होनेसे उनपर जिम्मेदारी होगी, अपनी हानि और लाभकी बातें सोचना, आलस्य-प्रमादका छोड़ना, सावधानी-तत्परताके साथ पुरुषार्थके लिये अग्रसर होना सम्भव हो सकेगा । तभी विश्वकी उन्नति और शान्ति होगी । तानाशाही-शासन यन्त्रका कल-पुर्जा बन जानेसे सभी व्यक्ति या देश जड-यन्त्रवत् हो जायँगे । उनका विकास रुक जायगा । समाजवादी कहते हैं कि 'अपने लाभके लिये ही परिश्रम करना, शक्तिसंचय करना, यह मनुष्यकी प्रकृति नहीं है—यह तो एक अभ्यास है, जो मनुष्यकी परिस्थितियोंके अनुसार बन जाती है । प्राचीन कालमें युद्ध होनेपर हारनेवाले व्यक्तियोंको मारकर खा जाते थे । बलवान् कमजोरोंके धन, स्त्रियाँ आदि छीन लेते थे । स्त्रियोंके लिये राजा लोग चढ़ाई करते थे । उस समय समाजका यही अभ्यास था, परंतु आजका मनुष्य इसे नहीं सहन कर सकता । असभ्य लोगोंमें आज भी लूटपाट चलती रहती है, परंतु आज मनुष्यका स्वभाव बदल गया है ।

अतः हानिके डर एवं लाभके लोभसे काम करनेकी आदत बदल सकती है। आज दिन प्राणी कमाता है। खर्च करनेसे अधिक बटोरकर भी रखता है; क्योंकि उसे भय है कि उसे आगे शायद पदार्थ न मिल सके पर यह ठीक नहीं, इसका उत्तर पीछे विकासवादके खण्डनमें विस्तारसे आ चुका है।'

अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें पूँजीवाद

मार्क्सके अनुसार 'वैज्ञानिक साधनोंके विकाससे पैदावारकी शक्तिके बहुत अधिक बढ़ जानेपर जब भिन्न-भिन्न देशोंके पूँजीपति अपनी पैदावारको अपने देशमें नहीं खपा सकते, तब उन्हें दूसरे देशोंके बाजारोंमें अपना माल पहुँचाना पड़ता है। पूँजीपति अपना माल दूसरे देशोंमें बेचकर मुनाफा उठाना तो पसंद करते हैं; परंतु अपने देशमें दूसरे देशके पूँजीपतियोंका माल आकर बिकना पसंद नहीं करते; क्योंकि इससे उनके मुनाफेका क्षेत्र घट जाता है। इसके अतिरिक्त प्रकृतिने उपयोगी पदार्थोंको सभी देशोंमें समानरूपसे नहीं बाँट दिया है या प्रकृतिने अलग-अलग देशोंको अपना-अपना निर्वाह अकेले कर सकनेके योग्य नहीं बनाया। व्यापार, व्यवसाय और पैदावारके कुछ पदार्थ एक देशमें बहुत अधिक मात्रामें मिल सकते हैं, और कई ऐसे पदार्थ हैं, जो उस देशमें नहीं मिल सकते। जापानमें लोहा नहीं मिलता, इंगलैंडमें रूई नहीं पैदा होती, जर्मनीको पेट्रौल बाहरसे लेना पड़ता है। स्वीडनको अपना लोहा बाहर भेजना जरूरी है। कनाडा अपनी लकड़ीको नहीं खपा सकता; अमेरिका अपनी रूईको बेचनेके लिये जगह ढूँढ़ता रहता है। ये पदार्थ इन देशोंको दूसरोंसे लेन-देने पड़ते हैं। कोई देश अकेले अपना निर्वाह नहीं कर सकता, परंतु प्रत्येक देशके पूँजीपति अपने-अपने व्यवसायमें मुनाफा कमानेके लिये दूसरे देशोंके व्यापारिक आक्रमणसे बचाना चाहते हैं और दूसरे देशोंपर आक्रमण करना चाहते हैं।

मार्क्सवादी कहते हैं कि "साम्राज्यवादके ऐतिहासिक विकासकी तुलना हम पूँजीवादसे इस प्रकार कर सकते हैं। पूँजीपति व्यक्तिकी ही तरह किसी उन्नत देशके पूँजीपति अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें कम हैसियतके पूँजीवादी राष्ट्रोंको कुचलकर शोषण-क्षेत्रपर अपना एकाधिकार कायम करनेका यत्न करते हैं। जिस प्रकार पूँजीपति एक व्यापारीकी अवस्थासे औद्योगिक साधनोंद्वारा पैदावारके पदार्थोंको बनानेवाला बनकर मुनाफेके जरिये भारी पूँजी इकट्ठी कर चुकनेके बाद स्वयं कुछ भी न कर, रुपयेके रूपमें अपनी पूँजीकी शक्तिको उधार देकर पैदावारका मुख्य भाग स्वयं खींचता रहता है, उसी प्रकार पूँजीपति देश अन्ताराष्ट्रिय बाजारमें पहले केवल व्यापार, वाणिज्यद्वारा पूँजी इकट्ठी करते हैं। उसके बाद अपनी औद्योगिक पैदावार दूसरे देशोंपर लादते हैं और इस अवस्थासे उन्नति कर दूसरे देशोंको अपनी पूँजीमें जकड़ना आरम्भ करते हैं। ऐसी अवस्थामें पहुँचकर पूँजीपति देश स्वाधीन देशों और उपनिवेशोंकी पैदावारमें कोई भाग नहीं लेते।

वे देश पैदावारका मुख्य साधन पूँजी उन देशोंमें लगाकर मुनाफेका भाग खींचते रहते हैं और उन देशोंकी आर्थिक प्रगति और राजनीतिपर अपना नियन्त्रण रखते हैं। जिस प्रकार पैदावारके साधनोंके मालिक, पूँजीपति और परिश्रम करनेवाली साधनहीन श्रेणीके हितोंमें विरोध होता है, पूँजीपति श्रेणी परिश्रम करनेवाली श्रेणीके परिश्रमको मुनाफेके रूपमें निगलती रहती है, उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय पूँजीवाद अर्थात् एक देशके पूँजीपतियोंद्वारा दूसरे देशपर अधिकारका अर्थ हो जाता है—पराधीन देशके परिश्रमका शोषण।

"जिस प्रकार परिश्रम करनेवाली श्रेणीके शोषणसे पूँजीपति अपनी शक्तिको बढ़ाकर अपने शोषणका क्षेत्र बढ़ाता है, उसी प्रकार अन्तारांष्ट्रिय क्षेत्रमें साम्राज्य-वादी देश एक देशका शोषणकर दूसरे देशोंको पराधीन बनाकर शोषण करनेकी शक्ति प्राप्त करते हैं। मार्क्सवादके अनुसार जिस प्रकार पूँजीवादी-व्यवस्थाका अन्त एक देशमें उसे समाप्त कर देनेसे नहीं हो सकता, उसी प्रकार साम्राज्यवादका अन्त भी किसी एक देशके प्रयत्नसे नहीं हो सकता। उसके लिये साधनहीनोंके संगठित अन्तारांष्ट्रिय प्रयत्नकी आवश्यकता है। जिस प्रकार एक देशमें पूँजीवाद साधनहीन श्रेणीको पैदाकर अपनी विरोधी शक्ति पैदा कर लेता है, उसी प्रकार अन्तारांष्ट्रिय क्षेत्रमें साम्राज्यवादी देश शोषणके क्षेत्रको घेरकर नये शोषित देश पैदाकर अपना विरोध करनेवाली शक्ति पैदा कर देते हैं। जिस प्रकार पूँजीपति अपने देशमें पैदावारके साधनोंपर अधिकार जमाकर मेहनत करनेवाली श्रेणीको जीवन-उपायोंसे हीन कर देता है, उसी प्रकार एक पूँजीवादी देशके साम्राज्यका विस्तार व्यापारके क्षेत्रोंको अपने वशमें कर नये उगते हुए राष्ट्रों और पराधीन राष्ट्रोंके जीवनको असम्भव कर देता है। जिस प्रकार एक देशमें आर्थिक संकट लाकर पूँजीवादी व्यवस्थाकी अयोग्यताको स्पष्ट कर देता है और नयी व्यवस्था लानेकी आवश्यकता उपस्थित कर देता है, उसी तरह अन्तारांष्ट्रिय क्षेत्रमें साम्राज्यवादी देश साम्राज्यवादके आगे विस्तारको असम्भव कर देते हैं और नयी व्यवस्था लानेको बाध्य करते हैं।

काट्स्कीका कहना है कि 'साम्राज्य-विस्तारका यत्न पूँजीवादका आवश्यक परिणाम नहीं। साम्राज्य-विस्तार नीतिकी जिम्मेदारी पूँजीवादी देशोंके कुछ एक पूँजीपतियोंपर है। इस विषयमें यदि पूँजीवादी देश समझौता करके अपने मालको खपानेके लिये और कच्चा माल प्राप्त करनेके लिये संसारको बाँट लें तो सभी पूँजीवादी राष्ट्रोंकी आवश्यकता पूरी हो सकती है और अन्तारांष्ट्रिय युद्धोंका होना जरूरी नहीं रहेगा।

परंतु मार्क्सवादियोंके विचारमें काट्स्कीका यह सिद्धान्त न तो इतिहासके अनुभवपर पूरा उतरता है और न पूँजीवादके विकासके मार्गके अनुकूल ही है। काट्स्की इस बातको भूल जाता है जिस प्रकार एक देशमें स्वार्थिक हितोंकी

रक्षाके लिये श्रेणियाँ राजनैतिक शक्तिका व्यवहार करती हैं, उसी प्रकार अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें पूँजीवादी राष्ट्र अपने आर्थिक हितोंकी रक्षाके लिये अपने राष्ट्रोंकी सैनिक शक्तिका व्यवहार करते हैं। जबतक पूँजीवादी राष्ट्रोंके सामने अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें मुनाफा कमानेका प्रश्न है, उनमें समझौता हो ही नहीं सकता। प्रत्येक राष्ट्र इस लूटमें सबसे बड़ा भाग लेनेका यत्न करेगा। जबतक बलवान् पूँजीवादी देशोंका भय रहेगा, निर्बल पूँजीवादी देश लूटके बाजारमें कम भाग लेना स्वीकार करेंगे। परंतु अन्ताराष्ट्रिय लूटद्वारा उनकी सैनिक शक्ति बढ़ते ही वह और अधिक बाजारों और उपनिवेशोंकी माँग पेश करेंगे। अभी हालकी अन्ताराष्ट्रिय घटनाएँ इस बातको प्रमाणित कर देती हैं। अपनी पूँजीकी शक्ति और सैनिक शक्ति पहले बढ़ाकर इटलीने अबीसीनियाको हड़प लिया, बादमें अन्ताराष्ट्रिय शान्तिकी रक्षाके लिये उसका और फ्रांसका समझौता टूट गया। दूसरा उदाहरण हमारे सामने जर्मनीका है। अपनी सीमाके देशोंको अपनी पूँजीवादी लूटका क्षेत्र बना चुकनेके बाद भी जब जर्मनीकी पूँजीपति-श्रेणीकी भूख शान्त नहीं हुई, तब जर्मनीने दूर देशों और उपनिवेशोंकी माँगपर जोर देना आरम्भ किया। मानो निर्बल और पिछड़े हुए देशोंका जन्म जर्मनीके अन्ताराष्ट्रिय पूँजीवादका शिकार बननेके लिये ही हुआ हो।

"यदि काट्स्कीके अन्ताराष्ट्रिय पूँजीवादी साम्राज्यवादके सिद्धान्तके अनुसार पूँजीवादी राष्ट्र परस्पर समझौतेद्वारा संसारके निर्बल राष्ट्रोंको शोषणके लिये परस्पर बाँट भी लें तो भी वह समझौता संसारमें चिरशान्ति स्थापित नहीं कर सकता; क्योंकि शोषित राष्ट्रोंकी जनताका भी अपने जीवनके अधिकारोंके लिये प्रयत्न करना आवश्यक और स्वाभाविक है और इस कारण उपनिवेशों तथा पराधीन देशोंमें अन्ताराष्ट्रिय अशान्तिका कारण बना ही रहेगा।"

पर धर्मनियन्त्रित रामराज्यवादीके दृष्टिकोणसे व्यष्टि-समुदाय ही समष्टि है, जैसे वृक्षोंका समुदाय ही वन है। प्रत्येक वृक्षके ह्रास, विकास व्यक्तिगत होते हुए भी परिणामतः वनका ह्रास, विकास बन जाता है। व्यक्तिगत विकास-शक्ति नष्ट हो जानेपर वन कभी भी टिक नहीं सकता। इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति बुद्धिमानी सावधानीसे व्यक्तिगत एवं सामूहिक विकासका प्रयत्न करे तो कुटुम्ब, समाज एवं राष्ट्र विकसित हो जाता है। समाजके हितका ध्यान रखते हुए ही व्यक्तिगत विकासका प्रयत्न उचित है। कितने कार्य ऐसे भी होते हैं, जिनमें व्यक्तिगत प्रयत्नसे काम नहीं चलता, वहाँ सामूहिक तौरपर ही कार्य किया जाता है। शुभ, अशुभ कर्मोंका फल व्यक्तिगतरूपसे प्राणियोंको भोगना पड़ता है। छोटी-छोटी इकाइयोंमें कार्य करनेमें सुविधा होती है। भोजन-वस्त्रादिका प्रबन्ध भिन्न-भिन्न कुटुम्बोंमें बँटे रहनेसे स्वास्थ्य तथा रुचिकी अनुकूलता अधिक होती है। करोड़ों

या लाखों आदमियोंका एक स्थानमें भोजन बनाना, बाँटना असम्भव है। पूँजीवादी राज्योंमें भी जनसंख्या, उसकी आवश्यकता तथा पैदावारकी मात्रा और उसके संतुलनका विचार किया जाता है।

उत्पादन-उपयोग, आय-व्यय, आयात-निर्यात आदि सब बातोंका ज्ञान और उनके आँकड़े सभी राज्योंमें रखे जाते हैं। अतः 'पूँजीवादीराज्यमें भोक्ताओं एवं खाद्यकी मात्राका परिज्ञान नहीं रहता'—यह कहना असङ्गत है। जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्तिका सिद्धान्त मान्य है, वहाँ स्वाभाविकरूपसे उत्पादक या व्यापारी दोनों ही मुनाफा चाहेंगे और यही सहज वितरणका मार्ग भी है। व्यापारी जहाँ जिस वस्तुकी बहुतायत है, वहाँसे उसे खरीदकर जहाँ कमी है, वहाँ पहुँचा देता है। इसके बदले उसे कुछ लाभ भी हो जाता है। प्राचीन समयमें प्रत्येक कार्य इसी ढंगसे होते रहे हैं, जिससे समाजका भी कार्य चले और व्यक्तिका लाभ भी होता चले। अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह, व्यापार, कृषि, गोरक्षा, शिल्प आदि सभी कामोंसे निर्माता, प्रयोक्ता सभीको लाभ होता है।

राम-राज्य-प्रणालीके अनुसार कभी आर्थिक असंतुलन न होनेसे बेकारी, बेरोजगारी न होगी और राष्ट्रके प्रत्येक नागरिकका जीवनस्तर ऊँचा होगा। क्रयशक्तिके घटनेका कोई प्रश्न ही न रहेगा, फिर मालके खपत न होनेकी भी शिकायत न होगी। जो कहा गया है कि 'समाजमें मेहनत करनेवाले ही पैदावार करते हैं और वे ही तैयार मालकी खपत करते हैं; अतः समाजमें जो पैदावारके लिये परिश्रम करनेवाले हैं, वे ही पैदावारको खर्च करनेवाले हैं। यदि परिश्रम करनेवालोंको अपने परिश्रमका पूरा फल मिल जाय तो पैदावार फालतू पड़ी नहीं रह सकती।' यह ठीक नहीं है; क्योंकि पैदा करनेवालों और उपभोक्ताओंकी श्रेणियोंमें भेद है। यों तो राष्ट्रका कोई भी नागरिक कुछ-न-कुछ करता ही है। बिना कुछ किये तो कोई क्षणभर भी टिक नहीं सकता। फिर मिल-मजदूरोंद्वारा की गयी पैदावारका उपभोग किसान भी करता है। किसानद्वारा की गयी पैदावारका मिल-मजदूर भी उपभोग करता है। अध्यापक, इंजीनियर, छात्र, सिपाही, सरकारी कर्मचारी, फिल्म-कार्यकर्त्ता तथा विभिन्न कार्य करनेवाले होते हैं। इस तरह समाजके घटक विभिन्न व्यक्तियोंके कार्यों और शक्तियोंमें भेद होता है। इसीलिये उन्हें काम, दाम, आराममें भी कुछ वैषम्य मानना पड़ता है। अध्यापक, इंजीनियर उत्पादनका कार्य नहीं करते, फिर भी उत्पादकोंसे अधिक उपभोग-सामग्री उन्हें मिलती है। एक फावड़ा चलानेवालेको इंजीनियरके बराबर वेतन कहीं भी नहीं दिया जाता। यदि सम्पूर्ण लाभ उत्पादकका ही है, उसे ही मिल जाय तब तो भूमि, मशीन, मकान तथा मुद्रा लानेवालेको लाभमें

कुछ भी हिस्सा न मिलेगा। परंतु उत्पादनमें इन वस्तुओंका महत्त्वपूर्ण स्थान है—ये सब बातें विस्तारसे पहले सिद्ध की जा चुकी हैं। परिश्रम करनेवालेका वही फल है जो मजदूर और मालिकके समझौते या पञ्चायत अथवा न्यायालयद्वारा वेतन निर्धारित होता है। मुनाफा श्रमका फल नहीं; किंतु कच्चे माल, मशीन तथा पूँजीका फल है। श्रमका फल श्रमिकको वेतनके रूपमें मिल चुका।

यदि सम्पूर्ण मुनाफा मजदूरको दे दिया जाय तो पैदावार करनेके साधन; नये यन्त्र, कल, कारखाने आदि विकसित न हो सकेंगे न बढ़ ही सकेंगे। मजदूरको जो मिलेगा, वह खर्च कर डालेगा। मजदूर-सरकार भी यदि लागत खर्च निकालकर सब लाभ मजदूरोंको बाँट दे तो वह भी कल, कारखानोंका विकास न कर सकेगी। अतः मजदूर सरकार भी विकासके लिये लाभांश बचाती है और वह विकास भी समाजके हितके लिये ही होता है। यही बात दूसरे पक्षमें भी कही जा सकती है। अतएव पूँजीवादी भी तो लाभका उपयोग कल, कारखानोंके विस्तारमें—उद्योगोंके विस्तारमें लगाता है। उससे समाजका जीवनस्तर विकसित होता है। कोई भी पूँजीपति रुपयोंको निश्चल जमा रखनेमें लाभ नहीं समझता। पूँजीपतिका 'अपना निजी' खर्च मजदूर-देशके मन्त्रियोंसे कम ही होता है। रूसी नेता बुल्गानिन और क्रुश्चेवके स्वागतमें करोड़ों रुपये खर्च हो गये। वे भी मजदूर ही हैं। कहा जा सकता है कि यह सम्मान व्यक्तिका नहीं; किंतु एक राष्ट्रका था। इसपर दूसरे लोग भी कह सकते हैं कि एक राजाका भी स्वागत उसके व्यक्तिगत न होकर राज्यका ही होता है। किसी भी विद्वान् या धनवान्पर जो भी खर्च होता है, वह राष्ट्र एवं उसकी विद्या तथा सम्पत्तिपर ही खर्च होता है। जिन पुराने बादशाहोंका हजारों रुपये रोजका खर्च था, वह भी क्या था? उनके हजारों नौकरोंकी जीविका इसीसे चलती थी। उत्तमोत्तम वस्तुके खरीदनेमें जो रुपये खर्च होते थे, वह कारीगरों, कलाकारों और निर्माताओंके पास जाता था।

अस्तु, रामराज्य-प्रणालीसे उत्पादनवृद्धिके अनुसार कामके घंटोंमें कमी, मजदूरोंकी संख्या और वेतनवृद्धिका क्रम लगा रहता है। अतः समाज या मजदूरोंके क्रय-शक्तिके घटनेका कोई भी प्रश्न नहीं खड़ा होता। बेकारी एवं भूखे, नंगे रहनेका किसीको अवसर ही नहीं होगा। व्यक्ति और समाज सबका कर्तव्य है कि समाजमें कोई भी भूखा, नंगा, बेरोजगार, बेकार न रहने पाये। पूँजीपति, उत्पादन-साधन, उत्पादक, श्रमिक तथा अन्य बुद्धिजीवी लोगोंके हितके स्वत्वरक्षणका प्रयत्न होगा।

'मार्क्सवादियोंके अनुसार प्राकृतिक अवस्थाओंके कारण सभी देशोंमें औद्योगिक विकास समानरूपसे नहीं हो पाता। औद्योगिकरूपसे जिन देशोंका विकास कम हुआ है,

उनमें खेतीद्वारा कच्चे मालकी पैदावार अधिक होती है और वह देश अपने कच्चे मालकी पैदावारको खपा सकनेमें असमर्थ रहते हैं। इन देशोंमें कच्चा माल सस्ता मिल सकता है और औद्योगिक मालको बेचकर मुनाफा कमानेकी गुंजाइश रहती है। इसलिये औद्योगिकरूपसे उन्नत देश कम उन्नत देशोंपर प्रभुत्व जमाकर आर्थिक लाभ उठानेका यत्न करते हैं। कम उन्नत देश पूँजीवादी देशद्वारा अपने शोषण-को रोक न सकें, या दूसरे उन्नत पूँजीवादी देश उन देशोंमें आकर उनका बाजार खराब न कर सकें, वहाँ उनका पूरा एकाधिकार और ठेका कायम रहे, इसलिये औद्योगिकरूपसे उन्नत पूँजीवादी देश कम उन्नत देशोंको अपने राजनैतिक अधिकारमें रखनेका यत्न करते हैं। कम उन्नत देश या तो उन्नत पूँजीपति देशोंके अधीन हो जाते हैं या उन्हें उपनिवेश बना लिया जाता है या उन्हें संरक्षणमें ले लिया जाता है। इस प्रकार यूरोपके कुछ देशोंने औद्योगिक विकास और पूँजीवाद-की उन्नतिके बाद सन् १८७६ से लेकर १९१४ के महायुद्धसे पूर्व कम उन्नत देशों अफ्रिका, एशिया आदिमें यूरोपके क्षेत्रफलसे दुगुनी भूमिपर अपना अधि-कार कर लिया। इसमें सबसे अधिक भाग था इंग्लैंड और फ्रांसका। इंग्लैंड इससे पूर्व भी भारत, ब्रह्मा आदि देशोंको अधीन कर चुका था और कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रिकामें अपने उपनिवेश बसा चुका था। जर्मनी और इटलीमें पूँजीवादका विकास बादमें होनेके कारण उनके होश सँभालनेसे पहले ही इंग्लैंड और फ्रांस पृथ्वीका बड़ा भाग सँभाल चुके थे। भूमिकी एक सीमा है, उसे पूँजीवाद देशोंके शोषणके लिये आवश्यकतानुसार बढ़ाया नहीं जा सकता; इसलिये पूँजीवादी देशोंमें झगड़ा होना आवश्यक हो जाता है।'

पूँजीवादी साम्राज्यवाद

मार्क्सवादके अनुसार 'किसी देशका पूँजीवाद जब मुनाफेके लिये अपने देशसे बाहर कदम फैलाता है, तब वह साम्राज्यवादका रूप धारण कर लेता है। प्राचीन समयका साम्राज्यवाद सैनिक आक्रमणके रूपमें आगे बढ़ता था और पराधीन देशोंका शोषण भूमि-करके रूपमें बरतता था। पूँजीवादका साम्राज्य-विस्तार आरम्भ होता है व्यापारसे। फिर अपने व्यापारको दूसरे देशोंके मुकाबलेमें सुरक्षित रखनेके लिये और पिछड़े हुए देशोंके कच्चे मालपर एकाधिकार रखनेके लिये साम्राज्यवादी देशोंमें परस्पर झगड़ा और युद्ध होता है।'

मार्क्सवादके अनुसार 'पूँजीवादके ऐतिहासिक विकासका परिणाम है साम्राज्यवाद। जिस प्रकार पूँजीवाद, व्यक्ति-स्वतन्त्रतासे आरम्भ होकर पूँजी-पतियोंके एकाधिकारमें परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार साम्राज्यवाद भी अन्ता-राष्ट्रिय स्वतन्त्र व्यापारसे आरम्भ होकर बलवान् पूँजीपति राष्ट्रके एकाधिकारमें

परिवर्तित हो जाता है और इस एकाधिकारको प्रत्येक पूँजीवादी राष्ट्रके पूँजीपति अपने ही अधिकारमें रखना चाहते हैं।'

रामराज्य-प्रणालीके अनुसार एक सार्वभौम शासन अन्ताराष्ट्रिय शासन होता है। उसके द्वारा सभी राष्ट्रोंके परस्पर समन्वय एवं सामञ्जस्यका सफल प्रयत्न होता है। उसके अनुसार अन्ताराष्ट्रिय व्यापारकी भी सुविधा होती है। अपने प्रयोजनयोग्य वस्तु रखकर शेष वस्तु उन देशोंमें भेजी जाती है, जहाँ उस वस्तुकी कमी होती है। इसी तरह एक देशमें अधिक उत्पादन होनेपर अन्य देशोंमें माल भी उसी व्यापारद्वारा सहजमें पहुँचाया जा सकता है। स्वभावसे ही जहाँ जिस वस्तुकी कमी होती है, व्यापारी वहीं लाभके लिये माल पहुँचाते हैं। राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अपने यहाँसे भी यदि माँग पूर्ति हो सकती है तो बाहरके मालपर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। तदनुसार ही व्यापारिक समझौता होता है। इसी समझौतेके द्वारा जिस देशमें जिस वस्तुकी बहुतायत है, वहाँसे उसका निर्यात होता है। जिस वस्तुकी किसी देशमें कमी है, उसमें उस वस्तुका देशान्तरसे आयात होता है। इसी आधारपर जापानको लोहा, इंग्लैंडको रूई, जर्मनीको पेट्रोल अन्य देशोंसे मिलता है। इसी आधारपर स्वीडन लोहा, कनाडा लकड़ी, अमेरिका रूईका निर्यात करता है। अवश्य पाश्चात्त्य साम्राज्यवादियोंने व्यापारके लिये अनेक देशोंको गुलाम बनाया और उपनिवेशके रूपमें राजनीतिक प्रभावक्षेत्रमें रखकर विविध प्रकारका लाभ उठानेका प्रयत्न किया और अब भी कर रहे हैं। यद्यपि अब उपनिवेशवाद मिट रहा है, फिर भी कई साम्राज्यवादी अभी भी उसका मोह छोड़नेमें असमर्थ हैं। भारतीय अंश गोवाको पुर्तगाली अब भी उपनिवेश बनाये हैं। अमेरिकाके कई क्षेत्रोंमें अब भी उपनिवेशवाद है। उपनिवेशवादके रूपमें न सही, परंतु राजनीतिक प्रभावक्षेत्र बनानेकी दृष्टिसे तो मार्क्सवादी राष्ट्र रूस, चीन आदि भी प्रयत्नशील हैं। इस समय पूँजीवादी अमेरिका एवं मार्क्सवादी रूसकी ही होड़ है। दोनों ही अपने-अपने प्रभावक्षेत्रके विस्तारके लिये प्रयत्नशील हैं। इनके व्यापारिक समझौते भी उन्हीं क्षेत्रोंमें होते हैं। सिद्धान्तके विचारसे देखा जाय तो किसी देशमें कम्युनिज्म रहे तो भी पूँजीवादी राष्ट्रका कोई नुकसान नहीं। परंतु कम्युनिष्ट राज्य तो सिद्धान्ततः तबतक किसी देशमें कम्युनिज्मकी स्थापना असम्भव समझते हैं, जबतक सारे संसारमें उसकी स्थापना न हो जाय। ऐसी दशामें जब हम मार्क्सवादियोंके द्वारा सह-अस्तित्वकी घोषणा सुनते हैं—तो आश्चर्य होता है।

अन्ताराष्ट्रिय कम्युनिष्टराज्य या विश्व-मजदूर-सरकार बनाना कम्युनिष्टोंका ध्येय है और जैसे एक राष्ट्रमें तानाशाही मजदूर-शासन होता है, वैसे ही विश्वभरमें तानाशाही मजदूर-शासन होगा। इसकी अपेक्षा रामराज्य-प्रणालीके अनुसार सार्वभौम विश्व-सरकारकी योजना कहीं श्रेष्ठ है। जिसमें केवल शान्ति, सामञ्जस्य,

समन्वय एवं विकासके लिये सार्वभौम नियन्त्रण होगा। अपने-अपने क्षेत्रमें अधिकाधिक स्वाधीनताका उपयोग सब कर सकेंगे। जहाँ राष्ट्रके भीतर नागरिकों-को भी पर्याप्त स्वाधीनता रहती है, वहाँ अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें तो और अधिक स्वाधीनता मान्य होती है। प्राचीन कालमें यद्यपि चरित्र, बुद्धि, शक्ति और संघटनके बलसे ही विश्वपर सार्वभौम सत्ता स्थापित होती थी तो भी तत्-तत् राजाओंकी स्वीकृति अपेक्षित होती थी, और परम्परासे जन-सामान्य स्वीकृतिकी प्राप्ति की जाती थी। ढंग लगभग वही-का-वही आज भी है। बुद्धि, धन एवं सैनिक-संघटन तथा अस्त्र-शस्त्र-शक्ति एवं नीतिके बलपर ही आज बड़े-बड़े गुट बनते हैं। उनका कोई मुखिया होता है और उसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपमें जनस्वीकृति प्राप्त करना आवश्यक होता है। जबतक किसी ढंगकी सार्वभौम सत्तावाली विश्वसरकार न बनेगी, तबतक अपने-अपने क्षेत्रके विस्तारका प्रयत्न होता ही रहेगा। व्यापारिक लाभ भी प्रत्येक राष्ट्र उठानेका प्रयत्न करता ही रहेगा। इसमें पूँजीवादी राष्ट्रोंके समान ही समाजवादी राष्ट्र भी संघर्षरत रहते हैं। जैसे व्यक्तियोंमें स्वार्थलिप्सा होती है, वैसे ही वर्गों तथा राष्ट्रोंमें भी स्वार्थलिप्सा रहती है। जैसे अपने वर्ग-हित-के लिये कम्युनिष्ट हिंसा, लूट-खसोट सब कुछ उचित समझता है, वैसे ही कम्युनिष्ट सरकारें अपने राज्य-हितके लिये भी दूसरे राष्ट्रोंके साथ न्याय, अन्याय सब कुछ उचित समझती हैं। फिर अपने ही उपस्थापित सभी आक्षेपोंसे कम्युनिष्ट स्वयं नहीं मुक्त हो सकते; क्योंकि छीना-झपटी, अन्याय, हिंसा आदिमें कम्युनिष्ट व्यक्ति-गतरूपसे, वर्गरूपसे, राज्यरूपसे इतर लोगोंकी अपेक्षा बढ़े-चढ़े हैं। उनमें आपसमें भी पदच्युत करके पदाधिरुढ़ होनेका संघर्ष चलता ही है। कितने ही मतभेदवाले व्यक्तिसमूह पर्ज, कंटक-शोधनके नामपर समाप्त कर दिये गये।

धर्मनियन्त्रणरहित पूँजीवादी तथा व्यक्तिवादी भी इसी कोटिमें हैं। धर्म-नियन्त्रित रामराज्यवादी चाहे व्यक्ति हो, चाहे राज्य, चाहे सार्वभौम सरकार हो; वह तो प्राणीमात्रको परमेश्वरकी संतान समझती है। समष्टि-व्यष्टि सबके ही हित-स्वत्व-का रक्षण, सबके साथ न्याय उसे अभीष्ट है। बहुमत ही नहीं—अल्पमतके साथ भी अन्याय होना अनुचित है। जैसे कभी-कभी अस्त्र-शस्त्र-बलके द्वारा किसीपर अन्याय होता है, वैसे ही बहुमतके बलपर अल्पमतपर भी। कभी-कभी अल्प-संख्यक सज्जनोंपर बहुसंख्यक अन्यायी एवं डाकुओंद्वारा अन्याय किया जाता है। धर्मनियन्त्रित व्यक्ति, राज्य अथवा सार्वभौम शासन सदा सर्वत्र अन्याय मिटा-कर सामञ्जस्य स्थापनमें ही तत्पर रहेगा। इतिहासमें भली-बुरी सभी ढंगकी घटनाएँ होती हैं। वे सब सिद्धान्त ही नहीं होतीं। अतः पूँजीवादी, व्यक्तिवादी अथवा समाजवादी वर्गोंद्वारा हुई अवाञ्छनीय घटनाएँ कभी ग्राह्य नहीं हो सकतीं।

अशान्तिकी जड़—आर्थिक विषमता

मार्क्सवादके दृष्टिकोणसे 'वर्तमान संसारमें व्यक्तिके जीवनसे लेकर अन्ताराष्ट्रिय परिस्थितितक सभी संकटोंका कारण आर्थिक विषमता ही है। समाजमें पैदावार समाजके हितके लिये नहीं की जाती, बल्कि कुछ व्यक्तियोंके मुनाफेके लिये ही की जाती है। इसीलिये ऐसी विषमता पैदा हो जाती है। इस विषमताको कायम रखनेके लिये पूँजीवादी-समाजमें सरकारकी व्यवस्था और अन्ताराष्ट्रिय क्षेत्रमें साम्राज्यकी व्यवस्था करनी पड़ती है। मार्क्सवाद समाजमें एक नयी व्यवस्था लानेके लिये यत्न करना चाहता है, जिसमें यह सब विषमताएँ और बन्धन न रहें, जो व्यक्ति और समाजके विकासको असम्भव बना रहे हैं। मार्क्सवादके सिद्धान्त इसी प्रकारकी नयी व्यवस्था कायम करनेकी शक्ति रखते हैं या नहीं, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उन्हें उनके वास्तविक रूपमें रख देनेका यत्न किया गया है। समाजमें शान्ति और व्यवस्था कायम करनेके लिये समय-समयपर अनेक सिद्धान्तोंका जन्म हुआ है। इन सिद्धान्तोंका समुच्चय ही समाजशास्त्र है। मार्क्सवाद आदि कालसे संकलित होते हुए समाज-शास्त्रका सबसे नवीन अध्याय है।'

परंतु उनका यह कथन पिष्टपेषणमात्र है। यदि कोई व्यक्ति, वर्ग अथवा राज्य स्वतन्त्रता चाहता है, तानाशाही कम्युनिष्ट शासनयन्त्रका नगण्य कल-पुर्जा नहीं बनना चाहता; तो वह स्वयं ही परिश्रम कर, सम्पत्ति-विपत्तिका खतरा उठाकर, प्रमाद, आलस्यपरित्यागपूर्वक तत्परतासे विद्वान्, बलवान्, धनवान् बननेके प्रयत्नसे अच्छी स्थितिमें पहुँच सकता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

जैसे किसी दासको स्वतन्त्ररूपसे अपने परिवार चलानेके लिये चिन्ता नहीं होती थी, मालिक अपनी परिस्थितियोंके अनुसार उनकी व्यवस्था करता था। उसी तरह कम्युनिष्ट-शासनमें दासके तुल्य जनसामान्यको निश्चित रहना सम्भव हो सकता है, खान-पान-वस्त्रकी निश्चिन्तता रह सकती है, परंतु स्वाधीनतापूर्वक अपनी जीवन-व्यवस्थाके संचालनकी दृष्टिसे यह स्थिति नगण्य है। यों तो अच्छे मालिकके कुत्तेकी भी खान-पान, आराम-शिक्षण आदिकी अच्छी व्यवस्था होती है, किंतु क्या वह आदर्श स्थिति कही जा सकती है? स्वाधीनतापूर्वक जीवन-निर्वाहके लिये व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति, रोजगारोंकी भी स्वतन्त्रता अपेक्षित होगी। उसमें एकको दूसरेकी सहायता अपेक्षित होगी। इसलिये एकको दूसरेसे ऋणके रूपमें सहायता लेनी पड़ती है। किसीसे भूमि भी कर देकर लेनी पड़ती है। अपनी कमाईसे ही उस अंशको चुकाना पड़ता है। इसे कोई भी सभ्य समाज शोषण नहीं कह सकता। हाँ, यदि अनुचितरूपमें कर या सूद देना पड़े तो अवश्य शोषण कहा जा सकता है; परंतु जहाँ सरकार या न्यायालय या पंच अथवा आर्ष

शास्त्रोंद्वारा सूद या करकी दर निश्चित होती है, वहाँ शोषणकी बात नहीं कही जा सकती। ठीक इसी तरह अधिक विकसित देश कम विकसित देशोंको मुद्रा अथवा कल-कारखानोंकी सहायता दें और उससे उसके बदले कच्चा माल या अन्य कुछ लें तो यह भी शोषण नहीं कहा जा सकता। किंतु आपसी समझौताके आधारपर ही यह सब होता है। विकसित देशोंकी सहायतासे ही अविकसित देशोंका विकास सम्भव है। कम्युनिष्ट राज्य भी आपसमें सहायता करते हैं और बदलेमें कोई दूसरी चीज प्राप्त करते हैं। यदि इसे ही शोषण कहा जाय तो कम्युनिष्ट राज्य भी शोषक हैं। यदि छोटे-से मजदूरसे राज्यका मिनिस्टर या फील्डमार्शल बन जाना अपराध नहीं है तो छोटे व्यापारीसे बड़ा धनवान् या पूँजीपति बन जाना भी अपराध नहीं है।

कोई राज्य-सरकार कभी धनहीन होती है, दूसरोंसे कर्ज लेती है; पर वही सदुद्योगसे बहुधन-सम्पन्न हो जाती है और दूसरोंकी भी सहायता करनेवाली हो जाती है। पर यह कोई अपराध नहीं गिना जाता। हाँ, यदि दूसरोंको नुकसान पहुँचाकर, दूसरोंके साथ अन्याय करके ऐसा किया जाता है तो अवश्य अपराध है और ऐसा अपराधी चाहे व्यक्ति, चाहे वर्ग, चाहे सरकार हो, वह दण्डनीय है। रहा यह कि पूँजीपति बिना कुछ किये ही यह लाभ उठाता है तो यह भी कथन व्यर्थ है। फड़वा चलाना ही काम नहीं है, महाव्यापारका संचालक भी काम करता है। सैनिक बन्दूक चलाता है, युद्ध-मन्त्री केवल नीति-निर्धारण करता है।

व्यापार-संचालनसे होनेवाला महान् लाभ भी राष्ट्रकी ही सम्पत्ति होगी। आवश्यकता पड़नेपर राष्ट्रके हितार्थ सहायताके रूपमें उसका उपयोग हो सकता है। रामराज्यप्रणालीका मुख्य आदर्श ही यही है कि न कोई व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका शोषक हो, न कोई वर्ग दूसरे वर्गका शोषक हो और न कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्रका शोषक हो; किंतु सब एक दूसरेके पोषक होने चाहिये। जहाँतक दूसरेको सहायता पहुँचानेका प्रश्न है, वह ठीक है। नाममात्रका उससे अपना भी लाभ निकालना हो तो भी कोई हर्ज नहीं; किंतु सहायता पहुँचानेके नामपर दूसरे वर्गों या राष्ट्रोंका शोषण करना सर्वथा अपराध है। उत्तम सिद्धान्त तो यह है कि परार्थ ही अपना स्वार्थ माना जाय। मध्यम बात यह है कि स्वार्थके अविरोधेन परार्थ किया जाय। दूसरेका नुकसान कर अपना स्वार्थ-साधन तो विशुद्ध आसुरी प्रकृति है और इससे संघर्ष और विनाश ध्रुव होता है। शोषक व्यक्ति, शोषक वर्ग या शोषकराज्यविरोधी शोषितसमूह अवश्य होगा। इसी तरह शोषित राज्यों तथा वर्गोंमें भी प्रबल निर्बलके शोषक होते ही हैं।

मार्क्सवादी भी मानेंगे कि पराधीन राष्ट्रोंमें भी सामन्त तथा पूँजीपति किसान-मजदूरोंके शोषक होते हैं। बड़े मजदूर तथा बड़े किसान छोटे मजदूर तथा

किसानोंके शोषक होते हैं। इसीको मात्स्यन्याय कहते हैं। इसीको अन्त करनेके लिये धर्मनियन्त्रित शासन धर्मराज्य या रामराज्य अपेक्षित होता है। मार्क्सवादी वर्ग-संघर्ष, वर्गविध्वंसद्वारा समस्याका समाधान चाहते हैं। रामराज्यवादी धर्म, अहिंसा, सत्य, सामञ्जस्य, समन्वयद्वारा तथा अचिकित्स्य अन्यायीको दण्डद्वारा वर्ग-विद्वेष रोककर वर्गसद्भाव एवं सामञ्जस्यद्वारा समस्याका समाधान चाहता है। वर्गके भीतर पुनः नये वर्ग सम्भव होते हैं। एक वर्गमें भी शतशः संघर्ष देखा जाता है। अतः सद्भाव विना कभी भी शोषण तथा अशान्तिका अन्त नहीं हो सकता। अतः रामराज्यवादीकी धर्म नियन्त्रण अङ्गीकार विना दूसरी गति नहीं है। जैसे शोषक-श्रेणीमें भी एक दूसरेके शोषक होते हैं, वैसे शोषित-श्रेणीके लोग भी एक दूसरेके शोषक होते हैं। साँपके मुँहमें पड़ा हुआ मेढक शोषित-उत्पीड़ित ही है, तो भी वह मुच्छरोंके खानेके लिये जीभ लपलपाता ही है। इस तरह शोषित ही दूसरोंका शोषक होता है। मालिकका खैरख्वाह बड़ा कर्मचारी एक तरहका मजदूर ही है। वही दूसरे मजदूरोंको वेतन कम देकर कामके घंटोंको बढ़ाकर शोषण करता है। मार्क्सवादी मजदूरोंके इस कार्यको अज्ञानमूलक कहकर समाधान करते हैं। परंतु कोई भी शोषण वस्तुतः अज्ञानमूलक ही होता है। अपने स्वार्थके सामने जैसे बड़ा मजदूर समाजका हित भूल जाता है, वैसे ही अपने स्वार्थके सामने पूँजीपति भी समाजके हितको भूल जाता है। इसी स्वार्थमूलक अविवेकको मिटानेके लिये ईमानदारी तथा विवेककी आवश्यकता होती है।

समाजवादी व्यवस्थामें भूमि, सम्पत्ति, उत्पादनके साधन सबपरसे स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। सरकारी वस्तु या सहकारिताके आधारपर होनेवाले उत्पादनोंमें कोई व्यक्ति इच्छानुसार उपयोग नहीं कर सकता। किसी अतिथिको भोजन कराना हो या किसी समय जाड़ेकी रात काटनेके लिये धानकी भूसीकी ही आवश्यकता हो तो भी अपनी वस्तु-जैसा उसका यथेष्ट विनियोग नहीं किया जा सकता। गेहूँ-जौके खेतसे दस बाली या बजड़े, जुआर या मक्काके कुछ बाल भी शामिलात खेतोंसे स्वतन्त्रतापूर्वक नहीं लिये जा सकते। शहरकी अपेक्षा गाँवोंमें यही विशेषता है। वहाँ हर वस्तुके लिये दामकी अपेक्षा नहीं रहती। किसान स्वतन्त्रता-पूर्वक वस्तु तैयार करता है। स्वतन्त्रतापूर्वक विनियोग करता है। सर्षप, वास्तुक, पालक आदिके शाक इच्छानुसार पैदा किये जा सकते हैं। थोड़े ही खेत तथा थोड़ी ही सम्पत्तिमें अपने कुटुम्बके उपयोगकी सब वस्तु तैयार कर ली जाती है—

तरुणं सर्षपशाकं नवोदनं पिच्छलानि च दधीनि।
अल्पव्ययेन सुन्दरि ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति॥

उसीमेंसे अन्नदान, वस्त्रदान, सुवर्ण-रजतदान, यज्ञ, तीर्थयात्रा सब कुछ कर लेता है। समाजीकरणमें यह सब कुछ नहीं बन सकता। कुत्तोंको रोटी मिल

जायगी किंतु भूँकनेकी स्वतन्त्रता न रह जायगी। बकरीको चना मिल जायगा, किंतु जुगाली करनेकी स्वाधीनता न रहेगी। ऐसे ही किसी तरह कुछ रोटी-कपड़ा मिल जायगा, पर धार्मिक आचार-विचारोंकी स्वतन्त्रता नहीं रह जायगी। रामराज्य-प्रणालीमें सब प्रकारकी स्वाधीनता एवं सामञ्जस्य होनेसे संघर्ष बचेगा। धर्मनियन्त्रण तथा विवेकसे अभ्युदय तथा आर्थिक संतुलन एवं समन्वय हो सकता है।

व्यक्तिगत-सम्पत्तिका सिद्धान्त रहनेपर ही उत्तराधिकारकी बात चलती है। यह भी पशुओंकी अपेक्षा मनुष्योंकी ही विशेषता है कि पिता-पितामह आदिकी सम्पत्ति पुत्र-पौत्रोंकी बपौती सम्पत्ति होती है, एतदर्थ धर्मका सम्बन्ध भी अनिवार्य होता है। पिता आदिको पिण्ड-श्राद्धादि प्रदान करनेके अधिकारी ही दायाधिकारी होते हैं। इसके लिये प्रत्यक्ष-अनुमानसे भिन्न एक वचन प्रमाण भी मानना पड़ता है। पिताकी सम्पत्तिपर विवाद उठनेपर सिद्ध करना पड़ता है कि अमुक हमारे पिता हैं। इसे सिद्ध करनेके लिये प्रत्यक्षानुमान असमर्थ हैं। इसमें तो माता-पिताका वचन ही प्रमाण मानना पड़ता है। उसके बिना पिता आदिकी सिद्धि नहीं हो सकती। वचन प्रमाण माननेपर ही माता-भगिनी, पुत्री-पत्नी आदिमें भी भेद सिद्ध होता है। तदनुसार ही संसारभरमें सर्वत्र भेद-व्यवहार चलता है। पत्नी, पुत्री, भगिनी सभी स्त्री हैं। फिर भी पत्नी, भगिनी आदिके साथ व्यवहार-भेद करना पड़ता है। पशुओंमें प्रत्यक्षानुमान तो मान्य है, किंतु आगम—वचन प्रमाण मान्य नहीं है, अतः उनके यहाँ न व्यक्तिगत सम्पत्ति है न उत्तराधिकार है और न पत्नी, भगिनी, पुत्री, माता आदिका भेद-व्यवहार ही चलता है। वह इनमेंसे किसीको भी पत्नी बनाकर संतान पैदा कर सकता है, पर यह सब मानवताके विपरीत है। जिस दिन मनुष्य भगिनी-पुत्रीसे संतान उत्पन्न करने लगेगा, उस दिन मनुष्यता-पशुतामें कोई भेद न रहेगा। कम्युनिष्ट भी ऐसा करनेका साहस नहीं कर सकता है।

इस तरह रामराज्य-प्रणालीमें आगम-प्रमाण तथा धर्मका भी आदर कर पितृपितामहादिकी सम्पत्तिका उत्तराधिकार तथा धार्मिक विवाहादिकी मान्यता होती है। स्वार्थ-परार्थका समन्वय करके व्यष्टि-समष्टिके अभ्युदयका प्रयत्न किया जाता है। यह सही है कि लोभाभिभूत व्यक्ति या राष्ट्र आत्मनाश नहीं देखते। हरित तृणके लोभमें बकरी कूप-पतनकी चिन्ता नहीं करती है, मधुलोभमें पड़कर प्राणी आत्मप्रपात नहीं देखता, पर कोई भी समझदार सर्वनाश देखकर समझौता करता ही है। अमेरिका और रूस दोनों ही एक-दूसरेका नाश चाहते हैं। दोनों ही परमाणु, हाईड्रोजनबमकी धमकी देते हैं। तथापि एक-दूसरेके भयसे नियन्त्रित

है; तभी तो आज सह-अस्तित्वका राग अलापा जा रहा है। यदि रूसी साम्राज्यवादियोंके साथ सह-अस्तित्व सम्भव समझते हैं, तब तो साम्राज्यवादी भी परस्पर तथा आत्महितकी कामनासे अपने लोभकी मात्राको संकुचित कर सकते हैं। इस समय संयुक्तराष्ट्रसंघद्वारा भी बहुत कुछ नियन्त्रण और समन्वय हो सकता है। मार्क्सवादियोंके मतानुसार भी जब अन्ताराष्ट्रिय मजदूर-राज्य स्थापित हो जायगा, तभी सब संघर्षोंका अन्त हो सकता है। धर्मनियन्त्रित रामराज्यवादीके सार्वभौम शासनमें तो स्पष्ट ही उसके द्वारा सब अन्यायोंका निराकरण हो जायगा। इसे ऐतिहासिक अनुभवोंके विपरीत नहीं कहा जा सकता। भले ही आधुनिक मनगढ़ंत मिथ्या इतिहासके अनुसार रामराज्य ऐतिहासिक तथ्य न हो, परंतु आर्ष प्राचीन इतिहासके अनुसार अखण्ड भूमण्डलव्यापी सार्वभौम रामराज्य परम ऐतिहासिक तथ्य है। हाँ, मार्क्सका सर्वहारा राज्य अभीतक निराकार स्वप्न ही है। इतिहास साक्षी है कि धर्महीन, जडवादी राज्य कभी पनप नहीं सका है। शान्ति और समन्वय तो धर्महीन राज्यमें असम्भव है। काट्स्कीका अन्ताराष्ट्रिय पूँजीवादी साम्राज्यवाद तथा मार्क्सका विश्वव्यापी सर्वहारा राज्य मुकाबिलेकी ही चीज है। किंतु रामराज्यवादीका धर्मनियन्त्रित सार्वभौम राज्य सहस्रशः अनुभूत प्रयोग है। मान्धाता, दिलीप, अज, रामचन्द्र, नहुष, पुरूरवा, अलर्क आदिका अखण्ड भूमण्डलवर्ती धर्मराज्य पूर्णतया शान्तिके स्थापक रह चुके हैं। लाखों वर्षोंके अनुभवोंके सामने सौ-दो सौ-वर्षके मार्क्सवादी अनुभव कुछ भी मूल्य नहीं रखते। मार्क्सवादी सर्वहारा राज्य या पूँजीवादियोंका अन्ताराष्ट्रिय साम्राज्यवाद किसी पथको अपनायें, उसमें धर्म-नियन्त्रणके बिना लूट-खसोटका अन्त नहीं हो सकता।

मार्क्सवादमें यह भी कहा जा सकता है कि वहाँ किसीके पास कुछ चीज नहीं रह जायगी, फिर कौन किसकी क्या चीज लूटेगा? इसमें तो सभी फाँकेमस्त ही होंगे, परंतु रामराज्य-प्रणालीमें तो सार्वभौमका नाममात्रका ही नियन्त्रण होगा, वस्तुतः सर्वोपरि धर्मका ही नियन्त्रण मुख्यरूपसे रहेगा। मार्गमें पड़े हुए दो लाखके नोट पाकर जिसका है उसे लौटा देनेकी सलाह मार्क्सवादी नहीं दे सकता। यह तो रामराज्यवादी ही कह सकता है। परान्न या परद्रव्य मार्गमें हो चाहे गृहमें ही पड़ा हो, विधिपूर्वक बिना पाये नहीं लेना चाहिये। यहाँ तो बाजारोंमें माल भेजनेका उद्देश्य केवल मुनाफा नहीं, किंतु वितरण ही है। लाभ भी अवश्य हो सकता है, किंतु वह आनुषङ्गिक है, मुख्य नहीं। अतएव किसीके द्वारा किसी राष्ट्रके शोषणकी भी बात नहीं आयेगी, क्योंकि समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताके दृष्टिकोणसे जैसे एक व्यक्ति दूसरेका पोषक होगा, वैसे ही एक राष्ट्र, एक वर्ग भी दूसरे राष्ट्र, दूसरे वर्गोंका शोषक न होकर पोषक ही होगा।

मार्क्सवादियोंका यह आरोप पाश्चात्त्य पूँजीवादियोंके लिये सही हो सकता है कि पैदावार समाजके हितार्थ नहीं होता, मुनाफा कमानेके लिये ही होता है, किंतु रामराज्यवादियोंके लिये यह आरोप सर्वथा निराधार ही है; क्योंकि रामराज्यवादीके मतमें तो बलवान्का बल शोषणके लिये नहीं रक्षणके लिये है। धनवान्का धन शोषणके लिये नहीं दानके लिये होता है। उत्पादनसे समाजको वस्तु मिलेगी। उत्पादकको लाभ भी मिल सकता है। आम्रका सिञ्चन भी हो जाय, पितरोंका तर्पण भी हो जाय—'एकक्रिया द्व्यर्थकरी'का उदाहरण स्पष्ट है।

मार्क्सवादियोंका यह कथन भी सही नहीं कि 'आर्थिक शोषणके कारण ही संग्राम होते हैं।' सदा अनेकों कारणोंसे संग्राम होते ही रहे हैं। जैसे समान लक्ष्य रहनेपर भी कम्युनिष्टोंमें पदाधिकार-लिप्सासे मारकाट होती रहती है, उसी तरह सार्वभौम बननेकी इच्छासे भी अनेकों युद्ध हुए हैं। मनुष्योंमें ही क्या, पशु-पक्षियोंमें भी तो विभिन्न कारणोंको लेकर संघर्ष तथा युद्ध होते रहते हैं, कहीं सम्पत्तिके लिये, कहीं भूमिके लिये, कहीं कन्याके लिये, कभी धर्मके लिये, कभी मान-प्रतिष्ठा, इज्जत-आबरूके नामपर भी संग्राम हुए हैं। देवताओं-असुरोंका संग्राम कौरव-पाण्डवोंका संग्राम, राम-रावणका संग्राम केवल आर्थिक विषमताके लिये नहीं हुए।

संसारमें प्रतिस्पर्धासे उन्नति होती है। आजकल भी अन्नोत्पादनमें, पशुपालनमें, तैरनेमें, उड़नेमें, चलनेमें—हर बातोंमें प्रतियोगिता चलती है। प्रतियोगिता उन्नतिका मूल है, एतदर्थ पुरस्कार भी वितरण किया जाता है। प्राणीका यह स्वभाव भी है कि लाभके लोभ और हानिके भयसे उत्प्रेरित होकर वह तन्मयतासे काम करता है, अतः उत्पादनमें होड़ होना अनुचित नहीं है। फिर भी रामराज्यकी नीतिका अनुवर्तन करनेसे आर्थिक असंतुलन नहीं हो सकता। धनका धर्मार्थ, यशोऽर्थ, अर्थार्थ, कामार्थ और स्वजनार्थ इस तरह पञ्चधा विभाग होनेसे आर्थिक असंतुलन अवश्य ही दूर हो सकता है। यज्ञादि प्रसङ्गसे भी अर्थका वितरण होनेसे आर्थिक असंतुलन दूर होता है। रामराज्यकी दृष्टिमें एक वर्ग दूसरे वर्गका पोषक होता है, शोषक नहीं। रामराज्यमें कोई भी दरिद्र, दुखी, अबुध और लक्षणहीन नहीं था—

नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥

सब प्राणी परस्पर प्रेम करते थे, सब स्वधर्म निरत थे, और सब श्रुतिके अनुसार चलते थे—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

हाथी और शेर प्रेमसे साथ-साथ विहार करते थे—

चरहिं एक सँग गज पंचानन।

धन, विद्वान् और शक्तिमानोंका बाहुल्य होना राष्ट्रका भूषण है, दूषण नहीं। जब सभी समानरूपसे बलवान्, बुद्धिमान् एवं समान क्रियावान् नहीं होते, तब सभीके

समान धनवान् होनेकी कल्पना भी व्यर्थ है। निर्बल बलवान्का सहारा चाहता है, अल्पबुद्धि विपुल बुद्धिकी अपेक्षा करता है। इसी तरह सब लोग समानरूपसे धनार्जन नहीं कर सकते, अतः अल्पधन भी विपुलधन-सम्पन्नकी अपेक्षा कर सकता है। इसीलिये योग्यता एवं आवश्यकताको ध्यानमें रखते हुए ही 'चींटीको कणभर और हाथीको मनभर' के अनुसार सभीके लिये समुचित काम, दाम और आरामकी व्यवस्था होनी चाहिये—यह रामराज्यका सिद्धान्त है। इससे लूले, लँगड़े, वृद्ध-अपाहिज आदिका भी निर्वाह होगा। इसी दृष्टिसे सबको सस्ता कपड़ा, सस्ती रोटी, सस्ता आवास-स्थान, सस्ती शिक्षा, सस्ती चिकित्सा और सस्ता न्याय सुलभ हो सकेगा। उद्यमोंमें होड़, बाजारों, पेट्रोल, कोयलों आदिके लिये संग्राम आदि तबतक अवश्य बने रहेंगे, जबतक एक राष्ट्रमें दूसरे राष्ट्रका भेद बना रहेगा। सिद्धान्त और शासनकी दृष्टिसे एक दूसरेको अपनेमें मिलानेके लिये सभी प्रयत्नशील बने ही रहेंगे। सब कम्युनिष्ट हो जायँ, सब सोवियत-संघमें मिल जायँ, तभी संघर्ष रुक सकता है। परंतु फिर भी लेनिन, ट्राटस्की, स्टालिन आदिमें जैसे संघर्ष चला, वैसे ही सत्ता हथियानेके लिये संघर्ष चल ही सकता है। इस दृष्टिसे सर्वोत्तम पक्ष धर्म-नियन्त्रित शासनका है, जिसमें पृथक्-पृथक् शासन रहनेपर भी युद्ध, संघर्षसे सब दूर रह सकते हैं। यदि अखण्ड भूमण्डलका एक ही धर्म-नियन्त्रित शासक हो, तभी सब सुख-स्वप्न पूरे हो सकते हैं। जिन कम्युनिष्टोंका वर्ग-भेद, वर्ग-संघर्ष एवं वर्ग-विध्वंस ही अभ्युदयका मार्ग है, उनकी सद्भावना और भ्रातृता कैसी है—यह समझनेमें किसीको कठिनाई न होगी। सब चीजें समाजकी हों यही कहकर सब चीजें मुट्ठीभर मजदूर अधिनायकोंके हाथकी ही बना दी जायँगी। बैलगाड़ीवालों, ऊँटवालों, गधेवालों—सबका पूर्ण सत्यानाश तो कम्युनिज्ममें ही होगा। किसान, व्यापारी तथा बुद्धिजीवी-वर्गको भी कम्युनिष्ट अधिनायकोंके दास बनकर ही गुलामीका जीवन बिताना पड़ता है। नमूनेके तौरपर कुछ शहरों, ग्रामोंमें अवश्य मजदूरोंको स्वर्ग दिखायी दे, परंतु व्यापक तौरपर रूसकी कहानी तो कुछ और है। जो इसे अपनी आँखों देख चुके हैं, उनके वर्णनोंको 'पत्थरके देवता' नामक पुस्तकमें कोई भी देख सकता है।

जो कहा जाता है कि 'कम्युनिज्ममें हर काम हर व्यक्तिको सिखलाया जायगा' यह भी अत्यन्त अव्यावहारिक बात है। सब काम सब नहीं कर सकते, सब काममें सबको दक्षता भी नहीं प्राप्त हो सकती है। प्रत्येक व्यक्तिको उच्चकोटिकी मोटरें, नये-नये वायुयान सुलभ कर देना कम्युनिस्टोंका दिमागी पुलावमात्र है। जब सैनिक और सेनापति, शासक और शासितका भेद न रहेगा, तब कोई भी व्यवस्था न चल सकेगी। यदि उपर्युक्त भेद रहेगा तो रूपान्तरसे वही स्वामी और सेवकका

भाव आ ही जाता है। अफसर और मातहत लोगोंमें भी वही भावनाएँ चलती हैं।

धर्म और ईश्वरपर विश्वास होनेसे ही प्राणी अत्याचार, पापाचार आदिसे बचता है। अन्यथा शासकोंकी आँखमें धूल डालकर लोग मनमाना अनाचार, दुराचार कर सकते हैं। धर्म और ईश्वरकी कल्पना न होनेसे ही व्यक्ति, समाज और राष्ट्र परस्पर एक दूसरेसे जाल-फरेब करते हैं। धर्म और ईश्वरपर विश्वास होनेसे प्राणिमात्रमें परमेश्वरका अस्तित्व दिखायी देता है। सब प्राणी परमेश्वरकी संतान हैं ('अमृतस्य पुत्राः'), फिर किससे विग्रह और किससे वैर ? यह भावना सिवा अध्यात्मवादके जडवादमें कभी पनप ही नहीं सकती। अध्यात्मवादमें ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पाठ पढ़ाया जाता है। जडवादमें तो थोड़ा-सा ही मतभेद होनेपर एक दूसरेको मौतके घाट उतार देनेकी बात सोची जाती है। रामराज्य ही महायन्त्रोंका निर्माण रोकना और उद्योग-धंधोंका विकेन्द्रीकरण करना चाहता है, परंतु कम्युनिज्ममें तो यन्त्रीकरणका विस्तार ही अभीष्ट है, फिर छोटे-छोटे कारीगरों या बैलों, ऊँटों, गधों आदिकी समस्या कम्युनिज्ममें कैसे हल होगी ? रामराज्य-परिषद्की दृष्टिमें आर्थिक असंतुलन दूर करनेकी पूर्ण योजना है ही। पूँजी और श्रम दोनोंही उत्पादनके मूल हैं। दोनोंकी उचित कदर की जायगी। विविध प्रकारके करों तथा आयात-निर्यातोंके सम्बन्धमें सदा ही समष्टि तथा व्यष्टिके हितोंका ध्यान रखा जाता है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व—सभी आत्मोन्नतिके उपाय कर सकते हैं, परंतु समष्टिके परस्पर हितका सामञ्जस्य रखना उनका अनिवार्य कर्त्तव्य है। यह केवल कम्युनिष्टोंकी ही बात नहीं है, किसी भी शासनमें समूचा राष्ट्र ही एक कुटुम्ब माना जाता है। सर्वत्र राष्ट्रके उन्नायकों, नेताओं तथा प्रबन्धकोंकी योग्यता और ईमानदारीके अनुसार ही उत्पादन एवं वितरणकी ठीक-ठीक व्यवस्था होती है। खपतके अनुरूप ही माल पैदा करनेका नियम रामराज्य-पद्धतिमें रहता है; क्योंकि समष्टि-हितके अविरुद्ध ही व्यष्टिको प्रत्येक कार्य करनेकी स्वाधीनता मान्य है। शास्त्रों एवं तर्कोंसे किसीकी बपौती, मिल्कियत एवं गाढ़े पसीनेकी कमाई और दान या पुरस्कारमें पायी हुई सम्पत्तिका अपहरण करना अन्याय एवं पाप है।

अवश्य ही उत्पत्तिके पुराने साधनों एवं पद्धतियोंमें रद्दोबदल होनेसे उत्पादनमें विस्तार हो जाता है। उत्पन्न वस्तुओंमें सस्तापन भी आता है, आमदनीमें भी वृद्धि हो जाती है। खपतके लिये बाजारोंकी आवश्यकता, माल भेजने, मँगानेके लिये एवं कारखानोंके लिये कोयले, पेट्रोल आदिके खानोंकी आवश्यकता, बाजारों एवं कोयले, पेट्रोल आदिके लिये संघर्ष और बेकारीकी समस्या आदि भी खड़ी हो जाती हैं। इसीलिये रामराज्यमें उद्योगोंका विकेन्द्रीकरण ही अभीष्ट

है । छोटे-छोटे व्यवसायोंद्वारा स्वावलम्बी ढंगसे बेकारी दूर करके व्यापक-रूपसे रोजगारोंकी व्यवस्था की जाती है । कम्युनिष्ट यद्यपि बड़ी-बड़ी पुस्तकोंमें कल-कारखानोंके द्वारा गरीबोंके रोजगार छिन जानेकी चीख-पुकार मचाते हैं, परंतु उन्हीं कल-कारखानोंका वे समर्थन भी करते हैं । इतना ही क्यों, वे कल-कारखानों-के विस्तारसे ही लाखोंकी संख्यामें मजदूरोंका एकत्रित एवं संगठित हो सकना और मजदूर-आन्दोलनोंके द्वारा कम्युनिष्टराज्य-स्थापनाका भी स्वप्न देखते हैं । ईश्वर एवं धर्मकी भावना दृढ़ होनेसे वैभव एवं सम्पत्तिवाले अपनी सम्पत्तिका सदुपयोग राष्ट्रके पोषण तथा जीवन-स्तर उन्नत करनेमें करेंगे । बेकारी दूर करनेके काममें उनकी सम्पत्ति उपयुक्त होगी । इसीलिये प्राचीनकालमें आजकी अपेक्षा कहीं अधिक सम्पत्ति, शक्ति, बल, विद्या और दक्षताके रहनेपर भी असंतुलित विषमता, बेकारी, कलह आदि नहीं थे । ईश्वर एवं धर्मकी भावना घटनेसे ही मात्स्यीय न्याय, परस्पर भक्ष्य-भक्षकभाव, शोषक-शोषितभाव बढ़ता है और उसे ही मार्क्सवादी गुण मानते हैं । वर्ग-कलह, वर्ग-विद्वेष तथा वर्ग-विध्वंस ही जिस संस्थाके सिद्धान्त एवं आधार हों, वे ही जिसके जीवन एवं उन्नतिके एक-मात्र साधन हों, उससे विश्वशान्ति एवं विश्वमें समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताकी स्थापनाकी आशा करना व्यर्थ ही है ।

उत्पादन-विस्तारसे इस तरह कुछ भौतिक परिवर्तन होनेपर भी धर्म, दर्शन एवं राजनीतिक नियमों, स्वत्वोंमें रद्दोबदलका कोई प्रसङ्ग नहीं होता । अमेरिका आदिकोंमें विना मौलिक रद्दोबदलके भी काम चलता ही है । आर्थिक दशा सामाजिक, धार्मिक नियमोंका नींव ही नहीं है, जिससे कि आर्थिक दशामें परिवर्तन होनेसे सामाजिक, धार्मिक नियमरूपी भवन ढह पड़े और उनमें रद्दोबदल करना आवश्यक हो । जो यह कहा जाता है कि 'जिन लोगोंने उत्पादन-साधनोंमें रद्दोबदल कर लिया, उन्हें उत्पन्न हुई वस्तुओंके वितरण-सम्बन्धी नियमोंमें भी परिवर्तन कर लेनेका अधिकार मानना न्यायसङ्गत है । अतः पुत्र-पौत्र आदिका पिता-पितामहकी सम्पत्तिपर दायरूपसे बपौती-सम्पत्तिके रूपमें अधिकार माननेके नियममें भी हेरफेर करके तथा सभी स्वत्व-सम्बन्धी पुराने नियमोंमें परिवर्तन करके समाजीकरण या राष्ट्रीकरणका सिद्धान्त माना जाना ठीक ही है ।' परंतु यह बात विचारणीय है कि उत्पादन-साधनोंमें परिवर्तन करनेका मुख्य श्रेय किसको है ? क्या साधारण मजदूर-समुदायको ? नहीं, मानना पड़ेगा कि इसका पहला श्रेय बड़े वैज्ञानिकों एवं अन्वेषकोंको है । फिर ऐसे भी बहुतसे शाश्वत नियम हैं, जिसमें परिवर्तन असम्भव है । ऐसी दशामें यह सब कथन भी निस्सार है । इसपर विस्तृत विचार आगेके ४२८ से ४३२ पृष्ठोंपर देखना चाहिये ।

सप्तम परिच्छेद

ऐतिहासिक भौतिकवाद

इतिहास क्या है ?

मार्क्सके ऐतिहासिक भौतिकवादपर विचार करनेके पूर्व यह समझना आवश्यक है कि 'इतिहास' है क्या ? यूनानी भाषामें इतिहास (हिस्ट्री) का अर्थ जिज्ञासा होता है । मुसलमानोंमें शिक्षापूर्ण उच्च आदर्शका वर्णन ही इतिहास समझा जाता था । फ्रांसके प्रसिद्ध लेखक वाल्टेयरके अनुसार मनुष्यकी मानसिक शक्तिका वर्णन ही इतिहास है, छोटी-छोटी घटनाओंका वर्णन इतिहास नहीं । उसके अनुसार शासकोंका वर्णन भी इतिहास नहीं, किंतु 'मनुष्य जंगलीसे सभ्य कैसे हुआ', इस विकासका वर्णन ही इतिहास है । विज्ञान-वृद्धिसे विज्ञानका अनुसरण इतिहासमें भी होने लगा । प्राचीन शिलालेखों, दानपत्रों, मुद्राओं, खण्डहरोंद्वारा सत्यका अनुसंधान होने लगा । ब्यूरो-जैसी प्रसिद्ध लेखिकाने कहा कि 'इतिहास एक विज्ञान है ।' एक फ्रांसीसी लेखकका कहना है कि 'इतिहास शुद्ध विज्ञान है ।' परंतु दूसरे लोग कहते हैं कि इतिहास कभी विज्ञान नहीं हो सकता । लेख-मुद्राओंके द्वारा भी सत्य घटनाओंका ज्ञान नहीं हो सकता । लेखोंमें परस्पर विरोध भी होता है । कुछ लोग 'इतिहास' को एक 'कला कहते हैं किंतु कलामें विशेषरूप देनेके लिये वस्तुकी कुछ काट-छाँट करनी पड़ती है, और ऐसा करनेमें सत्य अंश छिप जाता है । कुछ लोगोंका कहना है कि कला लेखन-शैलीमें होनी चाहिये । विज्ञान घटनाओंके अनुसंधानमें होना चाहिये ।

विश्वमें पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग भी हैं, उनका प्रभाव भी इतिहासपर पड़ता है । १४ वीं शतीमें युरोपमें प्लेगका भीषण प्रकोप हुआ था । उससे डेढ़ करोड़ मनुष्य मरे थे । इसके कारण वहाँ बड़ा भारी धार्मिक एवं राजनीतिक उथल-पुथल हुआ था । इन सबका कारण चूहे ही थे । हैजा आदि भी कीटाणुओंके ही परिणाम हैं । नेपोलियनकी अजेय सेना संग्रहणीके कीटाणुओंका शिकार बनकर रूसमें नष्ट-भ्रष्ट हो गयी थी । जंगल नष्ट होनेसे जमीनका कटाव बढ़ गया । प्रकृतिकी उथल-पुथलसे कितने ही साम्राज्य भूगर्भमें विलीन हो गये । कभी-कभी साधारण-साधारण घटनाओंसे ही इतिहासका कायापलट हो जाता है । फ्रांसकी क्रान्तिके दिनों वहाँका राजा लुई भाग निकला । रास्तेमें एक गाड़ी पड़ी होनेके कारण उसका मार्ग रुक गया । गाड़ी हटानेमें देर होते ही भीड़ एकत्रित हो गयी । राजा पहचाना गया और पकड़ लिया गया ।' यदि वह भागकर राज-भक्त सेनामें पहुँच गया होता तो क्या फ्रांसकी क्रान्ति सफल हो सकती थी ?

हीगेलके अनुसार 'इतिहास ईश्वरकी आत्मकथा है। वह मनुष्योंको अपनी रुचिके अनुसार कार्य करने देता है। उनका फल वही होता है, जो ईश्वर चाहता है।' इंग्लैंडके डिल्टन मेरका मत है कि 'संसार अज्ञातरूपसे, पर बड़े कष्टपूर्वक ईश्वरकी ओर बढ़ रहा है—मेरे लिये इतिहासका यही अर्थ है।' यह भी एक पक्ष है कि इतिहासमें निष्पक्षता हो ही नहीं सकती। लेखक जिस देशकालमें रहता है, उसका प्रभाव उसपर अवश्य होता है। अतः वह अतीतको भी वर्तमानके चश्मेसे देखता है। जर्मन इतिहासज्ञोंका कहना है कि 'जर्मनीके जंगलों, पहाड़ों, नदियों तथा जर्मन वीर-गाथाओंका गौरवपूर्ण वर्णन ही इतिहास है।' एक इटालियनका कहना है—'यदि प्राचीन इतिहासके अध्ययनसे हममें उत्साह नहीं बढ़ता तो फिर गड़े मुर्दे खोदनेकी क्या आवश्यकता?' कुछ लोगोंका मत है कि इतिहास अपनेको दोहराता रहता है। दूसरे कहते हैं—'प्राचीन घटनाओंकी पुनरावृत्ति असम्भव है।' कुछ लोग 'विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्तियोंका विस्तृत वर्णन ही इतिहास' समझते हैं। कुछ लोग छोटी-से-छोटी घटनाओंका भी इतिहासपर प्रभाव मानते हैं। मेरके अनुसार सार्वजनिक घटनाओंका क्रम-बद्ध वर्णन ही इतिहास है। प्रो० हॉर्नशॉकी रायमें विश्व-घटनाओंकी गति या उसके कुछ अंशका वर्णन इतिहास है। लार्ड ऐक्टनका कहना है कि विश्वका इतिहास राष्ट्रोंके इतिहासका संग्रह नहीं, किंतु वह लगातार विकास है। वह स्मरण-शक्तिके लिये भार न होकर आत्माके लिये प्रकाश है। 'स्टडी आफ हिस्ट्री' के अनुसार 'इतिहासका आधार राष्ट्र नहीं हो सकता। अपने राष्ट्रको ही विश्व मान लेना भूल है। वह तो विश्वका अङ्गमात्र है, इसी दृष्टिसे उसका इतिहास लिखा जाना चाहिये।' मिस्टर वेल्सके अनुसार मानव जाति ही राष्ट्र है।

इस तरह इतिहासके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी धारणा होनेपर भी इतिहासका उद्देश्य सत्यकी खोज अवश्य होना चाहिये। इससे भिन्न उद्देश्य होनेपर घटनाओंकी खींचा-तानी तोड़-मरोड़ अवश्य करनी पड़ेगी। 'आई फाउण्ड नो पीस' के लेखक मिस्टर वेन मिलरका कहना है कि आँखों देखी घटना भी ठीक नहीं बतायी जा सकती। दो आदमी उसे भिन्नरूपसे देखते हैं। प्रत्येक व्यक्तिकी कल्पना अलग ही चलती है। पत्रों, सरकारी लेखोंमें भी भाव बदले जाते हैं। फिर हजारों वर्ष पुराने इतिहासका वर्णन सत्य कैसे हो सकता है?' वस्तुतः इसीलिये रामायण, महाभारत आदि आर्ष इतिहासके लेखक वाल्मीकि, व्यास आदि ऋषि प्रत्यक्षानुमान या संवाददाताओंके तारों, पत्रोंके आधारपर नहीं, किंतु समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञाके अनुसार घटनाओंको पूर्णतया जानकर ही इतिहास लिखनेमें संलग्न हुए थे। वैदिकोंके यहाँ वेदार्थ जाननेमें इतिहास-पुराणका अत्यन्त उपयोग है—'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्', पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रञ्चेतीतिहासः। (कौ० अर्थ० १।५।१४) ब्रह्मादिपुराण, रामायण महाभारतादि इतिहास, बृहत्कथादिआख्यायिका, मीमांसादि उदाहरण, मनु

याज्ञवल्क्यादि धर्मशास्त्र, औशनस बार्हस्पत्यादि अर्थशास्त्र—ये सभी कौटल्यके अनुसार इतिहास हैं। शुक्रके मतानुसार किसी राजचरित्र वर्णनके व्याजसे प्राचीन घटनाओं-का वर्णन ही इतिहास है—

'प्राग्वृत्तकथनं चैकराजकृत्यमिषादितः।
यस्मिन् स इतिहासः स्यात् पुरावृत्तः स एव हि ॥' (शुक्र नी० ४।२९३)

इतिहासके साथ पुराणोंका भी सम्बन्ध अनिवार्य है; क्योंकि पुराणमें सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रजापतियोंके बादकी सृष्टि), वंश (कुल), मन्वन्तर (प्रत्येक मनुके अधिकारका समय), वंश्यानुचरित (कुलवृत्त) का वर्णन विशेषरूपसे होता है। इतिहास केवल घटनाओंका वर्णन मात्र हो तब तो केवल गड़े मुर्दोंके उखाड़नेके अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह जाता, अतः उसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षोपदेश आवश्यक है। इस तरहका कथायुक्त वृत्त ही इतिहास है—

धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।
पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥ (का० मीमां० म० टी० १।२)

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षके उपदेशोंसे समन्वित कथायुक्त पूर्ववृत्तका वर्णन ही इतिहास है। मानवजातिकी प्रगति ऐतिहासिक क्रमसे इसी ओर होती रही है।

इतिहासकी मार्क्सीय व्याख्या

मार्क्सके अनुसार 'इतिहास छः युगोंमें विभक्त है। प्रथम युगमें अति प्राचीन मनुष्य साम्यवादी संघोंमें रहता था। उस समय उत्पादन, वितरण आदि समाजवादी ढंगसे होता था। दूसरा युग दासताका है। कृषि-प्रथा गोपालनके फलस्वरूप व्यक्तिगत सम्पत्तिका जन्म हुआ। सम्पत्तिके स्वामियोंने अन्य सम्पत्ति-रहित लोगोंको अपना दास बनाया। राज्य एवं तत्सम्बन्धी अन्य संस्थाओंका जन्म हुआ। तीसरा सामन्तशाही युग हुआ, इसमें सामन्त भूमिके स्वामी होते थे। गरीब किसान इन सामन्तोंके अधीन रहते थे, पर दास नहीं। चौथा युग आधुनिक पूँजीवादी युग है। इस युगका प्रादुर्भाव व्यवसायों एवं कारखानोंके फलस्वरूप हुआ है। इसमें अर्थ, समाज एवं राज्यके स्वामी पूँजीपति होते हैं। श्रमिक अपना जीवन-निर्वाह श्रमके द्वारा करते हैं। पाँचवाँ युग सर्वहाराके अधिनायकत्वका होगा। इसमें अर्थ, समाज एवं राज्यकी बागडोर श्रमिकोंके हाथमें होगी। यह समाजवादी एवं शोषणरहित युग होगा। इसके बाद मानव-जाति छठे युगमें प्रवेश करेगी। उसमें राज्यविहीन समाज होगा। वास्तविक स्वतन्त्रता तभी होगी, यह सुवर्णयुग होगा।'

मार्क्सका अति प्राचीन युग रूसोकी प्राकृतिक स्थितिके समान है। रूसो-की भाँति ही मार्क्सके मतमें भी व्यक्तिगत सम्पत्ति सभ्यताकी धात्री है। मार्क्सका आधुनिक पूँजीवादी युगका चित्रण रूसो-जैसा ही है। रूसोका 'आदर्श प्रत्यक्ष जन-तन्त्र' और 'सामान्येच्छाके सिद्धान्त'की तुलना मार्क्सके 'साम्यवाद'से की जा सकती है। जैसे रूसोकी सामान्येच्छाद्वारा एक नयी स्वतन्त्रता सम्भव होती है, वैसे ही मार्क्सके

क्रान्ति और सर्वहाराके अधिनायकत्वमें एक नयी साम्यवादी व्यवस्थाका जन्म होगा। रूसोकी यह स्वतन्त्रता प्राचीन प्राकृतिक स्थितिके स्वतन्त्रतासे भिन्न थी। वैसे ही मार्क्सका साम्यवाद भी अति प्राचीन साम्यवादसे भिन्न है। भेद इतना ही है कि रूसो आदर्शवादी था और मार्क्स भौतिकवादी।

मार्क्सके अनुसार 'मानव-इतिहास वर्ग-संघर्षका इतिहास है। यह संघर्ष युगानुरूप होता है। कभी प्रत्यक्ष, कभी अप्रत्यक्ष भी रहा है। कभी विजेताद्वारा नये समाजका निर्माण हुआ, तो कभी दोनों वर्गोंका विध्वंस हुआ है। सर्वहाराकी क्रान्तिद्वारा ही इस वर्ग-संघर्षका अन्त होगा; क्योंकि इसके द्वारा वर्गका अन्त होकर एक वर्गविहीन समाज बनेगा।' आधुनिक लोगोंकी दुनिया ही छः हजार वर्षकी है। इसके ही भीतर इन्हें अनेकों युगोंकी कल्पना करनी पड़ती है। परंतु भारतीय महर्षियोंकी दृष्टिसे वर्तमान सृष्टि ही दो अरब वर्षकी मानी जाती है। आधुनिक वैज्ञानिक भी अब सृष्टिकी प्राचीनताकी ओर बढ़ रहे हैं। इस दृष्टिसे धर्म-राज्य राम-राज्य और सोपद्रव, क्षुद्रराज्य—तीन ही प्रकारका युग प्रतीत होता है। मार्क्सके छः युग सोपद्रव क्षुद्रराज्यके भीतर ही हैं।

अनेक दार्शनिक हाब्सके प्राकृतिक खूँखार मानव एवं उसके द्वारा अनुबन्धपूर्वक 'दीर्घकाय'को सर्वाधिकार समर्पण आदि-जैसे ही मार्क्सके ऐतिहासिक वर्णनको भी अप्रामाणिक समझते हैं। अतीत घटनाओंके सम्बन्धमें प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती, अतः अनुमान या आगमोंद्वारा ही उस सम्बन्धमें कुछ जानकारी हो सकती है। आगमोंपर मार्क्सका विश्वास नहीं था। अपुष्ट कारणोंके आधारपर इतिहासके सम्बन्धमें अटकल लगाकर किसीने तीन, किसीने पाँच तो किसीने छः युगकी कल्पना कर डाली। ये कल्पनाएँ निराधार हैं। रूसोकी प्राकृतिक स्थितिमें स्वर्णयुग ही था, उसी प्रकार मार्क्सकी भी अति प्राचीन मनुष्योंकी साम्यवादी संघकी स्थिति थी। फिर उसका अन्त क्यों हुआ? जिस तरह उसका अन्त हुआ उसी तरह मार्क्ससम्मत सर्वहाराके डिक्टेटरशिप्‌में होनेवाली क्रान्तिद्वारा वर्गहीन राज्यका भी अन्त क्यों न होगा? हीगेलके अनुसार कोई भी संवाद अन्तमें वाद बन जाता है; क्योंकि कुछ-न-कुछ लोग उस संवादके भी विरोधी रहते ही हैं। उन्हींका समुदाय उस संवादका प्रतिवादी बन जाता है। जब अति प्राचीन साम्यवादी संघवादी बन सका तो अन्तिम वर्गविहीन समाज क्या स्थायीरूपसे हो सकेगा? और उसका विरोधी कोई न होगा? फिर हिगेलका आदर्श राज्य भी द्वन्द्वमानके अनुसार अन्तिम ही है। इसमें भी सिवा अन्धविश्वासके और क्या प्रमाण है? फिर यह भी तो कहा जा सकता है कि जैसे रूसोकी सामान्येच्छाद्वारा प्राप्त स्वतन्त्रताका स्वप्न पूरा नहीं हुआ, उसी तरह मार्क्सके भी वर्गविहीन राज्यका स्वप्न पूरा होनेवाला नहीं। धर्मनियन्त्रित शासन-तन्त्रवादीके यहाँ ह्रास-

विकासका चक्र चलता रहता है। अतः कृतयुगमें धर्म-राज्य एवं दण्ड आदिसे विहीन धर्मनियन्त्रित राज्य था और वह स्वर्णयुग था—यह आर्ष इतिहासोंसे विदित है। पुनश्च रजोगुण-तमोगुणके विस्तारसे उसमें गड़बड़ी हुई। फिर धर्म-नियन्त्रित राज-तन्त्र हुआ, तमोगुण बढ़नेसे फिर और विविध विवादमय राज्य हुए। पुनश्च 'चक्रनेमिक्रमेण' धर्मनियन्त्रित लोकतन्त्र, धर्मनियन्त्रित राजतन्त्र एवं पुनः शुद्ध राजादि-विहीन धर्मनियन्त्रित राज्य हो सकता है। जैसे प्रतिवर्ष वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओंका प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही यह भी सम्भव है। मार्क्सका 'वर्ग-संघर्ष' कोई वास्तविक तथ्य नहीं है। यह तो एक विकार है। मात्स्य-न्यायका फैलना धर्म-नियन्त्रण घटनेपर ही बढ़ता है। धर्म-नियन्त्रण बढ़नेपर घट जाता है। यों तो प्रत्येक व्यक्तिके भीतर देवासुर-संग्राम चलता ही रहता है। रजोगुण, तमोगुणके अनुकूल वृत्तियाँ, चेष्टाएँ, भावनाएँ तथा उनसे युक्त व्यक्ति, समुदाय, आसुर समुदाय है। सत्त्वगुणके अनुकूल वृत्तियाँ, भावनाएँ, चेष्टाएँ तथा उनसे युक्त व्यक्ति, समुदाय दैवी समुदाय है। इनका संघर्ष सदा ही चलता है, परंतु कभी व्यक्त कभी अव्यक्त। भीतरका ही संघर्ष कभी-कभी बाह्यरूप धारण कर लेता है। कभी कोई पक्ष जीत जाता है तो कभी कोई पक्ष। तमोगुणपर सत्त्वगुणकी विजय ही अनृतपर सत्यकी, दानवतापर मानवताकी, आसुर-शक्तिपर दैवीशक्तिकी विजय है। यही जडवादीपर अध्यात्मवादीकी विजय है। यही व्यष्टिवादपर समष्टि-वादकी, संकीर्णतापर उदारताकी जीत है। आदर्शवादी दार्शनिक हाब्स आदिके प्राकृतिक मनुष्य और अनुबन्धद्वारा राज्य-कल्पनाको अप्रामाणिक एवं अनैतिहासिक कहते हैं। ठीक इसी तरह अति प्राचीन साम्यवादी समाज और वर्ग-भेद आदिकी मार्क्सीय कल्पना भी अप्रामाणिक एवं अनैतिहासिक ही है।

भौतिकवादी व्याख्या

कहा जाता है कि हीगेलके ऐतिहासिक आदर्शवादके मुकाबिलेमें ही मार्क्सने अपनी प्रणालीका नाम 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' रखा था। इस प्रणालीद्वारा मार्क्स विभिन्न परिवर्तनों, क्रान्तियों एवं मानसिक, सामाजिक घटनाओंको उत्पन्न करनेवाले मूलस्रोतोंका पता लगाना चाहता था, इसलिये इतिहास-संचालन करनेवाले नियमोंका उसने पता लगाया। उसका कहना था—'मनुष्योंके विवेक एवं विचारोंमें परिवर्तन करने-वाली तथा विभिन्न सामाजिक प्रणालियों और पारस्परिक विरोधकी सृष्टि करनेवाली प्रधानशक्ति, विचारों, भावनाओं या विश्वव्यापी ज्ञानसे अथवा सर्वव्यापी आत्माके ज्ञानसे नहीं हुआ, किंतु वह जीवनकी भौतिक अवस्था एवं नियमोंद्वारा ही हुआ है। इसलिये मनुष्यजातिके इतिहासका आधार भौतिक है, अर्थात् जिस मार्गसे मनुष्य एक सामाजिक प्राणीकी हैसियतसे, प्राकृतिक परिस्थितियों, आन्तरिक, शारीरिक और मानसिक शक्तियोंकी सहायतासे अपने सांसारिक या भौतिक जीवनका निर्माण

करता है और अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये वस्तुओंको उत्पन्न करता, बाँटता और बदलता है, वही नियम, मार्ग या तरीका जीवनका भौतिक विषय या अवस्था है।

पर यहाँ यह विचारणीय है कि यदि विभिन्न परिवर्तनों, क्रान्तियों, मानसिक-सामाजिक रचनाओंको उत्पन्न करनेवाला कोई मूल स्रोत ढूँढ़ना आवश्यक है और उसका कारण मार्क्सके मतानुसार भौतिक अवस्था और भौतिक नियम ही है, तो भौतिक अवस्था एवं भौतिक नियमोंका भी कारण क्या है—यह भी जिज्ञासा स्वाभाविक तथा अनिवार्य है। व्यावहारिक बात तो यह है कि विचारशील, विवेकी पुरुष ही जड भौतिक वस्तुओंमें रद्दोबदल करता रहता है; जड वस्तु स्वयं न अपनेको जान सकती है, न अन्यको ही। हिताहित सोचना; किसी उद्देश्यसे प्रवृत्त होना यह शुद्ध चेतनका ही धर्म है, अचेतनका नहीं। इसीलिये जैसे रेल, तार, रेडियो, वायुयान, विभिन्न शस्त्रास्त्र, कल-कारखाने, बड़े-बड़े बाँध, पुल, महान् दुर्ग—सब चेतनके विचार एवं इच्छाके ही परिणाम हैं, इसी प्रकार अन्यान्य आकाश, पृथ्वी आदिकी उत्पत्ति एवं उसके नियम एवं अवस्थाओंमें भी अवश्य ही किसी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् समष्टि चेतनकी इच्छा एवं विचारोंको कारण मानना अनिवार्य है। किसी भी विचारमें विचार्य कुछ भौतिक वस्तुएँ एवं उनकी अवस्थाएँ भी कारण हो सकती हैं। परंतु इसका अभिप्राय इतना ही है कि जैसे घटज्ञानमें विषयरूपसे घट भी हेतु है, परंतु इतने मात्रसे चक्षुसे घटका संनिकर्ष तथा मन या अन्तःकरणका चक्षुद्वारा घटाकार परिणत होना और चेतन आत्माद्वारा उन सबका प्रकाश होना गौण या मुख्य है— यह नहीं कहा जा सकता है। किंतु ज्ञानमें तो ज्ञाता ही मुख्य है, ज्ञेय एवं प्रमाण आदि ज्ञाताके अङ्ग होकर ही ज्ञानके साधन हैं।

विवेकी ज्ञाता जीवनकी भौतिक अवस्थाओंमें रद्दोबदल करता ही रहता है। यद्यपि भौतिकवादी किसी भी सिद्धान्त, सत्य, न्याय, धार्मिक या सामाजिक नियमको शाश्वत या नित्य नहीं मानते, फिर भी अचेतन भूतोंमें अनेक शाश्वत नियम मानना अनिवार्य है, पृथ्वीका गन्धवत्त्व एवं विभिन्न बीजोंद्वारा विभिन्न प्रकारकी वस्तुओंका उत्पन्न होना, विविध प्रकारके बीजोंसे विभिन्न पुष्प, स्तवक, कुड्मल, वृक्ष एवं विभिन्न रूप, रस, गन्धसे युक्त फलोंका उत्पन्न होना, जलका निम्न प्रदेशकी ओर बहना, अग्निका ऊर्ध्वमुख प्रज्वलन, वायु एवं आकाशके निश्चित धर्म शाश्वत ही हैं। समुद्रमें विभिन्न तिथियोंमें नियन्त्रित समयपर ज्वारभाटाका आना, चन्द्रमाका नियमित ह्रास-विकास कितना शाश्वत है—यह सुस्पष्ट है। जिस प्रकार भौतिक नियम शाश्वत हैं, वैसे ही ज्ञाता, चेतन एवं ईश्वरादिके नियम शाश्वत हैं, अतएव धार्मिक, सामाजिक एवं न्यायसम्बन्धी अपरिगणित धर्म भी शाश्वत है। ईश्वरीय नियम, धार्मिक सिद्धान्त, न्याय एवं सत्यके अनुसार विवेकी

प्राणी शारीरिक, मानसिक एवं भौतिक परिस्थितियोंकी सहायतासे अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये वस्तुओंको उत्पन्न करता, बाँटता तथा रद्दोबदल भी करता है। परंतु जहाँ आध्यात्मिक धार्मिक दृष्टिसे तथा विवेकके विरुद्ध शारीरिक मानसिक तथा बाह्य भौतिक परिस्थितियाँ, परस्त्री, परधन-हरणके अनुकूल भली ही हो, तथापि एक विवेकी पुरुष उनका विरोध ही करता है। नदीके तीव्र प्रवाहमें पड़ा हुआ मुर्दा ही निर्विरोध धाराका अनुसरण करता है, परंतु जीवित प्राणी अवश्य ही विरोध करता है, प्रवाह चीरकर लक्ष्यकी ओर बढ़ता है। प्रवाहका किंचित् अनुसरण भी प्रवाह अतिक्रमणके ही अभिप्रायसे करता है। समुद्रमें नाव डालकर वायुके अनुसार भटकनेवाला प्राणी निरुद्देश्य ही होता है। जिसका कोई लक्ष्य होता है, वह विरुद्ध भीषण झंझावातका भी मुकाबला करके लक्ष्यकी ओर बढ़ता है, यदि उसमें सर्वथा असमर्थ रहा तो उसी जगह लंगर डालकर नावको रोक देता है—'जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी दीजै' का दुरुपयोग करनेवाले अवसरवादी सर्वथा अविश्वसनीय ही हुआ करते हैं।

उत्पादन-शक्तियाँ और नियम

कहा जाता है कि उत्पादन-शक्तियाँ दो प्रकारकी हैं—एक चेतन, दूसरी अचेतन। अचेतन शक्तियोंके अन्तर्गत भूमि, जल, वायु, कच्चा माल, औजार, मशीनें आदि आ जाती हैं। चेतन शक्तियोंमें मजदूर, आविष्कारक, अन्वेषक, इंजीनियर आदि आ जाते हैं। जातिगत गुणों अर्थात् किसी मनुष्य-समूहकी जन्मसिद्ध योग्यताका भी चेतन शक्तियोंमें अन्तर्भाव है। सबसे अधिक महत्त्व शारीरिक और मानसिक श्रम करनेवाले श्रम-जीवियोंका है। उनके द्वारा ही पूँजीवादी समाजमें विनिमय मूल्यकी सृष्टि होती है। दूसरा महत्त्व आधुनिक यन्त्रविद्याका है, जिसके कारण आज समाजमें उथल-पुथल हो रहा है। मार्क्सके मतानुसार 'मनुष्य उत्पादक कार्य और उसकी आवश्यकताके प्रभावानुसार अपने समाज, राज्य, धर्म-दर्शन और विधानसम्बन्धी सिद्धान्तोंकी रचना करता है। भौतिक, आर्थिक अवस्था इसकी आधार-भित्ति-स्वरूप है। उससे उत्पन्न होनेवाली धार्मिक राजनीतिक, दार्शनिक आदि प्रणालियाँ उसके ऊपर बने हुए भवनोंके समान होती हैं। ये भवन जितने अंशोंमें अपनी आधारभित्तिके अनुरूप होते हैं, उतने ही दृढ़ होते हैं, उतनी ही उन्नति और समृद्धि होती है। सामाजिक दशाओंके द्वारा सम्पत्ति-सम्बन्धी नियम बनाये जाते हैं और मनुष्योंके उन पारस्परिक सम्बन्धोंका निर्णय किया जाता है, जिनसे उत्पत्तिका कार्य चलता है। उत्पादनके नियमोंका निर्णय समाजके मनुष्य ही करते हैं, जैसे और नियमोंका निर्णय समाजके मनुष्य ही करते हैं। जैसे मनुष्य प्राकृतिक सामग्री और शक्तियोंकी सहायतासे भाँति-भाँतिकी वस्तुओंका निर्माण करते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्कपर उत्पादक-शक्तियोंकी प्रतिक्रियाके फलस्वरूप सामाजिक, राजनीतिक

और न्यायसम्बन्धी विधानों तथा धार्मिक, चारित्रिक, दार्शनिक सिद्धान्तोंका भी निर्णय वे ही करते हैं।'

उत्पादक-उत्पादन-शक्तियों और उनके द्वारा होनेवाले परिणामोंपर विचार करते हुए यह कभी न भूलना चाहिये कि उच्चावच अनन्तानन्त सब भौतिक पदार्थ भोग्य हैं। वे अपने लिये नहीं, किंतु भोक्ताके लिये होते हैं। भोक्ता भोग्यके लिये नहीं होता, किंतु भोग्य भोक्ताके लिये होता है। पलंग अपने लिये नहीं, किंतु सोनेवाले भोक्ताके लिये होता है। करोड़ों रुपयोंकी माला, मालाके लिये नहीं, अपितु पहननेवालेके लिये होती है, अतएव पलंग यदि छोटी पड़ जाय तो पलंगमें सुधार होना चाहिये, न कि सोनेवालेको काट-पीटकर पलंगके लायक बनाना चाहिये। माला छोटी पड़ती है, सिरसे गलेमें नहीं उतरती, तो मालाको तोड़कर सुधारना ठीक है; पहननेवालेका सिर छीलकर मालाका गले उतारना बुद्धिमानी नहीं। ठीक इसी प्रकार भोक्ता नित्य, चेतन, आत्माके लौकिक पारलौकिक हित-की दृष्टिसे भौतिक वैभव एवं उनके रद्दोबदलका उपयोग किया जा सकता है, परंतु आत्माके लौकिक, पारलौकिक हितोंके विपरीत असर डालनेवाले भौतिक प्रभावोंको हर प्रकार रोकना ही उचित है। जैसे स्थूल देह सूक्ष्म मनके अधीन रहता है, वैसे ही देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी संहत आत्माके लिये होते हैं, वैसे ही देहादिसंघात स्वविलक्षण स्वप्रकाश असंहत आत्माके लिये हैं। रथादि अचेतनकी प्रवृत्ति सारथि चेतनसे अधिष्ठित होती है, वैसे ही जड देहादिकी प्रवृत्ति चेतन आत्मासे अधिष्ठित होती है। देहादि यदि आत्माके अधीन न हों तो भारभूत हो जाते हैं, इसी तरह अचेतन भौतिक सभी व्यवस्थाएँ भी समष्टि चेतन-नियन्त्रित रहकर ही सुख-साधक हो सकती हैं। आधुनिक वैज्ञानिक लोग जड प्रकृति-वशीकारके लिये प्रयत्नशील होते हैं। आधिभौतिक बड़ी-से-बड़ी उन्नति यदि आत्माके अनुकूल है, आत्माके नियन्त्रणमें है तभी उसका महत्त्व है, अन्यथा वह भार-भूत दुःखरूप ही है। इस तरह भौतिक अवस्थाके अनुसार चेतनके सब नियमोंमें रद्दोबदल अत्यन्त असंगत है, आंशिक रूपसे भौतिक अवस्थाओंका उपयोग एवं अनुसरण मान्य है ही। फिर भी चेतनपर अचेतनका हावी हो जाना कथमपि उचित नहीं है, चेतन उत्पादक होनेसे एवं भोक्ता भी होनेसे महत्त्वपूर्ण है, वह पूँजी एवं यन्त्र दोनोंपर ही अधिकारी होता है, अतः चेतनसे अचेतनकी तुलना ही नहीं हो सकती। फिर भी श्रमजीवीको श्रमका फल जैसे मिलना आवश्यक है, वैसे ही पूँजीपतिको पूँजीका फल भी मिलना आवश्यक है और यह कम्युनिष्टको भी मानना ही होगा, भले ही उसकी दृष्टिमें ही यह फल व्यक्तिको न मिलकर समाजको मिले। यहाँ रामराज्यके अनुसार आधुनिक शोषक पूँजीवाद या व्यक्तियोंका अधि-नायकवाद या निःस्वत्ववाद नहीं मान्य है, किंतु वह पूँजी सबको मान्य है, जिसके द्वारा यन्त्र एवं आविष्कारक, अन्वेषक एवं श्रमजीवियोंका भी काम चला है।

आधुनिक रूपमें आजकल भी व्यक्ति बैंकोंमें रुपया जमा करता है और उसका सूद भी प्राप्त करता है।

माली हालत या भौतिक अवस्था भले ही तत्सम्बन्धित नियमोंकी आधारभित्ति हो, परंतु 'दार्शनिक धार्मिक सभी नियमोंकी आधारभित्ति या नींव भी माली हालत ही है'—यह कहना सर्वथा असंगत है। भले पुरुष चाहे निष्किंचन हों या धनवान्; किंतु अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदिका आदर सभी करते हैं। प्राचीन कालमें जैसे अकिंचन ब्रह्मचर्यका, तपस्याका सम्भावन करते थे, वैसे ही एक सर्वसाधन-सम्पन्न सम्राट् भी सब त्यागकर ब्रह्मचर्य एवं त्याग-तपमें परिनिष्ठित होता था। आज भी भले लोग धनी हों या गरीब, धर्मका आदर करते हैं। बुरे चाहे धनी हों या गरीब, धर्मकी उपेक्षा करते हैं। देह-भिन्न आत्माका अस्तित्व तथा ईश्वर सदा, राजा, रङ्क, अमीर, गरीब सभी मानते हैं; फिर माली हालतमें रद्दोबदल होनेसे धर्म एवं दर्शनमें रद्दोबदल होना कहाँतक संगत है ?

कथंचित् भावनाओंपर वातावरणका किंचित् प्रभाव पड़ सकता है, परंतु तत्त्वज्ञान एवं वस्तुस्थितिसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्म-दर्शनोंमें भी माली हालतके रद्दोबदल होनेसे रद्दोबदल मानना अत्यन्त मूर्खता है। लूट, खसूट, चोरी, हत्या, कभी भी धर्म बन जायँगे, परोपकार, दया, सत्य, कभी अधर्म बन जायँगे, तब तो कभी संखियाका अमृतरूपमें और अमृतका संखियारूपमें बदलना भी मान लिया जायगा। तत्त्वज्ञानकी व्यवस्था ही लीजिये—रज्जुमें रज्जुज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, रज्जुमें सर्प, धारा, माला आदिका ज्ञान सदा ही अयथार्थ रहेगा, चाहे माली हालतमें रद्दो-बदल हो, चाहे कितना ही भौतिक परिवर्तन हो, परंतु किसी भी हालतमें रज्जुमें रज्जुज्ञानकी अयथार्थता नहीं हो सकती। वस्तुतः मार्क्सवादी व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति, खानों, कल-कारखानोंपर राष्ट्रीकरणके नामपर अधिकार करनेके लिये आदिपरम्पराप्राप्त शास्त्रीय नियमोंका अपलाप करके अपने कृत्योंका समर्थन करना चाहते हैं। परस्त्री, पर-धनका अपहरण, हत्या एवं जाल-धोखेको भी उचित या न्यायसिद्ध करनेके लिये यह वाग्जाल फैलाते हैं और कहते हैं कि ईश्वरीय या शास्त्रीय कोई भी सत्य न्याय अथवा धर्म नहीं है। माली हालत, भौतिक अवस्थाके अनुसार ही धर्म, सत्य, न्याय बनते हैं, अतः सभी नियमोंकी नींव माली हालत या भौतिक अवस्था ही है। इस दृष्टिसे वे कहते हैं कि 'पुरानी माली हालत या भौतिक अवस्था बदल गयी तो पुराने सब नियम धराशायी हो गये। इसलिये पुराने नियमोंके अनुसार जो पहले अधर्म था, वह अब अधर्म नहीं है। अतः हमलोगोंका पर-धन, पर-स्त्री-हरण, हत्या, जाल-फौरेब आदि अधर्म या अन्याय नहीं है। जिन लोगोंने उत्पादन-साधनों एवं उत्पादनोंमें रद्दोबदल कर लिया, उन्हें धर्म एवं न्यायमें भी रद्दोबदल कर लेनेका हक

है, उत्पन्न वस्तुओंके वितरण-सम्बन्धी नियमोंमें भी रद्दोबदल कर लेनेका हक है—ये सब बातें अपने पापको, अन्यायोंको पुण्य या न्यायसिद्ध करनेका असफल वागाडम्बरमात्र है, जिसमें कुछ भी दम नहीं है। कोई भी व्यसनी या अपराधी, अपनी प्रवृत्ति या रुचिके अनुसार ही अधार्मिक धार्मिक सामाजिक राजनीतिक नियम चाह सकता है।

मार्क्सका कहना है कि ' 'मनुष्य स्वयं अपने इतिहासका निर्माण करता है। वह यह कार्य अपनी इच्छाके अनुसार अभिलषित मार्गसे नहीं कर सकता, किंतु उसे उस मार्गके अनुसार कार्य करना पड़ता है, जो कि उसके सामने प्रस्तुत होता है और जिसे वह प्राप्त कर सकता है। उदाहरणार्थ अति प्राचीन युगमें थोड़े-थोड़े मनुष्य गिरोह बनाकर रहते थे, रक्त-सम्बन्धके आधारपर संघटित होते थे। उनके देवता भी उनकी परिस्थितिके अनुसार बनाये गये। इससे प्रकट होता है कि उस परिस्थितिका प्रभाव उन जंगली लोगोंकी मानसिक अवस्था, उनके मजहब, उनके चरित्र और उनके सामाजिक नियमोंपर कैसा पड़ता था। सर्पों, सिंहों आदिकी पूजा उस कालकी निशानी है। इसी तरह मध्यकालके क्षत्रिय सरदारों, जमींदारोंका आधार भूमि-सम्बन्धी अधिकार और शहरोंकी दस्तकारीपर था। उस परिस्थितिके अनुसार उन लोगोंके धार्मिक विचार बदल गये और नवीन मतोंकी स्थापना हुई, जो कि इस युगके अधिकार प्राप्त लोगोंके हितके अनुकूल थे। जो नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक विचार इस हितके विरोधी थे, उन्हें दबा दिया गया।

'इसी प्रकार वर्तमान पूँजीवादी समाज व्यक्तिगत पूँजीके आधारपर रचा गया है और वह सामूहिक तथा सहयोगमूलक भावोंके उच्छेदनार्थ प्रयत्नशील है। यह स्वार्थसिद्धिके लिये व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका प्रचार करता है तथा श्रमजीवियों और सम्पत्तिका एक स्थानपर संग्रह करता है, जमींदारी, जागीरदारीकी प्रथा और उसके समर्थक विश्वासों (राजाको ईश्वररूपमें मानना) को नष्ट करता है और उनके स्थानपर धार्मिक स्वतन्त्रता, व्यक्तिगत विवेकके सिद्धान्तका विस्तार करता है। यह समाज व्यक्तिगत अधिकारोंका प्रचार करता है, प्राचीन राजाओंके एकतन्त्र शासनके विरुद्ध युद्ध करता है, राष्ट्रियताका भाव फैलाकर व्यापार-व्यवसायका विस्तृत क्षेत्र प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है तथा जमींदारी आदिके विरोधार्थ ही वह एकतन्त्र सत्ताका समर्थन करता है। एकतन्त्र सत्ता भी जब पूँजीवादमें बाधक होती है, तब उसके विरुद्ध भी वह संग्राम करता है और एकतन्त्र शासनको नष्ट कर वैध राज्य-सत्ता या प्रजातन्त्रकी स्थापना करता है। यह सब काम इसलिये नहीं सम्पन्न किये जाते कि कोई विलक्षण बुद्धिमान् मनुष्य प्रबल विचार शक्तिद्वारा या नवीन ज्ञानोदयद्वारा या ईश्वरीय प्रेरणाद्वारा करता है,

किंतु यह सब उस प्रभावसे सम्पन्न होता है, जो मनुष्यके मौतिक आधार या आर्थिक आधारके परिवर्तन होनेसे मनुष्योंके मस्तिष्कपर पड़ता है । मार्क्सका कहना है कि 'मनुष्यके अस्तित्वका आधार उसके विवेक या अन्तरात्माके आदेशपर नहीं होता, किंतु अन्तरात्माका आधार उसकी सामाजिक स्थिति या दशापर होता है। कोई भी मनुष्य सामाजिक जीवनका निर्माण नहीं कर सकता और न उसके अनुकूल कानून ही बना सकता है । वह तो केवल एक नौकर या कार्यकर्ताके समान होता है, जो समाजके मौतिक आधार या आर्थिक दशासे उत्पन्न होनेवाली प्रवृत्तियों और विचारधाराओंका अनुसरण करता है। तथापि कार्यकर्ता व्यापक ज्ञानवान्, उद्योगी एवं अधिक योग्य हों तो अपनी सीमाके भीतर महान् कार्य कर सकते हैं, की गयी उन्नतिको बहुत दूरतक बढ़ा सकते हैं । ईसा, मुहम्मद आदि इसी कोटिके थे ।'

अवश्य मौतिक परिस्थितियाँ कभी-कभी प्राणीको अपने अनुसार चलनेके लिये बाध्य करती हैं, फिर भी लक्ष्य एवं सिद्धान्तके अनुसार महापुरुष परिस्थितियोंको ही बदल देते हैं, परिस्थितियोंके दास नहीं बनते, परिस्थितियोंके वशीभूत होकर भी अपना धर्म नहीं छोड़ते, भले प्राण छोड़ना पड़े तो प्राण छोड़ देते हैं। अति प्राचीन युगका मार्क्सीय इतिहास भी सर्वथा अप्रामाणिक है । गिरोह बनाकर रहना' पहले भी अच्छा था, आज भी अच्छा है। रक्त-सम्बन्धसे विशिष्ट समूह आज भी होता ही है । 'परिस्थितिके अनुसार सर्प, सिंह आदिको देवता बनाने' की बात प्रलाप है। शास्त्रविश्वासी आज भी शेषनाग एवं नृसिंह भगवान्‌को परमेश्वरके अवताररूपमें पूजते ही हैं। इसी तरह 'मध्यकालमें धार्मिक विचार बदल गये' यह कहना भी असंगत है। अनादि अपौरुषेय शास्त्रोंका प्रामाण्य माननेवालोंका जैसा विचार करोड़ों वर्ष पूर्व रामायणके रामराज्यमें था, हजारों वर्ष पूर्व महाभारतके युधिष्ठिर-राज्यमें था, वैसा अब भी है। शास्त्रप्रमाण न माननेवाले जैसे आज हैं वैसे पहले भी थे । उनके मत सदा ही बदलते रहते हैं । शास्त्र अति प्राचीन कालके मालिकों, मध्य कालके सरदारों एवं अर्वाचीन कालके पूँजीपतियोंके बनाये नहीं हैं। वे आप्तकाम, पूर्णकाम, वीतराग, महातपा, अरण्यवासी, कन्दमूलफलाशी, वल्कलवसनधारी महर्षियोंद्वारा रचे गये हैं, सो भी स्वतन्त्ररूपसे नहीं, अपितु अनादि, अपौरुषेय, परमेश्वरीय वेदादि शास्त्रोंके आधारपर रचे गये हैं। उनकी व्यवस्थाओंमें आधुनिक ढुलमुल पन्थियोंकी अवसरवादिताका स्पर्श भी नहीं है। बायबिलमें भी कहा गया है कि सूईके छेदसे ऊँटका निकल जाना सम्भव है, पर धनिकोंका स्वर्गीय राज्यमें प्रवेश करना कठिन है।' इसी प्रकार न केवल भारतीय धर्मग्रन्थ अपितु संसारके सभी धर्मग्रन्थ वीतराग, अकिंचनों एवं साधारण श्रेणीके लोगोंद्वारा बनाये गये हैं और उन मेधावियोंका कोई पक्षपात नहीं है। मनु यद्यपि सम्राट् थे, फिर भी उन्होंने अकिंचनोंका ही

महत्त्व गाया है। यह कहना नितान्त मूर्खता है कि 'शास्त्रकार ऋषि धनिकोंके एजेंट थे। उनके हितोंकी रक्षाके लिये ये लोग पाप-पुण्यके चक्करमें जनसाधारणको फँसाये रखनेका प्रयत्न करते रहते थे।' भला, जो राजान्नग्रहणको घोर पाप समझते थे, 'कुसूल-धान्यक' ब्राह्मणकी अपेक्षा जो अश्वस्तनिक (कलके लिये कुछ न रखनेवाले) ब्राह्मणको ही श्रेष्ठ मानते थे, महात्यागको ही सर्वस्व मानते थे, वे किस प्रलोभनसे ऐसा निष्ठुर कर्म करते ? आज भी तो धनिकवर्ग नास्तिकप्राय है। वह किस भारतीय विद्वान्का सम्मान करता है ? यह वर्ग जितना उच्छृङ्खलोंकी पूजा करता है, उतना आस्तिक पक्षकी प्रतिष्ठा करता तो आस्तिक पुरुषों एवं आस्तिक संस्थाओंको आर्थिक संकटके कारण कार्य करनेमें बाधा क्यों पड़ती ? फिर भी शास्त्रविश्वासी शास्त्र, युक्ति एवं लोकसिद्ध न्यायके अनुसार उचित होनेसे व्यक्तिगत भूमि, सम्पत्ति आदिका समर्थन करते हैं। इसी तरह आस्तिकपक्षका राजाओंके एकतन्त्र शासनसे न विरोध है और न आधुनिक लोकतन्त्रके साथ कोई राग है। धर्म-नियन्त्रित एकतन्त्र-शासन भी लाभदायक होता है। धर्म-नियन्त्रित होनेसे ही लोकतन्त्र या प्रतिनिधितन्त्र लाभदायक हो सकता है। उच्छृङ्खल, धर्मशून्य, रावण, वेन आदिका एकतन्त्र भी हानिकारक हुआ था। वैसे उच्छृङ्खल लोकतन्त्र आजकल भी देशके लिये खतरनाक है।

शास्त्रोंके अनुसार कोई भी कार्य विचारशील ईश्वर, महर्षियों, बुद्धिमान् व्यक्तियों अथवा व्यक्तिसमूहोंकी गम्भीर विवेचनाओं एवं लोकहित भावनाओंसे होता है। 'भले कामोंका मूल भले विचार, भली प्रेरणाएँ तथा सावधानी और बुरे कामोंके मूल कारण बुरे विचार, बुरी प्रेरणाएँ एवं प्रमाद आदि होते हैं। इस तरह सिद्ध है कि बुद्धिपूर्वक कार्यकारी पुरुष विचारपूर्वक ही कोई कार्य करता है। शास्त्र भी 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्रह्मसूत्र १।१।५) इत्यादि सूत्रोंसे कहते हैं कि जड प्रकृतिसे विलक्षण विश्वका निर्माण नहीं होता; क्योंकि विलक्षण कार्य ईक्षण अर्थात् विचारपूर्वक होता है। जड प्रकृतिमें विचारशक्ति नहीं है। अतः वह विश्वसृष्टिका स्वतन्त्र कारण नहीं है। प्रत्यक्ष, अन्वय-व्यतिरेकसिद्ध चेतनोंके सावधानी एवं प्रमादके आधारपर होनेवाले कार्योंकी भलाई-बुराईका प्रत्यक्ष कार्यकारण-भाव छोड़कर अचेतन भौतिक अवस्थाओंके अनुसार यन्त्रसंचालित ढंगसे घटनाओंका परिवर्तन मानना सर्वथा निराधार है। एक तरफ बुद्धिसङ्गत ईश्वर-प्रेरणा, शुभाशुभ कर्मरूप प्रारब्ध या दैवकी प्रेरणाको अन्धविश्वास बतलाना और दूसरी तरफ बुद्धिपूर्वक चेतनद्वारा होनेवाले कार्योंको यन्त्रसंचालित ढंगसे भौतिक अवस्थाओं या भौतिक ऐतिहासिक प्रभावोंका परिणाम मानना, यह कितनी उपहासास्पद बात है ! यदि 'चेतन प्राणी अपना और समाजका लौकिक-पारलौकिक हिताहित सोच-विचारकर बुद्धिपूर्वक कार्य नहीं करता, किसी भौतिक

प्रवाहके परतन्त्र होकर ही कार्य करने एवं सोचनेको बाध्य होता है', तो फिर व्यक्तियों या समूहोंका गुण-दोष क्यों माना जाय ? फिर तो कानूनोंके द्वारा किन्हीं गुणोंका विधान या निषेध भी क्यों होना चाहिये ? कोई भी विधान एवं निषेध स्वतन्त्रके लिये ही सम्भव होता है। लोहश्रृङ्खलासे निगडित हस्तपादादिवाले व्यक्तिको जलादि लानेके लिये कौन बुद्धिमान् आदेश देगा ? ऐसे ही बलात् नियोजित कार्यसे किसीको कोई कैसे रोक सकता है, तथा विहिताकरण, निषिद्धा-नुष्ठानके लिये दण्ड एवं शुभानुष्ठानके लिये पुरस्कारकी व्यवस्था कौन करेगा ? 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' पाणिनिके इस सूत्रके अनुसार—'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' को ही कर्ता कहा जाता है। अश्वसे चलने, पाँवसे चलने या न चलनेमें जो स्वतन्त्र होता है, वही कर्ता होता है। उसीके लिये अश्वसे जाना चाहिये या पैरसे जाना चाहिये यह विधान तथा अश्वादिसे न चलना चाहिये यह निषेध सार्थक होता है। उसीके लिये दण्ड एवं पुरस्कारकी व्यवस्था होती है। भूत, भौतिक अवस्था तथा उसका प्रवाह सब-के-सब जड हैं। वे अपने-आपको नहीं जानते। समाजका हानि-लाभ सोच नहीं सकते। प्रेरणा भी कर नहीं सकते। फिर उनके आधारपर किन्हीं भी घटनाओं, प्रवृत्तियों या आन्दोलनोंको मानना कहाँतक उचित है ?

प्रवाह प्रवाहीसे भिन्न नहीं होता। जैसे पिपीलिकाओंसे भिन्न पिपीलिकाओं-की पंक्ति नहीं होती, सैनिकोंसे भिन्न सेना नहीं होती, एक-एक वृक्षोंसे भिन्न वन नहीं होता, वैसे जड भूतोंसे भिन्न उसका प्रवाह भी नहीं होता है। साथ ही जड भूतोंमें या उनके प्रवाहमें विचार्यकारिता भी नहीं होती। अतः उनके परतन्त्र चेतन बुद्धिमान्को कार्य करने एवं सोचनेको बाध्य होना पड़े, यह असंगत है। अवश्य सम्पत्ति या विपत्तिके रूपमें आनेवाली भूत या भौतिक घटनाएँ विचारणीय होती हैं। विचारशील शक्तिशाली प्राणी शक्ति रहनेपर भूतों या भौतिक घटनाओंको अनुकूल बनाता है, शक्ति न रहनेपर लाचारीसे सहन करता है। यदि प्रवाह-परतन्त्र ही सब घटनाएँ हों तो भलाई-बुराईका उत्तरदायित्व भी चेतन व्यक्तियों या समुदायपर न होना चाहिये और न तो उन्हें उसका फल ही भोगना चाहिये। फिर तो किसी परिस्थितिके अनुसार ही हिटलर एवं उसके साथियोंका जन्म हुआ, युद्ध छिड़ा एवं अभूतपूर्व विश्वव्यापी संग्राम हुआ। फिर उसके साथियोंको युद्धा-पराधी बनाकर फाँसीपर लटकानेका क्या अर्थ है ?

कहा जाता है, गान्धीजी बड़े प्रभावशाली थे। फिर भी उनके यन्त्रीकरण-के विरुद्ध खद्दर आदिकी योजना प्रवाहविरुद्ध होनेसे सफल नहीं हुई। पर इससे यही क्यों न माना जाय कि उस योजनाके पीछे जितनी शक्ति अपेक्षित थी, गान्धीजीके पास उतनी शक्ति न थी। इसके विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि

बढ़े-चढ़े बौद्ध-धर्मको रोकनेके लिये कुमारिल एवं शंकराचार्य सफल हुए। अतः चेतन शक्तिशाली पुरुष भौतिक प्रवाहको मोड़ते हैं, वे प्रवाहमें नहीं बहते। इसीलिये भारतीय सिद्धान्त है कि 'कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्। इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥ (महा०) काल राजाका कारण है या राजा कालका कारण है, यह संशय नहीं होना चाहिये—राजा ही कालका कारण होता है। काल प्रवाह, भौतिक प्रवाह या इतिहासकारको चेतन प्राणी, राजा, विशिष्ट महापुरुष तथा ईश्वर अवश्य ही बदल सकते हैं।

कहा जाता है कि 'उत्पत्ति और समाजका एक रूप नष्ट होता है तो उसका स्थान दूसरा रूप ले लेता है। इस क्रान्तिकारी परिवर्तनका कारण दो प्रकारके घटना-समूह होते हैं। दोनों यद्यपि कभी संयुक्त रूपसे दिखायी देते हैं, फिर भी दोनों-पृथक् रूपसे काम करते हैं। इनमें एक यन्त्र विद्यासम्बन्धी है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन-शक्तियोंमें परिवर्तन होता है। दूसरा घटनासमूह व्यक्तिसम्बन्धी है, जिसका सम्बन्ध सामाजिक वर्गों और दलोंसे होता है। काम करनेवाले मजदूरोंकी बढ़ती हुई दक्षता, नवीन कच्चे माल और बाजारोंका अन्वेषण, माल बनानेकी नवीन पद्धति, औजारों और मशीनोंका आविष्कार-व्यापार तथा विनिमयके अधिक उत्तम संघटनके फलसे जब उत्पादक शक्तियोंकी वृद्धि हो जाती है और समाजका भौतिक आधार अथवा आर्थिक नींव बदल जाती है, तब उत्पत्तिकी पुरानी प्रणालीसे माल तैयार करनेका पुराना तरीका लाभदायक नहीं रह जाता; क्योंकि माल बनानेका पुराना तरीका, पुराने सामाजिक विभाग, पुराने कानून, पुरानी शासनसंस्थाएँ, पुराने विद्यासम्बन्धी सिद्धान्त (ऐसी उत्पादक शक्तियोंके अनुकूल जो या तो लुप्त हो चुकी हैं या लुप्त हो रही हैं) रह नहीं जाते? अतः अब वह समाजरूपी भवन उसकी आर्थिक दशारूपी नींवके सदृश नहीं रह जाता। इस प्रकार उत्पादक शक्तियाँ और उत्पत्तिकी प्रणाली एक दूसरेके विरुद्ध हो जाती हैं। प्राचीनता, नवीनताका यह विरोध धीरे-धीरे मनुष्यके विचारोंपर प्रभाव डालता है। मनुष्य एक नवीन युगका आरम्भ अनुभव करने लगता है। इस घटनासे समाजका संघटन भी बदलने लगता है। जो वर्ग पहले तुच्छ समझे जाते थे, वे ही महत्त्वपूर्ण और सम्पत्तिके स्वामी बन जाते हैं। जिन वर्गोंकी पहले प्रधानता थी, उनका पतन होने लगता है। इस प्रकार समाजके मूल आधारमें परिवर्तन होनेसे प्राचीन धार्मिक, कानूनी, दार्शनिक और राजनीतिक प्रणालियाँ पहले तो अपने अस्तित्व कायम रखनेके लिये हाथ-पैर मारती हैं, परंतु समय-परिवर्तनके कारण वे अव्यवहार्य और निकम्मी हो जाती हैं, लोगोंके उपयोगार्ह नहीं रह जातीं। मनुष्योंके विचार भी प्रायः परिवर्तनविरोधी स्थितिपालक होते हैं, पर फिर वे भी धीरे-धीरे घटनाओंका अनुसरण करने लगते हैं। महान् विचारक उत्पन्न होते हैं, वे नवीन परिस्थितिका रहस्य समझाते हैं। उसके अनुसार नवीन भावनाओं, विचारधाराओं-

का जन्म देते हैं। फिर मनुष्योंमें विवेक जाग्रत् होता है। संदेह और प्रश्नोंकी परम्परासे नवीन सत्य सिद्धान्तोंका उदय होता है। फलस्वरूप मतभेद, वादविवाद, फूट, वर्गकलह और क्रान्ति उत्पन्न होती है।'

पूर्वके तर्कोंसे ही उपर्युक्त मार्क्सीय मन्तव्यका भी खण्डन हो जाता है। उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि काल या परिस्थिति एवं भौतिक अवस्थाओंके कारण सिद्धान्तोंमें परिवर्तन नहीं हो सकता। पैदल चलने, बैलगाड़ियोंद्वारा चलने एवं वायुयानद्वारा चलनेके जमानेमें भले ही भेद हो गया हो, परंतु उनमें रहनेवाले नित्य आत्मा एवं परमेश्वरमें भेद नहीं हो गया। इस तरह चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल, नक्षत्रमण्डल, आकाशमण्डलमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अग्निका दहन, प्रकाशन-धर्म, पृथ्वीके अन्नादि उत्पन्न करनेके स्वभावमें रद्दोबदल नहीं हुआ। अग्नि, सूर्य, वायु एवं आकाशके धर्ममें रद्दोबदल नहीं हुआ। चन्द्रमाके घटने-बढ़ने एवं तदनुसार समुद्रके ज्वारभाटेमें भी रद्दोबदल नहीं हुआ। भोजनसे भूख मिटानेके सिद्धान्तमें, पानीसे प्यास बुझानेके सिद्धान्तमें, संतानोत्पादन कार्यादिमें भी उल्लेख्य परिवर्तन नहीं हुआ। अतएव सत्य-अहिंसा, स्तेयादि धर्मोंका भी महत्त्व घटा नहीं है। मशीनों एवं बड़े-बड़े कलकारखानोंके बननेसे या मजदूरोंमें कार्यक्षमता, दक्षता बढ़ जानेसे सम्पत्तिमें, सुख-सुविधा आदिमें वृद्धि हो जानी अलग बात है; परंतु इससे धार्मिक, दार्शनिक या राजनीतिक सिद्धान्तोंमें अन्तर पड़नेका कोई भी कारण नहीं है। पुनश्च आधुनिक लोगोंके मतानुसार जो छः हजार वर्षके भीतर ही संसारका ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक काल मानते हैं, उनके लिये यह भले ही कोई नवीन अद्भुत विकास हो, परंतु जो अरबों वर्षकी दुनिया मानते हैं, वे लाखों वर्ष पहले महायन्त्रोंका निर्माण करके उनका दुष्परिणाम भी जान चुके हैं। अतएव उनके निर्माणको पाप तथा अवैध घोषित कर चुके हैं। रामायणके पुष्पकयान तथा देवताओंके दिव्य विमानोंका मुकाबिला करनेमें आजके विमान कुछ हैं ही नहीं। कथासरित्सागर, बृहत्कथामें वर्णित विमानोंका भी आधुनिक विमान मुकाबिला नहीं कर सकते। उनमें एक कीलके दबानेसे एक बारकी उड़ानमें आठ हजार योजनतक जानेकी क्षमता थी, खतरेकी तो तो कोई सम्भावना थी ही नहीं। यन्त्रचालित नगर एवं बाजार आदिको और उनके शासन आदिकी सम्पूर्ण व्यवस्था एक कारीगरके हाथमें होना कितना महत्त्वपूर्ण आविष्कार था*।

---

* राजा भोजके पास एक काष्ठमय अश्वाकार यन्त्र था, जिसकी एक घड़ीमें ११ कोसकी गति थी—'घट्यैकया क्रोशदशैकनश्वः सुकृत्रिमो गच्छति चारुगत्या। वायुं ददाति व्यजनं सुपुष्कलं विना मनुष्येण चलत्यजस्रम्॥' (समरां० सूत्र०)। उज्जैनके राजा प्रद्योतने राजा उदयनको फँसानेके लिये एक यन्त्रमय हाथी बनाया था, जिसपर

महाभारतके ब्रह्मास्त्र, नारायणास्त्र, पाशुपतास्त्र-जैसे अस्त्र-शस्त्रोंकी बराबरी आजकलके हाईड्रोजन बम आदि भी नहीं कर सकते हैं। वे अस्त्र प्रयुक्त किये जाते थे, साथ ही मध्यसे ही लौटाये भी जा सकते थे और पाशुपतास्त्र तो क्षण-भरमें ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्डोंका संहार कर सकता था। धन, रत्न, मणियोंकी कमी रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर आदिके राज्यमें न थी। उनकी बुद्धि, शक्तिकी भी आजके लोगोंसे तुलना नहीं की जा सकती। विश्वकर्मा, मय एवं नल-नीलकी कारीगरी, हनुमान्, अंगद, बालि, अर्जुन, भीमकी शक्तिका आज कौन बराबरी कर सकता है? तथापि उन लोगोंने अपौरुषेय शास्त्रों एवं तदाश्रित धर्म, दर्शन एवं आर्ष नीतियोंमें कोई परिवर्तन आवश्यक नहीं समझा एवं आज भी जिन अमेरिका आदि राष्ट्रोंने पचासों तल्ले ऊँचे भवन बनाये, पंद्रह सौ मील प्रति घंटे चलनेवाले वायुयान बनाये, परमाणु बम, हाईड्रोजन बम-जैसे शस्त्रास्त्र बनाये हैं, वे भी ईसाईमतकी ही पुकार मचा रहे हैं, धर्म एवं ईश्वरका सम्मान ही कर रहे हैं।

मार्क्स एवं इतिहास

मार्क्सवादी समाजके विचारों, सिद्धान्तों तथा राजनीतिक संस्थाओंको समाज-की सत्ता और उसकी भौतिक परिस्थितियोंके ही अनुकूल मानते हैं और समाजकी सत्ता एवं भौतिक परिस्थितियाँ उनके मतमें उत्पादन-शक्तियों तथा उत्पादन-सम्बन्धोंपर निर्भर रहती हैं। इन्हींपर समाजका ढाँचा स्थिर होता है। दास-युगमें सामाजिक रीतियाँ अन्य युगोंसे भिन्न थीं। यही बात सामन्तवादी तथा

---

६० योद्धा बैठते थे (कथासरित्सागर)। भरद्वाजकृत अंशुबोधिनीके 'शक्त्युद्गमाद्यष्टौ' इस सूत्रकी 'बौधायनवृत्ति' में शक्त्युद्गम आदि आकाशगामी विमानके आठ प्रकार इस तरह बतलाये गये हैं—(१) शक्त्युद्गम (बिजलीसे चलनेवाला), (२) भूतवाह (अग्नि, जल, वायुसे चलनेवाला), (३) धूमयान (वाष्पसे चलनेवाला), (४) शिखोद्गम (तैलसे चलनेवाला), (५) अंशुवाह (सूर्यकिरणोंसे चलनेवाला), (६) तारामुख (उल्कारस अर्थात् चुम्बकसे चलनेवाला), (७) मणिवाह (चन्द्रकान्त-सूर्यकान्त आदिसे चलनेवाला) और (८) मरुत्सक (केवल वायुसे चलनेवाला)। पुष्पकविमानका वर्णन वाल्मीकिरामायणमें सुप्रसिद्ध है—'ब्रह्मणोऽर्थे कृतं दिव्यं दिवि यद् विश्वकर्मणा। विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम्॥' 'भागवत'में शाल्वके विमान-का भी वर्णन इन शब्दोंमें आया है—'स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम्। ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिकृतं स्मरन्॥ क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिमूर्ध्नि जले क्वचित्।' (१०। ७६। ८, २२) कुबेरका पुष्पकयान, कर्दमका दिव्ययान और शाल्वका विमान जल, स्थल, पर्वत तथा आकाशमें सर्वत्र चलता था। शुक्रनीतिके चौथे अध्यायमें तोप-बन्दूक आदिका विशेषरूपसे उल्लेख है—'नलिकं द्विविधं ज्ञेयं बृहत् क्षुद्रविभेदतः। तिर्यगूर्ध्वच्छिद्रमूलं नालं पञ्चवितस्तिकम्॥ मूलाग्रयोर्लक्ष्यभेदि तिलबिन्दुयुतं सदा। यन्त्राघाताग्निकृद् ग्रावचूर्णधृक्कर्णकम्॥' शुक्रनी० ४। १०२८-२९)।

पूँजीवादी युगके लिये भी कही जा सकती है। इन भिन्नताओंका कारण उत्पादन-शक्तियाँ और उत्पादनके सम्बन्ध हैं। मार्क्सने कहा है कि 'मनुष्यकी सत्ता उसकी चेतनाद्वारा नहीं निश्चित होती; किंतु उसकी चेतना ही सामाजिक सत्ताद्वारा निश्चित होती है।'

अध्यात्मवादी रामराज्यमें विचारशील, सावधान मनुष्य शास्त्र तथा शिष्ट सज्जनोंके समागमसे सच्छिक्षा, सद्बुद्धि एवं सदिच्छा प्राप्त करके तत्परतासे सत्प्रयत्न करता है और सत्फलका भागी होता है। सत्प्रयत्नद्वारा चेतन प्राणी समाजकी सत्ता एवं परिस्थितियोंमें भी परिवर्तन कर सकता है। उत्पादन-शक्तियों एवं उत्पादन-सम्बन्धोंमें भी विचारवान् मनुष्यने ही परिवर्तन किये हैं और अब भी उसीके द्वारा परिवर्तन किये जा सकते हैं। सामान्य स्थितिमें मनुष्य भी आदत, स्वभाव या प्रकृतिके परतन्त्र होकर ही सब चेष्टा करता है। इसीलिये गीताचार्य भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ज्ञानवान् प्राणी भी अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चेष्टा करता है। सभी प्राणी प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं, उसमें किसीका निग्रह कुछ नहीं कर सकता—'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि। प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥'(३। ३३) भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम्हारा यह उद्योग व्यर्थ है, प्रकृति तुम्हें नियुक्त करेगी। मोहवश जो तुम नहीं करना चाहते हो, उसे भी प्रकृति हठात् तुमसे करायेगी—'मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥' 'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥' (गी० १८।५९-६०) इत्यादि। परंतु जब शास्त्रोंमें तथा लोकमें भी विधि-निषेध मान्य होते हैं, तब सुतरां यह मानना पड़ता है कि प्राणी किसी कार्यके करने, न करने या अन्यथा करनेमें स्वतन्त्र होता है। स्वतन्त्र होनेपर ही वह कर्ता होता है, तभी उसके लिये विधि-निषेध सम्भव होते हैं। किसी जकड़े हुए, बँधे हुए, परतन्त्र प्राणीको कोई भी समझदार व्यक्ति किसी कार्यके करनेका आदेश नहीं दे सकता। 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' इस पाणिनि-सूत्रकी बात हम पहले लिख ही चुके हैं। (पृष्ठ ४३५)। प्रकृति, स्वभाव, आदत या परिस्थिति सभीके सामने है। यदि सभी परतन्त्र ही हैं, तो प्रकृति या परिस्थितिसे परतन्त्र प्राणीद्वारा होनेवाले अपराधका उत्तरदायित्व उस प्राणीपर नहीं होना चाहिये, अतएव उसे दण्डभागी भी न होना चाहिये। इसी तरह किसी प्राणीसे शुभकर्म बन जानेपर उसे अनुग्रहभागी भी न होना चाहिये; परंतु यह बात लोक तथा शास्त्र सबके विरुद्ध हैं।

इसके अतिरिक्त निम्न दशासे निकलकर उच्चस्थितिकी ओर चलनेका प्रयत्न भी कभी सफल नहीं हो सकेगा। फिर तो जैसी प्रकृति या परिस्थिति होगी, तदनुसार ही प्राणी पतित होने या उन्नत होनेके लिये बाध्य होगा। परंतु यह बात लोकानुभवसे विरुद्ध ही है। गीताचार्य भगवान्ने इसका समाधान

करते हुए बतलाया है कि सामान्यरूपसे इन्द्रियोंका अपने विषयोंमें स्वाभाविक राग-द्वेष होता है। अनुकूल विषयमें राग और प्रतिकूल विषयमें द्वेष होता है। उन राग-द्वेषोंके वश न होना ही पुरुषार्थका सार है अर्थात् राग-द्वेषरूप सहकारी कारणसे युक्त होकर ही प्रकृति प्राणीको स्वानुरूप कार्यमें प्रवृत्त करती है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ (गीता ३। ३४)

काम तथा प्रकृति काम्य—रागवान्‌को ही काम्य कर्ममें प्रवृत्त कर सकते हैं। काम, प्रकृति भी रागहीन द्वेषास्पद पदार्थमें प्राणीको प्रवृत्त नहीं कर सकते। सिंहकी हिंसा-प्रकृति द्वेषास्पद प्राणियोंकी हिंसामें ही उसे प्रवृत्त करती है, द्वेषानास्पद अपने शिशुकी हिंसामें सिंहकी हिंसा-प्रकृति भी उसे नहीं प्रवृत्त कर सकती। अतः जैसे मृत्तिकासे घट बननेमें जल सहकारी कारण है, जल न रहनेपर मृत्तिकासे घट नहीं बनता, वैसे ही प्रकृतिके प्रवर्त्तनमें राग-द्वेष सहकारी कारण हैं। राग-द्वेषके विघटित कर देनेपर प्रकृति या परिस्थिति व्यर्थ हो जाती है। अतः सच्छास्त्रोंके अभ्यास एवं सत्पुरुषोंके समागमसे आवश्यक, उचित, शास्त्रीय राग-द्वेष बनाकर स्वाभाविक पाशविक राग-द्वेषको विघटित कर देना चाहिये। इससे प्रकृति या परिस्थिति व्यर्थ हो जाती है। यही प्राणीका पुरुषार्थ है। इसीमें प्राक्तन सुकृत एवं ईश्वरानुग्रहका भी उपयोग होता है। इस पुरुषार्थके ही बलपर समाज एवं उसकी परिस्थितियाँ, उत्पादन-शक्तियाँ तथा उत्पादन-सम्बन्ध बनाये-बिगाड़े जाते हैं। अनुचित परिस्थितियोंके विघटन एवं उचित परिस्थितिके सम्पादनमें चेतन प्राणीकी ही स्वाधीनता होती है। व्यवहारमें स्पष्ट ही देखा जाता है कि चेतन अचेतनका गुलाम नहीं है; किंतु अचेतन ही चेतनका गुलाम है। दृष्टानुसारिणी ही कल्पना उचित होती है। इसके अनुसार पुरुषार्थपरायण महापुरुष इतिहासको, परिस्थितियोंको बदलते हैं, वे परिस्थितियोंके दास नहीं होते। किसी भी युगमें दुर्गुण, दुर्व्यवस्था, कुविचार एवं आलस्य प्रमादके परिणाम होते हैं, वे सदा ही त्याज्य माने जाते हैं। सद्‌विचार एवं तत्परतामूलक किसी भी युगकी अच्छाइयाँ सदा ग्राह्य होती हैं। खलोंके लिये विद्या, धन और शक्ति सदा ही विवादार्थ, मदार्थ, तथा परपीडनार्थ थी, सत्पुरुषोंके लिये उक्त तीनों ही वस्तुएँ सदा ही ज्ञानार्थ, दानार्थ एवं रक्षणार्थ थीं। भूत-संघातमय मनुष्य तथा मनुष्य-संघातप्राय समाज सभीकी सत्ता अनन्त, अखण्ड व्यापक बोधसे ही निर्धारित होती है। जड स्वयं अपनेको ही सिद्ध नहीं कर सकता, तो फिर उसके द्वारा चेतनकी सिद्धि कैसे कही जा सकती है? प्रकाशके द्वारा घटादिका निश्चय तो होता है, परंतु घटादिके बलपर प्रकाशका निश्चय कोई बुद्धिमान् व्यक्ति माननेको तैयार नहीं होगा।

परिवर्तनके कारण

मार्क्सके मतानुसार 'परिवर्तनका कारण न तो भौगोलिक अवस्था ही है न जनसंख्या ही; क्योंकि यूरोप सदियोंसे अपरिवर्तनशील रहा है, फिर भी वहाँ पंचायती व्यवस्था, दासप्रथा, सामन्तवादी, पूँजीवादी व्यवस्था आदि अनेक परिवर्तन हुए। जनसंख्या भारतमें इंग्लैंड, अमेरिकासे अधिक होनेपर भी वहाँ इतने परिवर्तन नहीं हुए।' स्टालिनका कहना है कि 'ऐतिहासिक भौतिकवादके अनुसार आवश्यक जीवन-साधनोंको प्राप्त करनेकी प्रणाली ही सामाजिक परिवर्तन-की नियामक शक्ति है। व्यक्तिको जीवित रहनेके लिये भौतिक मूल्यों (वस्तुओं) की आवश्यकता पड़ती है। उत्पादनके सिलसिलेमें वह अन्य व्यक्तियोंसे सम्बन्ध स्थापित करता है। यह उत्पादन स्वेच्छापर आश्रित नहीं होता, किंतु उत्पादन-शक्तियोंके रूपपर ही आश्रित रहता है। उत्पादन किसी अवस्थामें देरतक स्थिर नहीं रहता, अपितु विकासकी दिशामें उसका परिवर्तन होता रहता है। उत्पादन-पद्धतिमें परिवर्तन होनेसे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था, विचारों, राजनीतिक मतों और राजनीतिक संस्थाओंमें परिवर्तन अवश्यम्भावी हो जाता है।'

मार्क्सके शब्दोंमें 'सामाजिक सम्बन्ध उत्पादक शक्तियोंसे जुड़े हुए होते हैं। नयी उत्पादक शक्तियोंके अर्जनमें मनुष्य अपनी उत्पादन-पद्धति बदल देते हैं। अपनी उत्पादन-पद्धति तथा अपनी जीविकोपार्जनकी प्रणाली बदलनेसे वे सभी सामाजिक सम्बन्धोंको परिवर्तित करते हैं। हाथकी चक्कीकी अवस्थामें सामन्तशाही सामाजिक सम्बन्ध प्राप्त होते हैं। भापसे चलनेवाली चक्कीसे वह समाज बनता है, जिसमें औद्योगिक पूँजीपतिका प्रभुत्व होता है। सामाजिक प्रगति-में विचारों, सिद्धान्तों, मतों और संस्थाओंका भी स्थान होता है। ये सब भौतिक जीवनपर तो अवश्य आश्रित होते हैं; किंतु इनका सामाजिक शक्तियोंके समेटने, संघटित करनेमें महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। नये विचार, नये सिद्धान्त और नयी भौतिक परिस्थितियोंमें उत्पन्न इनके द्वारा जनसाधारणको भौतिक त्रुटियोंका ज्ञान होता है। यह विचार सामाजिक परिवर्तनमें बहुमूल्य होते हैं। इन्हींके आधारपर जनता उन शक्तियोंका विध्वंस करती है, जो प्रगतिमें बाधक होती हैं।'

अध्यात्मवादी रामराज्यके मतानुसार कोई मौलिक सिद्धान्त एवं विचार नये नहीं होते हैं। असत्का अर्थात् अत्यन्त अविद्यमानका कभी भाव नहीं होता, सत्का अर्थात् विद्यमानका कभी अभाव नहीं होता—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' (गी० २। १६) तिलमें तैल है तभी वह प्रकट होता है। सिकतामें तैल नहीं होता है, अतः लाख प्रयत्न करनेपर भी सिकतासे कभी तैल प्रकट नहीं होता। मार्क्सवादी कुछ प्रादेशिक घटनाओंके आधारपर कार्य-कारण-भाव निश्चित

करते हैं और उन्हींके आधारपर सिद्धान्त गढ़ते हैं। परंतु घटनाएँ अनुकूल-प्रतिकूल, इष्ट-अनिष्ट दोनों ही ढंगकी होती हैं। चोरी, हिंसा, दुराचार आदिका भी कभी विकास होता है, उसमें भी क्रम होता है, फिर भी वह सिद्धान्त नहीं बन जाता। व्यक्तिगतरूपसे तथा समाजगतरूपसे कभी विकास होता है और कभी ह्रास भी होता है, इसीमें प्रमाद एवं पुरुषार्थका उपयोग होता है। जिस मजदूर-समाजको मार्क्सने विकासोन्मुख माना है, उसकी ही अनुभूयमान हालत बहुत ही चिन्तनीय है। मशीनयुगके कारण बेकारीकी भी समस्या खड़ी हुई समझी जाती है। विद्या-बुद्धिका भी विकास नहीं कहा जा सकता है। फिर भी मार्क्स सर्वहाराका राज्य अवश्यम्भावी कहता है। वह किसानको उदीयमान वर्ग नहीं मानता था। परंतु चीनकी क्रान्तिमें किसानवर्ग उदीयमान वर्ग सिद्ध हो गया। यदि इसी प्रकार किसी अन्य वर्गका उदय हो जायगा तो मार्क्सकी अन्य भविष्य वाणियाँ भी झूठी सिद्ध हो जायँगी।

मार्क्सकी ऐतिहासिक कल्पनाएँ और तदनुसारी नियम-निर्धारण सहस्रों नहीं सैकड़ों वर्षोंके ऐतिहासिक अनुभवोंके आधारपर हैं, परंतु अध्यात्मवादियोंकी धरित्री और उसका इतिहास सहस्रों, लक्षों नहीं अपितु अरबों वर्षोंके हैं। वहाँका यह व्यापक नियम है कि शुभ कर्मोंसे सुख एवं तत्साधनोंकी समृद्धि होती है और अशुभ कर्मोंसे दुःख एवं तत्साधनोंकी समृद्धि होती है। बुद्धिमानी, सावधानी एवं तत्परतासे कर्तव्यपरायण होनेपर समृद्धि बढ़ती है और अविवेक, असावधानी तथा प्रमादसे असमृद्धि बढ़ती है। धन-धान्य-समृद्धि बढ़नेसे जीवनस्तर उन्नत होता है। प्रमादहीन होनेसे समृद्धिके कारण विद्या, विवेक, कला, काव्य, संस्कृतिका विकास होता है। प्रमादयुक्त होनेसे समृद्धिके परिणामस्वरूप अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचारकी वृद्धि होती है। असमृद्धिमें भी प्रमाद होनेपर अनाचार, दुराचार आदि बढ़ते हैं और प्रमादहीन होनेसे असमृद्धि-दशामें भी विद्या, विवेक, तपस्याका विस्तार होता है। विश्वकर्मा एवं मयकी शिल्पकला शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। 'समराङ्गण-सूत्रधार' के रचयिता भोजका काल ईसाकी १० वीं शतीमें माना जाता है। उस ग्रन्थमें अनेक प्रकारके कला-कौशल, वायुयान आदिका वर्णन मिलता है। राज्यधर तक्षा (बढ़ई) के द्वारा निर्मित वायुयान एक कीलके आघातसे आठ सौ योजन चल सकता था। उस तक्षाद्वारा निर्मित यन्त्रमय महानगरके सभी व्यवहार यन्त्रसे ही होते थे, तो भी तत्कालीन लोगोंके विचारों, सिद्धान्तोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। इसका उल्लेख 'कथासरित्सागर' में मिलता है। 'रामायण' 'महाभारत' के अनुसार बहुत विशाल पुष्पकयान आधुनिक सभी वायुयानोंसे अधिक विशाल, कलापूर्ण, द्रुतगामी तथा निरापद था। ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र आदि अस्त्र-शस्त्रोंका मुकाबिला तो आधुनिक हाईड्रोजन बमसे करोड़ोंगुना अधिक घातक अस्त्र बनाया जाय, तो भी नहीं किया जा सकता। तब भी उन

ब्रह्मास्त्रादिके निर्माताओंके धर्म, सिद्धान्तों, विचारों, आचारोंमें कोई भी रद्दोबदल नहीं हुआ। ब्रह्मलोककी दिव्य ब्रह्मपुरीमें, इन्द्रलोककी दिव्य अमरावतीपुरीमें और विष्णुकी दिव्य वैकुण्ठपुरीमें जो विचार, जो सिद्धान्त, जो आचार आदरणीय थे, वे ही परम अकिंचन, वल्कलवसनधारी, कन्दमूल-फलाशी, अरण्यवासी, वीतराग महर्षियोंके यहाँ भी माननीय थे। सप्तद्वीपा मेदिनीके सम्राट् और अकिंचन दरिद्र ब्राह्मणके आचार, विचार, सिद्धान्त, धर्म एक-से ही होते थे। इन्द्रादि देवगणोंके दिव्य विमान, दिव्य भोग तथा दिव्य शक्तिसे सम्पन्न होनेपर भी उनके सिद्धान्तों एवं विचारोंमें कोई भेद नहीं होता था। पीछे बतलाया जा चुका है कि प्राचीन कालमें महायन्त्रोंका प्रचलन हुआ था, परंतु उसके बेकारी आदि दुष्परिणामोंको देखकर ही आस्तिकोंद्वारा उसपर प्रतिबन्ध लगाया गया था। कुछ धनिकोंको शोषक देखकर 'धनवान् होना ही शोषक होनेका कारण है' यह समझना नितान्त भ्रम है। कुछ बलवानोंको अन्यायी, अत्याचारी देखकर 'बलवान् होना अन्यायी होनेमें हेतु है' यह समझना और कुछ विद्वानोंको दुराचारी देखकर 'विद्वान् होना दुराचारी होनेका कारण है' यह समझना निरा भ्रम ही है।

यह बतलाया जा चुका है कि सत्पुरुषोंके यहाँ धन, बल एवं विद्या सर्वथा दान, रक्षण एवं ज्ञान-प्रकाशके लिये होती है। जैसे किसी मक्खीको घी हजम न होते देखकर कोई यह कल्पना करे कि घी किसीको हजम नहीं होता, तो यह भ्रम ही है। पानीसे आग बुझती हुई देखकर यदि कोई पानी-जैसी ही वस्तु पेट्रोलसे अग्नि बुझाना चाहेगा तो यह उसकी मूर्खता ही समझी जायगी। इसी तरह किसी राजा या धनवान्‌को नास्तिक, प्रमादी एवं दुराचारी देखकर यदि कोई वैसी व्याप्ति (नियम) बनाना चाहे तो यह उसका भ्रम ही कहा जायगा। चकमक पत्थरसे अग्नि निकाल लेना, अरणिमन्थनसे अग्नि निकाल लेना, दीपशलाका (दियासलाई) से अग्नि निकाल लेना या और भी किसी आधुनिक साधनसे अग्नि निकाल लेना, इनसे अग्निके दाहकत्व, प्रकाशकत्व सिद्धान्तमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। हाथकी चक्कीसे आटा पीस लेने या यन्त्रकी चक्कीसे आटा पीस लेनेसे भोजन करके भूख मिटानेके सिद्धान्तमें कोई फरक नहीं पड़ा है, बल्कि आज भी स्वास्थ्यके विचारसे हाथकी चक्कीका आटा श्रेष्ठ समझा जाता है। आज भी अग्निहोत्रके लिये अरणि-मन्थनसे ही अग्नि प्रकट की जाती है। श्मशानकी अग्निसे भी चावल पक सकता है और अग्निहोत्रकी अग्निसे भी भोजन बन सकता है। फिर भी संस्कारकी दृष्टिसे श्मशानकी अग्नि अशुद्ध होती है, उससे पकाये गये अन्नको आस्तिक व्यक्ति ग्रहण नहीं करते। प्राचीन कालमें अनन्त धन-धान्यसम्पन्न विपुल वैभवयुक्त सार्वभौम सम्राट् सामन्त, साधारण व्यापारी एवं किसान तथा उञ्छशिल वृत्तिवाला परम अकिंचन तपस्वी, सभी शास्त्रानुसारी, समान सिद्धान्त और समान विचारके होते रहे हैं।

किसी भी व्याप्तिज्ञानमें अनुकूल तर्क होना आवश्यक है । 'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ वह्नि होता है' यह व्याप्ति प्रसिद्ध है । परंतु यहाँ भी 'यदि धूम वह्निव्यभिचरित हो जाय तो क्या हो?' इस आक्षेपका समाधान यह है कि 'तब धूमको वह्निजन्य न होना चाहिये ।' परंतु धूमकी वह्निजन्यता प्रत्यक्ष ही है । प्रत्यक्ष विरोध ही तर्ककी अवधि है । अनुकूल तर्कके बिना कतिपय स्थलीय सहचार दर्शनमात्रसे व्याप्तिका निश्चय नहीं हो सकता, इस तरह उत्पादन-शक्तियोंका परिवर्तन होनेपर भी विचारों, सिद्धान्तों यथा समाजमें परिवर्तन न हो तो क्या हानि है ? इसका समाधान आवश्यक है । पर इस सम्बन्धमें मार्क्सवादी कुछ भी उत्तर नहीं दे पाते । जिस प्रकार भ्रममें पूर्वप्रमाकी हेतुताका प्रश्न उठता है, अर्थात् पहले सर्पकी प्रमा (यथार्थ ज्ञान) होती है, तब सर्पका संस्कार होता है, तभी अज्ञान, साहश्य, संस्कार आदिसे रस्सीमें सर्प-भ्रम होता है । अतः कहा जा सकता है कि आरोप्य प्रमा आरोपका हेतु है । परंतु वहाँ यह प्रश्न होता है कि आरोप्य प्रमाके बिना ही यदि भ्रम-प्रमा साधारण आरोप्य संस्कारसे ही आरोप हो तो क्या हानि है ? यहाँ अनुकूल तर्क न होनेसे प्रमा और आरोपका कार्य-कारण-भाव सिद्ध नहीं होता । इसी प्रकार विचार एवं सिद्धान्तमें परिवर्तन प्रमाणके आधार-पर होता है । प्रमा किसी भी सम्पत्ति-विपत्ति, अमीरी, गरीबी हालतके परतन्त्र नहीं होती । पुरुषकी परिस्थिति इच्छा या स्वयं पुरुष प्रमापर प्रभाव नहीं डाल सकते । सहस्रों प्रयत्नोंसे भी प्रमाणजन्य प्रमामें हेर-फेर नहीं हो सकता । प्रमाणकी उपस्थितिमें प्रमेयकी प्रमिति होती ही है; न कोई प्रमितिको रोक सकता है, न कोई उसमें रद्दोबदल ही कर सकता है । प्रमाणमूलक विचारों, सिद्धान्तोंमें और तन्निष्ठ लोगोंके तदनुसारी आचारोंमें कोई हेर-फेर नहीं हो सकता ।

हाँ, कई प्रकारकी परिस्थितियाँ ऐसी अवश्य होती हैं जिनमें प्राणियोंका शास्त्र-सम्बन्ध और परम्परा टूट जाती है । तब नये ढंगके अपूर्ण या अर्धपूर्ण विचार अथवा सिद्धान्त उत्पन्न होते हैं । अकालों, दुष्कालों या युद्धोंके कारण किंवा भौगोलिक उथल-पुथलके कारण अथवा देशान्तर-गमनके कारण प्राचीन शिक्षा तथा सदाचार-परम्पराका सम्बन्ध टूटनेसे फिर विशृङ्खलता हो जाती है । जैसे प्राचीन कालके क्षत्रिय लोग विजयके उद्देश्यसे देशान्तरोंमें गये । वहाँ उनका अपने धर्म, संस्कृति-के आचार्यों तथा विद्वानोंसे सम्बन्ध टूट गया । फिर उनके आचारोंमें परिवर्तन हुआ और शिक्षा, विचार तथा सिद्धान्तोंमें परिवर्तन होते-होते उनके मूल स्वरूपमें पर्याप्त परिवर्तन हो गया—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥

(मनु० १० । ४३)

यह कहा जा चुका है कि शिक्षा, समागमके अनुसार ही बुद्धि होती है, तदनुसार ही इच्छा और तदनुसार ही प्रयत्न होता है । प्राणी जैसे लोगोंका सहवास करता है, जैसे लोगोंका सेवन करता है और जैसा बननेकी इच्छा करता

है, वैसा ही बन जाता है—

याद्दशैः संनिविशते याद्दशांश्चोपसेवते ।
याद्दगिच्छेच्च भवितुं ताद्दग् भवति पूरुषः ॥ (महा० उद्योग० ३६ । १३)

प्राणी जैसा संकल्प करता है, वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही बन जाता है—

'यथा क्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।' (छान्दो० ३।१४।१)

इस तरह सङ्ग एवं शिक्षामें परिवर्तन होनेसे जब बुद्धि, विचार, सिद्धान्त तथा कर्ममें परिवर्तन होता है, तब समाजका भी रूप बदल जाता है। सत्समागम, सत् शिक्षासे सद्बुद्धि, सदिच्छा, सत्कर्म एवं सत्समाज बनता है। असत्समागम, असत्-शिक्षासे असद्बुद्धि, असद्-इच्छा, असत्कर्म एवं असत्समाज बन जाता है। सत् और असत्का निर्णय प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगमके आधारपर ही होता है। कहा जा चुका है कि उत्पादन-साधनोंमें या सम्पत्तिमें रद्दोबदल होनेपर भी प्रमाणजन्य प्रमामें कोई अन्तर नहीं हो सकता है। इसलिये किसी भी स्थितिमें प्रमाणके आधारपर ही सत्-असत्का निर्णय हो सकता है। सत्को असत् और असत्को सत् समझ लिये जानेका कारण प्रमाद है। प्रमाणनिर्णीत सच्छिक्षा तथा सत्-समागमसे किसी भी हालतमें सद्विचार, सत्सिद्धान्त, सदिच्छा, सत्कर्म और सत्-समाज एवं सद्-व्यक्तिका निर्माण हो सकता है। परंतु 'मानव-इतिहास प्रगतिका इतिहास है' यह सिद्धान्त इस सम्बन्धमें सर्वथा ही असंगत है। कोई भी समझदार व्यक्ति कह सकता है कि आजकी स्थिति बुद्धि, शक्ति, सद्-भावनाकी दृष्टिसे प्रगति नहीं, किंतु अधोगतिकी ही है। भौतिक बाह्य चमत्कृतिकी चकाचौंधमें चौंधियाया हुआ आजका मानव सत्प्रमाण, सच्छास्त्रसे बहिर्मुख होकर जडयन्त्रका किंकर होकर स्वयं भी जडयन्त्रवत् हो गया है। आध्यात्मिकता, धार्मिकतासे बहिर्मुख होकर, संस्कृति-सभ्यतासे प्रच्युत होकर वह पशुप्राय होता जा रहा है। यदि यही प्रगति है, तो फिर अधोगति क्या है, यह भी विचारणीय है।

उत्पादनमें सुविधाके लिये अल्प व्ययमें अल्प श्रमसे अधिक-से-अधिक उत्पादन हो सके, इसके लिये मनुष्योंकी प्रवृत्ति हो सकती है। परंतु उसके साथ सिद्धान्तमें, विचारमें तथा समाजमें भी परिवर्तन हो, यह आवश्यक नहीं है। रामायणके युगमें कई लोग पैदल चलते थे, कई लोग आकाश, समुद्र और पहाड़ोंपर समानरूपसे अव्याहत गतिवाले रथसे चलते थे—'उदन्वदाकाशमही-धरेषु वशिष्ठमन्त्रोक्षणजप्रभावात् ।' कई पुष्पकयानसे चलते थे, कई पत्थरोंसे, वृक्षोंसे लड़ते थे, कई धनुष-बाणसे, कई भुशुंडि, शतघ्नि तथा अन्यान्य विविध यन्त्रोंसे लड़ते थे, विविध प्रकारसे काम करते थे। फिर भी उनके विचार, सिद्धान्त सुस्थिर थे, क्षणिक या परिवर्तनशील नहीं थे। महाभारतके आख्यानोंके आधारपर भी यही बात कही जा सकती है। आज भी कितने ही लोग पदाति

(पैदल भी चलते) हों, मोटरपर भी चलते हों और वायुयानपर भी चलते हों, तो भी उनके विचारों, सिद्धान्तोंमें कोई भी परिवर्तन नहीं होता है। इतना ही नहीं, कितने ही आधुनिक विचारक अतिप्राचीन वैदिक अध्यात्मवाद एवं धर्म-नियन्त्रित रामराज्यवादको पसंद करते हैं। अनाग्रह बुद्धिका फल है—'बुद्धेः फलमनाग्रहः।' और तत्त्वका पक्षपात बुद्धिका स्वभाव होता है—'तत्त्वपक्षपातो हि धियां स्वभावः।' जैसे पर्वत, कन्दरामें स्थित लाखों वर्षोंका गाढान्धकार भी प्रदीप-प्रभाके प्रकट होते ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही भीषण-से-भीषण विपरीत वातावरण-में भी प्रमाणके द्वारा संशय-विपर्ययादिरहित निर्दोष तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता ही है। इसमें चाहे हाथकी चक्कीसे आटा पीसा जाय, चाहे भापकी चक्कीसे। जब किन्हीं कारणोंसे, परिस्थितियोंसे या प्रमादसे सत्समागम, सच्छिक्षामें गड़बड़ी आती है, तब सद्विचार, सत्सिद्धान्तसे प्रच्युति होती है और तभी धार्मिक, सामाजिक अधोगति होती है। यही धर्मग्लानि एवं अधर्माभ्युत्थान कहा जाता है; परंतु यह अवस्था स्थिर नहीं रहती है। गीताके आचार्य दार्शनिकशिरोमणि भगवान् श्रीकृष्णके अनुसार जब-जब धर्मग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान बढ़ता है, तब-तब परमेश्वर अवतार ग्रहण करके धर्मका प्रतिष्ठापन करते हैं।

इतिहास और व्यक्ति

स्तालिनका कहना है कि 'इतिहास विज्ञानको वास्तविक विज्ञान बनाता है तो सामाजिक इतिहासके विकासको सम्राटों, सेनापतियों, विजेताओं तथा शासकोंके कृत्योंकी परिधिके अन्तर्गत सीमित नहीं किया जा सकता। इतिहास-विज्ञानके लिये आवश्यक है कि भौतिक मूल्योंके निर्माता लाखों, करोड़ों मजदूरोंके इतिहासके चिन्तनको अपना मूल विषय बनायें। द्वन्द्ववादके अनुसार प्रकृतिके सभी बाह्य रूपों एवं पदार्थोंमें आन्तरिक असंगतियाँ सहजरूपसे विद्यमान हैं। इन पदार्थों और रूपोंमें भावपक्ष तथा अभावपक्ष दोनों ही हैं। उनका अतीत है तो अनागत भी है। एक अंश मरणशील है तो दूसरा विकासोन्मुख। इन दो विरोधी अंशों—पुरातन और नवीन, मरणशील और विकासोन्मुख, निर्वाण और निर्माण—का संघर्ष ही विकास-क्रमकी आन्तरिक प्रक्रिया है।' इस आधारपर कम्युनिष्ट, मार्क्सवादी सदा ही नवीन एवं विकासोन्मुख विचारधारा या दलका साथ देता है, चाहे वह बाह्यरूपसे कितनी ही बलहीन दशामें क्यों न हो। वह कभी पुरातन एवं मरणशील विचारधारा या दलके साथ सहानुभूति नहीं रखता, चाहे वह कितना ही समृद्ध दृष्टिगोचर क्यों न हो। इसी पृष्ठभूमिके आधारपर मार्क्सवादियोंका कहना है कि 'सर्वहाराके अधिनायकत्वद्वारा नयी सभ्यता, नयी संस्कृतिका जन्म होगा। वह नयी सभ्यता मानवकी सब देनोंको ग्रहण करेगी और उन्हें जनवादी रूप देगी। साथ ही विज्ञान एवं उत्पादनकी प्रगतिसे

नयी मानवताका जन्म होगा ।' कहा जाता है कि 'रूसके परिवर्तनसम्बन्धी साहित्योंसे यह स्पष्ट है ।' वेब दम्पतिका कहना है कि 'रूसके नागरिक उसी जीवनको आदर्श जीवन मानते हैं, जिसका ध्येय बन्धुओंका हित हो, चाहे वे बन्धु किसी भी आयु, लिङ्ग, धर्म या जातिके हों ।' जॉनसनके अनुसार 'ईसाइयोंकी तरह कम्युनिष्ट भी समाज-हितको ही जीवनका लक्ष्य मानते हैं । कम्युनिष्ट ईसामसीहके सच्चे उत्तराधिकारी हैं । सभी धार्मिक नेताओंने मानवके सामने जो आदर्श रक्खे हैं, रूसके नागरिक ही उन आदेशोंके अनुसार जीवन-निर्वाह करते हैं ।' इन सबका कारण मार्क्सवादीके मतानुसार 'उत्पादन-शक्तियों एवं उत्पादन-सम्बन्धोंमें परिवर्तन ही है । रूसमें उत्पादन-शक्तियोंपर जनताका राज्यद्वारा एकाधिकार है और उत्पादन-सम्बन्ध समाजवादी है । इसीलिये वहीं नयी सभ्यता-का जन्म हो सकता है ।' मेक्सिम गोर्कीके अनुसार 'सोवियेट कारखाना एक समाजवादी शिक्षाकेन्द्र है, न कि पूँजीवादी कसाईखाना ।'

जहाँ किसी पक्षविशेषके समर्थनके लिये ही साहित्यिक तैयार किये जाते हैं और इसी ढंगका इतिहास गढ़ा जाता है, वहाँके साहित्य एवं इतिहाससे किसी सत्य घटना या सत्य सिद्धान्तका निर्णय असम्भव ही होता है । आजके मार्क्सवादी इतिहासमें भी लाखों, करोड़ों मजदूरों, किसानोंको कोई नहीं पूछता है । हाँ, उनके नामपर कुछ राजनीतिक चालबाजोंकी ही इतिहास एवं साहित्यमें प्रशंसाके पुल बाँधे जाते हैं और उन्हींका स्वागत-सत्कार होता है । लेनिन, स्टालिन आदि ही ऐतिहासिक व्यक्ति कहलाये जाते हैं, मिल-मजदूरों, किसानोंको कौन जानता है ? द्वन्द्ववादी विचार तर्ककी कसौटीपर अव्यभिचरित नहीं निकलते, यह दिखलाया जा चुका है । ह्रास-विकास, निर्वाण-निर्माणके सिद्धान्तकी कहानी नयी नहीं, पुरानी ही है । परंतु इन सबमें अनुस्यूत, अविनाशी आत्माको भुलाकर इसका दुरुपयोग किया गया है । अनाचार, पापाचार एवं अन्याय भी विकासोन्मुख हो सकते हैं, विविध प्रकारके रोग भी विकासोन्मुख होते हैं । सद्भावना, सद्गुण और स्वास्थ्य भी ह्रासोन्मुख एवं निर्वाणोन्मुख होते हैं । मार्क्सवादियोंके अनुसार विकासोन्मुख-का साथ देकर और ह्रासोन्मुखको दो धक्के देकर उसे शीघ्र ही खतम कर देनेकी कल्पना अवसरवादिता, स्वार्थ-परायणता और दानवताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । फिर तो मरणोन्मुख अपने साथीकी भी सहायता करना मूर्खता ही कही जायगी और फिर चिकित्सा-पद्धतिका विकास भी व्यर्थ ही समझा जायगा । इसके अतिरिक्त बाह्यरूपसे बलहीन दशामें विद्यमान व्यक्ति या समूहकी विकासोन्मुखता भी किस तरह विदित हो सकेगी ? मार्क्स तथा लेनिनने किसानोंको विकासोन्मुख नहीं समझा था, परंतु चीनमें ठीक उसके विपरीत अनुभव हुआ । इसीसे मार्क्सवादी अटकल-का मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है । मार्क्सवादी असंगतियाँ काल्पनिक हैं । वे ऐसी नहीं हैं जिनका समाधान ही न हो । अन्यथा किसी भी व्यक्ति, समुदाय,

जीवन या व्यवस्थाको इकाई मानकर उसीमें अन्तर्विरोध या असंगतियोंकी कल्पना करके उसे विकासोन्मुख मानकर आगन्तुक विघ्नोंके हटानेका प्रयत्न न करके उसके विनाशके लिये ही दो धक्के देना ठीक समझा जायगा। फिर तो विनश्वर वस्तु अवसरसे पहले ही नष्ट हो जायगी। यही बात कम्युनिष्ट नेताके शरीर, स्वास्थ्य एवं वर्गहीन समाज तथा नयी सभ्यताके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है।

यदि उत्पादन-शक्तियों एवं उत्पादन-सम्बन्धोंके आधारपर नयी सभ्यता, नयी मानवता और नयी संस्कृतिका जन्म हो सकता, तब तो जिस पूँजीवादके द्वारा इन शक्तियोंका विकास हुआ है, पहले उस पूँजीवादका ही इसके द्वारा कल्याण होता और फिर वे सद्गुण जिनकी कल्पना कम्युनिष्टोंमें की जा रही है, पूँजीवादमें भी हो सकते थे। अतः 'यन्त्रों, मशीनों एवं उत्पादनके बढ़नेसे मनुष्यता तथा सद्गुण बढ़ जायँगे' यह कल्पना आकाशकुसुम-जैसी ही है। यदि ऐसा ही होता तो मानवता-सम्पादनार्थ बड़े-बड़े धनपति, कुबेरपति एवं सम्राट् धन तथा साम्राज्य छोड़कर अकिंचन बनकर अरण्यवासी होनेका प्रयत्न न करते। वेब दम्पति तथा जॉनसनकी दृष्टिसे रूसी कारखाने समाजवादी शिक्षाके केन्द्र हैं और रूसके नागरिक ईसाके उत्तराधिकारी हैं। परंतु भूतपूर्व विभिन्न देशोंके प्रसिद्ध कम्युनिष्टोंद्वारा ही लिखे हुए उनके अनुभवोंके संकलन—'पत्थरके देवता' पुस्तक—पढ़नेसे तो रूसी नागरिकोंका दूसरा ही रूप मालूम पड़ता है। हंगरी तथा पोलैंडकी घटनाओंने तो तथाकथित रूसी कसाईखानेको भी विश्वके सम्मुख रख दिया। कम्युनिष्ट अपने दलके सदस्यों या स्वमतसे अविरुद्ध लोगोंके लिये भले ही कुछ करते हों, परंतु उनसे मतभेद रखनेवालोंको रूसमें जीवित रहनेका भी अधिकार नहीं है। कितने ही वैज्ञानिकोंको इसलिये मौतके घाट उतार दिया गया कि उनके सिद्धान्तोंमें कुछ चेतन कारणवादकी झलक आती थी। कम्युनिष्ट कहते हैं कि 'रूसमें दूसरी पार्टी इसलिये आवश्यक नहीं है कि वहाँ कोई दूसरे वर्ग हैं ही नहीं, फिर उनका प्रतिनिधित्व करनेवाली पार्टीकी क्या आवश्यकता है? कम्युनिष्ट-सरकारविरोधी विचार व्यक्त करना रूसमें राष्ट्रविरोधी विचार प्रकट करना समझा जाता है।' परंतु यह स्पष्ट है कि जब गैर-सरकारी विचार व्यक्त करनेका किसीको अधिकार ही नहीं है, तब फिर यह मालूम भी कैसे हो कि रूसमें मतभेद, वर्गभेद है या नहीं? फिर यदि वहाँ मतभेद है ही नहीं तो प्रबल पुलिस एवं गुप्तचर-विभाग वहाँ किस लिये है और वर्गसफाया फिर किसका होता है?

राष्ट्रियताका भाव

मार्क्सवादके अनुसार 'राष्ट्रियता भी पूँजीवादसे ही सम्बन्धित है। यूरोपमें पूँजीवादके साथ-साथ राष्ट्रियताका उदय हुआ था। व्यापारिक स्पर्धाके फल-स्वरूप पूँजीपतियोंमें राष्ट्रियताकी चेतना जागरित हुई। १५ वीं सदीमें व्यापारियों और मल्लाहोंके प्रोत्साहनद्वारा यूरोपके देशोंने अन्य महाद्वीपोंकी खोज की,

अंग्रेजोंने भारतवर्षमें व्यापारिक, राजनीतिक अधिकार स्थापित किया। अन्य देशों-के व्यापारियोंने व्यापारिक सुविधा प्राप्त न होनेके कारण अपनेको पिछड़े हुए देशके नागरिक समझा, इसलिये उन्होंने ब्रिटेन-जैसे समृद्ध देशोंके मुकाबिलेके लिये अपने राष्ट्रको सुदृढ़ बनाया। राष्ट्रियताकी भावनाका जिसका कि जन्म १४वीं शतीमें हुआ था, उन्होंने उपयोग किया। इसी स्पर्धाके फलस्वरूप राष्ट्रियताने उग्र रूप धारण किया। स्टालिनके मतानुसार 'पूँजीपति राष्ट्रियताका पाठ बाजारमें ही सीखता है।' उसके अनुसार भाषा, प्रदेश, आर्थिक जीवन और संस्कृतिका स्थायी सम्बन्ध राष्ट्रियताका आधार है। एक राष्ट्रमें इन सब विशेषताओंका होना आवश्यक है। इस दृष्टिसे इजराइलके यहूदी राष्ट्र बने। इसके पहले यहूदियोंका कोई एक राष्ट्र नहीं कहा जा सकता था; क्योंकि वे यूरोपके भिन्न देशोंमें फैले हुए थे। मध्यकालीन साम्राज्योंको भी राष्ट्र नहीं माना जाता था। सिकंदरका साम्राज्य या अन्य साम्राज्य भी राष्ट्रके रूपमें नहीं थे। राष्ट्रियताकी आड़में ही आधुनिक साम्राज्योंका जन्म हुआ। इन साम्राज्योंमें भिन्न-भिन्न जातियाँ तथा राष्ट्र हैं। साम्राज्यवादी देश उन जातियों तथा राष्ट्रोंका शोषण करते हैं; फिर भी इस सम्बन्धमें वे अपनेको अधिक सभ्य मानते हैं। जारशाही रूसके साम्राज्यमें कई परतन्त्र राष्ट्र एवं जातियाँ थीं। जारशाहीके रूसी शासक इनका शोषण करते थे। यही स्थिति अन्य साम्राज्योंकी भी थी। इन परतन्त्र राष्ट्रोंमें धीरे-धीरे राष्ट्रिय चेतना जागरित हुई, राष्ट्रिय आन्दोलन आरम्भ हुए और इनका नेतृत्व पूँजीपतियोंने किया। १९वीं शतीमें यूरोपने और बीसवीं शतीमें एशियाके राष्ट्रोंने ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, तुर्की आदिसे मुक्त होनेके लिये आन्दोलन छेड़े।

रूसकी बॉलशेविक पार्टीने कहा कि 'जबतक साम्राज्यवादका अन्त नहीं होता तबतक राष्ट्रियताका प्रश्न हल नहीं हो सकता।' कहा जाता है कि १९१७ की रूसी क्रान्तिके पश्चात् सोवियतराज्यकी स्थापना हुई। जारशाही साम्राज्यके सभी राष्ट्रों एवं जातियोंको आत्म-निर्णयका अधिकार मिला। कम्युनिष्ट पार्टीके अनुसार पूँजीवादी शोषणके साथ सभी प्रकारके शोषणका अन्त होना आवश्यक था। राष्ट्रिय-शोषण भी एक प्रकारका शोषण ही है। प्रत्येक राष्ट्रको सोवियत समाजवादीमत तथा संघमें रहने तथा न रहनेकी स्वाधीनता मिली। धीरे-धीरे साम्राज्यके अन्य राष्ट्रों एवं जातियोंने सोवियत-संघकी सदस्यताके पक्षमें निर्णय किया। आत्म-निर्णयके साथ-साथ प्रत्येक राष्ट्रको सांस्कृतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। स्टालिनका आदेश था कि 'कोई भी कम्युनिष्ट किसी परतन्त्र राष्ट्रमें एक शासककी भाँति व्यवहार नहीं कर सकता। पार्टीके सदस्योंको चाहिये कि वे पिछड़े हुए राष्ट्रोंके जागरणमें सहयोग दें।' फलस्वरूप रूसमें निरन्तर सांस्कृतिक उन्नति हो रही है। मार्क्सके मतानुसार 'इस जागरणका मूल कारण शोषणका अन्त ही है।'

इस सम्बन्धमें भी मार्क्सवादी कल्पना मनगढ़न्त है। कुटुम्ब, कुल, जाति, सम्प्रदाय तथा समाजके समान ही राष्ट्रकी कल्पना भी प्राचीन है। महाभारतमें कई स्थलोंमें देशोंके सम्बन्धमें 'राष्ट्र' शब्दका प्रयोग आया है। वेदोंमें भी राष्ट्र शब्दका प्रयोग देशके लिये आता है, जैसा कि—'आब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्, आराष्ट्रे राजन्यः।' (यजु० सं० २२। २२)। इसीलिये धर्मनियन्त्रित रामराज्य-प्रणालीमें समष्टिके अविरोधसे व्यष्टिके अभ्युदयका विधान है। व्यक्ति कुटुम्बके अविरोधसे, कुटुम्ब कुलके अविरोधसे, कुल ग्रामके, ग्राम प्रदेशके, प्रदेश राज्यके और राज्य विश्वके अविरोधसे आत्मोन्नतिके लिये प्रयत्नशील हो सकते हैं। कुलके लिये एकका, ग्रामके लिये कुलका और जनपदके लिये ग्रामका त्याग किया जा सकता है—'त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥' अवश्य ही व्यक्तिवाद तथा जातिवादके तुल्य ही राष्ट्रवाद या देशवाद भी संघर्षसे ही उग्ररूप धारण करता है। सीमित शक्तिवाले लोग ही यदि सीमित क्षेत्रमें प्रयत्न करते हैं, तो वह प्रभावशाली सिद्ध होता है, अन्यथा समुद्रमें सत्तू घोलनेके तुल्य सीमित प्रयत्न अकिंचित्कर होता है। इसीलिये व्यक्तिगत, कुटुम्बगत, मण्डलगत, राज्यगत एवं राष्ट्रगत उत्तरोत्तर विकसित तथा विशाल प्रयत्न ही सफल होते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुसार विश्वके, तथा महाविराट्की उपासनाके अनुसार अनन्त कोटि ब्रह्माण्डात्मा महाविराट्के अभ्युदयके लिये भी प्रयत्न होता है, परंतु उसके लिये विशिष्टरूपसे उच्चकोटिकी भावनाओंका विकास अपेक्षित होता है।

धर्मनियन्त्रित रामराज्य प्रणालीकी सार्वभौम सत्तामें केवल समन्वय एवं सामञ्जस्यकी स्थापनाके लिये ही सार्वभौम सत्ताद्वारा विभिन्न जातियों एवं राष्ट्रोंका नियन्त्रण किया जाता है। फिर भी सभी धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों तथा राष्ट्रोंको पूर्ण विकासका अवकाश भी रहता है। उसी सार्वभौम सत्ताके द्वारा राष्ट्रों, जातियों तथा व्यापारियोंके संघर्ष रोके जाते हैं। जैसे व्यक्तिगत उन्नतिसे कुटुम्बोंकी उन्नति और कुटुम्बोंकी उन्नतिसे ग्रामों तथा नगरोंकी उन्नति होती है, वैसे ही ग्रामों तथा नगरोंकी उन्नतिसे मण्डलों, प्रान्तों एवं राज्यकी उन्नति होती है। राज्यों एवं राष्ट्रोंकी उन्नति विश्वकी उन्नतिमें अपेक्षित होती है। व्यक्तित्व एवं कुलीनताका अभिमान अनेक बार प्राणियोंको बुरे कर्मोंसे बचाता है। महाभारतमें आख्यान है कि 'एक श्वान किसी महर्षिकी कृपासे वृक (भेड़िया), व्याघ्र, सिंह एवं शार्दूलतक बन गया। फिर भी श्वानके संस्कार विद्यमान होनेसे श्वानके स्वभावानुसार उससे ऐसी दुश्चेष्टा हुई कि उसे पुनः श्वान ही बनना पड़ा।' इसी तरह एक समय किसी ऋषिने एक मूषिकाको रूप-यौवनसम्पन्न दिव्य कन्या बना दिया। फिर उसे वर पसंद करनेके लिये कहा गया। उसने सबसे श्रेष्ठ वर निश्चय करते-करते सूर्यको पसंद किया। फिर सूर्यके आच्छादक बादलको श्रेष्ठ समझा। फिर बादलोंको

उड़ानेवाले वायुको, फिर वायुको रोकनेवाले पर्वतोंको और अन्तमें पर्वतोंमें भी बिल कर देनेवाले मूषकको सर्वश्रेष्ठ समझकर उसे ही पति बनाया। निष्कर्ष यह है कि संस्कारोंमें उच्चता धीरे-धीरे आ सकती है, एकाएक नहीं, अतः कुलीनताका बड़ा महत्त्व है।

भारतीय राजनीतिज्ञोंने सेनामें कुलीन योद्धाओंका संग्रह आवश्यक बतलाया है। युद्धमन्त्री और प्रधानमन्त्रीकी नियुक्तिमें भी विशिष्टरूपसे कुलीनताका ध्यान आवश्यक बतलाया गया है। यहाँ कुलीनता तथा शालीनताका ध्यान केवल बुरे कर्मोंसे बचनेके लिये ही है, घमण्ड या अभिमानके लिये नहीं। दोषत्याग एवं गुणार्जनके लिये ही गौरवका उपयोग होता है। 'श्रीमद्भागवत'में बतलाया गया है कि 'भगवद्विमुख, विविध गुणयुक्त ब्राह्मणकी अपेक्षा भगवद्भक्त चाण्डाल भी श्रेष्ठ है। भगवद्भक्त चाण्डाल अपने कुलसहित कृतार्थ हो जाता है, परंतु घमण्डी ब्राह्मण आत्मकल्याण करनेमें भी समर्थ नहीं होता।' इसी अभिप्रायसे किसी शासकने एक ही अपराधमें पकड़े गये चार अपराधियोंको उनके कुल, संस्कार, योग्यता आदिके अनुसार चार प्रकारके दण्ड दिये। जिसे केवल सामने आते ही छोड़ दिया गया, उसकी न्यायालयसे बाहर निकलते-ही-निकलते हृदयगति अवरुद्ध होकर मृत्यु हो गयी। जिससे यह कहा गया कि 'आप ऐसे, और आपका यह काम!' वह अपने-आप फाँसी लगाकर मर गया। जिसे कुछ भला-बुरा कहा गया, वह देश छोड़कर चला गया और जिसे दस बेंतकी सजा दी गयी, वह दस ही दिनोंके बाद पुनः उसी अपराधमें पकड़ा गया।

इस तरह कुल, जाति, राष्ट्र आदिके अभिमानसे कुल, जाति एवं राष्ट्रके गौरवस्वरूप आदर्शभूत महापुरुषोंके स्मरणसे, उनके आदर्शोंसे प्रेरणा प्राप्त होती है। हीन पुरुषोंके चिन्तनसे हीन प्रेरणा मिलती है और उत्तम पुरुषोंके चिन्तनसे उत्तम प्रेरणा मिलती है। यह प्रत्यक्ष है कि विशिष्ट संगीत सुनने तथा विशिष्ट संगीतज्ञके दर्शन या माहात्म्य-श्रवणसे संगीतमें प्रवृत्ति होती है। विशिष्ट वीर पुरुषोंकी वीरगाथा सुननेसे मनमें वीरताका संचार होता है। कामिनी-दर्शन या कामकलाके दर्शन, श्रवणादिसे काम-भावना जागरूक होती है। सर्प, व्याघ्रादि भीषण प्राणीके दर्शनसे भय उत्पन्न होता है। सत्पुरुषोंके दर्शन, श्रवणादिसे सद्भावना उत्पन्न होती है। परोपकारी, दयालु, देशभक्त आदिके दर्शन, श्रवणसे भी उस-उस ढंगके भाव उद्रिक्त होते हैं। विभिन्न राष्ट्रोंके विभिन्न ऐतिहासिक संस्मरण होते हैं। उनसे विभिन्न महापुरुषों, अवतारों, पैगम्बरों; तीर्थंकरों आदिके विशिष्ट सम्बन्ध होते हैं। वे स्थान, वे देश उन-उन

अनुयायियोंके लिये तीर्थभूत होते हैं। मार्क्सवादी भी मार्क्स, एंजिल्सके चित्रों एवं कृतियोंका आदर करते हैं। रूसी लेनिन, स्टालिनका तथा चीनी माओत्सेत्तुंग आदिका दर्शन-स्मरण तथा उनकी कृतियोंका आदर करते हैं। इन सबसे उन्हें प्रेरणा मिलती है। भगवान् शिव, विष्णु, भगवान् रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र, बुद्ध तथा शङ्कराचार्य आदिसे संस्कारका, विशेषरूपसे भारतभूमिका विशिष्ट सम्बन्ध है। अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन, यमुना, गङ्गा, चित्रकूट, रामेश्वर, द्वारका, जगन्नाथ, उज्जयिनी आदि विशिष्ट तीर्थ माने जाते हैं। इन हेतुओंसे विशिष्ट देशोंमें उन देशवासियोंकी विशिष्ट श्रद्धा होती है। उनकी रक्षा और समृद्धिके लिये उनके द्वारा विशिष्ट प्रकारकी प्रेरणाएँ मिलती रहती हैं। शास्त्रोंमें तो कहा गया है कि जननी और जन्मभूमि स्वर्गसे भी अधिक श्रेष्ठ होती है—'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

आधुनिक इतिहास बतलाता है कि मार्क्सवादी नीतिके अनुसार बने हुए 'अन्ताराष्ट्रिय मजदूर-संघ' में यद्यपि १९०७ की स्टाटगार्टकी बैठकमें यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था कि 'आगामी होनेवाले महायुद्धोंमें मजदूरोंको भाग न लेकर उनका जोरदार विरोध करना चाहिये और महायुद्धको गृहयुद्धके रूपमें परिणत करके साम्राज्यवादका अन्त करके समाजवादकी स्थापना करनी चाहिये।' इसी प्रस्तावको सन् १९१० की कोपेनहेगेनकी बैठकमें पुनः दोहराया गया। फिर भी १९१४ में जब पहला महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, तो सभी देशोंके मजदूरनेता राष्ट्रियताके स्वाभाविक प्रवाहमें बह गये और उन्होंने युद्धका समर्थन किया। कहावत है कि 'पहले अपनी ही दाढ़ीकी आग बुझायी जाती है'। दूसरे अन्ताराष्ट्रिय मजदूर-संघके बहुमतने उपर्युक्त प्रस्तावका उल्लङ्घन किया। फ्रांसके क्रान्तिकारी संघवादी भी इस राष्ट्रियताकी लहरमें बह गये और राष्ट्रियताके आधारपर एक देशके समाजवादी दल दूसरे देशके समाजवादी दलसे खुलकर लड़े। १९१९ में अन्ताराष्ट्रिय मजदूरसंघकी पुनः स्थापना करनी पड़ी और फिर उसका भी द्वितीय महायुद्ध-कालमें अन्त कर दिया गया, अब 'कोमिन्फार्म' नामकी संस्था बनी। ट्राटस्कीके अनुयायी तो स्टालिन एवं रूसको मार्क्सवादी परम्पराके विपरीत समझते हैं और रूसी राज्यमें नौकरशाहीका बोलबाला मानते हैं। अन्य वामपन्थी लोग भी यही समझते हैं कि 'सोवियत रूसने मार्क्सीय विश्वक्रान्तिका मार्ग छोड़ दिया है, उसमें नौकरशाही एवं स्टैलिनशाहीका ही एकाधिकार है; वह दुनियाके प्रतिक्रियावादियोंसे समझौता करके उन्हें प्रोत्साहन देता है।'

मार्क्सवादी इतिहासके आधारपर कहते हैं कि 'सर्वहाराका राज्य आनेवाला ही है, स्वागतके लिये तैयार रहो।' अराजकतावादी कहते हैं—'वह राज्यहीन

समाज आ ही गया है, स्वागतके लिये तैयार रहो!' हॉब्स, लॉक, रूसो आदि-की भी एक ऐतिहासिक धारणा थी। कान्ट, ग्रीन, फिक्टे, हीगेल आदिकी दूसरी ही ऐतिहासिक धारणाएँ थीं। मार्क्स, एंजिल्सकी अलग ही ऐतिहासिक धारणा है। हॉब्सके मतमें 'राज्यके जन्मसे पहले मनुष्य एक खूँखार जानवरके तुल्य भीषण था।' लॉक एवं रूसोके अनुसार 'राज्यके जन्मसे पहले मनुष्य एक श्रेष्ठ स्थितिमें था। फिर वह राज्यके पचड़ेमें क्यों पड़ा?' इसके भी भिन्न-भिन्न प्रकारके उत्तर हैं। बहुतोंने अनुबन्ध या 'सोशल-कन्ट्राक्ट'को ऐतिहासिक कहा और बहुतोंने उसे सर्वथा अप्रामाणिक बतलाया। ये सभी लोग इतिहासका ही नाम लेते हैं। भविष्यके सम्बन्धमें भी ऐसी ही विभिन्न अटकलें हैं। रूसोका सामान्येच्छाका राज्य; ग्रीन, कान्टका आदर्श विश्वराज्य, हीगेलका आदर्श राज्य, मार्क्सका वर्गहीन राज्य, बाकुनिनका राज्यहीन समाज एक स्वप्निल जगत्की ही चीजें रह गयी हैं। फिर भी उनके अनुयायी अंध-विश्वास लिये उन्हीं लकीरोंको पीट रहे हैं, यद्यपि वे शास्त्रवादियोंको ही अंध-विश्वासी मानते हैं।

परंतु रामायण, महाभारतका इतिहास समाधिजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञापर आधारित है। वह तार, टेलिप्रिन्टरके आधारपर या अटकलोंके आधारपर नहीं बना, और न किसी मूर्ति, शिलालेख, स्तम्भों अथवा मुद्राओंके आधारपर ही बना है। इसीलिये रामायण, महाभारतादि इतिहास इतिवृत्तसम्बन्धी पात्रोंके हसित, भाषित, इङ्गित, चेष्टित, स्थूल, सूक्ष्म, संनिकृष्ट, व्यवहित—सभी घटनाओंका हस्तगत आमलकके समान प्रत्यक्ष आर्ष साक्षात्कार करके ही लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक इतिहासोंकी काल-सीमा छः हजार वर्षकी ही तो है। इसीमें उनका ऐतिहासिक एवं प्रागैतिहासिक काल आ जाता है, परंतु रामायणादिकी दृष्टिसे तो वर्तमान सृष्टि लगभग दो अरब वर्षकी है। यदि संसारभरका एक वर्षका इतिहास एक पन्नेमें भी लिखा जाय तो भी दो अरब पन्नेका इतिहास होता है, फिर उसका कितने दिनोंमें अध्ययन हो सकेगा और कौन, कब तथा क्या निष्कर्ष निकाल सकेगा और कब उसे कार्यान्वित किया जायगा? इतिहासका अभिप्राय भी गड़े मुर्दोंको उखाड़नेके तुल्य पुरानी घटनाओंको दोहराना ही नहीं, किंतु उन अतीत घटनाओंसे धार्मिक, सामाजिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक अभ्युदयोपयोगी शिक्षण (सबक) प्राप्त करना ही होता है। अतएव सभी घटनाओं या सभी व्यक्तियोंको इतिहासमें स्थान नहीं मिलता और न सबका उल्लेख ही इतिहासमें सम्भव है। कितने ही मनुष्य उत्पन्न होते हैं, कितने ही

मरते हैं, कितनी ही घटनाएँ घटती रहती हैं। उनका इतिहासमें न तो उल्लेख ही होता है और न उल्लेख करना सम्भव ही है। नगरों, ग्रामोंमें मनुष्योंके जन्मने-मरनेका लेखा-जोखा होता है, फिर भी पशुओं, पक्षियों, मच्छरोंके जन्मने-मरनेका कोई लेखा-जोखा नहीं होता। इतिहासकी दृष्टिमें सामान्य मनुष्यों एवं घटनाओंका भी यही हाल है।

इतिहासका वर्ण्य विषय

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'राजाओं, महाराजाओं, वीरपुरुषोंका वर्णन करना इतिहासका लक्ष्य न होकर समष्टि जनताकी स्वाभाविक जीवनस्थिति, उत्पादन-साधन और उनके परस्पर सम्बन्ध तथा उनके परिणामोंका निरूपण ही इतिहासका मुख्य विषय होना चाहिये।' तदनुसार ही मार्क्सवादी प्राथमिक वर्गहीन समाज, फिर मालिक और गुलाम, फिर सामन्त एवं किसान-गुलाम, फिर पूँजी-पति और मजदूर, फिर मजदूर राज्य तथा पुनः वर्गविहीन—समाजकी स्थापनाका इतिहास सिद्ध करके दिखलाते हैं। दूसरे लोग पाषाण-युग, लौह-युग, यन्त्र-युग आदिकी कल्पना करते हैं। इतिहासके गोरखधंधेसे अपने-अपने मतलबकी चीज सभी निकालते हैं, विशेष प्रामाणिक आधार खोजे बिना ही कल्पनाके महल खड़े किये जाते हैं। फिर ये सभी कल्पनाएँ हजार, दो हजार वर्षके इतिहासके भीतर ही हैं। विशेषतः मार्क्सवादी विवेचन अधिकांश रूपसे ४०० वर्षोंकी ही घटनाओंपर निर्भर है। लाखों-करोड़ों वर्षोंके इतिहासकी कौन-कौन-सी घटनाएँ आधुनिक कल्पनाओंमें साधक हैं, कौन-कौन-सी बाधक हैं—इससे उनका कुछ भी मतलब नहीं। यही स्थिति अराजकतावादियोंकी भी है। घटनाएँ सब सकारण होती हैं। फिर भी सब घटनाएँ परस्पर एक दूसरेकी कारण नहीं होतीं। कई स्थलोंपर तो घटनाएँ अव्यवहित होनेपर भी उनमें कार्य-कारण-भाव नहीं माना जाता। कौवेका बैठना और ताड़का गिरना व्यवधानशून्य होनेपर भी कार्य-कारण-सम्बन्धसे शून्य होता है। इसी आधारपर बहुत-सी घटनाओंके सम्बन्धोंको काकतालीय ही माना जाता है। इसके अतिरिक्त प्राणियों, देश तथा संसारके सौभाग्य-दौर्भाग्य दोनों ही चलते हैं। दौर्भाग्यसे बुरी घटनाएँ और सौभाग्यसे अच्छी घटनाएँ भी घटती हैं। अच्छी घटनाओंके मूलमें सौभाग्यके अतिरिक्त सत्प्रयत्नका भी हाथ होता है। बुरी घटनाओंमें दुर्भाग्यके अतिरिक्त प्रमाद, आलस्य, दुराचार, दुष्प्रयत्नका भी हाथ रहता है। रावणके हाथों भी बहुत-सी घटनाएँ हुई। युधिष्ठिर एवं दुर्योधनादिके द्वारा भी अनेक ढंगकी घटनाएँ घटीं। देवों-असुरोंसे सम्बन्धित घटनाओंके बारेमें भी यही बात कही

जा सकती है। बुरी घटनाओंका वर्णन बुरे कामोंसे बचने और सावधान होनेके लिये होता है तथा अच्छी घटनाओंका वर्णन गुणग्रहण एवं प्रोत्साहनके लिये होता है। इसीलिये रामायणके अध्ययनसे यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि राम-भरत आदिके समान बर्तना चाहिये, रावणादिकी तरह नहीं। महाभारत पढ़कर यह पाठ सीखना चाहिये कि युधिष्ठिरादिके समान बर्तन करना चाहिये, दुर्योधन आदिके समान नहीं—'रामादिवद् वर्त्तितव्यं न तथा रावणादिवत्। युधिष्ठिरादिवद् वर्त्तितव्यं न दुर्योधनादिवत्॥'

सदाचार, सद्धर्म, सत्कर्म, सदुद्योग, सद्धनार्जन एवं सदुपायोंका शिक्षण ऐतिहासिक सद्घटनाओंसे सीखा जा सकता है। सत्पुरुषोंके भी कुत्सित आचारोंका अनुसरण नहीं किया जा सकता। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' यह स्वभावोक्ति है। प्राणीकी स्वाभाविक प्रवृत्ति श्रेष्ठ पुरुषोंके अनुकरण करनेकी होती है, अतः श्रेष्ठ पुरुषोंको शास्त्रानुसारी सदाचार-पालनका विशेष ध्यान रखना चाहिये। प्राणियोंको भी श्रेष्ठोंके शास्त्रानुसारी सुचरितोंका ही अनुकरण करना चाहिये, दुश्चरितोंका नहीं। इसीलिये वैदिक ऋषिने कहा है कि जो हमारे सुचरित हों उन्हें ही तुम आचरणमें लाओ, दुश्चरितोंको नहीं—'यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि' (तैत्तिरीयोपनिषद् १। ११। २)। अध्यात्म-दृष्टिसे विज्ञान-वैराग्यकी विवक्षासे ही विभिन्न महापुरुषोंकी घटनाओंका वर्णन किया जाता है। उक्त प्रयोजनसे भिन्न वाग्वैभवसे अन्य कोई परमार्थ नहीं है। श्रीशुकदेवजीने परीक्षित्को बतलाया था कि मैंने जो संसारमें यश फैलाकर स्वर्ग जानेवाले महापुरुषोंकी कथाएँ कहीं हैं, उनका अभिप्राय विज्ञान वैराग्यके प्रतिपादनमें ही है। कितना ही बलवान्, बुद्धिमान्, धनवान्, सम्राट् क्यों न हो, सबको ही कालके गालमें जाना पड़ता है। स्वधर्मानुष्ठान, परोपकार एवं साक्षात्कार ही जीवनका सार है। प्रपञ्चका अधिष्ठान आत्मा ही सत् है। इस प्रकार वैराग्य, विज्ञान-सम्पादनके अतिरिक्त वाग्वैभवको छोड़कर कोई परमार्थता नहीं है। हाँ, जगत्कारण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् चेतन भगवान्की कथाओंका वर्णन तो भक्तिके लिये भी उपयोगी है—

कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्॥
यस्तूत्तमश्लोकगुणानुवादः संगीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥
(भागवत १२। ३। १४-१५)

मार्क्सवादियोंके मतानुसार 'वर्ग-संघर्ष, वर्ग-विद्वेष एवं वर्ग-विध्वंसका इतिहास ही इतिहास' माना जाता है, परंतु वस्तुतः वही मानवका इतिहास नहीं है। वाद, प्रतिवाद, संवादका भी यही ध्येय नहीं है, किंतु आत्मसाक्षात्कार, स्व-धर्मानुष्ठान, क्षमा, दया, परोपकार, त्याग, तपस्या आदि ही इतिहासका ध्येय है। अवश्य ही खाने-कमाने, लड़ाई-झगड़े और संघर्षकी भी घटनाएँ होती हैं, परंतु वे आदर्श एवं अनुकरणीय नहीं हैं। उनके द्वारा उत्थानानुकूल रचनात्मक शिक्षा नहीं ग्रहण की जा सकती। मनुष्योंमें ही क्यों, पशु-पक्षियों, कीड़ों-मकोड़ोंमें भी खाने-पीने, विषयोपभोगके लिये संघर्ष चलता है। कइयोंमें तो खूब जमकर लड़ाई होती है। बंदरों, मुर्गों, तीतरों, भेड़ों आदिमें भी गहरी लड़ाई होती है। उनमें भी जातिभेदके आधारपर प्राबल्य-दौर्बल्य होता है। मुर्गोंमें यह प्रसिद्ध है। किसी भी लड़ाईमें दो गुट हो सकते हैं। मजदूरोंकी ही आपसमें जब कभी लड़ाई होने लगती है, तब उनमें दो गुट बन जाते हैं। कभी जातिभेदसे संघर्ष होता है, कभी धर्मभेदसे, कभी जीविकाभेदसे और कभी सिद्धान्तभेदसे भी संघर्ष चलता है। कई कूटनीतिज्ञोंद्वारा कृत्रिम गुट बना डाले जाते हैं। आजकल तो स्त्री-पुरुषों-में भी संघर्ष उत्पन्न करनेकी चेष्टा चल रही है।

घटनाएँ चेतनके परतन्त्र होती हैं, किंतु चेतन घटनाओंके परतन्त्र नहीं होता। चेतनकी परतन्त्रता इसी प्रकार अस्थायीरूपसे सम्भव होती है। जैसे एक दौड़नेवाले चेतन व्यक्तिने अपने आप स्वतन्त्रतापूर्वक स्वेच्छासे दौड़ना प्रारम्भ किया। वह दौड़ने, न दौड़ने या बैठ जानेमें पहले स्वतन्त्र है; किंतु बादमें दौड़ने-से उत्पन्न होनेवाले वेगके बढ़ जानेपर वह परतन्त्रताका अनुभव करता है। फिर उसे ठहरना होता है तो कुछ पहलेसे ही उसे अपनी गति मन्द करनेका प्रयत्न करना पड़ता है। मोटर आदिका दौड़ना रोकनेके लिये तो और भी पहलेसे गति मन्द करनेके लिये प्रयत्न करना पड़ता है। मनन करनेवाला मन्ता चेतन मनका प्रयोक्ता है, वह स्वतन्त्र है। परंतु मननजन्य वेगके बढ़ जानेपर मननको सहसा रोक देना मन्ताके वशकी बात नहीं होती। मनन रोकनेके लिये मन्ताको यम-नियमादि-अष्टाङ्गयोग करने पड़ते हैं। आये दिन हम देखते हैं कि मनुष्य परिस्थिति बनाता है और उसका सामना करता है। यदि ऐसा न हो, प्राणी परिस्थितिका एक जडयन्त्र ही हो, तब तो पुरुषार्थके लिये स्थान ही न रह जाय। वैज्ञानिक कितनी ही बार यन्त्रोंके निर्माणमें तथा संचालनमें असफल होते हैं, कितनी ही बार रेल, मोटर एवं वायुयानोंकी दुर्घटनाएँ होती हैं; फिर भी हिम्मती लोग घबराते नहीं, संकटपूर्ण परिस्थितिका मुकाबला करते हैं।

सम्पत्ति-विपत्ति, अनुकूलता-प्रतिकूलता—सभीमें वाद, प्रतिवाद, संवादकी कथा जुड़ सकती है। उन्नति भी पाप-पुण्य, भलाई-बुराई दोनोंकी होती है। शैतानवर्गकी भी उन्नति एवं अवनति होती है। इसी तरह एक सज्जन और सज्जनवर्गकी भी उन्नति एवं अवनति हो सकती है। सभीका समर्थन इतिहाससे मिल सकता है। फिर भी सज्जन लोग सज्जनोंके इतिवृत्तिसे ही शिक्षा ग्रहण करेंगे और सज्जनोचित उपायसे ही उन्नतिका प्रयत्न करेंगे। आर्ष, प्रामाणिक रामायण, महाभारत आदि इतिहासोंके आधारपर तो बतलाया जा चुका है कि कृतयुगमें सत्त्वप्रधान धर्मनियन्त्रित मनुष्य राज्य, राजा तथा दण्ड-विधान आदिके बिना ही एकमात्र धर्मसे नियन्त्रित होकर सब काम आपसमें ही चला लेते थे। उस समय सत्त्व-प्रधान एवं धर्म-नियन्त्रित होनेके कारण अपराधी भी कोई नहीं होता था। इसका कारण यह भी था कि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् स्वच्छ परमेश्वरके अधिक संनिहित प्राणियोंमें स्वच्छता अधिक थी। जो वस्तु स्वच्छ कारणसे अधिक संनिहित होती है, वह उतनी ही स्वच्छ होती है। जैसे आकाशसे उत्पन्न वायु पृथ्वीकी अपेक्षा अधिक स्वच्छ है। तेज वायुकी अपेक्षा कुछ कम, किंतु जलादिकी अपेक्षा अधिक स्वच्छ है। तेजकी अपेक्षा जल कुछ कम स्वच्छ है, परंतु पृथ्वीकी अपेक्षा अधिक स्वच्छ है। पृथ्वी पार्थिव प्रपञ्चकी अपेक्षा अधिक स्वच्छ है। इसी तरह परमेश्वरसे उत्पन्न ब्रह्मा और ब्रह्मासे उत्पन्न वशिष्ठादि महर्षि अधिक स्वच्छ, सात्त्विक एवं सर्वज्ञ थे। परमेश्वरसे उत्तरोत्तर दूर परम्परा सृष्ट प्राणियोंके सत्त्वमें तथा सर्वज्ञता आदिमें भी उत्तरोत्तर न्यूनता आती गयी। तदनुकूल ही रजस्तमोगुणकी वृद्धि होनेसे पाप एवं अपराधकी भी वृद्धि होती गयी। जहाँ सत्त्व एवं धर्मकी प्रधानता है, वहाँ धर्मनियन्त्रण ही पर्याप्त है। जहाँ सत्त्व एवं धर्मकी न्यूनता होती है, वहाँ बाह्य नियन्त्रण भी अपेक्षित होता है। जलकी जैसे निम्न प्रदेशकी ओर स्वभावतः प्रवृत्ति होती है, वैसे ही इन्द्रियोंकी अपने विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी ओर स्वाभाविकी प्रवृत्ति होती है। सुन्दर शब्द, सुन्दर स्पर्श, सुन्दर रूप, सुन्दर रस, सुन्दर गन्ध, सुन्दर भूषण वसन, सुन्दर स्त्री आदिकी ओर इन्द्रियोंका स्वाभाविक खिंचाव होता है। इन्द्रियाँ और मन सुन्दरतामात्र देखकर किसी वस्तुकी ओर प्रवृत्त होते हैं। 'यह मेरा है या पराया, यह ग्राह्य है या त्याज्य,' यह विवेक तो धर्मनियन्त्रित, शास्त्रसंस्कृत मन ही कर सकता है। मनके अधिक विषयप्रवण एवं रागी हो जानेपर उसके नियन्त्रणके लिये फिर शास्त्रके अतिरिक्त नरक एवं राजदण्ड आदिका भय भी अपेक्षित होता है। यही कारण है कि जब सत्त्व-धर्ममें कमी हुई, रजोगुण, तमोगुणकी वृद्धि हुई और

अधर्मका विस्तार हुआ, तब इन्द्रियोंपर नियन्त्रण भी कम हो गया। फिर तो राग-प्रवण मन सुन्दर परधन तथा परकलत्रादिके अपहरणमें प्रवृत्त होने लगा। तभी मात्स्यन्याय फैला और प्रजा उद्विग्न होकर नियन्त्रण एवं व्यवस्था चाहने लगी। तभी परमेश्वरानुगृहीत, चन्द्र-सूर्यादि अष्टलोकपालोंके अंशोंसे युक्त राजाका प्रादुर्भाव हुआ और उसपर भी धर्मका नियन्त्रण हुआ।

धर्म-नियन्त्रित राजा धर्म-प्रसार, दण्ड-विधान आदिद्वारा मात्स्यन्यायको हटानेमें समर्थ हुआ। वैवस्वत मनु, इक्ष्वाकु, मान्धाता, दिलीप, गाधि, अलर्क, शिवि, रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र, युधिष्ठिरादि राजा पूर्ण धर्म-नियन्त्रित, दयालु; परोपकारी और प्रजारक्षणार्थ अपना सर्वस्व बलिदान करनेवाले हो गये हैं। रामचन्द्रका प्रजारञ्जनार्थ सर्वत्याग प्रसिद्ध है। शिबि, रन्तिदेव आदि नरेन्द्रोंने केवल प्रजाके ही नहीं, पशु-पक्षियोंतकके हितार्थ अपने राज्य, धन, प्राण—सब कुछका त्याग किया है। इन्हें शोषक एवं अन्यायी कहना शुद्ध उच्छृङ्खलताका ही प्रदर्शन करना है। धर्म-नियन्त्रित राजा, जनप्रतिनिधियोंका शासन ही ऐहिक, आमुष्मिक, अभ्युदय और परम निःश्रेयसका मार्ग प्रशस्त कर सकता है। उसके बिना मात्स्य-न्याय फैलता है। सभीका शासनमें भाग लेना सम्भव न होनेसे प्रतिनिधिकी कल्पना करनी पड़ती है। प्रतिनिधि मुख्यसे भिन्न होता ही है, किंतु वह मुख्यका अपेक्षित एवं निश्चित कार्यकारी होता है। स्वेच्छात्मक संस्थाओं या अराजकतावादी संघको भी तो यूरोप या संसारके लिये प्रतिनिधि निश्चित करना ही पड़ता है। हाँ, प्रतिनिधि योग्य होना उचित है। अराजकतावादकी नींव है व्यक्ति और मार्क्सवादकी नींव है समाज। प्रथम पक्षमें समूहकी स्वाधीनताकी पहली सबसे बड़ी शर्त है व्यक्तिकी स्वतन्त्रता। तदनुसार सब कुछ व्यक्तिकी स्वाधीनताके लिये ही होना चाहिये। दूसरे पक्षमें स्वाधीनताकी सबसे बड़ी शर्त है जनताकी स्वाधीनता, अतः सब कुछ जनताके लिये ही होना चाहिये। रामराज्यवादीकी दृष्टिमें व्यष्टि और समष्टिका अभेद है, अतएव दोनोंका समन्वय ही सिद्धान्त है। समष्टिके द्वारा व्यष्टिको अभ्युदयकी सुविधा मिलती है और व्यष्टिके द्वारा समष्टिका निर्माण होता है।

समाजवादी तथा अराजकतावादी दोनोंहीके सिद्धान्तोंके आधारभूत इतिहास अल्प देशीय हैं। मार्क्सके अनुभवका क्षेत्र इंग्लैंडका श्रमिक आन्दोलन ही था। अधिक-से-अधिक फ्रांस, जर्मनी तथा इंग्लैंडके, तत्रापि लगभग ४०० वर्षतकके ही इतिहासपर उसका सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। अतः उसका क्या प्रामाण्य ?

अष्टम परिच्छेद

मार्क्स-दर्शन

मार्क्स प्रयोग तथा अनुभवद्वारा प्राप्त ज्ञानको ही वास्तविक ज्ञान मानता है। 'डाइलेक्टिस' (द्वन्द्वमान) की चर्चा हम पहले कर आये हैं। यह एक यूनानी शब्द है, जिसका अर्थ है दो मनुष्योंका वार्तालाप । इसमें एक तर्ककी स्थापना की जाती है, फिर उसका खण्डन होता है, जिससे नये तर्ककी उत्थापना होती है। इस प्रकार एक नीचे दर्जेके सत्यसे ऊँचे दर्जेके सत्यपर पहुँचते हैं। यह एक क्रमोन्नतिकी प्रक्रिया है, इसमें स्थिरता नहीं है, वेग है। यही प्रक्रिया सारी प्रकृतिमें वर्तमान है। मानव-समाज और प्रकृतिके इतिहाससे ही द्वन्द्वमानके नियम निकाले गये हैं। ये नियम व्यापकरूपसे सब प्रकारकी गतिके नियम हैं। इनमें तीन मुख्य हैं, १—परिमाणका गुणमें तथा गुणका परिमाणमें परिवर्तन करनेका नियम, २—विरोधियोंके अन्तःप्रवेशका नियम तथा स्वयं विपरीतानुवर्तनका नियम और ३—प्रतिषेधके प्रतिषेधका नियम। इन तीनों नियमका विस्तार हीगेलने विचारके नियमोंके रूपमें किया है। पहला नियम उसके तर्कशास्त्रके पहले खण्डमें है, जिसका नाम है अस्तित्वका सिद्धान्त (डाक्ट्रिन आफ बीइंग्स)। दूसरा नियम दूसरे खण्डमें है, जिसका नाम है सत्ताका सिद्धान्त (डाक्ट्रिन आफ एसेन्स)। तीसरा नियम है, उसकी सारी प्रथाका बुनियादी नियम। मार्क्स इन नियमोंको प्राकृतिक नियमोंके रूपमें देखता है।

'पहला नियम जिसे हम यों कह कहते हैं कि प्रकृतिमें गुणात्मक परिवर्तन भूत या गतिके परिमाणमें कमी या बेशीके कारण होता है। प्रकृतिमें गुणोंका प्रभेद निर्भर है रासायनिक संघटनके प्रभेद नियमपर या गति या शक्तिके परिमाण या रूपपर। इसलिये भूत या गति घटाये-बढ़ाये बिना किसी वस्तुके गुणोंमें परिवर्तन करना सम्भव नहीं। दूसरे नियमकी पूर्ति हम यों भी कर सकते हैं कि हर एक वस्तु दो विरोधी भावोंका संयोग है; अर्थात् हर वस्तुमें और वस्तु चिन्तन क्रियाके लिये भी यही लागू है। दोनों पहलू हैं, भावात्मक और अभावात्मक; धनात्मक और ऋणात्मक। दूसरे शब्दोंमें सत्य विरोधात्मक है। अतिभौतिकवादी इस सहज सत्यकी उपलब्धि नहीं कर सकता, इसलिये कि वह हर वस्तुको स्थिररूपमें देखता है। लेकिन यह जगत् और इसके पदार्थ सदा चञ्चल हैं।

'पीछे हमने देखा है कि गतिमात्र इस प्रकारके विरोधात्मक सत्यका उदाहरण है। किसी वस्तुके स्थानपरिवर्तनको हम यों ही समझ सकते हैं कि वह वस्तु एक ही समयपर एकाधिक स्थानपर है तथा एक ही स्थानपर है भी और नहीं भी है। इस विरोधाभासका हल है गति।

अध्यात्मवादीका इस सम्बन्धमें कहना है कि द्वन्द्वमान कोई व्यापक या स्थिर सिद्धान्त नहीं है; क्योंकि विचार करनेपर वह वाद-विवाद, तर्क-प्रतितर्कमें भी सही नहीं उतरता। तर्कके सम्बन्धमें यही कहा जा सकता है कि वह प्रमाणान्तरोंके समान प्रतिष्ठित नहीं होता। कोई तार्किक अपने तर्कसे एक वस्तुको प्रतिष्ठित करता है, दूसरा कोई उससे भी बड़ा तार्किक और उत्कृष्ट तर्कसे पहले तर्कको तर्काभास सिद्ध करके प्रथमतर्कसिद्ध व्यवस्थाका खण्डनकर अन्य उत्कृष्ट व्यवस्थाको प्रतिष्ठित करता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर खण्डन-मण्डन चलता रहता है—'यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते॥' परंतु इस तरह तो तर्क ही अप्रतिष्ठित ठहरते हैं, फिर उनके द्वारा किसी भी अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। फिर तो तर्कद्वारा किसी भी सत्यपर पहुँचना सम्भव नहीं है, परम सत्यतक पहुँचनेकी बात तो दूर रही। अनवस्थित तर्कके आधारपर ही द्वन्द्वमान सिद्धान्त बनानेका प्रयत्न किया जाता है, किंतु अनवस्थित तर्क किसी भी सत्यका बोधक नहीं हो सकता। अतः ऐसे आधारपर आधारित द्वन्द्वमानके आधारपर किसी सिद्धान्तपर पहुँचना कैसे सम्भव है?

यद्यपि रामराज्यवादी तर्कको सर्वथा अप्रतिष्ठित नहीं मानते। वे कहते हैं कि कतिपय तर्कोंका अप्रतिष्ठितत्व देखकर ही तर्कजातीय होनेसे विमत तर्कका भी अप्रतिष्ठितत्व अनुमित किया जाता है। परंतु यदि सभी तर्क अप्रतिष्ठित हैं तो तर्कोंका अप्रतिष्ठितत्व सिद्ध करनेवाला तर्क भी अप्रतिष्ठित ही होगा। फिर स्वतः अप्रतिष्ठित तर्कके बलपर तर्कोंका अप्रतिष्ठितत्व कैसे सिद्ध होगा? इस तरह कहना होगा कि सत्यबोधक तर्क या प्रमाणान्तरसंवादी तर्क अप्रतिष्ठित नहीं होता। जो तर्क प्रतिष्ठित होता है, वह तो निश्चितरूपसे वस्तु-तत्त्वका बोधक होता है। फिर उसका तर्कान्तरसे खण्डन भी नहीं हो सकता और न उसके द्वारा सिद्ध विषयका ही खण्डन हो सकता है। न उससे उत्कृष्ट तर्कका उत्थान होता है और न उसके द्वारा उत्कृष्ट सत्यके सिद्धकी ही आशा रहती है। सुतरां प्रत्यक्ष एवं आगममें इस न्यायका संचार नहीं हो सकता; क्योंकि किसी भी तर्कान्तर या प्रमाणान्तरसे निर्दोष प्रत्यक्षागमका बाध नहीं होता। इस तरह जब विचार या तर्कके स्वजातीय, विजातीय प्रमाणोंमें ही खण्डन-मण्डन, साधन-बाधनकी परम्परा नहीं चलती, तब भौतिक विषयोंमें द्वन्द्वमान सिद्धान्तरूपसे कैसे लागू होगा?

परिमाणका गुणमें परिवर्तन तथा गुणका परिमाणमें परिवर्तनका नियम अवश्य कहीं उपलब्ध हो सकता है, परंतु यह नियम अव्यभिचरित नहीं है। मृत्तिकासे घट, तन्तुसे पट बनता है; प्रकृतिमें जलानयन, अङ्गप्रावरण, शीतापनयनकी सामर्थ्य नहीं होती, परंतु कार्योंमें यह सब होता है। यहाँ मूलकारणसे भिन्न किसी भी वस्तु-अन्तरका प्रवेश नहीं है, फिर भी कारणसे कार्यकी भिन्नता नहीं होती। जैसे शिविकावाहक प्रत्येक रूपसे मार्गदर्शनादि कार्य करते हैं, किंतु मिलकर शिविकावहन कार्य करते हैं। इसी तरह तन्तु आदि जो कार्य नहीं कर पाते, वह कार्य तन्तुनिर्मित पटादि कर सकते हैं। इसी तरह वेदान्तरीतिसे शब्दगुणवाले आकाशसे उत्पन्न वायुमें शब्द, स्पर्श दो गुण हो जाते हैं। फिर वायुसे उत्पन्न तेजमें शब्द, स्पर्श, रूप तीन गुण हो जाते हैं। तेजसे उत्पन्न जलमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस चार गुण हो जाते हैं। जलसे उत्पन्न पृथ्वीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पाँच गुण होते हैं। पृथ्वी जलमें, जल तेजमें जब लीन हो जाता है, तब गुणोंकी कमी होती जाती है। परमकारण स्वप्रकाश ब्रह्म चेतन सर्वथा निर्गुण एवं निर्विशेष माना जाता है। कार्यकी ओर चलनेसे गुणों और विशेषणोंमें वृद्धि होती है। कारणकी ओर जानेसे निर्गुणता, निर्विशेषताकी वृद्धि होती जाती है; फिर भी कारणसे भिन्न कार्य स्वतन्त्र सत्तावाला नहीं होता। संकुचित एवं प्रसारित पटमें एवं संकुचिताङ्ग, विकसिताङ्ग, कूर्ममें भेद प्रतीत होने, कारण-कार्यमें विलक्षणता प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें भेद नहीं है। कार्यान्तरका भेद भी शिविकावाहकोंके मार्गदर्शन एवं शिविकावाहनके दृष्टान्तसे दिखाया जा चुका है। शब्द-स्पर्शादि गुण तथा समवाय-सामान्यविशेष आदि भी मूल द्रव्यकी अवस्थाविशेष ही हैं, वस्तुतः उनसे भिन्न नहीं हैं।

तापगुणकी वृद्धि होते-होते जलका द्रवत्व समाप्त हो जाता है और तापका ह्रास होते-होते जल बर्फ बन जाता है। तापवृद्धिसे जलके परिमाणमें कमी आती है। वेदान्त-रीतिसे तेजसे ही जलकी उत्पत्ति होती है; अतः तेजमें उसका विलय होना कोई अनहोनी बात नहीं है।

वैज्ञानिक द्वन्द्ववाद

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'संख्यानुगुणित डिफरेंशल काल्कुलस यह मानकर चलता है कि एक ही रेखा ऋजु और वक्र दोनों है और इस बुनियादपर जो नतीजे निकलते हैं, उनका हम व्यावहारिक उपयोग करते हैं। एक असीम व्यासके वृत्तके परिधिका एक छोटा अंश ऋजु रेखा है, लेकिन एक वृत्तके अंशके नाते यह रेखा वक्र भी है। इसी प्रकारका एक दूसरा उदाहरण भी है—दो ऋजु रेखाएँ यदि किसी बिन्दुपर मिलती हैं, तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि उस बिन्दुसे थोड़ी ही दूरपर ये दोनों रेखाएँ असमानान्तर हैं। गणितहीमें और

यह एक विरोधाभास है कि किसी संख्याके वर्गमूलको उसके वर्गफलके रूपमें प्रकाशित किया जाय, जैसे–$क^{\frac{1}{2}}=\sqrt{२}$ इससे भी अधिककी कोई ऋणात्मक संख्या किसी संख्याका वर्ग हो सकती है; क्योंकि वर्गीकरणका यह साधारण नियम है कि ऋणात्मक संख्याका वर्ग धनात्मक होता है। लेकिन $\sqrt{-१}$ गणितका एक आवश्यक अंग है खंडीकरण; फैक्टराइजेशनका उदाहरण $क^3+ख^3=(क+ख ९—१)(क–ख ९)$।

'भौतिक विज्ञानमें विरोधियोंके ऐक्यका उदाहरण है अणु, स्वयं तड़ितकी अणुमें क्रिया-प्रतिक्रिया नहीं है। लेकिन यह जिन अंशोंसे बनता है, उसमें एक धन तड़ितात्मक है, 'प्रोटन' और दूसरा ऋणतड़ितात्मक है, 'इलेक्ट्रन', जीवन तो सर्वथा विरोधमय है। वह हर समय कुछ है और कुछ अन्य भी है। ज्यों ही इस विरोधका अन्त होता है, जीवनका भी अन्त हो जाता है। विचारक्षेत्रमें यह विरोध विद्यमान है। मनुष्यकी ज्ञानशक्ति अपरिसीम है, लेकिन उसका वास्तविक ज्ञान सीमाबद्ध है।

अब परिमाणके गुणात्मक परिवर्तनके कुछ उदाहरण ले लीजिये।

भौतिक विज्ञानके क्षेत्रमें सबको विदित है कि आलोक-तरङ्ग एक प्रकारके 'एलेक्ट्रो मैगनेटिक' तरङ्ग है। इन तरङ्गोंकी लंबाइयोंके घटने-बढ़नेके कारण विभिन्न प्रकारकी रश्मियोंकी उत्पत्ति होती है। जो आलोक मनुष्यकी आँखोंमें दिखायी पड़ता है, वह इन तरङ्गोंका एक छोटा हिस्सा है। जिन रश्मियोंको हम देखते हैं, वे मुख्य सात रंगकी हैं, जो आरम्भ होती हैं लालसे और जिनका अन्त होता है बैगनीसे। लालके उधर इन तरङ्गोंकी लंबाई बढ़ती जाती है और बैगनीके उधर यह लंबाई घटती जाती है। एक साधारण उदाहरण है–'वस्तुकण 'मोलेकुल' के अन्तिम विभाजनपर परमाणु 'ऐटम' की उत्पत्ति; परमाणु और वस्तुकणके गुणोंमें बहुत प्रभेद है।'

वस्तुतः जिन उदाहरणोंको "विरोधियोंकी सह-अवस्थितिके सम्बन्धमें उपस्थापित किया गया है, वे परस्पर विरोधी कहे ही नहीं जा सकते, अपेक्षाबुद्धिसे ही ये विरोध भासित होते हैं, परंतु वस्तुविरोध पुरुषबुद्धिपरतन्त्र नहीं होता। वास्तविक विरोध है भाव-अभावका, तेज-तिमिरका, सत्-असत्का; इनमें परस्पर तादात्म्य या संयोगादि सम्बन्ध नहीं हो सकता। यों तो जैसे एक ही पुरुष विभिन्न अपेक्षाबुद्धियोंसे पिता, पति, पुत्र आदि रूपमें व्यवहृत होता है, फिर भी उसमें वस्तुतः भेद नहीं है, वैसे ही रेखामें ऋजुत्व, वक्रत्व आदि अपेक्षाबुद्धिकृत भेद है। वस्तुतः वह एक साधारण रेखा है, यह स्थिति है।

मार्क्सका विरोधियोंका सहअस्तित्व एक प्रकार अनेकान्तवादसे मिलता-जुलता है। इसे भी एक प्रकारसे अनेकान्तवाद ही कहा जा सकता है।

इसका विचार हमारे यहाँके दर्शनोंमें विस्तारसे है। 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः स्यादस्ति चावक्तव्यश्च स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च।' अर्थात् हर वस्तुमें यह सप्तभङ्ग न्याय जोड़ा जाता है। यह वस्तु किसी तरह है, किसी तरह नहीं है। किसी तरह है भी, नहीं भी है। किसी तरह अवक्तव्य है, किसी तरह है भी और अवक्तव्य भी है, किसी तरह नहीं भी है और अवक्तव्य भी है, किसी तरह है भी नहीं भी है, अवक्तव्य भी है, किसी पदार्थकी नित्यताका एकता आदिके सम्बन्धमें भी ये सप्तभङ्ग जोड़े जाते हैं।

इसपर विचारणीय बात यह है कि एक वस्तुमें युगपत् सत्त्व तथा असत्त्व-विरुद्ध धर्मका होना असम्भव है। जैसे एक ही वस्तु समानरूपसे शीत और उष्ण नहीं कही जा सकती। वस्तुतः जो वस्तु सत्य है, वह सर्वथा, सर्वदा, सर्वरूपसे है ही—जैसे परमात्मा। जो कहीं, कभी, किसी रूपसे है, किसी रूपसे नहीं है, वह वस्तुतः असत् ही है। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' (गीता २। १६) असत्का सत्त्व एवं सत्त्वका कभी अभाव नहीं हो सकता। प्रत्यय (बोध) मात्र वस्तुतत्त्वका व्यवस्थापक नहीं होता। शुक्ति, रजत, मरीचिमें जल आदिका प्रत्यय भी प्रत्यय ही है, परंतु मिथ्या वस्तुका ही व्यवस्थापन करता है। यदि कहा जाय कि जिस प्रत्ययमें लौकिक दृष्टिसे बाध न हो उसे सत्य मानें, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि लौकिक दृष्टिसे देह ही आत्मा है, इस प्रत्ययका बाध नहीं होता। फिर भी देह-भिन्न आत्मा प्रमाणसिद्ध है ही। वस्तुमें विकल्प नहीं हो सकता, अतः एक वस्तुमें ही सत्त्व, असत्त्व दोनों धर्म नहीं हो सकते।

यदि यह अनेकान्तवाद सब वस्तुमें मान लिया जाय तो प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एवं अनेकान्तवाद आदिके सम्बन्धमें भी यही अनेकान्तवाद जोड़ा जा सकता है। अर्थात्, 'यह अनेकान्तवादका पक्ष 'कथंचित् सत्य है, कथंचित् असत्य है', इत्यादि। तब तो अनिर्धारित ज्ञान संशय-ज्ञानके तुल्य अप्रमाण ही माना जायगा। यदि कहा जाय कि नहीं, अनेकान्तवाद सिद्धान्त निर्धारित स्वरूप ही है, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जब सभी वस्तु अनेकान्तिक हैं, तब तो वस्तु होनेसे अनेकान्तवादमें भी अनेकान्तिकता अनिवार्य ही है। अतः अनिर्धारित प्रमाता, अनिर्धारित प्रमाण, अनिर्धारित प्रमेय, अनिर्धारित साधन, अनिर्धारित साध्यके आधारपर व्यवहार भी कैसे सम्पन्न होगा?

विकासवाद परिणामवादमें आ जाता है। मूल वस्तुमें भेद, अन्तर्विरोध एवं कार्यमें वस्तुतः भेद होता है या नहीं, इसपर विचारणीय यह है कि वस्तु सर्व-

रूपसे परिणत होती है या एक देशसे ? सर्वरूपसे परिणत होती है, तब तो पूर्णरूपका सर्वथा त्याग होनेसे उसे तत्त्वान्तर ही कहना चाहिये। परंतु ऐसा व्यवहार नहीं होता। यदि वस्तुके एकदेशका परिणाम होता है, तो प्रश्न होगा कि वह एकदेश वस्तुसे भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न है तो उस वस्तुका परिणाम कैसे हुआ ? अभिन्न है तब तो एक देश भी वस्तुसे अभिन्न होनेसे उसका परिणाम वस्तुका ही सर्वरूपसे परिणाम हुआ। फिर भी पूर्वोक्त दोष ही होगा। कुछ लोगोंके मतानुसार एक देशको वस्तुसे भिन्नाभिन्न कहा जाता है, अर्थात् कारणरूपसे अभिन्न एवं कार्यरूपसे भिन्न। जैसे सुवर्णरूप कटक-कुण्डलादि अभिन्न हैं, परंतु कटक-कुण्डलादिरूपसे भिन्न ही हैं। भेदाभेदका एकत्र होना विरुद्ध है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्रमाण-विपरीत प्रतीति ही विरोध है। जो वस्तु प्रमाणसे जैसी प्रतीत होती है, उसे तो वैसे उसी रूपमें मानना चाहिये। 'कुण्डलमिदं सुवर्णम्' यह कुण्डल सुवर्ण है, इस प्रकारके समानाधिकरणके प्रत्ययमें भेद, अभेद—दोनोंही प्रतीत होते हैं। यदि यहाँ सुवर्ण-कुण्डलका अत्यन्त अभेद हो तब तो दोनोंमेंसे किसी एकको ही दो बार प्रतीति होनी चाहिये। यदि दोनोंका अत्यन्त भेद हो तब तो समानाधिकरण-प्रत्यय नहीं होना चाहिये। अश्व-गोका अत्यन्त भेद है। उनका समानाधिकरण-प्रत्यय नहीं होता। आधाराधेयभावमें 'कुण्डे बदरम्' 'कुण्डमें बेर है', ऐसा प्रत्यय होता है। 'कुण्ड बेर है', ऐसा प्रत्यय नहीं होता। एकाश्रयाश्रितोंमें भी समानाधिकरण प्रत्यय नहीं होता अर्थात् एक आसनपर स्थित चैत्र-मैत्रमें चैत्र और मैत्र ऐसा प्रत्यय होता है। चैत्र मैत्र है, ऐसा प्रत्यय नहीं होता। अतः कार्यका कारणरूपसे अभेद होता है। इस तरहके असंदिग्ध अबाधित सार्वजनिक अनुभवसे सद्रूपकारण सर्वत्र अनुगत है। इसलिये सद्रूपसे सबका अभेद है। गो, घट आदिमें कार्यरूपसे भेद है। 'कार्यरूपेण नानात्व-मभेदः कारणात्मना। हैमात्मना यथाभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा।'

परंतु विचार करनेसे यह पक्ष अनुचित प्रतीत होता है। भेद क्या वस्तु है जो अभेदकेसाथ रहता है ? यदि अन्योन्याभावको ही भेद कहा जाय, तो भी यह देखना है कि क्या कार्य-कारण कुण्डल और सुवर्णमें यह अन्योन्याभावरूप भेद है ? यदि नहीं है, तब तो कार्य-कारणका अभेद ही हुआ, भेद नहीं हुआ। यदि है तब तो कार्य-कारणका भेद ही रहेगा, अभेद नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाय कि भाव एवं अभावका विरोध ही नहीं, तो यह कथन भी ठीक नहीं। क्योंकि भाव-अभावका एकत्र अवस्थान नहीं होता। यदि दोनोंकी सहावस्थिति मानी जाय, तब तो कटक-कुण्डलका भी तात्त्विक ही अभेद होना चाहिये; क्योंकि आप भेद-अभेदकी एक साथ अवस्थिति मानते ही हैं, किंच यदि कटक हाटकसे अभिन्न है तो जैसे हाटक-रूपसे कटक-मुकुटादि अभिन्न हैं, वैसे ही कटकरूपसे भी कटक-मुकुटादिको अभिन्न होना चाहिये। क्योंकि कटक हाटकसे भिन्न है, इस तरह हाटक ही वस्तु ठहरती है, कटकादि नहीं।

यदि कहा जाय कि हाटकरूपसे अभेद है, कटक आदिरूपसे तो भेद है ही। परंतु जब कटक हाटकसे अभिन्न है तब कुण्डलादिमें हाटकके समान ही कटककी अनुवृत्ति क्यों नहीं है। यदि अनुवृत्त नहीं होता तो कटक सुवर्णसे अभिन्न कैसे समझा जाता है? जिसके अनुवर्तमान होनेपर जो व्यावृत्त होते हैं, वह उससे भिन्न होते हैं, जैसे मालामें सूत्र अनुवृत्त होता है, पुष्प व्यावृत्त होते हैं, अतः सूत्रसे पुष्प भिन्न हैं। हाटकके अनुवर्तमान होनेपर भी कुण्डलादिमें कटकादि अनुवृत्त नहीं हैं, अतः हाटकसे कटकादि भिन्न ही ठहरते हैं।

सत्तामात्रकी अनुवृत्तिसे कटककी अनुवृत्ति मानें तब तो सभी वस्तु सर्वत्र अनुगत हो सकती है। फिर तो 'इदमिदं नेदम्' 'इदमस्मान्नेदम्, इदमिदानीं नेदम्'—यहाँ यह है, यहाँ यह नहीं है; इससे यह उत्पन्न होता है, यह नहीं होता है; इत्यादि विभाग ही नहीं बन सकेगा। फिर तो किसीका किसीसे विवेकका कोई हेतु ही न रहेगा। किंच दूरसे सुवर्णमात्रका ज्ञान हो जानेपर भी कुण्डल-मुकुटादि विशेषकी जिज्ञासा होती है। परंतु यदि कुण्डलादि सुवर्णसे अभिन्न ही हैं, तो सुवर्णका ज्ञान हो ही गया, फिर जिज्ञासा क्यों होनी चाहिये? हाँ, यदि कनकसे कुण्डलादिका भेद है तब तो कनकके विज्ञात होनेपर भी वे अज्ञात तथा जिज्ञास्य हो सकते हैं। अगर भेद-अभेद दोनों ही हैं तो जैसे भेदके कारण कुण्डलादि अज्ञात हैं, वैसे ही अभेदके कारण ज्ञात क्यों न होने चाहिये? कारणके अभावमें कार्यका अभाव स्वाभाविक है। जब ज्ञानका कारण अभेद है तो सुवर्णके ज्ञानसे सुवर्णाभिन्न कुण्डलादिका ज्ञान होना ही चाहिये। फिर तो कुण्डलादिकी जिज्ञासा और ज्ञान आदि होना व्यर्थ ही है। जिसके गृहीत होनेपर जो नहीं गृहीत होते, वे उससे भिन्न ही होते हैं। जैसे हाथीके गृहीत होनेपर गर्दभ नहीं गृहीत होता; अतः हाथी गर्दभसे भिन्न है। उसी तरह हेमके ग्रहण होनेपर भी कटक, मुकुट, कुण्डलादि नहीं गृहीत होते; अतः सुवर्णसे कटकादि भिन्न हैं। तथापि 'सुवर्ण कुण्डल, कुण्डल सुवर्ण है', इस प्रकारका समानाधिकरण-व्यवहार भी होता है। यह अत्यन्त भिन्न अश्व-महिषमें नहीं होता। आधाराधेय या समानाश्रयमें भी समानाधिकरण नहीं होता। यह ऊपर कहा जा चुका है कि अनुवृत्ति, व्यावृत्ति एवं सुवर्णज्ञान होनेपर भी कुण्डलादिकी जिज्ञासा कैसे बन सकेगी? वास्तविक भेद एवं अभेद दोनोंकी एकत्र उपपत्ति हो नहीं सकती। अतः भेद या अभेद किसीका त्याग करना ही होगा। अतः अभेदको तत्त्वभूत अधिष्ठान मानकर उसीमें कल्पित भेद मानकर सब व्यवस्था हो सकती है। भेदोपादानाभेद कल्पना कहनेके लिये भेदको स्वतन्त्र सिद्ध होना चाहियें, परंतु भेद भिन्न वस्तुओंके परतन्त्र होता है। वस्तुएँ प्रत्येक रूपसे एक ही हैं। अतः एक नहीं होगा, तो तदाश्रित भेद सिद्ध ही नहीं होगा, परंतु एक भिन्नके अधीन नहीं होता। 'नायमयम्' अमुक अमुक नहीं है। इसी तरह भेदज्ञान प्रतियोगि-ज्ञान-सापेक्ष होता है, किंतु एकत्वग्रहणमें किसी अन्यकी अपेक्षा नहीं होती।

मार्क्सवादी चैतन्यको भूतोंका गुणात्मक परिणाम मानते हैं । यहाँ भी यह प्रश्न होगा कि 'चैतन्य भूतोंमें प्रथमसे विद्यमान था, केवल उसकी अभिव्यक्ति हुई है, अथवा भूतोंमें अविद्यमान था, अतः अविद्यमानकी उत्पत्ति हुई है ?' अविद्यमानकी उत्पत्ति असत्कार्यवादी वैशेषिकोंकी ही दृष्टिसे मान्य होती है, परंतु वह सर्वथा असंगत ही है । इस सम्बन्धमें सांख्यवादियोंका यह कहना है कि उस शक्त कारणकी शक्ति शक्य कार्यमें ही रहती है या सर्वत्र रहती है ? यदि सर्वत्र रहती है तो वही अवस्था सर्वत्र बनी रहेगी। यदि शक्यमें ही रहती है तो यदि शक्य घटादिकार्य असत् है, तो उसमें शक्ति कैसे कही जा सकती है; क्योंकि असत्का कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता ।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि शक्तिभेद ही इस प्रकारका होता है जो किसी कार्यको उत्पन्न करता है सब कार्यको नहीं । क्योंकि यहाँ भी वही प्रश्न होगा कि शक्तिविशेष कार्यसे सम्बद्ध रहता है या असम्बद्ध ? यदि सम्बद्ध कहा जायगा तो असत्के साथ सम्बन्ध हो नहीं सकता; अतः कार्यको सत् ही कहना पड़ेगा, असम्बद्ध कहेंगे तो वही अव्यवस्था आयेगी । जैसे मिट्टी, तन्तु आदिके रहनेपर ही घट-पट आदिकी उपलब्धि होती है, तद्वत् कारणके भावमें ही कार्यकी उपलब्धि होती है, अतएव कार्य कारणसे अनन्य अभिन्न है । जहाँ अश्व, गो आदिका भेद होता है, वहाँ दूसरेके भानमें ही दूसरेकी उपलब्धिका नियम नहीं होता । अतः यदि कार्य कारणसे भिन्न होता तो कारणकी उपलब्धिमें कार्योपलब्धिका नियम न होता, किंतु यहाँ ऐसा नियम है, अतः कारणसे भिन्न कार्य नहीं होता । अतः जब कारण सत् तब कार्य सत् होना चाहिये । कुलालादिका घटसे भेद है; अतः वहाँ कुलालादि होनेमें घट होनेका नियम नहीं है; क्योंकि निमित्त-नैमित्तिक भाव रहनेपर भी भिन्नता निश्चित है ।

कहा जा सकता है कि 'अग्निके भावमें ही धूमकी उपलब्धि होती है, तब भी वह्नि धूमका भेद होता है । वैसे ही मृत्तिकादि कारणके रहनेपर घटादि कार्यकी उपलब्धि होनेपर भी उनका परस्पर भेद नहीं रहेगा' परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अग्नि बुझ जानेपर भी वातायनशून्य गोपाल-कुटीर आदिमें धूमका उपालम्भ होता है । यदि अविच्छिन्नमूल दीर्घरेखावस्थ धूमके साथ वह्निके साहचर्यका नियम बनावें तो दोष नहीं है; क्योंकि 'तद्भावे तद्भावात् तदुपलब्धौ तदुपलब्धेस्तदनन्यता' उपादान कारणके भावमें कार्यका भाव तथा उसकी उपलब्धिमें उपलब्धि होनेसे उसकी अनन्यता होनेका नियम है, अतः अभेद है । इसके अतिरिक्त प्रत्यक्षसे ही तन्तु आदि कारण ही पट आदि कार्य निश्चित होते हैं । तन्तुसे भिन्न पट नामकी वस्तु कुछ नहीं है, अर्थात् 'तद्भावनीयतद्भावत्वे सति तद्बुद्ध्यानुरक्तबुद्धिविषयता' ही अभेदका कारण है । अर्थात् तद्भावमें तद्भाववाला होकर

तदनुरक्त बुद्धिका विषय होना ही अभेदका कारण है, जैसे मृत्तिकादिक कारणके रहनेपर ही घटादि कार्य रहता है और मृत्तिकाबुद्धिके साथ ही घटबुद्धि होती है। अतः मृत्तिका और घटका अभेद ही समझना चाहिये। वह्नि-धूममें 'तद्भावे तद्भाव' होनेपर भी 'उपलब्धावुपलब्धेः' का नियम नहीं है। प्रभा और रूपमें सहोपलब्धिका नियम होनेपर भी सहभावका नियम नहीं है। कारण और कार्यमें 'तद्भावे तद्भावः' 'उपलब्धावुपलब्धेः' दोनों ही नियम रहते हैं; अतः कार्यकारणका अभेद रहता है। पट तन्तुका धर्म है, अतः तन्तुसे पट भिन्न नहीं है। जो जिससे भिन्न होता है, वह उसका धर्म नहीं होता—जैसे गो अश्वका धर्म नहीं होता। पट तन्तु-का धर्म है, अतः तन्तुसे अर्थान्तर नहीं है। उपादानोपादेयभाव होनेसे भी तन्तुसे पटका अभेद ही सिद्ध होता है। जिनमें भिन्नता होती है, उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं होता। जैसे घट-पट—दोनों भिन्न हैं, उनमें उपादानोपादेयभाव नहीं होता। तन्तु-पटका उपादानोपादेयभाव है, अतः दोनोंमें अभिन्नता ही है। दोनोंकी जिनमें भिन्नता होती है उनमें या तो कुण्ड-बेरके तुल्य संयोग होता है, या हिम-विन्ध्यके तुल्य अप्राप्ति रहती है। तन्तु-पटमें संयोग, अप्राप्ति—दोनों ही नहीं रहते, अतः अभिन्नता ही माननी चाहिये।

तन्तुके गुरुत्व कार्यसे भिन्न तन्तुनिर्मित पटका दूसरा गुरुत्व कार्य नहीं होता, इसलिये भी तन्तु-पटका अभेद ही मानना युक्त है। इन हेतुओंसे सिद्ध होता है कि आतान-वितानात्मक तन्तु ही पट है। फिर भी 'पट उत्पद्यते, पटो विनश्यति' इस प्रकार पटकी उत्पत्ति तथा विनाशकी बुद्धि तथा तन्तु एवं पटका व्यवहार और अर्थक्रिया शीतापनयन, अङ्गप्रावरणादि कार्यक्षमता-भेदसे भी तन्तु-पटका भेद नहीं सिद्ध होता है, क्योंकि ये सभी बातें अभेदमें भी उपपन्न हो सकती हैं। जैसे कूर्मके विद्यमान अङ्गोंका ही आविर्भाव-तिरोभाव होता है, वैसे ही विद्यमान घटादि कार्योंका ही मृत्तिकादि कारणोंसे ही आविर्भाव एवं कारणमें ही तिरोभाव होता है। इसी आविर्भाव-तिरोभावमें उत्पत्ति-विनाशकी बुद्धि होती है। अत्यन्त असत्‌की उत्पत्ति तथा सत्‌का विनाश नहीं होता। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।' जैसे कूर्ममें संकोच विकासशाली अपने अवयवोंकी भिन्नता नहीं, वैसे ही कारणसे कार्य भी भिन्न नहीं है। 'तन्तुषु पटः' तन्तुओंमें पट है—यह व्यवहार भी उसी ढंगका है, जैसे वनमें वृक्ष हैं। वस्तुतः वृक्षोंसे भिन्न वन नहीं है, वैसे ही तन्तुओंसे भिन्न पट नहीं है।

जैसे एक अग्निमें दाहकत्व, प्रकाशत्व, पाचकत्व आदि कार्यभेद होनेसे भी अग्निमें भेद नहीं होता, उसी तरह कारण मृत्तिका एवं तत्कार्य घटादिसे अनेक कार्योंमें भेद होनेपर भी उनमें भेद नहीं सिद्ध होता। अङ्गप्रावरण पटसे होता है, तन्तु-

से नहीं; पट तन्तुसे ही बनता है, पटसे नहीं; इत्यादि कार्यक्षमताकी व्यवस्था अभेदमें भी समस्त-व्यस्त भेदसे बन जाती है। जैसे व्यस्त पृथक्-पृथक् शिबिका-वाहक भृत्य मार्ग-दर्शन किया करते हैं और समस्त मिलकर शिबिकावहन करते हैं, वैसे ही प्रत्येक तन्तु अङ्गप्रावरण कार्य नहीं कर सकते, मिलकर वह कार्य कर देते हैं। इस सम्बन्धमें यह भी शङ्का होती है कि कारण-व्यापारके पहले पटका आविर्भाव सत् था या असत्? असत् था, तब तो उसका उत्पादन कहना पड़ेगा, अगर आविर्भाव भी सत् ही है, तो कारण व्यापार व्यर्थ होगा; क्योंकि यदि कार्य विद्यमान है तो कारण-व्यापारको कौन आवश्यक समझेगा। आविर्भावका भी आविर्भाव माना जायगा, तब तो अनवस्था-प्रसङ्ग होगा। परंतु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि असत्-कार्यवादमें भी तो इसी ढंगके दोष आते हैं। असत्की उत्पत्ति माननेपर भी यही प्रश्न होगा कि असत्की उत्पत्ति सती है या असती? सती है तो फिर कारण व्यापार व्यर्थ है। असती है तो फिर असती उत्पत्तिकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी और अनवस्था-दोष होगा यदि उत्पत्ति पटसे भिन्न नहीं है, पटस्वरूप ही है तब तो पट एवं उत्पत्ति दोनों-का एक ही अर्थ होगा। फिर तो पट उत्पन्न हुआ, यह कहनेसे पुनरुक्ति समझी जानी चाहिये और फिर पट नष्ट होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उत्पत्ति और विनाश दोनों ही एक कालमें एकत्रित नहीं रह सकते। इसलिये पटोत्पत्तिको स्वकारणसमवायरूप माना जाय या स्वसत्तासमवायरूप माना जाय? यदि पट असत् है तो दोनों ही नहीं हो सकते; क्योंकि असत्के साथ कारण-सम्बन्ध या सत्ता-सम्बन्ध नहीं बन सकता। सत्का ही कार्य-कारणके व्यापारसे प्रादुर्भाव होता है—यही पक्ष ठीक है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि पटरूपके साथ ही कारण-सम्बन्ध है; क्योंकि पटरूप कोई क्रिया नहीं है। कारकोंका सम्बन्ध क्रियाके ही साथ होता है, क्रिया-सम्बन्ध बिना कारणता ही नहीं हो सकती। अव्यापी सक्रिय अनेक एवं आश्रितपरतन्त्र होता है। जो भी सावयव होता है, वह कार्य होता है, कार्य होनेसे ही सकारण भी होना अनिवार्य है।

इस सम्बन्धमें अनेक पक्ष हैं। अनेकवादी असत्से ही सत्की उत्पत्ति कहते हैं, परंतु निरुपाख्य असत्से शब्दाद्यात्मक प्रपञ्चोंकी उत्पत्ति कैसे बन सकती है? क्योंकि सत् तथा असत्का कोई भी तादात्म्यादि सम्बन्ध नहीं बन सकता। सांख्य आदि उत्पत्तिसे पहले भी कार्यको सत् ही कहते हैं। अवश्य ही बीज तथा मृत्तिका-पिण्डादि कारणोंके प्रध्वंसके पश्चात् ही अङ्कुर, घटादिकी उत्पत्ति होती है तथापि प्रध्वंस कार्यके प्रति कारण नहीं है, किंतु बीज आदिके अवयव ही कारण हैं, अतएव उनकी ही कार्योंमें अनुवृत्ति देखी जाती है। यदि

अभावसे भाव उत्पन्न हो तब तो अभाव सभीको सर्वत्र सुलभ ही है। फिर कार्योत्पत्तिमें बाधा न होनेसे सदा ही कार्योत्पत्ति होती रहनी चाहिये।

यदि कारण-व्यापारसे पूर्व कार्य असत् हो तो वह किसी तरहसे सत् नहीं बनाया जा सकता। सैकड़ों शिल्पियोंके प्रयत्नसे भी नील रूप पीत नहीं बनाया जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सत्त्व-असत्त्व—दोनों ही घटके धर्म हैं; क्योंकि यदि घटधर्मी सत् हो तभी उसके धर्म हो सकते हैं, असत् धर्मीके धर्म कैसे हो सकेंगे? सत्त्व असत्त्व धर्मका आधार माननेपर भी घटादि कार्यको सत् ही कहना पड़ेगा। यदि असत्त्व धर्मका घटकी आत्मा या घटसे सम्बन्ध नहीं है, तो घटको असत् कैसे कहा जा सकता है? तत्सम्बन्धितया तत्स्वरूप होनेसे ही किसी वस्तुमें तद्रूपताकी प्रतीति होती है। अतः कारण-व्यापारके ऊर्ध्व एवं पहले भी कार्य सत् ही होता है। उसी सत् कार्यकी कारणसे अभिव्यक्ति होती है, जैसे निपीडनद्वारा तिलसे तैल व्यक्त होता है, अवघातद्वारा धान्यसे तण्डुलकी व्यक्ति होती है, दोहनसे गोदुग्ध, उसके मन्थनसे नवनीत अभिव्यक्त होता है, उसी तरह अङ्कुरादि कार्य भी सत् ही रहते हैं। कारण-व्यापारसे उनकी अभिव्यक्ति सम्भव है, परंतु असत्की उत्पत्तिका कोई भी दृष्टान्त नहीं है अभिव्यक्त होती वस्तु कहीं भी असत् नहीं देखी जाती।

कार्यके लिये प्रतिनियत उपादान कारणोंका ग्रहण किया जाता है। पटार्थी तन्तु, घटार्थी मृत्तिका, कुण्डलार्थी सुवर्ण ढूँढ़ता है। इससे मालूम पड़ता है कि वे कार्य उन-उन कारणोंसे विशेषरूपसे सम्बद्ध रहते हैं। तभी प्रतिनियत कारण ढूँढ़ना संगत हो सकता है। असत् कार्य होगा तो वह किसीसे कैसे सम्बद्ध होगा? यदि कारणसे असम्बद्ध ही कार्य हो, तो असम्बद्धता समान होनेसे सब कार्य सभी कारणोंसे उत्पन्न होने चाहिये। फिर अमुक कार्य अमुक कारणसे उत्पन्न होनेका नियम न होना चाहिये। साथ ही कार्य-कारणकी स्पष्ट ही अव्यवस्था होगी।

कुछ लोग कहते हैं, 'असम्बद्ध होनेपर भी जो कारण जिस कार्यके उत्पादनमें शक्त होता है, उस कारणसे वही कार्य उत्पन्न होता है। शक्ति फल-बलसे कल्प्य होती है। अर्थात् जिस कारणसे जिस कार्यकी उत्पत्ति होती दिखती है, उस कार्यकी उत्पत्तिकी शक्ति उसी कारणमें है, यह मालूम पड़ता है। अतः अव्यवस्था नहीं होगी।'

सांख्यवादी सत्कार्यवादी होते हुए भी अचेतन प्रकृतिको ही कारण कहते हैं, परंतु वेदान्ती चेतन ब्रह्मको कारण कहते हैं। जो उत्पत्तिके पहले जिस रूपमें होता है, वह उसीसे उत्पन्न होता है। घट मृत्तिका-रूपमें उत्पत्तिसे पहले रहता है; अतः मृत्तिकासे उत्पन्न होता है। तैल उत्पत्तिसे पहले तिल-रूपमें रहता है; अतः तिलसे उत्पन्न होता है। वह सिकता-रूपसे नहीं रहता, अतः सिकतासे नहीं उत्पन्न

होता। अतः उत्पत्तिके पहलेका कार्य कारणरूप ही रहता है। उत्पत्तिके पश्चात् भी कार्य कारणसे अभिन्न ही रहता है। इसीलिये श्रुतिने भी इदं पदार्थ कार्य-प्रपञ्चको उत्पत्तिके प्रथम सद्रूप ही बतलाया है—'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्। असद् वा इदमग्र आसीत्॥' यहाँ अव्याकृत या अव्यक्त ही असत्पदसे कहा गया है, कारण असत् किसी कालसे सम्बद्ध नहीं हो सकता। असत्का आसीत्के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि आसीत्से सत्ता बोधित होती है, तथा च सत्ता एवं असत्का परस्पर विरोध होनेसे असत्का आसीत्के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। संसारमें घट, कुण्डल और दधि चाहनेवाले क्रमेण मृत्तिका, सुवर्ण तथा क्षीर ग्रहण करते हैं। दधि चाहनेवाला मिट्टी या घट चाहनेवाला क्षीर नहीं ढूँढ़ता। यह बात सत्कार्यवादमें ही बनती है। यदि उत्पत्तिके पहले कार्य अत्यन्त असत् हो तो असत् तो सर्वत्र ही अविशिष्ट-रूपसे है, फिर क्षीरसे दधि क्यों उत्पन्न होता है, मृत्तिकासे क्यों उत्पन्न नहीं होता? यदि यह माना जाय कि क्षीरमें ही दधिकी कुछ विशेषता है, मृत्तिकामें ही कुछ घटकी विशेषता है, अन्यत्र नहीं है; अतः क्षीरसे दधि तथा मृत्तिकासे घट उत्पन्न होता है, तब तो उत्पत्तिसे पहले कार्यकी कोई विशेषता मान्य हो ही गयी, फिर असत्-कार्यवाद कहाँ रहा?

कारणमें कार्यानुकूल शक्ति माननेपर भी यह विकल्प होगा कि वह शक्ति कारण एवं कार्यसे भिन्न है या अभिन्न? भिन्न है, तो भी सती ही है या असती? दोनों ही पक्ष ठीक नहीं हैं; क्योंकि अन्य एवं असत् शश-शृङ्गादि अन्यके नियामक नहीं होते। कार्य-कारण दोनोंसे जैसे असम्बद्ध अन्य है, वैसे ही शक्ति भी। तथा शशशृङ्गवत् असत् हो तब ऐसी शक्तिके आधारपर क्षीरसे ही दधि उत्पन्न हो, मृत्तिकादिसे घट उत्पन्न हो, यह नियम कैसे बनेगा? अतः शक्तिको कारणकी आत्मभूता एवं कार्यको शक्तिका आत्मभूत मानना चाहिये। इस तरह सत्कार्यवाद तथा कारण-कार्यका अभेद भी सिद्ध हो जाता है। कार्य-कारण एवं द्रव्य-गुणादिका अश्व-महिषवत् भेदबुद्धि नहीं होती; अतः उनका अभेद मानना चाहिये। इसी प्रकार कार्य-कारणका समवाय सम्बन्ध माना जाय, तब भी प्रश्न होगा कि समवाय एवं समवायियोंका सम्बन्ध है या नहीं? यदि सम्बन्ध मान्य है, तब तो अनवस्था-प्रसङ्ग होगा। सम्बन्ध नहीं है, तो असम्बद्ध समवाय कार्य-कारणका नियामक ही कैसे होगा? यदि समवाय स्वयं सम्बन्धरूप होनेसे सम्बन्धान्तरकी अपेक्षा न करे, वह स्वतः सम्बद्ध होकर नियामक होता है, तो संयोगके सम्बन्धमें भी ऐसा ही क्यों न हो? परंतु नैयायिक आदि संयोगको संयोगियोंमें सम्बद्ध करनेके लिये समवाय-सम्बन्ध मानते हैं। यदि संयोग कार्य है और कार्य समवायिकारणजन्य होता है, अतः वहाँ समवाय आवश्यक है तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि तब तो आत्मा, कालादि नित्य संयोगमें समवाय नहीं अपेक्षित

होना चाहिये। किं च सम्बन्धियोंके अधीन ही समवायका निरूपण होता है। फिर भी वह सम्बन्धियोंके भेदसे भिन्न नहीं होता। उनकी उत्पत्ति-विनाशमें उत्पन्न तथा नष्ट नहीं होना, किंतु नित्य एवं एक ही समवाय रहता है, वैसे ही संयोग भी क्यों न हो ! किं च कार्य द्रव्य अवयवी है, कारणरूप द्रव्यमें रहता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि सम्पूर्ण अवयवोंमें अवयवी रहता है, अथवा व्यस्त पृथक्-पृथक् अवयवोंमें ? यदि कहें सम्पूर्णमें, तो अवयवी द्रव्यका प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकेगा; क्योंकि समस्त अवयवोंके साथ संनिकर्ष ही अशक्य है। समस्त आश्रयोंमें वर्तमान बहुत्व व्यस्त आश्रयोंके ग्रहणमें नहीं गृहीत होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अवयवशः समस्त अवयवोंमें कार्य (अवयवी) रहता है। क्योंकि इस तरह तो आरम्भक अवयवोंसे भिन्न अवयवीके अवयव मानने पड़ेंगे जिनके द्वारा आरम्भक अवयवोंमें अवयवी रहता है। जैसे म्यानके अवयवोंसे भिन्न अपने अवयवोंद्वारा तलवार म्यानमें व्याप्त होती है।

किंतु इस तरह अनवस्था-दोष होगा; क्योंकि उन अवयवोंमें भी रहनेके लिये कार्यके अन्य अवयव मानने पड़ेंगे। यदि प्रत्येक अवयवमें अवयवीको मानें तब तो एक अवयवमें जब अवयवी रहेगा, उस समय अन्य अवयवोंमें नहीं रहेगा। क्योंकि देखते ही हैं, जब देवदत्त काश्मीरमें रहता है, उसी समय काशीमें नहीं रहता। यदि एक कालमें अनेकों स्थलोंमें अस्तित्व कहा जायगा तो अवश्य ही अवयवीका नानात्व हो जायगा। जैसे काशी, काश्मीरमें रहनेवाले चैत्र, मैत्र अनेक ही होते हैं। फिर भी कहा जाता है कि जैसे गोत्व जाति प्रत्येक व्यक्तिमें होनेपर भी प्रत्येकमें गृहीत होती है, फिर भी एक ही है। उसी तरह अवयवी प्रत्येक अवयवमें रहते हुए उपलब्ध होगा और एक ही रहेगा, परंतु यह सब कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि यदि प्रत्येक अवयवमें अवयवी पूर्णरूपसे उपलब्ध होगा तब तो गोके शृङ्गसे भी स्तनका कार्य एवं पुच्छसे पृष्ठका कार्य होना चाहिये, किंतु ऐसा होता नहीं, अतः कारणसे अभिन्न ही कार्य है।

यदि कार्य उत्पत्तिके पहले असत् है, तब तो वह उत्पत्ति क्रियाका कर्ता भी नहीं बनेगा। उत्पत्ति भी एक क्रिया है। क्रिया कभी अकर्तृका नहीं होती। घटकी उत्पत्तिका कर्ता घट ही होता है। 'घट उत्पद्यते' घट उत्पन्न होता है, ऐसा ही व्यवहार सर्वसम्मत है। यदि घटोत्पत्तिके कर्ता कुलालादि हों, तब तो 'कुलालादय उत्पद्यन्ते' कुलालादि उत्पन्न हो रहे हैं, ऐसा व्यवहार होना चाहिये। स्पष्टरूपसे कुलालादिकी उत्पद्यमानता नहीं प्रतीत होती। घटकी उत्पद्यमानता प्रतीत होती है। कुछ लोग कहते हैं स्वकारण एवं सत्ताके साथ सम्बन्ध ही कार्यकी उत्पत्ति है, परंतु यदि कार्य स्वयं असत् है, निरात्मक है तब उसका किसीके साथ सम्बन्ध

भी क्या होगा ? क्योंकि दो सत्का ही सम्बन्ध होता है, सत् तथा असत्का एवं दो असत्का भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अभाव या असत् निरुपाख्य असत् ही होता है तब उत्पत्तिके प्रथम कार्य असत् था—यह मर्यादा-करण भी नहीं बन सकता। यह व्यवहार नहीं होता कि अमुक राजाके पहले वन्ध्यापुत्र राजा था। यदि कारकव्यापारसे वन्ध्यापुत्र, खपुष्प भी उत्पन्न हो सके तभी यह कहा जा सकता है कि उत्पत्तिके पहले असत् कार्य कारकव्यापारसे उत्पन्न हुआ है।

कहा जा सकता है कि जैसे प्रथमसे ही सिद्ध होनेसे कारणकी स्वरूप सिद्धिके लिये कोई व्यापृत नहीं होता तो उसी तरह यदि कारकव्यापारके पहले भी कार्य स्वरूप सिद्ध ही हो तो उसके लिये कौन व्यापृत होगा ? कारणसे यदि कार्य अनन्य ही है, तब कारणके समान ही कार्यके लिये भी कारकव्यापार नहीं होना चाहिये। परंतु व्यापार देखा जाता है, अतः कारकव्यापारकी सार्थकताके लिये उत्पत्तिके पहले कार्यका अभाव मानना उचित ही है। किंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि कारणको कार्याकारसे व्यवस्थापन करनेके लिये ही कारकव्यापार अपेक्षित होता है। वह कार्याकार कारणका आत्म-भूत ही है; विशेष दर्शनमात्रसे वस्तुभेद नहीं होता। देवदत्त हाथ-पाँव फैलाने या संकुचित करनेसे भिन्न नहीं हो जाता है; क्योंकि 'स एवायम्' वही यह है, ऐसी प्रत्यभिज्ञा (पहचान) होती है। प्रतिदिन ही पिता, माता, भ्राता आदिमें ह्रास-विकास आदि होते रहते हैं। फिर भी वस्तुभेद नहीं प्रतीत होता; क्योंकि पिता-माता, भ्राताकी एक रूपसे प्रत्यभिज्ञा होती रहती है। यदि कहा जाय कि वहाँ जन्मका व्यवधान न होनेसे ही अभेद प्रतीत होना ठीक है, परंतु कार्य-कारणमें ऐसा नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि यहाँ तो कारण बीज, मृत्पिण्डादिका नाश एवं अङ्कुर, घटादिकी उत्पत्ति होती है, अतः प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। किंतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ भी कारण नाश आदि नहीं अनुभूत होता। क्षीरादिका दधि आदि रूपसे संस्थान प्रत्यक्ष दिखायी देता है। वट-बीजादिसे समान जातीय अवयवोंके उपचयद्वारा अङ्कुर वृक्षादिकी उत्पत्ति एवं अवयवोंके अपचयसे विनाशका व्यवहार होता है। वस्तुतः कारणका विनाश और कार्यकी उत्पत्ति यहाँ भी नहीं है। जैसे मृत्पिण्डके अवयव घटमें अन्वित हैं, वैसे ही वटबीजके अवयव वटबीज भी अन्वित हैं। इस तरहके अवयवोपचय तथा अवयवापचयसे यदि वस्तुमें भिन्नता हो और इसीसे सत्की उत्पत्ति तथा सत्का विनाश हो तो गर्भस्थ तथा पर्यङ्कस्थ शिशुमें भी भेद कहना पड़ेगा, और बाल्य-यौवनादि शरीरमें भी भेद कहना पड़ेगा; क्योंकि अवयवोंका उपचय-अपचय वहाँ भी देखा हो जाता है। फिर तो पित्रादि व्यवहार भी बाधित होगा। इस तरह सत्कार्य-

वादमें तो कारणको कार्याकाररूपसे व्यवस्थापन करनेमें कारकव्यापार सार्थक है, परंतु असत्-कार्यवादमें तो कारकव्यापार सर्वथा निर्विषय हो जायँगे। जैसे आकाशके हननके लिये खड्ग आदिका प्रयोग व्यर्थ है, वैसे ही कार्याभाव या असत्में भी कारकव्यापार व्यर्थ होंगे। कहा जाता है कि समवायी कारणमें अर्थात् तन्तु-मृत्तिका आदिमें कारकव्यापार होगा, परंतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्यविषयक व्यापारसे अन्यकी निष्पत्ति असम्भव है। अन्यता यदि समान ही है तो फिर सिकता-विषयक व्यापारसे भी पट क्यों नहीं उत्पन्न होता? जो कहते हैं कि समवायी कारणका ही आत्मातिशय कार्य है, उन्हें तो सत्कार्यवाद मानना ही पड़ेगा। अतः क्षीर आदि द्रव्य ही दध्याद्याकारसे अवस्थित होकर कार्य—द्रव्यके रूपमें व्यवहृत होते हैं, वेदान्तमतानुसार तो मूल कारण परब्रह्म ही घटादि अन्तिमकार्य पर्यन्त उस-उस कार्यके आकारसे नटवत् सर्वव्यवहारका आस्पद होकर प्रतीत होता है। जैसे लपेटा हुआ वस्त्र स्पष्ट नहीं दीखता, फैला हुआ स्पष्ट दीखता है, उसी तरह कारणा-वस्थित कार्य स्पष्ट नहीं उपलब्ध होता, कार्यावस्थित होकर स्पष्ट दीखता है।

यह भी शङ्का होती है कि लोकमें कुलाल घट आदि कार्योंके लिये मृत्तिका दण्ड-चक्रादिका संग्रह करते हैं परंतु ब्रह्म बिना सामग्री-संग्रहके किस तरह विश्व-निर्माण कर सकेगा? परंतु जैसे क्षीर स्वभावसे दधिनिर्माणक्षम होता है, जल हिमरूपसे परिणत हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म भी प्रपञ्चात्मना व्यक्त हो जाता है। यद्यपि औष्ण्य, शैत्य आदिकी अपेक्षा करके ही क्षीर, नीर आदि दधि, हिम आदि रूपमें परिणत होते हैं, तथापि इन साधनोंसे केवल शीघ्रता-सम्पादन की जाती है। यदि स्वयं दधि आदि बननेकी शक्ति न होती तो बाह्य साधनोंसे भी क्षीर आदि दधि आदि नहीं बन सकते। इसीलिये वायु, आकाश आदिसे दधि नहीं बनता; क्योंकि उनमें दधि बननेका स्वभाव नहीं है।

जैसे ऋषि, मुनि, देवादि बाह्य साधनोंके बिना ही विविध शरीरों एवं प्रासाद आदिका निर्माण कर सकते हैं, तन्तुनाभ (मकड़ी) बिना बाह्य साधनके तन्तु-निर्माण करती है, बलाका (बगुली) बिना शुक्रके ही घन-गर्जन-श्रवणसे गर्भ धारण करती है, कमलिनी बिना किसी गमन-साधनके ही दूसरे सरोवरमें पहुँच जाती हैं, उसी तरह बाह्य-साधन बिना चेतनब्रह्म भी विश्वकी रचना करता है। यद्यपि कहा जा सकता है कि 'देवादिका अचेतन शरीर ही अन्य शरीरका कारण है। यहाँ अचेतन ही कारण है, मकड़ीका मुखलालादि ही कठोर होकर तन्तु बन जाता है, बलाका भी गर्जन-श्रवणसे गर्भ धारण करती है, यहाँ भी बाह्य निमित्त है ही। इसी तरह पद्मिनी चेतनप्रयुक्त अचेतन शरीरसे ही दूसरे सरोवरमें जाती है, जैसे लता वृक्षपर आरूढ़ होती है, तथापि कुलालादिसे विलक्षणता तो इन कारणोंमें स्पष्ट ही है।

वस्तुतः लक्षण एवं प्रमाणसे ही वस्तुकी सिद्धि होती है। जो-जो पदार्थ प्रमाण-सिद्ध होते हैं, उन्हींका अस्तित्व माना जाता है। विज्ञान आदिके प्रयोग-

द्वारा भी ज्ञान ही सम्पादन किया जाता है। विश्व, राष्ट्र या देहादि प्रपञ्च तथा भूत-प्रकृति आदि भी प्रतीत होते हैं, प्रमाण-सिद्ध हैं, तभी उनका अस्तित्व माना जाता है। तथा च जैसे नील, पीत, हरितरूपका प्रकाशक प्रकाशरूपसे प्राक् सिद्ध है, वैसे ही भूतादि प्रपञ्च, प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमाता—इन सबका भी भासक अखण्ड बोधरूप साक्षी उन सबसे प्रथम सिद्ध है। जड़भूतकी सिद्धि तो चेतन साक्षीके परतन्त्र है, परंतु प्रमाण, प्रमाता या साक्षीको उनकी सिद्धिके लिये किसी जड़की अपेक्षा नहीं होती। जैसे घटादिके प्रकाशके लिये भले ही सूर्यकी अपेक्षा हो, परंतु सूर्यके प्रकाशके लिये घटादिकी अपेक्षा नहीं, उसी तरह भूत आदि सिद्धिके लिये प्रमाण, साक्षी आदिकी अपेक्षा है; परंतु प्रमाण आदिकी सिद्धिके लिये जडभूतादिकी अपेक्षा नहीं।

संसारमें प्रकाशके सम्पर्कसे या प्रकाशरूप होनेसे 'प्रकाशित होता है,' ऐसा व्यवहार होता है। प्रकाशः प्रकाशते, घटः प्रकाशते'—ये ही दोनोंके उदाहरण हैं। इसी तरह स्वप्रकाश चेतनमें सूर्यादिके समान प्रकाश स्वरूप होनेसे 'प्रकाशते'का व्यवहार होता है। 'प्रपञ्चःप्रकाशते'में 'घटःप्रकाशते'के समान चेतन सम्पर्कसे 'प्रकाशते' का व्यवहार होता है। इस तरह परतन्त्र एवं अस्वतःसिद्ध जडभूतसे चेतनकी उत्पत्ति माननेकी अपेक्षा स्वतन्त्र स्वतः सिद्ध चेतनसे जड़भूतकी सिद्धि कहीं श्रेष्ठ तथा बुद्धिगम्य है।

भौतिकवादी तथा प्रकृतिवादियोंका कहना है कि 'अचेतन प्रपञ्चका अचेतन प्रकृति या भूतादि ही कारण हैं, चेतन ब्रह्म या ईश्वर कारण नहीं हो सकता। जैसे घट आदि कार्योंमें मृत्तिका अन्वित होती है, वैसे ही प्रपञ्चमें जड़ता या सुख, दुःख, मोहकी अन्विति प्रतीति होती है।' परंतु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यदि दृष्टान्तबलसे ही यह सिद्ध करना है, तब तो यह भी कहा जा सकता है कि संसारमें कहीं भी चेतनसे अधिष्ठित हुए बिना स्वतन्त्ररूपसे अचेतन कोई पुरुषार्थ सम्पादन नहीं कर सकता। प्रज्ञावान् शिल्पीलोग ही गृह, प्रासाद, वायुयान आदिका निर्माण करते हुए देखे जाते हैं। उसी तरह कहा जा सकता है कि नानाकर्म-फलोपभोग योग्य बाह्य आध्यात्मिक विविध वैचित्र्ययुक्त संसार बड़े-बड़े शिल्पी जिसे मनसे भी कल्पना नहीं कर सकते, उसे अचेतन प्रकृति या भूत किस तरह रच सकते हैं? जड लोष्ट-पाषाण-जैसे स्वतन्त्ररूपसे कुछ नहीं कर सकते, वैसे ही प्रकृति भूतादि भी स्वतन्त्ररूपसे विश्व-निर्माणमें असमर्थ हैं। कुम्भकारादिसे अधिष्ठित ही मृत्तिकादिसे घटादि बनते हैं, उसी तरह भूत या प्रकृति भी चेतनसे अधिष्ठित होकर ही कोई कार्य कर सकते हैं। फिर यह भी तो नहीं कहा जा सकता कि जड घटका कारण जड मृत्तिका है। अतः जड विश्वका भी जड ही कारण होना चाहिये। क्योंकि उसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि 'चेतन कुलाल जैसे मृत्तिकासे घट बनाता है, वैसे ही चेतन ब्रह्म ही जड प्रकृति, परमाणु आदिसे जगत् बनाता है।'

सुख, दुःख आदि आन्तर हैं, बाह्य शब्दादि उनके निमित्त हो सकते हैं, परंतु सुखादिरूप नहीं हो सकते। विशिष्टकार्य किसी प्रेक्षवान् द्वाराही निर्मित देखा जाता है, अतः अवश्य ही प्रपञ्च भी वैसे ही होना चाहिये। प्रकृतिकी साम्यावस्थासे प्रच्युति भी विना चेतनके होना असम्भव है। 'यह भी कहा जा सकता है कि 'केवल चेतनकी भी प्रवृत्ति नहीं दृष्ट है, परंतु चेतनयुक्त रथादि अचेतनकी प्रवृत्ति तो देखी ही गयी है। अचेतनयुक्त चेतनकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। अतः विचारणीय विषय यह है कि जिसमें प्रवृत्ति दृष्ट है, उसकी प्रवृत्ति मानी जाय या जिसके सम्बन्धसे प्रवृत्ति हो रही है, उसकी प्रवृत्ति मानी जाय ? यदि कहा जाय कि जिसमें प्रवृत्ति दृष्ट है, उसीकी मानी जाय; क्योंकि दोनों ही प्रत्यक्ष हैं, जैसे रथादि प्रवृत्तिके आश्रयरूपसे प्रत्यक्ष हैं, वैसे ही केवल चेतन प्रवृत्तिके आश्रयरूपसे प्रत्यक्ष नहीं है। किंतु प्रवृत्तिके आश्रयभूत देहादि संयुक्त ही चेतनके सद्भावकी सिद्धि होती है; क्योंकि केवल अचेतन रथादिकी अपेक्षा जीवित देहमें विलक्षणता दृष्ट है, परंतु सद्भावमात्रसे प्रवृत्तिके प्रति चेतनकी हेतुता नहीं सिद्ध होती, जैसे सद्भावमात्रसे घटादिके प्रति आकाशकी निमित्तता नहीं सिद्ध होती। अतः प्रवृत्तिमें चेतन हेतु नहीं है। इसीलिये प्रत्यक्ष देहके रहनेपर ही प्रवृत्ति एवं चैतन्यका उपलम्भ होता है। देह न रहनेपर चैतन्यका भी उपलम्भ नहीं होता। अतः देहका ही धर्म प्रवृत्ति एवं चैतन्य है, यह चार्वाक कहते हैं। इस दृष्टिसे अचेतनकी ही प्रवृत्ति सिद्ध होती है।'

इसपर अध्यात्मवादीका कहना है कि भले ही जिस देहमें प्रवृत्ति दिखायी देती है, उसीकी प्रवृत्ति मानी जाय; परंतु वह चेननसे ही होती है; क्योंकि चेतनके रहनेपर ही प्रवृत्ति होती है, चेतन न रहनेसे प्रवृत्ति नहीं होती। यद्यपि काष्ठादिके आश्रय ही दहन, प्रकाशन आदिरूप क्रियाएँ देखी जाती हैं, केवल अग्निमें दहन, प्रकाशनादि नहीं उपलब्ध होते। चन्द्र, सूर्य, विद्युत्—सभी प्रकाश जलीय एवं पार्थिव-काष्ठ, लोहादिके ही आश्रित हैं, तथापि अग्निसे ही दाह-प्रकाश आदि होते हैं। क्योंकि अग्निसंयोग होनेसे ही काष्ठादिमें दाहकत्वादि होते हैं, अग्निवियोग होनेपर काष्ठादिमें दाह-प्रकाशादि उपलब्ध नहीं होते। चार्वाक भी चेतन देहके सम्पर्कसे ही अचेतन रथ आदिकी प्रवृत्ति मानते हैं। अतः चेतनकी प्रवर्तकतामें विवाद नहीं है। कहा जा सकता है कि कर-चरणादियुक्त प्राणी अपने व्यापारसे ही अचेतनका प्रवर्तक होता है। इधर ब्रह्मरूप चेतन तो प्रवृत्तिशून्य, कूटस्थ, नित्य है, वह कैसे प्रवर्तक होगा ? परंतु इसका समाधान यह है कि जैसे अयस्कान्त मणि एवं सुन्दररूप आदि स्वतः प्रवृत्तिरहित होनेपर ही लोह तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रवर्तक होते हैं। वैसे ही प्रवृत्तिरहित ब्रह्म भी अचेतनका प्रवर्तक होगा।

कुछ लोग कहते हैं कि जैसे अचेतन क्षीरकी वत्सवृद्धिके लिये स्वतः प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार अचेतन जलवायु आदिमें भी स्वतः लोकोपकारके

लिये प्रवृत्ति होती है।' परंतु यह भी ठीक नहीं। यदि उभयवादिसम्मत रथ आदिमें चेतनाधिष्ठित प्रवृत्ति दृष्ट है, तब तो उसी दृष्टान्तसे क्षीर-जल आदिकी प्रवृत्तिमें भी चेतनाधिष्ठित होनेका अनुमान किया जा सकता है—जलादीनां प्रवृत्तिश्चेतनाधीना अचेतनप्रवृत्तित्वाद् रथादिप्रवृत्तिवत्। रथादिके समान अचेतनकी प्रवृत्ति होनेसे जलादिकी प्रवृत्ति चेतनाधीन है। क्षीरका प्रवर्तक तो चेतन धेनु ही है। 'योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरः'योऽपोऽन्तरः यमयति'(बृहदा० उप० ३।७।४)एतस्य··· वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते'(बृ० उ० ३।८।९) यह श्रुति कहती है कि अन्तर्यामी चेतन जलके भीतर रहकर उसका नियमन करता है, उसीके शासनसे नदियाँ बहती हैं। वत्सके चोषणसे भी दुग्धकी प्रवृत्ति होती है, जलके प्रवाहणके लिये निम्नभूमि प्रदेश आवश्यक होता है, चेतनापेक्षा तो सर्वत्र है ही। आधुनिक महायन्त्रोंमें भी मूल-प्रवर्तक चेतन रहता ही है।

कुछ लोग कहते हैं, तृण पल्लवादि दूसरे निमित्तोंकी अपेक्षा बिना ही स्वभावसे ही क्षीरादिके रूपमें परिणत होते हैं, उसी तरह प्रकृति या भूत भी स्वभावसे ही विविध प्रपञ्चाकारसे परिणत होता है। क्योंकि क्षीर आदि बननेमें दूसरा कोई निमित्त उपलब्ध नहीं होता। यदि कोई निमित्त होता तब तो उन-उन निमित्तोंको लेकर यथेष्ट क्षीर बनाया जा सकता था। परंतु यह भी कथन ठीक नहीं है, तृणादिका क्षीर आदि परिणाम निष्कारण नहीं है।' धेनुसे खाये हुए तृणादिसे ही क्षीर बनता है। यदि धेनु दुग्ध बननेका असाधारण निमित्त न होती तो धेनुसे अनुपभुक्त या वृषभ आदिसे उपभुक्त तृणसे भी क्षीर बनना चाहिये था। अतएव धेनु आदि निमित्तोंको लेकर दुग्ध यथेष्ट बनाया ही जा सकता है। धेनु एवं उसकी उदर-वह्नि आदि ही तृणादिको क्षीर बनाती हैं। अधिक दुग्ध चाहनेवाले धेनुको पर्याप्त दाना-घास देकर उसे प्राप्त करते हैं। संसारमें कई वस्तु मानुष-सम्पाद्य वस्तुएँ होती हैं और कई देवसम्पाद्य होती हैं। जो लोग प्रकृति-भूतों या परमाणुओंमें भी चेतन-शक्तिकी कल्पना करते हैं, वे तो फिर जड़वादी नहीं रह जाते। साथ ही अनेक चेतन परमाणुभूत या परमाणु विद्युत्को कारण माननेकी अपेक्षा लाघवार्थ एक व्यापक सर्वशक्ति चेतन ईश्वरको ही कारण मानना कहीं श्रेष्ठ है। जड परमाणुओंसे संयुक्त होकर कार्यारम्भके लिये कर्म अपेक्षित होगा। देखा जाता है कि तन्तुओंमें कर्म (हलचल) होता है। तभी संयोग आदिद्वारा पटादिकी उत्पत्ति होती है। कर्म भी कार्य है, अतः उसका भी कोई निमित्त चाहिये। यदि कोई निमित्त न होगा, तो परमाणुमें आद्यकर्म ही नहीं होगा। यदि लोकानुसार प्रयत्न या अभिघातादि परमाणु कर्मका निमित्तमान्य है, तब तो तदर्थ चेतन ईश्वर मानना ही युक्त है।

कहा जाता है कि 'ज्ञानस्वरूप ब्रह्मसे प्रपञ्चकी उत्पत्ति इसीलिये नहीं हो सकती कि प्रपञ्च ब्रह्मसे विलक्षण है। सुवर्णसे उत्पन्न मुकुट-कुण्डलादिमें, मृत्तिका-

से उत्पन्न घटादिमें समानता होती है। मृत्तिकासे मुकुट-कुण्डलादि नहीं बनते। जगत् अचेतन है, अतः इसका कारण भी अचेतन होना ठीक है। इस तरह ज्ञानसे विलक्षण होनेसे प्रपञ्च ज्ञानका कार्य नहीं। प्रीति, परिताप, विषादका हेतुभूत प्रपञ्च चेतनका कार्य नहीं हो सकता, किंतु प्रकृतिका ही कार्य होना चाहिये। विपरीत दृष्टान्त भी मिलते ही हैं। लोकमें चेतनत्वेन प्रसिद्ध पुरुष, पशु आदिसे विलक्षण केश, नख आदिकी उत्पत्ति होती है। तथा अचेतनत्वेन प्रसिद्ध गोमय, केश, काष्ठ आदिसे वृश्चिक, यूका, दीमकादिकी उत्पत्ति होती है। इसपर भी कहा जा सकता है कि वस्तुतः अचेतन शरीरोंसे ही अचेतन केश आदिकी उत्पत्ति होती है। इसी तरह गोमयादिसे वृश्चिकादिके अचेतन शरीरकी उत्पत्ति होती है। तो भी उक्त दृष्टान्तोंसे कारण-कार्योंकी विलक्षणता तो सिद्ध ही हो जाती है। गोमयकी अपेक्षा वृश्चिक शरीरमें शरीरकी अपेक्षा केश आदिकी विलक्षणता भोगायतन और भोगानायतनरूपसे स्पष्ट ही है। कारण-कार्यमें अति समानता होनेसे तो कार्य-कारणभाव ही नहीं होता। कुछ समानता तो इधर भी है ही। ब्रह्मगत सत्ता स्फूर्ति जगत्में भी अनुगत है ही।

मार्क्सवादी तो स्वयं ही अचेतनभूतसे चेतनाकी उत्पत्ति मानते हैं। वे भी गोमयादिसे वृश्चिकादिकी उत्पत्तिका दृष्टान्त उपस्थापित करते हैं। इस दृष्टिसे भी चेतन ब्रह्मसे तद्विलक्षण अचेतन प्रपञ्चकी उत्पत्तिमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किंच जैसे पृथ्वीत्व जातियुक्त पाषाणोंमें ही हीरक, पद्मराग आदि बहुमूल्य रत्न होते हैं, कोई मध्य वीर्यके सूर्यकान्त आदि मणि होते हैं. कोई कुत्ता, बगुला, कौवाके हटानेके लायक सामान्य पाषाण होते हैं, बीजोंसे ही बहुविध पत्ते, पुष्प, फल, गन्ध, रसादि विचित्र वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, वैसे सभी बीज पार्थिव ही हैं। फिर पृथक् बीजोंसे पृथक् ढंगके पत्र, पुष्प, फल, रसादि उत्पन्न होते हैं। एक ही अन्नरसके लोहितादि, रस, केश, नख आदि विचित्र कार्य होते हैं। उसी तरह एक ही ब्रह्मसे विविधवैचित्र्योपेत प्रपञ्चका निर्माण होता है।

बौद्धलोग सम्पूर्ण प्रपञ्चको उत्पत्तिके पहले असत् कहते हैं, अर्थात् सत्के अभावको ही विश्वका मूल कारण कहते हैं। इस कथनमें यह असंगति है कि असत् है, या असत् था। इस प्रकार असत् या अभावके साथ अस्तित्वका सम्बन्ध कैसे होगा? क्योंकि सत्के साथ ही सत्का सम्बन्ध हो सकता है। खपुष्पके तुल्य असत् या अभावके साथ सत्ताका सम्बन्ध सम्भव नहीं। इसी तरह प्रमाण या प्रमाता होनेपर ही भाव या अभावका बोध हो सकता है। यदि प्रमाता एवं प्रमाणका अस्तित्व था, तब तो असत् या अभाव कैसे कहा जा सकेगा? क्योंकि प्रमाता और प्रमाणका ही अस्तित्व था। यदि प्रमाता-प्रमाण नहीं थे, तब तो फिर अभाव या असत्का

प्रबोध भी कैसे हो सकता था? बीजके उपमर्दन होनेसे अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है, यह देखकर बौद्धलोग अभावसे ही अङ्कुरादि कार्योंकी उत्पत्ति कहते हैं। परंतु यदि ऐसी बात होती, तब तो बीजके दाहसे भी अङ्कुरकी उत्पत्ति होनी चाहिये, क्योंकि बीज-दाहमें भी तो बीजका उपमर्दन या अभाव हुआ ही। अतः बीजके अवयव ही अङ्कुरके कारण हैं। बीज अङ्कुरोत्पत्तिके पूर्वकी अवस्था है। जैसे घटोत्पत्तिके पहले मृत्तिकाकी पिण्डावस्था होती है। पिण्डमें, घटमें, कपालमें जो व्यापक है, वह मृत्तिका ही सबका कारण है। पिण्डादि सब मृत्तिकाके कार्य ही हैं। उसी तरह बीजावयव ही बीज एवं अङ्कुरादिमें व्यापक होनेसे वही कारण है। पिण्ड या बीज, घट-अङ्कुरादिमें व्यापक नहीं हैं, अतः वे कारण नहीं हैं। एक कारणमें युगपत् विरुद्ध अनेक कार्य नहीं हो सकते, अतः एक कारणसे होनेवाले कार्योंमें क्रमभाविता है। पिण्ड, घट, कपाल, बीज, अङ्कुर, नाल, स्कन्ध, शाखोपशाखादि कार्य क्रमसे ही होते हैं।

जो कहते हैं कि पिण्ड, कपालादि कार्योंसे भिन्न होकर कारण मृत्तिका कुछ भी नहीं है, उन्हें अन्वय व्यतिरेकादि प्रमाणोंपर अवश्य ध्यान देना चाहिये। जैसे पुष्पोंके परस्पर व्यावृत्त होनेपर भी उनमें अनुवृत्त सूत्र उनसे भिन्न होता है, वैसे ही पिण्ड, घट, कपालादिके परस्पर व्यावृत्त होनेपर भी सबमें अनुवृत्त मृत्तिका स्पष्ट ही उन कार्योंसे पृथक् है। अतः इस कारणको असत् नहीं कहा जा सकता। इसी तरह उत्पत्तिके पहले कार्य भी सत् ही रहता है। जैसे अविज्ञात ही घट विज्ञात होता है, वही ज्ञायमान होता है और वही विस्मृत होता है और फिर उसीका स्मरण भी होता है। इसी तरह सामग्रीके अभावसे या कुड्यादि दीवाल आदि आवरणसे वर्तमान रहता हुआ भी घट प्रतीत नहीं होता है। पिण्डमें घट रहता हुआ भी आवृत्त होनेसे उपलब्ध नहीं होता। जैसे एक ही आकाशमें चान्द्र प्रकाश सौर्य प्रकाशसे आवृत्त होता है, एक ही घटमें नीर क्षीरसे आवृत्त होता है, वैसे ही एक देशस्थ ही घट पिण्डसे आवृत्त रहता है। एक ही मिट्टीमें पिण्ड आदि सहस्रों कार्य हैं, जिसकी अभिव्यक्तिकी सामग्री उपस्थित होती है, वही अभिव्यक्त होता है; अन्य आवृत्त रहते हैं। इस तरह पिण्डसे घट, घटसे कपाल, कपालसे घट आदि आवृत्त होते हैं।

लोकमें अनेक ढंगसे अभिव्यक्ति होती है, दीपसे रूपकी अभिव्यक्ति होती है। दण्ड, चक्र, कुलालादिसे घट अभिव्यक्त होता है। जैसे दीपसे आवरण-नाशके अतिरिक्त घट सप्रकाश बनाया जाता है, वैसे ही कुलालादि-द्वारा आवरणभङ्गके साथ घटाभिव्यक्ति हो जाती है। इसीलिये शिलाघातसे पिण्ड-भङ्ग होनेपर भी कुलालादि बिना घटकी अभिव्यक्ति नहीं होती।

जैसे अज्ञातताकी निवृत्तिके लिये प्रमातालोग प्रमाणका उपादान करते हैं, प्रमाणके सम्बन्धसे प्रमेयकी अज्ञातता नष्ट होती है, प्रमातासे प्रमाणकी अभिव्यक्ति होती है। निष्पन्न प्रमाण प्रमेयसे सङ्गत होकर उसी तरह प्रमेयाकार हो जाता है, जैसे कुल्या (नहर) का जल नालियोंद्वारा क्षेत्रमें जाकर क्षेत्राकार हो जाता है, प्रमाणके प्रमेयाकार होनेसे अज्ञातताके नष्ट होनेसे प्रमेयकी अभिव्यक्ति होती है। इसी तरह दीपप्रकाशसे घट सप्रकाश होता है। वही घटनिष्ठ प्रकाश घटनिष्ठ तम-का अपनोदन करता है। इसी तरह मृत्तिकामें स्थित घटाकार दण्ड-चक्रादिसे स्फुट होता है। शिलादिसे पिण्डभङ्ग होनेपर दूसरे चूर्णादि कार्य सम्पन्न हो जाते हैं; वे भी घटके आवरण ही हैं, अतः घटकी अभिव्यक्ति नहीं होती। इसीलिये भिन्न-भिन्न घटादि कार्योंकी अभिव्यक्तिके साधन नियत हैं। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव आदि भी अन्योन्याभावके तुल्य ही भावरूप हैं। जैसे घटान्योन्याभाव घटरूप ही है वैसे ही प्रागभाव पिण्डरूप है। प्रध्वंसाभाव कपालादिरूप है। भावान्तर ही किसी दृष्टिसे अभाव कहा जाता है—'भावान्तर-मभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया।'

जो प्रागभाव, प्रध्वंसाभावको शून्य ही कहता है; उससे यह भी प्रश्न होगा कि उन दोनोंमें भेद है या नहीं? यदि कहा जाय कि भेद नहीं है, तो भेद-व्यवहार क्यों है? अगर भेद है तो उन दोनोंका भेदक क्या है? अगर विलक्षण स्वरूपको ही भेदक कहें तो भी ठीक नहीं; क्योंकि शून्यमात्रमें विलक्षणस्वरूपता क्या हो सकती है? विलक्षणस्वरूपता हो तो शून्यता भी कैसी होगी? शून्यके साथ उपाधि सम्बन्ध भी नहीं बन सकता, अतः औपाधिक भेद भी नहीं कहा जा सकता। 'घट-प्रागभावकी पिण्ड ही उपाधि है' ऐसा कहें, तो उसमें प्रमाण बतलाना पड़ेगा। यदि प्रत्यक्ष-प्रमाण कहें, तो भी ठीक नहीं, कारणरूप तथा स्पर्शहीन प्राग-भावके साथ चक्षु आदिका सम्बन्ध सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। यदि पिण्डके दर्शनसे ही प्रागभावका दर्शन मानें, तब तो प्रागभावके भाव रूप माननेसे ही सब काम चल ही सकता है। 'स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मकम्' इस दृष्टिसे अभाव या असत्‌से जगत् या कार्यकी उत्पत्ति असङ्गत है, किंतु स्व-प्रकाश चेतन ब्रह्मसे ही पूर्वोक्त युक्तियोंसे जगत्‌की उत्पत्ति सङ्गत है।

इसी तरह अचेतन अदृष्ट आदि भी चेतनके बिना कर्मके कारण नहीं हो सकते। परमाणु यदि सावयव हैं, तब तो वे भी कार्य एवं अनित्य ही होंगे। उनकी उत्पत्तिमें कारणान्तर ढूँढ़ना पड़ेगा। यदि निरवयव हैं, तब तो उनका दूसरे परमाणुओंसे संयोग होनेपर परिमाणवृद्धि न होगी; क्योंकि एक देशसे संयोग होनेपर तो संयोगसे अव्याप्त देशोंद्वारा प्रथिमा (विस्तार) हो सकता है। परंतु इस दशामें सावयवत्व, अनित्यत्वादि दोष होते हैं। निरवयवका तो सम्पूर्णरूपसे ही

अव्यवधानेन संयोग मानना होगा तथा च एक दूसरेहीमें समा जायँगे, वृद्धिकी कोई आशा नहीं होती। इसके अतिरिक्त संसारमें प्रदेशवाले पदार्थोंका ही संयोग होता है, फिर निष्प्रदेश, निरवयव परमाणुओंका संयोग भी कैसे होगा? इसी तरह परमाणुओंको प्रवृत्तिस्वभाव, निवृत्तिस्वभाव, उभयस्वभाव या अनुभयस्वभाव मानना पड़ेगा, परंतु इनमें कोई पक्ष ठीक नहीं है। प्रवृत्तिस्वभाव है, तब तो नित्य ही प्रवृत्ति होनेसे वस्तुनाशरूप प्रलय नहीं होगा। निवृत्तिस्वभाव होनेसे कभी सृष्टि न होगी। विरोधात् उभयस्वभाव भी नहीं कहा जा सकता। अनुभयस्वभाव कहेंगे तब तो दूसरे किसी निमित्तसे उनकी प्रवृत्ति माननी पड़ेगी, फिर वहीं सर्वज्ञ चेतन अपेक्षित होगा।

इसके अतिरिक्त लोकमें रूपादिमान् वस्तु अपने कारणकी अपेक्षा स्थूल एवं अनित्य होती है। जैसे पट तन्तुओंकी अपेक्षा स्थूल एवं अनित्य होते हैं। अंशुओंकी अपेक्षा तन्तु स्थूल तथा अनित्य होते हैं। परमाणु भी यदि रूपादिमान् हैं, तो उनका भी कारण होना चाहिये और उसकी अपेक्षा उनमें स्थूलता एवं अनित्यता भी होनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि गन्ध, रस, रूप, स्पर्श गुण-संयुक्त पृथ्वी स्थूल है। तदपेक्षया रूप, रस, स्पर्श गुणसंयुक्त जल सूक्ष्म है। इसीप्रकार रूप, स्पर्श गुणवाला तेज एवं स्पर्श गुणवाला वायु और भी सूक्ष्म है। तद्वत् पृथिव्यादि परमाणुओंमें सूक्ष्मता, स्थूलताका तारतम्य होना चाहिये। यदि गुणोंकी अधिकतासे पृथ्वी, जल परमाणुमें मूर्तिवृद्धि होगी, तब फिर वे परमाणु ही क्या रहेंगे? जब कार्योंमें गुणोंके उपचयसे मूर्तिवृद्धि होती है तो परमाणुमें भी गुणोपचयसे मूर्तिवृद्धि क्यों न होगी? यदि परमाणुओंमें गन्धादिगुण न मानें तो उनके कार्योंमें ही गन्धादि कहाँसे आयेंगे? क्योंकि कारण गुण ही कार्यगुणोंके आरम्भक माने जाते हैं। यदि सबमें एक ही गुण माने जायँ, तब तो पृथ्वीमें रस, जलमें रूप, तेजमें स्पर्श नहीं उपलब्ध होने चाहिये। यदि समताके लिये सभीको गन्धादि चारों गुणोंसे युक्त मानेंगे, तब तो जलमें भी गन्ध एवं तेजमें भी गन्ध, रस उपलब्ध होने चाहिये। वायुमें भी रस-गन्धका उपलम्भ होना चाहिये, परंतु ऐसा होता नहीं। द्रव्य एवं गुण यदि अत्यन्त भिन्न हों, तो जैसे पुष्प-पलाशादि भिन्न हैं, स्वतन्त्र हैं, वैसे ही गुण भी द्रव्यसे पृथक् स्वतन्त्र होने चाहिये। परंतु यहाँ तो गुण द्रव्य-परतन्त्र ही होता है। द्रव्यके साथ-साथ सहभाव होनेसे द्रव्यमात्र ही गुण है, यही मानना ठीक है। धूम, अग्निके समान-द्रव्य-गुणमें भेद नहीं प्रतीत होता—इसी प्रकार कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय भी द्रव्य ही है।

जैसे एक ही देवदत्त विभिन्न सम्बन्धिरूपोंकी अपेक्षासे मनुष्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, बाल, युवा, वृद्ध, पिता, पुत्र, पौत्र, भ्राता या जामाता आदि रूपसे कहा

जाता है, जैसे एक ही अङ्क स्थानविशेषके योगसे दस शत, सहस्र आदि शब्दोंसे व्यवहृत होता है।

विचार करनेपर कारणसे भिन्न होकर कुछ नहीं होता। मिट्टीसे भिन्न होकर घटादि पदार्थ उपलब्ध नहीं होते। जन्मके पहले प्रध्वंसके पश्चात् कार्यकी उपलब्धि नहीं होती, अन्तःकरणसे भिन्न उनकी सत्ता नहीं होती। सद्बुद्धि तथा असद्बुद्धि—दोनों ही सर्वत्र उपलब्ध होती हैं। जिस विषयकी बुद्धि कभी भी व्यभिचरित नहीं होती, वही सद्बुद्धि और जिस विषयकी बुद्धि व्यभिचरित होती है, वह असद्बुद्धि होती है। 'नीलम् उत्पलम्' के तुल्य 'सन् घटः, सन् पटः, सन् हस्ती', इसी तरह सन्-सन् सर्वत्र घटादिमें सद्बुद्धि बनी रहती है। घटादि बुद्धि व्यभिचरित होती है, अतएव घटादि बुद्धिके विषय घटादि असत् हैं; क्योंकि उसका व्यभिचार होता है। सद्बुद्धिका विषय सत् है; क्योंकि उसका व्यभिचार नहीं होता।

कहा जा सकता है कि घट नष्ट होनेपर तो घटबुद्धि व्यभिचरित (बाधित) हो ही जाती है, परंतु यह कहना ठीक नहीं, कारण पटादिमें सद्बुद्धि रहती ही है। 'सन् घटः' 'सन् पटः' इस रूपसे घट, पट विशेष्यरूपसे, सन् विशेषण रूपसे प्रतीत होता है। घटके नष्ट हो जानेपर विशेष्य न रहनेपर विशेषणबुद्धि नहीं होती। जैसे जो व्यक्ति न रहनेपर अभिव्यञ्जक न रहनेसे गोत्वकी प्रतीति नहीं होती, यह नहीं कि गोत्व नहीं रह गया। वैसे ही गोत्वके समान सत्के विद्यमान होते हुए भी अभिव्यञ्जकविशेष्य घटादि न रहनेपर सत् प्रतीत नहीं होता। इसीलिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि जैसे घट नष्ट होनेपर पट आदिमें सद्बुद्धि बनी रहती है, वैसे ही घटबुद्धि भी घटान्तरमें बनी रहती है; क्योंकि भले घटान्तरमें घटबुद्धि बनी रहे, परंतु फिर भी पटादिमें तो घटबुद्धिका व्यभिचार है ही, परंतु सद्बुद्धिका तो कहीं भी व्यभिचार नहीं होता।

कहा जा सकता है कि घट नष्ट हो जानेपर उसमें सद्बुद्धि भी नहीं रहती, परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि विशेष्य न रहनेसे सद्बुद्धि नहीं होती। सद्बुद्धि विशेषणविषया होती है, विशेष्य नहीं होनेसे विशेषणता नहीं बनती। फिर सद्बुद्धि कैसे हो सकती है? यह नहीं कहा जा सकता कि सद्बुद्धिका विषय सत् रहा ही नहीं, इसलिये सद्बुद्धि नहीं रहती।

यहाँ यह शङ्का होती है कि घटादि विशेष्य असत् हैं, तो उसके साथ सन्-का सामानाधिकरण्य नहीं होना चाहिये? परंतु इसका समाधान यह है कि जैसे रज्जु-सर्पके सम्बन्धमें सर्पके बाधित होनेपर भी इदमंशके साथ 'अयं सर्पः' सामानाधिकरण्य-व्यवहार होता है। इसी तरह घटादिके असत् होनेपर भी 'घटः सन्, पटः सन्' इस रूपसे अबाधित सत्के साथ असद् घटादिका सामानाधिकरण्य-व्यवहार बन जाता है।

पूँजीका स्वरूप

कहा जाता है कि 'अर्थशास्त्रके क्षेत्रमें पूँजी स्वयं उदाहरण है । वह धनका एक निम्नतम परिमाण है, जिसके रहनेपर ही उसका स्वामी पूँजीपति कहला सकता है । मार्क्सने उद्योगकी किसी शाखाके एक श्रमिकका उदाहरण लिया है, जो आठ घंटेतक अपने लिये अर्थात् अपनी मजदूरीका अर्थ उत्पन्न करनेके लिये श्रम करता है और चार घंटे अतिरिक्त अर्थ पैदा करनेके लिये जो उसके मालिक-की जेबमें जाता है । इस विशेष दृष्टान्तमें यदि पूँजीपति अपने अतिरिक्त अर्थके द्वारा मजदूर-श्रेणीका जीवन भी बिताना चाहता है तो उसके पास इतना धन होना चाहिये कि वह दो मजदूरोंके लिये मजदूरी, कच्चा माल तथा उत्पादनके साधनोंका बंदोवस्त कर सके । लेकिन पूँजीपतिका उद्देश्य केवल जीना नहीं है, बल्कि अपनी सम्पत्तिकी वृद्धि करना है । इसलिये इस धनका मालिक अभी पूँजीपति नहीं है । अब यदि पूँजीपतिको मजदूरसे दुगुना अच्छा जीवन व्यतीत करना है और अतिरिक्त अर्थका आधा कारोबारमें फिर डालना है तो उसे आठ मजदूरोंको काममें लगाना चाहिये और पहले अर्थ-संग्रहका चौगुना कारोबारमें लगाना चाहिये । अब यह अर्थसंग्रह पूँजीका आकार ले लेता है । इस प्रकार अर्थ-संग्रहका परिमाण बढ़ते-बढ़ते एक सीमापर वह पूँजीके रूपमें परिणत हो जाता है ।'

परंतु यह कहना ठीक नहीं; कारण, मार्क्सका अतिरिक्त श्रम और अतिरिक्त मूल्यकी कल्पना ही निराधार है, इसका विवेचन पीछे हो चुका है । यह भी कहा जा चुका है कि व्यापार या उद्योगद्वारा धनार्जनका तरीका ही इस प्रकार-का होता है जिसमें बुद्धिमानीसे एक मृतमूषिकाद्वारा भी कोटिपति बन जा सकता है । मार्क्सके मतानुसार उत्पादन-साधन ही पूँजी है, उसकी मात्रा अल्प हो या बड़ी । इसीलिये किसानोंके खेत भी उत्पादन-साधन हैं । इस दृष्टिसे किसान भी पूँजीपति रहते हैं ।

समाज-विज्ञानके क्षेत्रमें इस गुणात्मक परिवर्तनकी गवाहीके लिये एंजिल्सने नेपोलियनको साक्षी माना है । वह कहता है कि 'फ्रांसीसी घुड़सवार, जो नियन्त्रित सिपाही थे, लेकिन कोई अच्छे घुड़सवार नहीं थे और मामेलुक जो बहुत अच्छे घुड़सवार थे लेकिन जिनमें नियन्त्रण नहीं था । उनकी लड़ाईके सिलसिलेमें दो मामेलुक आसानीसे तीन फ्रांसीसियोंका मुकाबला कर सकते थे । सौ मामेलुक सौ फ्रांसीसियोंके बराबर थे । लेकिन ३०० फ्रांसीसी साधारणतया ३०० मामेलुकोंको हरा देते थे । और १ हजार फ्रांसीसी १५ सौ मामेलुकोंको हरा देते थे । पहलेके उदाहरणकी तरह इससे यह स्पष्ट है कि नियन्त्रित सिपाहियोंके जत्थेके परिमाणके बढ़नेपर उसका किस प्रकार गुणात्मक परिवर्तन होता है और वह अपनेसे अधिक संख्याकी फौज हरा देता है ।'

परंतु इससे भी यही सिद्ध होता है कि अनियन्त्रण, अनुशासनहीनता अल्प-संख्यकोंमें इतनी हानिकर नहीं होती जितनी कि बहुसंख्यकोंमें । इसी प्रकार नियन्त्रणका गुण अल्पसंख्यकोंमें भले कुछ प्रकट हो, किंतु बहुसंख्यकोंमें अधिकरूपसे फलदायी होता है । नियन्त्रित संघटित समुदाय शक्तिशाली होता है। तृणादिनिर्मित रज्जु ही इसका दृष्टान्त है । परिणामवादानुसारी सत्-कार्यवादमें कोई भी विद्यमान ही गुण किसी अवस्थाविशेषमें प्रकट होता है । सिकतामें तेल नहीं होता, अतः कभी नहीं व्यक्त होता। तिलमें तेल होता है, अतः वह कभी प्रकट होता है । वेदान्त-मतानुसार कारणकी अपेक्षा कार्यमें भिन्नता न होनेपर भी कुछ अनिर्वचनीय गुण भी सिद्ध होते हैं । जैसे मृत्तिकाद्वारा जला-नयन नहीं होता, फिर भी मृत्तिकानिर्मित घटादिद्वारा जलानयन आदि कार्य होते हैं । तन्तुद्वारा अङ्गप्रावरण, शीतापनयन नहीं होता, फिर भी तन्तुनिर्मित पट-द्वारा वह कार्य होता है । आकाशमें स्पर्श नहीं होता, फिर भी तन्निर्मित वायुमें स्पर्शगुण है, वायुमें रूप नहीं तथापि वायुपरिणामभूत तेजमें रूप गुण उपलब्ध होता है। इसी तरह एक-एक व्यक्ति या अल्प व्यक्तिमें जो गुण नहीं व्यक्त होते, अधिक-संख्यक उन्हीं व्यक्तियोंमें वे गुण प्रकट होते हैं। इसी तरह एक या अन्य व्यक्तियों-में अनियन्त्रणका जो दुष्परिणाम नहीं व्यक्त होता, बहुसंख्यकोंमें वह दुष्परिणाम स्पष्ट हो जाता है ।

प्रतिषेधका प्रतिषेध

इसी तरह प्रतिषेधके प्रतिषेधका उदाहरण मार्क्सवादी उपस्थित करते हैं कि 'यदि यवका एक दाना जमीनमें डाला जाय तो गर्मी और नमीके प्रभावसे इसमें एक विशेष परिवर्तन होता है। इसमेंसे पौधा उगने लगता है। उस दानेके अस्तित्वका अन्त हो जाता है। उसका प्रतिषेध हो जाता है । उसके स्थानपर जो पौधा उगता है, वह उस दानेका प्रतिषेध है । वह पौधा बढ़ता है, उसमें फल आते हैं और फिर उसमें यवके दाने उत्पन्न होते हैं, लेकिन इन दानोंके पकनेके साथ ही उस पौधेका भी अन्त हो जाता है । अब प्रतिषेधका प्रतिषेध होकर नये यवके दाने हो गये। एक ही दाना नहीं, बल्कि मूल दानेका दस, बीस या तीस गुना ।'

इसी तरह पतिंगोंके सम्बन्धमें उनका कहना है कि 'ये अंडेसे निकलते हैं। उसके प्रतिषेधके बाद ये पतिंगे बढ़कर पूर्ण यौन विकासको प्राप्त होते हैं और यौन सम्बन्धसे अंडे पैदा होकर मर जाते हैं। प्रतिषेधका प्रतिषेध करके फिर अंडे पैदा हो गये, एक नहीं अनेक ।'

इस सम्बन्धमें पीछे कहा जा चुका है कि बीज-विनाश या बीज प्रतिषेध अङ्कुरादि कार्यका कारण नहीं है, किंतु बीजके अवयव ही अङ्कुरके कारण हैं;

क्योंकि उनका ही अनुवेध कार्यमें होता है। वीजके विनाशका कारण यह है कि एक उपादान कारणमें एक कार्यकी अभिव्यक्ति होनेपर कार्यान्तरोंकी निवृत्ति होती है। बीज भी एक अवयवोंकी ही कार्यावस्था है। अङ्कुररूप कार्यकी अभिव्यक्तिसे उसकी निवृत्ति आवश्यक है। जहाँ पूर्व कार्यकी निवृत्ति आवश्यक नहीं है, वहाँ प्रतिषेधके प्रतिषेधका कोई अर्थ नहीं है। आकाशसे वायुकी उत्पत्ति होती है, फिर भी आकाश नहीं निवृत्त होता। वायुसे तेजकी उत्पत्ति होती है, परंतु वायुकी निवृत्ति नहीं होती। मृत्तिकासे घट उत्पन्न होता है, किंतु मृत्तिकाकी निवृत्ति नहीं होती। आम्रादि वृक्षोंसे फलोंकी उत्पत्ति होती है, परंतु वृक्षोंका नाश या प्रतिषेध नहीं होता। मनुष्य-पशु आदिसे ही दूसरे मनुष्य-पशु आदि उत्पन्न होते हैं, परंतु उत्पादकोंका विनाश नहीं होता। भूतोंकी उत्पत्तिका सिद्धान्त यह है कि कारण व्यापक, सूक्ष्म, तथा स्वच्छ एवं निर्गुण, निर्विशेष है। कार्य व्याप्य, स्थूल, अस्वच्छ, सगुण एवं सविशेष है। परंतु सांख्यमतानुसार कार्यकी विशेषताओंकी भी अभिव्यक्ति ही होती है, उत्पत्ति नहीं। अत्यन्त असत्की उत्पत्ति नहीं होती—यह बात सत्कार्यवादके प्रसङ्गमें कही जा चुकी है। वेदान्तमतानुसार जो आदिमें तथा अन्तमें नहीं होती, मध्यमें प्रतीत होती है, वह वस्तु रज्जु-सर्प आदिके तुल्य सदसद्विलक्षण अतएव अनिर्वचनीय ही होती है। वह शुक्ति रजतादि मिथ्या पदार्थोंके समान होनेपर भी सत्य-सी प्रतीत होती है। आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥ (माण्डू० कारि० २।६) परिणामवादमें कारणको कार्याकारतया परिणत होनेके लिये कारणमें आवश्यक विचार होना ही चाहिये। एतावता अन्तर्विरोध या प्रतिषेध कार्यका कारण नहीं हो जाता। यदि प्रतिषेध कारण होता तो सर्वत्र वह सुलभ ही है, फिर कार्योत्पत्तिके लिये कारणोपादान ही व्यर्थ होगा। यदि प्रतिषेध ही कार्योत्पत्तिका कारण होता तो दग्ध बीजसे भी कार्योत्पत्ति होनी चाहिये थी; क्योंकि दाहसे भी बीजका प्रतिषेध हुआ ही। हम स्पष्ट देखते हैं कि कार्यके लिये कार्यार्थी तत्कारणोंका अन्वेषण करते हैं। वेदान्तानुसार कारण ब्रह्म ही अनिर्वचनीय माया एवं तदंश विभिन्न उपाधियों-द्वारा कार्याकारेण विवर्जित होता है। अंडे भी पतंगोंके फल हैं, प्रतिषेधरूप नहीं।

कहा जाता है कि मूल वस्तुके अन्तर्विरोध (विध्वंस) से समन्वयद्वारा वस्त्वन्तरकी उत्पत्ति होती है—'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' विनष्ट बीजसे ही अङ्कुर उत्पन्न होता है। मृत्पिण्डके उपमर्दनसे ही घट निर्माण होता है। विनष्ट क्षीरसे ही दधिका निर्माण होता है। यदि कूटस्थ कारणसे ही कार्य उत्पन्न हो तब तो अविशेषेण सभीसे सब कार्यकी उत्पत्ति होने लगे। अर्थात् कूटस्थ कारणका यदि कार्य-जनन स्वभाव है तब तो तत्काल ही उससे कार्य उत्पन्न होना चाहिये, कालक्षेप न होना चाहिये। यदि कूटस्थ कारणमें कार्यजनक स्वभाव नहीं है, तब उससे कभी भी कार्य न उत्पन्न होना चाहिये। यदि कहा जाय कि समर्थ होते हुए भी

क्रमेण सहकारियोंकी अपेक्षासे ही कार्य उत्पन्न होता है, परंतु सहकारी कुछ उपकार करते हैं या नहीं ? यदि नहीं तो वे सहकारी ही क्यों होंगे ? यदि उपकारका आधान करते हैं तो भी भिन्न या अभिन्न उपकारका आधान करेंगे। यदि उपकार अभिन्न हैं तब तो वह कूटस्थ कारणका ही स्वरूप ठहरा। फिर कार्यमें विलम्ब क्यों होना चाहिये ? यदि उपकार भिन्न है, तब तो उस उपकारके होनेपर ही कार्य होता है, उसके अभावमें कार्य नहीं होता। फिर तो अन्वय-व्यतिरेकसे उपकार ही कार्यका कारण हुआ। कूटस्थ कारणके रहनेपर भी कार्य नहीं होता, अतः कूटस्थ उत्पादक नहीं हुआ—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः॥

(नैष्कर्म्यसिद्धि एवं सर्वदर्शनसंग्रह)

अतः अभावग्रस्तबीज आदिसे ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। ब्रह्मात्मवादी इसका भी खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, यदि अभावसे भाव उत्पन्न हो तब तो अभाव सर्वत्र सुलभ ही है, फिर कारण-विशेषकी कल्पना व्यर्थ ही होगी। उपमर्दित बीजोंका अभाव एवं शशविषाण दोनों ही समानरूपसे निःस्वभाव हैं। अतः उनके अभावत्वमें भी कोई भेद नहीं है। फिर बीजसे अङ्कुर, क्षीरसे दधिके उत्पन्न होनेका नियम व्यर्थ ही है। यदि निर्विशेष अभाव कारण है तब तो शशविषाण, खपुष्पादिसे भी अङ्कुरादिकी उत्पत्ति होनी चाहिये, परंतु ऐसा होता नहीं। यदि उत्पलमें नीलत्वके तुल्य अभावमें कुछ विशेषता स्वीकृत है तब तो विशेषवान् होनेसे अभाव भाव ही हो जायगा। विशेष्यवान् होनेसे उत्पल जैसे भाव है, वैसे ही विशेष्यवान् होनेसे अभाव भी भाव ही हो जायगा। और फिर तो अभाव कार्य उत्पत्तिका हेतु भी नहीं हुआ, जैसे शशविषाणादि किसीका हेतु नहीं होता।

इसके अतिरिक्त यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति हो तब तो हर एक कार्यमें अभावका ही अन्वय दिखायी देना चाहिये, परंतु देखा जाता है कि इसके विपरीत सभी कार्य भावरूपसे ही उपलब्ध होते हैं। जैसे मृत्तिकासे अन्वित घटादिको तन्तु आदिका विकार नहीं कहा जाता, किंतु मृत्तिकाका ही विकार कहा जाता है, वैसे ही भावान्वित कार्य भावके ही विकार हैं, अभावके नहीं।

जो कहा जाता है 'स्वरूप-उपमर्दके बिना किसी भी कूटस्थ कारणसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, अतः अभावसे भावकी उत्पत्तिका सिद्धान्त ही ठीक है'—यह कहना भी ठीक नहीं। स्थिर स्वभाववाले सुवर्ण, मृत्तिका आदि स्पष्टरूपसे कार्यमें प्रत्यभिज्ञात होते हैं, अतः स्थिरभावमें ही कार्य-कारणभाव मानना युक्त है। बीज आदिका उपमर्द देखा जाता है, इससे उपमृद्यमाना पूर्वावस्था उत्तरावस्थाका कारण नहीं है, किंतु अनुपमृद्यमान बीजावयव ही अङ्कुरादिमें अनुगत होकर कारण

होते हैं। असत् खपुष्पादिसे कार्योत्पत्ति नहीं होती, सत् सुवर्णादिसे कार्योत्पत्ति देखी जाती है, अतः भावसे भावकी उत्पत्तिका पक्ष ही ठीक है।

कूटस्थ स्थिर कारण ही क्रमवत् सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे कार्यकारी होते हैं। ये सहकारी अनुपकारक नहीं कहे जा सकते, किंतु इनके द्वारा आहित उपकार कारणसे न भिन्न है न अभिन्न, किंतु अनिर्वचनीय है। इसलिये कार्य भी अनिर्वाच्य ही होता है। फिर स्थिरकी अकारणता नहीं कही जा सकती; क्योंकि कार्यका वही उपादान है—जैसे कल्पित अनिर्वाच्य सर्पका उपादान रज्जु होती है।

यदि अभावसे ही भावकी उत्पत्ति होती है तब तो उदासीन, अनीहमान लोगोंकी भी समीहित सिद्धि होनी चाहिये; क्योंकि अभाव तो सभीको सुलभ है। खेतीके कार्यमें बिना संलग्न हुए भी किसीको सस्यादि प्राप्त होने चाहिये। कुदाल मृत्तिकादिमें बिना प्रवृत्त हुए भी घटोत्पादन कर सकेगा। तन्तुवाय तन्तुओंमें बिना प्रवृत्त हुए भी वस्त्रलाभ कर लेगा, परंतु यह सब होता नहीं; अतः भावसे ही भावकी उत्पत्ति होती है, अभावसे नहीं।

बीज एवं मृत्तिका-पिण्ड उपमर्द हुए बिना अङ्कुर, बीज आदि उत्पन्न नहीं होते, अतः अभाव या विनाश ही कार्योंके कारण होते हैं। इस कल्पनाकी इस पक्षमें अपेक्षा लाघव है। बीज एवं मृत्तिकाको ही कार्योंका कारण माननेमें बीज या मृत्पिण्डका आकारविशेष कार्यका कारण नहीं है, अतएव अन्वयी द्रव्य ही कारण होता है। पिण्ड या बीजके आकारविशेषका कार्यमें अन्वय भी नहीं है। अन्वय बीजावयव एवं मृत्तिकामात्र ही अनुभूत होता है। मृत्तिका कारण है; क्योंकि उसके अभावमें घटका अभाव होता है, परंतु पिण्डादि आकारके न रहनेपर भी घटकी उपलब्धि होती है। सभी कारण कार्यका उत्पादन करते हुए अपने पूर्व कार्यका तिरोधान करते हैं; क्योंकि एक कारणमें एक कालमें ही दो कार्य नहीं हो सकते। पूर्वकार्यके उपमर्दसे कारणका स्वरूप नहीं उपमर्दित होता।

मृत्तिकादिका पूर्व कार्य पिण्डादि हैं, घटादिकी उत्पत्तिके लिये उनका तिरोधान आवश्यक ही है। कार्यान्तरकी उत्पत्तिके लिये पूर्वकार्यका तिरोधान आवश्यक होता है, इसलिये पिण्डादिका तिरोधान होता है, इसलिये नहीं कि कारण नाश कार्यका हेतु है। असत्कारणवादी कहता है कि पिण्डादिसे भिन्न मृत्तिकादि कुछ भी नहीं है। यद्यपि कहा जा सकता है कि पिण्डादि पूर्वकार्यके उपमर्दित होनेपर भी मृदादि कारण नहीं नष्ट हुआ; क्योंकि वह घटादि कार्यान्तरमें अन्वित है, परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि पिण्ड घटादिसे भिन्न मृदादि कारणका उपलम्भ ही नहीं होता।

इसपर वेदान्तीका कहना है कि मृदादि कारणोंसे घटादिकी उत्पत्ति होनेपर पिण्डादिकी निवृत्ति हो जानेपर भी मिट्टी आदि कारणकी घटादिमें अनुवृत्ति रहती है। अतः पिण्डादिके विनष्ट होनेपर भी मृदादि कारणका विनाश नहीं हुआ। असद्वादी कहते हैं कि 'यद्यपि मृत्तिकादि कारण पिण्डादिके नष्ट होनेपर नष्ट हो गया, घटादिमें मृत्तिकादि कारणका अन्वयदर्शन कारणकी अनुवृत्तिसे नहीं, अपितु सादृश्यके कारण है। पिण्डगत मृत्तिकासे घटगत मृत्तिका भिन्न है, फिर भी सादृश्य-के कारण अभेद प्रतीतिसे अन्वयदर्शन-सा होता है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि पिण्डादिगत मिट्टी आदिकोंके अवयवोंका ही घटादिमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है। अतः पिण्डगत मृत्तिकासे घटगत मृत्तिका भिन्न है—यह प्रत्यक्ष नहीं है, किंतु 'यत् सत् तत् क्षणिकं यथा दीपं सन्तश्चेमे भावाः' जो सत् है वह क्षणिक होता है जैसे दीप, और सभी पदार्थ सत् हैं; अतः वे क्षणिक होने चाहिये। इस अनुमानसे मृदादिकारणोंकी भी क्षणिकताका अनुमान करके ही भेद सिद्ध किया जा सकता है। परंतु 'सैवेयं मृत्तिका' वही यह मिट्टी है—इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष पहचानसे विरुद्ध होनेके कारण यह अनुमान अग्निके अनुष्णत्वानुमान-के समान अनुमानाभास है।

कहा जा सकता है कि 'प्रत्यक्ष-प्रमाणसे कारणकी एकता प्रतीत होती है और अनुमानसे भेद प्रतीत होता है, अतः जैसे प्रत्यक्षसे विरुद्ध होनेके कारण अनुमानको अनुमानाभास कहकर अप्रमाण घोषित किया जाता है, वैसे ही अनुमानविरुद्ध प्रत्यक्षको ही प्रत्यक्षाभास कहकर अप्रमाण क्यों न घोषित किया जाय?' परंतु यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक ही हुआ करता है, अतः अनु-मानद्वारा प्रत्यक्ष न होनेसे प्रत्यभिज्ञासिद्ध प्रत्यक्षका विरोध उपजीव्यविरोध ठहरता है। इसलिये अनुमान दुर्बल है। अन्यथा यदि अनुमानसे प्रत्यक्ष बाधित होगा तब तो सर्वत्र ही अनाश्वास होगा।

कहा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा स्वार्थमें स्वतःप्रमाण नहीं हो सकती, किंतु दूसरी बुद्धियोंके संवादसे ही उसका प्रामाण्य हो सकता है; परंतु स्थायित्व-साधक दूसरी कोई बुद्धि नहीं है, अतः 'प्रत्यभिज्ञासिद्धः प्रत्यभिज्ञायमानः' अर्थ भी क्षणिक ही है। परंतु यह भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि इस तरह तो अनुमान-सिद्ध क्षणिकत्वबुद्धि भी स्वार्थमें स्वतः प्रमाण न होनेसे उसे भी तादृग् दूसरी बुद्धिकी अपेक्षा होगी। उस दूसरी बुद्धिको भी अपने प्रामाण्यके लिये तादृक् तीसरी बुद्धिकी आवश्यकता होगी—इस तरह अनवस्था प्रसङ्ग होगा। अतः प्रत्यभिज्ञाके प्रमाण-बुद्धिका स्वतः प्रामाण्य ही अङ्गीकार करना ठीक है। इस दृष्टिसे प्रत्यभिज्ञान भी स्वतः प्रमाण है।

जो कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा भी सादृश्यके कारण भ्रमरूप है। 'त एवेमे केशाः' —ये वही बाल हैं, इत्यादिस्थलोंमें बालोंकी भिन्नता रहनेपर भी सादृश्यके कारण

अभिन्नता प्रतीत होती है, उसी तरह 'सैवेयं मृत्तिका' वही यह मिट्टी है, इत्यादि स्थलोंमें भी सादृश्यके कारण ही अभेदकी प्रत्यभिज्ञा होती है, उनका कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि एक स्थायी अनुभविता न होनेसे पूर्वोत्तर कालवर्ती तत्पदार्थ एवं इदं पदार्थका ग्रहण ही नहीं होगा। उनके ग्रहण हुए बिना 'तेनेदं सदृशम्' यह सादृश्य-बुद्धि ही नहीं होगी। फिर सादृश्य-बुद्धिमूलक भी प्रत्यभिज्ञाको कैसे कहा जा सकता है? कोई भी क्षणिक बुद्धि या क्षणिक द्रष्टा भिन्न कालवर्ती पदार्थोंको नहीं ग्रहण कर सकता। इस सम्बन्धमें विज्ञानवादी बौद्धोंका कहना है कि बाह्यार्थके बिना ही बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, अतः सादृश्य बिना ही अर्थात् असत् सादृश्यमें ही सादृश्य-बुद्धि होती है। परंतु इस तरह तो तत् पदार्थ और इदं पदार्थकी बुद्धि भी सादृश्य-बुद्धिकी तरह ही असद्विषयक ही समझी जायगी। यदि कहा जाय कि ऐसा भी अभीष्ट ही है अर्थात् विज्ञानवादी बाह्य अर्थका अस्तित्व ही नहीं अङ्गीकार करता। अतः सभी बुद्धियाँ बाह्य विषयके बिना ही उत्पन्न होती हैं तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि फिर तो बुद्धि, बुद्धि भी असद्विषयक ही होगी। अतः बाह्य अर्थके समान ही आन्तर अर्थ (बुद्धि) का भी असत्त्व सिद्ध हो जायगा। यद्यपि शून्यवादी इसे भी अभीष्ट ही मानता है, तथापि यदि सर्वबुद्धि मिथ्या ही हों तो असद्बुद्धि भी मिथ्या हो जायगी। फिर तो असत् या शून्यकी सिद्धि भी असम्भव ही होगी। इसलिये सादृश्य-बुद्धिसे प्रत्यभिज्ञा होती है—यह कहना गलत है। तथा च कार्योत्पत्तिके पहले कारणका सद्भाव सिद्ध होता है। संसारमें तम आदिद्वारा प्रावृत घटादि वस्तु आलोकादिके द्वारा प्रावरण तिरस्कार-से अभिव्यक्त होती है। अतः अभिव्यक्तिके पहले भी उसका अस्तित्व होता है। उसी तरह घटादि कार्य भी कारण-व्यापारद्वारा आवरण तिरस्कारसे अभिव्यक्त होता है। अतः अभिव्यक्तिके पहले भी उसका अस्तित्व मान्य होना चाहिये। जैसे अविद्यमान वस्तु सूर्योदय होनेपर भी उपलब्ध नहीं होती, उसी तरह कार्य यदि उत्पत्तिके पहले अविद्यमान होता तो कारक-व्यापारसे भी उसकी अभिव्यक्ति सर्वथा असम्भव ही होती।

कहा जा सकता है कि सत्कार्यवादीके मतानुसार यदि घटादि कार्य कभी भी अविद्यमान नहीं है, तब तो सूर्योदय होनेपर उसका सदा ही उपलम्भ होना चाहिये, किंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि आवरण दो प्रकारके होते हैं—जैसे अभिव्यक्त घटका तम आदि आवरण है, उसी प्रकारसे अभिव्यक्तिके पहले अनभिव्यक्त घटका आवरण है मृदादि अवयवोंका पिण्डादि कार्यान्तररूपसे संस्थान। इसलिये जबतक मृदादि अवयवोंकी पिण्डादि कार्यान्तररूपसे स्थिति रहती है, तबतक अर्थात् उत्पत्ति-के पहले घटादि कार्य उसी आवरणसे आवृत होनेके कारण उपलब्ध नहीं होते। उसी आवरणके भङ्ग होनेसे घटादि कार्योंकी उत्पत्तिका व्यवहार होता है। जैसे तम हटनेसे घटादिके व्यवहारका भाव होता है, वैसे ही पिण्डादिसे तिरोभूत

रहनेपर अभावका व्यवहार होता है । कपालादिसे तिरोभूत होनेपर घटादिके नष्ट होनेका व्यवहार हुआ करता है । कहा जा सकता है कि पिण्ड-कपालादि घटादिके समान देशवाले होनेके कारण आवरण नहीं हो सकते; क्योंकि तम और कुड्यादि (दीवार) आवरण घटादिसे भिन्न देशवाले होते हैं अर्थात् आवृतके देशसे भिन्न देशवाला ही आवरण होता है, परंतु पिण्ड-कपाल आदि तो सर्वथा आवृतके ही देशवाले होते हैं । यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षीर जलके समान देशमें रहकर भी जलका आवरक रहता है । समानदेशत्व आवरणका बाधक है—इसका क्या अभिप्राय है ? एकाश्रयाश्रितत्व या एककारणत्व ? अर्थात् जो दो वस्तु एक आश्रयमें आश्रित होते हैं उनमें एक दूसरेका आवरक नहीं होता । अथवा जिन दो वस्तुओंका एक ही कारण होता है उनमें एक दूसरा आवरक नहीं होता । इनमें पहला पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि एकाश्रयाश्रित होनेपर भी क्षीरके द्वारा क्षीरमिश्रित जलका आवरण होता ही है, तथा दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि कार्यभेदसे कारणका भेद होता है । अतः घटादिके कारण मृदादि अवयवोंसे कपालादिके कारण मृदादिके अवयवोंका भेद होता है । अतः एककारणत्व असिद्ध है अर्थात् यदि घट अवस्थावाली मृत्तिकामात्रमें रहनेवाले कपाल आदिके घटका अनावरण कहें तो यह अभीष्ट ही है । परंतु यदि अव्यक्त घटावस्थावाली मृत्तिकामें रहनेवाले कपालादिको अनावरणत्व कहना चाहते हैं तो यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यहाँ घट और कपालादिके कारण मृदादि अवयवोंका भेद ही है ।

कहा जा सकता है कि फिर तो आवरणाभावके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये, घटोत्पत्तिके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि आवरण-विनाशमात्रके प्रयत्नसे ही घटकी अभिव्यक्ति होती है । क्योंकि तम आदि आवृत घटादिके प्रकाशके लिये दीपादिकी उत्पत्तिका भी प्रयत्न देखा ही जाता है, भले ही वह प्रयत्न भी तमके निराकरणार्थ ही हो । तमके हटनेपर स्वयं ही घट उपलब्ध होता है । तथापि प्रकाशवान् ही घटका उपलम्भ होता है । इस तरह तमके निरावरणसे अतिरिक्त भी प्रदीपोत्पत्तिका प्रकाशविशिष्ट घटका उपलम्भ हो यह विशिष्ट प्रयोजन सिद्ध होता है । इस तरह घट-प्रागभावका यह मतलब नहीं कि उत्पत्तिके पहले घटस्वरूप ही नहीं । अत्यन्ताभाव, प्रागभावादि यदि अपने प्रतियोगि घटादिसे अत्यन्त भिन्न हों तो घटादिकी अनाद्यनन्तता और अद्वितीयता सिद्ध होगी । यदि सद्रूप हों तो फिर अभाव ही नहीं रह जायँगे, क्योंकि भाव और अभावकी परस्पर सङ्गति नहीं होती ।

कहा जाता है कि अभाव प्रसिद्ध वस्तु है । जैसे भावका अपलाप नहीं किया जा सकता वैसे ही अभावका भी, परंतु विचारणीय विषय यह है कि

वह अभाव क्या है ? घटका स्वरूप ही है या अर्थान्तर ? यदि प्रथम पक्ष कहें तो ठीक नहीं; क्योंकि यदि घटस्वरूप ही हो तो घटके द्वारा उसका व्यपदेश कैसे हो ? अर्थात् अभेदमें घटका प्रागभाव इस रूपसे भेदमूलक सम्बन्ध व्यवहार कैसे होगा ? यदि कहा जाय कि कल्पित सम्बन्धको ही लेकर व्यवहार बनता है तो भी यही कहना पड़ेगा कि कल्पित अभावका ही 'घटस्य प्रागभावः' इस रूपसे व्यवहार होता है। घटस्वरूपका घटसे व्यपदेश नहीं बन सकता। यदि कहा जाय कि घटाभाव घटसे अर्थान्तर है तो वह घटसे अर्थान्तर कारणरूप ही हुआ तथा च घटप्रागभाव घटकारणरूप ही ठहरा।

अभिव्यञ्जकके व्यापार होनेसे नियमेन घटकी अभिव्यक्ति होती है, अभिव्यञ्जक व्यापार न होनेसे नहीं। इस तरह अन्वयव्यतिरेकसे घटादि कार्योंके लिये कुलालादि-व्यापार सार्थक होते हैं। उस व्यापारसे आवरण-भङ्ग आर्थिक रूपसे हो जाता है। कारणमें वर्तमान एक कार्य इतर कार्योंका आवरक होता है। यदि घटादिके पूर्वाभिव्यक्त पिण्डादि कार्य या घटध्वंसके पश्चात् अभिव्यक्त कपालादि कार्यके विनाशका ही प्रयत्न किया जाय तो चूर्णादि भी कार्य उत्पन्न होंगे। उन कार्योंसे भी घट आवृत ही रहेगा। अतएव घटाभिव्यक्तिके लिये नियत कारण व्यापार अपेक्षित होता है। 'अतीतो घटः, अनागतो घटः' ये दोनों बुद्धियाँ भी वर्तमान घटबुद्धिके समान ही विद्यमान वस्तुका ही आलम्बन करती हैं। इसीलिये अनागत वस्तुके लिये अर्थियोंकी प्रवृत्ति होती है। यदि खपुष्पवत् अनागतादि वस्तु अत्यन्त असत् हों तो उनमें अर्थियोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

'इह कपालेषु घटो भविष्यति' इन कपालोंमें घट होगा। यह प्रतीति प्रागभावकी प्रतीति कही जाती है। इस मिट्टीसे घट होगा इस विश्वाससे ही कुलालादि प्रवृत्त होते हैं। घटनिर्माणार्थ प्रवृत्त कुलालादिके व्यापार-कालमें 'घटः असत्' इस वाक्यका यदि इतना ही अर्थ है कि जैसे कुलालादि वर्तमान है उस प्रकारसे घट वर्तमान नहीं है। तब तो ऐसे असत्का कोई विरोध नहीं; क्योंकि घट तो भविष्यद्रूपसे ही वर्तमान है। पिण्ड या कुलालादिकी जैसी वर्तमानता है, वैसी वर्तमानता घटकी नहीं है; क्योंकि पिण्डकी वर्तमानता और घटकी वर्तमान दशामें घटोत्पत्तिके पहले घट असत् अर्थात् कुलालादिकी तरह वर्तमान नहीं है, इस कथनका कोई विरोध नहीं। परंतु घटकी जो भविष्यत्ता विशिष्ट कार्यरूप घट असत् इस व्यवहारसे उसका प्रतिषेध नहीं हो सकता। चतुर्विध अभावोंमें जैसे घटान्योन्याभाव घटसे भिन्न पटादिरूप ही है, 'घटस्वरूप ही नहीं; पट घटाभाव स्वरूप होनेपर भी अभावात्मक नहीं होता किंतु भावरूप ही रहता है। इसीलिये कहा गया है कि 'स्वरूपपररूपाभ्यां सर्वं सदसदात्मकम्।' इसी प्रकार घटके प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभावकी भी घटसे भिन्नता और भावरूपता ही कहनी चाहिये।

इस तरह विकसित बीजमें अन्तर्विरोध, वर्गभेद, वर्गसंघर्ष एवं वर्ग-विध्वंसरूपी वाद-प्रतिवादके अङ्कुरका फलपर्यन्त विकास होना और उससे पुनः उसी प्रकार अङ्कुरान्तररूपी विकासान्तरकी उत्पत्ति यद्यपि किसी अंशमें इष्ट है तथापि भूतोंकी उत्पत्तिमें यह नियम व्यभिचरित है। आकाशसे वायुकी उत्पत्ति होती है, फिर भी आकाश बना रहता है। वायुसे तेजकी उत्पत्ति होनेपर भी वायु नष्ट नहीं हो जाती, इसी प्रकार तेजसे जल एवं जलसे भूमि उत्पन्न होनेपर भी कारण बने ही रहते हैं। कार्यके विकासान्तर होनेपर प्रथम विकास समाप्त हो जानेका नियम सर्वथा अदृष्ट है। वृक्षसे फलोंके विकसित होनेपर भी वृक्षोंके नष्ट होनेका नियम नहीं है। मनुष्य, पशु आदिसे मनुष्य, पशु आदिकी उत्पत्ति होनेपर भी कारणका विनाश नहीं होता। भूत भी सावयव होनेसे कार्य है। जो-जो भी सावयव होता है, घटादिके समान कार्य ही होता है। साथ ही जो भी कार्य है, उसे सकर्तृक एवं सोपादान भी होना चाहिये। कर्ता चेतन होता है, इस दृष्टिसे ईश्वरसिद्धि होती है एवं कार्यकी अपेक्षा उपादान व्यापक, शुद्ध एवं नित्य होता है, इस दृष्टिसे कार्यकी अपेक्षा कारणकी अनश्वरता, स्वच्छता एवं व्यापकताका ही निर्णय होता है। इस तरह पृथ्वी जलसे, जल तेजसे, तेज वायुसे एवं वायु आकाशसे उत्पन्न होता है, यह श्रुतियों एवं युक्तियोंसे सिद्ध है। यहाँ वाद-प्रतिवाद, समन्वय आदिका सिद्धान्त व्यभिचरित एवं अत्यल्पदेशीय ही सिद्ध होता है।

पाश्चात्त्य वैज्ञानिक कहते हैं 'कि गणितशास्त्रके किसी अङ्क चिह्नको लीजिये '+क'। इसका प्रतिषेध है '—क'। यदि '—क' से गुणाकर हम इसका प्रतिषेध करते तो इसका फल होता है 'क^2'। प्रतिषेधके प्रतिषेधसे मूल अङ्क फिर लौट आया, लेकिन और ऊँचे स्तरपर अपने वर्गफलके रूपमें। इसमें कोई हानि-की बात नहीं है। यही नतीजा क और क के गुणासे भी प्राप्त होता है; क्योंकि 'क' के वर्गमूलमें सदा दोनों अङ्क रहते हैं 'क' और 'क'। संख्याणुगणितके द्वारा किसी गणितकी समस्याका हल तो इसका और भी अच्छा उदाहरण है। दो अङ्क चिह्न 'क' और 'ख' ले लीजिये। जिनके परिवर्तनका आपसी सम्बन्ध निर्धारित है। यानी किसी एकमें परिवर्तन हो तो दूसरेमें परिवर्तनका स्थिरीकरण उस उक्त सम्बन्धसे हम कर सकते हैं। यदि हम दोनोंका प्रतिषेध करें तो घटते-घटते ये दोनों अङ्क नहींके बराबर हो जाते हैं। लेकिन उनका पूर्व सम्बन्ध ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इसको अङ्कमें हम यों रख सकते हैं। $\frac{\text{संख्याणु}+\text{'क'}}{\text{संख्याणु}+\text{'ख'}}$ लेकिन यह सम्बन्ध बराबर है, $\frac{\text{क}}{\text{ख}}$ के अब इस प्रतिषेधके द्वारा जब हम उस समस्याको हल कर लेते हैं, तो हम फिर मूल अङ्कपर उपनीत होते हैं। पूर्व प्रतिषेध-का प्रतिषेध और समस्याका हल हो गया।'

उपर्युक्त उदाहरण भी वस्तुतः प्रतिषेधके प्रतिषेधका नहीं। धन-ऋणका बढ़ाव-घटावके रूपमें विरोध होनेसे यद्यपि धनका प्रतिषेध ऋणको कहा जा सकता है, ऋणके गुणनसे निकलनेवाले फलभूत वर्गफल संख्याको भी प्रतिषेधका प्रतिषेध कहा जा सकता है। परंतु केवल वह धनके रूपमें ही मूल संख्याके रूपमें है, वस्तुतः उसका रूप पृथक्-पृथक् है। जैसे अङ्कुर-कारणभूत यवका दाना और अङ्कुरका फलभूत यवके दाने पृथक्-पृथक् हैं।

संख्याणुगणितका भी उदाहरण, इस सम्बन्धमें अनुकूल नहीं है। मूलका प्रतिषेध शून्यवत् 'क' अवश्य प्रतिषेधका प्रतिषेध है। उनके निर्धारित परस्पर सम्बन्धके आधारपर उसके प्रतिषेधसे मूलपर पहुँचते हैं, परंतु यह अपेक्षा-बुद्धि-की ही कलाबाजी है। इससे प्रतिषेधके प्रतिषेधसे प्रतियोगी सत्त्व-व्यवस्थापन-जैसी कोई चीज नहीं निकलती। एक अपेक्षा-बुद्धिसे वही वस्तु पहली या दूसरी, छोटी या बड़ी हो सकती है, परंतु वस्तुतः वह विरोधात्मक नहीं हो सकती।

ऐतिहासिक द्वन्द्ववाद

कहा जाता है कि 'इतिहासके लिये भी यही बात लागू है। सब सभ्य जातियोंका, जो एक निर्दिष्ट अवस्थाको पार कर चुकी हैं। आरम्भ भूमिके सामृद्धिक स्वामित्वसे होता है। कृषिके विकासके लिये एक स्तरपर भूमि-का सामूहिक स्वामित्व उत्पादन-क्रियाके लिये बाधकस्वरूप बन जाता है। इसका अन्त किया जाता है, इसका प्रतिषेध होता है और कुछ बीचके स्तरोंको पारकर व्यक्तिगत सम्पत्तिमें रूपान्तरित हो जाता है, व्यक्तिगत सम्पत्तिसे ही कृषिका ऊँचे स्तरपर विकास होता है, लेकिन व्यक्तिगत सम्पत्ति ही आगे चलकर कृषि-उत्पादनकी क्रियाके लिये बाधकस्वरूप हो जाती है। अब इसके प्रतिषेध-की ओर भूमिपर सामूहिक स्वामित्वकी माँग होने लगती है, लेकिन यह मूल-रूपसे बहुत भिन्न होगा, जिसमें आधुनिक आविष्कारोंका पूरा उपयोग किया जा सकेगा।'

पर यह कहना भी सङ्गत नहीं है। भूमिपर सामूहिक स्वामित्व ऐतिहासिक नहीं है। ईश्वर-निर्मित भूमि ईश्वरकी थी। बलिकी पत्नी विन्ध्यावलिने भगवान् वामनसे कहा था कि आपने क्रीडाके लिये ही जगत्की रचना की है, परंतु दुर्बुद्धि-लोग उसे अपना समझने लगते हैं। आप सर्वकर्ता हैं, आपहीद्वारा जीवोंमें भी कर्तृत्व सफल होता है, फिर बलि आदि आपको क्या दे सकते हैं—

क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते
स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः।
कर्तुः प्रभोस्तव किमस्यत आवहन्ति
त्यक्तह्रियस्त्वदवरोपितकर्तृवादाः॥

(श्रीमद्भा० ८। २२। २०)

ईश्वरके उत्तराधिकारी ब्रह्मा, इन्द्र, मनु आदि हुए। धर्म-नियन्त्रणकी स्थिति कमजोर पड़नेपर मात्स्यन्याय-निराकरणके लिये जनताने मनुको शासक बनाया। तदनन्तर विभिन्न व्यक्ति भी व्यष्टिभूमिके ही स्वामी हुए। प्राणियोंका कर्मद्वारा सृष्टिमें हाथ होता है, कर्मोंके अनुसार ही और भोग-साधन प्राप्त होते हैं। हिरण्यगर्भ, मनु आदिको कर्मानुसार समष्टि-भोग-साधन मिलते हैं, सामान्य जीवोंको भी व्यष्टि-भोगसाधन भी कर्मोंके अनुरूप ही मिलते हैं। कोई वस्तु ईश्वर या प्रकृतिद्वारा निर्मित है, एतावता वह सबकी है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। एक स्त्री भी प्रकृतिद्वारा निर्मित होती है, तो भी उसपर माता-पिताका ही स्वत्व होता है। पश्चात् उनके द्वारा दिया हुआ स्वत्व पति आदिको मिलता है, या स्वयं वह जिसे स्वत्व समर्पण करती है, उसे मिलता है।

जिस रूपमें भूमि, आकाशादिपर कभी सामूहिक स्वामित्व था, उस रूपमें आज भी है ही। भूमिपर सभी प्राणियोंको जीवित रहने, चलने-बैठने, श्वास लेने, अवकाश ग्रहण करनेका अधिकार सदा मिला, आज भी है। परंतु विशिष्ट-रूपसे भूमिका स्वामित्व भूमिपतिका ही है। भूमिपतिद्वारा दिया हुआ सीमित भूमि-पतित्व अन्यलोगोंको भी प्राप्त हुआ। इसीलिये भूमिकर देनेकी प्रथा है। यह कोई भी व्यवस्था सर्वथा आगन्तुक एवं नवीन नहीं है। व्यक्तिगत सम्पत्तिसे ही कृषिका जैसे ऊँचे स्तरपर विकास हुआ, इसी प्रकार आगे भी व्यक्तिगत भूमिका अपहरण किये बिना उसका उच्चतम विकास हो सकता है। अमेरिका आदिमें भी वैसा ही विकास हो रहा है। बड़े कामोंके लिये सहकारिताके आधारपर सम्भूयोत्थान (सम्मिलित कृषि, व्यापारादि) पहले भी होता था, यह अन्यत्र दिखाया गया है, वैसे ही अब भी हो रहा है, आगे भी हो सकेगा। अतः भूमि, सम्पत्ति आदिका अपहरण प्रतिषेधके प्रतिषेधका उदाहरण नहीं हो सकता है।

उन्नत साधनोंसे फलमें उन्नति होती है। इस दृष्टिसे जब भी पहले या पीछे उन्नत साधन होते हैं तब कृषि उन्नत होती है। आज भी जहाँ उन्नत साधन नहीं मिलते, वहाँ खेतीका वही निम्नरूप है। अनेक स्थानोंमें आज भी सामूहिक खेतियोंसे व्यक्तिगत खेतियाँ उच्चकोटिकी होती हैं। दूसरी दृष्टिसे अन्न, फल आदिकी उत्पत्ति और अच्छाई तथा मात्रा पहले बहुत अच्छी थी, अब कम अच्छी है। जिन खेतोंमें पहले बीस मन अन्न पैदा होता था, उनमें आज पाँच मन भी उत्पन्न नहीं होता। पशुओं, मनुष्योंकी भी जैसी बुद्धि, शक्ति, आकार, बल-पराक्रम हजारों वर्ष पहले था, उससे आज ह्रास ही है। मनुष्योंके पुराने अस्थिपञ्जर तथा प्राचीन तलवारों और भालोंके बृहत् आकार इसके साक्षी हैं।

समाजवादी कहते हैं कि 'यह बात इतिहाससे सिद्ध है कि पारिवारिक और वैयक्तिक सम्पत्ति एकत्रित करनेके नियम चलनेसे पहले मनुष्य हजारों वर्षतक श्रेणी-

भेदके बिना आदिम समष्टिवादकी अवस्थामें रहा है', पर यह ऐतिहासिक तत्त्व आधुनिक लोगोंका स्वगोष्ठिनिष्ठ सिद्धान्तमात्र है। संसारके सबसे प्राचीन इतिहास महाभारत और रामायण हैं, जिनकी बहुत कुछ सत्यता मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पाके भूगर्भसे मिली हुई वस्तुओंसे सिद्ध होती है। उन आर्ष इतिहासों एवं अपौरुषेय वेदादि शास्त्रोंसे सिद्ध है कि न केवल मनुष्योंमें ही किंतु देवताओं, पशुओं, वृक्षोंमें भी ब्राह्मण आदि भेद सृष्टिकालसे ही है। अवश्य यह श्रेणी-भेद शोषक तथा शोषितके आधारपर नहीं हुआ, किंतु धर्मके आधारपर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि श्रेणी-भेद और उसके अनुसार ही श्रौत-स्मार्त धर्म एवं जीविकाओंके विधान हुए, 'न वै राज्यं न राजासीन्न च दण्ड्यो न दाण्डिकः' (महा० शा० ५९। १४) आदि पूर्वोक्त सर्वोत्कृष्ट धर्म-नियन्त्रणके युगमें भी धर्म तथा ब्राह्म आदि श्रेणियोंकी सत्ता थी ही।

'पुराकालमें सब ब्राह्मण ही थे, क्षत्रिय आदि न थे। स्त्रियाँ भी विवाहित न होती थीं, सम्पत्ति सामूहिक होती थी।' आदि बातें भी अत्यन्त असङ्गत हैं। अनादि सृष्टि-संहारकी परम्परामें मूलभूत धर्मपरम्परा भी अनादि है। तन्मूलक वर्णाश्रम-धर्म, पातिव्रत्यादि-धर्म भी अनादि ही हैं। कभी भी उत्पत्ति-क्रममें कार्योत्पत्तिके पहले कारण ही रहता है, वायुकी उत्पत्तिके पहले आकाश था ही। क्रम-वर्णनमें क्षत्रिय आदि उत्पत्तिके पहले ब्राह्मण ही थे, विवाह होनेके पहले स्त्रियाँ आज भी अविवाहित होती हैं। आज भी घट बननेके पहले मृत्तिका ही रहती है, परंतु इससे ब्राह्मणादि वर्णों तथा विवाहादि धर्मोंकी अनादितामें कोई बाधा नहीं आती। अतएव इन सबोंका उत्पत्ति-क्रम-वर्णनमें ही तात्पर्य है। आकाशसे वायु, वायुसे तेज एवं तेजसे जल तथा जलसे पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। यह कहा जा सकता है कि पृथ्वी, जलके उत्पत्तिके पहले तेज ही था, तेजसे भी पहले वायु ही था, वायुसे भी पहले आकाश था और कुछ नहीं था। उसी तरह भगवान्‌की मुखशक्तिसे ब्राह्मणकी उत्पत्तिके पश्चात् बाहुकी शक्तिसे क्षत्रियकी उत्पत्ति हुई। अतः उदर या ऊरुसे वैश्य, पादसे शूद्रकी उत्पत्ति हुई। उत्पत्तिक्रममें पौर्वापर्य होता ही है, उसीमें अभावका व्यवहार होता है। जब कि अनादि वेदोंद्वारा ही प्रतिकल्पकी सृष्टि होती है और अनादि वर्णाश्रम-धर्मका प्रतिपादन होता है। अनादि ही पातिव्रत-धर्मका प्रतिपादन है, तब अमुक वर्ण या अमुक धर्म पहले नहीं था—इत्यादि कल्पनाएँ निराधार एवं अप्रमाणित हैं।

जीव ईश्वरके समान ही धर्माधर्म भी अनादि हैं। तदनुसार ही तद्बोधक शास्त्र एवं तदनुयायी वर्णाश्रम-धर्म भी अनादि हैं। ब्राह्म आदि विवाहोंसे सवर्णामें उत्पन्न ही ब्राह्मणादि वर्ण हैं, अतः विवाह आदि सभी अनादि हैं। श्वेतकेतु आदिकी कथाएँ गुणवादसे लक्ष्यार्थमें पर्यवसित हैं, वाच्यार्थमें नहीं। अर्थात् कुन्तीको देवताओंसे संतानोत्पादनमें प्रवृत्त करनेके लिये यह अर्थवाद है और अर्थवाद भी

जहाँ प्रमाणान्तरसे विरुद्ध अर्थका प्रतिपादक होता है, वहाँ भूतार्थवाद न होकर गुणवाद ही होता है अर्थात् उसका वाच्यार्थमें कुछ भी तात्पर्य न होकर प्रशंसा या निन्दाद्वारा प्रवृत्ति या निवृत्तिमें ही तात्पर्य होता है । सिद्धान्ततः ह्रास-विकासका चक्र ही सिद्ध है । तदनुसार कभी ब्राह्मणोंकी बहुलता, कभी शूद्रोंकी बहुलता होती है, अर्थात् कभी ज्ञान-विज्ञानप्रधान मनुष्योंकी बहुलता होती है, कभी शिल्पादि कर्म-प्रधान मनुष्योंकी—

यथा कृतयुगे पूर्वमेकवर्णमभूत् किल ।
तथा कलियुगस्यान्ते शूद्रीभूताः प्रजास्तथा ॥
(मत्स्यपुराण अध्याय १४३ । ७८)

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'दर्शनके क्षेत्रमें स्वयं द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ही एक ऐसा उदाहरण है । पहलेके भौतिकवादका प्रतिषेध हुआ आदर्शवाद, और इस आदर्शवादका प्रतिषेध हुआ फिर भौतिकवाद । लेकिन यह भौतिकवाद यान्त्रिक भौतिकवाद नहीं, बल्कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद है । दार्शनिक क्षेत्रमें एक और उदाहरण है, रूसोके समतावादका तथ्य । रूसोके अनुसार प्राकृतिक बर्बर-युगमें सब मनुष्य समान थे । रूसो भाषाको भी इस प्राकृतिक अवस्थाका विकार मानता है, उसके अनुसार एक ही जातिके पशुओंके बीचकी समताको उन पशु-मनुष्योंके लिये भी लागू करना चाहिये जिनको हैकलने एक आनुमानिक श्रेणीयुक्त किया है, आलालीमूक । लेकिन इन पशु-मनुष्योंको अन्य पशुओंकी अपेक्षा एक सुविधा थी उन्नतिकी शक्ति और यही असमताका कारण थी । इसलिये असमतामें भी रूसो उन्नतिका कारण देखता है । लेकिन यह उन्नति विरोधपूर्ण थी । यह साथ-ही-साथ अवनति भी थी । उन्नतिका मार्ग यही था कि मनुष्य व्यक्तिगतरूपसे पूर्णताकी ओर कदम बढ़ाता, लेकिन यही कदम मनुष्य-जातिके लिये अवनतिका भी कदम था । सभ्यताका हर एक कदम असमताकी ओर अग्रसर होता था । यह निर्विरोध सत्य है और वैधानिक नियमका मूल सत्य भी है कि लोग सरदारोंको चुनते हैं अपनी स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिये न कि उसका अन्त करनेके लिये । फिर भी ये सरदार अवश्य ही लोगोंको सतानेवाले बन जाते हैं और यहाँ तक सताते हैं कि यह असमता चरम सीमापर पहुँचकर अपने विपरीत बन जाती है और समताका कारण बन जाती है; क्योंकि निरङ्कुश शासकके सामने सब समान हैं, सब शून्य हैं । लेकिन यह शासक तभीतक प्रभु है जबतक वह जबरदस्त है और जब वह निकाला जाता है तब जबरदस्तीकी शिकायत नहीं कर सकता । शक्ति ही उसकी प्रभुता बनाये रखती है । अन्तमें शक्तिसे ही उसका पतन होता है । सब प्राकृतिक और सही रास्तेपर ही चलते हैं । इस प्रकार असमता फिर एक बार समतामें रूपान्तरित हो जाती है । लेकिन यह मूक प्राथमिक मनुष्य-की प्राकृतिक समता नहीं है, यह समाजकी उन्नत समता है । सतानेवाले सताये-जानेवाले हो जाते हैं; प्रतिषेधका प्रतिषेध हो जाता है ।'

उपर्युक्त कथन भी असङ्गत ही है; क्योंकि किसी भी शास्त्रार्थमें जब एक पक्षका खण्डन होता है तब वह दूसरे प्रकारसे अपने खण्डित पक्षका समर्थन करता है। जैसे द्वैत-अद्वैत पक्षके ही शास्त्रार्थकी बात लीजिये। श्रीमध्वके द्वैतका खण्डन मधुसूदनने 'सिद्धान्तबिन्दु' ग्रन्थके द्वारा किया। उसका खण्डन करके 'न्यायामृत'-द्वारा पुनः द्वैतका प्रतिष्ठापन हुआ। उसका खण्डन पुनः 'अद्वैतसिद्धि' द्वारा हुआ। पुनश्च 'न्यायामृत-तरङ्गिणी' द्वारा उसका प्रतिष्ठापन हुआ, पुनश्च 'गौड़ब्रह्मानन्दी' द्वारा उसका खण्डन हुआ, 'न्यायभास्कर' द्वारा पुनः प्रतिष्ठापन हुआ। 'न्यायेन्दुशेखर'-द्वारा पुनः खण्डन होनेपर पुनः प्रतिष्ठापनार्थ प्रयत्न हुआ, परंतु एतावता उनके पहलेके द्वैत और अद्वैतसे पिछले द्वैत-अद्वैतमें कोई भेद नहीं हुआ। इसी तरह जडवाद एवं भौतिकवादका भले ही सहस्रों बार खण्डन तथा मण्डन हो तथापि वस्तुत्वमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। ऐसे प्रतिषेधके प्रतिषेधको प्रतिप्रसव कहा जाता है। दर्शनशास्त्रोंमें सिद्धान्ततः भी इसके उदाहरण मिलते हैं। जैसे संन्यासका विधान, पुनश्च कलियुगके लिये निषेध, पुनश्च कलिमें भी वर्णविभाग वैदिकधर्म-प्रवृत्ति-पर्यन्त विधानद्वारा प्रतिषेधके प्रतिषेध होनेसे विधानका प्रतिप्रसव होता है। यह निर्दोष उदाहरण है। इसी प्रकार व्याकरणकी दृष्टिसे राम शब्दके प्रथमा या द्वितीयाके द्विवचनमें 'राम औ' इस स्थितिमें 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि प्राप्त होती है। उसका बाधकर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त होता है। पुनश्च 'नादिचि' से उसका बाध होकर 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि हो जाती है। तब 'रामौ' शब्द बनता है।

भौतिकवाद एवं आदर्शवादके तत्त्वोंमें कोई भी अन्तर नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः पहले भौतिकवादका खण्डन हो गया था और अब वह पुनः सिद्ध ही हो गया है। रूसो हैकेल आदिकोंके मनःकल्पित इतिहासकी अपेक्षा ऋषियोंके आर्ष इतिहासका महत्त्व कहीं अधिक है। तदनुसार सृष्टिकालके वशिष्ठ, अत्रि आदि उच्चकोटिके महामानव थे। उनके धर्म, योग, वेदान्त आदिके सिद्धान्त आजके सभ्य कहे जानेवाले नरपशुओंको दुर्विज्ञेय ही हैं। उनमें जो आध्यात्मिक समता थी, वह आज भी है।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५।१८)

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

(गीता ६।९)

विद्वान् सदा ही सर्वत्र समब्रह्मका दर्शन करता है, यही समता है। शरीर-बुद्धि या कर्म अथवा उसके फलकी दृष्टिसे न कभी समता थी, न होनेवाली है।

पशुतुल्य मनुष्य असंस्कृत मूक तभी होता है जब उसका सद्गुरु-सम्बन्ध नहीं होता। आज भी यह बात स्पष्ट है। जहाँ शिक्षण है, वहाँ ज्ञान-विद्या विकसित होती है; जहाँ शिक्षण नहीं है, वहाँ विकास नहीं होता। ईश्वरने ब्रह्माको नियुक्त करके उसे नित्य वेदोंका उपदेश दिया—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। (श्वेता० उप० ६। १८)

ब्रह्माने सनकादिको एवं मरीचि आदिकोंको उत्पन्न करके उन्हें वेदादि शास्त्रोंका उपदेश किया है। जिन मनुष्योंका प्रमादवश उक्त सम्पर्क टूट गया, वे ही पशुतुल्य हो गये हैं।

हाब्स, लाक, रूसो आदिकी कल्पनाएँ परस्पर भी टकराती हैं। हाब्सके मतानुसार 'आदिम प्राणी समताकी स्थितिमें नहीं था, किंतु खूँखार था।' लाकका 'आदिम मनुष्य बहुत नेक था', रूसोका भी ऐसा ही था। सुकरातके अनुसार 'मनुष्य स्वभावसे ही सामाजिक प्राणी है' इनके अनुबन्धीय राज्यको भी अन्य दार्शनिक अनैतिहासिक कहते हैं। हैकलका अनुमान केवल उसका दिमागी फितूर ही है। मनुष्यों एवं पशुओंके वैषम्यका कारण उनके जन्मान्तरीय कर्म मानने पड़ेंगे। निर्हेतुक शक्तिवैषम्यकी उपपत्ति हैकलके पास कुछ नहीं है। मनुष्योंमें भी कर्मतारतम्यसे ही उन्नतिकी शक्तिमें तारतम्य होता है और इसका भी अन्तिम उद्देश्य है उस आध्यात्मिक स्तरपर समता स्थापित करना, जिससे अधिक उन्नति हो ही नहीं सकती।

व्यक्तिगत उन्नतिकी ओर कदम बढ़ाना कभी भी अवनतिका कारण नहीं होता। व्यक्तिका समुदाय ही समाज है, व्यक्तिगत उन्नतिसे समाजकी उन्नति सुतरां सम्भव होती है। उन्नति एवं सभ्यताका कोई भी कदम अवनतिका कदम नहीं है। क्या कोई विद्वान् बलवान् बनता है, एतावता किसीका नुकसान होता है? इतनी सहज-सी चीजको आधुनिक सभ्योंने कितने उल्टे रूपमें ग्रहण किया है? यदि किसी ऊँचे स्थानपर १०० मनुष्य चढ़नेके लिये अग्रसर होते हैं और यदि कुछ आलसियों, दीर्घसूत्रियोंको पीछे छोड़कर कुछ लोग आगे बढ़ते हैं तो स्पर्धासे दूसरे भी आगे बढ़नेके लिये दीर्घसूत्रता और आलस्य छोड़ेंगे ही। अतः आगे कदम बढ़ानेसे यदि विषमता होती है, तो यह भी उन्नत स्तरपर समताकी ओर ले जानेका ही प्रयत्न है।

मुखिया, सरदार या राजाको सदा ही धर्मनियन्त्रित होना आवश्यक है। उच्छृङ्खल होना धर्महीनताका परिणाम है, सरदार या राजा होनेके कारण नहीं। धर्महीन राज्योंमें ही उच्छृङ्खल या निरङ्कुश शासन होते हैं; वेन, रावणादि इसके उदाहरण हैं। मनु, इक्ष्वाकु, नृग, नल, मान्धाता, राम, युधिष्ठिर आदि धर्मनियन्त्रित राजाओंमें निरङ्कुशताका लेश भी नहीं हो सकता था। समाजवादी ढंगकी समता उच्चकोटि

की होगी, यह उनके अपने घरकी ही कल्पना है। मुर्गों, कबूतरोंकी तरह साम्यवादी बन्धनमें मनुष्योंको सर्वथा परतन्त्र कर देना ही अगर समानता है, तो इससे कोई भी समझदार दूर ही रहना चाहेगा।

यदि प्रकृति ही सबको सही रास्तेपर चलाती है, तब तो संसारमें प्रचलित शिक्षण-व्यवस्था एवं दण्डविधान सब पागलपन ही ठहरेगा और समाजवादियोंका भी प्रचार और उपदेश सब व्यर्थ ही सिद्ध होगा। अतः इसे प्रतिषेधके प्रतिषेधका उदाहरण समझना व्यर्थ है। प्रतिषेध कभी भी कारण नहीं हो सकता है। यदि प्रतिषेध ही कारण है, तब तो अवश्य ही मसलकर, जलाकर भी जौके दानेका प्रतिषेध होता ही है, फिर उससे अङ्कुरकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? यदि विशिष्ट प्रतिषेधसे अङ्कुरकी उत्पत्ति है, तो कहना पड़ेगा कि वह प्रतिषेध नहीं है, किंतु परिणामोपयोगी विकारमात्र है, प्रतिषेध या विनाश अभावात्मक ही है, विशेषता प्रतियोगीमें ही हो सकती है, अभावमें नहीं; क्योंकि कार्यके लिये विशिष्ट कारणका अन्वेषण होता है, प्रतिषेध या अभावका अन्वेषण नहीं होता। अतः प्रतिषेधसे या प्रतिषेधके प्रतिषेधसे किसी भी विशिष्टकार्यसिद्धिकी कल्पना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त प्रतिषेधका प्रतिषेध भावात्मक ही होता है। जैसे किसीको भ्रमवशात् रजतमें अरजत-बुद्धि होती है। तब वह कहता है कि 'नेदं रजतम्', पुनश्च जब उसका बोध होता है तब उस प्रतिषेधका प्रतिषेध होता है—'इदं नारजतम्'। यह अरजत नहीं है, इसका फल होता है रजतका व्यवस्थापन।

प्रकृतिमें जिस बीजका प्रतिषेध होकर अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है, उस अङ्कुरके प्रतिषेधसे भी उस बीजका पुनः व्यवस्थापन नहीं होता। अतः वस्तुतः यहाँपर प्रतिषेधका प्रतिषेध हुआ ही नहीं। अङ्कुरको प्रतिषेधका फल किसी तरहसे कहा भी जाय, परंतु वह प्रतिषेधरूप नहीं हो सकता। और बीजको भी अङ्कुर प्रतिषेधका फल भले ही कहा जाय, परंतु अङ्कुरका प्रतिषेध अङ्कुर फल नहीं कहा जा सकता। अङ्कुरका कारणभूत बीज अन्य है, बीजसे अङ्कुरादि क्रमसे उत्पन्न फलरूप बीज उससे भिन्न होता है। पिता-पुत्रमें जैसे भेद होता है, वैसे ही प्रथम बीज एवं बीजजन्य फलभूत बीजोंमें भेद है। एक पिताके अनेक पुत्र होते हैं, वैसे ही एक बीजसे सैकड़ों फल उत्पन्न होते हैं। अतः यहाँ भी अन्तिम बीज प्रतिषेधका प्रतिषेध स्वरूप नहीं हो सकता। वस्तुतः प्रतिषेधके प्रतिषेधका व्यवहार वहीं होता है जहाँ प्रतिषेधके प्रतिषेधसे प्रथम प्रतिषेधके प्रतियोगिका सत्त्व-व्यवस्थापन किया जाता है। जैसे रजतनिषेधका निषेध करके रजतके सत्त्वका व्यवस्थापन किया जाता है।

कहा जाता है कि 'विचारजगत् और द्वन्द्वन्याय तर्कशास्त्रका साधारण नियम है, 'हाँ' 'हाँ' है और 'नहीं' 'नहीं'। इसके विपरीत द्वन्द्वमान कहता है कि

'हाँ' नहीं है और 'नहीं' हाँ है। ऊपरी दृष्टिसे द्वन्द्वमानकी भाषा बहुत ही विरोधपूर्ण है। लेकिन कुछ विचार करनेपर इसकी सत्यता प्रमाणित हो जायगी। तर्कशास्त्रके तीन बुनियादी नियम हैं। १. एकताका नियम, २. विरोधका नियम और ३. मध्यपरिहारका नियम। पहले नियमके अनुसार 'क' है, या 'क'='क' दूसरा नियम पहले नियमका नकारात्मकरूप है। इसका रूप है 'क' नहीं है=न 'क'। तीसरे नियमके अनुसार किसीके लिये दो विरोधी गुण एक साथ नहीं हो सकते, वास्तवमें या तो 'क', 'ख' है या 'क', 'ख' नहीं हैं। यदि इनमेंसे एक बात सत्य है तो दूसरी असत्य है और दूसरी सत्य है तो पहली असत्य है। इनके मध्यमें कोई बात नहीं हो सकती।

'युबेरवेगके निर्देशानुसार दूसरे और तीसरे नियमोंको इस प्रकार मिलाया जा सकता है। किसी विशिष्ट प्रश्नका, किसी वस्तुविशेषका अमुक गुण है या नहीं ? उत्तर हो सकता है 'हाँ' या नहीं। 'हाँ' और 'ना' दोनोंमें उसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। इन नियमोंमें कोई भूल नहीं मालूम पड़ती। फिर द्वन्द्वमानका नियम क्योंकर सही है ? प्रकृतिमें ही इसका उत्तर मिल जाता है, जिसका विवरण पहले दिया जा चुका है और अभी आगे चलकर फिर दिया जायगा। अतिभौतिक विचारप्रणालीकी जो कि तर्कशास्त्रमें मिलती है, गड़बड़ी यह है कि व्यष्टि और समष्टि, इकाई और समूह—सबको एक साथ मिला दिया जाता है। इसी प्रकार निश्चित परिमाणोंमें हाइड्रोजन, उद्रजन और आक्सीजनके मिश्रणसे पानी बनता है। आधिभौतिकवादके लिये पानीमें अम्लजन और उद्रजनका पृथक् अस्तित्व बना रहता है। केवल तर्कन्यायमें पानी तथा अम्लजान और उद्रजनका एकीकरण होता है। यह रहस्यमय कल्पना है। इससे यह परिणाम निकलता है कि अम्लजन और उद्रजन तथा पानी—सभी एक साथ आसपास रहते हैं और अनन्त कालतक रहेंगे।'

वस्तुतः पाश्चात्य अतिभौतिकवाद भी भौतिकवादके समान ही निस्तत्त्व है। वास्तविक अध्यात्मवाद एवं तर्क वेदान्तके सिद्धान्त बिना समझे हुए मार्क्सवादी उसके खण्डनकी निरर्थक चेष्टा करते हैं। अध्यात्मवादी जब कहता है, सत् सत् ही है असत् नहीं, असत् असत् ही है सत् नहीं, तब उसका तात्पर्य है कि कोई वस्तु उसी रूपसे उसी दृष्टिसे सत् एवं असत् दोनों नहीं हो सकती। इसी आधार-पर अनेकान्तवादका खण्डन किया जाता है। सभी देशकालमें व्यभिचरित वस्तु ही है; किसी देशकालमें व्यभिचरित वस्तु असत् है। मृत्तिकाविकार घटादिमें मृत्तिका अव्यभिचरितरूपसे विद्यमान होती है। अतः वह घटादिकी अपेक्षा सत् है। परंतु मृत्तिकाका कारण जल है, जलकी अपेक्षा मृत्तिका असत् है। उसकी

अपेक्षा जल सत्, परंतु सर्वकारणं, स्वप्रकाश, अखण्डबोधस्वरूप सत् सर्वदेश, काल तथा वस्तुओंमें अव्यभिचरित होनेसे निरपेक्ष सत् है। तद्भिन्न सब वस्तु असत् ही है। यदि सत्-असत्की अव्यवस्था हो तो किन्हीं भी सिद्धान्तों, मन्तव्यों अर्थात् अनेकान्तवाद या मार्क्सवाद एवं द्वन्द्ववादके सम्बन्धमें भी वही बातें लागू होंगी। मार्क्सवाद भी एकान्ततः सत्य नहीं है। किसी रूपमें सत् है, अन्य रूपोंमें असत् भी है। फिर अनिश्चित सिद्धान्तमें किसीकी प्रवृत्ति कैसे होगी ? अपेक्षा-बुद्धिसे भाव-अभावकी एकत्र स्थिति तो भारतीय दर्शनोंमें अधिक प्राचीनकालसे मान्य है—

भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया।

अर्थात् किसी अपेक्षासे दूसरा भाव ही अभाव है। जैसे घटघट-रूपसे भाव होनेपर भी पटरूपसे अभाव भी है। इसीलिये स्वरूप-पररूपसे हरेक वस्तु सत्, असत्, उभयात्मक है—

स्वरूपपररूपाभ्यां नित्यं सदसदात्मकम्।

परंतु इतने मात्रसे सत्-असत्का अविरोध नहीं कहा जा सकता। स्वरूपसे सत् असत् नहीं हो सकता। अन्यरूपसे सत्का असत् होना यह अपेक्षाबुद्धिकृत है। नियम तभी निर्दोष होता है जब वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव दोषोंसे मुक्त हो। विचित्र संसारमें गुणधर्मकी विचित्रता स्वाभाविक है। केवल कतिपय स्थलोंमें सहचार-दर्शनमात्रसे व्याप्ति नहीं होती। पार्थिवत्व एवं लोह लेख्यत्वका सर्वत्र सहचार होनेपर भी केवल हीरकमें अव्याप्ति होनेमात्रसे यह व्याप्ति अशुद्ध समझी जाती है। फिर द्वन्द्वमानके तो लगभग सभी नियम अव्याप्ति-अतिव्याप्ति दोषोंसे ग्रस्त होते हैं।

कहा जाता है कि 'द्वन्द्वमान इस स्थावर आधिभौतिकताका भेदन कर जाता है। 'मनुष्य' शब्दमें सब सम्भव मनुष्य सम्मिलित हैं। लेकिन मनुष्यजाति और मनुष्यगण यद्यपि भिन्न और पृथक् तर्कसिद्ध श्रेणियाँ हैं, लेकिन केवल तार्किक दृष्टिसे ही वे ऐसे हैं। एक ही घटनावलीके देखनेके लिये ये विभिन्न दृष्टिकोण हैं। व्यापकताके दृष्टिकोणसे अर्थात् उस दृष्टिकोणसे, जिसमें एक ही मनुष्य जातिका सदस्य होनेके नाते सब एक समान हैं। 'मनुष्यजाति' सब मनुष्योंकी समष्टि है। मनुष्यगण सब मनुष्योंकी समष्टिकी ही एक और कल्पना है, लेकिन इस अर्थमें कि कोई भी मनुष्य किसी दूसरे मनुष्यके समान नहीं है। द्वन्द्वमानके लिये विशेष और व्यापक याने 'साधारण एक और सब' विरोध रहते हुए भी ये दोनों एक दूसरेमें और एक दूसरेके द्वारा अवस्थित हैं। 'श्याम' का 'श्यामत्व' और उसके मनुष्यत्वसे पृथक् रूपमें न रह सकता है न उसके रहनेकी कल्पना ही की जा सकती है। मनुष्यको मनुष्यरूपमें हम उस साधारण गुणसे जानते हैं— जो सब विशिष्ट मनुष्योंमें विद्यमान है, और हर विशिष्ट मनुष्यकी पहचान तभी हो सकती है, जब व्यापक मनुष्यरूपसे उसकी भिन्नताको दिखलाया जाय।

हेगेलके तर्कशास्त्रका यही गुण है कि वह विरोधियोंके एकत्वको मानता है और उनको श्रेणीबद्ध करता है । 'तर्कसिद्धके रूपमें'; एक ओर पूर्णरूपसे व्यापक और दूसरी ओर पूर्णरूपसे एक । हेगेलीय भाषामें दो विरोधियों—उद्रजन, अम्लजन-का एकत्व ही पानी है। ये तर्ककी दृष्टिसे विरोधी हैं। इन दो विरोधियोंके मेलसे जो पानीरूप वस्तु बनती है वह न उद्रजन है और न अम्लजन। गुणात्मकरूपसे दोनोंका अन्तर्धान हो जाता है और बिलकुल नये गुणोंके संयोगकी सृष्टि हो जाती है । परिणाम तो उतना ही रहता है, लेकिन रूप परिवर्तित हो जाता है।'

उपर्युक्त कथन भी निःसार है। यह तो अध्यात्मवादमें ही स्वीकृत है कि वस्तुओंमें सामान्य-विशेषभाव एवं साधर्म्य-वैधर्म्य विभिन्नरूपसे मान्य होते हैं। जाति एवं गुणकी दृष्टिसे समष्टि-व्यष्टिका उपर्युक्त विवेचन भ्रान्तिपूर्ण है। नित्य एक एवं अनेकोंमें समवेत जाति है। जैसे अनेक गोव्यक्तियोंमें एक गोत्वजाति रहती है, उसीके आधारपर सभी गोव्यक्तियोंको जाना जाता है, परंतु गण या समूह तो विशेषों (नैयायिकस्वीकृत पदार्थ) का भी कहा जा सकता है, जिनमें जाति नहीं है। अनेक जातिके मनुष्योंके समूहको भी गण कहा जा सकता है, परंतु उन्हें एक जातिका नहीं कहा जा सकता यह प्रसङ्ग ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदि अवान्तर जातिका है । मनुष्यत्व जाति तो सभी मनुष्योंमें होती ही है। व्यष्टि और समष्टि अध्यात्मवादमें वृक्ष और वनके तुल्य है । व्यष्टित्व और समष्टित्वका तो भेद होता ही है । ऐसे अनेक गुणधर्म समष्टिमें मान्य होते हैं, जो व्यष्टिमें नहीं होते। जैसे-एक-एक तन्तुओंसे शीतापनयन नहीं होता, परंतु वही तन्तु-समुदाय पटरूपमें परिवर्तित होकर अङ्गप्रावरण, शीतापनयन आदि कार्य करते हैं। व्यक्ति-समुदायसे भिन्न होकर समष्टि कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है।

जिन तत्त्वोंसे जिस वस्तुका निर्माण होता है उन तत्त्वोंका किसी-न-किसी रूपमें उस वस्तुमें बना रहना स्वाभाविक है। कर्ता, निमित्त आदिके बिना भी कार्य रह सकता है, परंतु उपादान या समवायी कारण बिना तो कार्यकी स्थिति सम्भव ही नहीं होती। कोई नियम तभी निर्दोष माना जाता है, जब वह अव्याप्ति-अतिव्याप्ति आदि दोषोंसे रहित हो। श्यामत्व मनुष्यत्वका व्याप्त धर्म है, सुतरां व्यापक धर्मके बिना व्याप्त धर्मकी अवस्थिति नहीं हो सकती । जैसे क्षितित्व, जलत्व आदि द्रव्यत्व-व्याप्त धर्म है । अतः क्षितित्व, जलत्व आदि द्रव्यत्वके बिना नहीं रह सकते। विभिन्न विशेषोंमें ही सामान्यका पर्यवसान होता है।

वस्तुतः जिस रूपमें आक्सीजन और हाइड्रोजन जलके जनक होते हैं; उस रूपमें वे विरोधी नहीं हैं । यद्यपि अग्नि और तैल किसी रूपमें विरोधी हैं,

परंतु वे ही युक्तिसे समन्वित होकर दीपक-प्रज्वलनका भी काम करते हैं। जल-अग्नि परस्पर विरोधी हैं, परंतु युक्तिसे समन्वित होकर बाष्पद्वारा यन्त्र संचालन करते हैं। वे विरोधी अन्यरूपसे हैं, कार्यवाहक अन्यरूपसे हैं। इसीलिये स्वरूपसे भाव, अभाव, सत्, असत्की एकता नहीं हो सकती। अन्यथा सरोवर-कमल और गगन-कमलकी तथा मित्रातनय एवं वन्ध्यातनयकी एकता भी कही जानी चाहिये। अतः इस प्रकारके काल्पनिक विरोधके दृष्टान्तसे सत्, असत्, भाव, अभावकी तरह उसी सम्बन्धसे उसी देशमें उसी वस्तुका भाव-अभाव नहीं रह सकता। जैसे भूतलके उसी प्रदेशमें संयोग सम्बन्धसे उसी प्रकारके उसी घटका भाव-अभाव—दोनों नहीं हो सकते। यदि यह हो सके तब तो संसारसे विरोधमात्र ही दत्तजलाञ्जलि हो जायगा।

उद्रजन, अम्लजन दो विरोधियोंके मिलनेसे पानी बना। उद्रजन, अम्लजन केवल इतनेमात्रसे विरोधी नहीं होते क्योंकि एक वह है जो दूसरा नहीं है। इतना दूर क्यों जाया जाय, और सरल लौकिक दृष्टान्त लें। अनेक तन्तुओंसे पट बनता है, तन्तुओंमें भी एक वह नहीं है, जो दूसरे हैं। एक दृष्टिसे सब परस्पर भाव एवं अभावस्वरूप हैं और उनके मिलनेसे ही पट बनता है। पटमें तन्तुओंका अन्तर्भाव हो जाता है, एक नयी वस्तु पट बन जाती है। परंतु यह कलाबाजी अविचारित रमणीय ही है। तन्तुओंको परस्पर विरोधी कहनेकी अपेक्षा परस्पर सहयोगी कहना प्रत्यक्ष-प्रमाणके अधिक अनुकूल है। विरोधी तो उन्हें एक दूसरेका अभावात्मक होनेसे केवल अपेक्षा-बुद्धिसे कहा जाता है। इसी तरह पट बननेपर तन्तुका लुप्त हो जाना, पटरूपी नयी वस्तुका बन जाना भी अविचारित रमणीय है। विचारनेपर अब भी तन्तुओंसे भिन्न होकर पट कोई वस्तु नहीं है। शीतापनयनादि-अर्थ-क्रियाकारिता विशेषरूपसे अवस्थित समुदायका गुण है। समुदाय समुदायीसे भिन्न नहीं, एवं विशेष अवस्थिति अवस्थावालोंसे भिन्न नहीं हो सकती है। व्यष्टिवृक्षोंसे भिन्न होकर समष्टि वन नहीं है। पटसे भिन्न होकर उसकी संकुचित-प्रसारित अवस्था भी भिन्न नहीं है। यही स्थिति उद्रजन, अम्लजनकी है, उन्हें परस्पर विरोधी न कहकर सहयोगी कहना अधिक उपयुक्त है।

पञ्चभूत भी परस्पर विरुद्ध कहे जा सकते हैं। जलसे अग्निका निर्वाण हो जाता है, किसी ढंगसे अग्निसे जलका शोषण हो जाता है; पर साथ ही उनका कार्य-कारणभाव भी है। तेजसे ही जलकी उत्पत्ति होती है और तेजमें ही जलका संहार होता है। ब्रह्मसे ही विश्वकी उत्पत्ति होती है, उसीमें उसका संहार भी होता है। इस दृष्टिसे ब्रह्म ही विश्वका उत्पादक भी है, संहारक भी है। परंतु यह विरोध अपेक्षा-बुद्धिकृत है। सत्, असत्का-सा विरोध नहीं है। इसी

तरह सत्त्व, रज, तमका भी परस्पर विरोध कहा जा सकता है। सत्त्व प्रकाशात्मक है, रज चल है, तम आवरणात्मक एवं अवष्टम्भात्मक है। व्यवहारमें भी सत्त्वके बढ़नेपर रज-तमका घटना अनिवार्य है। रजके बढ़नेपर अन्यका घटना अनिवार्य है, तो भी महदादि कार्यकी उत्पत्तिमें दोनों सहयोगी बनते हैं। अवश्य ही जबतक उनका सम परिणाम चलता रहता है, तबतक वे कोई कार्य नहीं आरम्भ कर सकते, परंतु विषमता होनेपर प्रधानके अप्रधान सहयोगी हो जाते हैं, फिर कार्यका उत्पादन करते हैं और हर एक कार्यमें वे उपलब्ध भी होते हैं। यही चीज हर एक उपादानकारणके सम्बन्धमें कही जा सकती है। अगर आक्सीजन, हाइड्रोजन जलके कारण हैं, तो अवश्य ही उनमें संयोग अपेक्षित है। इसी तरह कार्यावस्थामें भी उनका अस्तित्व रहना ही चाहिये। और कार्य भी कारणसे भिन्न होकर सर्वथा नयी वस्तु नहीं है। जैसे पटकी ही अवस्थाविशेष, उनका संकोच और प्रसार है, वैसे ही कारणकी अवस्थाविशेष ही कार्य है। इसीलिये जलसे पुनरपि हाइड्रोजन, आक्सीजन निकल आनेपर जल कुछ भी नहीं रह जाता है। भाव-अभावके समान उद्रजन, अम्लजनका विरोध नहीं होता। अतएव उनका सम्बन्ध होता है, सम्बन्धसे जल बनता है, किंतु भाव-अभावके सम्बन्धसे, सत्-असत्के सम्बन्धसे किसी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

इसी तरह कहा जाता है कि 'तर्कशास्त्रके अनुसार आरम्भ क्या है? यह कुछ (अस्तित्व) नहीं है; क्योंकि आरम्भमात्र है। लेकिन इसी कारणसे वह कुछ नहीं भी नहीं हो सकता। इस प्रकार आरम्भ न अस्तित्व है, न नास्तित्व है। साथ ही वह अस्तित्व, नास्तित्व—दोनों ही है। यही अस्तित्व-नास्तित्वकी एकता है। एकका दूसरेमें रूपान्तर है। संक्षेपमें यह होनेकी एक क्रिया है जिसमें अस्तित्व और नास्तित्वकी साधारण बुनियाद है। इस तर्कको वास्तविकताके रूपमें देखा जाय तो श्याम एक मनुष्य है। जो एक मनुष्य-श्रेणीका है जिसमें सब मनुष्य सम्मिलित हैं। श्यामका और अन्य मनुष्योंमें व्यावर्तक धर्मोंसे भेद होता है; जो कि एकमें होते हैं, दूसरेमें नहीं। इस तरह वे विशिष्ट अंशोंमें भिन्न होते हुए भी मनुष्यत्वेन समान हैं। उन चीजोंको देकर जो उनमें नहीं हैं, किंतु दूसरोंमें हैं। लेकिन इस प्रभेदका अर्थ यही है कि अपने विशिष्ट गुणोंके अलावा वह और मनुष्योंके समान है। इस प्रकार तार्किक दृष्टिसे श्यामका पूरा ज्ञान हो जाता है। जब उसकी कल्पना विशिष्ट 'श्याम' तथा सर्वसाधारण मनुष्योंके एकत्वके रूपमें की जाय।'

मार्क्सवादी इसे एक सहज और महान् सत्य कहते हैं। विशुद्ध सत् विशुद्ध असत्से अभिन्न है। विशेष गुणोंके द्वारा ही एक वस्तुको दूसरीसे अलग किया जा सकता है और इस अलग करनेका अर्थ ही है दो बातोंका एक साथ

कहना । भावात्मकरूपसे वही वस्तु एक है और अभावात्मकरूपसे अन्य । इस प्रकार विचारमें एक वस्तुको दूसरेसे पृथक् करना हाँ और ना दोनों करना है और इसमें विरोध और पुनर्मिलन दोनों हैं। समरूपता और पार्थक्य—दोनोंका रहना आवश्यक है, नहीं तो एकको दूसरेसे पृथक् नहीं किया जा सकता।

"यही तत्त्व है सत् और असत्के एकत्वका । हेगेलकी इस तार्किक प्रथाका रूप है वाद (थिसिस), प्रतिवाद (एन्टीथिसिस) और समन्वितवाद (सिन्थिसिस)। दूसरे शब्दोंमें भाव-अभाव, अभावका अभाव या प्रतिषेधका प्रतिषेध। इस त्रिगुट सम्बन्धकी विशेषता यह है कि ये एक साथ विराजमान रहते हैं। एकके बाद दूसरेका आविर्भाव नहीं होता। जब कहा जाता है कि 'राम मनुष्य है' तो राम और अरामका विरोध तथा उसका साथ-साथ इन सबकी कल्पना एक साथ हो जाती है। मनमें तर्ककी जो क्रिया होती है, उसमें इन दोनोंके पृथक्करणका पहले एक सिरा, फिर दूसरा सिरा और फिर दोनोंका सम्बन्धित अस्तित्व दीखता है। लेकिन वास्तवमें इस त्रिगुट सम्बन्धका अस्तित्व आरम्भसे ही है और तर्कक्रिया इस अस्तित्वको मान लेती है। हेगेलने लिखा है कि इस त्रिगुट क्रियाको हम चतुष्क्रियाके रूपमें भी देख सकते हैं। पहला है अविभाजित एक, दूसरा विभाजन, तीसरा भावात्मक तथा अभावात्मक, फिर विभाजितरूपमें उस एककी पुनः स्थापना। जीवन संघर्षमें अवयवद्वारा परिवर्तनीयता और वंशानुक्रमिकताके विरोधी ऐक्यका प्रदर्शन अवयवके विकासका मुख्य स्तम्भ है।'

विरोधियोंके एकत्वके नियमको हेगेलने इस भाषामें लिखा है—'यह समझा जाता है कि भाव और अभावका अन्तर अमिट है। लेकिन तहमें ये दोनों चीजें एक हैं। कोई एक नाम दूसरेमें परिवर्तित हो सकता है। इस प्रकार जमा और उधार सम्पत्तिके दो विशेष प्रकार नहीं हैं। कर्ज लेनेवालेके लिये जो अभाव है, देनेवालेके लिये वह भाव है। पूरबका रास्ता पश्चिमका भी रास्ता है। भाव और अभाव एक दूसरेके ऊपर निर्भर है और परस्पर सम्बन्धमें ही इनका रूप प्रकाशित है। चुम्बक पत्थरका उत्तरी ध्रुव बिना दक्षिणी ध्रुवके नहीं रह सकता। किसी चुम्बकको दो भागोंमें काटनेपर एक हिस्सेमें उत्तरी और दूसरेमें दक्षिणी ध्रुव नहीं रहता। इसी प्रकार बिजलीकी दो धाराएँ-धनात्मक और ऋृणात्मक, एक दूसरेसे स्वतन्त्र नहीं होतीं।'

वस्तुतः उपर्युक्त बातें भी वागाडम्बरके अतिरिक्त कुछ नहीं हैं—यह पीछे कहा जा चुका है। किसी अपेक्षासे भावान्तर ही अभाव होता है। स्वरूपसे कोई भी वस्तु सत् है, किंतु वही अन्य रूपसे असत् है परंतु स्वरूपसे ही कोई वस्तु सत्-असत् नहीं हो सकती। परमाणुवादियोंकी दृष्टिसे समवायी कारण

तन्तुओंसे पटका आरम्भ होता है, जो पहले असत् ही रहता है। इसका असत्-कार्यवादकी दृष्टिसे खण्डन हो जाता है। असत् खपुष्प सहस्रों प्रयत्नोंसे निर्मित नहीं होता। अतः सत् ही कार्यकी अभिव्यक्ति मात्र कारकव्यापारोंसे होती है। इस स्थितिमें आरम्भके पहले, आरम्भकालमें तथा कार्य सम्पन्न होनेपर—इन तीनों अवस्थाओंमें भी कारणरूपसे कार्य सत् ही रहता है। अतः स्वेन रूपेण आरम्भ या आरब्ध वस्तु सत् ही है, 'हाँ' हाँ ही है, उसे 'नहीं' नहीं कहा जा सकता। इसलिये आरम्भको अस्तित्व-नास्तित्वकी एकता नहीं कहा जा सकता।

राम-श्याम नामका कोई मनुष्य भी हो सकता है। कोई भी मनुष्य अपनेमें असाधारणता भी रखता है और इतर साधारणता भी है। विशिष्ट रूपसे इतर भिन्नता और तदितर व्यापक सामान्य रूपसे अभिन्नता कहनेकी अपेक्षा यह कहना अधिक सङ्गत है कि अमुक मनुष्यमें कुछ अपने असाधारण गुण हैं और कुछ मनुष्य-सामान्य-गुण। एक मनुष्य कुछ गुणोंकी अविशेषतासे ही इतर मनुष्योंसे भिन्न नहीं है। मनुष्यत्व सामान्य रहनेपर भी व्यक्तियोंमें परस्पर भिन्नता रहती है; अतः यह अस्तित्व-नास्तित्वकी एकताका उदाहरण नहीं कहा जा सकता। इस उदाहरणसे अस्तित्व-नास्तित्वकी एकाधिकरणता और विरोधपरिहार नहीं कहा जा सकता। विरोधका स्वरूप यही होता है कि—

यस्य यद्देशावच्छिन्नयत्कालावच्छिन्नयत्सम्बन्धावच्छिन्नयद्धर्मावच्छिन्न-यदधिकरणता यत्र, तत्र तस्य तद्देशावच्छिन्नतत्कालावच्छिन्नतत्सम्बन्धावच्छिन्न-तद्धर्मावच्छिन्नतदत्यन्ताभावो न सम्भवति।

जिस वस्तुका जिस देशमें, जिस कालमें, जिस सम्बन्धसे, जिस धर्मसे, जिस रूपसे जहाँ भाव रहता है, उस वस्तुका उसी देशमें, उसी कालमें, उसी सम्बन्धसे, उसी रूपसे अभाव नहीं कहा जा सकता। पर्वतमें धूमत्वेन धूम रहनेपर भी वह्नित्वेन धूम नहीं है, तो भी यह अभाव अग्निके अनुमानमें बाधक नहीं हो सकता। विशेष गुणोंके कारण विशिष्टकी सामान्यसे भिन्नताका अर्थ विलक्षणता-मात्र है। इससे एक वस्तुमें सालक्षण्य-वैलक्षण्यका सह अस्तित्व सिद्ध होता है। नैयायिकोंके मतानुसार साधर्म्य-वैधर्म्य अनेक पदार्थोंमें सहावस्थित होते हैं; परंतु एतावता मूल वस्तुमें भेद नहीं सिद्ध होता। जैसे प्रसारित पट और संकुचित पटमें वैलक्षण्य प्रतीत होनेपर भी वस्तुमें भेद नहीं सिद्ध होता। व्यावर्तक भेदक धर्मसे वस्तुकी भिन्नता या व्यावृत्ति होती है। इसका अभिप्राय यही है कि—'नीलमुत्पलम्' नीलता कमलकी विशेषता है, इससे वह अनील श्वेत अरुण आदि कमलोंसे भिन्न सिद्ध होता है। नीलताको छोड़कर वह अन्य कमलोंसे अभिन्न ही

रहता है। यहाँके भेद-अभेद दोनों असमानता तथा समानताके ही बोधक हैं, भिन्नता अर्थात् भिन्नजातीयता अभिन्नता अर्थात् अभिन्नजातीयता।

परंतु इस समानजातीयता, असमानजातीयताका भेदाभेदके समान परस्पर विरोध नहीं होता, क्योंकि कमल व्यापक है। नील कमल उसका ही अवान्तर भेद है, जैसे मनुष्यजातिके भीतर ब्राह्मणत्व आदि जातियाँ हैं। एक ब्राह्मणमें ब्राह्मणत्व भी है, मनुष्यत्व भी। इनका आपसमें कोई विरोध नहीं होता। यह भावात्मक-अभावात्मक वस्तुओंका एकीकरण नहीं कहा जा सकता। इतनेमात्रके लिये इतनी दूर भटकनेकी आवश्यकता नहीं। यों तो सहयोगी वस्तुओंमें भी भावात्मकता, अभावात्मकताका सह अस्तित्व किसी अपेक्षा-भेदसे मिलता ही है। यह विरोध परिहार स्वमनःपरिकल्पित ही है। जैसे कोई अपने मनसे ही प्रेतकी कल्पना करके उससे संग्राम करता हो और कहता हो कि हमने अपने प्रतिद्वन्द्वीको हरा दिया, ठीक यह भी वैसा ही है।

भाव, अभाव एवं अभावका अभाव या वाद, प्रतिवाद, समन्वितवाद अथवा अविभक्त एक तथा उसका भावात्मक, अभावात्मक विभाजन, फिर विभक्त स्वरूपोंसे एक वस्तुकी स्थापना आदि कल्पना मनोरञ्जक अवश्य है, पर है सारशून्य ही। यह केवल बौद्धोंके विनाश (अभाव) कारणवादके आधारपर गढ़ी गयी है। बौद्धोंने देखा कि बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होनेमें बीजका स्वरूप नष्ट हो जाता है; अतः अङ्कुरोत्पत्तिके अव्यवहितपूर्व क्षणवर्ती विनाश ही है; अतः विनाशहीको कारण मानना ठीक है। परंतु सांख्यों और वेदान्तियोंने उसका खण्डन किया है। यदि विनाश ही कारण है तो बीजदाहसे भी अङ्कुर उत्पन्न होना चाहिये। यदि अभाव ही कारण है तो वह तो सर्वत्र सुलभ है तो फिर कार्योत्पत्तिके लिये कारण-सामग्री ढूँढ़नेकी प्रवृत्ति क्यों होती है? फिर कार्यमें कारणांश सत्की अनुवृत्ति देखी जाती है। विनाश, अभाव या असत्की अनुवृत्ति नहीं देखी जाती। अतः भाव ही कार्यका कारण है, अभाव नहीं।

इस मण्डन एवं खण्डनसे प्रभावित होकर मार्क्सवादियोंने मूलबीजको अविभाजित एक वस्तु मान पुनः उसका विभाजन मानकर भाव, अभावकी कल्पना की और उनके समन्वयसे अङ्कुरकी उत्पत्ति मान ली। परंतु वस्तुतः यहाँ भाव-अभाव-जैसा विभाजन और उसके समन्वयका कोई प्रश्न ही नहीं उठता! विनाश, अभाव या असत्से न कोई कार्य उत्पन्न हो सकता है, न सत्-असत्का कोई सम्बन्ध हो सकता है। न ख-पुष्प, वन्ध्यापुत्रसे किसीकी उत्पत्ति हो सकती है, न किसीसे उनका कोई सम्बन्ध ही हो सकता है। बीजावयव ही अङ्कुरके कारण हैं और उन्हींका कार्यमें अनुवेध भी रहता है। परंतु एक उपादानमें कार्यान्तरकी

उत्पत्तिके लिये पूर्वकायका तिरोधान आवश्यक होता है। इसीलिये बीजावस्थाका तिरोभाव नान्तरीयक रूपसे होता है।

अवयवद्वारा परिवर्तनीयता और वंशानुक्रमिकताके विरोधी ऐक्यका उदाहरण भी ऐसा ही है। जैसे आम्रादि बीजसे आम्रादि वृक्षकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही मनुष्य, पशु आदि बीजोंसे ही मनुष्य, पशु आदि देहोंकी उत्पत्ति होती है। अवयव-परिवर्तनादिद्वारा गोलाङ्गूल, मनुष्य आदिके विकासकी कल्पना सर्वथा अप्रमाणित है। उसमें मुख्य आपत्ति यह है कि उन-उन प्राणियोंकी परम्परा स्वतन्त्ररूपसे आज भी प्रचलित है, आज वैसा कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता। न तो पूँछ घिसनेसे आज कोई मनुष्य बनता है और न मनुष्यसे आगे कोई विकसित वर्ण दिखायी देता है। न कोई मनुष्यका अङ्ग बढ़ रहा है और न कोई घट रहा है। यों परिणामवादमें कार्योंके रूपमें भिन्नता और कारणात्मना अभिन्नताका सिद्धान्त मान्य है ही। इसका तत्त्व भेदाभेद-विवेचनमें आ चुका है।

हीगेलके दृष्टान्तोंसे भाव-अभाव, सत्-असत्का विरोध मिट नहीं सकता। जमा-उधार, लेना-देना, ऋण-धन, पूर्व-पश्चिम आदिमें भाव, अभावकी अपेक्षा बुद्धिजन्य कल्पनामात्र है। उनकी सम्पत्ति या रास्तेके एक स्थानमें ऋण-धन और पूर्व-पश्चिमकी एकता हो सकती है; परंतु क्या इसी तरह उसी देशमें, उसी कालमें, उसी सम्बन्धसे, उसी रूपमें, उसी घटका भाव और उसीका अभाव साथ-साथ रह सकता है? क्या इसी तरह मित्रापुत्र और वन्ध्यातनयका सह अस्तित्व हो सकता है? वस्तुस्थिति यह है—**'क्वचिदप्युपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वानधिकरणत्व'** ही असत् है। अर्थात् जो किसी भी उपाधि या अधिकरणमें सत्त्वेन प्रतीत न हो वही असत् है। जो प्रातिभासिक रजतादि कहीं शुक्तिकादिमें सत्त्वेन प्रतीत होता है, वह शुक्ति रजतादि प्रातिभासिक सत् है। कारण ब्रह्ममें सत्त्वेन प्रतीत आकाशादि व्यावहारिक सत् है और अत्यन्ताबाध्य स्वप्रकाशरूपसे भासमान सत् पारिमार्थिक सत् है। ऐसे सत्-असत्की भी यदि एकता हो सकती है, तब संसारमें विरोध क्या है। फिर शोषक शोषित-वर्गोंका ही अमिट विरोध क्यों? उनमें तो एकता स्पष्ट ही है। दूसरोंके भक्षक जंगली जानवर या पानीकी मछली आदि स्वयं ही दूसरोंद्वारा भक्षित होते हैं, फिर यहाँ तो एक स्थानमें ही शोषकत्व, शोषितत्व स्पष्ट है। वस्तुतः सत्-असत्का भेद अपेक्षाबुद्धिजन्य कल्पनामात्र नहीं है। हाँ, जहाँ भावान्त ही अभाव है, वहाँ विरोधकी चर्चा व्यर्थ है।

पटाभाव घट स्वरूप है, अतः घटका, पटाभावका कोई विरोध नहीं है; एतावता घटाभावका भी घटके साथ विरोध नहीं है, यह कहना उपहासास्पद ही

है। साथ ही भाव, अभाव एक दूसरेके ऊपर निर्भर है—इसका दो अर्थ हो सकता है। एक तो यह कि अभाव किसी वस्तुका और किसी अधिकरणमें होता है, अर्थात् प्रतियोगिनिरूपक (जिसका अभाव हो) और दूसरा अनुयोगी, (जैसे 'भूतले घटो नास्ति' 'भूतलमें घट नहीं है')। भूतलका तथा घटका ज्ञान हुए विना घटाभावका ज्ञान नहीं हो सकता। अभाव अधिकरणस्वरूप है, इस दृष्टिसे अनुयोगिस्वरूप तो अभाव कहा जा सकता है; परंतु अभाव और प्रतियोगी भी कभी एक हो जाते हों, ऐसी बात नहीं है।

इसके अतिरिक्त अभाव तो अवश्य ही अनुयोगी-प्रतियोगीकी अपेक्षा रखता है; परंतु भाव इस प्रकार अभावकी अपेक्षा नहीं रखता। निरुपाख्य असत्त्व इससे भी अधिक अव्यवहार्य है। चुम्बकके उत्तरी ध्रुव, दक्षिणी ध्रुव एवं बिजलीकी धनात्मक-ऋणात्मक दो धाराएँ परस्पर विरोधी होनेपर भी भावरूप हैं। उनका जुट सकना सम्भव है, परंतु इसी तरह भाव-अभाव, सत्-असत्का जुटना असम्भव है। उपर्युक्त विरोध सत्त्व, रज, तमके विरोध-जैसा है, जो कि विरोध होनेपर भी समन्वित होकर कार्यारम्भक होते हैं। इस प्रकार भाव-अभाव, सत्-असत्का समन्वय होकर कार्यारम्भकता सम्भव नहीं है।

कहा जाता है कि 'प्रकृतिके दृश्यगत घटनाओंके मूलमें भूतकी गति है। इसका विरोध स्पष्ट है। यदि कोई पूछे कि कोई गतिशील पदार्थ किसी विशेष समयपर किसी स्थानपर है या नहीं, तो युवेरवेगके नियमके अनुसार इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता कि 'हाँ' 'हाँ' है और 'नहीं' 'नहीं' है। गतिशील पदार्थ एक बिन्दुपर है भी और नहीं भी है। इसका विचार इसी संकेतसे किया जा सकता है कि 'हाँ' 'नहीं' है और 'नहीं' 'हाँ'। गतिशील पदार्थ 'विरोधके तर्क' की अकाट्य दलील है और जो इस तर्कको नहीं मानता, उसको जैनोंके साथ कहना पड़ेगा कि गति इन्द्रियोंका भ्रममात्र है। जो ऐसा नहीं मानते उन्हें या तो युवेरवेगके तर्कशास्त्रके बुनियादी नियमको मानकर गतिका त्याग करना पड़ेगा अथवा गतिको मानकर इस बुनियादी नियमका परिहार करना होगा।' पहले ही कहा जा चुका है कि प्रकृतिकी दृश्यगत घटनाओंकी बुनियादी बात है भूतकी गति। लेकिन गति एक विरोध है। इसका विचार द्वन्द्वमानके नियमसे किया जाना चाहिये अर्थात् इस संकेतसे कि 'हाँ' नहीं है और 'नहीं' 'हाँ' है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि दृश्यगत घटनाओंके सम्बन्धमें हम विरोधी तर्कके राज्यमें हैं। लेकिन गतिशील भूतके अणुओंके संयोगसे वस्तुओंकी सृष्टि होती है। यह संयोग कम या अधिक क्षणस्थायी होकर तिरोहित हो

जाता है और दूसरे संयोग इसका स्थान ले लेते हैं। जो अनन्त है, वह है भूतकी गति। जब बाहरी गतिके कारण भूतके एक विशिष्ट संयोगका आविर्भाव होता है और गतिहीके कारण जबतक उसका अन्तर्धान नहीं होता, तबतक इसके अस्तित्वके प्रश्नको भावात्मकरूपसे ही हल किया जा सकता है। यही कारण है कि यदि कोई बुधग्रहको दिखाकर हमसे पूछे कि उसका अस्तित्व है या नहीं? तो हम निःसंकोच यह उत्तर देंगे कि 'हाँ' है। इसका अर्थ यह है कि स्पष्ट वस्तुओंके सम्बन्धमें हम युवेरवेगके ही नियमका अनुसरण करेंगे। इस राज्यमें 'हाँ' 'हाँ' है और 'नहीं' 'नहीं' का ही संकेत लागू होता है। लेकिन इस नियमका राज्य अबाध नहीं है। जब कोई वस्तु उत्पत्तिकी अवस्थामें है तो उसका उत्तर देनेमें कुछ संकोच नहीं होता। जब किसी मनुष्यके सरके बाल काफी उड़े देखे जाते हैं, तो कहा जाता है कि वह गंजा है। लेकिन वह कब पूरा गंजा हो जायगा, ठीक उस मुहूर्तका निश्चय नहीं किया जा सकता।

'किसी विशिष्ट प्रश्नका कि अमुक वस्तुका अमुक गुण है या नहीं, 'हाँ' या 'ना' में ही उत्तर दिया जा सकता है। लेकिन जब कोई वस्तु परिवर्तनकी स्थितिमें है, किसी विशेष गुणका उसमें संयोग या वियोग हो रहा हो, तब इसका उत्तर दिया जा सकता है—'हाँ' 'नहीं' है तथा 'नहीं' है 'हाँ'। वेरवेगके नियमके अनुसार इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह एतराज किया जा सकता है कि जिस गुणका वियोग हो रहा है उसका अभी अन्तर्धान नहीं हुआ और जिस गुणका संयोग हो रहा है, अभी वह पहलेसे ही वर्तमान है। इसलिये 'हाँ' या 'ना' में इसका उत्तर असम्भव नहीं, किंतु बाधितामूलक है, चाहे वह वस्तु परिवर्तनहीकी क्रियामें क्यों न हो। लेकिन यह एतराज गलत है। जिस युवककी ठोढ़ीपर दाढ़ीकी रेखा उग रही हो उसको दाढ़ीवाला नहीं कहा जायगा; यद्यपि यह रेखा धीरे-धीरे दाढ़ीमें परिणत हो रही है। गुणात्मक परिवर्तनके लिये परिमाणकी एक सीमातक पहुँचना आवश्यक है। जो इसको भूलता है, वह वस्तुओंके गुणोंके सम्बन्धमें स्पष्ट राय नहीं दे सकता।'

सिद्धान्ततः भूत स्वयं प्रकृतिका कार्य है, प्रकृतिके गुण भूतमें भी रहते हैं। सभी घटनाओंका मूल ईश्वर चेतनाधिष्ठित प्रकृति है। 'चञ्चलगुणवृत्तम्' के अनुसार प्रकृति क्षण-परिणामशील या गतिशील है। सुतरां तत्तत्परिणामभूत सभी कार्य भी गतिशील हैं, परंतु परिच्छिन्न कोई पदार्थ समकालमें अनेक स्थान नहीं हो सकता। अवश्य ही वह जिस समय किसी स्थलमें है, उसी समय तदन्यस्थलमें नहीं कहा जा सकता। कितनी भी तीव्रगति किसीकी क्यों न हो, फिर भी एक ही देशकालमें उसका भाव-अभाव नहीं कहा जा सकता।

काल बड़ा सूक्ष्म होता है, अतः किसी स्थलपर समकालमें गतिशील पदार्थका अस्तित्व, नास्तित्व नहीं कहा जा सकता । उसी वस्तुको रूपान्तरसे भाव एवं रूपान्तरसे अभाव कहना सम्भव है । परंतु उसी रूपसे भाव-अभाव—दोनों कोटि-कोटि प्रयत्नोंसे भी सम्भव नहीं हैं, तीव्रगामी वाण या तलवारसे समवेत सहस्र कमलपत्रका छेदन समकालमें ही प्रतीत होता है । पापड़ खाते समय समकालमें ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी प्रतीति समकालमें मालूम पड़ती है, फिर भी सर्वत्र क्रमिकता ही है । हाँ, क्रम इतना सूक्ष्म है कि परिलक्षित नहीं होता, फिर भी उसका अनुमान तो होता ही है । इस तरह अति तीव्रगतिमें, अतिसूक्ष्मकालमें अस्तित्व-नास्तित्वका क्रम भी बदल जाता है । इसीलिये अस्तित्व-नास्तित्व एकत्र स्थलमें क्रमिक ही रहता है; समकालिक नहीं । सामान्य गतिमान् पदार्थका जब विभिन्न स्थानीय अस्तित्व, नास्तित्व, भिन्नकालिक है, तो इसी तरह तीव्र गतिमान् पदार्थोंका भी एकत्र अस्तित्व, नास्तित्व भिन्नकालिक ही मानना उचित है । इस तरह उसे अकाट्य तर्क समझना भ्रम ही है ।

युवेरवेग हो या कोई और हो, यौक्तिक विचारमें जिसका पक्ष उचित हो ग्रहण करना चाहिये । अयुक्तियुक्त किसीका भी मत त्याज्य होना चाहिये । किसी भी नियमसे सत् असत्, असत् सत् नहीं हो सकता । द्वन्द्वमानकी बाजीगरी भी इस सम्बन्धमें व्यर्थ ही है । सिर्फ घटका स्वेन रूपेण अस्तित्व है, अन्यरूपेण नास्तित्व है । इसके सिवा अस्ति, नास्तिकी एकत्र अवस्थिति सर्वथा असम्भव है । गतिशील परमाणुओंके संयोगसे दृश्य वस्तुओंका निर्माण हो अथवा प्रतिक्षण परिणामी प्रकृति-तत्त्वका परिणामस्वरूप दृश्य वस्तु हो उसकी अस्थिरता निश्चित है । फिर भी वस्तुके भाव-अभावमें संदेह नहीं होना चाहिये । संदेह होता है स्थिरता एवं अस्थिरतामें ।

नदीप्रवाह एवं दीपशिखामें स्थूलदृष्टिसे स्थिरता एवं एकता प्रतीत होती है, किंतु वस्तुतः उनमें स्थिरता-एकता सादृश्यमूलक भ्रम ही है । गगन, पर्वत, समुद्र, नक्षत्रादि—सभीमें स्थिरता, एकता, प्रत्यभिज्ञा इसी प्रकार सादृश्यमूलक भ्रम ही है । फिर भी अविचारित रमणीय एकता आदिका व्यवहार चलता ही है । सदृश परिणाम जबतक चलता है, तबतक एकता विसदृश परिणाम होनेसे ही भिन्नता, अनेकताकी प्रतीति होने लगती है । सदृश-विसदृश किसी भी परिणाममें अस्तित्व तो रहता ही है, आविर्भाव, तिरोभावके आधारपर होनेवाले भाव-अभावके व्यवहारमें भी क्रम अनिवार्य है । समकालमें, समदेशमें, समसम्बन्धसे, समरूपसे एक ही वस्तुका भाव या अभाव नहीं रह सकता । यह पर्वतवत् अकम्प्य विरोध है, यह कहा जा चुका है । प्रमाणकी दृष्टिसे सब स्पष्ट ही होता है, अस्पष्ट नहीं । सिरके अधिकांश बालोंके उड़ जानेपर भी हम यही कह सकते हैं कि 'वह खल्वाट हो रहा है ।'

जिसे पूरे मुहूर्तका पता लगाना अभीष्ट है, उसे घड़ी लेकर त्राटक लगाकर बैठना ही पड़ेगा। जिसे गर्दभके बालोंकी जिज्ञासा है, उसे गिननेका श्रम करना ही पड़ेगा। जैसे अमुक वस्तुका अमुक गुण है या नहीं, इस प्रश्नका उत्तर हाँ या नहींमें ही देना उचित है; वैसे ही परिवर्तनकी हालतमें भी निश्चित उत्तर दिया ही जा सकता है।

सांख्यीय सत्कार्यवादके अनुसार छोटे-से वटबीजके अंदर वटवृक्षकी सत्ता है तभी उसका प्रादुर्भाव होता है। फिर भी जबतक उसका आविर्भाव नहीं है तबतक अभावका व्यवहार चलता है और जिस कालमें अङ्कुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पल्लवादिकी अवस्था है उस कालमें स्पष्टतया उसी रूपमें उसका भाव, अन्य रूपमें अभाव कहनेमें कोई अड़चन नहीं हो सकती। युवककी ठोढ़ीमें बालोंकी जो अवस्था है, उसी रूपमें उसका भाव अन्यरूपमें अभाव कहनेमें भी कोई अड़चन नहीं। उसी भूतलपर देश-कालभेदसे, सम्बन्ध तथा रूपभेदसे, घटके भाव-अभावका व्यवहार होता ही है। वस्तुओं तथा उसके गुणके सम्बन्धमें यही स्पष्ट मत है। 'हाँ' नहीं है, 'नहीं' हाँ है, यह मत कभी भी स्पष्ट मत नहीं कहा जा सकता। कारणमें कार्यका अस्तित्व रहता है; इसलिये बीजमें भी अङ्कुर है। युवक क्या, शिशुकी भी ठोढ़ीमें बालोंका अस्तित्व है। जबतक आविर्भाव नहीं है तबतक अङ्कुरके तुल्य बालोंका भी अभाव है। जितना प्रादुर्भाव है उतनेका भाव, जितनेका नहीं उतनेका अभाव है, इससे अधिक स्पष्टता क्या हो सकती है।

एफीसियसका प्राचीन दार्शनिक कहता है कि 'सभी चीजें परिवर्तनशील हैं, सभी परिवर्तित हो रही हैं। जिन संयोगोंको हम वस्तु नाम देते हैं, वे सदा ही परिवर्तनकी स्थितिमें हैं।' जबतक ऐसे संयोगोंका अनुपात कायम रहता है, उनका विचार हम हाँ-हाँ और नहीं-नहींके संकेतसे कर सकते हैं। लेकिन जिस समय उनमें ऐसा परिवर्तन होता है कि वह पहिला अनुपात नहीं रहता, तब उनका विचार विरोधके तर्कसे ही हो सकता है। हमें हाँ और ना दोनोंमें उत्तर देना पड़ेगा। वह है भी और नहीं भी है।

'जैसे स्थिरता गतिका एक विशिष्ट प्रकार है उसी तरह साधारण तर्कशास्त्र द्वन्द्वमान तर्कका एक विशेष प्रकार है।' प्लेटोके शिष्य क्रैटिलसके विषयमें कहा जाता है कि जब हेराक्लिट्सने कहा कि एक ही नदीमें हम दो बार प्रवेश नहीं कर सकते, तब उसने कहा कि एक बार भी हम उसमें प्रवेश नहीं कर सकते; क्योंकि प्रवेश करते-करते उसमें परिवर्तन होता रहता है। वह एक दूसरी नदी हो जाती है। ऐसी रायमें होनेकी क्रियाको उसके अस्तित्वसे अधिक महत्त्व दिया जाता है। यह द्वन्द्वमानका अपव्यवहार है। हेगेलका कहना है कि 'कुछ' सर्वप्रथम 'प्रतिषेधका प्रतिषेध' है।

द्वन्द्वमान और भौतिकवादका आपसमें कोई विरोध नहीं है । वास्तवमें द्वन्द्वमानकी बुनियाद ही भौतिकवाद है। यदि प्रकृतिकी भौतिकवादी धारणाका अन्त हो जाय तो साथ ही द्वन्द्वमानका भी अन्त हो जायगा ।

हीगेलकी प्रथामें 'द्वन्द्वमान और अतिभौतिकवाद दोनों समानार्थसूचक हैं । मार्क्सीय दर्शनमें द्वन्द्वमान प्राकृतिक सिद्धान्तके सहारे खड़ा है । हीगेलके अनुसार धारणाओंमें जो विरोध है उनके आविष्कार और हलसे ही विचारधारा आगे बढ़ती है । भौतिकवादी सिद्धान्तके अनुसार धारणाओंमें अवस्थित विरोध उन विरोधोंके प्रतिबिम्बमात्र हैं जो दृश्यगत जगत् वर्तमान हैं और जिनका मूल कारण प्रकृतिका अन्तर्विरोध यानी उसकी गति है ।'

एफेशियसके प्राचीन दार्शनिककी दृष्टि भी इस सम्बन्धमें भ्रमात्मक ही है । सूक्ष्मकालभेदके अनुसार सूक्ष्मपरिवर्तित अवस्थाओंका भी सुस्पष्ट अस्ति या नास्तिरूपसे निरूपण किया जा सकता है । अनिश्चित अवस्था सदा ही अज्ञानकी अवस्था है, प्राकृतिक एवं यान्त्रिक प्रत्यक्ष साधनों, अनुमानों या आर्षविज्ञानों अथवा अपौरुषेय आगमोंके आधारपर उस अज्ञानको मिटाना ही उचित है । उभयतः आकर्षणकी स्थिरता एक गतिका प्रकार भले मान्य हो, परंतु सब गतियों एवं गतिमानोंकी अधिष्ठानभूत आत्मसत्ता गतिका प्रकारविशेष नहीं है । एकत्व-भ्रमके मूल कारण सादृश्य-ज्ञानके लिये 'तेनेदं सदृशम्' 'के ते नेदं सदृशम्' जाननेके लिये अनेककालावस्थायी द्रष्टाको स्वतः स्थिर मानना पड़ता है । इसीलिये सांख्योंने सब पदार्थोंको क्षणपरिणामी मानते हुए भी चित्-शक्तिको कूटस्थ माना है—

क्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चितिशक्तेः ।

व्यवहारमें गतिमान, पशुपक्ष्यादि जंगम तथा स्थावर भूमि पर्वतादि स्वतन्त्ररूपसे मान्य है । अतः गतिविशेष ही स्थिरता है, यह दृष्टान्त ही असङ्गत है ।

इस तरह सत्को असत्, असत्को सत् कहनेवाला द्वन्द्वमान कोई तर्क ही नहीं है । नदीके प्रथम प्रवेशकालमें ही नहीं, किंतु प्रतिक्षण भिन्नता क्रैटिलससे बहुत पहले भारतीय दर्शनोंने बता रखा है—

नित्यदा ह्यङ्ग भूतानि भवन्ति न भवन्ति च ।
कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात्तन्न दृश्यते ॥
यथार्चिषां स्रोतसां च फलानां वा वनस्पतेः ।
तथैव सर्वभूतानां वयोऽवस्थादयः कृताः ॥
सोऽयं दीपोऽर्चिषां यद्वत् स्रोतसां तदिदं जलम् ।
सोऽयं पुमानिति नृणां मृषा गीर्धीर्मृषायुषाम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २२ । ४२—४४)

नित्य ही भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय अलक्ष्य वेगवाले कालद्वारा होता रहता है। सूक्ष्म होनेके कारण वह प्रतीत नहीं होता। दीपादि अग्नि-ज्वालाओं, सरिताओं, फलों तथा वनस्पतियों एवं सभी भूतोंका वय एवं अवस्थाओंके अनुसार क्षण-क्षणपर उत्पत्ति और प्रलय होता रहता है। क्षण-परिवर्तनशील होनेपर भी 'यह वही दीप है, यह वही जल है, यह वही पुत्रादि है', इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा—पहचान तथा एकत्व-बुद्धि भ्रान्तिसे ही है।

पदार्थ तो सभी प्रतिषेधके प्रतिषेध हैं; परंतु यदि पहला प्रतिषेध भ्रमात्मक हो तभी जो प्रमात्मक घटके निषेधका निषेध है अथवा घटध्वंसका ध्वंस है, वह ध्वंस घटरूप नहीं हो सकता। अतः द्वन्द्वमानके तर्काभाससे व्यापक नियमोंका बाध नहीं हो सकता। इसीलिये भूत, भौतिक प्रपञ्च या भौतिकवाद या किसी वादके साथ द्वन्द्वमानका अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। तर्क, प्रतितर्क, निष्कर्ष, वाद, प्रतिवाद, समन्वय या सिद्धान्त सर्वत्र आदरणीय हैं, परंतु इससे द्वन्द्वमान नामकी कोई स्वतन्त्र प्रमाण वस्तु सिद्ध नहीं होती। मार्क्सवादीके कथनानुसार भौतिकवादी धारणाका अन्त हो जाय, तो द्वन्द्वमानका ही अन्त हो जायगा। परंतु मार्क्सके गुरु हीगेलने, जो द्वन्द्ववादका आविष्कारक माना जाता है, अतिभौतिकवाद और द्वन्द्वमानको समानार्थक माना है।

इस तरह मार्क्सका भौतिक द्वन्द्वमान आविष्कारकके मतसे ही विरुद्ध है। हीगेलके मतानुसार यह ठीक है; कि तर्क-प्रतितर्क वादसे पक्ष-विपक्षका साधन, बाधन, विरोधोद्भावन तथा विरोध-परिहारसे विचारधारा आगे बढ़ती है, परंतु फिर भी उसकी सीमा है। तर्क या विचारधारा तत्त्वनिर्णयावसान ही होता है। तत्त्व-निर्णयके बाद वह व्यर्थ ही नहीं, अनिष्टकर भी है, परंतु विचारगत विरोध बाह्य वस्तुओंमें भी होना ही चाहिये, यह अनिवार्य नहीं है। अनेक प्रकारके दोषोंसे विचारोंमें भिन्नता होते हुए भी वस्तुओंमें भिन्नता नहीं होती। एक ही रज्जुमें सर्प, धारा, माला, भूच्छिद्रादि अनेक विचार उत्पन्न होते हैं; परंतु वस्तु एक ही है, उसमें कोई भेद नहीं। 'प्रपञ्चका मूल क्या है, आत्मा क्या है', इस सम्बन्धमें वस्तुस्थिति एक रहनेपर भी तर्कों, प्रतितर्कों तथा विचारोंमें पर्याप्त भिन्नता होती है। तर्कोंमें बाह्य वस्तुओं एवं उनकी विचित्रताओंका असर होता है, यह अवश्य है। महाकारण ईश्वर या प्रकृति या भूत व्यापक होते हैं। उनसे विविध, विचित्र कार्य उत्पन्न होते हैं, तदनुकूल विचित्र अवस्थाएँ उद्भूत होती हैं। इनसे भिन्न अन्तर्विरोध नामकी कोई वस्तु नहीं है। कहा जाता है 'हीगेलके अनुसार घटनाओंका विस्तार, विचार-विस्तारसे विदित होता है', परंतु भौतिकवादमें विचारका विस्तार वस्तुओंके विकासपर निर्भर है।

अतिभौतिकवाद और द्वन्द्वमान

अतिभौतिकवादी विचारमें—'प्रकृति वस्तुओं और दृश्यगत घटनाओंका

एक आकस्मिक बटोर है, जहाँ वे एक दूसरेसे विच्छिन्न तथा स्वतन्त्र हैं।' इसके विपरीत द्वन्द्वमान इन वस्तुओं और दृश्यमान घटनाओंको एक सूत्रमें बाँधता है जिसमें उनकी पारस्परिक निर्भरता प्रकाश पाती है। इसलिये द्वन्द्वमानके अनुसार किसी प्राकृतिक घटनाको स्वतन्त्ररूपसे, अपने बहिरावेष्टनसे अलगकर नहीं समझा जा सकता; क्योंकि वे इन बहिरावेष्टनोंसे सम्बन्धित हैं और अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाद्वारा सीमित हैं।

अतिभौतिकवादके विपरीत द्वन्द्वमान यह मानता है कि प्रकृतिकी अवस्था स्थिर और गतिहीन नहीं है, बल्कि अविराम गति और परिवर्तनकी अवस्था है, अविराम नवीन और विकासकी अवस्था है जहाँ किसी-न-किसी चीजका उत्थान और विकास होता है और किसी-न-किसी चीजका ध्वंस और निर्माण। इसलिये द्वन्द्वमानके तरीकेकी यह माँग है कि दृश्यगत घटनाओंका विचार न केवल उनके पारस्परिक सम्बन्ध और उनकी पारस्परिक निर्भरताके दृष्टिकोणसे होना चाहिये, बल्कि उनकी गति, उनका परिवर्तन, विकास, आविर्भाव और अन्तर्धानकी दृष्टिसे भी होना चाहिये। द्वन्द्वमानका तरीका मुख्यरूपसे उसको महत्त्व नहीं देता जो उस मुहूर्तमें स्थायी और दृढ़ मालूम होता है, लेकिन जिसका अन्त होना आरम्भ हो गया हो; बल्कि उसको जिसका उत्थान और विकास हो रहा हो, यद्यपि उस क्षणमें वह भंगुर ही मालूम पड़ रहा है, क्योंकि द्वन्द्वमान उसीको अजेय मानता है जिसका उत्थान और विकास हो रहा हो। एंजिल्सके शब्दोंमें सारी प्रकृति, छोटी-से-छोटी लेकर बड़ी-से-बड़ी चीज, एक बालूके कणसे सूर्यतक, प्रोटिस्टा (प्राथमिक जीवित कोष) से मनुष्यतक, लगातार आविर्भाव और तिरोधानकी अवस्थामें है, सदा परिवर्तनशील है और परिवर्तनकी अवस्थामें है इसलिये एंजिल्सका कहना द्वन्द्वमान वस्तुओं और उनके मानसिक प्रतिबिम्बोंको उनके पारस्परिक सम्बन्ध और संयोगमें उनकी गति, उनके उत्थान और अन्तर्धानमें देखता है।

'अतिभौतिकवादके विपरीत द्वन्द्वमान विकासकी क्रियाको सामान्य वृद्धिके रूपमें, जहाँ परिमाणकी वृद्धि और ह्राससे गुणोंका परिवर्तन नहीं होता, नहीं देखता, बल्कि ऐसे विकासके रूपमें देखता है, जो नगण्य और अदृश्य परिवर्तनसे बुनियादी गुणोंके परिवर्तनके रूपमें परिणत होता है। इस विकासमें गुणात्मक परिवर्तन धीरे-धीरे नहीं होता, बल्कि एकाएक और द्रुतगतिसे; जो एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें कुदानका रूप लेता है। यह आकस्मिकरूपसे घटित नहीं होता, बल्कि क्रमवर्धमान परिमाणात्मक परिवर्तनोंके संग्रहका परिणाम है। द्वन्द्वमानके तरीकेके लिये यह आवश्यक है कि इस विकासकी क्रियाको हम चक्रगतिके रूपमें न देखें, न इस रूपमें कि जो कुछ पहले घटित हो चुका है,

उसकी सामान्य पुनरावृत्ति हो रही है, बल्कि एक अनुगति और ऊर्ध्वगतिके रूपमें, एक गुणात्मक अवस्थासे दूसरी नयी गुणात्मक अवस्थामें परिवर्तनके रूपमें, साधारणसे असाधारण, निम्नस्तरसे उच्चस्तरपर विकासके रूपमें देखना चाहिये।'

अवश्य ही वस्तु-वैचित्र्य विचार-विस्तारमें उपयोगी है, फिर भी वस्तु बिना भी स्वप्नों, मनोरथोंमें विचार, विस्तार परिलक्षित होते हैं, परंतु विचार बिना तो वस्तुका विकास असम्भव ही है। जैसे वैज्ञानिक यन्त्र, रासायनिक तत्त्वोंका विकास, विश्लेषण विचारप्रभूत हैं, वैसे ही प्राकृतिक, भौतिक गति या विकास भी ईश्वरीय विचारमूलक ही हैं। इसीलिये—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' (छां० उ० ६। २। ३)

—इत्यादि वचनोंसे उपनिषदोंमें स्पष्टरूपसे कहा गया है कि स्वप्रकाश, सत्, चेतनने ही ईक्षणपूर्वक विश्व-निर्माण किया। द्वन्द्वमानके जादूसे जड-प्रकृति या जड-भूतोंमें स्वतः चन्द्र, सूर्य आदि निर्माणकी क्षमता नहीं सिद्ध होती। पशु-मनुष्य एवं उसके दिव्य मस्तिष्क आदि यदि केवल भूतोंका ही करिश्मा है, तो विविध यन्त्रोंके निर्माणके लिये भी चेतन मनुष्यकी अपेक्षा न होनी चाहिये। अध्यात्मवादमें प्रकृति, वस्तुओं एवं घटनाओंका आकस्मिक बटोर नहीं है। यह कल्पना तो असमीक्ष्याकारी जड़में ही हो सकती है। अध्यात्मवादमें तो संसारके किसी पदार्थकी चेष्टा कर्मसापेक्ष ईश्वरके विचारसे ही होती है। किसी भद्दे पाश्चात्त्य अध्यात्मवादमें प्रकृतिको वस्तुओं एवं घटनाओंका आकस्मिक बटोर कहा जा सकता है। मार्क्सवादका प्रकृति शब्द भी भ्रामक है, वस्तुतः वे सांख्योंकी प्रकृतितक पहुँच भी नहीं सके हैं। वे तो भूतों, परमाणुओं तथा उसके कतिपय विश्लेषणों-तक ही पहुँच सके हैं। अध्यात्मवादियोंकी दृष्टियोंसे आकाशसे भी सूक्ष्म शब्द तन्मात्रा और उससे भी सूक्ष्म अहं, अहंसे भी सूक्ष्म महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे भी सूक्ष्म प्रकृति है। इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है।

प्रपञ्चकी विचित्रतासे सम्बन्धकी भी विचित्रता होती है, अतएव विच्छिन्न, अविच्छिन्न, स्वतन्त्र, अस्वतन्त्र—अनेक प्रकारके पदार्थ संसारमें होते हैं। प्रत्येक भोग्य पदार्थ भोक्तृसम्बद्ध होते हैं। प्रत्येक कार्य, कारणसम्बद्ध भी होते हैं। साथ ही अनेक पदार्थ परस्पर सम्बद्ध होते हैं, कई असम्बद्ध होते हैं। कई अनुकूल सम्बन्ध-वाले, कई प्रतिकूल सम्बन्धवाले होते हैं। भौतिकवादी सम्मत-प्रपञ्चकी अप्रामाणिक एक सूत्रबद्धताकी अपेक्षा ईश्वर, काल, कर्म तथा भोक्तासे उसकी सम्बद्धता कहीं श्रेष्ठ है। घटनाओंके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। संसारमें कितने ही पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, उनकी परम्परासे भी परस्पर सम्बन्ध नहीं होता; फिर प्रत्येक पदार्थको परस्पर निर्भर कैसे कहा जा सकता

है ? द्वन्द्वमानमें ही नहीं, किसी भी दर्शनमें किसी वस्तुको समझने, पहचाननेके लिये अपेक्षित अङ्गोपाङ्गका ज्ञान सम्पादित किया जाता है। किसी रोगको समझनेके लिये उसके निदान, आहार-विहार, देश-काल, साक्षात् या परम्परासे प्रभाव डालनेवाले पदार्थों तथा घटनाओंपर विचार किया ही जाता है। इसी प्रकार सम्बन्धित सभी घटनाओंके सम्बन्धमें विचार किया ही जाता है। प्रकृतिकी अविराम गति और प्राचीनका तिरोभाव, नवीनका आविर्भाव आदि कल्पनाएँ सांख्योंकी ही हैं। इसी आविर्भाव-तिरोभावको निर्माण तथा ध्वंस कहा जा सकता है। अवश्य ही सांख्यके मतानुसार सत्का ही आविर्भाव-तिरोभाव होता है; अत्यन्त असत्का नहीं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता २ । १६)

यह कोई द्वन्द्वमानका नया दृष्टिकोण नहीं है। सभी विचारक किसी भी घटनामें आविर्भाव-तिरोभावके विचारको आदर देते हैं।

जिसकी आयति (भविष्य) उत्तम होती है, वही महत्त्वपूर्ण होता है। इसीलिये द्वितीयाके चन्द्रका वन्दन किया जाता है; क्योंकि वह उत्तरोत्तर वर्धमान दशामें रहता है। आयतिशून्य पूर्णिमाका पूर्ण चन्द्र भी इतना माङ्गलिक नहीं माना जाता; क्योंकि उसके अभ्युदयके दिन समाप्त हो चुके होते हैं, अब उसका उत्तरोत्तर ह्रास ही होनेवाला है—'प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजाः'। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि जो ह्रासको प्राप्त हो रहा है, अब उसका विकास होगा ही नहीं। देखते ही हैं कि जिस चन्द्रमाका ह्रास होता है, उसीका पुनः विकास होता है। जिस समुद्रमें भाटा आता है, उसमें पुनः ज्वार आता है। अनेक बार मनुष्यकी रुग्णता और पुनः स्वस्थता होती है। माली हालतमें भी बिगाड़, सुधार होता रहता है। पृथ्वी अनेक बार अनुर्वरा हो जाती है, उपज घट जाती है; पुनः उपचारसे उर्वरा बनायी जाती है।

मार्क्स तथा लेनिनकी भविष्यवाणी थी कि 'मजदूरोंद्वारा ही क्रान्ति होगी। किसान सामान्य पूँजीवादी भले ही संख्यामें अधिक हों और गरीब भी हों; तब भी वे कभी वर्धमान, विकासमान नहीं हैं; अतः उनकी कभी उन्नति होनेवाली नहीं।' पर चीन और भारतमें ठीक इसके विपरीत हुआ, यहाँ किसानों, मध्यवर्गों, सामान्य उत्पादन साधनवालों अर्थात् साधारण पूँजीपतियों-द्वारा ही क्रान्ति हुई। इतना ही नहीं, भारतमें तो शान्तिपूर्ण अहिंसात्मक आन्दोलनद्वारा पर्याप्त सफलता मिली है, जिसकी मार्क्सवादमें कल्पना भी नहीं हो सकती। परिवर्तनसम्बन्धी एंजिल्सकी बात अध्यात्मवादीके लिये कोई नवीन वस्तु नहीं है। हाँ, आत्मा कूटस्थ होनेसे अपरिवर्तनशील है, वह सब परिवर्तनोंका द्रष्टा

है, अन्यथा परिवर्तनका अस्तित्व भी कैसे सिद्ध होगा ? बाह्य वस्तुओंमें मन एवं मानसिक परिवर्तनोंके होनेपर भी सर्वसाक्षी अपरिवर्तित ही रहता है।

सच्ची बात तो यह है कि मार्क्सवादियोंने भारतीय दर्शनोंकी गम्भीरता ही नहीं समझी। वे अध्यात्मवादके नामपर बहुत-सी अनर्गल बातें कहते हैं। अध्यात्मवादी सामान्य-वृद्धिरूप विकास नहीं मानते, किंतु बादलोंके संघर्षसे या ऋणात्मक, धनात्मक विद्युत्-धाराओंके सम्पर्कसे एकाएक महान् प्रकाश-जैसा द्रुतगामी प्रकाशरूप विकास भी मानते हैं। जलका बर्फ बन जाना और बाष्प बन जाना यह कौन नहीं जानता ? इसे एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाकी कुदान कही जाय या क्रमवर्धन परिमाणात्मक परिवर्तनोंके संग्रहका परिणाम कह लिया जाय अथवा सीधी भाषामें परिणामविशेष कह लें, कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। इसी तरह विकासकी गति उत्तरोत्तर अग्रगति, ऊर्ध्वगतिकी ओर अवश्य होती है; परंतु जिनका इतिहास क्षुद्रतम है, उन्हीं लोगोंके लिये ऐसी अनुभूति होती है। जिनके यहाँ वर्तमान सृष्टिका ही इतिहास अरबों वर्षोंका है, फिर अनन्त सृष्टि-संहारोंका इतिहास भी जिनके सामने है, उनके लिये तो चन्द्रमाके ह्रास-विकासके तुल्य, सूर्यके उदय-अस्तकी तरह दिन-रात, जन्म-मरण, समुद्रके ज्वार-भाटा, सोने-जागने तथा ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त ऋतुके परिवर्तनके तुल्य सृष्टि-प्रलयकी परम्परा चलती है।

संसारके सबसे प्राचीन ग्रन्थ अपौरुषेय अनादि वेद कहते हैं—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत। (तै० आ० १०।१।१४)

'धाताने यथापूर्व ही सूर्य-चन्द्रका निर्माण किया।' महादार्शनिक भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।' (८।१९)

ये वे ही भूतग्राम पुनः उत्पन्न होकर प्रलीन होते हैं। यह प्रपञ्च-प्रवृत्ति निरुद्देश नहीं है। जड प्रकृतिका स्वतन्त्र कोई उद्देश्य नहीं होता। उद्देश्य चेतनका ही होता है। अनादि अविद्या काम-कर्मबद्ध जीवोंको भोग एवं अपवर्ग सम्पादन करना ही प्रकृतिप्रवर्तनका ईश्वरीय उद्देश्य है।

मार्क्सीय विचार-धाराका आधार इतिहास लघुतम है। जिसमें कुछ शताब्दियोंसे ही मनुष्य संसारकी उत्पत्ति, वर्गसंघर्षके इतिहासका प्रारम्भ और कुछ ही शताब्दियोंमें वर्गसंघर्षके इतिहासकी समाप्ति भी हो जाती है। मार्क्सके मतानुसार कम्युनिष्ट-राज्य होते ही वर्ग-संघर्षकी समाप्ति हो जाती है। इस वर्ग-संघर्षके भी विकासकी उत्तरोत्तर प्रगति क्यों नहीं होती, यह तो वे ही जान सकते हैं। यदि किसी भी सिद्धान्तके विरोधी कुछ लोग हो सकते हैं और उनकी संख्या

बढ़कर प्रतिवाद खड़ा हो जाता है, तो कम्युनिज्म ही इसका अपवाद क्यों ? उसके भी तो विरोधी हैं ही, उनकी भी संख्या बढ़ती ही है।

सिद्धान्ततस्तु—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्॥
(वाल्मी० रा० अयोध्या० १०५।१६)

संसारके सभी संग्रहोंका एक दिन क्षय होता है, सभी उत्थानोंका एक दिन पतन होता है, सभी संयोगोंका एक दिन वियोग होता है और सभी जीवनोंका एक दिन मरण होता है। फिर कम्युनिष्ट-राज्यका कभी अन्त न होगा यह कल्पना भी अन्ध-विश्वास ही है। यदि सब पुरानी वस्तुओंका विनाश होता है, तो कभी कम्युनिष्टराज्य या वर्गविहीन-राज्य भी पुराना होगा और इसका भी विनाश, ध्वंस किंवा निर्वाण ध्रुव है।

एंजिल्सके शब्दोंमें 'प्रकृति द्वन्द्वमानका परीक्षास्थल है। यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक प्रकृति-विज्ञानने इसके प्रभूत उदाहरण दिये हैं, जो प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं और इस प्रकार यह प्रमाणित कर दिया है कि अन्तिम विश्लेषण करनेपर प्राकृतिक प्रक्रिया आतिभौतिक नहीं बल्कि द्वन्द्वात्मक है। अनन्तकालसे यह किसी चित्रगतिसे नहीं घूमती; बल्कि इसका एक इतिहास है। यहाँ डार्विनका नाम सर्वप्रथम है, जिसने यह प्रमाणित कर कि आजका सावयव संसार उद्भिज्जपशु और इस प्रकार मनुष्य भी कोटिशः वर्षोंकी विकास-क्रियाका परिणाम है, प्रकृतिकी आतिभौतिक कल्पनापर प्रचण्ड प्रहार किया। वह कहता है—'भूतविज्ञानमें प्रत्येक परिवर्तन परिणामका गुणमें परिवर्तन है। यह परिमाण किसी-न-किसी प्रकारकी गतिका परिमाण है, जो या तो वस्तुविशेषमें वर्तमान है या उसको दी जाती है। उदाहरणार्थ पानीके उत्तापको एक सीमातक बढ़ाते हुए उसकी द्रवावस्थापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। लेकिन ज्यों-ज्यों यह उत्ताप घटता या बढ़ता है, एक क्षण आता है, जब पानीकी अवस्था-में परिवर्तन होता है और एक दशामें यह भाप बन जाता है और दूसरी दशामें बर्फ। किसी प्लैटिनमके तारको गर्म करनेके लिये कि वह चमक सके एक निश्चित परिमाणकी बिजली आवश्यक है। हर खनिज पदार्थके गलनेका एक विशेष उत्ताप होता है। हर वायवीय पदार्थके लिये एक निश्चित विन्दु है, जब कि उचित ठंढक और दबावके प्रयोगसे उसको तरल पदार्थमें परिणत किया जा सकता है। पदार्थ-विज्ञानमें जिनको स्थिरसंज्ञक माना जाता है, अधिकांश क्षेत्रमें वे ही विन्दु हैं, जब गति या विन्दुके ह्राससे वस्तुविशेषमें गुणात्मक परिवर्तन होता है। ऐसी स्थिर संज्ञाका उदाहरण है वह कोण, जिसपर आलोक रश्मि-का परिवर्तन होकर सीधा प्रतिफलन होता है।'

रसायन-शास्त्रपर विचार करते हुए एंजिल्स आगे चलकर कहता है—'रसायन-शास्त्रके विज्ञानका सार यह है कि वस्तुओंमें परिमाणात्मक परिवर्तनके फलस्वरूप उसके गुणोंमें परिवर्तन होता है। हीगेलको इसका ज्ञान था। अम्लजन, यदि इसके अणुमें दो न होकर तीन परमाणु हो, तो यह ओजोन बन जाता है जिसका गुण साधारण अम्लजनसे भिन्न है। आतिभौतिकवादके विरुद्ध द्वन्द्वमान यह समझता है कि सब वस्तुओंमें तथा दृश्यगत घटनाओंमें अन्तर्विरोध वर्तमान है; क्योंकि इनमें एक भावात्मक और दूसरा अभावात्मक कोण है। एक भूत तथा भविष्य है। इनमें कुछ विकास हो रहा है, परिमाणात्मक परिवर्तनोंकी गुणात्मक परिवर्तनोंमें परिणति हो रही है। विकास क्रियाकी भीतरी बात है इन विरोधियोंका संघर्ष, पुराने और नयेमें; जिसका विनाश हो रहा है और जन्म हो रहा है, उसमें; जो अदृश्य हो रहा है तथा जिसका विकास हो रहा है, उसमें।'

आधुनिक विज्ञान कोई ऐसी चीज नहीं है, जो इदमित्थं सही हो और उसके आधारपर आत्मा, धर्म तथा ईश्वरकी समस्या हल की जा सके। उसके सम्बन्धमें कितने ही विकल्प हैं। लार्ड केल्विनकी घोषणा थी कि वे ऐसा भाव समझनेमें असमर्थ थे, जिसको वे यन्त्र-रचनामें परिणत न कर सकें। परंतु अब तो केन्द्राकर्षण, काल और दिक्सम्बन्धी विचारतक बदल गये। गणित तथा पदार्थ-विज्ञानमें बहुत-से सिद्धान्त ऐसे हैं, जो परस्पर विरोधी हैं। उदाहरणार्थ पहले यूक्लिडके स्वतःसिद्ध नियम अनिवार्य विचार-तत्त्व माने जाते थे; परंतु सालिवानके अनुसार अब वह पुरानी वस्तु हो गयी। उनका कहना है आजसे सौ वर्ष पूर्व लोवाशेफ्स्की नामक रूसीने और बोलीयाई नामक हंगेरियनने यह जान लिया था कि यूक्लिडका रेखागणित अविवेच्य आवश्यकताका स्थान नहीं ले सकता। दो हजार वर्षतक यूक्लिडके सिद्धान्तोंने निर्विरोध राज्य किया, सभी वैज्ञानिक उन्हें जितना मनुष्योंके लिये, उतना ही देवताओंके या ईश्वरके लिये भी आवश्यक मानते थे। उस समय लोवाशेफ्स्की तथा बोलियायीको लोग विक्षिप्त कहते थे। महान् विद्वान् गाँसतकको जो स्वयं इसे समझ चुका था, अपना आविष्कार प्रकाशित करनेका साहस न हो सका, परंतु अन्तमें लोआशेफ्स्की आदिकी बात मान्य हुई।

सालिवानके अनुसार 'आज जर्मन रेखागणितकार रीमानके रेखा-गणितसे ही अनेक प्रश्नोंका निर्णय होता है।' अब वैज्ञानिकोंको विश्वास हो गया कि जिस दिक्में हमारा अस्तित्व है, वह यूक्लिडके रेखा-गणितके नियमोंपर नहीं चलती, रीमानके दो रेखागणितके नियमोंपर चलती है। आज पहलेके सिद्धान्तोंके विपरीत मान्यता है कि दिक्का विस्तार असीम नहीं, सीमित है। दो विन्दुओंके बीचका न्यूनतम अन्तर ऋजु रेखा नहीं, एक त्रिकोणके तीनों कोण सम्मिलित होकर दो

समकोण नहीं बनाते। प्रकाशकी किरणें ऋजु रेखाओंमें नहीं फैलतीं। जिस वस्तुपर प्रकाश-रश्मि पड़ती है उसपर दबाव डालती है। सीमित एवं गोलाकार दिक्का आकार निरन्तर तेजीसे बढ़ता जा रहा है। दिक् पारिमाणिक नहीं। एक परमाणुका प्रभाव सम्पूर्ण विश्वपर रहता है। परमाणुमें एलेक्ट्रान (परमाणुका अस्थिर शक्तिकण), प्रोटान (केन्द्रित शक्तिसमूह) के चारों ओर घूमे हुए बिना ही बीचके स्थानकी यात्राके एक मार्ग-चिह्नसे दूसरे मार्ग-चक्रमें पहुँच जाता है। आज तो विज्ञान-वेत्ताओंने विद्युत्कण-को स्वेच्छाचारी भी मान लिया है, जिससे यन्त्रवादका बिल्कुल ही नाश हो जाता है। जिस आइजक न्यूटनके केन्द्रिय आकर्षणका सिद्धान्त आज भी श्रद्धासे पढ़ाया जाता है, उसीके सम्बन्धमें सालिवानका कहना है कि न्यूटनका यह आविष्कार और इसकी पुष्टि मानुषी बुद्धिकी चरम कृति समझी जाती थी, तो भी आज हम केन्द्रियाकर्षणकी व्याख्या सर्वथा भिन्न परिभाषाद्वारा करते हैं। इस विषयपर हमारा सम्पूर्ण दृष्टिकोण न्यूटनके दृष्टिकोणसे जड़से ही भिन्न है। न्यूटनके सिद्धान्तको लागू करनेसे कई अंशोंमें वह अवास्तविक और अशुद्ध ठहरता है। आज वह प्रणाली जड़ और शाखासहित उखाड़ फेंकी गयी, जिसकी नींवपर इस सिद्धान्तको खड़ा किया गया था।

इस तरह आजके पाठ्यग्रन्थोंमें पढ़ाया जाता कि पृथ्वीमें गम्भीर प्रवेश करनेवाली प्रकाशरश्मियाँ दूरवर्ती तारक गणोंके स्तरपर हो रहे द्रव्यनिर्माणकी उपज हैं। दूसरे सिद्धान्तद्वारा इसी प्रकारकी उपजका कारण द्रव्यनाश बतलाया जाता है, जो कि ठीक पूर्वके विपरीत है। एक सिद्धान्तके अनुसार अस्थिर विद्युत्कण तरङ्गका गुण रखते हैं, दूसरे सिद्धान्तके अनुसार कणोंका इनमेंसे किसीका भी त्यागना सम्भव नहीं; क्योंकि कुछ घटनाओंकी व्याख्या पहले सिद्धान्तानुसार होती है, कुछका दूसरे ही द्वारा। मनोविज्ञानके क्षेत्रमें भी परस्परविरोधी सिद्धान्तोंपर आधारित चार सम्प्रदायें बन गयी हैं। इनफ्रायड एटलर यूंग और स्टैक्कैलके सम्प्रदायमें बड़े-बड़े प्रतिभाशाली विद्वान् अपने पक्षका समर्थन करते हैं। जीवशास्त्रमें भी आकस्मिक परिवर्तनोंके प्रश्नपर प्रो० वाइजमैन एवं लेमार्कके अनुयायी एक दूसरेका निरन्तर विरोध करते हैं। एलोपथिकमें बी० सी० जी० के प्रामाणिक विद्वान् पी० बी० बैजमिनके अनुसार बी० सी० जी० प्रभावशाली एवं निरापद यक्ष्मानिरोधक उपचार है। पर डाक्टर डब्ल्यू० एफ० ब्राडले (इंग्लैंड) अभी भी इसे विवादास्पद ही समझते हैं। पाश्चात्त्य मनोविज्ञानका प्रवर्तक फ्रायड कहता है कि हिस्टीरियामें जो डाक्टर औषध देता है वह कोरा ठग है; किंतु सभी डाक्टर हिस्टीरियामें औषध देते हैं। सालिवानके अनुसार सत्यसे वैज्ञानिकोंका वास्तविक अन्तिम अभिप्राय सुविधासे है। वैज्ञानिक सैद्धान्तिक दृष्टिकोणसे अपने-आपको कुछ

भी समझें, वास्तवमें वे क्रियासाधक होते हैं। अलेक्सिस कैरलका कहना है कि गणित भौतिक और रसविज्ञान आवश्यक विज्ञान है, परंतु चेतन द्रव्योंकी खोजमें मूल प्रारम्भिक विज्ञानोंका स्थान इन्हें प्राप्त नहीं हो सकता। उसके अनुसार मानव-जातिके दुष्ट और पतित बड़ी संख्याके नियन्त्रण तथा मार्गदर्शनके लिये सात्त्विक आहार-विहारद्वारा आध्यात्मिक प्रवृत्तिवाले तपस्वियोंकी एक अल्प संख्या बननी चाहिये—यह भारतीय ही सूझ है।

अभी थोड़े ही दिन हुए डाक्टर लोकी यह बात इंग्लैंडकी विज्ञान-परिषद्में दुहरायी गयी है कि आधुनिक विज्ञानकी सबसे बड़ी खोज यह है कि 'अभी हमलोग कुछ भी नहीं जानते हैं।' फिर विज्ञानके बलपर मार्क्स, एंजिल्सका सब कुछ जान सकनेका दावा करना निरादम्भ नहीं तो क्या है? जहाँ अभीतक अहंतत्त्व और महत्तत्त्वतक; शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन मात्राओंको जाननेमें विज्ञान सफल नहीं हुआ है, फिर अहंतत्त्व, महत्तत्त्व और अव्यक्त प्रकृतिकी बात तो दूरकी है। फिर 'अणोरणीयान्' आत्मा और परमात्माको वैज्ञानिकोंकी यान्त्रिक कसौटीपर कसना केवल उपहासास्पद नहीं तो क्या है? इसी प्रकार एंजिल्स तथा मार्क्सका इतिहास महान् आर्ष इतिहासकी अपेक्षा एक विकृत अप्रामाणिक क्षुद्रतम इतिहास है, अतः इसके आधारपर संसारका स्वरूप निर्धारित नहीं हो सकता। डार्विनने स्वयं ही अपने लिये अनेक विषयोंको अज्ञेय माना है। उद्भिज, पशु और मनुष्योंकी विकास-कहानी स्वयं ही अप्रामाणिक है, फिर इसके द्वारा अतिभौतिकवादपर प्रचण्ड आघात आकाश-मुष्टिहननके तुल्य है।

हेतुविशेषोंसे वस्तुओंका रूपान्तरण होता है; किंतु वह रूपान्तरण वस्त्वन्तरण नहीं है। बर्फ हो जानेपर भी वस्तु जल ही रहता है। इसी तरह भाप बन जानेपर भी जलका अभाव नहीं हो गया। 'नासतो विद्यते भावः' का निश्चित सिद्धान्त सुस्थिर है। जैसे प्रसारित पट और संकुचित पटकी अवस्था-विशेष है, वैसे ही बर्फ और भाफ-जलकी अवस्था-विशेष ही है। अन्य उदाहरण भी इस सिद्धान्तके विरोधी नहीं हैं। रसायनशास्त्रके उदाहरण भी उक्त सिद्धान्तके बाधक नहीं हैं। अम्लजनके तीन परमाणुओंसे ओजोन बनता है, उसका गुण अम्लजनसे भिन्न होता है। इसी तरह नैयायिकोंके अनुसार दो परमाणुओंके द्व्यणुक बनते हैं; परंतु तीन परमाणुका कुछ भी नहीं बनता। छः परमाणुओंका त्रसरेणु बनता है, पाँचका कुछ नहीं। औषधोंकी मात्रा-भेदसे गुणभेद तो प्रसिद्ध ही है। पृथक्-पृथक् ओषधिओंके गुणोंसे सम्मिलित ओषधियोंके गुणोंमें संसर्गजनित विशेषता होती है। एक मात्रासे पानी, अन्न या दुग्ध शरीरके पोषक होते हैं और वे ही दूसरी मात्रासे शरीरके नाशक बन जाते हैं। ऐसी बातोंको अतिभौतिकवादके विरुद्ध समझना नितान्त भ्रम है।

वस्तुओं एवं घटनाओंमें अन्तर्विरोधकी कल्पना भी तत्त्वशून्य है। भावात्मक अभावात्मक यदि क्रमिक हों तो उनका विरोध कहा ही नहीं जा सकता, विरोध तो सम देश-कालमें उसी वस्तुके भावाभावका होता है। भूत और भविष्य आविर्भाव-तिरोभाव पुराने-नये—ये सभी भिन्नकालिक होनेसे विरोधी हैं ही नहीं। पिता-पितामहादि प्राचीन, पुत्र-पौत्रादि नवीन, अध्यापक प्राचीन, छात्र नवीन, इनमें विरोध नहीं है, किंतु उपकार्योपकारभाव है। मनुष्यकी बैठने, लेटने, चलने आदिमें कई ढंगकी अवस्थाएँ विकसित होती हैं, जो परस्पर एक दूसरेसे विलक्षण होती हैं। इसी तरह बीजके अवयवोंका बीज अङ्कुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा आदि अनेक अवस्थाएँ होती हैं, इनमें पूर्व-पूर्व अवस्था उत्तरोत्तर अवस्थाओंकी जननी है—सहायक है, विरोधकल्पना दूरभिसंधिपूर्ण है। सिर्फ वर्गविद्वेष, वर्गविध्वंसके वाले कारनामोंके समर्थनके लिये उसे दार्शनिकरूप देनेका प्रयत्न किया जाता है। जैसे पिता अपने उत्तराधिकारी पुत्रके जन्मके लिये प्रयत्नशील होता है, उसी प्रकार कारण भी अपने उत्तराधिकारी कार्यके जन्मके लिये अनुकूल होता है। राजा शिबि एवं दिलीपने तो स्वशरीर देकर भी कपोत तथा नन्दिनी गायकी रक्षाके लिये प्रयत्न किया था। यहाँ विरोध नहीं, किंतु उपकारकी भावना है। वस्तु स्थिति तो यह है कि विवर्धमान क्षीयमानका सहायक होता है, युवक वृद्धकी सेवासे अपनेको पुण्यात्मा मानता है; बलवान् निर्बलका, विद्वान् अविद्वान्का, धनवान् निर्धनका सहायक होता है—यही मानवता है।

कहा जाता है कि 'द्वन्द्वमानके अनुसार निम्नस्तरसे ऊँचे स्तरपर विकासको हम साधारण पट-परिवर्तनके रूपमें नहीं देखते; बल्कि वस्तुओं और दृश्यगत घटनाओंमें वर्तमान विरोधके रूपमें तथा इन विरोधियोंकी बुनियादपर कायम दो विपरीत गतियोंके संघर्षके रूपमें देखते हैं। लेनिनके शब्दोंमें द्वन्द्वमान वस्तुओंकी सत्ताके आन्तरिक विरोधका अध्ययन है। लेनिनके ही शब्दोंमें द्वन्द्वमान वस्तुओंकी सत्ताके आन्तरिक विरोधका अध्ययन है, और विकास विरोधियोंके संघर्षका नाम है। द्वन्द्वमान प्रतिदिनके साधारण तर्कशास्त्रका स्थान नहीं ले सकता, जिस प्रकार बीजगणित या संख्यानुगणित अङ्कगणितका स्थान नहीं ले सकते। जिस प्रकार अङ्कगणितकी सीमाके बाहरकी समस्याओंको हल करनेके लिये गणितकी उच्च शाखाओंका प्रयोग किया जाता है, उदाहरणार्थ उन समस्याओंका जिनमें अज्ञात और परिवर्तनीय परिमाण या संख्या और उनके सम्बन्धोंका विचार होता है। उसी प्रकार द्वन्द्वमान गतिशील सम्बन्धों और क्रियाओंका साधारण तर्कशास्त्रके दायरेमें लानेका साधन है; क्योंकि साधारण तर्कशास्त्र

केवल स्थिर सम्बन्धोंको लेकर चलता है, द्वन्द्वमान उसीको लेकर कार्यारम्भ करता है जिसको अपने दायरेके बाहर रख छोड़नेके लिये साधारण तर्कशास्त्र मजबूर है, वह यह कि किसी वस्तुको अपने ही द्वारा समझा नहीं जा सकता। इसको यों ही समझा जा सकता है कि यह और किसी वस्तुसे आया और किसी अन्य वस्तुकी ओर यह जा रहा है और इसकी गतिका कारण है इसके और इसके बहिरावेष्टनके बीचका एक क्रियाशील सम्बन्ध । इसलिये द्वन्द्वमान प्रत्येक वस्तुकी अन्य वस्तुओंके बीच पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रियाके फलस्वरूप गतिका मूर्तरूप ही समझता है । प्रत्युत्पादक, विपरीतानुवर्तन, विरोध और संघर्ष (जो परिवर्तन और विकासका भी जनक है) के बिना द्वन्द्वमान असम्भव हो जाता है । गति और उसके रूपान्तरके अध्ययनके लिये द्वन्द्वमान अत्यावश्यक है। लेकिन जहाँ रूप, सार सम्बन्धका विकार तुलनात्मकरूपसे नहीं होता, वहाँ साधारण तर्कशास्त्रका प्रयोग ही सिद्ध है ।

"द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मनुष्यके वास्तविक भौतिक अस्तित्वके स्थूल सत्यको लेकर चलता है । यह उस अतिभौतिकवादी तरीकोंका तिरस्कार करता है जो संसारके विषयमें एक कल्पित मतका प्रचार करना चाहता है, जैसे यह एक है या अनेक, यह युक्त है या विच्छिन्न इत्यादि । प्रत्यक्षीकरण और प्रत्यक्षीभूत कल्पनाका रूप प्रतिबिम्बका-रूप है। बाहरी दुनियाका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस ओर भी दृष्टि आकर्षित करता है कि यह मानसिक क्रियाशील है, यह निष्क्रिय प्रतिबिम्बमात्र नहीं है। इसके अनुसार विचार, भूत जिसका वास्तविक अस्तित्व है, जो क्रियाशील और इसलिये विकासमान है—कि सम्बन्धित सम्पूर्णता और जीवित मनुष्योंके बीच व्यावहारिक सम्बन्धका परिणाम है । यान्त्रिक भौतिकवाद विश्वको मशीनकी तरह एक प्रणालीबद्धरूपमें देखता है, जब कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसको एक असीम सृजनात्मक क्रियाके रूपमें देखता है।"

पूर्वोक्त युक्तियोंसे स्पष्ट है कि मार्क्सवादियोंका विरोध एक विचित्र वस्तु है, जो कारणगत विरोधरूपसे उच्चस्तरीय विकासका कारण बनता है। अध्यात्मवादीको इसमें विरोधकी कोई बात ही नहीं दीखती। जो एक साथ मिलकर कार्योत्पादक होते हैं, उन्हें अध्यात्मवादी सहयोगी ही कहते हैं, विरोधी नहीं। अग्नि, जल, सत्त्व, रज, तम आदि परस्पर विरोधी तत्त्व भी सहयोगी होकर कार्योंके जनक होते हैं, यह स्पष्ट किया जा चुका है। साधारण तर्कशास्त्र एवं द्वन्द्वमानका भेद भी वैसा ही है, जैसे मित्रातनय एवं वन्ध्यातनयका। कहना न होगा कि ऐसा कोई भी द्वन्द्वमानका विषय नहीं है, जो तर्कशास्त्रका विषय न हो। जो वस्तु अनादि अपौरुषेय, शास्त्रैकसमधिगम्य है, वह धर्म-ब्रह्मादि न तर्कका विषय है, न द्वन्द्वमान-का। अतः 'अङ्कगणितकी सीमाके बाहरकी समस्याओंको हल करनेके लिये जैसे

बीजगणित-संख्यानुगणित अपेक्षित होते हैं, वैसे ही साधारण तर्कके सीमाके बाह्यकी समस्याओंको हल करनेके लिये द्वन्द्वमान है, यह भी साधारण तर्कसे उच्चकोटिका तर्क है,' इत्यादि कथन भी मार्क्सवादियोंका स्वगोष्ठिनिष्ठ सिद्धान्त है। स्थिर, अस्थिर—सभी सम्बन्धोंमें तर्कशास्त्रका प्रवेश होता है। वस्तुतः मार्क्सवादमें साधारण तर्कका या द्वन्द्वमानका कोई भी स्पष्ट अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव दोषरहित लक्षण और परिभाषा नहीं है। इसीलिये रबड़-छन्दके समान मार्क्सवादमें मनमाना तर्क चलता है। किंतु तर्कशास्त्रमें तर्ककी विशेष परिभाषा है—'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः।'* व्याप्यके आरोपसे व्यापकका आरोप तर्क कहलाता है। तर्क स्वयं प्रमाण नहीं होता, किंतु अनुमानमें अपेक्षित व्याप्तिज्ञानका सहायक होता है। जो अतर्क्य है, उसीको तर्कशास्त्र छोड़नेको मजबूर होता है। उस सम्बन्धमें द्वन्द्ववाद भी मूक ही रहेगा। साध्य, साधनभाव जैसे स्थिर वैसे ही गतिशील पदार्थोंके सम्बन्धमें भी लागू होते हैं।

किसी वस्तुको समझनेके लिये सम्भावित, असम्भावित सम्बन्धों तथा विविध परिस्थितियोंको जानना तर्कशास्त्रको भी अभीष्ट है। कुछ भारतीय तार्किकोंका तो यहाँतक कहना है कि एक घटका ज्ञान भी पूरा और सही तब होता है, जब घटेतर सकल वस्तु प्रतियोगि-भेदयुक्त घटका बोध होता है। अर्थात् स्वेतर सकल पदार्थोंसे 'भिन्नत्वेन रूपेण' घटका बोध होता है। इतर-भिन्नता जाननेके लिये इतर सकल पदार्थोंका ज्ञान भी आवश्यक होता है। कौन वस्तु किन-किन हेतुओंसे उद्भूत होती है, किन-किन प्रमाणोंसे विदित होती है, इसका अन्तिम परिमाण क्या होगा, उसका किन वस्तुओंपर किस ढंगका प्रभाव होगा—यह तो राजनीति, अर्थशास्त्र, वाणिज्य, आयुर्वेद, अध्यात्मशास्त्र, मन्त्रशास्त्र आदि शास्त्रोंमें विचारा जाता है। इतना ही नहीं, किसका कितना दृष्ट प्रभाव पड़ेगा, कितना अदृष्ट प्रभाव पड़ेगा, यह भी विचार भारतीय शास्त्रोंमें होता है। फिर भी संसारकी प्रत्येक वस्तुकी क्रिया-प्रतिक्रियारूप सम्बन्ध नहीं होता। संसारमें कितने ही पदार्थ परस्पर सहयोगी होते हैं, कितने विरोधी होते हैं, कितने ही उदासीन भी होते हैं। हाँ, प्रत्येक कार्य वस्तु त्रिगुणात्मक होनेसे और गुणोंका चल स्वभाव होनेसे गतिका मूर्तरूप तो नहीं, किंतु गतिका फल कहा जा सकता है। परंतु उसमें जैसे गति निदान है, वैसे ही सत्त्वका प्रकाश और तमका अवष्टम्भ भी मिला हुआ है। विपरीतानुवर्तन विरोध एवं संघर्षके अनेक स्थान हैं, परंतु वहाँ द्वन्द्वमान नामकी कोई सर्वसम्मत वस्तु नहीं है।

गतिका रूपान्तरण स्वयं नहीं होता, किंतु किसी वस्तुके रूपान्तरणमें गति कारण अवश्य है, परंतु वहाँ द्वन्द्वमानका गन्ध भी नहीं है। द्वन्द्वात्मक

* अथवा 'अविज्ञात तत्त्वको प्रमाण, हेतु, उपपत्तिसे जाननेके लिये ऊहापोह करना तर्क है। (न्याय० १। १। ४०)

भौतिकवाद और यान्त्रिक भौतिकवादका भेद भी अवास्तविक है। एकता-अनेकता, युक्तता-अयुक्तता, विच्छिन्नता-अविच्छिन्नताका विचार काल्पनिक नहीं है। इन विचारोंके बिना वस्तुयाथात्म्यका बोध असम्भव ही है। समूचे शरीरको ही मनुष्य या आत्मा मान रखना अविवेकका पूरा परिचय है। जैसे ईंट, चूना, पत्थर, काष्ठ आदिसे बना हुआ मकान एक संघात है, वह किसी अपनेसे असंहत भोक्ता चेतनके लिये होता है, वैसे ही माता-पिताके शुक्र, शोणितसे बना हुआ अस्थि, मांस, चर्ममय पंजर देह भी मकानके समान ही किसी अपनेसे असंहत, असङ्ग चेतनके लिये होना चाहिये।

अचेतनके सभी व्यवहार चेतनके दुःख-निवृत्ति सुखप्राप्तिके लिये होते हैं। वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, दिल, दिमाग आदिकी प्रवृत्तियाँ भी किसी चेतनके सुखार्थ मानना युक्तियुक्त है। इसे काल्पनिक कहना अनुचित है। अतएव मानसिक क्रियाको क्रियाशील मानना भी अनभिज्ञता है। गुण और क्रिया स्वयं ही द्रव्याश्रित होते हैं। जैसे गुण गुणका आश्रय नहीं होता, वैसे ही क्रिया भी क्रियाका आश्रय नहीं होती है। वस्तुतः मानसिक क्रिया भौतिक है—यह भारतीय अध्यात्मवादी भी मानते हैं। ब्रह्मात्मक ज्ञान नित्य-ज्ञान है, वह विभिन्न मानसिक क्रियाओंका भी निर्विकार भासक है। मानसी क्रियाओंकी विशेषता स्पष्ट है, नित्य ज्ञान क्रिया नहीं है, अध्यात्मवादी इसे प्रति-बिम्बरूप मानते ही नहीं। 'फिर निष्क्रिय प्रतिबिम्ब नहीं है'—यह कथन भी अनुक्तोपलम्भ है। विकासमान भूतकी सम्बन्धित पूर्णता या जीवित मनुष्योंके बीच व्यावहारिक सम्बन्धका परिणाम ही ज्ञान है—यह कथन मानसिक क्रियारूप ज्ञानके सम्बन्धमें कहा जा सकता है, परंतु नित्यज्ञानके सम्बन्धमें ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ज्ञानका प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव नहीं सिद्ध होता; क्योंकि भाव, अभाव किसी वस्तुके ग्रहणके लिये ज्ञान आवश्यक ही है।

ज्ञानको स्वभावका ज्ञापक कहना 'वदतोव्याघात' है। जैसे महाकाशमें घटादि उपाधिद्वारा परिच्छिन्नता और अनेकता प्रतीत होती है, वैसे ही विषयों एवं मानसी वृत्तियोंके कारण नित्य ज्ञानमें भी परिच्छिन्नता तथा अनेकता प्रतीत होती है। वस्तुतः निरुपाधिक अनन्त आकाशके तुल्य ही निरुपाधिक ज्ञान भी नित्य एवं अनन्त है। अपरप्रेरित जडपदार्थोंमें स्वतः सर्जनकी शक्ति नहीं होती। विज्ञानसे भी नहीं सिद्ध होता कि किसी चेतन मनुष्यके प्रयत्नके बिना जडपरमाणु, जडविद्युत्कण, जडभूत या प्रकृति गतिशील होनेपर भी नियमित तथा अनुकूल गति बनाकर अभीष्ट कार्य-सिद्धि कर सकेंगे। जल तथा वायु गतिशील हैं, फिर भी कार्यसिद्धिके अनुकूल गतिशील बनाना चेतनका ही कार्य है। इसी तरह गतिशील भूतोंको भी नियामक चेतनकी

आवश्यकता है। क्रिया कोई भी असीम नहीं होती, कर्म या क्रिया स्वयं क्षण-भङ्गुर ही होती है। हाँ, सदृश क्रियाओंका प्रवाह असीम हो सकता है, परंतु यह असीमता भी तो प्रत्यक्ष नहीं है। असीमताका अनुमान ही करना पड़ेगा। अनुमानका भी कोई निश्चित लिङ्ग नहीं है। संसारभरके प्रायः सभी अध्यात्मवादी सम्प्रदाय तथा बौद्ध योगाचार, सौतान्त्रिक, वैभाषिक एवं माध्यमिकतक बन्धको अनादि किंतु सान्त मानते हैं। भगवान् कृष्णकी गीता भी उसे अनन्त बतलाती है। 'नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा (१५ । ३)। इस संसारका न अन्त है, न आदि है। अद्वैतवेदान्तके अनुसार अनादि होते हुए भी सान्त है। गीताके वचनका अभिप्राय यही है कि तत्त्व-साक्षात्कार बिना इस संसारका अन्त नहीं होता। असीम भी हो, सर्जनशक्ति भी हो, तो भी, जडका प्रेरक-प्रवर्तक चेतन आवश्यक ही है। किसी भी जडकी अनुकूल सर्जनशक्ति बिना नियन्त्रणके सर्वथा अदृष्टचर है।

'मनुष्यके मानसिक तथा बाहरी वस्तुओंके संयोगजनित व्यवहारने यह सिद्ध किया कि जिस दिशामें प्राचीन भौतिकवादी सत्यको खोजना चाहते थे, वह वहाँ नहीं है, उसको खोजनेके लिये दूसरी दिशाको जाना पड़ेगा। मनुष्यका विचार जिस सत्यको पहुँच सकता है, वह अनन्त कालके लिये सम्पूर्ण सत्य नहीं है, जिसका अस्तित्व ऐसे पुरुषके लिये है जो मनुष्यके राग-द्वेष और ससीमतासे मुक्त हो। जिस सत्यको मनुष्य पहुँच सकता है, वह उन सम्बन्धोंका—जिनके अन्तर मनुष्य जाता है, चलता-फिरता है और रहता है—एक विकासमान समन्वय है। यह आपेक्षिक सत्य है; क्योंकि यह कुछ पारस्परिक सम्बन्धों तथा क्रिया-प्रतिक्रियाओंका रूप है, जिनको हम उन सम्बन्धोंके अंदरसे ही देखते हैं। पुनः परिमाणकी दृष्टिसे भी यह आपेक्षिक है, क्योंकि इसमें सदा वृद्धि होती रहती है और अधिकतर वृद्धिप्राप्ति करनेकी इसमें शक्ति है। लेकिन गुणात्मक दृष्टिसे और तुलनात्मकरूपमें यह सत्यपूर्ण भी है। यद्यपि यह पूर्ण सत्य नहीं, तथापि जहाँतक यह प्रयोग सिद्ध है, वहाँतक यह सत्य ही है।

''सिद्धान्त और प्रयोग, पूर्णता और आपेक्षिकता, पुरानी अवस्थाका जारी रहना और परिवर्तित होना, कायमी अवस्था और वृद्धि, इन विरोधियोंके एकत्वमें ही कान्टके पूर्व यान्त्रिक भौतिकवाद तथा द्वन्द्वात्मक भौतिकवादका प्रमेय है। एंजिल्सके शब्दोंमें—'पिछली सदीमें भौतिकवादका रूप यान्त्रिक होनेका कारण यह था कि उस समय प्रकृतिविज्ञानकी शाखाओंमें यन्त्रविज्ञानका ही काफी विस्तार हो चुका था। देकार्तेके लिये पशु एक मशीन-जैसा था। अठारहवीं सदीके भौतिकवादके लिये मनुष्य भी वैसे ही था। उस समयके फ्रांसीसी भौतिकवादकी यह संकीर्णता थी कि वह हर प्रक्रियाके सम्बन्धमें यन्त्रवादका प्रयोग करता था, चाहे वह रसायन-शास्त्र हो, चाहे जीव-प्रकृति; जिसके सम्बन्धमें

यान्त्रिक सिद्धान्त लागू है सही, लेकिन जिनका नियन्त्रण और उच्चकोटिके नियमोंद्वारा होता है। उसकी दूसरी संकीर्णता यह है कि वह विश्व संसारको सक्रियरूपमें भूतके ऐतिहासिक विकासके रूपमें नहीं देखता। प्रकृतिकी अविराम गतिका ज्ञान तो लोगोंको था, लेकिन उस समयके विचारके अनुसार यह गति अनन्तकालसे एक चक्रके आकारमें है और उन्हीं परिणामोंका बारंबार आविर्भाव होता रहता है। यान्त्रिकवाद एक यन्त्रचालकका अनुमान करता है और इस प्रकार ईश्वर और अप्रकृतिवादकी पुनः सृष्टि करता है। वास्तविक परिवर्तनकी व्याख्या यह नहीं कर सकता। वास्तविक परिवर्तनका कारण है वस्तुकी स्वयंगति।

द्वन्द्वमानके संक्षिप्त सूत्र १६ हैं—हीगेलके तर्कशास्त्रके ऊपर लेनिनने १६ सूत्रोंका विस्तार किया है, जिनके अध्ययनसे द्वन्द्वमानको समझनेमें बहुत सहायता मिलती है। लेनिनके शब्दोंमें द्वन्द्वमानका संक्षिप्त विवरण है, विरोधियोंका एकत्व। एक प्रकारसे ये सोलहों सूत्र इसीके विशद विस्तार हैं। मनन-क्रियाका आरम्भ होता है, विश्व-प्रक्रियासे। उसके कुछ विशिष्ट गुणोंको अलग करके उनके अलग रूपको ही ध्यानमें लाकर वस्तु (कर्म) को लेकर ही मनन-क्रियाका आरम्भ है। इसलिये द्वन्द्वात्मक मनन-क्रियाके लिये पहले आवश्यक है, वस्तुओंको ज्यों-की-त्यों उनके अलग रूपमें देखना। यही लेनिनका पहला सूत्र है—वस्तुनिरीक्षण।

"लेकिन वस्तुतत्त्वके तोड़नेके पहले कदमको पूरा करना पड़ता है। दूसरे कदमसे इस द्वन्द्वमानका पुनर्निर्माण करके यदि विश्व संसार एक परिवर्तनशील प्रक्रिया है, जिसके अङ्ग परस्पर सम्बन्धित हैं तो हम इनकी पहचान यों करते हैं कि मस्तिष्कमें इन आंशिक क्रियाओंको, यथा समाज उत्पादनके साधन परिवर्तनशील वस्तु शब्दको अलग कर लेते हैं। इनका हम नाम देते हैं—पृथकित (आइसोलैट्स)। यह पृथकित, पारिपार्श्विक अवस्था (बहिरावेष्टन) या स्थान, काल, भूतसे अलग कर लिया गया है। इसलिये स्वयं पृथकित एक कल्पनामात्र है; क्योंकि द्वन्द्वात्मक दृष्टिसे पारिपार्श्विक अवस्थासे मुक्त कोई वस्तु रह नहीं सकती। लेकिन यह कल्पना भी वास्तविक ही है, इसलिये कि वस्तु-राज्यमें इसका अस्तित्व है। द्वन्द्वमानके अध्ययनका पहला कदम है इन पृथकितोंका स्वतन्त्ररूपसे अध्ययन करना और फिर उनको अपनी पारिपार्श्विक अवस्थासे संयुक्तकर द्वन्द्वमानका पुनर्निर्माण करना। इसी प्रकार हम अति-भौतिकवादी अलाहिदापने और एकतरफापनेके ऊपर उठ सकते हैं और दुनियाको एक अन्तःसम्बन्धित गतिके रूपमें देख सकते हैं। यही लेनिनका दूसरा सूत्र है। हमें प्रत्येक वस्तुके दूसरे वस्तुओंसे सम्बन्धोंकी विचित्रता और परिपूर्णताका विचार करना चाहिये।"

प्राचीन भौतिकवादी एवं द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दोनोंहीकी खोजसे परमार्थ सत्य मिलनेवाला नहीं है। परमार्थ निःसीम सत्य एक ही है, उसमें पूर्णता-अपूर्णताकी खिचड़ी नहीं है। उसी परमार्थ सत्यका औपाधिकरूप स्वप्न, शुक्ति, रजतादिमें प्रातिभासिक सत्यरूपमें प्रस्फुटित होता है। व्यावहारिक आकाशादिमें व्यावहारिक सत्यरूपमें प्रस्फुटित होता है। अत्यन्त अबाध्य वस्तु ही परमार्थ सत्य होती है, अतः परमार्थ सत्यका अनन्त एवं कालातीत होना स्वाभाविक है। अविचारित संघातप्राय मनुष्य भले ही आपेक्षिक सत्य हो, परंतु विचारनिर्णीत स्वरूप तो मनुष्योंका ही नहीं प्राणिमात्रका अनन्त सत्य ही है और इस अनृत मर्त्य मनुष्य-देहादिसे ही सत्य अमृत प्राप्त करना जीवनका ध्येय है, यही बुद्धिमानोंकी मनीषाका माहात्म्य है—

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। २२)

अठारहवीं सदीके भौतिकवादियोंसे बहुत पहले ईसाके भी बहुत पहले भगवान् श्रीकृष्णने स्थूलदेह एवं इन्द्रिय, मन, बुद्धि प्राणादि युक्त सूक्ष्म शरीरको यन्त्र मानकर यन्त्रारूढ़ जीवोंको ईश्वराधिष्ठित मायाद्वारा भ्रमण करना माना है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (गीता १८। ६१)

शरीर, दिमाग आदिसे उत्तम यन्त्र अबतक कोई भी नहीं निकले हैं। बल्कि यों कहना चाहिये कि रेल, तार, रेडियो, मोटर, हवाईजहाज एवं अन्य कारखानोंके मशीन-यन्त्र आदि सबका आविर्भाव करनेवाला मनुष्य शरीर, बुद्धि, मस्तिष्क ही है। सुतरां इस सर्वोत्कृष्ट यन्त्रका निर्माता तथा संचालक सर्वज्ञ ईश्वर ही है। वस्तुकी स्वयंगति असिद्ध है। अचेतन रथादिकी गति चेतनाधिष्ठित ही होती है। अतः जल, वायु आदिकी प्रवृत्ति भी अन्तर्यामी चेतनसे अधिष्ठित ही होती है। यदि स्वयंगति भूत है तब उनसे स्वयं ही विलक्षण कार्योंकी उत्पत्ति होनी चाहिये, फिर चेतन मनुष्यकी इच्छानुसार जडभूतकी कार्याकारेण परिणति न होनी चाहिये। अग्नि, जल, वायुके तुल्य स्वयं गति होनेपर भी कार्यानुकूल गतिके लिये चेतन ईश्वर नियामक एवं व्यवस्थापकरूपसे आवश्यक है।

विरोधियोंके एकत्वके सम्बन्धमें कहा जा चुका है कि भाव, अभाव-जैसे विरोधियोंकी एकता सर्वथा असम्भव तथा अदृष्ट है। अग्नि, जल, सत्त्व, रज, तम-जैसे विरोधियोंका भी सहयोग होता है, एकता नहीं। 'वस्तु अर्थात् कार्यसे मनन-क्रिया अर्थात् ज्ञानका आरम्भ होता है', यह कल्पना भी व्यर्थ

है-। अनुभव-सिद्ध बात है कि 'जानाति, इच्छति, अथ करोति' प्राणी किसी वस्तुको जानता है, फिर इच्छा करता है, फिर कर्म करता है । किसी भी कर्मके लिये पहले संकल्प अपेक्षित होता है । "यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते।' (छा० उ०) प्राणी जैसा संकल्प करता है, वैसा ही कर्म करता है—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः ।
व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः ॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम् ॥

(मनुस्मृ० २ । ३-४)

सभी काम संकल्पसे ही होते हैं और सकामकी ही क्रिया होती है । निःसंकल्प निष्कामकी कोई भी क्रिया कभी भी देखी नहीं जाती । विश्वनिर्माण भी ईश्वरीय संकल्प तथा चिकीर्षामूलक ही है । व्यवहारमें भी कोई शिल्पी पहले वस्तुकी कल्पना या संकल्प करता है, फिर इच्छा करता है, पुनः साधन-संग्रहपूर्वक मनःस्थ वस्तुको बाह्याकार देता है । लेनिनका सूत्र इस सहज स्वाभाविक व्यवहारका उल्लङ्घन करता है । वस्तु-तत्त्वको तोड़ना और पुनर्निर्माण करना यह द्वन्द्ववादी भाषा ही असङ्गत है । पुनर्निमाण शब्द निर्मित वस्तुके ही पुनर्निर्माणके अर्थमें प्रयुक्त होता है, नव निर्माण और पुनर्निमाणमें यही अन्तर है। मृत्पिण्डका विभाजन घट-निर्माणके लिये होता है । एक अवस्था हटनेपर ही दूसरी अवस्था आ सकती है। अतः पिण्डावस्था हटती है, तब घटावस्था आती है। इस तरह कार्यावस्थासे पूर्व व्यवस्थाका प्रत्यावर्तन नहीं होता । देशकाल तथा विविध सम्बन्धित पदार्थोंसे सम्बन्ध रहनेपर भी पृथक्त्व रहता ही है, वैज्ञानिक विश्लेषण भी तभी सार्थक है। सम्मिलित, सम्बन्धित, अविविक्त भूमण्डल सूर्यमण्डलमें विवेकद्वारा विभिन्न गुणधर्मयुक्त अनेक पदार्थ मिलते हैं। यों तो कारणरूपसे सभीकी एकता है। पार्थिवरूपसे अभिन्न होते हुए भी लोहा, सोना, चाँदी, पत्थर, मिट्टी आदि रूपसे भिन्नता मानना ही तत्त्वज्ञान है । अध्यात्मवादके लिये यह कोई नयी वस्तु नहीं है । वस्तुके यथार्थ जो भी दृष्टिकोण हो, उपयोगिताकी दृष्टिसे सभीपर विचार होना चाहिये । काकदन्तपरीक्षा, गर्दभरोमगणना आदि व्यर्थकी परीक्षाएँ होती हैं, वे अमान्य होती हैं ।

कहा जाता है कि 'प्रत्येक वस्तु विराट विश्वप्रक्रियाका एक अङ्ग है । इसकी प्रकृतिको इसकी रूपान्तरिक अवस्थासे अलग करके नहीं समझा जा सकता ।' यही लेनिनका तीसरा सूत्र है। 'हमें वस्तु या दृश्यगत घटनाओंके विकास इसकी अपनी गति, इसके अपने जीवन आदिका विचार करना चाहिये ।

लेकिन यह विकास ऐसा नहीं है जो मनमानी ढंगसे, बिना किसी कारणके रहस्यमयरूपमें होता है। विकास सदा बाहरी सम्बन्ध तथा आन्तरिक सम्बन्धोंकी जाँचका है। हमें वस्तुकी अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों और दिशाओंकी खोज करनी चाहिये। यही लेनिनका चौथा सूत्र है। पाँचवाँ सूत्र है कि 'हमें वस्तुको विरोधियोंके एकत्व तथा योगफलके रूपमें देखना चाहिये।' छठा सूत्र है—इन विरोधियोंके पटविस्तार तथा संघर्षको हमें देखना चाहिये और सातवाँ सूत्र वस्तुके विश्लेषण तथा समन्वयका एकीकरण है। आठवाँ सूत्र है—प्रत्येक वस्तुका सम्बन्ध न केवल बहुविध है बल्कि सार्वभौमिक है। प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अन्य वस्तुसे सम्बन्धित है। नवाँ सूत्र न केवल विपरीतोंका एकत्व बल्कि प्रत्येक गुणका उसके विपरीतमें रूपान्तरित होना है।

दसवाँ सूत्र नये पार्श्वों और सम्बन्धोंके दृश्यगत होनेकी असीम क्रिया है। ग्यारहवाँ सूत्र है—मनुष्यद्वारा वस्तु, दृश्य, क्रिया इत्यादिके ज्ञानको गहराईमें ले जानेकी तथा बाह्यावरणसे तत्त्वपर और कम गहराईके तत्त्वसे अधिक गहराईके तत्त्वपर पहुँचनेकी असीम क्रिया। बारहवाँ सूत्र है—सह अस्तित्वसे कार्य-कारणके सम्बन्धको पहुँचना। एक प्रकारके सम्बन्ध और पारस्परिक निर्भरतासे अधिक गहरा तथा अधिक व्यापक सम्बन्ध-तथा पारस्परिक निर्भरताकी ओर जाना। तेरहवाँ सूत्र निम्नस्तरसे ऊँचे स्तरपर विकासकी क्रियामें कुछ गुणोंकी पुनरावृत्ति है। चौदहवाँ सूत्र प्रतीयमानरूपसे पुराने रूपपर लौट जाना 'प्रतिषेधका प्रतिषेध' है।"

रामराज्यकी दृष्टिमें प्रत्येक वस्तु महाविराट्का ही अंश है। सुतरां मूलके गुण-धर्म, शाखा-उपशाखाओंमें होने उचित ही हैं। कारणकी अपेक्षा कार्योंमें अनिर्वचनीय विलक्षणता भी होती ही है। स्पष्टतया स्पर्शहीन आकाशसे स्पर्शवान् वायुकी, रूपहीनवायुसे रूपवान् तेजकी उत्पत्ति स्पष्टरूपसे होती है। मनमानी ढंगसे विकास तो जडवादी ही मानते हैं। अध्यात्मवादी तो हरएक कार्यके साधारण, असाधारण—कई ढंगके कारण मानते हैं, परंतु सभी कारण दृष्ट ही नहीं, कुछ अदृष्ट भी होते हैं। दिक्, काल, आकाश, ईश्वर, अपूर्व 'अदृष्ट' प्रागभाव, प्रतिबन्धकाभाव आदि साधारण कारण होते हैं। उपादान, निमित्त, सहकारी आदि अनेक असाधारण कारणका योग होता है, तभी कोई विकार सम्पन्न होता है। विरोधियोंके एकत्वकी अपेक्षा सहयोगियोंके सहयोगसे कार्यकी उत्पत्ति कहना कहीं अधिक सङ्गत है।

विरोधियोंके संघर्षकी कल्पनाकी अपेक्षा यही कहना ठीक है कि किसी समान उद्देश्यकी सिद्धिके लिये विरोधी भी सहयोगी हो जाते हैं। विरोधियोंके संघर्षका सहयोगरूपमें परिवर्तन हुए बिना दोमेंसे एकका विनाश ध्रुव है। फिर

विरोधियोंकी एकताका स्वप्न व्यर्थ ही है। संघर्ष रहते हुए पदविस्तारकी कल्पना भी निराधार है। वस्तुके विश्लेषण तथा समन्वयका एकीकरण क्रमेण विश्लेषण, विभाजन तथा समन्वय हो सकता है, परंतु समकालमें दोनोंका अस्तित्व तथा एकीकरण असङ्गत एवं अप्रमाणित है।

प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धोंका बहुविधत्व, सार्वभौमत्व अंशतः ठीक ही है; पर इसमें भी सहयोग विरोध तथा उदासीनताको भी गिन लेना चाहिये। वाच्यत्व प्रमेयत्वादि तथा दैशिक, कालिक सार्वभौम सम्बन्ध अध्यात्मवादको भी मान्य है। किंतु इससे कोई मार्क्सीय अभिप्राय नहीं सिद्ध होता। विपरीतोंका एकत्व तथा प्रत्येक गुणका रूपान्तरित होना सारशून्य है। भाव-अभाव, सत्-असत् आदि विपरीतोंकी एकता असम्भव है, यह कहा जा चुका है। अग्नि, जल, सत्त्व, रज आदि विपरीतोंका एकत्व न कहकर सहयोग ही कहना ठीक है। कारणकी अपेक्षा कार्योंमें तथा अल्पसंख्यकोंकी अपेक्षा बहुसंख्यकोंमें गुणधर्मका वैलक्षण्य अध्यात्मवादमें मान्य है। मृत्तिकासे जलानयनका कार्य नहीं सम्पन्न होता, मृत्तिकाके कार्य घटसे वही कार्य सम्पन्न हो जाता है। तृण साधारण नगण्य तथा अल्पशक्ति होता है, पर वही सामूहिकरूपमें एकत्रित रज्जु बनकर दुरुच्छेद्य बन जाता है।

वस्तुतः कारणसे भिन्न होकर कार्य नहीं होता, फिर भी व्यवहारमें कारण-कार्यका वैलक्षण्य मान्य होता है। अतत्त्वभूत रज्जुसर्पसे भी सत्य भय-कम्प आदि देखा जाता है। अतएव नये पार्श्वों और सम्बन्धोंकी कल्पना निराधार है; क्योंकि अत्यन्त अविद्यमान कोई वस्तु या सम्बन्ध व्यक्त नहीं होता है। वटबीजमें जितनी शक्ति विद्यमान है, उतना ही विकास होता है। विकास ही नहीं, किंतु विकासके साथ ह्रास भी स्पष्ट दिखायी देता है। संश्लेषण-विश्लेषणकी विचित्रतासे शक्तियोंमें विचित्रता भी परिलक्षित होती है। औषधोंके संयोग-वियोग तथा पौधोंके कलम 'जोड़' से तथा बीजोंके संस्कारसे विकासमें विचित्रता होती है; फिर भी विकास निस्सीम नहीं है। प्रत्येक वस्तुमें 'जायते अस्ति वर्धते' के बाद ही 'विपरिणमते अपक्षीयते एवं विनश्यति' की स्थिति आ जाती है। अर्थात् उत्पत्ति वृद्धिकी एक सीमा है। उसके बाद ही विपरिणाम, अपक्षय एवं विनाश आ जाता है। व्यष्टिमें जो गुण-धर्म हैं, समष्टिमें भी उनका अस्तित्व रहता है। अतः शुद्ध स्वप्रकाश ब्रह्मातिरिक्त किसी भी वस्तुको निस्सीम नहीं कहा जा सकता। जब संसारमें सावयव पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाश दृष्ट है, तब सावयव विश्व-प्रपञ्चकी भी उत्पत्ति तथा विनाश मानना अनिवार्य है।

प्रवाह भी प्रवाहियोंसे भिन्न नहीं होता। दिन-रातका प्रवाह या बीजाङ्कुरका प्रवाह एवं कर्म तथा देहोंका प्रवाह आदि सभी प्रवाह प्रवाहियोंके अनित्य होनेसे

अनित्य ही हैं। जिस वस्तुका प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव बन सकता है, उस वस्तुको निस्सीम कहना उपहासास्पद ही है। जैसे अनादि परमाणुकी श्यामता अग्निजन्य पाकसे नष्ट होती है, अग्निसे दग्ध होनेसे अनादि बीजाङ्कुरकी परम्परा टूट जाती है, उसी तरह विश्वप्रपञ्चकी परम्परा भी कालसे किंवा तत्त्वज्ञानसे टूट जाती है। मार्क्सवादी विश्वकी निस्सीमतामें प्रत्यक्ष-प्रमाण एवं प्रत्यक्ष साधन-यन्त्रोंका प्रयोग वर्तमान कालके लिये जो भी करें, परंतु भविष्यके सम्बन्धमें तो प्रत्यक्ष या यन्त्र कथमपि सफल नहीं हो सकते। अनुमान कोई ऐसा निर्दोष नहीं है जिससे विश्वकी अनन्तता या निस्सीमता विदित हो सके। फिर क्रिया कोई भी चाहे वह प्रातिस्विक हो या सामूहिक, निःसीम नहीं कही जा सकती।

मनुष्यद्वारा वस्तु, दृश्य, क्रिया इत्यादिके ज्ञानकी गहराईमें ले जानेकी तथा बाह्यावरणसे तत्त्वपर और कम गहराईके तत्त्वसे अधिक गहराईपर पहुँचनेकी असीम क्रियाकी बात भी कल्पना ही है। अतत्त्व अनात्मसम्बन्धी ज्ञान यद्यपि अल्पज्ञ जीवके लिये असीम ही है; फिर भी सर्वज्ञ ईश्वरके लिये वह भी निस्सीम नहीं। दूसरी दृष्टिसे ज्ञातरूपसे तथा अज्ञातरूपसे सभी वस्तु साक्षी भास्य है—'किंचिज्जानामि किंचिन्न जानामि' अमुकको नहीं जानता हूँ, अमुकको जानता हूँ—इस रूपसे अज्ञानविषयतया या ज्ञानविषयतया सभी वस्तु साक्षीभास्य हैं। सर्वकारण सर्वाधिष्ठानरूपसे भी परम तत्त्वका ज्ञान अन्तिम ही तत्त्वज्ञान है। इसी ज्ञानके सम्बन्धमें गीताचार्यका कहना है—

यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।

(७।२)

जिसको जानकर पुनः अन्य कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रहता—

एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

(१५।२०)

इस तत्त्वको जानकर प्राणी बुद्धिमान् होता है और कृतकृत्य हो जाता है। उपनिषदें भी कहती हैं—आत्माके श्रवण, मनन, विज्ञानमें सबका श्रवण, मनन तथा विज्ञान हो जाता है—

आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।

(बृहदा० उप० २।४।५)

जैसे पृथ्वीके विज्ञानसे पार्थिवतत्त्व, जलके विज्ञानसे जलीयतत्त्व तरङ्ग आदिका विज्ञान हो जाता है, वैसे ही सर्वकारण सर्वाधिष्ठानके विज्ञानसे सब कुछ विज्ञात हो जाता है।

सहयोगियोंका सहअस्तित्व तो सभी मानते हैं। विरोधियोंका भी सहअस्तित्व अगर मार्क्सवादको मान्य है, तब तो फिर मजदूर और मालिकका भी सहअस्तित्व

हो ही सकता है। फिर मार्क्सवादी चूहा, बिल्लीके तुल्य वर्गोंका अमिट विरोध क्यों मानते हैं ?

पारस्परिक सम्बन्ध तथा निर्भरताकी बात अच्छी है, पर स्वात्मनिर्भरताका भी महत्त्व नहीं भूलना चाहिये। परमुखापेक्षिता दोष भी है। अध्यात्मपक्ष माननेपर तो बाह्य साधनानपेक्षता बड़े ही महत्त्वकी वस्तु है। उत्तरोत्तर ज्ञान, क्रिया, शक्तिका विकास हो रहा है, संसार उन्नतिके उच्च शिखरकी ओर बढ़ रहा है, इस विश्वासमें भी अन्धविश्वासका ही अंश अधिक है। स्तर-भेद होनेपर भिन्नता ही कहना चाहिये, पुनरावृत्ति नहीं। प्रतिषेधके प्रतिषेधकी मार्क्सवादी मान्यता असङ्गत है, यह पीछे दिखाया जा चुका है। अङ्कुरके कारणभूत जौके दाने अङ्कुरके फलभूत जौके दानोंसे सर्वथा भिन्न हैं। यह प्रतिषेधके प्रतिषेधका उदाहरण नहीं हो सकता। इसका शुद्ध उदाहरण पीछे दिखलाया जा चुका है।

"पंद्रहवाँ सूत्र लेनिनका है—रूप और सार, आचार और आकारके अंदर अस्तित्वका संघर्ष तथा इसका विपरीत। सोलहवाँ सूत्र है—परिमाणका गुणोंमें परिवर्तन तथा इसका विपरीत; व्याख्या और उदाहरण। जीवनका उदाहरण प्रकृतिके द्वन्द्वात्मक रूपपर स्पष्ट प्रकाश डालता है। अवयवके तथा कोषके जीवनमें जीवन और मृत्यु, आविर्भाव और तिरोभाव, अन्तर्ग्रहण तथा वहिर्मोचन, भूत और शक्तिको ये पास-पास ही मिलते हैं तथा परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं। इसके अतिरिक्त पूँजीवादमें अन्तर्विरोधके तीन सूत्र हैं— १. प्रत्येक भिन्न फैक्टरीमें उत्पादनका सुचारुरूपसे संघटन होता है और सामाजिक उत्पादन क्षेत्रमें अराजकताकी चेष्टा की जाती है। २. एक ओर मशीनकी उत्पत्ति और उत्पादनका विस्तार प्रत्येक पूँजीवादीके लिये बाध्यतामूलक नियम है, दूसरी ओर उद्योगकी रिजर्व सेनामें वृद्धि और सामयिक संकटका बार-बार होना, ये उत्पादनके सम्बन्ध पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धोंके विरुद्ध विद्रोह करते हैं। ३. सम्पूर्ण पूँजीवादी प्रथामें एक ओर पूँजी ही सम्पत्ति है और दूसरी ओर उद्योगमें पूँजीका प्रयोग किया जाता है यानी एक ओर बैंकमें एकत्रित पूँजी है और दूसरी ओर औद्योगिक पूँजी है। इस प्रभेदके उदाहरण हैं सूदजीवी, जिनकी जीविका है पूँजीपर सूदद्वारा और दूसरे जो अपनी जीविका पूँजीके व्यावहारिक प्रयोगसे अर्जन करते हैं। (लेनिन)

"हर प्रथा या क्रियाके आन्तरिक विरोधोंके रूप और गुण भिन्न होते हैं। सर्वहाराके अधिनायकत्वमें राष्ट्रका लोप भी विरोधका उदाहरण है, पर यही वर्ग-संघर्षके अन्तका कारण बन जाता है और इस प्रकार राष्ट्रका लोप होता है। आपेक्षिक और पूर्ण सत्य भी विरोधका उदाहरण है।

विशिष्ट और व्यापकके सम्बन्धमें अन्तःप्रवेश भी विरोधका एक उदाहरण है। (व्यापक साधारण) के सम्बन्धसे विच्छिन्न होकर विशिष्टका कोई अस्तित्व नहीं है और विशिष्टोंसे ही व्यापकका अस्तित्व है। प्रत्येक व्यापकरूप केवल करीब-करीब ही सब विशिष्ट वस्तुओंका अपनी व्यापकतामें ला सकता है। और प्रत्येक विशिष्ट वस्तु कुछ-न-कुछ व्यापक रूप ग्रहण करती है।''

अन्तर्विरोधपर बुखारिन

''एक दूसरेकी विरोधी भिन्न कार्यकारी शक्तियाँ पृथ्वीमें वर्तमान हैं। व्यतिक्रमके रूपमें इन शक्तियोंका समीकरण होता है, तब विरामकी स्थिति होती है। यानी उनके वास्तविक विरोधपर एक आवरण पड़ जाता है। लेकिन किसी एक शक्तिमें तनिकमात्र परिवर्तन करनेहीसे अन्तर्विरोधोंका पुनराभास होता है। और उस समीकरणका अन्त होता है और यदि एक नये समीकरणकी सृष्टि होती है तो यह एक नये आधारपर यानी शक्तियोंके एक नये संयोगसे ही होती है। मार्क्सीय द्वन्द्वन्याय इस विरोधको भुला नहीं देता, लेकिन सामाजिक विकासमें इस विरोधको मुख्य स्थान नहीं देता। इतिहासके अध्ययनसे हम यह पाते हैं कि यद्यपि भिन्न देशोंमें भूगोल, जलवायु, उद्भिज्ज, जंगम और प्राकृतिक सम्पद्में परिवर्तन नहींके बराबर हुआ, तथापि वहाँके सामाजिक सम्बन्धोंमें महान् परिवर्तन हो गये, जैसे सामन्तप्रथाके स्थानपर पूँजीवादकी स्थापना।'

रूप एवं सार आदिका संघर्ष तथा परिमाणका गुणमें परिवर्तनकी कल्पना निराधार है। जीवन-मृत्युका तिरोभाव-आविर्भाव, अन्तर्ग्रहण तथा बहिर्मोचन आदि काल और विषयभिन्न होनेसे विरोध या संघर्षका प्रश्न ही नहीं उठता। ये सब चीजें समान वस्तुके विषयमें समान कालमें परस्पर विरुद्ध ठहरती हैं। कालभेदसे किसी भी वस्तुका आविर्भाव-तिरोभाव आदि निर्विरोध ही है। इसी तरह एक ही कालमें एककी मृत्यु अन्यका जन्म आदि होनेसे कोई विरोध नहीं होता। पूर्वगृहीत वस्तुका बहिर्विमोचन, अगृहीत वस्तुका ग्रहण भी परस्पर विरुद्ध नहीं है। अतः इसे संघर्ष नहीं कहा जा सकता। पूँजीवादके अन्तर्विरोधकी कल्पना भी अतात्त्विक ही है। रामराज्यप्रणालीसे उत्पादन तथा वितरणकी व्यवस्था होनेसे यह विरोध टिक ही नहीं सकता। धन एवं पूँजीका भेद सिद्धान्ततः अमान्य है। प्रजाके उपभोगार्थं उत्पादनसे भी लाभ आनुषङ्गिकरूपमें प्राप्त होता है। उत्पादन-कार्यमें लाभके अनुसार कामके घंटोंमें कमी, मजदूरोंकी संख्याकी वृद्धि तथा मजदूरोंका भी उचित दर होनेसे न बेकारी ही रहेगी और न क्रयशक्तिमें ही कमी आयगी और न मालकी खपतमें कोई गड़बड़ी होगी। भोगोपयोगी वस्तुओंका ही निर्माण करना और मजदूरोंके

समुन्नत जीवनस्तर बनानेकी जिम्मेदारी मालिकोंपर होगी। व्यक्ति, समाज तथा सरकार—सभीका अनिवार्यरूपसे यह कर्त्तव्य होगा कि बेकारी तथा आर्थिक असंतुलन सर्वथा दूर कर दिया जाय। विद्रोह भी प्रचारमूलक है, वास्तविक नहीं। वर्गसहयोगकी सम्भावनाका विस्तार होनेसे विद्रोहका अन्त हो सकता है। मशीनोंकी उन्नति बाध्यतामूलक नहीं है, किंतु लोभमूलक ही है। अन्ततोगत्वा मनुके सिद्धान्तानुसार महायन्त्रोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध भी आवश्यक होगा। जैसे विश्वका संहारकारक एवं अनिष्ट-कारक होनेसे हाइड्रोजन बम आदिके विकासपर प्रतिबन्ध लगाना मार्क्सवादियोंको भी आज आवश्यक प्रतीत हो रहा है, उसी तरह बेकारी एवं संघर्ष तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रताका नाश होनेसे महायन्त्रोंपर भी प्रतिबन्ध लगाना आवश्यक होगा।

अर्थ तथा औद्योगिक पूँजीका आपसमें कार्यकारण भाव है। दोनोंका दोनों-से विस्तार होता है। उद्योगवृद्धिसे अर्थमें वृद्धि होती है। उससे उद्योगवृद्धिमें सहायता मिलती है। पूँजीपर सूद तो अब रूसमें भी मिलता है। पूँजी उत्पादन-साधन है, जैसे सब उत्पादनोंसे लाभ होता है, वैसे ही पूँजीसे भी सूदके रूपमें लाभ होना उचित ही है। फिर रामराज्यकी दृष्टिमें तो कुसीदवृत्ति निम्नकोटिका जीविका-साधन माना जाता है। प्रथाओं एवं क्रियाओंमें अन्तर्विरोध अप्रामाणिक है। सर्वहाराके अधिनायकत्वमें राज्यलोपकी कल्पना तो अभी स्वप्न ही है। अभी तो सर्वहाराका अधिनायकत्व भीषण तानाशाही बन रहा है। सर्वहाराके अधिनायकत्वमें वर्गोंका लोप केवल डंडेके बलपर प्रतीत होता है। वस्तुतः लेखन-भाषण, प्रेसकी स्वतन्त्रता न होनेसे वर्गभेद व्यक्त नहीं हो पाता। जब कभी अवकाश मिलेगा, वर्गभेद व्यक्त हो जायगा। मजदूर-किसान आदि समान वर्गोंमें भी परस्पर संघर्ष चलता ही है। सोवियत रूसमें भी कम्युनिष्टोंमें स्टालिन ट्राटस्की आदिका भीषण संघर्ष विख्यात है। आपेक्षिक एवं पूर्ण सत्यका भी विषयभेद होनेसे विरोध असङ्गत है। एक ही वस्तु आपेक्षित तथा पूर्ण सत्य नहीं हो सकती, यह कहा जा चुका है। व्यापकमें कोई विरोध नहीं है—जैसे पशुत्वका गोत्वसे, मनुष्यत्वका ब्राह्मणत्वसे कोई विरोध नहीं। इसी प्रकार सभी व्यापक-व्याप्योंमें अविरोध ही है।

बुखारिनका यह कथन आंशिक सत्य है कि एक दूसरेके विरुद्ध भिन्न कार्यकारिणी शक्तियाँ पृथ्वीपर वर्तमान हैं। यह कहना उचित है कि विचित्र विश्वमें विरोधिनी तथा अनुरोधिनी अनेक प्रकारकी शक्तियाँ वर्तमान हैं। यदि विरोध ही जगत्‌का तथ्य है, तब तो सहयोगमूलक कार्य ही नहीं होना चाहिये। किंतु वैर, प्रेम, सहयोग, विरोध—सभी संसारमें चलता है। सत्त्वादि गुण परस्पर

विरोधी होनेपर भी विमर्दवैचित्र्य, परस्पर सहकारसे वे भी कार्यक्षम होते हैं। गुणोंकी विषमतासे गुणोंमें सहकार होता है, समतामें विरोध होता है। सारी सृष्टि गुणोंकी विषमता एवं सहकारके आधारपर ही टिकी है। परिणामी गुणोंका समता, विषमता—दोनों ही धर्म है। प्रलयानुगुण कर्मोंकी अपेक्षासे समता तथा सृष्टिके अनुगुण कर्मोंसे विषमता होती है। संसारमें प्रेम, परोपकार, सहयोग स्वाभाविक है; विरोध, ध्वंस निम्नगामिनी प्रवृत्तियोंके परिणाम तथा प्रामादिक हैं।

वेदान्तकी दृष्टिसे सभी चराचर विश्व विशेषतः प्राणिवर्ग परमेश्वरकी ही संतान है—'अमृतस्य पुत्राः।' उनका तो समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृता ही मुख्य स्वभाव है। विरोध ही आवरणका कारण होता है, आवरण हटते ही विरोधका कहीं पता नहीं लगता—'उमा जे राम चरनरत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥' जो जगत्‌की स्वाभाविक मूलभूत स्वाभाविक स्थितिको पहचानते हैं, वे लोग सम्पूर्ण संसारको भगवद्रूप ही देखते हैं। फिर वे किससे विरोध करें? स्वाभाविक स्थितिसे अविद्या, काम, कर्मद्वारा प्रच्युति होनेपर अविद्या स्वार्थ आदिके जागरूक होनेपर फिर विरोध-वैमनस्य चलता है। तभी 'जीवो जीवस्य जीवनम्' जीवसे ही जीवका जीवन चलता है—यह धर्म-प्रच्युतिमूलक मात्स्यन्याय फैलता है। स्पेन्सर आदिके संघर्षवादका अन्धानुकरण ही मार्क्सवादियोंका अन्तर्विरोध है। इसके अनुसार जो प्रबल होगा उसीका जीवित रहना न्यायसिद्ध है। इसमें किसी गरीब कमजोरकी सहायता करना मूर्खता है। जो अपनेको बदली हुई परिस्थितिके अनुकूल नहीं बदल सकता, वही गरीब है। उसपर दया करना बेकार है। परंतु आजके परस्पर सहकार सहयोगके जमानेमें यह एक अत्यन्त उपहासास्पद वस्तु है।

इसी तरह 'पुराने समीकरणका अन्त तथा नये समीकरणको नये आधारपर शक्तियोंके नये संयोगसे सृष्टि होती है'—यह कहना भी पिष्टपेषण ही है। अभ्युदयानुगुण परिवर्तनमें नये संयोगों या नये परिणामोंका अङ्गीकार सभीको सम्मत है ही। सामाजिक परिवर्तनोंका कारण ज्ञान, क्रिया, शक्तिका परिवर्तन ही है, और उनमें भी ज्ञान-शक्तिका विकास ही मुख्य है। भौगोलिक तथा वातावरणका परिवर्तन भी इन नये परिवर्तनोंमें कारण होते हैं। जो लोग उत्पादन-साधनोंके परिवर्तनोंके आधारपर ही सामाजिक परिवर्तन मानते हैं, उन्हें भी उत्पादन साधनोंके परिवर्तनका कारण ढूँढ़ना पड़ेगा और अन्ततोगत्वा बुद्धिपर ही आना पड़ेगा। बुद्धिमें कारण शिक्षण तथा अभ्यास ही होता है। आरम्भमें शिक्षण, अन्तमें अभ्यास और अन्वेषणके ही प्राखर्यसे बुद्धिका विकास होता है। बुद्धि-विकाससे धन-धान्य-समृद्धिके कारण यन्त्रोंका भी विकास होता है और उसके

बिना भी आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक क्षेत्रमें विकास होता है; इसीलिये कल-कारखानोंके विकासके बिना भी प्राचीन भारतमें आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक विकास उच्चकोटिका हुआ था। यद्यपि महायन्त्रोंका विकास प्राचीनकालमें भी हुआ था, तथापि उसका दुष्परिणाम देखकर उसे उपपातक निश्चितकर उसपर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। फिर भी विशिष्ट शस्त्रास्त्र, विमान, रथ तथा शिल्पकलादिका विकास मय, विश्वकर्मादिद्वारा होता ही रहा। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भाप या बिजलीकी चक्की तथा कपड़ों, लोहों, ताम्रादिके बड़े-बड़े कल-कारखानोंके विकास बिना धार्मिक, सामाजिक विकास या कोई उन्नति नहीं होगी।

वस्तुतः व्यापक इतिहासके महान् क्षेत्रमें सामन्तवाद और पूँजीवाद-जैसी प्रथाओंका कोई बड़ा महत्त्व नहीं है। प्रमाद-पुरुषार्थ, सुव्यवस्था-दुर्व्यवस्थाके अनुकूल ही अनुकूल-प्रतिकूल परिवर्तन होते रहते हैं। मार्क्सवादियोंके सामने केवल कुछ शताब्दियोंका ही इतिहास है। यदि शताब्दियोंके इतिहासमें इतने परिवर्तन हुए हैं, तो सहस्राब्दियों एवं लक्षाब्दियोंके इतिहासमें क्या-क्या परिवर्तन हुए होंगे, इसका भी तो विचार करना चाहिये। आस्तिकोंकी दृष्टिसे मनुष्यलोकमें ही नहीं, किंतु देवलोकके भी विकास तथा अभ्युदयकी पराकाष्ठा निर्धारित ही है, और परम उत्कर्ष कैवल्य—अपवर्गका भी स्वरूप निश्चित है। तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, कौषीतकि आदि उपनिषदों, इतिहास, पुराणोंमें लौकिक-पारलौकिक उन्नति तथा परम निःश्रेयसके स्वरूप निर्धारित हैं। अन्तमें कहा गया है कि अचिन्त्य अनन्त स्वरूपभूत परमानन्द सुधासिन्धुका एक तुषारमात्र आनन्द ही अनन्त ब्रह्माण्डके धर्मिष्ठ सार्वभौम सम्राट्, मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व, कर्मदेव, आजानदेव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति, ब्रह्मादिके उत्तरोत्तर प्रकृष्ट आनन्दके रूपमें वितरित होता है। मनुष्यलोकके उत्कर्ष-अपकर्षकी कोई ऐसी अवस्था नहीं जो इन करोड़ों वर्षोंमें न आयी हो; अतः शताब्दियोंकी परिवर्तनपरम्परा कोई अभूतपूर्व घटना नहीं है।

गुण-परिवर्तन

"पूँजीवादमें समाज और प्रकृतिका विरोध तो विद्यमान रहता है; लेकिन इस विरोधके विशिष्टरूपका निराकरण होता है भौगोलिक परिवेष्टनके गुणोंद्वारा नहीं; बल्कि पूँजीवादके विकासके मूल नियमोंके द्वारा। समाज अपने आन्तरिक नियमोंसे और अपनी उत्पादक-शक्तियोंके विकाससे हर विशेष सामाजिक संगठनोंके विशेष साधनोंद्वारा अपने भौगोलिक परिवेष्टनमें परिवर्तन करता है। जंगलोंकी कमी हो गयी है, पेड़ोंके लगाने और गिरानेपर नियन्त्रण रखा जाता है। कोयला काफी नहीं है, पेट्रोलियम उसके स्थानपर इस्तेमाल किया जाता है। चमड़ा, रेशम, ऊनकी कमी है, अतः ये कृत्रिम उपायोंसे बनाये जाते हैं।

हवामें नमीकी कमी है, आबपाशीसे काम लिया जाता है। पशु और वनस्पति जगत्में नये रूपमें प्राप्त होते हैं; क्योंकि इनके नये किस्मकी सृष्टि होती रहती है। यदि इतना होते हुए भी पूँजीवादी समाजमें प्राकृतिक परिवर्तन इतना सीमित है तो इसका कारण प्रकृति और समाजके विरोधमें नहीं मिलेगा, बल्कि पूँजीवादी उत्पादक सम्बन्धोंमें मिलेगा जो उत्पादक-शक्तियोंका पूरा-पूरा विकास नहीं होने देता। समाजवादमें ही यह प्राकृतिक परिवर्तन पूर्णरूपमें सम्भव है, जिसमें मुनाफाके लिये नहीं, उपभोगके लिये पदार्थ बनाये जाते हैं।

"किसी वस्तुकी मूल गति ही उसके गुणका निर्देश करती है। भूत अपनी गतिसे ही असंख्य गुणोंकी सृष्टि करता है। मनुष्य, सामान्य जीवनकोष, जड पदार्थ—सभी एक ही भौतिक विकासकी चढ़ती सीढ़ीके कदम हैं और ये कदम भिन्न गुणसम्पन्न हैं। प्रत्येक गतिमें यान्त्रिक गति सम्मिलित है और इसके कारण भूत कणोंकी सजावटमें भिन्नता आ जाती है। इन यान्त्रिक गतियोंको समझना विज्ञानका पहला काम है; लेकिन यह केवल पहला ही कदम है। यान्त्रिक गतिसे व्यापक गतिका अन्त नहीं हो जाता। गति केवल स्थान-परिवर्तनमात्र नहीं है। यन्त्र-राज्यसे ऊपर यह गुणका भी परिवर्तन है। यान्त्रिक गति हर उच्च प्रकारकी गतिका एक आवश्यक अङ्ग है, यद्यपि यह गतिके और गुणोंकी भी सृष्टि करती है। रासायनिक क्रियाके साथ उत्ताप और वैद्युतिक परिवर्तनका निरन्तर संयोग है। सावयव जीवन बिना यान्त्रिक, कणिक, रासायनिक उत्ताप और बिजली सम्बन्धी परिवर्तनोंके असम्भव है। लेकिन प्रत्येक क्षेत्रोंमें इन समवर्तमान रूपोंसे मूलरूपके तत्त्वका भंडार चुक नहीं जाता।

"इसमें कोई संदेह नहीं कि विशिष्ट गुणसम्पन्न भूतकी नयी अवस्थाका आविष्कार गतिके एक नये प्रकारका आविष्कार होगा। परिणामकी वृद्धिसे वस्तुविशेषका गुण अपने विपरीतमें परिवर्तित हो जाता है। जैसे, निर्विरोध प्रतियोगिता पूँजीवादका और साधारणतः पण्य-उत्पादनका मौलिक गुण है। एकाधिकार इसका ठीक उल्टा है। लेकिन हम अपनी आँखके सामने प्रतियोगिताको एकाधिकारमें रूपान्तरित होते देख रहे हैं, जिससे बड़े पैमानेपर उत्पादनकी सृष्टि होकर छोटी फैक्टरियाँ दबती जा रही हैं और उत्पादन बड़े-से-बड़े पैमानेपर होकर अन्तमें पूँजी और उत्पादनका इस प्रकार एकत्रीकरण हो जाता है कि इसका परिणाम एकाधिकार हो जाता है।"

(लेनिनका साम्राज्यवाद)

वस्तुतः समाज और प्रकृतिमें विरोध नहीं होता; क्योंकि प्रकृतिद्वारा समाजका विकास एवं उपोद्वलन होता है; प्रकृतिसे ही सम्पूर्ण प्रकारकी सुविधा

प्राप्त होती है। समाजद्वारा उपयोग करते-करते जो प्राकृतिक वस्तुओंकी कमी होती है, इसे विरोध नहीं कहा जा सकता। पृथ्वीसे घटादिका निर्माण होता है, मृत्तिकाका उपयोग होता है; फिर भी घटादि कार्य प्रकृतिविरोधी नहीं समझे जाते। कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती है, किंचित् कारणांशका उसमें उपक्षय भी होता है। माता-पितासे संतानोंकी उत्पत्ति होती है, वहाँ भी किंचित् उपक्षय होता है, तथापि यहाँ विरोध नहीं समझा जाता। जंगलोंकी कमी रोकनेके लिये पेड़ लगाना तथा गिरानेपर नियन्त्रण करना, कोयलेकी कमी होनेपर पेट्रोलियमका प्रयोग आदि समाज अपना काम चलानेके लिये करता है, इसे विरोध-निराकरण नहीं कहा जा सकता। अन्ततः प्राकृतिक परिवर्तनोंसे उन-उन कमियोंकी पूर्ति होती है, जैसे खेतोंकी उर्वराशक्ति अधिक फसल उपजानेसे नष्ट हो जाती है, तदर्थ कृत्रिम खाद डालने आदि उपायोंसे उर्वरा शक्ति बढ़ायी जाती है। परंतु कुछ समय तक फसल न उपजानेसे या बाढ़ आदि प्राकृतिक परिवर्तनसे पुनः उर्वरा शक्तिकी वृद्धि हो जाती है। इसी तरह अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, महामारी, युद्ध, खण्ड प्रलयादि द्वारा प्राकृतिक परिवर्तन होता है। कालक्रमसे कितने ही अरण्य नगर तथा नगर अरण्य हो जाते हैं। इन परिवर्तनोंकी दृष्टिसे शताब्दि तथा सहस्राब्दिका काल अत्यल्प है।

पशुओं तथा वनस्पतियोंके कृत्रिम कलम एवं नस्ल सुधारद्वारा नया रूप प्राप्त होता है, यह मनुष्यकी कृतिकी विशेषता है। इसमें भी प्रकृतिके सहयोगसे ही काम चलता है। वस्तुतः ईश्वरका अंश ही जीव है। ईश्वरकी ज्ञान-क्रिया-शक्तिका ही अंश जीवकी ज्ञान-क्रिया-शक्ति है; इसीलिये ईश्वरके तुल्य अनेक वस्तुओं-की निर्माणशक्ति मनुष्य आदि जीवोंमें भी उपलब्ध होती है। इस तरह प्राकृतिक वस्तुओंके कमी होनेपर मनुष्य प्राकृतिक वस्तुओंके सहारे प्रकारान्तरसे कमी पूरी करनेका प्रयत्न करता है।

उत्पादक-शक्तियोंके विकासके मूलमें समाजवाद या पूँजीवाद नहीं है। किंतु आवश्यकताकी अनुभूति तथा तदनुकूल प्रयत्नपरायणता ही है। इसीलिये वेदों, पुराणोंसे विदित होता है कि आध्यात्मिक धार्मिक विस्तारके समय भी उत्पादक-शक्तियोंका पर्याप्त विकास था। फिर भी बेकारी आदिका कारण होनेसे उसे अधिक सार्वजनिक रूप नहीं दिया गया। आज भी समाजवादी रूसकी अपेक्षा पूँजीवादी अमेरिकामें उत्पादक-शक्तियोंका कम विकास नहीं कहा जा सकता। समाजके उपभोगको ही लक्ष्य बनाकर उत्पादन साधनोंका विकास रामराज्यप्रणालीमें मान्य होता है, किंतु उससे मुनाफा आनुषङ्गिक रूपमें ही प्राप्त होता है। उपभोग-से अधिक माल बननसे मालकी खपतमें कमी होनेसे सुतरां उद्योगपतियोंकी अन्य अपेक्षित वस्तुओंके उत्पादनमें प्रवृत्ति स्वाभाविक है।

भूतोंकी स्वयं गति असिद्ध है। अचेतनकी प्रवृत्ति चेतनसे ही अधिष्ठित होती है। सत्त्व, रज आदि गुण; वायु, तेज, जल आदि भूतोंकी स्वयं गति निर्विवाद नहीं है। चेतनाधिष्ठित भूतोंकी गतिका भी गुणात्मक परिणाम सीमित है; निस्सीम नहीं। इसीलिये तैजस परिणाम चक्षुसे ही रूपका दर्शन होता है, पार्थिव घ्राणेन्द्रियसे नहीं। इसीलिये भूतोंका गुणात्मक परिणाम होनेपर भी भूतोंसे चैतन्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। जैसे पटात्मक परिणामके लिये तन्तुमें ही शक्ति है, वायुमें नहीं। तिलसे ही तेल होता है, बालूसे नहीं। उसी तरह जड भूतोंका शब्दादि गुण-परिणाम सम्भव है, किंतु चैतन्यभूतोंका परिणाम नहीं सिद्ध होता। भले ही भूत तथा भौतिक देह, दिमाग, मस्तिष्क आदिके होनेपर ही चैतन्यका उपलम्भ होता है, तथापि इतने मात्रसे चैतन्य भूतका धर्म नहीं सिद्ध हो सकता। क्योंकि यदि अन्वयमात्रसे ही गुण-धर्मनिर्णय हो तब तो आकाशके रहनेपर भी सब कार्य होते हैं, फिर तो गन्धादि भी आकाशके धर्म समझे जाने चाहिये। अतः अन्वय-व्यतिरेक—दोनोंके घटनेपर ही कारण-कार्य-भाव या धर्म-धर्मीभावका निर्णय होता है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें अन्वय व्यभिचरित है। घटादिमें एवं मृत शरीरमें भूत रहता है, किंतु वहाँ चैतन्यका उपलम्भ नहीं होता।

'विशिष्ट अवस्थायुक्त अन्नसे मदशक्तिकी तरह विशिष्ट अवस्थावाले भूतोंसे ही चैतन्यकी उत्पत्ति होती है', यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अन्नमें मदशक्ति पहले भी रहती है। यह अनशनके पश्चात् अन्न लेनेसे स्पष्ट प्रतीत होता है। यदि बालूमें तेलकी तरह वह पहले न हो तो किसी भी अवस्थामें उसका प्राकट्य नहीं हो सकता। भूतोंमें चैतन्यका अस्तित्व होता तो अवश्य ही वह घटादिमें भी उपलब्ध होता। व्यतिरेक तो सर्वथा ही संदिग्ध रहता है। भूतोंके न रहनेपर चैतन्य रहता ही नहीं, इसीलिये अनुपलम्भ है, अथवा रहता हुआ भी अभिव्यञ्जक भूत न होनेसे अनुपलम्भ होता है? सुस्पष्ट है कि लोहा, लक्कड़, तार आदि पार्थिव जलीय पदार्थ अग्निके अभिव्यञ्जक हैं। अतएव उनके न रहनेपर अग्निके रहते हुए भी अभिव्यक्ति नहीं होती। इसी तरह देह, दिल, दिमाग आदि आत्मचैतन्यके व्यञ्जक हैं; अतएव उनके न रहनेपर आत्मचैतन्यकी रहते हुए भी अभिव्यक्ति नहीं होती।

भूतोंकी यान्त्रिक गति और व्यापक गतिमें वास्तविक भेद नहीं है। व्यष्टि चेतन मनुष्यादिद्वारा यान्त्रिक गति बनती है। समष्टि ईश्वर चेतनद्वारा व्यापक गति बनती है। सर्वथापि चेतनके बिना भूत या गुण किसीकी स्वाभाविक गति नहीं हो सकती। गुणात्मक परिवर्तन भी यन्त्र-राज्यके बहिर्भूत नहीं है। तन्तुसे पट, जलसे बर्फ या भाप आदिका निर्माण यान्त्रिक गतिसे सम्पन्न होता ही है। वस्तुतः प्रत्यक्षानुमानद्वारा विदित भूत ही प्रकृति नहीं है। किंतु प्रत्यक्षानुमानसे अज्ञात

अपौरुषेय तथा आर्षशास्त्रोंसे विज्ञात भूत एवं उससे भी अधिक उच्च स्तरकी सत्त्व, रज, तम आदिकी साम्यावस्थारूप प्रकृति अत्यधिक सूक्ष्म है और उसका भण्डार सचमुच अखण्ड है। उसीसे सब कमियोंकी पूर्ति होती रहती है। उसी कारण धरतीसे अगणित अपरिमित अन्नोंके उपजानेपर भी उसका भण्डार नहीं टूटता।

उत्ताप एवं वैद्युतिक परिवर्तन सबकी यान्त्रिक गतिपूर्वक ही है। यह जैसे मान्य है, वैसे ही अन्य परिवर्तनोंमें भी ईश्वरीय या मानवीय यान्त्रिक गति ही काम देती है। इसीलिये विशिष्ट गुणसम्पन्न भूतकी प्रत्येक अवस्था चेतनद्वारा ही आविष्कृत होती है। विपरीत गुणमें परिवर्तन भी यान्त्रिक गतिका ही परिणाम है। निर्विरोध प्रतियोगिता या एकाधिकार अपनी-अपनी सीमामें गुण है। रामराज्य-प्रणालीमें जहाँ विकासके लिये प्रतियोगिता गुण है वहाँ वह निःसीम भी नहीं है। इसीलिये तो महायन्त्रोंके निर्माणपर प्रतिबन्ध आवश्यक समझा गया है। प्रतियोगितापर भी नियन्त्रण अपेक्षित माना गया है, उत्पादनके केन्द्रीयकरणकी अपेक्षा विकेन्द्रीकरणको रामराज्य-प्रणाली अधिक महत्त्व देती है, परंतु समाजवादमें उलटा महायन्त्रोंका अधिकाधिक विकास करके छोटी फैक्टरियोंका अस्तित्व सर्वथा ही समाप्त कर दिया जाता है। समाजवादियोंका फैसला तो बंदरबाँटका फैसला है। मजदूरों तथा छोटी फैक्टरियोंका पक्ष लेकर मिलमालिकों एवं बड़े-बड़े कल-कारखानोंको भला-बुरा कहते-कहते बड़े-छोटे सब कारखानों, मालिक-मजदूर, किसान, जमींदार सभी भूमि-सम्पत्ति, उद्योग धंधोंको राष्ट्रियकरणके नामपर छीन लेते हैं। समाजवादी समाजके नामपर ऐसा भीषण तानाशाही एकाधिकार स्थापित करते हैं कि सबकी भूमि, सम्पत्ति, कल, कारखानोंको छीनकर लेखन, भाषणकी स्वतन्त्रता छीनकर सभीको परतन्त्रताके बन्धनोंमें जकड़ देते हैं।

कहा जाता है कि "गुणसे परिणामके परिवर्तनका साधारण उदाहरण है अच्छा बीज, जिसके बोनेसे उपजका परिमाण बहुत बढ़ जाता है। इसी तरह रूसकी सामूहिक खेती इसका दूसरा उदाहरण है जिसके कारण भी उपजका परिमाण बहुत बढ़ जाता है। लेनीने गुणपरिवर्तनके सम्बन्धमें वस्तुओंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया है। कणिक (वैयक्तिक, आटोमैटिक) तथा सामूहिक (स्टैटिस्टिकल) और गुण-परिवर्तनको चार श्रेणियोंमें विभक्त किया है।

१—कणिक-से-कणिक। (वैयक्तिक-से-वैयक्तिक) २—सामूहिक-से-सामूहिक।
३—कणिकसे सामूहिक। ४—सामूहिकसे कणिक।

उदाहरण १ (क) मनुष्यकी बाल्यावस्थासे वृद्धावस्था।
(ख) खनिज पदार्थ—प्राकृतिक अवस्थासे व्यावहारिक वस्तुके रूपमें।
(ग) जमीनका टुकड़ा जिसका व्यावहारिक मूल्य सामाजिक विकासके कारण बढ़ गया हो।
२ आस्ट्रेलियामें भेजा गया खरगोशका पहला जोड़ा, जहाँ अब उनका ढेर एक उत्पात बन गया है।
३ एक धूपका 'दिन', बहुत-से धूपके दिन सूखा।
४ इसमें सभी वे उदाहरण हैं जिनमें समूह टूटकर अलग-अलग हो जाते हैं, जैसे एक परिवारका टूटना।

"परिवर्तनकी कल्पनाके लिये ये उदाहरण सहायक हैं, लेकिन यह ध्यान रहे कि ये सभी उदाहरण द्वन्द्वात्मक परिवर्तनके उदाहरण नहीं। इसी प्रकार लेवीने उद्भिज्जराजके दो उदाहरण दिये हैं। १—जंगलमें सोतोंके पास एक प्रकारकी काई जमती है स्फैगमनसास, जो धीरे-धीरे जंगलको उजाड़ देती है। २—एक झील है। उसकी तहपर उद्भिज्ज सड़ते रहते हैं। तह ऊपरको उठती है और उसकी सतहपर लता तैरने लगती है। झील दलदल बन जाती है। लताओंकी जड़ें जमकर धीरे-धीरे घासका मैदान बन जाती है। हवाके झोंकोंसे बीज उड़कर लगनेसे पेड़-पौदे जम जाते हैं, फिर एक जंगल बन जाता है।"

अच्छे बीजसे, अच्छे खेतसे, अच्छी खादसे भी, उपजके परिमाणका बढ़ना सर्वसम्मत है, परंतु यहाँ भी बीजादिकी अच्छाई रूप, गुणसे उपजका विस्तार होता है। यहाँ गुणका परिमाणके रूपसे परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। गुण गुण ही रहता है, वह गुण रहकर ही उपजके परिमाणकी वृद्धिका कारण बनता है। दूसरी दृष्टिसे बीजादिकी अच्छाईसे उपजकी अच्छाई होती है, उपजकी अच्छाईके स्वरूपमें ही वस्तुकी अच्छाई और संख्यावृद्धि आ जाती है।

लेवीके गुण-परिवर्तनके कणिकसे कणिकका उदाहरण भी कोई चीज नहीं है। मनुष्यकी बाल्यावस्थासे वृद्धावस्था, खनिज पदार्थोंका प्राकृतिक अवस्थासे व्यावहारिक अवस्थाके रूपमें परिवर्तन होना, सामाजिक विकासके कारण भूमिके टुकड़ेका व्यावहारिक मूल्य बढ़ जाना आदिका षड्भाव-विकारमें अन्तर्भाव हो जाता है। बाल्यावस्थासे वृद्धावस्थाका परिवर्तन, वृद्धि और विपरिणामके भीतर ही है। दूसरा उदाहरण भी इसी तरहका है। तीसरा उदाहरण तो माँगपूर्तिके सिद्धान्तानुसार माँग बढ़ जानेसे मूल्य बढ़ जाना है।

आस्ट्रेलियाके खरगोसके जोड़ेसे बहुत-से खरगोशोंका उत्पन्न हो जाना भी कौन-सी नयी बात है ? अनुकूल परिस्थिति मिलनेसे कुत्ते, शूकर, मुर्गे आदि किसी भी जोड़ेसे सामूहिक विस्तार होता है । कणिकसे सामूहिक परिवर्तनका उदाहरण भी इसी ढंगका है । 'एक धूपका दिन साधारण है, परंतु वही परिमाण-की वृद्धिसे होकर बहुत-सा धूपका दिन सूखा बन जाता है,' यह भी कोई चमत्कृति नहीं है । दीपक आदिरूपमें छोटी अग्नि वायुसे बुझ जाती है, बड़ी अग्निका वायु सहायक बन जाता है । मृदु आतप रोचक होता है, तीव्र हो जानेपर वही उद्वेजक हो जाता है । अग्निका एक सीमाका संनिधान अनुकूल होता है, अन्य प्रकारका संनिधान मारक हो जाता है । सामूहिकसे कणिकका उदाहरण, समूह टूटकर अलग-अलग हो जाना, परिवार टूटकर पृथक्-पृथक् हो जाना आदि भी किसी सिद्धान्तका साधक नहीं है । विभाजनसे समूहका विशरण होना प्रसिद्ध है ।

इसी प्रकार लेवीका जंगलकी काईसे जंगलके उजड़ जानेका उदाहरण भी कोई अपूर्व नहीं है । शरीरसे ही उत्पन्न रोगके द्वारा शरीरका नाश हो जाता है । कई लताओंके आश्रित होते ही वृक्ष नष्ट हो जाते हैं । किसी वृक्षपर एक बाँदाकी शाखा उत्पन्न होनेसे वृक्ष नष्ट हो जाता है । इसी प्रकार झीलका जंगल बन जानेका उदाहरण भी साधारण ही है । इतना ही क्यों, भौगोलिक परिवर्तनोंसे जल स्थल, स्थलमें जल, पहाड़में समुद्र, समुद्रमें पहाड़ादि बनते ही रहते हैं । इन आधारोंपर केवल कारणोंकी अपेक्षा कार्योंमें अनिर्वचनीय विलक्षणतामात्र सिद्ध होती है; परंतु इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि कारणमें अत्यन्त अविद्यमान कोई वस्तु कार्यरूपमें व्यक्त होती है । अतएव भूतसे चैतंन्यकी अभिव्यक्ति आदि भी नहीं सिद्ध हो सकती ।

ज्ञानका मूल

मार्क्सवादी ज्ञानकी परिभाषा करते हुए कहते हैं कि "ज्ञान सम्बन्धोंकी चेतना, वस्तु विषय तथा आत्मविषयक जीवधारी मनुष्यके रूप हम और बाहरी दुनियाके सम्बन्धोंकी चेतना, बाहरी दुनियाँमें व्यापक और विशिष्ट तफसीलोंके बीच-का सम्बन्ध और दृष्टिभूत वस्तु तथा उसकी कल्पनाके बीचका सम्बन्ध जिसमें और जिसके द्वारा हम अस्तित्वका अनुभव करते हैं । अपना अस्तित्व और बाहरी दुनियाका भी अस्तित्व हम दृष्टिभूत वस्तुओं और उनकी कल्पनाओंमें ही अपने और बाहरी दुनियाके बीच समता और प्रभेद दोनोंका एक साथ अनुभव करते हैं । प्राकृतिक वास्तविकताकी बाहरी दुनियाँ और मननक्रियाकी भीतरी दुनियाँमें विविध प्रकार और परिणामकी समता और प्रभेदका मानस चित्रमें चित्रित कर सकना और इन सबको सम अस्तित्व (को एक्जिस्टेंस) और अनुवर्तन (सक्सेशन) क्रिया, प्रतिक्रिया, परस्परक्रिया और कार्यकारण निर्भरताके उचित सम्बन्धोंमें सजाने और व्यवस्थित करनेका नाम ही जानना है ।

"सम्बन्धकी चेतना ही ज्ञान है, विशेषकर वस्तु-जगत्के अस्तित्वोंके बीचका तथा आत्मानुभूत (दृष्टिगत वस्तु, कल्पनाएँ आदि) अस्तित्वोंके बीचका सम्बन्ध तथा इन दोनों जगतोंके बीचके सम्बन्धकी चेतना ही ज्ञान है। एक और दृष्टिकोणसे व्यावहारिक अर्थमें विचार वस्तु-जगत्को ठीक-ठीक प्रतिफलित और प्रतिबिम्बित करता है, इसकी निश्चयता ही ज्ञान है। भौतिकवादने प्रकृतिको क्रियाशील रूपमें माना और विचारको अक्रिय रूपमें, जिसका केवलमात्र काम था इन्द्रियग्राह्य वस्तुओंको ग्रहण करना तथा उसपर मन्थन करना। यह कान्ट और कान्टके पश्चात्के आदर्शवादी थे जिन्होंने मननशक्तिकी रचनात्मक क्रियापर जोर दिया, लेकिन इतना अधिक जोर दिया कि उसको बेहिसाब बढ़ा-चढ़ा दिया।

"अंग्रेजी और फ्रांसीसी भौतिकवादने इस मूल स्वीकृतिसे आरम्भ किया कि विचारकी वस्तु (विचारका कर्म) का अस्तित्व विचारकर्ताके अस्तित्वसे पहले है और विचारकर्ता इसकी अनुभूति प्राप्त करता है। लेकिन वह इससे आगे न बढ़ सके। हमास् हब्स् ने इस मतको इन शब्दोंमें रखा है। 'मनुष्यके विचारके सम्बन्धमें, अलग-अलग रूपमें इनमेंसे प्रत्येक वस्तु, हमारे शरीर और मनके बाहर किसी वस्तुके किसी गुणका प्रतीक या प्रतिनिधि है, जो वस्तुकी मनुष्यकी इन्द्रियोंपर अपनी क्रियाकी विचित्रतासे विविध दृश्योंकी सृष्टि करती है (लिवायथन)। यह प्रश्न भौतिकवादियोंके सामने इस रूपमें था कि इस ज्ञानकी उत्पत्ति इन्द्रियग्राह्य रूपोंके मूल उद्गमस्थानसे होकर एक विशेषशक्ति प्रज्ञाद्वारा होती है, लेकिन यह विशेषशक्ति क्या है, यही एक झगड़ेका विषय हो गया। आदर्शवादी इस मतका पोषण करते थे कि यह 'प्रज्ञा' धर्मपण्डितोंकी आत्मा ही है जो एक अतिप्राकृतिक शक्ति है, जो इन्द्रियानुभूत मायावी रूपोंको परम और अनन्त सत्यमें परिणत करती है। भौतिकवादी इस मतके लिये झगड़ते रहे कि यह 'प्रज्ञा' कितनी ही रहस्यमयी हो, फिर भी यह प्राकृतिक ही है,।

प्रसिद्ध लेखक आनातोल फ्रांसने परिस्थितिको इस तरह चित्रित किया है 'मठकी दीवारके नीचे जहाँ छोटे बच्चे अपना खेल खेल रहे थे, हमारे साधुमित्र वहाँ एक और खेल खेल रहे थे जो उतना ही व्यर्थ था, लेकिन मैं वहाँ जा मिला क्योंकि समय बिताना ही चाहिये। हमारा खेल शब्दोंका खेल था जो हमारे गूढ मगज लेकिन सूक्ष्म दिमागके लिये सुखकर था, एक विचारशैलीको दूसरी विचारशैलीके विरुद्ध उभाड़नेवाला था और उसने सारे ईसाई समाजमें हलचल मचा दी। हम दो विरोधी दलोंमें बँट गये। एक दलका कहना था कि सेवों (फल) के पहले सेव

जाति थी, केलोंके पहले केला जाति थी, भ्रष्टचरित्र और लालची साधुओंके पहले साधु-जाति, लालच तथा भ्रष्टचरित्रता थी ही। पीठपर लात जमानेके लिये लात और पीठसे पहले पीठ जमानेवाला लात सदासे ईश्वरके अन्तःस्थलमें विद्यमान था।' और दूसरे दलने उत्तर दिया कि 'नहीं, सेवोंसे ही सेव जातिकी धारणा होती है, केलोंसे ही केला जातिका अस्तित्व है। साधुओंसे ही साधु जाति, लालच तथा भ्रष्ट-चरित्रताकी उत्पत्ति है। लात जमाने और खानेके बाद ही पीठपर लातका कोई अर्थ होता है। बस खिलाड़ी गरम हो गये और घूँसा चलने लगा। मैं दूसरे दलका पृष्ठ-पोषक था; क्योंकि उसका मत मेरे लिये बुद्धिग्राह्य था और सोवाईकी बैठकने इस मतको अग्राह्य बनाया (रिवोल्ट आफ ऐंजिल्स)।'

"प्रज्ञावादी दृष्टिकोणसे वैज्ञानिक ज्ञानका चिह्न है इसके प्रतिपाद्योंकी व्यापकता और अवश्यम्भाविता। व्यापकताका अर्थ है कि सिद्धान्तका प्रयोग बिना व्यतिक्रमके हमारे सब अनुभवोंपर हो सके और अवश्यम्भाविताका अर्थ है कि सब मनुष्योंकी बुद्धि ऐसे सत्यको ग्रहण करनेके लिये उनको बाध्य करे। लेकिन प्रज्ञावादीको कार्यकारण-सम्बन्धोंका एक सूत्रबद्ध सिलसिला कहाँसे मिल जाता है, जो उनके अनुसार वस्तुओंके भ्रमपूर्ण चित्रोंके मूलमें है? इन विचारोंके स्पष्ट और स्वयं सिद्ध तथा तर्कसङ्गत होनेसे ही ऐसा क्यों अनुमान किया जाय कि ये बाहरी दुनियाकी सच्ची तस्वीरें हैं? लेनिनके शब्दोंमें इस रहस्यका इस प्रकार उद्घाटन हो जाता है। करोड़ों बार दुहरानेसे मनुष्यके अभ्यास और अनुभव चेतनामें तर्क संकेतका रूप धारण कर लेते हैं। तथाकथित तर्कसङ्गत विचारके सार्वभौमरूपोंका ऐतिहासिक आधार यही है।"

वस्तुतः यह परिभाषा अन्योन्याश्रय-दोषसे युक्त है। ज्ञानका निश्चय होनेपर ही ज्ञान-सम्बन्धका निश्चय होगा और ज्ञान-सम्बन्ध निश्चय होनेसे ज्ञानका निश्चय होगा। साथ ही ज्ञान और चेतना–दोनों एक ही वस्तु हैं; फिर 'ज्ञान-सम्बन्धोंकी चेतना ज्ञान है,' इसका यह अर्थ हुआ कि ज्ञान-सम्बन्धोंका ज्ञान ही ज्ञान है। इस तरह आत्माश्रय दोष भी है। जबतक ज्ञान नहीं विदित है तब-तक ज्ञान-सम्बन्धोंका भी ज्ञान कैसे होगा? इसी प्रकार 'वस्तुविषयक, आत्म-विषयक तथा जीवधारी मनुष्यके रूप और बाहरी दुनियाके चेतनाको ज्ञान कहते हैं', यह परिभाषा भी अपूर्ण है। क्योंकि ज्ञान और चेतना दोनों एक ही वस्तु हैं। फिर 'ज्ञानके लक्षणकी जिज्ञासा अमुक सम्बन्धकी चेतना ज्ञान है', इतना कह देनेसे वह कैसे पूर्ण होगी? इसके अतिरिक्त सम्बन्ध-चेतना यदि ज्ञान है तो प्रश्न होगा कि वस्तु-चेतना ज्ञान है या नहीं? सम्बन्ध-चेतना ही वस्तुकी चेतना है, यह कहना भी असङ्गत है, क्योंकि सम्बन्ध सम्बन्धीसे भिन्न ही होता है।

अतएव सम्बन्ध-सम्बन्धीका आधाराधेय भाव होता है। जैसे घट-ज्ञान पट-ज्ञानका लक्षण नहीं होता, उसी तरह वस्तु-सम्बन्ध-ज्ञान वस्तु-ज्ञानका लक्षण नहीं हो सकता। इसी प्रकार बाहरी दुनियाके व्यापक और विशिष्ट तफसीलोंके बीचका सम्बन्ध भी ज्ञान नहीं कहा जा सकता। सम्बन्ध द्विष्ठ होता है; अर्थात् दो सम्बन्धियोंमें रहता है, जैसे संयोग। जिन दो वस्तुओंका संयोग होता है, उन दोनोंमें ही सम्बन्ध रहता है। ज्ञान आत्मामें ही रहता है।

इसके अतिरिक्त सम्बन्ध स्वयं ही ज्ञेय पदार्थ है, उसका भी ज्ञान होता है, फिर वह स्वयं ही ज्ञान कैसे हो जायगा ? इसी तरह 'दृष्टिभूत वस्तु तथा उसकी कल्पनाके बीचका सम्बन्ध जिसमें और जिसके द्वारा हम अस्तित्वका अनुभव करते हैं वह ज्ञान है', यह भी कहना गलत है। क्योंकि अनुभव भी तो ज्ञान ही है। चेतना, अनुभव, ज्ञान आदि पर्यायवाची शब्द हैं। उसी वस्तुका लक्षण करनेमें उसीका उपयोग होना अयुक्त है। 'अपने और बाहरी दुनियाके बीच समता और प्रभेद दोनोंका जिन दृष्टिभूत वस्तुओं और उनकी कल्पनाओंमें अनुभव करते हैं वह ज्ञान है', यह भी कहना अपर्याप्त है; क्योंकि दृष्टि और उनकी कल्पनाओंका भी अन्तर्भाव ज्ञानमें ही है। अतः जबतक ज्ञान या अनुभव या चेतनाका स्पष्ट लक्षण न हो जाय तबतक इन वाक्याडम्बरोंसे काम नहीं चल सकता।

इसी तरह 'मनन-क्रियाकी भीतरी दुनियामें विचित्र प्रकार एवं परिमाणकी समता और प्रभेदका मान चित्रमें चित्रित कर सकना और इन सबको सम अस्तित्व और अनुवर्तनक्रिया, प्रतिक्रिया, परस्परक्रिया और कार्य-कारण-निर्भरताके उचित सम्बन्धोंमें सजाने तथा व्यवस्थित करनेका नाम ही ज्ञान है', यह कथन भी शब्दाडम्बरको छोड़कर कुछ नहीं है। वस्तुतः कल्पना, मनन-क्रिया, चित्रण करना, सजाना आदि क्रिया कर्तृतन्त्र ही होती है, परंतु ज्ञान तो कृति और इच्छासे भी पहले होता है। इसीलिये 'जानाति, इच्छति, अथ करोति' का व्यवहार होता है। अर्थात् कोई भी प्राणी जानता है, फिर इच्छा करता है, पुनश्च कर्म करता है। प्राणी जैसा संकल्प करता है, वैसी ही क्रिया करता है—यह पीछे कहा जा चुका है।

कोई भी क्रिया चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, कर्त्ताके परतन्त्र ही होती है। किंतु ज्ञान कर्ताकी इच्छापर निर्भर नहीं होता; प्रमाणकी उपस्थितिमें कर्ताकी इच्छा न होनेपर भी ज्ञान होता है। दुर्गन्ध-ज्ञानको हम नहीं चाहते तब भी निर्दोष घ्राणकी उपस्थितिमें दुर्गन्ध रहनेपर ज्ञान अनिवार्य ही है, यहाँ कर्ताकी स्वतन्त्रता नहीं होती है। मानस परिणाम होनेपर भी मनन-क्रिया, भावना एवं ज्ञानमें यही भेद रहता है। बाहरी दुनियाकी वास्तविकता और भीतरी दुनियाकी समता तथा भिन्नताका मनमें चित्रण करना ज्ञाता या प्रमाताका काम हो सकता है। इन

सबका सम अस्तित्व और अनुवर्तनक्रिया, प्रतिक्रिया और कार्य-कारणके उचित सम्बन्धमें सजाने और व्यवस्थित करने आदिका काम भी प्रमाताका ही है, ज्ञानका नहीं। भौतिकवादियोंके यहाँ जीवित मनुष्य ही प्रमाता हो सकता है। देह-से भिन्न प्रमाता कोई आत्मा मार्क्सवादियोंको मान्य नहीं है। ज्ञान स्वयं-प्रकाश है। व्यवस्थापन करना, सजाना आदि ज्ञानका काम नहीं होता। प्रमाण भी अज्ञात-ज्ञापक होता है, अकृतकारक नहीं।

इसी तरह 'सम्बन्धकी चेतना ही ज्ञान है या वस्तु-जगत्के अस्तित्वोंके बीचका तथा आत्मानुभूत अस्तित्वोंके बीचका सम्बन्ध एवं इन दोनों जगतोंके बीचके सम्बन्धोंके बीचकी चेतनाका नाम भी ज्ञान है', यह भी कथन व्यर्थ है। क्योंकि वस्तुतः अस्तित्वका स्वतः सम्बन्ध नहीं होता। अस्तित्ववाली वस्तुओंका सम्बन्ध होता है और वे सम्बन्ध ज्ञेय एवं गुणविशेष होते हैं, चेतना या ज्ञान नहीं। इसी प्रकार आत्मा मार्क्सवादमें देह-भिन्न है ही नहीं। अनुभव-ज्ञानसे भिन्न कोई वस्तु नहीं होती, फिर आत्मानुभूत अस्तित्वोंका सम्बन्ध भी स्वयं अनुभव या ज्ञानस्वरूप नहीं हो सकता। विचार वस्तु-जगत्को ठीक-ठीक प्रति-फलित, प्रतिबिम्बित करता है, इसकी निश्चयता ही ज्ञान है। यहाँ भी वस्तुतः वस्तु-का अन्तःकरणमें प्रतिफलन या प्रतिबिम्बन ही विचार या निश्चय कहलाता है। यहाँ भी निश्चय, ज्ञान, विचारादि समानार्थक हैं। यहाँ भी अन्योन्याश्रय आदि दोष उपस्थित होते हैं।

भारतीय नैयायिकोंकी दृष्टिसे सर्वव्यवहारहेतु आत्मगुणको ही ज्ञान माना जाता है। सुस्पष्ट है कि संसारके सभी व्यवहार तथा व्यापार ज्ञानमूलक हैं। संसारमें अकामकी कोई भी क्रिया नहीं होती और सभी काम संकल्पमूलक ही होते हैं। वेदान्तकी दृष्टिसे काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, ह्री, धी, भय—ये सभी मनके धर्म हैं। नैयायिकोंके तथा वैशेषिकोंके अनुसार आत्ममनः-संयोगसे उत्पन्न होनेवाले ये सब आत्माके ही गुण हैं।

सामाजिक व्यवस्था

कम्युनिष्ट यह मानते हैं कि 'मनुष्य जिस किसी भी अवस्थामें रहा हो उसके समक्ष कुछ सिद्धान्त, नियम एवं आदर्श रहे हैं' परंतु उनके मतानुसार 'समाजकी अवस्था बदलनेके साथ उनके सिद्धान्तों, नियमों एवं आदर्शोंमें भी परिवर्तन होता रहता है।' उनकी इस मान्यताका मूल कारण यही है कि 'सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, विश्वस्रष्टा ईश्वर उनकी समझमें आता ही नहीं।' अतएव सर्व-देश-कालके अनुसार निर्धारित शाश्वत सिद्धान्तों, सत्यों एवं नियमोंपर उनका विश्वास नहीं जमता। सबसे बड़ा दोष तो यह है कि 'वे परिस्थिति-परतन्त्र मनुष्योंकी परिस्थित्यनुसारिणी विचार-धाराओंको ही दर्शनोंका स्रोत मानते हैं,

जो एक प्रामाणिककी दृष्टिमें अत्यन्त हेय एवं नगण्य है।' वे कहते हैं कि 'विचारोंके जीवनकी बदलती हुई परिस्थितियाँ ही विभिन्न विचार-धाराएँ उत्पन्न करती हैं। किसी विशिष्ट समयकी विशिष्ट परिस्थितियोंमें जीवनका विकास होनेसे विचारकोंके संस्कार एवं विचारधाराएँ एक विशिष्ट मार्गपर ढल जाती हैं। वे तदनुसार ही सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवनके उद्देश्य एवं आदर्श निश्चित करनेका प्रयत्न करते हैं।' उनके मतानुसार 'सुकरात, अरस्तू, अफलातून आदि दार्शनिकोंने भी अपनी जीवनस्थितिके अनुसार ही अपने विचार व्यक्त किये।'

इन बातोंसे यह स्पष्ट है कि इन विचारकोंने प्रमाणके आधारपर तत्त्वकी दृष्टिसे किसी सत्यवस्तुका विचार नहीं किया। मार्क्सकी भी यही हालत थी, वह भी गरीबोंकी श्रेणीमें उत्पन्न हुआ था। अतः उसे भी अपनी परिस्थितिके अनुसार ही विचार करना पड़ा। इससे स्पष्ट है कि इन किन्हीं भी विचारोंका वस्तु-स्थितिसे कोई सम्बन्ध नहीं। किंतु भारतीय दर्शनोंकी स्थिति ऐसी नहीं। यहाँ तत्त्वके सम्बन्धमें परिस्थितिका प्रभाव रोककर भी प्रमाणके बलसे काम लिया जाता है। प्रामाणिक निर्णय अमीर-गरीब, सुखी-दुखी, सम्पन्न-विपन्न, नौकर-मालिक—सबका एक-सा ही रहता है। आलोकसहकृत मनःसंयुक्त निर्दोषचक्षुद्वारा सभी लोग रूपवान् पदार्थके सम्बन्धमें एक मत ही होंगे। उसी प्रकार निर्दोष श्रोत्रादिसे शब्दादि ज्ञान भी सबको एक-से ही होंगे। इस सम्बन्धमें परिस्थिति अकिंचित्कर ही रहेगी। इसीलिये शुक-जैसे महाविरक्त, वसिष्ठ-जैसे महान् श्रोत्रिय एवं राम-जैसे सम्राट् आदिकोंके धर्म, दर्शन आदिके सम्बन्धमें एक ही ढंगके विचार थे। उनके तत्त्व-निर्णयपर परिस्थितियों या सम्पत्ति-विपत्ति आदिका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता था।

कम्युनिष्ट कहते हैं कि 'मनुष्य सर्वज्ञ परमेश्वर एवं शास्त्रोंके अनुसार होनेवाली सामाजिक व्यवस्थापर संतुष्ट नहीं होता। अपनी व्यवस्थामें उसे त्रुटियाँ मालूम पड़ती हैं; वह उनमें परिवर्तन कर फिर आगे बढ़ता है। पुनश्च उनमें आनेवाली रुकावटोंका अनुभव कर उसमें रद्दोबदल करता है। इस प्रकारके परिवर्तनोंसे ही विकास होता है।' परंतु अल्पज्ञ मनुष्यकी बनायी हुई व्यवस्थासे कभी भी शान्तिकी आशा नहीं की जा सकती। मार्क्सवादी अपनी व्यवस्थाको 'अन्तिम व्यवस्था' कहते हैं। मजदूरों-पूँजीपतियोंके संघर्षको ही वे संघर्षकी अन्तिम कड़ी कहते हैं। परंतु विकास-क्रममें इसे भी अन्तिम कैसे कहा जा सकता है? वस्तुतः जैसे समय-समयपर असत्य-अधर्मके विस्तारसे सत्य एवं धर्म भी कुछ समयके लिये दब जाता है, तथापि अन्तमें सत्य और धर्मकी ही विजय होती है, वैसे ही ईश्वरीय व्यवस्था भी जो सर्वज्ञद्वारा सर्वदेश-काल एवं सर्वहितकी दृष्टिसे निर्धारित की गयी है, कभी-कभी दब-सी जाती है। पर अन्तमें उसीकी विजय एवं स्थिरता रहती है। अल्पज्ञोंद्वारा निर्धारित व्यवस्था थोड़े ही दिनोंमें

दोषपूर्ण प्रतीत होने लगती है। अतः उसमें परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होता है। इस तरह कोई भी मनुष्य मार्क्सके समान ही अपनी व्यवस्थाको ही सर्वोत्कृष्ट एवं अन्तिम समझता है, परंतु उससे भी उत्तम योजना लेकर दूसरे भी सामने आ ही जाते हैं। कई तार्किक बड़े-बड़े प्रयत्नसे दिव्य तर्कोंद्वारा कोई व्यवस्था उपस्थित करते हैं, पुनश्च उससे भी अच्छा तर्क लेकर दूसरे महाशय सामने आ जाते हैं—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः। अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥

(ब्रह्म० शां० भा० १।१।१)

पर ईश्वरीय व्यवस्था हजारों नहीं लाखों वर्षोंसे सफल होती हुई चली आ रही है। संसारकी सभी सरकारोंने उसे मान्यता भी दी है। प्रायः सभी सरकारोंने व्यक्तियों एवं जातियोंकी धार्मिक स्वाधीनता एवं दायभाग आदिके सम्बन्धमें धार्मिक व्यवस्थाओंको स्वीकृत किया है। धर्म-नियन्त्रित मनुष्य सदा ही एक दूसरेका पोषक रहा। उच्छृङ्खल होते ही उसमें 'मात्स्यन्याय' फैलता और वह एक दूसरेका शोषक बन जाता है। उसी अवस्थामें प्रबल दुर्बलका घातक बनता है; धनवान्, शक्तिमान् निर्धन एवं शक्तिहीनका शोषक या भक्षक बन जाता है। जीवरूपसे सब समान होते हुए भी एक जीव दूसरे जीवोंको अपने उपयोगमें लाता है। उसी तरह मनुष्यता-के नाते सब समान होनेपर भी एकका दूसरेके उपयोगमें आना पहले भी और आज भी अनिवार्य ही है। अङ्गाङ्गिभाव, शेष-शेषिभावको उपकार्योपकारकरूपसे आदरणीय बना लिया जा सकता है। जैसे बेगार पहले कुछ शूद्रोंसे ही ली जाती थी, आज श्रमदानके रूपमें वही बेगार बड़े-से-बड़े लोगोंसे भी ली जा रही है।

पाप-पुण्य और शोषण

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'प्रबल मनुष्य दुर्बल मनुष्योंको अपनी गुलामीमें जकड़े रखनेके लिये ही अपनी शक्तियोंका प्रयोग करता था और तदर्थ ही उसने अनेक सिद्धान्त बनाये। बहुतोंने निर्बलोंको संतोषका पाठ पढ़ाया और साधन-सम्पन्नोंको भी दया, सहानुभूति एवं त्यागका उपदेश किया; इस जीवनमें एवं मृत्युके बाद दूसरे जीवनमें सुखादि लानेका विश्वास दिलाया। व्यक्तियोंको समझाया गया कि 'ये गुण व्यक्तिगत पूर्णताके लक्षण हैं और ऐहलौकिक-पारलौकिक सुखके साधक हैं। इन सभी उपदेशोंकी तहमें शान्ति एवं व्यवस्थाकी इच्छा और उद्देश्य ही मुख्य है।' उनके मतानुसार 'इसी इच्छाने धर्मको जन्म दिया है। फिर भी समाजके भीतर आनेवाली असमानताके कारण असंतोष एवं अशान्तिकी सम्भावना बनी ही रहती है। इसीलिये समाजहितैषियोंने सदा ही असमानता दूर करने और समानता लानेका प्रयत्न किया। सभी संतों एवं धर्मोंने समानताका गुण गाया है।'

उपर्युक्त कथनका सार यह है कि वस्तुतः धर्म, संतोष, दया, त्याग, सहानुभूति वास्तवमें कोई महत्त्वकी चीज नहीं। केवल शोषकोंके

कुछ पिट्ठुओंने शोषितोंके आँसू पोंछने, उन्हें शान्त रखने, विद्रोह न करनेके लिये ही इन सबको गढ़ रखा है। चार्वाकोंने भी धर्मके सम्बन्धमें ऐसी ही उलटी-सीधी कल्पना की है। वस्तुतः महात्मा, आप्तकाम, परम विरक्त महर्षियोंने परम सूक्ष्म ऋतम्भरादृष्टिसे अपौरुषेय वेदादिशास्त्रोंके आधारपर कर्मका निर्णय किया है। श्रीकृष्ण एवं शङ्कराचार्य-जैसे तार्किकों, दार्शनिकोंने जिसका पूर्णरूपसे समर्थन किया है, भौतिकवादियोंकी बहिर्मुख दृष्टिमें वह समझमें न आये तो क्या आश्चर्य? सृष्टिमें ही सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंका क्रमेण अभिभव-उद्भव होता रहता है। फलस्वरूप दैवी, आसुरी शक्तियाँ देश-विदेशमें समय-समयपर उद्भूत होती रहीं। दैवी शक्तिके लोग आत्मा, ईश्वर, शास्त्र तथा धर्म लेकर चलते थे और दूसरे उसके विरुद्ध। हिरण्यकशिपुने भी जैसी विधिकी व्यवस्था थी, उससे विपरीत व्यवस्था बनानेकी प्रतिज्ञा की। 'अन्यथेदं विधास्येऽहमयथापूर्वमोजसा ॥' जर्मनीमें हीगेल, एडवर्ड आदि विचारकोंने भी इस सम्बन्धमें अपना मत व्यक्त किया है।

समाज-विकासकी कुंजी

'सोशलिज्म' का अर्थ है 'समाजवाद' और साम्यवादका अर्थ है समाजमें समानता लाना। समाजवादका अभिप्राय यह है कि 'समाज ही उत्पादन-साधनोंका स्वामी हो। व्यक्तिके स्थानपर समाजका शासन होना ही समाजवाद है।' फ्रांसके सेंट साइमन और इंगलैंडके रावर्टस् ओवेनने (जिनका जन्म क्रमशः १७६० और १७७१ में हुआ था) पहले-पहल साम्यवादी विचारधारा फैलायी। उनके विचार थे कि 'सरकारकी बागडोर महात्माओं एवं वैज्ञानिकोंके हाथमें होनी चाहिये।' मार्क्सवादी कहते हैं कि 'चूँकि ये विचार धार्मिक भावनाके थे, इसलिये वे लोग वास्तविकतासे परिचित न हो सके।' फ्रांसके लुई ब्लां (जिसका जन्म सन् १८११ में हुआ था) ने आधुनिक समाजवादका रूप व्यक्त किया और मजदूरोंके हाथमें राजनैतिक सत्ता देना आवश्यक समझा। फिर भी मार्क्सवादी अपने समाजवादको उन सबसे विलक्षण कहते हैं। एंजिल्सका कहना है कि 'समाजवाद शब्दका प्रयोग अनेक बेसिर-पैरकी हवाई आयोजनाओंके लिये हुआ है। परोपकारकी भावनाओंद्वारा मजदूरोंकी अवस्था सुधारनेके ऐसे सैकड़ों प्रयत्नोंसे भी इस शब्दका सम्बन्ध रहा है जो एक तरफ मजदूरोंके कल्याणकी फिक्र करते हैं और दूसरी ओर पूँजी तथा उसके मुनाफेको भी सुरक्षित रखना चाहते हैं।' इसीलिये 'कम्युनिष्ट मैनीफेस्टो' का 'समाजवादी मैनीफेस्टो' नाम नहीं रखा गया।

फ्रांसके प्रौधोंने भी कहा कि 'मजदूरोंके साधनहीन होनेसे उन्हें अपने परिश्रमका पूरा फल नहीं मिलता। साधनोंसे मालिक बिना परिश्रम किये ही मजदूरोंके परिश्रमका फल हथिया लेता है।' अतः प्रौधोंने 'समाजको सब सम्पत्तिका मालिक' होना ठीक समझा। इनमेंसे अनेकोंने स्त्री-पुरुषोंके सामाजिक

बन्धनोंको भी अनावश्यक समझा। फलतः इनके बहुत अनुयायी आचारहीन भी हो गये। जिसका समाजपर बुरा असर पड़ा। मार्क्सकी मुख्य विशेषता यह बतायी जा सकती है कि 'उसने मनुष्य-समाजके इतिहासकी घटनाओंको कार्य-कारणकी शृङ्खलामें जोड़ दिया। प्रकृतिके समान ही मनुष्य-समाजके विकास एवं परिवर्तनके नियम हैं। समाजका रूप और संघटन किसी बाह्यशक्तिसे नहीं, बल्कि स्वयं मनुष्य-समाजके विचारों, निश्चयों और कार्योंसे होता है। आगे भी समाजका रूप आवश्यकतानुसार बदला जा सकता है। पूँजीवादी प्रणाली अपने विकाससे समाजमें इस प्रकारकी स्थिति उत्पन्न कर देती है कि उसका आगे बढ़ना असम्भव हो जाता है और पूँजीवादी समाजको विनाशकी ओर बढ़ाता है, अतः श्रेणी-संघर्षके द्वारा समाजवाद विकसित होता है।'

रामराज्यवादीका इसपर कहना है कि जड प्रकृतिमें समीक्ष्यकारिता नहीं बन सकती। कोई समीक्ष्यकारी व्यक्ति या समूह आक्रमणकारी या आक्रमणका सामना करनेके लिये परस्परविचारसे निश्चित कार्यक्रम बनाता है। अमुक अश्वारोही, अमुक गजारोही, अमुक रथारोही, अमुक वायुयानारोही होकर तलवार, भाला, बर्छा, बंदूक, तोप, विस्फोटक तथा अङ्गार (बम्ब) आदि लेकर आक्रमण या मुकाबिला करेगा। अवसर आनेपर वह पूर्वसंकेतानुसार वैसा ही करता है। पर अचेतन प्रकृति या उसके जडकार्यमें या घटनाओंमें समीक्ष्यकारिता सर्वथा असम्भव है। अतएव प्रकृति या प्रकृति-कार्य किसीमें भी स्वतन्त्रतारूपसे नियमित प्रवृत्ति नहीं हो सकती। निरीश्वरवादी सांख्योंमें भी 'नद्याः कूलं पिपतिषति (नदीका किनारा गिरना चाहता है) के समान प्रकृतिके विचार या ईक्षणको गौण या औपचारिक ही माना है। नदीका किनारा जड है, उसमें गिरनेकी इच्छा नहीं हो सकती; किंतु आसन्न पतन अर्थात् शीघ्र गिरना देखकर इस प्रकारका वाक्य प्रयोग किया जाता है। जैसे अचेतन रथादिकी प्रवृत्ति चेतन सारथ्यादिद्वारा अधिष्ठित होनेसे ही होती है, वैसे ही अचेतन प्रकृति या उसके कार्य जड-वर्गकी प्रवृत्ति भी चेतन-नियन्त्रित ही होती है। घटनाएँ उसी अचेतनकी हलचलमात्र हैं। वे स्वयं भी जड हैं। उनके नियम या कार्यकारणभाव—कुछ भी स्वतन्त्र नहीं हो सकते। मीमांसकोंका अचेतन कर्म भी ईश्वराधिष्ठित होकर ही फल देता है, उनके कार्यकारणभाव भी ईश्वरनियन्त्रित ही हैं—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (ब्रह्मसूत्र १।१।५) शाङ्करभाष्य आदिमें यह विषय विस्तारसे वर्णित है।

अचेतन यन्त्रोंकी नियमित प्रवृत्तिके मूलमें भी किसी चेतनको ही अनिवार्यरूपसे सबका नियामक मानना पड़ता है। किसी-किसी घटनाका परस्पर कार्य-कारणभाव होता है, यह कोई मार्क्सकी नयी बात नहीं है। दण्ड, चक्र, चीवर, कुलालादिके व्यापारकी घटना घटनिर्माण (घटना) का कारण है। तन्तु, तूरी, वेमा, तन्तुवायादिकी हलचलें पटनिर्माणका कारण हैं। संग्रामसे धन, जन, शक्तिका अपक्षय होता है। उससे किसीकी

हानि और अन्तमें किसीको लाभ भी होता है—यह कार्य-कारणभाव मान्य ही है। सब घटनाओंका कार्य-कारणभाव सर्वथा ही असङ्गत है। यदि सभी घटनाओंका परस्पर कार्य-कारणभाव हो तो कार्यकारणभावकी कल्पना ही समाप्त हो जाती है। किसीका कोई कारण होकर अन्यका अकारण हो तभी कार्य-कारणभावकी विशेषता होती है। कुलालका पिता भी यद्यपि कुलालजननद्वारा घटका कारण कहा जा सकता है तथा बाणनिर्माता भी किसीके वधमें परम्परया कारण हो सकता है, परंतु तार्किकोंने ऐसे कारणोंको 'अन्यथासिद्ध' कहा है। अन्यथासिद्धिशून्य कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्तीको ही कारण कहा जाता है। कालान्तरभावी स्वर्गादिके प्रति अग्निहोत्रादि पूर्वक्षणवर्ती नहीं हो सकता। अतः बीचमें अपूर्व (अदृष्टरूप) व्यापार मानकर उसके द्वारा कार्य-कारणभाव निश्चित होता है। 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्व' ही व्यापार है। अग्निहोत्रादिजन्य होकर अग्निहोत्रादिजन्य स्वर्गका जनक अदृष्ट है। काकके बैठने, तालके गिरनेमें यद्यपि कार्य-कारणभाव प्रतीत होता है, तथापि 'काकतालीयन्याय' का अकार्य-कारणभाव स्पष्ट ही है। इसके अतिरिक्त 'इति-ह-आस' (इतिहास) ऐसा हुआ—इस ऐतिह्यको ही इतिहास कहते हैं। 'वटे यक्षः' यह प्रसिद्धि इतिहास नहीं है। अन्ध-परम्पराकी प्रसिद्धि अप्रमाण और आप्तपरम्पराकी प्रसिद्धि प्रमाण होती है।

इसीलिये अतीत घटनाओंके सम्बन्धमें वचन या लेख ही प्रमाण होते हैं। कुछ अंशोंमें अनुमान भी सहायक होते हैं। करोड़ों वर्षोंकी अगणित घटनाओंका उल्लेख हो ही नहीं सकता। यदि एक-एक वर्षकी घटनाओंका एक-एक पन्नेमें भी संकलन करें तो भी करोड़ों पन्नोंका इतिहास होगा। उसे कौन कितने दिनमें पढ़ेगा, फिर कब निष्कर्ष निकालेगा ? सम्पूर्ण घटनाओंका ज्ञान न होनेसे अधूरी घटनाके अधूरे ज्ञानसे निकाला हुआ निष्कर्ष भी अधूरा ही होगा। फिर घटनाओंकी सचाई जाननेमें भी पर्याप्त भ्रम रहता है, आँखों-देखी घटनाओंके सम्बन्धमें विभिन्न संवाददाताओं, समाचार एजेंसियोंमें पर्याप्त मतभेद रहता है। समाचार-पत्रों एवं सम्पादकीय लेखोंमें जाते-जाते एक ही घटनाका रूप सैकड़ों ढंगका बन जाता है। इसीलिये पुरानी घटनाओंका पढ़ना-लिखना गड़े मुर्दोंके उखाड़ने-जैसा ही व्यर्थ होता है। म्यूनिसिपलबोर्डोंमें मनुष्योंके ही जनमने-मरनेका लेखा-जोखा होता है, मच्छरों-मक्खियोंके जीने-मरनेका लेखा-जोखा नहीं रहता; क्योंकि उनका कोई महत्त्व नहीं होता। वैसे ही प्रतिवर्ष इतिहासमें मुख्य-मुख्य व्यक्तियों एवं घटनाओंका ही उल्लेख होता है, लाखों ही नहीं, करोड़ों व्यक्तियों एवं घटनाओंका उल्लेख छोड़ दिया जाता है। क्योंकि लेखक उनका महत्त्व नहीं मानता। परंतु एतावता क्या कोई कह सकता है कि 'उनमें कोई व्यक्ति या घटना भी महत्त्वपूर्ण नहीं ?' इसीलिये भारतीय महर्षियोंने योगज ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा ही अतीत महत्त्वपूर्ण आवश्यक घटनाओंका साक्षात्कार कर उनका उल्लेख किया है।

'योगजविशेषता नहीं होती' यह कहना मूर्खता होगी। स्पष्ट ही देखते हैं कि 'जब चित्त शान्त, एकाग्र होता है तो सूक्ष्म ज्ञान उत्पन्न होता है। चित्तके चञ्चल एवं अशान्त होनेपर आँखों-देखी, कानों-सुनी बातोंका भी ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता।' वाल्मीकीय रामायणके लिये ब्रह्माका वरदान है—'न ते वागनृता काव्ये काचिदत्र भविष्यति' (वाल्मी० १। २। ३३) इस काव्यमें तुम्हारा एक भी वाक्य अनृत नहीं होगा। यदि ये सब बातें झूठी हैं, तो जडवादियोंकी सम्पूर्ण ऐतिहासिक कल्पनाएँ और उनके कार्यकारणभाव भी सुतरां झूठे हैं।

मनुष्योंको विचारने, सोचने, उन्नत करनेमें अवश्य स्वतन्त्रता है, परंतु उसके लिये भी शिक्षण, मार्गदर्शन अपेक्षित होते हैं। आज भी शिक्षणादिकी आवश्यकता सूर्यके समान स्पष्ट है। सर्वज्ञ ईश्वर, आप्त, महातपा, महर्षियोंके शिक्षण मार्गदर्शनके अनुसार सोचने, विचारने, उन्नतिके प्रयत्न करनेसे सफलता निश्चित होती है, मनमानी करनेसे भटककर परेशान होना पड़ता है। आज भी न्याय, नीति, शिक्षा, शिल्पादिके सम्बन्धमें परम्परासे ही शिक्षा ली जाती है। अदालतोंमें भी पुरानी नजीरें पेश की जाती हैं। नीतिके सम्बन्धमें भी पुरानी मान्यताओंकी खोज की जाती है। यदि अतीतसे शिक्षा नहीं लेनी है, तो फिर इतिहासका महत्त्व ही क्या? अतीत घटनाओंमें कितनी ही अनिष्ट हैं, कितनी इष्ट हैं, कितनी भली हैं, कितनी बुरी हैं। अधिकांश अनाचार, पापाचार एवं बुराईकी ही घटनाएँ घटती हैं। अतः महर्षियों, शिष्टोंसे सम्मत, सत्य, लाभदायक इतिहास ही आदरणीय होता है। अतः राष्ट्रको अपने भविष्यनिर्माण करने, धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक उचित शिक्षण प्राप्त करनेके लिये ही आप्त इतिहासोंका उल्लेख होता है।

पूँजी जड है, वह स्वयं मुर्दा है, प्रयोक्ताओंके गुण एवं दोषसे उसमें गुण या दोष आते हैं। पूँजीद्वारा होनेवाले विकाससे पूँजीपतिका ही विनाश नहीं होता, किंतु मजदूरका भी होता है। अन्यथा उसकी भी बेकारी बढ़ती है। बेकारी बढ़नेसे ही मजदूरोंका राज्य नहीं बन जाता। यदि यही बात हो तो फिर राज्य बनानेके लिये व्यक्ति या समूह बेकार ही प्रयत्न करें; परंतु ऐसा देखा नहीं जाता। इसके साथ ही यह भी समझना चाहिये कि वैज्ञानिक आविष्कारक आदि आधुनिक विकासके मूल हैं। यदि विकासके परम्परागत हेतु होनेसे पूँजीपतिका विनाश होता है, तो साक्षात् 'संश्लिष्ट' आविष्कारकों एवं मजदूरोंका विनाश क्यों न होगा? जैसे पूँजीपतियोंका विनाश इतिहाससिद्ध है, वैसे ही पूँजीपतियोंसे अधिक संख्यामें मजदूरोंका विनाश भी इतिहाससिद्ध है। फिर भी जैसे मजदूर रहते हैं, वैसे पूँजीपति भी हैं। यह दूसरी बात है कि मजदूरके नामपर कुछ सरकारी अधिनायक पूँजीपति बन जाते हैं। किसी भी कार्यमें आनेवाले दोषों एवं दुष्परिणामोंको

बुद्धिमान्, ईमानदार मिटानेका प्रयत्न करता है और सफल होता है; कोई खास वर्ग या व्यक्ति ही ऐसा करता है; यह नहीं कहा जा सकता। फिर धर्म-नियन्त्रित शासन सुतरां ईश्वरीय एवं आर्ष सम्मतियोंके अनुसार आगत दोषोंको तो दूर कर ही सकता है।

श्रेणी और वृत्ति

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'जीविका पैदा करनेके क्रममें जो मनुष्य जिस स्थान-पर है वही उसकी श्रेणी है। मनुष्य जीविका उपार्जन करनेके ढंगके अनुसार अपने रहन-सहनका ढंग बना लेता है, अतएव जीविकोपार्जनका ढंग बदलनेसे समाजका रूप भी बदल जाता है। समाजमें पैदावारकी दृष्टिसे श्रेणियाँ अपना-अपना स्थान रखती हैं। पैदावारके फल या पैदावारके साधनोंपर अधिकार करनेके लिये जो संघर्ष चलता है, वही मनुष्यसमाजका इतिहास है, वही मनुष्यसमाजके विकासका मार्ग है। विकासके मार्गमें विरोध आना आवश्यक है, विरोधसे नया विधान तैयार होता है। नया विधान समाजके विकासको आगे बढ़ाता है।' शरीर-मात्रको आत्मा माननेवाले शरीरभिन्न आत्मा एवं उसका जन्मान्तर होने, ईश्वर एवं धर्माधर्मका रहस्य न समझनेवाले चार्वाकप्राय जडवादियोंकी दृष्टिमें उपर्युक्त बातें ठीक ही हैं। परंतु तद्विपरीत रामराज्यवादीको 'पशुओं, वृक्षों-जैसी ही मनुष्योंकी भी जन्मना ही ब्राह्मणादि श्रेणी मान्य है। जीविका चलानी हर मनुष्यकी मुख्य समस्या नहीं; किंतु लौकिक-पारलौकिक विविध अभ्युदय एवं परम निःश्रेयस ही उसका मुख्य उद्देश्य है। तदर्थ धर्म, संस्कृति, ज्ञान, विज्ञान, शिल्प, संगीत, कला-कौशलका आविर्भाव परमावश्यक होता है। केवल मनुष्योंके लिये ही जीविका कोई असाधारण समस्या नहीं है। वह पशु-पक्षियोंके लिये भी अपेक्षित ही होती है।

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

(हितो०)

अतएव आस्तिकोंके यहाँ वर्णानुसारिणी जीविका होती है। जीविकानुसारी वर्ण नहीं। वर्णोंके भेदसे ही शास्त्रोक्त कर्मोंका भी भेद है। राजसूय, वाजपेयादि क्षत्रिय-ब्राह्मणादिके भेदसे विहित हैं। इस तरह धर्मकी दृष्टिसे ब्राह्मणादि श्रेणियाँ ही मुख्य एवं उपादेय हैं। धनी, गरीब, पूँजीपति, मजदूर आदि वास्तविक श्रेणी ही नहीं हैं। ऐसी कृत्रिम श्रेणियाँ सदा ही हानिकारक होती हैं।

ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों—सभीमें ये अमीर-गरीब होते हैं। बुद्धिमान्, निर्बुद्धि, दुर्बल, सबल कोई जाति नहीं होती। उनके विवाह, खानदान आदि भी इन्हीं अकृत्रिम श्रेणियोंमें होते हैं। इन श्रेणियोंमें साधनोंके हथियानेके लिये कभी भी संघर्ष नहीं हुआ। मार्क्स-जैसे कुछ लोगोंद्वारा यह कृत्रिम भेद उत्पन्न किया

जाता और उनमें संघर्ष, विद्वेष फैलाकर अपना मतलब गाँठनेका प्रयत्न किया जाता है। लाखों वर्षोंके पुराने इतिहासमें किसीकी भूमि-सम्पत्ति, कल-कारखाना छीननेका श्रेणीबद्ध प्रयत्न नहीं होता था। हाँ, एक राजा दूसरे राजापर राज्य छीनने-के लिये प्रयत्न करता था। कुछ व्यक्ति कुछ व्यक्तियोंकी कोई वस्तु छीननेका प्रयत्न यदि करते थे तो वे दण्डके भागी होते थे। मार्क्सवादियोंके मनगढ़ंत इतिहासकी घटनाएँ केवल हजार-पाँच सौ वर्षकी ही हैं।

सभी देशों, सभी धर्मोंके पुराने इतिहासोंमें मार्क्सवादी-क्रमकी गन्ध भी नहीं प्रतीत होती। इतना ही क्यों, युक्तियों एवं शास्त्रोंसे मालूम पड़ता है कि ऐसी क्रान्तियाँ क्षुद्रोपद्रवमात्र हैं। इनका कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं। वेदों, रामायण, महाभारत तथा पुराणोंमें करोड़ों, अरबों वर्षों एवं अगणित युगों, कल्पों तथा विभिन्न सृष्टियोंके इतिहास हैं। जैसे प्रतिवर्ष वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुओंका समान-रूपसे आवर्तन होता रहता है, वैसे ही प्रतिकल्प प्रतिसृष्टिमें समानरूपसे सूर्य, चन्द्र आदि उत्पन्न होते हैं। अनेक ढंगकी प्रधान-प्रधान वस्तुएँ एक-सी ही होती हैं। कभी भी जीविकाके आधारपर श्रेणीबद्धता और संघर्षको सिद्धान्तरूपमें नहीं माना गया। जैसे कभी-कभी चोरी, डाका, दुराचार आदि उपद्रवके रूपमें आते रहते हैं, वैसे ही नास्तिकता, अराजकता, अनुचित गिरोहबंदी एवं छीना-झपटी भी उपद्रवके रूपमें ही कभी-कभी हुआ करती हैं। प्रतिद्वन्द्विता, प्रतियोगितासे आधि-भौतिक, आध्यात्मिक उन्नति होती है। परंतु छीना-झपटी एवं अपहरणके लिये संघर्ष सदा ही अपराध माना गया और उससे समाजका विकास नहीं विनाश होता है। मार्क्सवादियोंद्वारा उपस्थापित शोषक-शोषितश्रेणी, उनके शोषण एवं संघर्षका इतिहास उन्हीं उपद्रवोंका एक अंशमात्र है, वह भी एक अत्यन्त क्षुद्र कालका एवं अति क्षुद्र देशका। जिनके अधिकांश मनगढ़ंत मिथ्या तथा दुरुद्देश्यसे कल्पित किये गये हैं। सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक इतिहासके अनुसार मनुष्योंने अपने शुभाशुभ कर्मों, तपस्याओं, आराधनाओं तथा परिश्रमोंके आधारपर धन-धान्य एवं सभ्यताकी उन्नति की, है, दूसरोंको गुलाम बनाकर उनकी कमाईके आधार-पर नहीं।

आस्तिक मनुष्योंने केवल मनुष्योंको ही नहीं, अपितु प्राणिमात्रको परमेश्वरकी संतान एवं परमेश्वर-स्वरूप माना है। 'अमृतस्य पुत्राः' के अनुसार वे प्राणिमात्रके साथ समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृताका व्यवहार पसंद करते हैं। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'वासुदेवः सर्वमिति' 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवान् स्वयम्' 'नानाविधैश्च नैवेद्यैर्द्रव्यैर्मे नाम्ब तोषणम्' वे मनुष्य ही क्या किसी भी प्राणीके अपमान या शोषणसे भगवान्का ही अपमान समझते हैं। वे एक नगण्य प्राणीके लिये अपना सर्वस्व प्राणतक न्योछावर कर देते थे; शिबि, दिलीप आदि इसके उदाहरण हैं।

धर्म और अर्थ

मार्क्सवादी कहते हैं कि धर्म, प्रेम या परोपकारके नामपर सर्वस्व लुटा देने या प्राण न्योछावर कर देनेका भी आधार आर्थिक ही है, क्योंकि सब कुछ संतोष-तृप्तिके लिये ही किया जाता है। अन्यायके विरोधमें आत्मबलिदान करता हुआ भी प्राणी सब कुछ स्वार्थके उद्देश्यसे करता है। परंतु यहाँ स्वार्थका अर्थ व्यक्ति न समझकर श्रेणी समझना उचित है। समाजमें व्यवस्था एवं शान्ति न रहनेसे समाजके नुकसानके साथ व्यक्तिका भी नुकसान होता है। समाजकी रक्षामें ही व्यक्तिकी भी रक्षा होती है; परंतु जडवादमें उपर्युक्त बातें सङ्गत नहीं होतीं। जो देहमात्रको आत्मा मानता है, देहके नष्ट हो जानेपर आत्माका नाश मानता है वह आत्मनाशके काममें कभी भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। आत्माके नष्ट हो जानेपर समाजकी रक्षासे फिर किसकी रक्षा होगी? जिसकी रक्षाके लिये समाजकी रक्षा करनी है, जब उसका नाश सामने ही है तो उसकी रक्षाके लिये समाज-रक्षाकी बात ही कहाँ उठती है? शान्ति या संतोषके लिये त्याग भी वहींतक किया जा सकता है जहाँतक जिसे शान्ति-संतोष चाहिये, वह बना रहे। जब शान्ति-संतोषका भोक्ता ही नष्ट हो जायगा तो शान्ति-संतोषका सुख कौन भोगेगा? अध्यात्मवादी देहादिके नष्ट हो जानेपर भी सुख-शान्ति-संतोष भोगनेवाली आत्मा-को अमर मानते हैं। अतः उनका त्याग, बलिदान बन सकता है। आत्म-कल्याणके लिये धर्मार्थ, परोपकारार्थ प्राणत्यागतक करना उनकी दृष्टिसे उचित हो सकता है।

अध्यात्मवादमें भी दो प्रकारका स्वार्थ होता है—एक संकुचित और दूसरा वास्तविक। जहाँ 'स्व' शब्दका अर्थ देहादि ही माना जाय वह संकुचित स्वार्थ है। वहाँ रोटी-कपड़े आदि लौकिक अभीष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति ही स्वार्थ गिना जाता है। परंतु जहाँ 'स्व' शब्दका अर्थ देहादिभिन्न नित्य आत्मा माना जाता है, वहाँ स्वार्थका अभिप्राय वस्तुभूतस्वरूप परमेश्वरका साक्षात्कार, परमेश्वरप्राप्ति, अनर्थ-निवृत्ति तथा परमानन्दस्वरूप मोक्षप्राप्ति ही है। यह सच्चा स्वार्थ कहा जाता है—'स्वारथ साँच जीव कहँ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥' इसी वास्तविक स्वार्थके अभिप्रायसे कहा गया है कि 'सब कुछ आत्माके लिये ही होता है। सर्वभूत, सर्वलोक, सर्वदेव आदिकोंमें प्रेम सर्वभूत, सर्वलोक, सर्व-देवके लिये नहीं, किंतु आत्माके लिये ही होता है। 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' (बृहदा० उ०) परंतु यहाँ प्रबोध होनेपर व्यष्टि समष्टि दो नहीं रह जाते। अविद्या-दशामें ही सर्वस्वरूप आत्मा-में असर्वता अध्यारोपित है। बोध होनेपर अध्यारोपित असर्वताके बाधित होनेपर स्वाभाविक सर्वता ही व्यक्त हो जाती है। अतः वास्तविक स्वार्थ समष्टि-व्यष्टिका एक ही होता है; परंतु जडवादमें यह सब सम्भव नहीं।

किसीके पैदावारका साधन छीनना सदासे सभी पाप समझते रहे। परान्न-परद्रव्य मार्गमें पड़ा हो या अपने घरमें ही कोई डाल गया हो तब भी नहीं लेते थे—'परान्नं परद्रव्यं वा पथि वा यदि वा गृहे। अदत्तं नैव गृह्णीयादेतद्ब्राह्मणलक्षणम्।' दायभागमें प्राप्त अपनी बपौती सम्पत्तिको ही अपनी सम्पत्ति मानते थे। दान-पुरस्कार तथा परिश्रमार्जित सम्पत्तिको ही अपनी वैध सम्पत्ति मानते थे। फिर छीनने, अपहरण करनेका उनसे सम्बन्ध ही क्या हो सकता था? लोक, परलोक, ईश्वर, धर्म न माननेवाला जडवादी ही दूसरोंकी सम्पत्ति लेनेकी सलाह दे सकता है। आस्तिक दूसरेकी गिरी हीरेकी माला या लाखोंका नोटका बंडल जिसके हैं, उन्हींको लौटा देनेकी सलाह देगा; परंतु एक कम्युनिष्ट ऐसी सलाह दे ही कैसे सकता है? आस्तिककी दृष्टिमें सब मनुष्य ही नहीं; किंतु सभी प्राणी परमेश्वरकी संतान हैं। फिर भी शिष्य गुरुको, पुत्र माता-पिताको, पत्नी पतिको, नौकर मालिकको पूज्य और अपनेको सेवक मानते हैं। पूज्यको सेव्य समझते हैं। व्यवहारमें वह सेव्य-सेवक-भाव मान्य होता है। अतएव आस्तिक किसीको गुलाम नहीं मानता। मनुष्य मनुष्यमें सेव्य-सेवकभाव चलता है। यह अब भी है और सदा रहेगा। नाम भले बदल जाय, पर वस्तु कभी नहीं बदल सकती। मिश्रकी पिरामिड, यूनान एवं भारतकी विशाल इमारतोंके बनानेमें गरीबोंको रोजी और नौकरी मिली है, उनका पोषण हुआ है। उनकी सम्पत्ति छीनकर ये सब चीजें नहीं बनायी गयीं। सब सम्पत्ति गरीबों, मजदूरोंकी ही होती, तो वे गरीब और मजदूर ही क्यों होते? मजदूरोंने पैदावारमें हाथ बँटाया तो उसके बदलेमें वेतन पाया। कमाईका सारा फल मजदूरका ही है, यह सिद्धान्त असिद्ध है। हाँ, उनका जीवन उन्नत और समृद्ध हो इसके लिये आस्तिकोंका सदा प्रयत्न रहा। फलस्वरूप वे सुखी भी रहे। देशमें कोई दरिद्र, दुखी, अविद्वान् नहीं रहता था। 'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।' 'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना॥'

सभ्यता, संस्कृतिं, शिल्प, संगीतका विकास अमीर, गरीब सबके ही हितकी चीज है। रूसी विद्वान् साहित्य, संगीत ज्योतिषके अध्ययनमें संलग्न हो रहे हैं, एतावता क्या वे भी शोषक हो जायँगे? वैज्ञानिक लोग अनेक प्रकारके आविष्कारमें लगे हैं, वे भी तो किसान-मजदूरोंकी ही कमाई खाते हैं? पर क्या वे शोषक कहे जायँगे? वस्तुतः जो भी अपने कर्त्तव्यका पालन करते हैं, वे शोषक नहीं कहे जाते। शासक, शिक्षक, अन्वेषक यदि शोषक नहीं तो शिल्प, संगीत, साहित्यके अभ्यासमें लगे लोग भी शोषक कैसे कहे जा सकते हैं? श्रमके अतिरिक्त प्राकृतिक साधनोंका भी उत्पादनमें प्रमुख हाथ रहता है। अतः श्रमवालोंको यदि लाभका अंश मिलता है, तो साधनवालोंका भी लाभमें हिस्सा होना अनिवार्य है। श्रमवालेको उचित पारिश्रमिक मिलना चाहिये और साधनवालोंको लाभ। शरीर, मस्तिष्क, श्रमशक्ति भी वस्तुतः प्राकृतिक ही वस्तु है। मनुष्योंने इतर यन्त्रोंके समान

मस्तिष्क एवं देहोंका निर्माण नहीं किया । जैसे इन प्राकृतिक साधनोंसे मनुष्य लाभ उठाता है, वैसे ही अन्य प्राकृतिक साधनोंसे दूसरोंको भी लाभ उठानेका अधिकार है। मशीनों, कल-कारखानोंके विस्तारसे उत्पादनमें वृद्धि, वस्तुओंकी बहुलतासे दाममें कमी होना, कम मजदूरोंका उपयोग, अधिकोंकी बेकारी आदिका होना तो अनिवार्य है। परंतु बच्चों एवं स्त्रियोंसे काम लेना, चार घंटेके बदले मजदूरोंसे बारह घंटे काम लेना, कम मजदूरी देना और उन्हें असहाय छोड़ देना आदि जुर्म है। यह कहीं भी हो, इसका समर्थन नहीं किया जा सकता। यह सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक इतिहासकी बात नहीं। अन्यान्य अनाचारोंके समान यह भी शुद्ध उपद्रव ही है, जो सर्वथा हेय है। यह अतिरञ्जित वीभत्स वर्णन एक वर्गके प्रति घृणा फैलानेके उद्देश्यसे भी हो सकता है। वैसे रूसमें विरोधियोंके साथ लोग इससे भी अधिक भीषण दुर्व्यवहारकी बात करते हैं।

भौतिकवादी ईश्वर एवं धर्मके सम्बन्धमें बहुत उलटा प्रचार करते हैं और कहते हैं कि 'इस पक्षमें सब कुछ ईश्वरकी इच्छासे ही होता है। मनुष्यके विचार भी ईश्वरप्रेरणाके ही अधीन होते हैं। ईश्वरवादी संसारको मिथ्या मानकर उससे भागनेके ही फेरमें रहते हैं।' वे कहते हैं कि 'इतिहास इस पक्षका समर्थन नहीं करता।' परंतु ये बातें बहुत ही छिछली हैं। लाखों-करोड़ों वर्षका इतिहास वस्तुतः ईश्वरवादका ही समर्थक है। ईश्वरवादियोंने ही बड़ा-बड़ा पुरुषार्थ किया है। समुद्रमें सौ योजनका पुल ईश्वरवादियोंने ही तैयार किया है। अखण्ड भूमण्डलका साम्राज्य, पुष्पकविमान-जैसे वायुयान, हाईड्रोजनबमसे करोड़ों गुना अधिक शक्तिशाली ब्रह्मास्त्र, पाशुपतास्त्र ईश्वरवादियोंने ही प्रकट किये हैं। मनुष्योंके अतिरिक्त दिव्य शक्तियोंके साथ प्रत्यक्ष व्यवहार भी उन्होंने ही किया है। एक देहात्मवादी उसी बड़े काममें हाथ लगा सकता है, जिसका फल वह जीवनमें देख सके। उसके जीवनमें जिसका फल सम्भव नहीं, उस काममें वह किस उद्देश्यसे प्रवृत्त होगा ? परंतु आत्मवादी आत्माको अमर मानता है, वह जानता है कि 'इस जन्ममें नहीं तो जन्मान्तरमें मेरे प्रयत्नका फल होगा ही।' वह कोटि-कोटि जन्मतक भी किसी बड़े कामको पूरा करनेका दृढ़ संकल्प कर सकता है—'जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरौं संभु न त रहौं कुमारी॥' कई पीढ़ीके प्रयत्न करनेसे गङ्गाके लानेका प्रयत्न भी इसी कोटिका था। जैसे अङ्कुरोत्पत्तिमें पर्जन्य साधारण कारण है, अङ्कुरके रूप, रस, फल आदि विचित्रताका असाधारण कारण पर्जन्य नहीं, किंतु बीजकी निजी विशेषता है, वैसे ही ईश्वर सर्व प्रवृत्तियोंमें साधारण कारण है। तत्तद्विशिष्ट फलोंकी प्राप्तिमें प्राणियोंके पुरुषार्थ ही मुख्य कारण हैं। प्राणियोंके अपने पुरुषार्थ-प्रमादके अनुसार ही सफलता-असफलता चलती है। योगवाशिष्ठ आदिमें पुरुषार्थका जितना जबर्दस्त समर्थन है, जडवादी कभी भी उतने पुरुषार्थकी कल्पना नहीं कर सकते।

कई लोग आजकल कहते हैं कि 'आस्तिकलोग जीने-मरने, स्वर्ग-नरककी ही चिन्तामें परेशान रहते हैं। इसीलिये उन्होंने लौकिक-भौतिक उन्नतिमें सफलता नहीं पायी। भौतिक लोग स्वर्ग-नरककी चिन्तासे मुक्त थे, अतः वैज्ञानिक उन्नतिमें बढ़ गये। परंतु यह उनका भ्रम है, हम भौतिक वैज्ञानिक उन्नतिकी चर्चा कर आये हैं। अलबत्ता आत्मा-परमात्मा माननेवाला, स्वर्ग-नरकविश्वासी प्राणियोंको परमेश्वरका अंश मानकर उन्हें सतानेमें सकुचायेगा। कोई प्राणी एक कारीगरके बनाये हुए खिलौनेको बिगाड़नेमें सकुचाता है, फिर कोई समझदार ईश्वरके बनाये प्राणियोंको सताने या मौतके घाट उतारनेसे अवश्य सकुचायेगा। भौतिकवादी पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरकसे डरते नहीं, अतः भीषण-से-भीषण नरसंहारमें, प्राणिसंहारमें उन्हें कुछ भी संकोच नहीं। उसका स्वार्थ भीषण-से-भीषण घृणित-से-घृणित कार्यसे भी सम्पन्न हों तो भी वे स्वार्थ-साधनके लिये तैयार हो जाते हैं। मार्क्सके दर्शन, जीव-विकास एवं मृत्यु आदिकी समालोचना पिछले प्रकरणमें की जा चुकी है। डार्विन हैकल आदिके सिद्धान्त भारतीय दर्शनोंकी कसौटीपर मिनटभर भी नहीं ठहरते।

बहुत-से समाजवादी मार्क्सवादी भी मार्क्सके अर्थसम्बन्धी दर्शनसे सहमत होते हुए भी उसके अध्यात्मविचारसे सहमत नहीं होते। अनेकों लोग समाजवादी होते हुए भी ईश्वर एवं धर्ममें विश्वास रखते हैं। विशेषतः भारतमें हजारमें नौ सौ निन्नानबे समाजवादी धार्मिक एवं ईश्वरवादी होते हैं, परंतु मार्क्सवादी दृष्टिकोणसे वे गलत रास्तेपर ही समझे जाते हैं। यह दुरंगा ढंग उनकी दृष्टिमें सर्वथा अवैज्ञानिक है। उनका कहना है कि जब आत्मा-परमात्माका अस्तित्व विज्ञान एवं तर्कद्वारा सिद्ध नहीं होता तो वह क्यों माना जाय? ईश्वर इन्द्रियोंका विषय नहीं, किंतु अनुभवका विषय है। ऐसे विश्वासोंको अन्ध-विश्वास ही कहते हैं। उनके मतानुसार भूत-प्रेतकी कल्पनाके समान ही ईश्वरकी कल्पना है। वे कहते हैं कि विज्ञानकी उन्नतिके लिये मनुष्यने ईश्वरकी कल्पनामें भी उन्नति कर ली है। आरम्भकालकी भूत-प्रेतकी कल्पना ही मध्यकालमें परिष्कृत होकर देवी-देवताके रूपमें प्रकट होती है। अधिक प्रगतिशील युगमें देवी-देवताकी कल्पना भी परिष्कृत होकर एक ईश्वरका रूप ले लेती है और परिष्कृत होकर वही कल्पना अद्वैत निर्गुण-निराकार ब्रह्मका रूप धारण कर लेती है। मार्क्सका कहना है कि जो वस्तु है ही नहीं उसपर विश्वास करनेसे क्या लाभ? और झूठी कल्पनासे मनुष्यको क्या आश्रय मिलेगा? और क्या उत्थान होगा? सबसे बड़ी अड़चन यह है कि अध्यात्मवादियोंके मतानुसार आत्मा-परमात्मामें परिवर्तन नहीं होता। सुतरां ईश्वरनिर्दिष्ट धार्मिक-सामाजिक नियमोंमें भी रद्दोबदल नहीं हो सकता। परंतु मार्क्सके मतानुसार कोई धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक नियम शाश्वत नहीं है। उनमें रद्दोबदल होता ही रहता है। तभी उसका राष्ट्रीकरण समाजीकरण चल सकता है। ईश्वर

मानना एवं उसके निर्दिष्ट नियमको न मानना यह अर्धजरतीयन्याय कैसे चलेगा ? अपरिवर्तनीय ईश्वर एवं धर्मको मानते हुए व्यक्तिगत सम्पत्ति-भूमिका समाजीकरणके नामपर छीनना कथमपि नहीं हो सकता। मार्क्सवादी कहते हैं कि धार्मिक, आध्यात्मिक विचारवाले समाजकी प्रगतिका सदा ही विरोध करते हैं। फ्रांसके वाल्टेयरने कहा था कि यदि परमेश्वर नहीं है तो हमें स्वयं परमेश्वर गढ़ लेना चाहिये; क्योंकि उसका भय मनुष्योंको उचित मार्गपर चलानेमें सहायक होता है। परंतु मार्क्स ऐसे काल्पनिक भयसे लाभकी अपेक्षा हानि ही देखता है। उसे भय है कि ईश्वर माननेवाला व्यक्ति ईश्वरीय शास्त्र एवं ईश्वरीय नियमोंको भी माननेके लिये बाध्य होता है। फिर उसे श्रेणी-संघर्ष एवं किसी व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं भूमिके छीन लेनेके सिद्धान्तमें विश्वास जमना असम्भव हो जायगा।

वस्तुतः ईमानदारीकी बात यही है कि मार्क्सवादी, ईश्वरवादी दोनोंका समन्वय हो नहीं सकता। अन्ततः जो ईश्वरवादी हैं उन्हें मार्क्सवाद छोड़ना ही पड़ेगा। मार्क्सकी अर्थनीति ईश्वर एवं धर्मके रहते-रहते चल ही नहीं सकती। ईश्वरवादी मार्क्सवादी बनकर या तो मार्क्सवादियोंको धोखा देते हैं या अपनेको धोखा देते हैं। जब भौतिक सूक्ष्म वस्तुओंके ज्ञानमें अणुवीक्षण आदि अनेक साधन अपेक्षित होते हैं तब परमाणु एवं आकाशसे भी परम सूक्ष्म अहं महान् अव्यक्त एवं इन सबसे परम सूक्ष्म स्वप्रकाश सत्स्वरूप परमेश्वर बिना साधनोंके कैसे बुद्ध्यारूढ़ हो सकता है। स्वधर्मानुष्ठानद्वारा शुद्धान्तःकरण प्राणी विवेक, वैराग्य, शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा-समाधान एवं मुमुक्षुत्व आदिसे युक्त होकर उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्रका विचार करनेसे परमेश्वरको समझ सकता है। शङ्कराचार्य उदयनाचार्यके तर्कोंको सुनकर कोई समझदार पुरुष नहीं कह सकता कि ईश्वर भीरु मस्तिष्ककी कल्पना है या अन्धविश्वासकी चीज है। अभय सत्त्वशुद्धि ज्ञानयोगव्यवस्थितिपूर्ण तर्क एवं योगाभ्यासजनित एकाग्रता आदि जिसके समझनेके साधन हैं उसे अन्धविश्वासकी बात समझना बड़ी भयंकर मूर्खता है। भूत-प्रेतकी कल्पनाने ही परिष्कृत होकर निर्गुण ब्रह्मकल्पनाका रूप ले लिया, यह कथन भी अनभिज्ञतामूलक है, लाखों बरस पहलेसे ही सबकी मान्यता साथ-साथ चली आ रही है। तामस प्राणियोंके लिये भूत-प्रेत, सात्त्विकोंके लिये देवी-देवता एवं सर्वोच्च अधिकारीके लिये सगुण परमेश्वर एवं साक्षात्कारसम्पन्न अत्यन्त अन्तर्मुखके लिये निर्गुणब्रह्मका उपदेश है। तत्त्वविद् भी व्यावहारिक दृष्टिसे सबका सम्मान करता है। कर्मकाण्ड, देवता आदिकी व्यावहारिक सत्ता तत्त्ववित्को ही नहीं अपितु सर्वज्ञशिरोमणि ईश्वरको भी मान्य है।

उत्पत्तिके साधन और न्याय

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'न्याय भी सदा एक-सा नहीं रहता; किंतु उसमें रद्दोबदल होता रहता है। जैसे प्राचीन भारतमें शूद्रोंका विद्या पढ़ना अन्याय और

एक पुरुषको दो पत्नियाँ रखना न्याय था। विधवाका सती होना महापुण्य था, परंतु आज वह अपराध है। न्याय क्या है, इसका निर्णय रहता है उन लोगोंके फैसलेपर, जिनके हाथमें शक्ति रहती है। जिस श्रेणीके हाथमें पैदावारके साधन होते हैं, वही न्याय अन्यायका निर्णय करती है। जिससे उनके हितोंकी रक्षा हो, उनके हाथमें शक्ति बनी रहे, उसी ढंगके तरीकोंको वे न्याय कहा करते हैं। पूँजीवादी समाजमें जिस तरह पूँजीपतिके कब्जेमें पूँजी बनी रहे, वही न्याय है। वे व्यक्तिकी पूँजी छीननेको महापाप बतलाते हैं। समाजमें मुनाफा कमाकर पूँजी बढ़ानेके अधिकारको न्याय कहते हैं। कम मूल्यमें सौदा खरीदकर अधिक दाममें बेंचने, सौ रुपयेका काम कराकर नौकरको पचास रुपया देनेको भी न्याय कहते हैं। रूस इन सब बातोंको अन्याय समझता है। पूँजीवादी देशोंमें पूँजीपतिके हितकी बात न्याय है। और रूसमें मजदूरोंके हितकी बात न्याय है।'

वस्तुतः ऐसी ही भ्रान्त धारणाओंके कारण भौतिकवादी अपने विरोधियोंको कुचलनेके लिये अमानवताका व्यवहार करते हैं और उसे भी न्याय समझते हैं। समाजके नामपर व्यक्तियोंकी भूमि-सम्पत्ति छीनकर विचार-स्वातन्त्र्यपर प्रतिबन्ध लगाकर व्यक्तियोंके शरीर, वाणी एवं मस्तिष्कपर ताला लगा देने-जैसे बुरे-से-बुरे पापको अपनी हित-रक्षाका साधन समझकर उसे न्याय कहते हैं। भारतमें विद्या, ज्ञान, जानकारीपर कभी भी प्रतिबन्ध नहीं था। विदुर, धर्मव्याध, मूक आदि शूद्र एवं अन्त्यज भी परम ज्ञानवान् थे और समाजमें आदरणीय थे। बड़े-बड़े ब्राह्मण, ऋषि-महर्षि भी धर्मव्याधके पास धार्मिक परामर्शके लिये जाते थे। जिन वेदादि ग्रन्थोंका विधिपूर्वक अध्ययन पुण्यविशेषकी दृष्टिसे जिन वर्णोंके लिये विहित है, उनका अध्ययन उन्हींके लिये आज भी है, तब भी था। जो वेदादि शास्त्रके अनुसार अदृष्ट अर्थमें विश्वास रखते हैं वे तदनुसारी नियम प्रसन्नतासे ही मानते हैं। यहाँ किसी श्रेणीके स्वार्थका प्रश्न ही नहीं उठता। जो वेदोंको किसी दूसरी श्रेणीके स्वार्थकी चीज समझते हैं, वे पुण्यकी दृष्टिसे उनका अध्ययन करना ही क्यों चाहेंगे? फिर उनके लिये निषेधका प्रश्न ही क्यों उठेगा? जो विधिपूर्वक वेदाध्ययनसे जिस आधारपर किसीके लिये पुण्य मानेगा, उसी आधारपर किसीके लिये उसे पाप भी मानना ही पड़ेगा।

आजकल मूर्तिपूजाके सम्बन्धमें भी यही बात है। पाषाणादि मूर्तिमें देवताका अस्तित्व माननेपर ही मूर्तिपूजाका प्रश्न उठता है। जो मूर्तिमें देवताकी सत्ता नहीं मानता, उसके लिये मूर्तिपूजाका प्रसङ्ग ही नहीं आता। प्रत्यक्षानुमानादिके आधारपर मूर्तिमें देवता सिद्ध हो, तब तो कम्युनिष्ट भी अवश्य ही मूर्तिपूजक बन जायँगे। अतः कहना होगा कि प्रत्यक्षानुमानसे मूर्तिमें देवताका अस्तित्व एवं उसकी पूजासे लाभ सिद्ध नहीं होता। केवल शास्त्रप्रमाण माननेसे ही मूर्तिमें प्रतिष्ठाविधिके

द्वारा देवताका आवाहन-प्रतिष्ठापन होता है, तभी उसकी पूजासे पुण्यकी बात उठती है। फलतः मूर्तिप्रतिष्ठा पूजादिविधायक शास्त्रोंमें विश्वास रखनेवाला जब मूर्तिपूजामें प्रवृत्त होगा तो उसे उस शास्त्रकी अन्य बातें भी माननी पड़ेंगी। यदि शास्त्रोंके अनुसार ही मन्दिरस्थ प्रतिष्ठित मूर्तिमें और म्यूजियममें रहनेवाली मूर्तियों तथा आपणस्थ (बाजारमें बिकनेवाली) मूर्तियोंमें विशेषता सिद्ध होती है, तो उन्हीं शास्त्रोंके अनुसार यह भी मानना होगा कि अमुक-अमुक हेतुओंसे मूर्तिसे देवत्व नष्ट हो जाता है और अमुकको मूर्तिपूजासे कुछ लाभ न होगा किंतु उलटा नुकसान होगा। यह सब बातें भी उन्हीं शास्त्रोंसे माननी पड़ेंगी। शास्त्रोंकी दृष्टिसे न्याय-अन्यायका निर्णय किसी श्रेणीके हित या अहितकी दृष्टिसे नहीं होता। ब्राह्मणको राजसूय करना अधर्म कहा गया है; क्षत्रियके लिये वही धर्म है। वैश्यके लिये वाजपेय करना अधर्म कहा गया है वही ब्राह्मणके लिये धर्म है। इसी तरह वैश्यस्तोम, निषादस्थपति इष्टि, वैश्य एवं शूद्रविशेषके लिये धर्म है, अन्यके लिये अधर्म। यहाँ उन अनुष्ठाताओंके हिताहितकी दृष्टिसे धर्माधर्मका निर्णय किया गया है, शासक या धनवान् श्रेणीकी दृष्टिसे नहीं।

औषध-विशेषके सेवनका विधि-निषेध रोगियोंके हिताहितसे सम्बन्ध रखता है, शासक-शासित-श्रेणियोंसे नहीं। किसी अवस्थामें किसी रोगीको किसी औषधसे लाभ हो सकता है और किसी औषधसे हानि। उसी दृष्टिसे विधि-निषेध होता है। हर जगह श्रेणी-स्वार्थकी बात जोड़ना कलुषित मनोवृत्तिका ही परिचायक है। इसी तरह अवस्था-विशेषमें दो पत्नीका होना तब भी धर्म था और अब भी धर्म है। अवस्था-विशेषमें वही तब भी अधर्म था और अब भी अधर्म है। यदि संतानके लिये, पिण्ड-श्राद्धके लिये अपने पूर्वजोंका नाम चलानेके लिये, पूर्व पत्नीकी सम्मतिसे ही दूसरा विवाह किया जाय तो इसमें अन्याय-जैसी कोई बात नहीं। कोई विधवा सती न होकर वैधव्य-धर्म पालन करे तब भी उसकी सद्गति शास्त्रसम्मत है। वह धर्म उसपर लादा नहीं जाता, उसकी इच्छापर निर्भर है। यहाँ उसीके हिताहितका सम्बन्ध है, अन्यका स्वार्थ नहीं। अथ च विधवाका सती होना तब भी धर्म था और अब भी धर्म है। कानून बन जानेमात्रसे धर्म-अधर्ममें भेद नहीं पड़ता। ईश्वरीय धर्माधर्ममें सरकारें रद्दोबदल, हस्तक्षेप करनेमें सर्वथा असमर्थ हैं, क्योंकि धर्माधर्मका वास्तविक फल देना सरकारोंके हाथकी बात ही नहीं है। इसी तरह रूसी कानूनसे व्यक्तिगत सम्पत्ति छीनना भी धर्म नहीं हो सकता।

वस्तुतः जो कानून स्वार्थकी दृष्टिसे बनाये जाते हैं, कोई भी तटस्थ विवेचक उन कानूनोंको न्याय नहीं कह सकता। न्याय स्व पर-पक्षपातविहीन होता है, जिसके आधारपर रामचन्द्रने एक विद्वान् बलवान् धनवान् ब्राह्मण एवं नगण्य श्वानके विवादमें अपराधी ब्राह्मणको ही दण्ड दिया था। धोबीके मुकाबले

सीतातकको वनवास दिया था। शाहजहाँने हकीकतरायके मृत्युदण्डके बदलेमें काजीको भीषण दण्ड दिया, जो उसकी ही श्रेणीका था। सगरने अपने पुत्र असमञ्जसको देशबहिष्कृत कर दिया था। अपराधी पुत्रको भी दण्ड देना, निरपराध शत्रुको भी दण्ड न देना ही न्याय कहलाता है। विश्वासघात, मित्रद्रोह, चोरी, व्यभिचार, परपीड़न आदि अधर्म-अन्याय हैं।

इसी प्रकार औचित्य-अनौचित्य, सत्य एवं सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें भी मार्क्सवादी कहते हैं कि 'ये कोई भी स्थिर नहीं होते।' पर यदि सर्वसम्मत प्रमाण न्याय, औचित्य, सत्यको आधार न माना जाय तो फिर कोई सिद्धान्त स्थिर करनेके लिये पुस्तकादि लिखनेका प्रयास भी मार्क्सने क्यों किया ? फिर तो उचित-अनुचित, प्रमाण-अप्रमाण, सत्तर्क-असत्तर्कसे कोई भी कुछ भी सिद्ध कर सकता है। फिर जब सभी सिद्धान्तों, सत्योंकी यही हालत है, तब मार्क्सद्वारा प्रचारित सिद्धान्तोंकी भी यही हालत होगी।

मार्क्स और धर्म

भौतिकवादियोंका कहना है कि "सभ्य मनुष्यका विश्वास है कि आध्यात्मिक शक्ति सदा मङ्गलमय है, लेकिन असभ्य मनुष्यके लिये यह शक्ति निष्ठुर है, इसलिये सदा ही उसको विपत्तिमें डालती रहती है। पत्थर जब गिरकर आदमीको घायल करता है, अचानक पेड़की डाल टूट जाती है, तब यह सब प्रकारके भूतों या पेड़के भूतकी शैतानीको छोड़कर और क्या है ? जबतक औजार—हथियारोंके ज्ञानकी वृद्धि नहीं हुई, तबतक असभ्य मनुष्य भूतोंको वशीभूत करनेके लिये मन्त्र-तन्त्रके ही फेरमें पड़ा रहा। हथियार-औजारोंके ज्ञान बढ़नेके साथ-साथ प्राकृतिक शक्तिपर मनुष्यकी प्रभुता बढ़ने लगी। 'भौतिक शक्ति निष्ठुर ही नहीं है, बल्कि यह भलाई भी कर सकती है', जब इस धारणाका जन्म हुआ तब असभ्य मनुष्यके प्रेततत्त्वपर सभ्यताकी मुहर पड़ी। प्रेत-तत्त्व असभ्य मनुष्यका है, देवता-तत्त्व इसके ऊपरकी सीढ़ी है—जो सभ्य मनुष्यका है। आदिम असभ्य मनुष्यके लिये प्रकृति निष्ठुर भयावह है। प्रकृतिके रहस्यका भेद जानकर सभ्य मनुष्य कहने लगा—'मङ्गलमयी विश्वजननी'। यह परिवर्तन अकस्मात् एक दिनमें नहीं हो गया। आदिम भूत-प्रेतोंने सभ्य होकर यह रूप ग्रहण किया है। आदिम मनुष्यका प्रेत-तत्त्व सभ्यताकी सीढ़ीपर चढ़कर सूक्ष्म बन गया है। प्रकृति-जगत्को चलानेवाली है असंख्य निष्ठुर प्रेतोंकी शक्ति; और इसी प्राथमिक कल्पनाका संशोधितरूप है देवताओंकी कल्पना। ये सब देवता प्रकृति-जगत्के एक-एक हिस्सेके मालिक हैं। ये भलाई भी करते हैं और बुराई भी कर सकते हैं। जल, अग्नि, वायु—सभी प्राकृतिक शक्तियाँ किसी-न-किसी देवताके अधीन हैं। देव-समाज भी मनुष्य-समाजके साँचेपर ढला हुआ है। ये असंख्य देवता घटते-घटते एक ईश्वरतक पहुँचे।

सभ्यताकी सीढ़ीपर चढ़कर वस्तु-जगत्‌के विषयमें मनुष्यका ज्ञान ज्यों-ज्यों बढ़ने लगा, त्यों-त्यों देवताओंकी संख्या घटने लगी । मनुष्य ज्यों अगणित पदार्थोंमें एक मेल देखने लगा, त्यों देवताओंका बहुत्व भी एकत्वमें परिणत हो गया ।'

"पहले भूत या चैतन्य ? इस प्रश्नका आदिम असभ्य जातियोंके प्रेत-तत्त्वसे बहुत निकट सम्बन्ध है । इस बातको स्मरण रखना चाहिये कि आदिम असभ्य मनुष्यको जीवनकी प्राथमिक बातें सोचनी पड़ी थीं । अनुमानके ऊपर प्रतिष्ठित मन्त्र-तन्त्रोंके द्वारा उसको जीवन-धारणका कौशल सीखना पड़ा था । उसकी यह कोशिश चाहे जितने बचपनकी हो, उसका मूल है जीवन-धारणकी अभिलाषा । इसलिये जीवन-मरणके रहस्यने आदिम मनुष्यको काफी चिन्तित कर डाला था । मनुष्यका शरीर जीवित-अवस्थामें एक प्रकारका और मरनेपर दूसरे प्रकारका क्यों होता है, जागरण, निद्रा, स्वप्न, रोग और व्याधि—ये सब क्यों होती हैं, स्वप्नमें जो मनुष्य-मूर्तियाँ दिखायी देती हैं, वे सब क्या हैं, स्वप्नमें मनुष्योंकी जो छाया-मूर्तियाँ दिखायी देती हैं, वही शायद जीवनकी कुंजी है, शायद इस छायामूर्तिका शरीर छोड़ना ही मृत्यु है—असभ्य मनुष्यकी प्रेतात्माकी धारणा इसी प्रकार बनी है । यहाँ इस धारणाकी ऐतिहासिक आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि यही प्रेतात्मा सभ्यताके साबुनमें धुलकर चैतन्य परमात्मा आदि बन गयी है । मानव आत्माके विषयमें असभ्य जातियोंकी धारणा है कि यह सूक्ष्म भापकी तरह है । इसके शरीर त्याग देनेसे मृत्यु हो जाती है ।

"मनुष्य तथा अन्य उन्नत प्राणियोंके शरीर-धारणके लिये श्वासक्रिया बहुत ही आवश्यक है । मरते समय श्वासक्रिया क्षीण होते-होते बंद हो जाती है । आदिम असभ्य जातियोंने भी इसको देखा था । इसीलिये श्वासक्रियाको ही उन्होंने आत्मा मान लिया था । आस्ट्रेलियाके आदिम निवासियोंको भाषामें 'श्वास' और 'आत्मा' इन सबके लिये एक ही शब्द है । हिब्रू तथा सभी आर्य भाषाओंके भाषा-विज्ञानमें श्वास और आत्मबोधक शब्दोंका निकट सम्बन्ध है । यूनानी 'साइक' और 'न्यूमा', लैटिन 'एनिमस', 'एनिमा', 'स्पिरीट्स', इनका रूप-परिवर्तन इसी प्रकारसे हुआ है ।"

इसपर कहना यह है कि यद्यपि मस्तिष्क अतिभौतिक प्रतीत न हो, तथापि यह तो नहीं कहा जा सकता कि जिससे जो निश्चित हो, वह उसका स्वरूप ही होता है । यदि ऐसी ही बात हो तब तो ज्ञानसे ही सब ज्ञेय निश्चित किया जाता है, यहाँतक कि मस्तिष्क भी ज्ञानसे ही निश्चित किया जाता है, फिर क्या भौतिकवादी सबको ही ज्ञानस्वरूप माननेको तैयार हैं ? यदि नहीं, तब तो भले ही भौतिक मस्तिष्कसे ही ईश्वर विदित हो, परंतु वह भौतिक नहीं कहा जा सकता । स्वयं इन्द्रियाँ नीरूप एवं सूक्ष्म हैं, परंतु उनसे रूपादिमान् स्थूल प्रपञ्च विदित होता

ही है। इसी तरह मस्तिष्क आदिद्वारा अभौतिक आत्मा, ब्रह्म आदिका बोध होता ही है। परिवर्तनशील भौतिकवादियोंका भूत ही नयी-नयी पोशाकोंमें भले उपस्थित हो, उपनिषदोंका ब्रह्म तो सदासे ही औपाधिकरूपमें अनेक रस और निरुपाधिक-रूपसे एकरस ही रहा है और वैसे ही रहेगा। जिसको भौतिकवादी वस्तु कहते हैं, वही अवस्तु है। जिसे वे अवस्तु समझते हैं, विचारकी दृष्टिसे वही वस्तु है। स्थूलदर्शी कार्यको ही वस्तु समझता है। एक स्थूलदर्शी पटको सत्य मानता है, परंतु एक सूक्ष्मदर्शी तन्तुभिन्न पटको ही असत् कहता है। इसी तरह कारण-परम्पराका विचार करते हुए तन्तु भी अंशुसे भिन्न असत् है। अंशु भी बिनौला-मात्र है, बिनौला भी पृथ्वीमात्र है, पृथ्वी भी जलमात्र ही है, जल तेजसे भिन्न होकर कुछ नहीं ठहरता। तेज वायुमात्र है, वायु आकाशमात्र ठहरता है; किंतु स्थूलदर्शीको यह सब ढोंग ही जँचता है।

अन्तिम सत्यका विचार सर्वदा ही उपयुक्त है, चाहे श्रेणीविभाजित जीवन हो चाहे समष्टिवादी जीवन। सभीके लिये विक्षेपशून्य, निष्प्रपञ्च, सत्य, स्वप्रकाश ब्रह्म अपेक्षित है। इन्द्र भी अनन्त आनन्दसामग्री भुलाकर निष्प्रपञ्च सौषुप्त सुखकी ओर प्रवृत्त होता है। कोई कितना भी निर्द्वन्द्व, शान्त एवं सुखी क्यों न हो, सुषुप्तिकी निष्प्रपञ्चताके बिना उसे विश्राम नहीं मिलता। 'ईश्वरको न युक्तिसे जाना जा सकता है, न उसे प्रकाशित किया जा सकता है' यह कान्टका कथन; तथा 'ईश्वर वाङ्मनसगोचर नहीं है' यह हिंदूदर्शनोंका कथन, यह सिद्ध नहीं करते कि ईश्वर अवास्तव एवं असत् है। किंतु उनका अभिप्राय यही है कि श्रद्धा, समाधान तथा एकाग्रताके बिना ईश्वरका साक्षात्कार नहीं हो सकता। ईश्वरके अस्तित्वमें अनुमान, आगमादि अनेकों प्रमाण हैं। श्रुति ब्रह्म या आत्माको साक्षात् अपरोक्ष ही बतलाती है—'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म।' (बृहदा० उप० ३। ५। १) विज्ञाता प्रमाता प्रमाणानपेक्षरूपसे ही स्वतःसिद्ध होता है। संशय, विपर्यय एवं अज्ञान मिटानेके लिये ही प्रमाण अपेक्षित होते हैं। आत्मा अन्यत्र संदिहान होता हुआ भी स्वयं असंदिग्ध है, अन्यत्र विपर्ययज्ञानवान् होता हुआ भी स्वयं अविपर्यस्त रहता है। अन्यत्र अनुमिमान होता हुआ भी (अनुमान करता हुआ भी) स्वयं अपरोक्ष रहता है। फिर प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि सभी जिस अखण्ड बोधके अनुग्रहसे भासित होते हैं, उसे किससे सिद्ध किया जाय? यही बात 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' इत्यादि श्रुतियोंद्वारा कही गयी है। अतएव प्रमाणसिद्ध एवं स्वतःसिद्ध ईश्वर या ब्रह्म परमकल्याणकारी होनेसे ग्राह्य, उपास्य एवं ज्ञेय है। अनादि स्वतःसिद्ध वस्तुको बुद्ध्यारूढ करनेके लिये युक्ति, श्रुति आदि अपेक्षित होती है। इतिहास घटनाओं-का ही होता है, फिर भी औपचारिकरूपसे 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्', 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि श्रौत इतिहासके आधारपर सर्वकारण-स्वप्रकाश ब्रह्म-का अस्तित्व सिद्ध होता ही है। तदनुगुण युक्ति भी श्रुतिने ही दी है। जैसे अन्न

(पृथ्वी) रूप अङ्कुरसे जलरूपी बीजका पता लगता है, जलरूपी अङ्कुरसे तेजरूपी मूलका पता लगता है, वैसे ही तेजरूपी अङ्कुरसे सद्रूपी मूलका पता लगता है—'तेजसा सौम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ ।' दार्शनिक पण्डितोंके इन तत्त्वविचारोंको गलत कहना बुद्धिकी अजीर्णताका ही द्योतक है। वास्तविक अभिज्ञता और व्यावहारिक ज्ञानसे तो भौतिकवादियोंने ही शत्रुता कर रक्खी है। विश्वके उपादानकारणरूपसे, विश्वके निमित्तकारणरूपसे; विश्वके आधार या अधिष्ठानरूपसे, विश्वके प्रकाशक तथा व्यवस्थापकरूपसे, कर्मफलदातारूपसे, सर्वशासकरूपसे ईश्वरकी सिद्धि होती ही है। जैसे दर्पणके अंदर प्रतिविम्ब भासित होता है, वैसे ही अनन्त चिद्रूप दर्पणमें मनुष्य, पश्वादि, जङ्गम-स्थावरादि सभी प्रपञ्च भासित होते हैं। काष्ठपर व्यक्त अग्निको काष्ठसे भिन्न समझना ही पड़ेगा, ज्ञान या चेतनाको मनुष्यादि देहोंसे भिन्न समझना ही पड़ेगा।

आदिम जंगली मनुष्योंके वस्तु और चेतनासम्बन्धी विचारोंको इतिहासके बलसे सिद्ध करनेकी दुश्चेष्टा निराधार है। यह इतिहास कपोलकल्पित, मिथ्या एवं पूरा मनगढ़न्त है। जड़वादियोंका इतिहास-सम्बन्धी मनोराज्य केवल विनोदका विषय है। कोई प्रमाणचक्षु पुरुष इसे केवल भौतिकवादियोंका दिमागी फितूर ही कहेगा। प्रामाणिक आस्तिकोंके इतिहासोंके अनुसार तो विश्वकारण ईश्वरकी संतानें ईश्वरीय ज्ञानरूप वेदादि शास्त्रोंद्वारा पूर्णरूपसे शिक्षित ही होती हैं। उत्तरोत्तर जहाँ-कहीं सच्छिक्षा एवं सत्सङ्गमें विच्छेद हुआ, वहीं असभ्यता, अज्ञता एवं मिथ्या धारणाएँ बनती हैं। भौतिकवादियोंकी यह धारणा नितान्त असत्य है कि 'अध्यात्मवादियोंकी अतिभौतिक देवता, ईश्वर या ब्रह्म इत्यादि कल्पनाएँ हैं और इनका मूल असभ्यों, जंगलियोंकी तन्त्र-मन्त्र, भूत-प्रेतकी कल्पनाएँ हैं।' जिन्होंने सच्चे इतिहासोंका अध्ययन किया है, रामायण, महाभारत, पुराणों, उपपुराणों, तन्त्रों, आगमों एवं मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदों एवं उनके आरण्यक, उपनिषदोंका मनन किया है और जिन्होंने व्यास, वसिष्ठ एवं श्रीकृष्ण भगवान्‌के दिव्य दर्शनोंका अध्ययन किया है, उनको यह समझनेमें कठिनाई न होगी। भौतिकवादी जिन बाह्य भौतिक वस्तुओंको सत्य मानते हैं, देवता, ईश्वर, ब्रह्मकी बात तो पृथक् रहे भूत-प्रेतकी कल्पना भी उनसे अधिक सत्य है। इसीलिये उपनिषद् या गीताके जिस निर्गुण ब्रह्मको भौतिकवादी अन्तिम कल्पना मानते हैं, उस कल्पनाके साथ भी भूत-प्रेत एवं देवताओंकी कल्पनाएँ हैं। यह समझना नितान्त भ्रम है कि विकासक्रमसे भिन्न-भिन्न कालोंकी ही यह कल्पनाएँ हैं। एक उच्चकोटिका ब्रह्मदर्शन परमार्थ-दृष्टिमें सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य ब्रह्मतत्त्व बतलाता है। परंतु वही अन्य अधिकारियोंके लिये ईश्वरकी उपासना बतलाता है। कुछ और ढंगके अधिकारियोंके लिये सगुण ईश्वरकी आराधना, अन्य लोगोंके लिये विभिन्न देवताओंकी आराधना बतलाता है। अन्य ढंग-

के लोगोंके लिये प्रेत-पिशाचकी आराधना भी उचित मानता है। 'बृहदारण्यक' आदि उपनिषदोंमें भी निर्गुण ब्रह्म, ईश्वर और साथ-ही-साथ अनेक देवताओंका भी वर्णन है। भारत, रामायण, गीता आदिमें तो सबका वर्णन है ही। यदि पिछली-पिछली कल्पनाएँ उत्तरोत्तर कल्पनाओंकी दृष्टिसे असत्य हैं, तब तो उनको मिथ्या ही कहना चाहिये। किसीके लिये भी उनकी ग्राह्यता एवं उपासनाका उपदेश कैसे हो सकता है? इसलिये व्यावहारिक दृष्टिसे प्रेत, पिशाच आदि सभी तत्त्वोंका अस्तित्व है।

प्रेतादि केवल कल्पना नहीं, उनकी देवयोनिमें गणना है। परलोकविद्या-वालोंकी दृष्टिसे प्रेत-तत्त्वकी सिद्धि होती है। भूतावेश, प्रेतावेश आज भी वैसी ही सत्य वस्तु है, जैसी पुराने कालमें। इसके अतिरिक्त भौतिकवादियोंकी प्रेतकल्पनाका युग कितना पुराना है? जब मानवका इतिहास ही लाखों नहीं हजारों ही वर्षोंका है, तब उनके प्रेतकल्पनाका युग भी उनकी दृष्टिमें हजारों वर्ष-का ही पुराना है। परंतु आर्ष इतिहासके अनुसार निर्गुण ब्रह्मकी कल्पना तो लाखों वर्ष पुरानी है। द्वापरके कृष्ण, त्रेताके राम और सृष्टिके मूल कारण ब्रह्मा, विष्णु एवं महेशकी अतिप्राचीन दृष्टिमें भी निर्गुण ब्रह्मकी सत्ता स्वतःसिद्ध है। भौतिकवादियोंके तथाकथित मनगढ़ंत मिथ्या इतिहासोंकी अपेक्षा आर्ष इतिहासोंकी तथ्यता कहीं अधिक श्रेष्ठ है। अतएव जागरण, निद्रा तथा स्वप्न-के आधारपर देह-भिन्न आत्माका निर्णय करना, प्राणधारणसे जीवन, प्राणराहित्यसे मरण आदिकी धारणा जंगली असभ्योंकी नहीं, किंतु सभ्यशिरोमणि महा-दार्शनिकोंकी भी यही धारणा थी और आज भी है। श्रीशङ्कराचार्यका कहना है कि जो स्वप्न, जागर एवं सुषुप्तिको जानता है, वही आत्मा है, भूतसंघ नहीं— 'यत्स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यं तद्‌ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः।' भागवतमें कहा गया है कि स्वप्न, सुषुप्ति बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं, जिस द्रष्टासे इनका बोध या प्रकाश होता है, वही अध्यक्ष पर पुरुष है—'बुद्धेर्जागरणं स्वप्नः सुषुप्तिरिति वृत्तयः। ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः पुरुषः परः॥' (श्रीमद्भा० ७। ७। २५)।

इस शरीरकी विभिन्न अवस्थाओंमें उसके भीतर अन्तरसे भी अन्तरतम-रूपसे आत्माको देखनेकी पद्धति लाखों वर्ष पुरानी है। जैसे मुञ्जमेंसे बुद्धिमानीसे इषीका (सींक) निकाली जाती है, वैसे ही शरीरसे, इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार या आनन्दमयसे, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिसे अन्वयव्यतिरेकादि युक्तियों-द्वारा समझकर पृथक्‌रूपसे आत्मा समझा जाता है। शरीरके भीतर ही अ-तत्को त्याग करते हुए भगवत्तत्त्वको समझा जा सकता है—'अन्तर्भवेऽनन्त भवन्तमेव ह्यतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः।' (श्रीमद्भा० १०। १४। २८) 'गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्', 'यो वेद निहितं गुहायाम्।' शरीरके भीतर बुद्धिरूपा गुहामें अभिव्यक्त अनन्त चित्-स्वरूप आत्माका उपलम्भ होता है। प्राणधारणके आधारपर जीवशब्दकी

प्रवृत्ति भी अति प्राचीन ही है। यह हजार दो हजार वर्षके जंगली मनुष्योंकी कल्पना नहीं, बल्कि यह कहना चाहिये कि अतिप्राचीन वास्तविक आर्षज्ञानका विकृत-रूप अवशेष है। उपनिषदोंने मरनेके सम्बन्धमें बड़ी गम्भीरतासे विचार किया है। नचिकेताका प्रश्न ही मुख्य यही था—'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।' (कठोप० १। १। २०) अर्थात् मरनेके बाद जो यह संदेह होता है, कुछ लोग कहते हैं कि देह-भिन्न आत्मा बचा रहता है, कुछ कहते हैं कि कुछ भी बाकी नहीं बचता इसमें तथ्य क्या है? इसीपर यमराजने वरप्रदानके रूपमें अनन्त, सर्वाधिष्ठान, सर्वद्रष्टा आत्माका निरूपण किया है।

देवताओंके सम्बन्धमें तो भगवान् व्यासकी उत्तरमीमांसामें (१। ३। ९) शाङ्करभाष्यद्वारा स्पष्ट ही बतलाया गया है कि 'इन्द्रो ह वै देवानामभि प्रवव्राज' इत्यादि आख्यायिकाओंद्वारा ऐश्वर्यशील देवतातत्त्वका स्पष्ट बोध होता है। महादार्शनिक विद्यारण्य स्वामीने सर्वाधिष्ठान ब्रह्मको अनिर्वचनीय तथा प्रकृतिविशिष्ट रूपको ईश्वर बतलाया है। प्रकृतिके सूक्ष्म कार्य समष्टि सप्तदशतत्त्वात्मक लिङ्गशरीरसे विशिष्ट उसी ईश्वरको हिरण्यगर्भ बतलाया है और समष्टि स्थूलशरीर एवं स्थूलप्रपञ्चविशिष्ट उसी हिरण्यगर्भको विराट् कहा है। ईश्वर, हिरण्यगर्भ, विराट्—तीनों ही ईश्वरके ही रूप हैं। स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरोंसे विशिष्ट ब्रह्म ही तीनों रूपमें व्यक्त होता है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों प्रपञ्च और उसका प्रत्येक अंश ईश्वर ही है। ईश्वररूपसे आराधना करनेपर इसीलिये निम्ब, पिप्पल, पाषाणादि भी फलप्रद होते हैं। अस्ति, भाति, प्रिय, नाम, रूप यह पाँच रूप सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। नाम, रूप मायाके अंश हैं और शेष—अस्ति, भाति, प्रिय—तीनों ब्रह्मके ही रूप हैं।

जंगली लोगोंकी विचारधाराओंका यह निष्कर्ष नहीं कि 'प्रेततत्त्व, जादूविद्या, अनेकेश्वरवाद, एकेश्वरवाद मनुष्यकी चिन्ताधाराके विभागकी सीढ़ियाँ हैं और अध्यात्मवादका मूल भीरुतामय प्रेतकल्पना ही है।' उसका निष्कर्ष तो यह है कि ईश्वरसे निहित ऋषियों, महर्षियोंके उच्च स्तरका ब्रह्मविज्ञान, आत्मविज्ञानका ही विकृत अवशेष जंगलियोंमें मिलता है। उच्चकोटिका ब्रह्मविज्ञान, आत्मविज्ञान कालक्रमसे लुप्त हो गया। सच्छिक्षा, सत्सङ्ग लुप्त हो जानेसे उदात्त विचार नष्ट हो गये। निम्नश्रेणीकी प्रेतविद्या, जादूगरी आदिके भाव रह गये। अतः उस आधारपर चलनेसे भ्रम ही बढ़ेगा।

नवम परिच्छेद

मार्क्सीय समाज-व्यवस्था

मार्क्सके अनुसार 'समाज' व्यक्तियों और परिवारोंका समूह है। समाजकी व्यवस्थामें आनेवाला कोई भी परिवर्तन व्यक्तियों और परिवारोंपर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। परिवार—स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध समाजका केन्द्र है। समाजकी आर्थिक अवस्था मनुष्योंको जिस अवस्थामें रहनेके लिये मजबूर करती है, उसी ढंगपर मनुष्य परिवारको बना लेता है। कुछ देशोंमें बहुत बड़े-बड़े सम्मिलित परिवार होते हैं और कुछ देशोंमें छोटे-छोटे। कहीं परिवार पिताके वंशसे होते हैं और कहीं माताके वंशसे। स्त्री समाजकी उत्पत्तिका स्रोत है। इसके साथ ही वह कई तरहसे पुरुषसे शारीरिकरूपसे कमजोर भी है। इन सब बातोंका प्रभाव समाजमें स्त्रीकी स्थितिपर पड़ता है।

'समाज जब बिल्कुल आदि अवस्थामें था और मनुष्य जंगलोंमें घूम-फिरकर जंगली फलों और शिकारसे पेट भर लिया करते थे, या जब वे खेती और पशु-पालनद्वारा अपना निर्वाह करते थे, उस समय कबीलोंमें भूमिके भाग या इस प्रकारकी दूसरी चीजोंके लिये लड़ाइयाँ होती रहती थीं। इन लड़ाइयोंमें शारीरिक-रूपसे स्त्रीके कमजोर होनेके कारण उसका अधिक महत्त्व नहीं था। इसके अलावा स्त्रीको लड़ाई लड़नेके लिये आगे भेजना खतरेसे खाली न था। क्योंकि स्त्रियोंके लड़ाईमें मारे जाने या उनके कैदी होकर शत्रुके हाथमें पड़नेसे कबीलोंमें पैदा होनेवाले पुरुषोंकी संख्यामें घाटा पड़ जाता था और कबीला कमजोर हो जाता था। इसलिये स्त्रियोंको लड़ाईमें पीछे रखा जाने लगा; बल्कि सम्पत्तिकी दूसरी वस्तुओंकी तरह उनकी भी रक्षा की जाने लगी। सम्पत्तिकी ही तरह उनका उपयोग भी किया जाता था। उस समय साधनोंका विकास न हो सकनेके कारण पैदावारके कामोंमें विशेष परिश्रम करना पड़ता था; क्योंकि स्त्रीकी अपेक्षा पुरुष पैदावारके कठिन कामको अधिक अच्छी तरह कर सकता था, इसलिये स्त्रीको पुरुषकी प्रधानता मानकर उसकी सम्पत्ति बन जाना पड़ा। उस समय वैयक्तिक सम्पत्तिका चलन था, इसलिये स्त्री सम्पूर्ण कबीले या परिवारकी साझी सम्पत्ति थी।

''जब विकाससे वैयक्तिक सम्पत्तिका काल आया तो स्त्री भी पुरुषकी वैयक्तिक सम्पत्ति बन गयी, जिसका काम पुरुषके घरेलू कामोंको करना और उसके लिये संतानके रूपमें उत्तराधिकारी पैदा करना था। परंतु स्त्री दूसरे घरेलू पशुओंके ही समान उपयोगकी वस्तु न बन सकी। पुरुषके समान ही उसका भी विकास होनेके कारण या कहिये उसके भी पुरुषके समान ही मनुष्य होनेके कारण, पुरुषकी सम्पत्तिमें ठीक पुरुषके बाद उसका दर्जा मुकर्रर हुआ। आलंकारिक भाषामें इसे यों कहा गया कि वैयक्तिक सम्पत्ति या परिवारके राजमें पुरुष राजा है तो स्त्री मन्त्री। मनुष्य-जीवके विकासके नाते स्त्री और पुरुषमें कुछ भी अन्तर नहीं। मनुष्य समाजकी रक्षाके लिये वे दोनों एक समान आवश्यक हैं। पुरुष यदि

शारीरिक बलमें या मस्तिष्कके कामोंमें अधिक सफलता प्राप्त कर सकता है, तो स्त्रीका महत्त्व पुरुषको उत्पन्न करनेमें कम नहीं है। पुरुष-समाजका जीवन स्त्री के बिना सम्भव नहीं, इसलिये पुरुषकी सम्पत्ति होकर भी स्त्री पुरुषके बराबर ही आसनपर बैठती रही है।

"मार्क्सवादमें स्त्री-पुरुष-सदाचारका चाहे कितनी भी लीपा-पोतीके साथ महत्त्व गाया जाय, परंतु यह प्रश्न प्रमुखरूपसे बना ही रहेगा कि 'क्या एक गिलास पानीके लिये गलेमें बाल्टी बाँधकर घूमते रहें ? कहीं भी गिलासभर पानी मिल सकता है।' व्यक्ति एवं परिवारका समूह ही समाज है और स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध परिवार और समाजका केन्द्र है। समाजमें सम्पत्ति-विपत्तिके कारण बहुत प्रकारके रद्दोबदल होते रहते हैं; फिर भी बहुत-से धार्मिक-सामाजिक नियम प्राकृतिक नियमोंके समान सुस्थिर होते हैं।"

मार्क्सवादियोंकी ऐतिहासिक कल्पनाएँ सर्वथा निराधार हैं। जगत्-प्रपञ्च निरीश्वर नहीं है। सर्वज्ञ ईश्वरकी सृष्टि लावारिस एवं निर्विवेक भी नहीं थी। आदिम कालके ब्रह्मा, वशिष्ठ, अत्रि, अङ्गिरा, भृगु, बृहस्पति, शुक्र आदि आधुनिक लोगोंकी अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान् और बलवान् थे। स्वार्थ-मूलक संघर्ष जैसे आज चलता है, वैसे ही कभी पहले भी चलता था। कठिन अवसरोंपर स्त्रियाँ भी लड़ाईमें शामिल होती थीं। इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है दुर्गाके अनेक अवतारों—महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती आदि द्वारा मधुकैटभ, महिषासुर, शुम्भ, निशुम्भ, चण्ड, मुण्ड, धूम्रलोचनादि दानवोंका संहार। पत्नीरूपमें नारी पुरुषकी भोग्या है, परंतु माताके रूपमें वही पुत्रकी पूज्या है। शृङ्गाररसके लिये नारी कोमलाङ्गी है, परंतु प्रचण्ड दैत्य-दर्प-दलनमें वही भीषण कराल कालिका है। भगवतीकी यह गर्जना मार्क्सवादियोंने कभी नहीं सुनी कि जो मुझे संग्राममें जीत ले, जो मेरा दर्प दूर कर सके और जो मेरे समान बलवान् हो, वही मेरा भर्त्ता हो सकता है—'यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति। यो मे प्रतिबलो लोके स मे भर्ता भविष्यति॥' (दुर्गासप्त० ५। १२०) नारी सदासे ही शक्तिकी प्रतीक रही है और पुरुष शिवका प्रतीक रहा है। उसका ही रामके साथ सीतारूपमें, विष्णुके साथ लक्ष्मीरूपमें, ब्रह्माके साथ सरस्वतीरूपमें और कृष्णके साथ राधा, रुक्मिणीके रूपमें आदर होता रहा है। वह रणाङ्गणमें प्रचण्डरूप धारिणी होनेपर भी शिवके विश्राम एवं विनोदके लिये 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की प्रतिमा बनकर परम कोमलाङ्गी एवं रक्षिणीरूपमें व्यक्त होती थी। वह साझेकी सम्पत्ति कभी नहीं रही। वह सदा ही गृहस्वामिनी एवं गृहलक्ष्मी रही है। द्रौपदी, मारिषाका उदाहरण विशेष वर-शापमूलक अपवादस्वरूप घटनाएँ हैं। वे आचारमें प्रमाण नहीं हैं। आचारमें उदाहरणका आदर न होकर विधि (कौंस्टि-

ट्यूशन) का ही आदर होता है। उसके उदाहरण सती, सीता, सावित्री, दमयन्ती, अरुन्धती, अनसूया, लोपामुद्रा, शाण्डिली आदि पतिव्रताएँ हैं। क्वचित् स्त्रियोंके अनावृत होनेकी कहानियाँ अनादि, अपौरुषेय, समस्त पुंदोष-शङ्का-कलङ्कशून्य शास्त्रोंके विरुद्ध होनेसे सर्वथा तात्पर्यशून्य हैं। अपवादभूत विपत्कालिक नियोग-प्रवर्त्तनकी पशु-तुल्य प्रवृत्तियोंका समर्थन ही उन मिथ्यार्थ-बोधक अर्थवादों-का उद्देश्य था। मन्वादिकोंने पतिके मरनेपर भी पत्यन्तरवरणका वर्जन किया है और नियोग आदिको वेन-राज्यका विगर्हित पशुधर्म बतलाया है।

पूँजीवादी युग और स्त्री

मार्क्सवादी कहते हैं—'औद्योगिक युग आनेपर जब सम्मिलित परिवार आर्थिक कारणोंसे बिखर गये, जब पुरुषोंको प्रत्येक नगरमें जीवन-निर्वाहके लिये भटकना पड़ा, उस समय सम्पूर्ण परिवारको साथ लिये फिरना सम्भव न था। इसके साथ ही पैदावारके साधन, मशीनोंका विकास हो जानेसे ऐसे हो गये कि उनमें कठोर शारीरिक परिश्रमकी जरूरत कम पड़ने लगी और स्त्रियाँ भी उन कामोंको करने लगीं। बहुधा ऐसा भी हुआ कि जीवनके लिये उपयोगी पदार्थोंकी संख्या बढ़ जानेसे, जिसे दूसरे शब्दोंमें यों भी कहा जा सकता है कि जीवनका दर्जा (Standard of living) ऊँचा हो जानेसे अकेले पुरुषकी कमाई उसके परिवारके लिये काफी न थी, तब स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर मजदूरी करने लगे और घरका खर्च चलाने लगे। इन अवस्थाओंमें पुरुषका स्त्रीपर वह कब्जा न रहा जो कृषि और घरेलू-उद्योग-धंधोंकी प्रधानताके जमानेमें था। ऊपर जिस ऐतिहासिक विकासका जिक्र हम करते आ रहे हैं, वह औद्योगिक विकासके साथ हुआ और चूँकि यह विकास यूरोपमें अधिक तेजीसे हुआ, इसलिये वहीं लोगोंने इसे अधिक उग्ररूपमें अनुभव भी किया। इस विकासका प्रभाव समाजके रहन-सहनके ढंगपर पड़नेसे स्त्रियोंकी अवस्थापर भी पड़ा। स्त्रियोंकी स्थिति पुरुषोंके बराबर होने लगी। उन्हें भी पुरुषोंके समान ही सामाजिक और राजनैतिक अधिकार मिलने लगे; परंतु वैयक्तिक सम्पत्तिकी प्रथा जारी रही; क्योंकि वह पूँजीवादके लिये आवश्यक थी। परिणाम-स्वरूप स्त्रीके एक पुरुषसे बँधे रहनेका नियम भी जारी रहा। अब स्त्रीको पुरुषका दास न कहकर उसका साथी कहा गया, जिसे यह उपदेश दिया गया कि परिवारकी रक्षाके लिये उसे एक पुरुषके सिवा और किसी तरफ न देखना चाहिये। मौजूदा पूँजीवादी-प्रणालीमें स्त्रीकी स्थिति इसी नियमपर है।

''फिर भी आर्थिक दृष्टिकोणसे जीवनके उपायोंको प्राप्त करनेके लिये स्त्री पुरुषके आधीन रही; क्योंकि परिवारके हितके ख्यालसे पुरुषने स्त्रीको अपने वशमें रखना आवश्यक समझा। जबतक समाज भूमिकी उपजसे या घरेलू

धंधोंसे अपने जीवन-निर्वाहके साधन प्राप्त करता रहा, स्त्रीकी अवस्था परिवार और समाजमें ऐसी ही रही। क्योंकि स्त्रीकी खोंपड़ीमें भी पुरुषकी तरह सोचने-विचारने और उपाय ढूँढ़ निकालनेकी सामर्थ्य है; अतः पुरुष उसे गलेमें रस्सी बाँधकर नहीं रख सका। समाजने अपने कल्याण और हितके विचारसे स्त्रीको भी पुरुषकी तरह ही जिम्मेदार ठहराया; लेकिन स्त्रीके व्यवहारपर ऐसे प्रतिबन्ध लगाये गये जो कि सम्पत्तिके आधारपर बने परिवारकी रक्षाके लिये आवश्यक थे। उदाहरणतः स्त्रीका एक समय एक ही पुरुषसे सम्बन्ध रखना ताकि उसके दो व्यक्तियोंकी सम्पत्ति बननेसे झगड़ा न उठे। पुरुषकी संतानके बारेमें झगड़ा न उठे कि संतान किसकी है, कौन पुरुष उस संतानको अपनी सम्पत्ति देगा ? यह सब ऐसे झगड़े थे जिनके कारण परिवारोंका नाश हो जाता। इसलिये स्त्रियोंके आचरणके बारेमें ऐसे नियम बनाये गये कि झगड़े उत्पन्न न हों। पतिव्रताधर्म—अर्थात् एक पुरुषसे सम्बन्ध रखनेको स्त्रीके लिये सबसे बड़ा धर्म बताया गया ताकि व्यक्तिगत सम्पत्तिके आधारपर बना हुआ समाज तहस-नहस न हो जाय।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, स्त्री बुद्धिकी दृष्टिसे मनुष्यके समान ही सामर्थ्यवान् है, इसलिये पशुओंकी तरह उसके गलेमें रस्सी बाँध देनेसे काम नहीं चल सकता था। उसे समझाकर और विश्वास दिलाकर समाजमें मुख्य 'पुरुष' के हितके अनुसार चलानेकी जरूरत थी। इस कारण पुरुष और समाजके हाथमें जितने भी ऐसे साधन धर्म, नीति, रिवाज आदिके रूपमें थे; उन सबसे स्त्रीको पुरुषके आधीन होकर चलनेकी शिक्षा दी गयी। उसे समझाया गया, यहाँ चाहे वह पुरुषका मुकाबला भले ही कर ले, परंतु बादमें उसे पछताना पड़ेगा; क्योंकि उसकी स्वतन्त्रतासे भगवान् और धर्म नाराज होते हैं।''

वैयक्तिक सम्पत्तिके सम्बन्धकी भी मार्क्सीय प्रथा अप्रामाणिक है। ईश्वरकी सृष्टि उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति ही थी, उसीसे उत्तराधिकार रूपमें वह उसकी संतानभूत विभिन्न प्राणियोंको मिली। जिस तरह आज अखण्ड भूमण्डलमें कोई भी पर्वत, वृक्ष, नदी, क्षेत्र, ग्राम, नगर बिना मालिकके नहीं हैं, उसी तरह संसारका कोई भी अंश कभी भी बिना मालिकके नहीं था। हॉब्स या लॉकके मतानुसार निरीश्वर राज्य कभी भी नहीं था और केवल किसी व्यक्तिके द्वारा सीमाकी एक रेखामात्र बना देनेसे ही कोई भूमि उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं बन गयी और न तो रिकार्डोके अनुसार कुछ श्रममिश्रित हो जाने मात्रसे वस्तुओंपर व्यक्तिगत स्वत्वका जन्म ही हुआ। किंतु मुख्यरूपसे दायसे और फिर जय, क्रय, दान, पुरस्कारादि रूपमें ही भूमि-सम्पत्ति आदिपर व्यक्तिगत अधिकार हुए हैं। अपने-अपने कर्मोंसे सुख-दुःख एवं तत्तत्साधनोंका व्यक्तिगत सम्बन्ध हुआ है। कर्मोंके ही तारतम्यसे साधनोंकी भी तारतम्यरूपसे प्राप्ति होती है। कन्यापर उसके माता-पिताका स्वत्व रहता है। पिता जिसे देता है, वही कन्याका पति होता है। माता-पिताके न

रहनेपर भाई आदिका उसपर स्वत्व होता है। वे जिसे देते हैं, वही उसका पति होता है। कन्याका भी अपनेपर स्वत्व होता है। अतः वह स्वयं भी जिसे आत्म-समर्पण करती है, वह उसका पति होता है। कन्या ऐसी वस्तु नहीं है कि जो भी चाहे उसे अपना ले या साझेदारीकी चीज बना ले। स्त्रीसम्बन्धकी मार्क्सीय ऐतिहासिक धारणा अत्यन्त भ्रमपूर्ण है। मनुकी दृष्टिसे तो जहाँ नारीकी पूजा होती है, वहाँ देवता एवं सभी सद्गुण रमते हैं, और जहाँ उसकी पूजा नहीं होती वहाँ सब क्रियाएँ निष्फल होती हैं—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ (मनु० ३ । ५६)

पुरुष सदासे ही नारीको मातारूपमें पूज्य एवं मार्गदर्शक मानता रहा है। पत्नीरूपमें प्राणोंसे भी अधिक प्रिय एवं हृदयेश्वरी बनाकर उसे अपना सर्वस्व समर्पण करके उसके रक्षण, पोषणके लिये, भूषण-आभरण जुटानेके लिये दिन-रात परिश्रम करता रहा है। इतना ही नहीं—नारीके इशारेपर ही पुरुष सब काम करता रहा है। प्रेमसे ही पुरुष स्त्रीको वशीभूत रखता था, प्रेमसे ही स्त्री भी पुरुषको अपने इशारेपर नचाती रही है। किन्हीं धार्मिक, आध्यात्मिक संस्कारशून्य जंगली प्रदेशके लोगोंमें स्त्रीको गलेमें रस्सी बाँधकर रखनेकी प्रथा हो सकती है, पर वह भारतमें नहीं रही। स्त्रीका एक ही पुरुषके साथ सम्बन्ध शुद्ध धर्ममूलक ही है, धर्म-नियन्त्रित स्नेह एवं अर्थ-व्यवस्था उसका आनुषङ्गिक फल है। यह पहले कहा जा चुका है कि पशुओंकी अपेक्षा मनुष्योंकी मनुष्यता एवं विशेषता ही यह है कि मनुष्य प्रत्यक्षानुमानसे अतिरिक्त आगम-प्रमाण भी मानता है और तदनुकूल वह धार्मिक होता है। धर्ममूलक ही उसमें पति-पत्नीका धार्मिक सम्बन्ध होता है। पति-पत्नीके असाधारण सम्बन्धसे ही पत्नी, पुत्री, भगिनी, माता आदिकी असाधारण व्यवस्था होती है। तदनुकूल ही उत्तराधिकारकी व्यवस्था भी चलती है। इसीलिये आस्तिकोंका कहना है कि प्रत्यक्षानुमानाश्रित मति जहाँतक दौड़ती है, वहाँतक ही चलनेवाले वानर आदि पशु होते हैं और प्रत्यक्षानुमानातिरिक्त आगमके अनुसार धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक व्यवस्था करके चलनेवाले लोग ही नर अर्थात् मानव होते हैं—

मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः ॥ (तन्त्रवार्तिक)

पातिव्रत-धर्म

मार्क्सके अनुसार 'पातिव्रत-धर्म' केवल व्यक्तिगत सम्पत्तिके आधारपर ही बना है। व्यक्तिगत सम्पत्तिके आधारपर बना हुआ समाज तहस-नहस न हो जाय, इसीलिये एक ही पुरुषके साथ सम्बन्ध रखनेके लिये स्त्रीको समझा-

बुझाकर राजी किया गया। तदनुसार ही धर्म, नीति, रिवाज गढ़े गये। स्त्रीको स्वतन्त्रतासे धर्म और भगवान्‌के नाराज होनेका डर दिखलाया गया।' ठीक ही है, जडवादी मार्क्ससे इसके सिवा और अधिककी आशा भी क्या की जा सकती थी? जिसकी दृष्टिमें विश्वका कारण सर्वज्ञ ईश्वर ही नहीं जँचता, जो भूत-प्रेतकी कल्पनाको ही परिष्कृतरूपमें ईश्वर-कल्पना समझता है, जिसके अनुसार धर्म-कल्पना भीरु मस्तिष्कका फितूरमात्र है, वह सीता, सावित्री आदिके परम गम्भीर पातिव्रत-धर्मको कैसे समझ सकता था? अनसूयाद्वारा ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रको पातिव्रतबलसे तीन महीनेके बालक बनाया जाना, सावित्रीका यमराजसे अपने मृत पतिको पुनः प्राप्त कर लेना, शाण्डिलीका सूर्यनारायणके उदयपर प्रतिबन्ध लगा देना आदि मार्क्सवादकी दृष्टिसे कोरी कल्पनाएँ ही ठहरेंगी। आश्चर्य है कि परम सत्य आर्ष इतिहास मार्क्सवादियोंकी दृष्टिमें झूठे हैं, परंतु निराधार बंदरसे मनुष्य उत्पन्न होनेका विकासवादी इतिहास सत्य है! भारतमें अभी-अभी हालहीमें ५० वर्षोंके भीतर सैकड़ों सतियाँ हुई हैं। वे हँसती-हँसती चितापर अपने पतिके साथ परलोक चली गयीं। उत्तर-प्रदेश तथा राजस्थानमें तो कई सतियाँ बिना अग्निके ही अपने शरीरसे दिव्याग्नि प्रकट करके सती हुई हैं। चित्तौरगढ़की पद्मिनी आदिके ऐतिहासिक सतीत्वसे कोई समझदार व्यक्ति आँख नहीं मूँद सकता। मार्क्सवादी सिवा अनर्गल प्रलापके इन बातोंका क्या उत्तर दे सकते हैं? स्पष्ट है कि जिन्हें धर्म, सभ्यता, संस्कृति, पातिव्रत मान्य है, ऐसे स्त्री-पुरुषोंके लिये मार्क्सवाद धर्म एवं मानवताका शत्रु ही है।

मार्क्सवादकी दृष्टिसे व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उत्तराधिकारका सम्बन्ध तो अब समाप्त हो गया; क्योंकि मार्क्सवादी दृष्टिकोणसे भूमि एवं सम्पत्तिका उत्तराधिकार-नियम समाप्त करके सबका राष्ट्रियकरण या समाजीकरण होना ही उचित है। जब व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उत्तराधिकारकी प्रथा समाप्त हुई, तब फिर तदर्थ स्त्रीका एक पुरुषसे सम्बन्धवाला नियम क्यों रहेगा? सम्बन्धित पतिके मरनेके बाद ही नहीं, अपितु एक साथ ही स्त्री यदि सैकड़ों पुरुषोंसे सम्बन्ध रखे तो भी कोई आपत्ति नहीं। जैसे एक पानीभरी बाल्टीसे अनेक व्यक्ति प्यास बुझा सकते हैं, वैसे ही एक स्त्रीसे भी यदि असंख्य पुरुष प्यास बुझा लें तो भी कोई हर्ज नहीं है। लेनिनके शब्दोंमें 'गंदी नालीके जलसे प्यास बुझाना ठीक नहीं; किंतु जैसे स्वास्थ्यकर, तृप्तिकर स्वच्छ जलसे ही प्यास बुझाना उचित है, वैसे ही तृप्तिकर, स्वास्थ्यवर्द्धक स्त्री-पुरुष-सम्बन्धमें कोई भी हानि नहीं है। और अब तो गर्भपात करानेकी स्वाधीनता भी रूसमें मिल गयी है। 'पुरुष-समाजके हाथमें ही धर्म, नीति, रिवाज सब कुछ था,

इसलिये पुरुषने स्त्रीको स्वाधीन बनानेका प्रयत्न किया, मार्क्सवादियोंका यह कथन भी दुरभिसंधिपूर्ण है। मार्क्सवादी अधिकार पाकर जैसे दूसरोंको सदाके लिये कुचल देना चाहते हैं, महर्षियों तथा ईश्वरके सम्बन्धमें भी उनकी वैसी ही धारणा होती है। उनके मस्तिष्कमें अब्भक्ष, वायुभक्ष, परम निष्काम लोककल्याण-परायण महर्षियोंमें भी पक्षपात ही प्रतीत होता है। परंतु मार्क्सवादियोंकी यह धारणा सङ्गत नहीं है। धर्मबुद्धिसे शिष्य जैसे स्वेच्छापूर्वक गुरुका अनुसरण (दास्य) करनेमें लज्जित नहीं होता, पुत्र जैसे माता-पिताका दास्य करनेमें नहीं हिचकता, वैसे ही स्त्री भी अपने पति एवं सास-ससुरका दास्य या सेवन एवं अनुसरण करनेमें लज्जित नहीं होती। जबतक धर्मबुद्धि रहेगी, वहाँ यह भाव भी पहलेके समान ही जारी रहेगा। इसपर सम्पत्ति-विपत्तिका असर नहीं पड़ता है, बल्कि आपत्तिकालमें तो धीरज, धर्म, मित्र एवं नारीकी विशेषरूपसे परीक्षा होती है—'धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद काल परखिये चारी।' रामराज्य-जैसी धन-सम्पदा, ऐश्वर्य-वैभवमें भी स्त्री-पुरुष अपने पूज्यों, गुरुजनोंके प्रति दास्यभाव ही रखते थे—'दासवत् संनतार्याङ्घ्रिः' (भागवत ७। ४। ३२)। प्रह्लाद गुरुजनोंके चरणोंमें सदा दासतुल्य विनत रहते थे। धन एवं सम्पत्तिकी वृद्धि खलोंको ही घमंडी एवं उद्दण्ड बनाती है, सत्पुरुषोंको नहीं। इसीलिये औद्योगिक समृद्धिके युगमें भी सन्नारियोंके शील-स्वभावमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। प्राचीन कालमें भी असत् स्त्री-पुरुष होते ही थे, वे उस कालमें भी उद्दण्ड ही थे, कोई किसीके नियन्त्रणमें नहीं रहता था। वैयक्तिक सम्पत्ति एवं नर-नारीके धर्ममूलक सम्बन्ध शाश्वतिक हैं। जडवाद एवं नास्तिकताके प्रचारसे कुछ थोड़ा-बहुत ह्रास होना सम्भव है; फिर भी इनका मिट सकना सम्भव नहीं। पुरुषकी अपेक्षा भी नारी-जाति श्रद्धालु है। वह अपने पतिसे भिन्न पुरुषको भ्राता, पिता, पुत्रकी ही दृष्टिसे देखना उचित समझती है, धर्महीन मनमाने यौन सम्बन्धको वह पाप ही समझती है।

वेदोंकी नीतिमें तो मुख्य विशेषता ही यह थी कि देशमें कोई स्वैरी पुरुष भी नहीं होता था, फिर स्वैरिणी स्त्रीका तो होना सम्भव ही कैसे था—'न स्वैरी स्वैरिणी कुतः' (छान्दो० ५। ११। ५)। स्त्री सर्वदा ही लज्जाशील होती है, वह कभी भी अभियोक्त्री नहीं होती। वेश्या भी अभियुक्ता होनेमें ही सुखका अनुभव करती है। पुरुष ही स्वैरी होकर स्त्रीको स्वैरिणी बनाता है। जहाँ पुरुष स्वैरी न होगा, वहाँ स्त्री भी स्वैरिणी नहीं हो सकती। स्त्री पुरुषकी हृदयेश्वरी है, प्राणेश्वरी है, आत्मा है, सब कुछ है। उसके हिस्से एवं अधिकारकी बात जडवादी नास्तिकोंके द्वारा ही उठायी जाती है। स्त्रीको पुरुषके बराबर बनानेका प्रयत्न करना उसका अपमान करना है, उसको हजारगुना नीचे उतारना है। शास्त्रोंने पितासे सहस्रगुना अधिक माताका सम्मान करना बतलाया है—'सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते।' (मनु० २। १४५) धार्मिक

दृष्टिसे चतुर्थाश्रमी यति सर्ववन्द्य है। गृहस्थ पिता भी पुत्र संन्यासीका वन्दन करता है; परंतु उस संन्यासीको धर्मानुसार मातृवन्दन विहित है—'सर्ववन्द्येन यतिना प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः।' (स्कं० पु० काशी० ११।५०) इस तरह माताको कुछ अधिकार प्रदान करना, क्या उसके सर्वाधिकारको सीमित करना नहीं है? किसी भी उपासना एवं साधनामें शिष्यको जैसे अपनी आत्मा गुरुकी आत्मामें मिलानी पड़ती है, गुरुकी इच्छामें शिष्यको अपनी इच्छा विलीन कर देनी पड़ती है, वैसे ही पत्नीको अपनी आत्मा, अपनी इच्छा पतिकी आत्मा तथा इच्छामें मिलानी पड़ती है। पतिद्वारा किये हुए सत्कर्मों तथा आराधनाओंमें पत्नीका भाग रहता है। पाश्चात्त्य राजतन्त्रने जडवादकी धुनमें ईश्वर एवं धर्मसे नाता तोड़ लिया, फिर पूँजीपतियोंने राजतन्त्रको भी समाप्त कर दिया। जहाँ ईश्वर एवं धर्मका राजतन्त्रपर नियन्त्रण नहीं, वहाँ सामाजिक बन्धनोंका ढीला पड़ना स्वाभाविक है।

पाश्चात्त्य शिक्षाका प्रभाव भारतपर अवश्य ही पड़ रहा है। इतना ही क्यों, भारतकी परिस्थिति तो अन्य देशोंकी अपेक्षा भी बदतर होती जा रही है। सर्वप्रथम औद्योगिक विकास जिस इंग्लैंडमें हुआ था, वहाँके सर्वप्रथम एवं सर्वोत्कृष्ट नागरिक राज्य-सिंहासनाधीश तथा उसके परिवारके सिंहासन-सम्बन्धित व्यक्तियोंके लिये अभी भी पर्याप्त धार्मिक नियन्त्रण अधिक है। उन्हें तलाक देने-वाले स्त्री-पुरुषके साथ शादी करनेकी मनाही है। तलाक दी हुई स्त्रीके साथ शादी करनेके लिये अष्टम एडवर्डको राजगद्दी छोड़नी पड़ी। वर्तमान रानीकी बहन कुमारी मार्गरेटको धार्मिक नियन्त्रणके कारण अपने प्रेमीसे शादीका निश्चय छोड़ना पड़ा। वहाँ 'बाइबिल'के अनुसार पति-पत्नीका सम्बन्ध-विच्छेद ईश्वरीय नियमके विरुद्ध एवं पाप कहा गया है। परंतु जडवादसे प्रभावित, समाजवाद-का अन्धानुकरण करनेवाली भारतसरकार तलाकका नियम बनाकर स्त्रियोंको स्वाधीन करनेके नामपर उनका सर्वनाश कर रही है। घटना अवश्य समाजवादियों-के अनुसार घट रही है, परंतु यह घटना कॉलरा और प्लेगके समान अनिष्ट ही है, इष्ट नहीं। मार्क्सवादी-वर्णित स्त्रीसमाजकी दुर्दशाका मूल कारण धर्मविमुखता ही है; इसीसे बरक्कतमें भी कमी हुई। पहले घरमें एक व्यक्ति कमाता था, उससे घरभरका काम चलता था। आज पुरुष कमाता है, स्त्री कमाती है और बच्चे भी कमाते हैं, तब भी परिवारका पेट नहीं भरता। प्राचीन कालमें यथोचित वयमें कन्याओंका विवाह हो जाता था, स्त्रीको अनाथकी तरह भटकनेकी नौबत नहीं आती थी। अविवाहित दशामें प्रसवकालका, अनाथ-अवस्थाका उसे कोई अनुभव नहीं करना पड़ता था। मार्क्सवादी उत्तरोत्तर प्रगतिकी कल्पनाका स्वप्न देख रहे हैं, परंतु स्थिति यह दिखायी देती है, कि समाजका उत्तरोत्तर अधिक पतन होता जा रहा है। स्त्रीसमाजकी दीनदशा उत्तरोत्तर बढ़ रही है। स्वतन्त्रताके नामपर तलाक-प्रथाके विस्तार होनेका परिणाम भीषण होगा। अल्पवयस्क लड़की भले ही तलाक देकर

अपनी दूसरी शादी कर पाये, परंतु वही जब चार बच्चोंकी माँ हो चुकी होगी, उसका यौवन ढल गया होगा और सुन्दरता समाप्त हो गयी होगी, तब उसे यदि तलाक मिल गया तो उस अवस्थामें उसकी पुनः शादी होनी मुश्किल हो जायगी। उस दशामें वह औरत क्या स्वयं खायेगी और क्या बच्चोंको खिलायेगी? उस समय वह खूनके आँसू बहाती हुई भारतको नरककुण्ड बनायेगी।

धर्महीन क्या पूँजीवाद, क्या समाजवाद, सर्वत्र ही स्त्री-समाजकी दुर्गति ध्रुव है। रामराज्य-प्रणालीमें बाल्यावस्थामें ही लड़कियोंकी शादी हो जायगी। प्रत्येक कुटुम्ब एवं नागरिककी बेकारी, बेरोजगारी दूर करके सबका ही जीवनस्तर उन्नत बनाया जायगा। रामराज्यके अनुसार स्त्रियाँ गृह-लक्ष्मी, घरकी रानी होंगी, उन्हें नौकरानी बननेकी आवश्यकता ही न रहेगी। पुरुषोंका काम घरके बाहर होगा और स्त्रियोंका काम घरके भीतर। वैसे किसी खास अवसरपर उनकी बाहर आवश्यकता अपवादरूपमें ही होगी। सीता सदा गृहके भीतर रहती हुई भी शतमुख रावणका दर्प दलन करनेके लिये रणचण्डीका रूप धारण कर पुष्कर द्वीप गयी थीं। (अद्भु० रामा० १७। २४) इसी कोटिका हाँडी और झाँसीकी रानी आदिका उदाहरण है। विवाह कर परिवार-पालन करनेके उदात्त कर्तव्यको झगड़ा या झंझट समझनेकी प्रवृत्ति जडवादी उच्छृङ्खलपंथियोंकी ही प्रेरणा है। स्त्री और पुरुष सभी यदि नौकर-नौकरानी बनेंगे, तो उनकी संतानें भी अवश्य ही नौकर मनोवृत्तिकी ही बनेंगी। माताका दुग्ध न पाकर, जननीका लाड़-प्यार, लालन-पालन न पाकर; डिब्बोंके दूध पीनेवाले बच्चे निम्न श्रेणीके ही होंगे। माता-पिताका भी बच्चोंमें कोई प्रेम न होगा, बच्चोंका भी माँ-बापके प्रति कुछ आकर्षण—अनुराग न होगा। पति-पत्नीका भी परस्पर स्थायी प्रेम न होनेसे किसी भी सम्बन्धकी स्थिरता न होगी। सभी सम्बन्ध वासना-तृप्ति और पैसेके कारण होंगे। विवाह और तलाककी अबाध परम्परा चलती ही रहेगी।

अर्थमूलक समाजमें सामाजिक सम्बन्ध

मार्क्सवादी सभी सम्बन्धोंकी धार्मिकता एवं परम्परामूलकताका नष्ट हो जाना आवश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टिमें 'सब सम्बन्ध जब अर्थमूलक हो जायँगे, तब पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहन, शिक्षक-शिष्यका अर्थमूलक सीधा संघर्ष हो सकेगा। किसी परम्पराकी ओटमें संघर्षके कारणको छिपाया न जा सकेगा। सीधा संघर्ष क्रान्तिके अनुकूल ही होगा।' परंतु जिन्हें कुटुम्ब, समाज, धर्म, कर्म, सभ्यता, संस्कृति, भक्ति, प्रेम एवं आध्यात्मिक उन्नति अभीष्ट है, उनके लिये तो ये बातें गुण नहीं, अपितु कॉलरा एवं प्लेगके समान एक रोग ही होंगी। रामराज्य-प्रणालीमें स्त्रियोंकी यह दुर्दशा किसीको स्वप्नमें भी नहीं देखनी पड़ेगी। जैसे लता, वल्लरी आदि वृक्षाश्रित रहकर ही पनपती, फलती-फूलती

हैं, उन्हें यदि अपने ही पैरों खड़ा करनेका प्रयत्न किया जाय तो भी वे वृक्षके समान सीधी खड़ी नहीं हो सकती हैं, पृथ्वीपर ही वे फैलती हैं और फिर उन्हें शतशः पादप्रहारकी भागिनी बनना पड़ता है, वैसी ही स्त्रियोंकी भी स्थिति है। उन्हें स्वतन्त्रताका पाठ पढ़ाकर ही पाश्चात्य जगत्ने भीषण दुर्दशातक पहुँचा दिया है।

यह तो सभीको मानना पड़ता है कि अनेक अंशोंमें स्त्रीसमाज तथा पुरुषसमाजमें समानता होते हुए भी अनेक अंशोंमें भिन्नता भी है। स्त्रियोंमें जितनी कोमलता, सुन्दरता और विश्रान्तहेतुता है उतनी पुरुषोंमें नहीं है। वह गर्भ-धारण करती है और शिशुका पालन-पोषण करती है, अतः उसे पुरुषका आश्रय अपेक्षित है। बुद्धि एवं मस्तिष्ककी विचक्षणता होते हुए भी उसमें श्रद्धा एवं भक्तिका भी अंश अधिक होता है। पुरुषके कठोर, परिश्रमपूर्ण एवं रूक्ष जीवनको इसीसे सरसता मिलती है। प्राचीन दार्शनिकोंका तो मत है कि जैसे अग्नि एवं दाहिकाशक्ति, जल एवं शीतलता, दुग्ध एवं उसकी स्वच्छता, बीज एवं उसकी अङ्कुरोत्पादिनी शक्तिका अविच्छेद्य सम्बन्ध है, वैसे ही पति-पत्नीका भी अविच्छेद्य सम्बन्ध है। शक्ति आधेय है और शक्तिमान् आधार। शक्तिके विना शक्तिमान् अकिंचित्कर है। शिव जब शक्तिसे समन्वित होता है, तभी संसारका उत्पादन, पालन, संहरण कर सकता है, अन्यथा शक्तिके बिना देव शिव हिल-डुल भी नहीं सकता—'शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुम्। न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितमपि॥' (सौंदर्यल० १) विश्व-निर्माण जैसे महाकार्य-निर्माणकी बात तो दूर रही, शक्तिमान्से शक्तिके पृथक् करनेसे दोनोंकी ही दुर्गति होती है। इसीलिये भारतीय सभ्यतामें शक्तिसहित ही शक्तिमान्की आराधना होती है। अतएव मन्दिरोंमें गौरी-शंकर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण, शक्ति-शक्तिमान् दोनोंकी आराधना चलती है। अभ्यर्हित होनेसे, पिताकी अपेक्षा भी माताके सहस्रगुणित अधिक पूज्य होनेके कारण ही नाममें पहले गौरी और पीछे शंकरका, पहले लक्ष्मी और पश्चात् नारायणका, प्रथम सीता एवं राधाका तथा पश्चात् राम और कृष्णका उच्चारण होता है। राष्ट्ररूपी मन्दिरमें भी लक्ष्मी स्थानीय नीतिके सहित ही नारायण स्थानीय धर्मका सम्मान श्रेयस्कर होता है। धर्महीन नीति विधवा-तुल्य और नीतिहीन धर्म विधुर-तुल्य माना जाता है। व्यष्टिरूपमें दस वर्षपर्यन्तकी कुमारी नव-दुर्गारूपमें और सुवासिनी साक्षात् भगवतीके रूपमें पूजित होती है। साक्षात् परमेश्वर ही जैसे शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि रूपमें पूजित होता है, वैसे ही शक्तिप्रधान परमेश्वर ही दुर्गा, लक्ष्मी, सीता, राधा आदिके रूपमें पूजित होता है। अधार्मिक, जडवादी लोग ही स्त्रीको केवल भोगकी सामग्री समझकर उसका अपमान करते हैं और उसे विपज्जालमें डालते हैं तथा उसी पापके कारण वे स्वयं भी सर्वनाशके गर्तमें निपतित होते हैं।

स्वतन्त्रता, आत्मनिर्णयका अधिकार आदि मोहक नामोंसे स्त्रियोंको बरगलाकर अपना शिकार बनाना और उन्हें मजदूरी या वेश्यावृत्ति करनेके लिये निराश्रय एवं असहाय छोड़ देना उनके साथ घोर अन्याय करना है। पुरुष जब सहर्ष अपनी कमाई स्त्रियोंको खर्च करनेके लिये समर्पण करता है, तब उन्हें भी कमानेके काममें लगानेका अर्थ ही क्या है? इसके अतिरिक्त गृहका कार्य भी कुछ कम नहीं है। यदि गृहिणी सुप्रबन्ध करनेवाली गृहलक्ष्मी न हो तो पुरुषके लाखों कमानेपर भी घरमें बरकत नहीं होती। मानव-जीवन और गृहको सरस एवं माङ्गलिक बनानेवाली स्त्रीके सिरपर कमानेका भार न होना ही अच्छा है। स्त्री-द्वारा उत्पादित रामचन्द्र, हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, ध्रुव, शिबि, दिलीप, भगीरथ-जैसी एक भी संतान समष्टि-व्यष्टि जगत्के लोक-परलोकका जीवन माङ्गलिक एवं समुन्नत बना सकती है। उपयोगितावादी स्मिथ तो धर्म, संस्कृति, प्रेम, सौन्दर्य, कला, क्षमा, दया, त्याग आदि सभी उदात्त गुणोंमें उपयोगिता ही ढूँढ़ता है। लोक-कल्याणार्थ अपने प्राणतकको बलिदान कर देनेमें स्मिथको कुछ भी उपयोगिता नहीं दिखायी दे सकती, परंतु क्या इतनेसे ही यह त्याग व्यर्थ कहा जा सकता है? संसारमें उपयोगिता ही सब कुछ नहीं है। माता, भगिनी, पुत्री, पत्नीका महत्त्व उपयोगिताकी कसौटीपर नहीं परखा जा सकता।

वर्गवाद

मार्क्सके मतसे 'भारतमें औद्योगिक विकाससे होनेवाला परिवर्तन यूरोपके प्रभावसे देरमें आरम्भ हुआ बल्कि अभी शनैः-शनैः हो रहा है और पूरे रूपमें हो भी नहीं पाया, स्त्रियोंकी अवस्थामें भी परिवर्तन अभीतक यहाँ नहीं हो पाया है। जन-साधारण या जमींदार-श्रेणी और पूँजीपति-श्रेणीकी स्त्रियाँ इस देशमें अभीतक उसी अवस्थामें हैं, परंतु मध्यम श्रेणीकी स्त्रियोंकी अवस्थामें – जिनपर आर्थिक परिवर्तनका प्रभाव गहरा पड़ा है, परिवर्तन तेजीसे आ रहा है।

'यूरोपमें जहाँ पूँजीवाद पूर्ण उन्नति कर चुकनेके बाद ठोकरें खाने लगा है, स्त्रियोंकी अवस्था पुरुषोंकी अपेक्षा जीवन-निर्वाहके संघर्षमें कम योग्य होनेके कारण पुरुषोंसे भी गयी-बीती है। बेकारी और जीवन-निर्वाहकी तंगीके कारण लोग ब्याहकर परिवार पालनेके झगड़ेमें नहीं फँसना चाहते, इसलिये स्त्रियोंके लिये घर बैठकर बच्चे पालने और निर्वाहके लिये रोटी-कपड़ा पाते रहनेका भी मौका गया। अब उन्हें भी मिलों, कारखानों, खानों, खेतों और दफ्तरोंमें मजदूरी कर पेट पालना पड़ता है। यदि उनका विवाह हो जाता है तो माता बननेका उनका काम ज्यों-त्यों निभ जाता है और वे फिर मजदूरी करने चल देती हैं। यदि विवाह नहीं हुआ और शरीरकी स्वाभाविक प्रवृत्तिके कारण वे माता बन गयीं तो उनकी मुसीबत है। प्रसवकी अवस्थामें उनके निर्वाहका सवाल बहुत कठिन हो जाता है और प्रसवकालमें ही उन्हें सहायताकी अधिक आवश्यकता रहती है। प्रसवकालमें यदि

वे कामपर नहीं जा सकतीं तो उनकी जीविका छूट जाती है और प्रसवकालके बाद जब उन्हें एकके बजाय दो जीवोंकी जरूरतोंको पूरा करना पड़ता है, तो वे बिना साधनके हो जाती हैं। इससे समाजमें उत्पन्न होनेवाली संतानके पोषण और अवस्था-पर क्या प्रभाव पड़ता है, यह समझ लेना कठिन नहीं।

'स्त्रियोंकी इस अवस्थाके कारण देशकी जनताके स्वास्थ्यपर जो बुरा प्रभाव पड़ता है, उसके कारण अनेक पूँजीवादी सरकारोंने स्त्रियोंकी रक्षाके लिये मजदूरी-सम्बन्धी कुछ नियम बनाये हैं। जिनके अनुसार मिल-मालिकोंको प्रसवके समय स्त्रियोंको बिना काम किये कुछ तनख्वाह देनी पड़ती है और बच्चा होनेपर मिलमें काम करते समय माँको बच्चेको दूध आदि पिलानेकी सुविधा भी देनी पड़ती है। इन कानूनी अड़चनोंसे बचनेके लिये मिलें प्रायः विवाहित स्त्रियोंको और खासकर बच्चेवाली स्त्रियोंको मिलमें नौकरी देना पसंद नहीं करतीं। यूरोपमें अस्सी या नब्बे प्रतिशत लड़कियाँ विवाहसे पहले किसी-न-किसी प्रकारकी मजदूरी या नौकरी कर अपना निर्वाह करती हैं या अपने परिवारको सहायता देती हैं, परंतु विवाह हो जानेपर उन्हें जीविका कमानेकी सुविधा नहीं रहती। इन कारणोंसे स्त्रियाँ विवाह न करने या विवाह करनेपर भी गर्भ हटा देनेके लिये मजबूर होती हैं। जीविकाका कोई उपाय न मिलनेपर उन्हें अपने शरीरको पुरुषोंके क्षणिक आनन्दके लिये बेचकर अपना पेट भरनेके लिये मजबूर होना पड़ता है।

'वैयक्तिक सम्पत्तिके आधारपर कायम पूँजीवादी-समाजमें स्त्री व्यक्तिकी सम्पत्ति और मिल्कियतका केन्द्र होनेके कारण या तो पुरुषके आधिपत्यमें रहकर उसके वंशको चलाने, उसके उपयोग-भोगमें आनेकी वस्तु रहेगी या फिर आर्थिक संकट और बेकारीके शिकंजोंमें निचोड़े जाते हुए समाजके तंग होते हुए दायरेसे, अपनी शारीरिक निर्बलताके कारण—जिस गुणके कारण वह समाजको उत्पन्न कर सकती है, समाजमें जीविकाका स्थान न पाकर केवल पुरुषके शिकारकी वस्तु बनती जायगी। पर यह अवस्था है साधनहीन गरीब और मध्यम श्रेणीकी स्त्रियोंकी। साधन-सम्पन्न और अमीर श्रेणीकी स्त्रियाँ यद्यपि भूख और गरीबीसे तड़पती नहीं, परंतु उनके जीवनमें भी आत्मनिर्णय और विकासका द्वार बंद रहता है।' मार्क्सके अनुसार 'समाजमें स्त्रियोंका समान अधिकार होनेके लिये उन्हें भी समाजमें पैदावारके कार्यमें सहयोग देनेका अवसर मिलना चाहिये।' मार्क्सवाद इस बातको स्वीकार करता है कि 'समाजमें संतान उत्पन्न करना न केवल स्त्रीके बल्कि सम्पूर्ण समाजके सभी कामोंमें महत्त्वपूर्ण काम है; क्योंकि मनुष्य-समाजका अस्तित्व इसीपर निर्भर करता है। इस महत्त्वपूर्ण कार्यके ठीक रूपसे होनेके लिये अनुकूल परिस्थितियाँ होनी चाहिये। स्त्रीको संतानोत्पत्ति मजबूर होकर या दूसरेके भोगका साधन बनकर न करनी पड़े, बल्कि वह अपने आपको समाजका एक स्वतन्त्र अङ्ग

समझकर, अपनी इच्छासे संतान पैदा करे। संतान पैदा करनेके लिये समाजकी सभी स्त्रियोंके लिये ऐसी परिस्थितियाँ होनी चाहिये, जो स्वयं स्त्री और संतानके स्वास्थ्यके लिये अनुकूल हों। गर्भावस्थामें स्त्रीके लिये इस प्रकारकी परिस्थिति होनी चाहिये कि वह अपने स्वास्थ्यको ठीक रख सके और स्वस्थ संतानको जन्म दे सके। परंतु पूँजीवादी-समाजमें साधनहीन तथा पूँजीपति दोनों ही श्रेणियोंके लिये ऐसी परिस्थितियाँ नहीं हैं। साधनहीन श्रेणीकी स्त्रियोंको गर्भावस्थामें उचितसे अधिक परिश्रम करना पड़ता है और पूँजीवादी श्रेणीकी स्त्रियाँ बिलकुल निष्क्रिय रहनेके कारण जैसी संतान पैदा करना चाहिये, वैसी नहीं कर पातीं।

'समाजवादी और समष्टिवादी-समाजमें स्त्री भी समाजका परिश्रम या पैदावार करनेवाला अङ्ग समझी जाती है। उसे केवल पुरुषके भोग और रिझावका साधन नहीं समझा जाता। 'मार्क्सवाद' मनुष्यमें आनन्द, विनोद और रिझावकी जगह भी स्वीकार करता है, परंतु उसमें पुरुषको प्रधान बनाकर स्त्रीको केवल साधन बना देना उसे स्वीकार नहीं। पूँजीवादी-समाजमें स्त्री अपने माता बननेके कार्यके कारण पुरुषके सामने आत्मसमर्पण करनेके लिये मजबूर होती है (क्योंकि पुरुष जीविका कमाकर लाता है)। समाजवाद और समष्टिवादमें स्त्रीके गर्भवती होने, प्रसवकाल और उसके बाद जबतक वह फिर परिश्रमके काममें भाग लेनेके योग्य न हो जाय, स्त्रीकी आवश्यकताओंकी पूर्ति और स्वास्थ्यकी देख-भालकी जिम्मेदारी समाजपर होगी। प्रसवसे दो-ढाई मास पूर्वसे लेकर प्रसवके एक मास पश्चात्तक वह समाजके खर्चपर रहेगी। संतान पैदा होनेके बाद समाज जो काम उसे करनेके लिये देगा, उसमें बच्चेकी देख-भालका समय और सुविधा भी उसे देगा। बच्चेके पालने-पोसने और शिक्षाकी जिम्मेदारी भी गरीब स्त्रीके ही कंधों-पर न होकर समाजके सिर होगी। इस प्रकार संतान पैदा करना स्त्रीके लिये भय और मुसीबतका कारण न होकर उत्साह और प्रसन्नताका विषय होगा।'

उपर्युक्त मार्क्सवादी मन्तव्यसे यह स्पष्ट है कि मार्क्सवादियोंको स्त्री-हितसे उतना प्रयोजन नहीं है, जितना कि स्त्रीको अपने पति-पुत्रादि परिवारसे विच्छिन्न कर उसे समाजकी वस्तु बनानेसे है। स्पष्ट है कि पतिको अपनी पत्नीमें जितनी प्रीति है, पुत्रको अपनी मातामें जितना स्नेह है, उतनी प्रीति, उतना स्नेह समाजकी साधारण वस्तुमें समाजका क्यों होगा? जेलों एवं अनाथालयोंमें भी स्त्रियों-पुरुषोंको भोजन मिलता है, वस्त्र मिलते हैं, इलाज मिलता है और गर्भ तथा प्रसवकालमें बहुत-सी सुविधाएँ भी मिलती हैं। परंतु क्या स्वाधीनतापूर्वक गरीबी हालतके भी जीवनका सुख उपर्युक्त स्थितिमें सम्भव है? पति, सास-ससुर, देवर-जेठ, पुत्र-पौत्र आदिके सहज सम्बन्ध और स्नेहकी तुलना समाजमें कहाँ प्राप्त हो सकती है? रामराज्य-प्रणालीमें स्त्री गृहलक्ष्मी रहेगी। वेदोंने विवाहके

समय वरके मुखसे वधूको कहलाया है कि तुम श्वशुर, श्वश्रू, ननद और देवरमें सम्राज्ञी बनो—'सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।' (ऋक् सं० १०।८५।४६) स्त्री ससुर, पति, पुत्रादिकी कमाईकी रानी एवं मालकिन होगी, परिवारके लोग उसके इशारेपर काम करेंगे, उसका ही दिया हुआ खायेंगे और खर्च करेंगे। उसे मिलोंमें मजदूरी करने नहीं जाना पड़ेगा, समाजके नामपर हुकूमत करनेवाले मुट्ठीभर तानाशाहोंके प्रबन्ध-स्थापनमें कोई वस्तु पानेके लिये पंक्तिबद्ध खड़े रहकर उसे बाट नहीं जोहना पड़ेगा। बिना मजदूरी किये ही वह समाजमें पुरुषोंके बराबरका ही नहीं उनसे हजारगुना अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त करेगी।

रामराज्यके अनुसार सन्नारीके बलपर कुल, गोत्र एवं वंशकी रक्षा होगी। समाजवादी-व्यवस्थामें इच्छानुसार किन्हीं नये-नये पुरुषोंसे संतान उत्पन्न करनेवाली नारीके पुत्र-पुत्रीका कुल, गोत्र, धर्म क्या होगा? एक ही माँसे उत्पन्न अनेक भाई, बहनें कितने ही पिताओंसे उत्पन्न हुए होंगे, उनका परस्पर क्या सम्बन्ध होगा? इससे मार्क्सवादीसे क्या मतलब होगा? मार्क्सवादमें तो जैसे सभी सम्पत्ति सरकारी, भूमि सरकारी; वैसे ही सब औरतें सरकारी, सब मर्द सरकारी और सभी बच्चे भी सरकारी होंगे। जैसे गाय-बैल, घोड़े-घोड़ी, ऊँट-ऊँटिनी आदि पशुओंका अपना न निजी कोई पति है, न पत्नी है, न अपना कोई माता-पिता है, न अपना कोई बच्चा-बच्ची है, सब सरकारी-ही-सरकारी हैं; वैसे ही स्त्री-पुरुष, बच्चे-बच्ची सब सरकारी-ही-सरकारी होंगे। फिर कहाँका पिण्डदान, कहाँका श्राद्धतर्पण, कहाँका गयाश्राद्ध, कहाँका धर्म, दान, पुण्य, मोक्ष; कहाँका परिवार, कुटुम्ब और कैसा पारिवारिक स्नेह?—सब पशुवत् जीवन होगा। सरकारी अफसरके आदेशानुसार जैसे किसी घोड़ा-घोड़ीका सम्बन्ध कराया जाता है, वैसे ही समाज या समाजवादी सरकारके आदेशानुसार अनियतरूपसे स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध करा दिया जायगा।

समाजके नामपर तानाशाही सरकार और उसके नौकर सब व्यवस्था करेंगे। वे ही लोगोंसे विभिन्न काम करायेंगे, वे ही रोटी-कपड़ा देंगे, वे ही गर्भधारण करायेंगे, वे गर्भ तथा प्रसवकालका सब प्रबन्ध करेंगे। फिर पति-पुत्र और कुटुम्बका कोई भी स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रहेगा। गो, गर्दभ, श्वान, शूकरादि जानवरोंके या काक, कुक्कुट, कपोत आदि पक्षियोंके समूहके तुल्य ही मानव-समूह होगा। 'गरीब स्त्रीसमाजके कंधेपर कोई भार न दिया जायगा, दयालु समाज और समाजवादी सरकारके कंधोंपर ही सब भार रहेगा', यह है समाजवादमें स्त्रियोंका स्थान। समाजमें यदि समानाधिकार लेना है, तो स्त्रियोंको यह सब स्वीकार करना पड़ेगा। बिना कम ये उन्हें अधिकार न मिल सकेगा। मार्क्सवादमें स्त्रियोंके लिये सरकारी गुलामी और सरकारी मजदूरी ठीक समझी जाती है, परंतु अपने सास-ससुर, पति-पुत्र आदिकी सेवा, लालन-पालन असह्य है। यह स्त्रीके लिये गुलामी है, उसे आत्म-समर्पणके लिये बाध्य करना है। श्वशुरकुलकी साम्राज्ञी पतिके घर एवं हृदय-

की, पुत्रोंकी पूज्या महारानी होकर गृहस्वामिनी, गृहलक्ष्मी बनना श्रेष्ठ है या सरकारी नौकरानी बनकर पिल्ली-कुतियाका जीवन व्यतीत करना श्रेष्ठ है; इसे समझदार स्त्रियाँ स्वयं सोचें और सोचें वे पुरुष जिन्हें आगेसे ऐसी ही पत्नी और माता पाना है।

व्यभिचारका उन्मूलन

मार्क्स लिखता है कि 'हम स्त्रीको पुरुषकी सम्पत्ति बनाने और धर्मके भयसे जकड़ देनेके पक्षमें नहीं हैं। यह भी हमें स्वीकार नहीं है कि एक संतान उत्पन्न करनेके लिये किसी स्त्रीका एक पुरुष-विशेषकी दासी या सम्पत्ति बन जाना जरूरी है। वह स्त्री-पुरुषके सम्बन्धको स्त्री-पुरुषकी शारीरिक आवश्यकताका सम्बन्ध मानता है; परंतु इसके लिये वह दोनोंमेंसे एक-दूसरेका दास बन जाना आवश्यक नहीं समझता। इस सम्बन्धमें वह कानूनके भी दखल देनेकी जरूरत नहीं समझता; परंतु इसके साथ ही वह स्त्री-पुरुषके सम्बन्धकी उच्छृङ्खलताको भी स्वीकार नहीं करता। किसी स्त्री या पुरुषका दूसरोंके शारीरिक भोगके लिये अपने शरीरको किरायेपर चढ़ाना वह अपराध समझता है। समाजवादी और समष्टिवादी समाजमें जीविकाके साधन अपनी योग्यता और अवस्थाके अनुसार सभीको प्राप्त होंगे, इसलिये जीविकाके लिये व्यभिचारसे धन कमानेकी आवश्यकता हो नहीं सकती और जो लोग पूँजीवादी-समाजके संस्कारोंके कारण ऐसा करेंगे, वे अपराधी होंगे। संक्षेपमें स्त्री-पुरुष और विवाहके सम्बन्धमें मार्क्सवाद समाजके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके विचारसे पूर्ण स्वतन्त्रता देता है, परंतु उच्छृङ्खलता, गड़बड़ या भोगको पेशा बना लेनेको और इसके साथ ही अपने भोगकी इच्छाके लिये दूसरे व्यक्तियों और समाजकी जीवन-व्यवस्थामें अड़चन डालनेको वह भयंकर अपराध समझता है। स्त्री-पुरुषके सम्बन्धमें मार्क्सवादका रुख लेनिनकी एक बातसे स्पष्ट हो जाता है। लेनिनने कहा था—स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध शरीरकी दूसरी आवश्यकताओं—भूख, प्यास, नींद—की तरह ही एक आवश्यकता है। इसमें मनुष्यको स्वतन्त्रता होनी चाहिये, परंतु प्यास लगनेपर शहरकी गंदी नालीमें मुँह डालकर पानी पीना उचित नहीं। उचित है स्वच्छ जल, स्वच्छ गिलाससे पीना। स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध मनुष्योंकी शारीरिक, मानसिक तुष्टि और समाजकी रक्षाके लिये होना चाहिये न कि स्त्री-पुरुषोंको रोग और कलहका घर बना देनेके लिये। अबतकके पारिवारिक और विवाह सम्बन्धी बन्धन पूँजीवादी आर्थिक संगठनपर कायम हैं, जिनमें स्त्रीका निरन्तर शोषण होता रहा है; इसलिये अब समाजको इसे बदलकर स्त्री-पुरुषकी समानतापर लाना चाहिये।'

यह सही है कि मार्क्सवादमें जीविकाके लिये स्त्रियोंको व्यभिचार न करना पड़ेगा; परंतु काम-प्रेरणासे होनेवाले व्यभिचारपर मार्क्सवादमें क्या रोक है!

गंदी नालीका पानी पागल ही पीता है, अन्य सभी स्वास्थ्यकर स्वच्छ ही जल पीना चाहते हैं। क्या मार्क्सवादमें अपने पति या अपनी पत्नीसे अन्य स्त्री-पुरुषसे सम्बन्ध गंदी नालीके जल पीनेके तुल्य मान्य है? किसी भी मार्क्सवादी ग्रन्थमें ढूँढ़नेपर भी स्त्री-पुरुषके स्वेच्छापूर्वक सम्बन्धोंमें कोई रुकावटकी बात नहीं दिखलायी देती, सिर्फ दूसरेकी इच्छाके बिना या पेशा किंवा जीविकाके लिये व्यभिचार करना अपराध माना गया है। परंतु शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्यके विचारसे नितान्त स्वेच्छापूर्ण स्त्री-पुरुष-सम्बन्धकी मार्क्सवादमें पूरी स्वाधीनता है। फिर इससे भिन्न और उच्छृङ्खलता या गड़बड़ क्या है? स्त्री-पुरुष दोनोंमें किसीकी जिसमें अनिच्छा न हो, जो पेशेके लिये न हो, जो शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्यके प्रतिकूल न हो; ऐसे स्वेच्छापूर्ण मनमाने सम्बन्धमें कोई रुकावट नहीं है। फिर जब पाप-पुण्यका प्रश्न है ही नहीं, तब ऐसे सरल, सुखकर कामसे पेशेपर ही रुकावट क्यों हो? किन्हीं मार्क्सवादी वाक्योंसे भी चारित्रिक जीवनका समर्थन नहीं मिलता और पुलिस एवं गुप्तचरकी आँखोंमें धूल डालकर, अदालत-को धोखा देकर कोई दुराचार कर सके तो क्या होगा?

अध्यात्मवादीकी दृष्टिमें तो प्रथम संयतात्मा सावधान व्यक्तियोंका गुरु ही शास्ता है, उनके लिये राज्यशासन आवश्यक ही नहीं है। परंतु दुरात्मा प्राणीका नियन्त्रण करनेके लिये राजा शास्ता होता है। किंतु जो प्रच्छन्न पातकी होते हैं, जो पुलिस एवं अदालतको चकमा देकर पाप करते हैं, उनका शासक वैवस्वत यम ही हैं। (नारदस्मृ० १८। १०८; विदु० नी०) एक जडवादीके मतमें यदि निर्विघ्न रूपसे दूसरेका धन या दूसरेका सुन्दर कलत्र प्राप्त हो जाय, तो उससे बचना, उसे अस्वीकार कर देना या वह जिसकी है, उसके पास सही-सलामत पहुँचा देना शुद्ध मूर्खता ही कही जायगी; क्योंकि उसके सिद्धान्तानुसार किसीकी व्यक्तिगत सम्पत्ति जायज नहीं है, सब सम्पत्ति राज्यकी ही है। स्त्री-पुरुष कोई भी किसीकी वस्तु नहीं है, सब समाजकी वस्तु है, उसके लेनेमें पाप-पुण्यकी कोई बात ही नहीं है। परंतु एक अध्यात्मवादी, परान्न, पर-वित्तको स्वीकार करना जघन्य कृत्य समझता है। वह कहता है कि पर-वित्त, परान्न यदि मार्गमें पड़ा हो चाहे घरमें, अपना वैध स्वत्व हुए बिना उसे कभी ग्रहण नहीं करना चाहिये, यही सत्पुरुषका लक्षण है—'परान्नं परद्रव्यं वा पथि वा यदि वा गृहे। अदत्तं नैव गृह्णीयादेतद् ब्राह्मणलक्षणम्॥' अपने यहाँ पति-पत्नी, माता-पुत्र आदिका सम्बन्ध धार्मिक एवं सांस्कृतिक, शास्त्र एवं परम्परामूलक समझा जाता है, जब कि मार्क्सवादी सम्पूर्ण धार्मिकताओं, परम्पराओंको मिटाकर शुद्ध अर्थमूलक सम्बन्धको ही क्रान्तिके लिये लाभदायक मानते हैं। इनके मतानुसार 'अपनी शारीरिक प्रेरणाओंसे ही स्त्री-पुरुष सम्बन्धित होते हैं, उनसे तीसरा व्यक्ति बतौर 'एक्सिडेंट' (आकस्मिक घटना) के उत्पन्न हो जाता है। माँका दूध पिलाना भी उसके लिये अनिवार्य है, बिना स्तनसे दूध निकले उसे

कष्ट हो सकता है, इसीलिये माँ बच्चेको दूध पिलानेके लिये बाध्य होती है।' अतः 'माता पितासे सहस्रगुणित पूज्य है'—'सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते' (मनु० २। १४५) का मार्क्सवादमें कोई महत्त्व नहीं है। सीता, सावित्री, दमयन्ती, अरुन्धती आदिके पातिव्रत्यका भी मार्क्सवादमें कोई गौरव नहीं, केवल भूख-प्यासकी तरह शारीरिक आवश्यकताकी पूर्तिमात्र ही वहाँ स्त्री-पुरुषके सम्बन्धका आधार है। राम-राज्यमें पातिव्रत्य सर्वधर्मसार है और सीता, सावित्री आदि उसके उच्च आदर्श एवं मार्गदर्शक हैं।

भूत और शक्ति

मार्क्सवादी कहते हैं, "कुछ आधुनिक वैज्ञानिक अब रहस्यवादकी शरण लेते हैं। उन वैज्ञानिकोंका कहना है कि 'भूत शक्ति ही है और शक्तिका पूर्णरूपसे बोध नहीं हो सकता।' लेकिन यह बात सही नहीं है। यदि यह मान लिया जाय कि भूत बिजली ही है, तथापि इस बिजलीका परिमाण और वजन है; इसलिये भूतकी धारणा भले ही बदल जाय इसका अस्तित्व नहीं मिट जाता। जैक्सनके शब्दोंमें 'उन वैज्ञानिकोंकी, जो भूतको केवल शक्तिका ही संगठन मानते हैं, तुलना उस वीरसे की जा सकती है, जिसने केवल धारसे तलवार बनायी अथवा उन केवटोंसे जिन्होंने जालकी यह परिभाषा की कि यह सुतलीसे बँधा हुआ छेद है।'

आईंस्टीनके सापेक्षताके नियमका प्रारम्भ है कि निरपेक्ष गतिकी न तो धारणा की जा सकती है और न इसको मापा जा सकता है। किसी दी हुई रेखा या बिन्दुसे ही इसको मापा जा सकता है। इससे कुछ वैज्ञानिक इस नतीजेपर पहुँचे कि 'गति वास्तविक नहीं है'; किंतु यह हीगेलका ही सिद्धान्त है कि 'अस्तित्व सम्बन्ध-बोधक है। किसी वस्तुको दूसरी वस्तुद्वारा ही मापा जा सकता है और किसी पदार्थका गुण किसी दूसरे पदार्थपर प्रतिक्रियाका नाम है।' द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रयोगको ही प्रथम स्थान देता है। निरपेक्ष गति हो या न हो हमारे लिये घड़ी और स्थान दोनोंकी आवश्यकता है; इसलिये दोनों ही वास्तविक हैं।"

वस्तुतः ईमानदार वैज्ञानिक ही कहीं भूतके रूपमें शक्ति मानते हैं और उसे दुर्ज्ञेय मानते हैं। पूर्वोक्त न्यायसे कहा गया है कि सूक्ष्मसे ही स्थूलकी उत्पत्ति होती है। धारसे तलवार तथा सुतलीसे बँधे हुए छेदसे और शक्तिसे भूतनिर्माणमें पर्याप्त अन्तर है। तन्तुसे पट बनता है, फिर भी पटका तन्तु है, यह भी व्यवहार होता है। मृत्तिकासे घट उत्पन्न होता है; फिर भी घटकी मृत्तिका है, यह भी व्यवहार होता है। आमतौरपर पृथ्वीका गन्ध, जलका रस, तेजका रूप, वायुका स्पर्श और आकाशका शब्द गुण माना जाता है। फिर भी सांख्य वेदान्त-सिद्धान्तानुसार शब्दतन्मात्रासे ही आकाश, स्पर्शतन्मात्रासे ही वायु, रूपतन्मात्रासे

तेज, रसतन्मात्रासे जल तथा गन्धतन्मात्रासे पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। यह स्पष्ट है कि जिन भूतोंमें केवल शब्द है, वह सूक्ष्म आकाश है। वायुमें शब्द, स्पर्श दो गुणोंका उपलम्भ होता है। वह आकाशकी अपेक्षा स्थूल है। उत्तरोत्तर रूप, रस, गन्ध गुणोंकी जैसे-जैसे अधिकता होती है, वैसे ही तेज आदिमें स्थूलता उपलब्ध होती है। इस दृष्टिसे शब्दस्पर्शात्मक ही भूत है। उपनिषदोंके अनुसार सत्से आकाशादिकी उत्पत्ति होती है, फिर भी आकाशादिकी सत्ताका व्यवहार होता है। कारणसे कार्य उत्पन्न होनेपर मायाद्वारा प्रधान कारणकी अप्रधानता तथा अप्रधान कार्यकी प्रधानता हो जाती है इसीलिये कार्य विशेष्य हो जाता है; कारण विशेषण हो जाता है। इसी कारण आकाशकी सत्ता, घटकी मृत्तिका, पटका तन्तु आदिका व्यवहार होता है। हर जगह शक्तिसे ही कार्य उत्पन्न होता है, मृत्तिकामें घट-शक्ति होती है, बीजमें अङ्कुर-शक्ति होती है। ऐसे ही सम्पूर्ण कार्योंके उत्पादनानुकूल उन-उन कारणोंमें शक्तियाँ रहती हैं, इस दृष्टिसे सत्में प्रपञ्चोत्पादिनी शक्ति रहती है। उसी सत्-शक्तिसे भूतोंकी उत्पत्ति होती है। सूक्ष्मरूपसे स्थूल भिन्न नहीं होता। सूक्ष्म कारण है, स्थूल कार्य है, यह कहा जा चुका है। घट कपालमात्र है, कपाल चूर्णरूप है, वह भी रजोमात्रा है। रज भी परमाणु रह जाता है। मृत्तिकासे भिन्न घट नहीं होता, रससे भिन्न जल नहीं, रूपसे भिन्न तेज नहीं। ऐसे ही धारसे भिन्न तलवार नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। उसी तरह सुतलीसे भिन्न होकर सच्छिद्र जाल नहीं है; परंतु जालसे भिन्न होकर सुतली नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता; अतः विषम दृष्टान्त है। गति पदार्थकी आवश्यकता है, अवस्था अवस्थावान्से भिन्न नहीं। नाप-तौल तथा मार्क्सवादियोंका प्रयोग भी बिना ज्ञानके नहीं होता है, अतः प्रयोगवादको भी सर्वकारण परममूलका अन्वेषण तो करना ही चाहिये।

क्या मनुष्यकी इच्छाशक्ति स्वाधीन है ?

'मनुष्यकी इच्छा स्वतन्त्र है या नहीं', यह दार्शनिक क्षेत्रमें एक प्राचीन प्रश्न है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी इसका उत्तर देते हैं—"नहीं, इस प्रश्नका मूल भी धर्मविद्यामें है। यदि मनुष्यका कर्म उसकी स्वेच्छासे नहीं है तो वह पाप-पुण्यके भारसे मुक्त हो जाता है तथा स्वर्ग और नरकका कोई अर्थ नहीं रह जाता। यही कारण है कि धर्म-विद्या मनुष्यकी इच्छाको स्वतन्त्र मानती है। "इस प्रश्नका यों विचार कीजिये। सारा संसार कार्य-कारणके नियमसे बँधा हुआ है। क्या मनुष्य इस संसारका अंश नहीं ? केवलमात्र मनुष्यकी इच्छा ही क्या इस प्राकृतिक नियमसे परे है ? सब वस्तुओंकी तरह मनुष्यकी इच्छा भी कारणजनित है। उसकी इच्छाके प्राकृतिक तथा सामाजिक कारण हैं। मनुष्य ऐसा सोचता अवश्य है कि वह अपनी इच्छानुसार ही सब कुछ करता है।

लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। कविने उदाहरण दिया है कि प्रत्येक वारिबिन्दु भी यह सोचता है कि अपनी इच्छासे ही वह जमीनपर गिरता है। मातृ-स्तन पीते समय बच्चा भी यह सोचता है कि अपनी इच्छाको ही वह पूरी कर रहा है। यदि हमारी इच्छा स्वाधीन नहीं है तो बाध्य होनेपर ही हम कोई काम करते हैं। इस बाध्यताके सम्बन्धमें हीगेलने लिखा है—'बाध्यता उसी हदतक दृष्टिहीन है, जहाँतक हम इसको समझते नहीं।' इसपर टीका करते हुए एंजिल्सने लिखा है कि 'प्रकृति और मनुष्यके समाजमें ही स्वतन्त्रताका निवास है और इसकी बुनियाद है प्रकृतिकी मजबूरियोंका ज्ञान।' इसका खण्डन करते हुए यह कहा जाता है कि—'जहाँ हम मजबूरीके सामने सर झुकाते हैं वहाँ स्वतन्त्रता कहाँ?' यहाँपर मजबूरीके अर्थपर हमें गौर करना चाहिये।

"अरस्तूने इस अवश्यम्भाविवाद या नियतिवादके विभिन्न अर्थोंपर बहुत पहले ही विचार किया था। यदि हमें रोगमुक्त होना है तो हम दवा लेनेके लिये बाध्य हैं। जीवनधारणके लिये श्वास लेना आवश्यक है। किसी स्थलमें दिये गये ऋणकी वसूलीके लिये वहाँ जाना जरूरी है, यह प्रयोजनीयता अवस्थापर निर्भर है, एक अवस्था दूसरी अवस्थापर निर्भर है, जैसे जीवन-धारण श्वास लेनेपर निर्भर है। मनुष्यको बाह्य प्रकृतिके सम्बन्धमें इसी तरहकी मजबूरियोंका सामना करना पड़ता है। फसल काटनेके लिये फसलका बोना जरूरी है। इसमें कुछ लोगोंको पराधीनताकी गन्ध आती है। निस्संदेह मनुष्य अधिक स्वतन्त्र होता, यदि बिना परिश्रम ही उसकी आवश्यकताएँ पूरी हो जातीं। जब वह प्रकृतिको अपना मतलब पूरा करनेके लिये बाध्य करता है, तब भी वह प्रकृतिका अनुवर्ती है। लेकिन यह अनुवर्तिता ही उसकी स्वतन्त्रताकी शर्त है। प्रकृतिका अनुगामी बनकर प्रकृतिपर वह विजय पाता है और इस प्रकार वह अपनी स्वतन्त्रताके राज्यका विस्तार करता है।' अब हीगेलके इस वाक्यका अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि 'प्रयोजनकी स्वीकृति ही स्वतन्त्रता है।"

किंतु यह ठीक नहीं है। ज्ञानसे इच्छा होती है, इच्छानुसार ही प्राणीकी कृति होती है। भले ही संसार कार्य-कारणके नियममें बँधा हो और भले ही मनुष्य तथा उसकी इच्छा भी संसारका अंश ही हो, तथापि उसी संसारमें तो स्वतन्त्रता-परतन्त्रताका व्यवहार चलता है। जो प्राणी किसी अन्यकी प्रेरणा या आज्ञासे काम करता है, वह परतन्त्र कहा जाता है। अपरप्रेरित अपनी इच्छासे काम करनेवाला स्वतन्त्र कहा जाता है। रहा यह कि इच्छा भी कारणजनित ही होती है। सो तो 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' ज्ञानसे इच्छा होती है, यह सिद्धान्त है। अन्यान्य प्राकृतिक तथा सामाजिक भी कारण रह सकते हैं। फिर भी स्वेच्छाधीन कार्य करनेवाला स्वतन्त्र कहा जाता है। इसमें विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

तभी स्वेच्छाधीन भला या बुरा काम करनेवाला मनुष्य निग्रह या अनुग्रहका भागी होता है। बिन्दुकी पृथ्वीपर गिरनेकी इच्छा तो काल्पनिक ही है, क्योंकि इच्छा चेतनका धर्म है, अचेतनका नहीं। फिर भी 'नद्याः कूलं पिपतिषति' (नदीका कगार गिरना चाहता है), इस प्रकारकी इच्छाएँ वस्तुतः काल्पनिक हैं। आसन्न-पतनता देखकर ऐसा व्यवहार किया जाता है। मातृस्तन पीनेकी इच्छा तो चेतनकी इच्छा है, वह क्षुधासे भी होती है। फिर भी इष्टसाधनता-ज्ञानसे ही इच्छा मुख्य है। रोगमुक्त होनेके लिये भी एक तो स्वेच्छासे ओषधि खायी जाती है, दूसरे अभिभावकोंद्वारा बाध्य किये जानेपर भी ओषधि खायी जाती है। इसी प्रकार जीवन-धारण करनेके लिये श्वास लेनेकी भी बात है। वस्तुतः प्रयोजनकी स्वीकृति ही स्वतन्त्रता है। इस परिभाषासे 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' यह पाणिनिकी परिभाषा ही श्रेष्ठ है, जिसका आशय है 'क्रियामें स्वतन्त्ररूपसे विवक्षित अर्थ ही कर्त्ता होता है।'

स्वेतर समस्त कारकोंका प्रयोजक होकर स्वयं किसीसे प्रयुक्त न होना ही स्वतन्त्रता है। व्यवहारमें भी जितने विधि-निषेध होते हैं, सभी स्वतन्त्रके ही होते हैं। जिसके हाथ-पैर हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़े हों, ऐसे परतन्त्र व्यक्तिको जल लाने या दौड़नेको कौन आदेश दे सकता है? यों कोई भी बुरा काम करता है तो परिस्थितियोंसे बाध्य होकर ही करना पड़ता है। काम, क्रोध, लोभ—सभी परिस्थितियोंके अनुसार ही होते हैं। चोरी कोई तभी करता है, जब वह परिस्थितियों-से उसके लिये बाध्य हो। तो भी क्या समाजसे चोरी करनेको अपराध मानना बंद हो जाना चाहिये? संसारमें सभी कार्य कामना या इच्छापूर्वक ही होते हैं। इच्छामें भी जब प्राणी सदा परतन्त्र ही है, तब तो फिर किसी बुरे कामसे हटनेका उपदेश या प्रयत्न व्यर्थ ही होंगे। इसी तरह किसी अच्छे काममें प्रवृत्त होनेका उपदेश और प्रयत्न भी व्यर्थ है। अतः सुस्पष्ट है कि परिस्थितियोंसे सम्बन्ध होते हुए भी इच्छाके अनुसार होनेवाले कार्योंको स्वाधीनतापूर्वक कर्म कहा जाता है। तभी शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार प्राणीको निग्रह एवं अनुग्रहका भागी होना पड़ता है। अन्यथा यह तो कोई भी अपराधी कह सकता है कि 'अमुक परिस्थितियोंने ही हमसे यह काम कराया है, अतः दण्ड उन परिस्थितियोंको मिलना चाहिये या परिस्थिति उत्पन्न करनेवालेको मिलना चाहिये।' परिस्थिति उत्पन्न करनेवाले भी यही कह सकते हैं कि 'हमने भी परिस्थितिवश ही ऐसा किया है।'

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'श्रेणी-विभाजन समाजमें जितना ही सुदृढ़ होता गया, शासक-श्रेणी उतनी ही उत्पादनशक्तियोंसे दूर हटती गयी। कृषिकार्यका भार, कारखाना चलानेका भार होता है गुलामोंके ऊपर, मजदूरोंके ऊपर। पूँजीपति सोच-विचारकर समाजव्यवस्थाके नीतिविधानकी रचनामात्र करते हैं, वस्तुजगत्‌का उनसे कोई सम्पर्क नहीं। हाथ-पैरसे काम करनेके लिये हैं मजदूर, मिस्त्री या इंजीनियर; लाभकारी आविष्कारके लिये हैं वैज्ञानिक। यहाँतक कि पूँजीपतिको

देखभालकी आवश्यकता नहीं। ईरानमें तेलकी खानें चलती हैं और लखों मील दूर बैठकर पूँजीपति मुनाफा कमाता है। धनिक वस्तुजगत्के जिस अंशका भोग करता है, वहाँ वह देखता है कि वही कर्त्ता है, वह स्वाधीन और सर्वेसर्वा है और उसीकी आज्ञासे सब चलता है। इसलिये आधुनिक संस्कृति और दर्शनमें इच्छा-स्वाधीनताका दावा सहज ही मंजूर हो जाता है।

"वर्तमान आदर्शवादी दार्शनिक इच्छा-स्वतन्त्रताके दावेके प्रमाणके लिये आधुनिक विज्ञानकी शरण लेते हैं। आइसनवर्गके—'प्रिंसिपुल आफ मिनेसी' में उनको एक सहारा मिलता है। संक्षेपमें इसका सिद्धान्त यह है कि 'कोई एलेक्ट्रन दूसरे मुहूर्तमें क्या करेगा, यह निश्चित नहीं है। एलेक्ट्रन एक कक्षसे दूसरे कक्षको कूद रहा है, लेकिन कौन एलेक्ट्रन कूदेगा, इसका निश्चय नहीं।' जेम्स, एलिंगटन, शोडिंगगेर इसीकी इच्छा स्वतन्त्रताके प्रमाणके रूपमें सादर अभ्यर्थना करते हैं। यहाँपर दो बातें जान लेनेकी हैं; एक यह कि किसी एक एलेक्ट्रनकी गतिविधिको लक्ष्य करनेके लिये उसके ऊपर जो आलोक पार किया जाता है, उसीसे उसका स्थान परिवर्तन हो जाता है। दूसरी बात यह है कि मोरके 'करसपाण्डेंस प्रिंसिपुल' के अनुसार परमाणुओंके संख्याधिक्यसे उनकी गतिकी निश्चयता बढ़ जाती है। इस प्रकार आधुनिक विज्ञान भी कारणविहीन स्वतन्त्रताका अन्त कर देता है।"

परंतु यह बात भी ठीक नहीं है। इच्छा-स्वतन्त्रताका प्रश्न केवल पूँजीपतियोंसे ही नहीं है; क्योंकि इच्छा और तदनुसार विविध चेष्टाओंका प्रश्न तो सभीके साथ रहता है, भेद होता है, इच्छापूर्तिमें। जिनके पास पर्याप्त साधन हैं, उनकी इच्छाओंकी पूर्ति होती है, जिनके पास साधन नहीं है, उनकी इच्छापूर्तिमें बड़ी कठिनाई पड़ती है। जबतक पूँजीपतियोंके पास साधन हैं, उनकी इच्छापूर्तिमें सरलता रहेगी। जब मजदूरोंके हाथमें साधन हो जायँगे, तब फिर उनकी इच्छापूर्तिमें सरलता हो जायगी, यद्यपि साधनोंके मिलनेके साथ-साथ इच्छाएँ भी बढ़ती जाती हैं। शास्त्रकारोंका तो कहना है कि संसारमें विवेक-वैराग्यके बिना भोगप्राप्तिसे कभी कामनाओं और इच्छाओंकी पूर्ति नहीं हो सकती। जैसे घीकी आहुतिसे अग्निज्वाला बढ़ती है, वैसे ही भोगप्राप्तिसे इच्छाएँ बढ़ती हैं—'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥' (विष्णुपुराण १०।१०।२३) यहाँतक कि संसारभरकी सम्पूर्ण धन-धान्य, हिरण्य आदि सम्पत्तियाँ मिल जायँ, तब भी एक पुरुषकी भी तृप्ति सम्भव नहीं—'यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। सर्वं नैकस्य पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥" (लिङ्गपुराण पूर्व० ६७।१८)। संसारकी सभी स्वतन्त्रताएँ तो सीमित ही हैं। अविद्या-काम-कर्मके परतन्त्र प्राणीमें स्वतन्त्रताकी भी एक सीमा होती है, पूर्ण स्वतन्त्रता तो निरुपाधिक स्वप्रकाश आत्मामें ही है। जिनमें 'जायते,

वर्धते, अस्ति, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति'—ये छः विकार होते हैं, उनकी पूर्ण स्वतन्त्रता कभी कैसे हो सकती है ? षड्भावविकारवर्जित कूटस्थ आत्मा ही सर्वांश स्वतन्त्र है, फिर भी आपेक्षिक स्वतन्त्रता तो रज्जुमुक्त गोवत्सादिकी भी स्वतन्त्रतामें व्यवहृत होती है। वैसे कारागारमें बंद प्राणी भी बहुत अंशोंमें स्वतन्त्र कहा जाता है। यों राष्ट्रकी पराधीनतासे भी प्राणी पराधीन कहा जाता है। वेदान्तकी दृष्टिसे स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीरत्रयवर्जित होनेपर ही पूर्ण स्वतन्त्रताका व्यवहार होता है।

कार्योंकी सुविधाके लिये श्रेणी विभाजन अनिवार्य ही है, सभीको सब कामका उत्तरदायित्व देनेसे कोई भी सुव्यवस्था नहीं बन सकती। वकील, इंजीनियर, चिकित्सक आदिसे कृषिका कार्य या मिलोंके करघे चलानेका काम करानेसे हानि ही है। इसीलिये प्राचीन कालमें प्रधानरूपसे ज्ञानार्जन, ज्ञानवितरणका काम ब्राह्मणोंपर; बलार्जन, बलवितरण, राष्ट्ररक्षण आदिका काम क्षत्रियोंपर; कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदिद्वारा धनार्जन, धनवितरण आदिका काम वैश्योंपर, राष्ट्रोपयोगी विभिन्न कर्मों, शिल्पादि कलाओंके अर्जन, रक्षण आदिका भार शूद्रों-पर डाला गया था। इससे उन-उन विषयोंके लोग निरन्तर विशेषता-सम्पादनके लिये प्रयत्नशील रहते थे। आज भी शिल्प, चिकित्सा आदि विविध विषयोंमें विशेषज्ञता-सम्पादनके लिये 'स्पेशलिस्ट' तैयार किये जाते हैं। आज भी संग्राम लड़नेवाले सिपाही अलग होते हैं, विचारकर युद्धनीति निर्धारित करनेवाले अन्य होते हैं, वैज्ञानिक अनुसंधान करनेवाले दूसरे लोग होते हैं और अनुसंधानके फलभूत विविध यन्त्रोंके निर्माण तथा संचालन करनेवाले दूसरे लोग हुआ करते हैं। जैसे कोई अपने शारीरिक बलसे लाभ उठाता है, वैसे ही बौद्ध-बलसे फायदा उठानेका बुद्धिजीवियोंका अधिकार है ही। व्यावहारिक भौतिक-जगत्में कारणविहीन निरपेक्ष स्वतन्त्रता तो अध्यात्मवादी कभी नहीं मानते, इसके लिये विज्ञानकी खोज व्यर्थ है, किंतु सापेक्ष सकारण होनेपर भी इच्छा तथा कर्मोंकी स्वतन्त्रता अवश्य मान्य है जिससे इच्छानुसार कर्तापर उत्तरदायित्व होता है और अपनी इच्छाओं तथा कर्मोंके सुपरिणाम-दुष्परिणामको वह भोगता है। जहाँतक किसी ढंगकी राज्यव्यवस्था होगी, वहाँतक अपराध एवं दण्डविधानकी भी आवश्यकता रहेगी। फिर उन-उन अपराधियोंकी इच्छाके आधारपर होनेवाले अपराधोंका उत्तरदायित्व भी उनपर मानना पड़ेगा, तभी दण्डविधान न्यायपूर्ण कहा जा सकेगा। ऐसी स्थितिमें इच्छाओं एवं कर्मोंमें स्वतन्त्रता स्वीकार किये बिना निग्रहानुग्रहकी कोई भी व्यवस्था नहीं चलेगी। सभी लोग परिस्थितिके ही जिम्मे सब दोष डालकर बरी हो जानेका प्रयत्न करेंगे।

द्वन्द्व न्याय और अन्तिम सत्य

कहा जाता है 'द्वन्द्वमान किसी भी अन्तिम सत्यको नहीं मानता, इसके विपरीत आदर्शवादी दर्शन हर समय एक अन्तिम सत्यकी खोज करता रहता है। यह सत्य अनादि, अनन्त और निर्विकार है; लेकिन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इस परिवर्तनशील जगत्में अपरिवर्तनीय सत्यकी खोज नहीं करता। इस दृष्टिकोणकी कहीं अन्तिम समाप्ति नहीं है। भूत-जगत् निरन्तर प्रवहमान है, कहीं विराम नहीं। हम व्यावहारिक सुविधाकी दृष्टिसे और प्रकृतिको विचारबद्ध करनेकी दृष्टिसे वस्तुजगत्की किसी एक दिशाकी विशेषताओंको अलग कर लेते हैं, लेकिन सनातन युक्तिका अनुसरणकर इनको अपरिवर्तनीय नहीं मानते। परमाणु गतिशील तरङ्गकी तरह है, लेकिन यह केवल वस्तु-जगत्के एक विशेष क्षेत्रके लिये ही सत्य है। दूसरे जगत्में यही ठोस पदार्थका आकार ग्रहण करता है। चेतन और अचेतन पदार्थको हम 'पृथक्रूपमें देखते हैं और इस पार्थक्यकी आपेक्षिकताको भी देखते हैं। चेतन पदार्थके बीच भी अचेतन पदार्थका उपादान है, भूत-जगत्के अन्तर्निहित विरोधी गुण ही कभी चेतन और कभी अचेतन पदार्थकी सृष्टि करते हैं। एक अवस्थामें परमाणु अविभाज्य और मौलिक दीखता है और फिर यही अपनी शक्तिसे टूटकर नये परमाणुको जन्म देता है। पञ्चेन्द्रिय-की क्षमताकी सीमाको हम देखते हैं, पुनः ये ही यन्त्रकी सहायतासे अदृश्यको दृश्यमान करते हैं। 'इनफरारेड' फोटो प्लेटमें कुहरेके भीतरसे १५, २० मील दूरकी तस्वीर उतर जाती है।

'वस्तु जगत्के गतिप्रवाहमें कोई विराम नहीं है, एक ही वस्तुकी विरोधी शक्ति उसको एक जगहसे दूसरी जगह ले जाती है, कणिकासे तरङ्ग और अचेतनसे सचेतन हो रही है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद इसी प्रकार वैज्ञानिक परीक्षाके क्षेत्रमें प्रमाणित हो रहा है। 'बन्धी पगडण्डीपर चलनेवाले बुर्जुआ, बुद्धिजीवी अवज्ञाके साथ कहते हैं कि विज्ञानके सिद्धान्त तो रोज बदलते रहते हैं, उनकी सत्यता कहाँ! नासिकाग्रपर दृष्टि स्थिर कर जो योगबलसे सब कुछ जान लेते हैं, उनके सिद्धान्त नहीं बदलते, क्योंकि उन्होंने तो अन्तिम सत्यपर अधिकार जमा लिया है, लेकिन वैज्ञानिक सिद्धान्त तो बदलते रहते हैं। व्यवहारमें इन सिद्धान्तोंकी जाँच होती रहती है और यहींपर वैज्ञानिक सिद्धान्तकी सार्थकता है।'

अध्यात्मवादमें भौतिक पदार्थोंकी सत्यताके अनेक तारतम्य हो सकते हैं। परंतु भौतिक प्रपञ्चका आधारभूत स्वप्रकाश चेतन आत्मा तो परमार्थ सत्य ही है। अत्यन्ताबाध्यता ही पारमार्थिक सत्यता है। सर्वाधिष्ठान, सर्वसाक्षी, अत्यन्ताबाध्य है ही। साक्षीविहीन बाध भी सिद्ध नहीं होता। जब सर्वबाधका साक्षी होना अनिवार्य है ही और उस साक्षीका कोई बाधक प्रमाण सिद्ध नहीं है,

तब त्रिकालाबाध्य परमार्थसत्का अपलाप कौन कर सकता है ? व्यावहारिक सत्य भी ऐसा ढुलमुल नहीं है, जैसी मार्क्सवादियोंकी धारणा है। मार्क्सवादियोंका टूटनेवाला, विभक्त होनेवाला परमाणु अध्यात्मवादियोंको मान्य नहीं है। यहाँ तो जिसका विभाग न हो सके उसी अन्तिम अवयवको परमाणु कहा जाता है। किसी तरह भी जिसका विभाजन हो सकता है, वह परमाणु है ही नहीं। परिवर्तन-शील जगत् है, इस सिद्धान्तको तो सत्य मानना ही चाहिये। इसी प्रकार चेतन-अचेतन भूत-जगत्के अन्तर्निहित विरोधी गुण हैं, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वस्तुको भी चेतन या अचेतन किसीमें अन्तर्निहित करना पड़ेगा। अचेतनसे चेतनकी उत्पत्तिकी अपेक्षा चेतनसे अचेतनकी उत्पत्तिमें अधिक युक्तियाँ हैं, यह बात कही जा चुकी है। पञ्चेन्द्रियोंकी क्षमताकी सीमामें साधनोंके साहित्य, राहित्यसे अन्तर पड़ सकता है। फिर भी उनकी इस सीमामें कोई अन्तर नहीं होता कि श्रोत्रसे शब्दका ही ग्रहण होता है, रूपका नहीं; घ्राणसे गन्धका ही ग्रहण होता है, शब्दका नहीं; इत्यादि।

'अचेतनसे चेतनकी उत्पत्ति होती है' इस सम्बन्धमें कोई भी वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है। विज्ञानमें परिवर्तन आये दिन होता ही रहता है। इसका अपलाप प्रौढिवादसे नहीं हो सकता। जैसे बुर्जुआलोग अन्धी पगडण्डीके अन्धविश्वासी हैं, वैसे ही मार्क्सवादी राजमार्गको छोड़कर विपथगामी होनेके अन्धविश्वासी हैं। कोई भी मार्ग हो आखिर मार्ग ही है, उसपर चलनेसे वैज्ञानिक जाँच होती रहे; परंतु इसीसे एकान्तनिश्चित सिद्धान्तका परित्याग नहीं किया जा सकता। धार्मिक, आध्यात्मिक, राजनीतिक कोई भी कार्यपद्धति अनिश्चित अवस्थामें नहीं चल सकती। एक निश्चित चिकित्सापद्धतिको छोड़कर कोई बुद्धिमान् अपने शरीरको नवसिखिये वैज्ञानिकोंकी प्रयोगशाला बनानेको प्रस्तुत न होगा। जिस आध्यात्मिक, धार्मिक सत्य-निर्णयसे लौकिक, पारलौकिक कल्याणका सम्बन्ध है, उसे अनिश्चित अवस्थामें डालकर कोई भी बुद्धिमान् संतुष्ट नहीं हो सकता। फिर विज्ञानकी भी तो कुछ सीमाएँ हैं। यह कहा जा चुका है कि घ्राण या रसनाद्वारा रूप या शब्दके निर्णयकी वैज्ञानिक चेष्टा व्यर्थ ही है।

मार्क्सवादी कहते हैं कि 'ज्ञान-विज्ञान सभी मनुष्यके कर्म और विचारके बीच सृष्ट होते हैं। वैज्ञानिक तत्त्व पारस पत्थरकी तरह एकाएक नहीं मिल जाता। मनुष्यके कर्म और विचारकी क्षमता उसकी शिक्षा पारिपार्श्विक और यन्त्रादिके ऊपर यदि अलौकिक प्रेरणा ही ज्ञानका मूल होती तो पाँच सालकी उम्रका बालक भी जंगलमें बैठकर ही सब कुछ आविष्कार कर लेता। वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी आपेक्षिकताका कारण यह है कि वैज्ञानिक ज्ञान उत्पादन-व्यवस्थाकी उन्नति तथा वैज्ञानिक शिक्षाका स्तर और पारिपार्श्विकके

ऊपर निर्भर हैं। दूसरा कारण यह है कि वैज्ञानिक तत्त्वका संग्रह हम भूत-जगत्से करते हैं। यदि यह भूत-जगत् अपरिवर्तनीय होता तो हम सब कुछ बिना अवशिष्टके जान सकते। लेकिन यह भूत-जगत् ही द्वन्द्वात्मक रीतिसे बनता-बिगड़ता है। इस ध्वंस और निर्माणके एक विशेष अंशको अलगकर इसकी परीक्षाकर अपनी ज्ञानकी सत्यताको हम प्रमाणित करते हैं। परंतु द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद हमको आगाह कर देता है कि चरम ज्ञानकी खोज मत करो; क्योंकि जिसको जान रहे हो, उसीका कोई चरम शेष नहीं है। भूत जगत् निरन्तर परिवर्तित हो रहा है। नुक्तावन्द घोड़ेकी तरह चलनेवाले बुर्जुआ दार्शनिक तब नसीब ठोककर कहते हैं—'इसीलिये तो सभी माया है, हम कुछ नहीं जान सकते, परम पिता परमेश्वर ही जान सकते हैं।' व्यावहारिक ज्ञान यह सिद्ध करता है कि भूत-जगत्को हम जान सकते हैं। वह इसका पूर्व विभाग है, लेकिन इसकी कोई सीमा नहीं है। यदि तुम्हारा यह ख्याल है कि एक विराम-दण्ड खींचे बिना तुम्हारे मनको सान्त्वना नहीं मिलेगी, समुद्रके उच्छ्वासके स्तब्ध हुए बिना समुद्रका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकेगा, तो यह तुम्हारी दुर्बलता है। न भूत-जगत्का कोई अपराध है, न वैज्ञानिक धाराकी कोई त्रुटि। वैज्ञानिक हर समय नये तत्त्व और नये तथ्यका संधान करता रहता है और हरेक वैज्ञानिक सत्यभूत जगत्के गति-प्रवाहका अपेक्षित और आंशिक विवरणमात्र है। इसको भ्रम कहकर उड़ाया नहीं जा सकता।

"भौगोलिक तत्त्वका एक दृष्टान्त लीजिये, भारतवर्षका जो वर्तमान मान-चित्र हम आज देख रहे हैं, वह क्या सदासे ऐसा ही रहा है? दो हजार वर्ष पूर्व भारतवर्षका जो रूप था, वह आजसे बहुत भिन्न था और दस हजार वर्षोंके बाद इसका रूप और भी बदल जायगा। बंगालकी खाड़ीके बीच रेत उठ सकती है, कोई पहाड़ ऊँचा या नीचा हो सकता है। किसी नदीका प्रवाह बदल सकता है। इसलिये आजका मानचित्र, जो परीक्षित सत्य है, दस हजार वर्ष बाद एक ऐतिहासिक सत्यमात्र रह जायगा। ग्रीनलैंडकी वर्तमान अवस्थाके वर्णनका दो हजार वर्ष पूर्वकी अवस्थासे कोई सम्बन्ध नहीं है। आज वह जनविहीन है। एक समय वह जन-बहुल था और वहाँका जलवायु मनुष्यके निवासके लिये उपयुक्त था। यह भौगोलिक सत्य चरम सिद्धान्त नहीं हो सकते; क्योंकि भौगोलिक अवस्था परिवर्तन-शील है। वैज्ञानिक सिद्धान्त भी इसीलिये आपेक्षिक है। तथापि यह परीक्षासिद्ध और कार्यकारी है। तर्ककी आतिशबाजीसे इस सत्यको उड़ाया नहीं जा सकता।

"वैज्ञानिक सत्यमें कुछ दूसरे प्रकारकी आपेक्षिकता है। एक दृष्टान्त ले लीजिये। जब चन्द्रके ऊपर पृथ्वीकी छाया पड़ती है, तो हम कहते हैं कि चन्द्र-ग्रहण हो गया। हमारी यह दृष्टि पृथ्वीसे सम्पृक्त है। इसी घटनाको यदि कोई चन्द्रके ऊपरसे देख ले तो वह कहेगा कि सूर्यग्रहण हो गया; क्योंकि चन्द्रके ऊपर-

से वह देखेगा कि सूर्यके ऊपर पृथ्वीकी छाया पड़ी है। जिस घटनाका यह अवलोकन किया जा रहा है, वह न भूल है और न मायादृष्टिकेन्द्र (फ्रेम-आफ-रिफरेन्स)की विभिन्नताके कारण एक ही घटना दो प्रकारसे दीख रही है। यहाँ भी वैज्ञानिक ज्ञानकी आपेक्षिकता प्रमाणित हो रही है। सत्य आपेक्षिक है सही, लेकिन इस आपेक्षिकताको अति तक पहुँचाया जा सकता है और तब यह हास्यास्पद बन जाता है। इसी प्रकारकी आपेक्षिकताकी आड़ लेकर वर्तमान पूँजीवादी भविष्यके एक वैज्ञानिक चित्रको देखनेसे मुँह मोड़ता है। सत्यकी परिभाषा करते हुए लेनिनने लिखा है कि यह दृश्यगत घटनाके सब पहलुओंका जोड़ है, उनकी वास्तविकता है, पारस्परिक निर्भरता है।''

अध्यात्मवादी इसे अनुक्तोपालम्भ कहते हैं। यह रामराज्यवादीका कभी भी मत नहीं है। विज्ञानके लिये शिक्षा अपेक्षित नहीं है। अवश्य ही शिक्षा, विचार, कर्म और पारिपार्श्विक यन्त्र आदि ज्ञान-विज्ञानमें सहायक होते हैं। इन सामग्रियोंसे एक ज्ञानशक्तिसम्पन्न चेतनको ही ज्ञान-विज्ञान उत्पन्न होते हैं। इन सब सामग्रियोंके रहनेपर भी किसी काष्ठ, पाषाणको ज्ञान-विज्ञान नहीं सम्पन्न होता। काष्ठमें अग्नि है, तिलमें तैल है—वह प्रयत्नसे प्रकट होता है। इसी तरह चेतन प्राणीमें ज्ञानशक्ति है, वही प्रयत्नसे व्यक्त होती है। इसमें पूर्वके संस्कार भी हेतु होते हैं। आद्य शंकराचार्य आठ ही वर्षकी अवस्थामें सर्वशास्त्रोंके विद्वान् हो गये थे, परंतु सबमें यह क्षमता नहीं। ध्रुवको ईश्वरके विशेष अनुग्रहसे सम्पूर्ण ज्ञान हो गया था। गीताके कृष्ण तो स्वीकार करते हैं कि भगवान् आराधनाओंसे संतुष्ट होकर प्राणीको वह ज्ञानयोग प्रदान करते हैं, जिससे वह भगवान्को प्राप्त कर लेता है—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते। (गीता १० । १०)

बहुत प्रकारके ज्ञान पशु-पक्षियोंको भी होता ही है, हंसका क्षीरनीर-विवेक, मधुमक्खियोंद्वारा मधुका निर्माण, भेड़ियों, बाजों तथा बिल्ली आदिद्वारा शिकारकी दक्षता आदि गुण बिना शिक्षाके भी हो जाते हैं। पक्षियोंमें उड़नेकी कला, मछलियोंमें तैरनेकी कला जन्मजात ही होती है; फिर वैज्ञानिकोंका घमण्ड क्या अर्थ रखता है ? भूतजगत्का परिवर्तन तो परिणामवादी, आरम्भवादी सभी मानते हैं; परंतु उनके भी कुछ नियम हैं ही। वैज्ञानिकोंको भी कुछ नियम निश्चित करने पड़ते हैं। मार्क्सवादियोंको भी आखिर निर्वाण एवं निर्माणका नियम तथा परिवर्तनशील होनेका नियम, क्रम-परिवर्तन और क्रान्तिकारी परिवर्तन आदिके कुछ-न-कुछ नियम मानने ही पड़ते हैं। द्वन्द्वात्मक रीतिसे बनने-बिगड़नेका भी आखिर नियम हुआ ही। जैसे कूपमण्डूक या उदुम्बरफलके बीचमें रहनेवाला नगण्य जन्तु अपनी जानकारीको ही बहुत मानता है, उसी तरह मार्क्सवादी अपनेको सर्वज्ञ होनेका घमण्ड करते हैं। पर वस्तुस्थिति यह है कि हर बातमें वैज्ञानिककी भी खोपड़ीपर अज्ञान ही सवार रहता है। समझदार वैज्ञानिक नत-

मस्तक होकर यही कहता है कि 'आजका सबसे बड़ा ज्ञान यही है कि अभी हमलोग कुछ भी नहीं जानते।' फिर विज्ञान या वैज्ञानिकको यह अधिकार कहाँसे प्राप्त हुआ कि वह अन्तिम सत्य ज्ञानकी खोजको मना करे ? अल्पज्ञान (अधूराज्ञान) और सम्यक् ज्ञानका भेद स्पष्ट प्रतीत हो तो किसी भी सम्बन्धमें तत्त्वज्ञानकी रुचि स्वाभाविक है। सिवा अल्पज्ञके आज भी कौन दावा कर सकता है कि हम सभी भूत-जगत्‌को जानते हैं ?

वैज्ञानिक हो चाहे और कोई, वह सत्यको बनाता नहीं; किंतु सत्यकी जानकारी प्राप्त करता है। यथाभूत वस्तु ही सत्य कहलाती है, उसको अयथाभूत जानना भ्रान्ति है। एक अल्पायु अज्ञ प्राणी अपने परिमित साधनोंसे, निःसीम संसारमेंसे बहुत-सी वस्तुओंको बहुत अंशमें जानता है, उन्हींको नयी-नयी वस्तु, नये-नये तथ्यके रूपमें जानता—समझता है। परंतु एतावता दीर्घायु, दीर्घतपा, दीर्घदर्शियोंकी ऋतम्भरा प्रज्ञाद्वारा होनेवाले परमार्थ सत्यज्ञानका अपलाप नहीं किया जा सकता। भौगोलिक उथल-पुथलका परिज्ञान भी उन महातपस्वियोंको था ही। शास्त्रोंमें योगवाशिष्ठ आदिमें यह स्पष्ट वर्णन है। जहाँ आज समुद्र लहराता है, वहीं कभी भीषण मरुस्थल परिलक्षित होने लगता है। जहाँ आज हिमालय है, वहाँ कभी समुद्र हो सकता है, इतना ही क्यों, उनकी दृष्टिमें सूर्य, चन्द्र, सागर, भूधर एवं समस्त वसुन्धराका अनेक बार उद्भव एवं अनेक बार प्रलय हुआ है। फिर भी भिन्न-भिन्न वस्तुओंके गुण, स्वभाव, परिमाण आदिका तथ्य वर्णन किया जाता है। व्यावहारिक वस्तुएँ आपेक्षिकरूपसे ही तथ्य हैं, यह तो शास्त्रोंका परम सिद्धान्त है। 'तर्ककी आतिशबाजी नहीं', तर्ककी गोलाबारी होती है, जिससे अपसिद्धान्त ध्वस्त हो जाता है। प्रमाण, युक्ति, तर्कविहीन विज्ञान विज्ञान ही नहीं, वह है निरा अज्ञान और निरा अभिमान। जिस भूमण्डलपर जो प्राणी रहता है, वहाँसे वह सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहणका विचार करता है। चन्द्रमासे सूर्यग्रहण या सूर्यसे चन्द्रग्रहणके विचारका मतभेद उपस्थित हो तभी उस सम्बन्धमें विचार चल सकते हैं। आपेक्षिकताकी अति कहाँ है, इसकी सीमा भी प्रमाणके आधारपर ही निश्चित हो सकती है। क्या जो मार्क्सवादियोंके विपरीत पड़े वही आपेक्षिकताकी अति है ?

जैसे पूँजीवादी, मार्क्सवादियोंके भविष्य-चित्र देखनेसे मुँह मोड़ते हैं, वैसे ही रामराज्यवादियोंकी भविष्य-निर्धारणासे भौतिकवादी भी मुँह बिचकाते हैं। 'दृश्यगत घटनाके सभी पहलुओंका जोड़ सत्य है, उनकी परस्पर निर्भरता ही वास्तविकता है,' इत्यादि लेनिनका कथन भी असङ्गत है। क्योंकि घटनाएँ क्रिया हैं, वे स्वयं बाध्य एवं असत्य होती हैं; फिर उनके पहलुओंकी भी यही स्थिति होगी। उनके जोड़की यही स्थिति अवश्यम्भावी है। वस्तुतः अबाध्यता ही सत्यता है, जिस वस्तुमें जितनी अबाध्यता है, उतनी ही सत्यता है। यहाँतक कि रज्जु, सर्प, शुक्ति रजतादि प्रातिभासिक पदार्थ भी प्रतिभास कालमें अबाधित होनेसे

प्रातिभासिक सत्य होते हैं। आकाशादि व्यवहारकालमें अबाधित होनेसे व्यावहारिक सत्य हैं। सर्वाधिष्ठान, अखण्डबोधस्वरूप सर्वसाक्षी अत्यन्ताबाध्य होनेसे वही परमार्थ सत्य है।

"प्रैग्मेटिज्मके जन्मदाता विलियम जेम्सका कहना है कि जिसकी व्यावहारिक उपयोगिता है, वही सत्य है। सत्य हमारे विचारोंमें प्रतिबिम्बित वास्तविकताका रूप नहीं है, बल्कि जो व्यक्तिविशेषकी भावनाओं और आवश्यकताओंके साथ खप जाता है। शीलरका मत भी इसी प्रकार है। सामाजिक मनुष्य वास्तवभूतकी विचार-क्रियासे सत्यपर उपनीत नहीं होता, बल्कि मनुष्य ही सत्यकी सृष्टि करता है। पिलैंडेलोके नाटक 'तुम सही हो, यदि तुम अपनेको ठीक समझते हो' में इस दर्शनवादका सुन्दर चित्र मिलता है। तुमको हाँ या ना करनेके लिये दस्तावेज-का प्रमाण चाहिये। मेरे लिये इनकी कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि मेरी रायमें इन दस्तावेजोंमें सत्यका निवास नहीं, बल्कि उन व्यक्तियोंके मनमें है, जिनके अंदर सिवा उन्हींके दिये हुए प्रमाणसे हम प्रवेश नहीं कर सकते। डीवीके शब्दोंमें 'हमारे लिये सत्य वही है, जिससे हमको सहायता मिलती है और जिसका हमारे ऊपर प्रभाव है।' प्रयोजनवादका सारतत्त्व यही है कि व्यावहारिकता ही हमारे लिये सब कुछ है। इससे अधिक हम कुछ नहीं जान सकते। यह दर्शन साम्राज्यवादकी अवनतिका द्योतक है।"

मार्क्सवादियोंका यह कहना कि 'अन्य दर्शन मायाविमूढ़की तरह हमें पथ-भ्रष्ट करते हैं, मार्क्सीयदर्शन जीवनपथ निर्देश करता है' अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना है। जैसे किसी आंशिक दृष्टिकोणसे मार्क्सीयदर्शन दर्शन कहला सकता है, वैसे ही अन्य पाश्चात्त्य-दर्शन भी भारतीयदर्शनोंकी दृष्टिसे तो यह सब 'दर्शन' कहलानेके योग्य ही नहीं हैं। समुचित प्रमाण, प्रमेय, फल तथा साधनोंका निरूपण पूर्णरूपसे किसी पाश्चात्त्य-दर्शनमें नहीं है। छायावादी ढंगके वाक्योंसे केवल आपेक्षिक एकाङ्गी दृष्टिकोणसे ही सिद्धान्तोंका निरूपण किया जाता है। इस दृष्टिसे उपर्युक्त दृष्टिकोण ठीक नहीं है। हजार अन्य सत्य भले ही हों, परंतु प्रयोजनवादी-के लिये अगर वे उपयोगी नहीं तो प्रयोजनवादी दृष्टिकोणसे व्यर्थ ही हैं। शीलरका सत्य भी इसी दृष्टिका है। अपनी सचाई-झुठाई प्राणी जितना अपने आप जान सकता है उतना दूसरा नहीं समझ सकता। इस दृष्टिसे 'तुम सही हो यदि तुम अपने आपको ठीक समझते हो,' कितनी सुन्दर बात है। दर्शन साम्राज्यकी अवनतिका जीता-जागता नमूना तो है, मार्क्सका जडवादी दर्शन, जिसमें 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' के बदले 'अर्थो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' के सिद्धान्तको भी सिद्धान्तनामसे पुकारा जाता है।

आमतौरपर वादि-प्रतिवादि-सम्भव प्रमाणों, तर्कों, सिद्धान्तोंके आधारपर ही विप्रतिपन्न विषयोंकी सिद्धि की जाती है। परंतु मार्क्सवादी किन्हीं भी सिद्धान्तों-

तथ्यों, न्यायोंको स्थिर नहीं मानते। कारण, उन कसौटियोंपर वे एक क्षण भी नहीं टिक सकते। अतः उनके पास यह कहनेके सिवा कि 'परमात्मा, ईश्वर, धर्मके अतिरिक्त मार्क्सवादी स्थिर आत्माका भी अस्तित्व नहीं मानता', कोई दूसरा चारा नहीं। भला इसे दर्शन भी कैसे कहा जा सकता है? मार्क्सवादी स्वयं ही कहते हैं—'जो दार्शनिक जिस परिस्थितिमें रहता है, उसी ढंगका उसका दर्शन होता है', एतावता सिद्ध है कि उस दर्शनपर उस दार्शनिकके दिमागी फितूरके अतिरिक्त सत्यका अंश कुछ भी नहीं रहता।

कांटका ज्ञान-सिद्धान्त

"कांट इससे सहमत है कि हमारा ज्ञान अनुभवसे आरम्भ होता है और इस अनुभवकी प्रारम्भिक बात है—बाहरी वस्तुओंका अस्तित्व। वह केवल इस बातसे इनकार करता है कि यहीं इसका अन्त होता है; क्योंकि हमें ऐसी चीजोंका ज्ञान है जो अनुभवसे परे हैं। वह इसको मान लेता है कि शेषोक्त प्रकारका ज्ञान पूर्वोक्त प्रकारके ज्ञानका अनुमान कर लेता है। क्योंकि यह कैसे सम्भव है कि पहचान (ज्ञान) की शक्तिका उद्बोध न हो सिवा उन वस्तुओंके संयोगसे, जिनका प्रभाव हमारी इन्द्रियोंपर पड़ता है और जो स्वयं अपने प्रतिबिम्ब उत्पन्न करती हैं और अंशतः हमारी बुद्धिको जाग्रत् करती हैं, ताकि वह इन प्रतिबिम्बोंकी तुलना कर सके, इनको जोड़ सके तथा अलग-अलग कर सके और इस प्रकार हमारे इन्द्रिय-लब्ध चित्रोंके कच्चे मालको वस्तुओंके ज्ञानके रूपमें परिणत करता है और जिसको हम अनुभवका नाम देते हैं। इसलिये समयके ख्यालसे हमारा कोई ज्ञान अनुभवसे पहले नहीं है, बल्कि इसके साथ ही आरम्भ होता है।

"वह आगे चलकर कहता है कि 'ज्ञानका एक और अङ्ग है। यद्यपि हमारा ज्ञान अनुभवसे आरम्भ होता है, इसका यह अर्थ नहीं कि अनुभवसे ही सब ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। क्योंकि इसके विपरीत यह बहुत सम्भव है कि जो कुछ हमको इन्द्रिय-संयोगसे प्राप्त होता है और जो कुछ हमारी पहचानकी शक्ति स्वयं अपना अंश मिलाती है, इन दोनोंके मिश्रणसे ही हमारा व्यावहारिक ज्ञान बनता है। लेकिन मुद्दतकी आदतसे ही हमारे अंदर वह कौशल और एकाग्रता आती है, जिससे हम इन दोनोंको पृथक् करनेमें समर्थ होते हैं। कांटके पहलेके दार्शनिक दो मुख्य दलोंमें बँटे हुए थे, एक भौतिकवादी जो इन्द्रियानुभव तथा उसके ऊपर सोच-विचारके दूसरे रास्तेद्वारा बाहरी दुनियाँसे एक ज्ञानकी उत्पत्ति बताते थे और दूसरे आदर्शवादी, जो कहते थे कि मानसमें ऐसे विचार हैं, जिनका कारण नहीं बताया जा सकता। ऐसे विचार जिनकी सार्वभौमिकता और अमूर्तरूप यह निर्देश करता है कि ये स्वयं प्राप्त हैं और सब अनुभवके मूलमें हैं।

"कांटकी ऐतिहासिक स्थिति यह है कि दोनों दृष्टिकोणोंके समन्वयके द्वारा उसने इस विरोधका अन्त किया। और उसका यह दावा था कि इस नये दृष्टिकोणमें उसने इन दोनोंका सम्मेलन एक ऊँचे स्तरपर कराया है। उसने यह मान लिया कि स्थान, काल, कारण इत्यादि अमूर्त कल्पनाओंको केवल अनुभवमें रूपान्तरित नहीं किया जा सकता, दूसरी ओर यद्यपि ये स्वयं प्राप्त हैं। यह कल्पना नहीं की जा सकती कि ये बिल्कुल ही अनुभवपर निर्भर नहीं हैं। उसका दावा था कि वास्तविकता यह है कि सब अनुभवके मूलमें पूर्व परिस्थितिके रूपमें ये विद्यमान हैं और इस तरह ये अनुभवके रूपोंका निर्णय करते हैं।

"उसने यह दलील दी कि बाहरी वस्तु और दूसरी मानव बुद्धि—ये ज्ञानके दो उद्गम नहीं हैं—ज्ञानका एक ही उद्गम है—वह है कर्ता और कर्म (बुद्धियुक्त मनुष्य और वस्तु) का सम्मेलन। जैसे जलका कारण अम्लजन और उद्जनका सम्मेलन है। यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि जलके दो कारण हैं, किंतु दोनोंका सम्मेलनरूप एक ही कारण है। उसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिये। कर्ता और कर्मका सम्मेलन ही जलका कारण है। सारा संसार हमारे लिये दृश्यमान घटनाओंकी एक परम्परा है। क्या ये दृश्य मानसकी उपज हैं, जिसके सामने ये दर्शित होते हैं या कि ये वस्तुओंके विशुद्ध प्रतिनिधि हैं? आदर्शवाद या वस्तुवाद—दोनोंमेंसे कोई नहीं और दोनों मानस और वस्तु सहयुक्त होकर दृश्य या प्रत्यक्षीकरणको उत्पन्न करते हैं। प्रत्यक्षीकरण दोनोंके सम्मेलनका ही फल है।"

'अनुभवसे ज्ञानका आरम्भ होता है', इत्यादि कांटका कथन इन्द्रिय-व्यापार आदिके अभिप्रायसे सङ्गत होता है। इन्द्रिय, मन, अहंकार एवं बुद्धिके व्यापारोंको ही अनुभव, संकल्प आदि अनेक नाम दिये गये हैं। वस्तुतः ये सभी जड हैं। जडोंमें जब अपने ही प्रकाशकी शक्ति नहीं है, तब उनसे विषय-प्रकाशकी कल्पना सर्वथा निरर्थक है। मन या अन्तःकरणकी वृत्ति भी ज्ञानपदसे कही जाती है, परंतु यह सब कथन औपचारिक ही है। इन्हीं जड व्यापारोंकी उत्पत्ति और नाश कहा जा सकता है। सर्वप्रकाशक बोधका न प्रागभाव सिद्ध होगा और न तो प्रध्वंसाभाव ही। वस्तुओंके संयोगसे इन्द्रियोंपर प्रभाव पड़ता है और विषयरूपी वस्तुओंका प्रतिबिम्ब भी वृत्तिमें उत्पन्न हो बुद्धिके जागरणमें भी वस्तुओंका उपयोग होता है। फिर भी इनके द्वारा नित्य-बोधकी अभिव्यक्ति ही होती है, उत्पत्ति नहीं। जैसे काष्ठोंके संघर्षसे दाहकत्व-प्रकाशकत्वविशिष्ट अग्निका प्राकट्य होता है, ठंडे-गरम तारोंके योगसे विद्युत्प्रकाशका प्राकट्य होता है, किंवा सूर्यकान्तमणिके योगसे व्यापक सौरालोकका अग्निके रूपमें प्राकट्य होता है, स्वच्छ काच आदिके योगसे सौरालोक चमत्कृत होता है, उसी तरह वृत्तियोंके योगसे व्यापक अखण्ड बोध चमत्कृत होता है। इस तरह अनुभव और ज्ञानका भिन्न-

भिन्न अर्थोंमें प्रयोग केवल ज्ञानको उपाधियोंमें ही होता है। वस्तुतः स्वतन्त्र नित्य नीरूप चित्प्रकाश ही अनुभव एवं ज्ञान आदि शब्दोंका लक्ष्य अर्थ है। व्यावहारिक ज्ञान-पहचान, अनुभव, इनकी उत्पत्ति, विनाश, स्पष्टता, अस्पष्टता, एकता एवं अनेकता—ये भी बातें इन्द्रिय, मन, अहंकार एवं बुद्धिके ही विभिन्न व्यापारोंसे सम्भव हैं। परंतु एक समान प्रकाश तो सर्वत्र एक-सा ही रहता है। उसी एक नित्यप्रकाशको ही किन्हीं पाश्चात्त्योंने मानसमें स्वयंसिद्ध माना है। अतएव 'अनुभवकी स्पष्टता या उसका निरूपण बाह्यवस्तुसापेक्ष है'—यह कांटका कथन भी इसी दृष्टिसे सङ्गत होता है। बुद्धियुक्त मनुष्य और बाह्यवस्तुओंसे अनुभव उत्पन्न होता है, यह कथन भी वृत्तिरूप ज्ञानके सम्बन्धमें है। बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञानके उत्पन्न होनेपर उसीके द्वारा नित्य ज्ञानका प्राकट्य होता है। यद्यपि परमार्थ सत्य यही है कि सम्पूर्ण संसार मानसकी ही उपज है। इतना ही क्यों? मानस भी तो अखण्ड बोधका ही एक भ्रान्तिसिद्ध रूप है। क्या हम देखते नहीं कि स्वप्नका देह, स्वप्नका प्रपञ्च, स्वप्नका सभी दृश्य एक ढंगके बोधका ही विवर्त है। कुछ निम्नस्तरकी दृष्टिसे मानस और बाह्य-वस्तुओंके सम्मेलनसे प्रत्यक्षीकरण आदि व्यापारके भासक साक्षीका अपलाप नहीं किया जा सकता।

"हीगेलके बहुतेरे सिद्धान्तोंका मूल कांटके दर्शनमें मिलता है। जब कांटने सब सम्भव ज्ञानके क्षेत्रको उन रूपोंमें सीमित कर दिया, जिनमें मनुष्य बाहरी दुनियाँको देखता है तो उसने हीगेलके इस वाक्यकी नींव डाली कि जो कुछ वास्तव है, वह तर्कसङ्गत है और जो कुछ तर्कसङ्गत है, वह वास्तव है। यह ठीक है कि कांटने अस्वीकार किया कि वस्तुस्वरूपका कोई ज्ञान प्राप्त हो सकता है, लेकिन हीगेलको दो दिशाओंमें यह असम्बद्ध मालूम हुआ। पहली बात तो यह है कि इस सिद्धान्तके अनुसार कि 'विचाररूप' के अंदरकी वास्तविकताको देनेवाला अनुभव ही है। वस्तुस्वरूप नामक विचाररूप तभी सत्य हो सकता है, जब इसकी उत्पत्ति किसी अनुभवसे ही हो। दूसरी बात यह है कि दृश्यगत घटनाओंमें तथा इनके और बुद्धिके बीचके सम्बन्धमें ही अनुभवका निवास है। एंजिल्सने इसीका भाषान्तर करके कहा 'यदि हम किसी वस्तुके सभी गुणोंको जान लें, तो वस्तुस्वरूपके विषयमें कुछ आविष्कार करना बाकी नहीं रह जाता, सिवा इसके कि वह वस्तु हमारे बाहर है और उसका अस्तित्व हमारे ऊपर निर्भर नहीं है।

"इन्द्रियानुभूतिवादियों (लॉक इत्यादि) के खण्डनकी क्रियामें कांटके सिद्धान्तोंने उसको यह कहनेके लिये बाध्य किया कि हम पृथक् रूपसे केवल गुणोंका प्रत्यक्षीकरण नहीं करते। सम्पूर्ण प्रत्यक्षकारी संज्ञा क्रियाशील प्रत्यक्षीकरणमें सम्पूर्ण बाहरी वास्तविकताके द्वारा संशोधित और परिवर्तित होती है। हीगेलने इन

दोनों सम्पूर्णोंको एक विकासमान सम्पूर्णके धनात्मक और ऋणात्मकरूपमें माना और इस प्रकार पूर्ण आदर्शवादको पहुँचे। 'कांटने कर्ता और कर्म (वस्तु) के विरोधात्मक एकत्वको अपनी दर्शन-व्यवस्थाका केन्द्र बनाया। लेकिन उसकी इस कल्पनामें यह असङ्गति थी कि एक ही ओर यानी कर्ताकी ओर ही यह एकत्व क्रियाशील तथा फलोत्पादक है। हीगेलने इस असङ्गतिको दूर किया और इस बुनियादपर अपनी सारी प्रथाका निर्माण किया कि सत्यका अवस्थान न केवल शुद्ध कर्तामें और न केवल शुद्ध वस्तुमें है, बल्कि इनके बीचके क्रियाशील सम्बन्धमें है—जिस सम्बन्धके द्वारा कर्ता और वस्तु, दोनोंमें क्रमवर्धनशील रूपान्तर होता रहता है। आदर्शवादके स्तरपर यह कल्पना हमको ले जाती है, मार्क्सीय विश्वकल्पनाकी ओर। आदर्शवादने क्रियाशील पक्षको विकसित किया, लेकिन केवल अमूर्तरूपमें द्वन्द्वमान, तर्क और विचारके व्यापक नियमोंके विकासमें तथा मनुष्यकी मस्तिष्क-क्रियाकी सीमाओंको रेखाङ्कित करनेमें। वस्तुओंके द्वारा रक्तमांससम्पन्न मनुष्य-व्यवहारके क्रियाशील पक्षका विकास भौतिकवादियोंने किया नहीं और आदर्शवादी अपने आदर्शवादके कारण कर न सके।

"प्रारम्भमें दिये गये ज्ञानकी परिभाषाका द्वन्द्वात्मकरूप अब समझा जा सकता है। मनुष्यके बाहर स्थित प्रकृति ही ज्ञानका उद्गम है। ज्ञानप्रक्रिया मनुष्य और वस्तुके बीच एक क्रिया-प्रतिक्रिया है जो मनुष्य और वस्तुको भिन्न बना देती है ज्ञात होनेके कारण। ज्ञात वस्तु अपने पहले रूपसे विभिन्न बन जाती है और ज्ञानी मनुष्य भी अपने पहले रूपसे भिन्न है। ज्ञानका मूल है मनुष्यकी व्यावहारिक क्रिया—वस्तुओंके द्वारा, अनुभवके द्वारा। ज्ञानप्राप्तिकी पहली सीढ़ी है इन्द्रियानुभूति। इन्द्रियानुभूति कोई ऐसी चीज नहीं है जो मनुष्य-अवयवके साथ सदा एक-सी बनी रहती हो। यह इन्द्रियानुभूति एक विशेष उपज है और यह पैदा होती है पशुओंकी इन्द्रियानुभूतिसे भिन्नरूपमें; ऐतिहासिक, सामाजिक प्रयोगकी बुनियादपर। सामाजिक ज्ञानका विकास इन्द्रियानुभूति तथा युक्तियुक्त ज्ञान दोनोंको समृद्ध करता है। किसी भी असभ्य मनुष्यके विचार और इन्द्रियानुभूतिका स्तर इतना निम्न होता है कि किसी सभ्य मनुष्यसे उसकी तुलना नहीं हो सकती। उसके निम्नस्तर और अत्यन्त सीमित पार्थिव आचार-व्यवहारपर ही उसके विचार और इन्द्रियानुभूति दोनों ही निर्भर हैं। ज्ञानकी दूसरी सीढ़ी है तर्कबुद्धि। यह बुद्धि भी प्रयोग और व्यवहारके द्वारा आती है।"

वृत्तिरूप ज्ञानका ही क्षेत्र किन्हीं रूपोंमें सीमित हो सकता है। निर्विषय, निर्दृश्य शुद्धबोधके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता। साथ ही बाह्यरूप भी

सीमित नहीं है। केवल जो कुछ मानवबुद्धिग्राह्य है वही सब कुछ नहीं है। मनुष्यकी अल्पज्ञता तो स्पष्ट ही है। यदि हम वस्तुका सभी गुण जान लें तो वस्तु-स्वरूपके विषयमें कुछ आविष्कार बाकी नहीं रह जाता। ऐंजिल्सका यह विचार भी आकाशकुसुमकी कल्पना ही है। स्वाप्निक दृश्यवस्तु जैसे द्रष्टापर ही निर्भर होती है, उसी तरह जाग्रत्-प्रपञ्च भी द्रष्टापर ही निर्भर है। इसीलिये हीगेलको चेतनसे अचेतनकी उत्पत्ति माननेको बाध्य होना पड़ा। कांट और हीगेलके इस भेदमें कोई तथ्य नहीं है कि कर्ता और कर्मका क्रियाशील एकत्व क्रियाशील तथा फलोत्पादक है, या क्रियाशील सम्बन्ध फलोत्पादक है। क्योंकि ज्ञान स्वयं चेतन एवं प्रकाशात्मक होनेसे कर्ताकी जातिका है, अतः कर्ताकी ओर फलोत्पत्तिका व्यवहार होता है—यह कांटका अभिप्राय है। निर्विकार, निर्दृश्य अखण्ड बोधमें विषयोपराग स्वतः सम्भव नहीं है। अतः दृक्, दृश्य, चेतन, अचेतनके अन्योन्याध्याससे ही व्यावहारिक सप्रपञ्च ज्ञान होता है। यही हीगेलका अभिप्राय है। मार्क्सके अनुसार 'मनुष्य एवं वस्तुके बीचकी क्रिया-प्रतिक्रिया ही ज्ञानप्रक्रिया है और ज्ञानका मूल मनुष्यकी व्यावहारिक क्रिया है। इन्द्रियानुभूति और तर्क-बुद्धि ही प्रयोग एवं व्यवहारके द्वारा युक्तियुक्त ज्ञानका निर्माण करती है।' जहाँतक व्यावहारिक वृत्तिरूप-ज्ञानकी बात है, सांख्यवादी भी यही मानते हैं। इतना अवश्य है कि सांख्योंका मनुष्य रक्त-मांस-अस्थिपञ्जरमात्र नहीं; किंतु वह चेतन असङ्ग आत्मा है। और उसी दृष्टिसे द्रष्टा तथा दृश्य, कर्ता और कर्म, भोक्ता तथा भोग्यका भेद भी सिद्ध होता है। अथवा इससे निम्नस्तरपर उतरें तो कह सकते हैं कि सूक्ष्म सत्त्वात्मक बुद्धि-तत्त्व ही कर्ता या ज्ञाता है। तामस, राजस, स्थूल-प्रपञ्च वस्तु है। यही कर्ता, कर्म, ज्ञाता एवं ज्ञेयका भेद है। परंतु मार्क्सके अनुसार 'भूत ही सब कुछ है। उसका ही परिणाम वस्तु है, और उसीका परिणाम मनुष्य है।' फिर उसकी क्रिया-प्रतिक्रियासे भी अति विलक्षण प्रकाशरूप ज्ञान किस तरह उत्पन्न हो सकेगा, यह विचारणीय विषय है।

व्यवहार और तथ्य

मार्क्सवादी कहते हैं कि "भूत पहले या मानस, यह प्रश्न एक दूसरे रूपमें भी जीवनके सामने उठ खड़ा होता है। प्रयोग पहले या सिद्धान्त? व्यवहार पहले या तथ्य? इसका उत्तर हमको जीवनपथमें एक विशिष्ट दिशाकी ओर ले जाता है। इस विषयमें मार्क्सवादी दृष्टिकोण भी अपनी विशेषता रखता है। कुछ लोग कहते हैं कि प्रयोग और सिद्धान्तमें कोई समन्वय नहीं हो सकता। प्रयोग इस गंदी, स्थूल, असत्य, मायावी दुनियाँकी चीज है। सिद्धान्त चिरसत्य, शिव और सुन्दर है। दोनोंका क्या सम्बन्ध है? 'सिद्धान्त दर्शन-ज्ञान ही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं', इस तरहके विचार रखनेवाले लोग मकड़ीकी भाँति अपने भीतरसे सिद्धान्तको निकालते हैं। दूसरे लोग हैं, जो प्रयोगसे एकदम इनकार तो

नहीं करते; किंतु वे सिद्धान्तको ही प्रधान मानते हैं। उनकी दृष्टिमें सिद्धान्त प्रयोगकी संतान नहीं है, वह एक स्वयम्भू तत्त्व है। ऐसे मतवालोंके लिये प्रयोगका आश्रित होना निम्नकोटिके लोगोंको ही शोभा देता है। सिद्ध महर्षि इसके ऊपर हैं। यह गौर करनेकी बात है कि प्राचीन भारतका प्रगतिशील युग प्रयोग-निर्भर ही था, जैसा कि अलबेरूनीद्वारा उद्धृत आर्य भट्ट (४७६ ई०) के निम्न सूत्रसे स्पष्ट हो जाता है। 'सूर्यकी किरणें जो कुछ प्रकाशित करती हैं वही हमारे लिये पर्याप्त है। उनसे परे जो कुछ है और वह अनन्त दूरतक फैला हो सकता है, उसका हम प्रयोग नहीं कर सकते। जहाँ सूर्यकी किरणें नहीं पहुँचतीं, वहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं और जहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं, उसे हम जान नहीं सकते।'

"पूर्वोक्त दृष्टिकोण श्रेणी-विभाजित समाजका और उस समाजमें शारीरिक और मानसिक श्रमके विभाजनका परिणाम है। पूँजीवादमें शारीरिक और मानसिक श्रमका विच्छेद पूरे तौरपर हो जाता है। श्रमके इस विभाजनके कारण प्रयोगसे बिल्कुल स्वतन्त्र होकर सिद्धान्तका निर्माण होता है और ऐसे विद्वत्तापूर्ण तथ्यों-का आविष्कार होता है जो व्यवहारकुशल लोगोंकी अवज्ञाके पात्र बन जाते हैं। इस प्रकार उत्पन्न प्रयोग और सिद्धान्तका विच्छेद पूँजीवादी विचारधाराकी रक्षण-शील संकीर्णताके कारण अधिक गहरा बन जाता है और जो आजके दिनके ढोंगपूर्ण विचारोंके लिये जिम्मेदार हैं। विज्ञानकी विभिन्न शाखाओंके अध्ययनसे भी हम इसी नतीजेपर पहुँचते हैं कि प्रयोग ही सिद्धान्तका जनक है। देशविजय और व्यापारने भूगोलको जन्म दिया। पैदावार तथा उद्योग और लड़ाईके औजारोंने खनिज-विज्ञानकी सृष्टि की। कृषिमें बीज बोनेके लिये ऋतुओंके ज्ञानकी आवश्य-कता हुई। इस आवश्यकताके कारण नक्षत्र-शास्त्रकी रचना हुई। इसी नक्षत्र-शास्त्रकी शाखा-उपशाखाके रूपमें आलोक-विज्ञान (दूरबीन आदिका आविष्कार) तथा पदार्थ-विज्ञानकी सृष्टि हुई। व्यावहारिक उपयोगिता ही यन्त्रगति शास्त्रका जनक है। जैसे नील नदीकी सतहको उठाकर 'खेत सींचनेकी आवश्यकता इत्यादि। इतर धातुओंको सोनेमें परिवर्तित करनेकी चेष्टासे रसायनशास्त्रकी उत्पत्ति हुई। रसायनशास्त्रके पर्यायवाची अंग्रेजी शब्द केमिस्ट्रीकी उत्पत्ति है मिश्र-भाषाके शब्द कीमियासे। गणितशास्त्र एक ऐसा शास्त्र है जो सबसे अधिक बुद्धि-प्रसूत और प्रयोगसे असम्बन्धित जान पड़ता है। लेकिन इसके इतिहासके अध्ययन-से भी यही विचारधारा पुष्ट होती है। खेतोंकी नाप-जोखसे ज्यामिति (रेखागणित) का सम्बन्ध है। और जिस समय रोम-अधिपति आगस्टसने सिकंदरियाके हीरोको रोमन-राज्यका नकशा खींचनेके लिये नियुक्त किया, उससे भी ज्यामिति-शास्त्रने काफी पोषण प्राप्त किया। 'साइंस ऐट दी क्रास-रोड्स' (विज्ञानके चौमुहानेपर)

नामक लेखमें हेसेनने न्यूटनपर जो प्रकाश डाला है उससे इस भ्रमका निराकरण होता है कि न्यूटन किसी द्युलोकका स्वप्नद्रष्टा है जिसका पार्थिव व्यवहारसे कोई संस्पर्श नहीं है। उसने यह दिखलाया है कि न्यूटनने जिन समस्याओंका समाधान किया है, उनकी उत्पत्ति उस समयके मानव-समाजकी व्यावहारिक आवश्यकताओं-से ही हुई है।"

'भूत पहले या मानस' यह प्रश्न इस अभिप्रायसे है कि दृक्-दृश्य, ज्ञान-ज्ञेय इनमेंसे कौन पहलेसे है? यदि मानसका अर्थ उस मानससे है जो कि एक आन्तर इन्द्रिय या सूक्ष्म पञ्चमहाभूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशोंसे निर्मित अन्तः-करणरूपसे प्रसिद्ध है, तब अधिक मतभेद नहीं रह जाता। प्रयोग पहले या सिद्धान्त, व्यवहार पहले या तथ्य? कोई भी समझ सकता है कि प्रमाणसे ही प्रमेयकी सिद्धि होती है। कभी भी बोधसे ही बोध्यकी सिद्धि होती है। फिर बोध तो वह वस्तु है कि प्रमाण भी उसीसे सिद्ध होता है। इस बोधका प्रागभाव एवं प्रध्वंस समझनेके लिये भी बोध आवश्यक ही है। जड अबोधसे उसका प्रागभाव समझना कठिन ही नहीं असम्भव है। बोधमें सविशेषता लानेके लिये इन्द्रिय-मन आदिका व्यापार आवश्यक होता है। प्रयोगोंसे नियमों एवं सिद्धान्तोंकी जानकारी होती है, निर्माण नहीं होता। किन-किन वस्तुओंमें क्या-क्या गुण हैं, यह हमारी जानकारीसे पहले भी कम-से-कम भौतिकवादीको तो मान्य होना ही चाहिये। इसलिये व्यापार, विजय-यात्राके कारण भौगोलिक स्थितिका ज्ञान होता है निर्माण नहीं। इसी प्रकार पैदावार, उद्योग, लड़ाई और औजारोंने खनिजके ज्ञानमें सहायता की है, परंतु इनके कारण खनिजका निर्माण नहीं हुआ। कृषिके कारण ऋतुओंका ज्ञान भले ही हुआ हो, परंतु ऋतुओंका अस्तित्व कृषिके कारण नहीं हुआ। प्रयोगके आधारपर विद्यमान वस्तुका ही ज्ञान और उपयोग कहा जा सकता है। अग्निकी उष्णता, जलकी शीतलता, वायुकी प्रवहण-शीलता, हमारे प्रयोगके आधारपर नहीं बनी। इस तरह प्रयोग और आवश्यकताके अनुसार गुण-उपयोगिता एवं सिद्धान्तोंका ज्ञान होता है। परंतु गुण-उपयोगिता और सिद्धान्त पहलेसे ही होते हैं। इतना ही क्यों? सभी प्रवृत्तियोंमें संकल्प या ज्ञान हेतु होते हैं। क्रियाओं, अनुभवोंसे जानकारीमें विशेषताएँ होती हैं। ये ज्ञान भी सदा प्रयोगोंके आधारपर नहीं होते। व्यवहारमें देखते हैं कि जो गाँवके किसान खेती करते हैं, उन्हें इतना कृषिविज्ञान नहीं रहता जितना पुस्तकों और प्रयोगशालाओंके द्वारा विद्यार्थियोंको होता है। सदा संग्राम करनेवालोंको भी इतना परिज्ञान नहीं होता जितना एक फील्डमार्शलको, और मजदूरोंको शिल्पका इतना ज्ञान नहीं होता जितना इंजीनियरोंको।

बुद्धिका महत्त्व तो सभीको मान्य होना ही चाहिये। सहस्रों मनुष्य जो काम नहीं कर पाते, वह काम बुद्धिनिर्मित मशीनोंसे सरलतासे हो जाता है।

इसी तरह लाखों वर्षोंकी वृत्तियोंसे भी जो ज्ञान सम्पन्न नहीं होता, वह ज्ञान शान्त-समाहित, योग-शक्तिसम्पन्न मनसे हो जाता है। जैसे बुद्धिनिर्मित दूर-वीक्षण या सूक्ष्मवीक्षणसे दूर-सूक्ष्म वस्तुओंका ज्ञान हो सकता हैं, वैसे ही योग-जन्यशक्तिविशिष्ट मनसे बाह्य प्रयोगके बिना भी अनेक वस्तुओं, उनके गुणों एवं सिद्धान्तोंका ज्ञान हो जाता है। 'जहाँ सूर्यकी किरणें नहीं पहुँचतीं· वहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं और जहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं· उसे हम जान नहीं सकते'—यह कथन योगज-ज्ञानविहीन व्यक्तियोंके लिये ही ठीक है। यह भी रूपवान् वस्तुके ही सम्बन्धमें कहा गया है। शब्द और स्पर्शके सम्बन्धमें सूर्यकिरणें प्रकाश नहीं फैला सकतीं; फिर भी श्रोत्रत्वके द्वारा उनका ज्ञान होता ही है। प्रकृति-परमाणु आदिका ज्ञान अनुमानसे होता है। इन्द्रियों, मन एवं बुद्धिमें सूर्यकी किरणें नहीं पहुँचतीं; फिर भी उनका ज्ञान साक्षीसे होता ही है। रेडियो, टेलीविजनद्वारा इस समय अतिदूरस्थ शब्द एवं रूपका अनुभव किया ही जा रहा है। यह सामान्य इन्द्रियगतिसे भिन्न ही यान्त्रिक शक्तिका चमत्कार है। इसी तरह यौगिक चमत्कार भी है। रसायनशास्त्रके कारण भी जिन-जिन सम्बन्धोंसे जिन-जिन धातुओंमें सुवर्ण बननेकी शक्ति है, उन्हीं धातुओंसे उन्हीं सम्बन्धोंके द्वारा सुवर्णनिष्पत्ति होती है। इसी तरह क्या गणित क्या अन्य विषय—सबमें सिद्धान्त स्थायी ही होते हैं। उनकी जानकारीके लिये ही शिक्षा-प्रयोग आदि अपेक्षित होते हैं।

मार्क्सवादी कहते हैं कि "अनुभव सामाजिक प्रयोगोंका परिणाम तथा जोड़ है। लेनिनके शब्दोंमें अनुभवमें हमारी बुद्धिपर अनिर्भर होकर बुद्धिके विषयोंका आविर्भाव होता है।' मौसमी हवा और सामुद्रिक धाराएँ जीवरूपके आविर्भावके बहुत पहलेसे थीं। मानव-ज्ञान और सामाजिक प्रयोगके आविर्भावके करोड़ों वर्ष पहले ये वर्तमान थीं, लेकिन बहुत दिनोंके समुद्रयात्राकी अनुभवसे ही इन हवाओं और धाराओंका ज्ञान सम्भव हो सका। फिर लेनिनके ही शब्दोंमें वह इसी रूपमें अनन्तकालसे चली आ रही है। युक्तियुक्त बुद्धिका आधार है, मानव-व्यवहार, जो लाखों बार दुहरानेपर संज्ञाके अंदर तर्कज्ञानके रूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। यद्यपि व्यावहारिक आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये ही सिद्धान्तका जन्म होता है। जन्म ग्रहण करनेके बाद एक सीमातक इसका स्वतन्त्र विकास होता है। और जिस व्यावहारिक आधारपर यह उठ खड़ा होता है, उसको प्रभावित, संशोधित और परिवर्धित किये बिना नहीं रहता। इस प्रकार प्रयोग और सिद्धान्त 'विरोधियोंका एकत्व' है जिनके परस्पर प्रभावका कोई अन्त नहीं है—जबतक मनुष्य-जातिका अस्तित्व है, मानव-व्यवहार प्राथमिक है। गेटेके शब्दोंमें—'आरम्भमें था कर्म'- लेकिन चूँकि व्यवहार पूर्णता लाता है, इसलिये प्रयोगका विकास सिद्धान्तको आगे बढ़ाता है और यह पुनः प्रयोगको प्रभावित करता है।

"यहाँपर बुखारिनके यह उद्धरण अनुपयुक्त न होगा—'उद्योग और सिद्धान्त—दोनों ही सामाजिक मनुष्यकी क्रिया है यदि हम 'सिद्धान्तको एक निश्चित प्रणालीके रूपमें और प्रयोगको एक बनी-बनायी वस्तुकी तरह न देखें, बल्कि क्रियाशील-अवस्थामें इनको देखें तो हमें श्रम-क्रियाके दो रूप दिखलायी पड़ेंगे । श्रमका शारीरिक और मानसिक भागोंमें विभाजन सिद्धान्त-प्रयोगका संचित और साररूप है प्रयोग और सिद्धान्तकी परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया और उनकी एकताका विकास प्रयोगकी प्राथमिकताकी बुनियादपर होता है । इतिहासमें व्यावहारिकताके क्षेत्रमें विज्ञानने जन्म ग्रहण किया, विचारोंकी उपज वस्तुओंकी उपजसे ही अपना रूप ग्रहण करती है । सामाजिकताके क्षेत्रमें सामाजिक रहन-सहन सामाजिक चेतनाका मूल है । सम्पूर्ण सामाजिक विकास वस्तु-उत्पादक श्रम-क्रिया-शक्ति-जनित है । मार्क्ससे ही हमें प्रयोगकी प्राथमिकताकी बुनियादपर प्रयोग और सिद्धान्तके समन्वयकी शिक्षा मिलती है । प्रयोग ही सिद्धान्तकी सत्यताका प्रमाण है ।"

परंतु विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि कुछ अनुभव अवश्य प्रयोगोंके परिणाम हों, परंतु सबके सम्बन्धमें ऐसा नहीं कहा जा सकता । बुद्धिके विषय जो भी होंगे वे उसी हालतमें बुद्धिपर अनिर्भर रह सकेंगे, जिनकी स्वतन्त्र सत्ता होगी । बुद्धि या अनुभव प्रमाणकोटिमें आते हैं, जिनपर सभी वस्तुओं-की सिद्धि निर्भर होती है । 'मौसमी हवा और सामुद्रिक धाराएँ जीवरूप एवं मानव-विज्ञान और सामाजिक प्रयोगके करोड़ों वर्ष पहले थीं', यह भी अल्पज्ञ प्राणिकृत कोरी कल्पना ही है । बीज एवं अङ्कुरके समान कर्मों एवं शरीरोंकी अनादि परम्परा है । अनादि जीवको बिना स्वीकृत हुए कर्मों, शरीरों, प्रबोधों, निद्राओं-जन्मों-मरणोंकी परम्पराएँ निराश्रय हो जायँगी । किसी वस्तुका भाव या अभाव सिद्ध करनेके लिये प्रमाण और द्रष्टा तो अपेक्षित होता ही है । अतीत कालका भी बोध होना चाहिये । कालपरिमित वस्तुओंका भी ज्ञान होना चाहिये । अनुमान भी सामाजिक ज्ञानके ही आधारपर चलता है । फिर इसी तरह सामाजिक ज्ञानके ही आधारपर यह भी तो सिद्ध है, जैसे स्वप्न एवं जागरणके पूर्व भी निद्राका प्रबोध होता है । उसी तरह मौसमी हवा और सामुद्रिक धाराकी कौन कहे, आकाश और उससे भी सूक्ष्म अहंकार, उससे भी प्रथम बुद्धि एवं बुद्धिसे पहले समष्टि निद्रारूप अविद्या और उससे भी पहले उसका भासक अखण्ड अनुभव था । विद्यमान वस्तुकी ही अभिव्यक्ति होती है । बालूमें तेलकी तरह अत्यन्त अविद्यमान वस्तुका कभी भी प्रादुर्भाव हो नहीं सकता । लेनिनकी युक्तियुक्त बुद्धिकी विशेषता अन्तःकरणकी वृत्तिसे ही सम्बन्ध रखती है । जैसे विभिन्न काष्ठों, तारों तथा

अनेक उपाधियोंके कारण प्रकट विशिष्ट अग्निके प्रकारोंमें विशेषता आ सकती है। व्यापक मूल अग्निकी सत्तामें इन उपाधियोंके भाव-अभावका कुछ असर नहीं पड़ता। इसी तरह बुद्धिकी विभिन्न अवस्थाओं एवं बाह्य उपाधियोंमें भेद होनेपर भी सर्वं-भासक अखण्ड बोधमें इन बाह्य व्यवहारोंका कुछ भी असर नहीं पड़ता। प्रमाणोंके आधारपर वादिप्रतिवादियोंद्वारा निर्णीत सत्य ही सिद्धान्त होता है। प्रामाणिक निर्णय न तो पुरुषोंकी इच्छापर निर्भर होता है और न आवश्यकताकी अपेक्षा रखता है। अनिष्ट निर्णयकी न तो आवश्यकता ही होती है और न पुरुषकी इच्छा ही वैसी होती है। फिर प्रमाणके द्वारा वस्तुतन्त्रज्ञान होता ही है। हाँ, सिद्धान्तोंको जानकर उनके आधारपर आवश्यकता-पूर्ति होती है। जैसे जल-अग्नि आदिका सामान्यरूपसे प्रयोगसे सिद्धान्त, और सिद्धान्तसे प्रयोगमें प्रगति होती है, परंतु ये बातें आपेक्षिक हैं। सिद्धान्त न तो रबड़छन्दकी तरह घटता-बढ़ता है और न तो गिरगिटकी तरह क्षण-क्षणमें रंग ही बदलता रहता है। कहा जा चुका है कि प्रमाणोंके आधारपर वादि-प्रतिवादिद्वारा सत्यका निर्णय ही सिद्धान्त है। त्रिकालबाध्य सत्य परिवर्तनशील नहीं होता है। अग्नि उष्ण है—यह सिद्धान्त अस्थायी नहीं। उद्योग और सिद्धान्त दोनों ही सामाजिक मनुष्यकी क्रिया है।

बुखारिनका यह कहना भी इसी अंशमें सही है कि जानकारी मानसी क्रिया है। परंतु इससे भी प्रकाशस्वरूप ज्ञानकी नित्यता एवं सिद्धान्तकी स्थिरतामें फरक नहीं पड़ता। हाँ, यह सही है कि जिस वस्तुका ज्ञान अपूर्ण है, उसके सिद्धान्त भी अपूर्ण होंगे। उस सम्बन्धमें जितना ही अधिकाधिक परिचय होगा उतनी जानकारी होगी, उसी ढंगका सिद्धान्त बनेगा। इसमें भी संदेह नहीं है कि प्रयोगमें शारीरिक श्रमकी विशेषता रहती है और सिद्धान्तमें मानसिक श्रमकी विशेषता। फिर भी यह व्यवस्थित नहीं है। कितने ही प्रयोग भी मानसिक ही होते हैं। प्रयोग और सिद्धान्त जबतक अन्तिम रूपसे निश्चित नहीं होते, तबतक उनमें विकास या परिवर्तन होता रहता है। परंतु अन्तिम रूपसे निश्चित हो जानेपर विकास समाप्त हो जाता है। इसीलिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि प्रयोग और सिद्धान्तकी क्रिया-प्रतिक्रिया और उनकी एकताका विकास प्रयोगकी प्राथमिकताकी बुनियादपर होता है; क्योंकि प्रयोग-प्रवृत्ति भी ज्ञानपूर्वक ही हुआ करती है। प्रवृत्तिमात्रकी प्रथम बुनियाद है ज्ञान। अतएव कहा जा सकता है कि सर्वत्र ज्ञानसे ही व्यवहारने जन्म ग्रहण किया है। सर्वव्यवहारहेतु आत्मा या अन्तःकरणका गुण ही ज्ञान कहा जाता है। जैसे हमारे ज्ञानसे घटादि वस्तुएँ उपजती हैं, उसी तरह ईश्वरीय ज्ञानसे आकाशादि वस्तुएँ उपजती हैं। 'जानाति, इच्छति, अथ करोति' यह व्यापक सिद्धान्त है। कोई व्यक्ति जानता है, इच्छा करता है, फिर क्रिया करता है। सामाजिक रहन-सहन सामाजिक चेतनका मूल है, यह भी अर्धसत्य है। सत्य यह है कि रहन-सहन भी विचारमूलक

होते हैं। उनमें उत्तरोत्तर स्पष्टता होती रहती है। शिक्षणपरम्परा या किसी कारणसे अभिव्यक्त विशेष ज्ञान ही सामाजिक चेतनाका मूल है। अतएव श्रम-क्रिया-शक्तिजनित सामाजिक विकास अंशतः मान लेनेपर भी हर क्रियाके मूलमें ज्ञान है। यह न भूलना चाहिये कि क्रिया इच्छाजन्य है, इच्छा ज्ञान-जन्य है, क्रियाजन्य जब इच्छा भी नहीं है, तब इच्छाका भी जनक ज्ञान क्रियाजन्य कैसे होगा ? प्रयोगकी प्राथमिकताकी बुनियादपर प्रयोग और सिद्धान्तके समन्वय-का मार्क्सीय शिक्षाका सिद्धान्त सर्वथा असङ्गत है।

द्वन्द्वन्याय और विकास

मार्क्सवादी कहते हैं कि "जगत् परिवर्तनशील है। विकास परिवर्तनका ही एक प्रकार है। इस परिवर्तनको देखनेके विभिन्न दृष्टिकोण हैं। अतिभौतिकवादी और नैसर्गिकवादीका दृष्टिकोण एक है। और द्वन्द्वात्मक भौतिकवादीका दृष्टिकोण और है। लेनिनकी व्याख्यासे इसपर काफी प्रकाश पड़ता है। विकास विरोधियोंका संघर्ष है। विकासकी दो ऐतिहासिक धाराएँ हैं। पहली विकासवृद्धि और ह्रास तथा दुहरानेके रूपमें और दूसरी विकासविरोधियोंके समन्वित एकत्व तथा परस्परसम्बन्धित रूप-में। पहली धारणा मृत, शुष्क, निःसार है, दूसरी जीवित है। दूसरी धारणाके द्वारा ही हर विद्यमान वस्तुकी स्वयं गति समझी जा सकती है और इसकी कल्पना की जा सकती है कि पुरानेका ध्वंस होकर नयेका आविर्भाव कैसे होता है' (लेनिन—मेटेरियेलिज्म एण्ड इम्पीरियलिज्म—क्रिटिसिज्म)

"विकासकी पहली धारणासे हम मौलिक परिवर्तनको नहीं समझ सकते। इस धारणाके अनुसार परिवर्तनको क्रमपरिवर्तनके रूपमें देखा जाता है। 'परिवर्तित वस्तु भी मुख्यतः मूल वस्तु ही है। मूल वस्तुमें परिवर्तनकी मात्रा अत्यल्प होती है और इन स्वल्प मात्राओंको जोड़कर ही परिवर्तित वस्तु बन जाती है। लेकिन इस प्रकार मौलिक परिवर्तनोंको समझा नहीं जा सकता। उदाहरणोंसे यह सिद्ध है कि प्राकृतिक वस्तुओंकी एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाकी कुदान होती है। प्रकृतिमें क्रान्तिकारी परिवर्तनके उदाहरण मिलते हैं। विकास ही प्रकृतिका एक-मात्र नियम नहीं है, क्रान्तिकारी परिवर्तनका भी उसमें स्थान है। किसी वस्तुके आविर्भाव या तिरोभावकी कल्पना उसके क्रमशः आविर्भाव या तिरोभावकी कल्पना है। लेकिन सत् (अस्तित्व) का परिवर्तन न केवल एक गुणसे दूसरे गुणका परिवर्तन है, बल्कि परिमाणात्मकसे गुणात्मक परिवर्तन है। इस प्रकार एक परिवर्तन घटित होता है, जो एक दृश्यगत घटनाको दूसरीके स्थानापन्न करता है और धारा टूट जाती है, जब प्रवाहकी धारा टूट जाती है, तब विकासके रास्तेमें एक आकस्मिक परिवर्तन घटित होता है। हीगेलने अनेकों दृष्टान्तोंसे

यह प्रमाणित किया है कि 'प्रकृति और इतिहासमें कितनी ही बार आकस्मिक परिवर्तन होते रहते हैं।' साधारण जन-विदित विकासवादके सिद्धान्तके पोलेपनको उन्होंने अच्छी तरह दर्शाया है। हीगेलके शब्दोंमें क्रमविवर्तनकी बुनियादी बात यह है कि जिसका आविर्भाव होता है, वह पहलेसे ही विद्यमान रहता है, केवल सूक्ष्म होनेके कारण अदृश्य रहता है। इसी प्रकार जब हम किसी दृश्यगत घटनाके तिरोभावकी बात करते हैं, तब हम ऐसी कल्पना करते हैं कि जिसका तिरोभाव होता है, वह तिरोहित हो चुका है और पूर्वगत घटनाका जो स्थान लेता है, वह पहलेसे ही विद्यमान है, लेकिन दोनों ही दृष्टिगोचर नहीं होते। परंतु इस प्रकारसे हम आविर्भाव या तिरोभावके सम्पूर्ण ज्ञानको दबा देते हैं। किसी घटनाके आविर्भाव या तिरोभावकी व्याख्या क्रमविवर्तनके द्वारा करना शब्दसम्भारमात्र है और इसका अन्तर्हित अर्थ यह है कि जो वस्तु आविर्भाव या तिरोभावकी प्रक्रियामें है, हम ऐसा समझते हैं कि वह आविर्भूत या तिरोहित हो चुकी है!

'हीगेलने स्वयं इस वस्तुका जो वर्णन दिया है, वह महत्त्वपूर्ण है। लोग परिवर्तनको उसके क्रमकी न्यूनतासे अपनी कल्पनाके अन्तर्गत करना चाहते हैं, लेकिन क्रमिक परिवर्तन नाममात्रका परिवर्तन है और गुणात्मक परिवर्तनके विपरीत है। क्रमिकता दो वास्तविकताके संयोगको, चाहे ये दो अवस्थाएँ हों, चाहे दो स्वतन्त्र वस्तु, दबा देती है। परिवर्तन समझनेके लिये जिनकी आवश्यकता है, उनका अपसरण हो जाता है। संगीतसम्बन्धोंमें परवर्ती स्वर आरम्भके मूलस्वरसे दूर हट जाता है। फिर ऐसा मालूम होता है कि एकाएक वह मूलस्वर लौट आया। यह पिछले स्वरमें जोड़का परिणाम नहीं है, इसका सम्बन्ध दूरके स्वरसे मालूम पड़ता है। सब मृत्यु और जन्म धारावाहिक क्रमिक न होकर इसके विघ्न ही हैं और परिमाणात्मकसे गुणात्मक परिवर्तनकी यह एक कुदान है। साधारण कल्पना जब कि किसी उत्थान या निर्वाणका ख्याल करती है, तब इसे वह क्रमिक उत्थान या निर्वाणके रूपमें देखती है, परंतु अस्तित्वमें परिवर्तन न केवल एक परिमाणसे दूसरे परिमाणका रूपान्तरण है, बल्कि गुणात्मकसे परिमाणात्मक तथा इसके विपरीत रूपान्तरणमें है। यह स्वरसे भिन्न होनेकी एक क्रिया है, जो क्रमकी धारा तोड़ देती है।

''प्रारम्भिक बात यह है कि प्रकृतिको समझनेके लिये इसके इतिहासके अध्ययनकी आवश्यकता है। परिमाणकी दृष्टिसे यह तो निश्चय ही है कि किसी भी मुहूर्तमें विश्व (संसार) वही है, जो पहले था और जो कि भविष्यके संसार-के निर्माणकी क्रियामें है। इसी अनुमानके आधारपर विश्व (संसार) बुद्धिगम्य और व्यवहारयोग्य है। गुणात्मक दृष्टिसे यह समानरूपमें स्वयं सिद्ध है कि किन्हीं दो मुहूर्तोंमें विश्व (संसार) एक-सा नहीं है। यहाँतक हालत डार्विन

की क्रान्तिकारी पुस्तक 'ओरिजन आफ मैन'के प्रकाशित होनेके बाद, साधारण विकासवादकी कल्पनाके अनुरूप ही है। लेकिन यदि इस कल्पनाको व्यवहारोपयोगी बनाना है तो इसे और गहराईतक ले जाना पड़ेगा। विशेषकर इस जानकारीकी आवश्यकता है कि विश्व (संसार) का निरन्तर रूप-परिवर्तन ऊपरी परिवर्तनतक ही सीमित नहीं है, बल्कि इसका बुनियादी संघटन भी उसमें सम्मिलित है और वे गतियाँ भी, जिनके योगकी सम्पूर्णतामें विश्वकी क्रियाशीलता है। इस ज्ञानसे भी इसको समृद्ध करना चाहिये कि विश्वके असीम परिवर्तनमें अपरिवर्तनीयताकी मात्रा कितनी है। विज्ञानमें पुनरावर्तनके दृष्टान्तोंसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है।''

पर ये बातें अविचारितरमणीय हैं। वस्तुतः विकास परिणामका ही एक स्वरूप है। परिणामवादमें सत्कार्यवाद ही मान्य होता है। क्रमपरिवर्तन या प्राकृतिक वस्तुओंकी एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें कुदान अर्थात् क्रान्तिकारी परिवर्तन सब परिणाम ही हैं। बादलोंकी टक्करसे तत्काल दिग्दिगन्तव्यापी महाविद्युत्प्रकाशका विकास, काष्ठसे अग्निका क्रमिक विकास, जलका शीतल होना या बर्फ बन जाना, गर्म होना या भाप बन जाना, कुछ भी परिणामसे भिन्न नहीं है और न तो मूल वस्तुसे अत्यन्त भिन्न किसी वस्त्वन्तरका निर्माण ही होता है। अल्पज्ञ, अल्पायु मानवोंकी दृष्टिमें उत्तरोत्तर नवीन-नवीन वस्तुका ही विकास होता है। परंतु ईश्वर और दीर्घायु, दीर्घज्ञ, दीर्घदर्शी महर्षियोंकी दृष्टिमें वही भूतग्राम पुनः-पुनः उत्पन्न होकर प्रलीन हुआ करता है—'भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।' (गीता ८। १९)। किसी प्रकारका भी परिवर्तन मर्त्यता, शुष्कता एवं निःसारताका ही द्योतक है। जड वस्तु न स्वयं गति है, न सार और न अमृत ही है; बल्कि वह क्रियाशील, विकारी एवं ध्वस्त होनेवाली वस्तु है। जो भी उत्पन्न होनेवाली वस्तु है; उसकी वृद्धि, परिणाम, अपक्षय एवं विनाश ध्रुव है। अविनश्वर तो सर्वकारण, सर्वाधिष्ठान, अखण्डबोधात्मक ब्रह्मात्मा है, जिसे मोहवश मार्क्सवादी भुलानेका प्रयत्न करते हैं। मार्क्सवादी और हीगेल जिसे 'आकस्मिक घटना एवं प्रकृतिकी कुदान या क्रान्ति' कहते हैं, विकासवादी जिसे 'क्रमिक' कहते हैं, दोनोंका ही सांख्यीय परिणामवादमें अन्तर्भाव है। केवल शीघ्रता एवं विलम्बमात्रसे परिणाममें भेद नहीं हो जाता और इस अर्थमें कि अत्यन्त अविद्यमान (बालूमें तेल-जैसी चीज) का कभी भी आविर्भाव नहीं हो सकता, कोई भी आकस्मिक घटना नहीं होती। परंतु एक अल्पज्ञकी दृष्टिमें कई वस्तुएँ आकस्मिक ही प्रतीत होती हैं। जलके बर्फ बन जाने या भाप बन जानेपर स्थूल रूपसे क्रमविच्छेद प्रतीत होने-

पर भी सूक्ष्मक्रम ज्यों-का-त्यों विद्यमान रहता ही है। चाहे जन्म और मरण हो, चाहे परिमाणात्मकसे गुणात्मक परिवर्तन हो, चाहे गुणात्मकसे परिमाणात्मक परिवर्तन हो, मूल वस्तुका अत्यन्त विच्छेद कभी नहीं होता। माता-पिताका सूक्ष्म शुक्रशोणित ही एकत्रित होकर क्रमेण विकसित होकर गर्भावस्था, शैशवावस्था, यौवन एवं वार्धक-अवस्थाको प्राप्त होता है। 'जायते अस्ति वर्धते' आदि षड्विध भावविकारको प्राप्त होते हुए भी मूलतः प्राकृतिक वस्तु ही सब कुछ थी और है। परमार्थ-सत्यदृष्टिसे सब कुछ स्वप्रकाश सत्से अनतिरिक्त ही है। दो अवस्थाएँ या दो स्वतन्त्र अवस्थावाली वस्तुएँ मूल वस्तुसे भिन्न नहीं होतीं, अतः उनका संयोग भी कोई नयी वस्तु नहीं है। रूईसे चाहे कितने भी चमत्कारपूर्ण वस्त्र, मृत्तिकासे कितने ही अच्छे मकान और लोहेसे कितने ही अच्छे यन्त्र बन जायँ, फिर भी क्या ये सब वस्तुएँ चाकचिक्यमात्रसे मूल वस्तुसे भिन्न हो जायँगी? बर्फ बन जानेपर भी क्या जलसे कोई बर्फ स्वतन्त्र वस्तु हो जायगी?

मार्क्सवादियों एवं हीगेलियन लोगोंके वागाडम्बरमात्रसे कार्य कभी कारणसे भिन्न नहीं हो सकता। संगीतके स्वरोंमें भी परस्परभिन्नता और विच्छिन्नता आरोहावरोहसे भिन्न होते हुए भी परिणामीके क्रमिक परिणाममें कोई अन्तर नहीं है। पुष्कर-शतपत्रका तत्क्षणच्छेद यद्यपि अक्रमिक ही प्रतीत होता है, फिर भी वहाँ सूक्ष्म क्रम रहता ही है। निर्वाण या निर्माणमें भी मूल वस्तुसे भिन्नका अस्तित्व नहीं होता। प्रकृतिके पदार्थोंमें एक-सी परिणामधारा नहीं होती। वह धारा कभी सूक्ष्म होती है, कभी स्थूल। सूक्ष्म धाराका स्थूल धाराके रूपमें परिवर्तन ही जन्म कहा जाता है। स्थूल धाराका पुनः सूक्ष्म धारामें परिवर्तन होनेमें ही ध्वंस या मरणका व्यवहार होने लगता है। इसीको 'धारा टूट जाना' कहा जाता है। इसीमें मूल वस्तु भिन्न होनेकी भ्रान्ति होने लगती है। इतिहासका अध्ययन और उससे भी अधिक दर्शनका अध्ययन प्राकृतिक परिणाम समझनेके लिये आवश्यक है। किसी प्रकारके परिवर्तन एवं परिवर्तनशील विश्वके मूलमें एक अपरिवर्तनशील, स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश अखण्डबोध साक्षीका रहना अनिवार्य है, जिसके बिना न क्रमिक परिवर्तन, न आकस्मिक परिवर्तन ही सिद्ध होता है। विश्व एवं उसकी मूलभूत सप्तप्रकृति, विकृति एवं अविकृतिभूत मूलप्रकृति, सबका ही परिवर्तन तत्त्वदर्शियोंद्वारा अनुभूत है। परंतु उससे भी परस्तात् वह स्वयंसिद्ध सत्ता, जिसके बिना सब असत् एवं अप्रकाश, निरात्मक हो जाते हैं, महर्षियोंद्वारा साक्षात्कृत है।

दशम परिच्छेद

मार्क्स और ज्ञान

(मार्क्सीय मन या ज्ञानपर विचार)

(१) मन और शरीर

मोरिस कौर्न फोर्थकी 'दि थ्योरी आफ़ नालेज'में कहा गया है कि— "मन शरीरसे विभाज्य नहीं है। मानसिक क्रियाएँ मस्तिष्ककी क्रियाएँ हैं। मस्तिष्क प्राणीके बाह्य जगत्‌के साथ रहनेवाले जटिलतम सम्बन्धोंका अवयव है। वस्तुओंकी प्रत्ययात्मिका जानकारी (Conscious; awareness) का प्रथम रूप 'सेंसेशन' (Sensation) अनुभूति है, जो प्रतिनियत सहज प्रतिक्रियाओं; 'कण्डीशण्ड रिफ्लेक्सेज़' (Conditioned reflexes) के विकाससे उत्पन्न होता है। अनुभूतियाँ (सेंसेशन) प्राणीके लिये बाह्य-जगत्‌के साथ उसका जो सम्बन्ध है, उसके संकेतोंकी एक पद्धति निर्मित करती हैं। मनुष्यमें एक द्वितीय संकेतपद्धति विकसित हो गयी है—वाणी ! यह काल्पनिक (भावप्रधान) [ऐब्स्ट्रैक्टिंग] और साधारणीकरणके कार्य करती है और इसी वाणीसे सम्पूर्ण उच्चतर मानसिक जीवन बढ़ चलता है, जो कि मनुष्य-प्राणीकी निजी विशेषता है। मानसिक प्रक्रियाओंकी अनिवार्य बात यह है कि उन्हीं गतिविधियोंके भीतर और उन्हींके द्वारा प्राणी अपने चारों ओरके वातावरणके साथ जटिल और विभिन्न सम्बन्ध अनवरत बनाता रहता है। इसलिये प्रत्ययोंकी प्रक्रियाएँ वास्तवमें बाह्य जड (मेटीरियल) सत्यको प्रतिबिम्बित करनेवाली प्रक्रियाएँ हैं। मस्तिष्ककी जीवन-प्रक्रियामें जड (भौतिक) जगत्‌का प्रतिबिम्ब ही 'प्रत्यय' (कौंशसनेस) है।"

आश्चर्य है कि इस विज्ञानके युगमें जब कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वस्तुओंकी खोज हो रही है, तब भी मन-जैसी सूक्ष्मवस्तुको जड स्थूल देहकी ही एक अवस्था माना जाता है। इसपर आगे पर्याप्त विवेचन किया जायगा कि मन दर्शन, श्रवण आदि इन्द्रियजन्य क्रियाओंमें सहकारी सूक्ष्म देहसे भिन्न तत्त्वान्तर है।

'मनुष्यकी मानसिक क्रियाओंका विकास उसके सामाजिक कार्यकलापोंसे उद्भूत होता है। इसकी प्रक्रिया है—दर्शन, प्रेक्षण, अनुभूति, प्रतीति, ज्ञान (Perception) से विचारणा। विचारने एवं बोलनेकी क्षमता उत्पन्न होती है, सामाजिक श्रमकी प्रक्रियासे; जो (सामाजिक श्रम) कि मनुष्यका मूलभूत (आधारभूत) सामाजिक कार्य (प्रवृत्ति) है।''

सामाजिक कार्य-कलापोंका प्रभाव यद्यपि क्रियाओंपर अवश्य पड़ता है, परंतु एतावता प्रकाशस्वरूप बोध, जड, बाह्य वस्तुओं एवं उनकी जड़ क्रियाओंका परिणाम नहीं हो सकता।

''विचारनेमें हम उन प्रारम्भिक धारणाओंसे, जिनके अनुसार साक्षादिन्द्रिय-गम्य वस्तुएँ हैं—प्रारम्भकर कल्पनामयी धारणाओंकी ओर आगे बढ़ते हैं। कल्पनामयी धारणाओंका उद्गम है सामाजिक सम्बन्धोंके विकास तथा बाह्य प्रकृतिसे सम्बद्ध उत्पादनविषयक एवं अन्य प्रवृत्तियोंके विकाससे, जब कि मनुष्योंके अज्ञान तथा असहायता जन्म देती है रहस्यमयी, इन्द्रजालमयी तथा स्वाप्निक, मृगमरीचिकामयी काल्पनिक धारणाओंको। मानसिक श्रम, मास्तिष्किक श्रम (दिमागी मेहनत) का भौतिक श्रमसे विभाजन काल्पनिक धारणाओंसे ही प्रारम्भ होता है और फिर सैद्धान्तिक प्रवृत्तियोंका व्यावहारिक प्रवृत्तियोंसे सम्बन्धविच्छेद होता है; जिसमें कि सिद्धान्तकी सत्यसे दूर उड़ चलनेकी प्रवृत्ति हो जाती है। आदर्शवादी एवं भौतिकवादी दलोंकी विचारपद्धतिके विरोधकी शाखाएँ ही नहीं, स्कन्ध भी यहींसे पृथक् होते हैं।''

वस्तुतः किन्हीं भी प्रवृत्तियोंमें ज्ञान ही मूल होता है। ज्ञानसे ही संघ या समाजका निर्माण होता है। स्थूल बाह्य-जगत्की अपेक्षा मन बहुत सूक्ष्म है। अतः मानसिक ज्ञान-विज्ञान तथा कल्पनामें एक ही भौतिक स्थूल प्रवृत्तियाँ आगे बढ़ी होती हैं, यह स्वाभाविक है। इतना ही क्यों, मन ही तो सबका मूल भी है।

आदर्शवाद

'काल्पनिक धारणाओंका प्रयोग किसी-न-किसी प्रकारकी वस्तुओं अथवा विचार-पद्धतियोंकी सुव्यवस्थित दृष्टियोंके निरूपणमें ही किया जाता है। ये दृष्टियाँ या विचारपद्धतियाँ समाज-विकासकी विभिन्न अवस्थाओंमें विभिन्न

सामाजिक वर्गोंद्वारा आविष्कृत होती हैं । आदर्शविषयक विकास समाजके भौतिक जीवनके विकासपर अवलम्बित है तथा आदर्शादि वर्गविशेषकी रुचियों या स्वार्थोंकी पूर्ति करते हैं । परंतु इसके साथ-ही-साथ यह भी आवश्यक है कि आदर्शवाद ऐसा बनाया जाय कि वह बौद्धिक आवश्यकताओंकी भी पूर्ति कर सके । इसीके परिणामस्वरूप आदर्शवादोंके विकास तथा उनकी आलोचनामें निरन्तर वदतोव्याघात या विरुद्धताएँ रहा करती हैं और इसीलिये उसकी आलोचना भी की जाती है । इसीलिये आदर्शवादोंमें सत्य एवं कल्पना-मृगमरीचिका दोनोंके तत्त्व साथ-साथ रहते हैं ।''

वस्तुतः सूक्ष्मबोधतक बुद्धिके न पहुँचनेके कारण ही भौतिकवादियोंको बहुत-से निगूढ़ तत्त्वोंमें केवल कल्पना ही दृष्टिगोचर होती है । व्यवहारमें उच्च आदर्शोंके अनुसार देह-इन्द्रियादिकी प्रवृत्ति बनानेकी चेष्टा होती है, पर कभी-कभी बाह्य प्रवृत्तियाँ वहाँतक नहीं पहुँच पातीं । उन्हीं उच्च आदर्शोंको भौतिकवादी मृगमरीचिकातुल्य समझने लगते हैं ।

''आदर्शवादी मृगमरीचिकाओं ; स्वप्नोंका उद्गम है समाजके उत्पादन-सम्बन्धोंसे, परंतु वे इस उद्गम या स्रोतसे विदितरूपमें उद्भूत नहीं होतीं, परंतु अविदित या अप्रतिभातरूपमें अनजाने या सहजरूपमें ही उद्गत हो आती हैं । आदर्शवादियोंको यह ज्ञात (पता) तो रहता नहीं कि उनकी इन भ्रान्त स्वाप्निक धारणाओंका वास्तविक मूलस्रोत क्या है; वे सोचते हैं कि 'हमने शुद्ध विचारकी पद्धतिसे इन्हें जन्म दिया ।' और इसलिये आदर्शवादमें प्रतीपन (उलट देने) की प्रक्रियाका आगमन होता है, जिसके द्वारा वास्तविक सामाजिक सम्बन्धोंको काल्पनिक धारणाओंके प्रतिनिधि-रूपमें दिखलाया जाता है । अन्तमें, आदर्शवादी स्वप्न एक वर्गविशेषलक्षित प्रवञ्चनापद्धति (धोखेकी पद्धति) का निर्माण करते हैं ।''

यह भी 'अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते' का ही उदाहरण है । सदा ही आत्मचालित स्थूल-सूक्ष्म देहके समान ही सम्पूर्ण जड-जगत्‌की चेष्टाएँ अध्यात्मनियन्त्रित होती हैं—यही तथ्य है । सुतरां इनकी प्रवृत्तिका निर्धारण भी ज्ञान-विज्ञानके आधारपर ही होता है ।

''आदर्शवादी मृगमरीचिकाओंके ठीक विपरीत, लोग अपने व्यावहारिक प्रत्यक्ष क्रियाकलापों या प्रवृत्तियोंकी शृङ्खलामें सत्यकी खोज करते हैं । ऐसी खोजका प्रथम मूलस्रोत सामाजिक उत्पादनमें निहित है । उत्पादन-विषयकी प्रक्रियासे आविष्कृत धारणाओंसे प्राकृतिक विज्ञान (नेचुरल साइंस) उत्पन्न होते हैं, जो कि उत्पादनसे पृथक्कृत, विशिष्ट

गवेषणाका रूप ग्रहण करते हैं। यह कार्य कुछ विशिष्ट वर्गोंद्वारा किया जाता है और ये वर्ग अपने वर्ग-विशेषके आदर्शोंको विज्ञानोंमें घुसेड़ देते हैं। इसीके साथ सामाजिक विज्ञानोंका विकास होता है, जिसका मूल वर्ग-संघर्षमें प्राप्त अनुभवोंमें होता है और जो सामाजिक मामलोंके सामान्य व्यवस्थापन एवं नियन्त्रणके अन्तका काम देते हैं। परंतु शोषक-वर्गोंके हाथोंमें रहकर सामाजिक विज्ञान कभी भी प्राकृतिक विज्ञानोंके वैज्ञानिक स्तरको नहीं प्राप्त कर सकते।''

मार्क्सवादी सत्यकी खोजमें भी अपने वर्ग-संघर्षको ही घुसेड़नेका प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः सत्यकी खोज प्रमाणोंपर ही निर्भर होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण नेत्र-श्रोत्रादि एवं उनके सहायक सूक्ष्म-दूरवीक्षणयन्त्र काच आदिके द्वारा जैसे सत्यका पता लगता है, वैसा वर्णन करना विज्ञानका काम है। वस्तुस्थिति किसी आवश्यक क्रिया एवं संघर्ष-विशेषसे सम्बन्ध रखनेके लिये बाध्य नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जैसे नेत्रगम्य रूपकी खोज कानसे करनी व्यर्थ है, वैसे अनुमान या आगमगम्य बातोंकी खोज आँख-कानसे करनी व्यर्थ है।

विज्ञान एवं समाजवाद

''बोर्जिआई विज्ञानने जहाँ महान् वैज्ञानिक उन्नतियाँ प्राप्त की हैं, वहीं पूँजीवादी सम्बन्धोंने विज्ञानोंके विकासपर बन्धन (सीमाएँ) लगा दिये। समाजवादके अधीन जहाँ विज्ञानका जनताकी सेवाके लिये विकास किया जाता है, ये बन्धन दूर कर दिये जाते हैं। विशेषतः समाजवादके लिये मजदूर-वर्गके संघर्षके उदयके साथ समाजविज्ञान स्थापित हुआ है। समाजवादी समाजमें पुरानी आदर्शवादी मृगमरीचिकाएँ या स्वप्न नष्टमूल हो जाती हैं और एक विश्वव्यापी वैज्ञानिक आदर्शवाद अस्तित्वमें आने लगता है।''

यदि पूँजीपति अपने स्वार्थ-साधनके लिये विज्ञानका विकास करना चाहते हैं तो मार्क्सवादी भौतिकवादतक ही उसे सीमित रखना चाहते हैं। अपने मतके विरुद्ध तथ्य निकालनेवाले वैज्ञानिकोंको फाँसीतककी सजा रूसमें दी गयी है, अगर सत्यकी खोज विज्ञानका लक्ष्य है, तो भी जैसा भी सत्य हो और जैसे उपलब्ध होता हो, वैसा ही प्रयत्न वैज्ञानिक प्रयत्न है।

सत्य

''सत्यका अर्थ होता है धारणाओं एवं वस्तुगत सच्चाईकी समन्विति। ऐसी समन्विति बहुधा केवल आंशिक एवं प्रायिक (लगभग) ही होती है। हम जिस सत्यताको स्थापित कर सकते हैं, वह सर्वदा सत्यके अन्वेषण एवं अभिव्यञ्जनके हमारे साधनोंपर अवलम्बित रहती है; परंतु इसीके साथ धारणाओं-की सत्यता, यहाँके अर्थमें आपेक्षिक ही सही, उन वस्तुगत तथ्योंपर आधारित रहती है जिनके साथ धारणाओंकी समन्विति है। हम कभी भी सम्पूर्ण, समग्र विशुद्ध सत्यताको प्राप्त कर ही नहीं सकते, परंतु सदा उस ओर बढ़ते जा रहे हैं।''

ठीक है, जिसके मतमें मनुष्य एवं उसका ज्ञान-विज्ञान सब जडभूतका ही परिणाम है और अभी विकास ही हो रहा है, वह परम सत्यके सम्बन्धमें इससे अधिक कह ही क्या सकता है ? परंतु अध्यात्मवादी इससे सहमत नहीं होता; क्योंकि वह तो सर्वदा सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे विश्वका निर्माण मानता है। उसीके द्वारा विश्वका निर्धारण एवं संचालन होता है । उस दृष्टिसे सत्य त्रिकालाबाध्य है, पर मार्क्सवादी किसी भी सर्वसम्मत तर्क या सिद्धान्त तथा सत्यको नहीं मानते; इसलिये सब सत्योंको भी अपूर्ण ही कहते हैं ।

ज्ञानका मूल

"ज्ञान वस्तुगत सत्यताकी यथासम्भव निर्दुष्ट प्रतिच्छायाओंके रूपमें प्रतिष्ठापित एवं परीक्षित मान्यताओं, दृष्टियों एवं प्रस्तावनाओंका योग है। यह निश्चितरूपसे एक सामाजिक उपज है, जिसकी जड़ें सामाजिक व्यवहारोंमें हैं; जिन्हें व्यावहारिक आशाओं एवं अपेक्षाओंकी पूर्तिद्वारा परीक्षित एवं संशोधित कर लिया जाता है । सभी ज्ञानोंका प्रारम्भ उन इन्द्रियानुभूतियोंमें निहित है, जिनकी विश्वसनीयता मनुष्यके व्यवहारोंमें सिद्ध है । ज्ञान कभी भी सम्पूर्ण या अन्तिम नहीं हो सकता, परंतु उसका सर्वदा विस्तृत एवं आलोचित होते रहना आवश्यक है।"

वस्तुतः नित्य ज्ञान ही सबका मूल है, उसका मूल कोई नहीं। अनित्य-ज्ञान विषयों एवं इन्द्रियोंके संनिकर्षसे अन्तःकरण-वृत्तिरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। वह भी ज्ञान तभी बनता है, जब उसमें नित्य-बोधका प्रतिबिम्ब पड़ता है। सामान्यतया क्रियाएँ ज्ञानके प्रतिफल भले ही हों, परंतु ज्ञान क्रियाओंका फल नहीं हो सकता। जड वायु, जल एवं अग्निमें अनेक प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं, उन्हें अन्तर्यामी चेतनसे प्रेरित तो कहा जा सकता है, परंतु उन क्रियाओंके द्वारा उनमें कोई ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। 'ज्ञायते अनेनेति ज्ञानम्' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञान शब्दका अन्तःकरण-वृत्ति अर्थ है। परंतु 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' इस व्युत्पत्तिसे स्फुरणमात्र ही ज्ञानपदार्थ है । ज्ञानमें क्रिया और स्फुरण दो अंश हैं। जानातिके 'तिङ्'का अर्थ चिदाभास है, धात्वर्थ क्रिया है। दोनोंको मिलाकर ही 'जानाति'का व्यवहार होता है । चैतन्य प्रतिबिम्बयुक्त बुद्धिकी घटादिवृत्ति चैतन्यसे व्याप्त होती है; इसीलिये बुद्धिवृत्तिमें ही ज्ञानकी भ्रान्ति होती है। आरोपित सर्वदृश्यका भासक होनेसे ब्रह्ममें ही ज्ञानता मुख्य है। प्रत्ययकारिता बुद्धिके साक्षीमें अध्यस्त होनेसे साक्षीमें भी भासकत्वकी कल्पना होती है, वस्तुतः है वह भानस्वरूप ही। बुद्धिकर्तृक सभी प्रत्यय चैतन्यखचित ही उत्पन्न होते हैं, इसी आधारपर 'ज्ञानं क्रियते' (ज्ञान किया जाता है) यह व्यवहार होता है। जैसे बुद्धिके पहले अनवच्छिन्नबोध कूटस्थ है, वैसे ही बुद्धि उत्पन्न होनेपर भी वह बोध निष्क्रिय

ही रहता है; इसीलिये श्रुतियाँ द्रष्टाकी स्वरूपभूता दृष्टिका सर्वथा अविपरिलोप ही बतलाती हैं—

न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते। (बृहदारण्यकोपनिषद् ४। ३। २३)

आलोचन-संकल्प-अभिमानादिकरण व्यापार बुद्धिमें उपसंक्रान्त होकर बुद्धिके अध्यवसायरूप व्यापारके साथ उसी तरह एक व्यापारवान् हो जाते हैं, जैसे अपनी सेनाके साथ ग्रामाध्यक्षादिकी सेना सर्वाध्यक्षकी ही हो जाती है।

वेदान्त-मतानुसार सूक्ष्म पञ्चभूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशोंसे मन या अन्तःकरण उत्पन्न होता है। व्यष्टि सात्त्विक अंशोंसे श्रोत्रादि पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ-उत्पन्न होती हैं और चित्त, अहंकार, बुद्धि सब उसी मन या अन्तःकरणकी ही वृत्तियाँ हैं, जैसे लोहपिण्डमें स्वतः दाहकत्व न होनेपर भी वह्निके साथ तादात्म्यसम्बन्ध होनेसे लोहपिण्डमें दाहकत्व होता है, उसी तरह भौतिक अन्तः-करण यद्यपि जड है, उसमें प्रकाशकत्व नहीं है, फिर भी स्वप्रकाश आत्मचैतन्यके तादात्म्याध्यास-सम्बन्धसे उसमें भी चैतन्यका उपलम्भ होने लगता है। स्वप्रकाश अखण्डबोध आत्मा ही मुख्य-ज्ञान है, उसीके प्रकाशसे मन अन्तःकरण आदिमें भी प्रकाश व्यक्त होता है। अनन्त आकाशस्वरूप बोधात्मक ब्रह्म ही उपाधिभेदसे विभिन्न ज्ञानोंके रूपमें भासित होता है, जैसे घटादि उपाधि-भेदसे घटाकाश आदिका भेद प्रतीत होता है। जहाँ विषयावच्छिन्न चैतन्यका प्रमातृचैतन्यके साथ अभेद होता है, वहाँ अपरोक्ष-ज्ञान होता है। जहाँ प्रमातृचैतन्यसे विषयचैतन्यका भेद विद्यमान रहता है, वहाँ प्रमाणके बलसे केवल परोक्ष-ज्ञान होता है। इसलिये अनुव्यवसायको विशिष्ट विषय बनानेके लिये सामान्य-विशेषविषयक ही इन्द्रियोंको मानना चाहिये। 'योगभाष्यकार'का भी यही कहना है—

न च तत्सामान्यमात्रग्रहणाकारम्, कथमनालोचितः, विषयविशेष इन्द्रियेण मनसानुव्यवसीयेत। (योगभाष्य ३। ४७)

कुछ लोग कहते हैं आलोचन-ज्ञान सामान्यज्ञान-विषयको ग्रहण करता है; किंतु मन विशिष्टविषयको ग्रहण करता है। परंतु यह ठीक नहीं, वस्तुतः इन्द्रिय-जन्य आलोचन अविविक्त सामान्यविशेषको ग्रहण करता और अनुव्यवसाय-ज्ञान विविक्त सामान्यविशेषको ही ग्रहण करता है इसीलिये 'योगवार्तिक'में कहा गया है—

निर्विकल्पकबोधेऽपि द्व्यात्मकस्यापि वस्तुनः।
ग्रहणं लक्षणाख्येयं ज्ञात्रा शुद्धं तु गृह्यते॥

निर्विकल्पकज्ञान सामान्यमात्रको ही नहीं ग्रहण करता; क्योंकि उसमें विशेष-का भी प्रतिभास होता है। इसी तरह विशेषमात्रका ही ग्रहण होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमें सामान्याकारका भी भान होता है, किंतु सामान्य-विशेष—दोनोंहीका ग्रहण करता है, परंतु 'यह सामान्य है, यह विशेष' इस तरह विवेचन-

पूर्वक ग्रहण नहीं होता है; क्योंकि कालान्तरका अनुसंधान नहीं होता। जैसे ग्रामाध्यक्ष कुटुम्बियोंसे कर लेकर विषयाध्यक्षको अर्पण करता है, विषयाध्यक्ष सर्वाध्यक्षको, सर्वाध्यक्ष भूपतिको कर समर्पण करता है; इसी तरह बाह्येन्द्रिय विषयोंका आलोचन करके मनको अर्पण करती है, मन संकल्प करके अहंकारको अर्पण करता है, अहंकार उसका अभिमान करके अर्थात् संवेदन और स्मृतियोंके समूहको आत्मीयत्वेन ग्रहण करके अर्थात् बाह्येन्द्रियोपलब्ध क्षणिक संवेदन एवं स्मृतियोंको संग्रथित करके सर्वाध्यक्षभूता बुद्धिको समर्पण करता है; इस तरह सभी करण बुद्धिमें अर्थ समर्पण करके पुरुषको अर्थ-प्रकाश कराते हैं।

विकास

"ज्ञान, जब हम वस्तुओंके साथ सक्रिय सम्बन्धोंमें आते हैं, तब प्राप्त होता है और प्रतीतिसे निर्णयकी ओर विकसित होता है। ज्ञानका विकास प्रत्ययात्मकसे उपपत्त्यात्मक (युक्तिपूर्ण सिद्धि) तक, वस्तुओंके रूप-रङ्ग आदिके केवल बहिरङ्ग (ऊपरी-ऊपरी) निर्णयोंसे उनके आवश्यक गुण-धर्मों, पारस्परिक संयोगों तथा नियमोंके विषयमें तर्कपूर्ण निष्कर्षोंतकके मार्गपर होता है। इस प्रकार हम बाह्य (वस्तुमय) संसारका उत्तरोत्तर अधिक पूर्ण एवं गम्भीर ज्ञान प्राप्त करते चलते हैं। प्रत्येक अवस्थामें हमारा ज्ञान सीमित है। पर वह इन सीमाओंको जीतता हुआ प्रगति कर रहा है, करता जा रहा है।"

बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञानोंका विकास ही नहीं, किंतु ह्रास भी होता है। कोई प्राणी ज्ञान-साधनोंसे ज्ञानार्जन, ज्ञान-विकास करता है, किंतु प्रमादसे वह उत्पन्न ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। आजके पुरातत्त्ववेत्ता तो यह भी कहते हैं—'प्रथम ज्ञान अत्यन्त विकसित था, परंतु अब वह संकुचित हो गया है।' पर वेदों, पुराणों, भारतादि ग्रन्थोंको पढ़नेसे मालूम होगा कि आज पहलेकी अपेक्षा सभी क्षेत्रोंमें ज्ञानका संकोच हो गया है। नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा तो चित् नित्य स्वप्रकाश ही है। उसके विकासका प्रश्न ही नहीं उठता।

आवश्यकता एवं स्वतन्त्रता

"युक्तिपूर्ण या उपपत्त्यात्मक ज्ञान वस्तुओंकी 'आवश्यकताओं'का उद्घाटन करता है और यह भी बतलाता है कि आवश्यकका महत्त्व सर्वदा काकतालीय (ऐक्सिडेण्टल) से ही विदित होता है। ज्ञानकी प्राप्ति (Acquisition) से हमें स्वतन्त्रता मिलती है, जो आवश्यकता-के ज्ञानपर आधारित आत्मनियन्त्रण एवं बाह्यप्रकृति-नियन्त्रणके ही रूपमें हैं। हमं उस समय स्वतन्त्र हैं, जब ज्ञानके आधारपर निश्चित करते हैं कि 'क्या करें' और अपने उद्देश्यकी पूर्त्तिको प्रभावित करनेवाले विदित विषयोंपर जान-बूझकर नियन्त्रण करनेका प्रयत्न करते हैं।"

भौतिक, औपपत्तिक, आगमिक, आनुमानिक, प्रत्यक्षात्मक, संशयात्मक या विपर्ययात्मक—ये सभी ज्ञान बुद्धि अथवा मनके तत्तत्साधनोंसे होनेवाले परिणामविशेष हैं। इन सभीमें स्फुरण, स्फूर्त्ति या बोध समानरूपसे होता है। ज्ञानके अनुसार क्रिया होती है, ज्ञानसे भ्रमात्मक बन्धन भी कटते हैं तभी स्वतन्त्रता मिलती है। वैसे पूर्ण स्वतन्त्रता तो नित्य ज्ञानसे ही होती है। आवश्यकताकी प्रतीतिके साथ असाधारण सम्बन्ध रहता है। आत्मनियन्त्रण या बाह्य प्रकृतिपर नियन्त्रण स्वतन्त्रताकी मंजिल है, सम्पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं। अन्योंपर नियन्त्रण शासन कहलाता है, आत्मगत स्वतन्त्र नियन्त्रणादि ही स्वतन्त्रता है। यह भौतिकवादीके लिये आकाशकुसुम-तुल्य ही है।

स्वतन्त्रताका अवबोध

मार्क्सवादी कहते हैं कि "जनता जन्मतः ही स्वतन्त्र नहीं उत्पन्न होती, परंतु शनैः-शनैः स्वतन्त्रता उपार्जित कर लेती है। स्वतन्त्रता प्रकृतिपर प्रभुत्व प्राप्त करनेके लिये किये जानेवाले संघर्ष एवं वर्गसंघर्षद्वारा उपार्जित एवं विकसित की जाती है। समाजमें विभिन्न वर्गोंद्वारा वस्तुतः उपार्जित एवं अधिकृत स्वतन्त्रता एवं उस स्वतन्त्रताके बन्धन तत्तद्वर्गोंकी स्थिति एवं उद्देश्योंके अनुसार स्थूलतः एवं स्पष्टतः विभिन्न होते हैं। साररूपमें, स्वतन्त्रताका संघर्ष जनताका अपनी निजी आवश्यकताओंकी पूर्त्ति या संतुष्टि करनेमें समर्थ हो जानेका संघर्ष है। मनुष्यजाति पशुस्थितिसे उठकर स्वतन्त्रताके अवबोधकी उस राजमार्गपर अनवरत गतिसे प्रगति कर रही है जो कि वर्गवादी समाजकी ओर ले जाता है। स्वतन्त्रताके विकासकी सीढ़ियाँ नैतिकता (चरित्र या सदाचार) के विकासकी भी सीढ़ियाँ हैं।"

पर स्वतन्त्रताका अवबोध भौतिकवादमें सम्भव ही नहीं। मनुष्य स्वतन्त्रताका उपार्जन करता है, फिर भी प्रभुत्व प्राप्त करना चाहता है, शासन-शक्ति प्राप्त करना चाहता है। पराधीनताराहित्य ही स्वतन्त्रता है। यह देहधारी पराधीन जीवके लिये सापेक्ष ही होती है। यों तो बकरीके गलेसे रस्सी खुल जानेपर बकरी भी स्वतन्त्र कही जा सकती है। परंतु यह स्वतन्त्रता कितनी है? बहुत छोटी-सी मंजिल है। वस्तुतः देह-इन्द्रिय-मन-बुद्धि आदि कार्यकारण-संघटन-सम्पर्कजनित आत्मनिष्ठ पारतन्त्र्यकी निवृत्ति ही स्वतन्त्रता है। तदर्थ ही विविध क्रियाओं एवं ज्ञानोंकी आवश्यकता होती है। आत्मा नित्य अखण्ड बोधरूप है। उसमें ही अनात्माका अध्यास एवं तन्मूलक ही भ्रमात्मक बन्धन होता है। क्रियाओं, ज्ञानों एवं अन्तिम परम तत्त्व-विज्ञानसे इस बन्धनकी पूर्णतया निवृत्ति होती है, उसे ही मोक्ष कहा जाता है। उसके पहले भी जिसमें जितना अधिकाधिक ज्ञान-क्रिया-शक्ति व्यक्त होती है, उतनी ही उसमें स्वतन्त्रता एवं

शासनशक्ति व्यक्त होती है। संघर्ष जब विजयका जनक होता है, तब स्वतन्त्रता एवं शासन-शक्तिका कारण बनता है। जब पराजयका कारण होता है, तब परतन्त्रताका भी कारण होता है। मार्क्सवादका 'वर्गसंघर्ष' तो काकतालीयन्यायसे कहीं ही स्वतन्त्रताका कारण हो सकता है। अन्यथा तो अनर्थका ही कारण होता है, वस्तुतः वर्गसंघर्ष मिटाकर वर्गप्रेम फैलाकर एक वर्गको दूसरे वर्गका पोषक बनानेसे ही अधिकांशमें अनर्थ-निवृत्ति एवं स्वतन्त्रता-प्राप्ति होती है। समन्वय-सामञ्जस्यकी स्थापनासे ही निराकुल समाज स्वधर्मनिष्ठा तथा उपासनाके द्वारा मनकी एकाग्रताका सम्पादन करके श्रवण-मनन-निदिध्यासन-क्रमसे परम तत्त्वका साक्षात्कार करके सर्वबन्धनविमुक्त होकर पूर्ण स्वतन्त्रता भी प्राप्त कर सकता है। आवश्यकताओंकी पूर्त्ति एवं संतुष्टि भी विचार एवं संयमसे ही हो सकती है, केवल संघर्षसे नहीं। जैसे घृतकी आहुतिसे अग्निका प्रज्वलन बढ़ता ही जाता है, उसी तरह वस्तुओंकी प्राप्ति एवं संघर्षसे भी उत्तरोत्तर असंतुष्टि बढ़ती जाती है। तृष्णा—कामनाका कभी अन्त नहीं होता। 'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई' के अनुसार जैसे-जैसे लाभ बढ़ता है, वैसे-वैसे तृष्णा भी बढ़ती है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(मनु० २। ९४; विष्णुपु० ४। १०। २३; लिङ्गपु० ६७। १७; महा० १। ७५।५७)

अभीष्ट पदार्थोंके उपभोगसे काम कभी भी प्रशान्त नहीं होता; किंतु घृताहुतिसे अग्नि-ज्वालाके समान वह उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। रामराज्यके अनुसार संघर्षके स्थानपर समन्वय अपनानेसे ही सर्वत्र सुख-शान्ति सम्भव होती है—

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥

भारतीय दर्शनमें ज्ञान-सिद्धान्त

'कांटके भी अनुभव और ज्ञान—दोनोंका भेद सिद्ध नहीं हो सकता। भारतीय दर्शनोंके अनुसार अनुभवके ही भ्रम और प्रमा—ये दो भेद होते हैं। उसे ही ज्ञान भी कहते हैं। 'सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धिर्ज्ञानम्' अर्थात् आहार-विहार, शब्द-प्रयोगादि सभी व्यवहारोंका असाधारण कारण गुण ही बुद्धि है, वही ज्ञान भी है। ज्ञानके विना कोई भी व्यवहार नहीं बन सकता, यह स्पष्ट ही है। शब्द—वाक्यादि प्रयोग भी बिना ज्ञानके नहीं बनता। घटादिका दण्डादि कारण सर्वव्यवहारका कारण नहीं है। कालादि सर्वकारण होते हुए भी असाधारण कारण नहीं है। इसीलिये बुद्धि या ज्ञानका यह लक्षण दण्डादि एवं कालादिमें अतिव्याप्त नहीं है। वह बुद्धि या ज्ञान दो प्रकारका है—एक स्मृति और दूसरा अनुभव। इनमें संस्कारमात्र-जन्य ज्ञान 'स्मृति' कही जाती है और स्मृतिभिन्न ज्ञान अनुभव है। अनुभव भी

यथार्थ एवं अयथार्थ—इस तरह दो प्रकारका होता है। तद्वान्में तत्प्रकारक ज्ञान 'यथार्थ' ज्ञान है। जैसे रजतमें रजतज्ञान और अतद्वान्में तत्प्रकारक ज्ञान 'अयथार्थ' है। जैसे शुक्तिमें रजत-ज्ञान यथार्थानुभव या प्रमा, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्दादि-भेदसे अनेक मतोंके अनुसार अनेक प्रकारका होता है। यथार्थानुभव या प्रमाके व्यापारवान् असाधारण कारणोंको 'प्रमाण' कहा जाता है। अयथार्थानुभव भी संशय, विपर्यय एवं तर्कभेदसे तीन प्रकारका होता है—एक धर्मीमें विरुद्ध नानाधर्म-वैशिष्ट्यबोधक ज्ञान 'संशय' है, जैसे कि 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' अर्थात् वह स्थाणु है या पुरुष। मिथ्याज्ञान 'विपर्यय' है, जैसे कि शुक्तिमें रजत-ज्ञान। व्याप्यके आरोपसे व्यापकका आरोप तर्क है, जैसे कि यदि वह्नि न होगा तो धूम भी नहीं होगा। यहाँ वह्निके अभावरूप व्याप्यके आरोपसे धूमाभावरूप व्यापकका आरोप किया जाता है। स्मृति भी प्रमाजन्य यथार्थ और अप्रमाजन्य अयथार्थ होती है।

सांख्यमतानुसार प्रकृतिका परिणाम बुद्धि स्वतन्त्र पदार्थ है। महत्तत्त्व या बुद्धि अव्यक्ततत्त्वसे उत्पन्न होती है। महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धिसे अहंकारकी उत्पत्ति होती है, बुद्धिद्वारा अध्यवसित निश्चित विषयमें 'मैं अधिकृत हूँ' इस प्रकारका अभिमान करनेवाला अहंकार है। उसी तरह अहंकारसे मन उत्पन्न होता है। इन्द्रियके द्वारा सम्बुद्धाकार पदार्थका संकल्प-विकल्प करना मनका काम है। पहले आलोचनात्मक ज्ञान होता है, उसके बाद सविकल्प ज्ञान होता है। इन्द्रियोंके द्वारा मनोव्यापारके पहले प्रतिपत्ताको प्रथम अविकल्पित वस्तुमात्रका ही ग्रहण होता है। उस समय सामान्य-विशेषरूपसे अनाकलित और अविविक्त विषयका ही ग्रहण होता है। प्रतिपत्ता मनके व्यापारसे फिर सामान्य-विशेषरूपसे वस्तुकी विकल्पना करता है। यह सांख्यों तथा भट्टपाद कुमारिल आदिकोंको सम्मत है। 'प्रथमं सविकल्पकप्रत्ययात् पुरा यद्वस्तुमात्रगोचरं बालमूकादिविज्ञान-समानं निर्विकल्पज्ञानमस्ति, तत्प्रतीति सिद्धमालोचनात्मकं ज्ञानमभ्युपेयम्, तदभावे सविकल्पकज्ञानानुपपत्तेः।' निर्विकल्पक ज्ञानके उपरान्त बुद्धिके द्वारा नीलत्व घटत्वादिरूपसे विविक्त होकर जो गृहीत होती है, वही सविकल्पक ज्ञान है। एतावता केवल इन्द्रियसे उत्पन्न ज्ञान निर्विकल्पक एवं इन्द्रियसहकृत मनसे उत्पन्न ज्ञान सविकल्पकज्ञान है।

प्रभाकरके मतानुसार स्वप्रकाशज्ञान विषयरूपसे घटादिका प्रकाश करता है और आश्रयत्वेन आत्माका प्रकाशक होता है। अतः 'अहं जानामि' इस अंशमें अहं रूपसे आत्मा ही भासमान होता है। 'अहं' यह अनात्मा नहीं है। कहा जाता है कि "जैसे 'अयो दहति' (लोहपिण्ड दहन करता है) यहाँ वस्तुतः लोहपिण्डमें जैसे स्वतः दाहकत्व नहीं होता, वैसे ही 'अहं' में भी स्वतः ज्ञातृत्व नहीं हो सकता।" परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि शीतल लोहपिण्ड और दीप-ज्वालात्मक

दग्धा—दोनों जिस प्रकार विविक्तरूपसे उपलब्ध होते हैं, उस प्रकार अहंकार और ज्ञाताका कहीं भी विवेकेन उपलम्भ नहीं हो सकता। इसलिये आत्मा अहंकारास्पद है। वही संवित्का आश्रय होनेसे अपरोक्ष है। सांख्यवादी जड अन्तःकरणमें चित् प्रतिबिम्बको देखकर उसके कारणभूत तादृशबिम्बकी कल्पना वैसे ही करते हैं, जैसे दर्पणस्थ प्रतिबिम्बके आधारपर मुखका अनुमान किया जाता है। परंतु इन पक्षोंमें यदि आत्मा नित्यानुमेय है तो अपरोक्षावभास विरुद्ध है। नैयायिक आत्माको मानस प्रत्यक्षका विषय मानते हैं। मनका अन्वय-व्यतिरेक विषयानुभवसे ही गतार्थ हो जाता है। वस्तुतः विषयानुभवके आश्रयरूपसे जब आत्माकी सिद्धि हो सकती है, तब पृथक् आत्म-विषयक ज्ञान मानना व्यर्थ ही है।

भट्टपादके मतानुसार आत्मा प्रत्यक्ष होनेसे घटवत् ज्ञानका विषय है। एकहीमें कर्म-कर्तृविरोध होता है। परंतु यहाँ तो द्रव्यांशमें प्रमेयता और बोधांशमें प्रमातृता है। उसमें भी प्रमेय-अंशमें प्रधानता और प्रमाता-अंशमें अप्रधानता रहती है। प्रभाकर इस पक्षका भी विरोध करते हैं। उनके मतानुसार अचेतन द्रव्यांशको आत्मा नहीं कहा जा सकता। यदि बोधांशको ही कर्म कहा जाय तो कर्म-कर्तृविरोध होगा। बोध समकालमें ही प्रमेयरूपसे और प्रमातारूपसे परिणत हो नहीं सकता; क्योंकि वह नित्य है। यदि प्रधान आदिके समान वह परिणत हो, तो भी प्रमातृभागके स्वप्रकाश होनेसे संवित्के आश्रयरूपसे वह प्रतीत न हो सकेगा। ऐसी स्थितिमें अपसिद्धान्त भी होगा। विषयरूपसे प्रतीत होनेपर घटादिके समान प्रमातामें भी अनात्मताकी प्रसक्ति होगी। इसलिये संवित् आश्रयरूपसे ही आत्माका एवं संवित्के विषयरूपसे घटादिका प्रत्यक्ष मानना चाहिये। प्रमिति स्वसत्तामें कभी भी अवेद्य होकर नहीं रहती।

उपर्युक्त प्रकारसे प्रभाकरका ज्ञान या संवित् स्वप्रकाश है। भट्टपादके अनुसार विषय प्राकट्यरूप ही बोध उत्पन्न होता है। बौद्धोंका क्षणिक विज्ञान स्वतन्त्र है। उनमें सौत्रान्तिक ज्ञानमें विषयप्रतिबिम्ब देखकर उसके आधारपर और प्रतिबिम्ब बिम्बपूर्वक होता है, इस आधारपर ज्ञाननिष्ठ विषयप्रतिबिम्बके बलपर बिम्बरूप सत्य-विषयका अनुमान करते हैं। विज्ञानवादी 'विज्ञानरूप ही विषय है', यह मानकर विषयोंकी अपरोक्षता मानते हैं। नैयायिकलोग मनःसंयुक्त आत्मामें प्रमितिरूप ज्ञानकी उत्पत्ति कहते हैं। वे ज्ञानविषयक ज्ञान मानते हैं। 'अयं घटः' यह ज्ञान व्यवसायात्मक होता है और 'ज्ञातो मया घटः' अथवा 'घटमहं जानामि' इस आकारका ज्ञान अनुव्यवसायात्मक कहा जाता है। उत्तरोत्तर ज्ञानोंसे पूर्व-पूर्व-ज्ञानोंका प्रामाण्य भी कहा जाता है। परंतु इस स्थितिमें पूर्व पूर्व ज्ञानोंका अज्ञान भी मानना पड़ेगा; तभी अज्ञान-निवर्तकरूपसे उत्तरोत्तर ज्ञानोंकी सार्थकता हो सकती

है। कोई भी प्रतीति स्वसत्ताकालमें प्रकाशहीन नहीं होती, अतएव घटादिके तुल्य उसे अवेद्य नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोगोंका कहना है कि 'जैसे घटादिरूप वेद्य होता है, वैसे ही प्रमाण-रूप आत्मव्यापारसे जायमान घटादिनिष्ठ प्राकट्य भी वेद्य हो सकता है।' यहाँ भी प्रश्न होता है कि 'वह आत्मव्यापार क्या है, परिस्पन्द या परिणाम?' प्रथम पक्ष इसलिये मान्य नहीं कि सर्वगत आत्मामें परिस्पन्द नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि मृत्तिकाका परिणामभूत घट जैसे मृत्तिकामें ही रहता है, वैसे ही आत्म-परिणामभूत ज्ञान आत्मामें ही रहना चाहिये, उसकी विषय-निष्ठता नहीं हो सकती। कहा जाता है कि 'बालोंके पकने (श्वेत होने) रूप परिणामसे जैसे शरीरमें वार्धक्य होता है, वैसे ही आत्मपरिणामसे विषयमें ज्ञानका प्राकट्य होता है।' इसपर भी विचारणीय यह है कि 'प्राकट्यका जो आश्रय है वह चेतन है या प्राकट्यका जो जनक है, वह चेतन है, अथवा प्राकट्यजनक ज्ञानाख्य व्यापारका आधार ही चेतन है?' यदि पहला पक्ष है, तब दो घटादि विषयको चेतन होना चाहिये; क्योंकि विषय ही प्राकट्यका आश्रय है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि चक्षुरादि भी प्राकट्यके जनक हैं; अतः वे ही चेतन कहे जायँगे। तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'भोजनक्रियाजन्य तृप्ति-फल-सम्बन्धी देवदत्तके समान आत्मा ज्ञानक्रियाजन्य-फल-सम्बन्धी होनेसे ज्ञानक्रियावान् है', इत्यादि अनुमानके आधारपर आत्माकी ज्ञाना-धारताका अनुमान करना पड़ेगा। परंतु आत्मामें फल-सम्बन्धका अभाव होनेसे हेतु असिद्ध है; क्योंकि प्राकट्यरूप फल विषयमें ही रहता है, आत्मामें नहीं। अतएव तार्किकों और भाट्टोंका मत ग्रहण न करके प्रमातृव्यापारप्रमाण एवं प्रमाणफल-प्रमितिको स्वप्रकाश ही मानना' उचित है। बौद्ध संवेदन (अनुभव) को ही प्रमाण और उसे ही प्रमाणफल मानते हैं। परंतु इस पक्षमें वही प्रमाण और वही प्रमाणफल होनेसे कर्म-कर्तृ-विरोध स्पष्ट ही है।

कहा जाता है कि 'यद्यपि प्रमाता आत्माका कोई व्यापार नहीं है, तथापि आत्मा, मन, चक्षु एवं विषयोंका संनिकर्ष ही प्रमाणरूप होकर प्रमातृव्यापार-रूपसे उपचरित होता है। प्रमाणफल तो अव्यभिचरितरूपसे प्रमिति ही है। हान, उपादान, उपेक्षा व्यभिचरित होनेवाले हैं, अतः उन्हें प्रमाणफल नहीं कहा जा सकता।' इस तरह प्रभाकरका मत है कि 'स्वप्रकाश विषयसंवेदनके आश्रयरूपसे प्रदीपाश्रय-वर्त्तिकाके तुल्य प्रकाशमान अहंकार आत्मा है, दृग्दृश्यका अन्योन्या-ध्यासरूप अहंकार नहीं।' परंतु वेदान्ती आत्माको अनुभवरूप ही मानते हैं। यहाँ विचारणीय यह है कि 'क्या आत्मा ही चित्प्रकाश है अथवा आत्मा और अनुभव—दोनों ही चित्प्रकाश हैं, अथवा केवल अनुभव ही चित्प्रकाश है और आत्मा जड ही है?' यदि आत्मा ही चित्प्रकाश है, तो 'क्या अनुभव चक्षुरादिके तुल्य

स्वयं अप्रकाशित रहकर ही विश्वको प्रकाशित करेगा या आलोकादिके तुल्य सजातीय प्रकाशान्तर-निरपेक्ष प्रकाशमान होकर विषयका प्रकाशक होगा ?' पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि चक्षु तो स्वातिरिक्त अनुभवका जनक होता है। इस तरह अनुभव स्वातिरिक्त अनुभवका जनक नहीं है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव स्वजातीय अनुभवान्तरकी अपेक्षा न करके ही प्रकाशमान होता है। इस तरह स्फुरण लक्षणयुक्त होनेसे अनुभव ही चित्प्रकाश सिद्ध हो जाता है। यद्यपि अनुभव, चक्षु तथा आलोक—तीनों ही घटादिके व्यञ्जक हैं तथापि अनुभव विषयाज्ञानका विरोधी होनेसे चित्प्रकाशरूप है । आलोक विषयगत तमका विरोधी होनेसे जड़ प्रकाशस्वरूप है और चक्षु अपरोक्ष अनुभवका साक्षात् साधन होनेसे अज्ञात कारण है । इसपर भी कहा जाता है कि 'आलोकके तुल्य अनुभव सजातीय प्रकाशानपेक्ष है।' परंतु यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि आलोक भी अपने प्रकाशके लिये सजातीय चक्षुकी अपेक्षा रखता ही है, कारण आलोक स्वतः तमसे रहित है, अतः चक्षुका तमके निवारणमें उपयोग नहीं है । हाँ, चक्षुर्जन्य अनुभवके द्वारा आलोकका प्रकाश होता है। परंतु वह आलोकका विजातीय ही है, अतः आलोककी तरह सजातीयानपेक्ष अनुभवका चित्प्रकाशरूप होना ठीक है। यदि इस प्रकाशको जड माना जाय, तो जगत्में अन्धता-प्रसक्ति हो जायगी। प्रमातृ-चैतन्य ही जडानुभवबलसे सबका अवभासन करता है । यदि आत्म-चैतन्यका विषयके साथ सम्बन्धमात्रके लिये जडानुभवका उपयोग है, तब तो यह वेदान्तका ही मत है। वृत्तिरूप अनुभव सम्बन्धार्थ या आवरणाभिभवार्थ ही होता है। कुछ लोग आत्म-चैतन्यसे पृथक् ही विषयकी अभिव्यक्तिके लिये जडानुभवजन्य अनुभवान्तर मानते हैं; परंतु वह अनुभव भी यदि जड़ है तो उसे भी अन्य अनुभव अपेक्षित होगा। इस तरह अनवस्था होगी।

'आत्मा और अनुभव दोनों ही चित्प्रकाश हैं' यह पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि इस तरह आत्मा और अनुभव दोनों ही अन्योन्य-निरपेक्ष सिद्ध होंगे, फिर उनका सम्बन्ध किसके द्वारा विदित होगा ? दोनोंके ही अन्योन्यवार्तानभिज्ञ होनेके कारण दोनोंमेंसे कोई भी सम्बन्धग्राही नहीं हो सकता । कहा जा सकता है कि 'जैसे पुरुषान्तरका ज्ञान चिद्रूप होनेपर भी दूसरेको विदित नहीं होता, वैसे ही चिद्रूप होनेपर भी आत्मा स्वयं प्रकाशित नहीं होगा । इसलिये अनुभवाधीन ही आत्माकी सिद्धि होती है ।' परंतु यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि तब तो यही आपत्ति अनुभवके सम्बन्धमें भी हो सकती है। यदि कहा जाय कि 'पुरुषान्तर संवेदनव्यवहित होता है, किंतु अपना अनुभव अव्यवहित है, अतः स्वप्रकाश है,' तो आत्माके सम्बन्धमें भी यही कहा जा सकता है । आत्मा चिद्रूप एवं अव्यवहित होनेसे अपने अनुभवके समान स्वयं ही प्रकाशित होता है।

'अनुभव ही चित्प्रकाश है' यह तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'आत्मा ही चित्प्रकाश है' यह पक्ष मानना अनिवार्य है। कारण, आत्मा और अनुभवका अभेद ही है। 'यह अनुभव आत्माका गुण है' ऐसा तार्किक और प्रभाकर मानते हैं। 'आत्मस्वरूप होनेसे द्रव्य ही अनुभव है' यह सांख्यमत है। 'ज्ञान-परिणाम क्रियाका फल है तथा च क्रिया और फलमें अभेदकी विवक्षासे कर्म ही ज्ञान है' यह भाट्टमत है। परंतु ज्ञानको कर्मरूप माननेसे गमनादि क्रियाके तुल्य ही उसमें प्रकाशरूपता और फलता नहीं बन सकती। द्रव्य होनेपर भी अनुभव यदि अणुपरिणाम हो, तब तो खद्योतके समान परिमित वस्तुके एक देशका ही प्रकाशक होगा, सम्पूर्ण वस्तुका प्रकाशक ज्ञान नहीं होगा। यदि अनुभव महत्परिमाण द्रव्य माना जाय, तब तो अनुभवस्वरूप आत्माका सर्वत्र अवभास होना चाहिये। यदि आत्मा महत्परिमाण अनुभवका आश्रय हो तो भी वही प्रसङ्ग रहेगा। यदि अनुभवको मध्यम परिमाण माना जाय तो उसे सावयव कहना पड़ेगा और फिर अनुभव अवयवोंके परतन्त्र होगा, आत्माधीन न रहेगा। यदि कहा जाय कि 'जैसे भूतलपरिणाम घट भूतलाधीन होता है, वैसे ही आत्मपरिणाम अनुभव आत्मपराधीन होगा,' तब भी प्रदीप एवं प्रकाशके समान आत्मा और अनुभवका अभेद ही कहना पड़ेगा। जैसे प्रदीपसे घटादि प्रकाशित होते हैं, वैसे ही 'घटो मयावगतः' (मैंने घट जाना) इत्यादि व्यवहार होता है। यदि आत्मा और चैतन्य या ज्ञानका भेद होगा तब तो 'काष्ठेन प्रकाशितः' (काष्ठके द्वारा प्रकाशित होता है) के समान 'मयावगतम्' यह प्रयोग भी औपचारिक ही समझा जायगा।

'ज्ञान गुण है' इस पक्षमें जैसे प्रदीपमें रहनेवाले भास्वररूपकी उत्पत्ति आश्रयकी उत्पत्तिसे भिन्न नहीं होती, वैसे ही अनुभवकी भी उत्पत्ति उसके आश्रय-की उत्पत्तिसे भिन्न नहीं होगी। ऐसी स्थितिमें आत्मा नित्य है, उसमें अनुभवका व्यभिचार कभी नहीं होता, अतः अनुभव और आत्मा दोनोंमें भेद नहीं है, किंतु अनुभवस्वरूप ही आत्मा है। यदि आत्माकी सिद्धि अनुभवके अधीन हो, तब तो घटादिके समान ही आत्मा भी अनात्मा ही ठहरेगा। कहा जा सकता है कि 'नील-पीतादि अनुभव अनेक हैं, वे आत्म-स्वरूप कैसे हो सकते हैं?' परंतु अनुभवोंमें स्वरूपतः कोई भी भेद नहीं है। जैसे एक अनन्त आकाशमें घटादि उपाधिके भेदसे भेद प्रतीत होता है, वैसे ही नील-पीतादि विषय एवं तदाकार बुद्धिवृत्ति आदि उपाधिसे आकाशवत् अनन्त अखण्ड एक अनुभवमें औपाधिक भेद प्रतिभासित होते हैं। अनुभवके भेदमें कोई प्रमाण नहीं है। अनुभवका जन्म और विनाश भी अप्रामाणिक है, अतः 'घटमें पाकके अनन्तर रक्तरूप उत्पन्न होनेपर रक्तानुभव उत्पन्न होता है। रक्तानुभवके पहले श्यामरूपका अनुभव था, अब वह नहीं है,' इत्यादि कथन ठीक नहीं हैं, क्योंकि भेदसिद्धि होनेपर जन्म-विनाश सिद्ध होगा और जन्म-विनाश सिद्ध होनेपर भेद-सिद्धि होगी। इस तरह अन्योन्याश्रय

दोषकी प्रसक्ति होती है । कुछ लोगोंका कहना है कि 'चक्षुरादि साधनोंकी अर्थवत्ताके लिये उत्तर संवित्‌का जन्म मानना आवश्यक है और एक कालमें दो संवित् नहीं रह सकतीं, अतः पूर्व संवित्‌का विनाश भी मानना चाहिये ।' परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि एक ही संवित्‌के भिन्न-भिन्न विषयोंके साथ होनेवाले सम्बन्धोंके ही उत्पत्ति-विनाशसे साधनोंकी सार्थकता एवं यौगपद्य (एककालिकता) की निवृत्ति बन जायगी ।

बौद्धोंका कहना है कि 'संविदोंमें भेद रहता हुआ भी सादृश्यके कारण प्रतीत नहीं होता । नील-पीतादि विषयरूप उपाधिके संसर्गसे ही वह भेद प्रतीत होता है ।' परंतु यह कथन भी ठीक नहीं; क्योंकि ज्वालाएँ अन्यवेद्य हैं, उनमें भेदकी अप्रतीति हो सकती है, परंतु स्वप्रकाश संवित्‌में होनेवाले भेदकी अप्रतीति नहीं बन सकती । कहा जा सकता है कि 'जैसे वेदान्तियोंका स्वप्रकाश भी ब्रह्म अज्ञात रह सकता है, वैसे ही संवित्‌का भेद भी अप्रतीत रह सकता है ।' परंतु यह भी ठीक नहीं है । ब्रह्ममें अविद्याका आवरण प्रमाणसिद्ध है, अतः एक ही संवित् अनादि है; क्योंकि उसका प्रागभाव नहीं है । सुरेश्वराचार्यका कहना है कि प्रत्येक कार्य प्रागभावपूर्वक ही होता है । उस प्रागभावकी भी सिद्धि संवित्‌से ही होती है, अतः संवित्‌का प्रागभाव नहीं है । यदि संवित् न हो तो प्रागभाव ही सिद्ध नहीं हो सकता और जब संवित् है ही, तब उसका प्रागभाव कैसे कहा जा सकता है ? 'कार्यं सर्वैर्यतो दृष्टं प्रागभावपुरस्सरम् । तस्यापि संवित्साक्षित्वात् प्रागभावो न संविदः ॥' इस तरह स्वप्रकाशानुभव नित्य है, वही आत्मा भी है । आत्मा ही विषयोपाधिक होकर अनुभव कहलाता है । विषयोपाधिकी विवक्षा न होनेसे वही अनुभव आत्मा कहलाता है । जैसे वृक्ष ही समूहरूप उपाधिके कारण वन कहलाते हैं और उपाधि-विवक्षा न होनेसे वे ही वृक्ष कहलाते हैं । अतः प्रभाकरका यह कहना ठीक नहीं है कि 'अनुभवके आश्रयरूपसे आत्माका प्रकाश होता है ।'

कहा जाता है कि 'घटमहं पश्यामि' यहाँ अहंकार ही घटका द्रष्टा है, वही आत्मा है ।' परंतु यह ठीक नहीं है । यदि 'अहं' ही आत्मा है, तब तो सुषुप्तिमें भी उसका स्फुरण होना चाहिये । परंतु सुषुप्तिमें अहंकी प्रतीति नहीं होती, अतः अहंकार आत्मा नहीं है । कुछ लोग कहते हैं कि 'सुषुप्तिमें विषयानुभव नहीं होता, अतः अहंकारकी भी प्रतीति नहीं होती ।' यह कहना भी ठीक नहीं है । यहाँ यह विचारणीय है कि 'क्या सुषुप्तिमें अनुभव ही नहीं है अथवा विषय-सम्बन्धका ही अभाव है ?' पहला पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि अनुभव नित्य है, अतः उसका अभाव नहीं कहा जा सकता । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि विषय-सम्बन्ध आत्मप्रतीतिका कारण नहीं है । कहा जाता है कि 'आत्माका द्रष्टृत्वरूप आकार ही अहंकार है, द्रष्टृत्वकी प्रतीतिमें विषय-सम्बन्ध आवश्यक

है।' परंतु यह कहना भी ठीक नहीं है। यहाँ विचारणीय यह है कि 'द्रष्टृत्व क्या है? क्या दृश्यका अवभासकत्व ही द्रष्टृत्व है अथवा दृश्यभिन्नता द्रष्टृता है किंवा चिन्मात्र ही द्रष्टृत्व है? पहले और दूसरे पक्षमें दृश्यके ही द्वारा द्रष्टाका निरूपण होता है। दृश्यके आगन्तुक होनेसे द्रष्टा भी आगन्तुक ही होगा। तब वह आत्मा कैसे होगा? अतः अहंकार आत्मा नहीं हो सकता। तीसरे पक्षमें तो दृश्यकी अपेक्षा ही नहीं रहती, अतः सुषुप्तिमें विषय न रहनेपर भी अहंकारका उपलम्भ होना चाहिये। 'सुषुप्तिमें अहंकी प्रतीति होती है' यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जैसे पूर्व दिनके अहंका स्मरण होता है, वैसे ही सुषुप्तिके भी अहंका उल्लेख होना चाहिये। यद्यपि जिसका अनुभव होता है उसका स्मरण होना अनिवार्य नहीं है। फिर भी जब आत्माका स्मरण होता ही है, तब चिद्रूप अहंकारका स्मरण होना ही चाहिये। कहा जा सकता है कि 'सुषुप्तिके अहंकारका भासक नित्य चैतन्यरूप अनुभव है। उसका विनाश न होनेसे संस्कार उत्पन्न नहीं होता, अतः स्मृति नहीं होती।' परंतु तब तो पूर्व दिनके अहंकारका भी स्मरण न होना चाहिये। वेदान्तमतमें तो अहंकारावच्छिन्न चैतन्यसे ही अहंकारकी प्रतीति होती है। वह अनित्य ही है, अतः संस्कारोत्पत्ति तथा स्मरण बननेमें कोई आपत्ति नहीं। यदि कहा जाय कि 'सुषुप्तिके भी अहंकारका स्मरण होता ही है, अतएव 'सुखमहमस्वाप्सम्' (मैं सुखपूर्वक सोया था) इस सुप्तोत्थितके स्मरणमें अहंकी प्रतीति होती है।' इसपर तार्किकका कहना है कि 'यह स्मरण है ही नहीं, किंतु उत्थानकालमें प्रतीत होनेवाले आत्मामें सुखोपलक्षित दुःखाभावका अनुमान किया जाता है। मैं स्वप्न एवं जागरितके बीचमें दुःखरहित था; क्योंकि उस बीचके दुःखका घटादिके समान कभी स्मरण नहीं होता।'

मुख्य सुख सुषुप्तिमें हो नहीं सकता, अतः जैसे सिरका भार हटनेपर प्राणीको सुखका अनुभव होता है, वैसे ही सुषुप्तिमें दुःख न होनेसे सुखका व्यवहार होता है। कहा जा सकता है कि 'सुखका स्मरण होनेसे सुषुप्तिमें मुख्य ही सुख मानना ठीक है।' परंतु फिर तो सामान्य विशेषनिष्ठ होता है, अतः भोजनसुख, पानसुख आदि रूपसे विशिष्ट सुखका भी स्मरण होना चाहिये। यदि कहा जाय कि 'उस विषयमें संस्कारका उद्बोध नहीं हुआ' तब भी 'सुखमहमस्वाप्सम्' के साथ 'नाहं किंचिदवेदिषम्' (मैं कुछ भी नहीं जानता था) यह ज्ञानाभावका परामर्श सुखानुभवका विरोधी है, अतः दुःखाभावमें ही सुखका व्यवहार मानना ठीक है। जो कहा जाता है कि 'सुप्तोत्थितमात्रका अङ्गलाघव, प्रसन्नवदनत्वादिसे पूर्वकालमें सुखानुभवका अनुमान होता है,' तो वह भी ठीक नहीं है। अनुभवके अनन्तर क्षणमें स्मरण ही हो सकता है फिर अनुमान व्यर्थ है। यह भी कहा जाता है कि 'तारतम्यरूपसे दृश्यमान अङ्गलाघवादि सातिशय स्वापसुखानुभवके बिना उपपन्न नहीं हो सकते। दुःखाभाव तो एक रूप ही होता है, अतः उस आधार-

पर अङ्गलाघवादिका तारतम्य नहीं बन सकता ।' परंतु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि प्रतियोगिदुःखजनक करण-व्यापारोंके उपरमके तारतम्यसे अङ्गलाघवादिके तारतम्यकी प्रतीति होनेमें कोई भी बाधा नहीं है।

वेदान्तसिद्धान्तानुसार तो स्वप्रकाश साक्षिचैतन्यस्वरूप ही आनन्द है। वह यद्यपि सर्वदा ही भासमान रहता है, फिर भी जाग्रत् एवं स्वप्नमें तीव्र वायु विक्षिप्त प्रदीपप्रभाके समान 'अहं मनुष्यः' इत्यादि मिथ्याज्ञानसे विक्षिप्त होनेके कारण स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। परंतु सुषुप्तिमें वह मिथ्या ज्ञान नहीं रहता, अतः वहाँ साक्षीरूप आनन्द स्पष्टरूपसे भासित होता है।' आवरणभूत अविद्या ब्रह्मतत्त्वाकारका आच्छादन करती हुई भी स्वभासक साक्षिचैतन्याकारको नहीं ढकती। अन्यथा बिना साक्षीके तो अविद्या भी सिद्ध न हो सकेगी। अतः सुषुप्तिमें अनुभूत आनन्द, आत्मा एवं भावरूप अज्ञान, इन्हीं तीनोंका सुप्तोत्थितको 'सुखमहमस्वाप्सम्, नाहं किंचिदवेदिषम्' इस तरह स्मरण होता है। कहा जाता है कि 'इन तीनोंका अनुभव अन्तःकरण-वृत्तियोंसे नहीं हो सकता; क्योंकि सुषुप्तिमें वृत्ति नहीं रहती। चैतन्यसे अनुभव हो सकता है, परंतु वह अविनाशी होनेसे संस्कारका उत्पादक न होगा, अतः स्मरण नहीं बनेगा।' परंतु यह ठीक नहीं है। सुषुप्तिमें अविद्या-वृत्तिसे ही तीनोंका ग्रहण सम्भव है। अविद्या-वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यसे ही उक्त तीनों वस्तुओंका अनुभव होता है, उसीका नाश भी सम्भव है और संस्कार भी सम्भव है। उसी संस्कारसे स्मृति हो सकती है। कहा जाता है कि 'इस तरह तो अविद्या-विशिष्ट आत्मा अनुभविता होगा और अन्तःकरणविशिष्ट आत्मा स्मर्ता होगा, अतः वैयधिकरण्य होगा। अन्यके अनुभूतका अन्य स्मर्ता नहीं होता।' परंतु यह भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उत्थानकालमें भी अविद्याविशिष्ट ही आत्मा स्मर्ता है। स्मृत अर्थका शब्दानुविद्ध व्यवहार अन्तःकरणसे होता है।

जो कहा जाता है कि 'सुखमस्वाप्सम् नावेदिषम्' यह ज्ञान दुःखाभाव एवं ज्ञानाभावको ही विषय करता है' वह ठीक नहीं है; क्योंकि सुषुप्तिमें यद्यपि ज्ञानाभाव एवं दुःखाभाव रहता है, फिर भी उनका अनुभव नहीं होता, कारण सुषुप्तिमें उनके प्रतियोगी दुःख तथा ज्ञानका स्मरण नहीं रहता। प्रतियोगि-स्मरणके बिना अभावका ग्रहण असम्भव ही होता है। कहा जाता है कि 'तो फिर वेदान्त-पक्षमें भी सौषुप्त ज्ञानाभाव तथा दुःखाभावका अनुभव कैसे होगा ?' इसका समाधान अर्थापत्तिसे किया जाता है। उक्त रीतिसे सुषुप्तिके अविक्षिप्त सुखका अनुस्मरण करके तद्विरोधी दुःखका अभाव प्रमित हो सकता है। परामृष्ट-भावरूप अज्ञानकी अन्यथा अनुपपत्तिसे अज्ञानविरोधी ज्ञानका अभाव निश्चित हो जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि 'भावरूप अज्ञान ज्ञानके विरुद्ध नहीं है, क्योंकि जागरणकालमें ज्ञान और अज्ञान दोनों ही एक साथ रहते हैं।' परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि यद्यपि अज्ञानमात्रका प्रपञ्च-ज्ञानके साथ विरोध

नहीं है, तथापि विशेषाकाररूपसे परिणत अज्ञानका ज्ञानके साथ विरोध होता है। घटज्ञानाकारसे परिणत अज्ञान पटादि ज्ञानोंसे विरुद्ध होता ही है। अन्यथा घट-ज्ञानकालमें पटादि सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित होना चाहिये। इस दृष्टिसे सुषुप्ता-वस्थाकारसे परिणत अज्ञानका अशेष विशेष ज्ञानोंके साथ विरोध है ही, अतः अर्थापत्तिसे ज्ञानाभाव सिद्ध होगा। कुछ लोग प्रबोधकालमें ज्ञानका स्मरण होने-से सुषुप्तिमें ज्ञानाभावका अनुमान करते हैं, परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि मार्गस्थ तृणादिका भी स्मरण नहीं होता। फिर भी उनका अभाव नहीं कहा जा सकता।

कहा जाता है कि 'यदि स्मरण न होनेसे अभावका अनुमान नहीं हो सकता, तो अस्मर्यमाण होनेसे गृहमध्यमें प्रातःकाल गज नहीं था' यह अनुमान कैसे बनेगा?' परंतु यह कोई दोष नहीं है। वहाँ तो गृहमें कुसूलादि विविध पदार्थोंका अनुभव करके मध्याह्नमें उन्हींका स्मरण करके उनकी अन्यथानुप-पत्तिसे प्रातः गजाभाव प्रमित होता है, अतः सुषुप्तिमें दुःखाभाव एवं ज्ञानाभाव अर्थापत्तिसे ही वेद्य होते हैं। भावरूप अज्ञान, आनन्द तथा आत्माका स्मरण होता है। फिर भी सुषुप्तिमें न अहंकारका अनुभव होता है और न तो उत्थितको उसका स्मरण ही होता है। 'सुखमहमस्वाप्सम्' इस रूपसे स्मरणमें जो अहंका उल्लेख होता है, उसकी स्थिति यह है कि सुषुप्तिमें अहंकार अज्ञानमें विलीन हो जाता है। प्रबोधमें वह पुनः उद्भूत होता है। उत्पन्न होकर वही अहंकार स्मर्यमाण आत्माको स्पष्ट व्यवहारके लिये सविकल्पकरूपसे उपलक्षित करता है। अहंकार-वृत्तिका यही प्रयोजन भी है। इसीलिये आत्मा अहंवृत्तिको छोड़कर अन्य अन्तःकरणवृत्तियोंसे कभी भी व्यवहृत नहीं होता। इसीलिये नैष्कर्म्य-सिद्धिकारका कहना है कि 'प्रत्यक्स्वरूप एवं अति सूक्ष्म होने तथा आत्मदृष्टिसे उसका अनुशीलन होनेसे घटपटाद्याकार अन्य वृत्तियोंको छोड़कर अहंवृत्तिसे ही आत्मा उपलक्षित होता है। अहंकार या तो आत्माके साथ ही व्याप्त होकर रहता है अथवा विलयको प्राप्त होता है। उसकी अन्य तीसरी अवस्था नहीं होती। इसी-लिये अहंबुद्धिसे आत्माका सविकल्प बोध होता है।' इस तरह जाग्रत्-स्वप्नमें आत्मरूपसे भासमान होनेपर भी अहंकार सुषुप्तिमें नहीं रहता, अतः वह स्वप्रकाश आत्माका स्वरूप नहीं है। अहंकार परमेश्वराधिष्ठित स्वविद्यासे ही उत्पन्न होता है। ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति उसका स्वरूप है। कूटस्थ चैतन्यसे ही उसकी सिद्धि होती है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि उसके कार्य हैं। सुषुप्तिमें अन्तःकरणका प्रलय हो जाता है, अतः वह वहाँ नहीं रहता। यद्यपि क्रियाशक्तिरूप प्राण सुषुप्तिमें भी रहता है, तथापि प्राण अहंकारसे भिन्न है, अतः अहंकारके लयमें कोई विरोध नहीं है। यदि प्राण अन्तःकरणका ही अंश माना जाय, तो यह मानना चाहिये कि प्राणांशको छोड़कर अवशिष्ट अन्तःकरणका सुषुप्तिमें लय होता है।

दृष्टि सृष्टि-पक्षमें तो मुख्य पुरुषके प्रति सभीका मुख्य प्रलय ही होता है। जो लोग स्वतन्त्र अचेतन प्रकृति आदिको ही महत्त्व, अहंतत्त्व आदि सब प्रपञ्चका उपादान मानते हैं, परमेश्वराधिष्ठित अविद्याको नहीं, उनके यहाँ सब वस्तुएँ इदंरूपसे ही गृहीत होनी चाहिये। 'अयं कर्ता अयं भोक्ता' (यह कर्ता है, यह भोक्ता है) इस रूपसे प्रतीति होनी चाहिये, 'अहं कर्ता अहं भोक्ता' (मैं कर्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ) इस प्रकारसे नहीं। ऐसी प्रतीति तो तभी बन सकती है, जब सभी वस्तुएँ आत्मामें अध्यस्त हों।

नैयायिक अणु-परिमाण मनको इन्द्रिय मानते हैं। उसीको सुख-दुःख, इच्छा-ज्ञानका निमित्तकारण मानते हैं। इस मनके बिना आत्मा इन्द्रिय तथा विषयके संयुक्त होनेपर भी एक कालमें अनेक ज्ञान नहीं होते। मन अणु है, अतः एक कालमें अनेक इन्द्रियोंसे संयुक्त नहीं हो सकता। जिस समय वह जिस इन्द्रियसे संसृष्ट होता है, उस समय उसी विषयका ज्ञान होता है। इसीलिये एक कालावच्छेदेन दो ज्ञानकी उत्पत्ति न होना ही मनका लिङ्ग है। 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (न्यायदर्शन० १।१।१६) यह कहा गया है। मनसे भिन्न मध्यम परिमाण अन्तःकरण नैयायिकोंको मान्य नहीं है। उनके मतानुसार मनके द्वारा सर्वगत आत्मामें समवायसम्बन्धसे ज्ञान-गुणकी उत्पत्ति होती है। आत्मा यद्यपि ज्ञानाश्रय है और वह सर्वगत है तथापि निरवयव होनेसे उसका सर्वसंयोग सम्भव नहीं है, अतः युगपत् (एक साथ) सर्वप्रकाश नहीं होगा। क्रियारूप या गुणरूप ज्ञानका—स्वाश्रयका उल्लङ्घन करके—अन्यत्र संयोग सम्भव नहीं है, अतः उस ज्ञानसे किसी भी वस्तुका प्रकाश न होना चाहिये। यदि ज्ञान बिना संसर्गके असंसृष्टका ही ग्रहण करे तो अतिप्रसङ्ग होगा, अर्थात् असंसर्ग समान होनेसे किसी भी वस्तुका ग्रहण होना चाहिये। 'शरीरावच्छिन्न आत्मप्रदेशसमवायी ज्ञान होता है' इस पक्षमें भी विचारणीय है कि यदि प्रदेश आत्माका स्वाभाविक धर्म है, तब तो आत्मामें सावयवत्वापत्ति होगी। यदि प्रदेश औपाधिक है तो भी ज्ञान तत्प्रदेशसंयुक्त वस्तुका ही ग्राहक है, अतः देहादिसे बाह्य घटादिका प्रकाश न होना चाहिये। यदि ज्ञान बाह्यात्मप्रदेश-संयुक्त वस्तुका भी ग्राहक है, तो फिर सभी बाह्य वस्तुएँ बाह्यात्मप्रदेशसंयुक्त हैं ही, अतः सबका ही ग्रहण होना चाहिये। कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि 'ज्ञानाधार आत्मासे मन संयुक्त होता है, मनसे इन्द्रिय संयुक्त होती है और इन्द्रियसे विषय संयुक्त होता है। इस तरहकी संयोगपरम्परासे वस्तुका बोध होता है।' परंतु यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यह परम्परा तो ज्ञानोत्पादनमें ही उपयुक्त होती है। ज्ञान उत्पन्न होनेके बाद भी यदि संयोगपरम्परासे विषयका प्रकाश हो तब तो विषयसंयुक्त, तत्संयुक्तादिरूपसे अवस्थित सभी जगत्का प्रकाश होना चाहिये।

वेदान्त-मतानुसार सर्वगत चिदात्माको आवृत करके स्थित भावरूप अविद्या ही सम्पूर्ण जगत्के आकारसे स्थित होती है। शरीरके मध्यमें अविद्याविवर्त

अन्तःकरण रहता है। इसीकी सूक्ष्म पञ्चभूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशसे भी उत्पत्ति मानी जाती है। वही धर्माधर्मसे प्रेरित होकर नेत्रादि इन्द्रियोंद्वारा निकलकर घटादि विषयोंको व्याप्त होकर तत्तद्-विषयोंके आकारसे आकारित होता है। जैसे पूर्ण सरोवरका जल सेतुच्छिद्रके द्वारा निकलकर कुल्याप्रवाहरूप (नहर-नालियों) से खेतोंमें पहुँचकर तदाकार हो जाता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये। फिर भी जलके समान अन्तःकरण बहता नहीं है, किंतु सूर्यरश्मिके तुल्य ही है। तैजस होनेसे अन्तःकरण दीर्घ प्रभाकारसे परिणत होता है और रश्मि-में समान ही सहसा उसका संकोच भी उपपन्न होता है। अन्तःकरण सावयव है, अतः उसका परिणाम उपपन्न होता है। वह अन्तःकरण घटाद्याकारसे परिणत होकर देहके भीतर और घटादिमें व्याप्त होकर देह एवं घटादिके मध्यमें दण्डाय-मान अविच्छिन्नरूपसे अवस्थित रहता है। देहावच्छिन्न अन्तःकरणका भाग 'अहंकार' एवं 'कर्ता' कहा जाता है। मध्यवर्ती दण्डायमान अन्तःकरणका भाग 'वृत्तिज्ञान' नामकी क्रिया कही जाती है। विषयव्यापक भाग विषयको ज्ञानका कर्म बनानेवाला अभिव्यक्ति योग्य कहा जाता है। वह तीनों ही भाग-वाला अन्तःकरण अतिस्वच्छ होता है, अतः उसमें स्वच्छ काँचपर सौर प्रकाशके समान आत्म-चैतन्य अभिव्यक्त होता है। अभिव्यक्त चैतन्य यद्यपि एक ही है, तथापि अभिव्यञ्जकके त्रैविध्यसे उसमें त्रिधा व्यवहार होता है। कर्तृभागा-वच्छिन्न चिदंश 'प्रमाता', क्रियाभागावच्छिन्न चिदंश 'प्रमाण' और विषयगत योग्यत्वभागावच्छिन्न चिदंश 'प्रमिति' कहलाता है। तीनों ही भागोंमें अनुगत एकाकार अन्तःकरणमें प्रमातृ-प्रमेय-सम्बन्धरूप 'मयेदमवगतम्' (मैंने इसे जाना) यह विशिष्ट व्यवहार बनता है। व्यङ्ग्य चैतन्य एवं व्यञ्जक अन्तःकरणका ऐक्या-ध्यास होनेसे अन्योन्यमें अन्योन्य-धर्मका व्यवहार भी सङ्गत है। प्रकाशरूप होनेसे या प्रकाशसंसृष्ट होनेसे ही वस्तुओंका प्रकाश होता है। सूर्यादि प्रकाश-रूप होनेसे प्रकाशित होते हैं। घटादि प्रकाशसंसर्गी होनेसे प्रकाशित होते हैं। वैसे ही आत्मचैतन्य या अखण्ड बोध अथवा नित्यज्ञान प्रकाशरूप होनेसे एवं अन्य वस्तुएँ तत्संसर्गी होनेसे प्रकाशित होती हैं। चैतन्यका विषयके साथ संयोग, समवायादि सम्बन्ध नहीं होता, किंतु आध्यासिक ही संसर्ग होता है। जैसे रज्जुमें सर्पका अध्यास होता है, वैसे ही चैतन्यमें प्रपञ्चका अध्यास है। अतः अधिष्ठान चैतन्यमें प्रपञ्च अध्यस्त है। उसी चैतन्यसे प्रपञ्चका प्रकाश होता है। किंतु वह चैतन्य अविद्यांशोंसे ढका रहता है। उन्हीं आवरणांशोंके हटानेके लिये प्रमाता-प्रमाणादिका व्यापार होता है। घटादिकी प्रत्यक्षतामें आलोक, चक्षु, मन आदिकी आवश्यकता पड़ती है। आलोककी अपरोक्षताके लिये अन्य आलोक अपेक्षित नहीं होता। चक्षुके ज्ञानमें दूसरे चक्षु आदिकी अपेक्षा नहीं होती। सर्वविज्ञाता, प्रमाता या ज्ञानको अपने प्रकाशके लिये अन्यकी अपेक्षा नहीं होती। सर्वसाक्षी

प्रमाताका भी प्रकाशक अखण्डभान साक्षात् अपरोक्ष कहा जाता है। दो उपाधियोंके एकत्रित होनेसे दो उपहितोंका भी अभेद हो जाता है। जैसे घट और मठ एकत्रित होनेसे घटाकाश और मठाकाश दोनों एक ही हो जाते हैं, वैसे ही जहाँ अन्तःकरण विषय-प्रदेशपर इन्द्रियादिद्वारा जाता है वहाँ विषय एवं अन्तःकरण दोनों उपाधियाँ एकत्रित होनेसे विषयावच्छिन्न चैतन्य और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य एक हो जाते हैं। इसीको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। जहाँ अन्तःकरणवृत्ति विषयसे संसृष्ट नहीं होती, वहाँ परोक्ष ज्ञान होता है और अन्तःकरण तथा विषय दोनों एकत्रित होनेसे अन्तःकरणावच्छिन्न एवं विषयावच्छिन्न चैतन्यकी एकता हो जाती है। उस समय विषयावच्छिन्न चैतन्यमें अध्यस्त विषय विषयावच्छिन्न चैतन्याभिन्न अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमातृ चैतन्यमें भी अध्यस्त समझा जाता है। इसीलिये प्रमातृ चैतन्यसे विषयका अपरोक्षज्ञान होता है।

इसपर शङ्का होती है कि 'अन्तःकरणसे चैतन्यकी अभिव्यक्ति क्या है? यदि आवरण-विनाश, तब तो घटज्ञानसे ही मोक्ष हो जाना चाहिये; क्योंकि वेदान्तमतमें आवरण-विनाश ही मोक्ष है। यदि अभिव्यक्ति आत्मगत अतिशय-विशेष है तब तो सातिशय आत्मा विकारी ही होगा।' परंतु इसका समाधान यह है कि आवरणाभिभव ही अभिव्यक्ति है। एतावता निरावरण चैतन्यसे विषयका प्रकाश होता है। कहा जाता है कि 'चैतन्य सर्वगत है, फिर स्वसंसृष्ट सर्वभासक होनेसे प्रतिकर्म-व्यवस्था नहीं होगी। प्रमाण-प्रमेयादि व्यवहार ही प्रतिकर्म-व्यवस्था है। परंतु यह दोष नहीं है। 'जो सुख-दुःखादि एक पुरुषसे अनुभूत होते हैं, वे क्या सभी पुरुषोंको अनुभूत होने चाहिये, क्योंकि चैतन्य एक ही है?' यह आपत्ति है अथवा यह कि 'देवदत्त जिस समय घटका अनुभव करता है, उसी समय सम्पूर्ण जगत्का अनुभव होना चाहिये। क्योंकि देवदत्तका चैतन्य सर्वगत है।' पहली आपत्ति इसलिये सङ्गत नहीं है कि केवल चैतन्य अनुभवका हेतु नहीं है; क्योंकि वह अविद्यासे आवृत है, किंतु अन्तःकरणद्वारा अभिव्यक्त चैतन्यसे ही विषयोंका अनुभव होता है। वह अन्तःकरण प्रतिपुरुष भिन्न है, अतः जिस पुरुषके अन्तःकरणसे अभिव्यक्त चैतन्यद्वारा जिस विषयका सम्पर्क होता है, उसीको उसका ज्ञान होता है। दूसरी आपत्ति भी ठीक नहीं है; क्योंकि परिच्छिन्न अन्तःकरणसे अभिव्यक्त चैतन्यका युगपत् सम्पूर्ण जगत्से सम्बन्ध नहीं होता, अतः सर्वावभासका प्रसङ्ग ही नहीं है। अतः प्रतिकर्म-व्यवस्थामें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

कहा जाता है कि 'परिच्छिन्न अन्तःकरणका भी सूर्यरश्मिवत् सर्वव्यापी परिणाम होगा।' परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि पुण्य-पाप, नेत्र-श्रोत्र आदिके रूपसे अन्तःकरणके परिणामकी सामग्री प्रतिविषयमें निश्चित है, अतः परिणाममें भी व्यवस्था ही सिद्ध होगी। जो कोई योगाभ्यासद्वारा अन्तःकरणकी सर्वव्यापी परिणाम-सामग्री सम्पादन कर लेता है, वह सर्वज्ञाता हो ही सकता है। यहाँ भी

शङ्का होती है कि 'क्या चैतन्यके असङ्ग होनेके कारण स्वतः विषयोपराग असम्भव होनेसे विषयोपरागके लिये अन्तःकरण-उपाधि अपेक्षित है अथवा उपराग होने-पर भी विषय-प्रकाश-सिद्धिके लिये अन्तःकरण-उपाधि मान्य है ?' पहला पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि असङ्गी होनेसे अन्तःकरणोपाधिपर भी चैतन्यका उपराग सम्भव नहीं है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि चित्-सम्बन्धसे ही प्रकाश सिद्ध होता है, फिर उपाधि व्यर्थ है। तब तो उपाधि-परित्यागसे सर्वगत चैतन्यसे संयुक्त सर्ववस्तु-का प्रकाश होना ही चाहिये। इसी प्रकार यह समाधान भी पर्याप्त नहीं है कि 'प्रति-बिम्बभूत जीव-चैतन्य परिच्छिन्न होनेसे सर्वभासक नहीं हो सकता।' बिम्बभूत ईश्वरकी सर्वज्ञता मान्य ही है। यद्यपि जीव-ब्रह्मका अद्वैतवेदान्तमें भेद मान्य नहीं है, तथापि व्यावहारिक अल्पज्ञता-सर्वज्ञता आदिका भेद तो है ही; क्योंकि विषयका अनुभव ब्रह्मचैतन्यरूप है। जीवमें सर्वज्ञताके समान ही अल्पज्ञता भी नहीं बन सकेगी। यदि कहा जाय कि 'जीवोपाधि अन्तःकरणका चक्षु आदिद्वारा विषयसम्बन्ध होता है, अतः जीव विषयोंका ज्ञाता हो सकेगा' सो भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि अन्तःकरणसे सृष्ट होनेसे जीव ज्ञाता हो तब तो जीवको सदा ही ब्रह्मस्वरूपका भी ज्ञाता होना चाहिये; क्योंकि सर्वगत ब्रह्मका अन्तःकरणके साथ संसर्ग है ही। यदि कहा जाय कि 'अविद्योपाधिक ही जीव सर्वगत है और वह सभी जगत्को प्रकाशित कर सकता है फिर भी वह अविद्यासे आवृत होनेके कारण स्वयं भी अप्रकाशमान रहता है, अतएव 'अहमज्ञः' ऐसा अनुभव होता है। अविद्या यद्यपि परिच्छिन्न है, फिर भी वह सर्वगत चैतन्यका तिरोधान करती है। नेत्रके समीपमें धारित अङ्गुलिमात्रसे महान् आदित्यादिका भी तिरोधान होता ही है। इस दृष्टिसे जहाँ अन्तःकरणका उपराग (सम्बन्ध) होता है, वहीं अविद्या-आवरणका अभिभव होता है। वहाँ ही अभिव्यक्त चैतन्यसे किंचित् अंशका ही प्रकाश होता है।' परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि अविद्याकार्यभूत अन्तःकरणसे अविद्याका अभिभव असम्भव है। इसलिये प्रतिकर्म-व्यवस्था नहीं बन सकती।

इन सब बातोंका वेदान्तीय समाधान यह है कि जीव चैतन्य असङ्ग होनेसे यद्यपि अन्यसम्बन्धित नहीं होता, तथापि अन्तःकरणसे उसका सम्बन्ध होता है; क्योंकि अन्तःकरणका ऐसा ही स्वभाव है। जैसे सर्वगत भी गोत्वजाति सास्नादि (गल-कम्बलादि) मती गो-व्यक्तिमें ही सम्बन्धित होती है, अन्यत्र नहीं, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये। अथवा जैसे प्रदीप-प्रभा रूप, रस, गन्ध, वायु आदि प्रदेशोंमें व्याप्त होनेपर भी रूपको ही प्रकाशित करती है, अन्यको नहीं, वैसे ही अन्तःकरण-उपाधि चैतन्यसे विषयोपराग-सिद्धिके लिये सङ्गत होगी। उपरागके बिना चित्प्रकाश विषयोंका प्रकाश नहीं कर सकता। जैसे प्रदीप-प्रकाश स्वसंयुक्त-का ही द्योतक होता है, वैसे ही चैतन्य भी स्वोपरक्तका ही प्रकाशन कर सकता है। ब्रह्म सर्वप्रपञ्चका उपादान कारण है, अतः औपाधिक उपरागके बिना ही स्वस्वरूप-

के समान ही स्वाभिन्न सर्वजगत्का प्रकाशन करता है। जीव ऐसा नहीं कर सकता; क्योंकि वह प्रपञ्चका उपादान नहीं है।

कहा जा सकता है कि 'जब जीव स्वतः अवभासक नहीं है, तब घटादिके समान ही अन्य सम्बन्धसे भी प्रकाशक नहीं हो सकता।' परंतु यह ठीक नहीं। केवल लौह तृणादिका दाहक न होनेपर भी लौहपिण्डपर व्यक्त अग्नि जैसे तृणादिका दाहक होता है, वैसे ही असङ्ग-साक्षी चैतन्य विषयोंका प्रकाशक न होनेपर भी अन्तःकरणवशात् निरावरण होकर विषयोंका प्रकाशक होगा। जिस पक्षमें अन्तःकरणस्थ चित्प्रतिबिम्ब ही जीव है, तब तो परिच्छिन्न होनेसे सुतरां प्रतिकर्म-व्यवस्था उपपन्न होगी। भले ही विषयानुभव ब्रह्म-चैतन्य हो, फिर भी जीवोपाधिभूत अन्तःकरणका वृत्तिरूप परिणाम जबतक विषयाकार नहीं होता, तबतक वह अव्यक्त ही रहता है। विषयाकार अन्तःकरण वृत्तिपर अभिव्यक्त चैतन्यको जीव-चैतन्य भी कहनेमें कोई विरोध नहीं है। ब्रह्मके अन्तःकरण-संसृष्ट होनेपर भी ब्रह्माकार अन्तःकरण वृत्ति न होनेसे जीवको सदा ब्रह्म-ज्ञान-प्रसङ्ग नहीं आता। अन्तःकरणस्वरूप मात्र वस्तुका व्यञ्जक नहीं होता, किंतु तत्तद्वस्त्वाकार-अन्तःकरणके परिणाम ही उन-उन वस्तुओंके व्यञ्जक होते हैं। अतएव तदाकार-वृत्ति न होनेसे ही अन्तःकरणमें ही रहनेवाले धर्मादिकी अभिव्यक्ति नहीं होती। जीव भी जोवाकार अहवृत्तिरूपसे परिणत अन्तःकरणमें ही अभिव्यक्त होता है, अन्तःकरणमात्रमें नहीं। इसीलिये सुषुप्तिमें अहंवृत्ति न होनेसे जीवकी भी प्रतीति नहीं होती। इस तरह अन्तःकरण प्रतिबिम्ब जीवत्व-पक्षमें भी सब व्यवस्था बन जाती है।

जिस पक्षमें अविद्योपाधिक सर्वगत जीव है, उस पक्षमें भी आवरणतिरोधायक अन्तःकरणसे सब व्यवस्था बनती है। जैसे, गोमय-कार्य वृश्चिक एवं मृदादि-कार्य वृक्ष अपने कारण गोमय तथा मृदादिके तिरोधायक होते हैं, वैसे ही अविद्या-कार्य अन्तःकरण भी अविद्याका तिरोधायक बन जाता है। वृश्चिक-शरीरमें गोमयके और वृक्ष-शरीरमें मृदादिके किंचित् भी अंशकी प्रत्यभिज्ञा नहीं होती। इस तरह वेदान्तमतमें प्रमात्रादि व्यवहार ठीक सम्पन्न हो जाते हैं। चिदुपरागके लिये अथवा विषय-चैतन्याभेदकी अभिव्यक्तिके लिये या आवरणाभिभवके लिये वृत्तिका उपयोग हो सकता है। वृत्तिके द्वारा चैतन्य तथा विषयका विषय-विषयिभाव सम्बन्ध होता है। कुछ लोग विषयसंयुक्त वृत्तिके तादात्म्यसम्बन्धसे चैतन्यद्वारा विषयका प्रकाश मानते हैं। अन्य लोगोंका मत है कि अपरोक्ष जीव-चैतन्यके साथ साक्षात् सम्बन्धसे ही सुखादिका साक्षात्कार होता है, अतः परम्परासम्बन्ध ग्रहण न करके साक्षात् सम्बन्ध ही ग्रहण करना चाहिये। इसलिये जैसे तरङ्ग और तरुके संस्पर्शसे तरुमें नदी-स्पर्श माना जाता है, वैसे ही विषयवृत्ति-संसर्गसे जीव-विषय-संसर्ग भी मान्य

है। जैसे कारणाकारण-संयोगसे कार्याकार्य संयोग होता है, वैसे ही कार्याकार्य-संयोगसे कारणाकारण-संयोग भी होता है; अर्थात् नैयायिक लोग जैसे हस्त एवं वृक्षके संयोगसे देह-वृक्षका संयोग मानते हैं, हस्त अवयव होनेसे शरीरका कारण है, वृक्ष शरीरका अकारण है। कारण (हस्त) तथा अकारण (वृक्ष) के संयोगसे कार्य (शरीर) तथा अकार्य (वृक्ष) का सम्बन्ध मान्य है, वैसे ही वृत्ति जीव-चैतन्यका कार्य है और विषय अकार्य है, अतः कार्य (वृत्ति) तथा अकार्य (विषय) संयोगसे कारण (जीव-चैतन्य) और अकारण (विषय) का भी सम्बन्ध बन जायगा। इस तरह वृत्तिद्वारा जीव-चैतन्यका विषयके साथ साक्षात् सम्बन्ध बन जाता है।

कुछ लोगोंका यह भी मत है कि 'अन्तःकरणोपहित विषयावभासक चैतन्यका विषयतादात्म्यापन्न ब्रह्म-चैतन्यके साथ अभेदाभिव्यक्तिद्वारा विषयतादात्म्य-सम्पादन ही चिदुपराग है।' इस पक्षमें विषयकी अपरोक्षतामें आध्यासिक सम्बन्ध ही मुख्य कारण है। वृत्तिद्वारा अभेद व्यक्त होनेपर विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न जीवचैतन्य एक ही हो जाता है, अतः विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्यमें अध्यस्त विषय-विषयावच्छिन्न चैतन्याभिन्न अन्तःकरणाव च्छिन्न चैतन्यरूप जीवचैतन्यमें भी अध्यस्त समझा जा सकता है। अभेदाभिव्यक्ति क्या है, इसपर कुछ लोगोंका कहना है कि 'जैसे कुल्याद्वारा तड़ाग एवं केदारसलिलकी एकता होती है, वैसे ही वृत्तिद्वारा विषय एवं अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यकी एकता होती है। यद्यपि विषयावच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म-चैतन्य ही है और वही विषय-प्रकाशक है, तथापि वृत्तिद्वारा जीव-चैतन्यके साथ अभेद होनेसे उसमें जीवत्व सम्पन्न हो जाता है, इसलिये जीव विषयका प्रकाशक बन सकता है।' दूसरे लोग कहते हैं कि 'बिम्बस्थानीय विषयावच्छिन्न चैतन्य ब्रह्मके साथ प्रतिबिम्बभूत जीवकी (अभेदाभिव्यक्ति) नहीं होती। व्यावर्तक-उपाधि दर्पणके समान जबतक बनी है तबतक उपहितोंकी एकता नहीं हो सकती। जबतक दर्पण है तबतक बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव रहेगा ही। इसी तरह अन्तःकरणादि उपाधि जबतक है तबतक जीव ईश्वरभाव रहेगा ही। फिर ब्रह्म-चैतन्यका जीवचैतन्य बनना असम्भव ही रहेगा। यदि वृत्तिकृत अभेदकी अभिव्यक्तिसे विषयावच्छिन्न ब्रह्म जीव हो जायगा, तब तो ब्रह्मका विषय-संसर्ग न रहनेसे ब्रह्म उस विषयका ज्ञाता न रहेगा। फिर उसकी सर्वज्ञता बाधित होगी। अतः विषयावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य विषयसंसृष्ट वृत्तिके अग्रभागमें विषयप्रकाशक प्रतिबिम्बका समर्पण करता है। उसी प्रतिबिम्बका जीवके साथ एकीभाव होता है। इसी तरह अन्तःकरण, वृत्ति तथा विषयोंसे अवच्छिन्न चैतन्योंमें क्रमेण प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय-व्यवहार असंकररूपसे सम्पन्न होगा।

कहा जा सकता है कि 'वृत्तिसे उपहित चैतन्य विषय-प्रमा होगी, उसका विषयाधिष्ठान चैतन्यके समान विषयके साथ आध्यासिक सम्बन्ध नहीं होगा।

फिर विषयकी अपरोक्षतामें आध्यासिक सम्बन्ध प्रयोजक है, यह सिद्धान्त असङ्गत हो जायगा।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि विषयसे अविच्छिन्न विषयाधिष्ठान चैतन्य ही वृत्तिमें प्रतिबिम्बित है। इस दृष्टिसे अभेद उपपन्न होता है। कुछ लोग विषयाधिष्ठान-चैतन्यसे ही विषयका साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध होनेसे बिम्बभूत ब्रह्मचैतन्यको ही विषयप्रकाशक मानते हैं; किंतु बिम्बत्वादि विशिष्टरूपसे उसका भेद होनेपर भी बिम्बत्वोपलक्षितरूपसे एकीभाव ही अभेदाभिव्यक्ति है। बिम्बादिरूपमें भेद बना ही रहता है। अतः जीवब्रह्मके सांकर्यमें एवं ब्रह्मकी सर्वज्ञतामें विरोध आदि नहीं। इसी तरह 'वृत्तिसे आवरणका अभिभव होता है, इस पक्षमें भी विचारणीय है कि आवरणाभिभव क्या है? यदि अज्ञाननाश ही आवरणाभिभव माना जाय तब तो घटज्ञानसे अज्ञानका नाश होगा और अज्ञानमूलक प्रपञ्चकी ही निवृत्ति हो जायगी। कुछ लोगोंके मतमें चैतन्यमात्रके आवरक अज्ञानका विषयावच्छिन्न-प्रदेशमें ज्ञानसे एकदेशेन नाश उसी तरह होता है जिस तरह महान्धकारमें खद्योत-प्रकाशसे एकदेशेन अन्धकारका नाश होता है। अतः घटज्ञानसे विषयप्रदेशस्थ अज्ञानके एकदेशका ही नाश होगा, सम्पूर्ण अज्ञानका नहीं, अतः प्रपञ्च-निवृत्तिका प्रसङ्ग नहीं होगा। अथवा ज्ञानसे विषयाज्ञानका कट (चटाई) के समान संवेष्टन या संकोच हो जाता है, यही आवरणाभिभव है, अथवा रणमें भीत भट (योद्धा) के पलायनके समान ज्ञानसे विषयावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ अज्ञान हट जाता है, यही आवरणाभिभव है। अन्य लोगोंका कहना है कि 'अज्ञानका एकदेशसे नाश होनेसे उपादान न रहनेसे विषयावच्छिन्न चैतन्य-प्रदेशमें फिर आवरणकी उत्पत्ति न होगी। अतएव मानना यह चाहिये कि चैतन्यमात्रके आवरक अज्ञानका तत्तदाकारवृत्ति संसृष्ट अवस्थावाले विषयावच्छिन्न-चैतन्यको आवरण न करनेका स्वभाव ही आवरणाभिभव है।' कहा जाता है कि घटादि विषयको ढककर स्थित होनेवाले पटके समान विषयावच्छिन्न चैतन्यको आवृत करके स्थित होनेवाला अज्ञान विषयको आवृत क्यों न करेगा?' परंतु यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि 'अहमज्ञः' इस प्रतीतिके आधारपर कहा जा सकता है कि अहमनुभवमें प्रकाशमान चैतन्यका आश्रय करके अज्ञान स्थित होता है और वह स्वाश्रयभूत चैतन्यको आवृत नहीं करता है।

अन्य लोगोंका कहना है कि 'घटं न जानामि' (मैं घट नहीं जानता) इस तरह अज्ञान घटज्ञान विरुद्धरूपसे प्रतीत होता है। घटज्ञान होनेपर घटका अज्ञान निवृत्त हो जाता है। इस तरह घटज्ञानद्वारा निवर्त्यरूपसे अनुभूयमान घटज्ञान मूलज्ञान नहीं है। शुद्ध चैतन्यविषयक अज्ञान शुद्ध चैतन्य-ज्ञानसे ही निवर्त्य होता है। घटज्ञान-निवर्त्य घटाज्ञान वैसा नहीं है, अतएव घटावच्छिन्न 'चैतन्यविषयक अज्ञान मूलाज्ञानका अवस्थाविशेष है। उस अवस्था—अज्ञान (मूलाज्ञान) का नाश ही आवरणाभिभव है।' कहा जाता है कि 'फिर भी

एक ज्ञानसे अज्ञानका नाश होनेपर तत्समानविषयक ज्ञानान्तरोंमें आवरणाभिभावकता कैसे होगी ?' यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि जितने ज्ञान हैं; उतने ही अज्ञान हैं। इसलिये प्रत्येक ज्ञानसे प्रत्येक अज्ञानका नाश होता है। यह अवस्थारूप अज्ञान मूलाज्ञानके तुल्य ही अनादि है। व्यावहारिक जगत् और जीवको आवृत करके स्वाप्निक जीव-जगत्को प्रतिभासित करनेवाली आवरण एवं विक्षेप-शक्तिवाली निद्रा अज्ञानकी अवस्था है। इसी तरह सुषुप्तिमें अन्तःकरणादिके विलीन होनेपर **'सुखमहमस्वाप्सम्, नाहं किंचिदवेदिषम्'** (मैं सुखपूर्वक सोया, मैंने कुछ नहीं जाना) इस तरह स्मरण होनेसे मूलाज्ञानके तुल्य अनुभूयमान सुषुप्ति भी अज्ञानकी अवस्थाविशेषरूप ही है। जाग्रत् भोगप्रद कर्मोंके उपरम होनेपर इन दोनों ही अवस्थाओंका प्रादुर्भाव होता है, अतः ये सादि हैं। इसी तरह अन्य अवस्था—अज्ञान भी सादि ही है। यदि सभी मूलाज्ञान अनादि माने जायँ तब तो प्रथम उत्पन्न घटज्ञानसे ही घटविषयक सभी अज्ञानोंका नाश होगा। किस अज्ञानका नाश हो किसका न हो, इसमें कोई विनिगमका अर्थात् निर्णायक युक्ति नहीं है। 'घटावच्छिन्न चैतन्यावरक सर्व अज्ञानोंके नाश हुए बिना घटविषयक प्रकाश ही न होगा। अतः पीछे होनेवाले ज्ञान आवरणके अभिभावक सिद्ध न होंगे।' इसका समाधान कुछ लोग यह करते हैं कि 'जैसे अनेक ज्ञान-प्रागभावोंके रहनेपर भी एक ज्ञानसे एक ही प्रागभाव नष्ट होता है, संशयादि-उत्पादनमें समर्थ घटावरणरूप अन्य ज्ञान-प्रागभावोंके रहनेपर भी घटज्ञानसे एक घटप्रागभावके नष्ट होनेपर ही घटविषयका प्रकाश होता है, वैसे ही एक ज्ञान उत्पन्न होनेपर एक ही अज्ञान निवृत्त होता है, इतर अज्ञानोंके रहनेपर भी विषयका प्रकाश होता है।'

दूसरे लोगोंका मत है कि 'सब अज्ञान सर्वदा आवरण नहीं करते, किंतु जिस समय जो अज्ञान आवरण करता है, उस समयके उस ज्ञानसे उसी अज्ञानका नाश होता है। वृत्तिद्वारा आवरक अज्ञानका नाश होनेपर जब वृत्ति उपरत होती है, तब अन्य अज्ञान आवरण करते हैं।' इसपर कहा जाता है कि 'यदि सब अज्ञान सर्वदा आवरक न हों तब तो ब्रह्मज्ञानकालमें ब्रह्मज्ञानसे भी उन अज्ञानोंकी निवृत्ति नहीं होगी, फिर तो मुक्तिमें भी उन अज्ञानोंकी प्रसक्ति होगी।' परंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उक्त सभी अज्ञान मूलाज्ञानकी अवस्था ही हैं, अतः ब्रह्मज्ञानसे मूलज्ञानके नष्ट होनेसे उसके अवस्थाभूत अन्य अज्ञानोंका भी नाश होना सङ्गत है।

कई लोग कहते हैं कि 'अज्ञान स्वभावसे ही सविषय होता है, अतः सभी अज्ञान सर्वदा ही अपने विषयको आवृत करते हैं।' कहा जा सकता है कि 'घटादिविषयकी उत्पत्तिके पहले अज्ञान किसे आवृत करेगा ?' परंतु कारणमें

सूक्ष्मरूपसे घटादि सदा ही रहते हैं अतः उनका आवरण सदा ही हो सकता है। उनके मतानुसार एक ज्ञानसे एक अज्ञानका नाश होता है, अन्योंका अविभव होता है। जैसे 'बहुजनसमाकुल प्रदेशमें एकके ऊपर भी वज्र पड़नेपर दूसरोंका अपसारण हो जाता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये। अथवा जैसे संनिपातहर औषध एक दोषको हटाता हुआ इतर दोषोंको भी हटाता है, वैसे ही एक अज्ञानको नष्ट करता हुआ भी ज्ञान इतर अज्ञानोंको भी तिरस्कृत करता है। जबतक ज्ञान रहता है तबतक आवरणशक्तिका प्रतिबन्ध ही उनका तिरस्कार है।

कहा जा सकता है कि 'धारावाहिक ज्ञानस्थलमें प्रथम वृत्तिके द्वारा अज्ञानका निवारण होगा। परंतु द्वितीय आदि वृत्तियाँ अज्ञानकी निवारक न होंगी; क्योंकि प्रथम ज्ञानसे ही एक अज्ञानका निवारण और अन्योंका तिरस्कार सम्पन्न है।' परंतु इसका समाधान कुछ लोग यह करते हैं कि 'जैसे दीपधारा तमको तिरस्कृत करके स्थित रहती है, वैसे ही वृत्तिधारा भी अज्ञानको तिरस्कृत करके स्थिर होती है। जैसे प्रदीप-तिरस्कृत भी तम प्रदीपके उपरत होनेपर पुनः प्रवृत्त होता है, वैसे ही वृत्ति-तिरस्कृत भी अज्ञान-वृत्तिके उपरत होनेपर पुनः विषयको आवृत करता है; परंतु वृत्यन्तरोंके उदय होनेपर तिरस्कृत ही रह जाता है, जैसे प्रदीपान्तरके उदय होनेपर तम तिरस्कृत ही रहता है। जिसके रहनेपर अग्रिम क्षणमें जिसका सत्त्व रहता है, जिसके अभावमें जिसका असत्त्व रहता है, वह तज्जन्य मान्य होता है। तथा च प्रदीपधारासे तमके प्रागभावका पालन जैसे सम्पन्न होता है, वैसे ही वृत्ति-परम्परासे अनावरणका परिपालन होता है। वही द्वितीय आदि वृत्तिका फल है।' कुछ लोगोंके मतानुसार 'पर्यायसे ही अज्ञानविषयको आवृत करते हैं, अतः ज्ञान स्वकालके ही आवरक अज्ञानका नाश करता है। इसलिये धारावाहिक ज्ञानस्थलमें द्वितीयादि वृत्तियाँ भी अज्ञानकी नाशक हैं।' इस पक्षमें कहा जा सकता है कि 'यदि ज्ञानोदयकालमें भी अज्ञान रहता है, तो विषयका आवरण भी सम्भव है।' परंतु इसका समाधान यह है कि अवस्थारूप अज्ञान तत्तत्कालोपलक्षितस्वरूपका ही आवरण करते हैं। ज्ञान भी स्वकालोपलक्षितविषयावरक अज्ञानका नाश करते हैं तथा च किसी ज्ञानके उदय होनेपर तत्कालीन विषयावरक अज्ञानका ही नाश होता है। विद्यमान भी अज्ञान अन्यकालीन विषयोंके ही आवरक होते हैं, इसलिये तत्कालीन विषयावभासमें कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती।

कुछ लोग कहते हैं कि 'आद्य घटादिज्ञानसे घटादिके अज्ञान नष्ट होते हैं। द्वितीयादि ज्ञानोंसे तो कालविशिष्ट वस्तु-विषयक अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है। अतएव एक बार चैत्र-ज्ञान होनेपर 'चैत्रं न जानामि' इस प्रकार स्वरूपावरण

अनुभूत नहीं होता । किंतु 'इस समय वह कहाँ है, यह मैं नहीं जानता' इस तरह कालादिविशिष्टविषयक ही आवरणका अनुभव होता है । भले विस्मृतिशालीको एक बार अनुभवके अनन्तर भी स्वरूपावरणकी अनुभूति हो, परंतु अन्यत्र द्वितीयादिज्ञान विशिष्टविषयक ही होते हैं ।' कहा जा सकता है कि 'इस तरह तो धारावाहिक ज्ञानस्थलमें द्वितीयादिज्ञान अज्ञाननिवर्तक न होंगे; क्योंकि स्थूल-कालविशिष्टाज्ञान प्रथमज्ञानसे ही निवृत्त हो चुका है । पूर्वापरज्ञानोंसे व्यावृत्त सूक्ष्म कालादिविशिष्टाज्ञानकी निवृत्ति द्वितीयादिज्ञानसे हो ही नहीं सकती; क्योंकि सूक्ष्मकाल द्वितीयादिज्ञानके विषय ही नहीं हैं ।' परंतु धारावाहिक स्थलमें प्रथमोत्पन्न एक ही वृत्ति तावत्काल स्थायीरूपसे मान्य है, अतः वहाँ वृत्तिभेद है ही नहीं । वृत्तिभेद माननेपर भी बहुकालावस्थायी वृत्ति मान्य होती है, अतः स्थूलकालादिविशिष्ट ही वस्तुका अज्ञान निवृत्त होता है । प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली अनेक वृत्तियोंकी ही यदि धारा मानी जाय, तब तो द्वितीयादिज्ञान ज्ञातविषयक ही होनेसे प्रमाण नहीं हैं । अतः आवरण-निवर्तक न भी हों, तो भी कोई हर्ज नहीं ।

'विवरण'कारने साक्षिसिद्ध अज्ञानको ज्ञानाभावभिन्न सिद्ध करनेके लिये अनुमानादि-वेद्य बतलाकर भी अज्ञानको प्रमाणवेद्य इसीलिये कहा है कि अज्ञात-ज्ञापक ही प्रमाण मान्य होता है, अज्ञान सदा ही साक्षिवेद्य होनेसे अज्ञात नहीं है, अतः अनुमानागमादि-वेद्य होनेपर भी वह प्रमाणवेद्य माना जाता है । इसलिये द्वितीयादि वृत्तियाँ उपासनादि वृत्तियोंके तुल्य अज्ञाननिवर्तक न भी हों, तो भी कोई हानि नहीं । प्रमाणवृत्तियोंके ही अज्ञाननिवर्त्तनका नियम होता है । विषयावरक अज्ञान दो प्रकारका मान्य होता है—एक विषयाश्रित होता है, जो कि अनिर्वचनीय रज्जु-सर्पादिका उपादान होता है । अनिर्वचनीयकार्यके उपादानरूपसे उसकी सिद्धि होती है । दूसरा विषयावरक अज्ञान पुरुषमें 'इद-महं न जानामि' (इसे मैं नहीं जानता) इस रूपसे अनुभूत होता है । पुरुषाश्रित अज्ञान विषयाश्रित सर्पादि विक्षेपका उपादान नहीं हो सकता और विषयाश्रित अज्ञानका प्रकाशरूप साक्षीके साथ संसर्ग नहीं हो सकता, अतः दोनों ही अज्ञान मानना उचित है । परोक्षज्ञानस्थलमें वृत्ति बाहर नहीं जाती, अतः दूरस्थ वृक्षोंमें आप्तवाक्यसे परिमाण-विशेषका ज्ञान होनेसे यद्यपि पुरुषगत अज्ञान निवृत्त हो जाता है, तथापि विषयगत अज्ञान नहीं मिटता, अतः उनमें विपरीत परिमाण-भ्रम देखा जाता है । उपदेशके अनन्तर 'शास्त्रार्थं न जानामि' इत्याकारक अज्ञानकी निवृत्ति देखी ही जाती है ।

अन्य लोगोंका कहना है कि 'जैसे नेत्रगत काचादि दोष विषयको आवृत करते हैं, वैसे ही पुरुषाश्रित अज्ञान ही विषयका आवरक होता है ।'

वाचस्पतिमिश्रके मतानुसार 'जीवाश्रित अज्ञानके विषयीभूत ब्रह्मका ही विवर्त्त सम्पूर्ण संसार है। जैसे दर्शकोंसे अविज्ञात मायावी ही अनेक मायिक प्रपञ्चके रूपमें प्रकट होता है, वैसे ही पुरुषसे अज्ञात शुक्तिकादिसे अवच्छिन्न ब्रह्म ही शुक्ति-रजतादिरूपमें विवर्जित होता है। परोक्षवृत्तिसे अज्ञानसम्बन्धी एक आवरणावस्थाकी निवृत्ति होनेपर भी विक्षेपरूप अवस्थान्तर अज्ञान बना रहता है।' अन्य लोगोंका कहना है कि 'शुक्ति-रजतादि परिणाम विषयगत अज्ञानका ही हो सकता है, अतः विषयको आवृत करनेवाले पटके समान विषयगत आवरण ही मानना ठीक है।' कहा जा सकता है कि 'इस तरह अज्ञानका साक्षीके साथ संसर्ग न होनेसे साक्षीके द्वारा उसका प्रकाश नहीं बन सकेगा और परोक्ष-वृत्तिसे विषयसंसर्ग न होनेसे उसकी निवृत्ति भी नहीं बनेगी।' परंतु इसका समाधान यह है कि 'शुक्तिमहं न जानामि' यह मूलाज्ञान ही साक्षीसे संसृष्ट है। उसीका साक्षीसे भान होता है। शुक्तिविषयगत अज्ञान मूलाज्ञानका अवस्थाविशेष ही है। शुक्ति आदिका भी मूलाज्ञानके विषयभूत चैतन्यके साथ अभेद होनेसे शुक्तिविषयताका अनुभव उपपन्न हो जायगा। विवरणादिमें मूलाज्ञानके साधन-प्रसङ्गमें 'इदमहं न जानामि' इस रूपसे मूलाज्ञानमें प्रत्यक्ष-प्रमाणका उपन्यास किया गया है। 'अहमज्ञः' इस प्रकार सामान्यतया अज्ञानका अनुभव मूलाज्ञानका अनुभव माना गया है। 'शुक्तिमहं न जानामि' इत्यादि विषय-विशेषके अज्ञानका अनुभव अवस्था-अज्ञानका ही अनुभव है। फिर भी अवस्था-अवस्थावान्का अभेद होनेसे मूलाज्ञानका साक्षिसंसर्ग होनेसे ही अवस्था-ज्ञानका भी भान बन जाता है। अथवा विषयचैतन्य तथा साक्षिचैतन्य, दोनोंका अभेद होनेसे अवस्थाज्ञान भी साक्षिचैतन्यका विषय समझा जा सकता है। परोक्ष-ज्ञान यद्यपि विषयसंसर्ग न होनेसे अज्ञानका निवर्तक नहीं है, तथापि सत्ता निश्चय परोक्षवृत्त्यात्मक प्रतिबन्धके कारण अज्ञानके अनुभवकी भ्रान्ति होती है, अतः अपरोक्षज्ञान ही अज्ञानका निवर्तक होता है। परंतु अविद्या-अहंकार सुख-दुःखादि-विषयक अपरोक्षज्ञानमें भी अज्ञाननिवर्त्तकता नहीं होती; क्योंकि ये सब सदा ही साक्षिभाष्य होते हैं, कभी भी अज्ञात नहीं रहते। कूटस्थ, व्यापकचैतन्यसे वृत्तियाँ तथा वृत्तियोंका अभाव भासित होता है। अहंकार आदिका सदा ही साक्षिरूप प्रकाशसे संसर्ग रहता है, अतः वे सदा ही भासमान रहते हैं। अन्य ज्ञानधाराकालमें 'अहम्' भासित ही रहता है। अतएव 'एतावन्तं कालमिदमहं पश्यन्नेवासम्' (इतने कालतक मैं इसे देखता ही रहा) इस प्रकार अहंकारका अनुसंधान होता है। जैसे, राहुका प्रकाश राहुसमावृत सूर्य-चन्द्रद्वारा ही होता है, वैसे ही अविद्याका प्रकाश अविद्यावृत साक्षिचेतनद्वारा ही होता है। साक्षीके नित्य होनेपर भी वृत्तिके नाशसे संस्कार और स्मृति हो सकेगी। अनवस्था-भयसे वृत्तिगोचर वृत्ति न माननेपर भी वृत्तिके नाशसे ही तद्गोचर संस्कार आदि

उपपन्न होते हैं। सुख-दुःखादिके ही नाशसे तद्गोचर संस्कार बन सकेगा। साक्षिचैतन्य स्वतः नित्य होनेपर भी भास्य विशिष्टरूपसे अनित्य है, अतः भास्यके नाशसे तद्विशिष्ट चैतन्यका भी नाश होता है। उसीसे संस्कार, स्मृति आदि बन सकेंगे। अन्य लोग सौषुप्त अज्ञान-सुखादिग्राहक अविद्यावृत्तिके समान अहंकार-सुखादिकी स्मृतिके लिये अविद्या-वृत्ति मानते हैं। उसीके नाशसे संस्कारादि बनते हैं। इस पक्षमें यह कहा जा सकता है कि 'एतावन्तं कालमिदमहं पश्यन्नेवासम्' (इतने समयतक मैं इसे देखता ही रहा) इस प्रकार विषयज्ञानधाराके साथ अहंकार-ज्ञानकी धारा कैसे बन सकेगी ?' परंतु यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'शिरसि मे दुःखं पादयोर्मे सुखम्' (मेरे सिरमें दुःख है, पैरमें सुख है) इस तरह जैसे अवच्छेदकके भेदसे सुख-दुःखका यौगिपद्य हो सकता है, वैसे ही अहमाकारवृत्ति और इदमाकारवृत्ति--दोनों ही एक साथ रह सकती हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अहमाकारवृत्ति अविद्या-वृत्ति नहीं है, किंतु उपास्तिके तुल्य मनोवृत्ति है, ज्ञान नहीं। 'सोऽहं' इस प्रत्यभिज्ञामें भी तदंशमें स्मृति है, अहमंशमें ज्ञान नहीं है। अहमाकारवृत्ति ज्ञान इसलिये नहीं है कि ज्ञान करण चक्षु-श्रोत्रादि तथा लिङ्गादिसे जन्य नहीं है। मन स्वयं ज्ञानका उपादान है, वह करण नहीं हो सकता। जैसे 'पर्वते वह्निमनुमिनोमि' इस ज्ञानमें परोक्षता-अपरोक्षता दोनों होती है। 'इदं रजतम्' इस ज्ञानमें अंशभेदसे जैसे प्रमात्व-अप्रमात्व सम्भव है, वैसे ही 'सोऽहं' इस प्रत्यभिज्ञामें भी अंशभेदसे ज्ञानत्व-अज्ञानत्व (ज्ञानभिन्नत्व) भी सम्भव है। अन्य लोग मनको इन्द्रिय मानते हैं; अतः 'मामहं जानामि' इस प्रकारकी वृत्ति ज्ञान ही है, अतएव बाह्यविषयक अपरोक्ष-वृत्ति आवरणकी अभिभावक होती है। इस सम्बन्धमें भी विवाद यह है कि शुक्तिमें 'इदं रजतम्' ज्ञान होता है। यहाँ इदमाकार अपरोक्ष वृत्ति होती है, फिर भी इदमंशका आवरण अभिभूत नहीं होता। यदि ऐसा होता, तो शुक्तिमें रजतका अध्यास न होता।' इसका कुछ लोग समाधान यह करते हैं कि 'इदमाकारवृत्तिसे शुक्तीदमंशविषयक अज्ञान निवृत्त होता है। परंतु शुक्तित्व विशेषका अज्ञान निवृत्त नहीं होता। उसी अज्ञानसे रजतका भ्रम होता है; क्योंकि शुक्तित्वके अज्ञानसे ही रजतभ्रम होता है। शुक्तित्वज्ञानसे ही रजतभ्रम दूर होता है, अतः शुक्तित्वके अज्ञानसे ही अनिर्वचनीय रजतकी उत्पत्ति होती है। इसीलिये 'इदं रजतम्' इस भ्रममें इदमंशका स्फुरण होता है। रजतभ्रममें शुक्त्यंश अधिष्ठान है, इदमंश आधार है। सकार्य अज्ञानका विषय अधिष्ठान है। अतद्रूप भी तद्रूपसे आरोप्य बुद्धिमें स्फुरित होते हुए आधार कहा जाता है—'संसिद्धा सविलासमोहविषये वस्तुन्यधिष्ठानगीर्नाधारेध्यसनत्य वस्तुनि ततोऽस्थाने महान्सम्भ्रमः' (संक्षेप शारीरक १। २३१)

अन्य लोगोंका मत है कि 'इदमंशाज्ञान'का ही परिणाम रजत है, अतएव 'इदं रजतम्' इस तरह 'इदम्' से संसृष्ट ही रजत प्रतीत होता है। इदमाकारवृत्तिसे आवरण-शक्तिमात्रकी निवृत्ति होती है। फिर भी विक्षेप-शक्तिके साथ अज्ञान बना रहता है। वही कल्पित रजतका उपादान है। अधिष्ठान-साक्षात्कारसे अधिष्ठानाज्ञान निवृत्त हो जानेपर भी विक्षेप-शक्तिसहित अज्ञान ही जलप्रतिबिम्बित वृक्षका अधोऽग्रत्वाध्यास तथा जीवन्मुक्तिमें अनुवृत्त प्रपञ्चाध्यासका उपादान होता है।' कुछ आचार्य कहते हैं कि ''इदं रजतम्' यह ज्ञान भ्रमात्मक है। इसमें इदमाकार-ज्ञान प्रमाणज्ञान नहीं है। 'इदं रजतम्' इस भ्रममें दो ज्ञानोंका अनुभव नहीं होता है, अतएव 'इदं' यह प्रमाज्ञान है, 'रजतम्' यह भ्रमात्मक ज्ञान है।'' परंतु यह पक्ष संगत नहीं है; क्योंकि सामान्य-विशेष संसर्गविषयक यहाँ एक ही ज्ञान है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अधिष्ठान-सामान्यज्ञान अध्यासका कारण है, अतः अध्यास देखकर उसके कारणभूत इदंवृत्तिकी कल्पना करनी चाहिये; क्योंकि अधिष्ठान-सामान्यज्ञान अध्यासका हेतु है ही नहीं। कहा जा सकता है कि 'अधिष्ठान-सम्प्रयोगके बिना प्रातिभासिक रजतकी उत्पत्ति नहीं होती। यही इदंवृत्तिके होनेमें प्रमाण है।' परंतु यह ठीक नहीं है। इससे इतना ही सिद्ध होता है कि दुष्टेन्द्रिय-सम्प्रयोग ही अध्यासका कारण है। यह भी शङ्का होती है कि 'इन्द्रिय-सम्प्रयोग सभी भ्रमोंमें कारण नहीं है; क्योंकि अहंकारके अध्यासमें इन्द्रिय-सम्प्रयोग अपेक्षित है ही नहीं। अतः अधिष्ठान-सामान्यज्ञानको ही अध्यासका हेतु मानना ठीक है। रजतादि अध्यासमें इन्द्रियसे शुक्तिके इदमंशका ज्ञान होता है। अहंकाराध्यासमें स्वतः प्रकाशमान प्रत्यगात्माका सामान्य-ज्ञान हेतु है।' परंतु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि घटादिके अध्यासमें अधिष्ठान-सामान्यज्ञान नहीं होता है; क्योंकि घटादि प्रत्यक्ष होनेके पहिले घटादिके अधिष्ठानभूत नीरूप ब्रह्ममात्र गोचर चाक्षुष वृत्तिका उत्पन्न होना असम्भव ही है। स्वरूप-प्रकाश तो आवृत ही रहता है। यदि कहा जाय कि 'आवृत-अनावृत साधारण अधिष्ठान प्रकाशमात्र अध्यासका कारण है,' तब तो शुक्तिके इदमंशसे इन्द्रियसम्प्रयोग हुए बिना भी आवृत शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य रहता ही है, अतः उस समय भी शुक्तिमें रजतका अध्यास होना चाहिये यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'अध्यास-सामान्यमें अधिष्ठान-प्रकाश सामान्य हेतु है और प्रातिभासिक अध्यासमें अभिव्यक्त अधिष्ठान-प्रकाश हेतु है, इसलिये कहीं दोष न आयेगा। सामान्यमें सामान्य और विशेषमें विशेष हेतु होता ही है,' क्योंकि 'पीतः शङ्खः, नीलं कूपजलम्' इत्यादि प्रातिभासिक अध्यासोंमें भी अभिव्यक्त अधिष्ठानका प्रकाश नहीं होता है। रूपके बिना चाक्षुषज्ञान नहीं होता। शङ्खादिगत शुक्ल-रूपका उपलम्भ उस समय है ही नहीं। अध्यासके पहले नीरूप शङ्खादि गोचरवृत्ति असम्भव ही है। यदि यह माना जाय कि 'प्रातिभासिक भ्रमोंमें भी रजतादि

अध्यासोंमें ही अभिव्यक्त अधिष्ठान प्रकाश हेतु है' तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि फिर भी 'पीतः शङ्खः' इत्यादि स्थलोंमें दुष्टेन्द्रिय-सम्प्रयोगको हेतु कहना ही पड़ेगा। ऐसी स्थितिमें प्रातिभासिक अध्यासोंमें दुष्टेन्द्रिय-सम्प्रोगको ही हेतु क्यों न माना जाय ? इसीसे रजताध्यासके कादाचित्कत्वका भी निर्वाह हो जाता है। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि सामान्यतया एवं विशेषतया अधिष्ठान-प्रकाश अध्यासका कारण है। फिर भी शङ्का होती है कि 'सादृश्यनिरपेक्ष अध्यासोंमें अधिष्ठान-प्रकाश हेतु न भी हो, तो भी सादृश्यसापेक्ष रजतादि अध्यासमें रजतादि सादृश्यभूत भास्वररूप विशेषादिविशिष्ट धर्मिज्ञानको कारण मानना चाहिये। यदि दुष्टेन्द्रिय-सम्प्रयोगमात्रको अध्यासमें कारण कहा जाय तब तो शुक्तिके तुल्य ही इंगाल (कोयला) में भी रजतादिका अध्यास होना चाहिये।' कुछ लोगोंका कहना है कि "सादृश्य भी विषयदोषरूपसे ही अध्यासमें कारण है।" परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि वि-सदृशमें सादृश्यभ्रमसे भी अध्यास होता है, जैसे कि समुद्रजलमें दूरसे नील शिलातलका अध्यारोप होता है। कुछ लोग सादृश्य-ज्ञान-सामग्रीको ही अध्यासका कारण कहते हैं; परंतु ज्ञान-सामग्री ज्ञानका कारण हो सकती है, अर्थका कारण नहीं। अतः लाघवात् सादृश्य-ज्ञान ही अध्यासका कारण है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'जैसे स्वतः शुभ्र रजतपात्रगत स्वच्छ जलमें ही नैल्याध्यास होता है, मुक्ताफलमें नैल्याध्यास नहीं होता, वैसे ही शुक्तिमें ही रजताध्यास होता है, इंगालादिमें नहीं। यह फल-बल-कल्प्य स्वभावभावविशेष ही व्यवस्थाका कारण है। सादृश्यज्ञानका होना-न-होना हेतु नहीं है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि स्वतः पटखण्डमें कमल-कुड्मल आदिका अध्यास यद्यपि नहीं होता तथापि कर्त्तनादिके द्वारा कमलाकार सम्पन्न होनेपर उसी कर्त्तनादिद्वारा कमलकारघटित पटखण्डमें कमलका अध्यास देखा जाता है। यहाँ वस्तुस्वभावानपेक्षसादृश्यज्ञान ही अन्वयव्यतिरेकसे अध्यासका हेतु निश्चित होता है। अन्यथा कमलाकाररहित पटखण्डमें भी कमलका भ्रम होना चाहिये। इसपर भी कुछ लोग कहते हैं कि 'सादृश्य-ज्ञानको यदि अध्यासमें कारण माना जाय तो भी विशेष दर्शनप्रतिबध्य रजतादि अध्यासोंमें ही उसे कारण मानना ठीक है।' 'पीतः शङ्खः' इत्यादि विशेष दर्शनसे अप्रतिबध्य स्थलोंमें सादृश्यज्ञान सम्भव ही नहीं है। विशेष दर्शनसे प्रतिबध्य शुक्ति रजतादि स्थलोंमें प्रतिबन्धक ज्ञान-सामग्रीको प्रतिबन्धक माननेका नियम है। इस दृष्टिसे विशेष दर्शन-सामग्रीको अवश्य प्रतिबन्धक कहना पड़ेगा। इसीसे सब व्यवस्था बन सकती है। फिर सादृश्य-ज्ञानको अध्यासका कारण क्यों माना जाय ? इंगालादिके चक्षुःसम्प्रयुक्त होनेपर उसमें नैल्यादिरूप विशेष दर्शन-सामग्री होनेसे रजतादि अध्यास नहीं होता। शुक्ति आदिमें भी यदि नीलपृष्ठत्वादिके साथ चक्षुःसम्प्रयोग होता है तो विशेष दर्शन-सामग्री होनेसे रजताध्यास नहीं होता। सदृशभागग्राहका सम्प्रयोग होनेसे विशेष दर्शन-

सामग्री न होनेके कारण अध्यास होता है। कहा जा सकता है कि 'उस समय भी शुक्तित्वरूप विशेष दर्शनकी सामग्री तो है ही, फिर अध्यास क्यों नहीं होता ?' परंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अध्यास-समयमें भी शुक्तित्व-दर्शनाभावसे तत्सामग्र्यभाव आपको भी मानना ही पड़ेगा। यदि सादृश्य-ज्ञानरूप अध्यास कारणदोषसे प्रतिबन्धके कारण शुक्तित्व-दर्शन-सामग्र्यभाव मान्य है, तब तो घट्ट-कुटीप्रभातन्यायसे सादृश्य-ज्ञानको अध्यासका कारण मानना ही पड़ा।

इसपर दूसरे पक्षका कहना है कि रजताध्याससे समीप आनेपर शुक्तिमें रजतसादृश्यरूप चाकचिक्यके दृश्यमान रहनेपर ही शुक्तित्वका उपलम्भ होता है। इससे सादृश्यज्ञान शुक्तित्वरूप विशेष दर्शनकी सामग्रीका प्रतिबन्धक सिद्ध नहीं हुआ। अतः दूरत्वादि दोषोंसे प्रतिबद्ध होनेसे अथवा शुक्तित्व-व्यञ्जक नीलपृष्ठ-त्वादिग्राहक मानाभावसे विशेष दर्शन-सामग्रीका अभाव मानना पड़ेगा। इसी तरह दूरस्थ समुद्र-जलमें नीलशिलात्वका आरोप हो सकता है; क्योंकि वहाँपर नियत नीलरूपाध्यासके प्रयोजक दोषसे दूरत्वके कारण नीरत्व-व्यञ्जक तरङ्गादि-ग्राहक साधनके संनिहित न होनेसे शुक्लरूप, जलराशित्व आदि विशेषोंके दर्शनकी सामग्रीका अभाव है। विस्तृत वस्त्रमें परिणाहादिरूप विशेष-दर्शनकी सामग्री होनेसे कमलत्वादिका अध्यास नहीं होता है। कर्त्तनादिद्वारा कमलाकारसम्पन्न पटमें विशेष दर्शन-सामग्री न होनेसे कमलत्वादि अध्यास हो जाता है।

एक शङ्का यह भी होती है कि अध्यासमें यदि सादृश्य-ज्ञानकी अपेक्षा न हो तो करस्पृष्ट लौहखण्डमें उसके नीलरूपकी ग्राहक विशेष दर्शन-सामग्री न होनेसे रजताध्यास क्यों नहीं होता ?' परंतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसे स्थलों-में रजताध्यास होता ही है। हाँ, ताम्रादिव्यावर्त्तक विशेष सामग्री न होनेसे ताम्रादि अध्यास भी होता है। कहीं अनेक अध्यास होनेसे अध्यस्तमें संशय भी होता है। 'ताम्र है या रजत है' इत्यादि कहीं रजतप्राय वस्तुपूर्ण कोषगृहादि लौहशकलमें रजतहीका अध्यास होता है। कहीं सादृश्य-ज्ञान रहनेपर भी करणदोष न रहनेसे शुक्तिमें रजताध्यास नहीं होता। वैसे ही कभी अध्यास न भी हो तो भी कोई दोष नहीं। अतः कार्यकल्प्य इदमाकारवृत्ति आवश्यक नहीं है। फिर 'इदमाकारवृत्ति आवरणभङ्ग करती है या नहीं' इत्यादि विचार व्यर्थ है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'अप्रतिबद्ध इदमर्थ-सम्प्रयोगरूप कारणसे भी इदमाकारवृत्तिकी कल्पना होगी' क्योंकि इदमर्थ-सम्प्रयोगरूप कारणसे उत्पन्न होती हुई इदंवृत्तिका दुष्टेन्द्रिय-सम्प्रयोगसे क्षुभित अविद्याके परिणामभूत इदंवृत्तिके समकाल उत्पन्न रजत ही विषय होता है। वहीं प्रातिभासिक रजत दोषयुक्त चक्षुसे गृहीत होता है। कहा जा सकता है कि चक्षुसे रजतका सम्प्रयोग हुए बिना रजत चाक्षुष नहीं हो सकता। दुष्टेन्द्रिय-सम्प्रयोगजन्य रजत इदंवृत्तिके समकाल नहीं हो सकता; क्योंकि ज्ञान-कारण इन्द्रिय-सम्प्रयोगसे ज्ञान ही उत्पन्न हो सकता है। रजत तो

अर्थ है, उसकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः इदंवृत्तिके अनन्तर तज्जन्य तदभिव्यक्त साक्षीमें ही रजतका अध्यास होता है; इसलिये साक्षीसे ही रजतका भान होता है। रजतमें चाक्षुषत्वका अनुभव इसलिये होता है कि स्वभासक चैतन्य-व्यञ्जक इदंवृत्तिका चक्षु जनक है, अतः परम्परासे चक्षुर्जन्य होनेके कारण चाक्षुषत्वका अनुभव होता है।

इस पक्षमें अन्य लोग यह दोष देते हैं कि 'इस तरह तो पीत शङ्ख-भ्रममें चक्षुकी अपेक्षा न होनी चाहिये; क्योंकि रूपके बिना केवल शङ्ख चक्षुसे ग्राह्य हो नहीं सकता। पीतिमा ग्रहणके लिये भी चक्षु अनावश्यक है; क्योंकि साक्षिभास्यत्व-पक्षमें आरोप्य ऐन्द्रियक मान्य नहीं होता।' यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'पीतिमाका स्वरूपाध्यास नहीं होता, अपितु नयनगत पित्तकी पीतिमा ही अनुभूयमान होती है। उसका केवल शङ्ख-संसर्ग ही अध्यस्त होता है, इसलिये उसी पीतिमाके अनुभवार्थ चक्षुकी अपेक्षा होती है।' कारण इस स्थितिमें तो शङ्ख और पीतिमाका संसर्ग प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये, क्योंकि नयन-प्रदेशगत पित्तकी पीतिमाकारवृत्तिसे अभिव्यक्त चैतन्यके साथ शङ्ख और पीतिमाके संसर्गका सम्बन्ध ही नहीं है, अतः वे साक्षिभास्य नहीं हो सकते। पीतिमासे संसृष्ट शङ्खगोचर एकवृत्ति स्वीकृत नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'नयनप्रदेशस्थित पित्तकी पीतिमाके दोषसे शङ्खमें संसर्गाध्यास नहीं होता, किंतु नयनरश्मियोंसे निर्गत विषयव्यापी पित्त द्रव्यकी पीतिमाका ही संसर्गाध्यास होता है। जैसे रक्त रंगसे व्याप्त घटमें अनुभूयमान रक्तरूपके संसर्गका भान होता है। अतः पित्त पीतिमाकारवृत्तिसे शङ्खदेशमें चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनेसे शङ्खपित्त-पीतिमाका अपरोक्ष अनुभव हो सकता है। परंतु उक्त कथन इसलिये ठीक नहीं है कि फिर तो जैसे सुवर्णलिप्त घटादिमें अन्य लोगोंको भी पीतिमाका अनुभव होता है वैसे ही शङ्खमें लिप्त पित्तकी पीतिमाका अनुभव अन्य लोगोंको भी होना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं कि "समीपमें गृहीत होकर ही पीतिमा दूरगृहीत होती है। जैसे दूर आकाशमें उड़ते हुए पक्षीका तभी दर्शन होता है, जब उसका समीपमें दर्शन हुआ हो। परंतु अन्य नयनगत पित्तद्रव्यकी पीतिमा अन्यको समीपसे गृहीत नहीं होती, अतः उसे शङ्खव्यापी पित्तकी पीतिमा भी गृहीत नहीं होती।' परंतु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि पित्तरोगवाले मनुष्यके चक्षुके समीप चक्षु रखनेसे पीतिमा-सामीप्य तो है ही, फिर उसका ग्रहण अन्य लोगोंको होना ही चाहिये। इसी तरह अतिधवल बालुकामय तलमें बहनेवाली स्वच्छ नदीके जलमें नीलत्वके अध्यासमें तथा गगनमें नीलत्वके अध्यासमें एवं चाँदनीमें स्थित रक्त वस्त्रके नैल्याध्यासमें अनुभूयमान आरोपका निरूपण नहीं

हो सकता। यदि यहाँ नैल्यसंसृष्ट तादृग् जल या गगनादि-अधिष्ठान-गोचर चाक्षुषवृत्ति स्वीकार नहीं की जायगी, तब तो चक्षुका अनुपयोग दुष्परिहार्य ही होगा।

'पञ्चपादिका' कारकी दृष्टिमें जिस बालकने इस जन्ममें तिक्तरसका अनुभव नहीं किया है, उसे मधुर दुग्धमें तिक्तताकी प्रतीति जन्मान्तरीय अनुभवजन्य संस्कारसे होनी मान्य है। इससे स्वरूपतः अध्यस्त तिक्तरसका रसनासे ही अनुभव मानना स्पष्ट है। अन्यथा रसना-व्यापारके बिना भी तिक्तताकी प्रतीति होनी चाहिये। अतः पूर्वोक्त नीलता-अध्यासस्थलोंमें भी अधिष्ठानसम्प्रयोगसे तद्विषयक चाक्षुषवृत्तिका उदय होता है और उसी समय नीलताका अध्यास होता है। वही अध्यस्त नीलता उस वृत्तिका विषय होती है अतः वह भी चाक्षुष ही है; क्योंकि रूपके बिना गगनादि अधिष्ठानोंमें चाक्षुषवृत्ति हो नहीं सकती। अतः अधिष्ठानावच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति न होनेसे अध्यस्तनीलता अधिष्ठान-चैतन्यसे भास्य नहीं हो सकती। तिक्त-रसस्थलोंमें तो अध्यस्त एवं अधिष्ठान दोनों ही एक रसनेन्द्रियग्राह्य नहीं है। त्वक् इन्द्रियसे मधुर दुग्धरूप अधिष्ठान-गोचरवृत्ति उत्पन्न होती हैं। उस वृत्तिसे अधिष्ठान-चैतन्यकी अभिव्यक्ति होनेसे पित्तोपहत रसनाका सम्प्रयोग होता है, उसी चैतन्यमें तिक्तरसका अध्यास होता है। उसी समय अध्यस्त रसविषयक रासनवृत्ति उत्पन्न होती है। त्वगिन्द्रियजन्य अधिष्ठानगोचरवृत्तिमें अभिव्यक्त चैतन्यसे भास्य तिक्तरसमें यदि परम्परासे भी रसनाका उपयोग न होगा तो रासनत्वानुभवका समर्थन किसी भी तरह नहीं होगा। इसी तरह रजतके भी चाक्षुषत्वकी उत्पत्ति हो सकती है। अतएव 'चक्षुषा रजतं पश्यामि' (नेत्रसे रजत देखता हूँ) यह अनुभव होता है।

कहा जा सकता है कि 'चक्षुसे रजतका संनिकर्ष हुए बिना ही यदि रजतमें चाक्षुषत्व हो, तब तो प्रत्यक्ष रजतमें विषयेन्द्रिय-संनिकर्ष कारण है, द्रव्य-प्रत्यक्षमें द्रव्येन्द्रिय-संयोग कारण है। रजत-प्रत्यक्षमें रजतेन्द्रिय-संयोग कारण है, इत्यादि कार्य-कारणभाव भङ्ग होगा।' परंतु यह कोई दोष न होगा। संनिकर्ष, संयोगादि कोई एक कारण अनुगत नहीं है, अतः प्रथम नियम नहीं बनता। नैयायिकोंके मतमें संयोगायोग्य तमरूप अद्रव्यमें भी द्रव्यत्वका अध्यास होता है और संयोगायोग्य गुणादिमें भी द्रव्यत्वका अध्यास होता है, अतः द्वितीय नियमका अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक द्रव्यत्वाधिकरणके प्रत्यक्षमें इन्द्रिय-संयोग कारण है, अतः प्रातिभासिक रजतमें तो अधिष्ठानगत इदंत्वके समान ही अधिष्ठानगत द्रव्यत्वका भी आरोप ही होता है। इसलिये प्रातिभासिक द्रव्यत्वाधिकरण रजतके इन्द्रियसंयोगके बिना भी प्रत्यक्ष होनेमें कोई हानि नहीं है।

अतएव तृतीय नियमका भी कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। जहाँ बीज-सामान्यका अङ्कुर सामान्यके साथ कार्य-कारणभाव माननेपर बीजान्तरसे अङ्कुरान्तरकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग होता है, वहीं विशिष्य कार्य-कारणभाव मानना आवश्यक होता है। प्रकृतमें वह सर्वथा व्यर्थ है।

कहा जा सकता है कि 'द्रव्यप्रत्यक्षमें द्रव्य-संयोग कारण है, यह सामान्य नियममात्र माननेसे अन्य द्रव्यसंयोगसे अन्य द्रव्य-प्रत्यक्ष होने लगेगा।' परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि तत्तद्द्रव्यके प्रत्यक्षमें तत्तद्द्रव्यसंयोग कारण है, ऐसा माननेपर कोई अतिप्रसङ्ग नहीं होता। अन्यथा अन्य रजतसंयोगसे अन्य रजतका प्रत्यक्ष होनेका अतिप्रसङ्ग भी अनिवार्य ही होगा। इसके अतिरिक्त 'इदं रजतं पश्यामि, नीलं जलं पश्यामि, नीलं गगनं पश्यामि' इत्यादि अनन्यथासिद्ध अनुभवोंमें 'प्रत्यक्षमात्रमें विषय-संनिकर्ष कारण है' इत्यादि नियमोंका व्यावहारिक विषयमें ही संकोच करना चाहिये। कहा जा सकता है कि 'इस तरह तो यही कहना ठीक है कि प्रमामें संनिकर्ष कारण है, भ्रममें नहीं, यह भी संकोच कल्पना हो सकती है। फिर तो असंनिकृष्ट देशान्तरस्थ रजतादिका भी भ्रम हो सकता है। इस तरह अन्यथाख्यातिका प्रसङ्ग होगा।' परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि अभिव्यक्त चैतन्यका सम्बन्ध हुए बिना देशान्तरस्थ रजतकी अपरोक्षता नहीं बन सकती। रजतप्रतीति और बाध, दोनों ही बातोंमें भ्रमविषयक अनिर्वचनीय रजतको स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता।

कहा जा सकता है कि 'अधिष्ठान-सम्प्रयोगमात्रसे यदि प्रातिभासिक रजतको ऐन्द्रियक माना जायगा, तब तो शुक्ति-रजताध्यास-समयमें ही वहीं कालान्तरमें अध्यसनीय रंग (राँगा) का भी चाक्षुषत्व होना चाहिये। परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि रजताध्यास समयमें रंग-रजतसाधारण चाकचिक्य दिखलायी पड़नेपर भी जिस रागादिरूप दोषके अभावसे वहाँ रंगाध्यास नहीं होता, उसीके कारण रंगादिविषयक वृत्ति भी उत्पन्न नहीं होती। रजतमें रागादि होता है, इसीलिये रजताध्यास एवं रजताकारवृत्ति उत्पन्न होती है। अतः इदमंशयुक्त रजताकार एक ही वृत्ति इन्द्रियजन्य उत्पन्न होती है। उसके पहले इदमाकारवृत्ति नहीं होती। परंतु अन्य लोगोंका मत है कि 'इदमाकारवृत्ति' एक ही होती है। वही अध्यासके प्रति कारण है। अध्यस्त रजतादिका उस वृत्तिसे अभिव्यक्त साक्षिचैतन्यसे भान होता है। अतः रजताकारवृत्ति निरर्थक है।' अन्य लोगोंके मतानुसार 'इदमाकार सामान्य-ज्ञानरूपिणी एक ही वृत्ति होती है। इदं एवं रजतके तादात्म्यगोचरवृत्ति दूसरी होती है। अतः दो ज्ञान ही मान्य होना ठीक है।' अन्य लोगोंका मत है कि 'जैसे इदमंशावच्छिन्न चैतन्यस्थ अविद्या रजतज्ञानाभासरूपसे परिणत होती है, इदंवृत्तिके तुल्य रजतज्ञान अनध्यस्त नहीं है, जैसे रजतमें अधिष्ठानगत इदंताके संसर्गका भान होता है, वैसे ही रजतज्ञानमें

अधिष्ठानगत इदंत्व-विषयत्व-संसर्गका भान हो सकता है। अतः 'इदं रजतम्' यह द्वितीय ज्ञान इदंविषयक नहीं कहा जा सकता।'

कहा जा सकता है कि 'साक्षिचैतन्यसे ही सब पदार्थोंका भान हो सकता है, वृत्तिकी क्या आवश्यकता है ? यदि घटादिविषयक संस्कारके लिये वृत्ति आवश्यक भी हो, तो भी उसका निर्गम अनावश्यक है। परोक्षस्थलके समान ही अनिर्गत वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यसे ही घटादिका प्रकाश हो ही सकता है। फिर भी परोक्ष-अपरोक्षकी विलक्षणता वैसे ही उत्पन्न हो सकेगी, जैसे परोक्षमें भी शाब्द एवं अनुमितिमें करणविशेषप्रयुक्तवृत्तिसे विलक्षणता सम्पन्न हो जाती है।' अन्य लोगोंके अनुसार 'प्रत्यक्ष-स्थलमें विषयावच्छिन्न चैतन्य ही विषयप्रकाश होता है, अतः विषय-चैतन्यकी अभिव्यक्तिके लिये वृत्तिनिर्गम आवश्यक है। परोक्ष-स्थलमें व्यवहित वन्ध्यादिके साथ वृत्ति-संसर्ग नहीं होता, वहाँ इन्द्रियोंके समान वृत्ति-निर्गमका द्वार उपलब्ध नहीं होता, अतः अगत्या अनिर्गत वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य ही स्वरूपसम्बन्धसे विषय-प्रकाश माना जाता है।' अन्य लोगोंके मतानुसार जैसे साक्षात् चैतन्यसंसर्गी अहंकार तथा सुख-दुःखादिका चैतन्यसे प्रकाश होता है, वैसे ही विषयसंसृष्ट चैतन्य ही अपरोक्षताका हेतु है। अतः विषय-चैतन्यकी अभिव्यक्तिके लिये वृत्ति-चैतन्य आवश्यक है।

अन्य लोगोंका कहना है कि 'शब्दानुमानावगत विषयोंकी अपेक्षा प्रत्यक्षावगत विषयकी स्पष्टता अनुभूत होती है। रसालके सौगन्ध्य-माधुर्यादिकी हजारों शब्दानुमानोंसे भी उतनी स्पष्टता नहीं होती जितनी रासन, घ्राणजादि प्रत्यक्ष-ज्ञानसे होती है; क्योंकि प्रत्यक्षके बिना रसालका माधुर्य-सौगन्ध्य कैसा है, यह जिज्ञासा बनी ही रहती है। अतः प्रत्यक्ष ग्राह्य पदार्थ अभिव्यक्त अपरोक्ष-चैतन्यसे अवगुण्ठित होता है, इसलिये उसकी स्पष्टताविषयक जिज्ञासा प्रशान्त हो जाती है। शब्दसे रसालकी मधुरता आदिका ज्ञान होनेपर भी तद्गत माधुर्यादि वृत्ति अवान्तर जातिका बोध नहीं होता। इसीलिये साक्षिवेद्य सुखादि भी स्पष्ट हैं। शब्दवृत्तिवेद्य ब्रह्म भी मननादिके पहले अस्पष्ट होता है। मननादिसे जब पूर्ण अज्ञान मिटता है तब स्पष्टता होती है।' इसपर भी कुछ लोग कहते हैं कि 'विषयावच्छिन्न चैतन्यगत आवरक अज्ञान अनिर्गतवृत्तिसे नष्ट हो सकेगा और कहीं अतिप्रसङ्ग भी नहीं होगा।' कहा जा सकता है कि 'समानविषयक होनेसे देवदत्तके घटज्ञानसे यज्ञदत्तके घटाज्ञानकी निवृत्ति होनी चाहिये। अहमर्थ एवं विषयचैतन्यमें रहनेवाले ज्ञान-अज्ञानका भिन्नाश्रय होनेपर भी विरोध होगा ही, क्योंकि समानाश्रयता विरोधका प्रयोजक नहीं।' परंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि समानाश्रयविषयत्वको ज्ञानाज्ञानके विरोधका प्रयोजक मानकर वृत्ति-निर्गम माननेपर भी देवदत्तीय घटज्ञान एवं यज्ञदत्तीय घटाज्ञान दोनों ही एक घटावच्छिन्न चैतन्यको

आश्रय करते हैं, अतः अतिप्रसङ्ग होगा ही। इसलिये कहना पड़ेगा कि 'विशिष्ट विरोधप्रयोजक जो अज्ञान जिस पुरुषके प्रति जिस विषयका आवरण करता है वही अज्ञान तद्विषयक ज्ञानसे निवृत्त होता है। फिर समानाश्रयता अपेक्षित नहीं है। दूसरे लोग उपर्युक्त पक्षको असङ्गत कहते हैं। उनके अनुसार 'वृत्ति-निर्गम अङ्गीकार किये बिना ज्ञान एवं अज्ञानके विरोधका कोई भी प्रयोजक निश्चित नहीं हो सकेगा।' कोई लोग विषयगत अज्ञानकी निवृत्तिके लिये वृत्तिका निर्गम आवश्यक समझते हैं। कुछ लोग चिदुपरागार्थ अर्थात् चैतन्यके साथ सम्बन्धके लिये वृत्ति-निर्गम आवश्यक समझते हैं और कई लोग अभेदकी अभिव्यक्तिके लिये वृत्ति-निर्गम आवश्यक समझते हैं।

'तत्त्वशुद्धि' कारका कहना है कि 'प्रत्यक्ष-प्रमाण न तो घटपटादिको ग्रहण ही करता है और न उनका सत्त्व ही ग्रहण करता है। किंतु वह (प्रत्यक्ष-प्रमाण) अधिष्ठानरूपसे घटादि-अनुगत सन्मात्रको ही ग्रहण करता है। 'सत् ही प्रत्यक्ष-प्रमाणका विषय है, घटादिका प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे भ्रममें अधिष्ठानका इदमंश ही प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है, इन्द्रियोंका अन्वय-व्यतिरेक इदमंशके प्रत्यक्षमें ही उपक्षीण हो जाता है, आरोपित रजतांशका प्रतिभास भ्रान्तिसे होता है, वैसे सन्मात्रका प्रत्यक्षसे ग्रहण होता है। उसीमें इन्द्रियका व्यापार सार्थक है। घटादि-भेद प्रतिभास, भ्रान्तिसे ही होता है।' कहा जा सकता है कि 'रजतादिकी तरह घटादिका बाध नहीं होता, अतः घटादि-प्रतिभासको भ्रान्ति मानना निर्मूल है।' परंतु यह ठीक नहीं! बाधदृष्टि न होनेपर भी देशकालव्यवहित वस्तुके समान घटादिभेद वस्तु प्रत्यक्षके अयोग्य है, अतः उनका प्रतिभास भ्रान्ति है। इन्द्रिय-व्यापारके अनन्तर प्रतीयमान घट स्वभिन्न समस्त पदार्थोंसे भिन्न ही प्रतीत होता है। घटादि सर्वभिन्नरूपसे असंदिग्ध, अविपर्यस्तरूपसे प्रतीत होते हैं। भेद-ग्रह प्रतियोगिग्रह-सापेक्ष होता है। परंतु देश, काल-व्यवधानसे असंनिकृष्ट प्रति-योगियोंका प्रत्यक्षसे ग्रहण नहीं हो सकता। जो लोग कहते हैं कि 'भेदज्ञान प्रति-योगि-अंशमें संस्कारकी वैसे ही अपेक्षा करता है, जैसे प्रत्यभिज्ञान तत्तांशमें संस्कारकी अपेक्षा करता है।' परंतु यहाँ तो प्रतियोगि-अंशमें स्मृति भी सम्भव नहीं है। कहा जाता है कि 'वस्तुभेद होनेसे कनकाचल भेदका प्रतियोगी है— इस तरहके अनुमानसे प्रतियोगि-सम्बन्धगोचर संस्कार सम्भव है।' परंतु यह भी ठीक नहीं है। भेदज्ञानके बिना अनुमिति भी नहीं होगी। अनुमिति तभी हो सकती है, जब पक्ष, साध्य, हेतुका भेद ज्ञात हो। पक्षादि-भेदज्ञान तभी हो सकता है, जब अनुमिति हो। इस तरह आत्माश्रय दोष होता है। अतः भेदगत प्रतियोगि-सम्बन्धका भान नहीं हो सकता। पक्षादिके अभेद-भ्रम निराकरणके लिये भेदज्ञान आवश्यक है। सम्बन्धिद्वयका प्रत्यक्ष हुए बिना सम्बन्धका प्रत्यक्ष

नहीं होता । प्रतियोगीका प्रत्यक्ष हुए बिना प्रतियोगि-विशिष्ट भेदका प्रत्यक्ष नहीं होता । प्रत्यक्षायोग्य प्रतियोगीका प्रतिभान भ्रान्तिरूप ही है । फिर उसी ज्ञानमें भासित भेद एवं भेदविशिष्ट घटादि भी उसी भ्रममें भासित होते हैं; अतः निर्विशेष सन्मात्र ही भासित होते हैं ।

अनुभव और आत्मा

'वार्तिकसार' में संवित्के सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण बातें कही गयी हैं । संवित्का भेद स्वतः नहीं कहा जा सकता । घटसंवित्, पटसंवित् इस रूपसे वेद्य-पूर्वक ही संवित्का भेद भासित होता है, अतः संवित्का यह भेद स्वाभाविक नहीं; किंतु घटादि उपाधिके कारण ही प्रतीत होता है । वह सुतरां भ्रम है । इसी प्रकार सम्यक् ज्ञान, संशय एवं मिथ्याज्ञान इत्यादि भेद भी संवित्के स्वाभाविक नहीं हैं; क्योंकि ये भेद बुद्धिगत हैं । चिद्रूप संवित् तो सम्यक्, संशय, मिथ्या आदि सभी ज्ञानोंमें समान है, क्योंकि बाध न होनेसे रज्जु-सर्पका भी स्फुरण मिथ्या नहीं । यदि स्फूर्तिका बाध हो, तब तो रज्जुतत्त्वका भी स्फुरण कैसे हो सकेगा ? यदि कहा जाय कि रज्जुस्फूर्ति सर्पस्फूर्तिसे पृथक् है, तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसी स्थितिमें दो स्फूर्तियोंमें स्फूर्ति शब्दका प्रयोग कैसे होगा ? कहा जा सकता है कि स्फूर्तित्व-जातिके अनुगमसे ही दोनोंमें स्फूर्ति शब्दका प्रयोग हो सकेगा । परंतु वेदान्तमतानुसार व्यक्ति-जातिके स्थानमें व्यावृत्त एवं अनुवृत्त शब्दका प्रयोग होता है । तदनुसार यहाँ चित् अनुवृत्त है, बुद्धि व्यावृत्त है । तथा च सर्पबुद्धि, रज्जुबुद्धियोंकी परस्पर व्यावृत्ति होनेपर भी चित् या स्फूर्ति उभयत्र अनुगत है । उसीको कोई जाति कह लेते हैं । गोत्वादिमें भी यही न्याय लागू हो सकता है । सर्वत्र अनुगत ब्रह्म ही गोत्वादि जाति है । व्यावृत्त व्यक्ति मायिक है । इस तरह सम्यक्, संशय, मिथ्या आदि विभिन्न आकारवाली बुद्धि है । इसी तरह प्रमाता-प्रमाणादिका भी भेद है । जैसे घटादिका भेद है, वैसे ही सम्यक्त्वादि और प्रमात्रादिमें भी भेद है । परंतु यह भेद कल्पित है । इन्हीं कल्पित भेदोंसे संवित्-का भेद भी कल्पित होता है । वस्तुतः प्रत्यक्स्वरूप संवित् स्वतःसिद्ध है और एक है । उसीके आधारपर भावाभाव सब व्यवहार चलता है ।

बोध, अनुभव, संवित् आदि शब्दोंसे वही परब्रह्म आत्मा कहा जाता है । अनुभवरूप संवित्से ही अहंप्रत्ययकी भी सिद्धि होती है । जो लोग अहंप्रत्ययसे आत्मसिद्धि मानते हैं, उनके यहाँ भी अहंप्रत्ययसिद्धिके लिये अनुभवरूप आत्माकी अपेक्षा रहेगी ही इस तरह अन्योन्याश्रय दोष होगा । जो अहंधीको स्वप्रकाश एवं आत्माको जड कहते हैं, उनका केवल भाषाका ही भेद है । स्वप्रकाशसे ही जडकी सिद्धि होती है । इस सम्बन्धमें उनका तथा वेदान्तीका ऐकमत्य ही है ।

श्रुतिके अनुसार ब्रह्म जड नहीं है; क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति ब्रह्मको ज्ञानरूप कहती है।

यह भी विचारणीय है कि यदि संवित् प्रमेय है, तब तो प्रमेयविषयक प्रमा फलरूप संवित् अन्य होनी चाहिये। परंतु दो संवित्का उपलम्भ नहीं होता। यदि कहा जाय कि यद्यपि अन्य संवित्का उपलम्भ नहीं होता तथापि व्यवहारलिङ्गसे उसका अनुमान किया जायगा, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि फलरूप संवित् तो स्वप्रकाश होती है, फिर उसके अनुमानकी बात कैसे चल सकती है? कहा जाता है कि जैसे 'अयं घटः' इस व्यवसायज्ञानका प्रकाशक 'घटज्ञानवानहं' यह अनुव्यवसायज्ञान होता है, वैसे ही आत्मामें भी संवित् एवं तद्विषयक संवित् इस तरह दो संवित् मान्य हैं। परंतु यह कहना असङ्गत है, क्योंकि यह प्रतीतिसे पराहत है अर्थात् दो संवित्की प्रतीति नहीं होती। जैसे घटादिविषयक संवित् होती है, वैसे संविद्विषयक संवित्की प्रतीति नहीं होती।

कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा द्रव्य एवं बोधस्वरूप है, अतः आत्मा द्रव्यरूपसे प्रमेय है और बोधरूपसे प्रमाता। इस तरह एकहीमें ग्राह्यता-ग्राहकता दोनों ही बन सकती है।' परंतु इस मतमें भी आत्मा अहंधीगम्य नहीं हो सकता। यदि द्रव्यांश अहंबुद्धि है, तो अन्योन्याश्रय दोष होगा; क्योंकि जैसे भासमान ही दीप घटादिका प्रकाशक होता है, वैसे ही भासमान ही बुद्धि किसीका साधक हो सकती है। अतः उसके प्रकाशके लिये बोध आवश्यक होगा। तदर्थं आत्माके ज्ञाततारूप लिङ्गसे अहंबुद्धिका अनुमान करना पड़ेगा। लिङ्गज्ञानमें ज्ञातताविशिष्ट आत्माका भी ज्ञान हो जायगा। तथा च आत्माके ज्ञानमें अहंबुद्धि होगी एवं अहंबुद्धिसे आत्माका ज्ञान होगा। यदि अहंबुद्धि बोधांश ही है, तो अन्तःकरणरूप उपाधिसे बोध ही अहंबुद्धि भी है और उसीसे सर्वव्यवहार उपपन्न हो सकता है, फिर द्रव्यांशका अङ्गीकार करना व्यर्थ है। फिर भी कहा जाता है कि 'यदि बोध स्वप्रकाश ही है, तो वेदान्तोंका क्या प्रयोजन रहेगा?' परंतु इसका समाधान यही है कि उसी बोधका अनुवाद करके उसे ब्रह्मरूप समझाना ही वेदान्तोंका प्रयोजन है। उस अखण्ड स्वप्रकाश बोधसे प्रत्यक्षानुमानागमादि प्रमाण एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि, मूर्च्छा-अवस्था स्वतः सत्तास्फूर्तिरहित होनेपर भी प्रकाशित होते हैं। इसी तरह निखिल प्रपञ्च जिस बोधके प्रसादसे सत्ता-स्फूर्तिवाला होकर भासमान होता है, जो स्वयं स्वमहिमस्थ एवं स्वप्रकाश-बोध है, वही ब्रह्मात्मा है। जो स्वयं अन्यार्थ नहीं है और सब कुछ जिसके लिये है, वही निरतिशय पर-प्रेमका आस्पद आत्मा एवं आनन्दस्वरूप बोध ही सब कुछ है; अर्थात् सब कुछ उसीमें अध्यस्त है। भावाभावात्मक सभी पदार्थ जिसका आश्रय करते हैं, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि परस्पर विलक्षण अविद्याकार्यस्वरूप जगत् जिसमें प्रतिभासित होता है, वही सर्वविकारशून्य, सर्वसाक्षी अखण्ड बोध ब्रह्म है।

कहा जा सकता है 'निद्रामें किसी नित्य अनुभवका पता नहीं लगता, फिर उसे अवस्थात्रय-साक्षी कैसे कहा जा सकता है ?'' परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि निद्राकालमें भी सुख, निद्रा, विशेषज्ञानाभाव, सुखादिके भासक असंकुचित बोधका अस्तित्व है ही; अतएव श्रुति कहती है 'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृह० उ० ४ । ३ । २३) । अर्थात् द्रष्टाकी स्वरूपभूता नित्य-दृष्टि कभी भी लुप्त नहीं होती । फिर भी जागरस्वप्नमें प्रकाश्य स्फुट होनेसे प्रकाशकत्व स्फुट है, सुप्तिमें स्थूल दृश्य न होनेसे औपाधिक साक्षिता स्फुट नहीं होती । वस्तुतः साक्ष्यके सम्बन्धसे ही आत्मामें साक्षिताका भी व्यवहार होता है । प्रत्यग्बोधस्वरूप आत्मा तो मन, बुद्धि एवं वाक्का भासक होनेसे उनका भी अगोचर ही है । उसीमें कर्तृत्वादि अविद्या-कल्पित है । अविद्या भी बोधसे ही प्रकाशित होती है । अविद्या अनादि होने-पर भी ब्रह्माकारवृत्तिसे बाधित हो जाती है । जैसे सौरालोकप्रकाशित तूलराशि सूर्यकान्तपर अग्निरूपसे व्यक्त उसी सौरालोकसे दग्ध हो जाती है, वैसे ही अविद्या-भासक भान ही ब्रह्माकारवृत्तिपर प्रकट होकर अविद्याका दाहक हो जाता है। भले वह बोध देह, बुद्धि, मस्तिष्क आदिमें ही प्रतीत हो, फिर भी वह स्वतन्त्र है, देहादिका धर्म नहीं है । भले गृह, क्षेत्र आदिमें दिव्य रत्नादि मिलें, फिर भी वे गृह-क्षेत्रदिके धर्म नहीं हैं । भले ही काष्ठादिमें अग्नि उपलब्ध हो फिर भी अग्नि स्वतन्त्र है, काष्ठादिका धर्म नहीं है, वैसे ही बोध स्वतन्त्र, नित्य एवं ब्रह्मात्मस्वरूप है, वह देहादिका धर्म नहीं है ।

अनुभव-विमर्श

अनुभव यदि दूसरे अनुभवसे अनुभाव्य होगा तो अनवस्थादोष होगा; क्योंकि वह जिस अनुभवसे अनुभाव्य होगा, उसे भी किसी अन्य अनुभवसे अनुभाव्य होना पड़ेगा । यदि प्रथमानुभवसे द्वितीयका एवं द्वितीयसे प्रथमका अनुभव माना जाय तो अन्योन्याश्रयदोष होगा । प्रथमका द्वितीयसे, द्वितीय-का तृतीयसे अनुभव मानें, तो अनवस्था और यदि प्रथमानुभवका अपनेसे ही अनुभव माना जाय तो आत्माश्रय-दोष होगा एवं वही कर्म और वही कर्त्ता होने-से कर्म-कर्तृ-विरोध भी होगा । अतएव अनुभवत्व एवं अनुभाव्यत्व दोनोंका सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता । लोग कहते हैं कि 'यदि अननुभाव्यत्वके कारण अनुभवका अनुभवत्व सिद्ध किया जायगा, तब तो खपुष्प भी अननुभाव्य है, अतः उसमें भी अनुभवत्व ठहरेगा ।' परंतु ऐसा कहना ठीक नहीं । जैसे गोमें गोत्व, घटमें घटत्व होता है, वैसे ही अनुभवमें अनुभवत्व सिद्ध ही है। फिर उसे अननुभाव्यत्वरूप साधनसे सिद्ध क्या करना है ? फिर भी यदि अननु-भाव्यत्वरूपसे अनुभवत्व सिद्ध भी करना पड़े तो 'सत्त्वे सत्यननुभाव्यत्व' अर्थात् सत्त्वविशिष्ट अननुभाव्यत्व भी अनुभवत्वका साधक हेतु माना जाता है। तथा च

खपुष्पमें भले ही अननुभाव्यत्व रहे, परंतु विशेषणभूत सत्त्व न होनेसे उसमें अनुभवत्व नहीं जायगा। अज्ञात घटमें भी अनुभवयोग्यता है ही। अनुभवितुं योग्य ही अनुभाव्य होता है, अतः उसमें भी अतिव्याप्ति न होगी।

कुछ लोग कहते हैं कि 'जो वर्तमान दशामें स्वाश्रयके प्रति स्वसत्तासे ही स्वविषयका साधन है, वही अनुभूति है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि विषय-साधनत्व विषय-प्रकाशकत्व ही है। उसका भी अर्थ होगा विषय-प्रकाशजनकत्व। विषय-प्रकाश विषयानुभवरूप ही होगा। तथा च निष्कर्ष यह निकलेगा कि अनुभव-अनुभवका जनक है। यदि इन दोनों अनुभवोंकी एकता मान्य है, तब तो आत्माश्रय-दोष होगा। जैसे स्वयं देवदत्त अपनेसे उत्पन्न नहीं हो सकता, वैसे अनुभव भी अपनेसे ही उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि दोनोंका भेद माना जाय तो द्वितीय अनुभवको प्रथमानुभवसे जन्य कहना पड़ेगा। परंतु प्रथमानुभव किससे उत्पन्न होगा ? यदि उसे विषयेन्द्रिय-संनिकर्षसे जन्य मानें, तब तो द्वितीय अनुभवको भी उस संनिकर्षसे जन्य मानना चाहिये। फिर उसे प्रथमानुभवसे जन्य क्यों माना जाय ? अतः 'अनुभव स्वविषय अनुभवका जनक है' यह कल्पना व्यर्थ ही है। 'अनुभव स्वाश्रयके प्रति स्वविषयका प्रकाशक है' इस तरह 'स्वाश्रयके प्रति' यह अंश भी व्यर्थ ही है; क्योंकि अनुभव किसीके आश्रित नहीं रहता। जो कहते हैं कि 'अनुभव आत्माके आश्रित रहता है', वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि अनुभव स्वयं ही तो आत्मा है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अनुभविता ही आत्मा है, अनुभव नहीं', पर यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभव ही अनुभविता भी है। जैसे प्रकाशस्वरूप सविता ही प्रकाशक भी कहा जा सकता है, वैसे ही अनुभवस्वरूप आत्मा ही अनुभविता भी कहा जा सकता है। कहा जाता है कि 'संकोचविकासशाली धर्मभूत नित्यद्रव्य आत्मस्वरूपसे भिन्न ही ज्ञान है।' परंतु संकोचविकास सावयव पदार्थका ही धर्म होता है। जो विकारी है, वह नित्यद्रव्य नहीं हो सकता। फिर इस पक्षमें यदि धर्मभूत ज्ञानद्रव्य स्वसत्तासे ही स्वविषयका प्रकाशक होता है, तो इसी तरह ज्ञानस्वरूप आत्मा भी स्वसत्तासे विषयप्रकाशक हो ही सकता है। वस्तुतस्तु शुद्ध बोध ब्रह्मस्वरूप ही है, अतएव वह निर्धर्मक ही है। अतएव उसमें अनुभवत्व, बोधत्वादि धर्मकी कल्पना व्यर्थ है। 'अनुभवका लक्षण क्या है ?' इस प्रश्नका उत्तर यही है कि अनुभवका स्वरूप लक्षण अनुभव ही है। यदि अनुभवका भी अन्य स्वरूप हो, तब तो उस स्वरूपका भी कोई अन्य स्वरूप होगा एवं उस स्वरूपका भी अन्य स्वरूप होगा, फिर अनवस्थाप्रसङ्ग अनिवार्य होगा। तटस्थ लक्षण अनुभवका वही है, जो ब्रह्मका है—'यतो वा इमानि भूतानि

जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म' (तैत्ति० उप० ३।१) अर्थात् जिससे समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, जिसमें जीवित रहते हैं और जिसमें विलीन होते हैं, वही ब्रह्म है।

कहा जाता है कि 'अनुभव यदि परप्रकाश्य होगा, तो अनवस्थादि दोष होंगे, अतः उसे स्वयंप्रकाश कहना पड़ेगा। इस तरह स्वयंप्रकाशत्व धर्म उसमें रह सकता है, फिर उसे निर्धर्मक कैसे कहा जा सकता है?' पर यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि यद्यपि ब्रह्ममें व्यावहारिक सधर्मकत्व है, तथा पारमार्थिक धर्म उसमें कोई नहीं है, क्योंकि वह सजातीय-विजातीय-स्वगत सर्वविध भेदशून्य है। कहा जाता है कि 'अनन्यात्रभास्यत्वविशिष्ट स्वेतरसर्वावभासकत्व ही स्वयंप्रकाशत्व है। अनुभवके सर्वावभासक होनेका अर्थ है सर्वावभास या सर्वानुभवजनक होना।' परंतु यह कहना भी ठीक नहीं है। वस्तुतः निर्विकल्पक ज्ञान चैतन्य शब्दसे कहा जाता है और सविकल्पक ज्ञान वृत्तिशब्दवाच्य है। इस दृष्टिसे सविकल्पक ज्ञानकी उत्पत्ति निर्विकल्पक ज्ञानसे हो सकती है। यहाँ भी प्रश्न होता है कि 'वृत्तिज्ञान क्या है? वृत्ति चैतन्य या अन्य कुछ?' पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि वृत्ति स्वयं जड है, वह विषयावभासक नहीं हो सकती। ज्ञान भासक होता है।। भान ही ज्ञान है। जडवृत्ति तो स्वकालमें भी भानरूप नहीं बन सकती। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि चैतन्यको तो वृत्तिज्ञानका जनक ऊपर कहा गया है। फिर वही जन्य कैसे होगा? तीसरा पक्ष भी सङ्गत नहीं है। वृत्ति एवं चैतन्यसे भिन्न ज्ञानरूप कोई वस्तु प्रसिद्ध नहीं है। उपर्युक्त प्रश्नका समाधान यह है कि वृत्तिप्रतिफलित चैतन्य ही वृत्तिज्ञान है। वही चैतन्य विषयचैतन्यसे अभिन्न होकर प्रत्यक्ष होता है। इसीलिये केवल चैतन्य एवं केवल वृत्तिसे वह वृत्तिज्ञान अन्य ही है। एक ही ज्ञानमें उपाधिभेदसे जन्यजनकभाव हो सकता है। अथवा अनुभव 'स्वेतर सर्वावभासक है' इसका अर्थ यह है कि स्वेतर सभी विषयोंमें 'भाति' (प्रतीत होता है) इत्याकारक प्रतीतिविषयताका जनक है। 'भाति' इस प्रतीतिकी विषयता ही सर्वावभास्यता है। चिदाभासरूप फलकी व्याप्ति हुए बिना कोई भी जड वस्तु 'भाति' इस प्रतीतिका विषय नहीं हो सकती। एतावता स्वतः सर्वदा सर्वका अवभासन करता हुआ भी वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यके द्वारा सभी वस्तुओंमें 'भाति' (भासमान है) इस प्रतीतिकी विषयता होती है।

कहा जा सकता है कि 'भाति यह प्रतीति ही तो अनुभव है, इससे अतिरिक्त अनुभव कुछ नहीं है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि प्रतीतिसे अतिरिक्त अनुभव है। चक्षुसे घटका साक्षात्कार करके पुरुष निश्चय करता है कि घट है और भासमान है। इस तरह घटसाक्षात्काररूप अनुभवसे भिन्न ही अनुभवजन्य प्रतीति होती है।

फिर भी 'भाति' इस प्रतीतिसे भिन्न अनुभव क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर वस्तुतः दुर्वच ही है। यद्यपि कहा जाता है कि 'निर्विकल्पक अनुभव ही दुर्वच होता है, सविकल्पक अनुभव तो सुवच ही होता है।' तो भी यह ठीक नहीं, क्योंकि सविकल्पक अनुभवकी भी वही दशा होती है। हाँ, भेद यह है कि निर्विकल्पक अनुभवका विषय दुर्वच है, सविकल्पक अनुभवविषय सुवच होता है। स्वयं अनुभव तो दोनों ही दुर्वच ही होते हैं। विषयभेदके कारण वही अनुभवका सविकल्प-निर्विकल्परूप द्वैविध्य भी होता है। स्वतः तो अनुभव एक ही होता है। वह अनन्यावभास्य होकर स्वेतर सर्वका भासक होता है। यही उसका लक्षण है। यद्यपि यहाँ भी बहुत से विकल्प उठते हैं, जैसे अनुभवका घटावभासकत्व क्या है ? घट इत्याकारक प्रतीतिकी जनकता अथवा घट इस प्रतीतिविषयताकी जनकता अथवा घटाकारानुभवजनकत्व अथवा घटानुभवविषयत्वजनकत्व ? अनुभव और प्रतीति यदि एक ही हैं, तो अनुभव अनुभवका जनक कैसे हो सकेगा ? क्योंकि अभेदमें कार्यकारणभाव नहीं होता। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि घट तो सर्वदा विषय ही होता है, अतः उसमें विषयता सदा ही रहती है। फिर उसमें कादाचित्क जन्यता और अनुभवमें जनकता कैसे सम्भव होगी ? इस तरह अन्य पक्ष भी असङ्गत ही हैं।

इस सम्बन्धमें अध्यात्मवादियोंका समाधान स्पष्ट है। प्रतीतिशब्द-प्रयोगलक्षण व्यवहार है। अनुभव उससे भिन्न उसका जनक है। इस तरह प्रतीति और अनुभवमें भेद होता है। यद्यपि स्वानुभवसमयमें शब्दप्रयोग नहीं होता, परोपदेशसमयमें ही शब्दप्रयोग होता है; तथापि स्वानुभव-समयमें भी सूक्ष्म मानसिक शब्दप्रयोग होता ही है। इस तरह प्रतीतिजनकता अनुभवमें सङ्गत है ही। इसी तरह अनुभूत घट ही 'घट' इस व्यवहारका विषय होता है। अतः अनुभव ही घटकी व्यवहारविषयताका जनक है। यदि घटका अनुभव न हो तो घटमें व्यवहारविषयता ही नहीं बन सकती। तीसरे पक्षमें भी कोई बाधा नहीं, क्योंकि केवल अनुभव घटानुभवका जनक हो ही सकता है। जैसे केवल प्रकाश घटप्रकाशका जनक कहा जा सकता है, वैसे ही यहाँ भी व्यवहार हो सकता है। निरुपाधिक अनुभव सोपाधिक अनुभवका जनक है। इस तरह घटरूप उपाधि-के द्वारा कार्यकारणभाव होता है। अतएव चौथा पक्ष भी ठीक ही है। भले ही घट सर्वदा ही सामान्यानुभवका विषय हो, तथापि विशेषानुभवविषयता सदा नहीं रहती। किंतु चक्षु एवं घटका संयोग होनेसे ही घट विशेषानुभवका विषय होता है। इस तरह घटानुभवविषयत्वजनकता भी अनुभवकी घटावभासकता हो ही सकती है।

फिर प्रश्न होता है कि 'वह सामान्यानुभव साक्षिचैतन्यरूप है अथवा साक्ष्याकार-वृत्तिज्ञानरूप ?' कहा जा सकता है कि 'साक्ष्याकार-वृत्ति होनेपर

साक्षीका साक्षात्कार समझा जायगा और फिर तो सभीको मुक्त ही होना चाहिये।' परंतु यह ठीक नहीं है, कारण कि प्रमाणजन्य साक्षात्कारवृत्तिसे साक्षीके आवरक अज्ञानकी निवृत्तिके बिना साक्षात्कार नहीं होता। इसपर भी विचार चलता है कि 'साक्षीका साक्षात्कार क्या हो सकता है? क्योंकि अनुभवका अनुभव क्या होगा?' परंतु इसका भी समाधान यही है कि साक्षीसे भिन्न द्वैतका अनुभव न होना ही साक्षीका साक्षात्कार है। कहा जा सकता है कि 'इस तरह तो द्वैतानुभवाभाव ही साक्षीका अनुभव हुआ।' परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि अनुभव नित्य है। फिर वह अभावका प्रतियोगी कैसे बन सकता है? अतः विशेष अनुभवका अभाव ही सामान्यानुभव है। विशेषानुभव तो चक्षुघट-संयोग आदिसे उत्पन्न होता है, अतः उसका अभाव हो सकता है। विशेषानुभव-दशामें भी यद्यपि सामान्यानुभव रहता है, तथापि वह असत्-जैसा ही रहता है, किंतु विशेषानुभवाभावदशामें सामान्यानुभव सत्ताप्रकर्षको प्राप्त हो जाता है। इसीलिये विशेषानुभवाभाव सामान्यानुभवरूप साक्षीका साक्षात्कार है।

कहा जाता है कि 'विशेषानुभवाभावदशामें अज्ञानका ही अनुभव होता है, साक्षीका नहीं।' परंतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि साक्षीके आवरक अज्ञानका अनुभव ही साक्षीके अनुभवरूपसे व्यवहृत होता है। अज्ञानावच्छिन्न साक्षीका अनुभव ही सामान्यानुभव है। कहा जाता है कि 'यद्यपि सोपाधिक साक्षीका अनुभव हो सकता है; क्योंकि वह अनुभाव्य होता है। परंतु केवल साक्षीका अनुभव कैसे हो सकेगा? केवल साक्षी ही अनुभव है, यह भी नहीं कहा जा सकता।' परंतु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जबतक अविद्या रहती है, तबतक साक्षी केवल रह ही नहीं सकता। अविद्या उपाधिके द्वारा साक्षीकी सोपाधिकता बनी रहती है। यह भी कहा जाता है कि 'फिर तो समाधिमें भी अज्ञान रहता है, अतः वहाँ भी साक्षीका स्फुरण कैसे होगा?' पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि समाधिमें साक्षी केवल ही है, उपाधिशून्य है, तब तो अवश्य समाधिमें साक्षीका अनुभव नहीं हो सकता; क्योंकि साक्षीका अनुभव करनेके लिये वहाँ कोई प्रमाता ही नहीं होता। किंतु उस समय केवल साक्षी ही रहता है। इसीलिये उस समय 'मैं साक्षीको देख रहा हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं होती। अतः अज्ञान एवं अज्ञानकार्य जिस किसी विशेषके अनुभवका अभाव ही साक्षीका साक्षात्कार है। कहा जा सकता है कि 'अभाव साक्षात्काररूप कैसे हो सकता है?' पर यह ठीक नहीं, क्योंकि अभाव स्वयं अधिकरणरूप ही होता है। अतः विशेषानुभवाभावाधिकरण साक्षी ही साक्षीका साक्षात्कार है।

विशेषका अध्यास सामान्यमें ही होता है। अध्यासाभाव अधिष्ठानसे अनतिरिक्त अधिष्ठानरूप ही होता है। विशेषानुभवाभावरूप साक्षीका साक्षात्कार उपपन्न हो सकता है। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि 'साक्षीका ही परिशेष रहना साक्षीका अनुभव है और सर्वद्वैतकी अप्रतीति होनेपर ही वह होता है।' यह भी कहा जा सकता है कि 'साक्षिस्वरूप ही साक्षीका साक्षात्कार है। जैसे राहुका शिर, आत्माका चैतन्य, सूर्यका प्रकाश आदि स्थानोंमें अभेदमें भी भेद-व्यवहार होता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। इस तरह प्रत्यगभिन्न स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही नित्य अनुभव है।'

कुछ लोग कहते हैं कि 'अनुभवका प्रागभाव अनुभवसे ही गृहीत होता है, अतः अनुभवको नित्य नहीं कहा जा सकता।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि फिर प्रश्न होगा कि 'जिस किसी वस्तुका जिस किसीसे गृह्यमाण प्रागभाव होता है अथवा अगृह्यमाण भी प्रागभाव होता है?' दूसरा पक्ष तो सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि इस तरह तो प्रमाणके बिना ही किसी वस्तुका अस्तित्व सिद्ध हो सकेगा। पहला पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ विचारणीय यह है कि अनुभवका प्रागभाव अपनेसे ही ग्राह्य है या अन्यसे? पहली बात ठीक नहीं; क्योंकि पुत्रका प्रागभाव पितासे गृह्यमाण होता है, स्वयं पुत्र अपना प्रागभाव ग्रहण नहीं कर सकता। इसी तरह अनुभव स्वयं अपना प्रागभाव ग्रहण नहीं कर सकता। यदि अपने प्रागभाव-ग्रहणके समय अनुभव रहता है, तो उसका प्रागभाव कैसे कहा जा सकता है? यदि स्वयं नहीं है, तो प्रागभावका ग्रहण किस तरह होगा? स्वप्रागभाव अन्यसे गृहीत होना तो ठीक है, परंतु प्रकृतमें तो अनुभवसे भिन्न सब जड ही है। फिर जडसे अनुभव-प्रागभाव किस तरह गृहीत हो सकेगा? 'अनुभवका प्रागभाव आत्मासे गृहीत होगा' यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि आत्मा ही तो अनुभव है।

कहा जाता है कि 'अनुभवके प्रागभावको अनुभव ग्रहण नहीं करता यह आपने कहीं देखा है या नहीं?' पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि उसी आपके दर्शनसे अनुभवका प्रागभाव सिद्ध हो जायगा। अनुभवका अपने प्रागभावको ग्रहण न करना भी अनुभवका प्रागभाव ही है। उसका दर्शन आपको है ही। दूसरा पक्ष भी इसलिये ठीक नहीं है कि यदि आपने यह देखा ही नहीं, तो कैसे कह सकते हैं कि 'अनुभव अपने प्रागभावको ग्रहण नहीं करता?' यदि अदृष्ट भी ग्राह्य हो, तब तो शशशृङ्ग भी ग्राह्य हो सकेगा।' परंतु इस कथनमें कुछ सार नहीं है, क्योंकि पुत्रका प्रागभाव पुत्र स्वयं ग्रहण नहीं करता। 'यह मैंने देखा है' इससे स्वप्रागभाव अपनेसे गृहीत नहीं होता, यह व्याप्तिज्ञान होता है। इसी आधारपर यह कहना सङ्गत है कि 'अनुभव-प्रागभावको अनुभव नहीं ग्रहण कर सकता।'

कहा जाता है कि 'भले ही पुत्र-प्रागभावको पुत्र ग्रहण न करे, पर क्या एतावता पुत्र प्रागभाव सिद्ध नहीं होता ? उसी तरह भले ही अनुभव स्वप्रागभाव ग्रहण न करे तथापि उसके प्रागभावकी असिद्धि नहीं कही जा सकती।' पर यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि दृष्टान्तमें तो पुत्र-प्रागभावको पिता ग्रहण करता है, अतः वहाँ पुत्र-प्रागभाव सिद्ध होता है। परंतु अनुभव-प्रागभावको कोई भी नहीं ग्रहण करता, अतः उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। कहा जाता है कि 'पुत्र भी अपने प्रागभावको अनुमानसे जान सकता है, जैसे कि 'उत्पत्तिके पहले मैं नहीं था; क्योंकि उत्पत्तिके पहले घटका असत्त्व देखा जाता है।' परंतु यह भी कथन सङ्गत नहीं है; क्योंकि स्वप्रागभाव स्वप्रत्यक्षका विषय नहीं होता, यही उपर्युक्त कथनका आशय है। एतावता स्वानुमानकी विषयता स्वप्रागभावमें हो भी तो कोई आपत्ति नहीं। जो लोग कहते हैं कि 'फिर तो इसी तरह अनुभव भी अनुमानके द्वारा स्वप्रागभावको जान सकता है।' परंतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अनुभव स्वसत्तासे ही स्वविषयका प्रकाशक होता है, यही अनुभववादियोंकी धारणा है। फिर अनुभव यदि अनुमानरूप अन्य व्यापारसे स्वविषयको प्रकाशित करेगा तो सिद्धान्त-विरोध होगा। ऐसा होनेमें अनुभवमें स्वयंप्रकाशता भी नहीं सिद्ध होगी।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अनुभव अतीत वस्तुको भी प्रकाशित करता है, इसीलिये योगियोंको अतीत वस्तुका भी प्रत्यक्ष होता है। इसी तरह अतीत प्राग-भावको भी अनुभव ग्रहण कर सकता है।' पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि हमारा यह कहना नहीं है कि अनुभवमें वर्तमान वस्तु ही विषय होती है, किंतु योगीको या सर्वज्ञ ईश्वरको त्रैकालिक वस्तुओंका प्रत्यक्ष हो सकता है। अनुभव-प्रागभाव अनुभवका विषय नहीं होता, यही कहना है। फिर भी शङ्का होती है कि 'गुरूपदेशके पहले मुझे इस श्लोकार्थका ज्ञान नहीं था', इस प्रकारके अनुभवमें अनुभवका प्रागभाव विषय होता ही है।' पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ श्लोकार्थज्ञानका प्रागभाव श्लोकार्थज्ञानका विषय नहीं है; किंतु यह प्रागभाव अन्य ज्ञानका ही विषय है। इस तरह ज्ञानान्तरके द्वारा ही श्लोकार्थज्ञान-का प्रागभाव सिद्ध होता है। एतावता अनुभव-प्रागभाव किसी भी ज्ञानसे सिद्ध नहीं होता। हाँ, वृत्तिज्ञानका तो प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव चैतन्यसे गृहीत होता है। अतः वृत्तिज्ञानका प्रागभावादि हो सकता है। परंतु चैतन्यका प्रागभाव चैतन्यसे व्याघातदोषके कारण गृहीत नहीं होता।

यदि कहा जाय कि 'एक चैतन्यका प्रागभाव अन्य चैतन्यसे गृहीत हो', तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अन्य चैतन्य है ही नहीं। चैतन्य चैतन्य सब एक ही हैं, आकाशवत् उसके भेदमें कोई प्रमाण नहीं है। जैसे पुत्र यह समझता है कि

मैं उत्पत्तिके पहले नहीं था, वैसे चैतन्य यह अनुभव नहीं करता कि मैं उत्पत्तिके पहले नहीं था। अतः उसकी उत्पत्ति एवं प्रागभाव कथमपि गृहीत नहीं होते। फिर भी कहा जाता है कि 'मैं नहीं था' इस तरह आत्मा अपने प्रागभावका अनुभव करता है और यदि आत्मा अनुभवरूप ही है तब तो उसका प्रागभाव सिद्ध हो गया।' पर यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि देहतादात्म्य (अभेद) के अध्याससे देह-प्रागभावको ही आत्मप्रागभाव भ्रान्तिवश समझ लिया जाता है। वस्तुतः आत्मप्रागभाव अनुभूत नहीं होता। कहा जाता है कि 'मैं सर्वदा रहा हूँ' इस प्रकार भी अनुभव नहीं जानता।' परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अनुभवस्वरूप विद्वान् आत्मा अवश्य अनुभव करता है कि मैं सर्वदा रहा हूँ। फिर भी कहा जाता है कि 'सृष्टिके पहले जीव आदि नहीं थे, केवल ईश्वर था। 'भागवत' का कहना है—'अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्' (२।९।३२) अर्थात् सृष्टिके पहले मैं ही था, अन्य सत्, असत् कुछ भी न था। पर यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि सिद्धान्तमें जीव-ईश्वरकी एकता ही है, अतः ईश्वरकी नित्यतासे तदभिन्न जीवकी भी नित्यता सिद्ध हो जाती है। इसीलिये 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्' (कठोप० १।२।१८) इत्यादि श्रुतियोंसे जीवात्माकी नित्यताका प्रतिपादन होता है। इस तरह अनुभव ही प्रत्यक् ब्रह्म है, उसका प्रागभावादि सिद्ध नहीं होता। यह स्वयंप्रकाशत्व, नित्यत्वादि अजन्य नित्यज्ञानका ही है। वृत्तिरूप इन्द्रिय-संनिकर्षादिजन्य ज्ञानके सम्बन्धमें यह बात नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि "जैसे पृथ्वी नित्य है, फिर उसके अवस्थाविशेष घटादि अनित्य हैं, वैसे ही ज्ञानद्रव्यके नित्य होनेपर भी उसके अवस्थाविशेष स्मृतित्वादि अनित्य होंगे।" पर यह कहना भी ठीक नहीं, कारण नित्य वस्तुमें अवस्था नहीं होती। सिद्धान्ततः पृथ्वी आदि भी अनित्य ही हैं। अनित्य क्षीरादि द्रव्यकी ही क्षीरत्व, दधित्वादि अवस्थाएँ होती हैं, नित्य ज्ञानकी कोई अवस्था वास्तविक नहीं होती। अवस्था स्वयं विकार है। विकारी वस्तु अनित्य ही होती है। कहा जाता है कि 'जैसे वेदान्ती घटावच्छिन्न चैतन्यको अनित्य मानता है, फिर भी उसे शुद्ध चैतन्य नित्य मान्य है।' पर यह ठीक नहीं है; क्योंकि वहाँ भी चैतन्य नित्य ही है, किंतु घटकी अनित्यतासे तदवच्छिन्न चैतन्यमें अनित्यताका व्यवहार होता है। यदि उसी तरह ज्ञानकी नित्यता एवं स्मृति, प्रमा आदिकी अनित्यता जडवादीको भी मान्य हो, तब तो ठीक ही है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'स्वयंप्रकाशत्व, नित्यत्वका सामानाधिकरण्य नहीं होता। स्वयंप्रकाश भी दीपादि अनित्य होता है। आकाश, कालादि स्वयंप्रकाश न होनेपर भी नित्य होते हैं।' परंतु यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि जो स्वयं प्रकाश नहीं, वह स्वतःसिद्ध भी नहीं होता। जो स्वतःसिद्ध नहीं है, वह नित्य भी नहीं होता। काल, आकाश आदि भी अनित्य ही हैं। दीपादिकी स्वयं-

प्रकाशता सापेक्ष ही है। अतएव उसे भी अपने प्रकाशके लिये दीपान्तरकी अपेक्षा न होते हुए भी चक्षु, मन एवं चैतन्यकी अपेक्षा है ही। जो लोग योग्यानुपलब्धि-के बलपर ज्ञानप्रागभाव सिद्ध करना चाहते हैं, वे भी भ्रान्त ही हैं; क्योंकि अनु-पलब्धि-उपलब्धिका अभाव ही है। उपलब्धि अनुभव ही है। तथा च निष्कर्ष यह निकला कि अनुभवाभावसे ही अनुभवका प्रागभाव सिद्ध होता है। यहाँ विचारणीय है कि दोनों अनुभवों एवं दोनों अभावोंका यदि अभेद है तब तो आत्माश्रय-दोष होगा, अतः उसी अनुभवाभावसे अनुभव-प्रागभाव नहीं गृहीत हो सकता। यदि दोनोंका भेद है, तो प्रश्न होगा कि 'अनुभवाभाव किससे गृहीत होगा?' यदि दूसरे अनुभवसे, तब तो अन्योन्याश्रय-दोष होगा।

कहा जाता है कि 'यदि यहाँ घट होता तो उपलब्ध होता', घट नहीं उपलब्ध होता, अतः वह नहीं है। इसी प्रकार इस समय यदि अनुभव होता, तो वह उपलब्ध होता, अनुभव उपलब्ध नहीं होता, अतः अनुभव नहीं है। इस तरह अनुभवाभाव सिद्ध होगा।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि यदि अनुभव उपलभ्य या भास्य हो तभी इस प्रकार अभावसिद्धि हो सकती है। यदि अनुभव रहता हुआ भी वेद्य नहीं होता, स्वप्रकाश होनेसे अनुभवान्तरका गोचर नहीं होता, तो इस प्रकारकी अनुपलब्धिसे अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है? घटका उपलब्धा आत्मा होता है। परंतु अनुभवका कोई भी उपलब्धा नहीं होता। आत्मा तो स्वयं अनुभवरूप ही है। प्रमाता भी अनुभवका ही सोपाधिक रूप है, अतः अनुपलब्धिप्रमाणसे अनुभवाभावका बोध नहीं हो सकता।

कुछ लोग यह भी आपत्ति उपस्थित करते हैं कि 'प्रत्यक्ष-ज्ञान स्वसत्ताकालमें विद्यमान ही स्वविषय घटादिका साधक होता है, घटादिकी सर्वदा सत्ताका बोध नहीं कराता। इसीलिये पूर्व एवं उत्तर कालमें घटादिकी सत्ता प्रतीत नहीं होती। प्रत्यक्ष-ज्ञानरूप संवेदन कालपरिच्छिन्नरूपसे प्रतीत होता है। इसीलिये घट भी कालपरिच्छिन्नरूपसे प्रतीत होता है। यदि घटादिविषयक संवेदन स्वयं कालानव-च्छिन्न होकर प्रतीत हो; तब तो वेदनाविषय घटादिको भी कालानवच्छिन्नरूपसे ही प्रतीत होना चाहिये और फिर इस तरह घटादि भी नित्य ठहरेगा।' परंतु यह आपत्ति निःसार है; क्योंकि यदि घटादि विषयके परिच्छिन्न होनेसे तद्विषयक प्रत्यक्ष-ज्ञान भी परिच्छिन्न कहा जायगा, तब तो यह भी कहना होगा कि ईश्वर एवं आत्मा आदि विषयके नित्य होनेसे तद्विषयक प्रत्यक्ष-ज्ञानकी भी नित्यता होनी चाहिये। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'जब घटादि प्रत्यक्षस्थलमें प्रत्यक्ष-की अनित्यता दृष्ट है, तब तदनुसार ही ईश्वर या आत्मादिस्थलमें भी प्रत्यक्ष-को अनित्य ही मानना ठीक है।' परंतु यह भी तो कहा जा सकता है कि 'ईश्वरात्मस्थलमें ज्ञानकी नित्यता देखकर घटादिस्थलमें भी ज्ञान नित्य ही है।' फिर शङ्का होती है कि 'संवेदनके नित्य होनेसे संवेदनविषय घटादिको भी नित्य होना

चाहिये।' परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ भी यही कहा जा सकता है कि संवेदनके अनित्य होनेसे ब्रह्म आदि भी अनित्य क्यों न हों ? अतः स्वविषयके नित्यत्व एवं अनित्यत्वसे प्रत्यक्षका नित्यत्व या अनित्यत्व नहीं कहा जा सकता। घटसंवेदनके क्षणिक या त्रिचतुःक्षणस्थायी होनेपर भी तद्विषय घटादिको महीनों एवं वर्षोंतक स्थिर देखा ही जाता है। अतः घटादिको संवेदनके समकालिक नहीं कहा जा सकता। यदि घटसंवेदनके असमकाल हो सकता है, तो संवेदन भी घटके असमकाल हो ही सकता है। फिर तो संवेदनके नित्य होनेपर भी घटादिकी नित्यताका कोई प्रसङ्ग नहीं आता।

यह भी विचारणीय है कि 'संवेदन अपने पूर्वोत्तरकालमें घटाभावका बोधन करता है अथवा घटका पूर्वोत्तरकाल घटाभावका बोधन करता है।' पहला पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि संवेदनके पूर्वोत्तरकालमें घटका सत्त्व रहता ही है। व्यावहारिक घटकी अज्ञात सत्ता भी मान्य है ही। सामान्यतया कोई भी यह नहीं समझता कि 'इसी समय मुझे घटज्ञान हुआ, अभी ही घट भी हुआ, पूर्वोत्तरकालमें घट नहीं था।' अद्वैतीका जो कहना है कि 'जब घट-प्रतीति होती है, तभी घट है। घटप्रतीति नहीं तो घट भी नहीं।' उसका आशय केवल इतना ही है कि प्रतीतिमें घट अध्यस्त होता है, अतः प्रतीतिसे अतिरिक्त घटकी सत्ता नहीं होती और दृष्टिसृष्टिवादकी व्यवस्था अत्युच्च अधिकारियोंके लिये ही है। इन्द्रियार्थ-संनिकर्षजन्य घटादिज्ञान क्षणिक त्रिचतुरक्षणस्थायी होता है अथवा स्वविरोधिवृत्त्यन्तरोत्पत्तिपर्यन्त स्थायी होता है। अतः उसकी अनित्यता वेदान्तीको भी अभीष्ट ही है। जो अजन्य ज्ञान है, वही नित्य है। कुछ लोग कहते हैं कि 'अजन्य ज्ञान है ही नहीं।' परंतु उन्हें वृत्तिरूप ज्ञानकी उत्पत्तिसे ही तदुपाधिकज्ञानकी जन्यताकी भ्रान्ति होती है। वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप ज्ञान तो अजन्य ही है। उसकी जन्यतामें कोई प्रमाण नहीं है। वृत्ति एवं चैतन्यका विवेचन अतिदुष्कर है। जैसे मिले हुए क्षीर-नीरका विवेचन हंस ही कर सकता है, वैसे ही वृत्ति एवं चैतन्यका विवेचन अन्तर्मुख परमहंस ही कर सकता है।

जो कहते हैं कि 'संविद्की अपेक्षासे ही विषयकी अतीतता एवं अनागतता होती है', उन्हें यह भी बतलाना चाहिये कि फिर संविद्की अतीतता आदि किसकी अपेक्षासे होगी ? यदि संविद्का अतीततानागतत्व स्वापेक्षासे ही मान्य है, तब तो विषयका भी अतीतत्वादि स्वापेक्षासे ही हो सकेगा। फिर संविद्की अपेक्षा क्यों होगी ? यदि संविद्की अतीतता, अनागतता विषयकी अपेक्षासे मानी जाय, तब तो अन्योन्याश्रय-दोष अनिवार्य होगा। एक संविद्का अतीतत्वादि अन्य संविद्की अपेक्षा मान्य हो, तब तो उस संविद्की अतीतता आदिमें अन्य संविद्की अपेक्षा होगी, उसको अन्य संविद्की अपेक्षा होगी, इस तरह अनवस्था-प्रसङ्ग होगा।

अतः कालकी अपेक्षा ही विषयकी अतीतता आदिका होना उचित है। वर्तमान-कालावच्छिन्न घट वर्तमान है, अतीतकालावच्छिन्न घट अतीत होगा। आगामि-कालावच्छिन्न घट अनागत कहलाता है।

कहा जा सकता है कि 'काल तो नित्य है, फिर उसमें अतीतत्वादि-व्यवहार कैसे होगा ?' परंतु यह ठीक नहीं है। दिन-मासादिलक्षण कालमें अतीतत्वादि इष्ट ही है। 'संविद्की अपेक्षासे कालमें अतीतत्वादि माना जाय' यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वस्तुतः कालकी अपेक्षासे ही संविद्में अतीतत्वादिका व्यवहार होता है। 'इस समय घटज्ञान वर्तमान है, पूर्वक्षणमें घटज्ञान वर्तमान था, उत्तरक्षणमें घटज्ञान होगा' इस व्यवहारसे संविद्में कालावच्छिन्नताकी प्रतीति होती है। यह भी कहा जाता है कि 'संविद्से ही कालका अतीतत्वादि विदित होता है।' परंतु इसमें किसीको विवाद ही नहीं है। संविद्से कालका वेदन होनेमें कोई आपत्ति नहीं। आपत्ति तो है घटसंविद्से कालवेदनमें। संविद्से भिन्न सभी वस्तुएँ संविद्के अधीन ही स्थितिवाली हैं। एकमात्र संविद् ही स्वतःसिद्ध है। 'कालका अतीतत्वादि एवं कालपूर्वक विषयका अतीतत्वादि संविद्से ही ज्ञात होता है' इस कथनसे संविद्का अतीतत्वादि सिद्ध नहीं होता। यह आवश्यक नहीं है कि अतीत संविद्से अतीत विषयका एवं वर्तमान तथा आगामी संविद्से वर्तमान तथा आगामी विषयका ग्रहण हो; क्योंकि संविदवच्छेदक कालके अतीतत्वादिसे ही विषयोंका अतीतत्वादि सिद्ध हो जाता है। जैसे एतद्दिनस्थित सूर्यप्रकाशभास्य घट भी पूर्वदिनस्थित सूर्य प्रकाशसे ही भास्य होता है; क्योंकि कालके भेदसे सूर्यप्रकाशमें भेद नहीं होता। इसी तरह एतद्दिनसंविद्भास्य घटादि भी पूर्वदिनस्थित संविद्से ही भास्य होता है। दिनभेदसे संविद्में भेदसिद्ध नहीं हो सकता है। अतः घटज्ञान नित्य एवं स्वप्रकाश है। उसका विषयभूत घटादि अनित्य एवं जड है। घटकी अनित्यतासे ही ज्ञानमें अनित्यताका व्यवहार होता है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'निर्विषय अनुभव ही नहीं होता; क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं होती।' परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ विचारणीय यह है कि 'यह निर्विषय संविद्का अनुपलम्भ कहनेवालेको है या अन्यको ?' पहला पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि जिसको निर्विषय संविद्का उपलम्भ नहीं है, वह अज्ञानी होनेके कारण 'नहीं जानता' यही कहा जा सकता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि दूसरेका हृदय दूसरेको प्रत्यक्ष नहीं होता। 'दूसरेको भी निर्विषय संविद्का उपलम्भ नहीं होता' यह कैसे कहा जा सकता है ? यदि कहा जाय कि 'निर्विषय संविद् सम्भव ही नहीं है', तो इसमें कोई-न-कोई हेतु होना चाहिये। 'अनुपलभ्यमानत्व हेतु है' यह भी नहीं कहा जा सकता। यह हेतु तो सविषय ज्ञानमें भी अतिव्याप्त है; क्योंकि सविषय ज्ञान भी तो स्वप्रकाश होनेसे उसमें भी उपलब्धि-

निषयतारूप उपलभ्यमानता नहीं है। फिर तो अनुपलभ्यमानत्वरूप हेतुसे सविषय ज्ञानका भी अभाव ही सिद्ध हो जायगा। 'ज्ञानमें ज्ञेयत्व नहीं हो सकता' यह कहा जा चुका है। 'निर्विषय ज्ञान नहीं है' यह कथन निर्विषयज्ञानाभावको जानकर कहा जाता है अथवा बिना उपलम्भके ही? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि अभाव प्रतियोगिपूर्वक ही होता है। जो घट नहीं जानता, उसे घटाभावका भी ज्ञान कैसे हो सकता है? जो निर्विषय-ज्ञान नहीं जानता, वह निर्विषय-ज्ञानाभाव भी कैसे जान सकेगा? दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि निर्विषय-ज्ञानाभावकी उपलब्धि नहीं है, तब तो निर्विषय-ज्ञानकी सिद्धिमें कोई बाधा है ही नहीं।

फिर भी कहा जाता है कि 'ज्ञायते अनेन घटादिविषयजातमिति ज्ञानम्' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञान विषयप्रकाशनस्वभाववाला ही प्रतीत होता है। विषयप्रकाशक ही ज्ञान है। जो विषयप्रकाशक नहीं, वह ज्ञान कैसे कहा जा सकता है? वह विषयप्रकाशकत्व ही ज्ञानका स्वयम्प्रकाशत्व भी है। यदि ज्ञान निर्विषय होगा, तब तो स्वप्रकाश-ज्ञानत्व ही उसमें नहीं रहेगा।' परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि विषयप्रकाशकत्व ज्ञानत्व हो, तब तो घटादिप्रकाशके सूर्यादिप्रकाशको भी ज्ञान नहीं कहना चाहिये; क्योंकि उसीसे घटादिका प्रकाश होता है, अन्धकारस्थ घट भासित नहीं होता है। यदि सूर्यादिप्रकाशसे अतिव्याप्ति हटानेके लिये विषय-ज्ञानजनक ज्ञानको ज्ञान कहा जाय, तो इस वाक्यमें दो ज्ञान शब्द आते हैं। दोनोंका अर्थ-भेद है या नहीं? यदि भेद है, तो क्या भेद है? यदि कहा जाय कि 'जन्य ज्ञान फल है, जनक ज्ञान उसका करण है, तो भी विचारणीय यह है कि फलभूत ज्ञान स्वप्रकाश है अथवा पर प्रकाश?' पहला पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि जो विषयज्ञानका जनक नहीं, वह तो आपके मतमें स्वप्रकाश हो ही नहीं सकता। दूसरा भी पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि फलभूतजन्य ज्ञानका प्रकाशक कोई है ही नहीं। यदि अन्य प्रकाशक ज्ञान माना जाय, तब तो अन्यमें होनेवाला प्रकृत फलज्ञानप्रकाशकत्व फलज्ञान ज्ञानजनकत्व ही होगा। फिर इस तरह अनवस्था प्रसक्त होगी। यदि दोनों ज्ञानशब्दोंका एक ही अर्थ है, तो व्याघातदोष होगा अर्थात् वही ज्ञान अपने-आप ही जन्य और अपने-आप ही जनक कैसे होगा? अतः यदि विषयावबोधजनकत्व ही स्वप्रकाशत्व कहा जायगा, तो विषयावबोध-जनक करणभूत बोध ही स्वप्रकाश होगा, फलभूत बोध स्वप्रकाश ही न होगा। यदि करणभूतको ही स्वप्रकाश माना जायगा, तो कर्ता आत्मा भी स्वप्रकाश सिद्ध न हो सकेगा। इसी तरह ब्रह्ममें भी स्वप्रकाशता न रहेगी, अतः 'अनन्याव-भास्यत्वे सति स्वेतरसर्वावभासकत्व' को ही स्वप्रकाशत्व कहना उचित है। करण-ज्ञान तो जड होनेसे चैतन्यावभास्य है, अतः वह स्वप्रकाश नहीं कहा जा सकता।

यह भी कहा जा सकता है कि 'अस्तित्वे सत्यनन्यावभास्यत्व' ही स्वप्रकाशत्व है अर्थात् जो दूसरोंसे प्रकाशित न होकर भी स्वतः सत्तावाला है, वही

स्वप्रकाश है। शशशृङ्गादिकोंकी सत्ता ही नहीं होती, अतः वे अन्यानवभास्य होनेपर भी स्वयंप्रकाश नहीं कहे जाते। व्यावहारिक सत्य अज्ञात जगत् अनन्यात्र-भास्य नहीं होता, वह तो किसी ज्ञानसे भास्य ही होता है, अतः उसमें भी अति-व्याप्ति नहीं होगी। वृत्तिज्ञान भी चैतन्यभास्य है ही। फलज्ञान ही इस प्रकारका स्वप्रकाश है; क्योंकि नित्य चैतन्य ही वृत्तिपर प्रतिफलित होकर फलज्ञान कहा जाता है। विषयावच्छिन्न चैतन्यके आवरक अज्ञानका निराकरण करना वृत्तिका उपयोग है। जैसे अजन्य नित्य मोक्षमें फलत्व-व्यवहार होता है, वैसे ही अजन्य फलज्ञानमें भी फलत्वव्यवहार हो सकता है। अज्ञात-विषयावच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञात होकर फल कहलाता है। उसमें जन्यता नहीं है। कहा जा सकता है कि 'फिर इस तरह तो ज्ञानमें ज्ञातता मान ली गयी।' परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि विषयावच्छिन्न चैतन्य ही ज्ञात होता है, केवल नहीं। केवल तो अनुभवरूप होनेसे स्वप्रकाश ही है। विषयगत अवभास्यत्वरूप धर्म विषयावच्छिन्न चैतन्यमें आरोपित किया जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि 'भले ही फलभूत चैतन्यमें उपर्युक्त ढंगकी स्वप्रकाशता रहे, परंतु करणभूत ज्ञानमें तो विषय-प्रकाशकत्वरूप ही स्वप्रकाशता उचित है। तथा च निर्विषय वृत्तिज्ञान नहीं हो सकता।' परंतु इस सम्बन्धमें सिद्धान्तीको कोई विवाद नहीं है। वेदान्ती जो निर्विकल्पज्ञानका समर्थन करता है, उसका अभिप्राय यही है कि निर्विकल्प ब्रह्मविषयक वृत्तिज्ञान ही निर्विकल्प-ज्ञान है। वह भी सविषयज्ञान है ही। अतः वृत्तिरूप ज्ञान निर्विषय न हो, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। चैतन्यज्ञान तो निर्विषय होता ही है।

कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'सोकर जागे हुए प्राणीको 'इतने समयतक मैंने कुछ भी नहीं जाना' इस प्रकारका स्मरण होता है। इससे निद्राकालमें अनु-भवाभाव सिद्ध होता है।' पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ विचारणीय यह है कि 'सुषुप्तिमें कुछ न जाननेवालेको ही सुषुप्ति मिटनेपर उक्त स्मरण होता है अथवा कुछ जाननेवालेको निद्राके अनन्तर उक्त स्मरण होता है?' पहला पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि कुछका न जानना यदि मान्य है, तब तो सुषुप्तिमें अनुभवकी सिद्धि होती ही है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि फिर तो उक्त स्मरण ही नहीं सिद्ध होता। यदि कुछ वेदन था ही, तब कुछ नहीं जाननेका स्मरण कैसे सङ्गत होगा? यहाँ कहा जाता है कि 'न किंचित् जाननेका अर्थ है किसी भी वेदनका अभाव अर्थात् सुषुप्तिमें कोई भी ज्ञान न था।' परंतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह विचारणीय है कि सुषुप्तिके ज्ञानाभावको आपने जाना या नहीं जाना? यदि जाना, तब तो सुषुप्तिमें ज्ञानाभावका ज्ञान आपको था ही। फिर ज्ञानाभाव कैसे कहा जा सकता है? यदि आपने ज्ञानाभावको नहीं जाना, तो उसको स्वीकार कैसे किया जाय? यदि अविदितका भी अस्तित्व माना जाय, तब

तो शशशृङ्गादिका भी अस्तित्व मानना पड़ेगा। अतः यही कहना ठीक है कि सुषुप्तिमें विशेषानुभवका ही अभाव था। चैतन्यरूप सामान्यानुभवका अभाव नहीं कहा जा सकता है।

इसी तरह यह भी शङ्का होती है कि 'जहाँ भी कहीं संविद्, ज्ञान या अनुभव होता है साश्रय ही होता है, निराश्रयज्ञान कहीं भी नहीं देखा गया। संविद्को आत्माके आश्रित मानना ठीक है; क्योंकि संविद् या ज्ञान एक क्रिया ही है। क्रिया कर्ताके आश्रित होती है, अतः आत्मा कर्ता है, तदाश्रित संविद्का होना ठीक है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि आत्मा स्वयं निष्क्रिय होनेसे अकर्ता है और संविद् भी वृत्तिसे अभिव्यक्त फल है, क्रिया नहीं। आत्मा ही संविद् है, संविद् ही आत्मा है। इस तरह संविद् ही सबका आश्रय है, वही सर्वाधिष्ठान है, वह किसीके भी आश्रित नहीं है। कहा जा सकता है कि 'आत्मा तो अनुभविता है, फिर वह अनुभवरूप कैसे होगा?' परंतु यह ठीक नहीं। जैसे प्रकाशस्वरूप सविता ही प्रकाशक भी कहा जाता है, वैसे ही अनुभवस्वरूप आत्मामें अनुभविताका भी व्यवहार होता है। कुछ लोग कहते हैं, कि 'ज्ञान-स्वरूप आत्माके आश्रित रहनेवाले ज्ञानद्रव्यको ही अनुभव कहते हैं, आत्माको नहीं।' परंतु यह भी ठीक नहीं। यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, तब 'आत्मा ज्ञान नहीं है' यह कहना असङ्गत है। यदि आत्माके स्वरूपभूत ज्ञानसे ही सब काम चल जाता है, तो तदाश्रित अलग ज्ञानद्रव्य मानना व्यर्थ है। इसमें गौरव भी है और कोई प्रमाण भी नहीं है। यदि ज्ञानमें भी अन्य ज्ञान होगा, तो फिर उस ज्ञानमें भी ज्ञानान्तर कहना पड़ेगा। इस तरह अनवस्था होगी। यदि आत्मा ज्ञानरूपी द्रव्य है, तो तदाश्रित ज्ञानरूपी अन्य द्रव्य मानना व्यर्थ भी है। अनवस्था, गौरवादि दोषोंसे दुष्ट भी है। यदि आत्माको द्रव्य न माना जाय, तो आत्माको सगुण माननेवालोंका पक्ष बाधित होगा। सुषुप्तिमें भी 'मैंने कुछ नहीं जाना, सुखपूर्वक सो रहा था' इत्यादि स्मरणोंके बलसे अज्ञान एवं सुखका अनुभव रहता ही है। अतः सुप्तिमें चैतन्यरूप या वृत्तिरूप ज्ञानका अभाव सिद्ध नहीं हो सकता। चैतन्य एवं अविद्यावृत्तिका अस्तित्व स्मरणबलसे स्पष्ट सिद्ध है। विशेषानुभवाभाव अवश्य मान्य है।

कहा जाता है कि 'सुप्तिमें अन्तःकरण नहीं होता, विषय भी नहीं रहता तब विषयाकारपरिणत अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ज्ञान कैसे हो सकता है?' परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि यद्यपि अन्य विषय न भी हो, तो भी सुख एवं अज्ञानरूप विषय होनेसे तदाकारपरिणत अविद्यावृत्ति हो सकती है। कहा जा सकता है कि 'सुषुप्तिमें फिर तो ज्ञान भी सविशेष ही हो गया। फिर निर्विशेष ज्ञानकी सिद्धि कैसे हो सकती है?' परंतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सुप्तिमें

सविशेष ही ज्ञानकी सिद्धि होती है, निर्विशेषकी नहीं । फिर भी कहा जा सकता है कि ''सुप्ति', स्वप्न', 'जागर' तथा 'समाधि'में भी जब निर्विषय ज्ञान नहीं होता, तब तो 'सर्वदा सविषय ही ज्ञान होता है' यही मानना ठीक है । तब तो फिर 'ज्ञानवान् ही आत्मा है, ज्ञानरूप नहीं' यही मानना उचित है ।" पर यह भी ठीक नहीं । व्यवहारतः यद्यपि आत्मा वृत्तिरूप ज्ञानवान् ही है; तथापि परमार्थतः ज्ञानवान् नहीं है; क्योंकि वस्तुतः वृत्तिके भासक आत्माका वृत्तिके साथ आध्यासिक सम्बन्धके अतिरिक्त कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है । अतः आत्मा चैतन्यज्ञानरूप ही है । प्रश्न होता है कि 'आत्माका स्फुरण होता है या नहीं ? यदि होता है, तब तो स्फुरण होनेवाले आत्माका स्फुरण धर्म हो गया । इस तरह धर्मी आत्माका धर्मभूत ज्ञान सिद्ध होता है । जैसे प्रकाशमान सूर्यका प्रकाश धर्म है, वैसे ही यदि आत्माका स्फुरण न हो, तब तो बन्ध और मुक्तिमें कोई भेद ही न रहेगा । जैसे संसारमें आत्माका स्फुरण नहीं है, वैसे ही मुक्तिमें भी स्फुरण न हो, तो बन्ध-मुक्ति समान ही ठहरेंगे । इसके अतिरिक्त घटके समान ही यदि आत्माका भी स्वतः स्फुरण न होगा, तो घटवत् आत्मामें भी जडताकी ही प्रसक्ति होगी । मुक्तिमें अन्य है नहीं, जिससे कि परप्रकाश्यता भी सम्भव होती । परप्रकाश्यता माननेपर स्वयंज्योतिष्ट्व-श्रुतिका भी विरोध होगा ।' परंतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि इसी प्रकारका विकल्प आपके धर्मभूत कल्पित ज्ञानमें भी होगा । उसकी स्फूर्ति होती है या नहीं ? प्रथम पक्षमें स्फूर्तिवाले धर्मभूत ज्ञानमें स्फुरणरूप धर्म मानना पड़ेगा, तथाच वह धर्मान्तर होगा । इस तरह अनवस्था होगी । द्वितीय पक्षमें घटवत् जडत्वापत्ति होगी । फिर उसे ज्ञान भी कैसे कहा जायगा ?

कुछ लोग कहते हैं कि 'धर्मिभूत ज्ञानका स्फुरण नित्य है, वह भासमानता व्यवहारके अनुगुण होता है । धर्मभूत ज्ञानका स्फुरण विषयसम्बन्धजन्य होता है । वह विषयसम्बन्धके समय ही होता है, अन्यत्र नहीं । सुप्तिमें उसकी सर्वविषय-सम्बन्धार्हता वह्निशक्तिके समान प्रतिबद्ध होती है, अतः उस समय स्फुरण नहीं होता ।' परंतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वस्तुतः स्फुरमाण वस्तुका स्फुरण ही स्वरूप है । जैसे भासमान सूर्यका भास ही स्वरूप है, प्रकाशातिरिक्त सूर्य नहीं होता । फिर भी 'सूर्यका प्रकाश' यह व्यवहार 'राहुका सिर'के समान औपचारिक होता है । इसलिये 'प्रकाश भासित होता है या नहीं' इस विकल्पके समान ही 'आत्मा स्फुरित होता है या नहीं' यह विकल्प भी अयुक्त ही है । आत्मा स्फुरणरूप ही है । 'स्फुरण स्फुरित होता है या नहीं' यह विकल्प कोई भी अनुन्मत्त नहीं कर सकता । फिर भी कुछ लोग कहते हैं कि "स्फुरण स्फुरमाणका धर्म ही है, स्वरूप नहीं; क्योंकि क्रिया कर्ताका स्वरूप नहीं होती । छेदनक्रिया छेत्ताका स्वरूप नहीं होती ।' परंतु यह पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि कहा जा चुका है कि प्रकाशस्वरूप सूर्यका प्रकाश क्रिया नहीं है, किंतु उसका स्वरूप ही है । जो

आत्माको धर्मिज्ञानस्वरूप मानता है, उसके मतमें भी जब ज्ञान क्रिया नहीं है, तब स्फुरण-स्फुरमाणका स्वरूप क्यों नहीं ?

जो लोग ज्ञानसामान्यको मृत्तिकादिकी तरह नित्य द्रव्य मानते हैं, स्मृतित्वादि अवस्थाविशेषरूप ज्ञानोंको घटादिकी तरह अनित्य मानते हैं, उनका यह कहना नितान्त असङ्गत है कि 'सुप्तोत्थित पुरुषके इतने समयतक मैंने कुछ नहीं जाना इत्याकारक ज्ञानसामान्याभावबोधक स्मरणसे अनुभवका प्रागभाव सिद्ध होता है,' क्योंकि यदि ज्ञानसामान्य नित्य है, तो उसका प्रागभाव कैसे सिद्ध हो सकता है ? कोई नित्य वस्तु अभावका प्रतियोगी नहीं होती। यदि ज्ञानसामान्य भी न हो, तब तो 'मैंने कुछ नहीं जाना' यह स्मरण भी असम्भव ही होगा, क्योंकि यत्किंचित् ज्ञानाभावका ज्ञान होनेपर ही स्मरण हो सकता है। जागरकालमें भी 'तुम्हारी बात मैं नहीं समझता' इस प्रकार जो बोलता है, उसे विशेष ज्ञान न रहनेपर भी सामान्य ज्ञान है ही, अन्यथा यदि उच्यमान अर्थज्ञानाभाव-का ज्ञान न हो, तो वाक्य-प्रयोग भी सम्भव नहीं। अतः सामान्य ज्ञान ही विशेषज्ञानाभावको ग्रहण करता है, सामान्यज्ञानाभावका ग्रहण नहीं हो सकता।

कहा जाता है कि 'यदि अनुभव नित्य है, तो 'मुझे यह अनुभव हुआ, यह अनुभव नष्ट हो गया' इत्यादि व्यवहार कैसे सम्पन्न होंगे ?' परंतु इसका समाधान किया जा चुका है। विषयसम्बन्धके उत्पत्ति-विनाशसे अनुभवमें उत्पत्ति-विनाशका व्यवहार उपपन्न होता है। घटोत्पत्तिसे घटाकाशकी उत्पत्तिका जैसा व्यवहार होता है, वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये। घटादि स्वाभाविक जन्मा-दिविकारवान् हैं, किंतु अनुभूति औपाधिकरूपसे ही जन्मादिविकारवती है तथा जन्मादिविकारहीन स्वप्रकाश नित्य एक संविद् है। कुछ लोग कहते हैं कि 'संविद् एक नहीं, किंतु अनेक हैं। जैसे अज आत्मा देहादिसे भिन्न है, अनादि भी अविद्या आत्मासे भिन्न है, वैसे अनादि एवं नित्य भी संविद् परस्पर भिन्न हो सकती है। यदि अविद्याका और आत्माका विभाग न होगा, तो अविद्यारूप ही आत्मा ठहरेगा।' परंतु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'संविद् अज होनेसे व्यतिरेकेण घटादिके तुल्य अविभक्त है, इस अनुमानसे संविद्की एकता ही सिद्ध होती है। संविद् ही आत्मा है, अतः आत्मासे देहादिका विभक्तत्व-दृष्टान्त असङ्गत है। अविद्या भी प्रपञ्चरूपसे जायमान होनेसे अज नहीं है। घटादिके समान अन्यसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती, इसी दृष्टिसे वह 'अजा' कहलाती है। अजा (बकरी) के रूपकसे भी वह अजा कहलाती है। जैसे लोहित-शुक्ल-कृष्ण रंगवाली, अपने समान ही बहुत-से बच्चोंको उत्पन्न करनेवाली अजाका कोई अज भोग करता हुआ अनुसरण करता है, कोई भुक्तभोगा अजाको छोड़कर उदासीन हो जाता है, तद्वत् कोई जीव प्रकृतिका अनुसरण करता है,

कोई उससे भोग-अपवर्गरूप प्रयोजन सम्पन्न करके उसे छोड़ देता है—
'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥' (श्वेताश्व० उप० ४ । ५) जैसे घटादि मृत्तिकासे भिन्न नहीं ठहरते, वैसे ही देहादि प्रपञ्च भी संविद्रूप आत्माका ही विवर्त या कार्य है, अतः वह भी संविद्से भिन्न नहीं है । आत्मशक्ति होनेसे अविद्या भी आत्मासे अभिन्न ही है । जैसे वह्निशक्ति वह्निसे भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मशक्ति आत्मासे भिन्न नहीं है ।

कहा जा सकता है कि 'यद्यपि कार्य कारणसे अभिन्न है, फिर भी कारण कार्यसे भिन्न होता है । शक्ति शक्तिमान्से भिन्न न होनेपर भी शक्तिमान् शक्तिसे भिन्न ही है । उसी तरह यहाँ भी संविद्को देहादिसे विभक्त कहना उचित है ।' परंतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि देहादि एवं अविद्यादि परमार्थतः यदि असत् हैं, तो फिर संविद्में तत्प्रयुक्त भेद कैसे रह सकता है ? एतावता 'आत्मा अविद्या-रूप ही ठहरेगा' यह आपत्ति भी निर्मूल ही है; क्योंकि वस्तुतः अविद्या है ही नहीं । यदि व्यावहारिक भेद कहा जाय, तो यह तो मान्य ही है । यावद्व्यवहार आत्मा और देहादिका भेद है ही, अतः अज होनेसे संविद् अविभक्त ही है । कहा जाता है कि 'निर्विकार होनेसे भले ही संविद्में स्वगत भेद न हो, परंतु देहादिसे तो संविद्में विजातीय भेद एवं संविदोंके नानात्वसे सजातीय भेद मानना उचित ही है । अबाधित बोधसिद्ध दृश्यके नानात्वसे दर्शनका भी नानात्व सिद्ध होता ही है । जैसे छेद्यके भेदसे छेदनका भेद सिद्ध होता है, वैसे ही दृश्यके भेदसे दर्शनका भी नानात्व सिद्ध होता है ।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि जैसे प्रकाश्य घटादिके भेद होनेपर भी प्रकाशका भेद नहीं होता, वैसे ही दृश्यके नानात्व होने-पर भी दर्शनका नानात्व सिद्ध नहीं हो सकता । घटादि विषयके भेदसे घटादि-वृत्तिरूप ज्ञानका भले ही भेद हो, परंतु नित्य संविद् प्रकाशके समान अभिन्न ही है । संविद् न तो छेदनके समान क्रिया है और न तो वह जन्य ही है । वृत्ति अवश्य जन्य एवं क्रिया है । संविद् ही जब आत्मा है, तब आत्माका नानात्व भी इसी तरह खण्डित है । अतः जैसे गगनमें घटादि-उपाधिसे औपाधिक ही भेद होता है, स्वाभाविक नहीं, वैसे ही संविद्में घटादि एवं वृत्तिके भेदसे ही औपाधिक भेद प्रतीत होता है, स्वाभाविक भेद नहीं ।

कहा जाता है कि 'गगन तो घट-करकादि व्यतिरेकेण सिद्ध हैं, अतः उसमें औपाधिक भेद ठीक है, परंतु ज्ञान तो ज्ञेय एवं ज्ञाताके बिना कहीं उपलब्ध ही नहीं होता, फिर ज्ञानका औपाधिक भेद कैसे माना जाय ? अतः ज्ञानका स्वाभाविक ही भेद मानना ठीक है ।' परंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सबकी सत्ता अनुभवके अधीन होती है । फिर अनुभवकी सत्ता ज्ञेय एवं ज्ञाताके

अधीन कैसे हो सकती है ? अनुभवके बिना किसी भी वस्तुकी सत्ता सिद्ध नहीं होती। ज्ञेय तो ज्ञानाधीन है ही। ज्ञाताका तो वास्तविक रूप ज्ञान ही है। यदि अनुभवके बिना भी सत्ता मानी जाय, तब तो शश-शृङ्गादिकी भी सत्ता माननी पड़ेगी। अन्धकारमें रहता हुआ भी घट अनुभवके बिना असत् ही रहता है।

कहा जाता है कि 'भले ही रज्जु-सर्पादि प्रातीतिक पदार्थकी सत्ता अनुभवाधीन हो, क्योंकि उसकी अज्ञात सत्ता नहीं होती, परंतु घटादिकी सत्ता तो अनुभवाधीन नहीं होती; क्योंकि घटादि तो अनुभवके पहले और पीछे भी रहते ही हैं। प्रत्युत अनुभव ही घटादि विषयके अधीन होता है। घटादि जब होते हैं, तभी चक्षुका उनसे संनिकर्ष होता है, तभी घटानुभव होता है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि स्वप्नमें घटादि विषयों एवं इन्द्रियोंके न होनेपर भी घटादि-अनुभव होता है। यदि कहा जाय कि 'स्वाप्निक ज्ञान तो भ्रम है', तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अनधिगत, अबाधित अर्थविषयक ज्ञान ही प्रमा है। संविद्ब्रह्मसे भिन्न सभी बाधित है, अतः घटादि-अनुभव भी वस्तुतः भ्रम ही है। यावद्व्यवहार बाधित न होना जैसे घटादिका है, वैसे ही स्वाप्निक पदार्थका भी है, स्वप्न भी व्यवहार ही है। यदि कहा जाय कि 'स्वप्न अस्थिर व्यवहार है', तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि व्यवहारगत स्थिरता या अस्थिरता विषयके बाधितत्व-अबाधितत्वपर ही निर्भर है। बाधितत्व जब स्वप्न-जागर दोनोंमें ही है, तब स्थिरत्व-अस्थिरत्वका भेद कैसे सिद्ध होगा ? शतायु पुरुष एवं दशायु पुरुषके भी बाधितत्व-अंशमें समानता ही है। अतः जैसे स्वप्नमें विषयेन्द्रियादि न रहनेपर भी विषय-प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही जागरमें भी हो सकता है। निद्रादोषके भावाभावसे ही स्वप्न-जागरमें भेद है। निद्रा-दोषके हटनेपर स्वप्न हट जाता है। जागरमें पित्रादि-दर्शनजनक अदृष्टके मिटनेसे पित्रादिका दर्शनाभाव होता है। अनुभवसे भिन्न पित्रादि हैं ही नहीं, अतः उनकी मृति आदिका प्रसङ्ग ही नहीं उठता। अतएव मृतके सम्बन्ध नष्ट होनेका व्यवहार होता है। नाशका अदर्शन ही अर्थ है। इस तरह प्रतीति ही विषय है, प्रतीतिसे भिन्न विषय नहीं है, फिर प्रतीतिकी सत्ता विषयाधीन कैसे कही जा सकती है ? इसमें अन्वयव्यतिरेक भी है। जब प्रतीति है, तभी विषय है। जब प्रतीति नहीं, तब विषय भी नहीं। जैसे मिट्टी होनेपर ही घट है। मिट्टी नहीं, तो घट भी नहीं। वैसे ही प्रतीतिसे भिन्न विषय नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि 'विषय होनेपर प्रतीति होती है, विषय न रहनेपर प्रतीति नहीं होती, यही न्याय क्यों न माना जाय ?' परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि विषय न रहनेपर भी स्वप्नमें प्रतीति होती ही है। मृत पित्रादि स्वप्नमें हैं नहीं, तब भी प्रतीत होते हैं। जो लोग जन्य ज्ञानकी सत्ता विषयाधीन मानते हैं, वे भी

नित्य ईश्वरज्ञान मानते हैं। फिर ईश्वरका नित्य ज्ञान अनित्य विषयोंके अधीन कैसे हो सकता है? नैयायिक तथा विशिष्टाद्वैतवादी नित्य ज्ञान मानते हैं। वेदान्तानुसार तो नित्यज्ञानात्मक ब्रह्म ही अविद्यावशात् जन्य ज्ञान होता है और वही विषयसत्ताका हेतु बनता है। नित्य ज्ञान ही आत्मा है, आत्माकी सत्तासे ही अन्य सभी पदार्थ सत्तावान् होते हैं। 'अहमस्मि' इस रूपसे आत्माकी सत्ता आत्मासे ही सिद्ध है। परंतु 'इदमस्ति' इस रूपसे घटादिकी सिद्धि आत्म-प्रत्ययसे ही होती है। 'अहं घटोऽस्मि' इस रूपसे घट अपने आपको नहीं जानता, अतः घटादिकी सत्ता आत्मप्रत्ययके अधीन है। कहा जाता है कि 'घटोऽस्ति' इस प्रकारके आत्मप्रत्ययसे पहले भी घट तो है ही', परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि 'अस्ति' इस प्रत्ययके अविषय घटमें सत्ता नहीं हो सकती, अन्यथा शश-शृङ्गादिमें भी सत्ता प्रसक्त होगी। कहा जा सकता है कि 'अहमस्मि' इस बोधके पहले भी जैसे आत्माकी सत्ता है, वैसे ही घटप्रत्ययके पहले भी घटकी सत्ता होनी चाहिये।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि 'अहमस्मि' इस प्रत्ययका जो प्रत्येता है, वह तो इस प्रत्ययसे भी प्रथम सिद्ध ही है, अतः आत्माकी सत्ता हो सकती है, परंतु 'अयं घटः' इस प्रत्ययके पहले घट सिद्ध नहीं है, अतः घटकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, अतः अनुभवकी सत्ता विषयाधीन नहीं है। इसी तरहके ज्ञाताके अधीन भी अनुभवकी सत्ता नहीं है; क्योंकि सिद्धान्तमें ज्ञाता ही अनुभव है। यदि अनुभवसे भिन्न ज्ञाता प्रमाता माना जायगा, तो उस प्रमाताकी सत्ता भी अनुभवके अधीन माननी पड़ेगी। ज्ञाताका स्वरूप ही अनुभव है, वही अज्ञान, अन्तःकरण आदि उपाधिसे साक्षी, प्रमाता आदि नामसे भी व्यवहृत होता है।

'अनुभूति दृशिरूप होनेसे व्यतिरेकेण घटादिके तुल्य दृश्यधर्मवाली नहीं है' इस अनुमानसे अनुभूति दृश्य या वेद्य धर्मसे युक्त नहीं है, यह भी सिद्ध होता है। कुछ लोग कहते हैं कि 'जब अनुभूतिमें नित्यत्व, स्वयम्प्रकाशत्वादि धर्म मान्य हैं, तब उसे दृश्य धर्मरहित कैसे कहा जा सकता है? नित्यत्वादि भी संवेदनमात्र हैं, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संवेदनसे इनका स्वरूप भिन्न ही है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि जो धर्म जिससे दृश्य होता है, वह उसका धर्म नहीं कहा जा सकता। जैसे चक्षुसे दृश्यमान रूप चक्षुका धर्म नहीं है। यद्यपि देवदत्त स्वगत स्थौल्यादि, सुखादि देखता है, तथापि वस्तुतः स्थौल्यादि, सुखादि देह, मन आदिके ही धर्म हैं, आत्माके धर्म नहीं हैं। आत्मा तो देह, मन आदिसे भिन्न ही है, अतः यहाँ प्रश्न होता है कि 'यदि स्वधर्म स्वसे वेद्य नहीं होते, तो अनुभवधर्म नित्यत्वादि किससे वेद्य होंगे?' अनुभवसे भिन्न सब जड ही है, उससे वेदन असम्भव है। अनुभव एक ही है, उसमें भेद ही नहीं है, अतः 'अमुक अनुभवसे अमुक अनुभवका नित्यत्वादि गृहीत होगा' यह भी नहीं कहा जा सकता। आत्मा भी अनुभवरूप ही है, अतः उससे भी नित्य

त्वादिका अनुभव नहीं कहा जा सकता। इस तरह यदि नित्यत्वादि अनुभूतिके धर्म होंगे, तो वेदिता न होनेसे वे अवेद्य ही ठहरेंगे। यदि अवेद्य हैं, तो धर्म ही कैसे होंगे ? अतः वस्तुतः अनुभूतिके कोई भी धर्म नहीं होते। जो नित्यत्वादि धर्म अनुभवमें विदित होते हैं, वे अनुभूतिके धर्म नहीं हैं, किंतु माया एवं मायाकार्य मूर्त्त वस्तुके ही धर्म हैं। मायाके द्वारा ही नित्यत्वादि अनुभूति-धर्मत्वेन कल्पित हैं।

कहा जा सकता है कि 'नित्यत्व, स्वयम्प्रकाशत्वादि यदि अनुभूतिके धर्म नहीं हैं, तब तो अनुभूति नित्य, स्वप्रकाश, एक सिद्ध नहीं होगी। फिर तो वह अनित्य, जड, अनेक ही ठहरेगी।' परंतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि अनुभूतिमें जैसे पारमार्थिक नित्यत्वादि नहीं हैं, वैसे ही अनित्यत्वादि भी नहीं हो सकते। अतः अनुभूति निर्धर्मक ही है; क्योंकि यदि परमार्थतः कोई भी भास्य वस्तु होती, तभी वह भासक होती। यदि परमार्थतः कालत्रय होता, तभी कालत्रयाबाध्यत्व-रूप नित्यत्व भी होता। इस तरह यदि एकत्वादि संख्या होती, तभी अनुभूतिमें एकत्व भी होता। अतः व्यावहारिक भास्य आदि पदार्थोंको लेकर ही स्वयम्प्रकाशत्वादिका व्यवहार अनुभूतिमें होता है। इसलिये अनुभूतिमें कोई भी दृश्यधर्म नहीं रह सकता। फिर भी कहा जाता है कि 'यदि दृशिमें दृशित्वधर्म है, तब तो दृशि निर्धर्मक न हुई, उसमें दृशित्वधर्म है ही। यदि दृशिमें दृशित्व नहीं है तो दृशित्वरहित दृशि ही कैसी ?' परंतु यह भी शङ्का ठीक नहीं है; क्योंकि व्यवहारभूमिमें धर्म और धर्मी दो पदार्थ हैं या नहीं ? यदि हैं, तो धर्मको निर्धर्मक मानना ही पड़ेगा; क्योंकि धर्ममें धर्म नहीं माना जाता। यदि धर्ममें भी धर्मान्तर होगा, तब तो वह भी धर्मी ही होगा, धर्म न रहेगा। इस तरह धर्म जैसे धर्मत्वरूप धर्मरहित सिद्ध होता है, वैसे ही दृशि भी दृशित्वधर्मरहित सिद्ध होगी। यदि धर्म-धर्मि ये दो पदार्थ मान्य नहीं हैं, तब तो 'यह धर्म है, यह धर्मी है' इस प्रकारका व्यवहार ही लुप्त हो जायगा। इसलिये निर्धर्मक दृशिमें कोई भी धर्म नहीं है।

ज्ञान और आनन्द

ज्ञानके सम्बन्धमें अनेक प्रकारोंकी विप्रतिपत्तियोंके रहते हुए भी 'अर्थ-प्रकाश' को ही 'ज्ञान' कहा जा सकता है। मुक्तिमें यद्यपि अर्थ नहीं होता तथापि जब अर्थ-संसर्ग सम्भव हो तभी अर्थका प्रकाशक अर्थ ही ज्ञान है। अतएव 'ज्ञानत्व जाति-विशेष है, साक्षात् व्यवहारजनकत्व ही ज्ञानत्व है, जड-विरोधित्व ही ज्ञानत्व है, जडसे भिन्नत्व ही ज्ञानत्व है, अज्ञानविरोधित्व ही ज्ञानत्व है' आदि भी ज्ञानके लक्षण हैं। इनमेंसे कोई लक्षण वृत्तिप्रतिबिम्बित चिदाभासमें सङ्गत होता है, तो कोई अखण्ड ब्रह्मरूप ज्ञानमें जाता है, किंतु अर्थप्रकाशत्व वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप ज्ञान एवं ब्रह्मरूप ज्ञान दोनोंमें ही अनुगत है।

सर्वावभासक ज्ञान ही ब्रह्म है; क्योंकि यह श्रुति प्रमाण है—'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' (कठोप० २ । २ । १५) सर्वप्रेमास्पदत्व, सर्वानन्दयितृत्व ही आनन्द है। 'एष ह्येवानन्दयति' (तैत्ति० उप० २ । ७)। यह ब्रह्म ही आनन्दित करता है। यह सर्वावभासक ज्ञान स्वतः भासमान होता है। यदि उसका भी कोई अन्य भासक माना जायगा, तो उसका भी भासक कोई अन्य मानना पड़ेगा ? इस तरह अनवस्था-दोष अनिवार्य हो जायगा। इसपर कहा जाता है कि 'यदि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सर्वदा भासमान है, तो उसमें जगत्का अध्यास किस तरह बन सकेगा ? क्योंकि भासमान शुक्तिकामें रजतका अध्यास नहीं होता—जैसे शुक्तिकाभान रजताध्यासका विरोधी होता है, वैसे ही ज्ञानस्वरूप ब्रह्मका भासमान होना भी प्रपञ्चाध्यासका विरोधी होगा।' किंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि सर्वथा अभासमान शुक्तिकामें भी तो रजताध्यास कभी भी नहीं होता, सामान्यतया भासमान शुक्त्यादि अधिष्ठानमें ही रजतादिका अध्यास होता है। अभासमान एवं विशेषाकारेण भासमान अधिष्ठानमें अध्यास नहीं होता। इस तरह सामान्यतया भासमान ज्ञानस्वरूप ब्रह्मसे प्रपञ्चाध्यास बन सकता है।

इसपर पुनः कहा जा सकता है कि 'निर्विशेष ब्रह्ममें सामान्य-विशेष-व्यवहार नहीं बन सकता।' पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जबतक अविद्या है, तबतक निर्विशेष ब्रह्ममें भी कल्पित विशेष मान्य होता ही है। निर्विशेष ब्रह्ममें प्रपञ्चाध्यास माना भी नहीं जाता, किंतु अज्ञानावच्छिन्न सविशेषमें ही प्रपञ्चका अध्यास होता है। तथाच प्रपञ्चाध्यासका अधिष्ठानभूत ब्रह्मका सामान्याकार सन्मात्र है और विशेषाकार ज्ञान एवं आनन्द है। भ्रमकालमें विशेषाकारकी प्रतीति नहीं होती, सामान्याकार-प्रतीति भ्रमकालमें भी होती है। 'इदं रजतम्' के समान ही 'सज्जगत्' यह भ्रम-प्रत्यक्ष होता है। जैसे वहाँ 'इदमंश' अधिष्ठान सामान्यांश है, वैसे ही यहाँ सदंश अधिष्ठान सामान्यांश है। जैसे 'शुक्तौ रजतम्' इस प्रकार भ्रम नहीं होता, वैसे ही 'ज्ञानमानन्दो वा जगत्' ऐसा भ्रम नहीं होता। जैसे नीलपृष्ठ, त्रिकोण शुक्तिके साक्षात्कारसे रजतभ्रम दूर हो जाता है, उसी तरह सत्यज्ञानानन्दस्वरूप ब्रह्मके साक्षात्कारसे जगद्भ्रम मिट जाता है। ज्ञानानन्दरूपसे अभासमान और सद्रूपसे भासमान ब्रह्ममें जगत्का अध्यास होता है। अघटित-घटना-पटीयसी मायाके कारण ही ब्रह्ममें जगत्का अध्यास होता है। 'सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुद्ध्यते' (श्रीमद्भा० ३ । ७ । ९)—भगवान्‌की माया नयसे विरुद्ध होनेपर भी प्रत्यक्ष ही प्रपञ्चाध्यास मायाके द्वारा सम्पन्न हो जाता है।

आनन्दके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार कहा जा सकता है—(१) आनन्दत्व जाति आनन्द है या (२) अनुकूलतया वेदनीयत्व आनन्द है या (३) अनुकूलत्व मात्र आनन्द है या (४) ज्ञानस्वरूपता ही आनन्द है अथवा (५) निरुपाधि-इष्टता ही आनन्द है अथवा (६) दुःखनिरोधित्व ही आनन्द है या (७)

दुःखाभावोपलक्षितत्व आनन्द है ? पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि वह लक्षण अखण्डस्वरूप ब्रह्मानन्दमें नहीं जाता। दूसरा भी ठीक नहीं; क्योंकि मोक्षमें तो आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही रहता है, उसे जाननेवाला कोई वेदिता रहता ही नहीं। आनन्दस्वरूप आत्मा वेद्य है भी नहीं, अतः वह वेदनीय भी हो नहीं सकता, तब उसमें द्वितीय लक्षण कैसे सङ्गत होगा ? अनुकूलता भी सापेक्ष होती है और वह भी अन्यके प्रति न होकर अपने प्रति ही कहनी पड़ेगी। तथा च, सविशेषता अनिवार्य होगी, निर्विशेषमें अपने प्रति अपनेमें अनुकूलवेदनीयता कथमपि उपपन्न नहीं हो सकती। इसीलिये तीसरा भी पक्ष ठीक नहीं। यदि वेदनस्वभावसे अधिक अनुकूलता स्वाभाविक है, तब भी सखण्डतापत्ति होगी। यदि अनुकूलता औपाधिक है, तब तो उस आनन्दकी कभी निवृत्ति भी हो सकती है। चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि उक्त रीतिसे अनुकूलता सम्भव नहीं। इस तरह तो दुःखज्ञानको आनन्द कहना पड़ेगा। निर्विषय ज्ञान अतएव निरुपाधि-इष्टता ही आनन्द है, यह पाँचवाँ पक्ष भी ठीक नहीं। सुख है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ज्ञान सविषय ही होता है, विषयानुल्लेखि ज्ञान होता ही नहीं। छठा पक्ष भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि विरोधनिवर्त्तन ही है, तब तो आनन्दरूप आत्मामें सदा ही दुःख-निवृत्ति होनी चाहिये। यदि दुःखतादात्म्यकी अयोग्यता ही दुःखविरोधिता है तब तो घटादि भी दुःखतादात्म्यके अयोग्य हैं, उन्हें भी आनन्द कहा जाना चाहिये। सप्तम पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि दुःखाभावरूप वैशेषिकके मोक्षमें आनन्द न होनेपर भी दुःखाभावोपलक्षितत्वरूप वेदान्तीके आनन्दका लक्षण चला जायगा।

इस तरह उपर्युक्त लक्षणोंमें दोष होनेपर भी निरुपाधि-इष्टता अर्थात् निरुपाधिक निरतिशय प्रेम या इच्छाकी विषयता ही आनन्द है, यह लक्षण निर्दोष है। इसपर कहा जा सकता है कि 'दुःखाभाव भी निरुपाधि-इच्छाका विषय होता है, अतः लक्षण अतिव्याप्त है।' किंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि दुःखाभाव भी एक प्रकारके सुखका शेष ही है, अतः वह लक्ष्य ही है, वहाँ लक्षण जाना अतिव्याप्ति नहीं। अभाव भी विरोधि-भावान्तर ही है, अतः दुःखाभाव सुखरूप ही है। कहा जा सकता है कि 'मुक्तिमें तो इच्छा नहीं रहती, परंतु वहाँ भी आनन्द तो रहता है, अतः अव्याप्ति हुई।' पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वहाँ भी इष्टत्वोपलक्षितत्व तो है ही। जब भी इच्छा थी तब उसका विषय आनन्द था। इच्छाके विषय यद्यपि शब्दादि विषय भी होते हैं, तथापि वे सुखसाधन होनेसे इच्छाके विषय होते हैं, स्वतः नहीं। वे ही जब दुःखकारक होते हैं, तब उनमें द्वेष होने लगता है। अतः वे सोपाधिक इच्छाके ही विषय होते हैं, निरुपाधिक इच्छाके नहीं। उपलक्ष्यमें व्यावर्त्तक अवच्छेदकका

रहना आवश्यक नहीं, जैसे कभी भी काकके रहनेसे काकोपलक्षित गृहका बोध होता है, उसी तरह कभी भी होनेवाली इच्छासे इष्टत्वोपलक्षित आनन्दका बोध हो सकता है।

यहाँ शङ्का होती है कि 'निरुपाधि-इष्टत्व आनन्दमें स्वाभाविक है या औपाधिक ?' अन्तिम पक्ष ठीक नहीं है; क्योंकि ब्रह्मस्वरूपमें आनन्दरूपता औपाधिक नहीं होगी; क्योंकि उसकी इष्टता तो निरुपाधिक ही है। प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि इसमें भी विकल्प यह है कि वह निरुपाधि इष्टत्व-ज्ञानसे भिन्न है या अभिन्न ? यदि पहला पक्ष कहें, तो उसमें सखण्डत्वापत्ति होगी। यदि ज्ञानसे अभिन्न ही है, तब तो उसमें आनन्द-पदप्रयोग व्यर्थ ही है, परंतु यह भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि ज्ञान और आनन्द दोनोंका यद्यपि अभेद ही है, तथापि कल्पित भेद लेकर ज्ञानत्व-आनन्दत्व जातिभेदको लेकर दोनों शब्दों-की प्रवृत्ति होती है। एतावता 'विषयोल्लेखरहित ज्ञान आनन्द है', यह पक्ष भी निर्दोष ही है। ज्ञान विषयोल्लेखरहित भी होता ही है', यह पीछे सिद्ध किया जा चुका है। जगत् दृश्यरूप होनेसे सत् नहीं कहा जा सकता; किंतु दृक्रूप होनेसे आनन्द सद्रूप भी है।

सुख एवं वेदनका भेद न होनेसे परप्रेमास्पदरूपसे भासमान आत्मा ही आनन्दरूप है। जैसे वृत्तिरूप ज्ञान अनित्य होनेपर भी वृत्तिभासक स्फुरणरूप ज्ञान नित्य है, वैसे ही अन्तःकरणवृत्तिरूप सुख भी अनित्य है; परंतु ब्रह्मात्मस्वरूप सुख नित्य ही है। 'मैं कभी न रहूँ' ऐसा न हो, किंतु सर्वदा बना रहूँ' 'मा न भूवम् किंतु सर्वदा भूयासम्' इस प्रकार आत्मामें स्वाभाविक ही प्रेम देखा जाता है। यदि आत्मा सुखरूप न हो, तो वह प्रेमास्पद नहीं हो सकता। यदि प्राणी अनित्य सुखमें भी प्रेम करता है, तो नित्य सुखमें तो परप्रेम होना ही चाहिये। सुखमें ही प्रेम होता है। सुखसाधनोंमें भी यद्यपि प्रेम होता है, तथापि सुखके प्रयोजनसे ही सुखसाधनोंमें प्रेम होता है। सुखसाधनोंमें प्रेम सुखार्थ ही होता है, परंतु सुखमें प्रेम अन्यार्थ नहीं होता। इसी तरह आत्मामें भी प्रेम आत्मार्थ ही होता है, अन्यार्थ नहीं। इसीलिये आत्मा निरुपाधिक प्रेमका आस्पद है। जैसे चणकचूर्णादि (बेसन) में मधुरता शर्करासम्बन्धसे होती है, परंतु शर्करामें स्वतः मधुरिमा होती है। मोदक आदिमें सातिशय मिठास होती है, शर्करामें निरतिशय मिठास होती है। उसी तरह अन्यत्र सातिशय प्रेम होता है, आत्मामें निरतिशय प्रेम होता है। इसीलिये सब कुछ आत्मार्थ है, आत्मा अन्यार्थ नहीं होता। अतः आत्मा सबका ही शेषी है।

संसारमें सुख-दुःख एवं सुख-दुःख-साधनोंके वैचित्र्यसे यह मानना पड़ता है कि यह विचित्रता जीवात्माके पिछले शुभाशुभ कर्मोंसे ही उपपन्न होगी। पिछले

शुभाशुभ कर्मोंकी उत्पत्ति भी जन्मान्तरीय देहसे माननी पड़ेगी। वह जन्मान्तर भी उससे प्राचीन कर्मोंसे मानना पड़ेगा। इस तरह बीज एवं अङ्कुरकी परम्पराके समान ही जन्मों एवं कर्मोंकी परम्पराको भी अनादि मानना पड़ता है। यह अनादि परम्परा सादि देहके आश्रित हो नहीं सकती। अतः अनादि आत्माके ही आश्रित उसे मानना पड़ता है; अर्थात् अनादि आत्माके ही पूर्व-पूर्व देहोंसे उत्तरोत्तर कर्म होते हैं एवं पूर्व-पूर्व कर्मोंसे उत्तरोत्तर देह होते हैं। उस आत्मामें ही कर्म एवं जन्म चलते हैं।

शय्या, प्रासादादि-संघात जैसे परार्थ (दूसरोंके लिये) होते हैं, वैसे ही देह, इन्द्रिय, मन आदिका संघात भी स्वविलक्षण किसी चेतनके लिये ही होता है। शय्यादि जैसे अपनेसे भिन्न देवदत्तादि शरीररूपी संघातके ही लिये दृष्ट हैं वैसे ही यदि देहादिसंघात भी किसी दूसरे संघातके ही लिये हों, तब तो अनवस्था प्रसङ्ग होगा, क्योंकि उस संघातको भी किसी अन्य संघातके लिये मानना पड़ेगा। अतः शरीरादि-संघातको किसी स्वविलक्षण, असंहत चेतनके लिये मानना पड़ेगा। इसीलिये त्रिगुणात्मक सुख-दुःख-मोहात्मक अव्यक्त, महदादि प्रपञ्चके विपरीत त्रिगुणातीत, असंहत असङ्ग चेतन आत्मा सिद्ध होता है। त्रिगुणात्मक जड-प्रपञ्च रथादि चेतन सारथी या अश्वादिसे अधिष्ठित ही जैसे कार्यकरणक्षम होता है, वैसे ही अचेतन प्रकृति, बुद्धि आदि भी चेतनसे अधिष्ठित होकर ही कार्यकरण-क्षम होंगी। अतः त्रिगुणात्मक अचेतनसे भिन्न चेतन अधिष्ठाता आवश्यक है। भोक्ता भी अचेतनसे भिन्न चेतन ही होना चाहिये। सुख-दुःखादि भोग्य हैं। इनके द्वारा अनुकूलनीय, प्रतिकूलनीय, सुखी, दुखी चेतन ही हो सकता है। बुद्ध्यादि स्वयं सुख-दुःख-मोहात्मक हैं, अपनेसे ही स्वयं अनुकूलनीय या प्रतिकूलनीय नहीं हो सकते। इसी तरह द्रष्टाके बिना दृश्य नहीं हो सकता। बुद्ध्यादि दृश्य हैं, उनका द्रष्टा उनसे भिन्न ही होना चाहिये। साक्षात् द्रष्टा होनेसे चेतन ही साक्षी हो सकता है। द्रष्टा चेतन स्वयं अदृश्य होता है। जैसे रूप दृश्य है, चक्षु द्रष्टा है, वैसे ही चक्षु भी दृश्य है, मन द्रष्टा है।

संसारमें चेतनके अधीन ही अचेतनकी प्रवृत्ति होती है। भले चेतनसंयुक्त अचेतनकी प्रवृत्ति होती है, तथापि प्रवृत्ति अचेतनकी ही है; क्योंकि दोनों ही प्रत्यक्ष हैं। फिर भी अचेतन रथादिसे जीवित देहमें अचेतन-विलक्षणता स्पष्ट ही है। काष्ठादिके आश्रित दाह, प्रकाशादि क्रिया केवल अग्निमें उपलब्ध नहीं होती। फिर भी दाह, प्रकाशादि क्रिया अग्निका ही धर्म है, क्योंकि अग्निसंयोग होनेसे ही काष्ठादिमें दाहादि उपलब्ध होता है, अग्निसंयोगके बिना उपलब्ध नहीं होता। भौतिकवादी भी तो चेतन देहको ही प्रवर्तक मानते हैं। वेदान्तानुसार निर्विकार

कूटस्थ आत्मा भी अचेतनका प्रवर्त्तक वैसे ही होता है, जैसे अयस्कान्तमणि स्वयं प्रवृत्तिरहित होनेपर भी लोहका प्रवर्त्तक होता है या जैसे प्रवृत्तिरहित रूपादि चक्षुरादिके प्रवर्त्तक होते हैं। यद्यपि जैसे दुग्ध स्वयं वत्सवृद्ध्यर्थं प्रवृत्त होता है, जैसे जल अचेतन भी प्रवृत्त होता है, वैसे ही अचेतनकी प्रवृत्ति होनी ठीक है; तथापि वहाँ भी वत्सके चोषण तथा सर्वशासक अन्तर्यामीसे ही दुग्धादिकी प्रवृत्ति होती है। जैसे कर्त्ताके बिना कुठारादि करणोंका व्यापार नहीं बन सकता, वैसे ही देह, इन्द्रियादिका देहादिभिन्न कर्त्ताके विना व्यापार नहीं हो सकता। भौतिकवादी शरीरको चेतन कहता है।

कहा जाता है कि 'जैसे नैयायिकके मुक्तात्मामें ज्ञान नहीं होता, वैसे ही मृत शरीरमें भी ज्ञानका अनुपलम्भ उपपन्न हो जाता है। प्रमाणके अभावसे ज्ञानका अभाव उपपन्न हो ही जाता है।' परंतु यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि शरीर चेतन हो, तो बाल्य-यौवनादि भेदसे देहमें भेद सुस्पष्ट उपलब्ध होता है। फिर एक देह न होनेसे एक आत्मा भी नहीं होगा। फिर 'जिस मैंने बाल्यावस्थामें माताका अनुभव किया था, वही मैं वृद्धावस्थामें पौत्रोंका अनुभव करता हूँ' ऐसा अनुभव न होना चाहिये। बाल, स्थविर-शरीरमें भेद प्रत्यक्ष है। शरीरसम्बन्धी अवयवोंके उपचय-अपचयद्वारा शरीरका उत्पाद-विनाश सिद्ध है। जो कहा जाता है कि 'पूर्वशरीरोत्पन्न संस्कारसे द्वितीय शरीरमें संस्कार उत्पन्न होता है', तो यह ठीक नहीं। अनन्त संस्कारोंकी कल्पनामें गौरव होगा। यदि शरीर ही चेतन है, तब तो वह उत्पन्न होनेवाला शरीर नवीन ही है। फिर बालकोंकी माताके स्तन्यपानमें प्रवृत्ति न होनी चाहिये; क्योंकि इष्टसाधनता ज्ञान प्रवृत्तमें हेतु है। सद्यःसमुद्भूत शिशुको इष्टसाधनताका अनुभावक कुछ भी नहीं है। देहभिन्न आत्मा माननेवाले तो कह सकते हैं कि जन्मान्तरानुभूत इष्टसाधनताका स्मरण हो सकता है। परंतु जहाँ देहभिन्न आत्मा नहीं है, वहाँ तो जन्मान्तरकी बात है ही नहीं। वहाँ स्तन्यपानमें जन्मान्तरीय इष्टसाधनताका ज्ञान नहीं कहा जा सकता। शङ्का हो सकती है कि 'यदि जन्मान्तरीय अनुभूत स्तन्यपानकी इष्टसाधनताका स्मरण होता है, तो अन्य जन्मान्तरीय अनुभूत पदार्थोंका स्मरण क्यों नहीं होता?' तो इसका समाधान यह है कि उद्बोधक न होनेसे उनका स्मरण नहीं होता। स्तन्यपानके सम्बन्धमें तो जीवनका हेतुभूत अदृष्ट ही संस्कारका उद्बोधक है। यदि स्तन्यपानमें इष्टसाधनताका बोध होकर प्रवृत्ति न हो, तो जीवन ही असम्भव हो जायगा।

कुछ लोग चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंको ही चेतन मानते हैं, परंतु चक्षु आदिके उपघात होनेपर भी स्मृति होती है, अतः यदि चक्षुरादि इन्द्रियाँ चेतन होतीं, तो उनके उपघातमें स्मृति न होनी चाहिये थी। अन्यके अनुभूतका अन्य

स्मरण नहीं कर सकता। मन भी चेतन नहीं है। फिर तो वह अणु होनेसे उसकी प्रत्यक्षता न होगी। कहा जाता है कि 'क्षणिक विज्ञान ही आत्मा है।' परंतु 'सोऽहं' (मैं वही हूँ) इस प्रकार अनेकदिनवर्ती आत्माकी प्रत्यभिज्ञा होनेसे नित्य विज्ञान ब्रह्मको ही आत्मा मानना ठीक है।

मूल, वस्तु या चेतना?

"मूल, भूत है चेतना?' इस प्रश्नके उत्तरमें आधुनिक वैज्ञानिक एडिंगटन भी कहते हैं—'खोजते हुए अन्तमें जहाँ पहुँचा, वहाँ देखता हूँ, मनकी छाया-मात्र है।' वैज्ञानिक जोन्स गणितशास्त्रके पण्डित हैं। उनका कथन है—'अन्तमें देखता हूँ, विज्ञानकी ही विजय है। विश्वका मूलाधार, ईश्वर एक अङ्कशास्त्रवित् है और यह विश्व उसीके मस्तिष्कका एक अङ्कमात्र है।' पूछा जा सकता है कि एडिंगटनका मानस और जोन्सका अङ्क क्या उनके मस्तिष्क और शरीरके ऊपर निर्भर नहीं है? क्या अपना मस्तिष्क और शरीर उनको अभौतिक या अतिभौतिक मालूम होता है? जोन्स, एडिंगटन आदिकी वर्णनशैलीमें कुछ अन्तर है, उसपर आधुनिकताकी मामूली छाप है, लेकिन बात पुरानी है—पिथागोरसका अङ्क; प्लेटोका आदर्श, उपनिषदोंका ब्रह्म—केवल नयी पोशाकमें हमारे सामने आये हैं। वस्तुको लाँघकर उसके पीछे किसी अवास्तव अलौकिककी प्रतिष्ठाकी चेष्टा हमको अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होती। श्रेणीविभाजित समाजमें वास्तव-जीवन जब अनिश्चित और जटिल होता है, तब एक अलौकिक और अन्तिम सत्यकी प्राप्तिसे वास्तव-पीड़ित मनको सान्त्वना मिलती है। धर्मकी प्रयोजनीयताका समर्थन करते हुए बड़े-बड़े धार्मिक भी यही युक्ति पेश करते हैं।

'पर मनुष्यका शरीरसम्बन्धी ज्ञान जितना ही उन्नत होता गया, आत्माकी धारणा भी उतनी ही सूक्ष्म होती आयी है और शरीर और आत्माका अविच्छेद्य सम्बन्ध उन्हें दिखायी देने लगा है। शरीरके साथ ही आत्माका निधन होता है, इस बातको मनुष्यने सभ्यताके प्राचीन युगमें ही मान लिया था। पश्चात् आत्माके दो भाग किये गये—जीवात्मा और परमात्मा। जीवात्मा नश्वर है, लेकिन परमात्मा अमर। देहातीत आत्मा या चैतन्य इस तरह जिंदा रहा। प्लेटो और अरस्तू, रामानुज और शङ्कर, सभीने विदेही आत्माको इस प्रकार ईश्वर या ब्रह्मके साथ जोड़ दिया। आत्माको 'विदेह' माननेके अतिरिक्त कोई मार्ग भी नहीं रहा। असभ्य मनुष्यके निकट प्राकृतिक और अलौकिक दोनों ही प्रत्यक्ष सत्य हैं, उनका विज्ञान प्रधानतः मन्त्र-तन्त्र है। सभ्यजगत्से विज्ञानकी उन्नति रोकी नहीं जा सकती। विज्ञान अलौकिक शक्तिकी कोई परवा नहीं करता, बल्कि असभ्य मनुष्यके कल्पित अलौकिकके राज्यको क्रमशः संकीर्ण बना देता है।

यही कारण है कि विज्ञानके प्रभावस्वरूप दर्शनकी आत्मा क्रमशः विशुद्ध होती आयी है, यानी इसका प्रमाण प्रयोगके बाहर ले जाकर इन्द्रिय-बुद्धिसे परे रखा गया है। इसी आत्माको सारे विश्वतत्त्वके मूलमें उन्होंने विराजमान देखा। शाङ्कर-वेदान्तके अनुसार विश्वका मूलाधार ब्रह्म और आत्मा एक ही चीज है—'तत्त्वमसि'।

"देखा गया है कि प्रत्येक युगमें देश और जातियोंकी सीमा अतिक्रम कर मनुष्यकी विचारधारा एक प्रकार रही है। प्रेत-तत्त्व, जादू-विद्या, अनेकेश्वरवाद, एकेश्वरवाद इत्यादि मनुष्यकी चिन्ताधाराकी सीढ़ियाँ सभी देशोंमें एक ही प्रकारकी रही हैं। यह भी संधान मिलता है कि यह तत्त्व-विचार जीवनकी गतिके छन्दमें ही बदलता रहा है और सूक्ष्म भी होता आया है। हमारे असभ्य पूर्व पुरुषोंका प्रेत-विश्वास ही सभ्य मनुष्योंके अध्यात्मवादके मूलमें है, इससे हमारे सभ्यतागर्वी मनको चोट पहुँचती है, लेकिन इतिहास इसका साक्षी है। प्रकृति-जगत्का इतिहास हमको यह दिखलाता है कि चेतनाकी उत्पत्ति भी वस्तु-जगत्में ही है। आदर्शवादी दार्शनिक कहता है कि चेतना ही भूतका मूल है, लेकिन विज्ञानने यह भलीभाँति प्रमाणित किया है कि चेतना सदासे नहीं रही। वस्तु-जगत्के इतिहासमें ऐसा भी समय था, जब जीव-जगत्का अस्तित्व नहीं था। वस्तुनिरपेक्ष चेतना, रक्त-मांसविहीन अदृश्य—ये धारणाएँ मनुष्यकी बुद्धिप्रसूत हैं। लेकिन मनुष्यसे भी पहले, जीव-जगत्के अस्तित्वके पहले, चेतनाका अस्तित्व है, यह सम्भव नहीं। भूतसे ही चेतनाकी उत्पत्ति है, इसलिये भूत ही पहले है। चेतना सभी प्रकार भूतके पश्चात् है। अध्यात्मवादी वस्तु और चेतनाके सम्पर्कको केवल बुद्धिद्वारा जाँचते हैं, इतिहासकी ओर ध्यान नहीं देते।

"आदिम मानवकी अपरिणत विज्ञानबुद्धिने वस्तुजगत्में मनुष्यकी ही भावनाधारणाकी छाया देखी है। उसीने प्रेत, परमात्मा, देवता, ईश्वर-आदर्श आदिका रूप लिया है। सदियों पहले चार्वाक और जेनोफेनीजने इसका अनुमान किया था। शताब्दियोंकी वैज्ञानिक गवेषणासे प्रमाण मिलता है कि भूतसे ही चेतनाकी उत्पत्ति हुई। चेतना भूतके ही विकासकी एक विशेष अवस्था है। इस चेतनाका, चाहे यह मनुष्यकी हो चाहे किसी और प्राणीविशेषकी, भूत-जगत्से अलाहिदा कहीं पता नहीं चलता। अध्यात्मवादी सूर्यविज्ञान, भूतत्व और जीव-विज्ञानके प्रमाणित सिद्धान्तोंको मान भी लेते हैं, लेकिन साथ-ही-साथ कहेंगे कि 'अस्फुट चेतनाने तो सारे जगत्को छा रक्खा है, यह विश्व चेतनामय है।' इस प्रकार भूतजगत्की एक विशेषवस्तु या गुणको वह इसके मूलमें बिठला देते हैं, मनुष्यकी चेतनाको देश-कालातीत मानकर इसको भूतजगत्की चेतनाका रूप दे देते हैं।

"अनुभव ही इस अध्यात्मवादी युक्तिका अन्तिम उत्तर है । शरीरविहीन चेतनाका कोई अस्तित्व नहीं। बर्बरके प्रेतकी तरह मानव-कल्पनाका यह प्रतिबिम्ब है। मार्क्सवाद इसीलिये इतिहासके ऊपर जोर देता है। इस इतिहासका अर्थ राजाओंका युद्ध नहीं। यह समग्र मानव-समाज और सारे विश्वका इतिहास है। इतिहास ही चेतनाके ऐतिहासिक जन्मका प्रमाण है। यह चेतना देश और कालसे सीमित है। अध्यात्मवादी क्या करते हैं, वे मनुष्यकी किसी एक मानसिक क्रियाको मूल सत्य मानकर इसीको भूतजगत्के मूलमें पहुँचा देते हैं। कोई कहता है कि भूतके मूलमें प्रज्ञा (रीजन) है, कोई कहता है इच्छाशक्ति (विल) है और कोई कहता है प्राणशक्ति (वाइटल एयर्स) है। जहाँतक जान पड़ता है, जीवजगत्में मनुष्यको ही केवल अमूर्त-भावनाकी क्षमता प्राप्त है । मानव-मस्तिष्क और शरीरके संगठनकी विशिष्टतासे ही इस क्षमताकी उत्पत्ति है। असंख्य मनुष्योंकी अभिज्ञतासे ही 'मनुष्य' नामकी साधारण संज्ञा बनती है। लेकिन इन असंख्य मनुष्योंको छोड़कर इस साधारण संज्ञाका स्वतन्त्र अस्तित्व कहाँ रह जाता है ? साधारण संज्ञा मनुष्यकी विचारक्रियाकी एक पद्धति है, यह मनुष्यके जीवनधारणके काम आती है। अन्यान्य जीव बाहरी जगत्की प्रेरणाओंको मिलाकर अमूर्त-भावनाकी सृष्टि नहीं कर सकते और इसीलिये प्रकृतिके सामने उनकी अक्षमता अधिक है। साधारण संज्ञाकी सृष्टिकी क्षमताने मनुष्यको प्रकृतिके रहस्यको समझनेमें काफी सहायता पहुँचायी है, लेकिन यही क्षमता मनुष्यके मनमें भ्रान्तिकी सृष्टि कर सकती है और करती है। साधारण संज्ञा वास्तवकी अभिज्ञतासे ही बनती है, लेकिन मनुष्यका मन इसको वास्तवसे हटाकर इसके एक स्वतन्त्र अस्तित्वकी सृष्टि कर सकता है, और करता है, इसीलिये मनुष्यकी विचारधाराको 'चेतना', 'प्रज्ञा' आदि अनेकों साधारण संज्ञाओंमें परिवर्तित किया जा सकता है। आदर्शवादी यह भूलकर कि 'चेतना', 'प्रज्ञा' आदि साधारण संज्ञाएँ असंख्य जीवोंकी विशेष अवस्थापर निर्भर हैं, इनको एक स्वतन्त्र शक्तिके रूपमें देखते हैं।"

परंतु यह सारी कल्पना निरर्थक है । आयुर्वेद, योगशास्त्र तथा आध्यात्मिक दृष्टिके आधारपर शरीरसम्बन्धी ज्ञान लाखों वर्षोंका पुराना है । उपनिषदोंने लाखों वर्ष पहले घोषित कर दिया है—'अविनाशी वा अरे अयमात्मा' । (बृहदा०) यह आत्मा अविनाशी है । शरीरके विनाशसे आत्माका भी विनाश होता है' यह भ्रम पहले भी लोगोंको था । श्रुतिने भी कहा—"एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति (बृ० दा० २।४।१२)।" अर्थात् शरीरादि संघातरूपमें परिणत भूतोंसे समुत्थित होकर उनके विनाशके पश्चात् ही विनष्ट हो जाता है, अर्थात् देहादिका नाश होते ही उसके साथ तादात्म्याभिमानमूलक जो औपाधिकरूप है, वह नष्ट हो जाता है । जैसे विशिष्ट तेज

आदिके कारण सामुद्रिक जलमें लवण-कणका रूप बनता है, उपाधिके वियुक्त होनेपर वह औपाधिकरूप नष्ट हो जाता है। परंतु जैसे लवण-कण नष्ट होनेपर भी सिन्धुजल नहीं मिटता, वैसे ही देहादि उपाधिमूलक औपाधिकरूप नष्ट होनेपर भी वास्तविक अनौपाधिकरूप बना ही रहता है। जैसे महाकाशका अंश ही घटाकाश होता है, वैसे ही परमात्माका अंश ही क्षेत्रज्ञ आत्मा है। जीवात्माके औपाधिक रूपके नश्वर होनेपर भी उसका वास्तविकरूप कभी नश्वर नहीं है।

प्रेतात्माकी कल्पना न केवल शास्त्रीय ही है, अपितु उसके प्रत्यक्ष चमत्कार आज भी उपलब्ध होते हैं। प्रेत-विद्याके आधारपर ही अन्य लोगोंको अविज्ञात गुप्त-से-गुप्त रहस्योंका ज्ञान परलोकविद्यावाले बतलाते हैं। अनेक स्थानोंमें सबके सामने किसी गृह-प्राङ्गणमें ईंट, पत्थर एवं अपवित्र वस्तुओंकी वर्षा होना, घरकी वस्तुओं, वस्त्रों आदिका देखते-देखते लुप्त होना आदि घटनाएँ ऐसी हैं कि पुलिसकी छान-बीन भी वहाँ व्यर्थ होती है, केवल साहस-मात्रसे ऐसी वस्तुओंका अपलाप नहीं किया जा सकता। युक्तिकी दृष्टिसे भी उत्कट कामनायुक्त मनःप्रधान सूक्ष्म शरीरविशिष्ट प्राणी अपने प्राक्तन कर्मोंके अनुसार अन्य योनियोंके समान ही प्रेतयोनिमें भी प्राप्त होता है। कर्मोंके उत्कर्ष-अपकर्षके अनुसार ही उनमें भी ऐश्वर्यका तारतम्य होता है।

आस्तिक प्रत्यक्षानुमानके अतिरिक्त आगम-प्रमाण भी मानते हैं। तदनुसार पूजा-पाठ, मन्त्र-तन्त्र—सभीका अस्तित्व है। ईश्वर न माननेवाले मीमांसकों एवं सांख्योंने भी मन्त्रोंका महत्त्व माना है। निरीश्वरवादी बौद्धों एवं जैनियोंमें भी मन्त्रोंका अस्तित्व मान्य है। सबके ही यहाँ प्रणवादि मन्त्रका जप चलता है। आजके वैज्ञानिक युगमें भी अधिकांश मनुष्य मन्त्रोंमें विश्वास रखते हैं। जैसे तृण, वीरुध, ओषधियोंमें भिन्न विचित्र गुण होते हैं, उनके परस्पर संश्लेष-विश्लेषसे उन गुणोंमें ह्रास-विकास एवं उद्गम-अभिभव होता रहता है, वैसे ही मन्त्रोंसे भी। अगणित ओषधियों एवं उनके अगणित संश्लेष-विश्लेषोंसे उद्भूत एवं अभिभूत होनेवाले गुणोंको केवल अन्वय-व्यतिरेकसे नहीं समझा जा सकता। अन्वयव्यतिरेकसे एक संखियाका ही गुण, रस, स्वाद आदि लाखों प्राणियोंके भी बलिदानसे लाखों वर्षोंमें भी जान सकना असम्भव है। अतएव महातपा महर्षियोंने योगज प्रत्यक्षसे ही सब वस्तुओंके गुण जाने हैं। इसी तरह वर्णोंके भी विचित्र संश्लेष-विश्लेषमें भी विलक्षण प्रकारकी शक्तियाँ निहित होती हैं। वर्णविन्यासोंके चमत्कार लोकमें भी प्रत्यक्ष हैं ही। राजा-जारा, नदी-दीन, कपि-पिक आदि वर्णोंके व्यत्यास-मात्रसे अर्थ और प्रभावमें कितना भेद होता है ! कोई वर्णविन्यासज्ञ पाँच मिनटके लिये सुप्रीमकोर्टमें खड़ा होकर वर्णविन्यासकी महिमासे दूसरोंका और अपना महान् लाभ कर लेता है। कोई अननुरूप वर्णविन्यासके कारण कलहका

कारण बन अपना और दूसरोंका नुकसान कर लेता है। इसीलिये योगियों, तार्किकों एवं नैयायिकोंने भी मन्त्रशक्ति मानी है। कोई भी विधिपूर्वक मन्त्रानुष्ठान करके आज भी मन्त्रका महत्त्व अनुभव कर सकता है। कुछ वैज्ञानिक भी अलौकिक शक्ति मानने लगे हैं। दर्शन वैज्ञानिकोंके विज्ञानकी परवा न करके ही अपने सत्य सिद्धान्तको वैज्ञानिकों एवं विज्ञानकी उत्पत्तिके पहलेहीसे बतला रहा है। लाखों वर्ष पहलेसे ही, जब आधुनिक वैज्ञानिक गर्भमें भी नहीं आये थे, उपनिषदें आत्माको मनोवचनातीत कहती आ रही हैं। वह इसलिये कि आन्तर वस्तुसे बाह्य वस्तुका ग्रहण होता है, बाह्यसे आन्तरका नहीं। बाह्य प्रकाशका परिज्ञान नेत्रसे होता है, परंतु सूक्ष्म नेत्र-इन्द्रियका बोध बाह्य प्रकाशसे नहीं होता। इन्द्रियोंका व्यापार मनसे विदित होता है, परंतु इन्द्रियोंसे मनका व्यापार विदित नहीं होता। मन, बुद्धि आदिका बोध सर्वभासक साक्षीसे होता है, परंतु स्वप्रकाश साक्षीका मन आदिके द्वारा बोध नहीं होता। इसी तरह जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्धसे रहित होनेके कारण शब्दकी अभिधावृत्तिका गोचर अद्वितीय ब्रह्म नहीं होता। वराक (बेचारे) विज्ञानके भयसे दार्शनिकोंने ब्रह्मको मनोवचनातीत नहीं बनाया है।

आत्मा एवं भूत

मार्क्सवादी "आत्माकी अपेक्षा प्रकृति या भूतको ही मूल मानते हैं। भौतिक चिन्त्य वस्तुसे भिन्न चिन्तन या विचार पृथक् नहीं किया जा सकता है। चेतना या विचार चाहे कितने ही सूक्ष्म क्यों न प्रतीत हों, परंतु हैं वे मस्तिष्ककी उपज ही। मस्तिष्क एक भौतिक दैहिक इन्द्रिय ही है। यह भौतिक जगत्का सर्वश्रेष्ठ इन्द्रिय है। मार्क्सके शब्दोंमें 'पदार्थ मनसे उत्पन्न नहीं हुआ, किंतु मन पदार्थकी सर्वोत्कृष्ट सृष्टि है।' लेनिनने कहा है कि 'सृष्टि-ज्ञानका अर्थ है—पदार्थकी गति और उसकी चिन्तनशीलताका ज्ञान।' इस तरह भौतिक पदार्थ या प्रकृति ही मूल है। विचार या चेतना उसका प्रतिबिम्ब है। व्यक्तिके विचार उसकी सामाजिक सत्ता या परिस्थितिसे स्वतन्त्र नहीं होते। कहा जाता है कि 'एक दार्शनिक अपने युगका कीचड़ अपने पैरोंके साथ लिये जाता है। उसके दर्शनपर उसके समाजकी छाप अवश्य ही रहती है।' लास्कीके शब्दोंमें 'जो जैसा रहता है, वैसा ही सोचता है।' एमिल बर्नसके शब्दोंमें 'वस्तु अर्थात् वह वास्तविकता, जो अचेतन है, पहले थी। मन जो सचेतन है, बादमें आया। वस्तु अर्थात् बाह्य पदार्थ मनसे स्वतन्त्र है।'

यद्यपि पाश्चात्त्य आदर्शवादी दार्शनिकोंने मनस् या सर्वमनस् तत्त्वको ही मूल माना है। उसीसे अचेतनकी उत्पत्ति माना है। कांट, फिक्टे, हीगेल आदि इसी विचारके हैं। अद्वैतवादी वेदान्ती भी एक हदतक कहते हैं कि सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च मनका विस्तार है। यह द्वैत मनोमात्र ही है—'मनोमात्रमिदं द्वैतम्।' मनके

अमनीभाव होनेपर द्वैत कुछ भी नहीं रह जाता—'मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते' (माण्डूक्यकारिका ३ । ३१) बौद्धोंका क्षणिक विज्ञान ही बाह्य अर्थके आकारसे परिणत होता है। यह भी इन्हीं मतोंसे मिलता-जुलता मत है । तथापि क्षणिक विज्ञान या व्यावहारिक स्थायी मन या अन्तःकरण तथा उसकी इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख आदि सब विकृतियोंकी स्थिति, गति, अपचिति (लय) जिस नित्य अखण्ड बोधसे भासित होती हैं, वह अनन्त सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन ब्रह्मात्मा ही वेदान्तमतमें सर्वमूल है। मन भी उसी अखण्ड बोधका विवर्त्त है । अन्वय-व्यतिरेकसे जैसे मृत्तिकाके होनेपर ही मृद्विकार घटादि उपलब्ध होते हैं, मृत्तिकाके बिना वे उपलब्ध नहीं होते, जैसे जलके रहनेपर ही तरङ्गादि प्रतीत होते हैं, जलके बिना वे प्रतीत नहीं होते, वैसे ही मनके होनेपर ही बाह्य एवं आभ्यन्तर भौतिक दृश्यमात्र प्रतीत होते हैं, मनके बिना कुछ भी भासित नहीं होते हैं । इसी प्रकार सर्वान्तर्द्रष्टाका अस्तित्व ही सम्पूर्ण दृश्यके अस्तित्वका मूल है । अखण्ड बोधके बिना तो मन, अन्तःकरण या विज्ञान भी भासित नहीं होते । अतएव मूल पदार्थ अखण्ड बोध सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है । मनसे भिन्न मस्तिष्क भी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। मनको श्रोत्र, त्वक्, चक्षु आदि दस बाह्य इन्द्रियोंसे भिन्न ग्यारहवीं आन्तर इन्द्रिय माननेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। उसी मनमें बुद्धि, चित्त, मन, अहंकार—ये चार भेद होते हैं। उसमें इच्छा, द्वेष, सुख-दुःखादि गुण व्यक्त हुआ करते हैं। भले ही मस्तिष्कके तन्तुविशेषोंके निघर्षसे इसकी व्यञ्जना होती हो; परंतु यह मस्तिष्क एवं उसके तन्तु या तन्तुका निघर्षमात्र नहीं है। जैसे ठंडे और गरम दो तार या दो तारोंका संघर्ष ही विद्युत् नहीं है, किंतु उनसे व्यक्त होनेवाली विद्युत् उनसे भिन्न स्वतन्त्र वस्तु है, वैसे ही मन इन मस्तिष्क, तन्तु एवं उनके निघर्षसे भिन्न वस्तु है। शुद्ध स्फुरण, अखण्ड बोध तो विचारोंसे भी भिन्न स्वतन्त्र वस्तु है।

मार्क्सवादी कहते हैं कि "विचारोंका जन्म बाह्यजगत्से ही होता है। फिर भी सभी विचार सत्य नहीं होते। वास्तविकताका ठोस अनुभव ही बतलाता है कि विचार सही है या नहीं । विचार करनेपर यह भी असङ्गत ही प्रतीत होता है। फिर भी वास्तविकताके जिस ठोस अनुभवसे ही विचारकी सत्यताका निश्चय होता है, वह अनुभव क्या है? क्या वह भी जड, बाह्य वस्तु है? अतः हर दृष्टिसे यह मानना पड़ेगा कि विचार हो या अनुभव, ठोस हो या पोला, किसी भी वस्तुका अस्तित्व निर्दोष अनुभव या विचारके बिना सिद्ध नहीं होता।" इससे इतना ही कहा जा सकता है कि पूर्वानुभवका बाधक अनुभवान्तर होनेसे पूर्वानुभवको भ्रम समझा जाता है। बाधक अनुभव न होनेसे पूर्वानुभवको स्वतः ही सत्य माना जाता है । सर्वथा अपि अनुभवके बिना बाह्य पदार्थकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती है। साधारण विचार, साहित्य आदिपर अवश्य समाजकी छाप होती है । उसमें

भी उच्च श्रेणीके विचारकों, लेखकोंके ग्रन्थोंमें उच्च सामाजिक स्थितियोंका अङ्कन होता है। निम्न विचारके ग्रन्थोंपर निम्नश्रेणीका ही प्रभाव अङ्कित होता है। इसी अंशमें लास्कीका कथन सङ्गत है। परंतु प्रामाणिक दर्शनके लिये तो देश, काल, परिस्थितियोंके आवरणोंको भेदन करनेसे ही तत्त्वानुभूति होती है। बिना रंगीन चश्मा उतारे वस्तुका वास्तविक रूप-ज्ञान सर्वथा ही दुर्घट होता है।

देहके समान ही इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हैं। यदि सम्मिलित होकर इन्द्रियाँ आत्मा हैं तब तो एक इन्द्रिय नष्ट होनेपर आत्मनाश-प्रसङ्ग होगा; क्योंकि एकके नष्ट होनेपर भी समस्तता विनष्ट हो गयी। यदि प्रत्येक इन्द्रियाँ आत्मा हैं, तो परस्पर विरुद्ध दिक्क्रिया होनेसे शरीर ही उन्मथित हो जायगा। 'योऽहं चक्षुषा घटमद्राक्षं सोऽहं घटं त्वचा स्पृशामि' जिस मैंने चक्षुसे घट देखा था, वही मैं त्वक्से घटका स्पर्श करता हूँ' इस अनुभवसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि नेत्र, श्रोत्र, त्वक्से काम लेनेवाला आत्मा इनसे भिन्न है। चक्षु यदि आत्मा है, तो वह स्पर्शका कर्ता क्यों नहीं हो सकता। त्वक् आत्मा है तो वह दर्शन-क्रियाका कर्ता क्यों नहीं हो सकता? अतः यहाँ कोई इन्द्रियोंसे भिन्न ही आत्मा है जो कि दर्शन, घ्राण, स्पर्श, श्रवण आदि सभी क्रियाओंका कर्ता है, उसी एक आत्माकी विभिन्न क्रियाओंके कर्तारूपसे प्रसिद्धि है।

क्षणिक विज्ञान भी आत्मा नहीं; क्योंकि अनुभव एवं स्मृतिका एक ही कर्ता होता है। अन्यद्वारा अनुभूतका अन्य स्मरण नहीं करता। मैंने उसे देखा था और मैं इसे देख रहा हूँ। इस तरह अनेक काल-सम्बन्धी आत्मा क्षणिक नहीं हो सकता है। पूर्वोत्तरदर्शी एक प्रत्ययी न हो तो स्मृति नहीं हो सकती है। 'सोऽहं' यह प्रत्यभिज्ञा भी स्थायी आत्माके विना नहीं बन सकती। यदि स्मरण एवं अनुभवके कर्ता भिन्न हों तो मैंने देखा, अन्यने स्मरण किया, यह व्यवहार होना चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि सादृश्यके कारण एकताकी प्रतीति होती है। जैसे नदी-प्रवाह, दीप, केश आदिमें तत्सदृश होनेसे 'त एवेमे केशाः; सैवेयं दीपकलिका' वे ही ये बाल हैं, वही यह दीपशिखा है— यह प्रत्यभिज्ञा होती है, परंतु यह भी ठीक नहीं है। "'तेनेदं सदृशम्' यह उसके सदृश है, इस प्रकार सादृश्यग्रहणके लिये भी तो पूर्वकालवर्ती तत्‌का, वर्तमानकालवर्ती इदंका तथा तदुत्तरवर्ती सादृश्यका ग्राहक एक स्थायी आत्मा हो तभी सादृश्यबोध भी हो सकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि सादृश्यप्रत्यय भी स्वतन्त्र ही है, परंतु यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसी स्थितिमें 'तेनेदं सदृशम्' इत्यादि प्रतीति न होनी चाहिये। बाह्य विषयमें भले ही कभी सादृश्यमूलक-एकत्वका भ्रम भी हो तथापि उपलब्धि या अनुभवितामें तो संदेह ही नहीं होता। मैं वही हूँ या तत्सदृश अन्य हूँ, किंतु यहाँ तो स्पष्ट ही निश्चित प्रत्यभिज्ञान होता है, जो मैंने कल देखा था, वही मैं आज स्मरण कर रहा हूँ।

एकादश परिच्छेद

मार्क्स और आत्मा

शास्त्र-संस्कारवर्जित जनसाधारण तथा भूतसंघातवादी चार्वाक और आधुनिक मार्क्सवादी जीवित देहको ही आत्मा कहते हैं; क्योंकि 'मनुष्योऽहं जानामि' मैं मनुष्य हूँ, जानता हूँ, इस रूपसे ही शरीर ही 'अहं' प्रत्ययका आलम्बन और ज्ञानके आश्रयरूपसे आत्मा प्रतीत होता है। दूसरे लोग इन्द्रियोंको ही आत्मा कहते हैं। उनके मतसे चक्षु, श्रोत्रादि इन्द्रियोंके बिना रूपादि-ज्ञान नहीं होता, अतः वे ही आत्मा हैं।' अन्य लोग 'स्वप्नमें चक्षुरादि न होनेपर भी ज्ञान होता है, अतः 'अहं' प्रत्यय और विज्ञानका आश्रय होनेसे मनको ही आत्मा मानते हैं।' विज्ञानवादी क्षणिक विज्ञानको और माध्यमिक शून्यको ही आत्मा कहता है। यहाँ जीवित देहको ही आत्मा माननेवाले मार्क्सवादियोंसे प्रश्न हो सकता है कि क्या भोक्तृत्व और चैतन्य व्यस्त (अर्थात् प्रत्येक) भूतोंका धर्म है अथवा समस्त (सम्मिलित) भूतोंका ? पहले पक्षमें भी क्या सभी भूत समानकालमें ही भोक्ता हैं ? यदि हाँ, तो स्वार्थके लिये प्रवृत्त सभी चैतन्य गुणयुक्त भूतोंका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकेगा, अङ्गाङ्गिभाव बिना बने संघात नहीं बन सकता। लोकमें देखते ही हैं कि मुञ्ज आदि तृणोंका अङ्गाङ्गी भाव होनेसे रज्जुरूप संघात निष्पन्न होता है। यदि संघातके बिना ही पृथक्-पृथक् भूतोंका स्वतन्त्र भोक्तृत्व मान लिया जाय तो देहसे बाहर भी एक-एक भूतमें भी भोक्तृताकी उपलब्धि होनी चाहिये जो कि अदृष्ट ही है। यदि व्यस्त भूतोंका समानकालमें ही भोक्तृत्व न होकर क्रमेण भोक्तृत्व हो तो भी संघातकी अनिष्पत्ति बनी ही रहेगी। यदि वर-विवाहादि न्यायसे जैसे प्रतिविवाहमें एक-एक पुरुष प्रधान और अन्य वरयात्रिक अप्रधान होते हैं, उसी तरह एक-एक भोगमें एक-एक भूत प्रधान होगा। दूसरे उसके गुण भूत होंगे, परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि जैसे एक-एक वरके लिये असाधारणरूपसे एक-एक कन्या भोग्य वस्तु है, वैसे ही भोग करनेवाले पृथिवी, जल, तेज, वायुके लिये एक-एक गन्ध, रस, रूप, स्पर्शादि भोग्यवस्तु व्यवस्थित नहीं हैं, अतएव पृथिवीमें रूप-रसादिकी भी उपलब्धि होती है। यदि किसी तरह व्यवस्था मान भी ली जाय कि तेजका रूप ही, वायुका स्पर्श ही, जलका रस ही भोग्य है तो भी एक कालमें शब्द-स्पर्शादि सभी विषयोंका संनिधान होनेपर भोगमें क्रम अर्थात् (अयौगपद्य) उपपन्न नहीं हो सकेगा। जैसे एक ही मुहूर्तमें प्रत्येक भोग्य-कन्याके उपस्थित होनेपर वरोंका क्रम

विवाह और गुण-प्रधानभावेन संघात नहीं बन सकता, अर्थात् भोग्यकी उपस्थितिमें भोक्ता क्रमकी अपेक्षा न करके ही भोगमें प्रवृत्त होगा। उसी तरह प्रत्येक भोक्ता भूत, भोग्य शब्दादिके उपस्थित होनेपर क्रमकी अपेक्षा न करके ही भोगमें संलग्न होगा। अतः इनका भी अङ्गाङ्गी-भावरूपसे संघात नहीं बन सकेगा।

इसी तरह समस्त (सम्मिलित) भूतोंका भी भोक्तृत्व नहीं बन सकता; क्योंकि यदि प्रत्येक भूतोंमें चैतन्य नहीं है तो वह संघातमें भी नहीं हो सकता। अतएव संघातमें भी भोक्तृत्व नहीं बन सकता। यदि कहा जाय कि अग्निमें डाले हुए एक-एक तिल ज्वालाके जनक न होनेपर भी तिलसमूह ज्वालाका जनक होता है, उसी तरह भूतोंका समूह भी चैतन्यका जनक होगा, परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि संघातकी उत्पत्तिमें कोई स्पष्ट हेतु नहीं दिखायी देता। कारण, मार्क्सवादीके मतमें संघातात्मक शरीरसे भिन्न कोई चेतन पदार्थ है ही नहीं, जो कि प्रत्येक अचेतन भूतका चेतनात्मक संघात उत्पन्न कर सके। यदि भावी भोगको ही संघातका कारण कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं, कारण यदि भोगको अप्रधान माना जाय तो परस्पर गुणप्रधानभावशून्य भूतोंका संघात कैसे बनेगा ? अर्थात् गुणभूत भोगके द्वारा प्रधानभूत भूतोंका संघात सम्पादन असङ्गत है। यदि भोगको ही प्रधान माना जाय तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि भोग सर्वथा ही भोक्ताका शेष (अङ्ग) हुआ करता है। कहा जा सकता है कि शेषी (अङ्गी) अर्थात् प्रधानभूत भोगके प्रति शेषभूत (अर्थात् अङ्गभूत) स्त्री-पुरुष शरीर भोक्ताओंका संहत (सम्मिलित) होना देखा गया है। पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सिद्धान्तमें वहाँ भी स्त्री-पुरुष शरीरोंमें भोक्तृत्व सम्प्रतिपन्न नहीं, किंतु वहाँ शरीर-भिन्न दोनोंके भोक्ता आत्मा ही भोगके लिये दोनों शरीरोंको सम्मिलित करते हैं। और ज्वालाके प्रति तिलोंकी संघातापत्तिका दृष्टान्त भी जडवादीके मतमें असिद्ध है; क्योंकि उसके मतमें संघात नामकी कोई चीज सिद्ध नहीं होती। वादी-प्रतिवादी उभयसम्मत होनेसे ही कोई दृष्टान्त किसी सिद्धान्तका साधक हो सकता है।

संघात क्या है ? यह भी विचारणीय है। 'जैसे अनेक वृक्षोंका एक देशमें आना ही उनका संघातभूत 'वन' कहा जाता है, वैसे ही भोग और भोक्ताका समानाधिकरणत्व अर्थात् एक देशस्थता संघात है,' यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस तरह तो सर्वव्यापी सभी भूत सर्वत्र हैं। अतएव चैतन्य और भोग भी सार्वत्रिक ठहरेगा तथा शरीरमें ही भोगका नियम बाधित होगा। 'उन भूतोंसे आरब्ध अवयवी संघात है', यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि वह अवयवी चार भूतोंसे भिन्न है, तो उसे पाँचवाँ तत्त्व मानना होगा,

जो भौतिकवादियोंको अस्वीकृत ही है । यदि अवयवी अवयवोंसे अभिन्न है तब तो भूतमात्र ही होगा। भेद एवं अभेद दोनोंका होना असङ्गत ही है । यदि कहा जाय कि अवयवी अवयवोंके परतन्त्र है; अतः पञ्चमतत्त्वापत्ति नहीं होगी, तो यह भी ठीक नहीं; कारण, इस तरह जल आदि भी पृथ्वी आदिके परतन्त्र होनेसे जलादिमें भी स्वतन्त्र तत्त्वका व्यवहार होता है । फिर तो पृथिव्यादि भूतचतुष्टय तत्त्व हैं, यह सिद्धान्त बाधित हो गया । कुछ लोग कहते हैं कि 'एकद्रव्य-बुद्धिका अवलम्बन योग्य होना ही संघात है। देहमें एकबुद्धि-अवलम्बन-योग्यता है ही', परंतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वस्तुतः अनेकोंमें एकत्वबुद्धि विभ्रम ही है। 'एकार्थक्रियामें युगपत् (एक कालमें) अन्वय ही संघात है, जैसे प्रमातृत्व आदि व्यवहाररूप एक कार्यके लिये पृथिव्यादि चारों भूतोंका अन्वय होता है।' पर यह भी ठीक नहीं, कारण, ऐसा माननेपर वायुजन्य वेणुसंघर्ष-जनित काष्ठाश्रित वह्निसे संतप्त जलमें चारों भूतोंका समन्वय है ही, फिर उस जलमें भोक्तृत्व होना चाहिये। परंतु यह है नहीं । जो कहा जाता है कि 'जैसे अग्निका लोह-पिण्डके साथ सम्बन्ध होता है, वैसे सम्बन्धको ही संघात कहा जाता है', वह भी ठीक नहीं । कारण, शरीरमें वायुका सम्बन्ध उस प्रकारका न होनेसे शरीरमें भोक्तृत्व नहीं बन सकेगा । इसके अतिरिक्त वह्निव्याप्त लोहपिण्डमें उसके ही द्वारा उसमें जल शुष्क होता है और वायुका भी उसमें सम्पर्क रहता है । अतः उस लोहपिण्डमें ही भोक्तृत्व एवं चैतन्यका उपलम्भ होना चाहिये । यदि इन सब दोषोंके परिहारके लिये एक-एक भूतको भोक्ता माना जाय तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सब भूतोंका शब्दादि विषय-संनिधान होनेपर फिर किसका भोग या चैतन्य है ? इसका निश्चय असम्भव होगा । अतः चारोंको भोक्ता मानना पड़ेगा । और उनका संघात बन नहीं सकता, अतः संघात-भावापन्न भूतोंको भोक्ता या चेतन माननेका पक्ष युक्तिहीन है ।

कहा जाता है कि 'शक्तिमद्द्रव्यान्तरकी कल्पनाकी अपेक्षा उन गोलकोंमें शक्तिमात्रकी कल्पनामें लाघव है', परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि फिर तो आत्मामें ही क्रमयुक्त सर्वविज्ञानसामर्थ्य माननेमें अत्यन्त लाघव है । कुछ लोग 'रूपादिकी उपलब्धि करणपूर्वक होनी चाहिये, कर्ताका व्यापार होनेसे छिदि क्रियाके तुल्य, अर्थात् जैसे कर्ता कुठारादि करणके द्वारा काष्ठछेदन करता है, उसी तरह आत्मा चक्षुरादि करणोंके द्वारा रूपादिकी उपलब्धि करता है', इस अनुमानसे देहभिन्न इन्द्रियाँ सिद्ध करते हैं। और यह भी कहा जाता है कि 'वे इन्द्रियाँ भौतिक हैं। चक्षु तैजस है; क्योंकि तैजसरूपका ही ग्राहक है । श्रोत्र आकाशीय है; क्योंकि आकाशीय शब्दका ग्राहक है । मन शब्द-स्पर्शादि सभीका व्यञ्जक है, अतः वह पञ्चभूतोंका ही कार्य है । इस तरह इन्द्रियाँ भी भोक्ता नहीं हो सकतीं ।'

बौद्धोंके अनुसार 'दिखायी देनेवाले आँख, नाक, कान आदि गोलक ही इन्द्रियाँ हैं।' 'उन गोलकोंमें देखने-सुनने आदिकी शक्ति ही इन्द्रियाँ हैं' यह मीमांसकोंका मत है। 'गोलक भिन्न द्रव्य ही इन्द्रियाँ हैं' यह अन्य लोग मानते हैं। उनमें बौद्धमत इसलिये ठीक नहीं है कि कानरूपी गोलक न रहनेपर भी सर्पको शब्दका बोध होता है। वृक्षोंमें कोई गोलक नहीं होता, तो भी उन्हें शब्दादिका बोध होता है। यह आगमवेद्य है। आधुनिक वैज्ञानिकोंने भी उनका चेतन होना स्वीकार किया है। शास्त्रोंने भी उनकी हिंसा मना की है। उपर्युक्त दोषोंके कारण ही 'गोलकोंकी शक्ति इन्द्रियाँ हैं' यह पक्ष भी ठीक नहीं। कुछ लोग इन्द्रियोंको आहङ्कारिक एवं सर्वगत मानते हैं, अन्य मध्यम परिमाण ही मानते हैं। बौद्ध अप्राप्यकारी कहते हैं, अर्थात् विषय-देशपर बिना गये ही इन्द्रियाँ विषयोंका प्रकाशन करती हैं। परंतु दूरसे स्पर्श, रस, गन्धका उपलम्भ नहीं होता। अतः त्वक्, रसना, घ्राणको अप्राप्यकारी नहीं कहा जा सकता। चक्षु भी दूरदेश जाकर ही दूरस्थ वस्तुका ग्रहण करता है। तेज शीघ्र ही दूरगामी देखा जाता है। शब्द भी वीचि-तरङ्गन्यायसे श्रोत्र-देशपर आता है तभी उसका ग्रहण होता है। रेडियो आदिद्वारा शब्दका विस्तार और अधिक हो जाता है। अतः श्रोत्र भी अप्राप्यकारी नहीं। मनको भी नैयायिक नित्य कहते हैं। परंतु वेदान्त-मतमें उसकी उत्पत्ति मान्य है—'तन्मनोऽसृजत्' (ऐतरेय०) नैयायिक मनको अणु-परिमाण और वेदान्ती मध्यम-परिमाण कहते हैं। 'मन, अन्तःकरण, बुद्धि, अहङ्कार एक ही वस्तुकी अवस्थाएँ हैं, आत्मा इन सभी साधनोंके द्वारा भोगके लिये प्रवृत्त होता है। वह सर्वगत एवं कर्ता है,' यह नैयायिकोंका मत है। वेदान्त-मतमें 'आत्मा स्वप्रकाश है।' निद्राकालमें सुखपूर्वक सोया, इस प्रकार सौषुप्त प्रत्यक्षानुभवके कारण ही प्रबुद्धको स्मरण होता है।

आत्मा स्वप्रकाश है, क्योंकि स्वसत्तामें प्रकाशविहीन नहीं रहता, जैसे प्रदीप और ज्ञान। ये अपनी सत्तामें प्रकाशरहित नहीं होते, अतएव स्वप्रकाश हैं। इसी तरह आत्मा भी स्वसत्तामें प्रकाशशून्य नहीं होता, अतः स्वप्रकाश है। इसी तरह आत्मा प्रदीपके समान विषयका प्रकाशक एवं आलोकके तुल्य विषय-प्रकाशका आश्रय है। इसलिये भी स्वप्रकाश है, इसी तरह ज्ञानके समान इन्द्रिय-गोचर न होकर अपरोक्ष होनेसे भी आत्मा स्वप्रकाश है। जैसे ज्ञान चक्षुरादिका विषय न होकर भी अपरोक्ष है, वैसे ही आत्मा भी। इसी तरह आत्मा धर्मी होते हुए भी अजन्य प्रकाश-गुणवाला है; क्योंकि वह प्रकाश-गुण-वाला है जैसे आदित्य। अर्थात् जैसे आदित्य प्रकाश-गुणवाला होनेसे अजन्य प्रकाश गुणवाला है, वैसे ही आत्मा भी प्रकाश-गुणवाला होनेसे अजन्य प्रकाश-गुणवाला है। यह बात दूसरी है कि आदित्यका प्रकाशरूपी प्रकाश है, आत्माका ज्ञान-

रूप नीरूप प्रकाश है । 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः' इत्यादि आगम भी आत्माको स्वप्रकाश कहते हैं । नैयायिक एवं पूर्वमीमांसक आत्माको कर्ता मानते हैं; किंतु सांख्य निरवयवमें परिस्पन्द एवं परिणामलक्षण क्रियाको असम्भव समझकर उसे असङ्ग एवं अकर्ता ही कहते हैं । वैशेषिक, योगी, नैयायिक आदि भोक्ता जीवसे भिन्न सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् विश्वकर्ता ईश्वर मानते हैं ।

जाग्रत्कालमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयवेद्य हैं । उनमें गो-अश्वादिवत् परस्पर विचित्रताके कारण उनकी भिन्नता भी माननी चाहिये । उन शब्दादिका बोध या संवित् उनसे भिन्न है । वेद्य और वेदिताका भेद प्रसिद्ध ही है । प्रकाश्य, प्रकाशका भेद भी लोकमें प्रसिद्ध है । रूप और उसके प्रकाशक सौरालोकमें भेद स्पष्ट ही है । इसी तरह वेद्य शब्दादि एवं आकाशादिसे उनका भासक बोध और अनुभव भिन्न है । जैसे शब्दादिकी परस्पर विचित्रता होनेसे भिन्नता है, उस तरह उनके बोधोंमें विचित्रता नहीं है । अतः उनका भेद भी नहीं है । अतएव बोध-बोध सब एक ही है । अनुमान भी किया जा सकता है । विवादास्पद शब्दादि-बोध स्वाभाविकभेदशून्य हैं; क्योंकि उपाधिको बिना ग्रहण किये हुए उनका भेद गृहीत नहीं होता, जैसे आकाशमें घटादि उपाधिके बिना भेद नहीं गृहीत होता, अतः वह भी स्वाभाविक भेदशून्य है, तद्वत् प्रकृतमें भी समझना चाहिये ।

संवित् होनेसे शब्दसंवित् स्पर्शसंवित्से भिन्न नहीं है, जैसे स्पर्शसंवित् अपनेसे भिन्न नहीं है । जैसे एक ही आकाशमें घटादि उपाधिके भेदसे भेद-व्यवहार हो जाता है, उसी तरह आकाशवत् व्यापक एक ही संवित्में शब्दादि विषयरूप उपाधिके भेदसे भेद-व्यवहार बन ही जायगा । उसी प्रकार स्वप्नमें भी विषयोंमें भेद और संवित्में अभेद है । स्वप्न और जागरमें भेद इतना ही है कि जागरमें विषय स्थिर है और स्वप्नमें अस्थिर । स्वप्न-जागर-अवस्थाएँ और उनके विषय भी विचित्रताके कारण पृथक्-पृथक् हो सकते हैं; परंतु दोनों अवस्थाओंके बोध एकरूप होनेसे अभिन्न ही हैं । इसी तरह सुषुप्ति-अवस्थाकी संवित् भी सुषुप्ति-अवस्थासे भिन्न हैं । सुषुप्ति और जाग्रदादि परस्पर विलक्षण होनेसे भिन्न हैं, परंतु उनकी संवित् एकरूप होनेसे परस्पर अभिन्न ही है । सोकर जगनेके पश्चात् सुप्तोत्थित प्राणीको सुषुप्ति-अवस्थाके अज्ञान या तमका स्मरण होता है, 'मैं सुखपूर्वक सोता था और कुछ भी नहीं जानता था ।' प्रत्यक्ष-साधन विषयेन्द्रिय-संनिकर्ष एवं अनुमान-साधन व्याप्ति-लिङ्गादि न होनेसे ऐसे ज्ञानको स्मृति ही मानना उचित है । स्मृति अनुभवपूर्वक ही होती है, अतः सुषुप्तिकालमें सुख एवं तमोरूप अज्ञानका अनुभव मानना उचित है । यह अज्ञान अन्धकारके तुल्य वस्तुतत्त्वको ढकनेवाला भावरूप है । इसीलिये इसके द्वारा ज्ञानरूप ब्रह्मका

आवरण होता है। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्' (गीता ५।१५) यह ज्ञानाभाव नहीं है; क्योंकि ज्ञानाभाव जाननेके लिये उसके अनुयोगी (आधार) प्रतियोगी (ज्ञान) का ज्ञान होना चाहिये। जैसे घटाभाव जाननेके लिये अनुयोगी (भूतलादि) और प्रतियोगी (घट) का ज्ञान आवश्यक होता है। परंतु यहाँ यदि इसी तरह अनुयोगी-प्रतियोगीका ज्ञान हो तब ज्ञानाभाव कैसा ? और यदि उनका ज्ञान नहीं तो ज्ञानाभावका ज्ञान ही नहीं हो सकता। अतः भावरूप अज्ञान ही साक्षीके द्वारा प्रकाशित होता है। अज्ञानका उपलम्भ होनेसे ही तद्विरुद्ध ज्ञानका अभाव विदित हो जाता है। इसलिये इस अज्ञानको तम भी कहा जाता है। इसी तरह दिनों, पक्षों, मासों, वर्षों, युगों, कल्पों, अतीतों, अनागतोंमें भेद है, परंतु उनके बोधोंमें कोई भी भेद नहीं। एक अनन्त आकाशके तुल्य ही यह बोध भी अनन्त एवं एक ही है। अतः इसका न उदय होता है न अन्त। क्योंकि उस बोधका प्रागभाव या उत्पत्ति अथवा विनाश भी बोधके बिना सिद्ध नहीं होता। यदि प्रागभाव-साधक बोध है, तो बोधका प्रागभाव ही कैसे कहा जा सकता है ? यदि बोध नहीं तो प्रागभाव सिद्ध ही कैसे होगा ? बोधोंमें भेद नहीं होता, अतः अन्य बोधका प्रागभाव अन्य बोधसे सिद्ध होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता।

इस तरह अत्यन्ताबाध्य होनेके कारण वही बोधस्वरूप भी है। यही संवित् आत्मस्वरूप भी है; क्योंकि नित्य होकर स्वप्रकाश है। जो नित्य स्वप्रकाश नहीं वह आत्मा नहीं, जैसे घटादि। बोध नित्य एवं स्वप्रकाश है, अतः वही बोध, संवित्, अनुभव या ज्ञान आत्मा है। आत्मा परप्रेमास्पद है, अतः आनन्दस्वरूप भी है। संसारमें सर्वत्र ही प्रेम आत्माके लिये होता है, आत्मामें प्रेम अन्यके लिये नहीं होता। जैसे शर्कराके सम्बन्धसे अन्यत्र मिठास होती है, किंतु शर्करामें मिठास स्वतः होती है। उसी तरह आत्मामें प्रेम स्वतः होता है। अन्यत्र प्रेम आत्मसम्बन्धसे होता है। निद्रादि सब जिनसे अनुभूत होते हैं, उस अनुभवका अपलाप नहीं किया जा सकता। अनुभूतिको अनुभाव्य माननेसे अनवस्था-दोष होता है, अतः अनुभूति-अनुभाव्य हुए बिना ही स्वप्रकाश है। ज्ञाता और ज्ञानका दूसरा ज्ञान न होनेसे वे ज्ञेय नहीं होते। असत् होनेसे उन्हें अज्ञेय नहीं कहा जा सकता। निद्रा आनन्दादि साक्षी होनेसे उसे असत् नहीं कहा जा सकता। गुडादि अपने सम्पर्कसे अन्यत्र चणक-चूर्णादिमें मधुरतादि समर्पण करते हैं, परंतु स्वयं गुडादिमें मधुरता अर्पण करनेवाले गुडादिकी अपेक्षा नहीं होती। इसी तरह आत्मामें वेद्यता, अनुभाव्यता न होनेपर भी बोधस्वरूप होनेमें कोई संदेह नहीं। जैसे प्रकाश और तमके बिना यद्यपि आकाश उपलब्ध नहीं होता, तथापि निर्जगत् आकाश मान्य होता है। उसी तरह यद्यपि घटादिके बिना सत् या बोध उपलब्ध नहीं होता, फिर भी घटादि प्रपञ्चशून्य बोध या स्वप्रकाश सत् रहता ही है। तूष्णींभाव समाधिकालमें दृश्य विशेषणादिरहित शुद्ध सद्वस्तु

उपलब्ध होती है, शून्य बुद्धि नहीं होती। इसलिये तूष्णींस्थितिमें शून्य नहीं कहा जा सकता। 'उस समय सद्बुद्धि भी न होनेसे सत् भी नहीं रहता', यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सद्बुद्धि होनेपर भी स्वप्रकाश होनेसे सत् सिद्ध होता है। निर्मनस्कताका साक्षी स्वप्रकाश होता ही है, जैसे मनकी चञ्चलता मिटनेपर साक्षी स्वच्छ होता है, उसी प्रकार मायाका विजृम्भण या विकास रुकनेपर स्वप्रकाश सत् भी स्फुट हो जाता है।

कुछ लोग आकाशादिसे भिन्न सत् नहीं मानते, परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि 'आकाशः सद् घटः सत्' इत्यादि व्यवहारोंमें जैसे घटादि शब्द एवं घटादि बुद्धि होती है उसी तरह सत् शब्द एवं सद्बुद्धि होनेसे आकाश और सत्—दोनों ही पृथक् पदार्थ हैं। जैसे 'मृद् घटः' इस व्यवहारमें शब्द एवं बुद्धिके कारण ही मृत्तिका और घट दो पदार्थ सिद्ध होते हैं। उनमें मृद्बुद्धिके अनुवृत्त होनेसे और घट-शरावादि बुद्धिके व्यावृत्त होनेसे मृत्तिका कारण और घटादि कार्य समझे जाते हैं। उसी तरह सत् अनुवृत्त होनेसे कारण तथा आकाश घटादि व्यावृत्त होनेसे कार्य सिद्ध होते हैं। अधिक वृत्ति होनेसे सत् धर्मी है, अल्पवृत्ति होनेसे आकाशादि धर्म हैं। बुद्धिसे यदि आकाशसे सत्को पृथक् कर दें तब तो आकाश असत् ही हो जाता है। जैसे जाति-व्यक्ति और देह-देहीका भेद होता है, वैसे ही आकाशादि प्रपञ्च एवं सत्का भी भेद सिद्ध होता है। सावधानी एवं एकाग्रतासे विचार करनेपर भेद-ज्ञान स्थिर हो जाता है। विवेचन करनेपर सत् शून्य अवकाशात्मक आकाश रह जाता है एवं निरवकाशात्मक सत् रह जाता है—

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वाद्वस्वादू विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम्॥

(पञ्चदशी, महावाक्यविवेकप्र० १)

जिस नेत्रजन्यवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यसे पुरुष रूपको देखता है, श्रोत्रजन्य शब्दाकारवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्यसे शब्द ग्रहण करता है, गन्धाकारवृत्तिव्यक्त चैतन्यसे गन्ध ग्रहण होता है, वही बोधस्वरूप चैतन्य प्रज्ञान है—'न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।' (बृहदा० उप० ४।३।२३) द्रष्टाकी स्वरूपभूत दृष्टिका कभी भी विलोप नहीं होता।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिकी सभी वस्तुएँ अपने-अपने स्थानपर ही रहती हैं; किंतु द्रष्टा तीनों ही अवस्थामें रहता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके प्रपञ्चका जो प्रकाशक भान है, वही ब्रह्म है। तीनों अवस्थाओंका भासक साक्षी भोग्य-भोक्ता और भोग—तीनोंसे ही विलक्षण होता है। वह चिन्मात्र ही है। चिदाभास एवं अहंका भी सुषुप्तिमें विलय होता है उसका भी साक्षीसे ही प्रकाश होता है।

जैसे आकाशीय सूर्यद्वारा प्रकाशित घट-कुड्यादि दर्पणादित्यदीप्तिसे प्रकाशित होता है अर्थात् दर्पणप्रतिबिम्बित आदित्यद्वारा प्रकाशित होता है। यदि कुड्यपर अनेक दर्पण-प्रतिबिम्बित आदित्यकी दीप्तियाँ प्रकट हों, तो उनके बीच-बीचमें स्वाभाविक निरुपाधिक आकाशीय आदित्यकी दीप्तियाँ परिलक्षित होती हैं और दर्पणजन्य विशेष प्रभावोंके न होनेपर भी वह सामान्य आदित्य-प्रकाश रहता ही है। ठीक इसी तरह स्वप्रकाश बोध सामान्य चेतनद्वारा प्रकाशित देह भी बुद्धि-प्रतिबिम्बित चिदाभासके द्वारा प्रकाशित होता है। चिदाभासविशिष्ट बुद्धि-वृत्तियोंके बीच-बीचमें सामान्य-चेतन या शुद्ध नित्यबोध परिलक्षित होता है। बुद्धिवृत्तिप्रतिबिम्बित चिदाभासोंके बिना भी वह स्वप्रकाश बोध रहता ही है। घट-ज्ञानादि शब्दवाच्य चिदाभासविशिष्ट बुद्धिवृत्तियोंकी संधियों एवं सुषुप्तिमें उन बुद्धिवृत्तियोंके अभावका प्रकाशक नित्य-बोध रहता है। घटाकार-बुद्धिस्थ चित् घटमात्रका प्रकाश करती है, परंतु घटगत ज्ञातताका प्रबोध नित्य-चैतन्यसे ही होता है। घटाकार-बुद्धिके प्रथम 'घटो मया न ज्ञातः' इस प्रकार घटकी अज्ञातता भी व्यापक अखण्ड बोधसे ही गृहीत होती है। जैसे अज्ञातत्वेन घट ब्रह्मबोधित था, उसी तरह बुद्धि उत्पन्न होनेपर घट ज्ञातत्वेन भी ब्रह्म-चैतन्यसे ही प्रकाशित होता है। कोई भी घटादि विषय चित्प्रतिबिम्बयुक्त बुद्धिवृत्ति एवं अज्ञान दोनोंसे ही व्याप्त होते हैं। जब वह चिदाभासयुक्त वृत्तिसे व्याप्त होता है तब ज्ञात कहलाता है, जब अज्ञानसे व्याप्त होता है तब अज्ञात कहलाता है। अज्ञातरूपसे घटादि ब्रह्म अर्थात् व्यापक नित्य बोधसे प्रकाशित होता है। यह शङ्का हो सकती है कि 'चिदाभासयुक्त वृत्तिसे ही घटका प्रकाश हो सकता है फिर ब्रह्म-प्रकाशकी क्या आवश्यकता ?' परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि जैसे अज्ञानने घटमें अज्ञातता पैदा की है, उसी तरह चिदाभासके द्वारा घटमें ज्ञातता उत्पन्न होती है। कहा जा सकता है कि 'ज्ञातता तो घटमें वृत्तिमात्रसे उत्पन्न हो सकती है,' परंतु यह ठीक नहीं। चिदाभासहीन बुद्धिसे घटादिमें ज्ञातता उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि मृत्तिकादिके तुल्य चिदाभासरहित बुद्धि या वृत्ति जड ही है। अतः जैसे काली-पीली मिट्टीसे लिप्त घट ज्ञात नहीं कहा जा सकता, उसी तरह बुद्धिवृत्तिव्याप्त घट भी ज्ञात नहीं कहा जा सकता। अतः वृत्ति-व्याप्त घटमें चित्प्रतिबिम्बका उदय होनेसे ही घटमें ज्ञातताका व्यवहार बनता है। कहा जा सकता है कि आकाशीय सौरालोक-तुल्य सामान्य नित्य-बोधरूप ब्रह्मसे ही घटादिकी ज्ञातता बन सकती है फिर दर्पणादित्यदीप्तिके तुल्य वृत्तिपर चित्प्रति-बिम्ब या चिदाभास क्यों माना जाय ? परंतु यह कहना ठीक नहीं। कारण, नित्य बोधरूप ब्रह्म तो प्रमाण-प्रवृत्तिके पहले भी था ही। यहाँ तो प्रमाण प्रवृत्तिके पश्चात् घटादिमे ज्ञातताका व्यवहार होता है, यह चिदाभासमूलक ही है। अतः वृत्तिपर व्यक्त चित्प्रतिबिम्ब घटमें ज्ञातता उत्पन्न करता है। वह ज्ञातता,

अज्ञातताके तुल्य ही ब्रह्मसे भास्य होती है। बुद्धिवृत्ति, चिदाभास एवं घटादि सभी सामान्य सौरालोक-तुल्य नित्यबोधसे भासित होते हैं, फिर भी घटव्याप्त वृत्तिपर ही चिदाभासरूप फल होता है। अतः एक घटका ही स्फुरण होता है। घटादि विषयपर द्विगुणित चैतन्य व्यक्त होता है। जैसे कुड्यपर एक सामान्य सौरालोक फैला होता है, दूसरे दर्पणादित्यदीप्तिके फैलनेसे द्विगुणित प्रकाश हो जाता है, उसी तरह सामान्य नित्यबोधसे व्याप्त घटादिपर चित्प्रतिबिम्बयुक्त वृत्तिकी व्याप्ति होनेसे द्विगुणित चैतन्य हो जाता है। इसीलिये घटादिकी ज्ञातताका भासक ब्रह्म-चैतन्य माना जाता है। नैयायिक आदि उसे ही अनुव्यवसाय (ज्ञानविषय ज्ञान) कहते हैं। 'घटोऽयम्' यह घट है—नैयायिकोंके शब्दोंमें यह व्यवसायात्मक ज्ञान है, यह बुद्धिवृत्तिसे होता है। 'मया घटो ज्ञातः' मैंने घट जान लिया, यह अनुव्यवसायात्मक ज्ञान नित्य बोधरूप ब्रह्मसे होता है। इसी तरह अहंवृत्ति एवं काम-क्रोधादि वृत्तियोंमें चिदाभास, उसी तरह व्याप्त होकर रहता है, जैसे लोहपर अग्नि व्याप्त होती है। जैसे अग्नि-व्याप्त लोह केवल अपने-आपको ही प्रकाशता है अन्यको नहीं, उसी तरह आभाससहित वृत्तियाँ अपनेको ही भासित करती हैं।

क्रमसे विच्छिन्न-विच्छिन्न होकर वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। सुषुप्ति, मूर्छा और समाधिमें सभी वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं। सभी वृत्तियोंकी संधियाँ और अभाव जिस निर्विकार नित्य-बोधसे प्रकाशित होते हैं, उसे ही वेदान्तमतसे कूटस्थ शब्दसे कहा जाता है। जैसे बाहर वृत्ति-व्याप्त घटमें भासक चिदाभास और घटकी ज्ञातताका भासक ब्रह्मचैतन्य द्विगुण चैतन्य होता है, उसी तरह भीतर भी वृत्तियोंपर संधिकी अपेक्षा द्विगुण चैतन्यव्यक्त होता है। इसीलिये संधियोंकी अपेक्षा वृत्तियोंकी स्पष्टता अधिक होती है। भेद इतना अवश्य है कि बाहर घटादिमें ज्ञातता, अज्ञातता—दोनों ही रहती हैं, वैसे वृत्तियोंमें ज्ञातता, अज्ञातता—दोनों नहीं रहतीं। वृत्तियाँ स्वयं अपने-आपको ग्रहण नहीं करतीं; इसलिये ज्ञातता नहीं होती और वृत्तिके उत्पन्न होते ही वृत्तिगोचर अज्ञान नहीं रहता अतः वृत्तियोंकी अज्ञातता भी नहीं होती। वृत्तिगोचर वृत्ति माननेसे अनवस्थादि दोष आते हैं। अतः वृत्तियाँ साक्षिभास्य कही जाती हैं। चित्प्रतिबिम्बरूप ज्ञानकी उत्पत्ति और विनाश प्रतीत होते हैं, अतः उसे विनश्वर कहा जाता है। अन्तःकरण एवं तद्वृत्तियोंका साक्षी अखण्ड नित्यबोध निर्विकार होनेसे कूटस्थ कहलाता है। बुद्धिसे परिच्छिन्न कूटस्थ एवं चिदाभासयुक्त बुद्धिके मिश्रणसे ही जीव-व्यवहार होता है। बुद्धि स्वच्छ है, इसलिये उसपर चित्प्रतिबिम्ब होता है। प्रतिबिम्ब एवं बिम्बमें कुछ तुल्यता और कुछ विलक्षणता होती है, इसी तरह

स्फूर्तिरूपतामें तुल्यता होनेपर भी सङ्गिता विकारिसारूप विलक्षणता भी बिम्बकी अपेक्षा प्रतिबिम्बमें रहती है।

कहा जा सकता है कि जैसे मृत्तिका रहनेपर ही घट रहता है, वैसे ही बुद्धिके रहनेपर ही चिदाभास रहता है, बुद्धिके न रहनेपर नहीं रहता। फिर उसे बुद्धिसे भिन्न क्यों माना जाय ? यदि शास्त्र-प्रमाणसे देहके मरनेपर भी बुद्धिका अस्तित्व माना जा सकता है तो बुद्धिसे भिन्न चिदाभास भी शास्त्रोंसे सिद्ध होता ही है। बुद्धिकी विभिन्न वृत्तियों एवं अज्ञानके साक्षीरूपसे सर्वावभासक सर्वाधिष्ठान अखण्ड बोधरूप ब्रह्म सिद्ध होता है।

अखण्ड बोध-स्वरूप ब्रह्म ही अहंवृत्तिसे युक्त होकर कर्ता कहलाता है, इदंवृत्तियुक्त हो प्रपञ्चाकार प्रतीत होता है, वही आन्तर-बाह्य सभी विषयोंको साक्षीरूपसे प्रकाशित करता है। नृत्यशालास्थित दीप जैसे प्रभु, सभ्य एवं नर्तकी सभीको प्रकाशित करता है, उसी तरह साक्षी आत्मा ही अहंकार बुद्धि एवं सभी विषयोंको प्रकाशित करता है। जैसे प्रभु, सभ्य आदिके न रहनेपर दीप सबके अभावका भी भासक होता है, उसी तरह अहंकार बुद्धिके सुषुप्ति दशामें न रहनेपर भी साक्षी ही सबके अभावका भी प्रकाशन करता है। अखण्ड बोधरूप आत्मा नित्य ही स्वप्रकाशरूपसे विराजमान रहता है। उसीके प्रकाशसे प्रकाशित होकर बुद्धि आदि व्यावृत होती हैं। जैसे दीप स्वस्थानस्थित रहकर ही आन्तर-बाह्य सभी वस्तुओंको प्रकाशित करता है, उसी तरह कूटस्थसाक्षी आन्तर-बाह्य सभी विषयोंको प्रकाशित करता है। देहकी अपेक्षासे ही उसमें आन्तरत्व एवं बाह्यत्व प्रतीत होता है। अन्तःस्थ बुद्धि ही इन्द्रियोंके द्वारा बार-बार बाह्य विषयोंकी ओर जाती है। उसीकी चञ्चलतासे तद्भासक साक्षीमें भी चञ्चलता प्रतीत होती है। सर्वदेश, काल, वस्तु बुद्धिकृत ही हैं। सर्वभासक अखण्ड बोधकी दृष्टिसे कुछ भी नहीं है।

जैसे अग्निमें उष्णता एवं प्रकाश रहता है, वैसे ही आत्माका चैतन्य स्वभाव है। शब्दादि अचेतन होनेसे स्वतः सिद्ध नहीं हो सकते, किंतु शब्दाद्याकार-वृत्तियोंसे ही उनकी सिद्धि होती है। वह वृत्तियाँ परस्पर भिन्न शब्दादि विषय विशेषणवाली होती हैं, अतः नीलपीताद्याकारवाली वृत्तियों या ज्ञानोंकी भी स्वतः सिद्धि नहीं हो सकती। जबतक नीलपीतादि बाह्याकार न होंगे तबतक बाह्याकार-प्रत्यय उत्पन्न ही नहीं हो सकते। इस तरह प्रत्यय भी संहत होनेसे अचेतन ही ठहरते हैं। इस दृष्टिसे स्वरूपभिन्न ग्राहकसे ही प्रत्यय भी ग्राह्य होंगे। जो असंहत होकर चैतन्यात्मक है, वही स्वार्थ हो सकता है। अन्य संहत अचेतन वस्तु परार्थ ही होते हैं। नील-पीताद्याकार ज्ञानोंका उपलब्धा आत्मा विक्रियावान् है, ऐसा संशय होता है। परंतु इसका समाधान यह है कि परिणामी चित्तादि क्रमसे ही स्वविषयोंके ग्राहक होते हैं, परंतु कूटस्थ आत्मा अक्रमेण सभी प्रत्ययोंका

उपलम्भ करता है। अतएव अपरिणामिता सिद्ध होती है। अशेषचित्त प्रचारकी उपलब्धि कूटस्थताका निश्चायक है। यदि कूटस्थ आत्मा परिणामी होता तो अशेष स्वविषयचित्त प्रचारका साक्षी न होता, जैसे चित्र किंवा इन्द्रियाँ अपने विषयोंके एक देशका ही उपलम्भ करते हैं, इस तरह आत्मा अपने विषयोंके एक देशका उपलम्भ नहीं करता; किंतु अशेष प्रत्ययोंकी उपलब्धि आत्मासे होती है, अतः वह अपरिणामी ही है।

कहा जा सकता है कि उपलब्धि धात्वर्थ क्रिया ही है, फिर उपलब्धि-क्रियाका कर्ता विक्रियावान् ही है। उपपूर्वक लभ धातुसे कर्तामें तृच् प्रत्यय करनेपर उपलब्धा शब्द बनता है। धात्वर्थ सर्वत्र क्रिया ही होता है। क्रिया स्वयं उत्पत्ति-विनाशशील होती है, अतः उपलब्धि भी क्रिया ही है, अतः उत्पत्ति विनाश उसका भी मानना ही चाहिये, फिर वह नित्य कैसे कहा जा सकता है। इसका समाधान यह है कि 'धात्वर्थ सर्वत्र क्रिया ही होता है और कर्ता ही प्रत्ययार्थ होता है, यह नियम सार्वत्रिक नहीं; क्योंकि 'गडि वदनैकदेशे' इस गडि धातुसे गण्ड बनता है। जो कि मुखैकदेश कपोलका ही बोधक है। इसी तरह 'सविता प्रकाशते' 'सविता प्रकाशयति' 'सविता प्रकाशमान है या घटादिका प्रकाशक है,' यहाँपर सविता किसी प्रकाश-क्रियाका कर्ता नहीं है; क्योंकि प्रकाश उसका स्वरूप ही है। उसके निर्विकार रहते हुए ही उसके संनिधानमात्रसे अन्य वस्तुओंका प्रकाश होता है। बुद्धिजन्य वृत्तिरूप बौद्ध प्रत्यय ही क्रिया या विक्रिया है। वही धात्वर्थ है। आत्माकी स्वरूपभूत नित्य उपलब्धिमें विक्रिया-का उपचार होता है। जैसा कि सूर्यके स्वरूपभूत प्रकाशमें भी विक्रियात्वका उपचार होता है।'

कहा जा सकता है कि 'बुद्धि द्रव्य है, उसका परिणाम वृत्ति भी मृत्तिका-परिणाम घटादिके तुल्य द्रव्य ही है। उसे भी क्रिया नहीं कहा जा सकता। परंतु मृत्तिकादि अपने पूर्वरूपको तिरोहित करके घटादिके रूपमें परिणत होते हैं।' पर यहाँ तो तृणजलूका (जोंक) एवं प्रकाशके तुल्य संकोच-विकासरूप ही क्रिया है। ऐसा परिणाम तो परिणामिकी चेष्टारूप ही है। इसी तरह बुद्धिका परिणाम ही वृत्ति है, वही क्रिया है। उस वृत्तिपर अभिव्यक्त बोध-प्रतिबिम्ब नित्य बोधरूप बिम्बके तुल्य ही होता है। इसीलिये चिच्छायापन्न वृत्तिके क्रिया होनेसे नित्यबोधमें भी क्रियात्वका आरोप होता है। लोकमें अर्थ-प्रकाश ही उपलब्धि-शब्दार्थ प्रसिद्ध है। वह अर्थ-प्रकाश अर्थका धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि वह तो जड है, स्वतः स्फूर्तिरहित होना ही जडताका लक्षण है। अन्तःकरणका भी धर्म प्रकाश नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह तो प्रकाशकरण (असाधारण कारण) है, अतः वह भी चैतन्यरूप प्रकाशका आश्रय नहीं हो सकता। फिर भी

स्वयं प्रकाशमान चैतन्य आत्मामें अहंरूपसे अन्तःकरणका अध्यास होता है। वह कभी भी अप्रकाशित होकर नहीं रहता। वही आत्मचैतन्य व्याप्त अन्तःकरण विषयवृत्तिको उत्पन्न करता हुआ उपलब्धा कहलाता है, वही कर्ता और प्रमाता भी कहलाता है। जैसे लोह-पिण्डमें दाहकत्व-प्रकाशत्वका व्यवहार होता है वैसे ही प्रकृतमें भी समझना चाहिये। अखण्ड बोधस्वरूप आत्माका आकाशवत् अविक्रिय होनेपर भी तादृक् अन्तःकरणगत चिदाभासके अविवेकसे अन्तःकरणके धर्मों एवं उसकी अवस्थाओंसे युक्त होकर प्रतीत होने लगता है। जैसे अग्नि निराकार होनेपर भी काष्ठोंपर प्रकट होती है वैसे ही त्रिकोण-चतुष्कोण मोटा-पतला-सा प्रतीत होता है और अग्निका उत्पन्न होना, नष्ट होना भी उसी काष्ठादि उपाधिसे प्रतीत होता है। इसी तरह विकासी अन्तःकरणमें कर्तृत्व होनेपर भी उपलब्धिमें उत्पद्यमानता नहीं होती। अतः उपलब्धिस्वरूप आत्मा निर्विकार कूटस्थ ही है।

कहा जा सकता है कि 'जैसे छिदिक्रियासाध्य द्वैधीभावरूप फल विक्रिया है, उसी तरह उपलब्धिरूप फल भी साध्य ही है, अतः वह भी विक्रिया ही है।' परंतु वस्तुतः स्वरूपसे उपलब्धि फल ही नहीं है, वृत्तिव्याप्त घटादि विषयोंपर व्यक्त चित्प्रतिबिम्ब ही फल हैं। नित्योपलब्धिस्वरूप आत्मामें उसीके अविवेकसे फलत्वका व्यपदेश होता है, अतएव यहाँ उपलब्धि एवं उपलब्धामें भेद नहीं हैं। उपलब्धि-स्वरूप ही आत्मा है। यह उपलब्धि नित्य है, विक्रिया नहीं है। विक्रियारूप उपलब्धि चैतन्यव्याप्त बुद्धिवृत्ति है। उससे अविवेकके कारण ही नित्योपलब्धिमें फलत्वका व्यवहार होता है। इसीलिये उपलब्ध्याभासावसान ही उपलब्धिका धात्वर्थ है। उसी नित्योपलब्धिस्वरूप आत्मामें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों ही अवस्थावाला अन्तःकरण भासित होता है। तीनों ही अवस्थाएँ आगन्तुक हैं। उपलब्धिस्वरूप आत्मा सर्वत्र अव्यभिचरितरूपसे विद्यमान रहता है। सुषुप्तिमें भी कुछ नहीं देखा, इस प्रकार सर्वाभावकी उपलब्धि होती ही है। जागरादिमें भी प्रमाता स्वतःसिद्ध होता है। वही स्वयं प्रमाणद्वारा प्रमेयोंको जानता है। प्रमाताका भी भासक अखण्डबोध आत्मा स्वतःसिद्ध है। लोह-जल आदिमें दाहकत्व-प्रकाशकत्व लानेके लिये अग्निकी अपेक्षा होती है, किंतु अग्निमें दाहकत्व-प्रकाशकत्व लानेके लिये अन्य अग्नि आदिकी अपेक्षा नहीं होती। वही स्वतःसिद्ध संवित् आत्मा है। वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य प्रमाण है, वृत्तिमदन्तः-करण प्रतिबिम्बित चैतन्य प्रमाता है। प्रमेयप्रकाशकालमें वे दोनों ही प्रकाशित रहते हैं। उनका प्रकाशक कोई अन्य प्रमाता या प्रमाणान्तर माननेमें अनवस्था आदि दोष आते हैं, अतः स्वयंज्योतिः आत्माको ही तीनोंका भासक मानना ठीक है।

कहा जा सकता है कि 'संवित् या बोध प्रमाणके फलरूपसे ही प्रसिद्ध है, फिर वह नित्य कैसे हो सकता है?' परंतु यह ठीक नहीं; कारण, वृत्तिप्रतिबिम्बित

अवगति ही अनित्या है, वही प्रमा है, वही प्रमाणफल है, बिम्बभूत अवगति नित्य ही है। यदि अवगति नित्य है, तब तो प्रमाण-व्यापार व्यर्थ होगा और अनित्य है तो प्रमाण-व्यापार आवश्यक होगा। परंतु प्रमाताकी अवगति तो प्रमाण-निरपेक्ष स्वतःसिद्ध है ही। यदि प्रमाताको आत्मसिद्धिमें प्रमाणकी अपेक्षा हो तो किसे प्रमित्सा होगी, यह भी विचारणीय है। जिसे प्रमित्सा होती है, वही प्रमाता होता है। प्रमित्सा प्रमेयविषयक ही होती है, प्रमातृविषया नहीं। प्रमातृविषयक प्रमित्सा होनेसे अनवस्था-दोष भी होता है। प्रमाताकी प्रमित्सा अव्यवहित होनेसे प्रमातृविषया नहीं हो सकती। लोकमें प्रमाताकी इच्छा, स्मृति, प्रयत्न एवं प्रमाणजन्यके अनन्तर प्रमेय सिद्ध होता है। प्रमेय-विषया-अवगति अभीष्ट होती है। स्वयं प्रमाता अपनेसे या अन्य इच्छादिसे व्यवहित नहीं हो सकता। स्मृति भी स्मर्तव्यविषया होती है, स्मर्तृविषया स्मृति नहीं होती। इसी तरह इच्छा भी इष्टविषया होती है, इच्छावद्विषया इच्छा नहीं होती। यदि स्मृति एवं इच्छा स्मर्ता एवं इच्छावान्‌को विषय करें तब इसमें भी अनवस्था-दोष आयेगा। स्मृति, इच्छा, प्रयत्न एवं प्रमाण जन्मके अनन्तर ही स्मर्तव्य, इष्यमाण, प्रयतितव्य एवं प्रमेयका व्यवहार हो सकता है।

कहा जा सकता है कि 'प्रमातृविषयक अवगति-उपपत्ति उपपन्न न होनेसे आत्मा अनवगत ही रहेगा', परंतु यह कहना ठीक नहीं। अवगन्ताकी अवगति अवगन्तव्यविषयक होती है, अवगन्तृविषयक अवगति नहीं होती। यदि ऐसा होगा तो अनवस्था-प्रसङ्ग होगा। आत्माकी अवगति स्वरूपभूत ही है अर्थात् अवगन्ताकी अवगति उत्पन्न नहीं होती। अग्निकी उष्णता और प्रकाशके तुल्य ही आत्माका स्वभाव ही अवगति है। 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' 'आत्मैवास्यज्योतिः' 'एषोऽस्य परमो लोकः' 'न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते' (बृहदा० उप० ४। ३।३०) इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार आत्माकी स्वरूपभूत ज्योति है। चैतन्यात्मज्योतिकी अवगति अनित्य है ही नहीं। असंहत, स्वप्रकाश एवं अपरार्थ ही आत्मा है। यदि आत्माकी अवगति अनित्य होगी तो उत्पत्तिसे प्रथम एवं प्रध्वंससे ऊर्ध्व उसका अभाव कहना पड़ेगा। फिर आत्माकी अपरार्थता आदि सभी बाधित होंगे। अवगति प्रमा है, वह स्मृति-इच्छादिपूर्विका अनित्या है, आत्मा स्वरूपभूत नित्य है। जैसे तिष्ठति शब्द अचलत्व-अर्थमें प्रयुक्त होता है, जङ्गम पदार्थ गतिपूर्वक अचल होते हैं; आकाश-पर्वतादि स्थावर पदार्थ सदा ही अचल रहते हैं, दोनोंमें ही तिष्ठति शब्दका प्रयोग होता है। 'तिष्ठन्ति मनुष्याः, तिष्ठन्ति पर्वताः, तिष्ठत्याकाशः' उसी तरह अनित्य अवगति एवं नित्य आत्मस्वरूप-अवगतिमें भी प्रमात्व-व्यवहार बन जाता है। फलस्वरूप प्रमामें कोई अन्तर नहीं। प्रमाण फल ही प्रमा है। वह प्रमातृगतचित्स्वरूप प्रकाश ही है। यद्यपि वृत्तिव्यास विषयस्थ-चित्प्रतिबिम्ब ही फल है तथापि 'मयेदं विदितम्' मैंने यह जाना, इस तरह प्रमाण-

प्रमेयसम्बन्ध आत्मामें प्रतीत होता है, अतः प्रमातृगतचित्प्रकाशसे सम्बन्ध मानना ही पड़ता है। जड अन्तःकरण यद्यपि व्यापारका आश्रय हो सकता है तथापि वह चित्का आश्रय नहीं हो सकता। चिदात्मा कूटस्थ होता है, अतः वह व्यापारका आश्रय नहीं हो सकता। इसीलिये वह प्रमाके प्रति कर्ता भी नहीं हो सकता और मुख्यवृत्तिसे जड-अजड कोई भी प्रमाता नहीं बन सकता। अतः परस्पराध्याससे ही आत्मा ही बाह्य-विषयका भी प्रमाता बनता है। फिर स्वात्मामें स्वयंप्रकाश होनेसे प्रमातामें कोई शङ्का ही नहीं। अतएव अनवगत होने या प्रमाणकी अपेक्षा रखनेकी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। अर्थात् कूटस्थ नित्य आत्मज्योतिमें ही अन्तःकरणादि-उपाधिद्वारा औपाधिक ही प्रमातृत्व होते हैं।

प्रमाणसापेक्ष शब्दादि सभी अचेतन, संहत एवं अनात्मा हैं। अवगति स्वयं अन्यानपेक्ष स्वतःसिद्ध है, वही आत्मा है। उसमें भी सोपाधिक अवगति अनित्य है, निरुपाधिक नित्य है। यद्यपि कहा जा सकता है कि 'मैं मनुष्य हूँ, जानता हूँ' इस व्यवहारमें प्रत्यक्षादि प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रहती है, तथापि मृति, सुषुप्ति आदिमें देहसिद्धिके लिये भी प्रमाणकी अपेक्षा होती ही है। उसकी भी अवगति कूटस्थ, स्वयंसिद्ध आत्मज्योति ही है। अवगतिसे भिन्न देहादि, ग्राह्य, ग्राहक, करणादि रूपसे भूत ही परिणत होते हैं। अवगति यद्यपि स्वयं नित्यसिद्ध है तथापि प्रमाणजन्य प्रत्यक्षादि वृत्तिरूप प्रत्ययकी अनित्यतासे ही तदभिव्यक्त अवगतिमें भी अनित्यता एवं प्रमाणफलताका व्यवहार होता है। सभी वृत्तियाँ परस्पर व्यभिचरित होती हैं। बोध, स्फुरण उनमें एक रूपसे ही समान होता है, अतः वही स्फुरण, बोध या अवगति नित्य एकरस हैं। जैसे स्वप्नके नील-पीतादि प्रत्यय-भेद व्यभिचरित होनेसे असत्य हैं, अवगति ही सत्य है, वैसे ही सर्वत्र प्रत्ययोंमें भिन्नता होनेसे मिथ्यात्व है। बोधमात्र ही अभिन्न एवं एक है। उस अवगतिका अवगन्ता अन्य कोई नहीं है। वह स्वयं नित्य है। उसका हान या उपादान नहीं हो सकता। जैसे शब्दादि, लोष्ठादि ज्ञेय हैं, ज्ञात नहीं, उसी तरह भूतपरिणाम देहादि भी ज्ञेय ही हैं, ज्ञाता नहीं। जो वस्तु स्वतः-सत्तास्फूर्तिवाली नहीं है वह जड है, उसे सत्तास्फूर्ति देनेवाला ही चेतन है। वही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' है। ज्ञाता आत्मा, ज्ञेय अनात्मा, इदमंश अनात्मा है, द्रष्टा अनिदमंश ही आत्मा है। अहमर्थमें भी दृश्य अहं इदमंश ही है, दृक् आत्मा ब्रह्म है। जैसे सौरालोकमें स्फटिकादि मणियोंपर जपाकुसुमादिकी रक्ताद्याकारता प्रतीत होती है, उसी तरह स्वप्रकाशबोधरूप आत्मप्रकाशमें ही बुद्ध्यादिमें विषयाकारताकी प्रतीति होती है। जैसे सौरालोकसे ही स्फटिक एवं रक्ताद्याकारता दोनों ही भासित होती हैं, वैसे ही नित्य-बोधसे ही बुद्ध्यादि एवं विषयाकारता दोनों ही भासित होती हैं।

बुद्धि होनेपर बुद्ध्यारूढ़ पदार्थ दृश्य होते हैं.। निद्राकालमें बुद्धि विलीन होनेपर दृश्य उपलब्ध नहीं होता, परंतु द्रष्टा तो सदा एक-सा ही रहता है। अविवेकसे बुद्धि सर्वसाक्षीका अभाव समझती है । विवेकसे स्वप्रकाश सर्वसाक्षीसे भिन्न बुद्धि अपने-आपको भी नहीं समझती । ब्रह्मादिस्थावरान्त प्राणी अखण्ड-बोधस्वरूप आत्माके पुर ही हैं, फिर भी वह आत्मा सर्वभासक भान सर्वभूतोंसे असंस्पृष्ट ही रहता है । जैसे निर्विकार आकाशको. बालकलोग नील समझते हैं, वैसे ही सर्वभासक भान निष्प्रपञ्च होते हुए भी सप्रपञ्च-सा प्रतीत होता है । सर्व-प्राणि-बुद्धियाँ भी उस अखण्डभानके पूर ही हैं । जो भी पदार्थ उत्पत्तिमान हैं और ज्ञान विक्षेप हैं, वह स्वप्नवत् ही हैं । नित्यनिर्विषय ज्ञान सर्वविनाशसाक्षी स्वतन्त्र ही है । ज्ञाताकी स्वरूपभूता ज्ञप्ति नित्य है, सुषुप्तिमें जो आत्मा शब्दादि-को नहीं जानता वह जानता हुआ ही नहीं जानता । अन्य ज्ञेय नहीं है, इसलिये नहीं जानता है, स्वरूपभूत ज्ञप्ति तो रहती है । विज्ञाताकी विज्ञातिका कभी भी विलोप नहीं होता—

'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।'

(बृहदा० उप० ४।३।२३)

जाग्रदादिकालकी जो घटादि-ज्ञप्ति होती है, वह तो भ्रान्ति ही है । फिर भी सभी बुद्धिवृत्तियाँ स्फुरणसे व्याप्त ही होती हैं, अतः सर्ववृत्तियोंकी उत्पत्ति, स्थिति, विनाशका साक्षीस्फुरण सर्वत्र एकरस ही रहता है । जागर, स्वप्नमें विषय, समकालमें सुप्ति, समाधि आदिमें विषयाभाव सभी कालमें स्फुरण रहता है, अतः वह शुद्ध है । शुद्ध दृशि ही अमर आत्मा है, जैसे दर्पणादिमें मुखका प्रतिबिम्ब होता है, तब दर्पणादिगत दोषोंका मुखमें आरोप किया जाता है, उसी तरह दृशिका अहंकारमें प्रतिबिम्ब होनेसे अहंकारगत दोषोंका दृशिमें आरोप किया जाता है। श्रुत्यादिसे विज्ञाति अर्थात् अनित्य विज्ञातिका विज्ञाता नित्यबोध नित्यदृशिस्वरूप आत्मा विदित होता है । उस दृशिस्वरूपमें ज्ञान-अज्ञान—दोनों ही कल्पित होते हैं। विज्ञातिका विज्ञाता शुद्ध विज्ञाता ही है, वह विज्ञेय नहीं होता । आत्मा अलुप्तदृक् है । अनित्य बुद्धिवृत्तिरूप दृष्टिके कारण इसमें जन्यताकी प्रतीति होती है। जैसे व्यञ्जक आलोक व्यङ्ग्यकी आकारताको प्राप्त होता है, उसी तरह शुद्ध नित्य ज्ञान-स्वरूप ज्ञाता स्वभास्य प्रत्ययोंके आकारका प्रतीत होता है । जैसे दीप बिना यत्नके ही उपस्थित विषयोंको एवं विषयाकारवृत्तियोंको भी प्रकाशित करता है, जैसे ज्योति अन्यका द्योतक होनेपर भी अपना प्रकाशक नहीं होता, वैसे ही ज्ञानस्वरूप आत्मा अन्यका भासक होनेपर भी आत्मभासक नहीं होता । जैसे अग्नि अपना दहन-प्रकाशन नहीं करता, वैसे ही आत्मा अपना प्रकाशन नहीं करता । फिर भी जैसे रविके स्वात्म-प्रकाशके लिये अन्य ज्योतिकी अपेक्षा नहीं होती, उसी तरह बोध-स्वरूप आत्माको स्वात्मप्रकाशके लिये अन्यबोधकी अपेक्षा नहीं होती । जो

जिसका स्वरूप होता है, उसे उसकी अपेक्षा नहीं होती। जैसे प्रकाश प्रकाशान्तरसे दृश्य नहीं होता, प्रकाशके समागमसे अप्रकाश स्वरूपकी व्यक्ति होती है, परंतु प्रकाशस्वरूप सूर्यकी व्यक्ति प्रकाश-समागमकी अपेक्षा नहीं रखती। जैसे प्राणी प्रकाशस्थ देहको सप्रकाश मानता है, उसी तरह चेतन द्रष्टासे प्रकाशित चित्तको सप्रकाश मानकर 'अहं द्रष्टा' ऐसा व्यवहार करने लगता है। प्राणी इसी तरह सभी दृश्य पदार्थोंके साथ अपना अभेद समझकर आत्माको तत्तद्दृश्यविशिष्ट मानने लगता है। जैसे स्वप्न और स्मृतिमें घटादिका आकार भासित होता है, अतः अनुभवावस्थामें घटाद्याकारका आभास माना जाता है। अतः स्वप्न, स्मृतिमें बाह्यार्थके बिना ही विषयाकारवृत्तिमदन्तःकरण ही प्रतीत होता है। इसी तरह स्वप्नमें सिंहासनारूढ़ देह दृश्य होता है, द्रष्टा स्वयं वह नहीं है। उसी प्रकार जाग्रत्कालमें भी दृश्य देहसे द्रष्टा भिन्न ही है। जैसे मूर्ति आदिके साँचेमें डाला हुआ द्रवीभूत ताम्रादि साँचेके आकारका ही हो जाता है, जैसे व्यञ्जक-आलोक व्यङ्ग्यके आकारका बन जाता है, उसी तरह सर्वार्थव्यञ्जक बुद्धि सर्वार्थाकार हो जाती है। अर्थाकार बुद्धि ही द्रष्टा अखण्डबोधरूप आत्मासे दृष्ट होती है। वही स्वप्नके दृशिस्वरूप आत्मासे दृश्य होती है। अखण्ड दृशिस्वरूप बोधसे ही सर्वदेहोंकी बुद्धियाँ भासित होती हैं। जैसे घटादि प्रकाश सम्पर्कसे 'घटः प्रकाशते' इस रूपसे प्रकाशके कर्ता होते हैं, वैसे ही सूर्यादि प्रकाश प्रकाशान्तर-सम्पर्कके बिना ही 'सूर्यः प्रकाशते' इस तरह सूर्य प्रकाशका कर्ता कहा जाता है। इसी तरह बुद्ध्यादि अखण्डबोधके सम्पर्कसे प्रकाशित होते हैं, परंतु अखण्डबोध स्वतः ही प्रकाशित होता है। जैसे सूर्यमें सत्तामात्रसे प्रकाशकर्तृत्वका व्यवहार होता है, उसी तरह दृशिस्वरूप आत्मामें संनिधानमात्रसे प्रकाशकत्वका व्यवहार होता है। जैसे बिलसे निकलनेपर सूर्यकी सत्तामात्रसे सर्पादि भासित होते हैं, सूर्यमें किसी कर्तृत्वादि विकारकी आवश्यकता नहीं पड़ती, इसी तरह दृश्यके उपस्थित होनेपर दृशिस्वरूप आत्मासे दृश्यका प्रकाश होता है, एतदर्थ उसमें कर्तृत्वादि विकारकी अपेक्षा नहीं होती।

इसी प्रकार दाह्यका संनिधान होनेपर उष्णस्वरूप अग्निमें दाहकत्वका व्यवहार होता है। इसी तरह प्रयत्न बिना भी बोधस्वरूप आत्मा ज्ञाता, बोद्धा आदि कहा जाता है। वस्तुतः आत्मा विदित-अविदित—दोनोंसे ही अन्य है। जैसे प्रकाशस्वरूप सूर्यमें दिन-रात नहीं होते, वैसे ही बोधस्वरूप आत्मामें बोध, अबोध नहीं होते। अतएव बौद्धों-जैसी इस अखण्डबोधमें स्वसंवेद्यता भी नहीं है। साथ ही बोधको शून्य भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जैसे घटादि दृश्य हैं, वैसे ही बुद्धि भी साक्षिभास्यरूपसे स्पष्ट प्रतीत होती है। जैसे घटादि विकल्प कार्य निर्विकल्प-कारणपूर्वक होते हैं, उसी तरह बुद्धि आदि सविकल्प सप्रकाश निर्विकल्प-प्रकाशपूर्वक होने ही चाहिये।

बौद्ध क्षणिक ज्ञानको ही आत्मा कहते हैं । जैसे दीपमें 'स एवायं दीपः', यह वही दीपक है, इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा (पहचान) से सादृश्यमूलक एकत्वकी भ्रान्ति होती है । उसी तरह क्षणिक ज्ञानोंकी धारामें ही सादृश्यके कारण 'स एवाहम्' मैं वहीं हूँ, इस प्रकार एकत्वकी भ्रान्ति होती है । बाह्याकार भी क्षणिक ज्ञान ही है, परंतु यह सब कहना ठीक नहीं । कारण कि ज्ञेयकी उत्पत्तिके पहले उसका ज्ञान-सम्बन्ध कैसे होगा । ज्ञान उत्पन्न होते ही नष्ट होता है तब उसका ज्ञेयके साथ सम्बन्ध कैसे होगा ? ज्ञेयको प्रत्यक्षताका अनुभव होता है, फिर उसे अनुमेय माननेवाला पक्ष भी असङ्गत ही है । अनुभविता भी यदि क्षणिक ज्ञान ही है तब स्मृति भी कैसे सम्पन्न होगी ? अन्य अनुभूतका अन्य स्मरण कर नहीं सकता । यदि कोई स्थायी आत्मा हो, तभी ज्ञानसे संस्कार उत्पन्न हो तभी स्मृति हो सकेगी । संस्कारका स्थायी आधार न होनेसे ही पूर्वापरकी तुल्यताका ग्रहण सम्भव नहीं होता । अतः सादृश्यमूलक एकत्वकी भ्रान्ति भी नहीं कही जा सकती । क्षणिक विज्ञान व्यक्तियोंसे अतिरिक्त विज्ञान-संतान कुछ भी नहीं होता । अतः संतानको लेकर भी एकत्व-व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता । यदि अत्यन्त भिन्नमें भी कार्य-कारणभाव सम्पन्न हो सके तब तो जैसे दुग्धसे दधिकी अपेक्षा की जाती है, उसी तरह सिकतासे भी दधिकी अपेक्षा की जानी चाहिये; क्योंकि भिन्नता समान ही है ।

सर्वसम्मतिसे एक स्वयं नामका पदार्थ है । जिसके सम्बन्धमें सभी कहते हैं—'मैं स्वयं जा रहा हूँ, तुम स्वयं जाओ, वह स्वयं आ रहा है' भले उसकी चेतनता, जडता, शून्यता आदिमें विवाद हो । उसी सम्पूर्ण भाव-अभावके अभिज्ञ सर्वसाक्षीको स्वयं पदार्थ मानना चाहिये । जिसके द्वारा सबका अभाव विदित होता है उसे सत् ही कहना चाहिये । वही स्वयं निराकर्ताका भी स्वरूप है । सत्, असत् आदि सभी वादोंसे प्रथम ही साक्षी सिद्ध है । जैसे ज्योतिः-स्वभाव आदित्यमें अप्रकाश नहीं कहा जा सकता । उसी प्रकार नित्य-बोधस्वरूप आत्मामें अज्ञान नहीं कहा जा सकता । जो समझते हैं कि आत्मगत ज्ञानसे ही आत्मगत इच्छादि विदित होते हैं वह ठीक नहीं । जैसे अग्निगत उष्णता अग्निप्रकाशसे नहीं प्रकाशित होती । अतः साक्षीके द्वारा ही सुख-दुःखादि-वृत्तिका भान होता है । नैयायिकोंके मतानुसार सुख एवं ज्ञान दोनोंका एक कालमें आत्म-समवेत होना सम्भव न होगा; क्योंकि आत्ममनःसंयोग दोनोंका ही हेतु है । एक असमवायी-कारण एक ही आत्मगुणके प्रति हेतु होता है । सुखके असमवायी-कारण आत्ममनःसंयोगके नाशसे सुखका नाश होगा । संयोगान्तरसे जन्य ज्ञानद्वारा उसका ग्रहण कथमपि नहीं बन सकेगा । एक आत्म-मनःसंयोगसे युगपत् अनेक कार्योंकी उत्पत्ति मान्य नहीं होती, अतः ज्ञान और सुख दोनों युगपत् नहीं हो सकते । एक आश्रयवालोंका विषय-विषयिभाव नहीं

बन सकता, इसलिये भी सुख ज्ञानग्राह्य नहीं हो सकता । यदि कहा जाय कि सुख-दुःखादि ज्ञानग्राह्य मत हों, तो यह भी ठीक नहीं; कारण, 'सुखं मया ज्ञातम्' 'दुःखं मया ज्ञातम्' इस रूपसे सुख-दुःखकी स्मृति सुख-दुःखके अनुभवको बोधित करती है । जो कहा जाता है कि 'ज्ञान-विशिष्ट आत्मामें समवेत होनेसे सुखादिका भान होगा', यह भी ठीक नहीं । कारण, एक कालमें आत्मा अनेक विशेष गुणोंका समवायी नहीं हो सकता । एक असमवायी-कारण आत्ममनः-संयोगसे एक ही कार्य उत्पन्न होनेका नियम मान्य है । यदि ज्ञान-विशिष्ट आत्म-समवेत होनेसे सुखादिका ग्रहण हो तब तो आत्मगत संख्या परिमाणादिका भी ग्रहण होना ही चाहिये । यदि कहा जाय कि 'सुख, दुःख, ज्ञानादिका आत्माके गुण या धर्म होनेसे आत्माद्वारा ही प्रकाशित होना ठीक है', वह भी ठीक नहीं; कारण, नैयायिकोंका आत्मा प्रकाश-स्वरूप नहीं है । फिर उससे सुखादिका प्रकाश कैसे होगा ? नैयायिक आत्माको व्यापक और नित्य भी मानते हैं, अतः ज्ञान, सुखादि उसके विकार नहीं हो सकते । व्यापक, नित्यको विकारी कहना भी असङ्गत ही है । अतः आत्मा न तो ज्ञानादि गुणवाला ही सिद्ध होता है और न गुण-गुणीमें ग्राह्य-ग्राहकभाव ही बन सकता है । फिर सभी अनेक व्यापक आत्मामें आत्ममनः-संयोग समान ही है । अतः एक आत्माके सुखादिसे सभी आत्माओंको सुखादिमान् कहना पड़ेगा । अदृष्टादि भी किस आत्मामें हैं, किसमें नहीं, इसका निर्णय अशक्य होगा । अतः सुख-दुःख एवं वृत्तिरूप ज्ञानादि स्वप्रकाश व्यापक आत्मासे भास्य मानना ही युक्त है । वही आत्मा नित्य-बोध है । ज्ञानको ज्ञेय माननेसे अनवस्थित ज्ञानमाला अनिवार्य होगी । यह भी विचारणीय है कि विषय-प्रकाश-कालमें विषय-प्रकाशक ज्ञान भासमान होता है या नहीं, यदि नहीं तो विषय स्वयं भासित होता है या ज्ञानाधीन होकर भासित होता है, यह निर्णय नहीं हो सकेगा । अतः विषय-प्रकाश-कालमें ही प्रकाशक ज्ञानका भानस्वरूप ज्ञानान्तर मानना चाहिये । यदि वह ज्ञान भी भासमान नहीं है तो उसके द्वारा पूर्व ज्ञानका भान नहीं बनेगा । फिर उस ज्ञानके भानके लिये भी ज्ञानान्तर मानना पड़ेगा ।

'पूर्व-पूर्व ज्ञान उत्तरोत्तर ज्ञानसे भासित होंगे', यह पक्ष भी सम्भव नहीं है । क्योंकि प्रथम ज्ञान उत्पन्न होनेके अनन्तर मनमें क्रिया उत्पन्न होगी, उससे विभाग होगा, तब पूर्व संयोग नाश होगा, पुनः दूसरा संयोग उत्पन्न होगा, तब ज्ञानान्तर उत्पन्न होगा । इस तरह बहुक्षणविलम्बसे जब उत्तर ज्ञान उत्पन्न होगा तब पूर्वज्ञान रहेगा ही नहीं, फिर उसका भान कैसे होगा । यदि इन सब दोषोंसे बचनेके लिये एक ही आत्म-मनः-संयोगसे दो ज्ञान या अनेक ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाय तब तो एक ही आत्म-मनः-संयोगसे युगपत् संनिकृष्ट रूप, रस, गन्धादिका भी समकालमें ही ज्ञान होना चाहिये । संस्कार-उद्बोध होनेपर

उसी समय स्मृतियाँ भी उत्पन्न होनी चाहिये, परंतु यह सब सिद्धान्तविरुद्ध होगा। नैयायिकोंके सिद्धान्तमें न तो अनुभव एवं स्मृतियोंकी समकालता मान्य है और न तो विशेष गुणोंकी समकालता ही मान्य है 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (न्यायदर्शन १।१।१६) एक कालमें अनेक ज्ञानोंका न उत्पन्न होना अणुपरिमाण मनके होनेमें लिङ्ग है। इसलिये दीर्घशष्कुली (पापड़) खाते समय समकालमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी अनुभूतिको भी नैयायिक क्रमिक ही मानते हैं।

यदि ज्ञान या चैतन्य आत्माका स्वरूप-लक्षण माना जाय तो जैसे गन्धादि पृथ्वीका लक्षण है, वैसे ही ज्ञान आत्माका लक्षण हुआ, फिर तो जैसे गन्धादि पृथ्वी आदिका स्वरूप ही है, वैसे ही ज्ञान भी आत्माका स्वरूप ही ठहरता है। फिर 'अनित्य ज्ञानवाला आत्मा है', यह कथन व्यर्थ ही है। यदि ज्ञान आत्माका तटस्थ लक्षण है तो आत्माका स्वरूप लक्षण भी बतलाना चाहिये। पर वह चेतनातिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं हो सकता। अतः देहादि-जड-विलक्षण ही आत्मा है, यह कहना पड़ेगा। तथा च निर्विशेष चिद्रूप ही आत्मा हुआ। बोधस्वरूप आत्म-ज्योतिसे दीप्त होकर बुद्धि भ्रान्तिसे अपनेमें ही बोध मानती है। 'अन्य साक्षी बोद्धा नहीं है, मैं ही बोद्धा हूँ', यह बुद्धिका भ्रम ही है। बुद्धि आगन्तुक है; किंतु बोध तो सुषुप्तिमें बुद्धिके न रहनेपर भी रहता है। अतः अविवेकसे ही बुद्धिमें बोधरूपताकी भ्रान्ति होती है। स्वप्नके सभी वेद्य-प्रपञ्चको इसी बोधसे जाना जाता है। क्योंकि स्वप्नमें आदित्य, चन्द्र, चक्षु, वाक् आदि सभी ज्योतियाँ लुप्त होती हैं, मन स्वयं वेद्यरूपसे ही परिणत है। भासक ज्योति आत्मासे भिन्न होकर कुछ भी नहीं है। अतएव स्वप्नमें जिससे रूपदर्शन, शब्दश्रवण, वाग्व्यवहार होता है वह चक्षु, श्रोत्र, मन एवं वाक् आदि, आत्मज्योति ही है,—'सा श्रोतुः श्रुतिर्यया स्वप्ने शृणोति। सा वक्तुर्वक्तिर्यया स्वप्ने वदति।'

जैसे एक ही स्फटिक मणिमें नील, पीत, हरित उपाधिके भेदसे अनेक रूप परिलक्षित होते हैं, उसी तरह एक ही नित्य ज्ञान स्वप्नकल्पित शब्दादि अनेक उपाधिभेदसे श्रुति, मति, विज्ञाति आदि रूपमें प्रतीत होता है। इसी चिद्रूप ज्ञानका ही विकल्प जाग्रत् भी है। अज्ञानोपाधिक ज्ञानस्वरूप आत्मा बुद्धिकी कल्पना करता है। बुद्धिसे उपहित होकर बुद्धिस्थ अर्थका ही व्याकरण करता हुआ उनका प्रकाशक वही ज्ञानस्वरूप आत्मा सर्वव्यवहार-भागी होता है। जैसे स्वप्नका व्यवहार, ठीक वैसा ही जाग्रत्का भी व्यवहार होता है। फिर भी शुद्धचित्तमें निर्विकल्प नित्यज्ञानका साक्षात्कार होता है। बाह्येन्द्रियोंसे विषयोपलम्भ जागर है। संस्कारवशात् निद्राकालमें प्रतीत प्रपञ्च-

स्वप्न एक प्रकारकी स्मृति है। दोनोंहीका अभाव सुषुप्ति है। तीनोंका ही साक्षी नित्य ज्ञान है। सुषुप्तिका तम ही जागर, स्वप्नका बीज है। स्वात्म-प्रबोधसे बीज दग्ध होनेपर अनन्तज्ञान निष्प्रपञ्चरूपसे भासित होता है। जैसे अदृश्य भी राहु चन्द्रबिम्बपर उपरक्त होकर दृश्य होता है, जैसे जलमें चन्द्रादिका प्रतिबिम्ब लक्षित होता है, वैसे ही शुद्ध बुद्धिपर ही निर्विकल्प-बोध लक्षित होता है। जैसे जलमें भानुका बिम्ब एवं उष्णता प्रतीत होनेपर भी वह जलका धर्म नहीं, किंतु भानुका ही धर्म है, उसी प्रकार बुद्धिमें बोध लक्षित होनेपर भी बोध बुद्धिका धर्म नहीं है। जैसे जलका शैत्य एवं अप्रकाश धर्म निश्चित है, वैसे ही बुद्धिका भी जडत्व धर्म निश्चित है। अतः जैसे जलमें प्रतीत होते हुए भी उष्णता और प्रकाश भानुका ही धर्म है, वैसे ही बुद्धिमें स्फुरण या बोध प्रतीत होनेपर भी आत्माका ही स्वरूप है। चक्षुके द्वारा रूपाकारवृत्तिका अवभासन करता हुआ साक्षी अलुप्तदृक् रहता है। वही दृष्टिका द्रष्टा, श्रुतिका श्रोता है। केवल मानसी वृत्तिका भासन करता हुआ वही मतिका मन्ता कहा जाता है। वह विज्ञातिका विज्ञाता है। उसीके सम्बन्धमें श्रुतिनें कहा है—

न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः, न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः ॥

'मतिका मन्ता है' यह कहनेपर भी उसमें मन्तृत्वादि विकार नहीं होते। बुद्धि आदिके ही व्यापारसे केवल तद्भासकमें मन्तृत्वादिकी प्रतीति होती है। सुषुप्तिमें भी ज्ञस्वरूप बना ही रहता है। केवल दृश्य न होनेसे विशेष दर्शनादिका अभाव रहता है। घटादि बाह्य वस्तु दृष्टिसे व्यवहित होता है अतः परोक्ष है। आत्मा तो दृष्टिका भी आत्मा है, अतः आत्मा अपरोक्ष है। श्रुतिमें भी ब्रह्मात्माको साक्षात् अपरोक्ष कहा गया है—'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृहदा० उप० ३। ४। १) जैसे दीपको स्वात्मप्रकाशमें दीपान्तरकी अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही बोधस्वरूप आत्माको भी स्वात्म-प्रकाशमें बोधान्तरकी अपेक्षा नहीं है। उसी स्वयंज्योति उपलब्धिस्वरूप आत्माके संनिधानसे साभास अन्तःकरण ही आत्मा मालूम पड़ता है। स्वतःसिद्ध आत्मामें जाति, गुण, क्रिया आदि न होनेसे कोई भी शब्द उपाधिद्वारा ही उसमें पर्यवसित होते हैं। अहंकारादिमें आत्मचैतन्याभासका उदय होता है, अतः अहंकार आत्मशब्द वाच्य होता है। जैसे 'उल्मुकं दहति' अयो दहति' इत्यादि प्रयोगोंमें उल्मुक या लोहादिमें दाहकत्वका व्यवहार होता है, परंतु केवल उल्मुक या लोहादिमें दाहकत्वका व्यवहार नहीं बन सकता, अतः वह्निमें ही दाहकत्वका पर्यवसान होता है। उसी तरह 'अहं जानामि' इत्यादिरूपसे साभास अन्तःकरण या अहंकारमें ज्ञातृत्व-आत्मत्वका व्यवहार होता है, परंतु अहंकार जड एवं प्रकाशके आधीन है। अतः ज्ञातृत्व-आत्मत्वका पर्यवसान नित्यबोधमें ही होता है। जैसे दर्पणादि उपाधिवशात् मुखसे अन्य मुखाभास दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब होता

है, फिर भी स्वरूपसे पृथक् नहीं होती; क्योंकि बिम्बकी चेष्टा बिना प्रतिबिम्बमें चेष्टा नहीं होता। आभाससे मुख भी अन्य होता है; क्योंकि वह आदर्शानुविधायी नहीं होता। ग्रीवास्थ मुख दर्पणादिकी अपेक्षा करके ही स्फुटित होता है। मुखाभासके तुल्य अहंकार आत्माभास है। वैसे ही आत्मा और आत्माभास-बुद्धिमें चैतन्याभास होता है। आत्मामें चैतन्यरूपता होती है। तभी वेदादिशास्त्र ब्रह्मतत्त्वका ज्ञानशब्दसे प्रतिपादन करते हैं। चैतन्याभासयुक्त बुद्धि ज्ञानशब्दका वाच्य है। शुद्ध चैतन्य ज्ञानशब्दका तात्पर्यार्थ है। प्रकाशस्वभाव वस्तु जिसमें प्रतिबिम्बित होती है उसके प्रकाशोदयका हेतु होती है। जैसे जलमें प्रतिबिम्बित सूर्य जल-प्रकाशका हेतु होता है, वैसे बुद्धिमें प्रतिबिम्बित चैतन्यबुद्धिमें चित्प्रकाशके उदयका हेतु होता है। उसी चिदाभासयुक्त बुद्धिमें ज्ञानादि शब्दोंका प्रयोग होता है। लक्षणासे शुद्ध चैतन्यका बोध होता है।

कहा जा सकता है कि 'करोति, गच्छति' इत्यादि स्थानोंमें प्रकृत्यर्थ क्रिया एवं प्रत्ययार्थ कर्तृत्व—दोनोंका ही आश्रय एक ही है। कहीं भी क्रिया और कर्तृत्वकी भिन्नाश्रयता नहीं होती, परंतु 'जानाति' में भिन्नाश्रयता क्यों? इसपर वेदान्तियोंका कहना है कि बुद्धिगत आत्माभास (चिदाभास) 'तिङ्' प्रत्ययका अर्थ है और 'ज्ञा'धातुरूप प्रकृतिका अर्थ वृत्तिरूपा क्रिया बुद्धिमें रहती है। बुद्धि एवं चिदाभासके अन्योन्य अविवेकसे 'जानाति' का प्रयोग होता है। इस दृष्टिसे चिदा-भासव्याप्त सक्रिय बुद्धिके साथ आत्माका ऐक्याध्यास होनेसे ही 'आत्मा जानाति' यह व्यवहार होता है। इस तरह साभास साधिष्ठान बुद्धिमें ही प्रत्ययार्थ कर्तृत्व एवं प्रकृत्यर्थ वृत्ति—दोनों ही बन जाते हैं। बुद्धिमें चित्प्रकाशरूप बोध नहीं होता। बोधस्वरूप आत्मामें क्रिया नहीं बनती है। इसीलिये दोनोंमेंसे किसी एकमें 'जानाति' व्यवहार नहीं बन सकता। अतः बुद्धि एवं बोधस्वरूप आत्माके आरोपित ऐक्यमें ही 'जानाति' व्यवहार होता है। वही प्रकृत्यर्थ क्रिया और प्रत्ययार्थ दोनोंका ही आश्रय है। 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' इस प्रकार भाव-व्युत्पत्तिसे भी ज्ञानशब्द आत्मामें नहीं प्रयुक्त हो सकता; क्योंकि नित्य आत्मा भाव अर्थात् धात्वर्थ सामान्य भी नहीं हो सकता; नित्य निर्विकार आत्मामें किसी प्रकारकी विक्रिया नहीं हो सकती। इस तरह 'ज्ञायतेऽनेन' इस कारण व्युत्पत्तिसे ज्ञानशब्द आत्मामें सङ्गत नहीं है। इस व्युत्पत्तिसे तो बुद्धि ही ज्ञान-शब्दार्थ ठहरती है। यदि आत्मा ज्ञानका करण होगा, तब कर्ता उससे कोई अन्य ढूँढ़ना पड़ेगा; जो कि असम्भव है। अतएव चिदाभास और चिदात्माके अन्योन्याध्याससे ही ज्ञातृत्व-व्यवहार आत्मामें सम्भव होता है। बुद्धिके कर्तृत्वका आत्मामें अध्यास करके आत्मामें ज्ञातृत्व होता है। आत्माका अचैतन्यबुद्धिमें अध्यास करनेसे बुद्धिमें ज्ञत्वका व्यवहार होता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और वही ज्योतियोंका भी ज्योति कहा जाता है। अतः बुद्धि एवं चक्षुरादिसे भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता—

तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् (बृहदा० ४।४।१६)
अन्तः पुरुषे ज्योतिः। (छान्दो० ३।१३।७)

जैसे तत्त्वज्ञान बिना अविवेकी देहको ही आत्मा मानता है, वैसे ही अविवेकी बुद्धिको ही ज्ञानकर्ता कहता है। चिदाभासयुक्त बुद्धिवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, यही देखकर ज्ञानकी उत्पत्तिका व्यवहार होता है। जैसे प्रतिबिम्ब दर्पणानुविधायी होता है वैसे ही चिदाभास भी बुद्धिधर्मका अनुविधायी होता है। चिदाभाससे दीपित बुद्धिवृत्तियाँ विषयग्राहिका उसी तरह होती हैं, जैसे उल्मुकका दाहकत्व-व्यवहार। वे ग्राहिका वृत्तियाँ स्वयं भासित होती हैं, इसीलिये बौद्धोंने प्रत्ययोंके भासक साक्षीका अपलाप किया है, तथापि उनका आत्मा भासयुक्तबुद्धि प्रत्ययोंके भाव एवं अभाव जिस साक्षीसे विदित होते हैं वह साक्षी ही उनकी उत्पत्ति-विनाशको जानता है। साक्षीके रहनेपर भी चिदाभास आवश्यक है; क्योंकि वस्तु-स्फुरणके लिये वृत्तिव्याप्त वस्तुपर चिदाभास आवश्यक है। केवल साक्षीद्वारा यदि वस्तुका प्रकाश होता हो, तब तो वृत्तिके समान ही काष्ठ-पाषाणादिका भी स्फुरण होना चाहिये। प्रकाशस्वरूप आत्माके सम्बन्धसे ही अचेतनबुद्धि चेतन-सी प्रतीत होती है। फिर तो उसकी वृत्तियाँ भी चेतन-सी ही प्रतीत होती हैं। जैसे तप्त लौहपिण्डसे निकलनेवाले विस्फुलिङ्ग भी अग्निवत् प्रतीत होते हैं। वृत्ति-तदभाव, आभास तथा आभासाभावका ग्राहक तादृक् प्रत्यय नहीं हो सकता। अतः अत्यन्त विविक्त साक्षीसे ही वे भासित होते हैं। फिर भी जैसे लौहपिण्डमें अग्निकी संक्रान्ति होती है, वैसे बुद्धिमें चित्की विकाररूप संक्रान्ति नहीं होती। दर्पणमें प्रतिबिम्बके तुल्य ही बुद्धिमें चित्की संक्रान्ति होती है।

जैसे लौहपिण्ड अग्न्याभास होता है, उसी तरह बुद्धि चेतनाभास प्रतीत होती है। चित्त ही चेतन है, यह वैसे ही असङ्गत है, जैसे देहको चेतन कहना। इसी तरह चक्षुरादिमें भी चेतनत्व कहना भ्रममूलक है। अहंकारसहित बुद्ध्यारूढ़ सभी वस्तु साक्षीसे ही भासित होते हैं। इसलिये अखण्डबोधरूप साक्षी सर्वावभासक कहलाता है। सुषुप्तिमें 'नाद्राक्षम्' इस रूपसे प्रत्ययका ही निषेध है, फिर भी भावरूप अज्ञान एवं प्रत्ययाभावका बोध तो रहता ही है। प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयादिरूप विशेष ग्राह्य नहीं अनुभूत होता। किंतु भाव-अभावका साक्षी चिद्रूप आत्मा एकरस है।

शास्त्रोंके अनुसार प्रत्यय स्पष्ट ही उत्पत्ति-विनाशशील एवं कूटस्थ चैतन्य-स्वरूप अलुप्तदृक् है। प्रत्यगात्मा-नित्यज्योतिमें ही अहंका पर्यवसान है। अनुभवके आधारपर ही सब कुछ सिद्ध होता है। आत्मा अनुभवस्वरूप है। प्रत्यय और प्रत्ययी अन्तःकरण—दोनों ही जड हैं। नित्य चैतन्यसे ही इन सबका भान होता है। जैसे सेनाका जय राजामें आरोपित होता है, उसी तरह प्रमाणफल कूटस्थ साक्षीमें आरोपित होता है। अविकृत चिदात्माका अन्तःकरणमें प्रतिबिम्ब होता

है। वह प्रतिबिम्ब ही स्वोपाधिबुद्धिके व्यापारद्वारा प्रमाता बनता है। आभास भी परिणाम नहीं है, किंतु जैसे रज्जुके अज्ञानसे सर्पभ्रम होता है, जैसे दर्पणमें मुखाभासत्वकी प्रतीति होती है, उसी तरह बुद्धिमें आत्माभासत्वकी प्रतीति होती है। प्रत्यय और दृष्टिका भेद स्वप्नमें प्रसिद्ध ही है। वहाँ विषयाकाराकारित प्रत्ययका साक्षी आत्मा ही है। जिस चिद्रूप आत्माके आभाससे विषयाकार-प्रत्यय विदित होता है, वही आत्मा है। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय—तीनोंका भासक साक्षी ही ब्रह्म है—'त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा स्वाश्रयाश्रयः।' (श्रीमद्भा० २। १०। ९) सम्यग्ज्ञान, संशयज्ञान, भ्रान्ति-ज्ञानमें अवगति और बोध-आत्मा एक ही ढंगका है। इन ज्ञानोंमें भेद केवल प्रत्ययोंका ही है। पुष्पादि उपाधिके वशसे स्फटिकादिमें भेद प्रतीत होता है, उसी तरह प्रत्ययरूप उपाधिके भेदसे अखण्डबोधमें भेद प्रतीत होता है। जाग्रत्काल, स्वप्नकालके प्रत्ययोंका स्फुरण नित्य-अपरोक्षभाव साक्षी आत्मासे ही होता है। जैसे प्रदीपसे घटादिका प्रकाश होता है, परंतु प्रदीपका भी प्रकाश द्रष्टासे ही होता है—

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति, (कठोप० २। २। १५)
अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति। (छान्दोग्योप०)

अन्य निषेधसे भी सर्वनिषेध साक्षी चेतन आत्मा प्रसिद्ध होता है। 'अज्ञासिषमिदं मां च' मैंने इसे और अपने आपको जाना, इस प्रकारकी स्मृति प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयके स्मरणसे तीनोंका ही प्रकाश निश्चित होता है।

एक प्रमाणज्ञानमें ग्राहक और ग्राह्य दोनोंका स्फुरण नहीं हो सकता। अतः बोधस्वरूप साक्षीसे ही स्फुरण होना उपपन्न होता है। बौद्ध कर्ता कर्म-विहीन प्रत्ययका स्वमहिमासे प्रकाश है ऐसा मानते हैं। परंतु फिर तो अनुभविताकी अपेक्षा ही न रहेगी। वैसे अनुभवितामें ही अनुभव इष्ट होता है। इसके अतिरिक्त अनुभविता भी तो अनुभव ही है। बुद्धि ही भ्रान्तिसे पुरुषोंको ग्राह्य-ग्राहक-भेदवान् होकर प्रतीत होती है। जिसके मतमें अनुभूति क्रिया है, वही कारक भी है। यदि इसका सत्त्व एवं क्षणिकत्व मान्य है तो दृष्टबलात् सकर्तृक भी मानना ठीक है। वस्तुतस्तु ग्राह्य नीलपीतादि वस्तु और वस्तु-प्रत्यय भासक साक्षी मान्य है, जैसे रूपादि ग्राह्य हैं उनके ग्राहक दीपादि हैं उसी तरह प्रत्यय भी ग्राह्य है, अतः उसका ग्राहक साक्षी मान्य होना चाहिये। व्यञ्जक होनेसे अवभासक अवभास्यसे अन्य होता है। जैसे घटादिका प्रकाशक दीपक होता है, उसी तरह प्रत्यय ग्राह्य है, उसका भी ग्राहक साक्षी पृथक् है। द्रष्टा और दृश्यका आध्यासिक ही सम्बन्ध होता है। जैसे घटादिपर आलोककी व्याप्ति होती है, वैसे ही घटादिपर बुद्धि-व्याप्ति होती है। जैसे आलोकस्थ घट आलोकारूढ़ कहा जाता है, वैसे ही बुद्धिस्थ घट बुद्ध्यारूढ़, कहा जाता है। बुद्धिव्याप्त घटादिपर चित्प्रतिबिम्ब होता है, उसीसे घटादि प्रकाश होता है।

कार्यकारणसंघातरूप प्राणीका जाग्रत्कालमें बैठना, चलना, काम करना आदि व्यवहार, आदित्य, चन्द्रमा, अग्निरूप ज्योति या प्रकाशके द्वारा सम्पन्न होता है। यहाँ सर्वत्र कार्यकारणावयवसंघातव्यतिरिक्त आदित्यादि ज्योतिसे ही व्यवहार चलता है। इसी तरह मेघाच्छन्न अमावस्याकी रात्रिमें जहाँ कोई भी ज्योति नहीं होती, अपना हाथ भी नहीं भासित होता, वहाँ भी दूरस्थ श्वान तथा गर्दभ आदिके शब्दको सुनकर मनसे निश्चित करके उसी शब्दके सहारे प्राणी वहाँतक पहुँच जाता है। ऐसे ही गन्धके सहारे भी जिधरसे गन्ध आती है, उधर प्राणी पहुँच जाता है। यहाँ सर्वत्र देहादि-संघातभिन्न ज्योतिसे ही व्यवहार होता है। ठीक इसी तरह स्वप्न एवं सुषुप्तिकालमें स्वाप्निक वस्तुओं तथा निद्रामें सौषुप्त अज्ञान एवं सुखका प्रकाश भी किसी संघातव्यतिरिक्त संघातप्रकाशक ज्योतिसे ही मानना उचित है। स्वप्नके बन्धु-संगम, देशान्तर-गमनादि व्यवहार देहादि-संघातव्यतिरिक्त देहादिभासक आत्मज्योतिसे मानना उचित है। स्वप्नादि व्यवहार भी संघातव्यतिरिक्त ज्योतिःपूर्वक है। व्यवहार होनेसे जाग्रत्-व्यवहारके तुल्य जैसे जागृतका व्यवहार देहातिरिक्त आदित्यादि ज्योतिर्मूलक हैं, वैसे ही स्वाप्निक व्यवहारको भी देहादिभिन्न ज्योतिर्मूलक मानना चाहिये।

स्वप्नव्यवहारमें आदित्यादि ज्योतियोंका सम्बन्ध सम्भव ही नहीं। अतः कोई अन्तःस्थ आदित्यादि ज्योतिसे विलक्षण अभौतिक आत्मज्योति मानना उचित है। उसीसे स्वप्नका व्यवहार सम्भव हो सकता है। आदित्यादि ज्योति चक्षुरादिसे उपलब्ध होती है। परंतु स्वप्न-व्यवहारका हेतुभूत कोई बाह्यज्योति चक्षुरादिसे उपलब्ध नहीं होती, परंतु ज्योतिका कार्य-व्यवहार स्पष्ट उपलब्ध होता है। अतः संघातभिन्न अदृश्य अन्तःस्थ आदित्यादि विलक्षण अभौतिक ज्योति मानना आवश्यक है। इस सम्बन्धमें यह अनुमान है कि 'विमतं अन्तःस्थमतीन्द्रियत्वाद् व्यतिरेकेणादित्यादिवत्।' विवादास्पद स्वप्नादिव्यहार-हेतु ज्योति अन्तःस्थ है। अतीन्द्रिय या अदृश्य होनेसे जो अदृश्य नहीं, वह अन्तःस्थ नहीं, जैसे आदित्यादि।

इस सम्बन्धमें भौतिकवादीका कहना है कि "उपकारी उपकारकभाव सजातीयमें ही देखा जाता है। जाग्रत-व्यवहार कारक-हेतुभूत आदित्यादि ज्योति देहादिके समान भौतिक ही हैं। उसी तरह स्वाप्निकव्यवहारके हेतुभूत संघातव्यतिरिक्त ज्योतिको भी संघातके समान भौतिक ही होना चाहिये। जैसे आदित्यादि उपकारक उपक्रियमाण देहादि-संघातके सजातीय होते हैं, वैसे ही स्वाप्निकव्यवहार हेतुभूत उपकारक ज्योतिको भी उपक्रियमाणका सजातीय ही होना चाहिये। अतः जैसे आदित्यादि उपकारक ज्योति भौतिक हैं, वैसे ही स्वाप्निक व्यवहारका उपकारक ज्योति भी भौतिक ही होना चाहिये।

"जो कहा जाता है कि 'अतीन्द्रिय एवं अदृश्य होनेसे वह ज्योति अभौतिक है', यह भी ठीक नहीं; क्योंकि चक्षुरादि इन्द्रिय-ज्योति भी अतीन्द्रिय तथा अदृश्य है। तो भी वे जैसे अभौतिक नहीं, भौतिक ही हैं; उसी तरह उस ज्योतिको भी भौतिक ही होना चाहिये। इसके अतिरिक्त देहादिसंघातके रहनेपर ही चैतन्यरूप अन्तःस्थज्योति रहती है। देहादिके न रहनेपर नहीं रहती। अतः उसे देहादिका ही धर्म मानना उचित है। जैसे रूपादि संघातके रहनेपर ही उपलब्ध होते हैं, अतः वे देहादिके ही धर्म हैं, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये—'विमतं चैतन्यं शरीरधर्मस्तद्भावभावित्वाद् रूपादिवत्। विमतं ज्योतिः संघाताद्भिन्नं तद्भासकत्वादादित्यादिवत्। विवादास्पद-चैतन्य संघातसे भिन्न है, संघातके भासक होनेसे आदित्यादिके तुल्य यह सामान्यतो दृष्ट-अनुमान व्यभिचारी होनेसे स्वयं अप्रमाण है। क्योंकि भौतिकवादीके मतानुसार देहका भासक होनेपर भी चक्षु देहसे भिन्न नहीं है, उसी तरह चैतन्य भी देहका भासक होनेपर भी देहसे भिन्न न होकर उससे अभिन्न उसका धर्म ही है। अनुमानके द्वारा प्रत्यक्षका बाध भी नहीं होता। मैं मनुष्य हूँ, मैं देखता, सुनता और जानता हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्ष ही देहादि-संघातमें द्रष्टृत्व, ज्ञातृत्वादि विदित होता है। फिर प्रत्यक्षके विरुद्ध अनुमान कैसे आदरणीय हो सकता है?

"कहा जा सकता है कि 'यदि देह ही आत्मा है और वही द्रष्टा, ज्ञाता आदि है तो अविकल रहनेपर भी वह क्यों कभी द्रष्टा, ज्ञाता होता है, कभी नहीं होता?' किंतु यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि जो वस्तु जिस तरह प्रमाण-सिद्ध हो, उसको वैसी मानना उचित है। खद्योतमें प्रकाश, अप्रकाश दोनों ही देखा जाता है, अतः दोनों ही मान्य हैं। उसमें किसी कारणान्तरकी कल्पना नहीं की जाती। अग्निकी उष्णता, जलकी शीतलता जैसे स्वाभाविक है, वैसे ही देहमें कभी ज्ञातृत्व, द्रष्टृत्वादि होना, कभी न होना स्वाभाविक ही है। यदि प्राणियोंके धर्माधर्मके कारण औष्ण्य, शैत्यादि माना जायगा, तब तो अनवस्था-दोष होगा।"

भौतिकवादीका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, कारण कि स्वप्न एवं स्मृतिके आधारपर यही सिद्ध होता है कि देहादि-संघातसे भिन्न अभौतिक आत्मा ही द्रष्टा होता है, देहादि नहीं। यह नियम है कि जाग्रत्-कालमें दृष्टका ही स्वप्नमें दर्शन होता है, इस तरह जाग्रत् और स्वप्नका द्रष्टा एक ही होता है। किंतु स्वप्नमें अनेक वस्तुओंका दर्शन होता है, वहाँ देह या नेत्रादि नहीं होते। देहादि निर्व्यापार तथा नेत्र निमीलित ही रहते हैं। अतः स्वप्नके प्रपञ्चका द्रष्टा देह नहीं है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि अन्य दृष्टका स्वप्न-द्रष्टा अन्य नहीं

होता अतः जो स्वप्नका द्रष्टा है, वही जाग्रत्‌का भी द्रष्टा है। यदि स्वप्नका द्रष्टा देहसे भिन्न सिद्ध हो गया तो जाग्रत्‌का द्रष्टा भी देहसे भिन्न ही मानना उचित है। जब कभी किसी प्राणीके नेत्र नष्ट हो जाते हैं तो वह अन्धावस्थामें भी पूर्वदृष्ट पदार्थोंको स्वप्नमें देखता है। स्पष्ट है कि स्वप्नोंके पदार्थोंका द्रष्टा देह नहीं है, क्योंकि देहमें नेत्र हैं ही नहीं। तात्कालिक नवीन देह या नवीन नेत्र उत्पन्न होते हैं, उनसे स्वाप्निक पदार्थ दीखते हैं, यह कल्पना या संस्कारकी कल्पना भी भौतिकवादमें असङ्गत ही है।

जिसने चक्षुके बिना भी स्वप्नमें पूर्वदृष्टका दर्शन किया, चक्षु रहनेपर भी उसीको प्रबोधकालमें द्रष्टा मानना उचित है। कहा जाता है कि स्वप्नमें पूर्वदृष्टके दर्शनका ही नियम नहीं; क्योंकि जन्मान्धोंको भी कभी-कभी स्वप्नमें विविधरूपोंके दर्शन होते हैं। परंतु यह ठीक नहीं, कारण कि जन्मान्धोंको भी जन्मान्तरानुभूतका ही स्वप्नमें दर्शन मानना उचित है, यही जन्मान्तरमें प्रमाण भी है। अतः स्वप्नमें पूर्वदृष्टका ही दर्शन होता है, यह नियम स्थिर है।

इसी तरह स्मर्ता और द्रष्टाके भी एकत्वका नियम है। जो द्रष्टा होता है वही स्मर्ता होता है। यह देखा जाता है कि आँख मींचकर मनुष्य पूर्वदृष्टको स्मरण करता हुआ पूर्वदृष्टके समान ही देखता है। यहाँ भी जो नेत्र मींचनेपर पूर्वदृष्टको देख सकता है खुले नेत्र रहनेपर भी उसीको द्रष्टा मानना उचित है। साथ ही यह भी देखा जाता है कि मृत देहमें किसी प्रकारकी विकलता दृष्टिगोचर न होनेपर भी दर्शनादि क्रियाएँ नहीं होतीं। अतः मानना पड़ेगा कि जिसके न रहनेपर देहमें दर्शन आदि क्रियाएँ नहीं हो सकतीं, जिसके रहनेपर दर्शन आदि क्रियाएँ होती हैं, वही द्रष्टा है, देह नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि 'चक्षुरादि इन्द्रियाँ ही दर्शनादि क्रियाओंकी कर्ता हैं', किंतु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जो मैंने देखा है, वही मैं स्पर्श कर रहा हूँ, इस प्रत्यभिज्ञाके अनुसार मालूम पड़ता है कि दर्शन तथा स्पर्शन क्रियाका कर्ता एक ही है। पर चक्षु स्पर्श नहीं कर सकता, त्वक् दर्शन नहीं कर सकता, अतः यही मानना ठीक है कि इन्द्रियोंसे भिन्न आत्मा ही चक्षुरादि विभिन्न इन्द्रियोंसे देखने-सुननेवाला है। कुछ लोग कहते हैं कि मन ही द्रष्टा, श्रोता, मन्ता आदि है, किंतु यह भी ठीक नहीं। मन भी रूपादिके तुल्य विषय ही है, फिर वह द्रष्टा नहीं हो सकता। अतः आदित्यादिके समान अन्तःस्थ ज्योति-संघातसे अतिरिक्त है।

कहा जाता है कि 'वह ज्योति कार्य-करण-संघातका सजातीय ही होना चाहिये, क्योंकि जैसे आदित्यादिज्योति सजातीयके ही उपकारक होते हैं, उसी तरह अन्तर-ज्योति भी सजातीयके ही उपकारक होनेसे उपकार्य भौतिक प्रपञ्चके

समान भौतिक ही होना चाहिये', परंतु यह ठीक नहीं है। कारण कि उपकार्योपकारकभाव सजातीयमें होनेका कोई नियम नहीं है। पार्थिव ईन्धनसे—तृण-काष्ठादिसे, अग्निका प्रज्वलनरूप उपकार होता है, यहाँ अग्निका काष्ठादिसे कोई साजात्य नहीं है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि पार्थिव तृणादिसे प्रज्वलनोपकार देखा गया है, अतः पार्थिवत्वादि जातीयसे ही अग्निका उपकार हो, क्योंकि वैद्युत अग्नि एवं जाठर अग्निका उपकार जलसे ही होता है। इस दृष्टिसे उपकार्योपकारकभावमें सजातीयता-असजातीयताका कोई नियम नहीं है। अनेक बार देखा जाता है कि स्थावरों तथा पशु आदिकोंसे मनुष्योंका उपकार होता है।

जो कहा जाता है कि 'अदृश्यत्व अतीन्द्रियत्वके कारण कार्य-करण-संघातका भासक तथा उपकारक ज्योतिको अभौतिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चक्षुरादि अतीन्द्रिय एवं अदृश्य होनेपर अभौतिक नहीं, किंतु भौतिक ही हैं। इसी तरह कार्य-करणासंघातकी भासक ज्योतिको संघातका ही धर्म मानना उचित है।' किंतु वह ठीक नहीं है। क्योंकि चक्षुरादिकरणभिन्नत्वे सति अतीन्द्रियत्वहेतुसे ही संघातभासक ज्योतिकी अभौतिकता सिद्ध होती है। अर्थात् जो चक्षुरादि करणसे भिन्न होकर अतीन्द्रिय है, वह भासक होनेसे संघातसे विलक्षण तथा अभौतिक ज्योति है। अतीन्द्रियत्व-हेतुके चक्षुरादिमें अनैकान्तिक होनेके कारण अनुमान दूषित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि चक्षुरादि करणभिन्नता चक्षुरादिमें नहीं हो सकती। अतः चक्षुरादिभिन्नताविशिष्ट अतीन्द्रियतारूप हेतु चक्षुरादि इन्द्रियोंमें नहीं जायगा। अतः अनुमान निर्दोष ही है। कार्य-करण-संघातका भासक तथा व्यवहारका हेतुभूत ज्योति ही चक्षुरादिसे भिन्न तथा अतीन्द्रिय होनेसे अभौतिक एवं संघातव्यतिरिक्त सिद्ध होती है। चक्षुरादि इस प्रकारके नहीं हैं।

इसी तरह तद्भावभावित्व भी असिद्ध ही है। क्योंकि मृत देहके रहनेपर भी चैतन्यका उपलम्भ नहीं होता। इसपर भी कुछ लोगोंका कहना है कि 'भले ही मृतदेहमें चैतन्यका उपलम्भ न हो फिर भी जब कभी चैतन्यका उपलम्भ होता है, देहमें ही उपलम्भ होता है। भले ही कभी मृत्तिका रहनेपर भी घट न रहे, तथापि जब कभी घट होता है, मृत्तिकाके रहनेपर ही होता है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं। इससे देह और चैतन्यका धर्म-धर्मीभाव या अभेद नहीं सिद्ध होता। ज्यादा-से-ज्यादा इससे इतना ही सिद्ध होता है कि धूमव्यापक वह्निकी तरह भूत चैतन्यका व्यापक है। जैसे जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, उसी तरह जहाँ-जहाँ चैतन्य होता है, वहाँ-वहाँ भूत होता है। परंतु यहाँ भी जहाँ-जहाँ वह्न्यभाव है वहाँ वहाँ धूमाभाव है,

यहाँके समान व्यतिरेक व्याप्ति नहीं निश्चित होती है, क्योंकि चैतन्य आकाशकी तरह व्यापक होनेसे वह केवलान्वयी है, अतः उसका व्यतिरेक नहीं कहा जा सकता। देहसे अतिरिक्त स्थलमें चैतन्य उपलब्ध न होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि 'वह नहीं है'। अभिव्यञ्जक न होनेसे भी अनुपलब्धि कही जा सकती है। जैसे गो व्यक्तिरूप अभिव्यञ्जक होनेसे व्यापक गोत्वजातिकी अभिव्यक्ति न होनेपर भी अनुपलब्धि उत्पन्न हो जाती है।

वस्तुतः गोपाल कुटीरमें, हुक्कामें अग्नि बुझ जानेपर भी धूम रहता है। अतः अग्नि एवं धूमकी अभिन्नता या धर्म-धर्मीभाव भी असङ्गत ही है। वस्तुतः 'तद्भावे तद्भावः, तदुपलब्धौ उपलब्धिः।' तद्भावमें तद्भाव एवं तदुपलब्धिमें तदुपलब्धि होनेसे ही तदभिन्नता होती है। मृत्तिकाके भावमें ही घटादिका भाव होता है। मृत्तिकाके उपलम्भमें ही घटादिका उपलम्भ होता है। इसलिये मृत्तिकासे घटादिकी अभिन्नता सिद्ध होती है। अग्निके न रहनेपर भी गोपालकुटीर या हुक्कामें धूम रहता है, अग्निके उपलम्भ बिना भी धूमका उपलम्भ होता है। अतः अग्निसे धूमकी भिन्नता ही है। ठीक इस नियमकी कसौटीपर भूत तथा चैतन्यकी अभिन्नता ठीक नहीं उतरती। भूत रहनेपर भी चैतन्य नहीं रहता और भूतके उपलम्भमें चैतन्यका उपलम्भ नहीं होता है।

अग्निकी जल तथा पार्थिव काष्ठादिसे अन्यत्र उपलब्धि न होनेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि अग्नि, जल या काष्ठादिका ही धर्म है। किंतु सर्वसम्मतिसे अग्नि स्वतन्त्र वस्तु है, जल-काष्ठादिका धर्म नहीं। उसी तरह देह, दिल, दिमाग आदि नित्य-सिद्ध व्यापक चैतन्यके अभिव्यञ्जक हैं, अतः उनके बिना चैतन्यका उपलम्भ नहीं। फिर चैतन्य देहादिका धर्म नहीं, किंतु वह उनसे भिन्न स्वतन्त्र ही है। सामान्यतो दृष्टानुमानसे ही प्राणियोंकी भोजन-पानादि प्रवृत्ति होती है। यदि उसकी मान्यता न होगी तब तो अभुक्त अपीत भोजनादिमें प्रवृत्ति ही नहीं होगी। खद्योत आदिमें पक्षके संकोच-विकाससे प्रकाश-अप्रकाश उपपन्न है। किंतु यदि देहका द्रष्टृत्व धर्म है, तो कभी उसका उपलम्भ कभी उसका अनुपलम्भकी व्यवस्था नहीं उपपन्न हो सकेगी। भूत रहनेपर भी चैतन्य नहीं रहता और भूतके उपलम्भमें भी चैतन्यका उपलम्भ नहीं होता। अतः भूत एवं चैतन्यका न अभेद ही सिद्ध होता है न धर्म-धर्मी-भाव ही सिद्ध होता है।

आत्मतत्त्व-विमर्श

'तमेव भान्तमनुभान्ति सर्वम्' (कठ० २। २। १५) 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्', (बृहदा० २। ४। १४) यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृहदा० ३। ४। १) इत्यादि

श्रुतियोंसे ज्ञात होता है कि व्यष्टि-समष्टि, स्थूल-सूक्ष्म कार्य-कारणात्मक, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डावलि-स्वरूप अखिलप्रपञ्चके भानके पहले ही भासित होनेवाले अखिल निगमागमादि सच्छास्त्रोंके महातात्पर्यविषय अवेद्य होते हुए भी अपरोक्ष होनेके कारण स्वप्रकाशरूप होनेसे भगवान् साक्षात् अपरोक्ष ही हैं। प्रमाता भी प्रमेयकी अवगतिके लिये ही प्रमाणकी अपेक्षा करता है, अपनी अवगतिके लिये नहीं। यदि कहा जाय कि 'एकहीको कर्म और कर्ता मानना विरुद्ध है, अतः प्रमाताकी अवगतिके लिये भी अन्य प्रमाताकी अपेक्षा है' तो यह ठीक नहीं। ऐसा माननेपर उस प्रमाताकी अवगतिके लिये किसी अन्य प्रमाताकी तथा उसकी अवगतिके लिये किसी दूसरे प्रमाताकी अपेक्षा होगी और इस तरह अनवस्था-दोष प्रसक्त होगा। साथ ही उसमें भ्रान्ति, संशय और अज्ञान भी नहीं दिखायी पड़ते हैं। जिसके अनुग्रहसे मातृ, मान और मेयका यथार्थ अवभास होता है, वह मातृ-मानकी अपेक्षा किये बिना संशय आदिका अविषय होकर साक्षात् अपरोक्ष हो तो क्या आश्चर्य ! फिर भी अनादि, अनिर्वाच्य, अचिन्त्य, महामहिमशालिनी भगवच्छक्तिभूत मायासे प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य, अद्वय आनन्दका अस्तित्व भी जब तिरोहित हो गया है, तब स्वप्रकाशता आदिका तो कहना ही क्या ! क्योंकि प्रत्यक्ष आदिसे स्फुरद्रूपप्रपञ्च ही सर्वत्र दिखायी पड़ रहा है। मायाके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है कि अर्थके बिना प्रतीत होती हुई भी जो आत्मामें प्रतीत नहीं होती, उसे ही आत्माकी माया समझना चाहिये—'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि । तद् विद्यादात्मनो मायाम्' (श्रीमद्भा० २ । ९ । ३३)।

अनधिगत अबाधित अर्थकी ज्ञप्तिस्वरूप प्रमाकी उत्पत्तिके लिये उसके कारणभूत प्रमाणोंकी अपेक्षा हुआ करती है; क्योंकि प्रमाणोंके अधीन ही प्रमेयकी सिद्धि हुआ करती है। प्रत्यक्षमात्र प्रमाण माननेवाले चार्वाक और तदनुयायी अनात्माभिमुख साम्यवादी, समाजवादी आदि आधुनिक लोग आम्रसम्बन्धी बीजसे अङ्कुर, नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पल्लव, पुष्प, फल और रसरूप परिणामकी तरह मस्तिष्क, मन, बुद्धि आदिकी तरह आत्माका भी परिणाम मानते हुए पृथिव्यादि चार भूतोंके अतिरिक्त तत्त्व तथा अर्थ, कामके अतिरिक्त पुरुषार्थ और प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण नहीं मानते। इनमें कोई देहको, कोई चक्षुरादि इन्द्रियों और कोई प्राणको ही आत्मा मानते हैं।

प्रतिपत्ति (बोध) का फल संशय, विपर्यय तथा अज्ञानकी निवृत्ति है। प्रतिपादयिता (वक्ता) प्रतिपित्सित (ज्ञातव्य) पदार्थकी प्रतिपिपादयिषा (प्रतिपादनेच्छा) से वाणीका प्रयोग किया करता है। अनुमान एवं वाक्यको

प्रमाण न माननेवाले लोग परस्परके संशय, भ्रान्ति, अज्ञानको किस तरह जान सकेंगे, किस तरह उन्हें दूर करनेका प्रयत्न कर सकेंगे और किस तरह परप्रतिपित्सितको जाने बिना प्रेक्षावान् व्यक्ति अप्रतिपित्सित अर्थका उपदेश कर रुकेंगे ? अतः अनुमान प्रमाण माने बिना 'अनुमान प्रमाण नहीं है' यह वचनप्रयोग भी अनुपपन्न है। साथ ही परप्रत्यक्षमें अनधिगत अबाधित तथा अनुमानमें उसका अभाव भी बिना अनुमान-प्रमाण माने कैसे जाना जा सकता है ? पशु-पक्षी भी मोदकादिका ग्रास हाथमें लिये हुए पुरुषोंको देखकर उधर प्रवृत्त होते तथा दण्डादि देखकर अनिष्टकारणताका अनुमानकर उस ओरसे निवृत्त होते देखे जाते हैं।

आत्मा इदंकारके आस्पद देह-इन्द्रिय, मन और विषयोंसे पृथक् 'मैं' इस तरह असंदिग्ध अविपर्यस्तरूपसे अपरोक्ष अनुभवसिद्ध ही हैं, क्योंकि 'मैं हूँ या नहीं हूँ' अथवा 'नहीं हूँ' ऐसे संशयका अनुभव नहीं होता। 'मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ, बोलता हूँ, जाता हूँ,' इत्यादि देहधर्मका सामानाधिकरण्य देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि अहंप्रत्यय देहविषयक होता है। यदि ऐसा ही मान लें तो बाल्य, यौवनादिका भेद होनेपर भी अहंप्रत्यालम्बनकी 'मैं वही हूँ, जो बाल्य-यौवन आदिमें था', ऐसी प्रत्यभिज्ञा न हो सकेगी, किंतु वैसी प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः व्यावृत्त अनेक पुष्पोंमें अनुवृत्त एक सूत्रके समान बाल-युवा आदि अनेक व्यावृत्त शरीरोंमें अनुवृत्त एक अहंकारास्पद उन शरीरादिसे भिन्न आत्मवस्तु मानना अनिवार्य है।

समस्त-व्यस्त बाह्य पृथ्वी आदि भूतोंमें चैतन्यका उपलम्भ न होनेके कारण चैतन्यको भूतोंका धर्म भी नहीं कहा जा सकता। यदि कहा जाय कि 'मद्याकारसे परिणत यवादिकणोंके अनुभूयमान मादक शक्तिके समान देहाकारसे परिणत भूतोंका ही धर्म चैतन्य शक्ति है' तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि देहके रहनेपर भी मृतावस्थामें चैतन्यका उपलम्भ नहीं होता। संयोगादिके समान जबतक देह रहता है, तबतक चैतन्य रहता है—यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि चैतन्यको तब रूपादिके समान विशेष गुण मानना पड़ेगा और ऐसा माननेपर यावद्देहभावित्वेन चैतन्यकी उपपत्ति सङ्गत नहीं हो सकती; क्योंकि भूत जैसे रूपरहित नहीं होता, वैसे ही देहको कभी चैतन्यरहित होकर नहीं रहना चाहिये, यही बात इच्छादिके सम्बन्धमें समझ लेनी चाहिये। मृतावस्थामें प्राणचेष्टादि नहीं दिखायी पड़ते, अतः यह भी मान लेना चाहिये कि उक्त देहधर्म आत्माके अधिष्ठानसे ही व्यक्त होते हैं। रूप आदि देहसम्बन्धी धर्मोंके अन्य व्यक्तिद्वारा प्रत्यक्ष होनेपर भी ज्ञान, इच्छा आदि आत्मधर्म अन्यसे प्रत्यक्ष नहीं किये जाते, अपितु वे स्वप्रत्यक्ष ही हुआ करते हैं।

यदि समुदायभूत अवयवीको चेतयिता कहें तो एक भी अवयवके कट जानेपर अवयवी-समुदाय ही कट जायगा और इस तरह प्रेतत्वापत्ति होगी। इसे इष्टापत्ति भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अवयव कट जानेपर भी अवयवीमें चैतन्य उपलब्ध होता है। यदि प्रत्येक अवयवको चेतयिता मानें तो बहुतोंका अन्योन्याभिमुख होकर रहना सदा सम्भव नहीं है। उन परस्पराभिमुखोंका स्वातन्त्र्य मानने या परस्पर प्रतिबद्ध सामर्थ्यवालोंका स्वातन्त्र्य अथवा विरुद्धदिशाकी ओर क्रिया करनेमें अभिमुखका स्वातन्त्र्य मानने किंवा परस्परका स्वातन्त्र्य परस्परसे प्रतिबद्ध माननेपर या तो शरीर नष्ट हो जायगा या निष्क्रिय हो जायगा।

देहके रहनेपर जीवित दशामें ज्ञान, इच्छा आदिके रहनेपर भी देहाभाव-दशामें उनकी सत्ता नहीं रहती, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनकी अनुपलब्धि होनेसे उनके असत्त्वका निर्णय नहीं किया जा सकता; क्योंकि विद्यमान रहनेपर भी व्यञ्जकके अभावमें उपलब्धि न होना सम्भव है। विभु (व्यापक) होनेके कारण जाति सर्वत्र विद्यमान रहनेपर भी व्यञ्जक व्यक्तिके अभावमें जैसे उसका उपलम्भ नहीं हुआ करता, वैसे ही व्यञ्जक देहके न रहनेपर चैतन्यका अनुपलम्भ उपपन्न हो सकता है। अथवा जैसे काष्ठ आदि अग्निके व्यञ्जक हैं, अतः उनके रहनेपर ही अग्निकी अभिव्यक्ति होती है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि काष्ठके अभावमें अग्निका अभाव होता है अथवा काष्ठ तथा अग्निका धर्म-धर्मिभाव है। धर्म-धर्मिभावका निर्णय अन्वय-व्यतिरेक—दोनोंसे होता है, केवल अन्वयसे नहीं। यदि केवल अन्वयसे धर्म-धर्मिभावकी कल्पना करें, तो सबको आकाशका धर्म मानना पड़ेगा। यहाँ व्यतिरेक संदिग्ध है। देहान्तरसंचारसे आत्मामें उसके धर्मका अनुवर्तन सम्भव है, अतः उसके असत्त्वका निर्णय नहीं किया जा सकता।

फिर दूसरी बात यह है कि भूतचतुष्टयके अतिरिक्त ईश्वर यदि न माना जाय तो विलक्षण देह, इन्द्रिय आदिरूपसे भूतोंकी संहति कैसे सङ्गत हो सकती है? अचेतन प्रकृति, परमाणु या विद्युत्कणोंमेंसे किसीको विविधविचित्रतायुक्त विश्वका रचयिता नहीं कहा जा सकता। यदि उन्हें विश्वनिर्माता मानें तो आज भी वायुयान, बम आदि विविध वस्तुओंको भी अचेतननिर्मित मान लेना पड़ेगा। अदृष्ट या स्वभावको भी विश्वरचयिता नहीं कहा जा सकता; क्योंकि केवल प्रत्यक्ष-प्रमाणसे उनकी सिद्धि ही नहीं की जा सकती। यदि कार्यवैचित्र्यकी अन्यथा-अनुपपत्तिसे कारण वैचित्र्यकी कल्पना की जाय, तब तो कर्मवैचित्र्य और अकृताभ्यागम-कृतविप्रणाश आदिसे नित्य, सर्वनियामक आत्मा भी मान ही लेना होगा।

चार्वाकलोग भूतचतुष्टयकी अपेक्षा और किसी तत्त्वका अस्तित्व नहीं मानते, अतएव रूपादि या चैतन्यादिको अन्यका परिणाम-भेद नहीं कहा

जा सकता, अपितु उन्हें भूतपरिणामभेद ही कहना पड़ेगा । तथाच भूतधर्म रूपादि जड होनेके कारण जैसे विषय हैं, विषयी नहीं, वैसे ही भूतधर्म । जड होनेके कारण चैतन्यको भी विषय मानना पड़ेगा, विषयी नहीं । यदि कहा जाय कि भूतधर्म होनेपर भी किन्हींका विषयित्व भी मान्य है, तो यह उचित नहीं, क्योंकि अपने-आपमें वृत्तिरूप विरोध होगा, जैसा कि अभी कहा गया ।

लोकायतिक पृथिव्यादि चार भूतोंके अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्वका अस्तित्व अङ्गीकार नहीं करते । भूत-भौतिक पदार्थोंके अनुभवको यदि चैतन्य वस्तु कहा जाय, तो वे विषय हैं, अतः अपने-आपमें क्रियाविरोधके कारण चैतन्यको उनका धर्म कहना उचित नहीं है । अग्नि दाहक होनेपर भी अपने-आपको नहीं जला सकता, सुशिक्षित भी नट अपने स्कन्धपर नहीं चढ़ सकता । इसी प्रकार चैतन्य यदि भूत-भौतिकधर्म हो, तो वह भूत-भौतिकोंको विषय नहीं कर सकता । रूप आदि अपने और दूसरेके रूपको विषय नहीं कर सकते, किंतु बाह्य, आध्यात्मिक भूत-भौतिकोंको चैतन्य विषय करता है । यदि भूतादिविषयक चैतन्यरूप उपलब्धिका अस्तित्व मान लिया जाता है, तो भूतव्यतिरिक्त पदार्थका अस्तित्व भी मान लेना पड़ेगा। तथाच उपलब्धिस्वरूप आत्मा देहादिसे अतिरिक्त सिद्ध हो जाता है । 'मैंने उसे देखा था' जिस प्रकार अवस्थान्तरमें भी उपलब्धारूपसे प्रत्यभिज्ञान होने और स्मृति आदि उत्पन्न होनेके कारण उस स्वरूपात्माकी एकरूपता स्पष्ट है, अतः उसको नित्य माननेमें कोई आपत्ति नहीं । इस प्रकार दीपक आदिके रहनेपर यद्यपि उपलब्धि होती है, उसके अभावमें नहीं, तथापि उपलब्धिको जैसे दीपकका धर्म नहीं कहा जाता, वैसे ही देहके रहनेपर उपलब्धि होती है, उसके न रहनेपर नहीं, फिर भी उपलब्धिको देहका धर्म नहीं कहा जा सकता । दीपककी तरह केवल उपकरणमात्र मान लेनेसे भी देहका उपयोग उपपन्न हो जाता है । स्वप्नावस्थामें इस देहके निश्चेष्ट पड़े रहनेपर भी अनेक प्रकारकी उपलब्धियोंका होना अनुभव सिद्ध है, अतः यह स्पष्ट है कि चैतन्य भूत-भौतिकोंका धर्म नहीं है ।

'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति' इत्यादिके अनुसार यह नहीं कहा जा सकता कि देहादिसे व्यतिरिक्त होता हुआ भी आत्मा उन देहादिकोंके साथ ही उत्पन्न होता है और उनके साथ ही विनष्ट हो जाता है । जन्मान्तरीय अदृष्टको माने बिना न तो देहादिका वैलक्षण्य उपपन्न हो सकता है और न प्राक्तन संस्कारोंके अभावमें शिशुकी स्तन्यपानमें प्रवृत्ति ही बन सकती है । अतः देहादिसे अतिरिक्त नित्य आत्मा मानना अनिवार्य है ।

इन्द्रियोंको आत्मा माननेवालोंके पक्षमें भी बहुत चेतन माननेवालोंके पक्षमें बतलाये दोष उपस्थित होते हैं । 'मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, स्वाद लेता हूँ,

सूँघता हूँ, स्पर्श करता हूँ, इच्छा करता हूँ' इत्यादि रूपसे एक आत्मविषयक अनुभव होनेके कारण देखने, सुनने, सूँघने, स्पर्श आदि करनेवालोंको परस्पर भिन्न नहीं कहा जा सकता। यदि भिन्न कहें, तो उनका विरोध ध्रुव है। अतः मन तथा इन्द्रियोंकी अन्तर्बाह्यकरणता ही है, कर्तृत्व नहीं; क्योंकि 'कुठारसे छेदन करता हूँ, घोड़ेसे लाँघता हूँ इत्यादिके समान 'आँखसे देखता हूँ, कानसे सुनता हूँ' इत्यादि व्यवहार दृष्टिगोचर होते हैं। चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रिय और मन, बुद्धि, अतीन्द्रिय होनेके कारण प्रत्यक्ष नहीं हैं। उपलभ्यमान नेत्र आदिको इन्द्रिय नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वे स्वयं इन्द्रिय नहीं, अपितु उनके गोलक हैं। इसलिये गोलकका उपघात न होनेपर भी इन्द्रियका उपघात होनेसे विषयका ग्रहण नहीं होता। दहनकर्ता होता हुआ भी अग्नि जैसे अपना दहन नहीं करता, अपितु काष्ठ आदिका ही दहन करता है, वैसे ही इन्द्रियाँ भी स्ववृत्तिविरोधके कारण अपने अवगममें अक्षम होती हैं। देखना, सुनना, सूँघना, चलना, सोचना, जानना आदि क्रिया होनेसे करणपूर्वक होते हैं, इत्यादि अनुमानसे इन इन्द्रियोंका ज्ञान होता है। युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिरूप लिङ्गसे मन आदि भी उसी प्रकार अनुमानगम्य हैं, अतः बिना अनुमान-प्रमाण माने कैसे इन्द्रियादिकी सिद्धि हो सकती है और इन्द्रियादिकी सिद्धि हुए बिना इन्द्रियात्मवाद कैसे सिद्ध हो सकता है? बल्कि अचेतनोंकी प्रवृत्ति चेतनाधिष्ठित हुआ करती है, जैसे रथ आदिकी प्रवृत्ति अश्व, सारथी आदि चेतनोंसे अधिष्ठित होती है। इस वैज्ञानिकयुगमें भी स्वयंचालित विभिन्न यन्त्रोंमें संयोजक और प्रथमप्रवर्तक चेतन ही अपेक्षित हुआ करता है। इसे चाहे स्वभाव कहा जाय, किंतु इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि स्वभावको यदि असत् कहें तो वह कार्यकरणक्षम नहीं हो सकता। यदि सत् हो तो भी यदि वह अचेतन है तो उसकी भी वही स्थिति रहेगी। यदि स्वभाव चेतन है, तब तो नाममात्रका ही भेद हुआ।

देहादिसंघात संघात होनेके कारण शय्या, प्रासाद आदिके समान परार्थ होता है। शय्या आदि पदार्थ जैसे अपनेसे विलक्षण किसी देवदत्त आदिके लिये होते हैं, वैसे ही देहादिसंघात भी अपनेसे विलक्षण आत्माके लिये ही हैं। देहादि-संघात जब कि अचेतन अनेकात्मक, अनित्य, दुःखरूप और अपूर्ण होते हैं, तब उनसे विलक्षण चेतन एक, असंहत, नित्य, पूर्ण, आनन्दरूप आत्मा सिद्ध होता है। साथ ही अचेतनोंकी प्रवृत्ति अचेतनके लिये नहीं, अपितु इष्टप्राप्ति तथा अनिष्टपरिहारके इच्छुक किसी चेतनके लिये ही होती है, यह मानना पड़ेगा। किसी भी अचेतन पदार्थमें न तो इष्टप्राप्ति तथा अनिष्ट-परिहारकी इच्छा दिखायी पड़ती है, न इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःखकी प्राप्ति और परिहार ही।

वैनाशिक बौद्ध (शून्यवादी) तीन प्रकारके होते हैं—(१) सर्वसत्तावादी, (२) विज्ञानमात्र सत्तावादी (३) और सर्वशून्यत्वादी। इनमें सर्वसत्तावादियोंके सिद्धान्तमें खरस्वभाव पार्थिव परमाणुओंका सङ्घात पृथिवी, स्नेह, स्वभाव जलीय परमाणुओंका सङ्घात जल, उष्णस्वभाव परमाणुओंका सङ्घात तेज (अग्नि) और गतिस्वभाव वायवीय परमाणुओंका सङ्घात वायु ये चार बाह्य पदार्थ हैं। इन्हें भूत भौतिकशब्दसे कहा जाता है। इसी प्रकार रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार ये पञ्चस्कन्ध अन्तर पदार्थ हैं। विषयसहित इन्द्रियाँ रूपस्कन्ध, विषयोंका ज्ञान-विज्ञान स्कन्ध, सुख-दुःखानुभव वेदनास्कन्ध, सविकल्पज्ञान संज्ञास्कन्ध और राग-द्वेषादि क्लेश संस्कार स्कन्ध हैं। इन्हें चित्त-चैत्तिक कहा जाता है। इन्हीं पाँच स्कन्धोंका सङ्घात ही आत्मा है।

यद्यपि बौद्धोंका परम तात्पर्य शून्यवादमें ही है, तथापि हीन, मध्यम और उच्च आदि बुद्धिभेदसे इनके तीन भेद हो जाते हैं। यह बात बोधिचित्तविवरणमें स्पष्ट की गयी है—

देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगा।
भिद्यते बहुधा लोक उपायैर्विविधैः पुनः ॥ १ ॥
गम्भीरोत्तानभेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्नाऽपि देशनाऽभिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा ॥ २ ॥

बुद्धोंके उपदेश शिष्योंके अभिप्रायके ही अनुसार होते हैं। जैसे-जैसे शिष्य बढ़ते हैं, व्याख्या भी बढ़ती जाती है। कहीं अत्यन्त गम्भीर, कहीं उत्तान इस तरहका उपदेश होता है, परंतु सबका तात्पर्य सर्वशून्यमें ही होता है।

इस तरह बाह्यभूत भौतिक और आध्यात्मिक चित्तचैत्तिक समुदाय ही वैभाषिक और सौत्रान्तिक बौद्धोंके मतमें आत्मा है। बाह्यार्थको केवल अनुमेय मानकर प्रत्यक्ष न माननेवाले बौद्ध—'सौत्रान्तिक' कहे जाते हैं। किंतु आन्तर विज्ञानके समान ही बाह्यार्थको भी प्रत्यक्ष सिद्ध माननेवाले बौद्धको वैभाषिक कहते हैं। इससे अतिरिक्त नित्यचेतन आत्मा नहीं है।

विचार करनेपर इन भूतभौतिकों चित्तचैत्तिकोंका समुदाय नहीं बन सकता। कारण इनमें समुदाय अचेतन है। चेतन (ज्ञानवान्) कुलालादि ही मृत्तिका, चक्र, चीवर, आदि कारण कलाप एकत्रित कर समुदायी घटका निर्माता देखा गया है। मृत्तिका, चक्र, चीवर आदिके सञ्चालक चेतन कुलालादिके न रहनेपर अचेतन मृत्तिका दण्डादि स्वयं व्यापारवान् होकर घटकी रचना नहीं कर सकते। चेतनके न रहनेपर अचेतन तुरी-वेमा आदि कपड़ा स्वयं नहीं बुन लेते। इसलिये कार्योत्पादन क्षमतावाली सामग्री एकत्रित होनेपर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। कार्योत्पादनक्षम सामग्रीका एकत्रीकरण चेतन विचाराधीन है। यदि कहा जाय कि चित्त ही चेतन

है और इन्द्रियादि विषय सम्पर्क होनेपर स्वयं प्रदीप्त होकर यथायोग्य आवश्यकतानुसार कारण चक्रको प्रकाशित करता हुआ अचेतन करणोंद्वारा कार्य सम्पादन करता है तो यह भी ठीक नहीं; कारण-समुदाय सिद्धिके बाद ही चित्तका अभिज्वलन सिद्ध होगा, और चित्त अभिज्वलनके बाद समुदाय-सिद्धि होगी। इस प्रकार यहाँ इतरेतराश्रय दोष दुष्परिहर हो जायगा।

पहले जन्मकी चिन्ताभिदीप्ति उत्तरकालिक समुदायका सङ्घटन करती है यह भी कहना ठीक नहीं; क्योंकि सङ्घटनके समयसे चित्तकी दीप्ति बहुत पहले ही बीत चुकी, अतः वह उत्तरकालिक सङ्घटनकी क्षमता नहीं रख सकती। कारण विन्यास-विशेषका जानकार ही कर्ता होता है। अन्वय-व्यतिरेकके बिना विन्यास-विशेष जाना नहीं जा सकता। अनवस्थायी क्षणिक चेतन अन्वय-व्यतिरेकका विज्ञाता हो नहीं सकता। भूतभौतिक-चित्त-चैत्तिक समुदायसे अतिरिक्त स्थिर संहन्ता-चेतन इस सिद्धान्तमें मान्य नहीं है। यदि माना जाय कि परस्परानपेक्ष असंनिहित कारण चेतन संनिधापयिताके बिना ही कार्योत्पादन करेंगे, तो फिर सदा ही कार्यप्रसक्ति बनी रहेगी। परंतु ऐसा है नहीं।

यदि कहा जाय कि अहंकारास्पद आलयविज्ञान ही पूर्वापरका अनुसन्धान करनेवाला है वही प्रतिष्ठाता (संनिहित करनेवाला) हो जायगा, तो यह भी ठीक नहीं। कारण यदि आलय-विज्ञान एक और नित्य माना जाय तो वह नामान्तरसे आत्मा ही सिद्ध होगा और यदि वह क्षणिक विज्ञान रहा तो पूर्वोक्त दोष तदवस्थ रहेंगे। यदि कहें कि आलय-विज्ञान नहीं किंतु उसका संतान (परम्परा) कारणोंका संनिधापयिता होगा, तो वह भी उपेक्षणीय है; क्योंकि संतान यदि विज्ञानसे अभिन्न है तो क्षणिक होनेके कारण पूर्वोक्त दोष दुरुद्धर ही है, यदि भिन्न है तो नित्य-विज्ञान आत्मा ही सिद्ध हो गया तथा सभी पदार्थोंकी क्षणिकता माननेके कारण समुदायियोंकी प्रवृत्ति बन नहीं सकती। प्रवृत्तिके प्रथम क्षणमें तथा प्रवृत्ति-क्षणमें समुदायी रहें तभी उनकी प्रवृत्ति हो सकती है। क्षणिक होनेके कारण वे दो क्षण टिक नहीं सकते। भिन्नकालमें उनकी स्थिति मानी जाय तो आधाराधेयभाव नहीं बन सकता।

इस तरह समुदायकी सिद्धि नहीं हो सकती और समुदायसिद्धि न होनेपर तदाश्रित लोकयात्रा भी न बन सकेगी। इन्हीं दुरुद्धर दोषोंके कारण आजकल बौद्धलोग एक नित्य कूटस्थ आत्मा माननेकी बात करने लगे हैं तथा क्षणिकता अनित्यताको ही मान लेते हैं।

फिर भी बौद्धोंका कहना है कि यद्यपि बौद्धमतमें कोई स्थिरभोक्ता या प्रशासिता चेतन सामग्री सङ्घटन करनेवाला मान्य नहीं है, फिर भी अविद्यादि ही आपसमें एक-दूसरेके कारण होते हैं, अतः लोकयात्रा बन जाती है। लोकयात्रा उपपन्न हो जानेपर फिर और कुछ भी उपेक्षित नहीं है।

यहाँ संक्षेपमें बौद्धप्रक्रिया समझ लेनी आवश्यक है, बुद्धने प्रतीत्य-समुत्पाद-का वर्णन किया है। प्रतीत्य-समुत्पादके सूचक बुद्धसूत्र हैं—"उप्पादावा तथा गतानम्, अनुप्पादावा तथागतानं ठितावसा धातु धम्म द्वितता धम्म (नियामकता इदप्पच्चयता इति रेवो भिक्खवे परिच्च समुप्पादोति संयुत" (कल्पतरु २।१ । २६।)

भामतीकार कल्पतरुकार आदिकोंने इन सूत्रोंकी स्पष्ट व्याख्या की है। सूत्रोंका संस्कृतरूप यह है—

उत्पादा तथागतानामनुत्पादाद्वा स्थितैवैषा धर्माणां धर्मता। धर्मस्थितिता धर्मनियामकता प्रतीत्य समुत्पादानुलोभत्ता॥"

सार यह है कि प्रत्येक कार्यमें दो प्रकारसे कारण-सम्बन्ध होता है, हेतूपनिबन्ध एवं प्रत्योपनिबन्ध। प्रथम एकैककारण सम्बन्ध होता है, दूसरा कारणसमुदाय सम्बन्ध होता है। एक बीजरूपी हेतुका अङ्कुररूपी कार्यसे सम्बन्ध हेतूपनिबन्ध है। पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि अनेक कारणोंका अङ्कुरसे सम्बन्ध प्रत्ययोपनिबन्ध है। हेतुं हेतुं प्रत्यन्ते इति प्रत्यया हेत्वन्तराणि मुख्य हेतुके प्रति सम्मिलित होनेवाले सहकारि कारण समूह प्रत्यय है 'प्रत्ययाः सन्त्यस्मिन्निति प्रत्ययः' अनेक प्रत्यय (कारण) जिस समवायमें हों वह प्रत्यय हेतुसमुदायका बोधक होता है।

"इदं प्रत्ययफलम्—इदं कार्यं प्रत्ययस्य कारणसमुदायमात्रस्य फलं न चेतनस्य कस्यचिदित्यर्थः"।

अर्थात् कार्य इतरसहकारियोंसे सम्मिलित मुख्य हेतुरूप प्रत्ययका फल है। सारांश यह है कि अनेक सहकारी कारणोंसे युक्त मुख्य हेतु ही कार्यमात्रका कारण है। कोई चेतन या ईश्वर कारण नहीं है। हेतूपनिबन्धका सूचक है—उत्पादाद्वा तथा गतानामित्यादि"।

"तथागतानां बुद्धानां मते धर्माणां कार्य्याणां कारणानाञ्च या धर्मता कार्यकारणभावरूपा एषा उत्पादाद्वा अनुत्पादाद्वा स्थिता, धत्ते इति धर्मः कारणम्, ध्रियते धर्मः कार्य्यम् यस्मिन्सति यदुत्पद्यते असति च नोत्पद्यते तत्तस्य कारणम् कार्यञ्च न क्वचित्कार्यसिद्धये चेतनोऽपेक्ष्यते।

अर्थात् बुद्धोंके मतमें कार्य एवं कारणोंकी कार्यकारणभावरूप धर्मता उत्पाद एवं अनुत्पादके अन्वय व्यतिरेकसे सिद्ध है। जिसके रहनेपर जो उत्पन्न होता है जिसके न रहनेपर जो नहीं उत्पन्न होता है वही कारण और कार्य है। जो उत्पन्न होता है वह कार्य है जिसके रहनेपर ही उत्पन्न होता है वही कारण है। धारण करनेवाला धर्म कारण है ध्रियमाण धर्म कार्य है।

इस प्रकार यहाँ उत्पादाद्वा अनुत्पादाद्वा इन पदोंका अन्वय-व्यतिरेक अर्थ हुआ। धर्मस्थितिता कार्यता है; क्योंकि कार्यरूप धर्म ही कारणको अतिक्रमण

किये बिना काल विशेषमें स्थिति होती है। स्थिति शब्दसे स्वार्थमें ही तल प्रत्यय होनेसे स्थिति अर्थमें स्थितिताका प्रयोग है। धर्मनियामकता कारणता है। धर्म अर्थात् कारण कार्यके प्रति नियामक है।

यदि कहा जाय कि इस प्रकारका कार्यकारणभाव बिना चेतनके नहीं हो सकता है, तो इसका समाधान है कि 'प्रतीत्य समुत्पादानुलोकता कारणे सति तत्प्रतीत्य प्राप्य समुत्पादानुलोमता प्रतीत्य समुत्पादानुसारिता या सैव धर्मता सा चोत्पादा सा नु व्यादात्मा धर्माणां स्थिता। न चेतनः कश्चिदुपलभ्यते'।

अर्थात् कारणके रहनेपर कारणको प्राप्त करके कार्य समुत्पादका अनुसरण करनेवाली धर्मता होती है। अन्वय-व्यतिरेकानुसारिणी कारण एवं कार्यमें स्थित है। यह प्रतीत्य समुत्पाद दो कारणोंसे सिद्ध होता है। हेतूपनिबन्धसे तथा प्रत्ययोपनिबन्धसे। एक मुख्य कारणसे सम्बन्धित हेतूपनिबन्ध होता है, अनेक सहकारी कारणोंसे सम्बन्धित प्रत्ययसमवाय सम्बन्धित प्रत्ययोपनिबन्ध है। उनके भी दो भेद हैं। (१) बाह्य और (२) आध्यात्मिक।

(१) बाह्य—बीजसे अङ्कुर, अङ्कुरसे पत्र, पत्रसे काण्ड, काण्डसे नाल, नालसे गर्भ, गर्भसे शूक, शूकसे पुष्प और पुष्पसे फल होता है। इसमें बीजको ज्ञान नहीं होता कि मैं अङ्कुरको उत्पन्न कर रहा हूँ। इसी तरह अङ्कुर पत्र और पुष्प आदिको भी ज्ञान नहीं होता कि मैं अपनेसे पश्चात् उत्पन्न होनेवालोंको उत्पन्न कर रहा हूँ। इसी प्रकार अङ्कुर पुष्प फलादिको भी यह ज्ञान नहीं होता कि मुझे बीजने उत्पन्न किया है। यह बाह्य हेतूपनिबन्धका उदाहरण है।

छः धातुओंके समवायसे ही बीजसे अङ्कुर हो सकता है अन्यथा नहीं। इसमें पृथिवी धातु बीजका संग्रह करती है। जिससे अङ्कुर कठिन हो जाता है, जलधातु स्नेह व तेजधातु परिपाक करता है। वायुधातु बीजसे अङ्कुरको ऊपर फेंकता है, और आकाश धातु बीजका अवयव अलग करता है। ऋतु भी बीजका परिपाक करता है। अविकल छः धातुओंके समुदायसे ही बीज अङ्कुररूपमें परिणत होता है। इनमें न तो पृथिवी धातुको यह ज्ञान रहता है कि हमने बीजका संग्रह-कृत्य किया है और न तो ऋतुको ही ज्ञान होता है कि हमने बीजका परिणाम किया है। साथ ही अङ्कुरको भी यह ज्ञान नहीं होता कि मुझे इन धातुओंने बनाया है। यह बाह्य प्रत्ययोपनिबन्धका उदाहरण है।

(२) आध्यात्मिक—इसी तरह अविद्यासे संस्कार, संस्कारसे जन्म तथा जन्मसे जरा और मृत्यु होती है। अविद्याको ज्ञान नहीं होता कि मैंने संस्कारको बनाया है और न संस्कारको ही ज्ञान होता है कि मुझे अविद्याने बनाया है। यह आध्यात्मिक हेतूपनिबन्धका उदाहरण है।

इसी तरह पृथिवीसे तेज, वायु, आकाश और विज्ञानधातुओंके समवायसे शरीर बनता है। पृथिवी धातुसे शरीरकी कठिनता और जलसे शरीरका स्नेह होता है। तेजधातु भुक्त-पीतका परिपाक करता है, वायुधातु श्वास-प्रश्वासादि करता है, आकाश शरीरके भीतर अवकाश प्रदान करता है। विज्ञानधातु पञ्चज्ञानेन्द्रिय युक्त मनोविज्ञानको उत्पन्न करता है। यह आध्यात्मिक प्रत्ययोपनिबन्धका उदाहरण है।

इन छः धातुओंकी जो पिण्ड संज्ञा, पुद्गल संज्ञा (परमाणुसंज्ञा) मनुष्य-संज्ञा, अहंकार-संज्ञा, ममकार-संज्ञा यह अविद्या है। यही अविद्या संसारका (अनर्थ सामग्रीका) मूल कारण है। अविद्याजन्य राग-द्वेष-मोहात्मक संस्कार विषयोंमें प्रवृत्ति कराते हैं। वस्तु-विषयज्ञान ही विज्ञान है। इन सबको एक प्रकारसे नामरूप कह सकते हैं। शरीरकी कलल बुद्बुद आदि अवस्था और नामरूप मिश्रित इन्द्रियाँ षडायतन कही जाती हैं। नामरूप इन्द्रियोंका सम्बन्ध ही स्पर्श है। स्पर्शसे सुख-दुःखादि वेदना होती है। वेदनाके अनन्तर मुझे सुखप्राप्तिके लिये यह कार्य फिर करना चाहिये ऐसा निश्चय तृष्णा है।

उसमें वाणी शरीरकी चेष्टा है, उसका नाम उपादान है। उससे धर्माधर्म होते हैं। उसका नाम भव है उसीसे जन्म होता है। जन्मसे ही जरा-मृत्यु होती है, उससे अन्तर्दाह शोक होता है, शोकसे विलाप, दुःख और दौर्मनस्य होता है। यह परस्परहेतुक अविद्यादि सार्वजनिक अनुभवसिद्ध हैं। इनका अपलाप नहीं किया जा सकता। ये जन्मादिहेतुक अविद्यादि और अविद्यादिहेतुक जन्मादि चक्र घटीयन्त्रके समान निरन्तर चलता रहता है, तथा यह सार्वजनिक अनुभवसिद्ध है। अतः इनका अपलाप भी नहीं हो सकता, क्योंकि इनसे सङ्घातका अर्थतः आक्षेप हो जायगा।

इस तरह बौद्धमतके अनुसार कोई अनुपपत्ति नहीं, परंतु बौद्धोंका यह कथन भी ठीक नहीं, कारण प्रत्ययोपनिबन्धमें नाना कारणोंका समवधान आवश्यक है। बिना किसी चेतनके अनेक कारणोंका एकत्र होना नहीं बन सकता।

यदि कहा जाय अन्त्यक्षणप्राप्त क्षित्यादि अङ्कुरका उत्पादन करते हैं, उनका उपसर्पण स्वभाव है इसलिये समवधान भी हो जायगा तो फिर किसानको कृषि करनेकी क्या आवश्यकता है ?

भण्डारमें रक्खे बीज अङ्कुरित हो जायँगे और सारा कार्य बिना चेतनका ही हो जायगा, किंतु ऐसा होता नहीं। इसलिये बिना कर्ताके सङ्घातका बनना असम्भव है। जो कहते हैं कि अविद्यासे सङ्घातका अर्थात् आक्षेप हो जायगा इसका क्या तात्पर्य है ? यदि यह तात्पर्य है कि अविद्यादि बिना संघात टिक नहीं सकते—इसलिये उन्हें संघातकी अपेक्षा है; फिर तो संघातका निमित्त बतलाना चाहिये।

यदि यह अभिप्राय हो कि अविद्यादि ही संघातके निमित्त हो जायँगे तो संघातके ही सहारे टिकनेवाले संघातके निमित्त कैसे होंगे । यदि ऐसा माना जाय कि संसारमें प्रवाहरूपसे संघात चले आ रहे हैं और उनके सहारे ही अविद्यादि रहते हैं, तो फिर यह प्रश्न होगा कि एक संघातसे जो दूसरा संघात उत्पन्न होता है, वह नियमतः उसके सदृश ही होता है, अथवा अनियमित विसदृश ?

यदि नियमतः सदृश होता है तो मनुष्य पुद्गल (मनुष्यपरमाणु) कभी देवयोनि या तिर्यग्योनि नहीं बन सकती, यदि नियम नहीं है तो मनुष्य-पुद्गल कभी क्षणमें हाथी बनकर क्षणमें सिंह और क्षणमें पुन. देवता एवं क्षणमें फिर मनुष्य बन सकता है, परंतु ऐसा नहीं होता—यह दोनों ही प्रकार लोकसिद्ध न्याय-विरुद्ध है ।

दूसरी बात यह है कि सुगत सिद्धान्तमें संघातका भोक्ता स्थिरजीव तो कोई होता नहीं, फिर तो भोग भोगके लिये, मोक्ष मोक्षके लिये ही होगा । किसी दूसरे पुरुषसे प्रार्थनीय पुरुषार्थ नहीं होगा । यदि भोग और मोक्ष दूसरेसे प्रार्थनीय माने जायँ तो भोग-मोक्षकालमें उनकी स्थिति रहनी चाहिये । फिर तो क्षणभङ्गवादका सिद्धान्त ही भङ्ग हो जायगा । अतः अविद्यामें भले ही परस्पर कार्य-कारणभाव हों, परंतु उनसे संघातसिद्धि नहीं हो सकती ।

सार यह है कि भले ही हेतूपनिबद्ध कार्य अन्यान्यपेक्ष केवल मुख्य हेतुके अधीन उत्पन्न होनेवाला होनेसे कथञ्चित् उत्पन्न हो जाय (यद्यपि चेतनाधिष्ठित ही बीजसे अङ्कुर उत्पन्न होता है जैसे कुलालाधिष्ठित मृत्तिकासे घट) फिर भी पञ्चस्कन्धसमुदाय तो प्रत्ययोपनिबद्ध है, वह एक हेतुमात्रके अधीन उत्पन्न नहीं होता है । किंतु उसमें नाना हेतुओंका समवधान अपेक्षित होता है । चेतनके बिना नाना हेतुओंका एकत्रीकरण नहीं हो सकता ।

बीजसे अङ्कुरोत्पत्ति भी धरणी अनिल जलादि सहकारी सापेक्ष होनेसे प्रत्ययोपनिबद्ध ही है, अतः वह पक्ष कुक्षिमें निक्षिप्त है । इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि चेतनानधिष्ठित बीजसे अङ्कुरोत्पत्तिके समान चेतनानधिष्ठित अचेतन अविद्या आदिसे उत्तरोत्तर कार्य उत्पन्न होंगे; क्योंकि बीजसे अङ्कुरोत्पत्ति भी पक्ष-कोटिमें ही है । वहाँ भी चेतनानधिष्ठितत्व सिषाधयिषित है, वह दृष्टान्त नहीं हो सकता ।

कुम्भकाराधिष्ठित मृत्तिकासे घटोत्पत्ति होती है यह दृष्टान्त निर्विवाद तथा वादि-प्रतिवादि उभयसम्मत है । परंतु चेतनानधिष्ठित बीजसे अङ्कुरकी उत्पत्ति तो विवादास्पद एवं संदिग्ध है । इसीलिये वह संदिग्ध साध्यवान् होनेसे पक्ष है, दृष्टान्त नहीं हो सकता ।

यदि पक्षको लेकर व्यभिचारका उद्भावन किया जाय तो अनुमान मात्रका उच्छेद हो जायगा । ऐसी स्थितिमें पर्वत पक्षमें ही धूमका वह्नि व्यभिचार

दिखाया जा सकता है। इस तरह अधिष्ठातारूप अर्थात् अनेक कारणोंके संनिधायक रूपसे एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन कारणका मानना बौद्धोंके लिये अनिवार्य होगा।

यद्यपि बौद्ध कहते हैं कि अनपेक्षित बीज एवं क्षित्यादि अन्त्यक्षणको प्राप्त होकर अङ्कुरका आरम्भ करते हैं। उपसर्पण प्रत्ययवशसे परस्पर समवधान होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि एक ही कारणसे कार्यसिद्धि हो सकती है। यदि एक कारणसे कार्यसिद्धि हो जाय तो अन्य कारणोंकी अपेक्षा ही क्या रह जायगी। अतः कारणचक्रके अनन्तर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। अतः एक कारण कार्योत्पत्तिका साधक नहीं।

जड़कारण स्वयं प्रेक्षावान् नहीं होते अतः वे यह नहीं सोच सकते कि हममेंसे एक भी कार्य सम्पन्न कर सकता है फिर हम सबके संनिधानसे क्या लाभ किंतु उपसर्पण प्रत्ययवशात् उनमें परस्पर सन्निधान उत्पन्न होता है। वे न तो असंनिहित रह सकते न अनुत्पादक रह सकते हैं। उन अनपेक्ष कारणोंको प्राप्त करके कार्य भी न उत्पन्न होनेमें असमर्थ ही रहता है। स्वमहिमासे सब कारण कार्योंका उत्पादन करते हुए भी नाना कार्योंका उत्पादन नहीं कर सकते। एक ही कार्यकी उत्पत्तिमें उनका सामर्थ्य होता है। बीजके द्वारा अङ्कुरजननमें ही मृत्तिका जलादिकी सहकारिता होती है। अतः उनके द्वारा भी उस अङ्कुरकी ही उत्पत्ति होती है। कारणभेदसे कार्यभेद आवश्यक नहीं, क्योंकि सामग्री एक होनेसे ही कार्य एक होता है।

परंतु बौद्धोंका यह कथन असंगत है; क्योंकि यदि अन्त्यक्षणप्राप्त कारण स्वयं कार्यजननमें अनपेक्ष ही रहते हैं, अर्थात् किसीकी अपेक्षा नहीं रखते हैं तो इसी क्रमसे पूर्व-पूर्वके कारण भी स्वकर्मजननमें अनपेक्ष ही रहेंगे।

कुसूलमें अङ्कुरजननोपयोगी बीजसंताननिर्वर्तक बीजक्षण और भक्षणादि उपयोगी बीजक्षण भी है। यद्यपि इस सम्बन्धमें यह विरोधी अनुमान नहीं किया जा सकता है कि कुसूलगत विगतबीजक्षण (अर्थात् अङ्कुरोपजननोपयोगी बीज-संताननिर्वर्तकबीजक्षण) अनपेक्ष होकर बीजक्षणका जनन नहीं करता। कुसूलस्थ होनेके कारण "जैसे तत्कालोद्धृतभक्षित बीजक्षण अनपेक्ष होकर बीजक्षण नहीं जनन करता है"। परंतु इस अनुमानमें अङ्कुरोपयोगि संतानानन्तःपातित्व उपाधि है। अनपेक्ष बीजक्षणाजनकत्वरूप साध्य तत्काल भक्षित बीजक्षणमें है। उसमें अङ्कुरोपयोगि सन्तानानन्तः पातित्व है, कुसूलस्थत्वरूप साधन अङ्कुरोपयोगि संतान निर्वर्तक बीजक्षणमें है। परंतु वहाँ उपाधि नहीं है, अपितु अङ्कुरोत्पादनोपयोगि संतानानन्तः पातित्व ही है।

अतः कुसूलस्थताकी समानता होनेपर भी जिस कुसूलस्थ बीजको स्वकार्यक्षण परम्परासे अङ्कुरोत्पत्ति समर्थ बीजक्षण जनन करता है, वह बीजक्षण स्वकार्यजननमें

अनपेक्ष ही रहेगा। फिर इसी तरह तदनन्तरानन्तरवर्ती सभी बीजक्षण अनपेक्ष ही रहेंगे फिर तो कुसूलनिहित बीजोंसे ही किसान कृतकार्य हो जायगा, पुनः दुःख बहुल कृषिकार्य करनेकी उसे क्या आवश्यकता ?

क्योंकि जिस बीजक्षणको स्वक्षण परम्परासे अङ्कुर उत्पन्न करता है उसकी क्षण-परम्परा अनपेक्ष कुसूलमें ही अङ्कुरादि सम्पादन कर देगी, जब यह सर्वथा निरपेक्ष है तो उसे देशकालकी अपेक्षा ही क्यों होगी ?

इसीलिये यह मानना आवश्यक है कि— अन्त्य मध्य या पूर्व क्षण स्वकार्य-जननमें परस्पर सापेक्ष ही रहते हैं। तदर्थ कारणोंका समवधान (एकत्रीकरण) आवश्यक है। वह प्रेक्षावान् चेतन ही हो सकता है।

बौद्ध कहता है कि अविद्यादिके द्वारा ही संघातका आक्षेप होगा। यहाँपर उससे प्रश्न होता है कि आक्षेपका क्या अर्थ है ? उत्पादन या ज्ञापन ! पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि कारण स्वयं अनुपपन्न होकर कार्यका उत्पादन नहीं कर सकता किंतु वह स्वसामर्थ्यसे ही कार्यका जनन करता है, अतः दूसरा ही पक्ष कहना पड़ेगा कि कारण संघातका आक्षेप करते हैं अर्थात् ज्ञापन करते हैं। तथा च ज्ञापित संघातका उत्पादक तो अन्य ही होना चाहिये। ज्ञापक ही उत्पादक नहीं होता।

यदि वैशेषिकोंके स्थिर पक्षमें स्थिर भोक्ता आत्माके रहनेपर भी अधिष्ठाता चेतनके बिना संघातोत्पादन नहीं हो सकता तो फिर क्षणिकवादमें संघात कैसे बन सकेगा ? भोक्ताका भोग भी कभी संघातका कल्पक हो सकता है, परंतु क्षणिक विज्ञान आदि तो भोक्ता भी नहीं हो सकते।

प्रत्ययोपनिवन्ध-पक्षमें अनेक कारण-उपकार्योपकारक भावसे अवस्थित होकर ही कार्यजनन करेंगे यह बौद्धोंको मानना पड़ेगा। परंतु क्षणिक पक्षमें उपकार्योप-कारकभाव हो ही नहीं सकता। कारण इस पक्षमें कोई स्थिर भाव मान्य नहीं है जो उपकारका आस्पद बने।

क्षण इतना सूक्ष्म एवं अभेद्य होता है कि क्षणिक-पदार्थमें उपकारकता या उपकार्यता कुछ बन ही नहीं सकती। यदि कालभेद मानकर उपकार्योपकारभावका उपपादन किया जाय तो अनेक कालावस्थायी होनेसे फिर वही क्षणभङ्गु-भङ्ग होगा।

बौद्ध कहते हैं कि यदि प्रत्ययोपनिबन्धन प्रतीत्य समुत्पाद माना जाय तो भले ही अधिष्ठाता चेतनकी अपेक्षा हो; परंतु हेतूपनिबन्धन प्रतीत्य समुत्पादमें तो अधिष्ठाताकी कोई आवश्यकता नहीं है तथा च अविद्यादि ही संघातके निमित्त होंगे। हेतुस्वभावसे ही कार्य-सम्पादन कर देंगे। परंतु उनका यह भी कथन विचार सह नहीं है, क्योंकि संघातके ही आधारपर सिद्ध होनेवाले अविद्यादि उसी संघातके निमित्त कैसे बन सकेंगे ?

इसके अतिरिक्त हेतूपनिबन्ध कार्यमें भी चेतनाधिष्ठित ही अचेतन कारण कार्योत्पादक होता है। यह घटोत्पत्तिके उदाहरणसे कहा जा चुका है।

बौद्ध कहता है कि प्रत्ययोपनिबन्ध पक्षमें अस्थिरके भाव सदा संहत ही उत्पन्न होते हैं, संहत ही नष्ट होते हैं यह नहीं कि वे इतस्ततः विखरे रहते हैं और किसीके द्वारा संहत किये जाते हैं। इस प्रकार समवघाटकचेतन अधिष्ठाताकी कोई आवश्यकता नहीं है। परंतु उसका यह भी कथन युक्तिसह नहीं है अतः यहाँ भी प्रश्न होता है कि—संघात संतानमें रहनेवाले धर्माधर्मरूपी संस्कार संतान सुख-दुःखको पैदा करते हुए किसी आगन्तुक हेतुकी अपेक्षा करके सुख-दुःख पैदा करेंगे या निरपेक्ष ही।

यदि आगन्तुक हेतुकी अपेक्षा बिना किये ही सुख-दुःख पैदा करें तो सदा ही उन्हें सुख-दुःख जनन करना चाहिये; क्योंकि जो समर्थ एवं निरपेक्ष है उसके कार्यजननमें विलम्ब क्यों होगा। यदि किसी आगन्तुक हेतुकी अपेक्षा करेगा, तब तो आगन्तुक हेतुका उपस्थापक कोई प्रज्ञावान् चेतन मानना आवश्यक हो जायगा। साथ ही यदि संघातके सदृश ही संघातान्तर उत्पन्न होंगे तो सदा ही मनुष्य-संघात मनुष्य-संघात ही होगा। फिर कर्मानुसार अनेक योनियोंमें जन्म लेनेकी बात खण्डित होगी।

यदि विसदृश संघातकी उत्पत्ति मान्य होगी तो क्षणमें हस्ती, क्षणमें अश्व होना चाहिये। इत्यादि दोष अनिवार्य होंगे। अविद्यादि उत्पत्तिके निमित्त भी नहीं बन सकते हैं। क्योंकि क्षणभङ्गुवादमें उत्तर क्षणके उत्पद्यमान होनेपर पूर्वक्षण नष्ट हो जाता है।

वैशेषिक तो विनाश कारणके संनिधानसे विनाश मानता है। इसके विपरीत बौद्ध अकारण ही विनाश मानता है। इस स्थितिमें—पूर्वोत्तर क्षणका कार्यभाव कारण कथमपि नहीं बन सकता; क्योंकि विरुध्यमान या विरुद्ध पूर्वक्षण स्वयं अभावग्रस्त होगा। अतः वह उत्तर क्षणका हेतु नहीं हो सकता। कार्योत्पादके प्राक्कालमें कारणकी सत्ता सार्थक होती है। कार्यकालमें कारणकी सत्ताका कोई उपयोग नहीं होता; क्योंकि कार्यकालमें तो कार्यनिष्पन्न ही होता है। भावभूत पूर्व क्षण उत्तर क्षण-का हेतु हो तब तो क्षणद्वयसम्बन्ध होनेसे क्षणिकता ही न रहेगी।

लोकमें कोई भी भाव सत्तावान् होकर पुनः व्यापृत होकर कार्य-सम्पादन करता है। इससे अनेक क्षण सम्बन्ध होनेसे स्थिरता ही सिद्ध होती है।

बौद्ध कहता है कि—भाव ही उसका व्यापार है, जैसा कि कहा है कि :—

'भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैष चोच्यते।'

अर्थात् पदार्थोंकी जो उत्पत्ति होती है वही उनकी क्रिया, कारक तथा कारण है। परंतु पदार्थोंमें इस प्रकारकी व्यापारवत्ता भले ही बन जाय तथापि वह कारण नहीं हो सकता; क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि मृत्तिकाकार्य घटादि मृत्तिकासे एवं सुवर्णका कार्य कटक-कुण्डलादि सुवर्णसे समन्वित होते हैं। यदि कार्यके समय

कारण न रहे तो कार्यमें मृत्तिका सुवर्णादिकी प्रतीति कैसे बन सकती है ? यदि कार्य-क्षणमें कारणकी सत्ता मानी जाती है तो भी क्षणिकत्वकी हानि होगी।

बौद्ध कहते हैं कि कार्यमें कारणका तादात्म्य नहीं होता किंतु सादृश्य होता है, परंतु कार्यमें जब कारणके किसी रूपका अनुगम हो तभी सादृश्य भी हो सकता है। यदि किसी अनुगमका रूप मान लिया जाय तब तो वही अनुगत रूप ही कारण है फिर तो उसके साथ कार्यका तादात्म्य (अभेद) मानना ही ठीक है। ऐसी स्थितिमें भी क्षणिकत्वकी हानि अपरिहार्य ही है।

यदि हेतुस्वभावका कार्यमें अनुगमन होनेपर भी कार्यकारणभाव स्वीकार किया जायगा, तब सर्वत्र कार्यकारणभाव ही प्रसक्त रहेगा फिर तन्तु-घटका भी कार्यक्षणभाव मानना पड़ेगा।

बौद्धोंके सिद्धान्तमें 'तद्भावे तद्भावः' आदि अन्वय-व्यतिरेकद्वारा कार्य-कारण भावका नियम, माना जाता है तथा च तन्तु-घटका कार्य-कारणभाव नहीं होगा, क्योंकि उनको अन्वय-व्यतिरेक नहीं है। किंतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक ग्रह एकक्षणमें नहीं हो सकता, उसके लिये वस्तुको अनेक क्षणस्थायी मानना पड़ेगा। यदि कार्य-कारण संतानों या सामान्योंका कार्य-कारणभाव माने और उन संतानोंको स्थायी माने तो यह भी ठीक नहीं। कारण-व्यक्तियोंमें ही कार्य-कारणभाव होता है, संतानों या सामान्योंमें नहीं। यदि उनमें भी कार्यकारणभाव माना जाय और उन कारणभूत संतानों या सामान्योंको स्थायी माना जाय तो भी क्षणिकत्वकी हानि हुई ही।

बौद्धोंसे यह भी प्रश्न होता है कि उत्पाद और विनाश वस्तुस्वरूप ही हैं या वस्तुके अस्वान्तर अथवा वस्तुसे भिन्न वस्त्वन्तर हैं ?

यदि वस्तुके स्वरूप ही हैं तो वस्तु और उत्पाद-विनाश परस्पर पर्याय हो जायँगे। यह लोकविरुद्ध है। उत्पाद-विनाश और वस्तुको कोई पर्यायवाचक नहीं मानता।

यदि कोई विशेषता वस्तुकी अपेक्षा उत्पादनिरोधमें है, तब तो कहना पड़ेगा कि मध्यवर्त्ति वस्तुकी उत्पाद और निरोध-आदिम एवं अन्तिम अवस्था है। तब फिर आद्य मध्य तथा अन्त्यक्षण सम्बन्धी होनेके कारण वस्तुमें स्थिरता हो जायगी फिर क्षणिकत्व समाप्त हो जायगा।

यदि उत्पाद-निरोध—अश्वमहिषके तुल्य वस्तुसे अत्यन्त भिन्न माने जायँ तो वस्तुके उत्पाद-विनाशसे रहित होनेके कारण उसकी शाश्वतता सिद्ध हो जायगी। यदि वस्तुका दर्शन उत्पाद एवं वस्तुका अदर्शन विरोध माना जाय तो भी दर्शना-दर्शन तो पुरुषके धर्म होंगे, वस्तुधर्म नहीं, इस प्रकार भी वस्तु तो शाश्वत ही ठहरेगी, इस प्रकार विवेचन करनेपर क्षणिकत्ववादमें अविद्यादि हेतूपनिबन्धदृष्टिसे भी उत्पत्ति निमित्त नहीं हो सकते।

यदि विना हेतुके ही कार्योत्पत्ति मानी जाय तो बौद्धकी प्रतिज्ञा-हानि होगी; क्योंकि—

'चतुर्विधान् हेतून् प्रतीत्यचित्तचैत्ता उत्पद्यन्ते' अर्थात् चतुर्विध हेतुओंको प्राप्त करके चित्त-चैत्त उत्पन्न होते हैं। नीलाभास चित्तमें नीलालम्बन-प्रत्ययसे नीलाकारता समनन्तर-प्रत्ययरूप पूर्व विज्ञानसे बोधरूपता, चक्षुरूप अधिपतिप्रत्ययसे रूपग्रहणका नियम और आलोकरूप सहकारी प्रत्ययसे स्पष्टार्थता होती है। चित्त-चैत्तोंकी उत्पत्तिमें इस प्रकार चतुर्विध हेतुओंकी प्राप्ति मानी जाती है। सुखादि चैत्तोंमें भी इसी प्रकारका कार्यकारणभाव माना जाना चाहिये। परंतु वहाँ विज्ञानसे अतिरिक्त दूसरे अन्य तीन कारणोंकी सिद्धि नहीं होती। यदि निर्हेतुक उत्पत्ति मानी जायगी तब तो कोई प्रतिबन्ध न होनेके कारण सभी वस्तु सर्वत्र उत्पन्न होती रहेगी।

बौद्ध यह भी कहते हैं कि उत्तरक्षणकी उत्पत्तितक पूर्वक्षण अवस्थित रहता है। पर ऐसा माननेसे हेतुफल दोनोंका यौगपद्य (समकालत्व) होगा। उत्पत्ति उत्पद्यमानसे अभिन्न होती है तथा च एक क्षण दूसरे क्षणतक रह गया फिर तो क्षणिक कैसे? ऐसी स्थितिमें सभी पदार्थ संस्कृत एवं क्षणिक हैं यह बौद्धोंकी प्रतिज्ञा भंग हो जायगी। बौद्ध यह भी कहते हैं कि प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश इन तीनोंसे अन्य जो कुछ भी है वह सब बुद्धि बौद्ध है, संस्कृत है, क्षणिक है। यह तीनों अवस्तु स्वभाव (निरूपाख्य) है। बुद्धिपूर्वक भावोंका विनाश प्रतिसंख्या-निरोध तद्विपरीत अप्रतिसंख्यानिरोध होता है। एवं आवरणभावमात्र आकाश है। आकाशपर विचार आगे किया जायगा। ये दोनों निरोध सर्वथा असम्भव हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि ये दोनों निरोध संतानके होंगे या भावरूप संतानीके?

पहला पक्ष ठीक नहीं। कारण, सभी संतानोंमें संतानियोंका अविच्छिन्न कार्यकारणभाव विद्यमान ही है फिर संतानविच्छेद कैसे होगा? दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं; क्योंकि किसी भी भावका निरन्वय नाश नहीं होता, सभी अवस्थाओंमें प्रत्यभिज्ञाबलसे अन्वयीकारणका अविच्छेद ही रहता है। घट, कपाल, कपालिका, चूर्ण, रज आदि सर्वत्र मूल कारण मृत्तिका अन्वित ही रहती है। जहाँ अन्वयीकी पहचान नहीं होती वहाँ भी अन्यत्रकी तरह अनुमान किया जा सकता है। अतः दोनों ही निरोध असम्भव है।

अभिप्राय यह है कि भावप्रतीपा 'बाधिका' बुद्धि प्रतिसंख्या कहलाती है, उसके द्वारा निरोध ही प्रतिसंख्यानिरोध है। सत्को असत् बनानेकी बुद्धि ही भावप्रतीप बुद्धि है। तत्कृतनिरोध प्रतिसंख्यानिरोध है। उससे भिन्न निरोधको अप्रतिसंख्यानिरोध कहते हैं। परंतु यहाँ विचार यह करना है कि यह निरोधसंतानका होगा या संतानीक्षणका। संताननिरोध तो हो नहीं सकता, क्योंकि हेतुफलभावसे व्यवथित

संतानी ही उपकव्यय धर्मवाले होते हैं संतान नहीं अतः उसका निरोध असम्भव है। अन्तिम संतानीके निरोधसे ही संताननिरोध हो सकता है । पर क्या वह अन्तिम संतानी किसी कार्यका आरम्भ करता है या नहीं । यदि आरम्भ करता है तो उसमें है । अन्तिमत्व ही कहाँ रहा ? तथा च संतान-विच्छेद भी नहीं हुआ, यदि वह कार्यका आरम्भक नहीं होता तब वह अन्त्य तो हो सकता है, परंतु वह तो अर्थ-क्रियाकारितारहित होनेसे असत् ही ठहरेगा। अर्थ-क्रियाकारिता ही बौद्धोंकी सत्ता है ।

इस तरह जब कार्यानारम्भक अन्त्यक्षण अर्थक्रियाशून्य होनेसे असत् है तब उसका जनक भी असत्का जनक होनेसे असत् ही होगा। इसी क्रमसे सभी संतानी और संतान असत् ही ठहरेंगे, ऐसी स्थितिमें प्रति संख्यासे किसका विनाश होगा ?

बौद्ध कहते हैं कि सजातीय संतानियोंका कार्यकारण-भाव ही संतान है, केवल कार्यकारण-भाव ही सन्तान नहीं तथाच विशुद्ध जातीयक्षण (यहाँ क्षय शब्दका क्षणवर्ती पदार्थरूप अर्थ विवक्षित है) की उत्पत्ति होनेपर सजातीय हेतुक्षणभाव की निवृत्ति हो जाती है । इस तरह सजातीय कार्यानारम्भक होनेसे संतानका अन्तिम क्षण अन्त्य भी है । विशुद्ध विजातीय क्षणका आरम्भक होने तथा अर्थक्रियाशून्य न होनेसे असत् भी नहीं हुआ । परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस तरह तो रूपविज्ञानके प्रवाहमें रसादिविज्ञानकी उत्पत्तिसे भी संतानोच्छेद समझा जायगा। कारण कि यहाँ भी विजातीय क्षणका आरम्भ हुआ है ।

यदि कहा जाय कि रूपविज्ञान रसविज्ञानका सजातीय ही है तो विजातीयोंमें भी कुछ-कुछ सारूप्य रहता ही है । अन्ततः सत्तारूपसे तो साजात्य रहेगा ही जिससे कहीं भी संतानोच्छेद सम्भव नहीं । संतानी ज्ञानोंका सादृश्यतुल्य जातीय विषयत्व ही है । विषयोंकी तुल्यजातीयता क्या रूपत्व आदि अपरजातिसे माना जाय ? या सत्ता सामान्यरूप परजातिसे माना जाय ? पहली बात ठीक नहीं; क्योंकि संतानके अनुवर्तमान रहनेपर भी रूपज्ञान संतानके विरत होनेके पश्चात् रसज्ञान उदित होगा, इसके बाद संतानोच्छेदका प्रसङ्ग होगा ।

यदि परजातिसे विषयोंकी तुल्यजातीयता मानें तो सोपप्लव संतानके उपरम होने तथा विशुद्ध संतानोदयमें भी संतानोच्छेद नहीं होगा; क्योंकि परजातीयसत्ता मात्रको लेकर सोपप्लव ज्ञान सन्तान और विशुद्ध ज्ञान सन्तानमें सादृश्य है ही । यदि कहा जाय कि विषय विशेषोपरागकृतसादृश्य नहीं विवक्षित है, अतः रूपज्ञानप्रवाहमें रसज्ञान उत्पत्ति मात्रसे संतानोच्छेदप्रसङ्ग न होगा सत्तासामान्यकृतसादृश्य भी नहीं विवक्षित है, अतः सोपप्लव चित्तसंतान उपरम होनेपर मुक्तिदशामें निरुपप्लव चित्तसंतानके उदय होनेपर पूर्वसंतानोच्छेदका भी प्रसङ्ग न होगा । किंतु यहाँ विषयोपप्लवकृत-

सादृश्य ही विवक्षित है, तथाच निरुपप्लवज्ञान संतानोदय होनेपर सजातीय कार्य कारणभावरूप संतानावच्छिन्न हो जाता है। फिर भी निरन्वय नाश कहीं भी सम्भव नहीं है, यह दोष यहाँ भी है ही।

क्षणिकवादमें पदार्थ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है फिर उसका प्रतिसंख्या निरोध क्या होगा ? उसमें पुरुष-प्रयत्नकी तो अपेक्षा ही नहीं है। पहले तो उत्पन्न होते ही सर्वपदार्थ ज्ञात नहीं हो जाते हैं। कितने ही पदार्थ तो जीवनभर अज्ञात ही रहते हैं। कितने ही अबतक भी जाने नहीं जा सके हैं। अस्तु,

उत्पन्न पदार्थका ज्ञान, फिर उसको नष्ट करनेकी बुद्धि, फिर इच्छा, फिर कृतिद्वारा विनाश आदि करनेमें अनेक क्षण आवश्यक होते हैं। तबतक क्षणिक पदार्थ नष्ट ही हो जायगा पुनः प्रतिसंख्या प्रतिरोध कैसे होगा । साथ ही निरन्वय नाश नहीं होता है। अवश्य ही उसमें कारणांश अन्वित रहता है। अतः निरुपाख्य निरोध नहीं हो सकता। नष्ट पदार्थ भी अन्वयीरूपसे उपाख्येय ही होता है। जो अन्वयीरूप होता है, उसका ही परमार्थ सद्भाव होता है। अवस्थाविशेष ही उत्पन्न-विनष्ट होनेवाली होती है। अवस्थाएँ सभी अनिर्वचनीय हैं; उनका स्वतः परमार्थ-सत्त्व ही नहीं होता। अन्वयीरूप ही उनका तत्त्व है; क्योंकि वही सर्वत्र प्रत्यभिज्ञात होता है और उसका विनाश नहीं होता। इस तरह अवस्थाओंके भी तत्त्वका अविनाश होनेसे अवस्थाओंका निरन्वय नाश नहीं होता; क्योंकि उनके तत्त्व अन्वयीका सर्वत्र ही अविच्छेद है। घट, कपाल, चूर्ण, रज, सबमें मृत्तिका ही अन्वयी है।

कहा जा सकता है कि 'मृत्पिण्डः, मृद्घटः, मृत्कपालः' आदिरूप पिण्डघटादि मृत्तिकाका अन्वय दृष्ट होता है, अतः घटादिमें मृत्तिकाका अन्वय भले ही माना जाय; किंतु तप्तपाषाणतलपर निपतित होकर नष्ट होनेवाले जलबिन्दुका तो कोई भी अन्वयीरूप उपलब्ध नहीं होता है, फिर उसका निरन्वय नाश माननेमें क्या आपत्ति है, परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि अस्पष्ट प्रत्यभिज्ञा वहाँ भी सम्भव है। अर्थात् वहाँ भी जलबिन्दु तेजके द्वारा बादल बनानेके लिये मार्तण्ड-मण्डलमें पहुँचा दिया जाता है। मृत्तिकादि अन्वयीका अविच्छेद देखकर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इसी तरह तप्त लौहपिण्ड या अग्निनिक्षिप्त जलबिन्दु भी तेजोभावापन्न होकर मेघादिभावको प्राप्त हो जाता है, इसके अतिरिक्त तोयत्व-जलत्व सामान्य तो बिन्दुके नष्ट होनेपर भी सिन्धुमें अन्वित रहता ही है फिर निरन्वय नाश कैसे कहा जा सकता है ?

अतएव वाचस्पति मिश्रका भामतीमें कहना है कि—

'उदविन्दौ च सिन्धौ च तोयभावो न भिद्यते।
विनष्टेऽपि ततो विन्दावस्ति तस्यान्वयोऽम्बुधौ ॥'

बौद्ध अविद्यादिनिरोधको प्रतिसंख्यानिरोध मानते हैं, इस सम्बन्धमें प्रश्न होता है कि यह निरोध साधनसहित सम्यग्ज्ञानसे होता है या स्वतः। यदि प्रथम पक्ष मान्य है तो निर्हेतुक विनाश स्वीकारका सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। यदि निरोध स्वतः मानें तो क्षणिक नैरात्म्यादि भावनादिरूप मार्गोपदेश, धर्मदर्शनादि प्रवर्तन, साधनाभ्यासादि व्यर्थ ही होंगे।

इसी तरह आकाशको भी निरुपाख्य नहीं कहा जा सकता। वेदादिशास्त्रोंसे आकाशकी उत्पत्ति और वस्तुत्व ज्ञात होता है। शब्दगुणके द्वारा उसका अनुमान भी हो सकता है। जैसे गन्धादिगुण पृथिवी आदिके आश्रित रहते हैं वैसे ही शब्द आकाशके।

'शब्द गुण है जातिमान् होकर स्पर्शरहित होकर बाह्य एक इन्द्रियसे ग्राह्य होनेके कारण गन्धके समान' इस अनुमानके आधारपर सिद्ध होता है कि शब्द गुण है। सामान्यविशेषतया समवायमें शब्दका अन्तर्भाव नहीं है, क्योंकि वे जातिहीन होते हैं। किंतु शब्दके शब्दत्व जाति होनेसे वह जातिमान् है। हेतुका वायुमें व्यभिचार नहीं है। वायु स्पर्शवान् है और यह स्पर्शरहित है। हेतुका दिक्काल आदिसे व्यभिचार नहीं है; क्योंकि वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। इन्द्रियग्राह्य द्रव्यमें व्यभिचार नहीं है क्योंकि हेतुमें एकेन्द्रियग्राह्यत्व विशेषण है, ऐसा हेतु शब्दमें ही है। इन्द्रियग्राह्य द्रव्यमें नहीं, गन्धत्वजातिमें भी व्यभिचार नहीं है; यतः यह जातिमान् है और गन्धत्वादि जातिहीन है।

गुणत्वसिद्धिके बाद यह भी विचार ठीक है कि शब्द किस द्रव्यका गुण है। वह आत्माका गुण नहीं हो सकता। कारण बाह्येन्द्रिय ग्राह्य है। आत्मगुण इच्छादि बाह्येन्द्रिय ग्राह्य नहीं होते। वह मनका भी गुण नहीं है; क्योंकि मनके भी गुण प्रत्यक्ष नहीं होते। यद्यपि वेदान्तमतमें सुखादि मनके ही गुण होते हैं तथापि वे साक्षिग्राह्य हैं इन्द्रियग्राह्य नहीं। शब्द पृथिव्यादिका भी गुण नहीं है। क्योंकि गन्धादिके साथ शब्दका नियत साहचर्य उपलब्ध नहीं होता।

गन्धादिके समान असाधारण इन्द्रियग्राह्य शब्दगुण जिस द्रव्यके आश्रित है वह पञ्चमभूत आकाश ही मान्य होना चाहिये।

बौद्ध कहते हैं कि आवरणभाव आकाश है। परंतु उनका यह कथन ठीक नहीं। एक पक्षीके भी उड़ते समय आवरण हो ही जायगा फिर उड़नेकी इच्छा रखनेवाले दूसरे पक्षीको अवकाश नहीं होना चाहिये। यदि कहा जाय कि जहाँ आवरण नहीं होगा वहाँ दूसरा पक्षी उड़ेगा? तो यह भी ठीक नहीं, यतः आवरणाभावको जिससे विशेषित किया जायगा वह वस्तुभूत ही रहेगा। अतः आवरणभावमात्र आवश्यक नहीं।

सार यह है कि निषेध्यके निषेधाधिकरणका निरूपण किये बिना निषेधका

निरूपण हो ही नहीं सकता। इसलिये आवरणाभावाधिकरण वस्तु ही आकाश है। साथ ही आकाश वस्तु नहीं है, यह सिद्धान्त बौद्धके स्वसिद्धान्तके विरुद्ध है। 'पृथिवी भगवः किं संनिःश्रया' वे इस प्रकारके प्रश्न प्रतिवचन-प्रवाहमें 'वायुः किं संनिःश्रयः' इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है 'वायुराकाशसन्निश्रयः ।' अर्थात् वायुका क्या आश्रय है इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि वायुका आकाश आश्रय है। इस प्रकार आकाशको अवस्तु मानना अभ्युपगमविरुद्ध होगा।

इसके साथ ही बौद्ध कहते हैं (अपि च निरोधद्वयमाकाशं च त्रयमप्येतन्निरुपाख्यमवस्तु नित्यं च) अर्थात् दोनों निरोध और आकाश यह तीनों निरुपाख्य अवस्तु एवं नित्य है। यह बात परस्परविरुद्ध है। जो अवस्तु है उसमें नित्यता या अनित्यता कुछ भी नहीं हो सकती। नित्यत्वादि धर्म वस्तुके आश्रित होते हैं। जहाँ धर्म-धर्मिभाव होता है, वहाँ निरुपाख्यता हो ही नहीं सकती।

बौद्ध सब वस्तुको क्षणिक मानता हुआ उपलब्धाको भी क्षणिक ही मानता है। परंतु यदि उपलब्धा भी क्षणिक हो तो अनुभवसे उत्पन्न होनेवाली स्मृति कैसे बन सकेगी; क्योंकि वह तो तभी बन सकती है जब कि उपलब्धि और स्मृतिका कर्ता एक ही हो। अतएव पुरुषान्तरसे अनुभूत विषयमें पुरुषान्तरको स्मृति नहीं होती है। अनुभव करनेवालेको ही अनुभूतकी स्मृति होती है।

जबतक पूर्वोत्तरदर्शी एक आधार न हो तबतक 'मैंने उसको देखा, अब इसे देख रहा हूँ, यह व्यवहार नहीं बन सकता। कथञ्चित् समान-संततिमें कार्य-कारणभावसे स्मृति बन भी जाय तो भी यह प्रत्यभिज्ञा तो उपलब्धाके अस्थिर होनेपर बन ही नहीं सकती। दर्शन-स्मरणके एक कर्ता होनेपर ही प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यय होता है 'उसे देखा, इसे देख रहा हूँ, यदि यहाँ दर्शन-स्मरणका कर्ता भिन्न-भिन्न हों तो 'देखा अन्यने और स्मरण मैं कर रहा हूँ' ऐसा प्रत्यय होना चाहिये, परंतु ऐसा अनुभव किसीको भी नहीं होता। जहाँ ऐसा प्रत्यय होता है वहाँ कर्ता अवश्य ही भिन्न-भिन्न होते हैं। मैं स्मरण कर रहा हूँ, अमुकने देखा है'। 'अहं स्मरामि, असावद्राक्षीत् ।'

बौद्ध भी दर्शन-स्मरणका एक ही कर्ता समझता है। परंतु जैसे अग्निको अनुष्ण और अप्रकाश नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार दर्शन-स्मरण-कर्ता आत्माको भिन्न नहीं कहा जा सकता। जब उपलब्धामें भिन्नकारणके दर्शन-स्मरणका सम्बन्ध हुआ तो सुतरां क्षणिकत्वकी हानि अपरिहार्य हो जाती है। जन्मसे मरणतककी उत्तरोत्तर प्रतिपत्तियोंकी एककर्तृकता देखता हुआ भी वैनाशिक आत्माको किस प्रकार क्षणिक कह सकता है?

यदि कहा जाय कि सादृश्यके कारण उपलब्धामें एकताकी प्रतीति होती है, तो यह भी ठीक नहीं, कारण 'तेनेदं सदृशम्' 'उसके यह तुल्य है' इस प्रकारकी

सादृश्यबुद्धि तभी हो सकती है जब भिन्नकालवर्ती दो वस्तुका ग्राहक एक हो, यदि पूर्वोत्तर क्षण और सादृश्यका ग्राहक एक स्थिर आत्मा है तो एककी अनेक-क्षणवर्तिता सिद्ध हो गयी फिर क्षणिकत्व-प्रतिज्ञा भङ्ग ही हो गयी।

बौद्ध कहता है कि 'तेनेदं सदृशम्' यह स्वतन्त्र ही एक विकल्प-प्रत्यय है। विकल्प स्वाकारको ही बाह्यरूपसे निश्चित करता है, वह तत्त्वतः पूर्वापरक्षण तथा उसके सादृश्यका ग्रहण नहीं करता। अतः पूर्वोत्तरक्षणग्रहणनिमित्तक 'तेनेदं सदृशम्' यह प्रत्यय नहीं है। इस प्रत्ययसे स्थिर आत्मा नहीं सिद्ध होता, परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि 'तेन, इदं' इन दोनों पदोंका उपादान होनेके कारण इसे पूर्वोत्तर क्षणग्रहणनिरपेक्ष प्रत्यय नहीं कहा जा सकता। सादृश्य-ज्ञान स्वतन्त्र-ज्ञान होता तो 'सदृशम्' इस ढंगसे उल्लेख होना चाहिये था। 'तेन इदं सदृशम्' इस प्रकारका उल्लेख तथा वाक्यका प्रयोग नहीं होना चाहिये।

यदि बौद्ध नानापदार्थ सम्पृक्त वाक्यार्थबोधक 'तेनेदं सदृशम्' इस विकल्पकी प्रथा या प्रतीति मानता है, तो फिर कैसे कह सकता है कि उसमें 'तेनेदं सदृशम्' ये नाना पदार्थ नहीं भासित होते हैं। ऐसा कहना तो अपने संवेदनके ही विरुद्ध है। इसके सिवा यदि उसके यह सदृश है, यह एक विकल्प ज्ञान हो तो इसमें 'तेन इदम्' इत्यादि नाना आकार नहीं हो सकते थे। क्योंकि एकका नानात्व व्याहत होता है। जब ज्ञानसे अतिरिक्त आकार नहीं है तो आकार-नानात्व-ज्ञान नानात्व ही ठहरेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि जितने आकार हैं उतने ही ज्ञान हैं; क्योंकि तब तो प्रत्येक आकारमें ज्ञानकी समाप्ति होगी और वे सभी परस्पर वार्तान-भिज्ञ होंगे, फिर नाना', यह व्यवहार भी न होगा; क्योंकि जब एक ज्ञानसे नाना पदार्थोंकी प्रतीति होती है, तभी नाना यह उल्लेख होता है। इसीलिये ज्ञानसे भिन्न अर्थ मानना चाहिये। तथा च 'तेन इदं' इत्यादि नाना आकारवाले ज्ञानकी उपपत्ति स्थायी एक आत्मा माननेसे ही सम्भव है।

बौद्ध कहता है कि ज्ञानमें अर्थाकार कल्पित है, अर्थ बाह्य नहीं है और प्रतीतिमात्र भी नहीं है, तथा च उसी कल्पित आकारभेदसे व्यवहार भी उपपन्न होगा। पर यहाँ यह प्रश्न होगा कि वह कल्पित अर्थ ज्ञानसे अभिन्न हैं या भिन्न।

तीसरा पक्ष अनिर्वाच्यताका है वह बौद्धको मान्य ही नहीं। यदि भिन्न है तो जैसे ज्ञानसे भिन्न दूसरा ज्ञान अकल्पित होता है, वैसे ही ज्ञानसे भिन्न अर्थाकार भी अकल्पित ही होगा। यदि आकारोंका ज्ञानसे अभेद माना जाय तो उसके समान ही ('तेन इदम्' इत्यादि पदार्थोंका भी परस्पर अभेद ही हो जायगा। क्योंकि ज्ञानसे अभिन्न सभी आकारोंका परस्पर भी अभेद ही होता है, तथा च इतरेतररूपसे प्रसिद्ध पदार्थोंका और ज्ञानसे ज्ञेयके प्रसिद्ध भेदका भी अपलाप हो जायगा। यदि लोकप्रसिद्ध पदार्थोंको परीक्षक स्वीकार न करेंगे तो स्वपक्ष-साधन परपक्ष-दूषणके

निरूपण करनेपर भी वे किसीकी बुद्धिमें आरूढ़ न होंगे। अतः जो लोकसिद्ध हो वही कहना चाहिये। अन्यथा कथन अनर्गल प्रलाप ही समझा जायगा।

एक ही अधिकरणमें परस्पर विरुद्ध दो प्रकारके धर्मोंका अभ्युपगम करनेसे ही विवाद होता है। तभी कोई स्वपक्षका साधन तथा अन्य पक्षको दूषित करता है। यदि विकल्पोंके विषय लोकप्रसिद्ध बाह्य पदार्थ न हों तो यह सब नहीं बन सकता। यदि विकल्पमें भासित होनेवाले नित्यत्व-अनित्यत्वादि ज्ञानाकार ही हैं और ज्ञान भी 'इदं नित्यम्, इदमनित्यम्' इस प्रकारसे दो हैं तो एक आश्रय न होनेसे विवाद ही न उठेगा। आत्मा नित्य है और बुद्धि अनित्य, इस तरह कहनेवालोंमें कभी कोई विवाद ही नहीं होता। यदि कोई अनित्य शब्दका लोकप्रसिद्ध अर्थ छोड़कर विभु अर्थ माने विभुत्व अर्थमें ही अनित्य शब्दका प्रयोग आत्मामें करे और अन्य कोई लौकिकार्थ नित्यशब्दका आत्मामें प्रयोग करे तो उनका आपसमें विवाद नहीं हो सकता है। अतः जिसे परपक्ष खण्डन एवं स्वपक्षकी स्थापना करनी है उसे विकल्पोंका लोकप्रसिद्ध अर्थ एवं बाह्य आलम्बन मानना चाहिये।

यह प्रासङ्गिक विज्ञानवाद खण्डन आ गया है परंतु वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक बाह्यार्थ मानते हैं।

उनके अनुसार यद्यपि बाह्यार्थ क्षणिक एवं निर्विकल्पज्ञानमें भासित होता है, सविकल्पक प्रत्यय तो विकल्परूप है। वही सादृश्यादिरूपसे भासित होता है, अतः बाह्यार्थवादमें विप्रतिपत्ति आदि व्यवहार बन जायगा। तथा च विकल्पोंके विषय ग्राह्य एवं अवसेयरूपसे दो प्रकारके होते हैं। ज्ञानका स्वाकार तो ग्राह्य होता है और बाह्यविषय अवसेय होते हैं। उसी अवसेयरूप विषयको लेकर पक्ष-प्रतिपक्ष-परिग्रह आदि सम्पन्न हो जायँगे। तथापि यह पक्ष भी ठीक नहीं है? क्योंकि यहाँ भी विचारणीय यह है कि विकल्प विषयकी अवसेयता क्या है। यदि ग्राह्यता ही है तो विषयकी द्विविधता नहीं हुई। यदि वह अन्य है तो क्या है?

यदि कहा जाय कि ज्ञानमें उसका स्वाकार ही प्रतिभासित होता है तथापि उसी बाह्यार्थरहित भासमान ज्ञानमें बाह्यार्थ अध्यवसायसे बाह्यार्थ घटादिमें प्रवृत्ति होती है, अतः भासमान ज्ञानमें बाह्यार्थका आरोप ही विषयकी अवसेयता है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ भी विचारणीय है कि विकल्पाकारका अर्थाध्यवसाय क्या है अर्थात् आन्तर अनभिधेय ज्ञानाकारका तद्विपरीत बाह्याकाररूपसे अध्यवसाय क्या है? तद्रूपसे निष्पादन है या सम्बन्ध या उसके आकारसे आरोपण। पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि अन्यका अन्यरूपसे निष्पादन असम्भव है। हजारों शिल्पी भी मिलकर घटको पट नहीं बना सकते, फिर आन्तर ज्ञानाकारका बाह्यरूपमें सम्पादन कैसे होगा। निष्पादनके समान ही आन्तरका बाह्यसे सम्बन्ध या संयोजन भी नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो भी तो बाह्य अर्थ

है इस व्यवहारके विपरीत बाह्य आन्तरसे जुड़ा है यह व्यवहार होना चाहिये। आरोपपक्षमें भी यह विचारणीय है कि गृह्यमाण बाह्यमें आन्तर ज्ञानाकारका आरोप है या अगृह्यमाणमें। यदि गृह्यमाणमें तो भी क्या विकल्पात्मक ज्ञानसे गृह्यमाणमेंया उसी समय उत्पन्न अविकल्पक ज्ञानसे गृह्यमाणमें? यहाँ भी यह प्रश्न उठता है कि उसमें भी गृह्यमाण बाह्य क्या है स्वलक्षण है या सामान्यरूप है?

विकल्प-प्रत्ययसे स्वलक्षण (जात्यादिरहित स्वरूपमात्र) ग्राह्य होता है, यह इसलिये ठीक नहीं कि विकल्प-प्रत्यय तो अभिलापसंसर्ग योग्यको ही विषय करता है जिसके साथ शब्दका शक्तिग्रह हो ही नहीं सकता, ऐसे देशकालाननुगत स्वलक्षणको वह विषय नहीं कर सकता। इसीलिये कहा गया है कि—

अशक्यसमयो ह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक्।
तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी॥

अर्थात् विकल्प-प्रत्यय शब्द संसर्ग ग्रह योग्य जाति विशिष्ट वस्तुको ही विषय करता है। क्योंकि शब्दका शक्तिग्रह सामान्यके ही साथ सम्भव है; स्वलक्षणके साथ नहीं, क्योंकि देशकालाननुगत होनेसे स्वलक्षण अनन्त होता है। अतः उसमें सङ्गतिग्रह सम्भव नहीं। सुखादि क्षणिक भावोंका स्वरूप अननुगत होनेके कारण सङ्गतिग्रहके अयोग्य है। अर्थात् उसमें शब्दका शक्तिग्रह नहीं हो सकता। अतः उनकी असाधारणाकार विषया स्वसंवित्ति अभिजल्पानुषङ्गिणी नहीं होती, किंतु निर्विकल्पक ही होती है।

पहले कही हुई रीतिसे जैसे सविकल्प प्रत्ययसे स्वलक्षण-बाह्य नहीं गृहीत हो सकता, वैसे ही सामान्यात्मक बाह्य भी नहीं गृहीत हो सकता। क्योंकि व्यक्ति-ग्रह बिना जातिरूप-सामान्यका ग्रहण सम्भव है। यदि विकल्पसे अगृहीत तत्समय समुद्भूत निर्विकल्प प्रत्ययसे गृह्यमाण बाह्य पदार्थमें विकल्प-प्रत्यय स्वाकार आरोपित करेगा ऐसा कहें तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जैसे रजतज्ञानमें भासित होनेवाले पुरोवर्तीमें रजत-ज्ञान रजतका आरोप नहीं कर सकता, किंतु 'इदं रजतम्' इस रूपसे रजतज्ञानमें भासित पुरोवर्तीमें ही रजतका आरोप करता है उसी तरह निर्विकल्प प्रत्यय भासित होनेपर भी बाह्य पदार्थ यदि विकल्प-प्रत्ययमें भासित नहीं होता तो उसमें वह स्वाकारका आरोप नहीं कर सकता। अर्थात् विकल्पसे अगृहीत एवं विकल्प समयोद्भूत अविकल्पसे गृहीत बाह्यमें विकल्प साकारका आरोप नहीं कर सकता। यदि बाह्य गृह्यमाण नहीं है तो अधिष्ठानके ग्रहण बिना आरोप्यमात्र प्रतीत हो सकता है किंतु आरोप नहीं हो सकता। इस तरह अधिष्ठानका प्रतिभास असम्भव होनेसे बाह्यमें ज्ञानस्वरूपका आरोप नहीं हो सकता है। इसी तरह आरोप्यका स्फुरण भी असम्भव होनेसे आरोप नहीं बन सकेगा।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि क्या यह विकल्प जब स्वसंवेदन सत्-विकल्पको बाह्यरूपसे आरोपण करता है तब पहले वस्तु सत्-स्वाकारको ग्रहण करके पश्चात्

आरोप करता है; अथवा जिस समय स्वाकार ग्रहण करता है, उसी समय आरोपण भी करता है ?

बौद्धमतमें ज्ञान क्षणिक है, क्रमरहित है फिर उसमें क्रमवर्ती ग्रहण और आरोपण कैसे सम्भव हो सकता है ? इसलिये दूसरा पक्ष ही सम्भव है कि जिस समय ही अर्थशून्य आकारका ग्रहण करता है उसी समय स्वसंवेदन-स्वाकारको बाह्य अर्थरूपमें आरोपण करता है, परंतु यह भी असंगत है; क्योंकि विकल्पका अपना स्वाकार स्वसंवेदन प्रत्यक्ष होनेसे अत्यन्त विशद है, बाह्य अर्थ आरोप्यमाण होनेसे अविशद है। अतः आरोप्य बाह्यको विशद स्वाकारसे भिन्न ही होना चाहिये। अतः विकल्पका स्वाकार ही बाह्यरूपमें आरोपित है यह पक्ष नहीं बन सकता, अर्थात् जब समकालमें ही स्वाकारग्रहण एवं बाह्यत्वेन आरोपण माना जाय तो सोचना होगा कि यहाँ आरोप क्या है। स्वाकार और बाह्यका ऐक्यस्फुरण ही आरोप है अथवा—अख्यातिमतके समान विवेकाग्रहमात्र आरोप है। पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि स्वाकार-स्वप्रकाश बाह्यपर प्रकाश है। अतः उनका भेदावभास स्फुट है फिर ऐक्यस्फुरण किस तरह सम्भव है। अतः बाह्यको ज्ञानाकारसे भिन्न ही होना चाहिये। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं; भेदाग्रहमात्रको भी समारोप नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वैशद्य अवैशद्यरूपसे उनका भेद स्पष्ट ही है।

यदि कहा जाय कि बाह्य अगृह्यमाण है तो भी गृह्यमाण आन्तर स्वलक्षणसे उसका भेद अगृहीत है, इसीलिये बाह्यमें प्रवृत्ति होती है। फिर तो यह भी कहा जा सकता है कि त्रैलोक्यसे ही ज्ञानके स्वाकारका भेदाग्रहण होनेसे जहाँ कहीं भी प्रवृत्ति हो जायगी। इस तरह परमार्थ ज्ञानाकारका बाह्य वस्तुरूपसे आरोप असम्भव ही है। इसी तरह वासनापरिप्रापित-कल्पित ज्ञानाकारका बाह्यरूपमें आरोप होता है यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह भी स्वप्रकाशज्ञानरूप है। अतः उसका भी बाह्यसे भेद प्रसिद्ध ही है।

इस तरह आन्तर एवं बाह्य स्थिर पदार्थोंको विना स्वीकार किये कोई भी व्यवहार नहीं बन सकता। फलतः सादृश्यमूलक भी प्रत्यभिज्ञा आदि व्यवहार नहीं बन सकते। क्योंकि उनमें 'तेनेदं सदृशम्' सादृश्यका ऐसा आकार होता है और 'तदेवेदं' यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञाका व्यवहार होता है। यद्यपि यहाँ कहा जाता है कि जैसे दीपज्वाला या नदी प्रवाह आदिमें सादृश्यबुद्धि न होनेपर भी सादृश्यके कारण ही 'सैवेयं धारा, सैवेयं ज्वाला' यह वही धारा है यह वही ज्वाला है इत्यादिरूपसे प्रत्यभिज्ञा (पहचान) होती है। वैसे ही विज्ञानधारामें भी सादृश्यके कारण ही 'सोऽहम्' इत्यादिरूपसे प्रत्यभिज्ञा बन जायगी। परंतु यह ठीक नहीं, कारण, कदाचित् बाह्य वस्तुमें विनम्रके कारण यह उसके सदृश अन्य है या वही है इस प्रकारका संदेह हो भी जाय, परंतु स्वप्रकाश-संवेदनरूप आत्मामें 'मैं वही हूँ या

तत्सदृश अन्य हूँ' इस प्रकारका संशय सर्वथा असम्भव है। जिसे मैंने कल देखा था वही मैं आज स्मरण कर रहा हूँ यहाँ निश्चित ही आत्माकी एकता प्रत्यभिज्ञात होती है। जो अपनेको पहचाननेके लिये अपने आपको विशिष्ट प्रकारके चिह्नसे अङ्कित करता है जनसाधारण भी उसकी बुद्धिपर तरस खाते हैं।

बौद्ध स्थिर-अन्वित कारण नहीं मानते सुतरां उनके यहाँ अभावसे ही भावोत्पत्तिका प्रसङ्ग आ जाता है। क्षणिक कारणवादी बौद्धसे यह प्रश्न होता है कि वह कारण सापेक्ष है या निरपेक्ष ? पहले पक्षकी असङ्गति पीछे कही जा चुकी, दूसरा पक्ष भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि निरपेक्ष क्षणिक बीजादिसे यदि अङ्कुरादि उत्पन्न हो तब तो किसान आदिका प्रयत्न व्यर्थ ही होगा।

क्षणिक कारणोंमें उपकार भी सम्भव नहीं होता। निरपेक्षताका निषेध होनेसे सापेक्षता ही आयगी। क्योंकि कोई प्रकारान्तरसम्भव नहीं। अस्थिर भावसे भावकी उत्पत्ति हो नहीं सकती, इसलिये क्षणवादमें अर्थतः—अभावसे ही भावकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग होता है। बौद्ध स्पष्टरूपसे अभावसे भावकी उत्पत्ति सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं। 'नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्' बीजका उपमर्द (विनाश) हुए बिना अङ्कुरकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती। किंतु विनष्ट बीजसे ही अङ्कुरकी उत्पत्ति होती है। विनष्ट क्षीरसे दधि एवं विनष्ट मृत्पिण्डसे घटादिकी उत्पत्ति होती है। यदि कूटस्थ स्थिर कारणसे कार्यकी उत्पत्ति हो तो, अविशेषात् सभीसे सबकी उत्पत्ति होनी चाहिये। अतः अभावसे ही भावकी उत्पत्ति होती है इस पक्षका खण्डन करते हुए भगवान् व्यासने कहा है 'नासतोऽदृष्टत्वात्' अर्थात् अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति हो तो अभावत्वाविशेषात् कारणविशेषसे कार्यविशेषकी उत्पत्तिका सिद्धान्त व्यर्थ होगा। उपमृदित बीजोंके अभावमें और शशविषाणादिमें यदि निःस्वभावता समान ही है तो भेद क्या है ? फिर क्या कारण है कि बीजसे ही अङ्कुर उत्पन्न हो, क्षीरसे ही दधि हो। यदि निर्विशेष अभावसे कार्य उत्पन्न होता तो शशविषाण आदिसे भी अङ्कुरादिकी उत्पत्ति होनी चाहिये। पर ऐसा देखा नहीं जाता। यदि कमलादिमें नीलत्वादिके तुल्य अभावमें कोई विशेष माना जाय तो कमलादिके ही तुल्य अभाव भी भाव ही ठहरेगा। इस प्रकार अभाव किसी भावकी उत्पत्तिका कारण नहीं सिद्ध होता।

बौद्धोंके अभावकारणवादका सार यह है कि यदि कूटस्थ कारणका कार्योत्पादन स्वभाव है तब तो जितना कार्य करता है उसे सहसा एक क्षणमें ही सब कार्य उत्पन्न कर देना चाहिये। क्योंकि समर्थकालक्षेप नहीं कर सकता है। यदि कहा जाय कि समर्थ भी क्रमयुक्त सहकारियोंकी अपेक्षासे ही क्रमेण कार्य उत्पन्न करता है तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ प्रश्न होगा कि क्या सहकारीमूलकारणमें

किसी उपकारका आधान करते हैं या नहीं । यदि नहीं तो अनुपकारक सहकारियों-की अपेक्षा ही क्यों होगी । यदि आधान करते हैं तो वह उपकार मूल कारणोंसे भिन्न होता है या अभिन्न ?

यदि अभिन्न तो यह सिद्ध हुआ कि सहकारियोंद्वारा अहित उपकार मूल-कारणसे अभिन्न है, अर्थात् मूलकारणरूप ही है । इस तरह सहकारियोंद्वारा उत्पन्न उपकारस्वरूप मूलकारण तटस्थ कैसे रह सकता है । उच्छूनता या उपमर्द आदि ही सहकारियोंद्वारा किया उपकार है । यदि सहकारिकृत उपकार कारणसे भिन्न है तो यह भी मानना पड़ेगा कि उपकारके होनेपर कार्य होता है उसके न होनेपर कार्य नहीं होता । भले ही कूटस्थ विद्यमान रहे तब तो उपकार ही कार्यकारी सिद्ध होता है । कूटस्थ कारण कार्यकारी सिद्ध नहीं होता इसीलिये कहा गया है कि—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्येव तयोः फलम् ।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलम् ॥

अर्थात् वर्षा एवं आतपका प्रभाव चर्ममें होता है आकाशमें नहीं । यदि कारण चर्मके तुल्य है तो उसे विकारी और अनित्य मानना ही पड़ेगा । यदि आकाशके तुल्य है तब कार्यकारी ही नहीं होगा । यदि अकिञ्चित्कर कूटस्थ कारणसे कार्य उत्पन्न हो तब तो सभीसे सबकी उत्पत्ति होनी चाहिये । परंतु बौद्धका यह कथन बिना विचारे ही अच्छा जँचता है, विचार करनेपर सर्वथा निःसार है । अभावसे भावोत्पत्तिके सम्बन्धमें दूषण कहे जा चुके हैं । वस्तुतः स्थिर कारण ही सहकारीके समवधानसे क्रमेण कार्यकारी होता है । स्थिरमें ही उपकार हो सकता है । क्षणिकमें न उपकार ही होता न उसका ज्ञान ही हो सकता है ।

यदि क्षणिक पदार्थोंमें उपकार्योपकार्य भाव माना जाय तो प्रश्न होगा कि वह क्षणिक पदार्थ अन्यकृत उपकारका आश्रय होता है या नहीं ? पहला पक्ष असम्भव है क्योंकि जो वस्तु पहले अनुपकृत होकर पीछे उपकारसे सम्बन्धित हो वही उपकृतरूपसे जानी जा सकती है । उपकृत पदार्थ एवं उसका ज्ञाता दोनों ही स्थायी हों तभी वस्तुमें उपकृतत्व एवं ज्ञाताको उसका ज्ञान हो सकता है । यदि प्रथम अनुपकृतत्वका ज्ञान न हो तो उपकार वस्तुका स्वाभाविक धर्म समझा जा सकता है । सहकारियोंद्वारा कारणमें उपकार होता है, किंतु वह उपकार मूलकारणसे न भिन्न होता है न अभिन्न, किंतु अनिर्वाच्य होता है । इसीलिये उससे उत्पन्न कार्य भी अनिर्वाच्य ही होता है । इसीलिये अनिर्वाच्य मायोपहित कूटस्थ ब्रह्म विश्वका कारण माना जाता है ।

घट मृत्तिकासे भिन्न नहीं है, क्योंकि अन्वयव्यतिरेकसे मृत्तिकासे भिन्न घटका उपलम्भ नहीं होता । अभिन्न भी नहीं है क्योंकि मृत्तिकासे जलानयनादि कार्य

नहीं होता, घटसे ही होता है, अतः वह अनिर्वाच्य ही है। फिर भी स्थिरको अकारण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनिर्वचनीय शक्ति विशिष्ट मृत्तिकादि उपादान रूपसे स्थिर ही कारण होता है। उसीसे अनिर्वचनीय कार्य उत्पन्न होता है। इसीलिये श्रुति भी कारणको ही सत्य और कार्यको मिथ्या कहती है (वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्) जैसे रज्जु सर्पभ्रममें स्थिर रज्जु उपादान है, वैसे ही स्थिर कारण ही कार्यका उपादान होता है। जो लोग सर्वतो विलक्षण स्वलक्षणको ही सत् मानते हैं उनके यहाँ यह विचारणीय है कि क्यों बीज जातियोंसे अङ्कुर जातियोंकी ही उत्पत्ति होती है। क्रमेलक (उष्ट्र) जातियोंकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती? जैसे बीजसे बीजान्तर विलक्षण है, वैसे ही क्रमेलक (उष्ट्र) भी विलक्षण है, विलक्षणतामें कोई भेद नहीं है। बीजत्व, अङ्कुरत्व, सामान्य जाति भी परमार्थ सत् नहीं है। इसीलिये इनका कार्यकारणभाव भी परमार्थ नहीं है। अतएव काल्पनिक स्वलक्षण बीजजातीय उपादानसे काल्पनिक ही अङ्कुरजातीय कार्यकी उत्पत्तिका नियम है यह मानना पड़ेगा।

बौद्धसे यहाँ प्रश्न हो सकता है कि व्यक्तियोंका ही कार्य-कारणभाव होता है या सामान्य (जाति) का भी अथवा सामान्योपहित व्यक्तियोंका? यदि व्यक्तियोंका कार्य-कारणभाव हो तो व्यक्ति अनन्त होते हैं सबका ज्ञान असम्भव है। उनमें कार्य-कारणभावकी व्याप्ति गृहीत नहीं हो सकती। फिर कार्यहेतुक अनुमान ही लुप्त हो जायगा। क्योंकि अनुमान सदा ही सामान्योपाधिमें प्रवृत्त होता है। यदि सामान्योंका ही कार्य-कारणभाव मानें तो भी प्रश्न होगा कि बीजत्व, अङ्कुरत्व आदि सामान्य वस्तु सत् हैं कि असत्? पहला पक्ष बौद्धको मान्य नहीं है साथ ही वस्तुओंका कार्य-कारणभाव भी विरुद्ध है। क्योंकि बौद्ध अर्थक्रियाकारिताको ही सत्य मानता है फिर जो कारण है वह असत् कैसा?

यदि अवस्तुभूत सामान्यसे उपहित सत् स्वलक्षण वस्तुका कार्य-कारणभाव माना जाय तो जैसे काल्पनिक बीजत्व सामान्योपहित स्वलक्षण बीजसे अङ्कुरत्व जातीयकी उत्पत्ति मानी जा सकती है उसी तरह अनिर्वचनीय शक्ति उपहित कूटस्थ कारणसे अनिर्वचनीय कार्यकी उत्पत्ति होनेमें कोई भी आपत्ति नहीं हो सकती।

इसी तरह काल्पनिक उपकारसे काल्पनिक कार्यकी उत्पत्ति वेदान्त सिद्धान्तमें उपपन्न होती है। यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति मानी जाय तो सभी कार्योंको अभावान्वित होना चाहिये। परंतु ऐसा देखा नहीं जाता। सभी कार्य अपने भावरूपसे अन्वित ही देखे जाते हैं। मृत्तिकासे अन्वित घटादिभाव मृत्तिकाके ही विकार माने जाते हैं तन्तुविकार नहीं। उसी प्रकार भावान्वित विकारोंको भी अभावका विकार नहीं माना जा सकता। यह कहना सङ्गत नहीं है कि स्वरूपो-

पमर्द बिना किसी कार्यकी उत्पत्ति ही नहीं होती । अतः कूटस्थ किसी कार्यका कारण नहीं हो सकता । इसलिये अभावसे भावकी उत्पत्तिका सिद्धान्त ही ठीक है क्योंकि स्थिर स्वभाववाले एकरूपसे प्रत्यभिज्ञात सुवर्णादि ही कटकादिके कारण देखे जाते हैं । उपमर्द तो पूर्व अवस्थाका होता है । उपमृदित पूर्वावस्था उत्तरावस्थाका कारण नहीं है । किंतु अनुपमृदित अन्वयी बीजावयव ही अङ्कुरादिके कारण होते हैं । कारणमें युगपत् अनेक अवस्था नहीं रह सकती । इसीलिये अङ्कुरावस्थाको लानेके लिये बीजावस्थाको हटना पड़ता है । घटावस्था लानेमें पिण्डावस्थाको भी हटना पड़ता है । अतएव बीजावस्था या पिण्डावस्था अङ्कुरादिके कारण नहीं है । किंतु बीजादिके अवयव ही कारण हैं । अतएव उन्हींका कार्यमें अन्वय है अवस्थाका अन्वय नहीं । शशविषाणादि असत्से उत्पत्ति नहीं होती । सुवर्णादि सत्से ही उत्पत्ति होती देखी जाती है अतः अभावसे भावोत्पत्तिका सिद्धान्त सर्वथा असङ्गत है ।

यदि अभावसे भावकी उत्पत्ति हो तो प्रयत्नहीन लोगोंकी भी अभीष्ट-सिद्धिमें कठिनाई नहीं होनी चाहिये । क्योंकि अभावरूपी साधन तो सबको सुलभ है । कृषकको बिना प्रयत्न ही व्रीहि-यवादिकी प्राप्ति होनी चाहिये । कुलालको भी प्रयत्न बिना ही घटादिकी निष्पत्ति होनी चाहिये । तन्तुवायके प्रयत्न बिना ही वस्त्रकी प्राप्ति होनी चाहिये । शिल्पियोंके प्रयत्न बिना ही विविध प्रकारके यन्त्रोंका निर्माण हो जाना चाहिये । स्वर्ग-अपवर्गके लिये भी किसीको कोई चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिये । पर यह सब सङ्गत नहीं ।

विज्ञानवादी योगाचारका कहना है कि बाह्यार्थवादमें बुद्धका तात्पर्य नहीं था । कुछ शिष्योंका बाह्यार्थमें अभिनिवेश देखकर ही उन्होंने पञ्चस्कन्धका निरूपण किया है । वस्तुतः विज्ञानमात्र एक ही स्कन्ध बुद्धको अभीष्ट था । कहा जा सकता है कि प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति—ये चार प्रकारके तत्त्व होते हैं । इनमेंसे एकके अभावमें भी तत्त्वका व्यवस्थापन नहीं बन सकता । अतः विज्ञानमात्रको तत्त्वसिद्ध करनेके लिये प्रमात्रादितत्त्व चतुष्टय मानना ही पड़ेगा । फिर जब चार वस्तुएँ माननी ही पड़ीं तो विज्ञानमात्र वस्तु है यह कैसे कहा जा सकता है । परंतु विज्ञानवादीका कथन है कि यद्यपि विज्ञानरूप अनुभवसे भिन्न अनुभाव्य, अनुभविता एवं अनुभवन कुछ भी नहीं है । तथापि बुद्धिकल्पितरूपसे विज्ञानमें प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति आदिका व्यवहार बन जाता है । असत्य आकारयुक्त विज्ञानका स्वरूप प्रमेय है । प्रमेय प्रकाशन प्रमाण फल है । प्रकाशन शक्ति ही प्रमाण है ।

बाह्यार्थवादमें भी बुद्ध्यारोहके बिना प्रमाणादि व्यवहार नहीं बन सकता । यदि प्रमाण और फलके भिन्न अधिकरण हों तो प्रमाण फलभाव हो ही नहीं सकता ।

इसीलिये खदिर गोचर परशु व्यापार होनेसे भी पलाशमें द्वैधीभाव (टुकड़ा) नहीं होता जिसमें व्यापार होता है उसीमें फल होता है। उसी तरह प्रमाण (करण) और प्रमिति फल दोनोंका एक ही अधिकरण होनेपर ही करण फलभाव हो सकता है। यद्यपि परशु स्वावयवोंमें समवेत है और द्वैधीभाव खदिरमें समवेत है तथापि व्यापाराविष्ट करणीभूत परशु-संयोग सम्बन्धसे खदिरमें रहता है और द्वैधीभाव भी खदिरमें है ही। इस तरह करणफलका एकाधिकरण्य सामानाधिकरण्य ही है, इसी तरह एक ज्ञानमें ही प्रमाणफलभाव मानना ठीक है।

अब यहाँ विचार करना होगा कि ज्ञानमें प्रमाण और फल कैसे सम्भव होंगे। जैसे कुण्डमें बदर (बेर) की अवस्थिति होती है, उसी तरह क्या ज्ञानमें प्रमाण और फलका अवस्थान हो सकता है ? कहना होगा कि ज्ञान असंयोगी वस्तु है, अतः उसमें संयोग-सम्बन्धसे प्रमाण और फल नहीं रह सकते, किंतु तादात्म्य या अभेद सम्बन्धसे ही ज्ञानमें उनकी स्थिति कहनी पड़ेगी। यदि वस्तुतः प्रमाण और फल ज्ञानसे भिन्न हों तो उनका ज्ञानके साथ एकता या तादात्म्य असम्भव ही है। अतः ज्ञानमें ही कल्पित प्रमाण फलभाव मानना ठीक है। यदि प्रमाण और फल दोनों ही ज्ञानके अंश हों तभी प्रमाण और फल ज्ञानस्थ हो सकते हैं। परंतु ज्ञान स्वलक्षण (सर्वविशेषरहित) अनंश होता है, अतः उसमें वस्तु सत्प्रमाण और फल नहीं रह सकते, वही ज्ञान अज्ञान व्यावृत्ति या अज्ञानापोहरूपसे फल है वही अशक्ति व्यावृत्तिरूप आत्मस्वरूप अनात्म बाह्यार्थ प्रकाश शक्तिरूपसे प्रमाण है। ज्ञानका ही बाह्याकार बाह्य घटादि पदार्थ है। वैभाषिकोंके यहाँ बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष होता है और सौत्रान्तिकोंके यहाँ ज्ञानगत आकारके वैचित्र्यसे बाह्यार्थका अनुमान होता है। ज्ञानमें जो बाह्य नीलादि सारूप्य भासमान होता है वह अनीलाकारका अपोहरूप ही है, वही बाह्यार्थका व्यवस्थापन करता है जैसे कि प्रतिबिम्ब बिम्बका व्यवस्थापन करता है। इस दृष्टिसे ज्ञान ही बाह्यार्थ व्यवस्थापक होनेके कारण प्रमाण है। अज्ञान (अर्थात् ज्ञानभिन्न अन्य) की व्यावृत्तिरूपसे ज्ञानत्व सामान्य ही प्रमाण फल है क्योंकि वह व्यवस्थाप्य है।

इस मतमें भी प्रमेय परमार्थतः भिन्न है यही बात सौत्रान्तिकके यहाँ प्रसिद्ध है— 'नहि वित्तिसत्तैव तद्वेदनायुक्ता, तस्याः सर्वत्राविशेषात्। तान् तु सारूप्यमाविशत्, स्वरूपं यद्‌घटयेत्'। अर्थात् ज्ञानकी सत्ता ही अर्थकी वेदना नहीं हो सकती क्योंकि वित्ति (ज्ञान) सत्ता तो सभी अर्थोंमें समान है। ज्ञानमात्र सर्व ज्ञेय साधारण है, अतः उस वित्तिमें प्रविष्ट होकर स्वसारूप्यघटित करनेवाला अर्थात् ज्ञानको स्वाकारसे आकारित करनेवाला बाह्यार्थ होना चाहिये। वही अपने रूपसे वित्तिको सरूप बनाता हुआ वित्तिको सविषय बनाता है। परंतु विज्ञानवादके अनुसार वस्तुतः सर्व व्यवहार पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञानमें ही हो सकता है, ज्ञानभिन्न बाह्यार्थ नहीं हो

सकता। क्योंकि बाह्यार्थ असम्भव है। यहाँ यह विचारणीय है कि क्या बाह्यार्थ घटादि परमाणुरूप ही हैं या परमाणुसमूह ? परमाणुघटादि प्रत्ययके आलम्बन नहीं हो सकते; क्योंकि व्यवहारमें एक और स्थूल घटाद्याकाराभास ज्ञान होता है परम सूक्ष्म परमाण्वाभास ज्ञान नहीं होता। अन्याभास ज्ञान अन्यको विषय नहीं कर सकता। अतः एक घटाद्याभास ज्ञान अनेक परम सूक्ष्म परमाणुओंको विषय नहीं कर सकता। यदि ऐसा नहीं माने तो घटाभास ज्ञानके सर्वगोचर होनेसे सर्वज्ञतापत्ति हो जायेगी। इसलिये एक-एक परमाणु घटादि प्रत्ययका परिच्छेद्य नहीं हो सकता है। परमाणु समूह भी घटादिप्रत्यय परिच्छेद्य नहीं वन सकते, क्योंकि समूहका समूहियोंसे भिन्न या अभिन्नरूपसे निरूपण नहीं हो सकता। अभिन्न कहें तो पूर्वोक्त दोष ही होगा भिन्न कहें तो समूहियोंके पृथक् हो जानेपर भी उसकी सत्ता रहनी चाहिये, भिन्न होनेपर भी दोनों किसी सम्बन्धसे सम्बन्धित हैं या नहीं ? यदि हैं तो कौन सम्बन्ध है समवाय सम्बन्ध कहें तो वह समवायियोंसे सम्बन्धित हैं या नहीं ? यदि नहीं तो वह स्वयं असंबद्ध दूसरोंको कैसे सम्बन्धित करेगा। यदि स्वयं सम्बन्धान्तरसे सम्बन्धित है तो वह सम्बन्ध सम्बन्धान्तर सापेक्ष होगा इस तरह अनवस्था प्रसङ्ग होगा।

यह भी विचारणीय है कि घटादिगत स्थूलत्वादि प्रतिभासमान ज्ञानका धर्म है अथवा प्रतिभासकालमें प्रतिभासित अर्थका। यदि पहली बात मान्य है तो ज्ञान-स्वांशका ही अवलम्बन करता है। अतः ज्ञानभिन्न अर्थ नहीं है यह पक्ष स्वीकृत हो गया, यदि कहा जाय कि रूपपरमाणु ही निरन्तर (मिलकर) एक विज्ञानके विषय होकर स्थूलरूपसे भासित होते हैं ऐसा माननेमें भ्रान्तिको भी कोई स्थान नहीं। वे परमाणु नहीं हैं यह तो नहीं कहा जा सकता। इसी तरह वे सम्मिलित नहीं हैं यह भी नहीं कहा जा सकता। एक विज्ञानोपारोही (एक विज्ञानके विषय) नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता, अतः भले ही नीलत्वादिके तुल्य स्थूलत्व परमाणु-का धर्म न हो क्योंकि नीलत्वादिकी तरह वह प्रत्येक परमाणुमें नहीं है परंतु प्रतिभासदशापन्न परमाणुओंका स्थूलत्वादि बहुत्वादिके समान सांवृतिक (मायिक) धर्म हो सकता है।

ग्रहेऽनेकस्य चैकेन किञ्चिद्रूपं हि गृह्यते।
साम्प्रतं प्रतिभासस्थं तदेकात्मन्यसंभवात् ॥ १ ॥
न च तद्दर्शनं भ्रान्तं नानावस्तुग्रहाद्यतः।
सांवृतं ग्रहणं नान्यत् न च वस्तुग्रहो भ्रमः ॥ २ ॥

अर्थात् एक ज्ञानसे अनेक परमाणुओंका ग्रहण होनेपर सांवृत स्थूलरूप भासित होता है। विशकलित परमाणुतत्त्वको स्थूल बुद्धि ढक देती है इसीलिये वह सांवृति है, एक-एक परमाणुओंमें स्थूल बुद्धि असम्भव है, इस तरह स्थूल दर्शनको भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि नाना वस्तु परमाणु उसके विषयमें हैं ही। जो

भिन्न बुद्धिसे गृहीत होते हैं वे ही मिलित होकर एक बुद्धि गृहीत होकर स्थूलत्वा-कारसे प्रतिभासित होते हैं।

विज्ञानवादी बाह्यार्थवादीके इस पक्षका भी खण्डन करता है और कहता है कि परमाणुओंमें नैरन्तर्यकी प्रतीति भ्रान्ति ही है क्योंकि रूप परमाणु गन्ध, रस, स्पर्श, परमाणुओंसे व्यवहित ही हैं अव्यवहित (निरन्तर) नहीं, जैसे दूरसे देखने-पर व्यवधानयुक्त अनेक वृक्षोंमें भी एक सघन वन प्रत्यय होता है। उसी तरह सान्तर व्यवहित परमाणुओंमें स्थूल प्रत्यय भ्रान्ति ही है। इस घटादि प्रत्यय 'पीतः शंखः' इस ज्ञानके तुल्य भ्रान्ति ही है अतः परमाणु घटादि प्रत्ययके विषय नहीं हो सकते।

कुछ लोगोंका कहना है कि स्थूल प्रत्यय स्वलक्षण विषयक है अतः निर्विकल्पक प्रत्यय होनेसे भ्रान्त नहीं है।

सविकल्प प्रत्यय अवस्तुभूत सामान्यविषयक होनेसे भ्रान्त होता है। परंतु यह ठीक नहीं क्योंकि यद्यपि 'स्थूलम्' यह ज्ञान व्यक्ति ज्ञान है व्यक्तिमें सम्बन्ध ग्राह्य होनेसे वह शब्द वाच्य भी नहीं है तो भी पूर्वोक्त युक्तिसे स्थूल प्रत्यय भ्रान्त है। अतः वह प्रत्यय नहीं 'कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्' यही प्रत्यक्षका लक्षण है अभिलापादि कल्पनारहित कल्पना पाठ_ होनेपर भी वह अभ्रान्त नहीं है। इस तरह यदि परमाणुसमूह घटादि परमाणुओंसे अभिन्न है तो परमाणु स्वरूप ही होनेसे वे घटाद्याभास प्रत्ययके गोचर नहीं हो सकते। यदि भेद है तो गवाश्वादिके समान अत्यन्त विलक्षण होनेसे उनमें तादात्म्य नहीं बन सकता। समवायसम्बन्ध भी निराकृत ही है। इसी तरह जाति-गुण-कर्मादिका भी प्रत्याख्यान क्रिया जा सकता है। जो-जो प्रतिभासित होता है वह-वह विचारा सह है। अप्रतिभासमानके सद्भावमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः कोई भी प्रत्यय वाह्यालम्बन नहीं होते हैं।

विज्ञानवादीका यह भी कहना है कि यह नहीं कहा जा सकता कि विज्ञान इन्द्रियकी तरह स्वयं विलीन (अज्ञात) रहकर ही अर्थका प्रकाशन करेगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि जैसे इन्द्रिय अर्थ विषयक ज्ञान उत्पन्न करती है वैसे ही ज्ञान भी किसी अन्य ज्ञानको उत्पन्न करेगा क्योंकि इस तरह समान होनेसे वह ज्ञान भी ज्ञानान्तर जनन करेगा तो अनवस्था प्रसङ्ग होगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान अर्थमें प्राकट्य लक्षण फलका आधान करेगा, क्योंकि अतीत अनागत विषयोंमें अविद्यमानताके कारण प्राकट्स्वरूप फलका आधान हो ही नहीं सकता, इसलिये यह मानना चाहिये कि ज्ञानस्वरूपकी प्रत्यक्षता ही अर्थकी प्रत्यक्षता है वह ज्ञान अनाकार होनेसे स्वभावतः भेदरहित है फिर उसके द्वारा अर्थभेद व्यवस्था कैसे हो सकती है ? अतः अर्थभेद व्यवस्थाके लिये ज्ञानमें आकारभेद भी स्वीकार करना आवश्यक है। पीछे कहा जा चुका है कि 'वित्तिसत्ता ही अर्थवेदन नहीं हो

सकती इत्यादि, परंतु आकार एक ही अनुभूत होता है। यदि यह विज्ञानका आकार है तो अर्थ सद्भावमें कोई प्रमाण नहीं सिद्ध होता।

एक रूपसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानोंमेंसे घटज्ञान, पटज्ञान आदि रूपसे प्रति-विषयोंमें पक्षपात प्रतीत होता है, वह ज्ञानगत विशेषके बिना उपपन्न नहीं हो सकता; अतः ज्ञानमें विषय-सारूप्य मानना चाहिये। यदि ज्ञानमें विषयसारूप्य मान लिया गया तो ज्ञानकी विषयाकारता ज्ञानसे ही अवरुद्ध है फिर बाह्यार्थ सद्भावकी कल्पना व्यर्थ ही है। इसी तरह सहोपलम्भ नियमसे भी विषय और ज्ञानका अभेद मालूम पड़ता है, इनमेंसे एकके उपलम्भ हुए बिना दूसरेका उपलम्भ नहीं होता।

यदि ज्ञान और अर्थका स्वाभाविक भेद हो तो यह नियम नहीं बन सकता घट-पट आदि भिन्न हैं तो उनमें सहोपालम्भका नियम नहीं होता है। मृत्तिका और घटमें सहोपालम्भका नियम होता है अतः मृत्तिकासे भिन्न घटकी सत्ता नहीं होती। यही स्थिति ज्ञान और ज्ञेयके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। जिसका जिसके साथ नियमेन सहोपालम्भ होता है वह उससे भिन्न नहीं होता। जैसे एक चन्द्रसे भ्रान्ति सिद्ध द्वितीय चन्द्रका भेद नहीं होता उसी तरह ज्ञानके साथ अर्थका सहोपालम्भ नियत है।

भिन्न-भिन्न घट-पटको एवं दो अश्विनीकुमारोंका भी ऐसा सहोपालम्भ नियम नहीं होता, अपितु पृथक् भी उनका उपालम्भ होता है। बादलसे एकके ढके रहनेपर भी दूसरा दीखता है। इस तरह भेद व्यापक अनियमके विरुद्ध सहोपालम्भ नियम तद् व्याप्यभेदको निवृत्त कर देता है, यही विज्ञानवादियोंका सिद्धान्त निम्नकारिकासे व्यक्त होता है।

सहोपालम्भनियमाद्भेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥

अर्थात् सहोपालम्भके नियमसे नीलज्ञेय और नीलज्ञानका अभेद ही है। भ्रान्तिके कारण भेद उसी तरह प्रतीत होता है जैसे अद्वितीय चन्द्रमें चन्द्रका भेद प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न, माया, रज्जु, सर्प तथा गन्धर्व नगरादि प्रत्यय बाधार्थके बिना ही ग्राह्य-ग्राह्याकार होते हैं, वैसे ही जागरितकालके घटादि-प्रत्यय भी बाह्यार्थ बिना ही ग्राह्य-ग्राह्यकाकार होते हैं। क्योंकि सभीमें प्रत्ययत्व समान है। अर्थात् जो-जो प्रत्यय है वह सभी बाह्यार्थशून्य है। किसीका भी बाह्यार्थ आलम्बन (विषय) नहीं होता है।

प्रत्ययत्व स्वभाव ही इसमें हेतु है। जैसे शिंशपात्व निम्बत्वादिमात्रानुबन्धिनी वृक्षता होती है, उसी प्रकार प्रत्ययत्वमात्रानुबन्धिनी बाह्यानालम्बनता रहती है। जैसे शिंशपात्व निम्बत्वादि जहाँ हैं वहाँ वृक्षता होती ही है, उसी तरह प्रत्ययत्व जहाँ है वहाँ निरालम्बनता है ही। इसी तरह प्रत्ययत्व हेतुसे ही स्वप्नादि प्रत्ययोंके समान ही घटादि प्रत्ययकी निरालम्बनता सिद्ध होती है।

इस सम्बन्धमें सौत्रान्तिक कहता है कि बाह्यार्थ न रहनेसे घटादि प्रत्ययोंमें विचित्रता किसी तरह उपपन्न नहीं हो सकती है, अतः बाह्यार्थका स्वीकार करना आवश्यक है। इस विषयमें निम्न अनुमान किया जा सकता है जिसके रहनेपर भी जो कादाचित्क होते हैं वे तद्भिन्न हेतुकी अपेक्षा रखते हैं जैसे मुझमें आलय-विज्ञान जिगमिषा (गमनेच्छा) विवक्षा (भाषणेच्छा) न रहनेपर भी जब वचन, गमन प्रतिभास प्रत्यय होता है तो उन्हें मेरेसे भिन्न पुरुषान्तर संतान-सापेक्ष मानना पड़ता है। इसी तरह 'अहं अहम्' इस रूपसे उदीयमान आलय विज्ञानसे जायमान शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और सुखादि प्रत्यय कादाचित्क होते हैं, ये छहों अर्थ प्रकृतिके हेतु होनेसे प्रवृत्ति विज्ञान कहे जाते हैं। ये आलय विज्ञानके रहनेपर भी कभी ही होते हैं, अतः ये भी ज्ञानातिरिक्त हेतुसे उत्पन्न होने चाहिये। जो आलय-विज्ञान संतानातिरिक्तका कादाचित्क प्रवृत्ति विज्ञान विशेषका हेतु है वही बाह्यार्थ है। यहाँ विज्ञानवादी कहता है कि वासनापरिपाक प्रत्ययमें कादाचित्क होनेसे प्रवृत्ति-विज्ञानका बाह्यार्थ-निरपेक्ष ही कादाचित्क उत्पाद बन जायगा। क्योंकि विज्ञानवादके अनुसार एक संतानवर्ती आलय-विज्ञानोंकी प्रवृत्ति विज्ञान जनन-शक्ति ही वासना है, उस शक्तिका स्वकार्य जननाभिमुखता ही परिपाक है। स्वसंतानवर्ती पूर्व क्षण ही उस परिपाकका प्रत्यय हेतु है। अर्थात् प्रवृत्ति-विज्ञानजनक आलय-विज्ञानसे पूर्व उसी आलय-विज्ञान संतानमें जब कभी उत्पन्न नीलादि प्रत्यय ही वासना परिपाकका हेतु (प्रत्यय) है।

विज्ञानवादीके अनुसार स्वसंतानपतित नील प्रत्ययक्षण ही उत्तरवर्ती वासना परिपाकका हेतु माना जाता है। सर्वज्ञादि संतानवर्ती क्षण वासना परिपाकका कारण नहीं होता इस पर सौत्रान्तिकका कहना है कि प्रवृत्ति विज्ञानजनक आत्मा-विज्ञानवर्ति-वासना परिपाकके प्रति आलय-विज्ञान संतानवर्ती सभी क्षणोंको हेतु कहना चाहिये अन्यथा किसी भी क्षणको हेतु नहीं कहा जा सकता; क्योंकि सभी क्षण संतानान्तःपाती हैं फिर क्या कारण है कि कोई क्षण वासना परिपाकका हेतु बने और कोई न बने। यहाँ विज्ञानवादी कहता है कि क्षणभेदसे शक्तिमें भेद होता है। इस प्रकार आलय-विज्ञान संतानवर्ती क्षणोंमें भेद है तथा प्रति-क्षणोंमें शक्ति भेद भी है। वह शक्तिविशेष कादाचित्क ही होता है। उस शक्त एक क्षणके अनन्तर उसका कार्य आलय-विज्ञान क्षणवर्तिवासना परिपाक भी कादाचित्क होगा। पुनश्च तज्जनित प्रवृत्ति विज्ञान भी कादाचित्क होगा। विज्ञानवादीके इस पक्षका खण्डन करता हुआ सौत्रान्तिक कहता है कि फिर तो आलय-विज्ञान संतानसे एक ही आलय-विज्ञानमें नीलादि प्रवृत्ति विज्ञानजनकता होगी, और उसमें प्राक्तन-आलय विज्ञानवर्ती एक नीलादि विज्ञान क्षणमें वासना परिपाक हेतुता होगी। उस तरह एक संतानमें एक ही आलय-विज्ञान प्रवृत्ति-विज्ञानजनन समर्थ होगा और उससे प्राक्तन-

आलय-विज्ञानवर्ती नील विज्ञान क्षण ही वासना परिपाकका हेतु होगा। इस तरह एक आलय संतानमें दो ही क्षण कारण होंगे और कोई भी क्षण कारण नहीं होगा, परंतु होता है इसके विपरीत। अनेकों बार नील विज्ञान होते ही हैं। यदि तदितर पूर्व ज्ञानोंमें परिपाक हेतुता हो और उत्तरोत्तर आलय विज्ञानोंमें प्रवृत्ति विज्ञान जनकता हो तो यह कैसे कहा जा सकता है कि क्षण भेदसे शक्तिभेद मान्य है। ऐसी स्थितिमें यदि विज्ञानवादी आलयविज्ञान संतानवर्ती सभी क्षणोंका प्रवृत्ति विज्ञान जनन समर्थ तथा सभी तत्संतानवर्ती प्राक्तन नीलादि ज्ञान क्षणोंको वासना परिपाकका हेतु मानता है तो समर्थमें कालक्षेप होता नहीं। अतः सदा ही नीलज्ञान होते रहना चाहिये साथ नीलज्ञानको कादाचित्क न होना चाहिये।

इस प्रकार विचार करनेपर स्वसंतान मात्राधीन होनेपर कादाचित्कत्वके विरुद्ध सदा तत्त्वकी प्राप्ति होती है। उससे नीलज्ञानका कादाचित्कत्व निवृत्त होगा, परंतु यह उपलब्धि विरुद्ध है। नीलज्ञानमें कादाचित्कत्व उपलब्ध होता ही है। इसीलिये आलय विज्ञानसे अन्य बाह्यार्थ सापेक्ष होनेपर भी नीलज्ञानका कादाचित्कत्व बन सकता है और तब जिसके रहनेपर भी जो कादाचित्क होते हैं वे तदतिरिक्त सापेक्ष होते हैं। इस प्रकार सौत्रान्तिकके द्वारा कथित व्याप्य व्यापकका व्याप्ति सम्बन्ध सिद्ध होता है।

यदि कहा जाय कि नीलविज्ञान हेत्वन्तर अपेक्षा रख सकता है, पर वह हेत्वन्तर अन्य आश्रय-विज्ञान संतान ही हो सकता है बाह्यार्थ नहीं, परंतु यह ठीक नहीं, कारण कि विज्ञानवादी प्रवृत्ति विज्ञानोंको संतानान्तर निबन्धन नहीं मानते। जिस समय चैत्रसंतानमें गमन, वचन प्रतिभासप्रत्यय विच्छिन्न होते हैं उस समय मैत्र संतानमें रहनेवाले वचन, गमन प्रतिभास निमित्तक ही चैत्रमें गमनवचनादि गोचर प्रवृत्ति विज्ञान उत्पन्न होते हैं किंतु विवक्षु, जिगमिषु चैत्रमें होनेवाले गमन-वचन प्रतिभास चैत्र संतान हेतुक ही होते हैं। स्वसंतान हेतुक प्रवृत्ति विज्ञान माननेपर पूर्वोक्तरीतिसे नीलादिज्ञानका कादाचित्क नहीं बन सकता। अतः नीलादि-ज्ञानको बाह्यार्थ सापेक्ष मानना ही ठीक है।

यदि प्रवृत्तिज्ञानको अन्यसंतान निमित्तक माना जाय तो भी वह सत्त्वान्तर संतान भी तो सदा सन्निहित ही रहता है। अतः प्रवृत्तिविज्ञानोंका कादाचित्कत्व बन नहीं सकता। क्योंकि चैत्रसंतानसे मैत्रसंतानका देश तथा कालद्वारा विप्रकर्ष (दूरी) सम्भव नहीं है। इसमें यह कारण है कि विज्ञानवादीको विज्ञानसे भिन्न देशकालादि अमान्य ही होते हैं।

अमूर्त होनेसे विज्ञानोंको अदेशात्मक माना जाता है अतः देशकृत विप्रकर्ष नहीं हो सकता। इसी तरह विज्ञान संतानोंका कालकृत विप्रकर्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि सादिता दोष प्रसक्तिके डरसे विज्ञानवादी नवीन सत्त्वों (विज्ञानसंतानरूप

आत्मा) का आविर्भाव नहीं मानते हैं। जब देशकृत या कालकृत विप्रकर्ष सम्भव ही नहीं तो संतानान्तर सन्निधान भी सर्वदा रहेगा ही, फिर प्रवृत्ति विज्ञानको सदा ही उत्पन्न होते रहना चाहिये किंतु प्रवृत्ति विज्ञानकी कादाचित्कता ही प्रत्यक्ष है, अतः बाह्यार्थ मानना अत्यावश्यक है उसके बिना कादाचित्क प्रवृत्तिविज्ञान नहीं बन सकता।

सौत्रान्तिकके इस मतका खण्डन करता हुआ विज्ञानवादी कहता है कि वासना वैचित्र्यसे प्रत्यय वैचित्र्य उत्पन्न हो ही सकता है। उसका अभिप्राय यह है कि स्वसंतानसे ही प्रवृत्तिविज्ञानोंकी उत्पत्ति मानी जाय तो भी उसके कादाचित्कत्वकी उपपत्ति हो जायगी। अतः सौत्रान्तिकके बाह्यार्थ साधक हेतुकी विपक्ष व्यावृत्ति संदिग्ध हैं जिससे वह अनैकान्तिक है। नीलादि ज्ञानको बाह्यनिमित्तक मान भी लें तो भी क्यों कभी नीलज्ञान कभी पीतज्ञान होता है यदि बाह्यनील पीतके संनिधान-असंनिधानसे यह व्यवस्था कही जाय तो भी प्रश्न होगा कि पीत संनिधानमें भी नीलज्ञान क्यों नहीं होता, पीत ही ज्ञान क्यों होता है। यदि कहें कि पीतमें नीलज्ञानजननकी सामर्थ्य नहीं है तो भी प्रश्न होगा कि यह सामर्थ्य-असामर्थ्यका भेद कैसे होता है। यदि हेतुभेदसे कहा जाय तो इसी तरह क्षणों (क्षणिक आलय विज्ञानों) में भी स्वकारण भेदके कारण शक्ति भेद हो ही सकता है संतानीक्षण ही कार्य भेदके हेतु होंगे, वे प्रति कार्य भिन्न ही होते हैं। संतान नामकी कोई एक वस्तु क्षणोंकी उत्पादिका नहीं होती जिसके अभेदसे क्षण भेदमें बाधा पड़ सके।

जो यह कहा जाता है कि आलय-विज्ञान क्षणोंमें स्वस्वहेतु वैचित्र्यसे सामर्थ्य भेद होनेपर भी एक संतानस्थ होनेके कारण सबमें एक ही प्रकारकी सामर्थ्य होगी वह इसलिये ठीक नहीं कि यह कहा ही जा चुका है कि संतानके अभेद होनेपर भी क्षणोंमें सामर्थ्यभेद है। सौत्रान्तिकका कहना है कि क्षणके भेदा-भेदसे शक्तिका भेदा-भेद नहीं हो सकता। क्योंकि भिन्न क्षणोंमें भी एक सामर्थ्यकी उपलब्धि होती है। अन्यथा यदि एक ही क्षण नीलज्ञान जनन समर्थ हो तो पुनः कभी भी नील-ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये। क्योंकि इस दृष्टिसे जो समर्थ क्षण था वह व्यतीत हो चुका और क्षणान्तरोंमें नीलज्ञानजनन सामर्थ्य है ही नहीं, इसलिये क्षण भेदसे सामर्थ्य भेद होता है यह पक्ष उचित नहीं। एक ज्ञान संतानमें अनेकों बार नीलज्ञान होता ही है किंतु संतान भेदसे ही सामर्थ्य भेद होता है। अतः आलय विज्ञान संतानोंसे भिन्न बाह्य नीलादि संतानोंसे नीलादि प्रवृत्तिविज्ञानोंका उत्पन्न होना संगत होता है। इस दृष्टिसे बाह्यार्थ सिद्ध होता है परंतु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि भिन्न संतानोंमें सामर्थ्यभेद मान्य होगा तो यह भी कहना पड़ेगा कि भिन्न संतानोंमें एक सामर्थ्य नहीं है। ऐसी स्थितिमें विभिन्न नीलसंतानोंमें भी नीलाकारके

आधानकी एक सामर्थ्य होनी चाहिये। फिर तो अन्यनील संतानोंका सन्निधान रहनेपर भी नीलज्ञान न होना चाहिये, परंतु यह सब अनुभवविरुद्ध है। अतः नील-पीतादि संतानोंके समान ही स्वकारणाधीन उत्पन्न होनेवाले क्षणान्तरोंमें भी किन्हींमें सामर्थ्य विशेष होता है किन्हींमें नहीं। इस प्रकार एक आलयविज्ञान संतति-पतित क्षणोंमें किसी ही ज्ञानक्षणमें सामर्थ्य विशेष होता है किसीमें नहीं होता। स्वप्रत्यय (पूर्वोत्पन्न नीलज्ञान) से आसादित वही सामर्थ्यातिशय वासना है।

किसीसे नीलाकार ही ज्ञान होता है पीताकार नहीं और किसीसे पीताकार ही ज्ञान होता है इस तरह वासनावैचित्र्यसे ही ज्ञानवैचित्र्य बन सकता है।

विज्ञानवादीके कहनेका सार यह है कि बाह्यार्थवादमें भी नीलादि अर्थ क्षणिक होते हैं तथाच नीलसंतान भी अनेकों होते हैं। उनमें भी संतानभेदसे यदि शक्ति-भेद माना जाय तो लीलादि संतानोंमें भी एक प्रकारकी शक्ति न सिद्ध होगी। तथा च एक ही नील नीलाकार ज्ञान उत्पन्न कर सकेगा, संतानान्तरवर्ती नील नीलाकार ज्ञानका उत्पादक न हो सकेगा। अतः क्षणभेदसे सामर्थ्यभेद माननेमें जो दोष आते हैं, संतान-भेदसे सामर्थ्यभेद माननेपर भी वे ही दोष हो सकते हैं। अतः कहना पड़ेगा कि जैसे किन्हीं संतानोंके परस्परभिन्न रहनेपर भी उनमें समान सामर्थ्य होता है तभी अनेक नीलसंतानोंसे समानरूपसे नीलाकारज्ञान उत्पन्न हो सकता है। अतः सौत्रान्तिकको मानना पड़ेगा कि अनेक नीलपीतादि संतानोंमें स्वकारणभेदसे ही सामर्थ्यभेद होता है। तथा च कोई नीलज्ञानका जनक होता है कोई पीत ज्ञानका। इसी तरह आलयविज्ञानपतित क्षणोंके सम्बन्ध भी व्यवस्था हो सकती हैं। किन्हीं क्षणोंमें ही उस प्रकारसे आसादित वासनारूप सामर्थ्यातिशय होता है, जिससे नीलादि प्रवृत्तविज्ञान होते हैं। सबमें वह सामर्थ्य नहीं होता। अतः न तो यही कहा जा सकता है कि हर एक आलय विज्ञानसे नीलज्ञान होता रहेगा और न यही कहा जा सकता है कि एक ही आलयविज्ञानसे एक ही नील ज्ञान होगा।

इस तरह वासनावैचित्र्यसे संज्ञानवैचित्र्य बन सकता है। अतः प्रलयसे अतिरिक्ति बाह्यार्थके सद्भावमें कोई प्रमाण नहीं है। इस तरह आलयविज्ञान संतान-पतित असंविदित पूर्वज्ञान ही वासना है। यद्यपि पहले शक्तिको वासना कहा गया था पर यहाँ शक्ति-शक्ति मानकर अभेद समझकर पूर्व विज्ञानको ही वासना कहा गया है। वर्तमान ज्ञानमें विदित होता है, अनागत असिद्ध ही है। अतः पूर्वविज्ञानको ही असंविदित कहा गया है। वासनाके वैचित्र्यसे ही नीलादि अनुभवोंमें भी विचित्रता बनती है। पूर्वविज्ञानमें विचित्रता कैसे हुई इस शंकाका समाधान यही है कि अनादि संसारमें पूर्व-पूर्व नीलादि अनुभवोंसे ही उत्तरोत्तर विज्ञानोंमें वासना-वैचित्र्य सम्पन्न होता है।

इस प्रकार पूर्व नीलादि अनुभवोंके वैचित्र्यसे वासनावैचित्र्य होता है और वासनावैचित्र्यसे अनुभवोंमें भी विचित्रता आती है। बीजाङ्कुरके समान यह परम्परा भी अनादि ही है। अन्वय-व्यतिरेकसे भी यही मालूम पड़ता है कि वासना-वैचित्र्य ही ज्ञान-वैचित्र्यका हेतु है; क्योंकि स्वप्नादिमें स्पष्ट है कि बाह्यार्थके बिना भी वासनाके कारण ही विचित्र ज्ञान उत्पन्न होते हैं। यह उभयसम्मत है। परंतु वासनाके बिना अर्थनिमित्तक ज्ञान-वैचित्र्य उभयसम्मत नहीं है। अतः बाह्यार्थका अस्तित्व नहीं सिद्ध होता। इस प्रकार विज्ञानवादीके बाह्यार्थापलापका श्रीव्यास-शङ्कराचार्यादि वैदिक आचार्योंने निराकरण किया है। 'नाभाव उपलब्धेः'

अर्थात् बाह्यार्थका अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका उपलम्भ होता है।

यहाँ विज्ञानवादीसे प्रश्न हो सकता है कि क्या उपलम्भ न होनेसे बाह्यार्थका असत्त्व होता है या वह उपलम्भ ही बाह्यविषयक नहीं है। वाच्यार्थविषयक होनेपर भी बाधक प्रमाणके सद्भावसे बाह्यार्थाभाव है। प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं क्योंकि घटादि-का उपलम्भ सर्वजनप्रसिद्ध है। स्तम्भ, कुड्य, घट-पटादि बाह्यविषयक प्रत्येक ज्ञानोंसे स्पष्टतया बाह्यार्थ भासित होते हैं। यदि कहा जाय कि उपलम्भ तो अवश्य है किंतु उपलम्भका विषय बाह्य घटादि असत् है तो यह भी ठीक नहीं, कारण कि जैसे कोई भोजन तथा भोजनसाध्य तृप्तिका अनुभव करता हुआ भी कहे कि 'न मैं भोजन करता हूँ न तृप्त ही होता हूँ' तो उसका कहना अनर्गल है। इसी तरह इन्द्रिय-सन्निकर्षसे बाह्यार्थका उपलम्भ करते हुए भी विज्ञानवादीका यह कथन कि मैं बाह्यार्थका अनुभव नहीं कर रहा हूँ सर्वथा अनर्गल है। यदि वह कहे कि मैं यह नहीं कहता कि मैं बाह्यार्थका अनुभव नहीं करता हूँ अपितु यह कहता हूँ कि उपलब्धिसे भिन्न बाह्यार्थ नहीं है। परंतु यह भी उसका कथन ठीक नहीं यतः उपलब्धिबलसे ही बाह्यार्थ स्वीकृत होता है। उपलब्धिग्राहक साक्षीसे जैसे उपलब्धि गृहीत होती है वैसे ही उसकी बाह्यविषयता भी गृहीत होती है। घटादिके ज्ञानके साथ घटादि बाह्यविषय भी गृहीत होते हैं इसीलिये बाह्यार्थका प्रत्याख्यान करने-वाला भी कहता है कि अन्तर्ज्ञेयरूप है। वही बाह्यवत् प्रतीत होता है। वे लोग भी लोकप्रसिद्ध बाह्यार्थविषयिणी संवित्को समझते हुए ही उसके प्रत्याख्यानके लिये बाह्यार्थको बहिर्वत् (बाह्यतुल्य) कहते हैं। अन्यथा बहिर्वत् कहनेका कुछ भी अर्थ नहीं रह जाता।

अत्यन्त असत्के साथ उपमा-उपमेयभाव भी नहीं बन सकता कोई यह नहीं कहता है कि विष्णुमित्र वन्ध्यापुत्रके तुल्य भासित होता है। इन सब दृष्टियोंसे अनुभवके अनुसार तत्त्व स्वीकार करनेवाले स्पष्टरूपसे कहते हैं कि घट-पटादि बाह्य अर्थ ही भासित होता है बहिर्वत् नहीं।

यदि तीसरा पक्ष कहा जाय अर्थात् बाह्यमें अर्थ असम्भव है अतः बाह्यवत् कहा जाता है। परंतु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सम्भवासम्भवका निर्णय प्रमाणकी प्रवृत्ति अप्रवृत्तिसे ही होता है। सम्भवासम्भवके आधारपर प्रमाणकी प्रवृत्ति अप्रवृत्ति नहीं होती। जो वस्तु प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणसे उपलब्ध होती है, वह सम्भव है। जो किसी प्रमाणसे भी विदित न हो वह असम्भव है। यहाँ तो यथा-योग्य प्रत्यक्षानुमान आगमादि सभी प्रमाणोंसे बाह्यार्थ उपलब्ध होता है। ऐसी स्थितिमें उसमें सम्भवासम्भव आदि विकल्पोंको स्थान ही नहीं है। जो कहा जाता है कि ज्ञानमें विषय सारूप्य होनेसे बाह्यार्थका भान होता है यह भी ठीक नहीं कारण कि यदि बाह्यार्थ विषय ही न हो तो ज्ञानसे विषय सारूप्य भी क्या होगा? विषय तो 'इदन्ता एवं बाह्यरूपसे ही उपलब्ध होता है फिर उसका अपलाप कैसे किया जा सकता है।

सार यह है कि यद्यपि घट-पटादि स्थूलरूपमें भासित होते हैं परम सूक्ष्ममें नहीं। नाना दिशाओं एवं देशोंमें व्यापी होना ही अर्थकी स्थूलता है, अर्थात् युगपद्भिन्न देश व्यापित्व या भिन्न दिग्व्यापित्व ही वस्तुकी स्थूलता है। तथाच एकदिग्देशमें अर्थका आवरण और अन्य दिग्देशमें अनावरणरूप विरुद्धधर्मयोगसे एक ही स्थूलवस्तुमें भेदकी प्रसक्ति होती है। परंतु यदि वस्तु ज्ञानाकार ही हो तो उपर्युक्त दोष प्रसक्त नहीं होता। कारण ज्ञानका सदा अनावरण ही रहता है। जिस समय जिस रूपमें जितनी वस्तु दीखती है वह उतनी है ही। क्योंकि विज्ञानसे भिन्न वह है ही नहीं। परंतु यदि वस्तु बाह्य है तो वह सर्वात्मना कभी गृहीत हो ही नहीं सकता। हाथमें रखे हुए भी आमलकका अधोभाग नहीं दिखायी पड़ता। इस तरह एक ही वस्तुका कोई अंश दृष्टिगोचर होता है कोई नहीं। इस दर्शन-अदर्शनसे उसे आवृत-अनावृत दोनों ही कहना पड़ेगा, तथाच विरुद्ध धर्मके अध्याससे एक ही वस्तुमें भेद प्रसक्त होगा।

विज्ञानवादमें यह दोष नहीं होता कारण कि विज्ञानमें जितना आकार भासित होता है उतनी ही वह वस्तु है। उनके यहाँ अदृष्ट आवृत पदार्थ है ही नहीं, तथापि विज्ञानवादीका उपर्युक्त कथन ठीक नहीं, कारण कि इस प्रकारका दोष तो उसके मतमें भी अपरिहार्य ही होगा। भले ही वस्तुका ज्ञानाकार मान लेनेसे उसमें अवभास-अनवभासरूप विरुद्ध धर्मका प्रसङ्ग न हो। परंतु एक ज्ञानसे प्रकाशित अनेक तन्तु देशोंमें रहनेवाले चित्रपटमें तद्देशत्व अतद्देशत्व रूपविरुद्ध धर्म देखा ही जाता है। प्रदेशभेदसे उसीमें कम्प और अकम्प भी देखते हैं। रक्तत्व-अरक्तत्व-की उपलब्धि भी उसीमें होती है। इस प्रकार पटको ज्ञानाकार मान लें तो भी विरुद्धधर्मवत्ता तथा भेदप्रसक्ति समान ही है उसका निवारण विज्ञानवादीके लिये अशक्य ही है।

अर्थ और ज्ञानका अभेद माना जाय तो और भी अनेक दोष प्रसक्त होंगे। जैसे अवयवी अवयवोंसे भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो भी अवयवी समस्त अवयवोंमें रहता है या प्रत्येक अवयवोंमें। यदि प्रत्येक अवयवोंमें तो भी सम्पूर्णरूपसे रहता है या एक देशसे। यदि समस्त अवयवोंमें अवयवी रहता है तो अवयवीकी उपलब्धि न होनी चाहिये। कारण कि समस्त अवयवोंकी उपलब्धिसे ही अवयवोंकी उपलब्धि हो सकती है। सर्वावयव सन्निकर्ष न होनेसे जब सब अवयवोंका उपलम्भ नहीं होता तो अवयवीकी उपलब्धि कैसे होगी। जैसे अनेक आश्रयोंमें रहनेवाला बहुत्व किसी एक आश्रयके ग्रहणसे नहीं गृहीत होता। इसी प्रकार सहस्र तन्तुओंमें रहनेवाला पट कुछ तन्तुओंके ही ग्रहणसे कैसे गृहीत होगा। यदि कहा जाय कि पट अपने अवयवोंद्वारा आरम्भक अवयव तन्तुओंमें रहता है तो आरम्भक अवयवोंसे भिन्न पटके पृथक् अवयव मानने पड़ेंगे। इस तरह अनवस्था भी होगी। उन अवयवोंमें भी वर्तनेके लिये पटको अन्य और अवयव अपेक्षित होंगे।

यदि प्रत्येक अवयवमें अवयवी माना जाय तो एक जगह व्यापार होनेपर अन्यत्र अव्यापार प्रसङ्ग होगा। क्योंकि जिस समय देवदत्त काशीमें वर्तमान रहता है उसी समय काश्मीरमें सन्निहित नहीं रहता। कोई परिच्छिन्न वस्तु अगर एक समयमें ही अनेक स्थानोंमें सन्निहित हो तो उसे एक नहीं अपितु अनेक समझना चाहिये। इस स्थितिमें यदि प्रत्येक अवयवोंमें अवयवी माना जाय तो अनेकत्वापत्ति होगी। फिर एक अवयववर्ती पटके व्यापृत होनेपर भी अन्यावयववर्ती पटको अव्यापृत ही रहना चाहिये।

यदि कहा जाय कि जैसे गोत्व प्रत्येक गो व्यक्तिमें समाप्त होता है वैसे ही प्रत्येक अवयवां-अवयवी परिसमाप्त हो जाता है तो यह ठीक नहीं कारण कि जैसे गोत्व प्रति व्यक्तिमें प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है वैसे ही अवयवी प्रत्येक अवयवोंमें प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होता। यदि प्रत्येक अवयवमें पूरा अवयवी मान लिया जाय तो शृङ्गसे भी स्तनका कार्य होना चाहिये। परंतु ऐसा होता नहीं। इसी तरह यदि कहा जाय कि एक अणु दूसरे अणुसे सर्वात्मना संयुक्त होता है तो उपचय नहीं होगा यदि एक देशसे उनका मिलना माना जाय तो उनमें सावयवापत्ति होगी। कल्पित प्रदेश तो मिथ्या होनेसे अकिञ्चित्कर ही होंगे। जो रूपादिमान् होते हैं वे परम कारणकी अपेक्षा स्थूल एवं अनित्य होते हैं जैसे तन्तुकी अपेक्षा पट और अंशुओंकी अपेक्षा तन्तु स्थूल होते हैं उसी तरह परमाणुओंको स्थूल और अनित्य होना चाहिये। पृथिव्यादि परमाणुओंमें यदि गन्धादि गुणोंका उपचय माना जाय तो परमाणुओंकी मूर्तियोंका उपचय होगा। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, इन चार गुणोंसे युक्त होनेके कारण पृथिवी परमाणुको स्थूल होना चाहिये साथ ही वायुमें केवल स्पर्श गुण होनेके कारण उसमें सूक्ष्मता प्राप्त होगी इस प्रकार परमाणुओंमें भी तारतम्य होगा।

यदि परमाणुओंमें गुणोपचय न माना जाय तो परमाणुकार्य पृथिव्यादिमें भी गुणोपचय नहीं दीखना चाहिये। यदि परमाणुको निरंश माना जाय तो द्व्यणुकादिमें स्थूलता न बन सकेगी। यदि वह सांश हो गया तो उसमें अनित्यता आदि भी होगी इत्यादि जो दोष वैशेषिकोंके मतमें लागू होते हैं वे सब सौत्रान्तिक एवं विज्ञानवादी बौद्धोंके यहाँ भी लागू होंगे। जगत्को अनिवर्चनीय माननेवाले वेदान्तीके लिये तो वस्तुओंका विचारासहत्व भूषण ही है। किन्तु बौद्धोंके यहाँ यह नहीं कहा जा सकता।

बाह्य अस्तित्ववादी जैसे पदार्थोंको बाह्य मानता है उसी तरह विज्ञानवादी उन सभी पदार्थोंको अन्तःसत्य मानता है। यदि आन्तर पदार्थ सत्य हैं तो जैसे बाह्यपदार्थोंमें स्थौल्य आदि असम्भव हैं वैसे ही आन्तर पदार्थोंमें भी स्थौल्य आदि असम्भव ही होंगे ऐसी स्थितिमें वैशेषिकोंके पक्षमें कहे गये सभी दोष विज्ञानवादमें भी लागू होंगे।

यदि कहा जाय कि ज्ञानसे अभिन्न अर्थ माननेपर एक बुद्धिभासित पटमें तद्देशत्व अतद्देशत्वादि विरुद्धधर्म संसर्ग प्रसक्त न होंगे; क्योंकि ज्ञानके विषय परमाणु ही होंगे उनमें तद्देशत्व-अतद्देशत्वादिका कोई प्रसङ्ग ही नहीं होगा। परंतु यह भी कथन ठीक नहीं है; कारण कि यहाँ विचारना होगा कि ज्ञान-ज्ञेयका अभेद क्या है। ज्ञान ज्ञेयमात्र है या ज्ञेय ज्ञानमात्र है। पहला पक्ष ठीक नहीं; क्योंकि यदि अनेक नीलपरमाणुओंका आलम्बन करनेवाला ज्ञानज्ञेयमात्र है तो ज्ञेय नानात्वके समान ही एक नीलज्ञानमें भी नानात्वापत्ति होगी। यदि ज्ञेय ज्ञानमात्र माना जाय तो आकारोंका ज्ञानसे अभेद होनेसे अनेक आकारोंमें एकत्वापत्ति-दोष होगा।

यह भी नहीं कहा जा सकता है कि जितने आकार हैं उतने ही ज्ञान हैं; क्योंकि इस तरह नानापरमाणुओंको आलम्बन करनेवाले अनेक ज्ञानोंके परस्पर वार्तानभिज्ञ होनेसे उनमें स्थूल वस्तुका अनुभव असम्भव ही होगा। यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक-एक ज्ञानसे संगृहीत नाना परमाणुओंका परामर्शरूप एक विकल्प ज्ञान ही स्थूलालम्बन है। क्योंकि वह ज्ञान भी साकार ही होगा। उसके आकार नाना परमाणुओंका भी ज्ञानसे अभेद ही होगा। यदि ज्ञान ज्ञेयमात्र होगा तो ज्ञेयभेदसे ज्ञानमें भेदापत्ति होगी। यदि आकार ज्ञानमात्र होगा तो भी आकारोंमें एकत्वापत्ति होगी, इसलिये स्थूलालम्बन एक ज्ञान असम्भव ही होगा। जैसा कि धर्मकीर्तिका कहना है कि—

"तस्मान्नार्थे नच ज्ञाने स्थूलाभासस्तदात्मनः।
एकत्वं प्रतिषिद्धत्वाद्बहुष्वपि न सम्भवः॥"

अर्थात् वृत्ति विकल्पादि पूर्वोक्त तर्कोंसे बाह्य परमाणु समूहात्मक तथा ज्ञानात्मक आन्तरविषय माना जाय तब भी स्थूलाभास प्रत्यय नहीं बन सकता, क्योंकि पूर्ववर्णित पद्धतिसे ही नाना परमाणुओंका आलम्बन करनेवाले एक ज्ञानमें जैसे स्थूलविषयता नहीं बन सकती उसी तरह परमाणुगोचर नाना ज्ञान हो तो परस्पर वार्तानभिज्ञ होनेके कारण स्थूलाभास प्रत्यय नहीं हो सकता। अतः ज्ञानाकार स्थूलताके समर्थन करनेवाले विज्ञानवादीको भी प्रमाणकी प्रवृत्ति एवं अप्रवृत्तिके आधारपर ही सम्भव-असम्भवकी व्यवस्था माननी पड़ेगी। तथाच प्रमाण-प्रवृत्तिबलसे ही ज्ञानभिन्न इदन्तास्पद बाह्यार्थका अपह्नव नहीं किया जा सकता। जो ज्ञानकी प्रतिविषय व्यवस्थाके लिये ज्ञानमें विषयसारूप्य माना जाता है उससे भी विषयका अपलाप नहीं हो सकता। क्योंकि यदि अर्थ है ही नहीं तो ज्ञानमें किसकी सरूपता होगी? और विषय न होनेपर प्रतिविषय-ज्ञानव्यवस्थाका भी क्या अर्थ रह जाता है।

सुस्पष्टरूपसे बाह्यार्थका उपलम्भ होता है अतः उसका अस्तित्व मानना अनिवार्य है। सहोपलम्भ नियमपर भी यह विचारणीय है कि क्या ज्ञान और अर्थ-का साहित्येन (साथ-साथ) उपलम्भ ही होना सहोपालम्भ है? यदि हाँ, तो सहोपा-लम्भ हेतु विरुद्ध हैं इसके द्वारा अभेदकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। साहित्येन उपलम्भ तभी बन सकता है जब ज्ञान और अर्थ दो वस्तु हों। अतः भेदगर्भित हेतुसे अभेदसिद्धि असम्भव है। साहित्य अभेदविरुद्ध भेदव्याप्य होता है। जहाँ साहित्य होगा वहाँ भेदका होना अनिवार्य होता है। यदि एकोपलम्भ नियम अर्थात् एक उपलम्भसें ज्ञान और अर्थका ग्रहण होना ही सहो-पलम्भ है तो यह भी असंगत है। क्योंकि सहोपलम्भमें सहशब्द एकत्वका वाचक नहीं है फिर सहोपलम्भका एकोपलम्भ कैसे हो जायगा। यदि कहा जाय कि अर्थैको-पलम्भ ही हेतु समझ लेना चाहिये फिर भी यह विचारणीय होगा कि एकत्वेन उपलम्भ एकोपलम्भ है अथवा ज्ञान और अर्थका एक उपलम्भ होना ही एकोपलम्भ है? पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि ज्ञान और अर्थका एकत्वेन ग्रहण नहीं होता, ज्ञान आन्तररूपसे गृहीत होता है और अर्थ बाह्यरूपसे। आगे बताया जायगा कि कहीं ज्ञानका नानात्व होनेपर भी विषयका एकत्व रहता है, कहीं विषय नानात्व रहनेपर भी ज्ञानका एकत्व रहता है, एकत्वेन उपलम्भ कहाँ है!

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि वह तो उपायोपेयभावके कारण उत्पन्न हो जाता है उससे अभेदकी सिद्धि नहीं हो सकती। अतएव सहोपलम्भ नियम भी ज्ञान और विषयके उपायोपेयभावके कारण उपपन्न है, अभेदके कारण नहीं। जिस प्रकार मनुष्योंको सभी बुद्धि बोध्य चाक्षुषरूपादि पदार्थ प्रभाके रूपसे अनुबुद्धि ही गृहीत होते हैं प्रभाके साथ ही नील-पीतादिरूपका उपलम्भ होता है तो भी इस सहोपलम्भसे यह नहीं कहा जा सकता कि प्रभा और रूप अभिन्न हैं किंतु यही

कहना पड़ेगा कि प्रभा रूपोपलम्भका उपाय है। इसलिये सहोपलम्भ नियम होता है, इसी तरह अर्थोपलम्भका आत्मसाक्षिक अनुभव ही उपाय है। इसलिये ज्ञेयज्ञातका सहोपलम्भ नियम होता है इस तरह सहोपलम्भ नियम अभेदका साधक नहीं होता। जहाँपर घट-पटादि अनेक पदार्थ एक ज्ञानगोचर होते हैं वहाँ सभी समझदार समझते हैं कि ज्ञेय अर्थका भेद है और ज्ञानका अभेद होता है। यदि ज्ञान और ज्ञेयका अभेद ही हो तो ज्ञानके एक होनेसे विषयको भी एक होना चाहिये। वैसे भी घटज्ञान, पटज्ञान आदिमें घट-पट आदि विशेषणोंका ही भेद है, विशेष्य ज्ञान तो एक ही है।

जैसे "शुक्ल गौ कृष्ण गौ" इत्यादि स्थलोंमें गोत्वका अभेद रहनेपर भी कृष्णता-गौरता आदिका ही भेद रहता है। दोसे एकका एकसे दोका भेद प्रसिद्ध ही है। इस तरह जैसे अनेक शुक्लता कृष्णतासे एक गोत्वका भेद होता है उसी तरह अनेक घट-पटादि विषयोंसे एक ज्ञानका भी भेद ही समझना चाहिये। इसलिये ज्ञान और ज्ञेयका भेद ही सम्यक् है। इसी तरह अर्थ अभेद रहनेपर भी ज्ञानमें भेद होता है। घटका दर्शन घट स्मरण आदि स्थलोंमें विशेष्य दर्शन एवं स्मरणमें भेद है, घट विशेषणका अभेद है। जैसे क्षीरगन्ध क्षीररस यहाँ विशेष्य गन्धरसका भेद है, विशेषण क्षीरका अभेद होता है इस तरह भी ज्ञान-ज्ञेयका भेद सिद्ध होता है।

पूर्वोत्तरवर्ती दो विज्ञान स्वसंवेदनसे ही उपक्षीण हो जाते हैं। उनमें परस्पर ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं बन सकता। फिर भेद ही कैसे सिद्ध होगा अर्थात् स्वरूपमात्रमें पर्य्यवसित ज्ञान एक दूसरे ज्ञानको जान ही नहीं सकता फिर जिन दोनोंका भेद होता है वे ही जब अगृहीत हैं तो तद्गतभेद सुतरां असिद्ध ही होगा। क्योंकि भेदज्ञानके लिये अनुयोगी—प्रतियोगीका ज्ञान अपेक्षित होता है। इसी तरह सब क्षणिक हैं, सब शून्य हैं तथा सब अनात्मा हैं इत्यादि अनेक प्रतिज्ञाएँ हेतु-दृष्टान्त ये सभी ज्ञानभेदसे ही साध्य हैं।

यही दशा स्वलक्षण, सामान्यलक्षण, वास्य-वासक, अविद्योपप्लव, सद्-सद्धर्म, बन्ध-मोक्षादि प्रतिज्ञाओंका भी है। अन्यसे व्यावृत्त अपना असाधारणरूप ही स्वलक्षण होता है। जो व्यावृत्त होता है और जिनसे व्यावृत्त होता है, उन सबका अनेक ज्ञानोंसे ही बोध सम्भव है। इसी तरह विधिरूप या अन्यापोह रूप सामान्य लक्षण भी अनेक ज्ञान-गम्य ही होता है। वास्य-वासक भाव भी अनेक ज्ञान साध्य है। उत्तर ज्ञानमें नीलाद्याकार समर्पण करनेकी उपयुक्त शक्ति पूर्वज्ञानमें होती है। अतः पूर्व ज्ञान वासक है और उत्तरज्ञान वास्य होता है। अविद्योपप्लवमें वास्य-वासकत्व हेतु है। अविद्योपप्लव सदसद्धर्मोंमें हेतु होता है। जैसे नीलादिसद्धर्म है नर-विषाणादि असद्धर्म है।

अमूर्त सदसद्धर्म है, क्योंकि शशविषाणको भी अमूर्त कह सकते हैं। यही बात बौद्धकारिकामें कही गयी है—

> अनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः ।
> शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रयः ॥

भाव यह है कि अनादिवासनाजन्य सविकल्प प्रत्यय स्वरूपज्ञानसे परिनिष्ठित अर्थात् विषयीकृत शब्दार्थ तीन प्रकारका होता है। जैसे भाव—नीलत्वादि, अभाव—नर-विषाणत्वादि उभया श्रय, अमूर्तत्वादि। इसी तरह मोक्षप्रतिज्ञा भी भेदसाध्य ही है। जो मुक्त होता है, जिससे मुक्त होता है, जिस साधनसे मुक्त होता है और जो प्रतिपादन करता है, ये सब अनेक ज्ञान-साध्य हैं।

पूर्वोक्त युक्तिसे जब ज्ञानभेद ही असिद्ध है, तब इन सबमें अपेक्षित भेद कैसे सिद्ध होगा? अतः अनेक अर्थोंका प्रति संधान करनेवाले एक प्रतिसन्धाता, प्रत्यभिज्ञाताके बिना यह असम्भव है। विज्ञानसे भिन्न उसका आलम्बन न होकर अगर स्वांश ही विज्ञानका आलम्बन हो तो उक्त व्यवस्था कथमपि न बन सकेगी। कर्म फलभाव एवं ज्ञान-ज्ञेयभाव भी भेदमें ही सम्भव होता है। अभिन्न ज्ञानमें ही ग्राह्य-ग्राहक भाव कैसे सम्भव होगा? छिदि क्रियाके द्वारा तद्भिन्न काष्ठ आदि छिन्न होता है, स्वयं छिदि ही छिदिसे छिन्न होती नहीं देखी जाती। इसी तरह पाक क्रिया ही नहीं पकती, अपितु पाक क्रियासे तण्डुल पकते हैं। उसी तरह यहाँ भी ज्ञान ही स्वांशसे ज्ञेय नहीं होता है, क्योंकि अपनेमें ही अपनी वृत्ति विरुद्ध है। जैसे पाकसे अतिरिक्त तण्डुल, छिदिसे पृथक् छेद्य काष्ठ होता है, वैसे ज्ञानसे अतिरिक्त ज्ञेय होता है। अतः ज्ञानज्ञेयका भेद ही है।

इसके अतिरिक्त यह बात भी विचारणीय है कि जब घटविज्ञान, पटविज्ञान आदि अनुभवोंके अनुसार जैसे विज्ञानको स्वीकार किया जाता है वैसे घट-पटादि बाह्यार्थोंको अङ्गीकार क्यों न किया जाय? यदि कहा जाय कि विज्ञानका अनुभव होता है, तो उसी तरह बाह्यार्थ घटादिका भी अनुभव होता ही है। यदि कहा जाय कि विज्ञान प्रकाशात्मक होनेसे प्रदीपवत् स्वयं अनुभूत होता है। बाह्यार्थ इस प्रकार नहीं अनुभूत होता तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि जैसे 'अग्नि अपनेको जलाता है', यह कहना अत्यन्त विरुद्ध है, वैसे विज्ञान अपनेको जानता है; प्रकाशित करता है। यह कहना भी अत्यन्त विरुद्ध है। यह कहा ही जा चुका है कि पाक अपनेको नहीं पकाता है। फिर बाह्यार्थ स्वव्यतिरिक्त विज्ञानसे प्रकाशित होता है यह लोकप्रसिद्ध तथा अविरुद्ध ही है। अप्रसिद्ध एवं विरुद्ध बातको मानना और अविरुद्ध एवं लोकप्रसिद्ध बातको न मानना यह विज्ञानवादी बौद्धोंका कैसा पाण्डित्य है? अतः यह कहना सर्वथा निराधार है कि विज्ञेयसे अभिन्न विज्ञान स्वयं ही अनुभूत होता है। क्योंकि स्वसे स्वक्रियाका होना विरुद्ध है।

फिर भी विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि 'यदि विज्ञान स्वभिन्न विज्ञानसे ग्राह्य होगा तो वह विज्ञान भी अन्य विज्ञानसे ग्राह्य होगा और इसी तरह अन्य ज्ञान भी इस प्रकार अनवस्था दोष होगा। साथ ही प्रदीपके समान ही विज्ञान भी अवभासात्मक ही है। जैसे प्रदीपका प्रदीपान्तरसे प्रकाश नहीं होता, क्योंकि दोनों ही समानरूपसे अवभासात्मक हैं, वैसे एक ज्ञानका ज्ञानान्तर मानना भी व्यर्थ होगा। क्योंकि समान होनेसे उनमें ग्राह्य-ग्राहकभाव सम्भव नहीं होगा। इसी दृष्टिसे यदि ज्ञान स्वातिरिक्त अर्थको ग्रहण करेगा तो वह स्वयं अप्रत्यक्ष रहकर अर्थको प्रत्यक्ष न करा सकेगा। चक्षु इन्द्रियके समान स्वयं विलीन, अतएव अप्रत्यक्ष ज्ञान अर्थभेदमें प्राकट्य आदि किसी भी विशेषताका आधान करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। यदि चक्षुके समान अप्रकाशमान ही ज्ञान अर्थका बोधक होगा तो जैसे चक्षु ज्ञानोत्पादन-द्वारा अर्थ प्रकाशक होता है वैसे ही ज्ञान भी ज्ञानान्तरोत्पादनद्वारा वस्तुज्ञापक होगा। फिर इसी तरह ज्ञानजन्य ज्ञानकी भी ज्ञानान्तरोत्पादनद्वारा ही ज्ञापकता माननी होगी तथा च अनवस्था दोष होगा। अतः कहना पड़ेगा कि ज्ञानकी प्रत्यक्षता ही अर्थप्रत्यक्षता है। ज्ञानको ज्ञानान्तरोत्पादनकी आवश्यकता नहीं होती। वह ज्ञान भी यदि अन्य ज्ञानसे प्रत्यक्ष होगा तो अनवस्था दोष होगा। यदि वह स्वयं अप्रत्यक्ष होगा तो उससे अर्थका प्रत्यक्ष कैसे होगा? इसीलिये कहा गया है कि—

"अप्रत्यक्षोपलम्भस्यनार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति"

अर्थात् ज्ञानके अप्रत्यक्ष होनेपर अर्थज्ञान ही नहीं हो सकता है। यदि चक्षुके समान अप्रत्यक्ष ज्ञानसे ही अर्थ प्रत्यक्ष माना जायगा तब तो चक्षुके समान ज्ञानको अजन्य कहना पड़ेगा? इसलिये अनवस्था दोषकी अपेक्षा स्वात्मवृत्तिका मान लेना अच्छा है। जैसे प्रदीप प्रदीपान्तरकी अपेक्षा नहीं करता वैसे ही ज्ञान भी ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं करता है"।

उपर्युक्त विज्ञानवादी बौद्धका मत असंगत है। क्योंकि विज्ञानग्राहक साक्षीको स्वीकार कर लेनेपर अनवस्था, आत्मवृत्तिता आदि समस्त दोषोंका निराकरण हो जाता है। साक्षी और ज्ञान दोनोंका चेतनत्व और जडस्वरूप स्वभाव विषम है। अतः उनमें उपलब्धृत्व तथा उपलभ्यत्व बन सकता है। साक्षी स्वयं सिद्ध होनेसे सर्वथा अप्रत्याख्येय है। ठीक है कि अप्रत्यक्ष ज्ञानसे अर्थप्रकाश नहीं बन सकता; परन्तु अन्तःकरण वृत्तिरूप ज्ञानका साक्षीके द्वारा प्रकाश मान्य है। तथा च आत्मचैतन्य साक्षीके द्वारा प्रकाशित वृत्तिरूप ज्ञानसे विषय प्रकाश संभव है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य ही उपलब्धा होता है। अन्तःकरण और विषयाकार वृत्ति तथा विषय सभी उसीसे प्रकाशित होते हैं। उपलब्धा उपलब्धिके द्वारा विषयका उपलम्भ या प्रकाश करता है। इन्द्रिय सन्निकर्षसे अन्तःकरण विकार विशेष वृत्ति उत्पन्न होती है। वृत्तिके उत्पन्न होते ही वृत्ति और उसका विषय दोनों ही उपलब्धाको प्रत्यक्ष होते हैं। विषय अप्रकाश स्वभाव होनेके कारण प्रमाताके

प्रति स्वप्रत्यक्षताके लिये अन्तःकरण वृत्तिरूप अनुभवकी अपेक्षा रखता है। परन्तु वह अनुभव स्वयं जड़ होते हुए भी स्वच्छ होनेके कारण चैतन्य प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेके लिये दूसरे अनुभवकी अपेक्षा नहीं रखता। किन्तु स्वच्छ होनेसे स्वयं चैतन्यके प्रतिबिम्बको ग्रहण कर लेता है और उसीसे स्वयं भी प्रकाशित हो जाता है। अतएव अनवस्था भी न होगी। ऐसा कभी नहीं होता कि अनुभव उत्पन्न हो और प्रमाताको उसका प्रत्यक्ष न हो। किन्तु नीलादि अर्थ ऐसे नहीं होते। वे तो रहते हुए भी जबतक वृत्तिरूप अनुभव न हो तबतक प्रमाताके लिये प्रत्यक्ष नहीं होते। अतः जैसे छेत्ता छिदि क्रियाके द्वारा छेद्य वृत्तादिपर व्याप्त होता है। अन्य छिदिद्वारा छिदिपर ही नहीं व्याप्त होता और यह भी नहीं कि छिदि ही छेत्री हो जाती हो, किन्तु देवदत्तादि छेत्ता ही छिदिक्रियाके द्वारा छेद्यवृत्तादिपर व्याप्त होता है। इसी तरह पक्ता (पाचक) पाकके द्वारा पाक्य तण्डुलादिपर व्याप्त होता है, न कि पाकान्तरसे पाकपर व्याप्त होता है और न पाक ही पक्ता होता है। वैसे प्रमाता प्रमेय नीलादि पदार्थोंपर प्रमाद्वारा व्याप्त होता है न कि प्रमान्तरसे प्रमाण-पर व्याप्त होता है और न प्रमा प्रमात्री होती है। किन्तु स्वतः ही प्रमाता प्रमापर व्यापक होता है।

कूटस्थ नित्य चैतन्य स्वरूप प्रमाताके लिये दूसरी प्रमा अपेक्षित नहीं होती है, क्योंकि प्रमाताको अपनी प्रमाके लिये यदि अन्य प्रमाताकी अपेक्षा होगी तब तो अनवस्था दोष अनिवार्य ही रहेगा। अतः यही ठीक है कि विज्ञान ग्रहणमात्रके लिये विज्ञान साक्षी प्रमाता आवश्यक है। कूटस्थ नित्य चैतन्यरूप प्रमाताके ग्रहणकी आकाङ्क्षा ही नहीं उठती। क्योंकि उसमें संशय–विपर्यय अज्ञान है ही नहीं; फिर इनके निवर्तक ज्ञानान्तरोंकी आवश्यकता ही क्या है? अन्यत्र संशय, विपर्यय करता हुआ भी प्रमाता अपने सम्बन्धमें संशयादि नहीं करता है। जैसे प्रकाशस्वरूप दीपक आदिमें "प्रकाशते" यह व्यवहार स्वतः होता है। अप्रकाशरूप घटादिमें प्रकाश संसर्गसे 'प्रकाशते' यह व्यवहार होता है, वैसे नित्य चैतन्य परम प्रकाश-स्वरूप आत्मामें 'प्रकाशते' यह व्यवहार स्वतः होता है। तद्भिन्न जड़ोंमें आत्माके सम्बन्धसे 'प्रकाशते' ऐसा व्यवहार होता है। आत्मा और अनात्माका आध्यासिक ही सम्बन्ध होता है। उसी सम्बन्धके लिये वृत्तिकी आवश्यकता होती है। कारण साक्षी और वृत्तिरूप साक्षी सम नहीं।

जो कहा जाता है—ज्ञान-ज्ञान सम होनेसे दो दीपकोंके समान दो ज्ञानोंमें प्रकाश्य–प्रकाशकभाव नहीं बन सकेगा, उसका भी समाधान इसीसे हो जाता है। कारण साक्षी और वृत्तिरूप प्रत्यय सम नहीं है; किंतु एक जड़ है, दूसरा चित् है। अतः अवभास्य-अवभासक बननेमें कोई बाधा नहीं है। भले ही सम होनेसे ज्ञानोंमें परस्पर ग्राह्य-ग्राहकभाव न बनें परंतु ज्ञाता और

ज्ञानमें वैषम्य होनेसे ग्राह्य-ग्राहकभाव संभव है ही। हाँ, ज्ञानमें ग्राह्यता इसलिये नहीं है कि वह ग्राहकनिष्ठ क्रियाजन्य फलशाली नहीं है। ऐसी ग्राह्यता तो बाह्यार्थमें ही होती है। वही प्रमाताकी प्रमाक्रियासे जनितफल (प्राकट्य) शाली होता है। क्योंकि बाह्यार्थ जड़ होता है। अतएव वह स्वाकार वृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्यसे प्रकाशित होता है। यद्यपि वृत्ति भी जड़ ही है तथापि वृत्ति तो उत्पन्न होते ही चैतन्य प्रतिबिम्बसे युक्त ही रहती है। अतः वहाँ प्रतिबिम्बरूप फलान्तर व्यर्थ ही है।

यही वार्तिककारका कहना है कि जैसे आकाश वस्तुके स्वभावानुसार कुम्भ उत्पन्न होते ही आकाशसे पूर्ण होता है, वैसे वृत्तिरूप ज्ञान उत्पन्न होते ही स्वाभाविक आकाशकल्प साक्षी चैतन्यसे पूर्ण रहता है। इसीलिये ज्ञानबुद्धि परिणाम भूतज्ञानसे नहीं ज्ञात होता है। किंतु उसमें प्रमाताके प्रति स्वतः सिद्ध चित्प्रतिबिम्बरूप प्राकट्य होता है। इसलिये उनकी ग्राह्यता बन जाती है। इसीलिये कहा गया है— **'न संविदर्यते फलत्वात्'** अर्थात् संविद् स्वयं फल है, अतः वह अन्तःकरण वृत्तिरूपज्ञानसे नहीं जानी जाती है। यद्यपि बाह्यार्थ भी प्रमाताके प्रतिग्राह्य हैं तथापि वृत्तिरूप संविद्के रहनेपर ही बाह्यार्थ प्रकट होता है। साथ ही संविद् भी प्रकट होती है। अर्थात् अविद्यावच्छिन्न जीव ही साक्षी है, वह व्यापक होनेसे विषय प्रदेशमें भी रहता है। अतः साक्षीका जैसे ज्ञानसे सम्बन्ध है वैसे ही विषयसे भी सम्बन्ध है ही। तथापि अन्तःकरणावच्छिन्न साक्षी अनावृत रहता है। परंतु विषयावच्छिन्न साक्षी आवृत रहता है। इसीलिये उसमें आवरण-भङ्गके लिये वृत्तिकी अपेक्षा रहती है। अतएव बाह्यार्थ तभी साक्षिरूप अनुभवसे प्रकट होता है जब कि विषयाकारान्तःकरण वृत्तिरूप संविद् उत्पन्न होती है। क्योंकि उसी वृत्तिसे आवरणभङ्गद्वारा साक्षीका प्राकट्य होता है। परंतु वह वृत्ति तो स्वप्रतिबिम्बित साक्षिस्वरूप अनुभवसे ही प्रकट होती है।

निष्कर्ष यह है कि साक्षिस्वरूप अनुभव यद्यपि सर्वव्यापी है तो भी अविद्यासे आवृत होनेके कारण वह प्रकट नहीं होता। जैसे निर्मल दर्पणमें मुख प्रतिबिम्बित होता है वैसे भास्वर स्वभाववाले अन्तःकरणमें ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। अन्तःकरण वृत्ति भी भास्वर ही है, अतः विषयाकार वृत्तिपर भी स्वभावसे ही अभिव्यक्त होता है।

इसीलिये वृत्ति भी स्वभावतः प्रकट होती है। परंतु बाह्यार्थ अन्तःकरणसे व्यवहित रहता है अतः स्वभावसे ही उसमें चैतन्यके अभिव्यञ्जन करनेकी क्षमता नहीं रहती है। यह देखा ही जाता है कि सम्बन्ध समान रहनेपर भी कोई व्यञ्जक होता है और कोई नहीं होता है। जैसे चाक्षुषी प्रमाके साथ समान सम्बन्ध रहनेपर भी वह रूपादिका प्रकाश करती है, वायु आदिका प्रकाश नहीं करती। घट और दर्पणका मुखसंनिधान समानरूपसे रहनेपर भी घटपर मुखका प्रतिबिम्ब व्यक्त नहीं

होता, दर्पणपर प्रतिबिम्ब व्यक्त होता है। ठीक उसी तरह अन्तःकरण और तत्परिणामभेद वृत्तिपर साक्षि चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है। परंतु बाह्यार्थ घटादिपर उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। अन्तःकरण और वृत्तिका अभिव्यक्त नित्य साक्षि-चैतन्यसे साक्षात् प्रकाश होता है परंतु अर्थका स्वाकार वृत्ति व्यङ्ग्य चैतन्यसे प्रकाश होता है। इसी अभिप्रायसे कहा जाता है कि ज्ञान स्वयं ज्ञानान्तरका कर्म हुए बिना ही प्रमाताके प्रति प्रत्यक्ष होता है।

कहा जा सकता है, जो प्रकाशमान होता है वह स्वभिन्न प्रकाशसे ही प्रकाशमान होता है। जैसे ज्ञान और अर्थ अन्य (साक्षी) से प्रकाशित होते हैं इसी तरह साक्षीको भी किसी अन्यसे प्रकाशित होना चाहिये। तथा च साक्षी और ज्ञान दोनोंकी विषमता असिद्ध है।

किंतु यह ठीक नहीं, क्योंकि साक्षी स्वयं सिद्ध होता है। उसका अपलाप करना विज्ञके लिये भी सम्भव नहीं है। साक्षीस्वरूप आत्माके सम्बन्धमें मैं हूँ या नहीं हूँ, इस प्रकारका संशय नहीं होता। 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकारकी अभाव प्रमा या भ्रान्ति भी नहीं होती। यह तभी संभव है जब कि साक्षी नित्य साक्षात्कार तथा अनागन्तुक प्रकाशस्वरूप हो। यह सुस्पष्ट है कि प्रमाता अन्य वस्तुओंमें संदेह करता हुआ भी स्वयं असंदिग्ध रहता है। अन्य विषयोंमें विपर्य्यस्त भ्रान्त होते हुए भी स्वयं भ्रमका अविषय अविपर्य्यस्त रहता है, परोक्ष वस्तुओंका अनुमान करता हुआ भी स्वयं अपरोक्ष रहता है, अन्य वस्तुओंका स्मरण करता हुआ भी स्वयं अनुभवरूप होता है। यह सब बातें अन्याधीन प्रकाश होनेपर सम्भव नहीं होती। अन्याधीन प्रकाश होनेसे अनवस्था प्रसङ्ग भी होगा ही।

निष्कर्ष यह है कि साक्षीको ज्ञेय सिद्ध करनेके लिये 'आत्मा ज्ञेयः प्रकाशमानत्वात् घटवत्' (आत्मा ज्ञेय है प्रकाशमान होनेसे घटकी तरह) यह अनुमान उपस्थित किया जाता है। परंतु इस अनुमानके लिये 'जो प्रकाशमान होता है वह वेद्य होता है' यह व्याप्ति माननी पड़ेगी। इस संबन्धमें प्रश्न होगा कि व्याप्तिग्राहिका (व्याप्तिको ग्रहण करनेवाली) संवित् स्वसम्बन्धमें प्रकाशमान होती है या नहीं? यदि प्रकाशमान होती है तो कर्म (विषय) रूपसे अथवा स्वप्रकाशरूप (अन्य संविद्की अपेक्षा न करके स्वव्यवहार हेतुरूप) से पहला पक्ष संगत नहीं हो सकता; क्योंकि स्वात्मवृत्तिताका विरोध होता है उसी संविद्का वही संविद् विषय हो यह नहीं बन सकता। अन्तिम पक्ष भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि व्याप्तिग्राहिका संविद् संविदन्तर निरपेक्ष स्वव्यवहारमें हेतु है (स्वप्रकाश है) तो व्याप्तिग्राहिका संविद्में ही व्याप्तिका व्यभिचार होगा। कारण उसमें प्रकाशमानता रहनेपर भी वेद्यता नहीं।

यदि व्याप्तिग्राहिका संविद् प्रकाशमान नहीं होती तो इसी संविद्के विशेषका अवभास नहीं हुआ, तब तो इस संविद्में सकल विशेषोपसंहारवती व्याप्ति कैसे

स्फुरित होगी ? क्योंकि यावत् हेत्वाश्रयवर्ति साध्य समानाधिकरण ही व्याप्ति होती है। यदि सकलविशेषोपसंहारवती व्याप्तिका स्फुरण न होगा तो अनुमान क्या होगा ? यदि संवित्का स्वतः स्फुरण मान्य है तब भी व्याप्ति व्यभिचार होनेसे अनुमानका उदय कैसे होगा ? तथा उक्त अनुमानसे आत्मा या साक्षीकी ज्ञेयता नहीं सिद्ध हो सकती। "अज्ञेयत्वे सति प्रकाशमानता" ही स्वप्रकाशता है (यहाँ ज्ञेयताका तात्पर्य अपरोक्ष ज्ञान विषयतासे है। तथा च अनुमानद्वारा आत्माके ज्ञेय होनेपर भी सिद्ध साधनता नहीं) जो ज्ञानका अगोचर होकर प्रकाशमान हो वह स्वप्रकाश होता है। प्रकाशमानता या भासमानता भी भानविषमता नहीं है। किंतु व्यावहारिक बाधरहित 'भासते" इत्याकारक शब्दकी लक्ष्यता ही है। अर्थात् जिसका बाध नहीं होता है ऐसे "प्रकाशते" इस शब्दका जो लक्ष्य है वही भासमानता है।

वेदान्तसे ज्ञेय होनेपर भी स्वप्रकाशतामें कोई विरोध नहीं होता। क्योंकि निरुपाधिक ब्रह्मवेदान्त महावाक्यजन्यवृत्तिका अविषय होनेपर भी वृत्तिके द्वारा आवरण भङ्ग होनेमात्रसे भासमान होता है। वेदान्तवाक्यजन्य वृत्तिरूप उपाधिके द्वारा ही उसमें ज्ञेयता भी व्यवहृत होती है। अतएव जो कहा जाता है कि स्वप्रकाश ब्रह्म अनुमानज्ञेय होता है यह भी निःसार है। क्योंकि यहाँ भी अनुमितरूप उपाधि रहनेसे ही ब्रह्ममें अनुमान ज्ञेयता होती है।

नित्य साक्षात्कारता अनागन्तुक प्रकाशत्वमें हेतु है। संविद्से अभिन्नता ही साक्षात्कारता है। यहाँ संविद् शब्दका नित्यबोध अर्थ है, वृत्तिरूप ज्ञान नहीं। इन्द्रियजन्य प्रतीतित्व यहाँ साक्षात्कारता अभिप्रेत है। संविद्में संविद्भिन्नता स्वतः होती है। अन्य विषय संविद्में अध्यस्त होनेसे संविद्भिन्नता होती है। अधिष्ठानसत्तासे अतिरिक्त अध्यस्तकी सत्ताका न होना ही अध्यस्तका संविद्से अभिन्नता है। इस सम्बन्धमें अनुमान भी है "आत्मा स्वयं प्रकाशः शश्वदपरोक्षत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा घटः"। अर्थात् शश्वत् प्रत्यक्ष होनेसे आत्माको स्वयं प्रकाश मानना चाहिये। घटादि कभी अपरोक्ष होते हैं, शश्वदपरोक्ष नहीं होते। अतः वे स्वप्रकाश नहीं होते हैं। 'आत्मा शश्वदपरोक्षः शश्वदसंदिग्धत्वात्, व्यतिरेके घटवत्" अर्थात् आत्मा सदा अपरोक्ष ही है क्योंकि उसमें सदा ही संशय-विपर्यय, अज्ञान-शून्यता रहती है। घटादि ऐसे नहीं हैं अतः वे अपरोक्ष भी नहीं हैं (भले ही वेदान्तवेद्य अखण्डानन्द आकारसे आत्मा संदिग्ध होता है अतएव वही शास्त्रका विषय होता है, तथापि ज्ञान, सुखादि साक्षिरूपसे आत्मा सदा ही असंदिग्ध रहता है।)

यहाँ अप्रसिद्ध विशेषता नहीं कही जा सकती है अर्थात् स्वप्रकाशत्वरूप साध्य अप्रसिद्ध है यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि निम्नोक्त अनुमानसे स्वप्रकाशता प्रसिद्ध हो जाती है। "अयं घटः, एतदन्यज्ञेयत्वरहितभासमानान्यः, द्रव्यत्वात् घटवत्"। यहाँ 'अयं घटः' पक्ष है। यह यद्यपि ज्ञेय है तथापि यह पक्ष

ही है अतः इसमें पक्षान्यत्व नहीं है। अतएव यह पक्षान्यत्वविशिष्ट ज्ञेयत्व शून्य ही है और भासमान भी है। एतदन्यत्व विशिष्ट ज्ञेयत्वशून्य भासमान है उससे अन्य पट है। इस तरह दृष्टान्तसे साध्य प्रसिद्ध हुआ। पक्षसे अन्यत्वेन विशेषित जो ज्ञेयत्व होता है उस ज्ञेयत्वसे रहित एवं भासमानसे अन्यता साध्य है, यह पटमें है। पक्षभूत घट ज्ञेय होनेपर भी पक्षान्यत्व विशिष्ट ज्ञेयत्वरहित है और भासमान भी है। उससे अन्य पट है। उसी तरह 'अयं घटः' इस पक्षमें भी साध्य-सिद्धि अनुमानके द्वारा करनी है। पक्षमें अनुमान बिना साध्यसिद्धि नहीं कही जा सकती। क्योंकि वह तो पक्षान्यत्वविशिष्ट ज्ञेयत्वशून्य भासमान ही है, भासमानसे अन्य नहीं है। किन्तु पक्षसे अन्य ही कोई वस्तु ऐसी होनी चाहिये जो पक्षसे अन्य भी हो, ज्ञेयत्व-रहित भी हो, भासमान भी हो। जब उस भासमानसे अन्य पक्ष होगा तब पक्षान्यत्व विशिष्ट ज्ञेयत्व शून्य भासमानान्यता पक्षमें आ सकेगी। पक्षसे अन्य घटादि प्रसिद्ध पदार्थोंमें ऐसा कोई नहीं है जो पक्षान्यत्वविशिष्ट ज्ञेयत्वरहित भासमान हो। क्योंकि सभी भासमान पक्षान्यघटादि पक्षान्यत्व विशिष्ट ज्ञेयत्वयुक्त ही है। उपर्युक्त अनुमानसे जो इस प्रकारकी एतदन्यत्वविशिष्ट ज्ञेयत्व शून्य भासमान वस्तु सिद्ध होती है वही स्वप्रकाश आत्मा है।

सुखादिका अनुभाविता साक्षी सर्वानुभवसिद्ध है। चार्वाक भी 'अहं' इस अनुभवका अपलाप नहीं करता है। किन्तु शरीरको वह इसका विषय बतलाता है। कहा जा सकता है कि 'स्वसत्ताके समय सुखादिमें भी सन्देह नहीं रहता है फिर सुखादिको भी स्वप्रकाश क्यों न माना जाय'। परन्तु आत्मप्रकाशसे ही सुखका प्रकाश उत्पन्न हो सकता है। अतः आत्माकी स्वप्रकाशतासे भिन्न सुख ही स्वप्रकाशता नहीं मानी जाती है।

यदि आत्मामें नित्य साक्षात्कारता न होती तो कभी-न-कभी आत्मामें सन्देह होता। किन्तु आत्मामें सन्देह कभी देखा नहीं जाता है, अतः आत्मामें नित्य साक्षात्कारता ही सिद्ध होती है। इसी तरह यह भी कहना संगत नहीं है कि 'आत्मविषयक अन्य प्रत्यक्ष संविद् उत्पन्न होती है।' क्योंकि उक्त रीतिसे अनवस्था प्रसङ्ग होगा। अतः अनिच्छयापि बौद्धको आत्माकी स्वयं सिद्धता माननी पड़ेगी। पीछे कहा जा चुका है कि जिस तरह पाक स्वयं पक्ता नहीं होता, छिदिक्रिया स्वयं छेत्री नहीं होती, उसी तरह ज्ञान स्वयं ज्ञाता नहीं होता है।

विज्ञानवादी बौद्ध प्रमाताका अस्तित्व नहीं मानता है। कहता है जैसे— प्रदीप प्रदीपान्तर निरपेक्ष स्वयं प्रकाशित होता है वैसे ही विज्ञानान्तर निरपेक्षविज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है। विज्ञानवादी बौद्धके इस कथनका निष्कर्ष यह निकलता है कि विज्ञान प्रमाणागम्य है और उसका कोई अवगन्ता या जानकार नहीं है। यह कथन उसी तरहका है जैसे कोई कहे कि ठोस शिलाके मध्यमें सहस्र दीप प्रकाश

है। यह भी न प्रमाणगम्य है, न किसी जानकारको इसका अनुभव है। अर्थात् शिलाघनमध्यस्थ सहस्र दीप प्रकाश प्रमाणागम्य तथा ज्ञातृरहित होनेसे अमान्य होता है वैसे ही विज्ञान प्रमाणागम्य तथा ज्ञातृशून्य होनेसे अमान्य ही होगा। यदि विज्ञान किसी ज्ञाताको भासमान नहीं हो तो उस स्वप्रकाशका विज्ञानसे क्या प्रयोजन है ?

बौद्धोंकी ओरसे कहा जाता है कि "विज्ञान ही ज्ञाता है। विज्ञानवादी बौद्धोंका विज्ञान अनुभवरूप ही है। वही साक्षी भी है"। किन्तु यह कथन संगत नहीं है क्योंकि जैसे नेत्ररूपी साधनसे युक्त अन्य ज्ञाताको ही प्रदीपादिका प्रकाश होता है वैसे अन्य ज्ञाताको ही विज्ञानका प्रकाश होना युक्त है। जैसे दीप ग्राह्य है। वैसे ही बौद्ध मतमें विज्ञान भी ग्राह्य है। फिर भी बौद्धका कहना है कि जब वेदान्ती साक्षीको स्वयं सिद्ध मानता है तो स्वयंसिद्ध विज्ञान माननेमें क्या आपत्ति है ?

वस्तुस्थिति यह है कि बौद्धके स्वयंसिद्ध विज्ञानको ही वेदान्तीने साक्षी नाम दे दिया है तथा च नाममें ही विप्रतिपत्ति है, परंतु यह ठीक नहीं है। क्योंकि बौद्ध विज्ञानकी उत्पत्ति और प्रध्वंस मानता है, तथा विज्ञानकी अनेकता मानता है और वेदान्तीका साक्षी नित्य तथा एक, असङ्ग एवं अनन्त है।

बौद्धका विज्ञान बुद्धिवृत्तिरूप ही है। उसकी उत्पत्ति, विनाश तथा अनेकता प्रसिद्ध ही है। घटादिके तुल्य ही उसकी अतिरिक्त साक्षिवेद्यता सिद्ध की जा चुकी है। जिस विज्ञानकी उत्पत्ति होती है वह स्वयं फलरूप है, फिर स्वयं ज्ञाता कैसे बन सकता है ? वही कर्ता, वही फल नहीं हो सकता है, वही पक्ता वही पाक नहीं होता, यह कहा जा चुका है। आजकल भी बौद्ध यही कहते हैं कि 'विज्ञानवादीका विज्ञान नित्य विज्ञानस्वरूप आत्मा ही है, और श्रीशङ्कराचार्यके समयमें भी कुछ बौद्धोंने ऐसा कहा था। किंतु यह सब बौद्धोंका अपसिद्धान्त ही है।

जो कहा गया था कि स्वप्नादि प्रत्ययके तुल्य ही जागरित घटादि प्रत्यय भी बाह्यार्थके विना ही उपपन्न हो जायँगे, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि स्वप्नादि प्रत्ययोंका जागरित प्रत्ययसे महान् अन्तर है। स्वप्नादिका बाध होता है परंतु जागरित प्रत्ययका बाध नहीं होता। बौद्ध मतानुसार जागरित प्रपञ्च किसी अधिष्ठानके अज्ञानका कार्य नहीं है जो कि अधिष्ठान ज्ञानसे शुक्ति रजतके समान बाधित हो जाय। स्वप्नकी वस्तु प्रबोध होते ही बाधित हो जाती है। इसलिये जागनेपर प्रतिबुद्ध प्राणी कहता है 'मैंने स्वप्नमें मिथ्या ही गज-रथादि देखा था। वस्तुतः गजरथादि न थे। मेरा मन निद्रासे म्लान था। उसीसे ऐसी भ्रान्ति हुई थी।' इसी तरह माया प्रत्ययका भी बाध होता है। यदि जागरित प्रत्यय भी बाधित हो तो वह स्वप्न प्रत्ययका बाधक नहीं हो सकता। क्योंकि जो स्वयं बाध्य है वह बाधक कैसे हो जायगा ? फिर तो स्वप्न प्रत्यय दृष्टान्त भी नहीं सिद्ध होगा। अतः स्वप्न प्रत्ययके दृष्टान्तसे जाग्रत् प्रत्ययकी निरालम्बनता नहीं सिद्ध की जा सकती है।

तथा 'घटादिप्रत्ययो, निरालम्बनः, प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्' ।(घटादि प्रत्यय स्वप्नज्ञानके तुल्य ही ज्ञानत्व जातिमें होनेसे निरालम्बन (विषयशून्य है) यह अनुमान भी बाध्यत्वरूप उपाधिसे दूषित है। जहाँ निरालम्बनता है वहाँ बाध्यता है जैसे स्वप्नादिमें। प्रत्ययत्व जागरित प्रत्ययमें भी है, परंतु वहाँ बाध्यत्व नहीं है। इसलिये साध्यव्यापक तथा साधना व्यापकरूप उपाधिसे युक्त होनेके कारण उक्त अनुमान दूषित है। जहाँतक प्रमाता है वहाँतक जाग्रत्प्रत्ययका बाधाभाव प्रमित ही है। साथ ही प्रमाणाजन्यत्व भी उपाधि है। अर्थात् स्वप्न प्रत्यय एक प्रकारकी स्मृति ही है जो कि संस्कारमात्रसे उत्पन्न होती है। वह जाग्रत्-प्रत्ययकी तरह प्रमाणजन्य नहीं होती। जाग्रत्प्रत्यय तो वर्तमान विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष, लिङ्ग, शब्द, सादृश्य, अन्यथानुपपत्ति, योग्यानुपलब्धिरूप प्रमाणोंसे उत्पन्न होते हैं। निद्राकालमें उपर्युक्त कोई सामग्री नहीं रहती है, केवल संस्कार ही हेतु रहते हैं। अतः संस्कारमात्रजन्य होनेके कारण स्वप्नादि प्रत्यय स्मृति हैं। वह स्मृति भी निद्रादि दोष-परीत होनेके कारण विपरीत हो जाती है। तभी तो अवर्तमान पिता आदिको वर्तमानरूपसे ग्रहण करती है। स्मृति और उपलब्धिमें भेद होता है। स्वप्न तो विपरीत स्मृति ही है। अतः जाग्रत् कालके प्रमाणजन्य प्रमारूप प्रत्ययोंसे स्वप्न प्रत्ययमें महान् भेद है। अतः स्वप्नप्रत्ययकी तरह जाग्रत्-प्रत्यय निरालम्बन नहीं हो सकते। प्रमाणोंका स्वतः प्रामाण्य होता है। जाग्रत्-प्रत्ययोंकी यथार्थता अनुभव सिद्ध है। अनुमानके द्वारा उनका अन्यथात्व नहीं सिद्ध किया जा सकता। क्योंकि अनुभव विरुद्ध अनुमान उत्पन्न ही नहीं हो सकता। यह नहीं कहा सकता कि स्वतः प्राप्त प्रामाण्यका अनुमान द्वारा अपोहन हो जायगा। क्योंकि अबाधित विषय होनेपर ही अनुमानका प्रामाण्य होता है। यहाँ तो प्रत्यक्ष बाध है। अतः अनुमान प्रमाजनक नहीं हो सकेगा। प्रत्यक्षके प्रामाण्यका अपवाद अनुमानसे नहीं हो सकता। अबाधित विषयता भी अनुमानोत्पादक सामग्रीसे ग्राह्य होनेसे प्रमाण होती है। यहाँ तो अनुमान सामग्री प्रत्यक्षसे अनुमानका विषयबाधित ही हो जाता है।

स्मृति और प्रमामें पार्थक्य

स्मृति और प्रमाका यह महान् अन्तर व्यवहारमें भी अनुभूत होता है। लोग कहते हैं कि 'हम पुत्रका स्मरण कर रहे हैं, उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं कर रहे हैं, प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहते हैं। इस तरह अनुभवसिद्ध भेदके रहते यह नहीं कहा जा सकता कि स्वप्न-प्रत्ययके तुल्य जाग्रत्प्रत्यय निरालम्बन है। स्वानुभवका अपलाप नहीं किया जा सकता। बौद्ध भी स्वानुभवविरोध-प्रसङ्ग उपस्थित होनेके कारण ही जागरित-प्रत्ययको निरालम्बन कहनेमें असमर्थ होकर ही उसे स्वप्न-प्रत्ययके दृष्टान्तसे निरालम्बन कहनेका प्रयत्न करता है। परंतु जो

जिसका स्वतः धर्म नहीं होता वह अन्यके दृष्टान्तसे नहीं सिद्ध होता। जब अग्नि उष्णरूपसे अनुभूयमान रहता है तो जलके दृष्टान्तसे उसे शीत नहीं कहा जा सकता है। जल एवं अग्निके वैधर्म्यके समान ही स्वप्न एवं जागरितका बाध-अबाध आदि वैधर्म्य कहा ही जा चुका है।

वस्तुतस्तु स्वप्नादि प्रत्यय भी निरालम्बन नहीं है, अनिर्वचनीय प्रातीतिक पदार्थ स्वप्नादि प्रत्ययोंका भी आलम्बन है ही। उसी तरह व्यावहारिक सत्य पदार्थ जाग्रत् प्रत्ययके आलम्बन होते हैं। वेदान्ती जैसे पारमार्थिक ब्रह्मके अज्ञानसे व्यावहारिक सत्य प्रपञ्चकी सृष्टि मानते हैं, वैसे ही व्यावहारिक रज्ज्वादिके अज्ञानसे प्रातिभासिक सत्य सर्पादिकी उत्पत्ति मानते हैं। अतएव जब व्यवहारमें बाधित होनेवाले स्वप्नादि प्रत्यय भी निरालम्बन नहीं हैं तब व्यवहारमें कभी बाधित न होनेवाले जाग्रत् प्रपञ्च प्रत्ययको निरालम्बन कैसे कहा जा सकता है? परंतु बौद्ध संसारको न तो अज्ञानका कार्य ही मानता है और न अधिष्ठान ज्ञानसे उसका बाध ही मानता है।

बौद्धके यहाँ सम्यग्दृष्टि या प्रज्ञापारमितासे अविद्याकी निवृत्ति होती है। परंतु वह अविद्या विश्वका उपादान आदि नहीं है। किंतु असत्, क्षणिक आदिमें सत्, क्षणिक बुद्धि आदि ही अविद्या उन्हें मान्य है। अतएव वासना-वैचित्र्यसे वे विज्ञान-वैचित्र्यका उपपादन करते हैं। जैसे उनके यहाँ ज्ञान सत्य है वैसे ही वासना भी सत्य ही है। वासनाका अधिष्ठान ज्ञानसे बाध नहीं होता है। किंतु सम्यग्दृष्टि, सम्यक् प्रयत्नसे वासना निरोधसाध्य होता है जब कि वेदान्त मतसे ब्रह्मके सम्यक् ज्ञानमात्रसे निवर्त्य अज्ञान होता है। इस तरह वेदान्त सिद्धान्तसे बौद्धमतका अत्यन्त भेद है।

जो बौद्धोंने कहा है कि अर्थके विना ही वासना-वैचित्र्यसे ज्ञान-वैचित्र्य उपपन्न हो जायगा, वह भी ठीक नहीं। क्योंकि जब विज्ञानवादी बौद्धके मतमें बाह्यार्थकी उपलब्धि ही नहीं होती तब वासना भी कैसे बनेगी? विविध अर्थोपलब्धिके अनुसार ही तो नाना प्रकारकी वासनाएँ होती हैं? जब बाह्यार्थका ज्ञान होता ही नहीं, तब किस आधारपर वासनाएँ बनेंगी? विज्ञानों और वासनाओंको अनादि माननेपर भी अन्ध परम्परान्यायसे वासनाओं और विज्ञानोंकी परम्परा अप्रतिष्ठित और अनवस्थित ही रहेगी।

यहाँ विज्ञानवादीका कहना है कि अर्थोपलब्धिके अभावसे वासनाओंका अभाव नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि विज्ञानवादमें अर्थ नहीं मान्य है। अतः बाह्यार्थ एवं अर्थोपलब्धिकी व्याप्ति निश्चित नहीं हो सकती। किंतु यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि विज्ञानवादीको भी लोकसिद्ध अन्वय-व्यतिरेकके आधारपर ही स्वप्न-की अर्थोपलब्धिको वासनाजन्य मानना पड़ेगा। उसीके दृष्टान्तसे जाग्रत्के घटादि ज्ञानोंके भी वासनाजन्य होनेका अनुमान किया जाता है। तथा च बाह्यार्थरूप-

कारणके रहनेपर ही अर्थोपलब्धिरूप कार्य होता है, बाह्यार्थ न होनेपर अर्थोपलब्धि भी नहीं होती। इस अन्वय-व्यतिरेकके अनुसार अर्थोपलब्धि और बाह्यार्थका ही कार्यकारणभाव मालूम पड़ता है। अर्थानपेक्ष वासना और अर्थोपलब्धिका लोकसिद्ध अन्वयव्यतिरेक नहीं है। स्वप्न प्रत्ययकी हेतुभूत वासना भी जाग्रत्कालकी अर्थोपलब्धिके ही पराधीन होनी है। इस तरह कारणका कारण होनेसे स्वप्न प्रत्ययमें भी अर्थोपलब्धि मूल है। अतएव अर्थका उपलब्धिके साथ लोकदर्शनानुसारी अन्वय-व्यतिरेक गृहीत होता है। अर्थानपेक्ष वासनाके साथ उपलब्धिका अन्वय-व्यतिरेक गृहीत नहीं होता। स्वप्नोपलब्धिकी कारणभूत वासनाका भी कारण जागरित अर्थोपलब्धि ही है। अतः अर्थस्वप्नोपलब्धिका भी मूल है ही।

बाह्यार्थापलापी विज्ञानवादी अन्वय-व्यतिरेकसे, ज्ञानको वासना निमित्तक मानता है, अर्थनिमित्त ज्ञान नहीं मानता है। परंतु पूर्वोक्त युक्तिसे उसका खण्डन हो जाता है। अर्थोपलब्धि बिना वासनाकी उत्पत्ति होती ही नहीं, कई ऐसी नवीन वस्तुओंकी भी उपलब्धि हो सकती है जिनकी वासना है ही नहीं। इस तरह वासना बिना भी अर्थोपलब्धि होती है किंतु बिना अर्थोपलब्धिके वासना कभी नहीं होती देखी जाती है। इस तरह अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा अर्थका सद्भाव ही सिद्ध होता है, बाह्यार्थका अपलाप नहीं सिद्ध होता है।

वासना एक संस्कार ही है, वह संस्कार आश्रयके बिना नहीं रह सकता है। वासनाका आश्रय बौद्ध विज्ञानवादीके मतमें प्रमाणसिद्ध नहीं है। क्षणिक आलय-विज्ञान भी वासनाका आश्रय नहीं बन सकता। क्योंकि विज्ञान और वासना यदि दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं तो जैसे साथ उत्पन्न दायें-बायें शृङ्गका आधाराधेय भाव नहीं बन सकता है वैसे विज्ञान और वासनाका भी आधाराधेय भाव नहीं बन सकेगा। यदि ज्ञान पहले उत्पन्न हो और वासना पीछे उत्पन्न हो तो भी आधाराधेय भाव नहीं बन सकता। क्योंकि आधेयकी उत्पत्तिके समयतक तो क्षणिक विज्ञान नष्ट हो चुका होता है। यदि विज्ञानवासना उत्पत्तिके समयमें भी रहेगा तो क्षणिकत्वकी हानि होगी। आश्रयके बिना ही एक सन्तति पतित समानाकार विज्ञान ही वासना है, यह विज्ञानवादियोंका स्वगोष्ठीनिष्ठ सिद्धान्त है, प्रामाणिक नहीं। वस्तुतः वासना एक गुण है उसका स्वसमवायी कारण ही आश्रय होता है।

विज्ञानवादी जिस आलय विज्ञानको वासनाओंका आधार मानते हैं, आखिर वह भी तो क्षणिक ही होगा! अतः जैसे प्रवृत्ति विज्ञान वासनाओंका अधिकरण नहीं हो सकता वैसे आलयविज्ञान भी वासनाओंका अधिकरण नहीं हो सकता। अतीत, अनागत, वर्तमानमें अन्वयी एक कूटस्थ सर्वार्थदर्शी साक्षी आत्माको स्वीकार किये बिना देश-काल-निमित्तापेक्ष वासना एवं तदधीन स्मृति, प्रत्यभिज्ञा

आदि कुछ भी नहीं बन सकते। यदि आलयविज्ञानको स्थिर माना जायगा तो विज्ञानवादीके सिद्धान्तकी हानि होगी। बाह्यार्थवादीकी तरह विज्ञानवादी भी क्षणिकवादी है। अतः बाह्यार्थवादके सम्बन्धमें कहे गये दूषण भी उसमें लागू होंगे ही।

शून्यवादीका कहना है "यदि साकारज्ञान सम्भव नहीं है और बाह्यार्थ भी न सूक्ष्म हो सकता है न स्थूल, तब तो क्या अर्थ, क्या ज्ञान सभी वस्तु विचारासह ठहरते हैं। ज्ञान और अर्थ दोनों ही बाधित हो जाते हैं। अतः वे सत् नहीं कहे जा सकते। असत् भी नहीं हो सकते, क्योंकि असत् होनेपर उनका भान नहीं होना चाहिये। सत्-असत् उभयरूप भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनका परस्पर विरोध होता है। अनुभवरूप भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि सत्-असत् इस प्रकारके होते हैं कि एकका निषेध करेंगे तो दूसरेका विधान अनिवार्य हो जायगा। अतः विचारासहत्व ही वस्तुओंका रूप है। अतः शून्यवादियोंने कहा है—

इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति विपश्चितः।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा॥

अर्थात् 'वस्तुओंके स्वभावसे ही यह बात आ जाती है कि पदार्थोंका जैसे-जैसे विचार किया जाता है वैसे-वैसे वे पृथक्-पृथक् विशीर्ण होते जाते हैं, सत्-असत् आदि किसी पक्षमें व्यवस्थित नहीं हो पाते। अतः शून्यता ही तत्त्व है।'[१]

शून्यवादियोंका यह पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि यह सर्वप्रमाण विरुद्ध है। प्रमाणप्रसिद्ध लोक-व्यवहार अधिष्ठानभूत ब्रह्मतत्त्व साक्षात्कार बिना बाधित नहीं हो सकता। अपवादके बिना उत्सर्गकी स्थिति स्वाभाविक होती है। लौकिक-प्रमाण अपने-अपने विषय-सत्-असत्का बोधन करते हैं। उन्हीं प्रमाणोंके आधारपर सत्‌रूपसे यथाभूत अविपरीततत्त्वकी व्यवस्थापना होती है। इसी तरह असत्-असत् इस रूपसे यथाभूत अविपरीत तत्त्वकी व्यवस्थापना होती है। सत्-असत्को विचारासह कहनेवाले शून्यवादीका पक्ष सर्वप्रमाण विरुद्ध है।

कहा जाता है कि 'इस विचारसे प्रमाणोंके तात्त्विक प्रामाण्यका ही खण्डन किया जाता है सांव्यावहारिक प्रामाण्यका खण्डन नहीं किया जाता। तथा च भिन्नविषयक होनेसे प्रमाण विप्रतिषेध नहीं होगा किंतु यह ठीक नहीं। क्योंकि प्रमाण स्वविषयमें प्रवर्तमान होते हुए 'यह तत्त्व है' इस रूपसे ही प्रवृत्त होते हैं। बाधकज्ञानसे ही उनके विषयकी विपरीतता दिखाकर अतात्त्विकता सिद्ध की जाती है। जैसे यह शुक्ति है रजत नहीं, सूर्यकिरण है जल नहीं, एक चन्द्र है दो नहीं, इत्यादि स्थलोंमें बाधका अधिष्ठान ज्ञानोंसे यह रजत है यह जल है इत्यादि ज्ञानोंके विषयोंकी विपरीतता दिखलाकर अतात्त्विकता सिद्ध की जाती है। वैसे बाधकज्ञानके

द्वारा समस्त प्रमाण-गोचर पदार्थोंके विपरीत तत्त्वान्तरकी व्यवस्थापना करके ही प्रमाणोंकी अतात्त्विकता सिद्ध की जा सकती है।

निष्कर्ष यह है कि प्रपञ्चको अतात्त्विक सिद्ध करनेके लिये अधिष्ठान भूत वस्तुतत्त्व आवश्यक है परंतु शून्यवादी तो भ्रमको निरधिष्ठान ही कहता है, क्योंकि उसके अनुसार तो प्रमाणोंके द्वारा तत्त्वकी उपलब्धि होती ही नहीं। इसी अभिप्रायसे भगवान् व्यासने कहा है—"नाभावोऽनुपलब्धेः" अर्थात् अधिष्ठानभूततत्त्व शून्यवादमें सम्भव नहीं है। क्योंकि उसके अनुसार किसी प्रमाणसे तत्त्वका उपलम्भ होता ही नहीं। जो अप्रामाणिक होगा उसे तत्त्व कैसे कहा जा सकता है ?

आजकलके बौद्ध-बुद्धके मौनके आधारपर कहते हैं कि "बुद्धको मनोवचनातीत एक अधिष्ठानतत्त्व अभिमत था। जैसे वैदिकोंके यहाँ कहा जाता है 'अवचनेनैव प्रोवाच ह' अर्थात् आचार्यने अवचनसे ही तत्त्वका उपदेश कर दिया।

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्याः गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः॥

अर्थात् 'वटवृक्षके नीचे एक आचार्य देखा गया है वहाँ एक युवा गुरु तथा बहुतसे वृद्ध शिष्य बैठे हैं। गुरुके मौन व्याख्यानसे ही शिष्योंके सब संशय दूर हो गये।'

वस्तुतः वैदिकोंके इस मौनव्याख्यानको ही बुद्धके मौनके साथ जोड़नेका यत्न किया गया है। किंतु वैदिकोंने स्थल-स्थलपर असद्वाद, शून्यवादका निषेध किया है। विश्वकारणरूपसे एवं सर्वाधिष्ठानरूपसे तत्त्वका प्रतिपादन किया है। उसके सविषयत्व एवं मनोवचनगोचरत्वकी शङ्का दूर करनेके लिये ही कहीं भाग-त्याग-लक्षणा, कहीं नेति-नेति, अस्थूल, अनणु आदि अतद्व्यावृत्ति तथा कहीं मौनका अवलम्बन किया गया है। शून्यवादियों एवं बुद्धके उपदेशोंमें तो सबके मूल अधिष्ठान या किसी स्थायी वस्तुका सर्वथा खण्डन ही है। सर्वसाक्षी कोई स्थायी आत्मा भी शून्यवादियोंको मान्य नहीं है। फिर भी अगर बुद्धके मौनसे निर्विशेष-ब्रह्मका बोध हो तो किसी प्रतिवचन दानासमर्थ पराजितवादीके भी मौनसे, अथवा अज्ञमूकके भी मौनसे अधिष्ठानब्रह्मका बोध समझा जा सकेगा।

लोकमें भी प्रसङ्गानुसार मौनसे तत्त्वबोध कराया जाता है। जैसे किसी नवोढासे उसके सभामें स्थितपतिको उसकी सखियाँ पूछती हैं। तो विभिन्न व्यक्तियों-पर अंगुलीसे निर्देशकर पूछती है कि इनमेंसे तेरे पति कौन हैं? सखियोंके विभिन्न अंगुली निर्देशपर नवोढा 'नेति-नेति' बोलती जाती है। जब ठीक उसके पतिपर ही अंगुली निर्देश होता है तब वह लज्जित होकर मौन हो जाती है। बस, इस मौनसे

ही सखियाँ समझ लेती हैं कि इसका पति यही है। इसी तरह विश्वकारण विश्वके अधिष्ठानका प्रत्यगभिन्न परमात्माका अनेक श्रुति युक्ति आदि प्रमाणोंसे प्रतिबोधित कर देनेके बाद भागत्याग इतर निषेधके अनन्तर मौनद्वारा सर्वनिषेधावधि, सर्वनिषेधाधिष्ठान तथा सर्वनिषेधसाक्षीका बोध कराया जाता है।

ये सब बातें शून्यवादमें सम्भव नहीं; बुद्धने किसी मूलकारण या मूलतत्त्वका प्रतिपादन नहीं किया प्रत्युत उन्होंने सभी स्थायी पदार्थोंका सर्वथा निषेध किया है। आत्मातकका निषेध किया है, कारणभूत ईश्वरका ही खण्डन किया है। उन्होंने सभी सत्को क्षणिक माना है। उन्होंने तो अपने मौनका स्पष्ट अर्थ बतलाया भी है कि 'ऐसे विषयोंपर विचार करना व्यर्थ हैं। इनका विचार लाभदायक न होकर हानिकारक ही है। पुनर्जन्म होता है या नहीं, लोक शाश्वत है या नहीं, आत्मा देहसे भिन्न है या नहीं इत्यादि विचार व्यर्थ हैं।' फिर भी बुद्धके मौनसे उनके स्पष्ट कथनके विरुद्ध कूटस्थ अधिष्ठान आत्माको स्वीकार करना शुद्धरूपसे बुद्धिके नामपर उनके साथ बेईमानी करनी है।

इसके अतिरिक्त प्रमाण बिना भी यदि कोई पदार्थ स्वीकार्य हो तो फिर प्रमा-प्रमेय-व्यवस्था ही व्यर्थ होगी। तब तो स्वानुभवके नामपर समाधिके नामपर कोई कुछ भी मनमानी पदार्थ सिद्ध करता फिरेगा ?

यों तो कपिल, वशिष्ठ, व्यास, गौतम, कणाद सभी समाधि सम्पन्न थे। सभी स्वानुभवकी बात कर सकते थे, परंतु प्रमाणविरुद्ध अर्थ कोई माननेको तैयार नहीं हो सकता है। वेदान्ती तो अनादि, अपौरुषेय पुरुषाश्रित भ्रमादि दोष शून्य वेद तथा वेद मूर्धन्य उपनिषद्रूप परम प्रमाणके आधारपर अधिष्ठान ब्रह्मसिद्ध करते हैं। विधिमुख भाग त्याग एवं अतन्निषेधके द्वारा वेदान्तोंका ही नहीं; अपितु सभी वेदोंका पर्यवसान ब्रह्ममें ही कहा गया है। **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।'** अर्थात् सभी वेदोंका महातात्पर्य ब्रह्ममें ही है। प्रत्यक्ष-अनुमान आदिके द्वारा भी वेदान्ती अधिष्ठान भूत ब्रह्मकी सिद्धि करते हैं। निषेध आदिके द्वारा तो केवल अधिष्ठानकी निर्विशेषता आदि ही सिद्ध की जाती है। अस्तु !

शून्यवादीसे यदि प्रश्न हो कि 'प्रपञ्चकी अतात्त्विकता धर्मिभूत प्रपञ्चग्राहक प्रमाणोंसे ही सिद्ध होती है, अथवा प्रमाणान्तरसे ? पहला पक्ष संगत नहीं है। क्योंकि धर्मिग्राहक प्रमाण तो अपने विषयकी तात्त्विकताका ही प्रतिपादन करते हैं। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योंकि बाधक प्रमाणज्ञान अधिष्ठानका ही ज्ञान हो सकता है। परंतु तात्त्विक अधिष्ठानगोचर कोई प्रमाण शून्यवादीको मान्य नहीं। उसके मतमें तो जो भी पदार्थ हैं सभी निस्तत्त्व निःस्वभाव है।

शून्यवादी कहता, भले ही अधिष्ठानतत्त्वका बोध न हो, परंतु प्रत्यक्षादिप्रमित वस्तुगत विचारासहत्व ही बाधक प्रमाण है। इसीके द्वारा प्रपञ्चकी निस्तत्त्वता बोधित हो जायगी। किंतु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि विचारासहत्व क्या है यह भी विचार आवश्यक है। क्या विचारासहत्वका यह अभिप्राय है कि 'यद्यपि अत्-असत् आदि पक्षोंमें अन्यतमस्वरूप वस्तु धर्म है तथापि वह विचारासह अथवा विचारासहत्वरूपसे निस्तत्त्व शून्यरूप है? पहला पक्ष ठीक नहीं है। क्योंकि संत्-असत् आदिरूप तत्त्व शून्यवादीको मान्य ही नहीं है। फिर जो वस्तु परमार्थतः सत्-असत् आदि पक्षोंमें ही किसी पक्षकी है तो वह सत्-असत् आदि किसी पक्षमें ही निर्दिष्ट होगी, तब वह विचारासह कैसे? जो सत् या असत् है वह प्रमाणगोचर होनेसे विचारासह तो है ही? यदि वह विचारसहन नहीं कर सकती तो सत्-असत् आदि पक्षोंमें किसी पक्षकी नहीं हो सकती। यदि किसी पक्षकी है तो विचारासह कैसे? यदि यह कहा जाय कि निस्तत्त्व ही विचारासहत्व है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि बिना किसी तत्त्वका व्यवस्थापन किये किसी वस्तुको निस्तत्त्व नहीं कहा जा सकता है। जैसे शुक्तितत्त्वके व्यवस्थापनसे ही रजतकी निस्तत्त्वता कही जाती है वैसे किसी ब्रह्म आदि तत्त्वकी व्यवस्थापनाद्वारा ही प्रपञ्चकी निस्तत्त्वता कही जा सकती है अन्यथा नहीं।

यदि कहा जाय कि निस्तत्त्वता ही भावोंका तत्त्व है तो यह भी ठीक नहीं। तब तो तत्त्वाभाव ही निस्तत्त्वता हुई और शून्यवादीके अनुसार तत्त्वाभाव भी तो विचारासह ही होगा? साथ ही आरोपित पदार्थका ही निषेध होता है और आरोपका अधिष्ठान ही तत्त्व हुआ करता है, यह शुक्ति रजतादिमें दृष्ट है। जब कोई तत्त्व है ही नहीं, तब किसमें किसका आरोप होगा? इस तरह निष्प्रपञ्चपरमार्थ सद्ब्रह्म ही अनिवार्य प्रपञ्चरूपमें आरोपित होता है, यही मानना उचित है। बाधक प्रमाणद्वारा तत्त्व व्यवस्थापन करके प्रमाणोंका अतात्त्विकत्वरूप व्यावहारिक प्रामाण्य व्यवस्थापित हो सकता है।

अतएव भगवान् भाष्यकारका कहना है कि वैनाशिकमत उपपत्तिकी दृष्टिसे जितना देखा जाता है उतना ही बालूके कूपकी तरह ढहता चला जाता है। बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि परस्पर विरुद्ध वादोंका उपदेश करते हुए बुद्धने असम्बद्ध प्रलापिता ही ख्यापित की है, अथवा प्रजामें व्यामोह फैलानेके दृष्टिसे ही बुद्धने इस प्रकारका तत्त्वोपदेश किया है, ऐसा ही पुराणोंमें प्रसिद्ध है।

इसी तरह नैरात्मवाद स्वीकार करना साथ ही समस्त वासनाओंके आधारभूत आलयविज्ञानको अक्षर आत्मा मानना भी परस्पर विरुद्ध है।

जैनियोंके मतानुसार संसारी और मुक्त—ये दो प्रकारके जीव हैं। संसारी भी समनस्क और अमनस्क-भेदसे दो प्रकारके हैं। कोई लोग जीव, अजीव, आसव, बन्ध, संवर, निर्जर और मोक्षरूप तत्त्व मानते हैं। इस तरह पञ्चास्तिकाय भी इन्हींका विस्तार है। उनमें और भी बहुत प्रकारके भेद हैं। वे लोग प्रत्यक्ष और अनुमान—यही दो प्रमाण मानते हैं। सर्वत्र 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति च नास्ति च, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति चावक्तव्यः, स्यान्नास्ति, चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः' (सर्वदर्शनसं० अर्हित-दर्शन ४७) इस सप्तभङ्गि न्यायको मानते हैं। इसी प्रकार नित्यत्वादिमें भी इसी न्यायको प्रयुक्त करते हैं। वे शरीरपरिमाण ही आत्मा मानते हैं। कर्माष्टक जीवको बद्ध करता है। समस्त क्लेश और तद्विषयिणी वासनाएँ जिसकी विगलित हो चुकी हैं, जिसका ज्ञान आवरणरहित हो गया है और जिसे एकतान सुख प्राप्त हो गया है, ऐसे आत्माके ऊपरके देशमें अवस्थानको कोई मोक्ष कहते हैं। किन्हींके मतानुसार जीव गमनशील है और धर्माधर्मास्तिकायसे वह बद्ध है। उससे छूटनेपर उसका ऊपर जाना ही मोक्ष है।

'क्षित्यङ्कुरादिकर्तृत्वेन एक ईश्वर सिद्ध नहीं होता' ऐसा किन्हींका कथन है, क्योंकि प्रपञ्चमें कार्यत्व सिद्ध नहीं है। यदि सावयवत्वेन कार्यत्वकी सिद्धि कही जाय, तो विकल्पासह होनेसे वैसा नहीं कहा जा सकता। जैसे कि वह सावयवत्व क्या है, अवयव-संयोगित्व, अवयवसमवायित्व, अवयवजन्यत्व, समवेतद्रव्यत्व या सावयवबुद्धिविषयत्व ? आकाशमें अनैकान्तिक होनेके कारण अवयवसंयोगित्व नहीं कहा जा सकता। सामान्य (जाति) आदिमें अनैकान्तिक होनेसे अवयव-समवायित्व भी नहीं कहा जा सकता। साध्यसम होनेसे अवयवजन्यत्व भी साव-यवत्व नहीं हो सकता। विकल्पासह होनेसे समवेतद्रव्यत्वरूप चतुर्थ पक्ष भी ठीक नहीं। जैसे कि समवायसम्बन्धमात्रवत् द्रव्यत्व समवेतद्रव्यत्व है अथवा अन्यत्र समवेत द्रव्यत्व ? आकाशादिमें व्यभिचार होनेसे प्रथम पक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आकाशमें गुणादिसमवायत्व और द्रव्यत्व दोनों सम्भव हैं। साध्यसे अविशिष्ट होनेके कारण दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है। संघीभूत तन्तु ही पट है, अतः तन्तुओंमें पटसे अन्यत्व सिद्ध नहीं है, साथ ही समवाय भी असिद्ध है। आत्मा आदिमें अनैकान्तिक होनेके कारण सावयवबुद्धिविषयत्वरूप पाँचवाँ पक्ष भी ग्राह्य नहीं हो सकता; क्योंकि सावयवत्वबुद्धिके विषय होनेपर भी आत्मामें कार्यत्व नहीं है।

फिर, एक कर्ताकी सिद्धि की जा रही है या अनेक कर्ताओंकी ? यदि एककी, तो प्रासादादिमें व्यभिचार आता है; क्योंकि प्रासादादिका निर्माण एक कर्ताद्वारा निष्पन्न नहीं होता। अनेक कर्ता भी नहीं कहे जा सकते; क्योंकि

बहुतोंमें कर्तृत्व माननेपर परस्पर मतभेदकी सम्भावना अनिवार्य होनेसे सामञ्जस्य नहीं बन सकता। सभीका सामर्थ्य यदि समान मानें, तो एकसे ही कार्यसिद्धि भी हो जायगी, फिर अन्योंका वैयर्थ्य सुतरां सिद्ध है, अतः अनेक कर्ता माननेसे भी लाभ क्या ? तथाच आगम-सर्वज्ञपरम्परा अनादि होनेके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्रसे आवरणक्षय होनेसे सर्वज्ञता होती है।

यह सब कथन आपातरमणीय है। सत्त्व और असत्त्वके परस्परविरुद्ध होनेसे उनका समुच्चय न हो सकनेके कारण विकल्प होता है, किंतु वस्तुमें विकल्प सम्भव नहीं है। समस्त वस्तुओंमें निरङ्कुश अनेकान्तत्वकी प्रतिज्ञा करनेवालेके मतमें निर्द्धारण भी एक वस्तु ही तो मानना पड़ेगा। स्यादस्ति और स्यान्नास्ति इन विकल्पोंका उपनिपात होनेसे अनिर्धारणात्मकता ही होगी। जीवको शरीरपरिमाण माननेपर उसे परिच्छिन्न मानना पड़ेगा, अतः आत्माकी अनित्यता भी स्वीकृत करनी पड़ेगी। शरीरोंका परिमाण भी अनवस्थित होनेसे एक मनुष्यजीव मनुष्यपरिमाणका होकर फिर कर्मवशात् जब उसे हाथीका जन्म प्राप्त होगा, तब वह समूचे हाथीके शरीरमें व्याप्त न हो सकेगा। यदि उसे चींटीका शरीर प्राप्त हुआ, तो वह उस चींटीके शरीरमें सम्पूर्णतया समाविष्ट न हो सकेगा। एक जन्ममें भी कौमार, यौवन, वृद्धावस्थाओंमें भी उक्त दोष अनिवार्य होंगे। जीवको वे अनन्त अवयवयुक्त भी मानते हैं। ऐसी दशामें छोटा शरीर प्राप्त होनेपर उन अवयवोंका संकुचित होना और बड़ा देह मिलनेपर विकसित होना भी मानना पड़ेगा। यह भी विचार करनेपर सङ्गत प्रतीत नहीं होता। अनन्त अवयवोंकी समानदेशता प्रतिहत होगी या नहीं ? यदि प्रतिहत होगी, तो वे अनन्त अवयव परिच्छिन्नमें समाविष्ट न हो सकेंगे। यदि न होगी तो सबको एक देशमें ही अवस्थित मानना पड़ेगा। ऐसी दशामें उनमें स्थूलताका अभाव होनेसे जीव अणुपरिमाणपरिमित हो जायगा। शरीरमात्रमें परिच्छिन्नकी अनन्तता भी नहीं बन सकती। अवयवोंके आगम-अपगमसे उनकी छोटे-बड़े शरीरकी परिमाणताकी कल्पना भी असङ्गत है; क्योंकि अवयवोंके उपचय अपचयवाला होनेपर उसे विकारवान् मानना पड़ेगा। अवयवोंमें भी प्रत्येक चेतयिता है या उनका समुदाय ? इसपर लोकायतिकमतके निराकरणप्रसङ्गमें कही हुई आपत्तियाँ अनिवार्य हैं। बन्ध-मोक्षव्यवस्था भी उनसे सम्मत प्रत्यक्ष-अनुमानसे अवगत नहीं हो सकती।

वैशेषिक तथा नैयायिक परमेश्वरकी भी सिद्धि करते ही हैं। प्रपञ्चके सावयव होनेसे उसकी कार्यता सिद्ध करके उस प्रपञ्चके कर्ता ईश्वरको सिद्ध करते हैं। 'पूर्वोक्त विकल्पासह होनेके कारण सावयवत्व असिद्ध है' यह नहीं कहा जा सकता,

क्योंकि 'समवेतद्रव्यत्व सावयवत्व है' ऐसा लक्षण करनेपर उक्त दोष प्रसक्त नहीं होते। आकाशके निरवयव होनेसे उसमें व्यभिचार सम्भव नहीं है। अवान्तर महत्त्वरूप हेतुसे भी कार्यत्वका अनुमान सुकर है। शरीरसे जन्य न होनेसे आकाशकी तरह क्षित्यङ्कुरादि अकर्तृक हैं—ऐसा सत्प्रतिपक्ष अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि शरीर विशेषण व्यर्थ है। केवल अजन्यत्वकी भी हेतुता नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह असिद्ध है। यदि कहा जाय कि शरीराजन्यत्व रहनेपर भी कर्त्रजन्यता न रहे, तो क्या हानि है, तो इसका कोई उत्तर नहीं हो सकता। सोपाधिकत्वकी शङ्का भी नहीं की जा सकती, क्योंकि यदि अकर्तृक होगा, तो कार्य भी न होगा, ऐसा अनुकूल तर्क हो सकता है। यदि इतरकारकोंसे अप्रयोज्य होते हुए सकल कारकोंका जो प्रयोक्ता है, वह कर्ता होता है अथवा ज्ञान-चिकीर्षा प्रयत्नोंका जो आधार है, वह कर्ता है—ऐसा कर्तृलक्षण कहा जाय, तो कर्ताकी व्यावृत्ति होनेपर तदुपहित समस्त कारकोंकी व्यावृत्ति होनेसे कारणके बिना कार्योत्पत्तिका प्रसङ्ग उपस्थित होगा।

यदि ईश्वर कर्ता हो, तो वह शरीरी होगा, ऐसा प्रतिकूल तर्क भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सिद्धि-असिद्धि दोनों अवस्थाओंमें व्याघात होगा। यदि ईश्वर असिद्ध होगा, तो आश्रयासिद्धि होगी और यदि आगमसिद्ध होगा, तो उसीसे उसकी कर्तृत्वसिद्धि भी हो जायगी। अवाप्तसमस्तकाम उस परमेश्वरकी करुणावशात् विश्वसृष्टिमें प्रवृत्ति माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। वैसी दशामें 'सुखमय ही सृष्टिकी प्रसक्ति होगी' यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सृज्यप्राणिकृत सुकृत-दुष्कृतके परिपाकविशेषसे सृष्टिवैषम्य उपपन्न है। कार्य होते हुए विलक्षण होनेके कारण शय्या, प्रासाद आदिके समान भूत, भौतिक पदार्थ स्वोपादानगोचर अपरोक्षज्ञानवान्‌से जन्य हैं, इस अनुमानसे तथा प्रपञ्चके निमित्तोपादान होनेके कारण प्रपञ्चाधारत्व, शासकत्व, प्रकाशकत्व आदिसे परमेश्वर सिद्ध होता है।

वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव—ये सात पदार्थ मानते हैं। नैयायिक लोग प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—ये सोलह पदार्थ मानते हैं। वे आत्माको ज्ञानादिगुणवान्, नित्य और व्यापक मानते हैं। जीवात्मा और परमात्मा भेदसे आत्मा दो प्रकारका मानते हैं। जीवात्माओंको अनन्त और परमात्माको एक मानते हैं। नित्यज्ञानादिगुणवान् परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् है यह तर्क तथा आगमसे सिद्ध होता है, यह बतलाया जा चुका है। इनके मतानुसार अन्धकार तेजोऽभावरूप है। दुःख, जन्म, प्रवृत्ति,

दोष और मिथ्याज्ञानमें उत्तर-उत्तरका तत्त्वज्ञानसे नाश होनेपर पूर्व-पूर्वका नाश होनेसे अपवर्ग होता है।

प्रमाणके विषयमें—चार्वाक लोग जैसे इन्द्रियजन्य ही ज्ञानको प्रमाण मानते हैं, वैसे ही उनके मनसे श्रोत्रेन्द्रिय शब्दका ही बोधन करता है, शब्दार्थको भी नहीं। शब्दार्थ सत्य है या असत्य—इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। अनुमान व्याप्तिज्ञानसापेक्ष होता है और व्याप्ति 'जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि होता है' इस प्रकार समस्त जगत्में अतीत, अनागत धूम-अग्नियोंको उपस्थापित करती है। कादाचित्क द्रष्टाको प्रत्यक्षद्वारा समस्त धूम एवं अग्नियोंका ज्ञान सम्भव नहीं है। अनुमानसे भी इनका ज्ञान सम्भव नहीं, क्योंकि अनुमान व्याप्तिज्ञानसापेक्ष हुआ करता है। बारंबार सहचारदर्शनसे भी व्याप्तिज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि 'अग्निके अभावमें भी कदाचित् धूम हो सकता है' ऐसी व्यभिचार शङ्काका समस्त धूम तथा अग्नियोंका ज्ञान हुए बिना निराकरण नहीं हो सकता। बौद्ध, जैन, वैशेषिक अनुमानको भी मानते हैं। उनका आशय यह है कि अन्वय-व्यतिरेकद्वारा धूम तथा अग्निके कार्य-कारणभावका निश्चय होनेपर व्यभिचार-शङ्काकी निवृत्ति हो जानेसे व्याप्तिज्ञान हो जायगा।

उनके मतमें यद्यपि शब्द समादरणीय है तथापि प्रत्यक्ष, अनुमानसे सिद्ध पदार्थका बोधक होनेसे उसका प्रामाण्य माना जाता है, उसका स्वतन्त्र प्रामाण्य नहीं माना जाता। वैशेषिकके मतानुसार भी शब्द सर्वत्र प्रमाण नहीं है; क्योंकि उन्मत्तप्रलपितादिमें उसका अप्रामाण्य स्पष्ट है। वैशेषिक प्रमाणभूत ईश्वर या अन्य आप्तपुरुषद्वारा उच्चरित शब्दको ही प्रमाण मानते हैं। तथा च वक्ताके प्रामाण्यसे शब्दके प्रामाण्यका अनुमान होता है, अतः शब्दप्रामाण्य अनुमान-प्रामाण्यके अधीन होनेसे अनुमानसे पृथक् उसका प्रामाण्य नहीं है। अनुमान और शब्द—दोनों परोक्षसामान्यविषयक हैं, अतः उनकी प्रवृत्ति सम्बन्धग्रहाधीन है। साथ ही विशेष अनन्त होनेके कारण उनका सम्बन्ध दुरवगम है। अतः धूमको देखकर जैसे अग्निका अनुमान किया जाता है, वैसे ही शब्द सुनकर उसका अर्थ अवगत होता है। यहाँ भी लिङ्गकी ही तरह अन्वयव्यतिरेक होते हैं। जो शब्द जिस अर्थमें प्रयुक्त देखा जाता है, वह उस अर्थका वाचक होता है। धूमके वह्निमत्त्वके समान शब्दका अर्थवत्त्व है, अतः शब्दको अनुमानके अन्तर्गत ही मानना चाहिये। यथेष्ट विनियोज्यता इत्यादि, संज्ञादि लिङ्गमें भी दिखायी पड़ती है। दृष्टान्त-निरपेक्षता भी समभ्यस्त अनुमानमें स्पष्ट है। अनभ्यस्त होनेपर तो अनुमान और शब्द दोनोंमें सम्बन्धस्मृतिकी सापेक्षता होती है।

कोई प्रत्यक्ष और शब्द—इन्हीं दोको प्रमाण मानते हैं । उनके मतमें अनुमान यद्यपि प्रमाण माना जाता है, तथापि वह यदि प्रमाण भूत शब्दसे प्रतिपादित अर्थका अवबोधक हो, तभी प्रमाण होता है, अन्यथा नहीं । अन्य लोग प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन प्रमाण मानते हैं । उनके मतमें न तो शब्द अनुमानकी अपेक्षा करता है और न अनुमान शब्दकी । वाक्यात्मक शब्द अनवगत सम्बन्धका ही बोधक होता है । नवीन विरचित श्लोकादिका श्रवण होनेपर अधिगत पद तथा उनके अर्थोंका वाक्यार्थ अवगत होता देखा जाता है । तथा च सम्बन्धाधिगममूलक प्रवृत्तिवाले अनुमानसे शब्दका साम्य नहीं है । पदात्मक शब्द यद्यपि सम्बन्धाधिगमसापेक्ष होता है, तथापि सामग्रीभेद और विषय-भेदसे उसकी अनुमानसे भिन्नता है । पद और लिङ्गका विषय भी भिन्न है । पदार्थमात्र पदका अर्थ होता है और अनुमान 'अग्निमान् पर्वतः' इत्यादि रीतिसे वाक्यार्थविषयक होता है । धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है, अतः पर्वतादि-विशेष्यक प्रतिपत्तिपूर्विका पावकादिविशेषणावगति लिङ्गसे उत्पन्न होती है, जब कि पदसे विशेषणावगतिपूर्वक विशेष्यावगति होती है, इस तरह दोनोंका विषय-भेद स्पष्ट है । कहा गया था कि 'अनुमानमें जैसे धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य है, वैसे ही अर्थविशिष्ट शब्द साध्य हो' तो यह ठीक नहीं; क्योंकि हेतु होनेके कारण शब्दकी हेतुता अनुपपन्न है । साथ ही अर्थधर्म होनेसे यदि शब्दकी पक्षधर्मता हो, तो अनवगत धूमाग्निसम्बन्ध भी जैसे अर्थधर्मताको ग्रहण करता ही है, वैसे ही अनवगत शब्दार्थ सम्बन्धको भी शब्दकी अर्थधर्मताका ग्रहण करना चाहिये, परंतु ग्रहण नहीं करता, अतः शब्दकी पक्षधर्मता नहीं कही जा सकती । शब्द और अर्थका देश तथा कालसे सामानाधिकरण्यका व्यभिचार भी है, अतः अन्वय-व्यतिरेकका उपपादन दुष्कर है ।

नैयायिक लोग शब्दको स्वतन्त्र प्रमाण मानते हुए ईश्वररचितत्वेन वेदका प्रामाण्य अङ्गीकार करते हैं । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको पुरुषार्थ मानते हैं । शब्दप्रमाणके बिना मूक व्यक्तिसे वाग्मी पुरुषकी विशेषता निर्णीत नहीं की जा सकती । शब्दके बिना माता-पिताका ज्ञान भी होना कठिन है । प्रत्यक्ष या अनुमान-से न तो माता-पिताका निर्णय हो सकता है और न उनके धनका पुत्रको अधिकार ही प्राप्त हो सकता है । एवं च शब्दप्रमाण माने बिना लोकव्यवहार समुच्छिन्न हो जायगा । इसीलिये कहा गया है—

'मतयो यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति वानराः ।
शास्त्राणि यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छन्ति ते नराः ॥'

सांख्य, योगी और कुछ नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द—ये तीन प्रमाण मानते हैं। नैयायिक इनके अतिरिक्त उपमान प्रमाण भी मानते हैं। अर्थापत्तिको मिलाकर पाँच प्रमाण प्राभाकर मानते हैं। अनुपलब्धिसहित छः प्रमाण भाट्टों एवं अद्वैतियोंको सम्मत हैं। सम्भव और ऐतिह्य मिलाकर आठ प्रमाण पौराणिक मानते हैं। इनमें वैशेषिक लोग शब्दप्रमाणसे साधित अर्थको तो सत्य ही मानते हैं, पर उसे शब्दमूलक नहीं अपितु अनुमानमूलक ही बतलाते हैं। मीमांसक लोग जैसे अर्थापत्तिसे साधित अर्थको अनुमानसे साधित करके उसमें अन्तर्भूत करते हैं, वैसे ही नैयायिक लोग भी मानते हैं उनका कथन है कि परमेश्वरनिर्मित होनेके कारण वेद अपौरुषेय हैं और आप्तोक्त होनेसे उनका प्रामाण्य है। पौरुषेयत्ववादियोंका कहना है कि 'तस्य ह वा एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः' इस श्रुतिसे ही वेदकी उत्पत्ति परमेश्वरसे निःश्वासवत् बतलायी गयी है। जिस प्रकार बिना आयासके निःश्वास उत्पन्न होता है, वैसे ही आयास एवं बुद्धिसे निरपेक्ष ही वेदोंकी उत्पत्ति उक्त श्रुतिमें बतलायी गयी है। वेद यद्यपि स्थूल-सूक्ष्म, संनिकृष्ट-विप्रकृष्ट, मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन—सर्वविध अर्थोंका अवभासक है, तथापि अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न होनेसे परमेश्वरका अनायास वेदकर्तृत्व तो सम्भव है, किंतु बुद्धिनिरपेक्षता उपपन्न नहीं हो सकती। कुछ लोग बुद्धिनिरपेक्षताकी उपपत्तिके लिये कहते हैं कि वेद परमेश्वरसे केवल प्रकाशित हुए हैं। कोई निःश्वसितन्यायका अनायासमात्रमें तात्पर्य मानते हैं। 'बुद्धिसापेक्ष वाक्यरचनामें लेशमात्र भी आयास नहीं है,' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि निःश्वासमें भी प्रयत्नलेशकी आवश्यकता तो रहती ही है।

अपौरुषेयत्ववादियोंका इसपर यह कथन है कि सुप्त, प्रमत्त, अनवहित एवं अन्यमनस्क व्यक्तियोंका भी निःश्वास देखा जाता है, अतः निःश्वासको अवश्य ही बुद्धिप्रयत्नसे निरपेक्ष मानना चाहिये। एवं च सहज होनेसे निःश्वास जैसे अकृत्रिम होता है, वैसे ही निःश्वासवत् आविर्भूत वेदोंकी भी सहज होनेके कारण अकृत्रिमता माननी चाहिये और उस दशामें अपौरुषेय होनेके कारण पुरुषाश्रित भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवादि दूषणोंसे असंस्पृष्ट होनेके कारण समस्त-पुंदोषशङ्काकलङ्कके अपास्त होनेसे वेदका स्वतःप्रामाण्य है। यहाँ अनुमानका स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये—सम्प्रदायाविच्छेद होते हुए कर्ता अस्मर्यमाण होनेसे आत्माके समान वेद अपौरुषेय हैं। व्यतिरेकमें—जो सम्प्रदायाविच्छेदे सति अस्मर्यमाणकर्तृक नहीं होता, वह अपौरुषेय भी नहीं होता, जैसे 'महाभारत' यह अनुमान है।

पौरुषेयवादियोंका कथन है कि प्रलयमें सम्प्रदायका विच्छेद हो जाता है, अतः लक्षणमें विशेषण असिद्ध है। साथ ही अस्मर्यमाणकर्तृत्वका अर्थ क्या

अप्रमीयमाणकर्तृकत्व समझा जाय या स्मरणागोचरकर्तृत्व ? अप्रमीयमाणकर्तृकत्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परमेश्वररूप कर्ता प्रमीयमाण है 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचःसामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥' (शु० यजु० ३१।७) यह श्रुति परमेश्वरसे वेदोंकी उत्पत्ति स्पष्ट बतला रही है। विकल्पासह होनेसे स्मरणागोचरकर्तृकत्व भी नहीं कहा जा सकता। जैसा कि प्रश्न उठता है कि क्या एकसे स्मरण वा सबसे ? निश्चितपुरुषकर्तृकमें भी कर्ताका स्मरण न होनेमात्रसे किसी वस्तुकी अपौरुषेयत्वप्रसक्ति होगी, अतः प्रथम पक्ष सङ्गत नहीं। सबसे अस्मरणको बिना सर्वज्ञके अन्य कोई जान नहीं सकता, अतः दूसरा पक्ष भी उपपन्न नहीं है। साथ ही—वाक्य होनेके कारण 'रघुवंश' वाक्यकी तरह वेदवाक्य पौरुष हैं और प्रमाणभूत होते हुए वाक्यस्वरूप होनेके कारण मन्वादिवाक्यके समान वेदवाक्य आप्तप्रणीत हैं, इत्यादि अनुमानोंसे वेदोंके कर्ताका निश्चय भी प्रमाणित हो रहा है।

यह नहीं कहा जा सकता कि 'वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्। वेदाध्ययनसामान्यादधुनाध्ययनं यथा ॥' (सर्वदर्शनसंग्रह, जैमिनीय दर्शन १९) इससे उक्त अनुमान सत्प्रतिपक्षित है, क्योंकि 'भारताध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्। भारताध्ययनत्वेन साम्प्रताध्ययनं यथा ॥' (सर्वदर्शन सं० १२। १९) इस प्रकार दोनों ओर समान योग-क्षेम है। 'को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद् भवेत्' (सर्व० जैमि० २०) इस वचनसे भारतका तो व्यासकर्तृकत्व समर्थित हो रहा है, यह भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'ऋचः सामानि जज्ञिरे' (शु० य० ३१। ७) इत्यादिसे वेदकी भी परमेश्वरकर्तृकता श्रुत है। सामान्यवत्त्वे सति बाह्येन्द्रियग्राह्य होनेसे घटादिकी तरह शब्द भी अनित्य है। 'वही यह गकार है' इस प्रत्यभिज्ञाबलसे शब्दकी नित्यता नहीं कही जा सकती, क्योंकि 'वही ये केश हैं' इत्यादिके समान वह प्रत्यभिज्ञा नित्यतानिबन्धन नहीं, किंतु सादृश्यनिबन्धन है। अशरीरी होते हुए भी परमेश्वरकी भक्तानुग्रहार्थ लीलाविग्रह-धारणकी उपपत्तिसे कण्ठताल्वादिसापेक्ष वर्णोच्चारण भी सम्भव है, अतः वेदोंको पौरुषेय माननेमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। किंतु तात्पर्य न समझ सकनेके कारण उक्त सब बातें कही जाती हैं, अतः वे सब अविचारित-रमणीय हैं।

उक्त पौरुषेयत्व क्या है ? क्या पुरुषोच्चरितत्वमात्र अथवा प्रमाणान्तरसे अर्थको जानकर विरचितत्व ? पुरुषोच्चरितत्वमात्र ही यदि पौरुषेयत्व है, तो हमें इष्टापत्ति है। नित्य एवं व्यापक वर्णोंकी देश-काल-पौर्वापर्यरूप आनुपूर्वी असम्भव होनेसे वर्णव्यक्तियोंकी ही कालपौर्वापर्यलक्षण आनुपूर्वी कहनी चाहिये। वर्णव्यक्तियाँ कण्ठ-ताल्वादि अभिघातजन्य ध्वन्यभिव्यक्तिवाली हैं। तथा च नियत वर्णोंकी नियत

आनुपूर्वीरूप वेदका पुरुषोच्चरितत्व सुतरां इष्ट ही है । प्रतिदिन अध्येताओंद्वारा उच्चार्यमाण वेदका पुरुषोच्चरितत्वमात्ररूप पौरुषेयत्व तो सिद्ध ही है, अतः उसकी सिद्धिका आयास व्यर्थ है । यदि प्रमाणान्तरेण अर्थज्ञानपूर्वक रचितत्वरूप पौरुषेयत्व कहें, तो विकल्पासह होनेसे वह ठीक नहीं, क्योंकि उसकी सिद्धि अनुमानसे की जायगी या आगमसे ? आगमबलसे नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रमाणान्तरसे जिसका अर्थ अनुपलब्ध है, ऐसे कविकल्पित वाक्यमें वाक्यत्वरूप हेतु व्यभिचरित हो जायगा । यदि 'प्रमाणत्वे सति' इस पदका निवेश करके अप्रमाण कविकल्पित वाक्यमें हेतुव्यभिचारका वरण किया जाय, तो भी प्रमाणान्तरके अविषयीभूत अर्थवाले वेदवाक्यमें प्रमाणान्तरेण अर्थका उपलम्भ करके विरचितत्वकी सिद्धि करना 'मेरे मुँहमें जिह्वा नहीं है' इस कथनके समान व्याहत है । प्रमाणान्तरसे उपलब्ध अर्थवाला होनेपर तो अनुवादक हो जायगा, जिससे अनधिगतका बोधक न होनेसे वेदका अप्रामाण्य ही सिद्ध होगा । चक्षुरादि इन्द्रियोंसे अनुपलब्ध शब्दकी अवगतिके लिये ही श्रोत्रप्रमाणकी जैसे सार्थकता है, वैसे ही प्रत्यक्ष, अनुमानसे अनधिगत धर्म आदिके अधिगमक होनेसे ही आगमप्रमाणकी सार्थकता है, अन्यथा व्यर्थ ही है—'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यंस्तूपायो न बुद्ध्यते । एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥' से यह स्पष्ट है ।

लीलाविग्रहधारी परमेश्वरकी भी चक्षुरादि इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय देश, काल, स्वभाव, विप्रकृष्ट-अर्थका ग्रहण नहीं कर सकतीं, क्योंकि दृष्टानुसार ही कल्पनाका आश्रयण किया जा सकता है, जैसा कि कहा गया है—'यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् । दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥' (सर्वदर्शनसं० १२ । २३) सर्वज्ञको भी घ्राणशक्तिसे ही गन्धग्रहणका जैसे नियम है, वैसे ही वेदशक्तिसे ही वेदार्थग्रहणका नियम होनेपर सर्वज्ञत्वकी हानि नहीं होती । इसलिये दूसरा पक्ष भी सङ्गत नहीं है । काठक, कालाप, तैत्तिरीय इत्यादि समाख्याएँ अध्ययनसम्प्रदायप्रवर्तकविषयक हैं । 'तेन प्रोक्तम्' में 'प्रोक्तम्' का 'कृतम्' यह अर्थ नहीं होता, क्योंकि वह तो 'कृते ग्रन्थे' से ही गतार्थ है, किंतु स्वयं या अन्यद्वारा कृत अध्यापन या अर्थान्वाख्यानसे प्रकाशित करना ही 'प्रोक्त' का अर्थ है । निःश्वासवत् वेदाविर्भावका श्रवण परमेशितृकारणकत्वका ही बोधन करता है, प्रमाणान्तरसे अर्थोपलम्भनका भी बोधन नहीं करता ।

जिनका यह कहना है कि प्रत्यक्षद्वारा अर्थको उपलब्ध करके अखिल वेदका ईश्वरने निर्माण किया है, उन्हें भी कहना पड़ेगा कि ईश्वरको सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हैं, प्रत्यक्षगम्य ही नहीं, अपितु अनुमानगम्य भी । तथा च लाघवात् यही सिद्ध होगा कि अनुमानसिद्ध अर्थमूलक वेदरचना है । अपि च ईश्वरनिर्मित होनेसे

वेदके प्रामाण्यकी सिद्धि और उसके सिद्ध हो जानेपर वेदप्रतिपाद्यत्वेन ईश्वरसिद्धि माननेपर अन्योन्याश्रयदोष अनिवार्य है।

'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटादिवत्' इस अनुमानसे यदि ईश्वरसिद्धि इष्ट हो, तो भी धूमसे जिस प्रकार वह्निसामान्यका अनुमान होता है, वैसे कार्यत्वहेतुसे ईश्वरसामान्यकी ही सिद्धि होगी, ईश्वरविशेषकी नहीं। वेदकर्ता तो ईश्वरविशेष है, अतः अनुमानसे उसकी सिद्धि किस तरह होगी ? जिन-जिन युक्तियोंसे नैयायिक लोग वेदरचयिताका ईश्वरत्व सिद्ध करना चाहेंगे, उन्हीं-उन्हीं युक्तियोंसे बाइबिल, कुरान आदि ग्रन्थोंके निर्माताका भी परमेश्वरत्व—उन-उन ग्रन्थोंके अनुयायी—सिद्ध कर सकते हैं। तथाच इतरग्रन्थ साधारण होनेसे वेदमें पुरुषाश्रित पुंदोषसंस्पर्शकी शङ्का प्राप्त होनेसे उसका प्रामाण्य सिद्ध न हो सकेगा, अतः पूर्वोक्त रीतिसे वेदका अपौरुषेयत्व ही मानना चाहिये।

यदि कहा जाय कि वेदमें इन्द्र आदि व्यक्तियोंका श्रवण है, अतः उनकी उत्पत्तिके अनन्तर वेदका निर्माण होना युक्त है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि सृष्टि शब्दपूर्वक ही होती है, जैसा कि 'वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमिते स ईश्वरः' (महा० शां० २३२।२६)। इत्यादि स्मृतियोंमें बतलाया गया है। 'शब्द इति चेन्नातःप्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (वेदान्तदर्शन, १।३।२८)। इत्यादि न्यायमें भी यह सिद्ध किया गया है।

वाक्यत्व हेतुसे महाभारतादिवत् वेदके पौरुषेयत्वका जो अनुमान किया गया था, वह भी ठीक नहीं क्योंकि स्मर्यमाणकर्तृकत्वरूप उपाधि विद्यमान है। वेदमें वाक्यत्वरूप हेतुके रहनेपर भी स्मर्यमाणकर्तृकत्व नहीं है, अतः साधनाव्यापकता है। 'वाचा विरूपनित्यया', (तैत्ति० सं० २।६।११) 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा', (महा० शां० २३२।२५)। 'अतएव च नित्यत्वम्' (वेदान्त-दर्श० १।३।२९) इत्यादि श्रुतिस्मृति-वचनोंसे वेदका नित्यत्व अवगत हो रहा है, अतः वेदकी स्मर्यमाणकर्तृकता या प्रमीयमाणकर्तृकता नहीं कही जा सकती। इसीलिये 'न कदाचिदनीदृशं जगत्' इत्यादि जरन्मीमांसकमतानुसार 'सम्प्रदायाविच्छेदे सति' इस विशेषणकी असिद्धि भी नहीं कही जा सकती। ब्रह्ममीमांसकमतानुसार भी नित्यसिद्ध वेदका सम्प्रदायप्रवर्तकत्वेन निःश्वासवत् परमेश्वरसे प्रादुर्भाव होनेपर भी 'प्रमाणान्तरेण अर्थमुपलभ्य विरचितत्व' न होनेसे पूर्वकल्पीय ही वेदका आविर्भाव हुआ करता है। एतावता अद्वैतकी व्याहति नहीं कही जा सकती, क्योंकि जीवोंकी तरह वेदका नित्यत्व आपेक्षिक अभिमत होनेसे अद्वैतका बाध नहीं होता।

ब्रह्मातिरिक्त समस्त पदार्थोंका अद्वैतसिद्धान्तानुसार मिथ्यात्व मान्य है, अतः वेदमें भी मिथ्यात्व प्रसक्त हो गया, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'अत्र वेदा अवेदा भवन्ति' (बृहदा० उप०)। इत्यादि प्रमाणोंसे कारणभावकी अवगति होनेपर पृथक् नाम-

रूपका बाध इष्ट ही है। अतएव वेदप्रामाण्य मानना ही आस्तिकता कहा गया है, वेदकी सत्यता स्वीकार करना आस्तिकता नहीं बतलाया गया। इसीलिये वर्णात्मक वेदकी सत्यता माननेवाले भी चार्वाक आदिको नास्तिक कहा गया है। पूर्वोक्त नित्यत्वबोधक वचनोंका विरोध होनेके कारण 'ऋग्वेदोऽग्निरजायत' इत्यादिसे भी वेदकी उत्पत्ति बोधित नहीं होती, अपितु अधीत पूर्वकल्पीय एवं सुप्तप्रतिबुद्ध-न्यायसे संस्मृत वेदका सम्प्रदायप्रवर्तकत्व ही माना जाता है और उसीके अनुसार मन्त्रद्रष्टृत्वात् ऋषित्व भी मान्य है!

प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे उपपन्नार्थत्वात् जो लोग वेदका प्रामाण्य अङ्गीकार करते हैं, उनके मतमें प्रमाणान्तरसे गतार्थ हो जाने और अनुवादक हो जानेके कारण वेदकी अनावश्यकता और अप्रमाणता स्पष्ट है। जिन प्रमाणोंसे वेदार्थकी उपपन्नार्थता विज्ञात होती है, उन्हींसे वेदार्थका भी ज्ञान हो सकता है, अतः आगमरूप प्रमाणान्तर मानना व्यर्थ ही है। अभिप्राय यह कि प्रथमोच्चरितत्व या पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्ष उच्चरितत्व पौरुषेयत्व है। पुरुषोच्चरित होनेपर भी वेद प्रथमोच्चरित या पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्ष उच्चरित न होनेसे पौरुषेय नहीं है। गुरूच्चारणानूच्चारण वेदका होता है, अतः पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्ष उच्चरित नहीं होते। एवं च प्रथमोच्चरितत्व भी वेदोंमें न होनेसे प्रमाणान्तरेण अर्थमुपलभ्य विरचितत्व भी उनमें नहीं है, अतः उनका अपौरुषेयत्व सिद्ध है। 'वाचा विरूपनित्यया' इत्यादि पूर्वोद्धृत श्रुति-स्मृतिवचनोंसे विरोध होनेके कारण 'तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (शु० यजु० ३।१७)। इत्यादि श्रुतियोंसे वेदोंकी पौरुषेयताका साधन नहीं किया जा सकता। 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितम्' (छां० उप०) इस तरह निःश्वासवत् वेदोंका आविर्भाव श्रुत होनेसे उनकी बुद्धि प्रयत्ननिरपेक्षतया अकृत्रिमता भी कही जाती है। 'यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वेता० उप० ६। १८) इस श्रुतिमें ब्रह्माका निर्माण बतलाया गया है, पर वेदोंका तो प्रेषणमात्र ही बतलाया गया है, निर्माण नहीं, क्योंकि 'विदधाति' और 'प्रहिणोति' का अर्थ वैसा ही है। ब्रह्माका विधाता भी वेदका विधाता नहीं है, अपितु ब्रह्माके हृदयमें वह केवल नित्यसिद्ध वेदोंकी प्रेरणा करता है। अतः वेदकी अपौरुषेयता सिद्ध है।

'मैंने कुछ नहीं जाना' ऐसा जागनेपर लोगोंको स्मरण होता है, अतः आत्माकी चिदात्मता और अनुभूतिके बिना स्मृति बन नहीं सकती, अतः आत्माकी चिदात्मता भी ज्ञात होती है। इसलिये प्रकाशाप्रकाशात्मक खद्योत (जुगनू) के समान आत्मा चिज्जडरूप है। नित्य, निरतिशय सुखकी अभिव्यक्ति मुक्ति है।

और भी अन्य नैयायिकादिसम्मत तथा स्वमतसे अविरुद्ध पदार्थ भाट्टलोगोंको स्वीकृत ही हैं। प्रभाकर और नैयायिक द्रव्यरूप होनेके कारण आकाशवत् आत्माको भी अचित् एवं चैतन्यगुणवाला मानते हैं। चैतन्यकी ही तरह इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख, दुःख और संस्कारको भी आत्माके गुण ही मानते हैं।अदृष्टवशात् आत्मा और मनका संयोग होनेपर उक्त गुण आत्मामें उत्पन्न होते और उनका वियोग होनेपर नष्ट हो जाते हैं। चैतन्ययुक्त होनेसे ही आत्माको चेतन भी कह दिया जाता है। वही कर्ता-भोक्ता है। कर्मवशात् ही इस लोकके देहके समान लोकान्तरमें भी सुख-दुःखादि होते हैं। इसी प्रकार सर्वगत होनेपर भी आत्माके गमनागमनादिकी व्यवस्था भी बन जाती है। सांख्योंका कहना है कि निरंशकी उभयरूपता नहीं बन सकती, अतः आत्मा चिद्रूप ही है। जाड्यांश प्रकृतिका है। चित्के भोग तथा अपवर्गके लिये प्रकृतिकी प्रवृत्ति होती है। मूल प्रकृति, सात प्रकृतिके विकार (महत्, अहंकार और पञ्चतन्मात्राएँ) और सोलह विकार मानते हैं। आत्माको कूटस्थ, असङ्ग, चेतनस्वरूप व्यापक और अनन्त मानते हैं। सत्त्व और पुरुषकी अन्यताख्यातिसे द्रष्टा आत्माका स्वरूपमें अवस्थान मुक्ति है। बछड़ेकी विवृद्धिके लिये पयःप्रवृत्तिके समान अचेतन भी प्रकृतिकी भोगापवर्गरूप पुरुषार्थके सम्पादनार्थ प्रवृत्ति होती है। 'क्लेश, कर्म, विपाक और आशयसे अपरामृष्ट पुरुषरूप ईश्वरसे प्रेरित हुई प्रकृति प्रवृत्त होती है', ऐसा पातञ्जलों (योगियों) का मत है।

'अनादिनिधन, शब्दरूप अक्षर ब्रह्म ही प्रपञ्चरूपसे विवर्तित होता है', ऐसा वैयाकरणोंका सिद्धान्त है। किन्हींके मतानुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव—ये दस पदार्थ हैं। इनमें परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृताकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहंतत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, अर्णव, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिबिम्बभेदसे बीस द्रव्य, रूप-रसादि अनेक गुण, विहित-निषिद्ध-उदासीनभेदसे तीन प्रकारके कर्म आदि हैं। इस मतमें जीव-ईश्वरका अत्यन्त भेद मान्य है। अभेदवादिनी श्रुतियोंको वे सर्वथा औपचारिक मानते हैं।

कुछ लोग प्रमाण और प्रमेयरूप दो ही तत्त्व मानते हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमभेदसे वे तीन प्रमाण तथा द्रव्य, गुण और सामान्यभेदसे तीन प्रमेय मानते हैं। ईश्वर, जीव, नित्यविभूति, ज्ञान, प्रकृति और काल—ये छः द्रव्य हैं।

सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति—ये दस गुण हैं। द्रव्य और गुण उभयरूप सामान्य है। प्रकृतिका परिणाम प्रपञ्च है। पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतारभेदसे परमेश्वरके पाँच प्रकार हैं। उसके परतन्त्र, बद्ध, मुक्त और नित्यभेदसे तीन प्रकारका जीव है। संसारी बद्ध हैं। श्रीमन्नारायणकी उपासनासे वैकुण्ठलोकको प्राप्त जीव मुक्त हैं। कभी भी जिन्हें संसारका स्पर्श नहीं हुआ, ऐसे अनन्त, गरुड़ आदि नित्यसंज्ञक हैं। शुद्ध और मिश्रभेदसे सत्त्व दो प्रकारका है। नित्यविभूतिमें शुद्ध और प्रकृतिमें मिश्र सत्त्व है। 'अन्तर्यामिब्राह्मण' द्वारा चिदचिच्छरीरक परब्रह्म ही चिदचिद्विशिष्ट है, जो दूसरा है। आत्मा ज्ञानगुणक होते हुए ज्ञानस्वरूप है। परमेश्वर विभु है, परंतु चित् कण-रूप जीव अणुपरिमाणपरिमित हैं। प्राकृत और अप्राकृतभेदसे दो प्रकारका अचेतन काल है। चित्-अचिद्रूपसे परमेश्वरका भेदव्यपदेश होनेके कारण भेद है और अभेदव्यपदेशके कारण अभेद भी है। इस तरह 'भेदाभेदवादी सभी प्रकारके श्रुति-वचन स्वार्थमें अनुपचरितार्थक ही समझते हैं। इन्हींमें कोई सोपाधिक भेदाभेद-वादी हैं। कोई अचिन्त्यभेदाभेदवादी हैं। कोई शुद्धाद्वैत ही तत्त्व बतलाते हैं। यहाँ शुद्धाद्वैत' का समास इस प्रकार है—'शुद्धं च तद् अद्वैतं शुद्धाद्वैतम्' और 'शुद्धयोः मायासम्बन्धरहितयोः अद्वैतं शुद्धाद्वैतम्।' इयत्तासे अनवच्छिन्न ब्रह्म ही अनवगाह्य महामहिमशाली होने और सकल विरुद्ध धर्मोंका आश्रय होनेके कारण कामधेनु, कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि आदिके समान स्वयं अविकृत रहकर ही अघटितघटनापटीयान्, स्वाभाविक स्वात्मयोगसे क्रीडार्थ पूर्णानन्दको तिरोभूत करके जीवरूपको ग्रहण करता है, चिदानन्दांशोंको तिरोहित करके सर्वभवनसमर्थ सदंशाश्रित मायाशक्तिसे जगद्रूप धारण करता है, आनन्दांशको किंचित्तिरोहित करके अक्षरब्रह्मरूप ग्रहण करता है और पूर्णानन्दांशका तिरोधान बिना किये ही पुरुषोत्तमरूपसे प्रादुर्भूत होता है। इसी प्रकार कोई कार्य, कारण, योग, विधि और दुःख—ये पाँच पदार्थ मानते हैं। कोई पति, पशु और पाश—ये तीन पदार्थ ही मानते हैं। इनके मतानुसार शिव पति, जीव पशु और मल, कर्म माया तथा रोधशक्ति पाश हैं। प्रत्यभिज्ञावादीके अनुसार जीव तथा परमात्माका ऐक्य है। जड पूर्ववत् है, किंतु आत्मासे वह भिन्न भी है और अभिन्न भी और सब पूर्ववत् है।

अहमर्थ और आत्मा

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिसे आत्मा पृथक् है, प्रायेण यह बात अधिक दार्शनिकोंको मान्य है। परंतु अहमर्थ (मैं) आत्मा है या नहीं, इस विषयमें प्रायः विप्रतिपत्ति है। अधिकाधिक दार्शनिकोंका कहना है कि 'अहमर्थ (मैं) ही आत्मा है, उसमें ही मैं कर्ता, मैं भोक्ता, मैं दुखी, मैं सुखी, मैं शोक-मोहसे व्याकुल, मैं शान्त, मैं धीर, मैं मूढ़ इत्यादि रूपसे जिसका अनुभव होता है, वही आत्मा है। अहमर्थ ही अनन्त उपद्रवोंसे उपद्रुत बद्ध अज्ञानी होता है। वह कर्म, धर्म, उपासना, ज्ञान आदिद्वारा ज्ञानी होकर मुक्त होता है। जागर, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे बन्ध और मोक्षकालमें एकरस अन्वयी अहमर्थ ही आत्मा है। यदि अहं-अहं इत्याकारेण अनुभूयमान अहमर्थका मोक्षमें उच्छेद हो जाय, तब तो कोई भी मोक्षके लिये प्रयत्नशील न होगा, प्रत्युत मोक्षकी कथाहीसे भागेगा।' परंतु अद्वैतवादी वेदान्तीका इसके विपरीत यह कहना है कि अहमर्थ मुख्य आत्मा नहीं है, किंतु चिज्जडकी ग्रन्थि ही 'मैं' या अहंरूपसे भासमान होती है। दूसरे शब्दोंमें कहा जाय तो अधिष्ठान, बुद्धि और चिदाभास—ये ही तीनों मिलकर औपाधिक जीव या 'मैं' आदि पदोंसे व्यपदिष्ट होते हैं। बुद्धि-आत्मा, जड-चेतन, अनात्मा-आत्माका अन्योन्याध्यास ही 'मैं' पदार्थ है। जैसे किसी साधारण पुरुषको शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदिमें ही आत्मबुद्धि हो जाती है और वह देहादिके नाशमें ही आत्मनाश मानने लगता है, वैसे ही अनात्मरूप अहमर्थमें भी भ्रान्तिसे ही आत्मबुद्धि होती है। मैं जो कभी कर्ता, कभी भोक्ता, कभी सुखी, कभी दुखी, कभी शान्त, कभी घोर एवं कभी मूढ़ है, कभी हृष्ट पुष्ट, प्रसन्न, कभी शोक-मोह-परिप्लुत होकर प्रतीत होता है, उसे एकरस शुद्ध स्व-प्रकाश आत्मा कैसे कहा जाय? वस्तुतः इस अनेकरूप अहमर्थका जो एकरस-भासक अखण्ड भानरूप नित्य बोध है, वही आत्मा है। जैसे स्वर्गादि सुख-प्राप्तिके लिये देहद्वारा प्रयत्नशील ही अग्निकुण्डमें देहकी आहुति कर सकता है, वैसे ही अहमर्थद्वारा प्रयत्नशील सोपाधिक आत्मा निरुपाधिक पदप्राप्तिके लिये सोपाधिक स्वरूपके उच्छेदमें प्रयत्नशील होता है।

इसके सिवा यदि अहमर्थ ही आत्मा होता, तो उसका तीनों ही अवस्थाओंमें प्रकाश होना उचित था; क्योंकि आत्मा स्वप्रकाश है। अहंकार, अहंबुद्धिका विषय है। आत्मा अहंबुद्धिका भी भासक साक्षीरूप है। कुछ लोगोंका कहना है कि "सुखमहमस्वाप्सम्, न किंचिदहमवेदिषम्'—'सुखपूर्वक मैं सो रहा था, मैं कुछ भी नहीं जानता था, इस तरह सुषुप्तिसे (सोकर) जागनेपर सौषुप्त सुखके

अज्ञानकी स्मृति होती है, उसीके साथ अहमर्थ 'मैं' की भी स्मृति होती है । स्मृति बिना अनुभवके नहीं हो सकती, अतः 'मैं'का भी सुषुप्तिमें अनुभव होता ही है ।' परंतु उनका यह कहना उचित नहीं जान पड़ता; क्योंकि अहमर्थ सदा ही इच्छादि गुणोंसे विशिष्ट ही उपलब्ध होता है । परंतु जब कि सुषुप्तिमें इच्छादिका उपलम्भ होता ही नहीं, तब केवल अहमर्थका उपलम्भ कैसे माना जाय ? गुणरहित केवल गुणीका उपलम्भ असम्भव है । जैसे रूपादिरहित घटका ज्ञान नहीं हो सकता, वैसे ही इच्छा-द्वेषादि गुणरहित अहमर्थका ज्ञान नहीं हो सकता । गुणीका ग्रहण गुण-ग्रहण बिना नहीं हो सकता । यदि कहा जाय कि एकत्व संख्यारूप गुणसे युक्त ही अहमर्थका सुषुप्तिमें अनुभव होता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सुषुप्तिमें विशिष्ट बुद्धि अङ्गीकार करनेपर उसके सुषुप्तित्वका ही भङ्ग हो जायगा । इसके सिवा गुणि-ग्रहणमें विशेषगुणग्रहण हेतु होता है । अतः रूपादि विशेष गुणग्रहण बिना घटादिका ग्रहण नहीं होता । यदि कहा जाय कि रूपादिरहित घटादि होते ही नहीं, इसलिये रूपादिके बिना घटादिका ग्रहण नहीं होता, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि जिस समय पाकद्वारा पूर्वरूपका नाश हो चुका और अग्रिम रूपकी उत्पत्ति नहीं हुई; उस क्षणमें और घटाद्युत्पत्तिके अनन्तर क्षणमें रूपादिके बिना भी घटादि रहते ही हैं । ऐसी स्थितिमें गुणग्रहण बिना गुणीका ग्रहण कहाँ-तक हो सकता है ? अतः सुषुप्तिमें निर्गुण सर्वसाक्षिरूप आत्माका ही उपलम्भ होता है, अहमर्थका नहीं । अतएव जाग्रदवस्थामें अहमर्थकी स्मृति भी अमान्य ही है । सुषुप्तिमें अज्ञानका आश्रय और प्रकाशकरूपमें अनुभूयमान आत्मासे अहंकार सर्वथा भिन्न ही है । आत्मासे अहंकारकी भिन्नता होते ही उसकी जडता सिद्ध हो जाती है । जो यह कहा जाता है कि 'अहमस्वाप्सम्' अर्थात् मैं सोया, इस रूपसे अहमर्थका सोकर जागनेपर स्मरण होता है, वह भी ठीक नहीं; क्योंकि अहमर्थांशमें स्मरण अमान्य है । किंतु वहीं उसी एक चेतनमें अज्ञान और अहंकार-के कल्पित होनेके कारण अहंकारमें अज्ञानाश्रयताकी प्रतीति होती है । अतएव 'अहमस्वाप्सम्' यहीं जब सुषुप्तिमें अहंकारका अनुभव बनता नहीं, तब अर्थात् अज्ञानके आश्रयरूपसे अनुभूत आत्मामें 'अहमस्वाप्सम्' इस परामर्शका पर्यवसान होता है । अतएव जब यह कहा जाता है कि यदि अहमर्थ स्वापका आश्रय न हो, तो केवल चित् ही हो, तब 'चिदस्वपत्' स्वयमस्वपत् (चित् सोया, स्वयं सोया) इस तरह सुषुप्तिका परामर्श होना चाहिये । यद्यपि अहमर्थाधिष्ठानरूप अविद्योपहित चैतन्य ही सुषुप्तिका आधार है तथापि परामर्शकालमें अनुभूत अन्तःकरण-संसर्गसे अहमाकार परामर्श बन सकता है ।

जो यह कहा जाता है कि 'सोऽहम्' इत्याकारक प्रत्यभिज्ञान नहीं बन सकेगा, क्योंकि आत्मा स्वप्रकाश चिद्रूप है, अतः उसका ज्ञान कभी नष्ट न होगा । उसके बिना संस्कार न होगा और संस्कारके बिना प्रत्यभिज्ञा न बनेगी । अतएव विवरणा-चार्यने कहा है कि अन्तःकरणविशिष्ट आत्मामें ही प्रत्यभिज्ञा होती है, निष्कलङ्क चैतन्यमें प्रत्यभिज्ञा नहीं होती; क्योंकि मोक्षावस्थायी निष्कलङ्क चैतन्य तो केवल

शास्त्रगम्य है। यह सब कथन पूर्वोक्त पक्षके विरुद्ध नहीं है; क्योंकि मोक्षावस्थायी आत्मा केवल शास्त्रसे ही अवगत होता है। इसलिये वचनसे ही यह कहा गया कि उपाधिमात्रविरही निष्कलङ्क चेतनमें प्रत्यभिज्ञाका निषेध किया गया है। अन्तःकरण पद उपाधिमात्रमें तात्पर्य रखता है। तथा च सुषुप्तिमें अज्ञानोपहित आत्मा भी प्रत्यभिज्ञानार्ह (पहचानने योग्य) है। इसके सिवा अन्तःकरणराहित्य दशामें विवरणवाक्यद्वारा प्रत्यभिज्ञाका ही निषेध है, अभिज्ञाका नहीं। देखी हुई वस्तुके फिर देखनेपर 'यह वही है' ऐसा पहचाननेको 'प्रत्यभिज्ञा' कहा जाता है और केवल ज्ञानको 'अभिज्ञा' कहा जाता है। सुषुप्ति दशामें अन्तःकरण न होनेसे प्रत्यभिज्ञाके न होनेपर भी यहीं अविद्योपहित चेतनकी ज्ञानरूप अभिज्ञामें कोई बाधा नहीं है। अतः सुषुप्तिमें अहंकाररहित आत्माके अनुभवमें कोई भी आपत्ति नहीं उठायी जा सकती। जो यह कहा जाता है कि यदि सुषुप्तिमें अहमर्थका ग्रहण न होता, तब तो इतने समयतक मैं सोता था या अन्य कोई—'एतावन्तं कालं सुप्तोऽहमन्यो वा' ऐसा संशय होना चाहिये, 'मैं ही सोया था' ऐसा निश्चय न होना चाहिये। पर वह भी ठीक नहीं, क्योंकि सुषुप्तिकालमें अनुभूत आत्मामें ही अहंकारका ऐक्याध्यास होनेसे 'मैं ही सोता था' ऐसा निश्चित प्रत्यय होता है। वास्तवमें 'अहमज्ञः' इत्यादि स्थलोंमें भी अज्ञान अहमर्थके आश्रित नहीं, किंतु अहंकारके अधिष्ठानभूत चैतन्यमें ही रहता है। इस तरह अज्ञान और अहंकार एक अधिकरणमें रहते हैं, अतः सामानाधिकरण्य या एकाश्रयाश्रितत्व होनेके कारण अज्ञानमें अहमर्थाश्रयत्वकी प्रतीति होती है, जैसे सामान्य, समवाय आदि और सत्ता—दोनोंहीका समान द्रव्यादि आश्रय होनेके कारण ही 'सामान्यं सत्, समवायः सन्' इत्यादि व्यवहार होता है, वैसे ही 'अहमज्ञः' इत्यादि व्यवहार होते हैं। ऐसी स्थितिमें जैसे कोई पहले दिन चैत्रभिन्न देवदत्तको भ्रान्तिसे चैत्र मानकर, दूसरे दिन 'सोऽयं चैत्रः' ऐसा प्रत्यभिज्ञान (पहचान) करता है, वैसे ही भ्रान्तिसे अज्ञानाश्रय चित्को भ्रान्तिसे अहमर्थ मानकर दूसरे दिन अज्ञानाश्रयत्वेन अहमर्थका प्रत्यभिज्ञान करता है।

इसके सिवा निश्चय होनेपर संशय न होनेका नियम तो है, किंतु निश्चय न होनेपर संशय होनेका नियम नहीं है। अतएव कहा गया है कि 'सत्यारोपे निमित्तानुसरणं न तु निमित्तमस्तीत्यारोपः' अर्थात् आरोप होनेपर उसके निमित्तका अन्वेषण होता है, यह नहीं कि निमित्तवशात् आरोप हो। जैसे कहीं जल-दर्पणादि प्रतिबिम्ब-निमित्तके रहनेपर भी प्रतिबिम्ब नहीं होता, वैसे ही निश्चयाभाव रहनेपर भी संशय नहीं होता। इसीलिये 'अहमन्यो वा' ऐसा संदेह नहीं होता। फिर भी यह संदेह होता है कि 'जब इतने समयतक मैं स्वप्न देखता था, इतने समयतक मैं जागता था—'एतावन्तं कालमहं स्वप्नं पश्यन्नासमहं जाग्रदासम्' इत्यादि प्रतीतियोंके समान ही 'अहमस्वाप्सम्' मैं सोता था, ऐसी प्रतीति भी होती है, तब फिर क्या कारण है कि पहली दो प्रतीतियोंमें अहमर्थकी स्मृति मानी जाय और

'अहमस्वाप्सम्' इस प्रतीतिमें उसकी स्मृति न मानी जाय !' पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सर्वत्र स्मर्यमाण आत्माके साथ अभेदारोप होनेके कारण ही अहमर्थांशमें स्मृतित्वका अभिमान होता है । अतः सुषुप्तिमें अहमर्थका अनुभव माननेका कोई भी स्थिर आधार नहीं ।

यदि कहा जाय कि अपरामर्श—परामर्शभिन्नमें परामर्शत्वका आरोप कहीं नहीं देखा जाता अर्थात् स्मृतिसे भिन्नमें स्मृतित्वका आरोप नहीं देखा जाता तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि स्मर्यमाणरूपसे अनुभूयमान स्मर्यमाणभिन्नमें परामर्शत्वका आरोप होता ही है । अतएव इस कथनका भी कोई महत्त्व नहीं रह जाता कि यदि अहमर्थ आत्मासे भिन्न हो तब तो 'जो पहले दुखी था, वही अब सुखी हुआ' इस प्रतीतिके समान 'जो पहले मेरेसे भिन्न सोता था, वही अब मैं उत्पन्न हुआ हूँ' ऐसा अनुभव होना चाहिये । क्योंकि जैसे दुःखीरूपसे आत्माका पहले ज्ञान होता है, वैसे 'मुझसे अन्य पहले सोया था', ऐसा प्रथम विज्ञान ही नहीं होता । सुषुप्तिमें जैसे अहमर्थका प्रकाश नहीं होता, वैसे ही मदन्यता (मेरेसे भिन्नता) का भी प्रकाश नहीं होता । सुषुप्तिमें अहमर्थके असत्त्वका ज्ञान नहीं होता । जागनेपर अनुभूयमान अहंकारमें सोनेके पहले कालमें गृहीत अहंकारसे अभिन्नता ही गृह्यमाण होती है । अतः अहंकारकी उत्पत्तिका बोध नहीं होता । यदि विवेकियोंको ऐसी बुद्धि होती हो, तो इष्ट ही है । उन्हें तो यह ज्ञान होना ही चाहिये कि सुषुप्तिमें अहमर्थ नहीं था । प्रबोध होनेपर सुषुप्तिके अधिष्ठान चैतन्यमें ही अहमर्थका अध्यास होता है । उसीमें सोनेसे पहलेके अहमर्थका अभेद प्रतीत होता है । इसपर कुछ लोगोंका कहना है कि 'जब अहमर्थमें आत्मासे भिन्न सिद्ध हो जाय, तभी स्मर्यमाण आत्मामें अहमर्थके ऐक्यका आरोप होगा और जब वैसा आरोप सिद्ध हो जायगा, तब सुषुप्तिमें अहमर्थके अप्रकाश होनेसे उसकी आत्मासे भिन्नता सिद्ध होगी । इस तरह अन्योन्याश्रय-दोष अनिवार्य होगा ।' पर यह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मासे भिन्नता-सिद्धिके पहले ही सुषुप्तिमें अहमर्थका अप्रकाश सिद्ध हो जाता है । 'अमहस्वाप्सम्' इसीको आत्मपरामर्श मान लेनेसे दृष्टज्ञान और अदृष्टकी कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी । अहं शब्दका गौणार्थ देहादि है । मुख्यार्थ अन्तःकरण और आत्माका अन्योन्याध्यासरूप चिज्जडग्रन्थि है और लक्ष्यार्थ आत्मा है । यदि सुषुप्तिमें अहमर्थका ग्रहण होता तब तो उसका भी उसी तरह स्मरण होता, जैसे गतदिनके अहमर्थका स्मरण होता है । इसे इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता; क्योंकि पूर्व दिनमें जैसे इच्छादिविशिष्ट आत्मा गृहीत हुआ है, वैसे ही सौषुप्त आत्माका भी परामर्श होना चाहिये था । यदि सुषुप्तिमें अहमर्थका प्रकाश होता तो 'इतने समयतक मैं अभिमन्यमान था' इस तरह परामर्श अवश्य होता ।

कहा जाता है कि अहमर्थके प्रकाशमें अभिमानका आपादन तो कर्णस्पर्शी

में कटि-चालनके समान है; परंतु वह ठीक नहीं; क्योंकि अहमर्थकी अपेक्षासे ही प्रकाश और अभिमान—दोनों ही होते हैं, अतः एकके प्रकाशसे दूसरेका आपादन युक्त ही है। यदि कहा जाय कि सुषुप्तिमें आत्माके प्रकाशमान होनेपर भी 'आत्मेत्यभिमन्यमान आसम्' इतने कालतक आत्मा ऐसा अभिमन्यमान था—ऐसा अभिमान होना चाहिये, वह भी अनुचित है, क्योंकि अभिमानमें अहमर्थ ही कारण है, आत्मा नहीं। मनकी स्थूलावस्थासे उपहित चिद्रूप अहमर्थकी अपेक्षासे ही अहमाकारवृत्तिरूप अभिमान व्यक्त हो जाता है। वृत्तिरूप होनेपर भी उसके लिये प्रमाण-व्यापारकी आवश्यकता नहीं होती। अहमर्थका प्रकाश भी अहमर्थावच्छिन्न साक्षीरूप ही है, अतः उसे भी अहमर्थसे भिन्न किसीकी अपेक्षा नहीं है। यदि अभिमान साक्षिमात्रसे ही प्रकाशित होता है। यदि सुषुप्तिमें अहमर्थ हो- तब तो अवश्य ही उसका प्रकाश और अभिमान होना चाहिये। कुछ लोग कहते हैं कि 'सुषुप्तिमें अहमर्थका प्रकाश होता ही है। 'न किंचिदहमवेदिषम्'—'मैंने कुछ भी नहीं जाना' इस अज्ञानपरामर्शका विषय अहमर्थके अज्ञानसे भिन्न ही विषय है। जैसे वेदान्तीके मतमें चिद्रूपांशमें अज्ञान अमान्य है; क्योंकि वह भासमान है, अतः पूर्णानन्दांशमें ही अज्ञान मान्य है, वैसे ही अहमर्थांशमें भी अज्ञान अमान्य है, अन्यथा अहमर्थके भानका विरोध स्पष्ट ही होगा।' परंतु यह कथन असंगत ही है; क्योंकि साक्षिरूप ज्ञान-अज्ञानका विरोधी नहीं हुआ करता। अतएव अज्ञानका भी साक्षीसे प्रकाश होता है। जैसे मेघसे आच्छादित सूर्यद्वारा ही मेघका प्रकाश होता है, वैसे ही अज्ञानोपहित चैतन्यरूप साक्षीसे ही अज्ञानका प्रकाश होता है। विरोध होनेपर प्रकाश्यप्रकाशकभाव कथमपि उपपन्न नहीं हो सकता था। इसके सिवा यह कहा ही जा चुका कि सुषुप्तिमें अहमर्थ (मैं) का प्रकाश नहीं होता। अतएव सुषुप्तिका वर्णन करनेवाली श्रुति भी सुषुप्तिमें अहमर्थके अज्ञानको सिद्ध करती है। 'न विजानात्ययमहमस्मि' अर्थात् सुषुप्तिमें 'मैं यह हूँ' इस तरह जीवको ज्ञान नहीं होता। कुछ लोग कहते हैं कि 'नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्। प्राज्ञः किंचन संवेत्ति तुरीयं सर्वदृक् सदा॥' सुषुप्ति-अवस्थाभिमानी प्राज्ञ अपनेको, न दूसरेको, न सत्यको, न अनृतको—किसी भी तत्त्वको नहीं जानता; इत्यादि श्रुतिवचनके समान आत्मादिके विशेषाज्ञान-प्रतिपादनमें ही उक्त श्रुति भी तात्पर्य रखती है, परंतु यह कथन ठीक नहीं है। 'अहरहर्ब्रह्म गच्छन्ति सम्पद्य न विदुरनृतेन प्रत्यूढाः', इस आत्मबोधक श्रुतिविरोधके कारण उपर्युक्त श्रुतिका विशेषाज्ञान प्रतिपादनमें तात्पर्य माना जाता है। परंतु 'न विजानात्ययमहमस्मि' इस श्रुतिके साथ किसी श्रुतिका विरोध नहीं है, अतः यह श्रुति तो अहमर्थके अज्ञानमें भी पर्यवसित होती है। जो कहा जाता है कि 'अहमर्थ स्मर्ता (स्मरण करनेवाला) है यह तो अवश्य ही मान्य है', इसपर अब विचारना यह है कि वह अविद्यावच्छिन्न चैतन्य है अथवा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य। यदि प्रथम

पक्ष मान्य हो, तब तो 'योऽहमकार्षं सोऽहं सौषुप्तिकाज्ञानादि स्मरामि' अर्थात् जो मैं कर्मोंका कर्ता था, वही मैं सुषुप्तिके अज्ञानका स्मरण करता हूँ, इस अनुभवसे विरोध होगा; क्योंकि कर्तृत्व अविद्यावच्छिन्न चैतन्यमें कथमपि नहीं बन सकता। यदि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको ही स्मर्ता माना जाय, तब तो अहमर्थको ही अनुभव करनेवाला भी मानना होगा; क्योंकि एकाश्रयमें रहनेसे ही स्मृति, संस्कार एवं अनुभवमें कार्यकारणभाव बनता है। इसीसे जो मैं अनुभव करनेवाला था, वही मैं स्मरण कर रहा हूँ, इस तरह प्रत्यभिज्ञा (पहचान) होती है।' परंतु यह सब कथन निरर्थक हैं, क्योंकि यह कहा जा चुका कि अविद्यावच्छिन्न चैतन्य अज्ञानका अनुभव करनेवाला है और वही जाग्रत्-कालमें अन्तःकरणावच्छिन्न होकर स्मर्ता होता है। इसलिये चैतन्यके अभेदसे अनुभव और स्मरणकी एकाश्रयतामें कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। कहा जाता है कि अन्तःकरणरूप उपाधिके भेदसे अविद्यावच्छिन्न चैतन्यके साथ ऐक्य नहीं हो सकता, यह भी ठीक नहीं है। अविद्यावच्छिन्न चैतन्य ही अन्तःकरणावच्छिन्न होता है, अतः भेदकल्पना असङ्गत है। फिर भी कहा जाता है कि अविद्या और अन्तःकरणरूप उपाधिका भेद होनेसे मठाकाश और मठाकाशान्तर्गत घटाकाशके समान दोनों उपहितोंका अर्थात् अविद्योपहित और अन्तःकरणोपहितका भेद अवश्य होना चाहिये। परंतु यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ दृष्टान्त ही असम्प्रतिपन्न है। वही उपाधियाँ परस्पर उपहितकी भेदक होती हैं, जो एक दूसरीसे अनुपहितकी उपधायक होती हैं। अन्यथा कम्बु-अवच्छिन्न आकाश, ग्रीवावच्छिन्न आकाशसे पृथक् ही समझा जाना चाहिये। इस दृष्टिसे यद्यपि मठबहिर्भूत घटसे अवच्छिन्न आकाश मठावच्छिन्न आकाशसे भिन्न कहा जा सकता है, क्योंकि वे दोनों उपाधियाँ एक दूसरेसे अनुपहित आकाशको ही उपहित बनाती हैं, तथापि मठान्तर्गत घट तो मठोपहित मठाकाशको ही घटोपहित घटाकाश बनाता है, अतः इन दोनोंका परस्पर भेद नहीं कहा जा सकता। इस तरह अविद्यान्तर्गत अन्तःकरण, अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको अविद्यावच्छिन्न चैतन्यसे भिन्न नहीं बन सकता।

कहा जाता है कि यदि सुषुप्तिमें अहमर्थ न होता तो 'मैं निर्दुःख होऊँ' इस इच्छासे प्राणियोंकी सुषुप्तिके लिये प्रवृत्ति न होनी चाहिये। परंतु यह भी ठीक नहीं। जैसे 'मैं दुबला हूँ, मोटा हो जाऊँ' इस बुद्धिसे इच्छासे स्थौल्यसम्पादनमें प्रवृत्ति होती है, यहाँ स्थौल्य दशामें कार्श्यके न रहनेपर भी कृशकी स्थौल्य-सम्पादनार्थ प्रवृत्ति होती है। वैसे ही निर्दुःख सुषुप्ति-दशामें अहमर्थके न होनेपर भी अहमर्थकी निर्दुःख होनेकी इच्छासे सुषुप्तिमें प्रवृत्ति हो सकती है। यदि कहा जाय कि कार्श्यादिसे विविक्त (पृथक्) शरीरमें ही स्थूलताकी इच्छा होती है तब प्रकृतमें भी यही कहा जा सकता है कि अन्तःकरणसे निष्कृष्ट केवल साक्षी

मात्रकी निर्दुःखताके लिये ही सुषुप्तिमें प्रवृत्ति होती है। 'मैं निर्दुःख होऊँ' इस अनुभवमें अहमंश तो अवर्जनीयतया उपस्थित होता है, जैसे 'दूसरेका ग्राम मेरा हो जाय' यहाँपर सम्बन्धांशको इच्छाविषयता होती है। यदि कहा जाय कि चिन्मात्र निर्दुःख हो ऐसी इच्छा होनी चाहिये, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि चिन्मात्ररूपसे विज्ञान न होनेसे ही ऐसा अनुभव नहीं होता। निर्दुःखका अनुभव है, ऐसी इच्छा होती ही है। कहा जाता है कि जो 'मैं' सोया था, वही मैं जागता हूँ, जो 'मैं' पूर्व दिवसमें करता था, वही मैं आज कर रहा हूँ, इस तरहके प्रत्यभिज्ञान अहमर्थके भेदमें नहीं हो सकते। इसके सिवा कृतहानि (किये हुए कर्मोंका बिना फल दिये ही नाश) और अकृताभ्यागम (बिना कर्म किये ही फलका आगम) मानना पड़ेगा। जब प्रतिदिन सुषुप्तिमें अहमर्थका नाश और जागरमें फिर उसकी उत्पत्ति मानी जायगी, तब पूर्वोक्त दूषण अनिवार्य हो जायँगे। कर्ता अहमर्थ और भोक्ता अहमर्थमें भेद होनेसे कर्म और फलभोगमें भी वैयधिकरण्यापत्ति होगी। चैतन्य यद्यपि एक है, तथापि उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। जिस अहमर्थमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि होते हैं, वह एक नहीं है। 'अहं करोमि' ऐसी प्रतीतिके अनुसार अहंकारमें ही कर्तृत्वका आरोप मान्य है। अतएव चैतन्यमें कर्तृत्वादिका आरोप भी निरवकाश है। यदि आरोपसे ही कर्तृत्व मान्य हो, तब तो देहादिमें ही कर्तृत्व, भोक्तृत्व मान लिया जाय। परंतु विचार करनेसे विदित होता है कि उपर्युक्त शङ्काएँ निराधार हैं; क्योंकि सुषुप्तिमें नष्ट होकर भी अहंकार कारण-रूपसे स्थित ही रहता है। उसीकी जाग्रदवस्थामें फिर उत्पत्ति होती है। इस तरह अहमर्थ एक ही रहता है। अतः अकृताभ्यागम, कृतविप्रणाश आदि कोई दोष न होंगे।

यहाँ कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि 'अथैतत्पुरुषः स्वपिति' यहाँसे लेकर 'गृहीतं चक्षुर्गृहीतं श्रोत्रं गृहीतं मनः' इत्यादि श्रुतिमें मन आदिका ही उपराम—लय कहा गया है, अहंकारका लय नहीं बतलाया गया।' परंतु इसका समाधान यह है कि मनके उपरममें ही अहंकारका भी उपरम समझ लेना चाहिये, क्योंकि मनमें ही बुद्धि, चित्त, अहंकारका भी अन्तर्भाव होता है। यद्यपि अहमर्थ—चित्, चैतन्यसे अघटित—अयुक्त ही है। फिर भी जैसे 'घटः स्फुरति' इस व्यवहार-में जड घटमें भी स्फुरणकी आश्रयता भासित होती है। वैसे ही जड अहमर्थमें भी अनुभवकी आश्रयता भासित होती है। तथापि 'अहम्' इत्याकारक प्रत्ययमें अव-च्छिन्न अनुभवरूपसे अहमर्थका भान होता है। जैसे घटावच्छिन्न आकाश अन-वच्छिन्न आकाशमें अन्तर्भूत होता है, वैसे ही अवच्छिन्न अनुभव अनवच्छिन्न आत्मामें ही अनुगत है। इस तरह आत्मासे अभिन्न अनुभवका अवच्छेदक मन अनुभवका आश्रय कहा जाता है। सारांश यह है किंचित् (चैतन्य), अचित् (जड) का सम्मिश्रणरूप अहंकार अध्यस्त होता है। जड-चेतनकी अन्योन्याध्यासरूप

ग्रन्थि ही अहंकार है। वही 'अनुभवामि' (मैं अनुभव करता हूँ) इस तरह आत्मा-भिन्न आत्मस्वरूप अनुभवका आश्रय होनेसे चिदात्मक कहलाता है। 'अहं कर्ता' (मैं करता हूँ) इस तरह जडरूप कर्तृत्वका आश्रय होनेसे अचिदात्मक है। ऐसी स्थितिमें अचित् अन्तःकरणके उपरम होनेपर चिदचित्संवलित (चिज्जडग्रन्थिरूप) अन्तःकरणका भी उपरम हो जाता है। अन्तःकरण, उसका अधिष्ठान और अन्तःकरणगत चिदाभास—यह तीनों मिलकर अहमर्थ कहलाते हैं। अन्तःकरणका आत्मामें स्वरूपसे ही अध्यास होता है। परंतु अन्तःकरणमें आत्माका स्वरूप नहीं अध्यस्त होता; किंतु उसका संसर्ग ही अध्यस्त होता है। इसीलिये अन्योन्याध्यास होनेपर भी उभयके साक्षात्कारसे उभयकी निवृत्ति नहीं होती। अतएव शून्यवादापत्ति नहीं होती; क्योंकि आत्मस्वरूप अधिष्ठानके साक्षात्कार होनेपर स्वरूपसे अध्यस्त अन्तःकरणकी निवृत्ति होती है। परंतु आत्माका तो संसर्ग ही अन्तःकरणमें अध्यस्त है, अतः उसीकी निवृत्ति होती है। स्वरूप अध्यस्त नहीं है, अतः उसकी निवृत्ति नहीं होती। इस अन्योन्याध्यास—चिज्जडग्रन्थिको ही अहमर्थ कहा जाता है, फिर अन्तःकरणकी उपरतिसे उसकी उपरति होनी युक्त ही है।

यह उपरति या निवृत्ति भी निरन्वय नाश नहीं है, किंतु कारणरूपसे अवस्थान ही है। अतएव पूर्वापरके अहमर्थमें भेद नहीं है। जैसे एक ही घृतमें कोई भेद नहीं होता, ठीक वैसे ही वही अन्तःकरण सुषुप्तिकालमें अविद्यात्मना परिणत होता है और जाग्रत्में फिर वही अन्तःकरणरूपमें व्यक्त होता है। इस तरह प्रत्यभिज्ञा और अनुभव-स्मरणका सामानाधिकरण्य, कर्मफलभोग-वैयधिकरण्याभाव, अकृताभ्यागम, कृतविप्रणाशादि दोष भी नहीं होंगे, 'अथातोऽहंकारादेशः, अथात आत्मादेशः' यह श्रुति भी अहंकारसे पृथक् आत्माके होनेमें प्रमाण है। पूर्वपक्षीकी ओरसे कहा जाता है कि वेदान्तोंके मतसे तो जैसे 'स एवाधस्तात् स एवोपरिष्टात्' इत्यादि वचनोंसे भूमा ब्रह्मके साथ आत्माका अभेद बतलाया गया है, वैसे ही आत्माका अहमर्थके साथ भी अभेद बतलाया जा सकता है। अतः जैसे आत्मस्वरूप होनेपर भी भूमाका पृथक् उपदेश है, वैसे ही 'अहमेवाधस्तादहमेवोपरिष्टात्' इत्यादि वचनोंसे अहमर्थका पृथक् उपदेश होना सम्भव हो सकता है। तब फिर भेदबोधन कैसा? यदि कहा जाय कि 'भूमा और आत्मा तो भिन्नत्वेन प्रत्यक्षसे प्रसिद्ध हैं, अतः उनका पृथक् उपदेश एकता-प्रतिपादनके लिये ही उपयुक्त है। जब कि दो सर्वात्मा नहीं हो सकते और भूमा तथा आत्मा-दोनोंको सर्वात्मता कही गयी है, तब दोनोंकी एकता अर्थात् अभिन्नता सिद्ध हो जाती है। अहंकारकी तो आत्माके साथ एकता प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतः आत्मासे पृथक् अहंकारका उपदेश आत्मासे भेद ही सिद्ध करनेके लिये है।' पर यह असङ्गत है; क्योंकि यदि अहमर्थसे अन्य आत्माकी भूमा ब्रह्मसे भिन्नता प्रत्यक्षद्वारा असिद्ध

है तो भेदार्थ ही दोनोंका उपदेश क्यों न माना जाय ? इसके सिवा, जब अहमर्थ तो ब्रह्मभिन्नत्वेन रूपेण सिद्ध है, तब उसका उपदेश अभेद-सिद्धिके लिये ही क्यों न मान लिया जाय ? इसी तरह 'अज्ञातज्ञापकत्वेन श्रुतिका प्रामाण्य सिद्ध होगा ।' आदि पूर्वपक्ष भी असङ्गत है; क्योंकि अहंकारसे भिन्न आत्माकी भूमारूप ब्रह्मसे भिन्नता प्रत्यक्षद्वारा असिद्ध होनेपर भी अभिन्नता भी उसी तरह असिद्ध ही है। परंतु फिर भी दोकी सर्वात्मता बन नहीं सकती, अतः सार्वात्म्योपदेशान्यथा-नुपपत्तिकी सहायतासे अभेदमें ही श्रुतिका तात्पर्य मानना युक्त है। परंतु अहमर्थ और आत्माका अभेद असम्भव है; क्योंकि जड, चेतनकी एकता नहीं हो सकती, अतः अहमर्थका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिका आत्मासे अभेद-प्रतिपादनमें तात्पर्य नहीं हो सकता। सारांश यह है कि भूमा ब्रह्म ही ऊपर-नीचे, पूर्व-पश्चिम—सर्वत्र है, वही सब कुछ है, यह कथन अधिष्ठान बुद्धिसे ही सम्भव है। सर्वाधिष्ठान जो है, वही सब कुछ है। अतः यदि भूमा ब्रह्म ही सर्वदेश, काल, वस्तुका अधिष्ठान है, तब तो वही सब कुछ है, ऐसा कहना सम्भव है, अन्यथा असम्भव है; परंतु, जब कि उसी तरह आत्माके लिये भी कहा जा रहा है कि आत्मा ही नीचे-ऊपर, पूर्व-पश्चिम, वही सर्वत्र और वही सब कुछ है, तभी अधिष्ठान होनेसे ही आत्माकी भी सर्वात्मकता बन सकती है। परंतु सर्वप्रपञ्च-का दो अधिष्ठान होना असङ्गत है, अतः जबतक आत्मा और भूमा ब्रह्मका अत्यन्त अभेद न ज्ञात हो, तबतक दोनोंकी ही सर्वात्मकताका उपदेश नहीं सङ्गत हो सकता। इसलिये आत्मा और भूमा ब्रह्मकी एकता स्वीकार्य है।

यद्यपि इसी तरह 'अहमेव अधस्तात्' मैं ही सब कुछ हूँ। इस तरह अहंकारकी भी सर्वरूपता सुनकर पूर्वन्यायसे आत्मा और भूमाके समान ही अहंकार और आत्माका भी अत्यन्त अभेद मानना चाहिये, तथापि अहंकारकी जडता, दृश्यता, प्रत्यक्षता स्पष्ट ही सिद्ध है। अतः चेतन आत्माका उसके साथ अभेद नहीं हो सकता। इसीलिये अहंकारादेशके पश्चात् आत्मादेशका प्रसङ्ग आता है, जिसका आशय यह होता है कि चिदात्मसंवलित (व्यापक अधिष्ठान चैतन्य-मिश्रित) होनेसे ही अहंकारकी सर्वात्मता कही गयी है। वास्तवमें परिच्छिन्न अहंकार सर्वस्वरूप नहीं है, किंतु आत्मा ही सर्वस्वरूप है। कहा जाता है कि 'ऐसी ही स्थिति है तो अहंकारकी सर्वात्मता न कहकर आत्माकी ही सर्वात्मता कहनी थी, इतनेसे भी आत्मा और ब्रह्मकी एकता सिद्ध हो ही सकती थी, परंतु, यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि लोकमें आत्मशब्द-का प्रयोग अहमर्थमें ही होता है, अतः 'आत्मा' पदसे शुद्ध आत्माकी सर्वात्मता नहीं बतलायी जा सकती थी।' परंतु, यदि अहंकारकी सर्वात्मताके अनन्तर आत्मा-की सर्वात्मता कही जायगी, तब तो इसपर अवश्य ही ध्यान जायगा कि अहंकार और आत्मा इन समानार्थक दो शब्दोंका प्रयोग क्यों किया गया ? इस तरह

ध्यानसे विवेचन करनेपर निश्चय होगा कि आत्मशब्दसे शुद्ध आत्मा विवक्षित है। अतः उसीकी मुख्य सर्वात्मता है। अहंकारकी तो आत्मयुक्त होनेसे ही सर्वात्मता है। इस तरह आत्मशब्दका अहंकारसे अतिरिक्त शुद्ध आत्मामें पार्थक्य निर्णय करानेके लिये ही अहंकारका पृथक् उपदेश आवश्यक है। अर्थात् अहंकारका पृथक् उपदेश आत्मासे भेद ही सिद्ध करनेके लिये है।

कुछ महानुभावोंका तो ऐसा कहना है कि यहाँ संचारिभावका वर्णन है। प्रेमके उद्रेकमें भावुक सभी विश्वको भूमा ब्रह्मरूपसे देखता है, उसीमें स्व-पर-विस्मृतिसे वह अपने-आपको ही भगवान् समझने लगता है। 'असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः।' (श्रीमद्भा० १०। ३०। ३) अर्थात् जैसे गोपाङ्गनाएँ कृष्ण-प्रेमोन्मादमें विह्वल होकर अपने-आपको कृष्ण समझने लगी थीं, वैसे ही साधक अपने-आपको ही भूमा मानकर 'मैं ही सब कुछ हूँ' ऐसा कहता है। परंतु यह वस्तुस्थिति नहीं, संचारिभाव है; स्थायी नहीं है। अतएव फिर इस भावके मिटनेपर भूमारूप आत्माकी ही सर्वात्मताका अनुभव होता है।' इस मतमें भी अहमर्थसे आत्मशब्दार्थ भिन्न ही माना जाता है। यह दूसरी बात है कि इस मतमें आत्मा और भूमा—इन दोनों शब्दोंका परमेश्वर ही अर्थ है और अहंका अर्थ जीवात्मा है। परंतु यहाँ वस्तुके याथात्म्यका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति संचारिभावका वर्णन कर रही है या तत्त्वके भेद-अभेद आदिका, यह चिन्त्य है। कुछ लोगोंका यह भी कहना है कि 'वेदान्तीके मतमें भूमा, अहंकार और आत्मा—यह तीनों बिम्ब, प्रतिबिम्ब और मुखके समान हैं, अतः औपाधिक ब्रह्म भूमा है, जीव अहमर्थ है और निरुपाधिक चिन्मात्र ब्रह्म आत्मा है। इस दृष्टिसे तो जब वेदान्तीके मतमें भी जीवात्मासे अहंकारकी भिन्नता नहीं सिद्ध होती, तब अहमर्थकी अनात्मता कैसे सिद्ध हो सकती है ?' परंतु यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि उसका तात्पर्य यह है कि पहले भूमाका स्वरूप इस तरह बतलाया गया कि 'यत्र नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति' (छां० उ०) जहाँ न दूसरेको देखता है, न सुनता है, न जानता है, वही भूमा है। 'स एवाधस्तात्' वही ऊपर-नीचे, वही सब कुछ है। इस उक्तिमें 'यत्र' शब्दसे आधार-आधेयभावकी प्रतीति और 'सः' इस शब्दसे उसकी परोक्षता, अप्रत्यक्षता प्रतीत होती थी और इसीसे भूमामें आत्मासे भिन्नता भी प्रसक्त थी। ऐसी स्थितिमें सर्वभेदशून्य, अपरोक्ष, स्वप्रकाश, ब्रह्मके ज्ञानमें बाधा उपस्थित हो जाती, इसीलिये 'अहमेवाधस्तात्' 'मैं ही ऊपर-नीचे सब कुछ हूँ' इस उक्तिकी आवश्यकता हुई। इससे सिद्ध किया गया कि पूर्वोक्त भूमा, जिसकी सर्वात्मता बतलायी गयी, वह अहमर्थरूप है, जीवसे अभिन्न ही है। एतावता 'सः' शब्दसे प्रतीत भूमाकी परोक्षताका वारण हुआ और जीवात्मा-परमात्माका भेद एवं आधाराधेयभाव आदि भी वारित हुआ। जैसे भूमा सर्वात्मा है, वैसे ही अहमर्थ या जीवात्मा भी सर्वात्मा है। जब दो

सर्वात्मा नहीं हो सकते, तब अर्थात् ही दोनोंकी एकता समझी जाती है, जिससें अपरोक्ष जीवात्मासे अभिन्न भूमाकी अपरोक्षता एवं आधाराधेय भावादिसे विवर्जितता सिद्ध हो जाती है। परंतु इतनेपर भी यह गड़बड़ी पड़ती थी कि अविवेकी लोग 'मैं' या 'अहं' का प्रयोग व्यापक शुद्ध चिदात्मामें न करके चिज्जड-ग्रन्थि या कार्यकरण-संघातमें ही करते हैं। इससे कहीं यह न समझ लिया जाय कि परिच्छिन्न, जड कार्यकरणसंघात ही भूमा ब्रह्म है, अतः अहंकाररहित शुद्ध आत्माकी सर्वात्मता बतलाकर सर्वोपद्रव-सर्वभेदशून्य, स्वप्रकाश भूमा ब्रह्मकी सर्वात्मताका समर्थन किया गया और अहंशब्द-वाच्यार्थ जड अहमर्थसे भिन्न अहं-शब्दके लक्ष्यभूत अहमर्थ-साक्षीको मुख्य आत्मा कहा गया है। इसी अर्थको सिद्ध करनेमें भूमादेश, अहंकारादेश, आत्मादेश करनेवाली श्रुतियोंका तात्पर्य है। अतः यहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्बि आदि कल्पनाका अवकाश नहीं था। यदि अविद्यामें प्रति-बिम्बित जीवको अहंकारशब्दसे कहनेपर भी प्रसक्त-भेदका वारण और आत्मा-देशद्वारा शुद्ध-आत्मासे अहंकारका भेद कहना सङ्गत हो, तो भी अविद्योपाधिक जीवको अहंकार-शब्दसे 'स्थूलारुन्धतीन्याय' से कहा जाता। जैसे अरुन्धतीके निकट रहनेवाले स्थूल ताराको ही पहले दिखलाकर बादमें तन्निकटस्थ अरुन्धतीको दिखलाकर पूर्ववाक्यका भी तात्पर्य अरुन्धतीके प्रदर्शनमें ही माना जाता है, साथ ही स्थूल, सूक्ष्म, दोनों ही ताराओंमें भेद स्वतः सिद्ध हो जाता है, वैसे ही 'अहंकार' शब्दसे पहले अविद्याप्रतिबिम्ब अहंकाराश्रय चैतन्य कहा जा सकता है। लोकमें अपरोक्ष चैतन्य-का 'मैं' या 'अहं' शब्दसे ही व्यवहार होता है, 'अविद्याप्रतिबिम्ब' आदि शब्द अलौकिक है, अतः उनसे व्यवहार नहीं होता। पश्चात् 'आत्मादेशवाक्य' से 'अहंकारादेशवाक्य' का भी शुद्ध आत्माके ही सार्वात्म्य-निश्चयमें तात्पर्य विदित होता है। फिर अहं शब्दवाच्यका और शुद्ध-आत्माका भेद सुतरां सिद्ध हो जाता है।

अहमर्थको आत्मा माननेवाले बहुत-से महानुभाव आत्माको अणु मानते हैं फिर अणु आत्माकी 'सर्वात्मता' कैसे हो सकती है? जब अणु आत्मा ही अनन्त है और जगत्, ईश्वर आदि सब सत्य ही है तब एक अणुरूप जीव ही सब कुछ है यह कथन सङ्गत ही कैसे हो सकता है? कुछ लोगोंका कहना है कि 'स एवाधस्तादहमेवाधस्तादात्मैवाधस्तात्' इत्यादि उपक्रम वाक्यों और 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' इत्यादि स्मृतियोंसे 'स एवेदं सर्वम्, अहमेवेदं सर्वम्, आत्मैवेदं सर्वम्' इत्यादि उपसंहार वाक्योंका तात्पर्य सर्वात्मता (सर्वस्वरूपता) के प्रतिपादनमें नहीं, किंतु सर्वगतत्व या व्यापकत्वके प्रतिपादनमें ही है। अतएव 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' यह स्मृति स्पष्ट कहती है कि आप सर्वव्यापक हैं अतः सर्वस्वरूप हैं। इसी तरह भूमा, अहमर्थ और आत्मा सभी सर्वगत, सर्वव्यापक हैं, अतः उनकी

सर्वस्वरूपताका उपचार कहा जाता है। यदि अधिष्ठान या उपादान होनेसे वास्तविक सर्वस्वरूपता होती, तब तो कथंचित् अहंकाररहित केवल चैतन्यमें अहंशब्द-का भी तात्पर्य समझा जाता। वाच्यत्व, ज्ञेयत्व आदिके समान सर्वगतत्व भी अनेकोंमें हो सकता है। यदि जीव और ब्रह्मकी एकता ही श्रुतियोंका तात्पर्य हो, तब तो भूमा और आत्माके उपदेशसे ही अभीष्ट सिद्ध हो जाता, फिर अहं-कारादेशकी व्यर्थता स्पष्ट ही है। परंतु, यह सब कथन अयुक्त है; क्योंकि उपर्युक्त युक्तियोंके अनुसार 'स एवाधस्तात्' इत्यादि वाक्योंका तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्यमें ही है, सर्वगतत्व-प्रतिपादनमें नहीं। वस्तुतः जो उपादान या अधिष्ठान होता है, उसी-की सर्वगतता भी सम्पन्न होती है। पृथिव्यादि सर्वप्रपञ्चका कारण होनेसे ही आकाश आदिकी भी व्यापकता है। अतएव 'सर्वकारणरूपसे आप सर्वत्र व्यापक हैं, इसीलिये आप सर्वरूप हैं,' इस तरह 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' इस स्मृतिका भी तात्पर्य सर्वात्मतामें ही है। परिभूः, स्वयम्भूः—इन दो पदोंसे व्यापकता और सर्वरूपता सिद्ध की जाती है।' 'परि-उपरि-सर्वतो वा भवतीति परिभूः' ऊपर या चारों ओर होनेवालेको 'परिभूः' कहा जाता है। 'यस्योपरि भवति यश्चोपरि भवति स सर्वः स्वयमेव भवतीति स्वयम्भूः' जिसके ऊपर और जो ऊपर होता है, उस सब कुछ अपने-आप होनेवालेको 'स्वयम्भूः' कहा जाता है। ठीक उसी तरह 'स एवाधस्तात्' इत्यादि वचनोंसे सर्वव्यापकता कहकर 'स एवेदं सर्वं' इत्यादि वचनोंसे उसीकी सर्वरूपता प्रतिपादित की गयी है। अतः उपक्रम-उपसंहारमें ऐक्यरूप्य ही है।

इसके सिवा यह भी विचार करना चाहिये कि 'स भगवः कस्मिन् प्रति-ष्ठितः'—भगवन्! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है? इस प्रश्नमें क्या भूमाका कहीं अवस्थानमात्र पूछा गया है अथवा भूमा परमार्थतः किसमें प्रतिष्ठित है, यह पूछा गया है? यदि पहला पक्ष है तब तो उसका यह उत्तर है कि 'स्वे महिम्नि' अर्थात् अपने प्रपञ्चरूप महिमामें ही स्थित है। यद्यपि कहा जा सकता है कि 'यदि भूमा अपनी महिमामें स्थित है, तब तो जैसे राजा अपनी महिमासे गज, अश्व आदिमें स्थित होता है, यहाँ 'भोग-साधन' में 'महिम' शब्दका प्रयोग हुआ है और वह भी राजाकी समान सत्तावाला है, अर्थात् जैसे राजा सत्य है, वैसे ही उसके भोग-साधन गजादि भी सत्य हैं, वैसे ही प्रपञ्चको भी ब्रह्मके समान ही सत्य होना चाहिये। ऐसी स्थितिमें वस्तुपरिच्छेद होनेसे भूमामें परिच्छिन्नता अनिवार्य होगी, तथापि यहाँ महिमा-शब्दका अर्थ अपनी समान सत्तावाला भोगसाधन नहीं विवक्षित है, किंतु 'स्व' शब्द अपनेमें अध्यस्तरूप 'स्वीय' या 'आत्मीय' का बोधक है। कोई संकोचक प्रमाण न होनेसे सभी अध्यस्त दृश्य-प्रपञ्च 'स्वे महिम्नि' के 'स्व' शब्दका अर्थ है और महिमा शब्द उत्कर्षका बोधक है। राजसम्बन्धी होनेसे राजकीय गो, गजादिमें जैसे उत्कर्ष है,

वैसे ही प्रकाशक ब्रह्म-सम्बन्धसे अध्यस्त दृश्यमात्रमें उत्कर्ष है। अतः उसके परमार्थ सत्य होनेकी कोई अपेक्षा नहीं है। अतएव ब्रह्ममें परिच्छिन्नता आदि न आ सकेगी।

यदि दूसरे अभिप्रायसे प्रश्न हो कि भूमा परमार्थतः किसमें प्रतिष्ठित है, तब तो 'यदि वा नो महिम्नि'—वह महिमामें प्रतिष्ठित नहीं है, यही उत्तर है; क्योंकि 'अन्यो ह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठितः'—दूसरा ही दूसरेमें प्रतिष्ठित होता है। जब भूमासे भिन्न परमार्थ सत्य कोई पदार्थ ही नहीं है, तब भूमाकी किसमें प्रतिष्ठा कही जाय? 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि वाक्यसे अद्वैत ब्रह्म ही भूमा कहा गया है। इस तरह जब पूर्व वाक्यसे ही अद्वितीय ब्रह्मका निश्चय हो गया, तब तो फिर उसके अनुसार ही 'स एवाधस्तात्' इत्यादि वाक्योंका भी सर्वात्मता-प्रतिपादनमें ही तात्पर्य होगा। दो वाक्योंका पृथक् अर्थकल्पना करना निरर्थक है। अतः 'स एवाधस्तात्' इत्यादि वाक्योंका यही तात्पर्य है कि अधर्-ऊर्ध्व, देशकाल आदि सब कुछ भूमा ही है। 'जाति सर्वगता होती है' इस सिद्धान्तके अनुसार व्यापक जातिके समान भूमा अन्यमें अधिष्ठित भी हो सकता है। जैसे घटत्वादि जाति घटादिमें तादात्म्यसम्बन्धसे एवं अन्यत्र स्वरूप-सम्बन्धसे रहती है, वैसे ही भूमा अपने कार्योंमें तादात्म्यसम्बन्धसे और अनादि पदार्थोंमें स्वज्ञान-विषयत्वादिसम्बन्धसे प्रतिष्ठित होता है। 'अहमेवाधस्तात्' इत्यादिके मध्यमें अहंकारोपदेश भी व्यर्थ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ब्रह्ममें अपरोक्षता, प्रत्यक्चैतन्याभिन्नता आदिके प्रतिपादनके लिये उसकी सार्थकता पहले ही कह चुके हैं।

कहा जाता है कि 'वेदान्त-मतानुसार प्रत्यक्चैतन्य आत्मा ही मुख्यरूपसे अपरोक्ष है। उसके साथ ब्रह्मकी एकता कहनेसे भूमा ब्रह्मकी अपरोक्षता (प्रत्यक्षता) सिद्ध हो ही जाती, फिर अहंकारकी, जो वस्तुतः सर्वरूप नहीं है सर्वात्मता क्यों कही गयी?' परंतु इसका उत्तर यही है कि यद्यपि आत्माके सम्बन्धसे ही अहंकारकी भी अपरोक्षता है, अतः आत्माकी एकतासे ही भूमाकी अपरोक्षता सिद्ध हो सकती थी तथापि अहंकार (मैं) में अपरोक्षता लोकमें बहुत प्रसिद्ध है, इसलिये उसकी उक्ति सार्थक है। इसके सिवा यदि 'अहं' का अर्थ अणुपरिणाम आत्मा ही मान लिया जाय, तब तो उसमें व्यापकता, सर्वरूपता आदि कुछ भी नहीं बन सकती। कुछ लोग कहते हैं कि 'भूमा नारायणाख्यः स्यात् स एवाहंकृतिः स्मृतः। जीवस्थस्त्वनिरुद्धो यः सोऽहंकार इतीरितः॥ अणुरूपोऽपि भगवान् वासुदेवः परो विभुः। आत्मेत्युक्तः स च व्यापी' इस स्मृतिमें भूमारूप नारायणहीको अहंकृति कहा गया है। एवं जीवमें रहनेवाले अनिरुद्धको ही अहंकार कहा गया है और 'अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः। योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम्॥ सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः' इत्यादि स्मृतियोंसे व्यक्त-भावको प्राप्त होकर पितामहको रचनेवाला ही अहंकार कहा गया है।

अतः इन स्मृतियोंके अनुसार ही श्रुतिका अर्थ होना चाहिये।' परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि सर्वात्मता-प्रतिपादक श्रुति-वचनोंके अनुसार ही स्मृतियोंका अर्थ करना युक्त है। इस दृष्टिसे इन स्मृतियोंका यही अर्थ होता है कि 'नारायण ही भूमा है और वही अहंकृति है' अर्थात् अहंकारोपलक्षित चित्तसे अभिन्न होनेके कारण वही अहंकृति भी कहलाता है। अविद्याप्रतिबिम्बरूप जीवके आश्रित अविद्या, काम, कर्मके अनुसार इहलोक-परलोकमें—कहींपर न रुकनेवाला अहंकार ही 'अनिरुद्ध' है। इसमें और शुद्ध आत्मामें अवश्य ही भेद है। मोक्षधर्मके विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है 'परमात्मेति यं प्राहुः सांख्ययोगविशारदाः। तस्मात्प्रसूतमव्यक्तं प्रधानं तद्विदुर्जनाः॥' अर्थात् सांख्ययोगविशारद जिसे परमात्मा कहते हैं उसीसे प्रधान या अव्यक्त उत्पन्न होता है।

'अव्यक्ताद् व्यक्तमुत्पन्नं लोकसृष्ट्यर्थमीश्वरात्।
अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः॥
योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम्।
सोऽहंकार इति प्रोक्तः सर्वतेजोमयो हि सः॥
पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्।
अहंकारप्रसूतानि महाभूतानि पञ्च च॥'

(सर्वदर्शनसं०)

लोकसृष्ट्यर्थ अव्यक्त (अव्यक्तभावापन्न ईश्वर) से अनिरुद्ध या महान् आत्मा (महत्तत्त्व, समष्टिबुद्धि, सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ) का प्रादुर्भाव हुआ। जिस महान्‌ने व्यक्तभावापन्न होकर पितामह (विराट्) को रचा है, वही महान् आत्मा (हिरण्यगर्भ) आगे चलकर अहंकार कहलाता है। वह बुद्धिस्वरूप या तेज—(सत्त्व) प्रधान सूक्ष्म शरीरका अभिमानी होनेसे ही तेजोमय है। उसी अहंकारसे फिर पञ्चभूतोंकी रचना हुई। मोक्षधर्मके इन वाक्योंमें सांख्यमतानुसार महत्तत्त्व और अहंकारमें ही 'महान्' और 'अहंकार' शब्दका प्रयोग हुआ है। वेदान्त-मतानुसार वीक्षण और विचिकीर्षा (प्रपञ्चरूपसे आविर्भावकी इच्छा) ही उनके अर्थ हैं। 'तदैक्षत' इस श्रुतिसे जो ईक्षण कहा गया है, उसे ही महान् कहा जा सकता है। 'एकोऽहं बहु स्याम्' इत्यादि श्रुतिके अनुसार अनेक होनेकी इच्छा ही अहंकार है, अतएव ईक्षणके पश्चात् ही 'अहं' पदका उल्लेख हुआ है। 'अहंकारश्चाहंकर्तव्यश्च' 'महाभूतान्यहंकारः' इत्यादि श्रुति-स्मृतिमें अहंकारकी उत्पत्ति और लय बतलाया गया है। अतः उसमें व्यापकता कभी नहीं बन सकती। जहाँ भी कहीं अहमर्थकी व्यापकता कही गयी है सर्वत्र ही अहंकारसे रहित, अहंकारके अधिष्ठानभूत व्यापक चैतन्यमें ही लक्षणासे अहंपदका प्रयोग हुआ है। जैसे 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इस वामदेवकी उक्तिमें यद्यपि आपाततः प्रतीत होता है कि परिच्छिन्न जीवकी ही सर्वरूपता कही जा रही है तथापि सिद्धान्ततः वहाँ लक्षणासे अहंकाररहित व्यापक-

शुद्ध चैतन्यमें 'अहं' का प्रयोग निर्णय किया गया है। वैसे ही जहाँ भी अहमर्थकी व्यापकता सुनायी दे, वहाँ व्यापक चैतन्य ही 'अहं' का अर्थ समझना चाहिये।

कुछ लोग कहते हैं कि 'अहंकारश्चाहं कर्तव्यश्च' इत्यादि स्थलोंमें महत्तत्त्वका कार्य और मन आदिका कारण अहंतत्त्व लिया गया है। 'महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यसंभवात्। क्रियाशक्तिरहंकारस्त्रिविधः समपद्यत' (श्रीमद्भा० ३।२६।२३) इत्यादि वचनोंके अनुसार यह सात्त्विक, राजस, तामस—त्रिविध अहंकार आत्मस्वरूप अहमर्थसे सर्वथा भिन्न है। यदि अहमर्थ और अहंकारमें भेद न माना जायगा, तब तो इसी तरह 'बुद्धिरव्यक्तमेव च' (गीता १३।५) इस वचनमें भी विवाद खड़ा हो सकेगा। यहाँ 'बुद्धि' पद क्षेत्रान्तर्गत दृश्यविशेषके लिये आया है। परंतु यदि 'बुद्धि' शब्दसे संवित् (स्वप्रकाश ज्ञानरूप आत्मा) का बोध हो, तब तो संवित्का भी क्षेत्रकोटिमें ही परिगणन होगा। अतः कहना होगा कि भले ही कहीं 'बुद्धि' और 'ज्ञान' पदसे संवित् या आत्मा कहा जाय, पर 'बुद्धिरव्यक्तमेव च' इस क्षेत्रस्वरूपके निरूपण-प्रसङ्गका 'बुद्धि' शब्द संवित्का बोधक नहीं है। ठीक इसी तरह क्षेत्रमें प्रयुक्त अहंकार शब्दका अर्थ आत्मा नहीं है; किंतु 'अहमात्मा गुडाकेश' (गीता १०।२०) इत्यादि स्थलोंका ही 'अहं'पद आत्माका बोधक है। 'दम्भाहंकारसंयुक्ताः' (गीता १७।५) इत्यादि स्थलोंमें 'अहं' पदका प्रयोग देहमें, अहंबुद्धि और गर्वमें होता है। 'गर्वोऽभिमानोऽहंकारः' (अमर० १।७।२१) इस कोषसे भी मालूम होता है कि अहंकार शब्द केवल अहमर्थ (आत्मा) का ही वाचक नहीं है। आत्माका बोधक 'अहं' शब्द 'अस्मद्' शब्दसे बना है और अहंकार शब्द अनात्माका बोधक है। उसका पर्यायभूत 'अहं' शब्द मान्त (मकारान्त) अव्यय है।' परंतु यह सब कथन असंगत है। मान्त एवं दान्तभेदसे अर्थभेद कल्पनामें कोई भी प्रमाण नहीं है। अहंरूपसे प्रतीयमान अहंकारहीके बोधक सभी 'अहं' शब्द हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि स्थलोंमें लक्षणाद्वारा ही अहंकारसे अतिरिक्त आत्माका बोध होता है। कौन 'मान्त' है, कौन 'दान्त' इस तरह जिसका निर्धारण नहीं है, ऐसे 'अहं' शब्दका अधिक प्रयोग अहंकारहीमें होता है। जब अहंकार शब्दको आप भी अनात्माका वाची मानते हैं; तब 'सोऽहंकार इति प्रोक्तः'(सर्वद० सं०) इत्यादि पूर्व वचनोंमें, आत्मामें अहंकार पदका प्रयोग लाक्षणिक ही होगा। बस, फिर तो 'मान्त' 'दान्त' साधारण अहंशब्द भी मुख्य वृत्तिसे अहंकारका वाची होकर लक्षणासे आत्माका वाचक होगा। जैसे 'अनिरुद्धो हि लोकेषु महानात्मा परात्परः। योऽसौ व्यक्तत्वमापन्नो निर्ममे च पितामहम्॥ सोऽहंकार इति प्रोक्तः' (सर्वदर्शनसं० ४) यहाँ लक्षणासे आत्मामें अहंकारका प्रयोग अन्योंको मान्य है, वैसे ही अहं शब्दका भी लक्षणासे ही आत्मामें प्रयोग मानना उचित है।

कुछ लोग अहमर्थमें आत्मा-अनात्मा—दोनोंका मिश्रण नहीं मानते और कर्तृत्व आदिको मुख्य आत्माका ही धर्म मानते हैं। परंतु यह असंगत है; क्योंकि असङ्ग, अनन्त आत्मामें कर्तृत्व माननेसे मुक्तिका होना अत्यन्त असम्भव हो जायगा। कहा जाता है कि 'यदि अहंकार या अहंशब्द चिज्जड-ग्रन्थिका वाचक हो तब तो दूसरोंकी ग्रन्थिमें भी 'अहं' का प्रयोग होना चाहिये।' परंतु उन्हें यह भी देखना चाहिये कि उनके ही मतमें अहंकार और मान्त अहम्का प्रयोग दूसरोंके अन्तःकरण या क्षेत्रमें क्यों नहीं होता ? यदि उन्हें ऐसा इष्ट हो तो हमें भी इष्ट ही है। भेद यही है कि हमारे यहाँ इन पदों-की अपने उच्चारयितामें शक्ति है। शुद्ध आत्मा उच्चारयिता है नहीं, अतः जैसे वहाँ लक्षणासे प्रयोग होता है, वैसे ही दूसरी ग्रन्थिमें भी होगा। कहा जाता है कि कर्तृत्व आदिके अनात्म-धर्म होनेपर भी उसे अपने आश्रय-प्रतीतिके बिना भी आत्मामें वैसे ही प्रतीति होनी चाहिये, जैसे 'गौरोऽहम्' यहाँ गौरत्वके आश्रय देहकी प्रतीति न होनेपर भी गौरत्वकी आत्मामें प्रतीति होती है। परंतु ध्यान देनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि दृष्टान्तमें भी देहत्वरूपसे देहका भान न होनेपर भी गौरत्व मनुष्यत्वरूपसे देहका भान अवश्य रहता है। फिर दार्ष्टान्तिक कर्तृत्व आदि आश्रयभूत अहमर्थकी प्रतीतिके बिना कैसे प्रतीत होंगे ? सार यह है कि जहाँ आरोप अनुभूयमान होता है, वहाँ या तो प्रतिबिम्बरूपता होती है अथवा धर्मीका अध्यास अवश्य होता है। जब कर्तृत्वादि प्रतिबिम्बरूप नहीं हैं, तब अवश्य ही धर्मीका अध्यास मानना चाहिये।

अहं प्रत्ययका विषय होनेसे शरीरके समान अहमर्थ अनात्मा है इत्यादि अनुमानसे भी अहमर्थकी अनात्मता सिद्ध होती है। कहा जाता है कि इस तरह तो अहमर्थके भीतर अधिष्ठानभूत चैतन्य भी अहं प्रत्ययका विषय है, फिर उसे भी अनात्मा कहना पड़ेगा। परंतु इसका उत्तर स्पष्ट है। जिस रूपसे उसे अहंप्रत्यय-विषयता है, उस रूपसे उसकी अनात्मता इष्ट ही है और स्वरूपसे वह सर्वथा अविषय है अतः उसमें अनात्मताकी प्रसक्ति नहीं है। अहमर्थ आत्मासे अन्य है। 'अहं' शब्दका अभिधेय (वाच्य) होनेसे अहंकारशब्द-वाच्यके समान पर्यायता दिखलायी जा चुकी, अतः असिद्धिकी कल्पना नहीं की जा सकती। कहा जाता है कि वेदान्ती भी तो 'गौरोऽहम्' इस तरह आत्माको गौरत्वकी कल्पनाका अधिष्ठान मानता है और 'मा न भूवम्, भूयासम्' इत्यादि रूपसे आत्माको ही परप्रेमास्पद मानता है। साथ ही अहमर्थ अपनी सत्तामें प्रकाश (बोध) से रहित नहीं होता, अतः आत्मा-की स्वप्रकाशता भी कही जाती है। यदि अहमर्थ अनात्मा ही हो, तब तो यह सब उपर्युक्त कथन कथमपि सङ्गत न हो सकेगा; क्योंकि 'गौरोऽहम्', 'मा न भूवम्' अहमर्थकी प्रकाशाव्यभिचारिता यह सभी अहमर्थसे ही सम्बन्धित है। अतः यदि वह अनात्मा है, तब तो यह अहमर्थसे सम्बन्धित स्वप्रकाशत्वादि अनात्मामें ही

पर्यवसित होंगे। परंतु यह कथन ठीक नहीं है। गौरत्वादि अनात्माके आरोपका अधिष्ठान अहमर्थ नहीं है, अपितु आत्मा ही है। किंतु जैसे 'इदम्' (पुरोवर्ती शुक्तिकादि) अधिष्ठानका अवच्छेदक होनेसे अधिष्ठान कहलाता है, वैसे ही अहमर्थ भी अधिष्ठानका अवच्छेदक होनेसे अधिष्ठान कहलाता है। वास्तवमें अहमर्थ अनात्माके आरोपका अधिष्ठान नहीं है। आत्मामें अहंकारका ऐक्यारोप (भ्रम) होनेसे ही अहमर्थमें प्रेमास्पदत्वकी प्रतीति होती है। जो कहा जाता है कि 'ऐसा माननेसे अन्योन्याश्रय-दोष होगा', वह भी ठीक नहीं। सुषुप्तिकालमें आत्माका प्रकाश होता है, अहमर्थका प्रकाश नहीं होता। इसीसे उन दोनोंका भेद सिद्ध हो जाता है।

कहा जाता है कि 'अहमर्थके प्रेमसे भिन्न अन्य प्रेमका अनुभव ही नहीं होता, अतः अहमर्थको ही प्रेमास्पद मानना चाहिये, परंतु यह ठीक नहीं। परामर्शसे सिद्ध सुषुप्तिमें अहमर्थशून्य आत्माके प्रेमका अनुभव स्पष्ट है, अतः अहमर्थ-प्रेमसे भिन्न भी आत्मप्रेम है ही। यहाँ संदेह होता है कि यद्यपि अहितमें हितबुद्धिसे प्रेम उत्पन्न होता है तथापि जो प्रेमका आस्पद नहीं है, उसमें प्रेमास्पदताका आरोप कहीं भी नहीं देखा गया। अतः यदि अहमर्थ-प्रेमास्पद आत्मा नहीं है, तब इसमें प्रेमास्पदताका आरोप कैसे हो सकता है?' परंतु इसका समाधान यह है कि अहमर्थमें प्रेमास्पदत्वका आरोप होता है, ऐसा नहीं; किंतु यह कहा जा रहा है कि अहमर्थमें आत्माके ऐक्यका आरोप होनेसे प्रेमास्पदता है, स्वाभाविक नहीं। स्वाभाविक प्रेमका आस्पद आत्मा ही है। इच्छा और प्रेममें भेद है, अतएव सिद्ध वस्तुमें भी स्नेहात्मक-वृत्तिरूप प्रेम होता है। रहा यह कि 'अहमर्थका प्रकाशके साथ व्यभिचार न होनेसे उसे ही आत्मा माना जाय', यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वह तो अहमर्थ और आत्माके भेदमें भी बन सकता है। परंतु स्वप्रकाश आत्मसम्बन्धके बिना जड अहमर्थका प्रकाशाव्यभिचार नहीं हो सकता। अतएव वह भी अहमर्थ भिन्न आत्मामें प्रमाण है; अर्थात् अहमर्थके प्रकाशाव्यभिचारसे उसकी स्वप्रकाशता नहीं मानी जा सकती, अपितु इससे स्वप्रकाश आत्माका सम्बन्ध ही निश्चित होता है। कहा जाता है कि 'समारोप्यस्य रूपेण विषयो रूपवान् भवेत्। विषयस्य तु रूपेण समारोप्यं न रूपवत् ॥' अर्थात् आरोपितके रूपसे विषय रूपवान् होता है, विषय (अधिष्ठान)के रूपसे समारोपित पदार्थ रूपवान् नहीं होता। इस युक्तिसे आरोपित अहमर्थके अप्रेमास्पदत्वसे ही आत्मामें अप्रेमास्पदत्वकी प्रतीति होनी चाहिये। परंतु यहाँ विचार करना चाहिये कि क्या अधिष्ठानका धर्म आरोपितमें प्रतीत होना चाहिये अथवा आरोप्यगत धर्मका अधिष्ठानमें भान होना चाहिये? पहला पक्ष तो इसलिये ठीक नहीं है कि अधिष्ठानके जिस धर्मसे विशिष्ट स्वरूपज्ञानसे आरोपितकी निवृत्ति हो जाती है, वह धर्म आरोप्यमें कदापि नहीं प्रतीत होता—ऐसा नियम है। जैसे शुक्तिरजतमें शुक्तिगत इदन्ताकी प्रतीति होनेपर भी शुक्तिगत नीलपृष्ठत्व, त्रिकोणत्व,

शुक्तित्वादि धर्मका भान नहीं होता, क्योंकि शुक्तित्वादिविशिष्ट शुक्तिकाके ज्ञान होनेसे आरोपित रजतकी निवृत्ति हो ही जाती है। अतः अधिष्ठानके उसी रूपसे समारोप्य रूपवान् नहीं होता, जिसके ज्ञानसे आरोपित मिट जाय। प्रेमास्पदत्व वैसा धर्म नहीं है। अतः जैसे शुक्तिरजतमें शुक्तिकी इदन्ता भासित होती है, वैसे ही आत्मगत प्रेमास्पदताके अहमर्थमें अभानका नियम नहीं कहा जा सकता।

दूसरा पक्ष भी सङ्गत नहीं है; क्योंकि आरोप्यगत वे ही धर्म अधिष्ठानमें प्रतीत हो सकते हैं जो अधिष्ठानगत धर्म-प्रतीतिके विरोधी न हों। अतएव सर्पगत भीषणता, अधिष्ठानगत इदन्ता-प्रतीतिके अविरुद्ध होनेके कारण अधिष्ठानमें भासित होती है। परंतु अधिष्ठानगत धर्म इदन्ताकी प्रतीतिके विरुद्ध देशान्तरस्थत्वादि अन्य धर्मकी प्रतीति नहीं होती। ठीक उसी तरह आत्मामें भी आरोप्य अहमर्थके वे ही धर्म प्रतीत हो सकेंगे, जो आत्मधर्म-प्रतीतिके बाधक न हों। परंतु यहाँ तो अप्रेमास्पदत्वरूप आरोप्यधर्म प्रेमास्पदत्वरूप अधिष्ठानभूत आत्मधर्म-प्रतीतिसे विरुद्ध है, अतः आत्मामें उसका आरोप नहीं हो सकेगा। जिस समय ही अहमर्थसे आत्मैक्यका अभ्यास होगा, उसी समय आरोप्यमें भी प्रेमास्पदत्व प्रतीत होगा। फिर तो आरोप्यमें अप्रेमास्पदत्व नहीं प्रतीत होगा। ऐसी स्थितिमें अधिष्ठानभूत आत्मामें उसके अप्रेमास्पदत्वकी प्रतीति कैसे हो सकती है? कुछ लोग परिहार करते हैं कि आत्मा सुख एवं अनुभवरूप है, इसीलिये 'अहं सुखमनुभवामि'—मैं सुखका अनुभव करता हूँ, इस तरह अहमर्थसे भिन्न सुख और अनुभवकी प्रतीति होती है। परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि वैषयिक सुख और अनुभव आत्मासे पृथक् वस्तु है और वही विषयोपप्लवविवर्जित स्वप्रकाश अनन्त आनन्दरूप ही है।

कहा जाता है कि मोक्षमें यदि अहमर्थ न रहेगा, तब तो 'आत्मनाश ही मोक्ष है' यह बाह्य (शून्यवादी) मत आ जायगा; क्योंकि उस मतके समान ही तुम्हारे मतमें भी प्रेमास्पद अहमर्थका नाश स्वीकार्य है। अहमर्थसे भिन्न अन्य किसीकी तरह तो शून्यवादीके यहाँ भी शून्य बना ही रहता है। परंतु यह सब निरर्थक है। औपाधिक प्रेमास्पद अहमर्थके नाशसे यदि आत्मनाशापत्ति हो तो औपाधिक प्रेमास्पद देहनाशमें भी आत्मनाशकी प्रसक्ति होगी। अतएव जो यह कहा जाता है कि 'मामृतं कृधि ज्योतिरहं विरजा विपाप्मा भूयासम्' इत्यादि श्रुतियोंसे अहमर्थके ही अमृतत्व, विरजस्त्व, विपाप्मत्वादिकी आकाङ्क्षा होती है, अतः मुक्तिमें अहमर्थका होना अनिवार्य है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ सर्वत्र 'अहम्' के लक्ष्यार्थ चैतन्यके ही अमृतत्वादिकी आकाङ्क्षा है। जैसे 'अहं पुष्टः स्याम्'—मैं पुष्ट होऊँ, यहाँ स्वसमयविद्यमान शरीरकी ही पुष्टता अभीष्ट है, वैसे ही उपर्युक्त विषयमें भी समझना चाहिये। यद्यपि 'शरीरं पुष्टं स्यात्'—शरीर पुष्ट हो, इस इच्छाके समान 'आत्ममात्रं मुक्तं स्यात्'—आत्ममात्र मुक्त हो, ऐसी इच्छा

नहीं दिखायी देती, अतः मुक्तिकी अनिष्टतापत्ति कही जा सकती है, तथापि विचार करनेसे विदित होगा कि इच्छाके समय अन्तःकरणका अध्यास होता है। अतएव यद्यपि आत्ममात्रकी मुक्तिकी इच्छा नहीं अनुभूत होती, तथापि विशिष्टगत मुक्तिकी इच्छाका ही शुद्धात्मगतत्वेन पर्यवसान होता है। आशय यह है कि इच्छाके भासक साक्षीसे ही अहमर्थका भान होता है, अतः इच्छाके उल्लेखकालमें अहमर्थ-का उल्लेख होनेपर भी विवेकियोंको अहमर्थके विविक्त आत्मगतरूपसे ही मुक्तिकी इच्छा होती है। अविवेकीको भी, जो दुःखमूलवाला हो उसमें दुःखमूलका उच्छेद हो, ऐसी इच्छा होती है। इस तरह शुद्धात्मामें दुःखमूलोच्छेदरूप मुक्तिकी इच्छा पर्यवसित होती है; क्योंकि दुःखमूल अज्ञानवाला नहीं है।

कहा जाता है कि यदि अहमर्थ अन्तःकरण ग्रन्थिरूप ही है तब तो 'मम मनः'—मेरा मन, मेरा अन्तःकरण—ऐसी बुद्धि नहीं होनी चाहिये; क्योंकि अन्तःकरण और मन दोनों एक ही वस्तु हैं। परंतु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अन्तः-करण जडमात्र है। परंतु चेतन आत्मा और अन्तःकरण—इन दोनोंकी ग्रन्थि अहमर्थ है। इस भेदसे मेरा मन इस तरह षष्ठी (सम्बन्ध) बन सकती है। फिर भी कहा जाता है कि 'मनः स्फुरति, मनोऽस्ति' इस ज्ञानमें भी मनकी सत्ता और स्फूर्तिरूप आत्मासे सम्बन्ध है अतः इसे भी चिदचिद् ग्रन्थि कहा जा सकता है। फिर अहं इस ज्ञान और 'मनःस्फुरति' इस ज्ञानमें समता क्यों नहीं प्रतीत होती? यह ठीक नहीं है; क्योंकि सम्बन्धमात्र ही ग्रन्थि या संवलन नहीं कहा जाता, किंतु तादात्म्येन प्रतिभास (अभेदरूपसे प्रतीति) ही संवलन या ग्रन्थि है। 'मनः स्फुरति, मनोऽस्ति' इत्यादि स्थलोंमें आख्यातसे मनमें स्फुरण एवं सत्ताकी आश्रयता ही प्रतीत होती है, मनमें स्फुरणादिका तादात्म्य नहीं प्रतीत होता। अहं इस स्थानमें तो अन्तःकरणका चेतनमें तादात्म्याध्यास है।

कहा जाता है कि सभी भ्रान्तियोंमें अधिष्ठानांश और आरोप्य—इन दो अङ्गोंकी अवश्य प्रतीति होती है। यदि 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रान्तियोंमें अधिष्ठानांश इदन्ताकी प्रतीति न अपेक्षित हो, तब तो बिना अधिष्ठानका भ्रम मानना पड़ेगा, जिससे शून्यवादकी प्रसक्ति अवश्य होगी। परंतु 'अहं इस भ्रान्तिमें तो दो अंशकी प्रतीति ही नहीं होती। यदि कहा जाय कि वहाँ भी दो अंशकी कल्पना कर लेनी चाहिये, तब तो फिर 'आत्मा' इस बुद्धिमें भी दो अंशकी कल्पनासे भ्रान्तिता-सिद्धि माननी होगी। यदि दो अंशकी प्रतीति न होनेसे 'आत्मा' इस प्रतीतिकी भ्रान्ति न मानें, तब तो 'अहं' इस प्रतीतिको भी भ्रान्ति मानना व्यर्थ है। इन संदेहोंका समाधान यह है कि यदि भ्रान्तिमें अधिष्ठान और आरोप्य—इन दो अंशकी प्रतीतिका आपादन करना है तो वह तो मान्य ही है। अहमर्थका मिथ्यात्व ही उसके द्वितीय अंशके होनेमें प्रमाण है। परंतु 'आत्मा' इस बुद्धिके विषयमें भी दो अंश है, इसमें तो कुछ भी प्रमाण नहीं है। अतः 'आत्मा' इस बुद्धिमें भी दो

अंशकी कल्पनाका अवकाश नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि भिन्न-भिन्न दो प्रकारोंसे अवच्छिन्न, अधिष्ठान और आरोप्यका विषय करना ही भ्रान्तिके दो अंश हैं; क्योंकि जहाँ रजतत्वसंसर्गके आरोपसे ही 'इदं रजतम्' ऐसी प्रतीति होती है वहाँ दो प्रकारका भान नहीं होता है। रजतत्वमें कोई भी दूसरा प्रकार (विशेषण) नहीं है। रजतादिको रजतत्वका प्रकार माननेमें भी कोई प्रमाण नहीं है।

कुछ महानुभाव यह भी कहते हैं कि अहमर्थाध्यासमें भी 'अज्ञोऽहं स्फुराम्यहम्' इस तरह स्फुरण और अहं—इन दो अंशोंकी प्रतीति होती ही है। जैसे कभी 'रजतम्' इतनेहीका उल्लेख होता है, वैसे ही 'अहं' इतनेका भी उल्लेख बन सकता है। अतः 'रूप्यं स्फुरति' की तरह 'अहमस्मि, अहं स्फुरामि' यहाँ-पर स्पष्ट दोनों ही अंशोंकी प्रतीति होती है। इतना भेद अवश्य है कि जहाँ इदन्त्वावच्छिन्न स्फुरण अधिष्ठान है, वहाँ 'इदं रूप्यम्' इत्यादि प्रकारसे बुद्धि होती है, जहाँ केवल स्फुरणमात्र ही अधिष्ठान है, वहाँ 'स्फुरामि' ऐसी ही बुद्धि होती है। फिर भी 'मनःस्फुरति, अहं स्फुरामि' इन दोनों प्रतीतियोंमें विलक्षणता इसलिये है कि 'मन' शब्दसे मनस्त्वमात्र विवक्षित है और 'अहं' शब्दसे मन और देहसे अवच्छिन्न चित्स्वरूप उच्चारयितृत्वका उल्लेख होता है। यहाँ संदेह होता है कि 'अहं स्फुरामि' यह भ्रम तो अध्यस्त है, अतः वह अधिष्ठान कैसे होगा?' परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि वहाँ स्फुरणरूप चैतन्यको ही अधिष्ठान कहा जाता है, अविद्यावृत्तिको नहीं। इस तरह 'अहमर्थ आत्मा है' इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। मोक्षसाधन कृतिका आश्रय होनेसे अहमर्थ मोक्षमें अन्वयी है, यह अनुमान भी प्रमाण नहीं है। क्योंकि कृत्याश्रयमें मोक्षान्वयित्वको व्याप्तिका कहीं दृष्टान्त ही नहीं है। सामान्य व्याप्तिमें भी व्यभिचार है। ऋत्विज लोग स्वर्गसाधन कृतिके आश्रय तो होते हैं, परंतु स्वर्गान्वयी नहीं होते। अहमर्थ अनर्थका आश्रय होनेसे सम्प्रतिपन्नकी तरह अनर्थ-निवृत्तिका आश्रय है, इस अनुमानसे भी अहमर्थकी आत्मता नहीं सिद्ध होती; क्योंकि यह अनुमान शरीरमें व्यभिचारी है। 'अहमज्ञः' इस प्रतीतिसे जैसे अहमर्थमें अनर्थाश्रयताकी प्रतीति होती है, वैसे ही 'स्थूलोऽहमज्ञः' इस प्रतीतिसे शरीरमें भी अनर्थाश्रयता सिद्ध होती है।

कहा जाता है कि 'कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि, कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामि,' 'स प्राणमसृजत,' 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः' इत्यादि श्रुतियोंमें प्राण और मनके पहले ही अहंका श्रवण है। 'तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मि' इस श्रुतिमें भी शुद्धात्मामें 'अहं'पदका प्रयोग है। 'अहमित्येव यो वेद्यः स जीव इति कीर्तितः। स दुःखी स सुखी चैव स पात्रं बन्धमोक्षयोः' इत्यादि श्रुतियोंमें भी अहमर्थसे ही बन्ध-मोक्षका होना सिद्ध होता है। 'तद्योऽहं सोऽसौ,' 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' (गीता ७। १४) इनसे भी मालूम होता है कि अहमर्थ ही आत्मा है, परंतु यह सब विचार असङ्गत है। उपर्युक्त सभी स्थानोंमें लक्षणासे ही विशिष्ट-वाचक अहं शब्दका शुद्ध आत्मामें

प्रयोग मानना चाहिये, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। जैसे 'युष्मद्' शब्द सम्बोध्य चेतनका बोधक होता हुआ भी लक्षणया अचेतनमात्रका बोधक होता है, वैसे ही 'अस्मद्' शब्द अहंकारविशिष्ट चेतनका बोधक होता हुआ भी लक्षणासे केवल शुद्ध चेतनमें ही प्रयुक्त होता है।

आन्तर-बाह्य सभी प्रपञ्चका अधिष्ठान (आधार) सत् ही है, इसलिये घट, पट, मठ, पृथ्वी, जल, तेज, आकाश सबके साथ 'सत्' (है) लगता है; जैसे आकाश सत् (है), वायु सत् (है), घट सत् (है) आदि। जैसे मिट्टीके घट-उदंचन आदि हर एक कार्यमें मिट्टी है, जलके तरंग बुलबुले आदि हर एक कार्यमें जल है, वैसे ही एक कार्यमें सत्, सत्ता या हस्ती है, अतः वही सत् कारण है। आकाशका कारण 'अहं तत्त्व' है और उसका कारण 'महत्तत्त्व' और उसका भी 'अव्यक्त तत्त्व' है। जैसे सुषुप्तिमें अज्ञान या निद्रासे आवृत स्वप्रकाश सत्द्वारा ही मेघसे ढँके हुए सूर्यमें बादलकी तरह अज्ञान या निद्राका प्रकाश होता है, वैसे ही समष्टि अज्ञान या निद्रासे आवृत व्यापक स्वप्रकाश सत् ही उसका प्रकाशक होता है। आवृत सत्से भासित समष्टि अज्ञानको ही 'अव्यक्त' कहा जाता है। उस अव्यक्तसे उत्पन्न होनेवाली समष्टि बुद्धि या ज्ञानको ही 'महत्तत्त्व' कहा जाता है। जैसे घोर नींदसे अकस्मात् जगाये जानेपर पहले अहंकार-ममकारसे शून्य केवल कुछ ज्ञान होता है, वैसे ही समष्टि सुषुप्तिके पश्चात् अज्ञानावृत सत्को अहंकार-ममकारशून्य समष्टि ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान अज्ञानरूप अव्यक्तका परिणाम है। जैसे अप्रकाशरूप पर्वतकी खानसे प्रकाशमय मणिका प्रादुर्भाव होता है, किंवा जैसे सूर्यके प्रकाशको न व्यक्त करनेवाली मिट्टीसे ही उत्पन्न होकर काच सूर्यप्रतिबिम्बका ग्राहक होता है, वैसे ही निखिल शक्तियोंके आश्रय केन्द्र अज्ञान (अचित्तत्त्वसे) चैतन्य-प्रतिबिम्बग्राहकज्ञान उत्पन्न होता है (यहाँ चित्स्वरूप परमात्मासे विलक्षण अचित् या जड-शक्ति ही अज्ञान पदसे विवक्षित है, इसीका परिणाम वृत्तिरूप ज्ञान है)। यह स्वप्रकाश परमात्मरूप नित्यबोध या ज्ञानसे भिन्न है, अतः उसीके प्रतिबिम्ब या आभाससे युक्त होनेके कारण अचित्परिणाममें औपचारिक 'ज्ञान' पदका प्रयोग होता है। जाग्रत् एवं स्वप्नके ज्ञानोंका सुषुप्तिमें लय हो जाता है और सुषुप्तिके पश्चात् ही इनका पुनःप्रादुर्भाव होता है। अतः जैसे मिट्टीसे उत्पन्न और उसमें लीन होनेवाले विकारोंका मिट्टी कारण समझी जाती है, वैसे ही जाग्रदादि ज्ञानोंका सौषुप्त अज्ञान कारण समझा जाता है। सोकर जागनेवालेके अहंकार-ममकारसे शून्य प्राथमिक ईक्षण (ज्ञान)के समान ही अज्ञानोपहित सत्का अहंकार-शून्य केवल ईक्षण (ज्ञान) ही महत्तत्त्व है।

पुनश्च जैसे सामान्य ईक्षणके अनन्तर 'मैं अमुक हूँ' इत्यादि रूपसे अहंकारका उल्लेख होता है। वैसे ही सत्के ईक्षणके बाद उसमें 'एकोऽहं बहु

स्याम्'—मैं एक हूँ, अनेक होऊँ, इस रूपसे अहंकारका उल्लेख होता है वही 'अहं-तत्त्व' है। सुषुप्तिकी ओर जाते हुए भी 'मैं कहाँ और कौन हूँ' इत्यादि अहंकार-का पहले लय होता है। केवल कुछ चेत (ज्ञानसामान्य) रह जाता है। अन्तमें वह भी अज्ञान या सुषुप्तिमें लीन हो जाता है। परंतु आत्मा या परमात्मस्वयंरूप नित्यबोध या ज्ञान तो इन तीनोंका भासक है, स्वप्रकाश सत्रूप है। जैसे बादलकी टुकड़ी देखकर आकाशव्यापी मेघमण्डल बुद्धिमें आरूढ़ हो सकता है, वैसे ही व्यष्टि (जीवगत) अहंकार, बुद्धि (ज्ञान), अज्ञान (सुषुप्ति) से ईश्वरगत समष्टि अहंतत्त्व, महत्तत्त्व और अव्यक्ततत्त्वका बोध हो जाता है। जैसे अहंकारपूर्वक ही जीवका कार्य होता है, वैसे ही अहंकारपूर्वक ही परमात्मासे आकाशादि समस्त प्रपञ्च उत्पन्न होते हैं। तभी अहंतत्त्वसे शब्दतन्मात्रा या अपञ्चीकृत सूक्ष्म आकाशकी उत्पत्ति मानी गयी है। सर्वप्रथम अज्ञान या अचित् भी स्वप्रकाश सत्की ही शक्ति है। अतः वह भी सत्से स्वतन्त्र होकर स्वतः सत् नहीं है। जैसे सिता (शर्करा)के सम्बन्धसे अमधुर वस्तु भी मधुर प्रतीत होती वैसे ही स्वप्रकाश सत्के सम्बन्धसे ही अव्यक्तादि सभी प्रपञ्चमें सत्ता और स्फूर्ति प्रतीत होती है। अतएव जैसे लहरोंमें भीतर-बाहर जल ही रहता है, वैसे ही अव्यक्तसे लेकर सभी प्रपञ्चके भीतर-बाहर सत् ही है, स्फूर्ति ही है। जैसे जलके बिना लहर कोई वस्तु ही नहीं, वैसे ही सत्के बिना—स्फूर्तिके बिना अव्यक्त, अचित्, महत्तत्त्व, अहंतत्त्व आकाशादि सब असत् हो जाते हैं। जबतक उनमें सत्का योग है तबतक उनका होना, उनकी सत्ता या स्फूर्ति है। सत्के बिना सब-के सब असत् हो जाते हैं। इसीलिये कहा है—'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥ अतः अचित् आदि सभी मिथ्या हैं। अधिष्ठानका साक्षात् बोध होते ही सब मिट जाते हैं।

आकाशसे वायु, तेज, जल, पृथ्वी, घटादि सब उत्पन्न होते हैं और क्रमेण सब उसीमें लीन हो जाते हैं, तथापि घटाकाश, शरावाकाश, महाकाश आदि अनेक कल्पनाएँ हो जाती हैं। आकाशसे ही सूर्य, उससे ही घट और जल उसका ही आकाश और सूर्यरूपसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब होना सङ्गत है और पार्थिव प्रपञ्च पृथ्वीमें, पृथ्वी जलमें, जल तेजमें, तेज वायुमें और वायुके आकाशमें मिलते ही सब कुछ केवल आकाश ही रह जाता है। उसी तरह स्वप्रकाश सत्से ही उत्पन्न अनेक उपाधियोंसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब जीव, जगत् आदि अनेक भेद बनते हैं। परंतु उत्पत्तिके विपरीत क्रमसे जब सब कुछ परमात्मामें लीन हो जाता है तब एक ही परमात्मा रह जाता है। जैसे आकाशसे ही क्रमेण घट, उसीसे जल, उसीसे प्रतिबिम्ब और वही बिम्ब होता है, अन्तमें आकाश कार्य होनेसे सबका उसीमें लय हो जाता है, वैसे ही सर्व प्रपञ्च अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश चित्से ही उत्पन्न होता है; उसीमें लीन हो जाता है। 'अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परम्।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥' (श्रीमद्भा० २ । १० । ३२) भगवान्‌की उक्ति है कि सृष्टिके पहले एक मैं ही था, मुझसे भिन्न कार्यकारण कुछ भी नहीं था, सृष्टि होनेपर भी जो प्रपञ्च उपलब्ध होता है, वह भी मैं ही हूँ और अन्तमें जो अवशिष्ट रहता है वह भी मैं हूँ। 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥' (माण्डूक्यकारिका ४ । ३१) अर्थात् जो आदिमें नहीं, अन्तमें नहीं, वह मध्यमें भी नहीं ही है। यद्यपि मध्यमें सत्-सा प्रतीत होता है, तथापि है असत् ही। घटादि कार्य अपनी उत्पत्तिके पहले नहीं थे, अन्तमें नष्ट होनेके बाद भी नहीं रहते हैं। अतः मध्यमें सत्से प्रतीत होनेवालोंको भी असत् ही समझना चाहिये। जलकी लहरें, पानीके बुलबुले और स्वप्न-के पदार्थ, उत्पत्ति या प्रतीतिके पहले भी नहीं रहते, अन्तमें भी नहीं रहते, केवल मध्य-में प्रतीत होते हैं, तो भी उन्हें असत् ही समझना उचित है। 'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥' (गीता २ । २८) सभी प्रपञ्च उत्पत्तिके पहले अव्यक्त ही था, अन्तमें भी सब अव्यक्त हो जाता है, केवल मध्यमें व्यक्त है, फिर उसके लिये क्या रोना ? कोई अत्यन्त प्रिय वस्तु या व्यक्ति अदर्शन—अज्ञानसे ही आया, अन्तमें पुनः अदर्शनमें ही चला गया। फिर जो न अपना है, न जिसके हम हैं, उसके लिये क्या रोना ? 'अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः। नैते तव न तेषां त्वं तत्र का परिदेवना ॥' (महा० स्त्रीपर्व २ । १३)

जैसे मिट्टी या जलके भीतर ही तरह-तरहके पात्र और तरङ्ग आ जाते हैं, वैसे ही मनके भीतर ही सब दृश्य आ जाते हैं। मनकी हलचलमें ही दृश्य दिखलायी पड़ता है और उसके मिटनेमें मिट जाता है, अतः सब कुछ मन ही है। वह मन स्वप्रकाश सत् या भानके भीतर आ जाता है, अतः स्वप्रकाश सत् या अबाध्य अनन्त भान ही सब कुछ है। जैसे दर्पणके भीतर भूधर-सागर, गगन-मेघमाला, सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र, वन-उपवन, नगर आदि प्रतिबिम्बरूपमें दिखायी देते हैं, वैसे ही अव्यक्तादि स्थावरान्त सदसत् सकल प्रपञ्च कूटस्थ स्वप्रकाश सत् या भानमें दिखायी देता है। जाग्रत्-स्वप्नके द्रष्टा, दर्शन, दृश्य, सुषुप्तिकी निद्रा या अज्ञान जिससे प्रकाशित होते हैं, वही शुद्ध भानरूप आत्मा है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, प्रकाश-प्रवृत्ति-मोह (रज-तम-सत्त्व) इन सबका प्रकाशक सबका अधिष्ठान, सबका कारण, सबसे अतीत सत् ही आत्मा है। वह प्रतिबिम्बके समान है, प्रतिबिम्ब नहीं। अतः उससे पृथक् बिम्बकी सत्ता नहीं अपेक्षित है। जैसे शुद्ध दर्पण देखनेसे प्रतिबिम्ब दृष्टि मिट जाती है, वैसे शुद्ध सत् देखनेसे प्रपञ्च-बुद्धि मिटती है। बोध होनेके उपरान्त यद्यपि प्रपञ्चका मूल अज्ञान मिट जाता है, तथापि प्रारब्धदोषसे प्रारब्ध-स्थितितक प्रपञ्चकी प्रतीति होती है। भोगसे प्रारब्ध मिटनेपर अवश्य ही प्रपञ्चप्रतीति भी मिट जाती है—'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ सम्पत्स्ये' (छां० उ० ६ । १४ । २) 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाथ सम्पद्यते ।'

फिर भी मनको निर्गुण, निराकार, निर्विकार परब्रह्ममें प्रतिष्ठित करनेके लिये प्रथम वाक्, चक्षु आदि कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंको रोक लेना चाहिये, अर्थात् भाषण, दर्शन आदि इन्द्रियोंके व्यापारोंको रोककर केवल मनसे जप या ध्यान करते रहना चाहिये। जब कुछ कालके अभ्याससे दर्शनादि व्यापाररहित होकर मानस ध्यान, जपादि स्थिर हो जाय, तब मनको बुद्धिमें लय कर देना चाहिये। अर्थात् संकल्प-विकल्पात्मक मनके व्यापारको निश्चयात्मिका बुद्धिमें लीन कर देना चाहिये। केवल ध्येय लक्ष्यके दृढ़ निश्चयमें संकल्प समाप्त कर देना चाहिये। पश्चात् व्यष्टि-बुद्धिको समष्टि-बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्वमें लीन करना चाहिये और उसे फिर समष्टिबुद्धिके भी भासक शान्त आत्मामें लय करना चाहिये। अथवा वागादिव्यापारोंका मनमें लय करके मनको निश्चयात्मिका बुद्धिमें, फिर उसे समष्टि-बुद्धिमें और उसे शान्त आत्मामें नियन्त्रित या लीन करना चाहिये। बुद्धिके भासक शुद्ध भानका ही चिन्तन करना तदभिन्न वस्तुका चिन्तन न करना ही उसका लय है। 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्त-द्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥' (कठोप० १। ३। १३) कुछ महानुभावोंने और तरहसे भी इस मन्त्रका आशय कहा है। वागादि व्यापारोंका चिन्तन न करके केवल मनोव्यापारको देखना चाहिये। पश्चात् मनका चिन्तन करके ज्ञान आत्मा अर्थात् अहमर्थ (मैं) का ध्यान करना चाहिये। अर्थात् पहले वागादि व्यापारोंकी उपेक्षा करके मनोव्यापारको देखे, फिर मनोव्यापारका उसके प्रेरक 'मैं'में लय करना चाहिये। यहाँ 'जानातीति ज्ञानम्' इस व्युत्पत्तिसे ज्ञानका जाननेवाला 'अहं' (मैं) अर्थ होता है और फिर उस अहंका भी सूक्ष्म, अहं (अस्मिता) में लय करना चाहिये। अर्थात् स्थूल अहं (मैं) को छोड़कर अस्मिताका ध्यान करना चाहिये। 'अहं'का मैं कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुखी यह स्थूल रूप है। अस्मि (केवल हूँ) यह उसका सूक्ष्मरूप है। यही महान् आत्मा है, उसे भी उसके भासक शुद्ध भानरूप आत्मामें लय करना चाहिये। अर्थात् 'अस्मि' (हूँ) ऐसा भी चिन्तन छोड़कर, उसके भासक अनन्त सत् और भानरूप आत्माका ध्यान करना चाहिये।

महाविक्षेपकालमें भी सब कुछ भगवान् ही है, इस बुद्धिसे शान्ति मिलती है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत।' (छा० उ० ३। १४। १) अर्थात् जैसे तरङ्ग, लहर, बुद्बुद आदि जलराशिसे उत्पन्न, उसीमें स्थित और उसीमें लीन होते हैं, अतः जलस्वरूप ही है, वैसे ही सर्व दृश्यादृश्य जगत् तज्ज, तल्ल, तदन है अर्थात् स्वप्रकाश सत्स्वरूप ब्रह्म भगवान्से ही उत्पन्न, उन्हींमें स्थित और उन्हींमें लीन होता है, अतः सब कुछ भगवान् ही है। ऐसी भावना आते ही राग-द्वेष, वैर-वैमनस्य, उद्वेग मिटकर ध्रुव शान्ति मिलती है।

द्वादश परिच्छेद

मार्क्स और ईश्वर

मार्क्सवादी विद्वान् धर्मके समान ही ईश्वरको भी अनावश्यक समझते हैं। उनकी दृष्टिमें 'भीरुता या भ्रान्तिके कारण कल्पनाप्रसूत भूत-प्रेत ही सभ्यताके साबुनसे धुलते-धुलते देवता बन गया, और फिर वह कल्पित देवता ही विज्ञानकी चमत्कृतिसे चमत्कृत होकर ईश्वर या निर्गुण ब्रह्म बन गया। ईश्वर या ब्रह्म न तो कोई वास्तविक वस्तु है, न उसकी आवश्यकता ही है। ईश्वरकी कल्पनासे लाभके बदले हानि अधिक हो सकती है। कारण, ईश्वरीय शास्त्र या ईश्वरीय नियमका नाम लेकर अन्धविश्वासी लोग प्रगतिके मार्गमें बार-बार रोड़ा अटकाते रहते हैं।' एक कम्युनिस्टका कहना है कि 'जो ईश्वर या धर्मको मानते हुए भी मार्क्सकी अर्थनीति कार्यान्वित करनेकी बात करता है, या तो वह धूर्त मक्कार है अथवा महामूर्ख। ईश्वर दिखावटी हुंडी नहीं है। ईश्वर माना जायगा तो उसके नियम भी मानने पड़ेंगे। फिर व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति आदिका राष्ट्रीकरण भी ईश्वरीय नियमके विरुद्ध ठहरेगा।'

परंतु ईश्वर यदि सत्य वस्तु है तो किसीके चाहने या न चाहनेसे उसका कुछ भी बिगड़ नहीं सकता। भले ही चमगादड़ोंको सूर्यका प्रखर प्रकाश असत्, अनावश्यक एवं हानिकारक प्रतीत होता हो, परंतु एतावता सूर्य असत्, अनावश्यक एवं हानिकारक नहीं सिद्ध होते। वैसे किसीको ईश्वर भी भले ही असत्, अनावश्यक एवं हानिकारक प्रतीत हो, फिर भी उसकी प्रचण्ड सत्ताका अपलाप होना असम्भव है। वस्तुतः सूर्यनारायणसे भी अधिक सूर्यचन्द्रका भी भासक ईश्वर एक स्वतःसिद्ध सर्वमान्य वस्तु है। यह बात आधुनिक अन्वेषण, न्याय-सांख्य-वेदान्त-दर्शन, आस्तिक सिद्धान्तों तथा आस्तिक वादोंसे स्पष्ट सिद्ध है। धर्म एवं ईश्वर परम सत्य वस्तु है, इसीलिये सर्वकाल एवं सर्वदेशमें इसकी मान्यता रही है। कहा जाता है कि द्वितीय युद्धके प्रसङ्गमें अमेरिका एवं अफ्रीकाके कई ऐसे प्रदेशोंमें वैज्ञानिकोंने अनुसंधान किया तो वहाँ यही पता चला कि वहाँके जंगली लोगोंमें धर्म एवं ईश्वरके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी धारणा नहीं है। परंतु ठीक इसके विपरीत यह भी कहा जाता है कि जब उन प्रदेशोंमें जाकर कई आस्तिकोंने वहाँके लोगोंसे बात की तो पता चला कि वे लोग आसमानी पिता एवं स्वर्गीय लोकपर विश्वास रखते हैं; परंतु विदेशी सभ्य कहे जानेवाले लोगोंकी पहले तो वे बात ही नहीं समझते और समझनेपर भी डरकर अपना भाव नहीं व्यक्त कर सकते। प्रोफेसर मैक्समूलरके अनुसार पादरी

डाक्टर कौल, जुलूजातिके मध्यमें बहुत दिनोंतक रहे। जब वे उनकी भाषा भली प्रकार बोलने और समझने लगे तो उन्हें मालूम पड़ा कि जुलूजातिमें भी धर्म है। उनके विश्वासानुसार प्रत्येक घरानेका एक पूर्वज था और फिर समस्त मानवजातिका भी एक पूर्वज था, जिसका नाम उन्होंने 'उनकुलंकुलू' (प्रपितामह) रखा है। जब उनसे पूछा गया कि उनकुलंकुलूका पिता कौन है? तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह बाँससे निकला था। जुलू-भाषामें बाँसको उथलङ्ग कहते हैं। बाप संतानका उथलङ्ग कहलाता है। जैसे बाँससे कुल्ले फूटते हैं, उसी प्रकार बापसे संतानकी उत्पत्ति होती है। डाक्टर कौलसे एक जुलूने कहा कि 'यह ठीक नहीं कि स्वर्गीय राजाको हमने गोरे आदमियोंसे सुना है। गर्मियोंमें जब बादल गरजते हैं, तो हम कहते हैं – राजा (ईश्वर) खेल रहा है।' एक बुड्ढेने कहा कि 'हम बचपनमें यही सुना करते थे कि राजा ऊपर है, हम उसका नाम नहीं जानते। संसारको पैदा करनेवाला उम्दबूको (राजा) है, जो कि ऊपर है।' एक बुड्ढीने कहा कि जिसने सब संसार बनाया, उसीने अन्न भी बनाया। 'ईश्वर कहाँ है?' यह पूछनेपर वृद्ध लोग कहते हैं कि वह स्वर्गमें है, राजाओंका भी राजा है। मैडम ब्लेवैट्स्कीका कहना है कि जिस प्रकार मछली पानीके बाहर नहीं रह सकती, उसी प्रकार साधारण मनुष्य भी किसी प्रकारके धर्मके बाहर नहीं रह सकता।'

संसारमें चेतन-अचेतन दो प्रकारके पदार्थ मिलते हैं, उनमें अचेतनसे चेतन प्रबल होता है। एक चींटी बड़े-बड़े मिट्टीके चट्टानोंको काट देती है। छोटे-छोटे कीड़े पहाड़ोंको तोड़ देते हैं। छोटा पक्षी बड़े-से-बड़े वृक्षोंको हिला देता है। वस्तुतः जहाँ चेतनता है, वहीं बल होता है। जड वस्तुएँ निर्बल होती हैं। घोड़ा गाड़ी खींचता है, गाड़ीकी अपेक्षा घोड़ा बलवान् है। जडशरीर भी चेतनके सहारे चलता है। मरे हुए हाथीसे जीवित चींटी भी बलवान् है। चेतनोंमें भी मनुष्यकी शक्ति बहुत ही प्रबल है। एक शिशु भी हाथीका नियन्त्रण करता है। सिंह-जैसा क्रूर जन्तु भी मनुष्यकी इच्छाका अनुसरण करता है। जल, वायु, बिजली आदि भूतोंपर मनुष्यका अधिकार है। रेल, तार, वायुयान आदि मनुष्य-शक्तिके ही परिचायक हैं। मनुष्य सृष्टिमें भी रद्दोबदल करता रहता है। वह समुद्रको पार कर, पहाड़-जंगलको काटकर शहर बसा देता है, नदियोंपर बड़े-बड़े पुल बाँध देता है, उनके प्रवाहको बदल देता है, स्थलोंमें जल एवं जलमें स्थल बना देता है। फिर भी विचित्र सृष्टिमें कितने ही प्राणी मनुष्यसे भी कहीं अधिक बलवान् होते हैं। गृध्रकी दृष्टि और हिरणोंके दौड़के सामने मनुष्यकी शक्ति कमजोर है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक, बलवान्, बुद्धिमान् भी महाशक्तिमान् सर्वज्ञके सामने कुछ नहीं हैं। बड़े-बड़े बलवान् अन्तमें अपने-आपको प्राकृतिक शक्तियोंके सामने नगण्य पाते हैं। वस्तुतः निश्चयके आधारपर आशा होती है और आशाके आधारपर ही प्राणीकी प्रवृत्ति होती है।

कहा जाता है, 'ज्यालोजी (भूगर्भशास्त्र) ने पता लगाया है कि अमुक चट्टानें किस प्रकार और कब बनीं ? हिमालय-जैसा महान् पर्वत भी कभी-न-कभी उत्पन्न हुआ है। एक-एक वस्तु दूसरेकी अपेक्षा नयी है । वृक्षका फूल पत्तेसे नया है। पत्ता भी जड़से नया और जड़ भी उस मिट्टीकी अपेक्षा नयी है, जिसपर जड़ उत्पन्न हुई । कहा जाता है 'पृथ्वी' एक आगका गोला थी । जैसे अङ्गारोंपर ठंडा होनेके समय सिकुड़न पड़ जाती है, उसी प्रकार पृथ्वीका गोला जब ठंडा होने लगा तो उसमें सिकुड़न पड़ गयी । ऊँचे स्थान पहाड़ हो गये, नीचे समुद्र बन गये । बहुत पदार्थोंकी उत्पत्ति हम देखते हैं । बहुतोंका हम विश्लेषण कर सकते हैं। वे इन्द्रियाँ जिनसे ज्ञान प्राप्त किया जाता है और वे पदार्थ जिनका ज्ञान प्राप्त किया जाता है, दोनों ही कार्य हैं । जिन-जिन वस्तुओंका विश्लेषण हो सकता है, वह कार्य समझा जाता है । जिनका विश्लेषण या विभाजन नहीं हो सकता वे ही परमाणु हैं। आजकल यद्यपि कहा जाता है कि परमाणुका विभाजन वैज्ञानिक कर लेते हैं। परंतु जब परमाणुकी यही परिभाषा है, तब तो जिसका विश्लेषण हो सकता है, वह परमाणु है ही नहीं । जो लोग परमाणु न मानकर केवल शक्ति ही मानते हैं, उन्हें भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि शक्ति कभी वर्तमान जगत्के रूपमें परिणत हुई है । चाहे परमाणुओंसे, चाहे शक्तिसे, चाहे प्रकृतिसे, चाहे ब्रह्मसे जगत्की सृष्टि हुई और उस सृष्टिमें क्रम भी मान्य होने चाहिये । यह नहीं कि पहले फल हुआ फिर फूल हुआ । मालीको यह नियम मालूम होता है कि पहले अङ्कुर, फिर नाल, स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पल्लव, पुष्प, फलका आविर्भाव होता है । इसी तरह निम्बके बीज एवं आमकी गुठलीसे तथा अन्यान्य विभिन्न बीजोंसे विभिन्न ढंगके अङ्कुरादि उत्पन्न होते हैं । निम्बका बीज बोनेसे आमका फल नहीं लगता, यह नियम भी लोगोंको ज्ञात है । इसी तरह गेहूँ बोनेसे चनेकी उत्पत्ति नहीं होती । मनुष्य तथा प्राणियोंकी भी वृद्धिका नियम है । शैशव, यौवन, वार्धक्य अवस्थाएँ क्रमेण आती हैं । चिकित्सक चिकित्सालयोंमें शारीरिक नियमोंके आधारपर ही चिकित्सा करते हैं । पहाड़ एवं पहाड़ी नदियोंका निर्माण कैसे होता है, इनका किस ओर क्यों प्रवाह है, आदिके सम्बन्धमें भूगर्भके विद्वानोंका भी भूगर्भ-सम्बन्धी नियम प्रसिद्ध है । मनोविज्ञानकी जटिलता और भी विलक्षण है । यद्यपि मनकी गति बड़ी विलक्षण होती है, फिर भी मनोविज्ञानके नियम हैं ही । इसी तरह सभी शास्त्रोंके नियम हैं । इस तरह सृष्टिकी नियमबद्धता दिखायी देती है । इन नियमोंका विधायक और पालक कोई मान्य होना चाहिये । नियमकी दृष्टिसे सृष्टिमें एकता है ।

हर एक नियमका प्रयोजन भी होता है । लड़कोंका प्रतिदिन एक साथ विद्यालयमें जानेका नियम व्यर्थ नहीं होता । प्रयोजन ही कार्यको सार्थक बनाता है । संसारकी सभी वस्तुओं एवं घटनाओंसे किसी विशेष प्रयोजनकी सूचना मिलती

है। भले ही प्रयोजन समझमें न आये, परंतु है अवश्य। एक मशीनमें हजारों पुर्जे होते हैं, कोई छोटा, कोई बड़ा, कोई गोला, कोई टेढ़ा—इनमें परस्पर पर्याप्त भिन्नता है, परंतु बनानेवालेका उद्देश्य कार्यसिद्धि ही है। कपड़ा बुनना, आटा पीसना, पुस्तक छापना आदि इसी प्रयोजनसे प्रेरित होकर वैज्ञानिकोंने भिन्न-भिन्न पुर्जोंको बनाकर फिर सबको इस प्रकार मिलाया कि जिससे कार्यकी सिद्धि हो। पुर्जे न तो सब बराबर हैं, न एक-से हैं, न सबके साथ एक-से जुड़े हुए हैं। सब असमान होते हुए भी एक उद्देश्यपूर्तिके लिये जुड़े हुए हैं। उनमें बहुत-से कल-पुर्जे छोटे एवं भद्दे हैं। उनके स्थानपर अच्छे एवं सुन्दर पुर्जे हो सकते हैं, परंतु कल चलनेमें जिसका उपयोग नहीं, वह कितना भी सुन्दर हो, व्यर्थ ही है। इसी तरह जगत् एक महाप्रयोजनके लिये निर्मित है। इसकी छोटी-से-छोटी वस्तुएँ एवं घटनाएँ भी निष्प्रयोजन नहीं हैं। राबर्ट फ़्लिप्सके अनुसार जिस मण्डलका हमारी पृथ्वी एक अवयवमात्र है, वह अति विशाल, विचित्र तथा नियमित है। जिन ग्रहों, उपग्रहोंसे इसका निर्माण है उनका भी परिमाण बहुत विस्तृत है। हमारी पृथ्वी ही सूर्य-चन्द्र आदिसे इस प्रकार सम्बन्धित है कि बीज बोने, खेत काटनेके समयोंमें बाधा नहीं पड़ती। समुद्रके ज्वारभाटे कभी हमें धोखा नहीं देते। करोड़ों मण्डलोंमेंसे सूर्यमण्डल एक है। बहुत-से तो इससे असंख्यगुने बड़े हैं। फिर ये करोड़ों, अरबों सूर्य एवं तारागण जो आकाशमें बिखरे हैं, परस्पर एक-दूसरेसे ऐसे सम्बद्ध तथा गणितके गूढ़तम नियमोंके इतने अनुकूल हैं कि उनसे प्रत्येककी रक्षा होती है और प्रत्येक स्थानमें साम्य तथा सौन्दर्य दिखायी देता है। प्रत्येक ग्रह दूसरेके मार्गपर प्रभाव डालता है। प्रत्येक कोई-न-कोई ऐसा कार्य कर रहा है, जिसके बिना न केवल वही किंतु समस्त मण्डल नष्ट हो सकता था। यह समस्त मण्डल बड़ी विलक्षणतासे बना हुआ है। जो घटनाएँ देखनेमें भयानक और विघ्नरूप प्रतीत होती हैं, वे वस्तुतः उसे नष्ट होनेसे रोकती एवं विश्वकी दृढ़ताका साधक होती हैं। क्योंकि वे परस्पर अपनी शक्तियोंका इस प्रकार व्यय करती हैं कि एक नियत समयमें उनमें सहयोग हो जाता है। यह सहयोग ही विशाल जगत्के विशाल प्रयोजनका परिचायक है।

एक छोटा-सा पुष्प जहाँ मनुष्योंकी आँखोंको तृप्त करता है, उसका सुगन्ध घ्राणोंको आनन्द देता है, वैद्य लोग उसका औषधमें भी प्रयोग करते हैं, चित्रकार उससे चित्रकारी सीखते हैं, रँगरेज रंग निकालते हैं, कवि काव्यमें उससे सहायता लेते हैं। भ्रमर उसका रसास्वादन करता है, शहदकी मक्खियाँ उससे शहद निकालती हैं, तितलियाँ उन फूलोंपर बैठकर अलग आनन्द लेती हैं। उसके बहुत-से ऐसे भी प्रयोजन हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं जानता। इतना प्रयोजन सिद्ध करके भी वृक्षकी संततिरक्षाके लिये वह बीज उगाता है। यह एक छोटे-से फूलका कार्य है।

इसी प्रकार संसारकी सभी वस्तुओंके अनेक विशाल प्रयोजन हैं। संसार कितना विशाल है? समुद्र, पहाड़, पृथ्वी—पृथ्वीसे बहुत बड़ा सूर्य, और फिर करोड़ों सूर्य, अरबों तारे वेदान्तमतानुसार पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशादि—सब उत्तरोत्तर एक दूसरेसे दस-दस गुने बड़े हैं। फिर ऐसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड मायाके एक अंशमें हैं। वह माया भगवान्‌के एक अंशमें ऐसी प्रतीत होती है, जैसे महाकाशके एक प्रदेशमें बादलका छोटा-सा टुकड़ा।

स्थूलताके साथ ही संसारमें सूक्ष्मताका भी अत्यन्त महत्त्व है। जो जल आज बर्फ या नीलमणिके रूपमें स्थूलरूपसे उपलब्ध हो रहा है, वही कभी बादल और उससे भी पहले सूर्यकी रश्मियोंमें था। सूर्य-रश्मिका वह नगण्य कण जिसे परमाणु कहा जा सकता है, उसका एक पाँचवाँ हिस्सा स्पर्शतन्मात्रा था। उसके अल्पांशमें वायु और वायुके अल्पांशमें प्राण, प्राणके अल्पांशमें मन और मनमें ब्रह्माण्ड था। फिर ब्रह्माण्डके भीतर अनन्तकोटि प्राणी और मन थे, उन मनोंमें फिर भी उसी तरह ब्रह्माण्डकी सत्ता थी। इस तरह एक सूक्ष्म वटबीज-कणिकामें महान् वटवृक्षका अस्तित्व और उस वटवृक्षमें अपरिगणित बीज-कणिका और उन कणिकाओंमें अनन्त वटवृक्षका अस्तित्व एक साधारण-सी बात जँचने लगती है।

इसी तरह विश्वके छोटे-छोटे नियमोंको देखते हैं, तो नियमोंका समूह उसी ढंगसे एक विशाल नियम बन जाते हैं, जैसे छोटे-छोटे कणोंका समूह एक पहाड़। समुद्र भी जलकणोंका समुदाय ही है। यद्यपि मनुष्यकृत वस्तुओंमें भी बड़ी-बड़ी विलक्षणता दिखायी देती है। बड़े-बड़े विशालकाय पुल, दुर्ग, बाँध चकित कर देते हैं। विद्युत्‌के विचित्र चाकचिक्य चन्द्र-सूर्यसे होड़ करते हैं। वायुयानका चमत्कार भी कुछ ऐसा ही है। फिर भी यह सब स्वाभाविक ईश्वरीय वस्तुओंका एक छोटा-सा अनुकरणमात्र है। कितना भी बड़ा विशाल एवं नियमबद्ध संसार कार्य ही है, इसकी कभी-न-कभी सृष्टि हुई है, यह मानना पड़ता है। किसी भी कार्यके लिये उपादान, निमित्त एवं साधारण कारण अवश्य होते हैं। जैसे एक घटका मिट्टी उपादान, कुलाल निमित्त एवं देशकाल आदि साधारण कारण होते हैं। साधारण भी क्रिया छोटी-छोटी अनेक क्रियाओंका समुदाय ही होती है। एक घट-निर्माणरूप क्रियामें कितनी ही चेष्टाओंका समुदाय है। संसारके अनन्त क्रिया-जालोंमें बहुत-सी क्रियाएँ मनुष्यकृत होती हैं, जैसे घट, पट, मठ आदिका बनाना, रोना, हँसना, चलना आदि। जब घटका निर्माण मनुष्यद्वारा प्रत्यक्ष देखते हैं, तो किसी भी घटको देखकर उसका निर्माता कोई मनुष्य होगा, यह अनुमान कर लिया जाता है। इसी तरह किसी भी कार्यको देखकर उसके कर्ताका अनुमान होना स्वाभाविक है। बहुत-से कार्य हैं जिनका मनुष्यद्वारा निर्माण सम्भव नहीं,

जैसे वृक्षका उगना, सूर्यका निकलना, भूकम्पका आना आदि। यह सभी क्रियाएँ हैं, इनका भी कोई कर्ता होना आवश्यक है। नास्तिक मेजका बनानेवाला बढ़ई तो अवश्य मानता है, परंतु वृक्षों, पहाड़ोंको बनानेवाला कर्ता आवश्यक नहीं मानता। लोटेका बनानेवाला ठठेरा जरूरी है परंतु नदी, समुद्रके लिये कर्ता आवश्यक नहीं। संसारकी सभी क्रियाएँ दो ही प्रकारकी हैं। एक प्राणिकृत, दूसरी अप्राणिकृत। सिद्धकोटिकी वस्तुएँ दृष्टान्तकोटिमें आती हैं, साध्यकोटिकी नहीं। दृष्टान्त वही होता है, जो दोनों पक्षोंको मान्य होता है। सूर्य, चन्द्र, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी आदि सावयव होनेसे कार्य हैं। आस्तिक कह सकता है कि जैसे मेज आदि कर्तासे निर्मित होते हैं, वैसे ही कार्य होनेसे सूर्य आदि भी किसी (ईश्वर) कर्तासे निर्मित हैं। यहाँ मेजका दृष्टान्त आस्तिक-नास्तिक दोनोंको ही मान्य है। नास्तिक कहता है कि चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी आदिके कर्ता आवश्यक नहीं हैं, जैसे नदी बहनेके लिये कोई कर्ता आवश्यक नहीं होता। परंतु नास्तिकका दृष्टान्त सिद्धकोटिमें नहीं है; किंतु साध्यकोटिमें है। आस्तिकके लिये नदीका बहना, सूर्यका निकलना—दोनों ही एक कोटिमें हैं। जैसे सूर्य, चन्द्र आदिका उगना ईश्वरप्रेरणापूर्वक होता है, उसी तरह नदीका बहना भी ईश्वरकृत ही है। चार्वाकमतानुयायी कहते हैं कि 'अविनाभावसम्बन्ध दुर्ज्ञेय होता है' अतः अनुमानादि प्रमाण मान्य नहीं हैं। धूमादि ज्ञानके अनन्तर जो अग्न्यादिमें प्रवृत्ति होती है, वह प्रत्यक्षमूलक है अथवा भ्रान्तिसे ही समझनी चाहिये। क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है—यह जानना दुष्कर है; क्योंकि सर्वदेश, सर्वकालके धूम-वह्निका जिसे ज्ञान हो, वही ऐसी बात कह सकता है। परंतु किसी भी मनुष्यको सर्वदेश-कालके धूम और वह्निका ज्ञान होता ही नहीं। फिर वह कैसे कह सकता है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ वह्नि होता है। कतिपय स्थलमें तो यह देखा गया है कि जहाँ-जहाँ वह्नि है, वहाँ-वहाँ धूम होता है, पर अग्नितप्त लौहपिण्डमें व्यभिचार दीखनेसे व्यभिचार निश्चित हो जाता है।' परंतु चार्वाकका यह कहना भी तभी सम्भव होता है जब कि अनुमानादि प्रमाण मान्य हों; क्योंकि प्रत्यक्षसे भिन्न अनुमानादि प्रमाण नहीं हैं, यह कहना भी अज्ञ, संदिग्ध, विपर्यस्त तथा जिज्ञासुके प्रति ही उचित है। जिस किसीके प्रति वचन प्रयोगको पागलपनका ही परिणाम समझा जाता है। दूसरोंका अज्ञान, संशय, भ्रान्ति या जिज्ञासा दूसरेको प्रत्यक्ष प्रमाणसे कभी भी विदित नहीं हो सकती। अतः उनके वचनों, मुखाकृति या व्यवहारसे अन्यके संशय-अज्ञान आदिका अनुमानादिसे बोध होता है तथा अज्ञान-संशयादि मिटानेके लिये वचनप्रयोग सार्थक होता है।

चार्वाक अङ्गनालिङ्गनजन्य सुखको पुरुषार्थ कहता है। इससे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सुख और स्त्रीगमनका अविनाभाव सम्बन्ध है। यदि स्त्रीगमन

और सुखका अविनाभाव सम्बन्ध न हो तो उस सुखको पुरुषार्थ कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार क्षुधा-निवृत्तिके लिये नियमतः भोजनमें प्रवृत्ति भी सिद्ध करती है कि प्राणी अनुमान-प्रमाण मानकर ही क्षुधा-निवृत्तिके लिये भोजन-निर्माणमें संलग्न होता है । उसी प्रकार कृषि, व्यापार आदि सभी कार्योंमें आनुमानिक कार्यकारणभावका निश्चय करके ही प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है । बिना अनुमान-प्रमाण अङ्गीकार किये आस्तिक, नास्तिक, चार्वाक ही क्या—पशुतककी भी कोई प्रवृत्ति नहीं हो सकती । पूर्वकी प्रवृत्तियोंसे लाभ देखकर तादृश प्रवृत्तियोंसे लाभका अनुमान करके ही प्राणी प्रवृत्त होता है । अनुमान बिना माने प्रत्यक्ष भी व्यर्थ हो जाता है । अनुमानके आधारपर अप्राणिकृत कार्योंका भी कोई कर्ता अवश्य सिद्ध होता है । कारण, सिद्धकोटिके जितने भी दृष्टान्त हैं, सभी कर्तापूर्वक ही हैं । अतः जैसे प्राणिकृत क्रिया कर्तासे होती है, वैसे ही अप्राणिकृत क्रिया भी कर्तासे ही सिद्ध होती है । प्राणिकृत, अप्राणिकृत क्रियासे भिन्न कोई क्रिया है ही नहीं । यदि बिना घड़ीसाजके घड़ी नहीं बन सकती, बिना बढ़ईके मेज नहीं बन सकती तो यह भी मानना ही चाहिये कि बिना चेतनसत्ताके चन्द्र, सूर्य, पहाड़, नदियाँ आदि भी नहीं बन सकतीं ।

कई लोग 'क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्'—पृथ्वी, वृक्ष आदि सकर्तृक हैं, कार्य होनेसे घटादिके तुल्य—इस अनुमानमें शरीरजन्यत्वरूप उपाधि दोष बतलाते हैं । अर्थात् जहाँ-जहाँ शरीरजन्यता होती है, वहाँ-वहाँ सकर्तृकता होती है । घटादि शरीरजन्य हैं, अतः सकर्तृक हैं; परंतु कार्यत्व तो पृथ्वी-अङ्कुरादिमें भी होता है, पर वहाँ शरीरजन्यता नहीं है । साध्य-व्यापक, साधनाव्यापक धर्म-को ही उपाधि कहा जाता है । इस तरह उनके मतानुसार कार्यत्वहेतु सोपाधिक होनेसे साध्यसिद्धिमें समर्थ नहीं होगा । परंतु यह ठीक नहीं है; क्योंकि उपाधिके द्वारा या तो व्याप्ति-व्यभिचारका अनुमान होता है या पक्षमें उपाध्यभावसे साध्याभावका अनुमान होता है । तभी प्रकृत अनुमान दूषित समझा जाता है । इस तरह यहाँपर शरीराजन्यत्वरूप उपाध्यभावसे सकर्तृकत्वाभावका अनुमान करना पड़ेगा । परंतु उसमें शरीर विशेषण व्यर्थ होगा । जब अजन्यत्वमात्रसे सकर्तृकत्वाभाव सिद्ध होता है तो शरीर विशेषण व्यर्थ ही है । पृथ्वी, वृक्ष आदिमें शरीराजन्यता होनेपर भी अजन्यता नहीं है । अतः अजन्यता न होनेसे सकर्तृकत्वा-भाव नहीं सिद्ध हो सकता । सुतरां कार्यत्वरूप हेतुसे पृथ्वी-वृक्षादिमें सकर्तृकत्व-सिद्धि निर्बाध है ।

कई लोग पौर्वापर्यको ही कार्य-कारणभावके स्थानपर बिठलाते हैं । उनके अनुसार सदा पूर्वमें रहनेवाला कारण और सदा पश्चात् होनेवाला कार्य है; परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि अन्धकार सदा सूर्योदयके पूर्व होता है, तो भी अन्धकार सूर्योदयका

कारण नहीं माना जाता, रविवारसे पूर्व सदा शनिवार रहता है, फिर भी वह रविवारका कारण नहीं होता। कार्य कारणसे पीछे होता है, इतना ही नहीं, किंतु कारणके द्वारा होता है। तर्कसंग्रहकारकी दृष्टिसे उपादानगोचरापरोक्ष ज्ञान, चिकीर्षा एवं कृतिवाला चेतन ही कर्ता होता है, जैसे घटका निमित्तकारण कुलाल है, वही घटका कर्ता है। उसे घटके उपादानकारण मृत्तिकाका अपरोक्षनिकटतम ज्ञान है, उसकी चिकीर्षा है, घटनिर्माणकी इच्छा है और उसमें घट बनानेका प्रयत्न है। बिना ज्ञानके इच्छा और बिना इच्छाके कृति नहीं हो सकती। इस तरह 'जानाति इच्छति अथ करोति' किसी चीजको प्राणी पहले जानता है, फिर इच्छा करता है और फिर तद्विषयक प्रयत्न करता है। इस तरह ज्ञान, इच्छा और कृति जहाँ होती है, वही कर्ता होता है। अतः भले ही घटसे मिट्टी गिरती हो फिर भी वह मिट्टी गिरनेका कारण नहीं समझा जाता। प्रत्येक कार्यको कर्ताकी अपेक्षा होती है, ये नियम सभीके मस्तिष्कपर शासन करते हैं। अतः जहाँ किसी कार्यमें प्रत्यक्ष ज्ञान एवं इच्छाका सम्बन्ध नहीं दिखायी पड़ता वहाँ प्राणी अदृष्ट इच्छाशक्तिकी कल्पना करता है। किसी पुल या किलाको देखकर प्राणी यह अवश्य सोचता है कि किसीने अपनी ज्ञानेच्छा तथा कृतिसे इसे बनाया है। इसी तरह एक प्रफुल्लित कमलको भी देखकर बुद्धिमान् अवश्य सोचता है कि यह इतनी सुन्दर वस्तु बिना किसीकी इच्छा-कृतिके कैसे सम्पन्न हो सकती है? बिना कारणके कोई कार्य नहीं होता, इस दृष्टिका सृष्टिसे भी कारण होना अनिवार्य है। अतः सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी ज्ञानेच्छा-कृतिसे ही सृष्टिकी रचना उचित है। कई लोग सृष्टिको आकस्मिक कहते हैं, परंतु वस्तुतः बिना हेतुके कोई भी घटना कभी हो ही नहीं सकती। यदि विभिन्न शक्तियोंद्वारा होनेवाले कार्योंके आकस्मिक सम्बन्धमात्रको आकस्मिक कहा जाय, जैसा कि काकतालीयन्याय कहलाता है (काकका वृक्षपर बैठना—काकके प्रयत्नका फल है, तालफलका पतन अपने कारणोंसे सम्पन्न हुआ, परंतु दोनोंका मेल आकस्मिक हो गया) तो इस पक्षमें निर्हेतुक कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता, भले सृष्टिकी विभिन्न घटनाओंका मेल कभी आकस्मिक भी हो तो भी सृष्टिका कोई कार्य निर्हेतुक नहीं सिद्ध होता।

वस्तुतस्तु मनसे भी अचिन्त्य रचनारूप संसारका निर्माण सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन कर्ताके बिना उपपन्न नहीं हो सकता और उस सर्वज्ञका कोई भी कार्य असम्बद्ध नहीं कहा जा सकता। कुछ लोग स्वयम्भू प्रकृति या उसके परमाणुओंसे ही विश्वका निर्माण मानते हैं, किंतु सर्वज्ञ ईश्वरकी ज्ञप्ति, इच्छा एवं कृतिके बिना प्रकृति या परमाणुसे संसारका निर्माण कैसे हो सकता है? बिना बुद्धि-प्रबन्धके परमाणु अपने-आप इतने विलक्षण संसारको बना सकते हैं, इससे बढ़कर युक्तिशून्य कोई बात हो नहीं सकती। किसी नास्तिक पितासे जब आस्तिक पुत्रने

कहा कि जो संसारको बनानेवाला है, वही परमेश्वर है। तो पिताने कहा कि परमाणुओंके अपने आप ही एकत्रित हो जानेसे संसार बन जाता है। इसके लिये कोई सर्वज्ञ ईश्वर क्यों माना जाय? दूसरे दिन पुत्रने बहुत सुन्दर हस्ती, अश्व, शुक, पिक, मयूरोंके चित्र बनाकर उसके सामने कुछ विभिन्न रङ्गकी पेन्सिलें रख दीं। जब पिताने चित्रोंका निर्माता पूछा तो पुत्रने कहा कि इन्हीं पेन्सिलोंके परमाणु उड़-उड़कर कागजपर एकत्रित हो गये, उन्हींसे ये चित्र बन गये। पर पिताने इसे स्वीकार नहीं किया। तब पितासे पुत्रने कहा कि यदि परमाणुओंके उड़-उड़कर एकत्रित हो जानेपर ऐसे चित्र भी नहीं बन सकते तो चन्द्रमण्डल और सूर्य-मण्डल, भूधर, सागर, मनुष्य, पशु आदि विलक्षण वस्तुएँ बुद्धिके सहयोग बिना केवल परमाणुओंसे कैसे बन सकती हैं? अतएव ऐसे-ऐसे अनुमान ईश्वर-सिद्धिमें उपस्थित किये जा सकते हैं।

(१) संसारका व्यवस्थित रूप देखकर अनुमान किया जा सकता है कि जगत्की व्यवस्था प्रशास्तृपूर्विका है, व्यवस्था होनेके कारण, राज्य-व्यवस्थाके समान।

(२) लोकोपकारी सूर्य-चन्द्रादिका निर्माण किसी विशिष्ट विज्ञानवान्के द्वारा ही हो सकता है। यद्यपि आजकल लोग सूर्य-चन्द्रादिको ईश्वरनिर्मित न मानकर स्वतःसिद्ध या प्रकृतिनिर्मित मानते हैं; परंतु यह असङ्गत है, क्योंकि दीपकादि बुद्धिमान् चेतनद्वारा ही बनाये जाते हैं। यह दृष्टान्त वादी-प्रतिवादी उभय-सम्मत है, परंतु कोई वस्तु स्वतःसिद्ध है—इसमें उभय-सम्मत कोई दृष्टान्त नहीं है; क्योंकि ईश्वरवादी सभी पदार्थोंको ईश्वरकर्तृक मानता है। प्रकृति भी जड होनेसे स्वतन्त्रकर्त्री नहीं हो सकती। अतः सूर्य, चन्द्र किसी विशिष्ट विज्ञानवान्के द्वारा निर्मित हैं, प्रकाश होनेके कारण, प्रदीपके समान। जैसे व्यवहारके लिये दीपक होता है, वैसे ही सूर्य-चन्द्रादि भी व्यवहारोपयोगी हैं।

(३) सूर्य-चन्द्रकी विशिष्ट चेष्टा देखकर भी इसी तरह उनके नियन्ताका अनुमान होता है—'सूर्य-चन्द्र नियन्तृपूर्वक हैं, विशिष्ट चेष्टावाले होनेके कारण, भृत्यादिके समान। जैसे भृत्यकी नियमित प्रवृत्ति होती है, वैसे ही सूर्य-चन्द्रादिकी भी नियमित प्रवृत्ति होती है।' उपर्युक्त अनुमानसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरसे नियन्त्रित होनेके कारण ही सूर्य-चन्द्र स्वयं ईश्वर और स्वतन्त्र होते हुए भी उदयास्तमय एवं वृद्धि-क्षयसे युक्त होकर प्रकाशादिकार्यमें संलग्न रहते हैं।

(४) पृथिवीके विधारकके रूपमें भी प्रयत्नवान् ईश्वरकी सिद्धि होती है। विवादास्पद पृथिवी प्रयत्नवान्के द्वारा विधृत है, सावयव, गुरु, संयुक्त होनेपर भी अस्फुटित, अपतित, अवियुक्त होनेके कारण, हस्तन्यस्त पाषाणादिके समान।

यदि किसी चेतनसे धारण न हो तो उसमें पतन, स्फुटन होना अनिवार्य होता, बिना किसी धारकके कोई भी गुरु पदार्थ टिक नहीं सकता। परस्पराकर्षणसे भी स्थिति असम्भव है; क्योंकि स्थिति और ज्ञप्ति अन्योन्याश्रित नहीं होतीं।

कहा जाता है, मानवी मस्तिष्ककी सहायता बिना भी यदि कोई अंग्रेजी भाषाके अक्षरोंको उछालता रहे तो कभी शेक्सपीयरका नाटक निर्मित हो सकता है। यदि थोड़ी देरके लिये यह मान भी लिया जाय तो भी संसारके विलक्षण प्रबन्धका विधान बिना सर्वज्ञ बुद्धिके नहीं हो सकता। भले ही किन्हीं अक्षरोंको अनन्त बार उछालो, परंतु उनके द्वारा विचार व्यक्त हो सकना असम्भव ही है। विचार व्यक्त करनेकी बात तो दूर रही, सही-सही एक पंक्तिका भी निर्माण असम्भव है। फिर अक्षरोंको उछालनेवाला भी कोई चेतन ही होता है। फिर बिना चेतनके जड-परमाणुओंसे विश्वका निर्माण कहाँतक सम्भव है? फिर क्या आजतक कोई अक्षरोंको उछाल-उछालकर किसी छोटे-से ग्रन्थका भी निर्माण कर सका? संसारमें रोटी बनानेसे लेकर मकान, पुल, दुर्ग आदिका निर्माण बिना बुद्धिके अपने-आप ही ईंट, चूना, पत्थर, लोहा-लकड़ आदि कर लेते हों, यह नहीं देखा जाता। फिर अकस्मात् ही परमाणुओंके द्वारा संसारका निर्माण और अकस्मात् ही परमाणुओंका निष्क्रिय हो जाना या संसारका नष्ट हो जाना आदि कैसे संगत होगा? फिर यदि परमाणुके बिना सर्वज्ञ चेतनके प्रयत्नसे अपने-आप ही सूर्य, समुद्र, नदी, पर्वत बन सकते हैं, तब अन्य उपयोगके दुर्ग, पुल, गृहादिका निर्माण भी उसी तरह क्यों नहीं होता? तदर्थ मनुष्योंको प्रयत्न क्यों करना पड़ता है? यदि पहाड़ अकस्मात् बन सकता है, तब कोई पुल या किला अपने-आप क्यों नहीं बन सकता? स्वभाववादी स्वभावसे ही सृष्टिका निर्माण मानता है, परंतु स्वभाव यदि शक्तिशाली कोई चेतन है तब तो नाममात्रका ही भेद हुआ। यदि सृष्टि-नियमसे ही संसारका निर्माण माना जाय तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि नियमके निर्माता प्रयोक्ता बिना नियम अकिंचित्कर ही होता है। भूगर्भतत्त्ववेत्ता पुरानी वस्तुओंको देखकर बुद्धिमानोंकी कारीगरीका अनुमान करते हैं। महेन्जोदड़ो, हरप्पाकी खुदाईमें मिलनेवाली वस्तुओंके आधारपर सभ्यताकी कल्पना की जाती है। यदि सब वस्तुएँ स्वभावसे ही बनती हैं, तब उन कल्पनाओंका कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

वस्तुतः किसी प्रकारके नियम ही सिद्ध करते हैं कि कोई समझदार पूर्वापरदर्शी बुद्धिमान् ही नियम बनाता है और वही नियामक भी है। नियामक बिना नियमोंका कुछ मूल्य भी नहीं होता। अतः नियमोंके रहते हुए भी ज्ञानयुक्त, उपयुक्त चुनावसे ही सुप्रबन्ध होता है। मिट्टी-जलादिसे घट बननेका नियम है सही, पर जबतक कोई कुम्भकार नियमोंके अनुसार कार्य नहीं करेगा तबतक घट-निर्माण

असम्भव ही है। धरणि, अनिल, जलके संयोगसे बीजोंके अङ्कुरित होनेका नियम है तथापि जबतक किसान उन नियमोंका प्रयोग करके काम नहीं करेगा तबतक गेहूँ-यवादिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। पृथ्वीकी आकर्षणशक्ति भले ही प्रत्येक परमाणुपर शासन करती रहे तथापि सहयोग एवं सुदृढ़ताके साथ प्रबन्ध बिना उसका कोई भी सदुपयोग नहीं हो सकता।

आस्तिकोंका कहना है कि जिसने हंसके अङ्गमें शुक्लरंगका निर्माण किया, शुकके अङ्गका हरा रंग बनाया, मयूरोंको चित्रित किया और फूलोंपर बैठनेवाली तितलियों-को चमकीली साड़ी बनाकर पहनाया—वही ईश्वर है। वही सबको वृत्ति देता है—

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति॥

(हितोपदेश १। १७९)

परंतु स्वभाववादियोंका कहना है कि—

शिखिनश्चित्रयेत्को वा कोकिलान् कः प्रकूजयेत्।
स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्॥ (चार्वाकदर्शन)

'मयूरोंको कौन चित्रित करता है ? कोकिलोंको कौन मधुरालाप सिखाता है ? जैसे अग्निमें उष्णता, जलमें शीतलता, वायुमें वहनशीलता स्वभावसे ही होती है, उसी तरह स्वभावसे ही शुक, हंसादिके रंग तथा मयूरादिका चित्रण होता है।' परंतु यह कहना ठीक नहीं कि यदि परमाणुओंका स्वभाव सृष्टिरचना है, तब कभी सृष्टि-विघटन नहीं होना चाहिये। यदि कहा जाय कि किन्हींका स्वभाव मिलनेका है, किन्हींका विघटनका है, तो भी जैसे परमाणुओंका बाहुल्य होगा, तदनुकूल ही काम भी होगा। परंतु जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय भी यथा-समय होता है। यह सब बिना सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके नहीं हो सकता। स्वभाव यदि असत् है, तो उसमें कार्यकरणक्षमता नहीं हो सकती। यदि सत् है तो भी चेतन है या अचेतन। यदि चेतन है तो नामान्तरसे ईश्वर ही हुआ। यदि अचेतन है तो उसमें भी विलक्षण कार्यकारिता नहीं हो सकती। अचेतन वस्तु स्वतः कोई कार्य नहीं कर सकती। यदि चेतनके सहारे कोई कार्य कर सके तो भी एक ही प्रकारका कार्य कर सकेगी। चेतनमें ही यह स्वतन्त्रता होती है कि वह कार्य करे, न करे, अन्यथा करे। कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं जो समर्थ होता है वही कर्ता होता है। घड़ीकी सूई स्वयं नहीं चल सकती। जब चेतन घड़ीसाजके प्रयत्नसे सूई चलती है तो वैसे ही चलती रहती है। सूइयोंको यदि पीछे चलाना होता है तो फिर किसी मनुष्यकी अपेक्षा पड़ती है। घड़ी या सूई स्वयं आगे-पीछे चलने, न चलने, बंद होने और फिर चल पड़नेमें स्वतन्त्र नहीं। संसारमें भिन्न-भिन्न स्वभावकी भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। परंतु वे सब अपने-आप स्वभावतः भिन्न

पदार्थोंका निर्माण नहीं करते। अग्नि, लकड़ी, पानी, चीनी, आटा, घी, मिर्च आदि भिन्न-भिन्न पदार्थ भिन्न स्वभावके हैं। सब मिलकर स्वयं पक्वान्न नहीं बना सकते। वहाँ किसी चेतनकी अपेक्षा होती है। इसी तरह बिना किसी सर्वज्ञ चेतनके नारंगी, संतरे तथा आम्रका फल, गुलाबका मनोरम पुष्प अवश्य पञ्च-भूतोंका ही परिणाम है। फिर भी अपने आप पृथ्वी, जल, तेज मिलकर कई पुष्प या फलके रूपमें स्वयं परिणत हो जाते हों, यह न देखा ही जाता है न सम्भव ही है। किंतु कोई कार्य प्राणियोंद्वारा सम्पन्न होते हैं तो कोई सर्वज्ञ चेतन ईश्वरके द्वारा। विज्ञानके अनुसार 'स्वाभाविक शक्तियोंके द्वारा प्रपञ्च-निर्माणका आरम्भ या द्रव द्रव्यका गाढ़ा होकर पृथ्वी बनना आदि बिना किसी चेतनकी इच्छा और कृतिके सम्भव नहीं हो सकता।' मान लिया, अग्नि और जल इंजिनमें पहुँचकर अद्भुत काम करने लगते हैं, परंतु इंजिन बनाकर उनमें डालकर भापद्वारा विभिन्न कार्य करनेका प्रबन्ध बिना चेतनके सम्पन्न नहीं होता। डार्विन, हक्सले, हैकल, लेमार्क आदिके विकाससम्बन्धी विचारपर इसकी पहले पर्याप्त समालोचना हो चुकी है। आल्फ्रेड रसेलवालेस वैज्ञानिक डार्विनका एक मुख्य सहयोगी था। डार्विनके पश्चात् भी वह विकासवादका ही पोषक रहा। उसने अपने अर्ध शताब्दीके अन्वेषणके पश्चात् 'दि वर्ल्ड आफ लाइफ' पुस्तककी भूमिकामें लिखा है कि मैंने उन मौलिक नियमोंकी सरल तथा गम्भीर परीक्षा की है, जिनको डार्विनने अपने अधिकारके बाहर समझकर जान-बूझकर अपने ग्रन्थोंमें नहीं लिखा। जीवन क्या है, उसके कौन-कौन कारण हैं और विशेषकर जीवनमें वृद्धि और संतानोत्पत्तिकी जो विचित्र शक्तियाँ हैं, उनका क्या कारण है? मैं यह परिणाम निकालता हूँ कि इन पक्षियों, कीड़ोंके रंग आदिसे पहले तो एक उत्पादक शक्तिका परिचय होता है, जिसने प्रकृतिको इस प्रकार बनाया कि जिससे आश्चर्यजनक घटनाएँ सम्भव होती हैं। दूसरे एक संचालक बुद्धि भी मालूम पड़ती है जो वृद्धिकी प्रत्येक अवस्थामें आवश्यक होती है। विकासवादी ग्रन्थोंसे भिन्न-भिन्न पौदों और कीट-पतंग आदिके शरीरोंकी बनावट उनके स्वभाव, उनकी रीतियों-की जानकारी होती है। डार्विनके पुत्र प्रोफेसर जार्ज डार्विनने १६ अगस्त सन् १९०५ में कहा था कि जीवनका रहस्य अब भी उतना ही निगूढ़ है जितना कि पहले था। प्रो० पैट्रिक गेडीसने कहा है कि हम नहीं जानते कि मनुष्य कहाँसे आया, कैसे आया? यह मान लेना चाहिये कि मनुष्य-विकासके प्रमाण संदिग्ध हैं, साइंसमें उनके लिये कोई स्थान नहीं है। ९ जून १९०५ में विकासवादियोंके वाद-विवादके सम्बन्धमें 'टाइम्स'ने लिखा था कि 'ऐसी गड़बड़ पहले कभी नहीं देखी गयी।' तमाशा यह कि लोग अपनेको विज्ञानका प्रतिनिधि बताते हैं। यद्यपि कुछ लोग दो-एक बातमें सहमत थे; पर कोई एक बात भी ऐसी नहीं जिसमें सब सहमत हों। विकासवादके सम्बन्धमें युद्ध करते हुए उन्होंने इसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले।

कुछ भी शेष नहीं रहा। केवल युद्धक्षेत्रमें कुछ टुकड़े इधर-उधर बिखरे पड़े हैं।

मनुष्यकी वंदरसे उत्पत्तिके सम्बन्धमें सर जे० डब्ल्यू० डौसन कहते हैं—'बंदर और मनुष्यके बीचकी आकृतिका विज्ञानको कुछ पता नहीं है। मनुष्यकी प्राचीनतम अस्थियाँ भी मनुष्यकी-सी हैं। इनसे उस विकासका कुछ भी पता नहीं लगता, जो मनुष्यशरीरके पहले हुआ है। प्रोफेसर औवेनका कहना है कि मनुष्य अपने प्रकारकी एकमात्र जाति है और अपनी जातिका एकमात्र प्रतिनिधि है। सिडनी कौलेटने अपनी पुस्तकमें लिखा है कि मनुष्य उन्नतिके बदले अवनतिकी ओर जा रहा है। सर जे० डब्ल्यू० डौसनने लिखा है कि 'मनुष्यकी आदिम अवस्था सबसे उच्च थी'। कुछ भी हो, साइंसके आधारपर एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी सत्ताका अपलाप नहीं हो सकता। संसारमें अनेक प्रकारके नियम उपलब्ध होते हैं। उन्हींका अनुसरण करके प्राणी अपना-अपना काम चलाते हैं। नियमोंका निर्माता एवं पालक ईश्वर है। अन्य प्राणी नियमोंके अनुचर हैं। जो वस्तुएँ बिना विज्ञानके ही नियमपराधीन हैं। परंतु चेतन उन नियमोंको चुनकर उनके अनुसार काम करता है। जैसे खेतीका नियम पालन करनेसे गेहूँ, जौ पैदा किया जा सकता है। वायुयान बनानेका नियम पालन करनेसे वायुयान बनाया जा सकता है; परंतु काष्ठादि नियमोंका चुनाव नहीं कर सकते। नियमोंका संचालन करनेवाली शक्ति ईश्वर ही है, उसका प्रभाव सृष्टिमें व्यापक है।

नैयायिक, वैशेषिक आदि ईश्वरको निमित्तकारण मानते हैं। परंतु नैयायिक आदि तो जीवात्माओंको भी व्यापक ही मानते हैं। आधुनिक कुछ लोग शङ्का करते हैं कि निमित्तकारण या कर्ता किसी कार्यमें व्यापक नहीं रहता। घड़ीसाज घड़ीमें व्यापक नहीं होता, मकान बनानेवाला मकानमें और कोट-पतलून बनानेवाला दर्जी कोट-पतलूनमें भी व्यापक नहीं होता; फिर यदि परमात्मा संसारका निमित्तकारण है तो वह सम्पूर्ण कार्यमें कैसे व्यापक हो सकता है? उसका आधुनिक ढंगके लोग समाधान करते हैं कि लौकिक क्रियाओंका कुलाल आदि निमित्त कारण अवश्य हैं, परंतु वह एक हदतक ही हैं; जैसे घड़ीसाजने घड़ी अवश्य बनाया, परंतु लोहेके परमाणुओंको जोड़कर रखना घड़ीसाजके हाथकी बात नहीं है। उसका निमित्तकारण ईश्वर ही होता है। संसारमें व्यापक अणु-अणु, परमाणु-परमाणुकी जो क्रियाएँ हैं, वे बहुत सूक्ष्म हैं। वे व्यापक ईश्वरके बिना उत्पन्न नहीं हो सकतीं। अतः ईश्वरको व्यापक मानना उचित ही है, परंतु वेदान्ती तो ईश्वरको ही अभिन्ननिमित्तोपादानकारण मानते हैं। सचमुच निमित्तकारणका कार्यमें व्यापक होना तर्कसङ्गत नहीं है। यदि निमित्तत्व व्यापकताका प्रयोजक हो तो कुलालादिमें भी व्यापकता होनी ही चाहिये, परंतु यह दृष्टविरुद्ध है। भले ही परमाणु, संयोग आदिमें कुलाल, घड़ीसाज आदि निमित्तकारण न हों फिर भी जिस कार्यमें जितने

अंशमें जो निमित्तकारण हो उतने अंशमें तो उसे उस कार्यमें व्याप होना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त निरवयव एवं व्यापकमें क्या हलचल रूप क्रिया सम्भव हो सकती है? यदि नहीं तो व्यापक ईश्वर किस तरह क्रियावान् हो सकेगा? इस दृष्टिसे वेदान्तीका ही मत श्रेष्ठ है। मायाशक्तिद्वारा ही सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वर माया, परिणाम-संकल्पके द्वारा ही विश्वका निर्माता होता है। वही तमःप्रधाना प्रकृतिसे विशिष्ट होकर उपादान कारण भी है, अतः व्यापक है। यह भी कहा जाता है कि यदि ईश्वर व्यापक न होता तो उसे सम्राट् आदिके समान अन्य सत्ताओंसे काम लेना पड़ता और जैसे सम्राट्का कर्मचारियोंके मस्तिष्कपर जब नियन्त्रण नहीं होता तो वे कभी गड़बड़ भी करते हैं, इसी तरह ईश्वरके कर्मचारी भी ईश्वरकी इच्छाके विरुद्ध कार्य कर सकते हैं; किंतु ऐसा होता नहीं; अतः ईश्वर व्यापक है। सबपर उसका नियन्त्रण है। सब कार्य उसकी इच्छाके अनुसार ही होते हैं। परंतु यह ठीक नहीं है, क्योंकि ईश्वरकी सत्तासे भिन्न जीवोंद्वारा अनेक कार्य होते हैं। भले ही ईश्वर सर्वान्तर्यामी हैं; फिर भी जीवोंको अपनी इच्छानुसार शुभाशुभ कर्म करनेकी स्वतन्त्रता है। तभी उन्हें अपने किये कर्मोंका फल भोगना पड़ता है। यदि जीव किसी अन्यके परवश होकर ही कर्म करते होते तो उन्हें उन कर्मोंका फल भोगनेके लिये बाध्य नहीं होना पड़ता। व्यापकताका मूल उपादानत्व ही है निमित्तत्व नहीं। जैसे मकड़ी जालाका उपादान और निमित्त दोनों ही ही कारण है, उसी तरह ईश्वर ही प्रपञ्च-सृष्टिका उपादान और निमित्त दोनों ही कारण हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि 'वह ईश्वर निराकार ही हो सकता है, साकार नहीं। उनके अनुसार 'जिसे आँखसे देख सकते हैं, हाथसे छू सकते हैं, वह साकार है, जो ऐसा नहीं वह निराकार है।' वे कहते हैं कि 'सृष्टिमें दोनों प्रकारकी वस्तुएँ होती हैं, 'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैवामूर्तञ्च'—सृष्टिके दो रूप हैं—एक साकार, दूसरा निराकार।' परंतु यह ठीक नहीं; क्योंकि उपर्युक्त श्रुति यही कहती है कि ब्रह्मके दो रूप हैं। एक मूर्त अर्थात् साकार और दूसरा अमूर्त अर्थात् निराकार। कहा जाता है कि 'यदि ईश्वर आकाशकी तरह निराकार है, तब तो वह व्यापक हो सकता है; किंतु यदि वह साकार (स्थूल) है तो सूक्ष्ममें कैसे व्यापक होगा? सर्वव्यापक न होनेसे सर्वकारण भी नहीं हो सकेगा। फिर ईश्वर ही नहीं सिद्ध हो सकेगा। ईश्वर साकार होता तो अवश्य दीखता। ईश्वरकी अति सूक्ष्म सत्ता हो तभी उसका नियन्त्रण सूक्ष्म नियमोंपर हो सकता है।' परंतु यह कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि जैसे जीव सूक्ष्म होते हुए भी आकार ग्रहणकर साकार हो जाता है, इसी तरह ईश्वर सूक्ष्म निराकार होते हुए भी मायासे दिव्य गुणसम्पन्न ज्योतिर्मय आकार बनाकर साकार हो सकता है। सूक्ष्मरूपसे सर्वकारण सर्वव्यापक होनेपर भी माया

शक्तिसे ईश्वर साकार भी होता है। उसीका हिरण्मय, ज्योतिर्मय आदि रूप उपनिषदोंमें वर्णित है। ईश्वरका ज्योतिर्मय आकार होनेपर भी वह आकार दिव्य है। अतः सामान्य चर्मचक्षुको उसका दर्शन भले ही न हो, परंतु उपासना और तपस्याके द्वारा दिव्य दृष्टिसम्पन्न लोगोंको उसका दर्शन आज भी होता है और हो सकता है। विष्णु, शिव आदि उसीके रूप हैं। जो ईश्वर अनन्त ब्रह्माण्डका निर्माण कर सकता है, अनन्त निराकार एवं सूक्ष्मजीवोंको अनन्त देह देकर साकार बना देता है, वह क्या अपने लिये दिव्य देहका निर्माण नहीं कर सकता? और साकार नहीं बन सकता? वस्तुतः जैसे निराकार अग्नि भी साकार हो सकती है, जैसे स्पर्शादिविहीन आकाश ही स्पर्शादियुक्त तेज-जलादि रूपमें प्रकट हो सकता है, वैसे ही निराकार परमेश्वर आकार ग्रहणकर साकार हो सकता है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी मायाकृत साकारता होनेपर भी उसकी निराकारता, सूक्ष्मता, व्यापकता एवं सर्वकारणतामें कोई अन्तर नहीं आता।

कहा जाता है, संसारमें जितनी साकार वस्तुएँ हैं, वे सब परमाणुओंके संयोगसे ही बनती हैं; किंतु यह बात केवल आरम्भवादमें ही है; परिणामवादके लिये यह आवश्यक नहीं। परिणामवादमें जैसे दुग्धका ही दधिभाव होता है, मृत्तिकाका घटभाव होता है, वैसे ही प्रकृतिका ही अन्यथाभाव परिणाम होता है। वहाँ तो यही कहा जा सकता है कि सूक्ष्म एवं व्यापक वस्तु ही स्थूल एवं व्याप्य भिन्न-भिन्न पदार्थोंके रूपमें परिणत होती है। विवर्तवादमें सूक्ष्मतम ब्रह्मका ही अतात्त्विक अन्यथाभावरूप विवर्त सम्पूर्ण प्रपञ्च है। किंतु किसी भी पक्षमें ईश्वरके साकार होनेमें कोई आपत्ति नहीं होती। सर्वसम्मतिसे जीवात्मा व्यापक हो या अणु, पर है निराकार ही। साकार रूप धारण करनेसे वह साकार होता है। यही बात ज्यों-की-त्यों ईश्वरके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। भेद इतना ही है कि जीव इन सब बातोंमें कर्मपरतन्त्र है, ईश्वर स्वतन्त्र है। साकार होनेका यह कदापि अर्थ नहीं कि कूटस्थ ईश्वर विकृत होकर अपनी निराकारता, सूक्ष्मता, व्यापकताको खोकर साकाररूपमें परिणत हो जाता है। इसीलिये भापका परमाणु बादल बन जाय या बादलका परमाणु जल बन जाय इत्यादि दृष्टान्तोंके लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है। संसारमें विभिन्न वस्तुएँ विभिन्न शक्तिवाली होती हैं। चींटी, सिंह, हाथी, विभिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न शक्ति रखते हैं। जो सबपर नियन्त्रण रखता है तथा सर्वशक्तिवाला है, वही ईश्वर है। भिन्न कारणोंमें अपने-अपने कार्योंके उत्पादनानुकूल शक्तियाँ होती हैं। ईश्वर सर्वकारण है, अतः उसमें सर्वकार्योत्पादनानुकूल शक्तियाँ हैं; इसीलिये वह सर्वशक्तिमान् है। बहुत लोग कुतर्क करते हैं कि यदि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो क्या वह अपने आपको नष्ट कर सकता है? दूसरा ईश्वर बना सकता है? वेश्याको कुमारी बना सकता है? परंतु

यह सर्वशक्तिमत्ताका अभिप्राय कदापि नहीं है। शक्ति शक्यमें ही होती है। स्वरूपके अविरुद्ध ही शक्तियाँ होती हैं। वह्निमें दाहिका शक्ति होती है; परंतु वह शक्ति काष्ठादि दाह्यका ही दहन करती है। अदाह्य आकाशादिका दहन नहीं कर सकती। इतनेपर भी अग्निके सर्वदाहकत्वमें कोई बाधा नहीं आती। इसी तरह यदि नित्यस्वरूपको नष्ट न कर सके तो इतनेसे ही ईश्वरके सर्वशक्तिमत्त्वमें बाधा नहीं पड़ सकती। इसी तरह नित्य अनाद्यनन्त सर्वशक्तिमान् अन्य ईश्वरका निर्माण भी अशक्य है। वेश्याको उस जन्ममें नहीं तो जन्मान्तरमें कुमारी बना ही सकता है।

अद्वैत वेदान्तकी दृष्टिसे परमेश्वर सर्वप्रपञ्चका उपादानकारण है, अतएव वह सर्वशक्तिमान् है। उपादानकारणोंमें कार्यानुकूल शक्तियाँ होती हैं। मृत्तिकामें घटोत्पादनानुकूलशक्ति, तन्तुमें पटोत्पादनानुकूल शक्ति, दुग्धमें नवनीतोत्पादनानुकूल शक्ति होती है—इस दृष्टिसे सर्वकारणमें सर्वोत्पादनानुकूल शक्ति होती है। जो वस्तु प्रमाणसिद्ध है, उसीके उत्पादनानुकूल शक्ति कारणमें हो सकती है। खपुष्प, शशशृङ्ग आदि असत्पदार्थ प्रमाणसिद्ध ही नहीं हैं, अतः तदुत्पादनानुकूल शक्तिकी कल्पना ईश्वरमें नहीं की जा सकती। सर्वकारण एवं सर्वाधिष्ठान होनेके कारण चेतन ब्रह्म ईश्वर ही निरावरण होकर अपनेमें अध्यस्त सब प्रपञ्चका भासक होता है; इसीलिये वह सर्वज्ञ है। सर्वका चेतनके साथ आध्यासिक ही सम्बन्ध है। इसी सम्बन्धसे चेतनद्वारा सर्वप्रपञ्चका भान हो सकता है। इसीलिये सामान्य रूपसे, विशेषरूपसे सर्वप्रपञ्चको जाननेवाला ईश्वर सर्वज्ञ एवं सर्ववित् है, अनन्त ब्रह्माण्ड एवं एक-एक ब्रह्माण्डके अनन्त जीव तथा एक-एक जीवके अनन्त जन्म, एक-एक जन्मके अनन्तानन्त कर्म एवं अपरिगणित कर्मफलोंको जाननेवाला और विभिन्न ब्रह्माण्डोंके जीवोंके कर्मफलोंको दे सकनेकी क्षमता रखनेवाला ही ईश्वर है। इसीलिये ईश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् है। अनादि जीवोंके कल्याणके लिये ही उसकी सृष्टिनिर्माणमें प्रवृत्ति होती है। इसीलिये वह हितकारी भी कहा जाता है। समस्त प्राणियोंके लौकिक-पारलौकिक कल्याणके लिये उसके निःश्वासभूत वेदोंके द्वारा सबको उपदेश मिलता है—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ (अथर्ववेद ३। ३०। १)

जैसे गौ उत्पन्न बछड़ोंमें प्रेम करती तथा उनका हित चाहती है, वैसे ही ईश्वर भी सबको समान हृदय एवं शोभन हृदय तथा विद्वेषरहित अन्योन्य उपकारक बनाना चाहता है।

ईश्वरके सम्बन्धमें भारतीय दर्शनोंके आधारपर मार्क्सवादियोंके विचार

मार्क्सवादी हिंदू-दर्शन एवं भौतिकवादकी तुलना करते हुए कहते हैं कि 'हिंदू-दर्शन ग्रन्थादि किसी एक ही मतके परिपोषक नहीं हैं। भौतिकवादके उल्लेखमात्रसे चार्वाकका नाम याद आता है। लेकिन चार्वाकसे बहुत पहले इसका वर्णन उपनिषदोंमें मिलता है कि सृष्टिका मूल क्या है? आकाश। सब सृष्ट पदार्थ आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं तथा इसीमें विलीन होते हैं—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्।' (छान्दो० उप० १।९।१)

'जिसको आकाश कहते हैं, वह सब नाम-रूपोंका द्योतक है।'—

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता। (छान्दोग्य उपनिषद् ८।१४।१)

इसी उपनिषद्में ब्रह्मका भी उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि आकाश ब्रह्म नहीं है और यही सृष्टिका भौतिक कारण है। श्वेताश्वतर उपनिषद्की अग्नि वह स्वयम्भू है, जिससे भूतमात्रकी उत्पत्ति है। वह अग्नि भी ब्रह्म नहीं है।

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।...

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।

(६।१५-१६)

कहना न होगा कि कई मार्क्सवादियोंने भारतीय दर्शनोंका भौतिकवादसे मेल मिलाया है; किंतु अधूरे ज्ञानके कारण वे सदा ही अर्थका अनर्थ ही करते हैं। वस्तुतः उपनिषदोंमें जहाँ सृष्टिका मूल आकाश कहा गया है वहाँ 'आकाश' शब्दका अर्थ है 'ब्रह्म'। 'आ समन्तात् काशते—प्रकाशते इत्याकाशः' प्रकाशमान अखण्ड बोधरूप परब्रह्म ही आकाश शब्दार्थ है। अतएव ब्रह्मसूत्रमें कहा गया है—'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (वेदान्तद० १।१।२२)—आकाश पदार्थ परमात्मा है; क्योंकि जगदुत्पत्ति, स्थिति, प्रलय-कारणतारूप लक्षण उस ब्रह्ममें ही घटता है, भूताकाशमें नहीं। क्योंकि उन्हीं उपनिषदोंमें आकाशादि भूतोंकी उत्पत्ति ब्रह्मसे कही गयी है, 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (तै० उ० २।१) उस अपरोक्ष आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति होती है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते......तद् ब्रह्म।' (तै० उ० ३।१) जिस परमात्मासे सब भूत उत्पन्न होते हैं, वह ब्रह्म है। जो आकाश नाम-रूपका निर्वाहक है, वह आकाश भी वही ब्रह्म है। (देखिये, छा० उ० ८।१४।१ शांकरभाष्य) श्वेताश्वतरका

अग्नि हिरण्यगर्भ है, साधारण जड अग्नि नहीं—'एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ (मनु० १२ । १२३) इसी हिरण्यगर्भको कोई अग्नि कहते हैं, कोई मनु कहते हैं, कोई इन्द्र, कोई प्राण, कोई सनातन ब्रह्म और कोई प्रजापति कहते हैं।

'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥'
(ऋ० सं० २ । ३ । २२ । ६; अथर्व० ९ । १० । २८; निरुक्त७ । ४।५ । १८)

आदिस्थलोंमें एक परमात्माको ही भिन्न-भिन्न नामोंमें पुकारा गया है।

मार्क्सवादी कहते हैं—'वर्तमानकालमें वेदान्त-दर्शनका मायावाद ही जनप्रिय है। यह एक आदर्शवादी दर्शन है, जिसके अनुसार निर्विकार, निराकार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है । यह ब्रह्म हीगेलके निर्विशेष मानस (Absolute Idea) से मिलता-जुलता है। निर्विशेष मानस जैसे विशेषके भीतर ही विकसित होता है। वेदान्तके ब्रह्मकी कल्पना भी वैसी ही है। ब्रह्म अपनेको विभक्त कर मायाके रूपमें प्रदर्शित करता है। ब्रह्म शब्दकी उत्पत्ति है 'बृह' धातु से, जिसका अर्थ है वर्द्धित होना। इस वर्द्धित होने और हीगेलके स्वयंगतिविवर्तन (Becoming) का सादृश्य स्पष्ट है। मायावादी दर्शनकी असङ्गतिको दूर करनेके लिये गौडपाद आदि दार्शनिकोंने ब्रह्म या आत्माको मूलमें रखकर भूत-जगत्को उसका फलस्वरूप बतलाया और इस प्रकार सत्यकी मर्यादाको अक्षुण्ण रखा। वेदान्त-दर्शनका बहुल प्रचार होनेपर भी हिंदू-दर्शन केवल मात्र वेदान्त ही नहीं है । न्याय और मीमांसा-दर्शन भी चार्वाकदर्शनकी तरह प्रमाण एवं सापेक्ष ज्ञानमें विश्वास रखते हैं। बौद्ध सौत्रान्तिक और वैभाषिक दर्शन भी इसीके अनुरूप हैं।

"बौद्धमत स्वयं भारतीय भौतिकवादियोंका वैदिकधर्मके विरुद्ध एक विद्रोह है। यह कणाद तथा कपिलकी धाराओंको कायम रखता है। कणादका परमाणुवाद डिमोक्रिट्सके परमाणुवादसे बहुत मिलता-जुलता है। कपिलकी युक्ति है—'केवल विचारका ही अस्तित्व नहीं है; क्योंकि बहिर्जगत्का भी हमको सहज प्रत्यय है।' इसलिये यदि एकका अस्तित्व नहीं है तो दूसरेका भी अस्तित्व नहीं। फिर केवल शून्य ही रह जाता है।' (सांख्यदर्शन प्रथम खण्ड, सूत्र ४२-४३) इसके ऊपर विज्ञानभिक्षुकी टीका और भी स्पष्ट है। विचार ही केवलमात्र वास्तविकता नहीं है; क्योंकि भूत और विचार दोनोंका प्रमाण सहज प्रत्यय है। यदि इस प्रमाणसे भूत सिद्ध नहीं है, तो विचार भी सिद्ध नहीं होता; क्योंकि दोनोंका प्रमाण सहज प्रत्यय है। इस प्रकार केवल शून्य ही रह जाता है। 'बौद्ध-दर्शनमें सर्वास्तित्ववादी तथा शून्यवादी—दोनों ही भौतिकवादी मतकी पुष्टि करते हैं। लेकिन निर्वाणको मान लेनेके कारण उनका भौतिकवाद अपरिणत रह जाता है। तत्कालीन समाजका अन्तर्विरोध ही इस दार्शनिक अन्तर्विरोधके रूपमें प्रकाश पाता है।

"योगबल और अलौकिक शक्ति—यहाँ योगादिके विषयमें एक बात कहना असङ्गत न होगा। क्या तपस्या, योग, क्रिया आदिसे मनुष्य अलौकिक कार्य सम्पन्न कर सकता है? जो कुछ पहले कहा जा चुका है, उससे उत्तर स्पष्ट है—कदापि नहीं योगकी शास्त्रीय परिभाषाओंसे भी उसके ऊपर प्रकाश पड़ता है। पातञ्जलसूत्रकी परिभाषा है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (१ । २) पर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध -यह स्वयं ही एक असम्भव क्रिया है; इसलिये एक असम्भव क्रियासे असम्भव फल प्राप्त होता है या नहीं यह प्रश्न स्वयं ही अपना उत्तर है। गीताकी परिभाषा है—'योगः कर्मसु कौशलम्' (२ । ५०)। तिलकने इसी परिभाषापर जोर दिया है। स्पष्ट ही यह परिभाषा योगको अलौकिक क्षेत्रसे उतारकर व्यवहार-क्षेत्रमें लानेका प्रयत्न है। व्यावहारिक अर्थमें ही एक मार्क्सवादी गीताके उस श्लोककी प्रशंसा कर सकता है—जिसमें मनुष्यको समदर्शी होनेका उपदेश दिया गया है। लाभ और हानि, जय और पराजय, दोनोंमें ही उसको अविचलित रहनेको कहा गया है, लेकिन मार्क्सवाद और गीताकी प्रेरणाएँ भिन्न हैं। गीताकी प्रेरणा है—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' (२ । ४७) लेकिन मार्क्सके दर्शनमें ईश्वरको फल सौंपनेकी बात नहीं आती; क्योंकि यह एक निरीश्वरवादी दर्शन है। ईश्वरमें विश्वाससे ही अलौकिक शक्तिकी कल्पना आती है। जन्मान्तर-रहस्य इसीका एक अङ्ग है। ऐसे प्रश्नोंका उत्तर 'Dialectics of nature' नामक पुस्तकके एक अध्यायमें एंजिल्सने दिया है। प्रेतात्मा बुलानेवालोंको कारस्तानियाँ अदालतोंमें कैसे खुलीं, उन घटनाओंका उल्लेख करते हुए एंजिल्सने अलौकिक शक्तिकी असम्भावनाओंको प्रमाणित किया है।"

मार्क्सवादी आदर्शवादके रूपमें अद्वैतवादको ही क्यों देखना चाहता है? अनेक अध्यात्मवादी चेतनके समान ही अचेतनको भी वास्तव ही मानते हैं। अद्वैतवादी वृत्तिविशिष्ट चैतन्यरूप दृष्टिको व्यावहारिक सत्य मानते हैं और विषयको भी उसी कोटिका मानते हैं। विना चेतन-सत्ता स्वीकार किये क्रियाशीलता ही नहीं बन सकती, फिर क्रान्तिकारी क्रियाशीलताकी बात तो दूरकी है। क्रियात्मक सत्यता अवश्य प्रयोगसापेक्ष है; परंतु वस्तुसत्ता प्रयोगकी अपेक्षा नहीं रखती। जैसे अगर कूटस्थ सत्, परमार्थ आत्मा सत्य है, तो उसके लिये प्रयोग अपेक्षित नहीं वहाँ तो अज्ञान-निवृत्त्यर्थ ज्ञानमात्र अपेक्षित है। क्रिया पुरुषतन्त्र हो सकती है, परंतु ज्ञान तो पुरुषतन्त्र न होकर वस्तुतन्त्र ही होता है। जो विभाज्य एवं विपरीत होता है, वह परमार्थ सत्य होता ही नहीं। सत्यताकी मुख्य परीक्षा प्रमाणसे होती है। प्रयोग भी प्रमाणका अङ्ग होकर ही परीक्षामें उपयुक्त हो सकता है। विचार, क्रिया—दोनों ही एक कर्ता-प्रयोक्ताद्वारा सम्पन्न होते हैं—यह तो ठीक है, परंतु 'एक ही सत्यकी विपरीत दिशाएँ हैं', यह निरर्थक वागाडम्बरमात्र है।

'परिस्थितियोंकी उपज मनुष्य है या मनुष्यकी उपज परिस्थितियाँ ?' यह विषय सदासे ही विचारणीय रहा है फिर भी सिद्धान्ततः मनुष्य चेतन है। परिस्थितियाँ जड हैं। मनुष्य ही परिस्थितियोंका निर्माता है और भीष्मजीने कहा है काल या परिस्थितियाँ राजाका कारण हैं या राजा कालका कारण है— यह संशय न होना चाहिये; क्योंकि राजा ही कालका कारण होता है—

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्।'

(महा० उद्योगपर्व १३२। १६)

अस्तु, हीगेलके निर्विशेष मानस और वेदान्तके ब्रह्ममें महान् अन्तर है। मन एक भौतिक वस्तु है; किंतु ब्रह्म नित्य कूटस्थ अनुभवस्वरूप है। बृहि धातुसे ब्रह्मकी निष्पत्ति अवश्य होती है; परंतु वर्धित होना 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ नहीं है। निरतिशय बृहत् तत्त्व ही ब्रह्म है। वह देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। निरतिशय पदार्थ ही बृहत् कहा जा सकता है। भौतिक जड अनृत मर्त्यको निरतिशय बृहत् नहीं कहा जा सकता, अतएव सत्य चैतन्य त्रिकालाबाध्य अमृत कूटस्थ अपरिच्छिन्न अनन्त अखण्ड ज्ञान ही ब्रह्म-शब्दार्थ ठहरता है। वर्धन-हेतु होनेसे प्राणमें भी ब्रह्म शब्दका प्रयोग होता है; क्योंकि प्राण रहनेपर ही शरीरकी वृद्धि आदि होती है। औपनिषद परब्रह्ममें तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंके अनुरोधसे निरतिशय बृहत्तत्त्वके अर्थमें ही ब्रह्म-शब्दका प्रयोग होता है।

यह भी कहा जा चुका है कि जिसमें वास्तविक विभाजन होता है, वह ब्रह्म नहीं होता। अनिर्वचनीय मायाके अध्याससे ही उसमें अनेक प्रकारके विभागोंका अध्यारोप होता है। इसी तरह यह भी कहना गलत है कि मायावादी दर्शनकी असङ्गतियोंको दूर करनेके लिये गौडपादने ब्रह्म या आत्माको मूलमें रखकर भूत-जगत्‌को उसका फलस्वरूप बतलाकर सत्यकी मर्यादा रखी है। क्योंकि अनादि-अपौरुषेय वेद, उपनिषद् आदिके द्वारा ही ब्रह्मवादका प्रतिपादन किया जाता है। अद्वैतवादी शंकरने तो गौडपादके ही मतका अनुसरण करके प्रस्थानत्रयीपर भाष्य किया है। गौडपादका सिद्धान्त तो 'अजातवाद' है। उनके यहाँ तो भूत-जगत् कभी हुआ ही नहीं। 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा। वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥ (माण्डूक्यकारिका ४। ३१) जो आदिमें नहीं और अन्तमें नहीं होता, वह वर्तमानमें भी वैसा ही होता है। भूत, जगत्, वितथ, स्वप्न, माया आदि वितथ पदार्थोंके सदृश अवितथ से प्रतीत होते हैं, इस दृष्टिसे ब्रह्म-तत्त्व ही त्रिकालाबाधित सत्य है।

न्याय-मीमांसा आदि दर्शनोंने भूत-सत्ता अवश्य स्वीकार की है, परंतु चेतन आत्मा एवं अनादि-अपौरुषेय वेदादि शास्त्रोंका प्रामाण्य तथा शास्त्रोक्त धर्म-अधर्म आदिका अस्तित्व भी उन्हें स्वीकृत है। फिर उन आस्तिक दर्शनोंसे जडवादी

भौतिक दर्शनोंकी सिद्धि कैसे हो सकेगी? वृत्तिरूप ज्ञान प्रमाणसापेक्ष होता है—यह वेदान्तदर्शनको भी मान्य है। सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक, माध्यमिक—चारों प्रकारके बौद्ध कम-से-कम प्रत्यक्षप्रमाणके अतिरिक्त अनुमानप्रमाण भी मानते हैं; किंतु भौतिकवादी चार्वाक आदि तो अनुमानप्रमाण भी नहीं मानते। बौद्ध भी देहभिन्न क्षणिक विज्ञानकी आलयधाराको आत्मा मानते हैं; किंतु चार्वाक एवं मार्क्स आदि तो जीवित देहको ही आत्मा मानते हैं।

बौद्ध भले ही वैदिक-धर्मके विरोधी हों फिर भी उनके यहाँ आत्मा तथा पुण्य, पाप, सत्य, तपस्या तथा प्रमाण आदि मान्य हैं। जडवादी तो सबसे गये-बीते हैं। कणाद एवं गौतम परमाणु, ईश्वर तथा जीवात्माओंके पुण्यापुण्यरूप अदृष्टोंको जगत्-कारण मानते हैं, अतः इनका भी भौतिकवादियोंसे कोई मेल नहीं है। कपिल, पतञ्जलि भी प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगमको प्रमाण मानते हैं, तदनुसार असङ्ग अनन्त नित्य चेतन आत्मा तथा महदादि प्रपञ्चका कारण प्रकृति एवं धर्माधर्म उन्हें मान्य हैं। ये लोग ईश्वर भी स्वीकार करते हैं। अवश्य कपिल आदि बाह्यार्थवादी हैं; परंतु उनके असङ्ग चेतन आत्माकी सिद्धि बाह्यार्थपर अवलम्बित नहीं है; क्योंकि कपिल, पतञ्जलि, गौतम, कणाद आदि सभीका आत्मा नित्य है। जो नित्य होता है उसकी सिद्धि अन्यसापेक्ष नहीं होती। यहाँतक कि चारों प्रकारके बौद्ध एवं जैन आत्माको बाह्यार्थ-सापेक्ष नहीं मानते, बल्कि बौद्धोंकी दृष्टिसे तो बाह्यार्थ विज्ञानका परिणाम है। उनका स्पष्ट कहना है कि जैसे मृत्तिकाके रहनेपर ही घटादिका उपलम्भ होता है, अन्यथा नहीं—'सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः' अतः विज्ञान एवं बाह्यार्थका अभेद ही होता है। सौत्रान्तिक, वैभाषिककी दृष्टिमें बाह्यार्थ भी मान्य है। वैसे वेदान्ती भी व्यावहारिक, प्रातिभासिक—दो प्रकारका बाह्यार्थ मानते ही हैं। जिस कोटिका प्रमाण एवं प्रमाता है, उसी कोटिका बाह्यार्थ भी है, परंतु भौतिकवाद-मतकी पुष्टि इन किन्हीं दर्शनोंसे नहीं होती। इन मतोंमें मन, ज्ञान, भूत अथवा देहके परिणाम नहीं मान्य हैं।

इसी तरह योग आदिके सम्बन्धमें मार्क्सवादियोंका टाँग अड़ाना भी अनधिकारपूर्ण चेष्टा है। जैसे बंदरको अदरकका स्वाद अज्ञेय होता है, शाकवणिक्लोगोंको बहुमूल्य रत्नोंका माहात्म्यज्ञान दुःशक है, वही स्थिति योगके सम्बन्धमें मार्क्सवादियोंकी है। जो सत्य, अहिंसा, संयम, न्यायको भी स्वीकार करनेमें समर्थ नहीं होता है, जो वर्ग-संघर्ष, वर्ग-विध्वंसके मार्गपर चलकर केवल धनको ही सर्वस्व मानकर उसे ही अपना ध्येय मानता है, उसके यहाँ त्याग, संयम, अपरिग्रह, तपस्यादिमूलक योगकी बातोंका क्या महत्त्व हो सकता है?

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको मार्क्सवादी एक असम्भव चीज मानते हैं। अतएव असम्भव चीजसे होनेवाले फलोंको भी असम्भव मानते हैं। परंतु यदि योग या वेदान्तानुसार पाञ्चभौतिक मन या चित्त एक परिणामी वस्तु है और उसका परिणाम सहेतुक है तो परिणाम-निरोध भी क्यों नहीं हो सकता? सुषुप्तिमें चित्तका शब्दाद्याकार परिणाम-निरोध मान्य है, तब फिर समाधिमें भी चित्तके वृत्ति-परिणामराहित्य होनेमें क्या आपत्ति है? वृत्तिद्वयकी संधिमें चित्त-का निर्वृत्तिक होना तर्कसङ्गत भी है! चित्तके एक व्यापारसे एक वृत्ति होती है। एक व्यापारके अनन्तर अन्य व्यापार-प्रारम्भसे पूर्व क्षणमें चित्तके निर्व्यापार एवं निर्वृत्तिक माननेमें कोई भी अड़चन नहीं हो सकती, जैसे अलातचक्रकी तीव्र गति होती है, वैसे ही मन्द गति भी होती है।

साथ ही गति-राहित्यका भी कोई समय हो ही सकता है, उसी तरह चित्तकी शीघ्र, मन्द गति एवं गति-राहित्य भी सम्भव है। इस तरह जब योग असम्भव वस्तु नहीं है तो उसका फल भी असम्भव वस्तु नहीं है। 'योगः कर्मसु कौशलम्' (गी० २। ५०) का तिलकद्वारा वर्णित अर्थ गलत है। वस्तुतः कर्मकौशलको योग नहीं कहा जाता है; किंतु योग ही कर्मोंमें दक्षता है। योगकी परिभाषा स्पष्ट की गयी है—'समत्वं योग उच्यते' (गी० २। ४८) सिद्धि-असिद्धिमें समता योग है। इस तरह समत्वबुद्धिसे युक्त कर्म भी गीतामें योग कहा गया है। तिलकने भी भले ही कर्मोंमें कौशलको योग कहा हो, तो भी उन्होंने पातञ्जलयोग एवं उसके फलका अपलाप नहीं किया है। मार्क्सवादीके लिये गीताकी प्रशंसाका कोई अर्थ ही नहीं; क्योंकि गीतामें तो स्वयं ही निर्वातस्थित निश्चल दीपके तुल्य योगीके यत चित्तका निश्चल होना बतलाया है—

'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥ (गी० ६। १९)

मार्क्स स्पष्ट ही निरीश्वरवादी है, फिर उसकी दृष्टिसे कर्मोंका ईश्वरमें समर्पण करना, फलकी आकाङ्क्षा बिना ईश्वराधन बुद्धिसे शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करना आदि सब बातें व्यर्थ हैं। धनको ही सर्वस्व माननेवाले भौतिकवादीके लिये हानि-लाभ, जय-पराजयको समान समझना कहाँतक सम्भव है। किसी दाम्भिकके दम्भके भण्डाफोड़ होनेसे किसी युक्ति-शास्त्रसम्मत सिद्धान्तका अपलाप नहीं किया जा सकता।

एंजिल्सकी 'डायलेक्टस आफ नेचर' पुस्तककी बातें भी पुरानी पड़ गयी हैं। वस्तुतः वैज्ञानिकोंने ही प्रचलित जडवाद एवं विकासवादकी युक्तियोंका खण्डन करके एक अलौकिक शक्तिका महत्त्व सिद्ध किया है, जिसे हम विकासवादके खण्डन-के प्रसङ्गमें विस्तारसे दिखला चुके हैं।

त्रयोदश परिच्छेद

उपसंहार

भारतीय राजनीतिक दर्शन

पाश्चात्त्य देशोंमें दर्शन एवं शास्त्र शब्द बड़ा ही सस्ता बन गया है। किसी भी विचारको, जैसे गर्भशास्त्र, प्राणिशास्त्र, मार्क्सदर्शन आदिकी वे शास्त्र संज्ञा देते हैं। किंतु विश्वविख्यात भारतीय विद्वानोंने तो शास्त्र शब्दका प्रयोग मुख्य रूपसे अनादि अपौरुषेय वेदमें ही किया है। उन्हींमें प्रत्यक्षानुमानसे अनधिगत धर्म, ब्रह्मादि तत्त्वबोधन क्षमता है—'प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते। एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥', 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्र० सू० १। १। ३) में शास्त्र शब्दका ऋग्वेदादि अर्थ ही उक्त है। जैसे रूप आदिके सम्बन्धमें चक्षु आदि स्वतन्त्र प्रमाण हैं, वैसे ही धर्म, ब्रह्म आदि अतीन्द्रिय-अचिन्त्य विषयोंमें स्वतन्त्ररूपसे अपौरुषेय वेद ही प्रमाण हैं। अन्य तदाश्रित तदुपबृंहित आर्ष धर्मग्रन्थोंमें तो प्रत्यक्षानुमानागमादि-मूलकत्वेनैव प्रामाण्य है। अतएव शास्त्रत्व भी वेद-मूलक होनेसे ही उनमें सिद्ध होता है। प्रमाण, प्रमेय, साधन फलका प्रामाणिक निर्देश दर्शनका स्वरूप होता है। औत्सुक्यनिवृत्ति-जिज्ञासोपशान्तिमात्र पाश्चात्त्य दर्शनोंका उद्देश्य है। तद्भिन्नपरस्पराविरोधेन धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी प्राप्ति एवं अव्यभिचरित तत्साधनोंका सम्यक् ज्ञान भारतीय दर्शनोंका उद्देश्य है।

आजकलके कुछ समालोचकोंका कहना है कि 'पाश्चात्त्य देशोंके राजनीतिक दर्शन हैं, किंतु भारतमें कोई राजनीतिक दर्शन नहीं है। कारण, 'पाश्चात्त्य देशोंके विद्वान् राजनीतिक एवं दार्शनिक दोनों ही थे; किंतु भारतके राजनीतिज्ञ दार्शनिक नहीं थे।' परंतु उनका यह कहना सर्वथा निराधार है। सबसे पहली बात तो यह है कि सर्वदर्शनोंका शिरोमणि वेदान्त है। वेदोंमें वेदान्त भी है, राजनीति भी है। मनु, याज्ञवल्क्यादि धर्मशास्त्रोंमें दर्शन भी है, राजनीति भी है। व्यास सबसे बड़े दार्शनिक और सबसे बड़े राजनीतिज्ञ हैं। वेदान्तदर्शनके रचयिता व्यास ही महाभारतके रचयिता हैं। महाभारतका मोक्षधर्म, गीताका दर्शन और शान्तिपर्वका राजधर्म पढ़ें तो उक्त मत सर्वथा निर्मूल सिद्ध हो जायगा। बृहस्पति, कणिक, कौटल्य, कामन्दक आदि सभी राजनीतिक दार्शनिक थे। योगवासिष्ठके वशिष्ठ महादार्शनिक एवं महाराजनीतिज्ञ थे। सूर्यवंशकी राजनीतिके वे ही कर्णधार थे। वस्तुस्थिति यह है कि पदवाक्यप्रमाणपारावारीण विद्वान् शब्द-शुद्धि आदिका कार्य पाणिन्यादि व्याकरणसे चलाते हैं, वाक्यार्थ निर्णयके लिये पूर्वोत्तर-मीमांसाका उपयोग करते हैं, अनुमान आदिके सम्बन्धमें न्याय-वैशेषिकका उपयोग करते हैं तथा वे ही तत्त्व-संख्यान, चित्त-निरोध आदिमें सांख्य एवं योगका उपयोग कर लेते हैं। वे अगतार्थ अपूर्व वस्तुका ही प्रतिपादन करते हैं। पाश्चात्त्य लोग गतार्थ वस्तुओंका भी निरूपण करके स्वतन्त्र दार्शनिक बननेकी चेष्टा करते हैं।

राजनीतिक शास्त्र या दर्शनका कार्य राजाओं, शासकों एवं तत्पालित भूखण्ड या अखण्ड भूमण्डल या प्रपञ्चमण्डलके प्राणियोंके लिये ऐहिक आमुष्मिक अभ्युदय एवं परम निःश्रेयस-प्राप्तिका प्रशस्त मार्ग और अनुष्ठान-सुविधा-प्रत्युपस्थापन करना है। तत्प्रबोधक अपौरुषेय वेद एवं तन्मूलक आर्षग्रन्थ-मनु, नारद, शुक्र, बृहस्पति, अग्नि-मत्स्य-विष्णुधर्मादि पुराण, रामायण, महाभारत आदि राजनीतिक शास्त्र या दर्शन हैं। इस शास्त्रके अभिमत प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि–ये छः प्रमाण हैं। मूलरूपमें सत्य-अनृत, चेतन-अचेतन दो ही तत्त्व हैं। चेतनमें भी ब्रह्म, ईश्वर, जीव—तीन भेद हैं। अचेतनमें प्रकृति, महान्, अहंकार आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी; श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण— पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ—पञ्च कर्मेन्द्रियाँ; प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान—पञ्चप्राण; मनोबुद्धिचित्ताद्यात्मक अन्तःकरण— ये २४ भेद हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष —चतुर्वर्ग-प्राप्ति फल है। आचार्यपरम्परासे पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र तथा षडङ्ग वेदों एवं अन्य आर्षग्रन्थोंके आधारसे कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञानपूर्वक कर्तव्यपालन, अकर्तव्य-परिवर्जनसे धर्मकी प्राप्ति होती है। धर्माविरुद्ध अर्थशास्त्रोक्त उद्योगपरायण होनेसे अर्थकी प्राप्ति होती है, धर्मार्थाविरुद्ध कामशास्त्रोक्त मार्गसे शब्दादि साधनसामग्रीद्वारा काम-प्राप्ति होती है। औपनिषद परब्रह्मके तत्त्वविज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

आन्वीक्षिकी, न्यायोपबृंहित वेदान्तविद्या—ब्रह्मविद्या, त्रयी वेदोक्त धर्मविद्या, वार्त्ता, अर्थविद्या आदि सर्वपुरुषार्थोपयोगिनी विद्याओंका रक्षण एकमात्र राजनीतिसे ही सम्भव होता है। उसके बिना सभी विद्याएँ नष्ट हो जाती हैं। राजनीतिकी स्वरूपभूता दण्डनीतिके विप्लुत होनेसे सभी विद्याएँ विप्लुत हो जाती हैं। 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता सतीर्विद्याः प्रचक्षते। सत्योऽपि हि न सत्यस्ता दण्डनीतेस्तु विभ्रमे।' (काम० नी० २।८) 'मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्।' (महा० शा० ६३।२८)

आर्यमर्यादाकी रक्षा, वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा त्रयीके प्रोत्साहनसे लोक-प्रसाद होता है अन्यथा लोकावसाद होता है। व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः। त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥ (कौटलीय अर्थ० १।३।१७) देहेन्द्रिय मनबुद्धि आदिसे भिन्न परलोकगामी कर्त्ता भोक्ता, आत्मा तथा परलोकमें विश्वासके अनन्तर ही धर्ममें प्रवृत्ति होती है कर्तृत्व-भोक्तृत्वशून्य, अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, ब्रह्मात्मविज्ञानसे परम कैवल्यमोक्ष तथा जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है तथा निस्संदेह एवं निर्भय होकर समष्टि विश्वहितसाधनार्थ राजनीतिक संधि-विग्रहादिमें सफल प्रवृत्ति हो सकती है। इसीलिये गीतामें 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' आदिसे नित्य, शुद्ध, बुद्ध, आत्मस्वरूपका वर्णन है और राजर्षियोंको इस ब्रह्मविद्याका वेत्ता-वेदयिता बतलाया गया है।

विश्व, विराट्, तैजस, हिरण्यगर्भ, प्राज्ञ, ईश्वर, कूटस्थ, ब्रह्मरूप व्यष्टि-समष्टिके अभेद-बोधसे ही आत्महित एवं विश्वहितमें एकता होती है। व्यष्टि-

अभिमानरूप संकीर्णताको बाधित करने तथा समष्टि-अभिमान उपोद्बलित होनेसे ही 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का भाव उदित होता है। आत्मीयताके अभिमानके परिपाकसे आत्मत्वाभिमान या समष्टिमें अहंग्रहोपासना सम्पन्न होती है। व्यष्टि-समष्टि, स्थूल-सूक्ष्म कारणकी अभेदभावना उपासना-कोटिमें परिगणित है। कूटस्थ ब्रह्मकी अभेदभावना तत्त्वसाक्षात्कार-पर्य्यवसायिनी ही होती है। व्यवहारदशामें भी इन भावनाओंके फलस्वरूप कुल, गोत्र, जाति, ग्राम, नगर, राष्ट्र, विश्व आदि समष्टि जगत्के सम्बन्धमें आत्मीय हित तथा आत्महितके समान ही हिताचरण एवं अहितनिवारणार्थ निरासङ्ग प्रवृत्ति होती है।

शास्त्रीय शासनविधान

सभी प्राणी अमृतस्वरूप परमेश्वरके ही पुत्र हैं—'अमृतस्य पुत्राः' (श्वेता० उ० २ । ५) अर्थात् सभी देहादिभिन्न चेतन, अमल, सहज, सुखस्वरूप जीवात्मा स्वप्रकाश सच्चिदानन्द परमेश्वरके ही अंश हैं। जैसे महाकाशके अंश घटाकाश, अग्निके विस्फुलिङ्ग, गङ्गाजलके तरङ्ग आदि अंश हैं, वैसे ही अखण्डबोधस्वरूप परमेश्वरका बोधस्वरूप जीवात्मा अंश है। अतः सबकी सहज समानता, स्वतन्त्रता, भ्रातृता ही माननीय है। जैसे मलिन भूमिके सम्पर्कसे निर्मल जल मलिन हो जाता है, कतक, निर्मली आदि औषधके सम्पर्कसे पुनः शुद्ध हो जाता है, वैसे ही अविद्याश्रयकर्मके सम्पर्कसे जीवात्मा मलिन होता है तथा कर्मोपासना, ज्ञान आदिसे पुनः प्रसन्न-निर्मल-निष्कलङ्क हो जाता है। भ्रातृता, आत्मीयता तथा आत्मैक्यताके कारण सर्वजनहिताय-सर्वजनसुखाय राजनीति आवश्यक है।

न वै राज्यं न राजासीन्न दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ (म० शां० ५९)

कृतयुगमें सभी तत्त्ववित्, धर्मनिष्ठ, विवेकी तथा सात्त्विक होते हैं। सब एक दूसरेके पोषक, रक्षक, हितचिन्तक होते हैं। कोई किसीका शोषक नहीं होता। सब धर्मनियन्त्रित होकर परस्पर एक दूसरेके पूरक बनते हैं। तामस, राजस-भावकी वृद्धि, अधर्म-अनाचारके विस्तारसे सत्त्व एवं धर्मका ह्रास होता है। अतः मोहके प्रभावसे ब्रह्मात्मविज्ञान संकुचित होता है, काम-क्रोधका विस्तार होता है, तभी मात्स्यन्याय फैलता है। उस मात्स्यन्यायको रोककर सर्वसामञ्जस्य सर्वहित-सम्पादनार्थ राज्य-व्यवस्था होती है। अहिंसा, सत्यादि धर्मका प्रतिष्ठापन, ब्रह्मविज्ञान-विस्तार और दण्डविधान—ये ही मात्स्यन्याय निरोधके मूल उपाय हैं, यह कहा जा चुका है। चाणक्यके अनुसार 'सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः, अर्थस्य मूलं राज्यम्, राज्यमूलमिन्द्रियजयः, इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः, विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा' (चाणक्य-सूत्र १—६)। सातिशय, निरतिशय—सर्वविधसुखका मूल धर्म है, परंतु धर्मका मूल अर्थ है। अर्थ रहनेपर ही धर्मानुष्ठान सम्भव होता है। अर्थका मूल राज्य है, राज्यका मूल इन्द्रियजय है, इन्द्रियजयका मूल विनय है, विनयका मूल वृद्धसेवा

है। वृद्धोंकी सेवाका भी मूल विज्ञान है; इसलिये विज्ञानसम्पन्न होकर, जितात्मा होकर सर्वसुखार्थ प्रवृत्त होना आवश्यक है।

मनुके अनुसार—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥
ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्।
महाभूतानि वृत्तौजाः प्रादुरासीत् तमोनुदः॥

(मनु० १।५-६)

सम्पूर्ण जगत् सृष्टिके प्रथम नाम-रूपरहित, कल्पनातीत, अलक्षण, सर्वतःप्रसुप्त, तमोमय अर्थात् अनिर्वचनीय अज्ञान-विशिष्ट चिन्मात्र था। सर्वकारण परब्रह्म परमेश्वर स्वयम्भू भगवान् ही तमको अभिभूत करके इस अव्यक्त जगत्को व्यक्त करते हुए प्रादुर्भूत होते हैं। जैसे वसंत, ग्रीष्म आदि ऋतुओंके बदलनेपर ऋतुलिङ्ग प्रकट होते हैं, उसी तरह प्राणी समयानुसार अपने-अपने कर्मोंको प्राप्त होते हैं। कर्मानुसार ही चराचर विश्वका उत्पादन भगवान् करते हैं—'यथाकर्म तपोयोगात् सृष्टं स्थावरजङ्गमम्' (मनु० १।४१)। कर्मानुसार ही विविध योनियोंमें प्राणियोंके जन्म होते हैं। कर्ममूलक सृष्टिका विस्तार वर्णाश्रम-व्यवस्थाका प्रतिपादन करके मनु कहते हैं कि संसारमें अराजकता होनेपर सारी प्रजा घबड़ाकर भयसे इधर-उधर भागने लगी, तब उसकी (प्रजाकी) रक्षाके लिये प्रजापतिने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर—इन आठ लोकपालोंके अंशसे राजाका निर्माण किया—

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत् प्रभुः॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥

(मनु० ७।३-४)

देवताओंके अंशसे उत्पन्न होनेके कारण ही राजा अपने तेजसे सब प्राणियोंको दबा लेता है। राजा बालक हो तो भी मनुष्य समझकर उसका अपमान नहीं करना चाहिये। उस राजाके लिये भगवान्ने सब प्राणियोंकी रक्षा करनेवाले धर्मस्वरूप ब्रह्मतेजोमय दण्डका निर्माण किया। उस दण्डके भयसे ही स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी अपने पदार्थोंका उचित उपभोग कर पाते हैं तथा अपने कर्त्तव्यसे विचलित भी नहीं होते—

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद् भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च॥

(मनु० ७।१५)

दण्ड ही राजा, पुरुष, नेता, शासक और चारों आश्रमोंके धर्मका साक्षी है—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥

(मनु० ७।१७)

दण्ड ही सब प्रजाका शासक एवं रक्षक है। सबके सोनेपर दण्ड ही जागता है। विद्वानोंने दण्डको ही धर्म कहा है। विचारपूर्वक प्रयुक्त हुआ दण्ड प्रजाका अनुरञ्जन करनेवाला और अविचारित दण्ड प्रजाका विनाशक होता है। यदि राजा आलस्य छोड़कर दण्डका विधान न करे तो बलवान् प्राणी दुर्बलोंको वैसे-ही पकाकर खा जायँ, जैसे लोग मछलियोंको भूनकर खा जाते हैं। कौवा पुरोडाश खाने लग जाय, कुत्ता हवि चाटने लग जाय—किसी पदार्थपर किसीका स्वत्व न रहे और छोटे-बड़े तथा बड़े-छोटे हो जायँ। सभी वर्ण दूषित हो जायँ, मर्यादाएँ भङ्ग हो जायँ और सारे संसारमें उथल-पुथल मच जाय—

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥
समीक्ष्य स धृतः सम्यक् सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥
यदि न प्रणयेद् राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन् दुर्बलान् बलवत्तराः॥
अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वा च लिह्याद् हविस्तथा।
स्वाम्यं च न स्यात् कस्मिंश्चित् प्रवर्तेताधरोत्तरम्॥
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन् सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद् दण्डस्य विभ्रमात्॥

(मनु ७। १८–२१; २४)

राजा दण्डका ठीक-ठीक विधान करनेवाला, सत्यवादी, विचारपूर्वक काम करनेवाला, बुद्धिमान् धर्म, अर्थ, और कामका ज्ञाता होना चाहिये, ऐसा मनु आदि धर्मशास्त्रकारोंका मत है—

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥

(मनु० ७। २६)

दण्ड बड़ा तेजस्वी है। अजितेन्द्रिय लोग ठीक-ठीक उसका विधान नहीं कर सकते। वह धर्मविचलित राजाको बन्धु-बान्धवोंसहित नष्ट कर देता है। तथा दुर्ग, राज्य, स्थावर-जङ्गम जगत्, आकाशचारी देवगण और ऋषिगणको भी पीड़ित करता है। राजा या शासकको न्यायपूर्वक अपने राज्यकी प्रजाका पालन करना चाहिये। शत्रुओंको उग्र दण्ड देना चाहिये। मित्रोंके साथ छल-कपटका व्यवहार नहीं करना चाहिये। प्रेमीजनों और सज्जनोंके साथ सहिष्णुता रखनी चाहिये। ऐसा व्यवहार करनेवाला राजा भले ही कोषरहित हो, उसका यश ऐसा फैलता है, जैसे जलपर तैल-विन्दु। राजाको चाहिये कि वह पवित्र विद्वान्, ब्राह्मण एवं वृद्धोंकी नित्य सेवा करे। ऐसा करनेसे राक्षस भी राजाका

सम्मान करते हैं तथा विनय (जितेन्द्रियता, नम्रता) भी प्राप्त होती है। अविनय (उद्दण्डता) से सुसमृद्ध राजा भी सपरिवार नष्ट हो जाते हैं और विनयसे जंगलमें रहनेवाले कोषविहीन राजा भी राज्य पा लेते हैं। शिकार, द्यूत, दिवास्वप्न, निन्दा, स्त्री, मद (नशा), नृत्य, गीत, वादित्र और व्यर्थ घूमना (हवाखोरी), इन दश कामज व्यसनों तथा चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया (गुणोंमें भी दोषदृष्टि), दूसरेका धन छीन लेना, गाली-गलौज और मार-पीट— इन आठ क्रोधज व्यसनोंसे तथा इन दोनोंके मूल लोभसे राजाको अत्यन्त बचना चाहिये। कामज व्यसनमें मदिरापान, द्यूत, स्त्री और मृगया—ये चार तथा क्रोधज व्यसनमें गाली-गलौज, मारपीट और दूसरेका धन छीन लेना ये तीन बहुत ही भयंकर हैं। इनसे तो सर्वथा बचना चाहिये।

अत्यन्त सुकर कर्म भी एक असहाय पुरुषद्वारा दुष्कर होता है। अतः राजाको शास्त्रज्ञानी शूर, लब्धप्रतिष्ठ, कुलीन, सुपरीक्षित सात या आठ मन्त्री रखने चाहिये। संधि, विग्रह, सेना, खजाना, खेती, खान, रक्षा (बन्दोबस्त) आदिके विषयमें पृथक्-पृथक् प्रत्येककी राय जानकर विद्वान् ब्राह्मणके साथ विचारकर निर्णय करना चाहिये। राज्यका काम जितने लोगोंसे अच्छी तरहसे चल सके उतने लोगोंको परीक्षा करके उपमन्त्री बनाना चाहिये। खान, चुंगी और कर वसूल करनेके लिये शूर पवित्र निर्लोभ लोगोंको और पापभीरु लोगोंको घर आदिके प्रबन्ध-सम्बन्धी काममें लगाना चाहिये। इसी तरह सर्वशास्त्र-विशारद इङ्गित आकार और चेष्टा जाननेवाला पवित्र कुशल कुलीनको दूत बनाना चाहिये। दूत-अनुरक्त, पवित्र, चतुर, स्मृतिशाली, प्रतिभासम्पन्न, देश-काल—परिस्थितिका ज्ञाता, सुन्दर, निर्भीक और वाग्मी होना चाहिये।

सेनापतिके अधीन चतुरङ्गिणी सेना, सेनाके अधीन युद्ध तथा विनय सिखाना, राजाके अधीन खजाना और राज्य तथा दूतके अधीन संधि-विग्रह होते हैं। दो राजाओंमें मेल कराना या मिले हुए राजाओंको परस्पर लड़ा देना, यह दूतका काम है। कृषक जैसे खेतमेंसे घासको निकालकर धान्यकी रक्षा करता है, उसी तरह राजा दुष्टोंका निग्रहकर प्रजाकी रक्षा करे। जैसे शरीरको कष्ट देनेसे प्राणोंका क्षय होता है, उसी तरह राष्ट्रको पीड़ा पहुँचानेसे राजाके प्राणोंका क्षय होता है। जो राजा अज्ञानवश राष्ट्रको पीड़ा पहुँचाता है, वह अपने बन्धु-बान्धवोंसमेत जीवनसे भ्रष्ट हो जाता है।

राजाको लगानवसूली, नौकरोंका मासिक वेतन, मन्त्री आदिको बाहर भेजना, किसीको हानिकर काम करनेसे रोकना, किसी कामको कराना, मुकदमोंका निर्णय, अपराधियोंको दण्ड, पापियोंका प्रायश्चित्त, पाँच प्रकारके गुप्तचर,

प्रजाका प्रेम या असंतोष और अन्य राजाओंके व्यवहार, इन बातोंपर भलीभाँति विचार करना चाहिये। मध्यम (अपने और शत्रुदेशके बीचका राजा) का व्यवहार, विजिगीषु (अपनेको जीतनेके लिये आनेवाले राजा) का कर्म तथा उदासीन और शत्रुकी कार्यवाहियोंपर पूरी दृष्टि रखनी चाहिये।

द्वादश राजन्य-मण्डलकी चार मूल-प्रकृतियाँ हैं—(१) मध्यस्थ, (२) विजिगीषु, (३) उदासीन और (४) शत्रु। अर्थात् इनके वशमें रहनेसे सभी राष्ट्र वशमें रहते हैं। आठ और प्रकृतियाँ हैं—मित्र, शत्रु-मित्र, मित्र-मित्र, अरि-मित्र, आक्रन्द, पार्ष्णिग्राह, आक्रन्दासार और पार्ष्णिग्राहासार। इन प्रत्येककी मन्त्री, राष्ट्र (प्रजा), दुर्ग, खजाना और शासन-विभाग—ये पाँच-पाँच प्रकृतियाँ होती हैं, इस तरह ६० प्रकृतियाँ हुईं। और मूल १२ मिलकर सब ७२ हो गयीं। अपनी चारों ओरकी सीमाके राजा तथा उनके मित्रोंको शत्रु समझना चाहिये। उनसे आगेके राजाओंको अपना मित्र और उनसे भी आगेके राजाओंको उदासीन समझना चाहिये। इन सबको साम, दान, भेद और दण्ड—इन प्रत्येक उपायोंसे अथवा सभी उपायोंसे सबको अथवा अधिक-से-अधिक जितने बने रह सकें, उनको मित्र बनाये रखना चाहिये। यद्यपि आज परिस्थिति बदली हुई है, तथापि रूपान्तरसे यह शत्रु-मित्रकी व्यवस्था आज भी अक्षुण्ण ही है।

संधि, विग्रह (लड़ाई), यान (चढ़ाई), आसन (किलेके अंदर ही बंद रहना), द्वैधीभाव (भेद) और संश्रय (किसी बलवान्‌का आश्रय)—इन छः गुणोंका बराबर विचार करना चाहिये। एक साथ काम करनेसे भूतमें हुए या भविष्यमें होनेवाले हानि-लाभको बाँट लेनेकी प्रतिज्ञा करना तथा पृथक्-पृथक् काम करनेसे भूतमें हुए या भविष्यमें होनेवाले हानि-लाभको बाँट लेनेकी प्रतिज्ञा करना—ये संधिके दो भेद हैं। शुद्ध संधिमूलक ही शान्ति होती है। आस्तिकता तथा धर्म-प्रधानताके बिना संधियाँ अनेक हेतुओंसे अव्यवस्थित रहती हैं, इसीलिये शान्ति भी अव्यवस्थित रहती है। अतः धर्मनिष्ठा तथा आस्तिकता ही शुद्ध संधि एवं स्थिर शान्तिका मूल मन्त्र है।

अपनी विजयके लिये लड़ना और मित्रकी हानिके निमित्त मित्रके शत्रुसे लड़ना—ये विग्रहके दो भेद हैं। आपद्ग्रस्तशत्रुको देखकर उसपर अकेले चढ़ाई करना अथवा मित्रकी सहायतासे चढ़ाई करना—ये यानके दो भेद हैं। सैन्य-बल कमजोर देखकर किलामें रह जाना अथवा मित्रके अनुरोधसे किलामें रह जाना—ये आसनके दो भेद हैं। सेनामें फूट डाल देना अथवा दो मित्र राजाओंमें फूट डाल देना—ये भेदनीतिके दो प्रभेद हैं। शत्रुसे पीड़ित होकर किसी बलवान्‌का आश्रय लेना अथवा शत्रु पीड़ा न पहुँचाये इसलिये किसी बलवान्‌का आश्रय लेना—यह दो प्रकारका संश्रय है।

संधि करनेसे भले ही थोड़ी तात्कालिक पीड़ा हो, किंतु भविष्यमें लाभ हो तो संधि अवश्य कर लेनी चाहिये। जब सारी प्रकृति संतुष्ट हो और कोष तथा युद्धके साधन पर्याप्त हों, तब युद्ध करना चाहिये। जब अपनी सेना हृष्ट-पुष्ट-संतुष्ट हो और शत्रुसेना दुर्बल तथा असंतुष्ट हो, तब भी युद्ध करना चाहिये। जब सेना, वाहन और कोष क्षीण हों तो शत्रुसे समझौताकी बातचीत करते हुए अपने दुर्गमें ही रहना चाहिये। जब राजा देखे कि शत्रु बलवान् है, तब अपनी सेनाका दो विभागकर एक विभाग लड़ाईपर भेजे और एक विभागको शत्रुकी सेनामें भेजकर शत्रु-सेनाके लोगोंको अपनी ओर मिला लेना चाहिये। यदि राजा देखे कि शत्रु अब हमें जीत लेगा, तो झट किसी ऐसे बलवान् धर्मात्मा राजाका आश्रय ले ले जो अपनी दुष्ट प्रजा और शत्रुको भी दण्ड दे सकता हो तथा गुरुके समान प्रत्येक प्रकारसे उसकी सेवा करनी चाहिये। यदि उसका आश्रय लेनेपर भी कोई लाभ न हो, अपितु हानि होनेकी ही सम्भावना हो, तो बेखटके युद्ध ही करना चाहिये। गुण-दोष विचारकर भविष्यका निर्णय करनेवाले, वर्तमान-निर्णयमें विलम्ब न करनेवाले तथा भूतकालिक शेष कार्यको शीघ्र पूर्ण करनेवाले राजाको शत्रु-मित्र या उदासीन अभिभूत नहीं कर सकते।

मनुने राजाका यद्यपि बहुत महत्त्व माना है, फिर भी उसे निरङ्कुश नहीं बतलाया। सर्वप्रथम राजापर ही धर्मका नियन्त्रण आवश्यक है। राजाके हाथमें जो दण्ड होता है, वह दूसरोंपर ही नियन्त्रण नहीं करता वरन् धर्मविरुद्ध राजाको भी नष्ट कर डालता है, यह पीछे कहा जा चुका है। शुक्रके अनुसार भी राजाके लिये अमात्योंकी अत्यन्त आवश्यकता कही गयी है। जो राजा मन्त्रियोंके मुखसे हिताहितकी बात नहीं सुनता, वह राजाके रूपमें प्रजाका धनहरण करनेवाला डाकू होता है—

हिताहितं न शृणुते राजा मन्त्रिमुखाच्च यः।
स दस्यू राजरूपेण प्रजानां धनहारकः॥ (शुक्रनीति २।२४८)

शुक्रके अनुसार राजाको राज्यका कार्य चलानेके लिये पुरोधा, प्रतिनिधि, प्रधान, सचिव, मन्त्री, प्रतिनिधि, पण्डित, सुमन्त्र, अमात्य, दूत—इन दस प्रकृतियोंका संग्रह आवश्यक है। इनकी योग्यता एवं कार्योंका विस्तृत वर्णन शुक्रनीतिमें है। किसी भी शासन-लेखपर मन्त्री आदिकी स्वीकृति होनी चाहिये। उसपर मन्त्री, प्राड्विवाक, पण्डित और दूतको यह लिखना चाहिये कि यह हमारी सम्मतिसे लिखा गया है, अमात्यको लिखना चाहिये कि यह ठीक लिखा गया है, सुमन्त्रको लिखना चाहिये कि इसपर पूर्ण विचार कर लिया गया है, प्रधानको लिखना चाहिये कि यह यथार्थ सत्य है, प्रतिनिधिको लिखना चाहिये कि यह अङ्गीकार करने योग्य है, युवराज लिखे कि यह स्वीकृत किया जाय, तब पुरोहित अपना मत लिखे कि यह मुझे सम्मत है। सबके अन्तमें राजा लिखे कि यह स्वीकृत हुआ। अपने लेखके अन्तमें सबकी मुहर लगनी चाहिये—

मन्त्री च प्राड्विवाकश्च पण्डितो दूतसंज्ञकः ।
स्वाविरुद्धं लेख्यमिदं लिखेयुः प्रथमं त्विमे ॥
अमात्यः साधु लिखितमस्त्येतद् प्राग् लिखेदयम् ।
सम्यग् विचारितमिति सुमन्त्रो विलिखेत्ततः ॥
सत्यं यथार्थमिति च प्रधानश्च लिखेत् स्वयम् ।
अङ्गीकर्तुं योग्यमिति ततः प्रतिनिधिर्लिखेत् ॥
अङ्गीकर्तव्यमिति च युवराजो लिखेत् स्वयम् ।
लेख्यं स्वाभिमतं चैतद् विलिखेच्च पुरोहितः ।
स्वस्वमुद्राचिह्नितं च लेख्यान्ते कुर्युरेव हि ॥

(शुक्रनीति २ । ३५५—३५९)

मन्त्रिमण्डलके लेखबद्ध युक्तिसहित पृथक् मतोंको लेकर विचार करना चाहिये । फिर जो बहुमत हो उसे स्वीकार करना चाहिये—

पृथक्पृथङ् मतं तेषां लेखयित्वा ससाधनम् ।
विमृशेत् स्वमतेनैव कुर्याद् यद् बहुसम्मतम् ॥

जो राजा प्रकृतिकी बात नहीं सुनता, वह अन्यायी है । जो प्रजाका रक्षक बनकर भी रक्षा नहीं करता, उस राजाको पागल कुत्तेके समान मार देना चाहिये—

अहं वो रक्षितेत्युक्त्वा यो न रक्षति भूमिपः ।
स संहत्य निहन्तव्यः श्वेव सोन्माद आतुरः ॥ (शुक्रनीति)

इस तरह भारतीय राजनीतिशास्त्रानुसारी शासक उच्छृङ्खल नहीं होता था ।

आजके लोकतन्त्र-शासनका आधार मुण्ड-गणना है । इसके अनुसार योग्य शासकोंका संग्रह कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव भी हो जाता है । बहुमत जिसे प्राप्त हो, उसीके हाथमें शासनसूत्र आ जाता है । विधान-सभा एवं लोकसभाका काम है विधान या कानूनका निर्माण करना । पर स्थिति यह है कि भारतमें सैकड़ों नहीं हजारों विधानसभायी मेम्बर इस प्रकारके हैं जो कानूनसे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं । उनका अपना मुकदमा होता है तो वे रुपया खर्चकर अन्य वकीलोंका सहारा लेते हैं; परंतु वे ही राष्ट्रके लिये कानून बनाते हैं ।

साधारण तौरपर भारतीय राजनीतिशास्त्र वेदों एवं मन्वादि धर्मशास्त्रोंको ही राष्ट्रका संविधान एवं कानून मानते हैं । उनकी दृष्टिमें शास्त्रज्ञ एवं सदाचारी धर्मनिष्ठ विद्वानोंकी परिषद् विधान-निर्णेत्री है, विधान-निर्मात्री नहीं । शासन-परिषद्की सहायतासे राजा शास्त्रानुसारी विधानद्वारा शासन करता है । राजा या शासक, वह चाहे जन-प्रतिनिधि हो या कुल-परम्परागत राजा, उसका परम कर्तव्य है कि वह पहले अपने-आपको शास्त्र एवं आचार्योंकी शुश्रूषाद्वारा विनयसे युक्त बनाये । पुनः अपने पुत्रों, मन्त्रियोंको विनययुक्त बनाये, पश्चात् भृत्यों एवं प्रजाको विनययुक्त बनाये—

आत्मानं प्रथमं राजा विनयेनोपपादयेत्।
ततः पुत्रांस्ततोऽमात्यान् ततो भृत्यान् ततः प्रजाः॥

(शुक्रनी० १। ९२)

राजाको व्यसनमुक्त होना चाहिये। कठोर भाषण, उग्र दण्ड, अर्थ-दूषण, सुरापान, स्त्री, मृगया और द्यूत—ये राजाके लिये भीषण व्यसन हैं। पीछे अष्टादश व्यसनोंकी चर्चा आयी ही है—

वाग्दण्डयोश्च पारुष्यमर्थदूषणमेव च।
पानं स्त्री मृगया द्यूतं व्यसनानि महीपतेः॥

(कामन्दकीयनीतिसार १४। ६)

मन्त्रीके लिये भी ये सब दूषण हैं। आलस्य, स्तब्धता, घमण्ड, प्रमाद, वैरकारिता आदि ये और भी मन्त्रीके व्यसन हैं। दक्षता, शीघ्रता, अमर्ष, शौर्य एवं उत्साह आदि गुणोंसे युक्त ही राजा होना चाहिये—

दाक्ष्यं शैघ्र्यं तथामर्षः शौर्यं चोत्साहलक्षणम्।
गुणैरेतैरुपेतः सन् राजा भवितुमर्हति॥

(कामन्दकीयनीति० ४। २३)

मन्त्रियोंके उपयोगी और भी बहुत-से गुण कहे गये हैं। जिनके बिना शासन करनेकी योग्यता ही नहीं हो सकती है।

स्वावग्रहो जानपदः कुलशीलबलान्वितः।
वाग्मी प्रगल्भश्चक्षुष्मानुत्साही प्रतिपत्तिमान्॥
स्तम्भचापलहीनश्च मैत्रः क्लेशसहः शुचिः।
सत्यसत्त्वधृतिस्थैर्यप्रभावारोग्यसंयुतः॥
कृतशिल्पश्च दक्षश्च प्रज्ञावान् धारणान्वितः।
दृढभक्तिरकर्ता च वैराणां सचिवो भवेत्॥
स्मृतिस्तत्परतार्थेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः।
दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिसम्पत्प्रकीर्तिता॥

(कामन्दकीयनीति० ४। २८—३१)

आत्मनियन्त्रित, स्वदेशस्थ, कुलीन, शीलवान्, बलवान्, वाग्मी, निर्भीक, शास्त्रज्ञ, उत्साही, प्रत्युत्पन्नमति, निरभिमान, अचञ्चल, मैत्रीवर्धक, सहिष्णु, पवित्र, धैर्य-स्थैर्य-सत्य एवं सत्त्वसे युक्त, प्रतापी, नीरोग, शिल्पज्ञ, दक्ष, बुद्धिमान्, धारणावान्, स्वामिभक्त तथा उससे कभी वैर-विद्वेष न करनेवाला सचिव होता है। स्मृतिमान, पुरुषार्थ-तत्पर, विचारशील, निश्चित ज्ञानवाला, दृढ़ता, मन्त्रगुप्ति, क्षमता आदि गुणोंसे युक्त मन्त्री हो। मन्त्रियोंकी योग्यता राजाको स्वयं प्रत्यक्ष देखकर, परोक्ष (परोपदेश)से तथा अनुमानसे (कार्य देखकर यह जान लेना कि कितना कार्य नहीं किया) जाननी चाहिये—

'प्रत्यक्षपरोक्षानुमेया राजवृत्तिः । स्वयं दृष्टं प्रत्यक्षम् । परोपदिष्टं परोक्षम् । कर्मसु कृतेनाकृतावेक्षणमनुमेयम् ।' (कौ० अर्थ० १ । ९ । ११—१३)

वाद, जल्प, वितण्डा, रूप कथाके प्रसङ्गसे मन्त्रीकी प्रगल्भता, निर्भीकता, प्रतिभा एवं वाक्कुशलताको जाना जाता है। उसी प्रसङ्गसे सत्यवादिताका भी पता लग जाता है। अवैरकारिता, भद्रता, क्षुद्रताका ज्ञान भी प्रसङ्गवशात् प्रत्यक्षसे ही जाना जा सकता है। आपत्तिके समय उत्साह, प्रभाव तथा क्लेश, सहिष्णुता, धैर्य, अनुराग, स्थिरताका परिज्ञान होता है। भक्ति, मैत्री तथा स्थिरताका परिज्ञान व्यवहारसे करना चाहिये—

उत्साहं च प्रभावं च तथा क्लेशसहिष्णुताम् ।
धृतिं चैवानुरागं च स्थैर्यं चापदि लक्षयेत् ॥
भक्तिं मैत्रीं च शौचं च जानीयाद् व्यवहारतः ।

(कामं० नीतिसार ४ । ३७-३८)

मन्त्रीकी शास्त्रज्ञता एवं शिल्पज्ञता तत्-तद् विद्याओंके विद्वानोंसे जानना चाहिये। उसके स्वजनोंसे कुल, स्थान एवं संयमका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। कर्ममें प्रयुक्तकर दक्षता, विज्ञान एवं धारयिष्णुताकी परीक्षा होती है। सहवासियों, पड़ोसियोंसे उसके बल, सत्त्व (शक्ति), आरोग्य, शील, अस्तब्धता एवं अचापलका ज्ञान हो सकता है। दारुण कृच्छ्र उत्पन्न होनेपर उसकी कुलीनताका ज्ञान हो सकता है; क्योंकि दारुण अवसरपर ही स्वच्छहृदय कुलीन अपनी विशेषताको दिखलाता है—

साधुतैषाममात्यानां तद्विद्येभ्यस्तु बुद्धिमान् ।
चक्षुष्मत्तां च शिल्पं च परीक्षेत गुणद्वयम् ॥
स्वजनेभ्यो विजानीयात् कुलं स्थानमवग्रहम् ।
परिकर्मसु दाक्ष्यं च विज्ञानं धारयिष्णुताम् ॥
गुणत्रयं परीक्षेत प्रागल्भ्यं प्रतिभां तथा ।
संवासिभ्यो बलं सत्त्वमारोग्यं शीलमेव च ।
अस्तब्धतामचापल्यं वैरिणां चापि कर्तृताम् ॥
समुत्पन्नेषु कृच्छ्रेषु दारुणेष्वप्यसंशयम् ।
दर्शयत्यच्छहृदयः कुलीनश्चतुरस्तताम् ॥

(कामं० नी० ४ । ३४—३६; ३९; ६०)

आचार्य, संत, महात्मा और विद्वान् ही विद्याओंके प्रकाशक, प्रवर्तक तथा संचालक होते हैं। राजा भी विद्वानोंसे ही राजनीतिका विज्ञान प्राप्त करता है। इसीलिये स्वराज्यकी स्थापनामें मित्र-लाभादिसे भी प्रथम विद्या-चिन्तनका ही निर्देश किया गया है; क्योंकि सम्पूर्ण लोकस्थिति ही विद्यापर निर्भर होती है।

तत्रायं प्रथमोपायः यद् विद्यावृद्धैः सार्धं विद्याचिन्ता । विद्याप्रतिबद्धत्वाल्लोकस्थितेः ॥

(नीतिवाक्यामृत)

राजाको सक्रिय विद्वानोंके साथ बैठकर विनययुक्त होकर आन्वीक्षिकी, त्रयी वार्ता एवं दण्डनीतिका विचार करना चाहिये—

आन्वीक्षिकीं त्रयीं वार्तां दण्डनीतिं च पार्थिवः।
तद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेद् विनयान्वितः॥
(का० नी० २। १)

वात्स्यायनने भी भूमि, हिरण्य, पशु, धान्य, भाण्डोपस्कर मित्रादिके पहले विद्याके ही उपार्जन एवं वर्धनको अर्थ माना है—विद्याभूमिहिरण्यपशुधान्यभाण्डोपस्करमित्रादीनामर्जितस्य विदर्धनमर्थः। (वात्स्या० कामसूत्र १। २। ९)

मधुकरकी वृत्तिसे राजाका संगृहीत कोष भी अपने उपभोगार्थ न होकर प्रजाहितार्थ ही होना चाहिये। शास्त्रधर्मनियन्त्रित शासन ही रामराज्य है। इसमें प्रजाकी रुचि तथा सम्मतिका पूरा ध्यान रखा जाता है, तथापि शास्त्र एवं धर्मविरुद्ध बहुमतके आधारपर कोई अनर्थ नहीं किया जाता। फिर भी जहाँ अनेक जाति-उपजाति तथा सम्प्रदायके लोग बसते हों, वहाँ सबके धर्म, संस्कृतिकी रक्षा होनी चाहिये। किसीके देवस्थान, धर्मग्रन्थ, आचार्य एवं आचार-व्यवहारकी अवहेलना कदापि न होनी चाहिये। सभीके धर्मका निर्णय उन-उन सम्प्रदायोंके धर्मग्रन्थों तथा धर्माचार्योंपर ही छोड़ा जाना चाहिये। शासनका उसमें हस्तक्षेप न होना चाहिये। राष्ट्रके परमोपकारक गोवंशका सभी दृष्टिसे पालन होना चाहिये। उसका वध सर्वथा अवरुद्ध होना रामराज्यकी विशेषता है।

देशको सर्वथा अखण्ड रखना चाहिये। प्रान्तों या राज्योंको अपने घरेलू मामलोंमें स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। पर राष्ट्रहितके व्यापक कार्यमें सम्पूर्ण देशकी एक नीति रहनी चाहिये। राजा या राष्ट्रपति किंवा शासनपरिषद्के नीचे आठ विद्वानोंकी एक परिषद् होनी चाहिये। ये विद्वान् वेद, धर्मशास्त्र, राजनीति, समाजनीति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद आदि विद्याओं तथा विविध भाषाओं एवं देशविदेशकी नीतिके वेत्ता हों। यदि सभी सब विषयोंके ज्ञाता न भी हों तथापि पूरी परिषद् मिलकर उपर्युक्त विषयोंकी पूरी जानकारी अवश्य रखे। परिषद्के सदस्य अपनी सहायताके लिये पृथक्-पृथक् परामर्शसमिति भी रख सकते हैं। प्रजाकी सम्मति, रुचि तथा आन्तरिक स्थिति एवं शासनप्रणालीके सुपरिणाम, दुष्परिणाम जाननेके लिये एक लोकसभा होनी चाहिये। उसके सदस्य प्रजाप्रिय हों। उन्हें प्रजाकी सम्मतिसे उपर्युक्त अमात्य-परिषद् ही नियुक्त करेगी। मुण्डगणनाके आधारपर यह कार्य न होना चाहिये।

राजा, प्रजा, अमात्यमण्डल सभीमें ईश्वरपरायणता और धर्मनिष्ठा होनेसे शासनव्यवस्था ठीक चल सकेगी। वैसा न होनेसे छल, कपट तथा मिथ्या आचरणका ही बोलबाला रहेगा। धर्मनिष्ठाके बिना कानूनकी वञ्चना की

जाती है। परंतु यदि धर्मनिष्ठा है, तो अपराधी स्वयं अपराध व्यक्त करके शुद्धिके लिये दण्ड माँगता है। भारतमें आज भी गोहत्या आदि होनेपर अपराधी 'मिताक्षरासे' व्यवस्था माँगने स्वयं जाता है। वैसे तो सभीको धर्मात्मा तथा ईश्वरविश्वासी होना चाहिये। विशेषकर अमात्यमण्डल और उससे भी अधिक राजाको वैसा अवश्य होना चाहिये। गुणवान् पुरुष थोड़े होनेसे दुर्लभ होते हैं। अतः जहाँतक हो सके, अधिकार थोड़े ही लोगोंके हाथमें होने चाहिये। इसीलिये राजा और अमात्योंका हर समय बदलते रहना ठीक नहीं, यही राजतन्त्रका अभिप्राय है। युद्ध आदिके समय लोकतन्त्रमें भी एकहीके हाथमें अधिकार देने पड़ते हैं। अधिक लोगोंकी अपेक्षा थोड़े लोगोंको साधु-सज्जन बनानेमें सरलता होती है। यदि वंशपरम्पराका राजा हो, तो वह अपने ऊपर अधिक जिम्मेदारीका अनुभव करता है। अतः यथासम्भव वैसा ही राजा होना चाहिये। यदि वैसा न मिले, तो किसी योग्य व्यक्तिको राष्ट्रपति बनाना चाहिये। शीघ्र बदलते रहनेसे किसी योग्य व्यक्तिको भी अपनी नीति कार्यान्वित करनेका पूरा समय नहीं मिल पाता। इसके अतिरिक्त सामान्य व्यक्तिको थोड़े ही दिनोंमें स्वार्थसिद्धिकी चिन्ता लग जाती है, जिससे प्रजाके कल्याणमें बाधा पड़ती है। अतः यह आवश्यक है कि राजा या राष्ट्रपतिको जीवनपर्यन्त या दीर्घकालके लिये नियुक्त किया जाय। किंतु कर्तव्यच्युत होनेपर उसको हटाना आवश्यक है। राजाके स्थानकी पूर्ति उसका योग्य उत्तराधिकारी न होनेपर मन्त्रियोंद्वारा होनी चाहिये। मन्त्रिमण्डलमें किसीकी मृत्यु होने अथवा किसीके हटानेपर शेष मन्त्रियोंके परामर्शसे राजाको नयी नियुक्ति करनी चाहिये।

राजा, अमात्य, कोष, सेना और न्याय—ये राज्यके पाँच मुख्य विषय हैं। ग्राम, मण्डल, प्रान्तके भेदसे उत्तरोत्तर अधिक शक्तिशाली अधिकारियोंकी नियुक्ति होनी चाहिये। कोषके लिये सर्वत्र कर-संग्रह-विभाग रहने चाहिये। रक्षा-विभाग तथा न्यायविभागकी भी उचित व्यवस्था होनी चाहिये। रक्षाके लिये सेना दो प्रकारकी होनी चाहिये—एक वह जो प्रतिदिनकी शान्ति स्थापित रखे अर्थात् पुलिस और दूसरी वह, जो विशेष अवसरपर शत्रुके साथ युद्ध करे। न्यायालय प्रत्येक विभागके लिये पृथक्-पृथक् होना चाहिये। मण्डल और प्रान्तमें बड़े-बड़े न्यायालय और सम्पूर्ण राष्ट्रका एक सर्वोच्च न्यायालय होना चाहिये। अन्तिम न्यायालयमें अमात्यमण्डल तथा राजाको न्याय करनेका अधिकार होना चाहिये। न्यायाध्यक्षके पदपर धर्मात्मा, विद्वान् तथा सदाचारी व्यक्तियोंकी ही नियुक्ति होनी चाहिये। सम्पूर्ण स्थितिका पूर्ण परिचय रखनेके लिये गुप्तचरविभाग होना चाहिये। उसका कार्य केवल अपराधी या

राजाके विरोधियोंका पता लगाना ही नहीं, किंतु लोकसेवी, परोपकारी, सदाचारी विद्वानों तथा दुखी आर्तोंके सम्बन्धमें भी सरकारको सूचित करते रहना चाहिये, जिससे निग्रहानुग्रह आदिमें पूरी सहायता मिल सके। कोषका उपयोग उपर्युक्त विभागोंके संचालन, शस्त्रास्त्रनिर्माण तथा संग्रह, यातायात-साधनोंका निर्माण तथा व्यवस्था और राष्ट्रके स्वास्थ्य तथा शिक्षा आदिमें होना चाहिये प्रचार, यातायात, परराष्ट्रसम्बन्ध एक विभागसे, डाक, तार, शिक्षा, स्वास्थ्य दूसरेसे और उद्योग, खाद्य आदि तीसरे विभागसे सम्बद्ध हों तो अच्छा है। इसी तरह कोष, न्याय एवं सेनाकी व्यवस्था होनी चाहिये। आजकल एक सबसे बड़ा विभाग व्यवस्थापनका अर्थात् कानून बनानेका है, जिसके लिये धारासभाओंका निर्वाचन होता है। परंतु अपने यहाँ तो इसकी आवश्यकता ही नहीं। केवल विशिष्ट विद्वानोंकी एक निर्णेत्री-परिषद् होनी चाहिये, जो मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, नारद, अङ्गिरा, पराशर आदिके मतानुसार ठीक-ठीक व्यवस्था दे सके। अहिंदुओंके लिये उनके धर्मशास्त्रानुसार उनके आचार्योंकी व्यवस्था होनी चाहिये। भारतीय धर्मशास्त्र और राजनीतिके सम्यक् विद्वान् ही व्यवहारमें शास्त्रार्थके अधिकारी होंगे। व्यवहार-निर्णायक न्यायाध्यक्ष स्वधर्मनिष्ठ एवं ईश्वर-विश्वासी होना चाहिये। अमात्य-मण्डलको राजाके आज्ञानुसार सभी कर्मचारियोंके नियोजन, पृथक्करण, संशोधन आदिका अधिकार होना चाहिये। गुप्तचरोंके अतिरिक्त विशिष्ट व्यक्तियोंकी एक अन्वेषण-समितिद्वारा जटिल विषयोंकी जानकारी प्राप्त करनेका प्रयत्न होना चाहिये। अमात्यमण्डलके सदस्य और राजा सर्वसाधारणके लिये दुर्दर्श, दुर्लभ न होकर सुदर्श और सुलभ रहें, जिसमें प्रजा उनसे अपनी स्थिति निवेदन कर सके। ऐसे अनेक स्थान होने चाहिये, जहाँ नियतसमयपर अर्थी आकर अमात्यों या राजासे मिल सकें। मन्त्री तथा राजाओंको भी गुप्त वेषसे प्रजाकी स्थिति तथा राजकर्मचारियोंका व्यवहार जानना चाहिये। इस मार्गसे गुप्त तथा जटिल रहस्योंका भी पता लग सकता है। हिंसा मद्यपान, व्यभिचार, द्यूत आदिपर कड़ा नियन्त्रण होना चाहिये। प्रत्येक पदपर सच्चे और शुद्ध अधिकारियोंकी नियुक्ति होनी चाहिये। पुलिस प्रजाकी सेवक बनकर नम्रतापूर्वक काम करे, पर साथ ही दुष्टदमनार्थ आवश्यक उग्रताका निषेध न होना चाहिये। प्राचीन ढंगपर ग्रामपंचायतें विधिवत् स्थापित होनी चाहिये। आपसी झगड़े वहीं तय हुआ करें, जिसमें न्यायालय जानेकी आवश्यकता ही न पड़े। पंचायतोंका काम ठीक होता है या नहीं, इसकी देख-रेखके लिये एक निरीक्षक-विभाग होना चाहिये। क्रय-विक्रयके सम्बन्धमें यथासम्भव ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि अन्नवाले अन्न, तेलवाले तेल, गुड़वाले गुड़ दें। नाई, धोबी आदि अपना काम करें जिसके बदलेमें

उन्हें अन्न मिले । यथासम्भव नकद क्रय-विक्रयके स्थानपर वस्तु-विनिमय होना चाहिये और जिसका जो परम्पराप्राप्त व्यवसाय है, उसे वही करना चाहिये । इस तरह परस्पर सम्बन्ध स्थापित रखनेमें सुविधा होगी । जहाँतक हो प्रजाको विशुद्ध क्षत्रियवंशका राजा, विद्वान् ब्राह्मण पुरोहित तथा महामात्य बनाना चाहिये । न्यायाध्यक्ष तथा अध्यापकके पदपर भी ब्राह्मणोंकी ही नियुक्ति होनी चाहिये । सेनापतिके पदपर पवित्र वीर क्षत्रिय तथा सैनिक भी अधिकतर कुलीन क्षत्रिय ही होने चाहिये । कोषाध्यक्ष वैश्य तथा सेवाध्यक्ष शूद्र होने चाहिये । चर्मके व्यापारों तथा यन्त्रोंके अध्यक्ष चर्मकार होने चाहिये । शुचिता (सफाई) विभागका अध्यक्ष अन्त्यज होना चाहिये । इसी तरह प्रायः सभी यन्त्र, शिल्प, कल-कारखाने आदिपर शूद्रोंका ही प्राधान्य रहना चाहिये । सर्वसाधारणके व्यवहारमें आनेवाली राष्ट्रकी भाषा हिंदी होनी चाहिये । पर विशिष्ट विवरणोंमें संस्कृतका प्रयोग आवश्यक है ।

राजाको उदार, सौम्य, धार्मिक, निर्व्यसन, विद्वान्, शुद्ध तथा रहस्यज्ञ होना चाहिये । उसे वेदान्त, न्याय तथा दण्डनीतिका विद्वान् और अपने दोषोंका ज्ञाता होना चाहिये । कोई काम करनेके पहले उसपर उसे स्वयं तथा मन्त्रियोंके साथ एकान्तमें अच्छी तरह विचार करना चाहिये । किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्यमें शुभ मुहूर्त, नीति और आथर्वणिक प्रयोगोंका उपयोग किया जा सकता है । अच्छा तो यह है कि राजा योग्य व्यक्तियोंद्वारा श्रौत-स्मार्त्त-कर्मोंका अनुष्ठान करता रहे । राजाका कर्तव्य है कि वह अप्राप्त धन, भूमि आदि वस्तु धर्ममार्गसे प्राप्त करे, प्राप्तकी रक्षा करे तथा उन्हें बढ़ाये और फिर उन्हें पात्रोंमें प्रदान भी करे । दत्त वस्तुओंका आगामी राजाओंद्वारा भी पालन होता रहे, इसलिये दानपत्र आदिका उचित उल्लेख होना चाहिये । राजधानी ऐसे प्रदेशमें होनी चाहिये जो रम्य हो और जहाँ मनुष्योंके लिये अन्न तथा पशुओंके लिये चारा पर्याप्त मिल सके । वहाँ विस्तृत दुर्ग (किला) बनवाना चाहिये, जिसमें जन, धनकी पूर्ण रक्षा हो सके । राजाको चाहिये कि वह विद्वान् ब्राह्मणोंके प्रति क्षमाशील, शत्रुओंके प्रति क्रोधयुक्त और भृत्यवर्ग तथा प्रजाओंके प्रति पिताके समान हो । प्रजाके पुण्यका छठा भाग राजाको मिलता है, अतः न्यायसे प्रजाका पालन ही राजाके लिये सबसे बड़ा धर्म और दान है । अन्यायियोंसे ठीक रक्षा न कर सकनेके कारण प्रजाके पापोंका आधा भाग राजाको मिलता है, अतः उसे सदा सावधान रहना चाहिये ।

राजनीतिके अयोग्यों, नास्तिकोंके हाथमें जाते ही विद्वानोंके भी मुँह बंद हो जाते हैं । शुक्राचार्यके पुत्र शण्डामर्क-जैसे योग्य विद्वान् भी हिरण्यकशिपु-जैसोंको ही ईश्वर बतलाने लगते हैं । वे किसी अयोग्य शासकको भी 'त्वमर्कस्त्वं सोमः' (शिवमहिम्न०) कहने लगते हैं । शासकोंसे भयभीत विद्वान् स्पष्ट सत्य कहनेमें हिचकने लगते हैं ।

आचार्य, साधु-संत भी या तो चुप साध लेते हैं, या सरकारी साधुसमाजमें प्रविष्ट होकर ईश्वर-गुणगानके बदले सरकारका गुणगान करने लगते हैं। गोहत्या, धर्म-हत्या, शास्त्रहत्या-जैसे जघन्य कृत्योंको होते देखकर भी वे मौन रह जाते हैं और इन सबके प्रवर्तक, प्रेरक सरकारका गुणगान करते हैं। रावणकी मायासे बने अनेकों हनुमान् देखकर जैसे बन्दर भ्रममें पड़ गये कि इनमेंसे कौन रामके हनुमान् हैं, कौन रावणके हनुमान्, उसी तरह जनता भी भ्रममें पड़ जाती है कि कौन रामके साधुसंत हैं और कौन सरकारी साधुसंत? शास्त्र एवं धर्मके नियन्त्रण-शून्य उच्छृङ्खल शासक जनताके धर्मके साथ धनका भी अपहरण कर लेते हैं। राष्ट्रिय-करण, समाजीकरण आदि नामोंसे जनताकी व्यक्तिगत भूमि-सम्पत्ति आदि छीन लेते हैं। जनताके व्यक्ति शासनयन्त्रके नगण्य पुर्जे बन जाते हैं। शासन-यन्त्र तानाशाह शासकोंके हाथका खिलौना बन जाता है। उच्छृङ्खल शासकोंकी इच्छा ही कानून-कायदा बन जाती है। सनातन सत्य, न्याय, विवेक, शास्त्र-सब लुप्त हो जाते हैं। धनहीन होनेके कारण जनतामें ऐसे शासनके विरोधकी भी शक्ति नहीं रह जाती। आजके सरकारी साधुसमाजका यह प्रस्ताव कि 'साधुसमाज गोहत्या-बन्दी आन्दोलनका समर्थन नहीं कर सकता; क्योंकि वह ऐसे अपराधी साधुओंद्वारा चलाया गया है जिनसे साधु-समाजकी सत्ताको बहुत ठेस पहुँची है' आँख खोल देनेवाला है। विश्वनाथमन्दिर-हरिजनप्रवेश, हिंदू-विवाह, तलाक आदि प्रश्नोंपर सरकारी साधुओं एवं सरकारी पण्डितोंका चुप रहना भी एक विचित्र बात है। आचार्य कहे जानेवाले लोगोंकी भीषण निद्रा या जान-बूझकर आँख मीचनेकी बात भी इसी ओर संकेत करती है कि राजनीतिके विप्लुत होनेके बाद सब विद्याएँ व्यर्थ हो जाती हैं।

राजनीतिमें किसका अधिकार

कई लोग कहते हैं कि विद्वानों, महात्माओंको राजनीतिमें नहीं पड़ना चाहिये, परंतु राजनीतिका विद्वान् होना चाहिये। वे समारोहके साथ सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं कि राजनीतिका विद्वान् होना ही विद्वान्का अन्तिम कृत्य है, पर प्रत्यक्ष राजनीतिमें भाग लेना नहीं। वे समर्थ रामदास और चाणक्यकी प्रशंसा करते हुए भी उनके कर्तृत्वको दुर्लक्ष्य करते हैं। वे लोग 'मज्जेत् त्रयी दण्डनीतौ हतायाम्' (म० शां० ६३। २८) का भी यही अर्थ करते हैं कि 'राजनीतिके जाने बिना त्रयी डूब जाती है'। पर 'दण्डनीति'का 'दण्डनीतिज्ञान' अर्थ करना असङ्गत है। वे इस बातपर ध्यान नहीं देते कि ब्रह्मज्ञानसे भिन्न सभी ज्ञान पराङ्ग ही होते हैं, स्वतन्त्र नहीं। भट्टपादकुमारिलका स्पष्ट कहना है कि 'सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते। पराङ्गं चात्मविज्ञानादन्यमित्यवधार्यताम्॥' (तन्त्रवार्तिक)

पीछे कहा गया है कि सक्रिय विद्वानोंसे ही राजाको आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीतिका विचार करना चाहिये— 'तद्विद्यैस्तत्क्रियोपेतैश्चिन्तयेत्' का० नी० २। १)

ब्रह्मात्मविज्ञान तो स्वसत्तामात्रसे अविद्या, तत्कार्य्यका निवर्तक होनेसे पुरुषार्थरूप है। ऐसे कतिपय स्थलोंको छोड़कर अन्यत्र सर्वत्र ही ज्ञान कर्तृत्वके

बिना सफल नहीं होता। 'जानाति इच्छति अथ करोति' यह क्रम प्रसिद्ध है। जाननेसे इच्छा होती है, इच्छासे क्रिया होती है। 'यः क्रियावान् स पण्डितः' (सुभा० भं०) की कहावत प्रसिद्ध ही है। प्रयोगहीन शिल्पविज्ञान एवं शस्त्रादि-विज्ञानके तुल्य प्रयोगहीन राजनीति-विज्ञान भी व्यर्थ ही रहता है। क्रियाहीन तर्क-वितर्क एवं ज्ञान-विज्ञान, बुद्धि-व्यायाममात्र ही रह जाता है।

रावणके समयमें ज्ञान-विज्ञानवाले ऋषियोंकी कमी न थी। फिर भी ऋषियोंका वध चालू था। रक्तघटका उपहार देनेपर भी रावणको संतोष नहीं हुआ था। ऋषियोंकी अस्थियोंका पहाड़ लग गया था।

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुबीर नयन जल छाए॥

(रामचरितमानस अरण्यकाण्ड)

उस समय विश्वामित्रकी सक्रिय राजनीति ही सफल हुई। उसीके द्वारा राम मैदानमें आये और दुष्टोंका दर्प-दलन करके त्रयी-धर्मकी रक्षा एवं साधु-सत्पुरुषोंका पोषण किया। हाँ, जहाँ राजनीतिके योग्य प्रयोक्ता एवं प्रयोग-साधन ठीक उपलब्ध हों, वहाँ विद्वान् केवल उपदेशमात्र कर सकता है; परंतु जहाँ प्रयोक्ता, प्रयोग-साधन नहीं, वहाँ उनकी अन्वेषण एवं निर्माण भी विद्वान्का ही काम है। राजाके अभावमें यह सब उत्तरदायित्व विद्वान्पर ही आता है। 'चाणक्य' ने यही सब किया था, समर्थ रामदासने भी यही किया। शुक्र, बृहस्पति आदि भी अनेक ढंगसे सक्रिय राजनीतिका प्रवर्तन करते थे। हाँ, विद्वान् राज्याधिकारके प्रलोभनमें न पड़े, यह अवश्य ठीक है। अतः ठीक राजनीति बिना त्रयी एवं तत्प्रोक्त धर्म संकटग्रस्त हो जाता है।

प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददे पशून्।
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः॥

(मनुस्मृ० ९। ३२७)

प्रजापतिने सृष्टि रचकर वैश्योंको पशु दिया, ब्राह्मण एवं राजाको सारी प्रजा दी। अतः राजाके अभावमें विद्वानोंपर सर्वाधिक भार आ जाता है। विद्वान् आस्तिक, सद्गृहस्थ एवं साधु-सत्पुरुषोंके बिना राजनीति सर्वथा उच्छृङ्खल लोगोंके हाथमें चली जाती है, फिर तो गुंडागर्दीका ही शासन होने लगता है। अतः धार्मिक लोगोंके प्रवेशसे ही समस्या हल हो सकती है। यह ठीक है कि 'सच्छिक्षा एवं सद्विद्याके प्रचारसे सद्बुद्धि होती है, सद्बुद्धिसे सदिच्छा एवं सदिच्छासे सत्प्रयत्न होता है और सत्प्रयत्न ही सब प्रकारके सत्फलोंका स्रोत होता है। परंतु आज तो शिक्षा भी स्वतन्त्र विद्वानोंके हाथमें नहीं है। जिस विचारके शासक हैं, उसी विचारका समर्थन करनेवाली आजकी शिक्षा बनती जा रही है। स्वतन्त्र विद्वान्, स्वतन्त्र विद्यालय एवं उनके छात्र भी सरकारी-शिक्षाके प्रभावसे स्पष्ट ही प्रभावित हैं। कथावाचक, मण्डलेश्वर आदि भी उसी ढंगकी कथा कहनेमें लाभका अनुभव करते हैं। घोर नास्तिक उच्छृङ्खल मिनिस्टरों, सरकारी पदाधिका-

रियोंकी भी विद्वान्, महन्त, मण्डलेश्वर प्रशंसा करते फिरते हैं। इस दृष्टिसे नास्तिकोंके हाथसे राजनीतिका उद्धार करना योग्य धार्मिक, सुशील लोगोंके हाथमें राजनीति लानेके लिये विद्वान्का प्रयत्न अत्यावश्यक है ही। महाभारतका स्पष्ट वचन है—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः
पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥

(महा० शां० ६४। २१)

परमेश्वरसे सर्वप्रथम राजधर्मका ही आविर्भाव हुआ। उसके पीछे राजधर्मके अङ्गभूत अन्य धर्मोंका प्रादुर्भाव हुआ। अतः राजधर्म—राजनीतिके नष्ट होनेपर त्रयीधर्मके डूब जानेकी बात आती है। अराजकता या उच्छृङ्खल राजाके धर्महीन अधार्मिक राज्यमें कोई धर्म पनप ही नहीं सकता। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्वके लौकिक-पारलौकिक, अभ्युदय एवं निःश्रेयसके सम्पादनमें होनेवाले सब प्रकारके विघ्नोंको रोककर सब प्रकारकी सुविधा उपस्थित करना भारतीय राजधर्म, राजनीति या क्षात्र-धर्मका मूलमन्त्र है।

भले ही कभी राजनीति राजाओं, राजमन्त्रियों एवं राजकीय पुरुषोंतक ही सीमित रहे, उसमें सर्वसाधारणका प्रवेश आवश्यक भी ठहरे, तब भी विशिष्ट विद्वानोंके लिये तो कभी भी राजनीति उपेक्ष्य नहीं रही है। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्वको लौकिक-पारलौकिक विनाशसे बचाना, उनको अभ्युदय, निःश्रेयस-प्राप्तिसे वञ्चित होनेसे बचाना क्षात्र या राजाका धर्म है। वही क्षात्रधर्म है, वही राजनीति है। इसीलिये राजाकी प्रशंसा है—

'नराणां च नराधिपम्' (गी० १०। २७) 'नाविष्णुः पृथिवीपतिः।'(दे० भा०)
'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।' (मनु० ७। ८)

'राजा ईश्वररूप है, नरोंमें नराधिप ईश्वरीय विभूति है, विष्णुसे अतिरिक्त पृथ्वीपति नहीं हो सकता, वह कोई मनुष्यरूपमें विशेष दिव्य शक्ति है इत्यादि'। इस प्रकारके राजधर्मका पालन श्रुताध्ययनसम्पन्न धर्मज्ञ, सत्यवादी, रागद्वेषविहीन, विद्वानोंकी सहायता बिना राजा भी नहीं कर सकता। इसीलिये राजाके लिये आवश्यक है कि वह ऐसे विद्वानोंको अपना सभासद् बनाये—

श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति २। २)

शासनारूढ शासककी भूल या प्रमादको रोकनेके लिये परम निरपेक्ष विरक्त विद्वान् भी लोककल्याण-कामनासे राजनीतिमें हस्तक्षेप करते थे। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वेन-जैसे अन्यायी राजाको, जो समझाने-बुझानेसे भी न माने, शासनाधिकारसे च्युत या नष्ट भी कर देते थे एवं उनके स्थानमें पृथु-जैसे योग्य शासकको प्रतिष्ठित करते थे। यह भी लोक-कल्याणार्थ विद्वानोंके राजनीतिमें हस्तक्षेपका उदाहरण है। 'इतिहास' बतलाता है कि संसारके प्रमुख राजनीतिज्ञ

शासकोंने अपनी नीतिकी बागडोर तपःपूत, लोक-हितैषी, राग-द्वेषविहीन ऋषियोंके ही हाथमें दे रक्खा था। देवराज इन्द्रकी राजनीति देवगुरु बृहस्पतिके हाथमें थी, दैत्यराज बलिकी राजनीति महर्षि शुक्राचार्यके हाथमें थी तथा रामचन्द्रकी राजनीति वसिष्ठके हाथमें थी। धर्मराज युधिष्ठिरकी राजनीति धौम्य, व्यास, कृष्ण, विदुर आदिके हाथमें थी। चन्द्रगुप्तकी राजनीति महर्षि चाणक्यके हाथमें थी तथा शिवाकी राजनीति भी समर्थ रामदासके हाथमें थी। वस्तुतः जैसे बिना अङ्कुशके हस्ती, बिना लगामके घोड़ा आदि हानिकारक होते हैं, वैसे ही अङ्कुश एवं नियन्त्रणके बिना शासन भी हानिकारक होता है। राज्यश्रीसम्पन्न राजापर भी अङ्कुश होना ही चाहिये। इसी अर्थमें राजापर धर्मका नियन्त्रण होना चाहिये। यही बृहदारण्यक 'क्षत्रस्य क्षत्रम्' (१।४।१४) के अनुसार धर्मनियन्त्रित राजतन्त्रका सिद्धान्त है। धर्म-कर्म, संस्कृति, धर्मसंस्थाकी रक्षा तभी हो सकती है, जब धर्म-नियन्त्रित शासक हो। अन्यथा उच्छृङ्खल शासक सबको ही चौपट कर देता है।

सत्पुरुषोंसे एक निवेदन

कुछ लोग कहते हैं कि उपासना या ज्ञान तो मनकी चीज है। सब कुछ गड़बड़ होनेपर भी महात्मा या विद्वान्को इन टंटोंसे दूर रहकर भजन ही करना चाहिये। ठीक है, परंतु शास्त्र एवं धर्म-स्थान नष्ट हो जानेपर विद्वानों या महात्माओंका शण्डामर्कके तुल्य सरकारीकरण हो जानेपर भजन करनेका, धार्मिक होनेका मन भी कैसे बन सकेगा? आखिर धार्मिक, आध्यात्मिक भावनाओंसे ओत-प्रोत मन भी तो शास्त्रों एवं सत्पुरुषोंकी कृपासे ही बनता है, बिना शास्त्रादिके वैसा मन भी नहीं बन सकता है। यदि प्रह्लादने भी यही सोचा होता कि चलो पितासे विवाद कौन करे? मनमें ही रामनाम जपते रहेंगे, ऊपरसे पिताकी ही बात मान लें तो आज कोई राम-नाम लेनेवाला रह सकता था? परंतु जब सचाईके साथ प्रह्लादने अपने जीवनको संकटमें डालकर भी सिद्धान्तकी रक्षा की, तभी संसारमें सिद्धान्तकी स्थिरता रह सकी है। इस तरह विद्वान् एवं महात्मा राजतन्त्र शासनमें भी राजनीतिमें हस्तक्षेप करते थे, फिर अब तो जनतन्त्र-शासन है। इस सिद्धान्तके अनुसार तो शासनकी सर्वोच्चसत्ता जनतामें ही निहित होती है। अतः वास्तविक राजा जनता ही होती है, अतः राजनीतिक दक्षता सम्पादन करना प्रत्येक व्यक्तिका परम कर्तव्य है, फिर तो जनताके धन एवं धर्मकी रक्षाका उत्तरदायित्व जनतापर ही होता है। इसलिये जनताके प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य होता है कि वह उदारता, गम्भीरता और दक्षताके साथ राष्ट्र एवं धर्मका हिताहित देखकर कर्तव्यका निर्धारण एवं पालन करे। जहाँ न राजतन्त्र हो, न जनतन्त्र हो; किंतु अधिनायकतन्त्र डिक्टेटरशिप हो, वहाँपर तो विशिष्ट दक्ष राजनीतिज्ञ विद्वानों एवं महात्माओंके सिवा दूसरा कोई कुछ कर ही नहीं सकता है। जनताका संग्रह, उसे प्रोत्साहन देना एवं क्रान्तिके लिये उसे तैयार करना भी राजनीतिज्ञोंके ही वशकी बात है। ऐसे समयमें धर्म एवं धर्मशास्त्रोंकी रक्षाके लिये विद्वानोंको सामने आना पड़ता है। इसी अभिप्रायसे कहा गया है कि—

स्थापयध्वमिमं मार्गं प्रयत्नेनापि हे [illegible]: ।
स्थापिते वैदिके मार्गे सकलं सुस्थिरं [illegible]वेत् ॥

(सूतसंहिता, ज्ञानयोगखं० २० । ५४)

विद्वानोंको वैदिक-धर्मकी स्थापनाके लिये सुदृढ़ प्रयत्न करना चाहिये। वैदिक-धर्मके स्थिर होनेपर सब कुछ स्थिर हो जायगा । यहीं यह भी कहा गया है कि 'जो समर्थ होनेपर भी सर्व प्रकारसे धर्मरक्षार्थ प्रयत्नशील नहीं होता, वह पापका भागी होता है । माता-पिताकी, गुरुजनोंका या जनसमूहके धन-धर्म एवं प्राणोंका विनाश हो रहा हो, कोई समर्थ पुरुष बैठे-बैठे तमाशा देखे, कुछ प्रयत्न न करे, यह प्रत्यक्ष ही पाप है—

यश्च स्थापयितुं शक्तो नैव कुर्याद् विमोहितः ।
तस्य हन्ता न पापीयानिति वेदान्तनिर्णयः ॥

(सूतसंहिता, २ । २० । ५५)

किंतु जो समर्थ न होनेपर भी यथाशक्ति धर्मशास्त्र-मर्यादाकी रक्षाके लिये प्रयत्न करता है, वह उसी पुण्यके प्रभावसे सब पापोंसे मुक्त होकर सम्यक् ज्ञानका भागी होता है । अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यम कहे जाते हैं । यह निवृत्तिमार्गानुसारियोंके लिये बड़े ही महत्त्वके हैं । शौच, संतोष, स्वाध्याय आदिमें कुछ गड़बड़ी क्षम्य भी हो सकती है, परंतु यमके सेवनमें तो पूर्ण तत्परता होनी चाहिये । इसीलिये कहा गया है—'यमान् सेवेत सततं नियमान् मत्परः क्वचित्' (श्रीमद्भा०) यमोंका सेवन सर्वदा ही करना चाहिये। नियमोंमें सातत्य न होनेपर भी काम चल सकता है । अहिंसा आदिका अभिप्राय है—मनसा, वाचा, कर्मणा, प्राणिरक्षण करना, प्राणियोंको पीड़ा न पहुँचाना । यही लोकरक्षण, प्राणिरक्षण, धर्मरक्षण राजनीतिका मुख्य लक्ष्य है, यही क्षत-त्राण है । इसी कारण महात्माओंकी इन कार्योंमें प्रवृत्ति होती थी । कालकवृक्षीय-जैसे अरण्यवासी, चाणक्य-जैसे बालब्रह्मचारी, समर्थ स्वामी-जैसे निवृत्तिनिष्ठ लोग भी इस काममें संलग्न हुए । फिर भले हीं इस काममें सफलता मिले अथवा न मिले, समुचित प्रयत्न कभी निष्फल नहीं होता । उसका अदृष्ट फल तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है, तभी तो भगवान् कृष्णने कहा था—

यः स्थापयितुमुद्युक्तः श्रद्धयैवाक्षमोऽपि सन् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग् ज्ञानमवाप्नुयात् ॥
धर्मकार्यं यतञ्छक्त्या नो चेत् प्राप्नोति मानवः ।
प्राप्तो भवति तत् पुण्यमत्र मे नास्ति संशयः ॥

(महा० उद्यो० ९३ । ६)

इन सब बातोंसे स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान दुरवसरपर जब कि जनताके धन-धर्मपर संकट उपस्थित है, विशिष्ट विद्वानों, महात्माओं तथा धार्मिक सद्गृहस्थोंको भी राजनीतिसे न डरकर आगे आना चाहिये और धर्म-रक्षणके लिये जो भी आवश्यक कार्य हो करना चाहिये । परिणाम निश्चयेन शुभ-मङ्गलमय ही होगा । शिवमिति दिक् ।

श्रीहरिः

श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाद्वारा अनुवादित संस्कृत पुस्तकें

१–श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य–[हिंदी-अनुवादसहित] इसमें मूल श्लोक, भाष्य, हिंदीमें भाष्यार्थ, टिप्पणी तथा अन्तमें शब्दानुक्रमणिका भी दी गयी है। साइज २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य ... २.७५

२–श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य–[हिंदी-अनुवादसहित] आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-संख्या ६०८, तीन बहुरंगे चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य २.५०

इसमें भी शांकरभाष्यकी तरह ही श्लोक, श्लोकार्थ, मूल भाष्य तथा उसके सामने ही हिंदी अर्थ दिया है। कई जगह टिप्पणी भी दी गयी है।

३–वेदान्त-दर्शन–[हिंदी-व्याख्यासहित] इसमें ब्रह्मसूत्रका सरल भाषामें अनुवाद तथा व्याख्या दी गयी है। साइज डिमाई आठपेजी, पृष्ठ ४१६, तिरंगा चित्र, सजिल्द मूल्य २.००

४–पातञ्जलयोगदर्शन–[हिंदी-व्याख्यासहित] इसमें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन सम्पूर्ण मूल, उसका शब्दार्थ एवं प्रत्येक सूत्रका दूसरे सूत्रसे सम्बन्ध दिखाते हुए उन सूत्रोंकी सरल भाषामें व्याख्या की गयी है। अकारादि-क्रमसे सूत्रोंकी वर्णानुक्रमणिका भी दी गयी है।

आकार २०×३०–१६ पेजी, पृष्ठ १९२, मूल्य .७५

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

श्रीमद्भगवद्गीता–तत्त्वविवेचनी—'कल्याण'के 'गीता-तत्त्वाङ्क'में प्रकाशित गीता विषयक २५१५ प्रश्न और उनके उत्तरके रूपमें विवेचनात्मक हिंदी-टीकाका संशोधित संस्करण, टीकाकार—श्रीजयदयालजी पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य ...

श्रीमद्भगवद्गीता–[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिंदी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। पृष्ठ ५२०, चित्र ३, मूल्य २.७५

श्रीमद्भगवद्गीता–[श्रीरामानुजभाष्यका सरल हिंदी-अनुवाद] आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ ६०८, तीन तिरंगे चित्र, सजिल्द मूल्य ... २.५०

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' लेखसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७२, रंगीन चित्र ४, मूल्य ...

श्रीमद्भगवद्गीता–[मझली] प्रायः सभी विषय १।) वाली नं० ४ के समान विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, रंगीन चित्र ४, मूल्य

श्रीमद्भगवद्गीता–प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सटीक, मोटे अक्षरोंमें, लाहोरी ढंगकी, तिरंगा चित्र, पृष्ठ ४२४, मूल्य ... ...

श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ... ...

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, पृष्ठ २१६, मूल्य अजिल्द ३

श्रीमद्भगवद्गीता–केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य ... .

श्रीमद्भगवद्गीता–पञ्चरत्न, मूल, सचित्र, मोटे टाइप, गुटका साइज, पृष्ठ १८४, मूल्य .२०

श्रीमद्भगवद्गीता–साधारण भाषाटीका, पाकेट साइज, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मूल्य ... .१६

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, ताबीजी साइज २×२॥ इंच, पृष्ठ २९६, सजिल्द मूल्य ... .१२

श्रीमद्भगवद्गीता–विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य ... .१०

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

...मूल तथा सानुवाद पुस्तकें

...वद्गीता-... विवेचनी-पृष्ठ ६८४, चित्र ४, सजिल्द, मूल्य ... ४.००
...गवद्गीता [बड़ी]-पृष्ठ ५७२, चित्र ४ सजिल्द, मूल्य ... १.२५
...योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य .२०
...निषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४२, मूल्य ... .५०
...-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७८, मूल्य ... .५६
१-श्रीमद्भगव... सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२८, मूल्य ... .४५
मूल ...षद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२२, मूल्य .४५
माण्डूक्योपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २८४, मूल्य १.००
ऐतरेयोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ १०४, मूल्य ... .३७
तैत्तिरीयोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २५२, मूल्य .८१
श्वेताश्वतरोपनिषद्-सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ २६८, मूल्य .८७
ईशावास्योपनिषद्-अन्वय तथा सरल हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ १६, मूल्य .०६
श्रीमद्भागवतमहापुराण-दो खण्डोंमें, सटीक, पृष्ठ २०३२, चित्र रंगीन २६, १५.००
श्रीमद्भागवतमहापुराण-मूल मोटा ..., पृष्ठ ६९२, चित्र १, सजिल्द मू० ६.००
श्रीमद्भागवतमहापुराण-मूल, गुटका, सजिल्द, पृष्ठ ७६८, सचित्र, मूल्य ३.००
...विष्णुपुराण-सानुवाद, पृष्ठ ६२४, चित्र ८, सजिल्द, मूल्य ४.००
...रामायण-सानुवाद, पृष्ठ ४००, सचित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य ३.००
३-वेदान्त...दर्शन-मूल, पृष्ठ २०, मूल्य ... ... .०२
सरल ...शती-सानुवाद, पृष्ठ २४०, सचित्र, मूल्य ... .७५
डिमाई ...शती-मूल, पृष्ठ १५२, सचित्र, मूल्य ... .५०
...द्धान्तकौमुदी-(संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिये) पृष्ठ ३६८, मूल्य .७५
४-...क्ति-सुधाकर-सुन्दर श्लोक-संग्रह, सानुवाद, पृष्ठ २६६, मूल्य ... .६२
स्तोत्ररत्नावली-चुने हुए स्तोत्र, सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ ३२०, मूल्य ... .५०
...दर्शन-नारद-भक्ति-सूत्रोंकी विस्तृत टीका, सचित्र, पृष्ठ १९२, मूल्य .३१
...वेक-चूडामणि-सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १८४, मूल्य ... .३१
अपरोक्षानुभूति-शङ्करस्वामिकृत सानुवाद, पृष्ठ ४०, सचित्र, मूल्य ... .१६

मनुस्मृति-द्वितीय अध्याय, सार्थ, .१०
श्रीविष्णुसहस्रनाम-सटीक .१०
श्रीविष्णुसहस्रनाम-मूल, पृष्ठ ४८, .०५
शाण्डिल्यभक्तिसूत्र-सटीक, .१०
मूलरामायण-सानुवाद, पृष्ठ २४ .०८
गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र-सटीक, .०६
संध्योपासनविधि-अर्थसहित, .०६

संध्या-विधिसहित, पृष्ठ १६, मूल्य .०३
शारीरकमीमांसादर्शन-मूल, .०५
श्रीरामगीता-सटीक, पृष्ठ ४०, .०५
प्रश्नोत्तरी-सटीक, पृष्ठ ३२, .०३
नारद-भक्ति-सूत्र-सटीक, पृष्ठ २४, .०२
सप्तश्लोकी गीता-सटीक .०१

पता-गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

बिना
शास ... ता ।

...गा...

...नेवद्...

१–श्रीमद्भ...
मूल...

...श्री...

३–वेद...
स...
वि...

मिलनेका पता—

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)